'अनेकान्त' - द्वितीय वर्ष
सन् १९३९

लायब्रेरी
वीर - सेवा - मन्दिर, सरसावा
(जि० सहारनपुर)
द० अ

ॐ अर्हम्

अनेकान्त

सत्य, शान्ति और लोकहितके संदेशका पत्र

नीति-विज्ञान-दर्शन-इतिहास-साहित्य-कला और

समाजशास्त्रके प्रौढ विचारोंसे परिपूर्ण

सचित्र मासिक
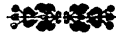
सम्पादक

जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर' (समन्तभद्राश्रम)

सरसावा जि० सहारनपुर

द्वितीय वर्ष

[कार्तिकसे आश्विन, वीर नि० सं० २४६५]

संचालक

तनसुखराय जैन

कनाट सर्कस, पो० बोक्स नं० ४८, न्यू देहली।

वार्षिक मूल्य अढाई रुपये एक प्रतिका चार आने	अक्टूबर सन १९३९ ई०	आगामी वा० मूल्य तीन रुपये एक प्रतिका पाँच आना

विषय और लेखक	पृष्ठ

विषय और लेखक	पृष्ठ

जुगलकिशोर मुख्तार

तनसुखराय जैन

विषय-सूची-

वीरसेवामन्दिरको सहायता

हालमें वीरसेवामन्दिर सरसावाको निम्न सज्जनोंकी ओरसे २८) रु० की सहायता प्राप्त हुई है, जिसके लिये दातार महाशय धन्यवादके पात्र हैं :—

२५) बाबू लालचन्दजी जैन, एडवोकेट, रोहतक।

२) बाबू रोशनलाल जैन, हैड क्लर्क रेल्वे फीरोज़पुर।

१) बाबू देसराजजी जैन अबोहर (पंजाब)

२८)

ॐ अर्हम्

नीति-विरोध-ध्वंसी लोक-व्यवहार-वर्त्तकः सम्यक् ।
परमागमस्य बीजं भुवनैकगुरुर्जयत्यनेकान्तः ॥

वर्ष २ | सम्पादन-स्थान—वीर-सेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम) सरसावा, जि० सहारनपुर
प्रकाशन-स्थान—कनॉट सर्कस, पो० ब० नं० ४८, न्यू देहली
आश्विन, वीरनिर्वाण सं० २४६५, विक्रम सं० १९९६ | किरण १२

समन्तभद्र-जयघोष

सरस्वती-स्वैर-विहारभूमयः समन्तभद्रप्रमुखा मुनीश्वराः ।
जयन्ति वाग्वज्र-निपात-पाटित-प्रतीपराद्धान्त-महीध्रकोटयः ॥

—गद्यचिन्तामणौ, वादीभसिंहाचार्यः

वे प्रधान मुनीश्वर स्वामी समन्तभद्र जयवन्त हैं—सदा ही जयशील हैं, अपने पाठकों तथा अनुचिन्तकोंके अन्तःकरण पर अपना सिक्का जमानेवाले हैं—,जो सरस्वतीकी स्वच्छन्दविहारभूमि थे—जिनके हृदयमन्दिरमें सरस्वतीदेवी बिना किसी रोक-टोकके पूरी आज़ादीके साथ विचारती थी, और इसलिये जो असाधारण विद्याके धनी थे और उनमें कवित्व-वाग्मित्वादि शक्तियाँ उच्चकोटिके विकासको प्राप्त हुई थीं—और जिनके वचनरूपी वज्रके निपातसे प्रतिपक्षी सिद्धान्तरूपी पर्वतोंकी चोटियाँ खण्ड खण्ड होगई थीं—अर्थात् समन्तभद्रके आगे बड़े बड़े प्रतिपक्षी सिद्धान्तोंका प्रायः कुछ भी गौरव नहीं रहा था और न उनके प्रतिपादक प्रतिवादी जन ऊँचा मुँह करके ही सामने खड़े हो-सकते थे ।

समन्तभद्र-विनिवेदन

समन्तभद्रादिमहाकवीश्वराः कुवादिविद्याजयलब्धकीर्तयः ।
सुतर्कशास्त्रामृतसारसागरा मयि प्रसीदन्तु कवित्वकांक्षिणि ॥

—वरांगचरिते, श्रीवर्द्धमानसूरिः

जो समीचीन-तर्कशास्त्ररूपी अमृतके सार सागर थे और कुवादियों (प्रतिवादियों) की विद्यापर जयलाभ करके यशस्वी हुए थे वे महाकवीश्वर—उत्तमोत्तम नूतन सन्दर्भोंकी रचना करनेवाले—स्वामी समन्तभद्र मुझ कविता-काँक्षी पर प्रसन्न होवें—अर्थात् उनकी विद्या मेरे अन्तःकरणमें स्फुरायमान होकर मुझे सफल-मनोरथ करे, यह मेरा एक विशेष निवेदन है।

श्रीमत्समन्तभद्रादिकविकुंजरसंचयम् ।
मुनिवन्द्यं जनानन्दं नमामि वचनश्रिये ।

अलंकारचिन्तामणौ, अजितसेनाचार्यः

मुनियोंके द्वारा वन्दनीय और जगत्‌जनोंको आनन्दित करनेवाले कविश्रेष्ठ श्रीसमन्तभद्र आचार्यको मैं अपनी 'वचनश्री'के लिये—वचनोंकी शोभा बढ़ाने अथवा उनमें शक्ति उत्पन्न करनेके लिये—नमस्कार करता हूँ—स्वामी समन्तभद्रका यह वन्दन-आराधन मुझे समर्थ लेखक बनानेमें समर्थ होवे।

श्रीमत्समन्तभद्राद्याः काव्यमाणिक्यरोहणाः ।
सन्तु नः संततोत्कृष्टाः सूक्तिरत्नोत्करप्रदाः ॥

—यशोधरचरिते, वादिराजसूरिः

जो काव्यों—नूतन सन्दर्भों—रूपी माणिक्यों (रत्नों) की उत्पत्तिके स्थान हैं वे अति उत्कृष्ट श्री समन्तभद्र स्वामी हमें सूक्तिरूपी रत्नसमूहोंको प्रदान करनेवाले होवें—अर्थात स्वामी समन्तभद्रके आराधन और उनकी भारतीके भले प्रकार अध्ययन और मननके प्रसादसे हम अच्छी अच्छी सुन्दर जँची-तुली रचनाएँ करनेमें समर्थ होवें।

समन्तभद्र-हृदिस्थापन

स्वामी समन्तभद्रो मेऽहर्निशं मानसेऽनघः ।
तिष्ठताज्जिनराजोद्यच्छासनाम्बुधिचन्द्रमाः ॥

—रत्नमालायां, शिवकोट्याचार्यः

वे निष्कलंक स्वामी समन्तभद्र मेरे हृदयमें रात-दिन तिष्ठो जो जिनराजके—भगवान महावीरके—ऊँचे उठते हुए शासन-समुद्रको बढ़ानेके लिये चन्द्रमा हैं—अर्थात जिनके उदयका निमित्त पाकर वीर भगवानका तीर्थ-समुद्र खूब वृद्धिको प्राप्त हुआ है और उसका प्रभाव सर्वत्र फैला है*।

* बेलूर ताल्लुकेके शिलालेख नं०१७ (E.C., V.) में भी, जो रामानुजाचार्य-मन्दिरके अहातेके अन्दर सौम्यनायकी-मंदिरकी छतके एक पत्थरपर उत्कीर्ण है और जिसमें उसके उत्कीर्ण होनेका समय शक सं० १०५९ दिया है, ऐसा उल्लेख पाया जाता है कि श्रुतकेवलियों तथा और भी कुछ आचार्योंके बाद समन्तभद्रस्वामी श्रीवर्द्धमान महावीरस्वामीके तीर्थकी—जैन मार्गकी—सहस्रगुणी वृद्धि करते हुए उदयको प्राप्त हुए हैं।

वीर भगवान्‌का वैज्ञानिक धर्म

[लेखक—बा० सूरजभानु वकील]

(गतांक से आगे)

अपनी प्रकृतिके अनुकूल वा प्रतिकूल जैसी भी ख़ूराक हम खाते हैं वैसा ही उसका अच्छा बुरा असर हमको भुगतना पड़ता है, किसी वस्तुके खानेसे प्रसन्नता होती है किसीसे दुख, किसीसे तन्दुरुस्ती और किसीसे बीमारी, यहाँ तक कि ज़हर खानेसे मृत्यु तक हो जाय और अनुकूल औषधि सेवन करनेसे भारीसे भारी रोग दूर हो जाय। खानेकी इन वस्तुओंका असर आपसे आप उन वस्तुओंके स्वभावके कारण ही होता है। खाने वालेकी शारीरिक प्रकृतिके साथ उन वस्तुओंके स्वभावका सम्बन्ध होकर भला बुरा जो भी फल प्राप्त होता है वह आपसे आप ही होजाता है; इस फल प्राप्तिके लिये किसी दूसरी शक्तिकी ज़रूरत नहीं होती है। अगर हम अपनी शारीरिक शक्तिसे अधिक परिश्रम करते हैं तो थकान होकर शरीर शिथिल होजाता है, बहुतही ज़्यादा मेहनत की जाती है तो बुखार तक होजाता है। यह सब हमारी उस अनुचित मेहनतके फल स्वरूप आपसे आप ही हो जाता है। इस ही प्रकार प्रत्येक समय जैसे हमारे भाव होते रहते हैं, जैसी हमारी नीयत होती है, जिस प्रकार कषाय वा भड़क उठती है, उसका भी बंधन हमारे ऊपर आपसे आप ही होता रहता है और वह हमको भुगतना पड़ता है। हमको हमारे कर्मोंका फल देनेवाला कोई दूसरा ही है ऐसी कल्पना कर लेने पर तो हमको स्वार्थवश यह ख़याल आना भी अनिवार्य हो जाता है कि खुशामदसे, स्तुति-वन्दना करने से, दीन-हीन बनकर गिड़गिड़ाने और भेंट चढ़ानेसे, अपने अपराध क्षमा करा लेंगे। इस ही कारण जो लोग कोई कर्मफल दाता की कल्पना किये हुए हैं वे पाप करनेसे बचनेके स्थानमें बहुत करके उस फल दाताकी भेंट पूजामें ही लगे रहते हैं; इस ही कारण पापोंके दूर करनेके लिये अनेकानेक धर्मोंकी उत्पत्ति होने पर भी पापोंकी कमी नहीं होती है, किन्तु नवीन नवीन विधि विधानोंके द्वारा भेंट पूजा और स्तुति वन्दनाकी वृद्धि ज़रूर होजाती है। परन्तु वैज्ञानिक रीतिसे वस्तु स्वभावकी खोज करने पर जब यह असली बात मालूम हो जाती है कि प्रत्येक क्रियाका फल आपसे आपही निकलता रहता है, कोई फलदाता नहीं है जिसकी खुशामद की जावे तो अपनी क्रियाओं को शुभ व्यवस्थित करने, अपनी नियतोंको दुरुस्त रखने और परिणामोंकी संभाल रखनेके सिवाय अपने कल्याणका और कोई रास्ता ही नहीं सूझता है, यह दूसरी बात है कि हम अपनी कषायवश अर्थात् अपनी बिगड़ी हुई आदतके कारण अच्छी तरह समझते बूझते हुए अपने कल्याणके रास्ते पर न चलें। मिरच खाने की आदत वाला जिस प्रकार आँखोंमें दर्द होने पर भी मिर्च खाता है, इस ही प्रकार विषय कषायोंकी प्रबलता होनेके कारण विषय कषायोंको अत्यन्त हानिकर जानते हुए भी उनको न छोड़ सकें, परन्तु उनके हृदयमें यह ख्याल कभी न उठ सकेगा कि स्तुति वन्दना और भेंट पूजासे अपने पापोंको क्षमा करा लेंगे। इस कारण पाप करते भी उनको यह भय ज़रूर बना रहेगा कि इनका खोटा फल अवश्य भोगना पड़ेगा; इसलिये हर वक्त पापसे बचनेकी ही फ़िकर रहेगी और पापका फल भोगनेके इस अटल निश्चयके कारण वे पापोंको जल्दी

ही छोड़ भी सकेंगे; बेफ़िक्र होकर नहीं बैठे रहेंगे।

वैज्ञानिक रीतिसे खोज करने पर अर्थात् वस्तु स्वभाव की जांच करने पर यह पता चलता है कि बिना दूसरे पदार्थके मेलके वस्तुमें कोई बिगाड़ नहीं आसकता है, ऐसा ही श्री वीर भगवान्ने समझाया है और खोल-कर बताया है कि जीवात्मामें भी जो बिगाड़ आता है वह अजीवके मेलसे ही आता है; जिस प्रकार जेबघड़ी-की डिबियाके अन्दर जो हवा होती है, उसमें धूलके जो बहुत ही बारीक कण होते हैं वे घड़ीके पुर्जोंमें लगी हुई चिकनाईके कारण उन पुर्जोंसे चिपट जाते हैं और घड़ीकी चालको बिगाड़ देते हैं, इस ही प्रकार जब यह संसारी जीव राग द्वेष आदिके द्वारा मनवचनकायकी कोई क्रिया करता है तो इस क्रियाके साथ शरीरके अन्दर की जीवात्मा भी हिलती है और उसके हिलनेसे उसके आसपासके महा सूक्ष्म परमाणु जो उस जीवात्मा में घुल मिल सकते हों उसमें घुलमिल जाते हैं। जिससे रागद्वेष आदिके कारण जो संस्कार जीवात्मामें पैदा हुआ है अर्थात् जो भावबन्ध हुआ है उसका वह बन्ध इन अजीव परमाणुओंके मिलनेसे पक्का हो जाता है। भावार्थ,—घड़ीके पुर्जोंकी तरह उसमें भी मैल लगकर उसकी चालमें बिगाड़ आजाता है, बार बार रागद्वेष पैदा होनेका कारण बंध जाता है, इस ही को द्रव्यबंध अर्थात् दूसरे पदार्थोंके मिलनेका बंध कहते हैं।

इस प्रकार रागद्वेषरूप भाव होनेसे भावबंध और भावबन्धके होनेसे द्रव्यबंध, और फिर इस द्रव्यबंधके फलस्वरूप रागद्वेषका पैदा होना अर्थात भावबंधका होना, इस प्रकार एक चक्करसा चलता रहता है, इस ही से संसरण अर्थात् संसार परिभ्रमण होता रहता है। कभी किसी पर्यायमें और कभी किसीमें, अर्थात् कभी कीड़ा मकोड़ा, कभी हाथी घोड़ा, कभी मनुष्य, कभी नरकमें और कभी स्वर्गमें, कभी किसी अवस्थामें और कभी किसीमें; इन सबका मूलकारण रागद्वेष व मान माया आदि कषायें ही होती हैं, तीव्र वा मंद, हल्की वा भारी, बुरी वा भली जैसी कषाय होती है, वैसा ही कर्मबन्ध होता है, और वैसा ही उसका फल मिलता है; इस कारण जैन धर्मका तो एकमात्र मूलमंत्र कषायों को जीतना और अपने परिणामोंकी संभाल रखना ही है। इसके सिवाय जैनधर्म तो और किसी भी आडम्बरों-में फसने की सलाह नहीं देता है, जो कुछ भी उपाय बताता है वह सब परिणामोंकी दुरुस्तीके वास्ते ही सुझाता है। उन तर्कीबोंका भी कोई अटल नियम नहीं बनाता है, किन्तु जिस विधिसे अपने भावों और परि-णामों की संभाल और दुरुस्ती हो सके ही वैसा करनेका उपदेश देता है। जिन धर्मोंने ईश्वरका राज्य स्थापित किया है, उन्होंने राजाज्ञाके समान अपने अपने अलग अलग ऐसे विधि विधान भी बांध दिये हैं जिनके अनु-सार करनेसे ही ईश्वर राज़ी होता है। मुसलमान जिस प्रकार खड़े होकर झुककर बैठकर और माथा टेक कर नमाज़ पढ़ते हैं और अपने ईश्वरको राज़ी करते हैं उस प्रकार वन्दना करनेसे हिन्दुओंका ईश्वर राजी नहीं हो सकता है। और जिस प्रकार हिन्दु वन्दना करते हैं उस विधिसे मुसलमानोंका ईश्वर प्रसन्न नहीं होता है; इस ही कारण सब ही धर्मवाले एक दूसरे की विधिको घृणा की दृष्टिसे देखते हैं और द्वेष करते हैं। परन्तु वीर भग-वान्ने तो कोई ईश्वरीयराज्य क़ायम नहीं किया है, किन्तु वस्तु स्वभाव और जीवात्माके बिगड़ने संभलनेके कारणोंको वैज्ञानिक रीतिसे वर्णन कर जिस विधिसे भी होसके उसकी संभाल रखनेका ही उपदेश दिया है, इस ही कारण न कोई ख़ास विधी विधान बांधा है, और न बंध ही सकता है; वह सब प्रत्येक जीवकी अव-

स्था और योग्यता पर ही छोड़ दिया है।

जिस प्रकार जो ख़ूराक हम खाते हैं उससे हड्डी खून मांस और खाल आदि सब ही पदार्थ और आँख नाक आदि सब ही अवयव बनते हैं, इस ही प्रकार रागद्वेष वा कषायके पैदा होनेसे भी जो कर्मबन्ध होता है उससे अनेकानेक परिणाम निकलते हैं। उसके फल-स्वरूप आगेकी तरह तरह की कषाय भी उत्पन्न होती है, ज्ञानमें भी मंदता आती है, प्रसन्नचित्त वा कुपित रहनेका स्वभाव पड़ना, सुखी दुःखी रहना, पर्याय बदलना, उच्च पर्याय प्राप्त करना वा नीच आदि अनेक अवस्थायें होती हैं। इन सब अवस्थाओंको वीरभगवान्‌ने आठ प्रकारके मूल भेदोंमें बाँटकर कर्मोंके आठ भेद बताये हैं और जिस प्रकार चतुर वैद्य यह बता देता है कि अमुक वस्तुके खानेसे शरीरका अमुक पदार्थ अधिक पैदा होगा वा अमुक पदार्थमें अधिक बिगाड़ या संभाल होगी और अमुक अंकोंको अधिक पुष्टि वा अधिक क्षति पहुँचेगी, इस ही प्रकार वीर भगवान्‌ने भी वैज्ञानिक रीतिसे मोटरूप दिग्दर्शनके तौर पर यह बताया है कि किस प्रकारके परिणामोंसे किस कर्मकी अधिक उत्पत्ति वा वृद्धि होती है। जिससे अपने परिणामोंकी संभालमें बहुत कुछ मदद मिलती है। दृष्टान्त जीवात्माके स्वरूप की जांच पड़ताल न कर बाप दादा से चलते आये हुये धर्मश्रद्धानको ही महामोहके कारण आँख मीचकर श्रद्धान करलेना, उसके विरुद्ध कुछ भी सुनने को तैयार न होना, उल्टा लड़नेको तय्यार हो जाना, किसीको अपना श्रद्धान अपना धर्म प्रकट न करने देना, पक्षपातसे उसमें दोष लगाना, झूठी बदनामी करना तथा अपने पक्षके झूठे सिद्धान्तोंकी भी प्रशंसा करना आदि झूठे पक्षपातसे मिथ्या श्रद्धान करानेवाले मिथ्यात्व कर्मका बंध होता है। अधिक कषाय परिणाम रखनेसे, अपनेमें वा दूसरोंमें कषायके भड़कानेसे, शुभ भावों व शान्त परिणामोंकी निन्दा करने, त्यागी-व्रतियोंको महा मूर्ख भोंदू और नामर्द कहने, कषाय भावसे व्रत धारण वा कोई धर्म क्रिया करनेसे कषाय उत्पन्न करनेवाले कर्मका संस्कार पड़ता है। हँसी मख़ौल करनेकी आदत रखना धर्मात्माओं की और धार्मिक कार्योंकी हँसी उड़ाना, दीन हीनको देखकर हँसना, मख़ौल करना, फबतियाँ सुनाना, फ़िज़ूल बकवाद करते रहना, इससे इस ही प्रकारका संस्कार पड़ता है। खेल तमाशों और दिल बहलावेमें ही लगे रहनेसे ऐसे ही संस्कार पड़जाते हैं। दूसरोंमें प्यार मुहब्बतको तुड़वाकर वैमनस्य पैदा कराने, पापका स्वभाव रखने आदिसे अरति कर्म बंधता है। हृदयमें शोक उपजाना, शोक युक्त रहना, बात बातमें रंज करना, दूसरोंको रंजमें देखकर खुश होना, इससे शोक कर्मका बंध होता है। ग्लानि करनेसे ग्लानि करनेका स्वभाव पड़ता है। बात बातमें भयभीत रहने, दूसरोंको भय उपजानेसे भय करनेके संस्कार पड़ते हैं। बहुत राग करने, मायाचार करने नहाने धोने और शृंगारका अधिक शौक होने तथा दूसरोंके दोष निकालनेसे स्त्रियों जैसा स्वभाव बनता है। थोड़ा क्रोध वस्तुओंमें थोड़ी रुचि नहाने-धोने और शृंगार आदिका अधिक शौक़ न होने, काम-वासना बहुत कम रखनेसे पुरुषों जैसा स्वभाव पड़ता है। काम भोग और व्यभिचारकी अधिकतासे हीजड़ेपन का स्वभाव पड़ता है। हीजड़ेमें काम अभिलाषा बेहद होती है।

दुःख शोक रंज फ़िक्र करना, रोना-पीटना-चिल्लाना, दूसरोंको भी रंज फ़िक्र और शोकमें डालना आदिसे दुखी स्वभाव रहनेका संस्कार पड़ता है। सब ही जीवों पर दया भाव रखना, नीच-ऊँच धर्मी अधर्मी, खरे खोटे,

दुष्ट और सज्जन, सब ही का भला चाहना, दुखियोंका दुःख दूर करना, दान देना, गृहस्थी धर्मात्माओं और त्यागी महात्माओंकी ज़रूरतोंको पूरा करना, जीवहिंसासे बचना, इन्द्रियों पर क़ाबू रखना, विषयोंके वशमें न होना, सबकी भलाईका ही ध्यान रखना, लोभका कम होना, दूसरोंकी सेवा करने तथा दूसरोंके काम आनेका भाव रखना, इससे सुखी रहनेका संस्कार पड़ता है। किसी ज्ञानी की प्रशंसा सुनकर दुष्टभाव पैदा करना, अपने ज्ञानको छिपाना, दूसरोंको न बताना, दूसरोंकी ज्ञान प्राप्तिमें विघ्न डालना, ज्ञानके प्रचारमें रोक पैदा करना, किसी सच्चे ज्ञानकी बुराई करना, उसको ग़लत ठहराना, इससे ज्ञानमें मंदता आनेका कर्म बंधता है। सांसारिक कामोंमें बहुत ज़्यादा लगे रहनेसे, सांसारिक वस्तुओंसे अधिक मोह रखने, हरवक्त संसारके ही सोच फ़िक्रमें डूबे रहनेसे, अति दुःखदायी नरकमें रहनेका बंध होता है। मायाचारसे तिर्यञ्च आयुका बंध होता है। थोड़ा आरंभ करने, सांसारिक वस्तुओंसे थोड़ा मोह रखने, घमंड न करनेसे, भद्र परिणामी होने, सरल सीधा व्यवहार, मंद कषाय, और कोमल स्वभावके होनेसे मनुष्य पर्याय पाने योग्य कर्म बंधता है। हिंसा झूठ चोरी कामभोग और संसारकी वस्तुओंका ममत्व इन पांच पापोंके पूर्ण रूप वा मर्यादा रूप त्यागसे देव पर्याय पानेका बंध होता है। मनमें कुछ, वचनमें कुछ और क्रियामें कुछ, इस प्रकारकी कुटिलता, दूसरोंकी झूठी बुराई करने, चंचल चित्त रहनेसे, माप तोलके झूठे औज़ार रखने, कम देने और ज़्यादा लेने, खरी चीज़में खोटी मिलाकर देने, झूठी गवाही देने, दूसरोंकी निन्दा अपनी प्रशंसा करने, दूसरोंका मखौल उड़ाने, तीव्रक्रोध, तीव्रमान, तीव्रलोभ, बहुत मायाचार, पापकी आजीविका आदिसे खोटी गतिमें जाने और खोटी पर्याय पानेका कर्म बंधता है। मन वचन कायकी सरलता, उत्तम परिणाम रहने, सबकी भलाई चाहनेसे, नेकीका व्यवहार रखनेसे अच्छी पर्याय पाने व अच्छी गतिमें जानेका बंध होता है। दूसरोंकी निन्दा और अपनी प्रशंसा करना, दूसरोंके अच्छे गुण छिपाना और बुरे जाहिर करना, अपने बुरे गुणोंको छिपाना और अच्छे प्रगट करना, अपनी जाति और कुल आदिका घमंड करना, दूसरोंका तिरस्कार होता देख प्रसन्न होना, दूसरोंका तिरस्कार करना, अपनी झूठी बड़ाई करना, दूसरोंकी झूठी बुराई करना इससे नीच और निन्दित भव पानेका कर्म बंधता है। अपनी निन्दा और पराई प्रशंसा करने, अभिमान छोड़ अपनी लघुता प्रकट करने, अपनी जाति कुल आदिका घमंड नहीं करने, अपने अच्छे अच्छे गुणोंकी भी प्रशंसा नहीं करनेसे, विनयवान रहने, उद्दंडता नहीं करनेसे, ईर्ष्या नहीं करने, किसी की हँसी नहीं उड़ानेसे और तिरस्कार नहीं करनेसे सन्मानयोग्य ऊँचा भव पानेका कर्म बंधता है।

इस प्रकार वीर भगवान्ने स्पष्ट रीतिसे यह समझाया है कि जीवोंके भले बुरे भावों और परिणामोंके अनुसार ही वस्तु स्वभावके मुवाफ़िक वैज्ञानिक रीतिसे ही भले बुरे कर्म बंधते रहते हैं और वस्तु स्वभावके अनुसार आपसे आप ही उनका फल भी मिलता रहता है। वीर भगवान्के इस महान उपदेशके कारण ही जगतमें यह प्रसिद्धि हो रही है कि फल नियतका ही मिलता है, बाह्य क्रियाका नहीं; जैसी नीयत होगी अर्थात् जैसे अंतरंग भाव होंगे वैसे ही फलकी प्राप्ति होगी; बाह्य क्रिया चाहे जैसी भी हो उससे कुछ न होगा।

देश देशके अलग अलग रीति रिवाज होते हैं। योरुप बहुत ठंडा मुल्क है; वहाँ बेहद बरफ़ पड़ती है,

इस कारण वहाँके लोग धरती पर बैठकर कोई काम नहीं कर सकते हैं। लुहार बढ़ई भी खड़े होकर मेज़ पर ही अपना सब काम करते हैं। इस ही कारण खाना भी वहां जूते और भारी कपड़े पहने हुवे मेज़ पर ही खाया जाता है। हिन्दुस्तान बहुत गरम मुल्क है, यहां सब काम जूते उतारकर और धोती आदि बहुत हल्के कपड़े पहनकर धरती पर बैठकर ही किया जाता है, रोटी भी इस ही कारण जूते उतार, धोती आदि हल्के कपड़े पहन, धरती पर बैठकर ही खाया जाता है। इस ही प्रकार मरने जीने,ब्याह शादी आपसमें रोटी बेटी व्यवहार, मनुष्योंकी जातियोंकी तक़सीम, उनके अलग२ काम, अलग २ अधिकार, सांसारिक व्यवहारके नियम, देश देश और जाति २ के अलग २ ही होते हैं और परिस्थितिके अनुसार, राज परिवर्तन वा अन्य अनेक कारणोंसे, बदलते भी रहा करते हैं, ग्राम २ को प्रत्येक समाजके नियम भी जुदे ही होते हैं और ज़रूरतके अनुसार समाजके द्वारा बदलते भी रहा करते हैं। कभी दो समाजोंमें मित्रता होती है, और कभी बैर, इसहीसे उनके आपसके व्यवहार भी बदल जाते हैं। जो समाज बैरी समझी गई उसके हाथका पानी पीना तो क्या उससे बात करना तक पाप समझा जाता है। यह ही व्यवहारिक नियम बहुत दिनों तक चालू रहनेसे धर्मका स्वरूप धारण करके ईश्वरीय नियम बन जाते हैं और पोथी पत्रोंमें भी दर्ज हो जाते हैं।

ईश्वरके राज्यमें वस्तुस्वभाव और आत्म शुद्धि पर तो अधिक ध्यान होता ही नहीं है, जो कुछ होता है वह ईश्वरके कोपसे बचनेका ही होता है। इसही कारण लोग इन व्यवहारिक नियमोंको ही ईश्वरीय नियम मान, इनके न पालनेको ईश्वरके कोपका कारण और पालने को उसकी प्रसन्नताके हेतु समझने लग जाते हैं। परन्तु वीर भगवान्‌का धर्म तो किसी राज्यशासनके नियम न होकर एकमात्र वस्तु स्वभाव पर ही निर्भर है, जो सदाके लिये अटल है और हेतु प्रमाणकी कसौटी पर कसकर विज्ञानके द्वारा जिनकी सदा परीक्षाकी जासकती है। जो सांसारिक व्यवहारों और सामाजिक बंधनों पर निर्भर है। किन्तु एकमात्र जीवके परिणामों पर ही जिसकी नीव स्थित है। इस कारण वीतरागको यह भी साफ़ २ बता देना पड़ा कि जैनी ऐसे सब ही लौकिक व्यवहारों और विधि विधानोंको अपना सकते हैं, चाहे जैसे रीति रिवाजों पर चल सकते हैं जिनसे जीवात्माके स्वरूपके सच्चे श्रद्धानमें और हिंसा झूठ चोरी, कुशील और परिग्रहरूप पाँच पापोंके त्यागमें फ़रक़ न आता हो, अर्थात् जिन लौकिक व्यवहारोंसे सम्यक्त और व्रतोंमें दूषण नहीं आता है, वे चाहे जिस देशके, चाहे जिस जाति वा समाजके हों, उनपर चाहे जिसतरह चला जावे, उससे धर्ममें कोई बाधा नहीं आती है। इन लौकिक व्यवहारोंके अनुकूल न चलनेसे देश, जाति, समाज वा कुल आदिका अपराधी भले ही होता हो, परन्तु धर्मका अपराधी किसी तरह भी नहीं होता है। धर्मका अपराधी वह तो बेशक हो जायगा जो इन लौकिक व्यवहारोंको धर्मके नियम मानकर अपने श्रद्धानको भ्रष्ट करेगा, जैन शास्त्रका यह वाक्य ख़ास तौरपर ध्यान देने योग्य है:—

सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणम्॥

किसी किसी धर्ममें आज कल जाति भेद और उसके कारण किसी किसी जातिसे घृणा करने, उनको धर्मसे वंचित रखने और किसी किसी जाति वालेको जन्मसे ही ऊँचा समझ उसका पूजन किसी जाति वाले के हाथका पानी नहीं पीने, किसी जाति वालेके हाथका

रोटी नहीं खाने, किसी जाति वालेसे बेटी व्यवहार नहीं करने, स्नान करने, बदन साफ़ रखने, कपड़े निकालकर चौकेमें बैठकर रोटी खाने, चौकेके अन्य भी अनेक बाह्य नियमोंके पालनेको ही महाधर्म समझते हैं; जो इन नियमोंको पालन करता है वह ही धर्मात्मा और जो किंचित्मात्र भी नियम भंग करता है वह ही धर्मी पापी और पतित समझा जाता है। नेकी, बदी, नेकचलनी, बदचलनी पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया जाता है; यहाँ तक कि कोई चाहे कितना ही दुराचारी हो परन्तु जाति भेद और चौकेके यह सब नियम पालता हो तो वह धर्मसे पतित नहीं है, और जो पूरा सदाचारी है परन्तु इन नियमोंको भंग करता है तो वह अधर्मी और पापी है। ब्राह्मणोंकी अनेक जातियोंमें मांस खाना उचित है, उनके चौकेमें मांस पकते हुये भी दूसरी जातिका कोई आदमी जिसके हाथका वह पानी पीते हों परन्तु रोटी न खाते हों, यदि उनके चौकेकी धरती भी छूदेगा तो उनका चौका भ्रष्ट हो जायगा। परन्तु मांस पकनेसे भ्रष्ट नहीं होगा, इसही प्रकार हिन्दुस्तानकी हज़ारों जातियोंके इस चूल्हे चौकेके विषयमें अलग २ नियम हैं और फिर देश-देशके नियम भी एक दूसरेसे नहीं मिलते हैं, तो भी प्रत्येक जाति और प्रत्येक देश अपने लिये अपने ही नियमोंको ईश्वरीय नियम मानते हैं और उन ही के पालनको धर्म और भंग करनेको अधर्म जानते हैं।

वीर भगवान्‌का धर्म बिल्कुल ही इसके प्रतिकूल है, वह इन सब ही लौकिक नियमों, विधि विधानों, रूढ़ियों और रीति रिवाजोंको लौकिक मानकर सुखसे लौकिक जीवन व्यतीत करनेके वास्ते पालनेको मना नहीं करता है; किन्तु इनको धार्मिक नियम मानकर इनके पालनसे धर्मपालन होना और न पालनेसे अधर्म और पाप हो जाना माननेको महा मिथ्यात्व और धर्मका रूप बिगाड़ कर उसे विकृत करदेना ही बताता है; जिसका फल पापके सिवाय और कुछ भी नहीं हो सकता है। वीरभगवान्‌के बताये धर्मका स्वरूप श्री आचार्योंके ग्रन्थोंसे ही मालूम हो सकता है। उन्होंने अपने ग्रंथोंमें अनेक ज़ोरदार युक्तियों और प्रमाणोंसे यह सिद्ध किया है कि वीरभगवानके धर्ममें जातिभेदको कोई भी स्थान नहीं है, जैसा कि आदिपुराण, उत्तरपुराण, पद्मपुराण, धर्म परीक्षा, वारांगचरित्र और प्रमेय कमलमार्तण्डके कथनोंको दिखाकर और उनके श्लोक पेश करके अनेकान्त किरण ८ वर्ष २ में सिद्ध किया गया है। इस ही प्रकार रत्नकरण्डश्रावकाचार, चारित्रपाहुड़ स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाके श्लोक देकर अनेकान्त वर्ष २ किरण ४ में यह सिद्ध किया है कि जातिभेद सम्यक्त्वका घातक है। इस ही प्रकार अनेकान्त वर्ष २ किरण ३ में रत्नकरण्ड श्रावकाचार, सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक जैसे महान ग्रंथोंके द्वारा यह दिखाया है कि जैन धर्मको शारीरिक शुद्धि अशुद्धिसे कुछ मतलब नहीं है, यहाँ तक कि उपवास जैसी धर्मक्रियामें स्नान करना मना बताया है, स्नान करनेको भोगोपभोग परिमाण व्रतमें भी एक प्रकारका भोग बताकर त्याग करनेका उपदेश किया है, पद्मनंदिपंचविंशतिकामें तो स्नानको साक्षात् ही महान् हिंसा सिद्ध किया है। जैन शास्त्रोंमें तो अन्तरात्मा की शुद्धिको ही वास्तविक शुद्धि बताया है, दशलक्षण धर्ममें शौच भी एक धर्म है। जिसका अर्थ लोभ न करना ही किया है। सुख प्राप्त करानेवाला सातावेदनीय जो कर्म है उसकी उत्पत्तिका कारण दया-शौच और शांति आदि बताया है, यहाँ भी शौचका अर्थ लोभका न होना ही कहा है; इत्यादिक सर्वत्र मनकी शुद्धिको ही धर्म ठहराया है। पाठकोंसे निवेदन है कि वे जैन धर्मका वास्तविक स्वरूप जाननेके लिये इन सब ही लेखोंको ज़रूर पढ़ें, फिर उनको जो सत्य मालूम पड़े उसको ग्रहण करें और झूठ को त्यागें।

अन्तमें पाठकोंसे प्रेरणा की जाती है कि वे वीर-प्रभुके वस्तुस्वभावी वैज्ञानिकधर्म और अन्य मतियोंकी ईश्वरीय राज्यआज्ञा वा रूढ़ि धर्मकी तुलना अच्छी तरहसे करके सत्य स्वाभाविक धर्मको अंगीकार करें और अन्य मतियोंके संगति और प्राबल्यसे जो कुछ अंश उनके धर्मका हमारेमें आगया हो और वस्तु स्वभावी धर्मसे मेल न खाता हो उसके त्यागनेमें ज़रा भी हिचकिचाहट न करें।

भगवान् महावीरका जीवन चरित्र

[लेखक—ज्योतिप्रसाद जैन 'दास']

दो वर्ष हुए मेरे एक अजैन मित्रने मुझसे भगवान् महावीरका कोई अच्छासा जीवन चरित्र पढ़नेको माँगा, परन्तु बहुत दुःखके साथ मैंने यही कहकर टाल दिया कि 'अच्छा भाई ! बताऊँगा।' यह मेरे मित्र एक आर्य्यसमाजी हैं और जैनधर्मसे पहिले उन्हें बड़ी चिढ़ थी। मेरी अक्सर उनसे धर्मचर्चा हुआ करती थी। दो चार जैन धर्म संबन्धी पुस्तकें मैंने उनको दीं। एक बार आगरा राजामण्डीके जैनमन्दिरमें भी मैं इनको लेगया। मन्दिरके ढँगको देखकर ये महाशय दँग रह गये। प्रतिमाओंके सामने हाथ जोड़कर मुझसे कहने लगे "इस मनोज्ञताके देखनेकी तो मुझे आशा न थी, किसी भी मन्दिरमें ऐसी सफ़ाई और शान्ति नहीं देखी।" दूसरे दिन प्रातःकाल इन महाशयको मैं लोहामण्डीके जैन स्थानकमें लेगया, जहाँ उस समय एक वृद्ध आर्यिका अपने मधुर कण्ठसे विद्वत्तापूर्ण व्याख्यान दे रही थी। मैंने कहा कि यह आपकी आर्य्यसमाजकी तरहके हमारे जैनसमाजका मन्दिर है, जहाँ मूर्तिपूजाका निषेध है और जहाँ साधु और साध्वी समय समय पर पधार कर धर्म उपदेश इसी प्रकार दिया करते हैं। इन महाशयने उत्तर दिया कि 'संसारके सारे धर्म सम्प्रदायोंको आलोचनात्मक दृष्टिसे देखकर एक सभ्य और निष्पक्ष मनुष्य को आपके धर्म और आपकी धर्म-सम्प्रदायोंको उच्च कोटिका कहना पड़ेगा।" इन सब बातोंसे उन महाशयको जैनधर्म पर बड़ी श्रद्धा होगई थी। भगवान महावीरके जीवन चरित्र पढ़नेकी उत्कण्ठा उनकी स्वाभाविक थी। मेरे पास भगवान् महावीरका एक काफी बड़ा और नामी जीवनचरित्र महाराज श्री चौथमलजी द्वारा लिखित था भी, परन्तु इस जीवन चरित्रको इन महाशयको मैंने नहीं दिया। इसका कारण और भगवान महावीरके इस आदर्श जीवन चरित्रकी समालोचना लिखना ही मेरे इस लेखका विषय है।

अब तक भगवान् महावीरके और भी कई जीवन-चरित्र मैंने पढ़े हैं, परन्तु जीवनचरित्र-संबन्धी मसालेका सर्वथा अभाव देखा। श्री चौथमलजी महाराज-द्वारा लिखित इस मोटी पुस्तकको देखकर मुझे भगवानके जीवनचरित्र-सम्बन्धी बातें जाननेकी इससे बड़ी आशा हुई और मैंने बड़ी उत्कण्ठासे पढ़ना शुरू किया। परन्तु मुझको उसे पढ़कर बड़ी निराशा हुई।

महाराजजीके लिखे इस जीवन चरित्रकी समालोचना लिखनेसे पहिले मैं आपकी भावना और आपके उद्योग पर बधाई देता हूँ। आपने इस काम पर हाथ डाला जिसके बिना सारा जैनधर्म-साहित्य नीरस बना हुआ है। मेरा तो विश्वास है कि इसी कमीके ही कारण आज जैनधर्मका प्रचार नहीं हो सका है, इसी कमीके कारण जैनधर्मको समझने और समझानेमें बड़ी बड़ी भूलें हुई हैं। सो ऐसे आवश्यक और कठिन कार्य्यमें उद्योग करनेवालेको बार बार बधाई है। पाठक महोदय ! मेरे विचारको महाराजके प्रति किसी द्वेषके कारण कटाक्ष न समझें। महाराजजी मेरे गुरू हैं, मेरे हृदयमें उनका आदर है। परन्तु इतना अवश्य कहूँगा कि यह जीवन चरित्र लिखते समय महाराजजीने विचारपूर्वक कार्य नहीं किया, धर्मप्रभावनाके आवेशमें उसे लिखा

है। जीवनचरित्र कलाके विज्ञ विद्वान पाठक मेरे इस नम्र निवेदन पर कृपया ध्यान दें।

किसी महापुरुषके जीवनचरित्रका जो गहरा अभाव होता है वह उसके उपदेशका नहीं होता। कारण यह है कि 'उपदेश' आचरणकी अंतिम सीढ़ी पर पहुँचकर उस महापुरुषकी आवाज़ होती है, जिसके शब्द अटपटे, भाव गंभीर और ध्वनिमें एक विलक्षण गाम्भीर्य्य होता है, जो सर्वसाधारणकी समझके परे की बात होती है। उस ऊँचाई पर पहुँचना सर्वसाधारणको असम्भव जान पड़ता है। परन्तु जीवनचरित्रमें यह बात नहीं होती, उसमें वह महापुरुष सीढ़ी दर सीढ़ी चढ़ता दीखता है, उसकी भूल, उसका साहस, उसके जीवनका सारा उतार चढ़ाव दृष्टिगोचर होता है, जिसमें पाठक अपना रागात्मिक सम्बन्ध अनुभव करता है। उस महापुरुषके जीवनके प्रत्येक उत्थानको देखता हुआ पाठक उसे अंतिम छोर तक देख लेता है। फिर उस महापुरुषको उस ऊँचाई पर देखकर पाठकके मुँहसे निकलती है "वाह वाह वाह।" जीवनचरित्रको पढ़कर ही सर्वसाधारणको एक महापुरुषके उपदेश और उसकी लीलाओंमें स्वाभाविकता झलकती है, तभी महापुरुषकी ऊँचाईका कुछ अन्दाज़ा लग पाता है। उसी समय उस महापुरुष का उपदेश अक्षर २ समझमें आता है।

महाराजजीने लगभग ७०० पन्नोंमें यह जीवन-चरित्र लिखा है। शुरूमें काफ़ी बड़ी भूमिका दी है। इसमें जैनधर्मके अनुसार कालचक्रपर अच्छा प्रकाश डाला है। परन्तु कुछ अनावश्यक भाग हटाकर उसके स्थानपर आवागमन और कर्मबन्धनके सिद्धान्तों पर थोड़ासा प्रकाश डालना और आवश्यक था; क्योंकि इसके बाद महाराजने भगवान्के अनेक पूर्वजन्मोंकी चर्चा की है। आवागमनके सिद्धान्तको न माननेवालोंको बिना उसके इस चर्चामें आनन्द नहीं आ सकता। कई सौ पन्ने आपने भगवानके पूर्व जन्मोंपर लिखे हैं। इससे महाराजका एक यही उद्देश्य समझमें आता है कि किस प्रकार भगवान्की आत्मा अनेक योनियोंमें भ्रमण करती हुई तीर्थंकर कर्मको बाँधकर अवतरी। बिना इस उद्देश्यको विचारमें लाये हुए कई सौ पन्नोंका पूर्वजन्मों पर लिखना बेकार दीखता है। परन्तु इस वर्णनमें यह बात कहीं भी नहीं झलकती।

भगवान् महावीरने ३१ वर्षकी आयु तक गार्हस्थ्य-जीवन व्यतीत किया। श्वेताम्बर सम्प्रदायके अनुसार भगवानने विवाह भी किया। उनके सन्तान भी थी। जीवनचरित्रमें रागात्मिकता लानेके लिये नायकके साथ नायिकाका संयोग और वियोग सोनेमें सुहागा है। उसके अतिरिक्त भगवान महावीरके जीवनमें एक और बड़ी विशेषता रही है, जिसकी कमीके कारण मनोविज्ञानी दार्शनिक विद्वानोंने भगवान् बुद्धपर भी लाञ्छन लगाया है। वह विशेषता भगवान्का दिनके समयमें अपनी स्त्री, भाई बन्धु आदिकी रज़ामन्दीसे सारी प्रजाके सामने दीक्षा लेना है, जबकि भगववान् बुद्ध रात्रिके समय सोते हुए परिवारजनोंको छोड़कर भाग निकले थे। इतने रागात्मिक मसालेके साथ कैसा रूखा जीवनचरित्र लिखा गया है। एक भी मार्मिक स्थल छुआ नहीं गया। तुलसीदासने रामचरित्र मानस लिखा है। रामजी उपदेश देते कहीं भी नहीं दीख पड़ते। परन्तु सारे उपनिषदोंके उपदेशके निचोड़से गोस्वामीने एक ऐसे आदर्श मानव-चरित्रका चित्र खींचा है जिसकी सुंदरता पर सारा संसार मुग्ध है। प्रत्येक मार्मिक स्थलपर गोस्वामीजीने अपनी भावुकताका परिचय दिया, जिसके कारण आज राम-चरित्र-मानस अमर होगया, रामजीका जीवन एक मर्यादा-पुरुषोत्तमका जीवन बन गया।

महापुरुषकी प्रत्येक लीलामें असाधारणता होती है। भगवान् महावीरका विवाह, उनका दाम्पत्य प्रेम, उनका राज्य और परिवार-त्याग और १२ वर्ष उपसर्ग सहन और अखण्ड तप, भगवान् रामके स्वयंवर, वनगमन और १४ वर्षों तक कष्टसहनसे कौन कम मार्मिक कहा जा सकता है। परन्तु इस महावीर-जीवनचरित्रमें कहां है वह मार्मिकता, हृदयको उमड़ानेवाले वे दृश्य कहाँ ? यदि कहा जाय कि महावीर स्वामीके जीवनचरित्रके लिये शास्त्रोंमें इससे अधिक वर्णन ही कहाँ है ? तो इसका मैं उत्तर यह देता हूँ कि शास्त्रोंमें इसके लिये आवश्यकतासे अधिक मसाला है। कमी केवल लेखकके हृदयकी भावुकता और स्वतंत्र विचारकी है। तुलसीदास, बालमीकिके रामचरित्रसे, जो उन्हींके समयका लिखा माना जाता है, सैंकड़ों जगह लीक काटकर चले हैं, तो क्या इससे तुलसीके मानसमें बट्टा लगगया ? उल्टा चार चाँद लग गये। वाल्मीकीका लिखा 'मानस' रामजीके समयका ही लिखा माना जाता है, इसलिये वह अधिक प्रमाणित भी कहा जा सकता है; लेकिन उस तुलसीके मानसके मुकाबलेमें कोई दो कौड़ी को भी नहीं पूछता—तुलसीका मानस सर्वत्र पुजता है। इसका कारण लेखककी भावुकता और जीवनचरित्र कलाके साथ नायकके जीवनकी कुछ मुख्य घटनाओंका मेल है। तुलसीको कब और किस दैवी शक्तिने वनगमन समयके राम- कौशल्या, राम सीता, राम लक्ष्मण और राम-निषाद व लंकाके रावण-सीता संवाद सुनाये थे, फिर भी उस भावुक और कलाविज्ञ लेखककी लेखनीसे निकाल अक्षर २ सत्य और प्रमाणित माना जाता है। भगवान् महावीर भी तो नावसे दरिया पार उतरे थे परन्तु कहाँ है वह भावुकता, हृदयको पिघलानेवाला वह दृश्य कहाँ तुलसीको पंचवटीवाला भरत-मिलापके दरबारका फिल्म कौनसी कम्पनीने दिखाया था, जो उसने करुण-रसका सर्वोत्तम खंड लिख डाला ? यह सब तुलसीदासकी एक सिद्धान्तके आधार पर उपज थी। यह एक सत्य गर्भित कल्पना है; यही जीवनचरित्र-कला है, जिसका भगवान् महावीरके प्रत्येक जीवनचरित्रमें मैंने अभाव पाया है। वरना भगवान् महावीरके जीवनचरित्रमें शास्त्रसे ज़रा तिरछे और सिद्धान्तकी ओर मुँह करके खड़े होकर देखनेसे भगवान् महावीरकी जीवनलीलामें भरत-मिलाप जैसे एक नहीं अनेक करुणा और वीर-रससे लबालब दृश्य दीख सकते हैं। किसी जीवन चरित्रको सफल बनानेके लिये शास्त्रीय आधारके साथ २ 'जीवनचरित्र-कला' को भी साथ साथ लेकर चलना होगा, वरना वह न तो शास्त्र ही होगा और न जीवनी ही।

लगभग २५-३० पन्नोंमें मुख्यजीवन-लीला समाप्त कर महाराजजी उनके तत्त्वज्ञानपर आ विराजे हैं, जिसने लगभग पुस्तकके तिहाई भागको घेरा है। सच तो यह है कि पूर्वजन्म-चर्चा और तत्त्वज्ञान ही इस जीवनचरित्र में सब कुछ है। मैं पूछता हूँ कि तत्वज्ञानसे तो सारा जैनधर्म-आगम साहित्य भरा पड़ा है, जीवनचरित्र लिखकर आवश्यकतातो इस बातकी थी कि आचरणकी जिस सभ्यताको असम्भव कहा जाता है उसको इस जीवन सांचेमें ढालकर दिखाते कि 'यों है इस सभ्यतामें स्वाभाविकता और इस प्रकार है इस धर्ममें सत्यता।' तभी यह जीवनचरित्र कहा जा सकता था। जिस धर्म फिलास्फीको पढ़कर संसारके बड़े बड़े फिलास्फर चकित होगये। संसार प्रसिद्ध जर्मनीके बड़े धुरन्धर विद्वान जिस प्रवर्तकके तत्त्वज्ञानको "संसारमें जहां और धर्मोंके तत्त्वज्ञानकी खोज समाप्त होती है वहाँसे जैनधर्मके तत्त्वज्ञाकी खोज शुरू होती है" ऐसा कहते हैं उस तत्त्व

ज्ञानके प्रवर्तक महाप्रभु भगवान महावीरका कैसा साधारण जीवनचरित्र लिखा गया है।

अब मैं इसके अंग्रेज़ी अनुवाद पर भी कुछ शब्द लिखनेकी महाराजजीसे आज्ञा चाहता हूँ। पिछले वर्ष देहली महाराजजीका दर्शन लाभ हुआ। आपके शिष्य महाराज गणीजीने मुझे बताया कि 'इस जीवनचरित्रका अंग्रेज़ी अनुवाद भी कराया जा रहा है।' मैं इस शुभ भावनापर महाराजजीको बार बार बधाई देता हूँ। लेकिन फिर भी महाराजकी इस शुभ भावनाको सादर हृदयमें स्थान देते हुए महाराजकी कार्य्यप्रणाली पर फिर तीखी आलोचना लिखता हूँ। महाराजजीने मुझे टाइप किये हुए कई सौ पन्ने दिखाये। उस पन्द्रह बीस-मिनटके समयमें उन पन्नोंको जहाँ तहाँसे पढ़कर मैं इसी निर्णय पर पहुँचा कि यह अँग्रेज़ीका जीवनचरित्र हिन्दीवाले का कोरा शब्द अनुवाद हो रहा है। इसपर कुछ समय तक मैंने महाराजजीसे चर्चा भी की। मैंने कहा कि 'महाराज! अँग्रेज़ीमें लिखनेका उद्देश्यतो विदेशियों और मुख्यतया अँग्रेज़ोंके ही लिये हो सकता है, इसलिये अंग्रेज़ी जीवन-कला-शैली अँग्रेज़ मनोवृति और अँग्रेज़ों-के ईसाई धर्मके विश्वासके विपरीत जहाँ सिद्धान्तकी टक्कर होती हो वह विशेष टीका-टिप्पणीके साथ यह जीवनचरित्र लिखाना चाहिये वरना इस कोरे अनुवादसे लोगहँसाई और उपकारके बदले अपकार होगा। महाराजसे कुछ देर उसपर चर्चा करनेके बाद मैं तो इस निर्णय पर पहुँचा था कि महाराजजीको उस अनुवादसे बहुत बड़े उपकारकी ग़लत आशा है। इस हिन्दीकी जीवनीका मेरी बुद्धिके अनुसार केवल छाया अनुवाद होनेकी आवश्यकता थी और वह भी एक अँग्रेज़ी भाषा के धुरन्धर पंडित, आचरणकी सभ्यताके प्रेमी और महावीर भक्त-द्वारा। यह अनुवाद सम्भव है अभी छपकर तैयार न हुआ हो। मैं समाजके विद्वानोंसे यह निवेदन करता हूँ और महाराजजीसे प्रार्थना करता हूँ कि इस अनुवादको किसी योग्य मनुष्य-द्वारा संशोधित कराकर छपाया जावे। जल्दबाज़ी करके परिश्रम और धर्मकी व्यर्थ और लोग-हँसाई न कराई जावे। मैं समाजसे इस बातकी अपील करता हूँ कि भगवान् महावीरका जीवनचरित्र पहिले हिन्दी भाषामें ही लिखनेके लिये किसी बड़ी-सी संस्थाके साथ एक अलग विभाग खोलें, जिसमें कुछ योग्य मनुष्य चर्चा और खोज द्वारा भगवानके जीवन-समाचार प्राप्त करनेका प्रयत्न करें और कोई धुरंधर भावुककलाविज्ञ विद्वान उसको लिखे। इसके बाद दूसरी भाषाओंमें अनुवादकी ओर बढ़ा जावे।

अन्तमें मैं यह विश्वास दिलाता हूँ कि मैंने किसी द्वेषवश यह आलोचना नहीं लिखी। श्रद्धाके साथ इस जीवनचरित्रको पढ़कर हृदयमें जो भाव स्वाभाविक ही आये थे उन्हींको लिखा है। संभव है लेख लिखनेका अभ्यास न होने व भाषाज्ञानकी कमीके कारण मैं इस आलोचनामें महाराजजीके प्रति अपनी श्रद्धासे विचलित हुआ दीखता हूँ, परन्तु वास्तवमें ऐसा नहीं है। मेरी महाराजजीके प्रति श्रद्धा है, आपके व्याख्यानों पर मैं मुग्ध हूँ। मेरा यह सब लिखनेका अभिप्राय केवल इतना है कि मेरे मतानुसार महाराजजीने जैनधर्म-साहित्य में एक बड़ी भारी कमीको अनुभव करके, उसको पूरा करनेके लिये भक्ति और धर्म प्रभावके आवेशमें, जीवन-चरित्र कलापर ध्यान न देते हुए, और संकुचित विचारोंके दायरेमें रहकर इस जीवनचरित्रको लिखा है और अनुवाद आदि कार्य्य करा रहे हैं, जिसके कारण न इस हिन्दी जीवनचरित्रमें महाराजजीकी आशा फली है और न आगे ही ऐसी संभावना है। बस यह मेरे इस लेखका निचोड़ है। यदि इस लेखमें कोई भी ऐसा शब्द हो जिसका अर्थ कटाक्ष रूप भी हो तो मैं उदार पाठकोंसे निवेदन करता हूँ कि वह ऐसा अर्थ कभी न लगावें। क्योंकि ऐसी मेरी भावना नहीं है। अन्तमें मैं महाराजजी की वंदना करता हुआ इस लेखको समाप्त करता हूँ।

यह सितमगर कुब्र !

[ले०—श्री कुमारी पुष्पलता]

[यह लेख पर्दा-प्रथाके विरोधमें बड़ा ही मार्मिक है और पुरुष वर्ग तथा स्त्रीवर्ग दोनोंहीके लिये खूब गंभीरताके साथ ध्यान देनेके योग्य है। इसे 'ओसवाल' पत्रमें देते हुए उसके विद्वान् सम्पादकने जो नोट दिया है वह इस प्रकार है—

"इस लेखमें विदुषी महिलाने बड़ी चुलबुल और आघात करने वाली भाषामें हमारी पर्दा प्रथाके दो चार चित्र खींचे हैं, जिनकी भीषणता और दानवी लीलासे कोई भी पाठक दो मिनटके लिये हतबुद्धि-सा हो उठेगा। पर्दाकी उत्पत्ति, उद्देश्य, लाभ, हानि आदि पर आज तक न मालूम कितने लेख लिखे गये हैं पर इस प्रकार भीतरी आघात करने वाले चलचित्र बहुत कम देखनेमें आते हैं। यद्यपि लेखिका कहीं पर भी उपदेशकके तौर पर पाठकोंसे यह-वह करनेका आदेश नहीं देती है, वह तो सिर्फ इनकी ज़िन्दा मगर घिनौनी तस्वीरोंको खींच चुप हो जाती हैं; पर पाठकों और युवकोंसे प्रार्थना है कि जितना जल्दी इस प्रथा का अन्त किया जाय उतना ही अच्छा होगा।" —सम्पादक]

"आपके देशमें नैतिकताका अर्थ बहुत ही संकुचित दायरेमें लिया जाता है"—यूरूपकी एक महिलाने भारतीय स्त्रियोंकी सभामें बोलते हुए एक बार कहा था। "जिस देशकी स्त्रियाँ गुण्डों और बदमाशोंकी फब्तियोंका घूंट चुपचाप पीलें, अपने आस-पास उन्हें कामी भौंरों-सी भीड़ जमाकर बैठने दें, यदि कोई हाथा पाई कर भी ले तो चुपचाप उस ज़हरके प्यालेको हृदयमें उँडेल लें वह देश किस स्त्री-गौरवकी महिमा गानेका फतवा दे सकता है? उस देशकी स्त्रियोंसे सीता और दमयन्तीके आदर्शोंकी क्या आशा की जा सकती है? जिसे संसारकी विकट परिस्थितियों और उलझनोंको देखनेका मौक़ा नहीं मिला, जिसने युद्धके भीषण दृश्योंका नज़ारा नहीं देखा, जिसे

मातृत्वके उच्च आदर्शोंकी शिक्षा व्यवहृतरूपमें पानेका नसीब नहीं मिला, जिसे पर्देके भीतर ही सारा संसार मनोनीत करना पड़ा वह स्त्री क्या तो झंझटों और कष्टोंका सामना कर सकेगी और क्या अपने पुत्रोंको युद्धमें भेजनेका गर्व हासिल कर सकेगी ? उसकी नैतिकताकी कच्ची दिवार तो-ड़नेका प्रयत्न कौन व्यक्ति करनेमें अपनेको असमर्थ पायगा ? वह किस बूतेके बल पर अपने सतीत्वकी रक्षा अकबरकी छाती पर चढ़कर खून भरी कटार से लेनेकी हिम्मत कर सकेगी ? यह थोथा विचार कि हम पर्देके भीतर रहकर सतीत्व और नैतिकता की रक्षा कर रही हैं कितना बेहूदा और हास्यास्पद है ! इस कथन पर किस महिलाको, जिसने स्वतंत्र वायुमें पलकर जीवनकी स्फूर्ति पायी है, खुले मुंह रहकर संसारकी भीषण वृत्तियोंका संग्राम देखा है, हँसी न आयेगी ?"

एक लम्बे अर्से पहले कहे गये ये उद्गार आज भी हमारे समाजके विचारवान स्त्री और पुरुषके दिमाग़ पर जोरसे कील ठोक सकते हैं—उन्हें अपनी संकुचित नैतिकताकी मर्यादाका भान करा सकते हैं। मैं सोचती हूँ, हमारे समाजके अधि-कांश व्यक्ति हमारे महिला-समाजकी नैतिकताके लिये और किसी देशकी स्त्रियोंकी नैतिकतासे तुलना करने पर गर्व करेंगे और कई अंशोंमें उनका गर्व करना ठीक भी है पर मैं यह जानना चाहती हूँ कि कामी और बेहूदापतिकी अनुचित मांगोंका चुपचाप पालन करते रहना ही क्या स्त्री समाजकी नैतिकताकी अंतिम सीढ़ी है ? एक गायके माफिक दिन और रात लाञ्छनों और फब्तियोंके कड़वे घूंटोंको पीते रहना ही क्या पतिभक्तिका सच्चा नमूना है ? पर्देकी कब्रमें जिन्दा दफ़नाई जाने पर भी आह-ऊह न करना ही क्या स्त्रीके गुणोंकी चरम सीमा हो गई ?

हमारे सामने दो स्त्रियोंका उदाहरण है—पाठक देखें और फिर निर्णय करें कि नैतिकतामें कौन आगे बढ़ी-चढ़ी है। एक स्त्री खुले मुँह चारों ओर निश्चिन्त हो स्वेच्छापूर्वक आ जा सकती है। उसे न तो इधर-उधर घूमनेमें डर है और न अपनेमें अविश्वास। वह निधड़क हो सैकड़ों गुण्डोंके बीच होकर गुजर जाती है—किसीकी मजाल है कि उसके स्त्रीत्वके आगे चूं चपड़ कर सके ! दूसरी ओर एक और स्त्री है जो सफ़ेद कब्रके कारण दूषित हवासे निर्बल और पस्त हिम्मत बनादी गई है। चारों ओर वह घूम फिर भी नहीं सकती, लज्जा और शर्मके मारे वह अपना सर तो पहले ही से छिपा बैठी थी कि गुण्डोंका एक समूह उधर आ निकला—दिलके सभी उबार उसने अश्लीलसे अश्लील भाषामें निकाल डाले पर इन बातोंको सुनकर न तो वह लाजवन्ती पृथ्वीमें घुसी और न पहाड़से गिरी ! पत्थरकी मूर्ति-सी वहीं की वहीं बैठी रही। अब यहीं इस उदाहरण-को पेश करनेके बाद मैं अपने समाजके पुरुष और स्त्री वर्गसे पूछती हूँ कि यहाँ पर कौन स्त्री नैतिक दृष्टिसे बढ़ी-चढ़ी है ? पर्देमें मुख छिपाए दुष्टोंकी ग़ज़लें चुपचाप सुननेवाली या निधड़क सिंहनी-सी इधर-उधर घूमनेवाली—जिसकी आँखोंके तेजके सामने कामी कुत्ते ठहर ही नहीं सकते, देखना और बोलना तो दूर रहा ?

इस उदाहरणमें यदि आप पर्देवालीकी नैतिक शक्तिको गई गुज़री समझते हैं तो मैं यह विश्वास

दिलाती हूँ कि ऐसा कोई भी उदाहरण हमारे सामने नहीं जहां हम पर्देवालीकी नैतिकताकी दाद दे सकें ! फिर किस उसूलके भरोसे हम पर्दा प्रथाको पकड़े रहें ?

पुरुष पाठक इस बातको शायद नहीं जानते हैं कि इस क़ब्रमें जीवित दफनाई जानेके कारण आज मातृजातिमें प्राणदायिनी शक्तिका नाम शेष ही नहीं बचा है। हमारे जीवनकी विकसित होती हुई शक्तियां इस क़ब्रमें हमेशाके लिये असमयमें दफ़नादी गई। आज हम पर्देकी इस चहारदिवारी के अन्दर बन्द होकर एक क़ैदीकी अवस्थासे किसी भी प्रकार अच्छी नहीं हैं। हमें न संसारकी विचित्र लीलाओंकी जानकारी है और न भविष्यकी कल्पनाएँ करनेका मौक़ा। यदि सच कहा जाय तो कहना होगा कि आज हम मानव शरीर धारण कर भी पशुओंसे किसी भी दृष्टिसे श्रेष्ठ नहीं हैं।

जब शास्त्रों और धर्मग्रंथोंमें यह लिखा पाती हूं कि स्त्री पतिके कार्योंमें भाग ले, उसे अपनी गुत्थियोंको सुलझानेमें सहयोग दे तब यह बिल्कुल ही नहीं समझमें आता कि वह क़ब्रके भीतर रहकर जीवनके कौनसे पहलुओंसे जानकारी रख सकती है। वर्तमानकी क्या आर्थिक और क्या राजनीतिक, क्या सामाजिक और क्या धार्मिक सभी गुत्थियां हमारे ज्ञानके लिये एवरेस्टके समान अलंघ्य हैं तब उन्हें सुलझानेमें सहयोग देनेका सवाल तो लाखों कोस दूर रहा। हम नहीं समझ पातीं इस चहारदिवारीके भीतर बन्द कर हमारे प्राणाधार पति हमारी निर्बलता और बीमारियोंको बढ़ाकर कौनसा फ़ायदा उठाते हैं ? इस प्रकार हमें सदाके लिये व्याधियोंका घर बनाकर क्या हमारे प्रिय पति हमारे लिये ही कसाई बन क़ब्र खोदनेका प्रयत्न नहीं करते ?

हम यह जानती हैं कि वर्तमानका युवक वर्ग इस बेहूदा रूढ़ीकी हानियोंको महसूस करने लगा है पर उसमें इतना पुरुषार्थ अवशेष ही नहीं रहा है कि वह दो कदम आगे बढ़ इस बीमारीसे हमारा उद्धार करे। इस खूंखार व्याधिके मुखमें फँसी हुई देखकर उसकी आत्म तिलमिला रही है, हृदयमें आवेगों और जोशका तूफान आ रहा है, दिमाग़में विचारों और तर्कोंका बवण्डर मचा है पर अभी उसमें इतना आत्म-विश्वास पैदा नहीं हुआ कि वह इस ज़ालिम दुश्मनके ख़िलाफ़ जेहाद खड़ाकर दे। उसकी नैतिकतामें वह फफकारती ज्वाला नहीं जो पल मारते ही उसकी झूठी मर्यादाओंको जलाकर ख़ाक करदे।

पर यहाँ मैं यह बात स्पष्ट कह देना चाहती हूँ कि ये मर्यादाएँ बिल्कुल बिना सर पैरकी हैं। वर्षों पहले किन्हीं खास उद्देश्योंको पानेके लिये यह प्रथा चल पड़ी थी किन्तु आज न तो वे उद्देश्य ही हमारे दृष्टिपथमें रहे हैं और न वह परिस्थिति। मगर जिस प्रकार प्राणशक्ति निकल जानेपर मानवका विकृत अस्थिपञ्जर रह जाता है वैसे ही यह पर्दा स्त्रियोंके लिये क़ब्र बन रहा है। इस पर्देका परिणाम आज-कल तो यही हो रहा है कि हमारी माताएँ और बहनें अपने स्वामियोंके साथ खेलने-पढ़नेवाले सभ्य पुरुषोंको देख नहीं पातीं, उनकी उच्च विचारधाराका लाभ नहीं उठा पातीं पर ये ही 'असूर्य पश्याएं' कहारों और नौकरोंके गन्दे और काले कलूटे अंगोंको खुली आँखों देखती हैं, उनकी नीच प्रवृत्तियोंकी क्रीड़ा पर कभी कभी मनोविनोद

भी किया करती हैं ! इससे बढ़कर हमारी मर्यादाओंका दिवालियापन किस प्रकार निकाला जा सकता है ? जो सभ्य हैं, शिक्षित हैं और उन्नत विचारोंके हैं उनसे तो पर्दा, उनसे असहयोग; पर जिन्हें न कपड़े पहनने की तमीज़ है, न उचित बातें करनेका शऊर, उनसे हँसी दिल्लगी ! थू थू ! क्या कब्रमें जीवित गाड़कर इसी उद्देश्यको पानेकी अभिलाषा हमारे पुरुषवर्गकी थी ? क्या इसी नैतिकताका ढोंग यदा-कदा करनेका मौक़ा उन्हें हमारा पर्दा दे दिया करता है ? क्या इसी नैतिक चरित्रका गर्व उन्हें आजतक है ? बलिहारी है इन मर्दोंकी बुद्धि की ! इस विषयमें इतना लिखना भी उनके मुखपर कीचड़ फेंकनेका इल्ज़ाम लगाने वाला सिद्ध होगा ! पर उफ़ यह सितमगर क़ब्र !

'ओसवालसे'
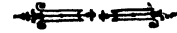
सुभाषित

'धर्मसे बढ़कर दूसरी और कोई नेकी नहीं, और उसे भुला देनेसे बढ़कर दूसरी कोई बुराई भी नहीं है।

'संसार भरके धर्मग्रन्थ सत्यवक्ता महात्माओंको महिमाकी घोषणा करते हैं।'

'अपना मन पवित्र रक्खो, धर्मका समस्त सार बस एक इसी उपदेशमें समाया हुआ है। बाक़ी और सब बातें कुछ नहीं, केवल शब्दाडम्बर मात्र हैं।'

'धन-वैभव और इन्द्रिय सुखके तूफानी समुद्रको वही पार कर सकते हैं कि जो उस धर्म-सिन्धु मुनीश्वर के चरणोंमें लीन रहते हैं।'

'केवल धर्म जनित सुख ही वास्तविक सुख है। बाकी सब तो पीडा और लज्जा मात्र हैं।'

'भलाई बुराई तो सभी को आती है, मगर एक न्यायनिष्ठ दिल बुद्धिमानोंके गर्वकी चीज़ है।'

'आलस्यमें दरिद्रताका वास है, मगर जो आलस्य नहीं करता, उसके परिश्रममें कमला बसती है।'

'बड़प्पन हमेशाही दूसरों की कमज़ोरियों पर पर्दा डालना चाहता है; मगर ओछापन दूसरोंकी ऐबजोईके सिवा और कुछ करनाही नहीं जानता।'

'लायक लोगोंके आचरणकी सुन्दरताही उनकी वास्तविक सुन्दरता है; शारीरिक सुन्दरता उनकी सुन्दरतामें किसी तरहकी अभिवृद्धि नहीं करती है।'

'ख़ाकसारी—नम्रता बलवानोंकी शक्ति है और वह दुश्मनोंके मुक़ाबलेमें लायक लोगोंके लिये कवचका काम भी देती है।'

—तिरुवल्लुवर

मन्दिरोंके उद्देश्यकी हानि

[ले०—पं० कमलकुमार जैन शास्त्री 'कुमुद']

सामूहिक रूपमें उच्च जीवन बनानेके हेतु, राष्ट्रके महान् आत्माओं और सत्पुरुषोंकी स्मृतिमें जो स्थान निश्चित किये जाते हैं उनको देवस्थान, देवालय, देवल अथवा देवमन्दिर कहते हैं। उनका जीवन पवित्र और लोकोपकारी होनेके कारण ही उन स्थानोंको पवित्र माना जाता है। ये स्थान राष्ट्रके आदर्श स्थान हैं—वे किसी जाति विशेषकी बपौती सम्पत्ति नहीं हो सकते। हरएक इन्सान उनसे लाभ उठानेका पूरा पूरा अधिकारी है।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है, इसलिये वह अकेला नहीं रह सकता। उसका यह स्वभाव है कि समाजमें रहे और निरन्तर सामाजिक संगठन तथा उन्नतिकी चर्चा करे। इन्हीं स्वाभाविक गुणोंसे प्रेरित होकर वह चाहता है कि उसके वैयक्तिक और कौटुम्बिक जीवनका दायरा बढ़कर सामाजिक होवे, सामाजिक दायरेमें आकर वह उससे भी तृप्त नहीं होता और अपनी शक्तियोंका विकास करता हुआ राष्ट्रीय तथा विश्वजीवनके दायरेमें आनेका प्रयत्न करता है। चूंकि आत्मा स्वभावसे ही प्रयत्नशील-प्रगतिशील और सुखोंकी कामना करनेवाला है इसलिए वह सुखोंके दायरेको बढ़ानेमें निरन्तर तत्पर रहता है। इस प्रकार वह उन्नति करता हुआ वैयक्तिकसे कौटुम्बिक, कौटुम्बिकसे सामाजिक और सामाजिकसे "वसुधैवकुटुम्बकम्" के सार्वजनिक सिद्धान्तका माननेवाला बनता तथा अपने समान प्राणीमात्रके कल्याणकी कामना करने लगता है।

इन्हीं स्वाभाविक गुणोंसे प्रेरित होकर ही मनुष्यने सामाजिक और राष्ट्रीय जीवनकी उन्नतिके लिए एक सामान्य स्थानकी रचना की औरवहाँ जाति तथा राष्ट्रके महान् पुरुषोंकी प्रतिमाएँ स्थापित कीं, ताकि लोग वहाँ एकत्र होवें और आपसमें मिल-जुलकर अपने आदर्शोंको ऊँचा बनावें व परस्परमें मिलकर उन्नति करें। ऐसे स्थान "देवमन्दिर" कहलाते हैं और उनके निर्माणमें लोकसंग्रह तथा सामाजिक उत्थानका भारी तत्त्व संनिहित है। उदार जैनधर्मने राष्ट्रके अंगरूप प्रत्येक मनुष्यको राष्ट्रकी सम्पत्ति माना और उसके धार्मिक तथा सामाजिक अधिकारोंकी रक्षा करते हुए को प्रायः सब

समान अधिकार दिया। वीर-सन्तान जब तक इस सिद्धान्तको इसके असली स्वरूपमें मानती रही तब तक उसने दुःखों और संकटोंका अनुभव तक न किया वरन् चक्रवर्ति राज्य तकका भी सुख भोगती रही।

आज दिन देव और उनके स्थान ऐसे व्यक्तियोंके हाथोंमें पड़े हैं जो स्वयं उन लोकोपकारी महान् आत्माओंके जीवनचरित्र तकको पूर्ण रूपसे नहीं जानते, विद्याध्ययन तथा विद्याभ्यास करना कराना भी जिन्हें नहीं रुचता, और जो अपनी अज्ञानता तथा मूर्खताको चतुराईसे छिपा रखनेके लिए रूढ़िवादको ही धर्मवादकी छाप लगा रहे हैं, जनसाधारणमें इस बातकी जड़ जमा रहे हैं कि जो कुछ उल्टा-सीधा हमारे बाप-दादे करते आये हैं उसको छोड़कर धर्म-कर्म कोई चीज़ नहीं है। वेष भूषा तथा तिलक छापकी पूजा करनेसे ही मोक्षका द्वार खुल जायेगा। इनके मतमें भावना और श्रद्धान ही प्रधान धर्म हैं, परन्तु वे यह नहीं समझते कि किसी वस्तुके असली स्वरूपको जाने बिना शुद्ध भावना और सच्चा एवं दृढ़ श्रद्धान कैसे हो सकता है!

जातिको रसातलमें पहुँचानेवाली ऐसी ही बातोंने उत्तम आचरण, उच्चआदर्श और सद्भावनाओंको पददलित कर दिया, मन्दिरोंको उनके आदर्शसे गिरा दिया, अकर्मण्यता, आलस्य, ब्राह्मण भोजन, मामूली दान-तीर्थ-व्रत आदिसे ही मुक्तिका प्राप्त होना बतला दिया और धार्मिक ग्रन्थोंका स्वाध्याय-मनन अनुशीलन तथा योग-समाधि, संयम और सामायिक जैसे आवश्यक कर्मोंको अनावश्यक ठहरा दिया! नतीजा यह हुआ कि समाजमें मूर्खताका साम्राज्य बढ़ गया, जाति स्वाभिमान तथा स्वावलम्बनसे शून्य होकर अपनी शक्तियोंको विकास करनेमें साहस हीन तथा निरुत्साही हो गई और मस्तिष्क तथा विवेकसे काम लेना बिल्कुल ही भूल गई—यह अपने उन्नतिके मार्गको भयके भूतोंसे भरा हुआ देखने लगी है। यह भय और भी बढ़ जाता है जब स्वार्थीजन उन मिथ्या भयके भूतोंका विराट्-स्वरूप लोगोंको बतलाते हैं, इससे वे वहीं ठिठककर शून्यवत् हो जाते हैं।

जाति सामूहिक रूपमें उन्नति करे और उन्नतिके उच्च शिखरपर आरूढ होवे, इसके लिए जातिके कर्णधार अनेकों प्रकारकी कठिनाइयों और संकटोंको सहते हुए सतत परिश्रम कर रहे हैं, उनका बलिदान पर बलिदान हो रहा है; परन्तु हमारे धर्माधिकारी पंच-पटेल टससे मस होना नहीं चाहते और धर्मकी दुहाई देकर आगे आनेवालोंको पीछे घसीटते हुए उन्हें 'सुधारक बाबू' का फ़तवा दे देते हैं। जातिको एकताके सूत्र में संगठित करनेमें जो मूल्य सच्चे सुधारक दे रहे हैं उसकी वे कुछ भी चिन्ता नहीं करते। नहीं मालूम उन्हें कब सुबुद्धिकी प्राप्ति होगी।

इन पंच-पटेलोंकी कृपासे जैन समाजमें अछूत और दलित (दस्सा विनैकावार) कहलाए जानेवाले हमारे ही जैनी भाई, जो जिनेन्द्रदेवका नाम लेते, अपनेको भगवान् महावीरकी सन्तान मानते, उनके आदेशों पर चलते और उनकी भक्तिसे मुक्ति मानते हैं, वे जिनेन्द्रका दर्शन तथा पूजा-प्रक्षाल करने देवालयोंमें नहीं जा सकते और सिद्धान्त शास्त्रोंका स्वाध्याय भी नहीं कर सकते! पंच पटेलों और उनके धार्मिक-सामाजिक अधिकारकी इस मिथ्या और नाजायज़ सत्ताने दो लाखसे ऊपर महावीरके सच्चे भक्तोंको उनके जन्म सिद्ध अधिकारोंसे वंचित कर रखा है!! ज़रा हम ही विचारकर देखें क्या यह घृणित सत्ता जैन-जातिके लिए घातक नहीं है। भगवान् महावीर पतित पावन हैं, उनकी कथा सुनने और उनका दर्शन करनेसे महापातकी भी पवित्र हो

जाता है; फिर उनका दर्शन-पूजा करनेसे पतित कहे जानेवाले जैनी क्यों रोके जाते हैं? पतित तो वे हैं जो भगवान् महावीरके भक्तोंसे घृणा करते हैं, उनको वीर-प्रभुके पास जानेसे रोकते हैं और इस तरह मन्दिरोंके उद्देश्यको ही हानि पहुँचाते हैं।

यह विश्वास और धारणा कि मैं पवित्र हूँ और वह अपवित्र है तथा उसके (दस्सादिके) प्रवेशसे मंदिर अपवित्र हो जावेंगे और मूर्तियोंकी अतिशयता गायब हो जायगी ऐसा घृणित पाप है जो जैन जातिको रसातलमें पहुँचाये बिना न रहेगा। जैन जातिका ही क्यों, वरन् समूचे राष्ट्रका कोई भी अंग अपवित्र अथवा नीच नहीं है। इसके विपरीत यह मानना कि अमुक अंग अपवित्र और नीच है राष्ट्र-धर्म-जाति और देशके प्रति भयंकर पाप है। जिस किसीमें धार्मिकता, जातीयता और राष्ट्रीयता नहीं वह मनुष्यरूपमें पशु समान है और इस पवित्र भारत वसुन्धरा पर भार रूप है।

यह मान्यता कि देवालयोंमें स्थित जिनेन्द्रदेवकी मूर्तियाँ किसी व्यक्ति अथवा समुदाय-विशेषकी सम्पत्ति हैं निरी मिथ्या और निराधार है और मन्दिरोंके उद्देश्यको भारी हानि पहुँचानेवाली है।

दूसरोंके स्वाभाविक धर्माधिकारको हड़पना निःसन्देह महा नीचता है—घोर पाप है।

वे आये

[ले०—पं० रतनचन्द जैन 'रतन']

हिंसाकी ज्वालामें जीवन-धार लिये वे आये।
शरत्-चंद्रिका-सा शीतल संसार लिये वे आये॥

ग्रीषमका था अंत आदि था वर्षा ऋतुका सुंदर।
सुरभित-सा समीर करता था मुदित राजसी मंदिर॥
ऊषाका शुभनव-प्रभात जग-प्यार लिये वे आये।
हिंसाकी ज्वालामें जीवनधार लिये वे आये॥

धन्य तुम्हारा अंचल त्रिशला जीवन-ज्योति जगाता।
वीर श्रेष्ठ उन महावीरसे यह संसार सुहाता॥
उमड़ पड़ा आनन्द वीर वाणी जब हम सुन पाये।
हिंसाकी ज्वालामें जीवन धार लिये वे आये॥

मंत्र अहिंसा गौरवमय दुनियाने सीखा जिनसे।
परहित निज बलिदान करें कैसे यह सीखा जिनसे॥
सुप्त हृदयमें जो जागृतिका बिगुल फूंकने आये।
हिंसाकी ज्वालामें जीवन-धार लिये वे आये॥

ऋणी आज संसार अहो! जिनकी पावन कृतियोंका।
नत-मस्तक होगया विश्वके सभी तीर्थ-पतियोंका॥
जगके लिये जन्म हीसे उपकार लिये आये।
हिंसाकी ज्वालामें जीवन-धार लिये आये॥

वे सन्मति श्रीवीर आज फिर सुधाधार वर्षादें।
बरसादें आनन्द मही पर अत्याचार बहादें॥
पराधीन जगमें स्वतंत्रता सार लिये वे आये।
हिंसाकी ज्वालामें जीवनधार लिये वे आये॥

अतीतके पृष्ठोंसे

[लेखक—"भगवत्" जैन]

[एक]

'मेरा हृदय नहीं कहता कि तुम्हारी बातको ठुकराऊँ—प्राणेश्वरी ! लेकिन···मुश्किल तो यह है कि·········!'

'क्या ?'

'तुम्हीं एक बार सोचो—क्या तुम्हारा यह हठ, यह प्रेरणा उचित है ? मुझसेकहीं अधिक तुम इस पर विचार कर सकती हो, इसलिए कि तुम्हारी अस्वाभाविक-प्रेरणाका सम्बन्ध तुम्हींसे अधिक रहता है, वह तुम्हारी ही चीज है !'

'ठीक कह रहे हो—नाथ ! मगर अपने ध्येयसे विमुख होकर स्वार्थ-साधनको ही सब-कुछ समझ बैठना भी तो नहीं बनता ! मेरी त्रुटिका अभिशाप आपके लिए हो, यह मेरे लिए कितनी अवाँछनीय बात है ! बस, वहीं मेरा कर्तव्य बन जाता है—अपने प्राप्त-अधिकारकी आहुति देकर भालपर लगे हुए कलंकको मिटाना, उजड़े-कानन में बसन्तका आह्वान करना !'

'मगर तब ! जब मैं उस अभिशापकी विभीषिकासे भीरु बनकर उसके प्रतिकारके लिए अवलम्ब खोजने लगूं !···जरा गंभीरतासे विचारो—क्या इस प्रेरणाका क्रियात्मकरूप तुम्हारे प्रति मेरा अत्याचार न होगा ?—संसार क्या कहेगा—उसे ?'

'संसार ?—संसारकी बात कोई सिद्धान्त नहीं ! वह त्याज्य-बातोंको भी 'अच्छा' कह देता है ! मेरा विश्वास है—वैवाहिक-जीवनका ध्येय वासना तृप्ति नहीं, सन्तानोत्पत्ति है ! और सन्तानोत्पत्तिके लिए, एक पत्नीके सिवा दूसरी शादी करना भी कोई क्षम्य-अपराध नहीं ! जो अपराध नहीं, वह अत्याचार नहीं हो सकता !'

'लेकिन मैं सोचता हूँ·······!'

'तुम्हारा सोचना है वह मेरा प्रेम है, उपाय नहीं, जीवनकी पूर्णता नहीं !'

'किन्तु मुझे अपने जीवनमें अभाव भी तो नहीं दीखता, जिसे पूर्णताका रूप देनेके लिए सचेष्ट बनूं ! प्रिये···! विवश न करो ! मैंने वैवाहिक-जीवनकी वाँछनीय-पूर्णता तुममें पाली है ! सन्तानके अभावकी स्मृतितक मेरे हृदयमें नहीं ! और इसके बाद भी, मेरी धारणा है—कि दाम्पत्तिक-जीवन प्राकृतिक-प्रेमका ही उपनाम है ! वही प्राकृतिकता जिसको भग्न नहीं किया जा सकता ! विकृति करना ही उसका विनाश कहलाता है !'

एक छोटा-सा उदासी मिश्रित मौन !···

राजगृहीके धन-कुबेर सेठ ऋषभदास पत्नीके उदास-मुखकी ओर देखकर मर्माहत हुए बगैर न रह सके ! मन, वेदना सी महसूस करने लगा ! विकट-परिस्थिति सामने थी, सोचने लगे—'क्या

करना चाहिए ?'—कि·········

दो गोल-गोल आँसू !

आरक्त कपोल !!

अधरोंका अस्वाभाविक स्पन्दन !!!

पूंजीपतिका हृदय नवनीत बनने लगा ! खोजने लगे रुधनकी गहराईमें स्वकर्तव्यकी रूप-रेखा ! उनके विचार बाँध टूटी नदीकी भाँति निखरे जा रहे थे ! तभी—

'मेरी एक छोटी-सी 'माँग' भी स्वीकृति नहीं पाती, इससे अधिक और दुर्भाग्य क्या होगा—मेरा ?'—जिनदत्ताके सुन्दराकार मुखके द्वारा हृदयस्थ-पीड़ा बोली !

'सुन्दरी ! मैं यदि तुम्हारी प्रेरणा-रक्षाके लिए द्वितीय-विवाह कर भी लूं तो क्या तुम सोचती हो, यह मेरा स्तुत्य-कृत्य होगा ? कदापि नहीं ! वह तुम्हारी गहरी-भूल होगी ! जो हमारे-तुम्हारे दोनों के लिए घातक सिद्ध होगी, विष सिद्ध होगी। किसीका सत्वापहरण कर, किसीकी रस भरी दुनियाँको उजाड़कर, कोई सुखकी नींद सो सके यह ग़ैर मुमकिन है !···'—ऋषभदासकी दृढ़ताने बोलते-बोलते गंभीर रूप धारण कर लिया ! लेकिन जिनदत्ताके हृदयपर उसका कुछ प्रभाव न हुआ, आख़िर था न स्त्री हठ ?

वह बोली--'किसकी दुनियाँमें प्रलय मचती है--इससे ? किसका अधिकार अपहरण होता है ? मैंने सोच लिया--'किसीका भी नहीं !' अगर होता भी है तो सिर्फ़ मेरा ! जिसकी मुझे 'परवाह' नहीं ! इसके बाद--इस उजड़े नन्दन-काननमें बसन्तकी सुरभि महकेगी, तमसान्वित-सदनमें आशाका दीपक प्रज्वलित होगा ! चाँद-सा सुहावना नव-जात शिशु पूर्णताका सन्देश सुनायेगा ! तभी·········!'

विह्वला-सी जिनदत्ता उन्मीलित नेत्रोंसे देखती हुई, क्षण-भरके लिए रुकी ! फिर--

'···तभी मेरी त्रुटि मुझे भूल सकेगी, तभी मेरा कलंक मुझे धुला-सा प्रतीत होगा ! और तभी मेरा वंध्यत्व पराजित हो सकेगा ! इसके लिए मैं अधिकार ही नहीं, नारीत्व तकको आहुति देनेके लिए प्रस्तुत हूँ !'--जिनदत्ता--पतिव्रता, धर्माचारिणी, विदुषी जिनदत्ता--ने अपनी आन्तरिकताको समक्ष रखा !

'···किन्तु प्रिये ! ऐसा पाणिग्रहण, पाणिग्रहण नहीं, बन्धन है ! जिसमें एक निर्मुक्त भोली बालिका का जीवन, अनमेल साथीके विकसित-जीवनके साथ निर्दयता-पूर्वक बाँध दिया जाता है ! इसका परिणाम--विषाक्त परिणाम--भविष्यके गहन-पटलोंमें छिपा रहनेपर भी, मुझे वर्तमानकी तरह दिखाई दे रहा है ! मैं चाहता हूँ तुम अपनी प्रेरणाको वापिस लेलो, मुझे भाग्य-निर्णय पर छोड़ दो !'

क्षणिक स्तब्धता !!!

'जीवन-मूल ! इतने निष्ठुर न बनो ! न ठुकराओ मेरी प्रेम-प्रेरणाको ! मैं तुमसे भिक्षा माँगती हूँ—प्यारे ! कहो,···कहो, बस, कहदो—'हाँ !'

—और तभी ऋषभदासके असमंजसमें पड़े हुए हृदयसे निकलती है, प्रेमसे ओत-प्रोत, गंभीर किन्तु मीठी—

'हाँ !!!'

❀ ❀ ❀

[दो]

नवागता दुल्हनका नाम था—कनकश्री! जैसी ही कनकश्रीने गृह-प्रवेश किया कि जिनदत्ताको ऐसा लगा, जैसे सफल मनोरथ पा लिया हो! लेकिन कनकश्रीने समझा उसे शूल! स्वाभाविक ही था—साथीकी तलाश दुखके लिए होती है, सुखके लिए नहीं! फिर स्त्री-हृदयकी ईर्षा, क्या पूछना उसका?...अवश्य ही, एक दूसरीका गाढ़ परिचय न था!

कनकश्रीकी माँ—'बन्धुश्री'—राजगृहकी ही निवासिनी थी! परिवार भरमें दो ही प्राणी थे—माँ-बेटी! जिनदत्ताने रखा अपने पतिके लिए कनकश्रीका प्रस्ताव...! बुढ़ियाको जैसे मुँह-माँगी मुराद मिली! तृषातुरके पास जलाशय आया! ऐसा सुयोग भला वह चूक सकती थी? उसका दुनियावी तजुर्बा—साँसारिक अनुभव—काफ़ी पुराना था? उसने सोचा—'लड़कीका पर-गृह जाना निश्चित ही है! और अभी, निःप्रयत्न ही उसे समृद्धशाली 'वर' मिल रहा है! पुत्री सुखी रहेगी, यही चाहिए भी! थोड़ी उम्र ज़रा अधिक है, पर इससे क्या? घरमें ख़ुराक भी तो है?—ग़रीबोंके नौजवान भी बग़ैर ख़ुराकके बूढ़े दिखाई देते हैं! रह जाती है पहली पत्नीकी बात! सो वह भोली स्वयं ही कह रही है! फिर शंकाके लिए स्थान नहीं! इसके बाद भी—है तो वह पुरुष-हृदय ही न? जो सर्वदा नवीनताकी खोजमें ही विवेक हीन बना रहना जानता है, जो सौन्दर्य शिखापर शलभ की भांति प्राण चढ़ाने तकमें 'पीछे रहना' नहीं जानता! ...अवश्य ही, पूर्व-पत्नीको कनकश्रीके लिए जगह खाली कर देनी होगी! प्रेम केवल कनकश्रीके अधिकारकी वस्तु बन जायगा, इसमें सन्देह नहीं!'

इसके बाद—बुढ़ियाकी स्वीकारता और विवाहोत्सव दोनों एक-साथही लोगोंके सामने आए!

'...बहिन! आजसे इस घरको अपनाही 'घर' समझो! तुम्हारे पति बड़े सरल स्वभावके हैं, मौजीले भी खूब हैं—वह! मेरी आन्तरिक अभिलाषा है—तुम दोनों प्रसन्न रह कर अनेकों वर्ष जियो! तुम्हारी भरी-गोद देख सकूँ, मैं इन आखोंसे! —जिनदत्ताने स-प्रेम कनकश्रीसे कहा! लेकिन वह रही चुप, आभार प्रदर्शक एक-शब्द भी उसके मुँह से न निकला! किन्तु जिनदत्ताने इसे महसूस तक न किया, अगर कुछ समझा भी तो निरा-भोलापन!

फिर कहने लगी वह—'और मेरा, तुम्हारे पति से, तुम्हारे घरसे प्रायः सम्बन्ध-विच्छेद! सुबह और शाम केवल भोजन-निवृत्तिके लिये आया करूँगी! बाक़ी समय 'देवालय' में—प्रभु-पद शरण में—बिताऊँगी!'

मौन!

इस बार जिनदत्ताने कनकश्रीके मुखकी ओर कुछ खोजनेकी दृष्टिसे देखा। पर मुग्ध-हृदय फिर भी भ्रम रहित न हो सका, उसने समझी—नारी-सुलभ व्रीड़ा!

❀ ❀ ❀

दिन-पर-दिन निकलते चले गए! बहुत-दिन बाद एक दिन!—

बन्धुश्रीने प्रवेश किया। कनकश्रीने जैसे ही 'माँ'को आती देखा, तो स्वागतार्थ उठ खड़ी हुई! स-सन्मान उच्चासन पर बैठाया!... बुढ़ियाने

वैभवकी गोदमें जो अपनी पुत्रीको देखा, तो पुलकित हो उठी! देखने लगी—अचंभित-नजरोंसे इधर-उधर! आजसे कुछ दिन पूर्व जैसा समुज्ज्वल-भविष्य उसके चित्त पर रेखांकित हुआ था, ठीक वही वर्तमान बना हुआ उसके सामने था .... उसके रुचिर अनुमानकी सार्थकता!

जैसे वह स्वर्ग में है, प्रतिभासित होने लगा—उसे! और वास्तविकता भी यही थी! कनकश्री पूर्ण सुखी थी! उसके पास पतिका प्रेम था, वैभव था, और थे सुखके सभी आवश्यकीय-साधन! जिनदत्ताने उसके लिये भरसक प्रयत्न किए कि वह प्रसन्न रहे, यही सब थे उसके सुख-साधन!

...दोनों बैठीं! माँकी मुखाकृतिमें थी सन्तोष-रेखा! और पुत्रीकी में अमर उदासी! बातें होने लगीं!...कुछ देर धन महत्ताकी; इसके पश्चात्—जैसीकि बातें होनेका प्रायः सिस्टम होता है—सुख-दुख विषयक!—

'बेटी! और जो है वह तो ठीक! पर तू सुखी तो है न?'—बुढ़ियाने साधारणतः प्रश्न किया।

'सुखी ..? नरकमें ढकेल कर मेरे सुखकी बात पूछती हो— माँ?'—बातको साधकर मार्मिक-ढंग से कनकश्रीने उत्तर दिया।

काले भुजंग पर जैसे बुढ़ियाका पैर पड़ गया हो, हिमालयकी चोटीसे गिर पड़ी हो; या हुआ हो आकस्मिक वज्राघात! वह घबड़ाकर बोली—क्यों...???'

'रहने दो माँ इस 'क्यों' को! मुझे वेदना करती है यह 'क्यों' सहानुभूति नहीं! मेरे भाग्यमें जो है, भोग लूँगी! अब चर्चासे क्या लाभ?'...—और रोने लगी, कनकश्री जार-जार!

बुढ़िया अवाक्!

सन्दिग्ध!!

रहस्यसे अविदित!!!

बोली ममतामयी स्वरमें—'क्यों रोती हो, मेरी बेटी? क्या हुआ है तुम्हारे साथ? कहो न? अपनी माँसे छिपाओगी?—न, ऐसा न करो, मेरा मन दुख पायेगा— मैं शोक में डूबने लगूँगी और .... !'

कनकश्री के आँसू थमे! मुख पर कुछ शान्ति आई, वैसी ही, जैसी तूफानके बाद रत्नाकरमें! कहने लगी वह—

'उनका' प्रेम 'उसी'से है! मुझे तो फूटी-आँखों देखना तक उन्हें पसन्द नहीं! रात-दिन इस घर की नीरवतासे जूझना मेरा काम है! एकान्त... दिन-रात एकान्त!...माँ! एक स्त्री के होते हुए फर मुझे और सौंपते वक्त मेरे सुख दुखकी बात भी तोसोच लेती—कुछ!

बुढ़िया • संज्ञा-हीन-सी हो रही थी उसकी चैतन्यता उसके साथ विश्वासघात किये जा रही थी! वह चुप ही रही!

कनकश्री ने अपना क्रम भंग न होने दिया—'मैं नहीं समझ पाती कि तुमने क्या सोचा, क्या विचारा? स्त्रीके लिये इससे अधिक और दुखकी बात क्या होती है?... प्रेमके दो खण्ड नहीं होते—माँ! फिर उसका नाम 'प्रेम' न होकर 'दम्भ' हो जाता है!'

वह रुकी! बुढ़ियाको अवसर मिला, उसके मुख पर रौद्रता, पैशाचिकता नाच रही थी, क्रोधसे काँपते ओठोंसे निकला—'हूँ! यहाँ तक? मैं

नहीं जानती थी !....'

सन्नाटा !

बुढ़िया फिर आपही बड़ बड़ाने लगी—'पागल है, निरा पागल ! नवयौवनाको छोड़ कर उस...!'

कनकश्रीके मुँह पर भी एक मधुर—मुस्कान !

'बेटी ! चिन्ता न कर तू ! मैं तेरे उस 'कांटे' को समूल नष्ट करके रहूँगी ! जब न रहेगी वह, तब तेरे आगे ही सिर झुकाना पड़ेगा उसे !'—बुढ़ियाके मानसिक पीड़ासे व्याकुल हृदयने सान्त्वनात्मक शब्दोंमें भीष्म-प्रतिज्ञा की !

❀ ❀ ❀

[तीन]

'माँ भिक्षा ! '

'ठहरो, अभी लाती हूँ !'

—और बन्धुश्री ने उस दानवाकार मलिन-ष, कपालिक-जोगीकी हाँडी भर दी ! वह चला गया—हाथके त्रिशूलको अस्वाभाविक ढंगसे हिलाता हुआ !

इसके बाद—दूसरे दिन आया, तीसरे दिन आया; फिर वह रोजका क्रम बन गया ! वह आकर दर्वाजे पर आवाज देता ! आवाजके साथ बुढ़िया उठती और उसकी हांडी भर देती, वह चला जाता अपनी मस्तानी-चालसे, स्वछन्द !

भिक्षा-दानके धरातलमें पुन्यकी लालसा नहीं थी ! बुढ़िया को लेना था उस अघोरी-कपालिकसे कार्य ! वह भी साधारण नहीं, भयंकर, खतरनाक, डैन्जरस् !!!

पर कहनेकी रूप-रेखाही नहीं बनती थी ! क्या कहे ?—कैसे कहे ? हिम्मत आ आकर लौट जाती !...

सहसा, एक-दिन कपालिकने स्वयंही सोचा—वृद्धा मेरा पोषण कर रही है, पोषण करने वाली होती है—मां ! शायद मांको कोई कष्ट हो, पूछ लेना मेरा कर्तव्य है !'

दूसरे दिन उसने पूछा ! बुढ़ियाकी समस्या हल होगई ! रुआँसी-सूरत बनाकर बोली—'बेटा ! मेरा कष्ट क्या पूछते हो तुम ? जिसके मारे न रात चैन न दिन !'

'ऐसी क्या वेदना है मां ?'—कापालिकने पूछा ! बुढ़ियाने समझाया—'तेरी बहन कनकश्री का पाणिग्रहण जिनके साथ हुआ है,उनके एक स्त्री और है जिनदत्ता ! वह मूढ़ उसीसे रत है ! बेचारी कनकश्रीका जीवन भार होरहा है, कष्टमें बीत रहे हैं उसके दिन ! इसी दुखके मारे मैं मरी जारही हूँ...'—बुढ़ियाकी आंखें छलछला आईं ।

'उपाय इसका ?'

'उपाय बड़ा कठिन है—बेटा ? तुमसे न हो सकेगा !'

क्यों ? कहो तो ?'—कापालिककी ताक़तकी उपेच्छाकी गई हो जैसे ! तिलमिलाकर उसने पूछा !

अगर तुम कर सको तो...?—यह उपाय है 'बेटा !...कि जिनदत्ताको जानसे मार दो '—बुढ़ियाने इच्छा प्रकट की !

कापालिकने एक पैशाचिक अट्टहास किया ! बुढ़िया मौन ! वह बोला—

'यह मेरे लिए क्या बड़ी बात है मां ?—दूसरे की जान लेना तो मेरा खेल है ! अवश्य ही बहिन-कनकश्रीका दुख दूर करूँगा ! तुम निश्चिन्त रहो! अगर ऐसा न कर सकूँ तो जीवित अग्नि-प्रवेश

करलूँ !,—कापालिकके विद्या-अहंकारने व्यक्त किया !

बुढ़िया खुशीके मारे बोल भी न सकी !

* * *

श्मशानमें !—

चतुर्दशीकी काली-डरावनी रात ! नर-मुंड ! अस्थि-खण्ड !! और धधकती हुई चिताएँ !!! घृणित-भस्म, पल-भक्षी-पशु, और विकट सन्नाटा! इसके बाद भी, मध्य-रात्रि !!!

कापालिक आसन मार कर बैठ गया, देवीकी आराधनामें निर्भय और प्रसन्न-मुख ! जैसी कि उसे आशा थी, आराधना विफल न हुई, बैताली आई !···कुछ ही देर बाद !

कापालिकने सिर झुकाकर अभिवादन किया। फिर बोला—'मां ! ऋषभदासकी प्रथम पत्नी—जिनदत्ता—का प्राणान्त करदो, यही चाहता हूँ !'

वह चली गई ! अपने साधककी इच्छा तृप्तिके हेतु जिनदत्ताके बधके लिए !

जिनदत्ता थी बेखबर, इन सब प्रपंचोंसे ! उसे पता तक नहीं किस प्रकार बैताली उसके बधके लिए आई, और उसके धर्म-प्रभावसे बग़ैर प्राणान्त किए ही लौट गई !···

उधर ! कापालिकने पुनःदेवीकी आराधना की! वह आई ! बोली—

'क्या चाहता है ?'

'जिनदत्ताका बध!'—कापालिकने उत्तर दिया !

नहीं होगा मुझसे ! उसका धर्म-तेज टिकने ही नहीं देता मुझे ! वह धर्मकी देवी है, छोड़दे हठाग्रह !'—बैतालीने परिस्थितिको स्पष्ट किया !

'मां ! जैसे भी हो इसे तो करो ही !'

—कापालिकने साग्रह प्रार्थना की !

साधककी अनुरोध-रक्षाका भार लेकर बैताली फिर चली,—निरपराधकी हत्याके लिए... !

फिर वही बात, वही प्रसंग ! जिनदत्ताके पातीव्रत-धर्म और प्रभु-भक्तिकी प्रखरताके सन्मुख देवीकी सारी शक्ति निर्जीव होगई ! उसने हाथ उठाये, न उठे ! क़दम बढ़ाना चाहा, वह भी नहीं! लौट आई आखिर हार कर !···

कापालिककी व्यग्रता उधर फिर बढ़ी, फिर उसने देवीका आह्वान किया ! वह आई, इस बार उसके साथ क्रोध था, झुंझलाहट थी; और साधककी मूर्खताके प्रति अरुचि !

'क्या कहता है—बोल ?'—बैतालीने झल्लाकर तीखे-स्वरमें कहा !

कापालिककी मानों घिग्घी बँध गई, होश हवास गुम ! घबड़ाकर बोला—

'दोनोंमें जो दुष्ट हो, उसे मार दो—

मां !'

देवी चली—कनकश्रीके शयनागारकी तरफ़! क्रोधसे विक्षुब्ध ! और दूसरे ही क्षण कनकश्रीके रक्तसे रञ्जित खड्ग लिए बाहर निकली !

उधर ! कापालिकको इसबार अधिक प्रतीक्षा न करनी पड़ी ! उसने बैतालीको शीघ्र ही वापस लौटते देखा !

'देख !'—रक्त-बिन्दुओंको तीक्ष्ण खड्गसे पोंछते हुए बैतालीने कहा—'मारदी गई !'

* * *

[चार]

'सच···?'

'विश्वास करो—मां ! मैं सचही कह रहा हूँ—

ख़त्म हो चुकी वह !' कापालिकने दृढ़ता पूर्वक प्रकट किया !

'बेटा···?'

'मां !'

'तुम कितने अच्छे हो, मैं तुम्हारी प्रशंसा नहीं कर पा रही !' × × ×

बुढ़ियाके हर्षोन्मत्त-मनकी दशाका चित्रण करना दुरूह था ! वह अपने आपेको भूली जा रही थी ! नरक-कीटको जैसे स्वर्गमें स्थान दे दिया गया हो, स-शरीर !

प्रभातकी प्रतीक्षामें—उत्कटप्रतीक्षामें—एक-एक पल बिताना शुरू किया—बुढ़िया ! सोचने लगी—'चलो, काँटा दूर हुआ कनकश्री सुखी रहेगी—अब !'

काश ! इन्हीं शब्दोंकी कोई उसे यथार्थता बतलाता !··· कनकश्री सुखी रहेगी ? हाँ, सुखी रहेगी ! जहां भी रहेगी, इस घातक-ईर्षा-आगसे अलग !···

आख़िर नियतिके बन्धनने प्रभातको ला ढकेला ! जैसे ही उषाकी सौन्दर्य-लालिमाने पृथ्वी को क्रीड़ा-क्षेत्र बनाया, बन्धुश्री अपनी पुत्रीको सुख-सन्देश और अपनी प्रतिज्ञा-पूर्तिकी बात सुनाने चल पड़ी !

शयनागारके दर्वाज़ेतक बुढ़ियाके हृदयमें हर्ष, मुख पर प्रसन्नता और वाणीमें उमंग भरी हुई थी ! लेकिन जैसे ही चौखटके भीतर क़दम रखा कि सब अन्तर्ध्यान !

'यह क्या हुआ—रे ?'—बेतहाशा चिल्ला कर रोने लगी !

कैसा वीभत्स-दृश्य था—

कल्पनासी कोमल-शैय्या पर कनकश्रीका खण्ड खण्ड हुआ शरीर ! रक्तसे ओत-प्रोत वस्त्र !···

बुढ़ियाका हृदय फटने लगा। क्षणभर पहिले-की 'ख़ुशी' अब 'रंज' बन गई थी ! उसके भावों की विषमताका अन्दाज़ा लगा सकना और भी कठिन था—अब !

दूसरेके लिए बोये हुए काँटे अपने ही पैरोंमें चुभे ! नारायण पर चलाये जानेवाले चक्रने अपना ही सर्वनाश किया।

बन्धुश्रीके उत्तंग-रोदनसे भवन प्रकम्पित हो गया। राज-कर्मचारियोंने दरयाफ्त किया ! तो···

बुढ़ियाकी बूढ़ी-दुष्टताने ज़हर उगला—

'ऋषभदास और जिनदत्ताने मेरी प्यारी पुत्री-को मार डाला, हत्या कर डाली उसकी !'

—और वह थे दोनों इस समय देवालयमें, ईश्वराराधनामें तत्पर ! दुर्घटनासे अविदित !

❀ ❀ ❀

हत्याका अभियोग ! वह भी साधारण नाग-रिकके यहां नहीं, एक धन-कुबेरके विलास गृहमें ! महाराजने आज्ञा दी—

'जिनदत्ता और ऋषभदासको दर्बारमें हाज़िर किया जाए।'

आज्ञा-पालनके लिए अविलम्ब सैनिक-दल चला !···देवालयकी ओर !

लेकिन···?—

आश्चर्य !!!

एक भी बलवान्-सैनिक देवालयकी सीढ़ी तक पर पैर न रख सका ! सब, ज्योंके त्यों कीलित।···

देव-माया !!!

पुण्यात्मा जिनदत्ताके धर्म-प्रेमका प्रभाव !

❀ ❀ ❀

दोनोंने सुना ! कनकश्रीकी असामयिक-मृत्यु-का सम्वाद ! कुछ आश्चर्य, कुछ शोक ! और सिर पर महान संकटके घनघोर बादल !

'कहा था न ? इस प्रकारके विवाह सम्बन्धका परिणाम शुभ नहीं होता !'—ऋषभदासने कहा !

'ठीक है—नाथ !'—जिनदत्ताने दबी ज़ुबानसे उत्तर दिया !

'अब जो हो अपना भाग्य !'

❀ ❀ ❀

कापालिक चिल्लाता नगर परिक्रम कर रहा था—'कनकश्री को मैंने मारा है, जिनदत्ता और ऋषभदास निर्दोष हैं ! बन्धुश्रीने मुझे जिनदत्ताको मरवा देनेके लिए कहा था, लेकिन जिनदत्ता अपने धर्म-प्रभावसे साफ़ बच गई ! जो दुष्टा थी ! मारी गई वह !'

यह-नगर-देवताकी प्रेरणाका फल था। सत्यता छिपी न रह सकी।......महाराजने सुना तो पश्चा-तापसे झुलसने लगे, 'ऐसी पवित्रात्माओं पर यह कलंक ?...जो देव पूज्य हैं !'

बन्धुश्री पर महाराजकी कोपाग्नि धधक उठी ! दिया गया उसे घोर-दण्ड !—

'गधे पर चढ़ाकर देश-निर्वासन !'

* * *

जनताने देखा—ऋषभदास और जिनदत्ता पर पुष्प वर्षा हो रही है ! और आकाश हो रहा है धन्य-धन्य शब्दोंसे व्याप्त !

अचिन्त्य धर्म शक्ति !!!

सुभाषित

'सन्त लोगोंका धर्म है अहिंसा; मगर योग्य पुरुषोंका धर्म इस बातमें है कि वे दूसरोंकी निन्दा करनेसे परहेज़ करें।'

'ख़ुश इख्लाक़ी मेहरबानी और नेक तरबियत इन दो सिफ़्तोंके मजमुएसे पैदा होती है।'

'समृद्ध अवस्थामें तो नम्रता और विनयकी विस्फूर्ति करो; लेकिन हीन स्थितिके समय मान-मर्यादाका पूरा ख़याल रक्खो।'

'प्रतिष्ठित कुलमें उत्पन्न हुए मनुष्यके दोष पर चन्द्रमाके कलङ्ककी तरह विशेषरूपसे सबकी नज़र पड़ती है।'

'रास्तबाज़ी और हयादारी स्वभावतः उन्हीं लोगोंमें होती है, जो अच्छे कुलमें जन्म लेते हैं।'

'सदाचार, सत्य प्रियता और सलज्जता इन तीन चीज़ोंसे कुलीनपुरुष कभी पदस्खलित नहीं होते।'

'योग्य पुरुषोंकी मित्रता दिव्य ग्रन्थोंके स्वाध्यायके समान है; जितनी ही उनके साथ तुम्हारी घनिष्ठता होती जायगी उतनीही अधिक ख़ूबियाँ तुम्हें उनके अन्दर दिखाई पड़ने लगेंगी।'

—तिरुवल्लुवर

योनिप्राभृत और प्रयोगमाला

[लेखक—श्री पं० नाथूरामजी प्रेमी, बम्बई]

'अनेकान्त' के आषाढ़के अंकमें उक्त शीर्षकका जो लेख प्रकाशित हुआ है उसीके सम्बन्धमें कुछ निवेदन करनेके लिए ये पंक्तियाँ लिख रहा हूँ।

मेरी समझमें 'बृहट्टिपणिका' नामकी सूचीमें जो विक्रम संवत् १५५६में तैयार की गई थी जिस 'योनि-प्राभृत' का उल्लेख है वह उस समय जरूर मौजूद रहा होगा। वह सूची एक श्वेताम्बर विद्वान्ने प्रत्येक ग्रन्थ देखकर तैयार की थी और अभी तक वह बहुत ही प्रमाणिक समझी जाती है। उसमें जो योनिप्राभृतको धरसेनाचार्य-कृत बतलाया है और उसकी श्लोकसंख्या ८०० लिखी है, सो इन दोनों बातोंमें सन्देह करनेका कोई कारण नहीं मालूम होता। हाँ, उसमें जो इस ग्रंथके निर्मित होनेका समय वीर नि० संवत् ६०० दिया है, वह धरसेन कब हुए—इस विषयमें जो परम्परा चली आ रही थी उसीके अनुसार लिख दिया गया होगा। उसके बिल्कुल ठीक होनेकी तो एक ग्रंथ-सूचीकर्त्तासे आशा भी नहीं की जा सकती। श्रुतावतारके कर्त्ता-इन्द्रनन्दि तकने जब यह लिखा है कि गुणधर और धरसेनकी पूर्वपरम्परा और पश्चात्परम्परा हम लोगोंको मालूम नहीं है † तब एक श्वेताम्बर विद्वान उनके समयको ठीक ठीक कैसे लिख सकेगा?

धवल ग्रंथमें जिस 'जोणी पाहुड' का उल्लेख किया गया है हमारी समझमें वही धरसेनकृत योनिप्राभृत होगा जिसकी प्रति बृहट्टिप्पणकारके सामने थी। अब रहा पूनेके भांडारकर रिसर्च इन्स्टिट्यूटका योनिप्राभृत, सो उसके विषयमें निश्चयपूर्वक तो कुछ भी नहीं कहा जा सकता परन्तु संभवतः वह पंडित हरिषेणका ही बनाया हुआ होगा।

पं० बेचरदासजीने और उन्हींका अनुगमन करके पं० जुगलकिशोरजीने जो यह अनुमान किया है कि योनिप्राभृत संभवतः अभिमानमेरु (महाकवि पुष्पदन्त) का भी बनाया हुआ हो सो मुझे ठीक नहीं मालूम होता। क्योंकि एक तो 'अहिमाणेण विरइयं' (अभिमानेन विरचितं) पदमें केवल 'अभिमान' शब्द आया है और पुष्पदन्तका उपनाम 'अभिमान' नहीं किन्तु 'अभिमानमेरु' है और दूसरे उक्त पद जिस गाथाका है उसका अर्थ समझनेमें ही भूल हो गई है।

कुवियगुरुपाय मूले न हु लद्धं अम्हि पाहुडं गंथं।
अहिमाणेण विरइयं इय अहियारं सुस···ओ ॥

इस गाथाका सीधा और सरल अर्थ यह होता है कि कुपित या क्षोभित गुरु-चरणोंके समीप जब मुझे (पं० हरिषेणको) प्राभृत ग्रंथ नहीं मिला तब मैंने अभिमानसे इस अधिकारकी रचना की।

यही बात उनके निम्नलिखित वाक्यसे भी ध्वनित होती है—

इति पण्डितहरिषेणेण मया योनिप्राभृतालाभे स्वसमयपरसमयवैद्यकशास्त्रसारं गृहीत्वा जगत्सुन्दरी-योगमालाधिकारः विरचितः।

अर्थात् (गुरुके पाससे) योनिप्राभृतके न मिलने पर मैंने—पं० हरिषेणने—जैन-अजैन वैद्यक-शास्त्रोंका

---

† **गुणधर-धरसेनान्वयगुर्वोः पूर्वापरक्रमोऽस्माभिः।**
न ज्ञायते तदन्वय-कथकागममुनिजनाभावात् ॥

सार लेकर यह योगमालाधिकार रचा।

यह बिलकुल स्वाभाविक है कि किसी कारणसे नाराज़ होकर गुरुदेवने प्राभृत ग्रंथ नहीं दिया हो और तब रूठकर अभिमानी हरिषेणने इसकी रचना कर डाली हो।

पंडित बेचरदासजीके बाद मैंने भी योनिप्राभृत ग्रन्थकी प्रति बहुत करके सन् १६२२ में पूने जाकर देखीथी और उसके कुछ नोट्स लेकर एक 'ग्रंथ-परिचय' लेख लिखनेका विचार किया था। पं० बेचरदासजीके वे नोट्स भी इसी लिए मँगा लिये थे जिनके आधारसे अनेकान्तका उक्त लेख लिखा गया है।

यद्यपि इस बातको लगभग १७ वर्ष हो चुके हैं, फिर भी योनिप्राभृतकी उक्त प्रतिकी लिपि और आकार-प्रकारका जहाँ तक मुझे स्मरण है वह एक ही लेखककी लिखी हुई एक ही पुस्तक मालूम होती थी। दो जुदा-जुदा ग्रंथोंके पत्र एकत्र हो गये हों ऐसा नहीं जान पड़ता था। प्रतिकी हालत इतनी शोचनीय थी कि उसमें हाथ लगाते हुए डर लगता था कि कहींसे कोई अंश झड़ न जाय। बहुत पुरानी होनेसे ही प्रति जीर्ण हो गई हो सो बात नहीं है। ऐसा मालूम होता है कि कभी किसीकी असावधानीसे वह भीग गई है और फिर उसी हालत में पड़ी रहनेसे गल गई है। मेरा ख़याल है कि या तो यह सम्पूर्ण ग्रंथ पं० हरिषेणका ही सम्पादित किया हुआ है और 'जगत्सुन्दरी प्रयोगमाला' उसीका एक भाग है, जिसे उन्होंने अनेक वैद्यक ग्रन्थोंके आधारसे लिखा है और या योनिप्राभृतका कुछ अंश उन्हें मिला हो और उसके बाद गुरुकी अप्रसन्नतासे शेष अंश न मिला हो और तब उन्होंने अभिमानवश उसे स्वयं पूरा कर डाला हो।

आपने जगत्सुन्दरी योगाधिकारको वे भी शायद योनिप्राभृतसे जुदा नहीं मानते हैं—उसीका एक अंश समझते हैं, यह इस बातसे भी जान पड़ता है कि २०वें पत्रके दूसरे पृष्ठ पर 'भणेमि जयसुंदरी नाम' के प्रतिज्ञा-वाक्यके बाद ही कुछ आगे चलकर लिखा है'योनिप्राभृते बालानां चिकित्सा समाप्ता।' यह मैं पं० बेचरदासजीके लिये हुए नोटोंके आधार पर ही लिख रहा हूँ। संभव है, नोटोंमें पत्रसंख्या लिखते हुए कुछ भूल हो गई हो।

योनिप्राभृतके एक बिना अंकके पत्रकी नकल उसी समयकी की हुई मेरी नोटबुकमें भी सुरक्षित है। उसे मैं यहाँ ज्योंकी त्यों दिये देता हूँ--

"थं। सर्वौषधि रिद्धिसंयुक्तं ॥ ?

कांतारकोसं आश्चर्यमहोदधिः करणिकाररत्नाकरां यंत्रमातृका विश्वकर्मा···रिणं भव्यजनोपकारकं मिथ्या-दृष्टिनिरसनपटीयसं कर्पूरपंचेतालं कस्तूरिकानेपालं कुष्ट-घनानिलराजमंदमस्तकधूतकेतु···सागरोर्मिवडवानलं। ज्वर-भूत-शाकिनी ध्वान्त मार्तण्डं समस्तशास्त्रोत्पत्ति योनिं विद्वज्जनचित्तचमत्कारं पंचमकालसर्वज्ञं सर्व-विद्याधातुवादनिधानं जनव्यवहारचंद्रचंद्रिकाचकोर आयुर्वेदरसितसमस्तसत्वं प्रश्नश्रवणमहामुनिकुष्मां-डिनीमहादेव्या उपदिष्टं पुष्पदंताविभूतबलिसिष्य हृष्टिदायकं इत्थंभूतं योनिप्राभृत ग्रंथं ॥ छ ॥

कलिकाले सव्वण्हू जो जाणइ जोणिपाहुडं गंथं।
जच्छ गओ तच्छ गओ चउवग्गं महच्छि···इ ॥ १
सुरयणजलहपसंसं सुवण्णसहियं च रोरदुहर···थं।
भव्वउवयार··माचक्की कोसं पाहुड यं ॥ २
दरविंयसियरुम अहविय सियाउबहुया···ई तु।
नायंति जस्सउवरे का उवमा पुंडरीकस्स ॥ ३
हो उद्दामवियंभं तसं मिलंताविं मुउलियकवोला।
विभकडयम्मि करिणो नडयो अह··रिच्छा ॥४
························वहीएका उवमा।
अह अप्पमाणगयणो मम मीमी नेव नाबेवा॥ ५

हीयसत्तम्मि अह मे अहि खीए सखु······

···········**कुबिजह पयाबदोसम्मि पत्ताये ॥ ६**

पुक्केकं च पयच्छं भवहे जो मुणइ इह अहियारं ।

सो गहवरिद्धि········ **सव्व अहियारी ॥ ७**

काल···मना मनीहन नृणामर्हन्मते स्यादिति—

यंयेषः प्रियधर्मकः पृथुयशाः श्रीपूज्यपादो गुरुः ।

·················**म प्रोन्नुतर्चितामर्थि**

योनिप्राभृतसंज्ञयाक्षममलं देवासुराभ्यर्चितं ॥ ८

तावन्मिथ्यादृशां तेजो मंत्रयंत्रादिषु स्फुटं' ।

····················**न भवंति धीमतः ॥ ६**

इति श्रीमहाग्रंथंयोनिप्राभृतं श्रीपह्नश्रवणमुनि-विरचितं समाप्तं ॥छ॥

संवत् १५८२ वर्षे शाके १४४७ प्रवर्तमाने दक्षिणायनगते श्रीसूर्ये श्रावणमासकृष्णपक्षे तृतीयायां तिथौ गो···ज्ञातीय पं०नला······लिखितं । छ । शुभम् भवतु ।"

पंडित बेचरदासजीके नोटोंकी अपेक्षा इसमें कुछ अधिक है, यद्यपि ग्रंथके महात्म्यके अतिरिक्त विशेष उल्लेखनीय कुछ नहीं मालूम होता और बीच बीचके अक्षर गल जानेसे ठीक ठीक अर्थ भी नहीं लगाया जा सकता है।

इस अंशके लिए पंडितजीके नोटोंमें लिखा हुआ है कि 'योनिप्राभृतनुं छेल्लु अने अंक विनानुं एक कोर कोरूं पानुं' अर्थात् योनिप्राभृतका अन्तिम और बिना अंकका एक तरफ़ कोरा पत्र। इस पत्रमें ग्रन्थकी समाप्ति और ग्रंथ लिखे जानेका समय दिया है और इसके आगेक पत्र बिल्कुल कोरा है। मेरी समझमें सम्पूर्ण ग्रन्थका यही अन्तिम पृष्ठ होना चाहिए।

उक्त पत्रमें जो विशेषण दिये गये हैं वे भी श्रीहरिषेणके लिखे हुए ही जान पड़ते हैं। 'प्रश्नश्रवण महामुनि-कुष्मांडिनमहादेव्या उपदिष्टं' और 'पुष्पदन्ता-दिभूतबलिशिष्यहृष्टिदायकं' ये विशेषण स्वयं प्रश्न-श्रवण मुनिके दिये हुए तो नहीं हो सकते।

इसके सिवाय शुरूके १७ पृष्ठोंमेंसे जो हर्षचिकित्सा, विचर्चिका चिकित्सा, धर्मप्रयोग, अमृतगुटिका, शिव-गुटिका, विषहरण आदि विषय हैं और जिन्हें योनिप्राभृतके अंश माना है, वे जगसुन्दरी योगमालाके प्रमेहाधिकार, मूत्रचिकित्सा आदि विषयोंसे कुछ अनोखे नहीं हैं, दोनों ही ऐसे हैं जो हारीत, गर्ग, सुश्रुत आदि ग्रंथोंमेंसे संग्रह किये जा सकते हैं। तब अधिक संभव यही है कि सम्पूर्ण ग्रन्थ हरिषेणका ही सम्पादित किया हुआ होगा।

'प्रश्नश्रवण' यह नाम भी कुछ अद्भुत है। इस तरहका कोई नाम अभी तक देखनेमें नहीं आया। प्राकृतमें सब जगह 'पण्ह-समणमुणि' लिखा है, यहाँ तक कि '**इति महाग्रंथं योनिप्राभृतं श्रीपण्हसवणमुनि विरचितं समाप्तं**' इस संस्कृत पुष्पिकामें भी पण्हसवण ही लिखा है जो पण्हसमण है और जिसका संस्कृतरूप प्रज्ञाश्रमण होता है। प्रज्ञाश्रमणत्व एक ऋद्धि है जिसके धारण करनेवाले मुनि प्रज्ञाश्रमण कहलाते थे। 'तिलोय-पण्णति' की गाथा नं०७०में लिखा है—

पण्हसमणेसु चरिमो वइरजसो णाम······।

अर्थात् प्रज्ञाश्रमणोंमें अन्तिम मुनि वज्रयश हुए। उनके बाद कोई प्रज्ञाश्रमण ऋद्धिका धारी नहीं हुआ। अत्यन्त सूक्ष्म अर्थको सन्देहरहित निरूपण करनेवाली जो शक्ति है उसे प्रज्ञाशक्ति कहते हैं।

इससे तो ऐसा मालूम होता है कि प्रज्ञाश्रमण नाम नहीं किन्तु किसी मुनिका विशेषण है।

अनेकान्तके पृ० ४८७ की टिप्पणीमें इस बात पर शंका की है कि पं० बेचरदासजीने भूतबलि पुष्पदन्तको

जो 'लघु' विशेषण दिया है वह मूलमें नहीं है। परन्तु पडित जीने यह विशेषण अपनी तरफ़से नहीं दिया है, बल्कि उनके नोटोंमें मूलग्रन्थकी नीचे लिखी हुई पंक्ति दी हुई है, जिसे शायद पं० जुगलकिशोरजी उक्त नोटों-की कापी करते समय छोड़ गये हैं। पत्र १६की दूसरी तरफ़ '**सिरिपण्हसमणमुणिना संखेवेणं च बालतंतं च।** ६१६' के बाद ही यह पंक्ति दी हुई है—

"**भव्व उवयारहेउ भणियं लहुपुप्फयंतस्स**" और इस पंक्तिपर नं० ११ दिया हुआ है। अर्थात् बालतंत्र अधिकारके समाप्त होनेके बाद जो दूसरा अधिकार शुरू हुआ है उसकी यह ग्यारहवीं गाथा है और शायद अधिकार समाप्तिकी गाथा है।

यह 'लघु' विशेषण भी बड़ा विलक्षण है। पं० हरिषेणको यह मालूम था कि भूतबलि-पुष्पदन्त धरसेना-चार्यके शिष्य थे, तब प्रश्नश्रवण (?) के शिष्य भी भूतबलि पुष्पदन्त कैसे हो सकेंगे, शायद इसी असमंज-समें पड़कर उन्होंने यह 'लघु' विशेषण देकर अपना समाधान कर लिया होगा।

हमारा अनुमान है कि पं० हरिषेण किसी भट्टारक-के शिष्य हैं और बहुत पुराने नहीं हैं। अपने गुरुसे रूठकर उन्होंने यह ग्रन्थ बनाया है।

यह एक और आश्चर्यजनक बात है कि हरिषेणकृत जगत्सुन्दरी योगमालाके ही समान इसी नामका एक और ग्रंथ मुनिजसइत्ति (यशःकीर्ति) कृत भी है और उसकी भी एक अधूरी प्रति (३५ से ४३ अध्याय तक) भाण्डारकर ओरियण्टल इन्स्टिट्यूट (नं० १२४२ ऑफ़ सन् १८८६-९२) में है। योनिप्राभृतकी प्रति देखते समय मैंने उसे भी देखा था और कुछ नोट ले लिये थे। हरिषेणकी योगमालापर विचार करते समय उसको भी ओझल नहीं किया जा सकता।

अभी अभी पता लगा कि वह ग्रन्थ (३५ से ४३ अध्याय तक) छप गया है और आज मैं उसकी एक प्रति लेकर अनेकान्त-सम्पादकके पास भेज रहा हूँ। पाठकोंको शीघ्र ही उनके द्वारा उक्त ग्रंथका परिचय मिलेगा, ऐसी आशा करनी चाहिए।

बम्बई, रक्षाबन्धन २६-८-३६

कथा कहानी

लेo—बाबू माईदयाल जैन बी.ए., बी.टी.

१ रोनेका कारण

१९०४ ईस्वीमें रूस और जापानमें घोर युद्ध छिड़ा हुआ था। एक दिन एक जापानी विधवा अपने घरमें बैठी थी। उसका पति तथा दो जवान लड़के युद्धमें काम आचुके थे। वह कुछ रो रही थी और बड़ी उदास थी। पड़ौसमेंसे किसीने आकर उसके रोनेका कारण पूछा और कहा कि क्या तुम इसलिए रो रही हो कि तुम्हारा पति और दो लड़के युद्धमें मारे गये हैं? उस विधवाने जवाब दिया, "नहीं, मैं इसलिए नहीं रो रही कि मेरा पति और दो पुत्र लड़ाईमें मारे गये। मैं तो इसलिए रो रही हूँ कि अब मेरे पास और कोई पुत्र नहीं है जिसे मैं देशके लिए लड़नेको भेजदूँ।"

* * *

२ देशके लिए

रूसी सेनाको धोका देनेके लिए जापानी समुद्री सेनाके कमान्डरने यह सोचा कि एक जापानी जहाज़ रूसी सेनाकी आँखोंके सामने समुद्रमें डुबाया जाय, जिससे वे जहाज़के डूब जानेपर आगे बढ़ आवें। कमान्डर ने अपनी फ़ौजके नाम गुप्त अपील निकाली कि जो सिपाही एक जान जोखमके कामके वास्ते अपने आपको पेश करना चाहते हों वे शीघ्र अपनी स्वीकृतिका पत्र फ़ौजी दफ़्तरमें भेजदें। कमान्डरके आश्चर्यकी कोई सीमा न रही जब उसने अगले दिन दो ढाई हज़ार स्वीकृतिपत्र दफ़्तरमें देखे। हरएक सिपाहीने अपने पत्रमें यह प्रार्थना की थी कि उस विकट कामके लिए उसे ज़रूर चुना जाय। कमान्डरके लिए चुनाव करना कठिन होगया। अगले दिन उसने फिर लिखा कि उन्हीं सिपाहियोंको चुना जायगा जो अपनी अर्ज़ियाँ अपने ख़ूनसे लिखकर भेजेंगे। अबकी बार जापानी सिपाहियोंके ख़ूनसे लिखे पहिलेसे भी अधिक स्वीकृति पत्र दफ़्तरमें आए। कमान्डर आश्चर्य और ख़ुशीसे कुर्सीसे उछल पड़ा और कहने लगा "कोई कारण नज़र नहीं आता कि इस युद्धमें जापानकी हार हो। हमारी विजय निश्चित है।" कमान्डरने अपनी स्कीमके अनुसार एक पुराने जहाज़में कुछ सिपाहियोंको बिठाकर रूसी फ़ौजोंके सामने जहाजको समुद्रमें डुबवा दिया। रूसी धोकेमें आगए और जापानकी विजय होगई।

❃ ❃ ❃

३ देशभक्त वीर सिपाही

रूस-जापान-युद्धमें कुछ जापानी सिपाहियोंको यह हुक्म दिया गया था कि वे एक रूसी क़िलेके दरवाज़ेको बारूदसे उड़ादें। लगभग वे सभी जापानी सिपाही यह प्रयत्न करते हुए गोलियोंसे उड़ादिए गये। केवल चन्द सिपाही बाक़ी बच्चे और उस दरवाज़े तक पहुँच सके। उनके पास बारूदके फ़लीते थे, जिन्हें किवाड़ोंसे चिपकाकर उड़ाना था। उन सिपाहियोंने फ़लीतोंको किवाड़ों पर रखकर अपनी छातियोंसे उन्हें दबाया और आग लगादी। एक ज़ोरका धमाका हुआ और दरवाज़ा तथा वे सिपाही साफ़ उड़ गये। उनके इस बलिदान और आत्मत्यागके कारण अन्य जापानी सिपाही क़िलेमें दाख़िल हुए और विजय प्राप्त की।

❃ ❃ ❃

४ यह न कहना कि जापान में....

स्व० महर्षि शिवव्रतलाल एक बार जापानमें रेल द्वारा सफ़र कर रहे थे। आप मांस नहीं खाते थे। यात्रामें निरामिष भोजन मिलना कठिन हो गया। एक स्टेशन पर महर्षि खानेकी तलाशमें चिंतित-से बैठे थे। इतनेमें एक जापानी नवयुवक उनके सामने आया और उनकी चिंताका कारण पूछा। शिवव्रतलालजीने समझा कि यह कोई दुकानदार लड़का है और उससे अपना समस्त हाल कहकर निरामिष भोजन लानेको कहा। थोड़ी ही देरमें वह युवक काफ़ी खाना लेकर उनके सामने आगया। खाना ले चुकनेके बाद शिवव्रतलालजीने उससे खानेके दाम पूछे। उस जापानी नवयुवकने बड़ो विनयसे प्रार्थना करते हुए कहा—"इस खानेकी क़ीमत कुछ नहीं है। जब आप भारतवर्ष लौटें उस समय कृपा कर यह न कहना कि जापानमें मुझे खाना मिलने में कष्ट हुआ।"

मनुष्योंमें उच्चता-नीचता क्यों ?

(२)

[लेखक—पं० वंशीधरजी व्याकरणाचार्य]

पहले लेखमें हमने यह बतलानेका प्रयत्न किया है कि मनुष्योंमें जो उच्चता-नीचताका भेद है वह आगम विरुद्ध नहीं है। कर्मकांड, लब्धिसार और जयधवलाके जिन प्रमाणोंके बल पर श्रीमान् बाबू सूरजभानुजी वकील मनुष्योंको केवल उच्चगोत्री सिद्ध करना चाहते हैं उन्हीं प्रमाणोंके आधार पर मनुष्य उच्च और नीच दोनों गोत्रवाले सिद्ध होते हैं। लेकिन यह बात अवश्य है कि मूलप्रश्न अभी भी जैसाका तैसा जटिल बना हुआ है अर्थात् शास्त्रीय प्रमाणोंके आधार पर मनुष्योंमें उच्च और नीच दोनों गोत्रोंका उदय सिद्ध हो जाने पर भी उच्चता और नीचताका स्पष्ट परिज्ञान हुए बिना यह कैसे जाना जा सकता है कि अमुक मनुष्य उच्चगोत्री है और अमुक नीच गोत्री ?

यद्यपि पहले लेखमें शास्त्रीय प्रमाणोंके आधार पर हमने यह भी बतलानेका प्रयत्न किया है कि सम्मूर्छन, अन्तर्द्वीपज व म्लेच्छखंडोंमें रहनेवाले सभी मनुष्य नीचगोत्री हैं, आर्यखंडमें रहनेवाले शूद्र व म्लेच्छ भी नीचगोत्री हैं तथा भोगभूमिज व आर्यखंडमें रहनेवाले वैश्य, क्षत्रिय, ब्राह्मण और साधु उच्चगोत्री ‡ हैं; परन्तु जबतक उच्चगोत्र और नीच गोत्रका व्यावहारिक परिज्ञान न हो जावे तब तक क्यों तो सम्मूर्छनादि मनुष्य नीचगोत्री हैं और क्यों भोगभूमिज आदि मनुष्य उच्चगोत्री हैं ? इस प्रश्नका समाधान कठिन ही नहीं असंभव-सा जान पड़ता है, और सबसे अधिक जटिल समस्या तो आर्यखंडमें बसनेवाले मनुष्योंकी है जिनमें मनुष्यजातिकी अपेक्षा समानता † होनेपर भी किसीको नीच और किसीको उच्च बतलाया जाता है, इसलिये इन बातोंका निर्णय करनेके लिये गोत्रकर्म, उसका कार्य (व्यावहारिकरूप) उसमें उच्चता नीचताका भेद आदि और भी प्रासंगिक एवं आवश्यक बातों पर विचार किया जाता है।

‡ विद्याधर श्रेणियोंमें बसनेवाले मनुष्योंमें आर्यखंडके समान अपने अपने आचरणके अनुसार ही गोत्रका व्यवहार समझना चाहिये।

† मनुष्यजातिरेकैव जातिकर्मोदयोद्भवा। वृत्तिभेदा हि तद्भेदाच्चातुर्विध्यमिहाश्नुते ॥ (आदिपुराण)

गोत्रकर्म और उसका कार्य

विद्वानोंका आज जो गोत्रकर्मके विषयमें विवाद है वह उसके अस्तित्वका विवाद नहीं है, इसका कारण यही मालूम पड़ता है कि यदि सर्वज्ञ-कथित होनेसे ज्ञानावरणादि कर्मोंका अस्तित्व स्वीकार किया जा सकता है तो सर्वज्ञ-कथित होनेसे गोत्रकर्मके अस्तित्वमें भी विवाद उठानेकी गुंजाइश नहीं है। धवल * सिद्धान्तमें गोत्रकर्मके अस्तित्वको स्वीकार करनेमें यही बात प्रमाण रूपसे उपस्थित की गई है, जिसका समर्थन श्रीयुत मुख्तार सा० ने "उच्चगोत्रका व्यवहार कहाँ ?" शीर्षक लेखमें किया है।

जीवके साथ संबन्ध होनेसे कार्मण वर्गणाकी जो पर्यायविशेषरूप परिणति ‡ होती है उसीका नाम कर्म है। गोत्रकर्म इसी कर्मका एक भेद है और इसका कार्य जीवकी आचरणविशेषरूप प्रवृत्ति कराना है—तात्पर्य यह कि कार्माण वर्गणारूप पुद्गलस्कंध आगममें प्रतिपादित विशेष निमित्तोंकी सहकारितासे जीवके साथ संबन्ध करके गोत्रकर्मरूप परिणत हो जाते हैं और गोत्रकर्मरूप परिणत हुए वे ही पुद्गलस्कन्ध बाह्य निमित्तोंकी अनुकूलतापूर्वक जीवकी आचरणविशेषरूप प्रवृत्ति कराने लगते हैं। कर्मकांड † में जीवकी इस प्रवृत्तिको ही गोत्रकर्मका कार्य बतलाया है और जिस कुलमें जीव पैदा होता है उस कुलको इस कार्यमें गोत्रकर्मका सहायक निमित्त बतलाया गया है। इसी सहायक निमित्तताकी वजहसे ही "अन्नं वै प्राणाः" की तरह कारणमें कार्यका उपचार करके राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक, सर्वार्थ-

* "न (गोत्रकर्माभावः), जिनवचनस्यासत्यत्व विरोधात्"

(मुख्तार सा० के "उच्चगोत्रका व्यवहार कहाँ ?" शीर्षक लेखसे उद्धृत)

‡ कार्माणवर्गणामें जीवके लिये फल देने रूप शक्तियोंका पैदा होजाना कार्माणवर्गणाकी 'पर्याय विशेषरूप परिणति' कहलाती है।

† "संताणकमेणागयजीवायरणस्स गोदमिदिसण्णा" (कर्म० गा० १३)

अर्थ—जो जीव जिस कुलमें पैदा होता है उस कुलमें होनेवाले लौकिक आचरण (वृत्ति) के अनुसार वह जिस प्रकारके लौकिक आचरण (वृत्ति) को अपनाता है वह गोत्रकर्मका कार्य है।

इसमें जीवके आचरणविशेष अर्थात् लौकिक आचरण (वृत्ति) को गोत्रकर्मका कार्य और कुलगत आचरणको उसका सहायक निमित्त स्पष्ट रूपसे बतलाया है। इसी आशयको निम्न गाथांश भी प्रगट करते हैं—

"भवमस्सिय णीचुच्चं" (कर्म० गा० १८)

"उच्चस्सुच्चं देहं णीचं णीचस्स होदि णोकम्मं (गा०८४)

इन दोनों गाथांशोंमें वर्णित नीच आचरण और उच्च आचरण क्रमसे नीचगोत्रकर्म और उच्चगोत्रकर्मके कार्य हैं तथा नीचगोत्रकर्म और उच्चगोत्रकर्म गोत्रकर्मके ही भेद हैं इसलिये इनका भी यही आशय निकलता है कि जीवका आचरणविशेष ही गोत्रकर्मका कार्य है और नरकादि कुल व उन कुलोंमें पैदा हुआ जीवका शरीर इसमें सहायक निमित्त हैं।

इस टिप्पणी व मूल लेखमें जो 'कुल' शब्द आया है उससे नोकर्मवर्गणाके भेदरूप कुलोंको नहीं ग्रहण करना चाहिये किन्तु सामान्यतया, नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव इन चारों गतियोंको व विशेषतया इन गतियोंमें जीवके आचरणमें निमित्तभूत यथासंभव जो जातियाँ क़ायम हैं उनको 'कुल' शब्दसे ग्रहण करना चाहिये। यह आगे स्पष्ट किया जायगा।

सिद्धि व धवलसिद्धान्तमें नरकगति, तिर्यग्गति, मनुष्य-गति और देवगति व इनके अवान्तर भेदरूप कुलोंमें प्राप्त साधनोंके अनुसार जीवकी आचरणविशेषरूप प्रवृत्ति ही मानी गयी है।

जीवके इस आचरणविशेषका मतलब उसके लौकिक आचरण अर्थात् वृत्तिसे है। तात्पर्य यह है कि संसारी जीव नरकादि गतियों (कुलों) में ‡ जीवन से ताल्लुक रखनेवाले खाने पीने, रहन-सहन आदि आवश्यक व्यवहारोंमें जो लोकमान्य या लोकनिंद्यरूप प्रवृत्ति करता है व उनकी पूर्तिके लिये यथा संभव जो लोकमान्य या लोकनिंद्यसाधनोंको अपनाता है यह सब जीवका लौकिक आचरण कहलाता है। यह लौकिक आचरण ही लोकव्यवहारमें 'वृत्ति' शब्दसे कहा जाता है और यही गोत्रकर्मका कार्य है *। इसीको गोत्रकर्मका व्यावहारिक रूप कह सकते हैं, कारण कि इसके द्वारा ही जीवके उच्चगोत्री व नीचगोत्री होनेका निर्णय होता है।

‡ जीवनका अर्थ है जीवका शरीरसे संयोग। यह संयोग जबतक कायम रहता है तब तक उसको खाने-पीने रहन-सहन आदि लौकिक आचरणोंको करना पड़ता है व यथासंभव उनके निमित्तोंको भी जुटानेका प्रयत्न जीव करता है, यह सब जीवके गोत्रकर्मके उदयसे होता है।

* गोम्मटसार- कर्मकाण्डकी गाथा नं० १३ में प्रयुक्त हुए 'आचरण' और 'चरण' शब्दोंकी इस प्रकार की वृत्तिरूप व्याख्या क्या किसी सिद्धान्त ग्रन्थके आधार पर की गई है अथवा अपनी ओरसे ही कल्पित की गई है ? इसका स्पष्टीकरण होना चाहिये।

—सम्पादक

गोत्रकर्मके भेद

शास्त्रोंमें गोत्रकर्मके दो भेद बतलाये हैं—उच्चगोत्र-कर्म और नीचगोत्रकर्म। उच्चगोत्रकर्मके उदयसे जीव उच्चवृत्तिको अपनाता है और नीचगोत्रकर्मके उदयसे जीव नीच वृत्तिको धारण करता है। इसलिये लोक-व्यवहारमें जिस जीवकी उच्चवृत्ति हो उसे उच्चगोत्री अर्थात् उसके उच्च गोत्रकर्मका उदय और लोकव्यवहारमें जिस जीवकी नीचवृत्ति हो उसे नीचगोत्री अर्थात् उसके नीचगोत्रकर्मका उदय समझना चाहिये†।

यहाँ पर वृत्तिकी उच्चताका अर्थ धार्मिकता और नीचताका अर्थ अधार्मिकता नहीं है अर्थात् जीवकी उच्चगोत्रकर्मके उदयसे धर्मानुकूलवृत्ति और नीचगोत्र-

† "उच्चं णीचं चरणं उच्चं णीचं हवे गोदं।" (कर्म० गाथा० १३)

जीवका उच्चगोत्रकर्मके उदयसे उच्च आचरण और नीचगोत्र कर्मके उदयसे नीच आचरण होता है, इस प्रकार उच्चगोत्रकर्म और नीचगोत्रकर्मके भेदसे गोत्र-कर्म दो प्रकार है।

यद्यपि "यस्योदयाल्लोकपूजितेषु कुलेषु जन्म तदुच्चैर्गोत्रम्, गर्हितेषु यत्कृतं तन्नीचैर्गोत्रम्" राजवार्तिकके इस उल्लेखमें तथा "दीक्षायोग्यसाध्वाचाराणां, साध्वाचारैः कृतसंबन्धानां, आर्यप्रत्ययाभिधानव्यवहारनिबन्धनानां पुरुषाणां संतानः उच्चैर्गोत्रम्, तत्रोत्पत्तिहेतुकमप्युच्चैर्गोत्रम्। ………तद्विपरीतं नीचैर्गोत्रम्।" धवलसिद्धान्तके इस उल्लेखमें भी उच्चकुल व नीचकुलमें जीवकी उत्पत्ति होना मात्र क्रमसे उच्चगोत्रकर्म और नीचगोत्रकर्मका कार्य बतलाया है; परन्तु यह कथन कारणमें कार्यका उपचार मानकर किया गया है। यह हम पहिले कह चुके हैं।

कर्मके उदयसे अधर्मानुकूलवृत्ति होती है ऐसा नहीं है, किन्तु जिस वृत्तिके कारण जीव लोकव्यवहारमें उच्च समझा जाय उस वृत्तिको उच्चवृत्ति और जिस वृत्तिके कारण जीव लोकव्यवहारमें नीच समझा जाय उस वृत्तिको नीचवृत्ति समझना चाहिये *।

तात्पर्य यह है कि धार्मिकताका अर्थ हिंसादि पंच पापोंसे निवृत्ति और अधार्मिकताका अर्थ हिंसादि पंच पापोंमें प्रवृत्ति होता है, जिसका भाव यह है कि धार्मिकतासे प्राणियोंका जीवन उन्नत एवं आदर्श बनता है और अधार्मिकतासे उनका जीवन पतित हो जाता है। अब यदि धर्मानुकूलवृत्तिको उच्चवृत्ति और अधर्मानुकूल वृत्तिको नीचवृत्ति मानकर धार्मिक और अधार्मिक वृत्तिमें क्रमसे उच्चगोत्रकर्म और नीचगोत्र कर्मको कारण माना जायगा तो प्रत्येक उच्चगोत्रीका जीवन उन्नत एवं आदर्श तथा प्रत्येक नीचगोत्रीका जीवन पतित (पापमय) ही मानना पड़ेगा; परन्तु ऐसा मानना आगमप्रमाण व लोकव्यवहारके विरुद्ध है। कारण कि आगमग्रंथोंसे सिद्ध है कि एक अभव्य मिथ्यादृष्टि जीव-अधार्मिक होता हुआ भी लोकमान्य (उच्च) वृत्तिके कारण उच्चगोत्री माना जाता है व एक क्षायिक सम्यग्दृष्टि पंचमगुणस्थानवर्ती मनुष्य धार्मिक होता हुआ भी लोकनिंद्य (नीच) वृत्तिके कारण नीचगोत्री माना जाता है। लोकव्यवहारमें भी—जैसा कि आगे स्पष्ट किया जायगा—पशु अपनी अधम वृत्तिके कारण नीचगोत्री व मनुष्योंमें शूद्र व म्लेच्छ भी अपनी अधम (नीच) वृत्तिके कारण नीचगोत्री तथा वैश्य, क्षत्रिय, ब्राह्मण और साधु अपनी अपनी यथायोग्य उच्चवृत्तिके कारण उच्चगोत्री समझे जाते हैं *।

यदि कहा जाय कि पाश्चात्य देशोंमें तो हिन्दुस्तानकी तरह उच्च और नीच सभी तरहकी वृत्तिवाले मनुष्य होनेपर भी वर्णव्यवस्थाका अभाव होनेसे उच्चता-नीचता-

---

* यदि लौकिकजनोंकी समझके ऊपर ही वृत्तिकी उच्चता और नीचता निर्भर है तो किसी वृत्तिके संबन्धमें लौकिकजनोंकी समझ विभिन्न होनेके कारण वह वृत्ति ऊँच या नीच न रहेगी। यदि उच्च माननेवालोंकी अपेक्षा उसे नीच और नीच माननेवालोंकी अपेक्षा नीच कहा जायगा और तदनुरूप ही गोत्रकर्मके उदयकी व्यवस्था की जायगी तो गोत्रकर्मके उच्च-नीच भेदकी कोई वास्तविकता न रहेगी—जिसे नीचगोत्री कहा जायगा उसे ही उच्चगोत्री भी कहना होगा।

—सम्पादक

* जो लोग ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-कुलोंमें जन्म लेकर अपने योग्य उच्चवृत्ति धारण नहीं करते हैं—नीच वृत्तिको अपनाते हैं, अपने पदसे बहुत ही हल्के टहल चाकरी तथा भीख माँगने तकके काम करते हैं अथवा कन्या-विक्रय-जैसे अधम कृत्योंको करते-कराते हैं और उनके द्वारा अपना लौकिक स्वार्थ सिद्ध करने तथा पेट पालनेके लिये सुकुमार कन्याओंको बूढ़े बाबाओंके साथ विवाहकर उनका जीवन नष्ट करते हैं, वे लोकव्यवहारमें तो अपने उक्त कुलोंमें जन्म लेनेके कारण उच्चगोत्री समझे जाते हैं, तब ऐसे लोगोंके विषयमें गोत्रकर्मकी क्या व्यवस्था रहेगी? क्या लौकिक समझके अनुसार उन्हें उच्चगोत्री ही मानना चाहिये अथवा वृत्तिके अनुरूप नीचगोत्री? लौकिक समझके अनुसार उच्चगोत्री माननेमें वृत्तिके इस सब कथन अथवा गोत्रकर्मके साथ उसके सम्बन्धनिर्देशका कोई महत्व नहीं रहेगा। और वृत्तिके अनुरूप नीचगोत्र माननेमें उस लोकसमझ अथवा लोकमान्यताका कोई गौरव नहीं रहता जिसे इस लेखमें बहुत कुछ महत्व दिया गया है।

—सम्पादक

का भेद नहीं पाया जाता है, लेकिन ऐसी बात नहीं है; कारण कि यद्यपि पाश्चात्य देशोंमें वैदिक व जैनधर्म-जैसी वर्णव्यवस्थाका अभावहै फिर भी वृत्तिके आधार पर उनमें भी ऐसी वर्णव्यवस्थाकी कल्पना की जा-सकती है। अथवा वर्णव्यवस्थाका अभाव होने पर भी उनमें वृत्तिकी लोकमान्यता और निंद्यताके भेदसे उच्चता और नीचताका कोई प्रतिषेध नहीं कर सकता है। उनमें भी भंगीकी वृत्तिको नीचवृत्ति ही समझा जाता है व पादरी आदि की वृत्तिको उच्चवृत्ति समझा जाता है, इससे यह बात निश्चित है कि पाश्चात्य देशोंमें वृत्तिभेद के कारण उच्चता-नीचताका भेद तो है परन्तु यह बात दूसरी है कि इनमें उच्च समझे जानेवाले लोग भंगी जैसी अधम वृत्ति करनेवाले मनुष्योंको मनुष्यताके नाते मनुष्योचित व्यवहारोंसे वंचित नहीं रखते हैं। यह हिन्दुस्तानके वैदिकधर्म व जैनधर्मकी ही विचित्रता है कि जिनके अनुयायी अपनेको उच्च समझते हुए कुल-मदमें मस्त होकर अधमवृत्तिवाले लोगोंको पशुओंसे भी गया बीता समझते हैं और मनुष्योचित व्यवहारोंकी तो बात ही क्या ? पशु-जैसा भी व्यवहार उनके साथ नहीं करना चाहते हैं !!

यदि कहा जाय कि उल्लिखित उच्च और नीच वृत्ति पाश्चात्य देशोंके मनुष्योंमें पायी जानेपर भी उच्चवृत्ति-वाले लोगोंका नीचवृत्तिवाले लोगोंके साथ समानताका व्यवहार होनेसे ही तो वे 'म्लेच्छ' माने गये हैं। परन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है, कारण कि जिस गये बीते ज़मानेमें इन देशोंमें धर्म-कर्म-प्रवृत्तिका अभाव था, हिन्दुस्तान अपनी लौकिक सभ्यता और संस्कृतिमें बढ़ा-चढ़ा था और ये देश सभ्यता और संस्कृतिमें बिल्कुल गिरे हुए थे उस ज़मानेमें इन लोगोंको भले ही 'म्लेच्छ' मानना उचित हो, परन्तु आज तो उनकी सभ्यता और संस्कृति इतनी व्यापक और प्रभावशाली है कि उसका प्रभाव हिन्दुस्तानके ऊपर भी पड़ रहा है, **इसलिये आजके समयमें उनको 'म्लेच्छ' मानना निरी मूर्खता ही कही जायगी।** और फिर ये पाश्चात्य देश भी तो आर्यखंडमें ही शामिल हैं, इसलिये वहाँके बाशिंदा लोग जन्मसे तो म्लेच्छ माने नहीं जा सकते हैं कर्मसे म्लेच्छ अवश्य कहे जा सकते हैं; लेकिन जिस समय इनकी वृत्ति अर्थात् लौकिक आचरण क्रूरता लिये हुए था उस समय इनको म्लेच्छ कहा जाता था परन्तु आज तो वे किसी न किसी धर्मको भी मानते हैं, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जैसी वृत्तिको भी धारण किये हुए हैं। **ऐसी हालतमें उन सभीको 'म्लेच्छ' नहीं माना जा सकता है।** वे भी हिन्दुस्तान-जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रवृत्ति वाले व उच्च-नीचगोत्रवाले माने जा सकते हैं।

इस कथनसे यह तात्पर्य निकलता है कि धर्म और अधर्मका ताल्लुक क्रमसे आत्मोन्नति और आत्म-पतनसे है, लेकिन वृत्तिका ताल्लुक शरीर और आत्माके संयोग-रूप जीवनके आवश्यक व्यवहारोंसे है। यही कारण है कि प्राणियोंके जीवनमें जो धार्मिकता आती है उसका कारण आत्मपुरुषार्थ-जागृति बतलाया है। यह आत्म-पुरुषार्थ-जागृति अपने बाधक कर्मोंके अभावसे होती है, इसलिये आत्मपुरुषार्थ-जागृतिका वास्तविक कारण उसके बाधक कर्मका अभाव ही माना जा सकता है, उच्चगोत्रकर्मका उदय नहीं। यद्यपि आत्मपुरुषार्थ-जागृति में उच्चगोत्रको भी कारण मान लिया गया है परन्तु यह कारणता शरीरमें मोक्षकारणता माननेके समान है। फिर भी ऐसी कारणता तो किसी हद तक या किसी रूप-में नीचगोत्रमें भी पायी जाती है; क्योंकि नीचगोत्री जीव भी तो कमसे कम देशव्रती श्रावक हो सकता है व

क्षायिक सम्यग्दृष्टि भी होसकता है। अथवा किसी रूपमें उच्चगोत्रकर्म भी धार्मिकताका कारण नहीं हो सकता है, कारणकि अभव्यमिथ्यादृष्टि तकके उच्चगोत्रकर्मका उदय निषिद्ध नहीं है। इससे स्पष्ट है कि वृत्तिकी उच्चता और नीचतासे धार्मिकता और अधार्मिकताका कोई नियमित संबन्ध नहीं है *। लोकव्यवहारमें उच्च मानी जाने वाली वृत्तिको धारण करनेवाला भी अधार्मिक हो सकता है और लोकव्यवहारमें नीच मानी जानेवाली वृत्तिको धारण करनेवाला यथायोग्य धार्मिक (पंचपापरहित) हो सकता है, इसलिये धार्मिकता और अधार्मिकताका विचार किये बिना ही जो वृत्ति लोकमान्य (उत्तम) हो उसका कारण उच्चगोत्रकर्मका उदय है, और यही कारण है कि उसका धारक जीव हिंसादि पंच पापोंको करता हुआ भी उच्चगोत्री समझा जाता है, तथा जो वृत्ति लोकव्यवहारमें अधम समझी जाती हो उसका कारण नीचगोत्रकर्मका उदय है और यही कारण है कि उसका धारक जीव हिंसादि पापोंको नहीं करता हुआ भी नीचगोत्री माना जाता है।

लोकव्यवहारमें स्वाभिमानपूर्ण वृत्तिको उत्तम (उच्च) माना गया है और दीनता अथवा क्रूरतापूर्ण वृत्तिको अधम (नीच) माना गया है, इसलिये जिस जीवकी वृत्ति स्वाभिमानपूर्ण होती है वह जीव उच्चगोत्री माना जाता है और जिस जीवकी वृत्ति दीनता अथवा क्रूरतापूर्ण होती है वह जीव नीचगोत्री माना जाता है ‡।

यहाँ पर यह भी ध्यान रखना चाहिये कि जिस जीवकी वृत्तिरूप बाह्य प्रवृत्ति लोकव्यवहारमें दीनता अथवा क्रूरतापूर्ण समझी जाती हो, भले ही उससे उस जीवकी अंतरंगमें घृणा ही क्यों न हो, तो भी वह जीव नीचगोत्री ही माना जायगा। इतना अवश्य है कि यदि किसी जीवको अपनी दीनतापूर्ण व क्रूरतापूर्ण ऐसी वृत्तिसे घृणा है तो उस जीवके उच्चगोत्रकर्मका बन्ध हो सकता है और यदि वह अपनी इस वृत्तिमें ही मस्त है तो उसके नीचगोत्रकर्मका ही बन्ध होगा। इसी प्रकार जिस जीवकी वृत्तिरूप बाह्यप्रवृत्ति लोकव्यवहारमें स्वाभिमानपूर्ण समझी जाती हो उसे ही उच्चगोत्री माना जायगा लेकिन यदि ऐसा जीव अपनेको ऊँच और दूसरोंको उनकी नीचवृत्तिके कारण नीच समझकर उनसे घृणा करता है तो उसके उच्चगोत्री होनेपर भी नीचगोत्रकर्मका बन्ध होगा; तात्पर्य यह है कि अन्तरंग परिणतिकी अपेक्षारहित जब तक जीवकी बाह्यवृत्ति उच्च अथवा नीच रूपमें क़ायम रहती है तबतक वह जीव उसी रूप-

* यदि ऐसा कोई नियत सम्बन्ध नहीं है तो फिर एक नीचगोत्री छठे गुणस्थानवर्ती मुनि क्यों नहीं हो-सकता। उसके उस धार्मिक अनुष्ठानमें नीचगोत्रका उदय बाधक क्यों है? —सम्पादक

‡ कहाँ माना जाता है? लोकमें सर्वत्र या किसी वर्गविशेष अथवा सम्प्रदाय विशेषके मनुष्योंमें? ऐसी वृत्ति शायद ही कोई हो जिसे लोकके सभी मनुष्य ऊँच अथवा सभी मनुष्य नीच मानते हों। कुछ मनुष्योंका किसी वृत्तिको ऊँच मानना और कुछका नीच मान लेना इस बातके लिये कोई नियामक नहीं हो सकता कि वह वृत्ति ऊँच है या नीच; तब मान्यताकी ऐसी विचित्रताके आधार पर किसीको उच्चगोत्री और किसी को नीचगोत्री प्रतिपादित करना संगत प्रतीत नहीं होता, और न सिद्धान्त ग्रन्थोंसे ही ऐसा कुछ मालूम होता है कि नीच-ऊँच गोत्रका उदय किसी की मान्यता पर अवलम्बित है। यदि ऐसा हो तो गोत्रकर्मकी बड़ी ही मिट्टी खराब हो जायगी—उसे भिन्न भिन्न मान्यताके अनुसार एक ही वक्तमें ऊँच और नीच दोनों बनना पड़ेगा !! —सम्पादक

में उच्च अथवा नीचगोत्री ही माना जायगा।

कर्मकांडमें पठित 'आचार' शब्दका वृत्तिरूप लौकिक आचार अर्थ करनेका यह आशय है कि जब कोई जीव सिर्फ़ अपनी आजीविकाके अर्थात् जीवन संबन्धी आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये ही दीनतापूर्ण अथवा क्रूरतापूर्ण कार्य करता है तभी वह जीव नीचगोत्री माना जायगा। यही कारण है कि सेवाभाव या कर्तव्यपालन आदिकी वजहसे यदि कोई जीव इस प्रकारके कार्य-करता भी है तो भी वह जीव लोकव्यवहारमें नीचगोत्री नहीं माना जाता है। जैसे भंगी अथवा भिखारी सिर्फ़ अपना पेट भरनेके लिये ही दीनतापूर्ण लोकनिंद्य कार्य करता है तथा ठगी अथवा डाकेज़नी करनेवाले लोग सिर्फ़ अपना पेट भरनेके लिये ही बड़ी निर्दयता और क्रूरताके साथ दूसरे प्राणियोंको ठगना आदि कार्य किया करते हैं, इसलिये ये तो नीचगोत्री ही माने जाते हैं † परन्तु सेवाभावसे आज कल कांग्रेस आदि संस्थाओंके अधिवेशनोंमें भंगीका भी काम करनेवाले स्वयंसेवकोंको, कर्तव्य-पालनकी वजहसे प्रतिदिन अपने बच्चोंका मैला साफ़ करनेवाली माताको, दूसरोंको अच्छा (निरोग) करनेकी भावनासे बड़ी निर्दयतापूर्वक चीरा-फाड़ीका काम करनेवाले डाक्टरको, ज्ञानवृद्धिके लिये भक्तिपूर्वक गुरुकी सेवा करनेवाले शिष्यको तथा असमर्थ और असहाय लोगोंकी सहायता आदिके लिये भीख तक माँगनेवाले बड़े बड़े विद्वानों और श्रीमानोंको लोकव्यवहारमें न केवल नीच नहीं माना जाता है बल्कि इन्हें लोग लोकव्यवहारमें आदरकी दृष्टिसे ही देखे जाते हैं; क्योंकि इनके हृदयमें इन कार्योंको करते समय सेवाभाव व कर्तव्यपालनकी भावना जाग्रत रहती है। इतना अवश्य है कि यदि इन कार्योंको करनेमें कोई अनुचित स्वार्थभावना प्रेरकनिमित्त बन जाती है तो इनको उस समय नियमसे नीचगोत्रकर्मका बन्ध होगा।

इसी प्रकार वैदिक धर्मग्रन्थोंमें प्रतिपादित अश्वमेध, नरमेध आदि यज्ञ यद्यपि क्रूर कर्म कहे जा सकते हैं परन्तु इनके पीछे धर्मका संबन्ध जुड़ा हुआ है, इसलिये इनको करनेवाला ब्राह्मण दूसरे धर्मानुयायियोंकी दृष्टिमें पापी तो कहा जा सकता है परन्तु इनका ताल्लुक सिर्फ़ उसकी आजीविकासे न होनेके कारण लोकव्यवहारमें वह नीचगोत्री नहीं माना जाता है। और तो क्या शत्रुताके लिहाजसे बदला लेनेकी भावनासे प्रेरित होकर दूसरे प्राणियोंको जानसे मार देनेवाला व्यक्ति भी लोकमें अधार्मिक तो माना जाता है परन्तु इस तरहसे उसको कोई नीचगोत्री नहीं मानता है; क्योंकि यह कार्य उसने अपनी आजीविकाके लिये नहीं किया है। इसी तरहका आशय उच्चगोत्रके विषयमें भी लेना चाहिये। जैसे भंगी अपने पेशेको करते हुए समय पड़नेपर मरनेकी संभावना होनेपर भी यदि भीख माँगनेको तैयार न हो, व भिखारी

† माने जाते हैं या लेखकजीके मतानुसार माने जाने चाहियें? एक बात यहाँपर खास तौरसे स्पष्ट होनेकी है और वह यह कि व्यापारमें जो ठगी करते हैं वे ठग हैं याकि नहीं? और एक राजा दूसरेके राज्यको अपने राज्यमें और दूसरोंकी सम्पत्तिको अपनी सम्पत्तिमें मिलानेके लिये जो दूसरे राजापर चढ़ाई करता है और उसके राज्यको तथा वहाँकी प्रजाकी बहुतसी सम्पत्तिको छीनकर हड़प कर जाता है वह डाकेज़न अथवा संगठित डकैत है या कि नहीं? यदि ऐसा है तो वैसे ठग व्यापारियों (वैश्यों) और राजाओंको भी नीचगोत्री कहना होगा—भले ही वे भरत जैसे चक्रवर्ती राजा ही क्यों न हों। परन्तु उन्हें नीचगोत्री नहीं माना जाता है, तब नीच ऊँचगोत्रकी मान्यता का नियम क्या रहा?
—सम्पादक

अपने पेशेको करते हुए समय पड़ने पर मरनेकी संभावना होने पर भी भंगीका काम करनेके लिये तैयार न हो तो भी ये दोनों नीचगोत्री ही माने जाते हैं ‡ उच्चगोत्री नहीं, इतना अवश्य है कि उस समय मानसिक परिणति स्वाभिमानपूर्ण होनेकी वजहसे इनके उच्चगोत्रकर्म का ही बन्ध होगा।

किस गुणस्थानमें कौनसे गोत्रकर्मका उदय रहता है?

ऊपरके कथनसे यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि जीवकी दीनता और क्रूरतापूर्णवृत्ति नीचगोत्र-कर्मके उदयसे होती है और स्वाभिमानपूर्ण वृति उच्च-गोत्रकर्मके उदयसे होती है†, इसलिये जिस गुणस्थानमें जो वृत्ति पायी जाती हो उस गुणस्थानमें उसी गोत्र-कर्मका उदय समझना चाहिये।

मुक्त जीव शरीरके संयोगरूप जीवनसे रहित हैं, इसलिये किसी भी प्रकारकी वृत्ति उनके नहीं है और यही कारण है कि वृत्तिका कारणभूत गोत्रकर्मका संबन्ध भी मुक्त जीवोंके नहीं माना गया है। यद्यपि समस्त संसारी जीवोंके गोत्रकर्मका उदय बतलाया गया है परन्तु जिन जीवोंका लौकिक जीवनसे संबन्ध छूट जाता है अर्थात् लोकोत्तर जीवन बन जाता है उनके शरीर-का संयोगरूप जीवनका सद्भाव रहते हुए भी लौकिक जीवनके सभी व्यवहार ही नष्ट हो जाते हैं। यह उनके जीवनकी असाधारण महत्ता है, यही कारण है कि ऐसे लोकोत्तर जीवनवाले जीवोंके उच्चगोत्रकर्मका ही उदय माना गया है। लोकोत्तर जीवन सातवें गुणस्थानसे प्रारंभ होता है और तेरहवें गुणस्थानवर्ती जीव पूर्ण लोकोत्तर-जीवनवाले हो जाते हैं। इस प्रकार सातवें गुणस्थानसे चौदहवें गुणस्थान तकके जीवोंके उच्चगोत्र-कर्मका ही उदय बतलाया गया है ÷।

छट्टे गुणस्थानवर्ती जीवोंका जीवन यद्यपि लौकिक जीवन है, इसलिये उनमें लौकिक जीवन संबन्धी यथा-योग्य व्यवहार पाये जाते हैं परन्तु उनका जीवन इतना सार्वजनिक होजाता है कि बिना स्वाभिमान पूर्ण वृत्तिके वे जीव उस गुणस्थानमें स्थित ही नहीं रह सकते हैं। तात्पर्य यह है कि छट्टागुणस्थानवर्ती जीव (मनुष्य) साधु कहलाता है, वह हम जैसे गृहस्थ मनुष्योंके लिये आदर्श होता है; क्योंकि लौकिक जीवनकी उन्नतिकी पराकाष्ठा इसीके हुआ करती है, इसलिये इसके (साधुके) जीवनमें दीनता व क्रूरतापूर्णवृत्ति संभवित नहीं है, यहां तक कि जो वृत्तिस्वाभिमान पूर्ण होते हुए भी आरम्भ पूर्ण होती है उस वृत्तिसे भी वह परे रहता है। वह पूर्ण-संयमी और सभी जीवोंमें पूर्ण दयावान अपने जीवन

---

‡ यदि नीचगोत्री ही माने जातेहैं "तो जिस जीव-की वृत्ति स्वाभिमानपूर्ण होती है वह जीव उच्चगोत्री माना जाता है" इस लेखकजीके वाक्यके साथ उसका विरोध आता है। —सम्पादक

† परन्तु यह नियम कौनसे आगम ग्रन्थमें दिया है ऐसा कहीं भी स्पष्ट करके नहीं बतलाया गया, जिसके बतलानेकी ज़रूरत थी। —सम्पादक

÷ जब लेखकजीने खाने-पीने आदि सम्बन्धी लौकिक आचरणरूप वृत्तिको ही गोत्रकर्मका कार्य बत-लाया है और लिखा है कि "इस (वृत्ति) के द्वारा ही जीवके उच्चगोत्री व नीचगोत्री होनेका निर्णय होता है" और वह वृत्ति जीवनके सभी व्यवहार नष्ट होजानेके कारण इन गुणस्थानोंमें है नहीं, तब इन गुणस्थानोंमें उच्चगोत्रका उदय बतलाना कैसे संगत हो सकता है? इससे पूर्व कथनके साथ विरोध आता है, एक नियम नहीं रहता और इच्छानुकूल कुछ खींचातानी जैसी बात जान पड़ती है। --सम्पादक

को बना लेता है, इसीलिये बड़ी भक्तिके साथ दूसरे मनुष्य अपना अहोभाग्य समझकर उसकी जीवन-संबन्धी संभवित आवश्यकताओंकी पूर्ति किया करते हैं, उसका कर्तव्य केवल यह है कि वह अपने जीवनसंबन्धी संभवित आवश्यकताओंका दूसरे मनुष्योंको ज्ञान करानेके लिये मूक प्रयत्न करता है। यह प्रयत्न ही उस-के (साधुके) जीवन-संबन्धी आवश्यकताओंकी पूर्तिमें निमित्त होनेके कारण 'वृत्ति' शब्दसे कहा गया है। साधुकी यह वृत्ति आगममें प्रतिपादित चर्याविधानके अनुसार बहुत ही स्वाभिमानपूर्ण हुआ करती है, यही कारण है कि साधुको (छट्ठे गुणस्थानवर्ती जीवको) उच्चगोत्री बतलाया गया है। बाकी पहले गुणस्थानसे लेकर पंचम गुणस्थान तकके जीवोंकी वृत्ति ऊपर कहे अनुसार उच्च और नीच दोनों प्रकारकी हो सकती है इसलिये वे दोनों गोत्र वाले बतलाये गये हैं। इसका मतलब यह है कि एक नीच वृत्ति वाला मनुष्य भी हिंसादि पंच पापोंका एक देश त्याग करके पंचम गुणस्थान तक पहुँच सकता है। आगे वह क्यों नहीं बढ़ सकता इसका कारण यह है कि छट्टागुणस्थान वर्ती जीवकी अनिवार्य परिस्थिति इस प्रकारकी हो जाया करती है कि वहाँ पर नीच वृत्तिकी संभावना ही नहीं रहती है। तात्पर्य यह है कि **कोई नीच वृत्ति वाला मनुष्य यदि साधु होगा तो उसकी वह नीच वृत्ति अपने आप छूट जायगी**, यह करणानुयोगकी पद्धति है। चरणानुयोगकी पद्धतिमें इससे कुछ विशेषता है, वह बतलाताहै कि एक नीच वृत्ति वाला मनुष्य अपने वर्तमान भवमें साधु नहीं बन सकता है, वह अधिकसे अधिक पुरुषार्थ करेगा तो देशव्रती श्रावक ही बन सकेगा। इसका कारण यह है—जैसाकि हम पहिले बतला आये हैं—किसाधुका जीवन सार्वजनिक जीवन बन जाता है और नीचवृत्ति वाला मनुष्य अपने पूर्वजीवनमें नीच वृत्ति के कारण सर्व साधारण लोगोंकी निगाहमें गिरा हुआ रहता है, इसलिये उसके जीवनका सर्वसाधारणके लिये आदर्श बन जाना कुछ कठिन-सा मालूम पड़ता है और जीवनकी आदर्शताके अभावमें उसके प्रति सर्व-साधारणकी ऐसी भक्ति पैदा होना कठिन है, जिसके आधार पर वह अपनी शास्त्रसंमत स्वाभिमानपूर्ण वृत्ति क़ायम रख सके, इसीलिये चरणानुयोग नीचवृत्ति वालोंको साधुदीक्षाका निषेध करता है; लेकिन, जैसा कि आगे बतलाया जायगा। **नीचवृत्ति वाले मनुष्य भी वृत्ति बदल कर गोत्र परिवर्तन करके अपने गार्हस्थ्य जीवनमें ही सर्वसाधारण लोगोंकी निगाहमें यदि उच्च समझे जाने लगते हैं तो ऐसे मनुष्योंके लिये चरणानु-योग भी दीक्षाका निषेध नहीं करता है**, इसलिये चर-णानुयोगका करणानुयोगके साथ कोई विरोध भी नहीं रहता; **क्योंकि एक नीचगोत्री मनुष्यको अपने वर्तमान भवमें साधु बननेका हक करणानुयोगकी तरह चरणानुयोग भी देता है**। तात्पर्य यह है कि जब साधु-का जीवन लौकिक जीवन है और वह सर्वसाधारणके लिये आदर्शरूप है तो लोकव्यवहारमें उसकी प्रतिष्ठा कायम रहना ही चाहिये, इसलिये साधुत्व जिस तरहसे लोकमें प्रतिष्ठित रह सकता है उस तरहकी व्यवस्था चरणानुयोगको निगाहमें रखकर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके अनुसार चरणानुयोग प्रतिपादित करता है। इतना अवश्य है कि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके अनुसार चरणानुयोगकी व्यवस्था बदलती रहती है और करणानुयोगकी व्यवस्था सदा एकरूप ही रहा करती है। (शेष अगली किरणमें)

गोत्रलक्षणोंकी सदोषता

[ले०—पं० ताराचन्द जैन, दर्शनशास्त्री]

जैनसिद्धान्तमें अन्य कर्मोंकी तरह गोत्र-कर्म पर भी विचार किया गया है; परन्तु गोत्र-सम्बन्धी जो कथन सिद्धान्तग्रंथोंमें पाया जाता है वह इतना न्यून–थोड़ा है कि उससे गोत्र कर्मकी उलझन सुलझ नहीं पाती और न गोत्र-कर्मका जिज्ञासु उस परसे किसी ठीक नतीजे पर ही पहुँच पाता है। ग्रंथोंमें गोत्रके जितने लक्षण देखनेमें आते हैं वे या तो लक्षणात्मक ही नहीं हैं और यदि उनको लक्षण रूपक मान भी लिया जावे तो वे सदोष, अपूर्ण और असंगत ही जँचते हैं। उन लक्षणोंसे 'गोत्र-कर्म क्या है?' इस प्रश्नका उत्तर नहीं के बराबर मिलता है और गोत्र-विषय जैसाका तैसा ही अस्पष्ट और विवादका विषय बना रहता है।

आचार्य पूज्यपाद स्वामी गोत्र-विषय पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं—'*उच्चैर्नीचैश्च गयते शब्द्यत इति वा गोत्रम्*' (सर्वार्थ० ८-४) अर्थात्—जिससे जीव ऊँच-नीच कहा या समझा जावे उसे गोत्र कहते हैं। यदि उक्त वाक्य पर गौर किया जाय तो यह वाक्य व्याकरण-शास्त्रानुसार गोत्रशब्दकी व्युत्पत्तिमात्र है, गोत्रका लक्षण नहीं। शब्द-व्युत्पत्तिसे उस शब्दद्वारा कहा गया अर्थ नियमसे वैसा ही हो, ऐसा सिद्धान्त नहीं है। जैसे- '*गच्छतीति गौः*' अर्थात् जो गमन कर रही हो उसे गौ या गाय कहते हैं। इस व्युत्पत्तिके अनुसार बैठी, खड़ी वा लेटी हुई गाय को 'गो' न कहना चाहिये, और गमन करते हुए मनुष्य, घोड़ा, हाथी, बन्दर आदिको भी उस समय 'गाय' कहना अनुचित न समझा जाना चाहिये। परन्तु बात इससे उलटी ही है अर्थात् बैठी, खड़ी वा लेटी किसी भी अवस्थामें विद्यमान गायको हम 'गो' रूढि शब्द द्वारा गलकंबल-सींग और पूंछ वाले पशुविशेष (गाय) का ही ग्रहण-बोध करेंगे। और 'गो' शब्दकी व्युत्पत्ति से कहे गये अर्थपर ध्यान नहीं देंगे। यदि व्युत्पत्ति से कहे गये अर्थके अनुसार चलेंगे तो प्रायः प्रत्येक शब्दार्थमें दोष पाये जावेंगे और किसी अर्थका शब्दके द्वारा संकेत करना असंभव हो जावेगा। इसलिये किसी शब्दकी व्युत्पत्तिको उस शब्द द्वारा कहे जाने वाले पदार्थका लक्षण नहीं माना जा सकता।

वास्तवमें वस्तुका लक्षण ऐसा होना चाहिये जो उस वस्तुको दूसरे समस्त पदार्थोंसे भिन्न–जुदा बतला सके। जिस लक्षणमें उक्त खूबी नहीं पायी जाती वह लक्षण लक्षणकोटिसे बहिष्कृत समझा जाता है और जो लक्षण लक्ष्य पदार्थ—जिस पदार्थका लक्षण किया जाता है—में पूरी तरह नहीं पाया जाता, अर्थात् लक्ष्यके एक देशमें रहता है वह भी सदोष कहलाता है। ऐसे लक्षणको 'अव्याप्त लक्षण' कहा जाता है। न्यायशास्त्रमें लक्षणके तीन दोष—अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असंभव बतलाये गये हैं। जिन लक्षणोंमें उक्त

दोषत्रयका सर्वथा अभाव पाया जाता है, वे लक्षण ही समीचीन और कार्यसाधक होते हैं। गोत्रके जितने लक्षण उपलब्ध होते हैं वे सभी सदोष हैं। उनमें अव्याप्ति दोष अनिवार्यरूपसे पाया जाता है। आचार्य पूज्यपादने, गोत्रकर्मके उच्च-नीच भेदोंका उल्लेख करते हुए, उनका स्वरूप निम्न प्रकार दिया है—

यस्योदयाल्लोकपूजितेषु कुलेषु जन्म तदुच्चैर्गोत्रम्, यदुदयाद्गर्हितेषु कुलेषु जन्म तन्नीचैर्गोत्रम्।

—सर्वार्थ०, अ० ८ सू० १२

अर्थात्—जिसके उदयसे लोक सन्मान्य कुलमें जन्म हो उसे 'उच्चगोत्र' और जिसके उदयसे निन्दित कुलमें जन्म होता है उसे 'नीचगोत्र' कहते हैं।

श्रीअकलंकदेव उक्त लक्षणोंको अपनाते हुए इन्हें अपनी वृत्तिमें और भी खुलासा तौर पर व्यक्त करते हैं। यथा—

लोकपूजितेषु कुलेषु प्रथितमाहात्म्येषु-इक्ष्वाकुयदुकुरुजातिप्रभृतिषु जन्म यस्योदयाद्भवति तदुच्चैर्गोत्रमवसेयम्। गर्हितेषु दरिद्राप्रतिज्ञातदुःखाकुलेषु यत्कृतं प्राणिनां जन्म तन्नीचैर्गोत्रमवसेयम्।'

—तत्त्वा०राज०, अ०८ सू०१२

अर्थात्—जिस कर्मके उदयसे जिनका महत्व—बड़प्पन—संसारमें प्रसिद्ध हो चुका है ऐसे लोक पूजित इक्ष्वाकु, यदु, कुरु आदि कुलोंमें जन्म हो उसे 'उच्च गोत्र' कहते हैं और जिस कर्मके उदयसे जीव निन्दित, दरिद्र-निधन, और दुखी कुलोंमें जन्म पावे उसे 'नीचगोत्र' समझना चाहिये।

ऊँच-नीच-गोत्रके इन लक्षणोंपर विचार करने-मालूम होता है कि ये लक्षण केवल आर्यखंडोंके मनुष्योंमें ही घटित हो सकते हैं। आर्यखंडके मनुष्योंके भी इन गोत्र-कर्मोंका उदय सार्वकालिक—हमेशाके लिये—नहीं माना जा सकता, केवल कर्मभूमिके समय ही यदुवंशादिकी उत्पत्ति-कल्पना मानी गई है। भोगभूमिज मानवोंमें परस्पर उच्च-नीचका भेद बिलकुल नहीं पाया जाता, सभी मनुष्य एक समान व्यवहारवाले होते हैं। इसलिये उन्हें उच्चता-नीचताकी खाई नहीं बनाना पड़ती। जब भरत-ऐरावत क्षेत्रोंमें कर्मभूमिका प्रादुर्भाव होता है तभी इन कुरु, सोम, निन्दित आदि कुलोंको जन्म दिया जाता है। इस अवसर्पिणी कालचक्रमें पहले पहल कुल-जातिकी सृष्टि भगवान ऋषभदेवने ही की थी। उससे पहले कुलादिका सद्भाव नहीं था। लक्षणोंमें बतलाया गया है कि अमुक गोत्र कर्मके उदयसे अमुक कुलमें जन्म पाना ही उसका वह लक्षण है अर्थात् गोत्र-कर्मका कार्य केवल इतना ही है कि वह जीवको ऊँच नीच माने जाने वाले कुलोंमें जन्म देवे। जन्मग्रहण करनेके बाद जीवके किस गोत्रका उदय माना जाय इसका लक्षणोंमें कोई जिक्र नहीं किया गया। यदि इन लक्षणोंका यह अभिमत है कि जीवका जिस कुलमें जन्म होता है जन्म पानेके बाद भी उसका वही गोत्र रहता है जो उस कुलमें जन्म देनेमें हेतु रहा हो तो इसका मतलब यह हुआ कि जीवन भर—जब तक उस शरीरसे सम्बन्ध रहेगा जो जीवने उस भवमें प्राप्त किया है तब तक-ऊँच या नीच गोत्रका ही उदय रहेगा। जन्म पानेके बाद भले ही जीव उस कुलके अनुकूल आचरण—व्यवहार—न करे, उस प्रतिकूल आचरणसे उस गोत्रका कोई बिगाड़ नहीं होता। परन्तु यह बात

सिद्धान्तसे विरुद्ध पड़ती है, सिद्धान्तग्रन्थोंमें गोत्र-का संक्रमण—ऊँचसे नीच और नीचसे ऊँच गोत्र बदलना—माना गया है ‡।

आचार्य वीरसेन धवला-टीकामें उच्चगोत्रके व्यवहारके विषयमें अनेक शंकाएँ उठाते हुए उसकी असंभवता बतलाते हैं। यथा—*"ततो निष्फल-मुच्चैर्गोत्रं, तत एव न तस्य कर्मत्वमपि;तदभावेन नी-चैर्गोत्रमपि द्वयोरन्योन्याविनाभावित्वात्; ततो गोत्र-कर्माभावः"* ※ अर्थात्—जब राजा, महाव्रती आदि जीवोंमें उच्च-गोत्रका व्यवहार ठीक नहीं बनता, तब उच्चगोत्र निष्फल जान पड़ता है; इसलिये उच्चगोत्रका कर्मपना भी बनता नहीं। उच्चगोत्रके अभावसे नीचगोत्रका भी अभाव हो जाता है; क्योंकि दोनोंमें अविनाभाव सम्बन्ध है—एकके अभावमें दूसरेका भी अभाव नियमसे होता है। और जब उच्च-नीच-गोत्रका अभाव है, तब उन दोनोंसे भिन्न कोई अन्य गोत्रकर्म ठहरता नहीं, इसलिये उसका भी अभाव सिद्ध होता है। इस पूर्व पक्षके बाद गोत्रकर्मकी निष्फलता हटाने और उसका अस्तित्व सिद्ध करनेके लिये उक्त आ-चार्य उच्च-नीच-गोत्रका लक्षण निम्न प्रकार लिखते हैं—

"दीक्षायोग्यसाध्वाचाराणां साध्वाचारैः कृतस-म्बन्धानामार्यप्रत्ययाभिधानव्यवहार-निबन्धनानां पु-रुषाणां सन्तानःउच्चैर्गोत्रम्, तत्रोत्पत्तिहेतुकमप्युच्चै-र्गोत्रम्। न चात्र पूर्वोक्तदोषाः संभवन्ति विरोधात्। तद्विपरीतं नीचैर्गोत्रम्।"

अर्थात्—उन पुरुषोंकी सन्तान उच्चगोत्र होती है जो दीक्षायोग्य साधु-आचारसे सहित हों, जिनने साधु-आचारवालोंके साथ सम्बन्ध किया हो, और जो आर्य होनेके कारणों—व्यवहारोंसे सहित हों। तथा ऐसे पुरुषोंकी सन्तान होनेमें जो कर्महेतु होता है उसे भी उच्चगोत्र कहते हैं। इस उच्चगोत्र-के लक्षणमें पूर्वपक्षमें लिखे गये समस्त दोषोंका अ-भाव है;क्योंकि उक्त लक्षण और दोषोंमें विरोध है अर्थात् लक्षण बिलकुल ही निर्दोष है। उच्चगोत्रसे विपरीत नीचगोत्र है—जो लोग उक्त पुरुषोंकी सन्तान नहीं हैं और उनसे भिन्न आचार-व्यवहार वालोंकी सन्तान हैं वे सब नीच-गोत्र कहलाते हैं, ऐसे लोगोंकी सन्तानकी उत्पत्तिमें जो कर्म कारण होता है उसे भी नीचगोत्र कहते हैं।

यद्यपि श्री वीरसेनाचार्य अपने लक्षणको नि-र्दोष बतलाते हैं, परन्तु उक्त लक्षण दोषोंसे खाली नहीं हैं। देवोंका उपपाद-जन्म माना गया है, इस-लिये वे किसी साधु-आचारवाले आदि मनुष्योंकी सन्तान नहीं माने जा सकते, फिर उन्हें उच्चगोत्री क्यों माना गया? नारकियोंको भी औपपादिक जन्मवाला माना गया है, अतः उन्हें भी किन्हीं असाधु-व्यवहारवाले आदि मनुष्योंकी सन्तति नहीं कहा जा सकता, फिर उन्हें नीचगोत्री क्यों कहा गया? पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चोंको छोड़ शेष सभी एके-न्द्रिय,द्वीन्द्रिय,त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय तिर्यञ्चोंकी भी सन्तति नहीं चलती,वे सम्मूर्च्छन जन्मवाले माने जाते हैं और पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च भी किन्हीं हीनाचारी पुरुषोंकी सन्तान नहीं होते, फिर उन्हें क्यों नीच-

---

‡ देखो, गोम्मटसार-कर्मकाण्ड गाथा ४४१।

※ इस अवतरण और अगले अवतरणके लिये देखो 'अनेकान्त' वर्ष २ की किरण २ का 'ऊँचगोत्रका व्य-वहार कहाँ?' शीर्षक सम्पादकीय लेख।

गोत्री माना गया ? इसी तरह सम्मूर्च्छन मनुष्यों-में भी सन्तानाभाव पाया जाता है, फिर उन्हें भी क्यों नीचगोत्री माना गया ? भोगभूमिज-जीवोंमें भी उक्त प्रकारकी व्यवस्था नहीं पायी जाती। इसलिये उक्त उच्च-नीच-गोत्र-लक्षणोंको किसी भी तरह दोषरहित नहीं कहा जा सकता। ये लक्षण अव्याप्ति दोषसे दूषित हैं; क्योंकि अपने लक्ष्यके एक देशमें ही पाये जाते हैं।

धवला टीकाकारने गोत्रकर्म (गोत्रसामान्य) का लक्षण निम्न प्रकार दिया है—

उच्चनीचकुलेसु उप्पादश्रो पोग्गलक्खंधो मिच्छत्तादिपच्चएहि जीवसंबंधो गोदमिदि उच्चदे *।'

अर्थात्—मिथ्यात्वादि कारणके द्वारा जीवके साथ सम्बन्धको प्राप्त हुए ऊँच-नीच-कुलमें उत्पन्न करानेवाले पुगद्‌लस्कंधको 'गोत्र' कहते हैं।

यद्यपि यह लक्षण गोत्रकर्मके अन्य लक्षणोंसे बहुत कुछ संगत और गोत्रकर्मकी स्थिति कायम करनेमें बहुत कुछ सहायक मालूम होता है, तो भी इस लक्षणके *'कुलेसु' 'उप्पादश्रो'* ये शब्द सन्देहमें डाल देते हैं; क्योंकि यदि 'कुल' शब्दका अर्थ यहाँपर पितृ-कुल माना जायगा तो ऊपर लिखे समस्त दोष लक्षणको कमजोर बना देंगे और गोत्रकर्मकी व्यवस्था न बन सकेगी। हाँ, यदि 'कुल' शब्दका अर्थ सजातीय-जीवसमूह अभिप्रेत हो तो गोत्रव्यवस्था बन सकती है; परन्तु यह क्लिष्ट-कल्पना है, जो शायद लक्षणकारको स्वयं अभीष्ट न रही हो। दूसरे, इस लक्षणमें जो *'उप्पादश्रो'* शब्द पड़ा है वह लक्षणकी निर्दोषतामें प्रबल बाधक है, क्योंकि इससे यही ध्वनित होता है कि गोत्रका मात्र इतना ही कार्य है कि वह जीवको ऊँच-नीच-कुलमें पैदा करानेमें सहायक हो। जन्म-ग्रहणके बाद गोत्रकी क्या व्यवस्था हो, इसका कुछ पता नहीं। इस तरह यह लक्षण भी निर्दोष नहीं कहा जा सकता।

श्रीनेमिचन्द्राचार्यने जिस गोत्र-लक्षणको जन्म दिया है वह अपने ही ढँगका है। यथा—

'संताणकमेणागयजीवायरणस्स गोदमिदि सण्णा।' अर्थात् सन्तानक्रमसे—कुलपरिपाटीसे—चले आये जीवके आचरणकी 'गोत्र' संज्ञा है—सन्तान परंपराके आचरणका नाम 'गोत्र' है।

यहाँपर जीवाचरणको गोत्र बतलाया है। जैनग्रंथोंमें गोत्रकर्मको पौद्‌गलिक स्कंध माना गया है; परन्तु आचरण या जीवाचरणको कहींपर भी वैसा पौद्‌गलिकस्कंध नहीं लिखा। आचरणका अर्थ है अनुष्ठान, चालचलन, प्रवृत्ति आदि। इसलिये *'जीवायरण'* का अर्थ हुआ जीवका चाल-चलन आदि। जब जीवका आचरण वह पौद्‌गलिक स्कन्ध नहीं जो मिथ्यात्वादि कारणोंके द्वारा जीवके साथ सम्बन्धको प्राप्त होता है तब उसे 'गोत्रकर्म'—जो कि वैसा पौद्‌गलिक स्कन्ध होता है—कैसे माना जाय? हाँ, जीवके आचरणको गोत्रकर्मका कार्य माना जा सकता है; परन्तु उसको गोत्रकर्म मानना सिद्धान्तानुकूल जँचता नहीं। अन्य कर्मोंकी तरह गोत्रकर्मका सम्बन्ध या उदय चारों गतियोंके जीवोंमें बतलाया गया है। संसारमें ऐसा कोई जीव नहीं है जिसके गोत्रका उदय न हो। इसलिये गोत्रका ऐसा व्यापक लक्षण होना चाहिये जो जीवमात्रके साथ

---

* गोत्रलक्षणकी ये पंक्तियाँ पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारकी नोटबुकसे ली गई हैं और वे 'जीवट्ठाण' की प्रथम चूलिका की हैं।

उसका सम्बन्ध घोषित करे। गोम्मटसार-कर्मकाण्डके उक्त गोत्र-लक्षण पर दृष्टि डालनेसे इच्छित अर्थकी सिद्धि नहीं होती, उल्टा यह मुश्किलसे कुछ मनुष्यों तक ही सीमित सिद्ध होता है; क्योंकि संसारमें ऐसे अनंतानंत जीव हैं जिनकी सन्तान क़तई नहीं चलती, इसका मैं पूर्व ही धवलाके उच्च नीच-गोत्रके लक्षणोंके ज़िक्रमें उल्लेख कर आया हूँ। इसलिये देव, नारकी, सम्मूर्च्छन-मनुष्य और विकलत्रयमें सन्तानक्रमका अभाव होनेसे उनमें उक्त प्रकारके गोत्रका अभाव मानना ही पड़ेगा। यदि *'जीवायरण'* का अर्थ यहां पर जीवकी जीविका साधन या पेशा अपेक्षित हो तो वह केवल कर्मभूमिज मनुष्योंमें ही मिल सकेगा। अवशिष्ट देव, नारकी, तिर्यंच और भोगभूमिज जीवोंके तो असि, मषि, कृषि आदि कोई भी पेशा नहीं होता; इसलिये उनमें वैसे आचरणका अभाव होनेसे गोत्र-व्यवस्था भी नहीं बनती। इसी तरह 'आचरण' का अर्थ धर्मपालन, व्रतादिधारण आदि मानने पर भी अनेक दूषण आते हैं, जिनका यहां लेख बढ़जानेके भयसे उल्लेख नहीं किया जाता।

जीवका जैसे आचरणवाले कुलमें जन्म हुआ यदि भविष्यमें उसका उसी सन्तान-परिपाटीके मुताबिक ही आचरण रहा तब तो उसे उस गोत्रका कहा जावेगा अर्थात् अमुक सन्तान-परंपराके आचरणके कारण उसे उस गोत्रका उदय रहेगा। और यदि उस जीवने अपनी कुल-परिपाटीका आचरण छोड़कर—जैसा कि आजकल अक्सर देखा जाता है—भविष्यमें भिन्न ही प्रकारके आचरणको अपना लिया हो तो उस जीवके उस सन्तानक्रमके गोत्रका उदय नहीं माना जासकता; क्योंकि उसने उस सन्तानक्रमके आचरणका परित्याग कर दिया है। तथा वर्तमान आचरणके अनुसार उस जीवके उस गोत्रका उदय भी नहीं माना जा सकता; क्योंकि वह आचरण उसका सन्तानक्रमका आचरण नहीं । इसीलिये कुल-परिपाटीके आचरणके अभावमें जीवके किसी भी गोत्रका उदय न माना-जाना चाहिये और ऊँच वा नीच भी नहीं समझना चाहिये। यदि ऊँच-नीच समझा भी जावे तो उस गोत्रोदयकी वजहसे नहीं; किन्तु किसी अन्य कर्मोदय या किसी और ही वजहसे उसे वैसा मानना युक्ति संगत होगा।

ऊपरके इस सब विवेचन परसे, मैं समझता हूँ, पाठक महानुभाव यह सहज ही में समझ सकेंगे कि गोत्रलक्षणोंमें ऐसा कोई लक्षण नहीं दीखता जो निर्दोष कहा जासके। प्रायः प्रत्येक लक्षण अव्याप्ति दोषसे दूषित है। अंतमें विचार-शील विद्वानोंसे मेरा सानुरोध निवेदन है कि वे उक्त विषयके निर्णयकी ओर सविशेष रूपसे ध्यान देनेकी कृपा करें और यदि हो सके तो इस बातको स्पष्ट करनेका जरूर कष्ट उठाएँ कि मान्य ग्रन्थोंमें ये सदोष लक्षण किस दृष्टिको लेकर लिखे गये हैं।

वीर-सेवा-मन्दिर, सरसावा, ता० १६-९-३६

जगत्सुन्दरी-प्रयोगमालाकी पूर्णता

[सम्पादकीय]

अनेकान्तकी गत ११वीं किरणमें प्रकाशित 'जगत्सुन्दरी-प्रयोगमाला' नामक लेखपर मैंने जो सम्पादकीय नोट दिया था, उसमें यह प्रकट किया गया था कि जगत्सुन्दरी-प्रयोगमालाकी जितनी भी प्रतियोंका अबतक पता चला है वे सब अधूरी हैं और पूर्णप्रतिकी तलाशके लिए प्रेरणा की गई थी। उक्त लेखके छप जानेके बाद मेरे पास बम्बईसे एक सूचीपत्र आया, जिससे मालूम हुआ कि 'जगत्सुन्दरी उपयोगमाला' नामका कोई ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। यह देखते ही मुझे ख़याल हो आया कि हो-न-हो यह जगत्सुन्दरी-प्रयोगमाला नामका ही ग्रंथ होगा, और इसलिये मैंने उसको मँगानेका विचार स्थिर किया; इधर एक दो दिन बाद ही प्रोफेसर ए० एन० उपाध्यायजीका पत्र कोल्हापुरसे प्राप्त हुआ, जिसमें उन्होंने उसी सूचीपत्रके हवालेसे उक्त ग्रन्थका उल्लेख करके उसे मँगाकर देखनेकी प्रेरणा की। अतः मैंने सुहृद्वर पं० नाथूरामजी प्रेमीको बम्बई लिख दिया कि वे उक्त ग्रन्थकी एक प्रति शीघ्र ख़रीदकर भेज देवें। तदनुसार उन्होंने ग्रन्थकी प्रति मेरे पास भेज दी।

ग्रन्थके आते ही मैं उसी दिन रोगशय्यापर पड़े हुए ही उस पर आदिसे अन्त तक सरसरी नज़र डाल गया। देखनेसे मालूम हुआ कि यह १३५ पृष्ठोंका पत्राकार ग्रन्थ जगत्सुन्दरी-प्रयोगमालाका ही एक अंश है, और वह है उसका ३५ वें 'कौतूहल' अधिकारसे लेकर ४३वें 'स्वरोदय' अथवा 'स्वरोपदेश' नामक अधिकार तकका अन्तिम भाग-प्रकाशकने भी यह प्रकट किया है कि हमें ग्रन्थका इतना ही भाग उपलब्ध हुआ है, पूरा ग्रन्थ जिस किसीके पास हो वे हमें सूचित करें। साथ ही, यह भी मालूम हुआ कि ग्रंथ महाअशुद्ध, बेढंगा * और सम्पादनकलासे विहीन छपा है। मालूम होता है कि उसकी प्रेसकापी किसी भी प्राकृत जानने वालेके द्वारा संशोधित और संपादित नहीं कराई गई और न मूल प्रति परसे कापी करने वाला पुरानी ग्रंथ-लिपिको ठीक पढ़ना ही जानता था। परन्तु ख़ैर, इस ग्रन्थ प्रति परसे इतना तो ज़रूर मालूम होजाता है कि जगत्सुन्दरी-प्रयोगमाला ग्रंथ अधूरा नहीं रहा बल्कि पूरा रचा गया है। उसके शुरूके ३४ अधिकार केकड़ी तथा नसीराबाद की प्रतियोंमें सुरक्षित हैं और शेष ये आठ अधिकार मुद्रित हो चुके हैं। इस तरह ग्रंथकी पूर्णता हो जाती है, और यह प्रसन्नताकी बात है। अवश्यही किसी भंडारमें ग्रन्थकी प्राचीन पूर्ण प्रति भी होगी, जिसे खोज कर इन अशुद्ध प्रतियोंके पाठोंको शुद्ध कर लेनेकी ज़रूरत है।

उक्त मुद्रित प्रतिमें ग्रन्थकारकी प्रशस्ति भी लगी हुई है, जिससे यह स्पष्ट मालूम होजाता है कि यह ग्रंथ यशःकीर्ति मुनिका ही बनाया हुआ है और इसलिये जिन दो गाथाओंके पाठको लेकर यह कल्पना की-गई थी कि यह ग्रन्थ यशःकीर्ति मुनिका बनाया हुआ न हो कर उनके किसी शिष्यका बनाया हुआ है वह ठीक नहीं रही। इस ग्रन्थके यशःकीर्तिकृत होनेकी हालत

---

* गाथाओंके क्रमाङ्क साधारण सूचना-वाक्यों, गद्यभाग तथा संधियों पर भी क्रमशः डाले गये हैं और बहुधा समासयुक्त पदोंको अलग अलग और समासविहीन पदोंको मिलाकर छापा गया है, इस तरह कितना ही गोलमाल अथवा बेढंगापन पाया जाता है।

में बालतंत्राधिकारकी अन्तिम गाथाका "*जसइत्ति-मुणिसरे एत्थ*" पाठ अशुद्ध जान पड़ता है वह '*जसइत्ति-मुणीसरेणेत्थ*' होना चाहिये और तब उस गाथाका वह अर्थ हो सकेगा कि 'रावणादिकथित 'बालतंत्र'को जानकर यशःकीर्ति मुनिने उसे इस ग्रन्थमें संक्षिप्तरूपसे दिया है।' और प्रारम्भिक १३वीं गाथामें पड़े हुए '*णाऊण*' (ज्ञात्वा) पदका सम्बन्ध '*कलिसरुवं*' पद के साथ लगा लिया जायगा, और तब उस गाथाका यह अर्थ हो जायगा कि 'कलिकालके स्वरूपको जानकर यशःकीर्ति मुनिने यह ग्रन्थ कहा है, जिससे व्याधि-ग्रसित भव्यजीव मिथ्यात्वमें न पड़ें।'

ये यशःकीर्तिमुनि विमलकीर्तिके शिष्य और रामकीर्तिके प्रशिष्य थे, और वे बागड़संघमें हुए हैं; जैसा कि ग्रंथकी निम्न गाथाओंसे प्रकट है:—

आसि पुरा विच्छिरणो वायडसंघे ससंकासो (भो)।
मुणिरामइत्तिधीरो गिरिव्वणईसुव्वगंभीरो ॥ १८॥
संजातउ(?)तस्स सीसोविबुहोसिरिविमलइतिविक्खाओ
विमलपरसिखडिया धवलिया धरणीयगयणाययुले॥१९
तप्पायपोभिमगो सीसो संसारगमणभयभीओ।
उप्पण्णो पयसहिओ हिय-पिय-मिय-महुरभासिल्लो॥२०
मंतागमाहिदत्थो चरियपुराणसत्थपरियारो।
दियवंचांददुरउ (?) वयविहिकुसलो जियाणंगो ॥२१
गयणुव्वसुद्धहियओ अहिवणमेहुव्वपीणियजणोहो।
पंचाणुव्वसुक्कसंगो मयमत्तकरिव्वमत्तगई ॥ २२ ॥

(इसके बाद दो पद्य संस्कृतके हैं जो असम्बद्ध और प्रक्षिप्त जान पड़ते हैं)

मललित्तुंगवि विमलो णिज्जियभयमई विभवभीओ।
गणगच्छविसग्गंथो णिम्महियमउविदयसाहिओ ॥२५
जसइत्तिणामपयडो पयपयरुहजुअलपडियभव्वयणो
सत्थमिणंजणदुलहं तेण इहिय (?)तमुद्धरियं ॥ २६

रामकीर्तिनामके एक दिगम्बर मुनि, जो जयकीर्ति मुनिके शिष्य हुए हैं, विक्रम संवत १२०७ में मौजूद थे: इस संवत्में उन्होंने एक प्रशस्ति लिखी है जो चालुक्य-राजा कुमारपालके 'चित्तौड़गढ़-शिलालेख' के नामसे नामाङ्कित है और एपिग्रेफिया इंडिकाकी दूसरी जिल्द (E. I. Vol II.) में प्रकाशित हुई है; जैसा कि उक्त शिलालेखकी निम्न २८वीं पंक्तिसे प्रकट है—

"*श्रीज [य] कीर्तिशिष्येण दिगंव (ब) रगणेशिना।*
प्रशस्तिरीदृशी चक्रे ....श्री रामकीर्तिना ॥
संवत् १२०७ सूत्रधा............"

यदि ये रामकीर्ति ही यशःकीर्ति मुनिके दादागुरु थे तो कहना होगा कि जगत्सुन्दरी-प्रयोगमालाके कर्ता यशः-कीर्तिमुनि विक्रमकी १३ वीं शताब्दीके उत्तरार्द्धमें होगये हैं; और तब यह समझना चाहिये कि इस ग्रंथ को बने हुए आज ७०० वर्षके करीब हो चुके हैं।

इस ग्रंथमें कितनी ही विचित्र बातोंका उल्लेख है और बहुतसी बातें प्रकट करने तथा जाननेके योग्य हैं, जिन पर फिर किसी अवकाशके समय पर प्रकाश डाला जा सकेगा। ३८वें अधिकारका नाम जो पं० दीपचंदजी पांड्याको स्पष्ट नहीं हुआ था वह इस ग्रंथपरसे 'प्रकीर्ण-काधिकार, जान पड़ता है।

हाँ, एक बात और भी प्रकट करदेने की है और वह यह है कि इस ग्रंथके अन्तिम भागमें भी "*कुवियगुरुपायमले*" नामकी गाथा नहीं है और न पं० हरिषेणके नामोल्लेख वाला और उसके कर्तृत्वको सूचित करने वाला वह गद्य-वाक्य ही है, और इससे ऐसा मालूम होता है कि पूनाका 'जगत्सुन्दरी-योगमाला' अधिकार और यशःकीर्तिका वह समूचा ग्रंथ दोनों एक दूसरेसे भिन्न हैं। विशेषनिर्णय पूनाकी प्रति-के साथ इस प्रतिका मिलान करनेसे ही हो सकता है। आशा है कोई विद्वान् महानुभाव इसके लिए ज़रूर प्रयत्न करेंगे।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा ता० २०-९-३९

बीमारी और आभार

मैं ११ अगस्तमें बीमार पड़गया था। बीमारीके अधिक बढ़नेपर पं० परमानन्दजी शास्त्रीने उसकी सूचना गत किरणमे अनेकान्तके पाठकोंको दी थी। सूचनाको पाकर जिन सज्जनोंने मेरे दुखमें अपनी हमदर्दी और सहानभूति प्रकट की है और मेरे शीघ्र नीरोग होनेके लिये शुभकामनाएं तथा भावनाएँ की हैं उन सबका मैं हृदयसे बहुत ही आभारी हूँ। मेरा संकट यद्यपि टलगया जान पड़ता है, परन्तु कमजोरी अभी बहुत ज्यादा है और इसका तथा बीमारीके इतना लम्बा खिचनेका एक कारण यह भी है कि मुझे रोगशय्यापर पड़े पड़े भी अनेकान्तका सम्पादनादि विषयक कितना कार्य करना पड़ा है—सम्पादन कार्यमें किसीका भी सहयोग प्राप्त होनेके कारण मैं उसकी चिन्तासे सर्वथा मुक्त नहीं रह सका हूँ। आशा है श्री वीरप्रभु और भगवान समन्तभद्रके पुण्य-स्मरणों और पाठकोंकी शुभ भावनाओंके बलपर यह कमजोरी भी शीघ्र दूर हो जायगी और मैं कुछ दिन बाद ही अपना कार्य पूर्ववत् करनेमें समर्थ हो सकूंगा।

जुगलकिशोर मुख्तार

अगले वर्षकी सूचना

कृपालु लेखकों, कवियों, ग्राहकों, पाठकों और अन्य हितैषी बन्धुओंकी असीम अनुकम्पाके बलपर अनेकातन्का यह द्वितीय वर्ष समाप्त हो रहा है अपनी सामर्थ्यके अनुसार अनेकान्तको यथायोग्य बनानेका प्रयत्न किया गया है। इसकी सेवामें जो भी समय और पैसा लगता है उसे हम अपने जीवनका अमूलय और सदुपयोगी भाग समझते हैं।

यद्यपि अनेकान्तको बहुत कुछ उन्नत बनानेमें हमारी सभी प्रकारकी शक्तियाँ सीमित और तुच्छ हैं फिर भी हमारी भावना यही है कि अनेकान्त का व्यापक प्रचार हो, 'अनेकान्त' जिनेन्द्रभगवानका घर घरमें सन्देश-वाहक हो।

प्रथम वर्षमें ४) रु० मूल्यमें टाइटिल सहित ७२० पृष्ठ दिए गए थे, इस द्वितीय वर्षमें २॥) रु० में ही टाइटिल सहित ७३८ पृष्ठ दिए गए हैं। फिर भी स्थानाभावके कारण कितने ही उपयोगी लेख प्रकाशित नहीं किए जा सके। अतः कुछ हितैषी बन्धुओंके आग्रहसे २॥) रु० के स्थानमें अनेकान्तका वार्षिक मूल्य इस तृतीय वर्षसे ३) रु० किया जा रहा है और पृष्ठ संख्या ७३८ से बढ़ाकर ८५० देनेकी अभिलाषा है। यद्यपि युद्धके कारण कागज़ वगैरहकी तेजीने अन्य पत्र संचालकोंको मूल्य बढ़ाने और पृष्ठ घटानेके लिए विवशकर दिया है। पर, अनेकान्तमें यह परिवर्तन नहीं किया जा रहा है।

आठ आना मूल्य बढ़ा देने पर १०० पृष्ठ अधिक और चार आना पोष्टेजके यानी ३।) रु० मनिआर्डरसे भेज देने पर दो उपहारी ग्रंथ तथा ८५० पृष्ठ अनेकान्तके मिलेंगे। आशा है कृपालु ग्राहकोंको यह योजना पसन्द आएगी। और वह शीघ्र ही मनिआर्डरसे ३।) रु० भेजकर अनेकान्तके ग्राहक होते हुए उपहार भी प्राप्त करेंगे।

—विनीत
व्यवस्थापक

'अनेकान्त' का उपहार

'अनेकान्त'के उपहारमें दो ग्रन्थोंकी तजवीज़ की गई है और वे दोनों ही तय्यार हैं—एक समाधितंत्र सटीक, दूसरा जैनसमाज दर्पण। पहला ग्रन्थ श्रीपूज्यपाद आचार्यकृत मूल संस्कृत पद्यों, प्रभाचन्द्राचार्यकृत संस्कृतटीका तथा पं० परमानन्द शास्त्रीकृत हिन्दी टीका और मुख्तार श्री जुगलकिशोरजीकी महत्वपूर्ण प्रस्तावना के साथ वीर-सेवा-मन्दिर ग्रन्थमालामें प्रकट हुआ है—सम्पादन भी इसका मुख्तार साहिबने ही किया है। यह ग्रन्थ बड़े आकारके १४० पृष्ठोंमें उत्तम कागज़ पर छपा है। दूसरा ग्रन्थ २०×३० साइजके १६ पेजी आकारमें छपा है, जिसकी पृष्ठ संख्या १४४ है। इस ग्रंथमें १०८ विषयों पर अनेक विद्वानोंकी अच्छी अच्छी कविताओंका संग्रह है और इसका सम्पादन पं० कमलकुमारजी जैन

शास्त्रीने किया है। दूसरे ग्रंथकी सिर्फ ५०० प्रतियाँ ही उपहारके लिये श्रीमान् सेठ नाथालालजी जैन छावड़ा, बम्बई बाजार खण्डवाकी ओरसे भेंट स्वरूप प्राप्त हुई हैं, इसलिये जिन ५०० ग्राहकोंका अगले वर्षका मूल्य सबसे पहले प्राप्त होगा उन्हें ही वे भेंटमें दी जायँगी और समाधितंत्र ग्रंथ उन सब ग्राहकोंको दिया जायगा जिनका मूल्य विशेषाङ्क निकलनेसे पहले मनिआर्डर आदिसे वसूल हो जायगा अथवा विशेषाङ्ककी वी. पी. द्वारा प्राप्त हो जायगा। अतः ग्राहकोंको, जहाँ तक भी हो सके, अगले वर्षका मूल्य मनिआर्डरसे भेजनेकी शीघ्रता करनी चाहिये।

जिन ग्राहकोंका मूल्य विशेषाङ्क निकलनेसे पहले प्राप्त नहीं होगा, उन्हें विशेषाङ्क ३।≈)की वी० पी० से भेजा जायगा, जिसमें तीन रुपया मूल्यके अतिरिक्त ।) उपहारी पोष्टेज खर्च और ≈) वी.पी. खर्च का शामिल होगा।

जो सज्जन किसी कारणवश अगले वर्ष ग्राहक न रहना चाहें वे कृपया १२वीं किरणके पहुँचने पर उससे निम्न पतेपर सूचित करदेवें, जिससे अनेकान्त-कार्यालयको वी० पी० करके व्यर्थका नुकसान न उठाना पड़े। कोई सूचना न देनेवाले सज्जन अगले वर्षके लिये ग्राहक समझे जायँगे और उन्हें विशेषाङ्क वी० पी० से भेजा जायगा।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

कनॉट सर्कस, पो० बोक्स नं० ४८, न्यू देहली।

'अनेकान्त' का विशेषाङ्क

'अनेकान्त' की अगली किरण अर्थात् तृतीय वर्षका प्रथम अङ्क 'वीर शासनाङ्क' नामका विशेषाङ्क होगा। पृष्ठ संख्या भी इसकी पिछले विशेषाङ्कसे अधिक १५० पेजके क़रीब होगी। इसमें अच्छे-अच्छे विद्वानोंके महत्वपूर्ण लेख रहेंगे और उनके द्वारा कितनी ही महत्वकी ऐसी बातें पाठकोंके सामने आएँगी, जिनका उन्हें अभी तक प्रायः कोई पता नहीं था। सबसे बड़ी विशेषता यह होगी कि इस अंकसे धवलादि 'श्रुतपरिचय' को मूल सूत्रादि सहित निकालना प्रारम्भ किया जायगा और इस अंकमें उसके कमसे कम आठ पेज जरूर रहेंगे। साथ ही, सामग्रीके संकलन 'एतिहासिक जैनकोश' का भी निकलना प्रारम्भ किया जायगा और उसके भी ८ पेजके रूपमें प्रायः एक फार्म जुदा रहेगा। इस कोशमें महावीरभगवानके समयसे लेकर प्रायः अब तकके उन सभी दि० जैन मुनियों आचार्यों, भट्टारकों, संघों, गणों, विद्वानों, ग्रंथकारों, राजाओं, मंत्रियों और दूसरे खास खास जिनशासन सेवियोंका उनकी कृतियों सहित संक्षेपमें वह परिचय रहेगा जो अनेक ग्रंथों, ग्रन्थ प्रशस्तियों, शिलालेखों और ताम्रपत्रादिकमें बिखरा हुआ पड़ा है। इससे भारतीय ऐतिहासिक क्षेत्रमें कितना ही नया प्रकाश पड़ेगा। और फिर एक व्यवस्थित जैन इतिहास सहज ही में तय्यार होसकेगा। इसके सिवाय, जो *'जैनलक्षणावली'* वीरसेवामन्दिरमें दो ढाई वर्षसे तय्यार हो रही हैं उसका एक नमूना भी सर्वसाधारणके परिचय तथा विद्वानोंके परामर्शके लिये साथमें देनेका विचार है, जो प्रायः एक फार्मका होगा।

जिन ग्राहकोंका मूल्य पेशगी वसूल हो जायगा उन्हें यह अंक प्रकाशित होते ही शीघ्र समय पर मिल जायगा, शेषको वी० पी० से भेजा जायगा। चूंकि डाकखाना बहुतसे वी० पी० पैकट एक साथ नहीं लेता है—थोड़े थोड़े करके कितने ही दिनोंमें लेता है—इसलिये जिन ग्राहकोंका मूल्य पेशगी नहीं आयेगा उन्हें विशेषाङ्कके बहुत कुछ देरसे मिलनेकी संभावना है। साथ ही, वी० पी० के खर्चका तीन आना चार्ज भी और बढ़ जायगा। इसलिये यह मुनासिब मालूम होता है कि ग्राहकजन आगामी वर्षके लिये निश्चित मूल्य ३) रु० उपहारी पोष्टेज ।) सहित शीघ्र मनिआर्डर आदि द्वारा नीचे लिखे पतेपर भेज देवें। ३।) आते ही उन्हें उपहारकी पुस्तकें भेजदी जावेंगी। जो सज्जन उपहार न लेना चाहें वे ३) ही भेज सकते हैं।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

कनॉट सर्कस, पो० बोक्स नं० ४८, न्यू देहली।

श्रीमान् बाबू छोटेलालजी जैन रईस कलकत्ताके विशुद्ध हृदयोद्गार

५००) रु० की रहस्यपूर्ण भेंट

[अनेकान्तकी गत किरणसे मेरी बीमारीके समाचारोंको पाकर मित्रवर बाबू छोटेलालजी जैन रईस कलकत्ताको बहुत ही कष्ट पहुँचा है, आप उस समय स्वयं रोगशय्या पर पड़े हुए थे। रोग शय्यापरसे ही आपने मुझे जो पत्र ३१ अगस्तको लिखा है वह बड़ा ही मार्मिक तथा विशुद्ध हृदयोद्गारोंको लिये हुए है। उसके द्वारा उन्होंने मेरे दुखमें भारी संवेदना, और सहानुभूति प्रकट करनेके अतिरिक्त मेरे व्यक्तित्व, मेरी सेवाओं और मेरे आश्रमके प्रति जो गाढ़ श्रद्धा, भक्ति और प्रेमभाव प्रदर्शित किया है उस सबके लिये मैं उनका बहुत ही आभारी हूँ। मुझे इस पत्रसे बड़ा ही आश्वासन तथा प्रोत्साहन मिला है। पत्रमें ५००) रु० भेजनेकी जो बात कही गई है वह बड़ी ही रहस्यपूर्ण जान पड़ती है। निःसन्देह शुद्धान्तःकरणसे दृढ़ श्रद्धाभक्तिके साथ भगवान् समन्तभद्रस्वामीका पवित्र नामस्मरण बड़ा ही कार्यसाधक है। उक्तपत्र अनेकान्तके पाठकोंके जानने योग्य है, अतः उसे नीचे ज्योंका त्यों प्रकट किया जाता है। —सम्पादक]

पूज्य मुख्तार साहब, सादर प्रणाम।

कल संध्याको मुझे अनेकान्त मिला था। गत कई दिनोंसे थोड़ा थोड़ा ज्वर और दस्त लग रहे हैं, इससे बिछौना पर ही पड़ा रहता हूँ। 'अनेकान्त' प्राप्त होनेसे उसे पढ़ने लगा। पढ़ते पढ़ते जब अंतकी विज्ञप्ति देखी तो मालूम हुआ कि आप बहुतही बीमार हो गये थे और अब कुछ कुछ ठीक तो हैं अभी भी अत्यधिक दुर्बलता है और ज्वर भी। इन समाचारोंने मुझे बहुत चिन्तित कर दिया है। मैं श्रीजिनेन्द्रदेव से प्रार्थना कर रहा हूँ कि भगवान आपको शीघ्र स्वस्थ्य करें। आपके इलाजमें किसीभी प्रकारकी कमी न रहनी चाहिये, आप किसी भी प्रकारकी चिंता न रखें और चित्तको प्रसन्न रखें। मेरे योग्य जिस प्रकारकी सेवा आप आदेश करेंगे मैं सहर्ष उसे शिरोधार्य करूँगा। सेवासुश्रुषा और औषधोपचारमें किसी भी प्रकारकी कमी न रहे, इसके लिये जो कुछ खर्चकी आवश्यकता समझें मुझे आप तुरन्त लिख देवें, मैं बड़ा आभारी होऊँगा। मुख्तार साहब मैंने ये पंक्तियां आप जैसे महान पुरुषको लिखनेका साहस किया है, इसे आप दुस्साहस न समझकर आपके एक सच्चे भक्तके हृदयोद्गार समझें। मेरे तुच्छ हृदयमें आपके प्रति कितनी श्रद्धा है यह मैं अभी तक प्रत्यक्ष न कर सका हूँ। आपने जैनसमाजको जो कुछ प्रदान किया है उसका बदला तो यह जैन समाज न चुका सकेगी, पर भावी जैन समाज अवश्य ही कृतज्ञता प्रकट करेगी। साहित्यिक अनुसंधान कार्य करनेकी शिक्षा, विश्वविद्यालयोंमें प्राप्त करनी पड़ती है पर आपके अनेकान्तमें प्रकाशित लेखोंको पढ़कर ही अनेक विद्वान आज अच्छे अच्छे लेख लिखने लगे है। अनेकांत निकलनेके पूर्वके लेख और तत्पश्चातके लेखोंको यदि सामने रखकर तुलनाकी जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा। आपकी कार्य-प्रणालीमें मौलिकता है। इस प्रकारकी विशेष बातें इस समय मैं लिखकर आपको कष्ट नहीं पहुँचाना चाहता हूँ। पर तो भी इतना ही निवेदन है कि अभी आपसे बहुत कुछ लेना है।

इस समय मैं अपनी गत कई मासकी गाथा नहीं लिखना चाहता पर तो भी इतना बता देना चाहता हूँ कि मेरे बड़े भाईसाहबके छोटे पुत्र (चिरंजीलाल) बहुत बीमार होगये थे। दो दिन ऐसी हालत हो गई थी कि वैद्योंने समझ लिया था कि एक दो घन्टोंमें यात्रा समाप्त होने वाली है। उस समय मैंने भगवान समन्तभद्रके नाम पर चलने वाले आपके—आश्रमको स्मरण किया और यह संकल्प किया कि मेरा भतीजा शीघ्र आरोग्य हो जाय इसलिये समन्तभद्राश्रमके साहित्यिक कार्यके लिये ५००) पांचसौ रुपये प्रदान करूँगा। मैं सफल मनोरथ हुआ, इसका कारण इस आश्रमके प्रति दृढ़ विश्वास और भावना है। पांचसौ रुपया आपको दो तीन दिनमें भेज दूँगा।

आपकी बड़ी कृपा होगी यदि आप किसीसे दो पंक्तियाँ भी लिखवाकर अपनी तबियतका हाल लिखेंगे और मुझे संतुष्ट करेंगे। भगवान् आपको शीघ्र आरोग्य करें।

आज्ञाकारी
छोटेलाल जैन

Regd. No. L. 4328

नेमचन्द जैन प्रोप्राइटर के प्रबन्धसे 'वीर प्रेस ऑफ इण्डिया' कनॉट सर्कस न्यू देहली में छपा।

* विषय-सूची *

पृ०

पृष्ठ १६ की पूर्ति

'अनेकान्त' पृष्ठ १६के प्रथम कालमके नीचे निम्न फुट नोट छूट गया—छपनेसे रह गया है पाठक जन लेखकी छठी पंक्तिमें प्रयुक्त हुए 'जो दूषित हैं' शब्दोंके अनन्तर यह * चिन्ह देकर उसके नीचे बनालेवें

* परन्तु उस जीवन-पुस्तकके कुछ पृष्ठ गुम हैं और उनके विषयकी जो सूचना मिलती है उसपरसे दावेके साथ यह नहीं कहा जासकता कि उसमेंसे कोई भी पृष्ठ दूषित अथवा थोड़ा-बहुत काला नहीं है।—सम्पादक।

ॐ अर्हम्

नीति-विरोध-ध्वंसी लोक-व्यवहार-वर्त्तकः सम्यक्।
परमागमस्य बीजं भुवनैकगुरुर्जयत्यनेकान्तः ॥

वर्ष २ | सम्पादन-स्थान—वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम), सरसावा जि० सहारनपुर
प्रकाशन-स्थान—कनॉट सर्कस पो० ब० नं० ४८ न्यू देहली
कार्तिकशुक्ल, वीरनिर्वाण सं० २४६५, विक्रम सं० १९९५ | किरण १

समन्तभद्र—स्मरण

येनाऽशेष-कुनीति-वृत्ति-सरितः प्रेक्षावतां शोषिताः,
यद्वाचोऽप्यकलंकनीति-रुचिरास्तत्त्वार्थ-सार्थद्युतः ।
स श्रीस्वामिसमन्तभद्र-यतिभृद् भूयाद्विभुर्भानुमान्,
विद्याऽऽनन्द-घनप्रदोऽनघधियां स्याद्वादमार्गाग्रणीः ॥

जिन्होंने परीक्षावानोंके लिये सम्पूर्ण कुनीति और कुवृत्तिरूपी नदियोंको सुखा दिया है, जिनके वचन निर्दोषनीति—स्याद्वादन्याय—को लिये हुए होनेके कारण मनोहर हैं तथा तत्त्वार्थसमूहके द्योतक हैं वे यतियोंके नायक, स्याद्वादमार्गके नेता, विभु—सामर्थ्यवान—और भानुमान—सूर्यके समान देदीप्यमान अथवा तेजस्वी—श्री समन्तभद्रस्वामी कलुषित-आशय-रहित प्राणियोंको—सज्जनों अथवा सुधीजनोंको—विद्या और आनन्दघनके प्रदान करनेवाले होवें—उनके प्रसादसे (प्रसन्नतापूर्वक उन्हें चित्तमें धारण करनेसे) सबोंके हृदयमें शुद्धज्ञान और आनन्दकी वर्षा होवे ।

स्वागत-गान

(रचयिता—कल्याणकुमार जैन 'शशि')

१

मलयानिल कोकिल कलिकाएँ
करतीं अमर प्रेम-प्रलाल ।
नवजीवनके मुक्त-कण्ठमें
डाल डाल सुन्दर वरमाल ॥

२

आज चिरंतन दिव्य ज्योतिसे
दीख रहा है विश्व विशाल।
नव किरणोंसे आच्छादित हो,
तरु-लतिकाएँ हुईं निहाल ॥

३

'अनेकान्त' नूतन साकृति बन,
पाकर कण-कणमें विस्तार ।
अखिल जगतमें पुनःप्रवाहित—
हो, बनकर पुनीत रस-धार ॥

४

सुख-सौभाग्य-कीर्ति-यशका हो—
प्राप्त तुम्हें नूतन-वरदान ।
इसी हेतु आनन्दित हो कर-
रहे तुम्हारा स्वागत-गान ॥

वीर-निर्वाण

(रचयिता—कल्याणकुमार जैन 'शशि')

१

फिर सरसता जग उठी है
प्राणमें संचरित होकर ।
मानसरमें भर रहा है
कौन यह जीवन निरन्तर ?

२

फिर नया-सा हो रहा है
रोम रोम प्रदीप्त-प्रमुदित ।
बज उठेगी उल्लसित हो
आज हृत्तंत्री कदाचित ॥

३

लग रहा है और कुछ ही—
आज मुझको दिव्य जीवन ।
आज मानों लहलहाया—
हो शतोमुख विश्व-उपवन ॥

४

प्राणके प्रत्येक कणमें—
आप्त-व्याप्त नवीनता है ।
मग्न हो, जय-केतु बन, फह-
रा रही स्वाधीनता है ॥

५

हाँ, इसलिये आनन्द है
सर्वत्र खग-नर-देव-घर ।
आज पाया है महाप्रभु-
'वीर' ने निर्वाण गुरुतर ॥
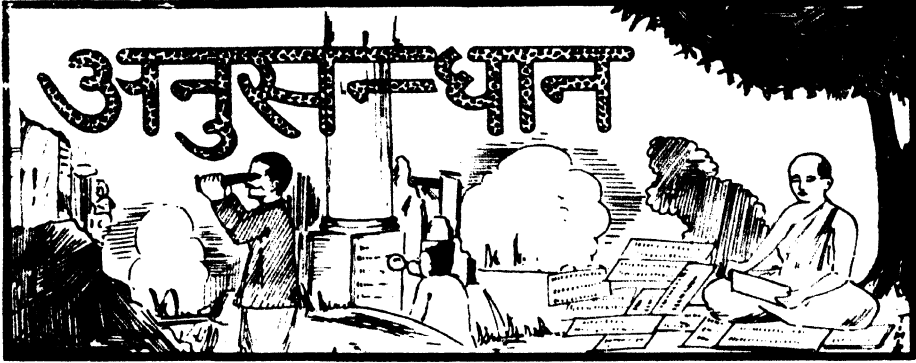
श्रीकुन्दकुन्द और यतिवृषभमें पूर्ववर्ती कौन ?

(सम्पादकीय)

जैन समाजके प्राचीन प्रधान ग्रंथकारोंमें श्री 'कुन्दकुन्द' और 'यतिवृषभ' नामक आचार्यों के नाम खास तौरसे उल्लेखनीय हैं। कुन्दकुन्दके रचे हुए प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, समयसार, नियमसार, द्वादशानुप्रेक्षा और दर्शनप्राभृतादि प्राकृत ग्रंथ प्रसिद्ध हैं, जिनमें से कितने ही तो संसारको अपने गुणोंसे बहुत ही मुग्ध कर रहे हैं। यतिवृषभके ग्रंथ अभी तक बहुत ही कम प्रकाश में आए हैं, फिर भी उनमें मुख्यतया तीन प्राकृत ग्रंथोंका पता चलता है—एक तो गुणधराचार्य के 'कसायपाहुड' की चूर्णि है, जिसकी सूत्रसंख्या छह हजार श्लोक-परिमाण है और जिसे साथमें लेकर ही वीरसेन-जिनसेनाचार्योंने उक्त पाहुड पर 'जयधवला' नामकी विशाल टीका लिखी है; दूसरा ग्रंथ 'त्रिलोकप्रज्ञप्ति' है, जिसकी संख्या आठ हजार श्लोकपरिमाण है और जिसका प्रकाशन भी जैन-सिद्धान्त-भास्करमें शुरू होगया है; तीसरा ग्रंथ है 'करणस्वरूप', जिसका उल्लेख त्रिलोकप्रज्ञप्तिके अन्तके निम्न वाक्यमें पाया जाता है और उसपरसे जिसका परिमाण भी दो हजार श्लोक-जितना जान पड़ता है; क्योंकि इस परिमाणको चूर्णिसूत्रके परिमाण (६ हजार) के साथ जोड़ देनेसे ही आठ हजार श्लोकका वह परिमाण आता है जिसे त्रिलोकप्रज्ञप्तिका परिमाण बतलाया गया है—

> चुण्णिसरूवं अत्थं करण-
> सरूवप्पमाण होदि किं जत्तं।
> अट्ठसहस्सपमाणं
> तिलोयपण्णत्तिणामाए ॥

'करणस्वरूप' ग्रंथ अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ। बहुत सम्भव है कि यह ग्रंथ उन करणसूत्रोंका ही समूह हो जो गणितसूत्र कहलाते हैं और जिनका कितना ही उल्लेख त्रिलोकप्रज्ञप्ति, गोम्मटसार, त्रिलोकसार और धवला जैसे ग्रंथों में पाया जाता है। अस्तु।

अब प्रश्न यह है कि इन दोनों आचार्योंमें पूर्ववर्ती कौन है और उत्तरवर्ती कौन ?

इन्द्रनन्दीने अपने 'श्रुतावतार' में, 'षट्खण्डागम' सिद्धान्तकी उत्पत्तिका वर्णन देकर, द्वितीय सिद्धान्तग्रंथ 'कषायप्राभृत' की उत्पत्तिको बतलाते हुए लिखा है कि—गुणधराचार्य ने इस ग्रंथकी मूल-गाथाओं तथा विवरण-गाथाओंको रचकर उन्हें नागहस्ति और आर्यमंक्षु नामके मुनियोंको व्याख्या करके बतला दिया था। उन दोनों मुनियोंके पाससे यतिवृषभने उक्त सूत्रगाथाओंका अध्ययन करके

उनके ऊपर वृत्तिरूपसे छह हज़ार श्लोक-प्रमाण चूर्णिसूत्रोंकी रचना की। उन चूर्णिसूत्रोंको पढ़कर उच्चारणाचार्यने उच्चारणसूत्र रचे, जिनकी संख्या १२हज़ार श्लोकप्रमाण है। संक्षेपतः गाथा-सूत्रों, चूर्णिसूत्रों और उच्चारणसूत्रोंमें गुणधर, यतिवृषभ एवं उच्चारणाचार्योंके द्वारा 'कषाय-प्राभृत' उपसंहृत हुआ है। इस तरह दोनों सिद्धान्त-ग्रंथ द्रव्यभावरूपसे पुस्तकारूढ़ हुए गुरु-परिपाटीसे कोंडकुन्दनगरमें 'पद्मनन्दी' मुनिको प्राप्त हुए और उनके द्वारा भले प्रकार जाने तथा समझे गये। पद्मनन्दीने—जो कुन्दकुन्दका ही पहला दीक्षानाम है—षट्खण्डागमके प्रथम तीन खण्डों पर 'परिकर्म' नामके एक ग्रंथकी रचना की, जिसका परिमाण १२ हज़ार श्लोक–जितना है।' इस कथन के पिछले तीन पद्य इस प्रकार हैं:—

गाथाचूर्ण्युच्चारणासूत्रैरुपसंहृतं कषायाख्य-
प्राभृतमेवं गुणधरयतिवृषभोच्चारणाचार्यैः ॥
एवं द्विविधो द्रव्यभावपुस्तकगतः समागच्छन् ।
गुरुपरिपाट्या ज्ञातः सिद्धान्तः कोण्डकुन्दपुरे॥
श्रीपद्मनन्दिमुनिना सोऽपिद्वादशसहस्रपरिमाणः।
ग्रन्थपरिकर्मकर्ता षट्खण्डाऽऽद्यत्रिखण्डस्य॥*

—नं० १५९, १६०, १६१

इन्द्रनन्दीके इस कथनके आधारपर अबतक यह समझा और माना जाता रहा है कि कुन्द-कुन्दाचार्य यतिवृषभाचार्यके बाद हुए हैं। विबुध-श्रीधरने, दूसरी कुछ बातोंमें मत भेद रखते हुए भी, अपने 'श्रुतावतार' प्रकरण× के निम्न वाक्यों-द्वारा भविष्य-कथनके रूपमें इसी बातको पुष्ट किया है:—

"ज्ञानप्रवादपूर्वस्य नामत्रयोदशमो-वस्तुकस्तदीयतृतीयप्राभृतवेत्तागुणधरनामग-णी मुनिर्भविष्यति। सोऽपि नागहस्तिमुनेः पुरतस्तेषांसूत्राणामर्थान्प्रतिपादयिष्यति। तयो गुणधरनागहस्तिनामभट्टारकयोरुपकंठे पठि-त्वा तानि सूत्राणि यतिनायकाभिधो मुनिस्ते-षां गाथासूत्राणां वृत्तिरूपेण षट्सहस्र-प्रमाण-'चूर्णिशास्त्रं' करिष्यति तेषां चूर्णि-शास्त्राणां समुद्धरणानामामुनिर्द्वादशसहस्रप्र-मितां तट्टीकांरचयिष्यति निजनामालंकृतांइति सूरिपरंपरया द्विविधसिद्धान्तोव्रजन् मुनीन्द्र-कुन्दकुन्दाचार्यसमीपे सिद्धान्तं ज्ञात्वा कुन्द-कीर्तिनामा षट्खंडानां मध्ये प्रथमत्रिखंडानां द्वादशसहस्रप्रमितं 'परिकर्म' नामशास्त्रं करिष्यति।"

इन्हीं सब बातोंके आधारपर बनी तथा पुष्ट हुई मान्यताके फलस्वरूप, सुहृद्वर पं० नाथूरामजी प्रेमीने, 'त्रिलोकप्रज्ञप्ति' का परिचय देते हुए, जब उसमें प्रवचनसारकी **'एस सुरासुरमणुसिंद वंदियं'**

* देखो, 'माणिकचंदग्रंथमाला' में प्रकाशित 'तत्त्वानुशासनादिसंग्रह' के अन्तर्गत 'श्रुतावतार'।

× यह प्रकरण 'पंचाधिकार' नामक शास्त्रका चौथा परिच्छेद है और उक्त माणिकचन्द्रग्रंथमालाके २१ वें ग्रंथसंग्रहमें प्रकाशित हुआ है।

नामकी पहली मंगलाचरण-गाथाको देखा तो कुछ अहतियातके साथ यह लिख दिया कि "यदि त्रिलोकप्रज्ञप्तिके कर्ता यतिवृषभ ही हैं (जो कि हैं ही) तो यह मानना पड़ेगा कि प्रवचनसारमें यह गाथा इसी ग्रंथपरसे ली गई है; क्योंकि इन्द्रनन्दी के कथनानुसार कुन्दकुन्दाचार्य यतिवृषभसे पीछे हुए हैं—यतिवृषभके बाद ही उन्होंने सिद्धान्त ग्रंथोंको टीका लिखी है।" साथ ही दबे शब्दोंमें यह लिख कर कुछ पुष्टि भी करदी कि "त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें यह गाथा उद्धृत नहीं जान पड़ती; क्योंकि वहाँ यह तीर्थकरोंके क्रमागत स्तवन में कही गई है" *। परन्तु प्रचलित मान्यताके प्रभाववश उन्हें यह खयाल नहीं आया कि प्रवचनसारमें भी यह गाथा कुछ उद्धृत नहीं जान पड़ती। वहाँ तो वह एक ऐसे मौलिक ग्रंथकी आदिम मंगलाचरण-गाथा है जिसके कर्ता महान आचार्य श्रीकुन्दकुन्दके विषयमें यह कल्पना भी नहीं की जासकती कि उन्होंने अपने ऐसे महत्वशाली ग्रंथके लिये मंगलाचरणकी गाथा भी कहींसे उठाकर अथवा उधार लेकर रक्खी होगी—उसे वे स्वयं न बना सके होंगे। दूसरे, मंगलाचरणकी दूसरी गाथा **'सेसे पुण तित्थयरे०'** के साथ वह इतनी अधिक सुसम्बद्ध है कि उसके बिना **'सेसे पुण तित्थयरे'** वाक्यका कोई भी स्पष्ट अर्थ नहीं बैठता। जो महानुभाव **'सेसेपुणतित्थयरे'** जैसी चार महत्वपूर्ण गाथाओंकी रचना अपने मंगलाचरणके लिये कर सकता हो उसके लिये **'एससुरासुर'** नामकी गाथाकी रचना कौन बड़ी बात है ? तीसरे, पुरातनाचार्य श्रीअपराजितसूरिने 'भगवती आराधना' की टीकाके शुरूमें इस गाथाको तीर्थकरोंमें भी सबसे पहले अन्तिम तीर्थंकर श्रीवर्द्धमानको नमस्कार करनेके उदाहरणस्वरूप अथवा आदिम मंगलाचरणके नमूनेके तौरपर दिया है। साथमें, 'सेसे पुणतित्थयरे' वाली दूसरी गाथा भी एक ही विद्वानकी कृतिरूपसे दी है, जिससे इस गाथाके कुन्दकुन्द-कृत होने में सन्देह नहीं रहता।

प्रत्युत इसके, त्रिलोकप्रज्ञप्ति में यह गाथा इतनी अधिक सुसम्बद्ध और अनिवार्य मालूम नहीं होती—वहाँपर 'सिद्धलोकप्रज्ञप्ति' नामक अन्तिम महाधिकार के चरमाधिकार 'भावना' को समाप्त करके और **'एवं भावना सम्मत्ता'** तक लिखकर कुन्थुजिनेन्द्र से वर्द्धमान पर्यंत आठ तीर्थंकरोंकी स्तुति आठ गाथाओंमें दी है —उन्हीं में उक्त गाथा भी शामिल है। ये सब गाथाएँ वहाँ पर कोई विशेष आवश्यक मालूम नहीं होतीं—खासकर ऐसी हालतमें जबकि एक पद्यके बाद ही, जिसकी स्थिति भी संदिग्ध है, २४ तीर्थंकरों को अन्तमंगलके तौरपर नमस्कार किया गया है; वहाँ प्राकृत गाथाका **'एस'** पद भी कुछ खटकता हुआ जान पड़ता है और ये सब गाथाएँ 'उद्धृत' भी हो सकती हैं। त्रिलोकप्रज्ञप्तिके इसी ६वें अधिकारमें तथा अन्यत्र भी कुन्दकुन्दके प्रवचनसारादि ग्रंथोंकी और भी कितनी ही गाथाएँ ज्यों-की त्यों अथवा कुछ परिवर्तन या पाठभेदके साथ उद्धृत पाई जाती हैं, जिनके दो तीन नमूने इस प्रकार हैं:—

* देखो, जैनहितैषी भाग १३, अंक १२, पृष्ठ ५३०-३१।

णाहं होमि परेसिं ण मे परे संति णाणमहमेको।
इदि जो झायदि झाणे सो अप्पाणं हवदि झादा॥

—प्रवचनसार, २-९९

'त्रिलोकप्रज्ञप्ति' के उक्त अन्तिम अधिकारमें यह गाथा ज्यों की त्यों नं० ३५ पर दी है। और २५ वें नम्बर पर इसी गाथाके पहले तीन चरण देकर चौथा चरण **'सो मुच्चइ अट्ठकम्मेहिं'** बना दिया है। इस तरह एकही अधिकार में इस गाथा की पुनरावृत्ति कीगई है।

एवं णाणप्पाणं दंसणभूदं अदिंदियमहत्थं।
धुवमचलमणालंबं मएणे हं अप्पगं सुद्धं॥

—प्रवचनसार, २-१००

यह गाथा, जो पूर्वोक्त गाथाके अनन्तर की सुसम्बद्ध गाथा है, त्रिलोकप्रज्ञप्तिके उक्त अधिकार-में पहले नं० ३४ पर दी है इसमें सिर्फ **"मएणेहं अप्पगं"** के स्थानपर **'भावेयं अप्पयं'** पाठ बना दिया गया है।

जो एवं जाणित्ता झादि परं अप्पगं विसुद्धप्पा।
सागारोऽणागारो खवेदि सो मोहदुग्गंठिं॥

—प्रवचनसार २-१०२

जो एवं जाणित्ता झादि परं अप्पयं विसुद्धप्पा।
अणुवममपारविसयं सोक्खं पावेदि सो जीवो॥

—त्रिलोकप्रज्ञप्ति ९-३६

अहमिको खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सदारूवी
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अएणंतपरमाणुमित्तंपि॥

—समयसार, ४३

यह गाथा त्रिलोकप्रज्ञप्तिके उक्त ९वें अधि-कारमें नं० २७ पर दी हुई है, सिर्फ **'णाणमइओ-सदा'** के स्थानपर **णाणप्पगासगा'** पाठ दिया है, जिसमें अर्थभेद प्रायः कुछ भी नहीं है।

खंधं सयलसमत्थं तस्स दुअद्धं भणंति देसो त्ति
अद्धद्धं च पदेसो परमाणू चेवअविभागी॥
एयरसवएणगंधं दोफासं सद्दकारणमसद्दं।
खंधंतरिदं दव्वं परमाणु तं वियाणेहि॥

—पंचास्तिकाय ७५, ८१,

कुन्दकुन्दकी ये दोनों गाथाएँ त्रिलोकप्रज्ञप्ति के प्रथमाधिकारमें क्रमशः नं० ९५ और ९७ पर प्रायः ज्योंकी त्यों पाई जाती हैं, दोनों का सिर्फ चौथा चरण बदला हुआ है—अर्थात् पहलीका चौथा चरण **'अविभागी होदि परमाणू'** और दूसरीका **'तंपरमाणु भणंति बुधा'** दिया है, जिससे कोई अर्थभेद नहीं होता और जिसे साधारण पाठभेद भी कह सकते हैं।

ऐसी हालतमें यह नहीं कहा जासकता कि त्रिलोकप्रज्ञप्तिपर से कोई भी वाक्य कुन्दकुन्दके किसी ग्रंथमें उद्धृत किया गया है। कुन्दकुन्द और यतिवृषभ की रचनामें ही बहुत बड़ा अन्तर है—कुन्दकुन्दकी रचनामें जो प्रौढ़ता, गम्भीरता और सूत्ररूपता आमतौरपर पाई जाती है वह यति-वृषभकी रचनाओं में प्रायः देखनेको नहीं मिलती। त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें तो दूसरे प्राचीन ग्रंथवाक्योंका कितना ही संग्रह जान पड़ता है। और इसलिये त्रिलोकप्रज्ञप्तिके किसी वाक्यको कुन्दकुन्दके ग्रंथमें देखकर यह अनुमान लगाना ठीक नहीं है कि

कुन्दकुन्द यतिवृषभके बाद हुए हैं।

कुन्दकुन्दको यतिवृषभके बादका विद्वान बतलानेवाला यदि कोई भी प्रमाण है तो वह मुख्यतया इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारका उक्त उल्लेख है। विबुध श्रीधरका कथन उसको पुष्ट जरूर करता है परन्तु वह स्वयं अन्य प्रकारसे बहुत कुछ आपत्तिके योग्य है। उसमें प्रथमतो कषायप्राभृतको ज्ञानप्रवाद पूर्वकी त्रयोदशम वस्तुके अन्तर्गत किया है, जबकि स्वयं श्री गुणधराचार्यने "**पुव्वम्मि पंचमम्मि दु दसमे वत्थुम्मि पाहुडे तदिये**" इस सूत्रगाथा-वाक्यके द्वारा उसे दशमवस्तु का तृतीय प्राभृत बतलाया है। दूसरे, यतिवृषभको गुणधराचार्यका साक्षात शिष्य बतला दिया है, जबकि गुणधर-सूत्रगाथाओंकी वृहट्टीका 'जयधवला' नागहस्ति तकको गुणधराचार्यका साक्षात शिष्य नहीं बतलाती और यतिवृषभ अपनी चूर्णिमें भी कहीं अपनेको गुणधराचार्यका साक्षात् शिष्य सूचित नहीं करते; प्रत्युत इसके सूत्रगाथाओंपर होनेवाले पूर्ववर्ती आचार्योंके अर्थभेद अथवा मतभेदको प्रकट करते हैं, जिससे वे गुणधराचार्यसे बहुत-कुछ बादके ग्रंथकार मालूम होते हैं; और तीसरे चूर्णिके टीकाकारका नाम 'समुद्धरण' और उस टीकाका नाम समुद्धरण-टीका घोषित किया है, जबकि 'जयधवला' में पचासों जगह उक्त टीका-परसे वाक्योंको उद्धृत करते हुए वीरसेन-जिनसेनाचार्योंने उसे उच्चारणाचार्यकी कृति, टीकाका नाम 'उच्चारणावृत्ति' और उसके वाक्योंको उच्चारणा-सूत्र' के नामसे उल्लेखित किया है। ऐसी मोटी मोटी भूलोंके कारण विबुध श्रीधरकी इस बात पर भी सहसा विश्वास नहीं होता कि 'परिकर्म' नाम की टीका कुन्दकुन्दकी कृति न होकर उनके शिष्य कुन्दकीर्ति-द्वारा लिखी गई है—कुन्दकीर्तिका नाम कुन्दकुन्दके शिष्य रूपमें अन्यत्र कहींसे भी उपलब्ध नहीं होता। जान पड़ता है विबुध श्रीधरने योंही इधर-उधरसे सुन-सुनाकर कुछ बातें लिखदी हैं—उसे किसी अच्छे प्रामाणिक पुरुषसे ठीक परिचय प्राप्त नहीं हुआ। और इसलिये उसके उल्लेखपर कोई विशेष जोर नहीं दिया जासकता और न उसे प्रमाणकोटिमें ही रक्खा जासकता है।

अब देखना है, इन्द्रनन्दीके श्रुतावतारका वह उल्लेख कहाँ तक ठीक है जो प्रचलित मान्यताका मुख्य आधार बना हुआ है। कुछ अर्से पहले मैं समझता था कि वह ठीक ही होगा; परन्तु उसकी विशेष जाँचके लिये मेरा प्रयत्न बराबर जारी रहा है। हालमें विशेष साहित्यके अध्ययन-द्वारा मुझे यह निश्चित होगया है कि इन्द्रनन्दीने अपने पद्य नं० १६० में 'द्विविधसिद्धान्त' के उल्लेख-द्वारा यदि कषायप्राभृतको उसकी टीकाओं-सहित कुन्द-कुन्दतक पहुँचाया है तो वह जरूर ही गलत है और किसी गलत सूचना अथवा गलत-फहमीका परिणाम है। निःसंदेह, श्रीकुन्दकुन्दाचार्य यतिवृषभसे पहले हुए हैं। नीचे इन्हीं सब बातोंको स्पष्ट किया जाता है:—

(१) इन्द्रनन्दीने यह तो लिखा है कि गुणधर और धरसेनाचार्योंकी गुरुपरम्परा का पूर्वाऽपरक्रम उसे मालूम नहीं है; क्योंकि उनके वंश का कथन करने वाले शास्त्रों तथा मुनिजनोंका उस समय अभाव है+; परन्तु दोनों सिद्धान्तग्रन्थोंके अवतार-का जो कथन दिया है वह भी उन ग्रन्थों तथा

+ गुणधर-धरसेनान्वयगुर्वोः पूर्वापरक्रमोऽस्माभिर्न ज्ञायते तदन्वमकथकागम-मुनिजनाभावात् ॥१५०॥

उनकी टीकाओंको स्वय देखकर लिखा गया मालूम नहीं होता—और तो क्या, पिछली 'धवला' और 'जयधवला' नामकी टीकाओं तकका इन्द्रनन्दी के सामने मौजूद होना नहीं पायाजाता। इसीसे उन्हों-ने अपने 'श्रुतावतार' में 'धवला' को 'पट्खण्डा-गम' के छहों खण्डों की टीका बतला दिया है*, जबकि वह प्रथम चार खण्डोंकी ही टीका है! दूसरे, आर्यमंचु और नागहस्ती नामके आचार्यों को गुणधराचार्यका साक्षात् शिष्य घोषित कर दिया और लिखदिया है कि गुणधराचार्यने 'कसाय-पाहुड, की सूत्रगाथाओंको रचकर उन्हें स्वयंही उनकी व्याख्या करके आर्यमंचु और नागहस्ती को पढ़ाया था †; जबकि जयधवला में स्पष्ट लिखा है कि 'गुणधराचार्यकी उक्त सूत्रगाथाएँ आचार्यपरम्परा-से चली आती हुई आर्यमंचु और नागहस्तीको प्राप्त हुई थीं—गुणधराचार्यसे उन्हें उनका सीधा (direct) आदान-प्रदान नहीं हुआ था। यथाः-

> **"पुणो ताओ सुत्तगाहाओ आइरिय-परंपराए आगच्छमाणाओ अज्जमंखु-णागहत्थीणं पत्ताओ"।**

—आराप्रति, पत्र नं० १०

यदि आर्यमंचु और नागहस्ती को गुणधराचार्य के साक्षात् शिष्य ही मान लिया जाय और साथ ही यह भी स्वीकार कर लिया जाय कि यतिवृषभाचार्य-ने उन दोनों के पाससे उक्त गाथासूत्रोंको पढ़ा था, जैसा कि इन्द्रनन्दीने **"पार्श्वे तयोर्द्वयोरप्यधीत्य सूत्राणि तानि यतिवृषभः"** इस वाक्यके द्वारा सूचित किया है, तो यतिवृषभका समय पट्खण्डा-गमकी रचनासे पूर्वका नहीं तो समकालीन ज़रूर मानना पड़ेगा; क्योंकि पट्खण्डागमके वेदनाखण्ड-में आर्यमंचु और नागहस्तीके मतभेदों तकका उल्लेख है §। चूंकि यतिवृषभका अस्तित्वकाल, जैसाकि आगे स्पष्ट किया जायगा, शक संवत् ३८० (वि० सं० ५१५) के बादका पाया जाता है और कुन्दकुन्दका समय इससे बहुत पहलेका उपलब्ध होता है। ऐसी हालतमें कुन्दकुन्दके द्वारा पट्खण्डा-गमके किसीभी खण्डपर टीकाका लिखा जाना नहीं बनता। और जब टीका ही नहीं बनती तो उसके रचनाक्रमके आधार पर कुन्दकुन्दको यति-वृषभसे बादका विद्वान क़रार देना बिल्कुल ही निरर्थक और निर्मूल है।

(२) यतिवृषभकी त्रिलोकप्रज्ञप्तिके अनेक पद्यों में 'लोकविभाग' नामके ग्रंथका स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है। यथा:—

> **जलसिहरे विक्खंभो जलणिहिणो जोयणा दससहस्सा।**
> **एवं संगाइणिए लोयविभाए विणि-द्दिट्ठं ॥ अ० ४**
> **लोयविणिच्छयगंथे लोयविभागम्मि सव्वसिद्धाणं।**
> **ओगाहणपरिमाणं भणिदं किंचूण चरिमदेहसमो ॥ अ० ६**

*इति षण्णां खण्डानां ग्रन्थसहस्त्रैर्द्वि-सप्तत्या ॥१८१॥ प्राकृत-संस्कृतमिश्रां टीका विलिख्य धवला-ख्याम् ॥१८२॥

† एवं गाथासूत्राणि पंचदशमहाधिकाराणि। प्रविरच्य व्याचख्यौ स नागहस्त्यार्यमंक्षुभ्याम् ॥ १५४ ॥

§ "कम्मट्ठिदिअणियोगद्दारेहि भण्णमाणे वे उवदे-सा होंति जहण्णुक्कस्सट्ठिदीणं पमाणपरूवणा कम्मट्ठिदिपरूवणेत्ति णागहत्थिखमासमणा भणंति, अज्जमंखुखमासमणा पुण कम्मट्ठिदिसंचिदसंतकम्म-परूवणा कम्मट्ठिदिपरूवणेत्ति भणंति।"

—धवल सिद्धान्त, आरा-प्रति, पत्र नं० ११०९

यह 'लोकविभाग' ग्रंथ उस प्राकृत लोक विभाग ग्रंथसे भिन्न मालूम नहीं होता जिसे प्राचीन समय में सर्वनन्दी आचार्य ने लिखा था, जो कांची के राजा सिंहवर्मा के राज्यके २२ वें वर्ष—उस समय जबकि उत्तराषाढ़ नक्षत्रमें शनिश्चर, वृषराशिमें वृहस्पति, उत्तराफाल्गुनी नक्षत्रमें चन्द्रमा था, शुक्लपक्ष था—शक संवत् ३८० में लिखकर पाणराष्ट्र के पाटलिक ग्राम में पूरा किया गया था और जिसका उल्लेख सिंहसूरि के उस संस्कृत 'लोकविभाग' के निम्न पद्यों में पाया जाता है, जो कि प्राय: सर्वनन्दी के लोकविभागको सामने रखकर ही भाषा के परिवर्तनादिद्वारा ('भाषाया: परिवर्तनेन') रचागया है:—

> वैश्वे स्थिते रविसुते वृषभे च जीवे,
> राजोत्तरेषु सितपक्षमुपेत्य चन्द्रे ।
> ग्रामे च पाटलिकनामनि पाणराष्ट्रे,
> शास्त्रं पुरा लिखितवान्मुनि सर्वनन्दी॥३॥
> संवत्सरे तु द्वाविंशे कांचीशसिंहवर्मणः ।
> अशीत्यग्रे शकाब्दानां सिद्धमेतच्छतत्रये॥४॥

त्रिलोकप्रज्ञप्तिकी उक्त दोनों गाथाओंमें जिन विशेषवर्णनोंका उल्लेख 'लोकविभाग' आदि ग्रंथोंके आधारपर किया गया है वे सब संस्कृत लोकविभाग में भी पाये जाते हैं*, जोकि विक्रमकी ११वीं शताब्दीके बादका बना हुआ है; क्योंकि उसमें त्रिलोकसारसे भी कुछ गाथाएँ, त्रिलोकसारका नाम साथमें देते हुए भी, 'उक्तंच' रूपसे उद्धृत की गई हैं। और इसलिये यह बात और भी स्पष्ट होजाती है कि संस्कृतका उपलब्ध लोकविभाग उक्त प्राकृत लोकविभागको सामने रखकर ही लिखा गया है।

इस सम्बन्धमें एक बात और भी प्रकट करदेनेकी है और वह यह कि संस्कृत लोकविभागमें उक्त दोनों पद्यों के बाद एक पद्य निम्न प्रकार दिया है:—

> पंचादशशतान्याहुः षट्त्रिंशदधिकानि वै ।
> शास्त्रस्य संग्रहस्त्वेदं छंदसानुष्टभेन च ॥५॥

इसमें ग्रंथकी संख्या १५३६ श्लोक-परिमाण बतलाई है, जबकि उपलब्ध संस्कृत लोकविभागमें वह २०३० के करीब जान पड़ती है। मालूम होता है यह १५३६ की श्लोकसंख्या उसी पुराने प्राकृत लोकविभाग की है—यहाँ उसके संख्यासूचक पद्यका भी अनुवाद करके रखदिया है। इस संस्कृत-ग्रंथमें जो ५०० श्लोक जितना पाठ अधिक है वह प्राय: उन 'उक्तंच' पद्योंका परिमाण है जो इस ग्रंथमें दूसरे ग्रंथोंसे उद्धृत करके रक्खे गये हैं—१०० से अधिक गाथाएँ तो त्रिलोकप्रज्ञप्तिकी ही हैं, २०० के करीब श्लोक आदिपुराणसे उठाकर रक्खे गये हैं और शेष ऊपरके पद्य त्रिलोकसार तथा जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति आदि ग्रंथोंसे लिये गये हैं। इस तरह इस ग्रंथमें भाषाके परिवर्तन और दूसरे ग्रंथों से कुछ पद्योंके 'उक्तंच' रूपसे उद्धरणके सिवाय सिंहसूरिकी प्राय: और कुछ भी कृति मालूम नहीं होती। और इसलिये इस सारी परिस्थितिपर से यह कहनेमें कोई संकोच नहीं होता कि त्रिलोकप्रज्ञप्ति में जिसलोकविभागका उल्लेख है वह वही सर्वनन्दीका प्राकृत लोकविभाग है, जिसका उल्लेख ही नहीं किंतु

*"दशैवैषसहस्राणि मूलेऽप्रेपि पृथुमंतः"। प्रक० २ "अंत्यकायप्रमाणात्तु किंचित्संकुचितात्मकाः" ॥ प्रक० ११

अनुवादितरूप संस्कृत लोकविभागमें पाया जाता है। चूंकि उस लोकविभागका रचनाकाल शकसं० ३८० है, अतः त्रिलोकप्रज्ञप्तिके रचियता यतिवृषभ शकसं० ३८० के बाद हुए हैं, इसमें ज़राभी संदेह नहीं है। अब देखना यह है कि कितने बाद हुए हैं ?

(३) त्रिलोकप्रज्ञप्ति में अनेक कालगणनाओंके आधारपर, चतुर्मुखनामक कल्किकी मृत्यु वीरनिर्वाण से एकहजार वर्ष बाद बतलाई है, उसका राज्य-काल ४२ वर्ष दिया है, उसके अत्याचार तथा मारे जानेकी घटनाओंका उल्लेख किया है और मृत्युपर उसके पुत्र अजितंजयका दो वर्षतक धर्मराज्य होना लिखा है। साथही, बादको धर्मकी क्रमशः हानि बतलाकर और किसी राजाका उल्लेख नहीं किया है*। इस घटनाचक्र परसे यह साफ़ मालूम होता है कि त्रिलोकप्रज्ञप्तिकी रचना कल्किराजाकी मृत्युसे १०-१२ वर्षसे अधिक बादकी नहीं है। यदि अधिक बादकी होती तो ग्रंथपद्धतिको देखते हुए यह संभव नहीं था कि उसमें किसी दूसरे प्रधान राज्य अथवा राजाका उल्लेख न किया जाता। अस्तु; वीरनिर्वाण शकराजा अथवा शकसंवतसे ६०५ वर्ष ५ महीने पहले हुआ है, जिसका उल्लेख त्रिलोकप्रज्ञप्ति में भी पाया जाता है ‡। एकहज़ार वर्ष में से इस संख्या-को घटानेपर ३९४ वर्ष ७ महीने अवशिष्ट रहते हैं। यही (शकसंवत ३९५) कल्किकी मृत्युका समय है। और इसलिये त्रिलोकप्रज्ञप्ति का रचनाकाल शक सं० ४०५ के करीबका जान पड़ता है, जबकि लोकविभाग को बनेहुए २५ वर्ष के करीब होचुके थे, और यह अर्सा लोकविभागकी प्रसिद्धि तथा यतिवृषभ तक उसके पहुँचनेके लिये पर्याप्त है।

(४) कुर्ग इन्सक्रिप्शन्स (E. C. I.) में मर्कराका एक ताम्रपत्र प्रकट हुआ है, जो कुन्दकुन्दके वंशमें होनेवाले कुछ आचार्योंके उल्लेखको लिये हुए है और जिसमें उसके लिखेजानेका समय भी शक-संवत ३८८ दिया है। उसका प्रकृत अंश इस प्रकार है:—

*इस प्रकरणकीकुछ गाथाएँ इसप्रकार है, जोकि पालकादि राजाओंके राज्यकाल ९५८ का उल्लेख करने के बाद दीगई है:—

तत्तो कक्की जादो इंदसुदो तस्स चउमुहो णामो।
सत्तरिवरिसा आऊ विगुणिय-इगिवीसरज्जत्तो ॥९९॥
आचारांगधरादो पणहत्तरिजुत्तदुसयवासेसुं।
बोलीणेसुं बद्धो पट्टो कक्कीसणरवइणो ॥ १००॥
कक्किसुदो अजिदंजय णामो रक्खति णमदि तच्चरणे।
तं रक्खदि असुरदेओ धम्मे रज्जं करेज्जंति ॥१०४॥
तत्तो दोवे वासो सम्मं धम्मो पयट्ठदि जणाणं।
कमसो दिवसे दिवसे कालमहप्पेण हाएदे ॥१०५॥

‡ "णिव्वाणे वीरजिणे छव्वाससदेसु पंचवरसेसु।
पणमासेसु गदेसुं संजादो सगणिओ अहवा ॥"
—त्रिलोकप्रज्ञप्ति

"पणछस्सय वस्सं पणमासजुदं गमिय वीरणिव्वुइदो।
सगराजो तो कक्की चदुणवतियमहियसगमासं ॥"
—त्रिलोकसार

वीरनिर्वाण और शकसंवत् की विशेष जानकारीके लिये, लेखककी 'भगवान महावीर और उनका समय' नामकी पुस्तक देखनी चाहिये।

"......श्रीमान् कोंगणि-महाधिराज अविनीतनामधेयदत्तस्य देसिगणं कोण्ड-कुन्दान्वय-गुणचन्द्रभटार-शिष्यस्य अभ[य] णंदिभटार तस्य शिष्यस्य शीलभद्रभटार-शिष्यस्य जनाणंदिभटारशिष्यस्य गुणणंदि-भटार-शिष्यस्य वन्दणन्दिभटारर्गो अष्ट-अशीति-उत्तरस्य त्रयो-शतस्य सम्वत्सरस्य माघमासं......"

इस ताम्रपत्रसे स्पष्ट है कि शकसंवत ३८८ में जिन आचार्य वन्दनन्दीको जिनालयके लिये एक गाँव दान किया गया है वे गुणनन्दीके शिष्य थे, गुणनंदी जनानंदीके, जनानंदी शीलभद्रके, शीलभद्र अभयनंदीके और अभयनंदी गुणचन्द्राचार्यके शिष्य थे। इस तरह गुणचन्द्राचार्य वन्दनंदीसे पाँच पीढ़ी पहले हुए हैं और वे कोण्कुन्दके वंशज थे—उनके कोई साक्षात् शिष्य नहीं थे।

अब यदि मोटे रूपसे गुणचंद्रादि छह आचार्यो का समय १५० वर्ष ही कल्पना किया जाय, जो उस समयकी आयुकायादिककी स्थितिको देखते हुए अधिक नहीं कहा जासकता, तो कुंदकुंदके वंशमें होनेवाले गुणचंद्रका समय शक संवत २३८ (वि० सं० ३७३) के लगभग ठहरता है। और चूंकि गुण-चंद्राचार्य कुंदकुंदके साक्षात शिष्य या प्रशिष्य नहीं थे बल्कि कुन्दकुन्द के अन्वय (वंश) में हुए हैं और अन्वयके प्रतिष्ठित होने के लिये कम से कम ५० वर्षका समय मानलेना कोई बड़ी बात नहीं है। ऐसी हालत में कुन्दकुन्दका पिछला समय उक्त ताम्रपत्रसे २०० वर्ष पूर्वका तो सहज ही में हो जाता है। और इसलिये कहना होगा कि कुन्दकुन्दा-चार्य यतिवृषभ से २०० वर्ष से भी अधिक पहले हुए हैं।

मर्कराके इस ताम्रपत्रसे यह बात भी स्पष्ट होजाती है कि कुन्दकुन्दके नियमसारकी एक गाथा में * जो 'लोयविभागेसु' पद पड़ा हुआ है उसका अभिप्राय सर्वनन्दीके उक्त लोकविभाग ग्रंथ-से नहीं है और न हो सकता है; बल्कि बहुवचनान्त पद होनेसे वह 'लोकविभाग' नामके किसी एक ग्रंथविशेष का भी वाचक नहीं है। वह तो लोकविभा-गविषयक कथनवाले अनेक ग्रंथों अथवा प्रकरणों-के संकेतको लिये हुए जान पड़ता है और उसमें खुद कुन्दकुन्द के 'लोयपाहुड'–'संठाणपाहुड' जैसे ग्रंथ तथा दूसरे लोकानुयोग अथवा लोकालोकके विभागको लिये हुए करणानुयोग–सम्बंधी ग्रंथ भी शामिल किये जा सकते हैं। बहुवचनान्त पद-के साथ होनेसे वह उल्लेख तो सर्वार्थसिद्धिके **"इतरो विशेषो लोकानुयोगतो वेदितव्यः** (३–२) – इस उल्लेखसे भी अधिक स्पष्ट है, जिसमें विशेष कथन के लिये 'लोकानुयोग' को देखने की प्रेरणा की गई है, जोकि किसी ग्रंथ-विशेषका नाम नहीं किन्तु लोकविषयक ग्रंथसमूहका वाचक है। और इसलिये 'लोयविभागेसु' इस पदका जो अर्थ कई शताब्दियों पीछे के टीकाकार पद्मप्रभने **"लोक-विभागाभिधानपरमागमे"** ऐसा एक वचनान्त किया है वह ठीक नहीं है। उपलब्ध लोकविभाग-

* वह गाथा इस प्रकार है:—
"चउदहभेदा भणिदा तेरिच्छा सुरगणा चउब्भेदा। एदेसिं वित्थारं लोयविभागेसु णादव्वं" ॥ १७ ॥

में, जोकि सर्वनन्दी के प्राकृत 'लोकविभाग' का ही प्राय: अनुवादितरूप है, तिर्यंचोंके उन चौदह भेदों के विस्तार–कथनका कोई पता भी नहीं है, जिसका उल्लेख नियमसार की उक्त गाथा में किया गया है। और इससे उक्त कथन अथवा स्पष्टीकरण और भी ज्यादा पुष्ट हो जाता है।

(५) कुन्दकुन्द–कृत 'बोधपाहुड' के अन्त में एक गाथा (६१) निम्न प्रकार से पाई जाती है :—

सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं।
सो तह कहियं णायं सीसेण य भद्दबाहुस्स ॥

इसमें बतलाया है कि 'जिनेन्द्रने—भगवान् महावीरने—अर्थरूपसे जो कथन किया है वह भाषासूत्रों में शब्दविकार को प्राप्त हुआ है—अनेक प्रकार के शब्दों में गूंथा गया है—भद्रबाहु के मुझ शिष्यने उन भाषासूत्रों परसे उसको उसी रूपमें जाना है और (जानकर इस ग्रंथ में) कथन किया है।

इससे बोधपाहुड के कर्ता कुन्दकुन्दाचार्य भद्रबाहु के शिष्य मालूम होते हैं। और ये भद्रबाहु-श्रुतकेवलीसे भिन्न द्वितीय भद्रबाहु जानपड़ते हैं, जिन्हें प्राचीन ग्रंथकारों ने 'आचारांग' नामक प्रथम अंगके धारियों में तृतीय विद्वान् सूचित किया है, और जिनका समय जैनकालगणनाओं * के अनुसार वीर निर्वाण संवत् ६१२ अर्थात् विक्रम संवत् १४२ से पहले भले ही हो परन्तु पीछे का मालूम नहीं होता। और इसलिये कुन्दकुन्दका समय विक्रम की दूसरी और तीसरी शताब्दी तो हो सकता है परन्तु तीसरी शताब्दीसे बादका वह किसी तरह भी नहीं बनता।

यहांपर इतना और भी प्रकट करदेना उचित मालूम होता है कि 'बोधपाहुड' की उक्त गाथाके अनन्तर निम्न गाथा नं० (६२) और दी है, जिसमें श्रुतकेवली भद्रबाहु का जयघोष किया गया है:—

बारसअंगवियाणं चौदसपुव्वंगविपुलवित्थरणं।
सुयणाणिभद्दबाहू गमयगुरूभयव ओ जयऊ ॥

इस परसे यह कहा जासकता है कि पहली गाथा (नं० ६१) में जिन भद्रबाहु का उल्लेख है वे द्वितीय भद्रबाहु न होकर भद्रबाहु–श्रुतकेवली ही हैं और कुन्दकुन्दने अपनेको उनका जो शिष्य बतलाया है वह परम्परा शिष्यके रूप में उल्लेख है। परन्तु ऐसा नहीं है। पहली गाथा में वर्णित भद्रबाहु श्रुतकेवली मालूम नहीं होते; क्योंकि श्रुतकेवली भद्रबाहुके समयमें जिन कथित श्रुतमें ऐसा कोई खास विकार उपस्थित नहीं हुआ था, जिसे उक्त गाथा में "**सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं**" इन शब्दों द्वारा सूचित किया गया है—वह अविच्छिन्न चला आया था। परन्तु दूसरे भद्रबाहु के समयमें वह स्थिति नहीं रही थी–कितना ही श्रुतज्ञान लुप्त हो चुका था और जो अवशिष्ट था वह अनेक भाषासूत्रों में परिवर्तित होगया था। इससे ६१ वीं गाथाके भद्रबाहु भद्रबाहुद्वितीय ही जान पड़ते हैं। ६२ वीं गाथा में उसी नाम से प्रसिद्ध होने वाले प्रथम भद्रबाहुका अन्त्यमंगलके तौर पर जयघोष किया गया है और उन्हें साफ तौर से 'गमकगुरु' लिखा है। इस तरह दोनों गाथाओं-में दो अलग अलग भद्रबाहुओं का उल्लेख होना अधिक युक्तियुक्त और बुद्धिगम्य जान पड़ता है। अस्तु।

ऊपरके इस समग्र अनुसंधान एवं स्पष्टीकरणसे, मैं समझता हूँ, विद्वानोंको इस विषयमें कोई सन्देह नहीं रहेगा कि श्री कुन्दकुन्दाचार्य यतिवृषभसे पूर्ववर्ती ही नहीं, किन्तु कई शताब्दी पहलेके विद्वान् हैं। जिन्हें कुछ आपत्ति हो वे सप्रमाण लिखनेकी कृपा करें, जिससे यह विषय और भी अधिक स्पष्ट हो जाय।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा, ता० ३-८-१९३८

---

* जैनकालगणनाओंका विशेष जाननेके लिये देखो, 'स्वामी समन्तभद्र' (इतिहास) का 'समय-निर्णय' प्रकरण तथा 'भगवान् महावीर और उनका समय' नामक पुस्तक पृष्ठ ३१ से।

आत्मा का बोध

(ले०—श्री यशपाल बी० ए०, एल० एल० बी०)

कुण्डलपुरके यशस्वी राजा सिद्धार्थकी मृत्युके कई वर्ष बादकी बात है। युवराज वर्द्धमान गृहस्थ-आश्रम पारकर राज-पाटको छोड़ वनमें चलेगये थे और कुण्डलपुरके सिंहासनपर उनका ज्येष्ठ भ्राता नंदिवर्द्धन आसीन होगया था। युवराज के नगर छोड़देनेपर अभी चारोंओर अशान्ति फैली हुई थी।

उन्हीं दिनों कनखल तापसाश्रममें बड़ा आतंक छागया। वर्षोंसे निवास करनेवाले तपस्वी आश्रम छोड़-छोड़कर अन्यत्र बसने जाने लगे। भला कौन उस आश्रमके समीप रहनेवाले विषधरकी मात्र एक दृष्टि से भस्म होजाना चाहता? तपस्वी सामान उठाकर चलते जाते थे और चर्चा करते जाते थे।

कोई कहता—भैया, जंगलोंमें रहते-रहते ही मेरी उमर बीती है; लेकिन ऐसा अजगर मैंने कभी नहीं देखा।

दूसरा कहता—हाय, साँप है कि आफ़त है। जिसकी ओर वह एकबार दृष्टि डालदेता है वह वहीं भस्म होजाता है। क्या मजाल कि एक साँस भी तो लेले।

तीसरा कहता—सच कहता हूं, मेरी आँखों देखी बात है। वहाँ (उँगली से संकेत करके) वह तपस्वी बैठता था न? बिचारा छिनभरमें भस्म होगया। उस भुजङ्गीके आगे किसीकी नहीं बसियाती।

और पगडण्डीके सहारे विलाप करती हुई स्त्री मृत-प्राय होचली थी। उसका चार-पाँच बरसका अबोध बालक उसकी छातीपर चढ़ा उसके रूखे स्तनका पान कर रहा था और दूध न पीकर अनायासही चीख मारकर रो उठता था। स्त्री बेसुध-सी पड़ी थी। रो रही है, बिलख रही है,

इसका भी उसे ध्यान नहीं था। अचेतनावस्थामें ही वह देखरही थी कि कैसे वह जरा-सी देरमें सधवा से विधवा बनगई। उसी अजगरने तो उसके पतिको राख कर दिया। बेचारे वे लोग आश्रम से दूर अपनी छोटी-सी कुटियामें आनन्द का जीवन व्यतीत कर रहे थे; लेकिन अभागेसे वह सुख न देखा गया।

असल बात यह थी कि उस तापसाश्रमके पास एक सर्प इनदिनों आ बसा था। उसका विष इतना तीव्र था कि जिसकी ओर वह एकबार देख भी देता, वही जलकर राख होजाता। आश्रमके कई तपस्वी उसके शिकार बन गए। जो बचे उन्होंने उचित समझा कि आश्रम छोड़दें और किसी दूसरे स्थानपर जा बसें। वे आश्रम छोड़-छोड़कर जाने लगे और उस रास्तेसे पथिकोंने भी आना-जाना छोड़ दिया। थोड़े दिनोंमें ही वहाँपर भयंकरता व्यापने लगी।

× × ×

संध्या होने को थी। वर्द्धमान बनमें चक्कर लगाते लगाते उसी मार्गपर आगए जिसपर कुछ आगे चलकर चंडकोसिया (सर्पका नाम था) की बिवर थी। लोगोंने उन्हें उस सांपका विस्तृत हाल सुनाया और आग्रह किया कि वह उस मार्गपर आगे न बढ़ें; लेकिन वर्द्धमानने एक न सुनी। वह उसी मार्गपर चलते गए, चलते गए। उन्होंने उस सर्पको बोध देनेका विचार करलिया था। इसीसे वह अपने विचारपर दृढ़ रहे, विचलित न हुए।

साँपकी बिवर आगई और वर्द्धमान उसीके ऊपर ध्यानावस्थ होगए।

लोग डरके मारे दूर हट गए। किसीको साहस न हुआ कि वहाँ पर ठहरकर अपने इष्ट-देवकी उस विष-धरसे रक्षा करता; लेकिन वर्द्धमान तनिक भी भयभीत न हुए और शान्ति-पूर्वक ध्यानमें लगे ही रहे।

कुछ देरके बाद सर्प अपने बिलसे निकला, और अपनी बिवर पर एक आदमीको बैठा देख-कर क्रोधसे लाल हो उठा। उसने कई बार अपनी जीभ मुँहसे भीतर-बाहर की और विषभरी आँखोंसे उस मूर्ति-वत् बैठे व्यक्ति की ओर देखा; लेकिन उस असाधारण मानवका कुछ भी न बिगड़ा।

सर्पने देखा उसकी वह दृष्टि जिसके आगे कभी कोई भस्म होनेसे नहीं बचा, उस आदमीपर अपना प्रभाव डालनेमें असमर्थ प्रमाणित हुई है तो उसका क्रोध और बढ़गया। आँखोंसे चिनगारियाँ बरसने लगीं और उसने कई बार अपना फन धरतीमें मारा, जैसे उसके भीतर भरा गुस्सा उससे सहा नहीं जारहा है।

वह आगे बढ़ा और जोरसे उसने वर्द्धमानके पैर पर अपना मुँह मार दिया। क्षणभर रुका, मानो देखना चाहता था कि उसका शिकार अब भस्म हुआ, अब भस्म हुआ। लेकिन वर्द्धमान ज्यों के त्यों ध्यानमें लगे रहे जैसे सर्पकी शक्ति और कोपका उन्हें लेशमात्र भी बोध नहीं है।

सर्प अपनी असमर्थतापर खीझ उठा। उसने झुंझलाकर कई बार वर्द्धमानके पैर पर मुँह मारे; लेकिन जरा-सा रुधिर निकालनेके अतिरिक्त वह उन्हें कोई कष्ट न पहुंचा सका।

इतने में वर्द्धमान की समाधि टूटी। उन्होंने देखा सामने एक सर्प क्रोधसे लाल अपनी विवशता पर खीजता हुआ खड़ा है।

उन्होंने उसे संकेत कर कहा—क्रोधित क्यों होते हो, ओ सर्पदेव? आओ, लो काट लो न?

चंडकोसिया चुप! वह क्या कहे? क्या यह उसकी पराजय नहीं है? उसने एक निरपराधी व्यक्ति को कष्ट पहुँचाने का प्रयत्न किया और वही व्यक्ति शान्तिपूर्वक उसके साथ भाई-चारे का व्यवहार कर रहा है! जरा भी रोष उसे नहीं है।

वर्द्धमानने फिर कहा—ओ, नागराज! किस द्विविधा में हो? लो, मैं तुम्हारे सामने हूँ। बचने का प्रयत्न भी नहीं कर रहा हूँ। जहाँ चाहो काट सकते हो।

चंडकोसिया धरती फटजाय तो उसमें समा जाय। वह आज कितना क्षुद्र है!? उसकी शक्ति उस बली, वज्रऋषभ नाराच संहननके धारकके सामने कितनी सीमित है?

वर्द्धमान ने कुछ ठहर कर कहा—भैया तुम क्या सोच रहे हो? मैं तैयार हूँ। तुम मुँह मार सकते हो। एक नहीं, जितने चाहो।

चंडकोसिया ने लज्जा से शिर झुका लिया। बोला, "भगवन, मुझे क्षमा करो। मैं अपराधी हूँ।..."

वर्द्धमानने बीचमें ही रोककर कहा, "हैं—हैं, ऐसा न कहो, नागदेव! तुम शक्तिमान हो! तुमने अगणित व्यक्तियोंको अपने तेज-बलसे भस्म करदिया है।"

चंडकोसिया अब क्या करे? क्या मर जाए? उसने कहा, "भगवान् मुझे, दण्ड दीजिये। मैं क्षमा करने योग्य नहीं हूँ।"

और वह वर्द्धमानके चरनोंमें सिर डालकर रोने लगा।

वर्द्धमानने उसे उठाया। बोले, "बन्धु, यह दीनता कैसी? उठो सीखो कि भविष्यमें कभी किसीको कष्ट न दोगे!"

चंडकोसिया ज्यों का त्यों पड़ा रहा।

वर्द्धमानने कहा, "उठो, उठो, अपने आत्म-स्वरूपको पहचानो, मनमें दया रक्खो और मनसे वचनसे तथा कर्मसे जहाँतक होसके कभी किसी को दुख मत पहुंचाओ"।

चंडकोसिया को जातिस्मरण हो आया उसने वर्द्धमानकी वाणीसे तृप्त होकर कहा, "भगवन ......"

और सिर झुका-झुकाकर उसने अनेकों बार वर्द्धमानके सदुपदेशके प्रति कृतज्ञता प्रगट की, जैसे प्रदर्शित करना चाहता हो कि हे भगवान्, तुमने मुझे आत्माका बोध कराया। मैं तो मूर्ख था, निरा अज्ञानी!

वर्द्धमानने अशीर्वाद दिया और वह अपनी विवरमें चला गया।

उसदिनसे फिर कभी किसीने चंडकोसिया को हिंसक नहीं पाया। विवरसे निकलता था और मनुष्योंके साथ भाई-जैसा व्यवहार करता था।

थोड़े ही दिनोंमें उस उजड़े स्थानपर फिर तपस्वी आ बसे और तपस्या करने लगे*।

* इस कहानी की मूल कथावस्तु श्वेताम्बर-ग्रन्थाश्रित है; परन्तु उसे भी यहाँ कुछ परिवर्तित करके रक्खा गया है।

—सम्पादक

उपरम्भा

[लेखक—श्री भगवत्स्वरूप जैन 'भगवत्']

मर्यादा-पुरुषोत्तम-रामकी—प्राणेश्वरी—सीता-का रावणने हरण किया। इस कृत्यने संसार-की नज़रों में उसे कितना गिराया, यह आप अच्छी तरह जानते हैं। लेकिन क्या आप यह भी जानते हैं कि वह कितना महान था? उसकी जीवन-पुस्तक में केवल एकही पृष्ठ है।···जो दूषित है। वरन् सारी पुस्तक प्यारकी वस्तु है।···इसे पढ़िये इसमें चित्रका दूसरा पहलू है। जो ·········!'

[१]

अन्तःपुरमें—

'·········और कुछ देर तक तो 'विचित्र-माला' स्वामिनीके हृदय-रहस्यसे अनिभिज्ञ ही रही। स्पष्ट-भाषा और विस्तृत-भूमिका कही जानेपर भी उसकी समझमें कुछ न आया।

वह चतुर थी। दासित्व का अनुभव उसका बहुत पुराना था। स्वामिनीका 'रुख़' किधर है, यह बात वह अविलम्ब पहिचान लेती थी। किन्तु आज, जैसे उसकी समग्र चतुरतापर तुषार-पात हो गया। यह पहला मौक़ा था, जब वह इस तरह परास्त हुई। शायद इसलिए कि उसकी स्वामिनोने आज जो कार्य सौंपा, जो प्रस्ताव सामने रखा, वह सर्वथा नवीन, सर्वथा अनूठा और सर्वथा आश्चर्यप्रद था। जिसकी कल्पना तक उसके हृदय-में मौजूद न थी।

उसने अनुभव किया---आज उसकी स्वामिनीकी मनोवृत्ति में आमूल परिवर्तन है। स्वभावतः मुख-मण्डलपर विराजने वाला तेज, दर्प, विलीन हो चुका है। वाणी की प्रखरतामें याचक-कण्ठ की कोमलता छिप गई है। उसके व्यवहारमें आज शासकता नहीं, दलित-प्रजाकी क्षीण-पुकार अव-शिष्ट है। लेकिन यह सब है—क्यों?—यह वह न समझ सकी।

उस सुसज्जित-भव्य-भवन में केवल दो ही तो हैं। फिर उसकी स्वामिनी हृदयस्थ-बातको क्यों इतना संकोचके साथ बयान करना चाहती है? क्या वास्तवमें कोई गूढ़-रहस्य है?···और वह रहस्य कहीं प्रेम-पथका तो नहीं?

नारी-हृदयका अन्वेषण-कार्य प्रारम्भ हुआ। वह विचारने लगी 'इतने बड़े प्रतापशाली महाराज-की पटरानी क्या किसीका हृदयमें आव्हान कर सकती है? छिः पर-पुरुष।...कोरी विडम्बना!!'

पर उसी समय, उसकी एक अन्तरशक्तिने इसकी प्रतिद्वन्दता स्वीकारकी। '·······हाँ, हृदय, हृदय है। उसका तक़ाज़ा ठुकराया नहीं जाता।

वह सब-कुछ कर सकता है। उसकी शक्ति सामर्थ्य सुदूर-सीमावर्तिनी है।'

मनके संघर्षको दबाये, वह स्वामिनीकी तरफ़ देखती-भर रही। इस आशासे कि वे कुछ स्पष्ट कहें। और तभी—

स्वामिनीके युगल-अधरोंमें स्पन्दन हुआ। शुभ्र-दन्त-पंक्तिको सीमित-कारावासके बाहर क्या है?—यह देखनेकी इजाज़त मिली, अरुण, कोमल कपोलोंपर लालिमाकी एक रेखा खिंची। पश्चात्—नव-परिणीता-पत्नीकी भाँति सलज्ज—वाणी प्रस्फुटित हुई!—

'तू मेरी प्यारी सहेली है, तुझसे मेरा क्या छिपा है। कुछ छिपाया भी तो नहीं जासकता। भेदकी गुप्त-बात तुझसे न कहूँ तो, कहूँ फिर किससे...?—सखीको छोड़, ऐसा फिर कौन?... मेरे दुख-सुखकी बात.........।'—रानी साहिबाने बातको अधूरा ही रहने दिया। बात कुछ बन ही न पड़ी इसलिये, या देखें सखीका क्या आइडिया है—अभिमत है, यह जाननेके लिए।

सखीको महारानीसे कुछ प्रेम था, सिर्फ़ वेतन या दासित्व तक की ही मर्यादा न थी।...समस्याका कुछ आभास मिलते ही उसने अपने हृदय उद्गारोंको बाहर निकाला—आप ठीक कह रही हैं, महारानी, कोई भी बात आपको मुझसे न छिपाना चाहिये। और मैं शक्ति-साध्य कार्य भी यदि आपके लिये सम्पन्न न कर सकी तो—मेरा जीवन धिक्कार। आप विश्वास कीजिए—मुझसे कही हुई बात आपके लिये सुखप्रद हो सकती है। दुखकर कदापि नहीं। आपकी अभिलाषाको मुझ तक आना चाहिये, बगैर संकोच, झिझकके! इसके बाद उसे पूर्णताका रूप देना—मेरा काम! मैं उसे प्राणों की बाज़ी लगाकर भी पूरा करनेकी चेष्टा करूँगी।'

'...लेकिन सखी! बात इतनी घृणित है, इतनी पाप-पूर्ण है, जो मुँहसे निकाले नहीं निकलती। मैं जानती हूँ—ऐसा प्रस्ताव मुझे मुँहपर भी न लाना चाहिए। मगर लाचारी है, हृदय समझाये नहीं समझता। एक ऐसा नशा सवार है, जो—या तो मिलन या प्राण-विसर्जन—पर तुला बैठा है। मैं उसे ठुकरा नहीं सकती। कलंक लग जायेगा, इसका मुझे भय नहीं। लोग क्या कहेंगे, इसकी मुझे चिन्ता नहीं। मैं...तो बस, अपने हृदयके ईश्वरको चाहतीहूँ।......'—महारानीके विव्हल-कण्ठने प्रगट किया। शायद और भी कुछ प्रगट होता, कि विचित्रमालाने बीच ही में टोका—'...परन्तु वह ईश्वर है कौन?'

'लंकेश्वर-महाराज-रावण!'—अधमुँदी-आँखोंमें स्वर्ग-सुखका आव्हान करती-सी, महारानी कहने लगी—'शायद तू नहीं जानती! मैं उस पुरुषोत्तमपर, आजसे नहीं विवाहित होनेके पूर्वसे ही, प्रेम रखती हुँ, मोहित हूँ। तभीसे उसके गुणोंकी, रूपकी, और वीरताकी, हृदयमें पूजा करती आ रही हूँ। लेकिन कोई उचित, उपयुक्त अवसर न मिलनेसे चुप थी, परन्तु—अब...आज वह शुभ दिवस सामने है, जब मैं उसतक अपनी इच्छा पहुँचा सकूं। उसके दर्शनकर, चरणोंमें स्थान पाकर, अपनी अन्तराग्नि शान्त कर सकूं!! वह आज समीप ही पधारे हैं। हमारे देशपर विजय-पताका फहराना उनका ध्येय है।...काश! उन्हें मालूम होता कि देशकी महारानीके हृदयपर वह कबसे शासन कर रहे हैं!'

'तो···?'—विचित्रमालाने स्वयं भी कुछ कहना चाहा। पर महारानीने मौक़ा ही न दिया! वह बोलीं—'मैं कुछ सुनना नहीं चाहती—विचित्र-माला! बस, मुझे तो कहनाही है, सिर्फ़ कहना-भर!—और शायद अन्तिम! ···अगर तुम मेरा जीवन चाहती हो, तो मुझे आज उनसे मिलादो, नहीं, मैं आत्मघातकर प्यारकी आराधना-वेदीपर बलिदान होजाऊँगी।'

'इतनी कठिनता न अपनाओ—स्वामिनी, मुझपर विश्वास रखो, मैं अभी उनसे जाकर निवेदनकर, तुम्हारी अभिलाषा पूर्ण कराऊँगी। मेरा धर्म तुम्हारी आज्ञा पालनमें है, इसे मैं खूब जानती हूँ। धैर्य रखो—मैं इस कार्यमें जो बन पड़ेगा, सब करूँगी।'

महारानी गद्‌गद् होगईं।

दूसरे ही क्षण विचित्रमाला महारानीकी सुदीर्घ, कोमल, बाहु-पाशमें आबद्ध थी।

× × ×

[२]

'कौन? महाराज नलकुँवरकी पटरानी उप-रम्भाकी दासी···?···'

'हाँ, महाराज!'

'क्या चाहती है?—इतनी रात बीते यहाँ आनेका कारण?

'ज्ञात नहीं! वह आपसे एकान्तमें मिलनेकी इच्छा प्रगट करती है! बतलाती है, बात अत्यन्त गोपनीय है, प्रगट नहीं की जासकती।'

···लंकेश्वरने एक भेद-भरी दृष्टि विभीषण पर डाली, वे बोले—साक्षात् करनेमें कोई हानि नहीं! सम्भव है, गढ़विजयकी कोई युक्ति बत-लाये।'

'अच्छा भेजदो, पिछले खेमेमें।'

'जो आज्ञा!'—प्रहरी चला गया।

लंकेश एकान्त-खेमेमें उसकी प्रतीक्षा करने लगे। विभीषण बराबरके शिविरमें विराजे रहे।

उसी समय, श्याम-वस्त्रोंसे सुसज्जित विचित्र मालाने प्रवेश किया!

× × × ×

'···उनका नाम है—उपरम्भा! हैं तो नारी, परन्तु किन्नरी भी उनके सौन्दर्यका लोहा मानती है। वह पृथ्वीकी रम्भा हैं। चाँद-सा बदन, कोयल-सा स्वर, मराल-सी गति और सौन्दर्यकी साक्षात प्रतिमूर्ति! यौवनका विराम-सदन! महा-राज नल-कुंवर, जिनकी यशस्विता सर्वत्र व्याप्त है, उनकी प्राण-प्यारी पटरानी हैं—वह!'—दासीने अपनी सफलताकी भूमिका बाँधी! लेकिन दशाननने मुँहपर अरुचिका भाव लाते हुए कहा—

'अच्छा। अब मतलबकी बात कहो।'

दासी चुप। '···क्या ये बे मतलबकी बातें हैं?···व्यर्थ हैं···?'—वह फिर कहने लगी—'मैं महारानी उपरम्भाकी अन्तरंग-सखी हूँ, मुझे उन्हींने आपके पास भेजा है।'

'किसलिए?'—गंभीर प्रश्न हुआ।

इसलिए कि वह आपपर मोहित हैं। आपकी कृपा-काँक्षिणी हैं। संयोग-याचना करती हैं। वह

बहुत-दिनसे आपके नामकी माला जपती आरही हैं। अब उनका जीवन केवल आपके कृपा-दान परही निर्भर है। उनका हृदयांचल सिर्फ़ एक वस्तु चाहता है—मिलन या मृत्यु ।'—विचित्र-मालाने स-शीघ्र स्वामिनीका सन्देश सामने रख दिया।

उधर—कठिनता-पूर्वक महाराज रावण, मर्यादा और उज्वल चरित्रके उपासक—उपर्युक्त-शब्दोंको सुन सके। जैसेही दासीका मुँह बन्द हुआ कि—दोनों कानोंपर हाथ रख, खेद-भरे स्वरमें बोले—'उफ़्! उफ़्!! यह मैं क्या सुन रहा हूँ। यह जघन्य-पाप॥ भद्रे! अपनी स्वामिनीसे कहना कि मैं पर-नारी को अंग-दान देनेके लिये दरिद्री हूँ। एक-दम असमर्थ हूँ। मुझसे ·········।'

दासी अवाक्!

यह मनुष्य है या देवता? ··· गृहस्थ है या वासना-विजयी-साधु? दुर्लभ-प्राप्त प्रेमीकी यह अवहेलना?—यह निरादर?

उसी समय बराबरके शिबिरका पट-हिला। महाराज रावण उधर चले। सामने विभीषण। वह बोले—'भूलते हो-भाई! यह राजनीति है। केवल सत्यसे यहाँ काम नहीं चलता। ··· इसे ऐसा कोरा जवाब न दो। अवश्य ही उपरम्भा वश होकर गढ़-विजयकी कोई गुप्त-युक्ति बतलाएगी। क्या तुम्हें मालूम नहीं, नलकूँवरने कैसा दुर्भेद्य, मायामयी प्रासाद निर्माण किया है? जिसके समीप जाना तक दुरूह।'

रावण लौटे। मुखपर प्रसन्नता थी। बोले—'मैं ऐसा जघन्य-पाप हर्गिज़ न करता। लेकिन जब वह प्राणान्त तकके लिए उद्यत है, तो ··· उसकी प्राण-रक्षाके निमित्त मुझे सब कुछ करना होगा। जाओ उसे शीघ्र ही मेरे समीप ले आओ। मैं उसकी प्रतीक्षामें हूँ।'

दासीके हर्षका क्या ठिकाना? वह वाणीसे, आकृतिसे, सारे शरीरसे अभिवादन करती, खेमेसे बाहर निकली। उसके हृदयमें सफल-चेष्टा-की खुशी लहरें ले रही थी।

[३]

धन्य! उस यौवन और सौन्दर्यकी मूर्तिमान् प्रतिमा—उपरम्भा—को देखकर भी रावणका हृदय विचलित न हुआ। वह अटल-भावसे उसकी ओर देखता रहा।

उपरम्भाकी वेश-भूषा आज नित्यकी अपेक्षा कहीं, बहुमूल्य, आकर्षक और नेत्रप्रिय थी। उसने आज लगनके साथ शृंगार किया था। भूषणोंके आधिक्यके कारण वह भारान्वित थी अवश्य। पर उसका पैर आज फूल-सा पड़ता था। मनमें खुशी जो थी, फूल जो थी। ···

वह आई। उसने अभिवादन किया। रावणने एक मधुर-मुस्कानमें उसका प्रत्युत्तर दिया। संकेत प्राप्त कर, योग्य-स्थानपर वह बैठ गई।

वह मधु-निशीथ! चतुर्दिक नीरवताका साम्राज्य। बाहर ज्योत्स्ना रजत-राशि बखेर रही थी। मलय-समीर मन्थर-गतिसे बिहार कर रहाथा।

—और उसी समय, उस भव्य खेमेमें उप-रम्भाने अपनी मधुर-ध्वनि-द्वारा निस्तब्धता भंग की।—

'प्राणेश्वर! मेरी अभिलाषा आप तक पहुँच

चुकी है। और आपने उसका सन्मान भी किया है। अब इस वियोगाग्निको अंग-दान द्वारा शान्ति दीजिए। विलम्ब असहनीय बन रहा है—प्रभु! आओ···।'

तभी उसने बढ़कर महाराज रावणके कण्ठमें अपनी बाहु-पाश डालनी चाही। रावणने देखा—उपरम्भाके हृदयमें वासना आँधी-प्रलयका सन्देश सुना देनेके लिए व्यग्र होरही है। आँखें उन्मादसे ओत-प्रोत होरही हैं। वाणीमें विव्हलता समा चुकी है। और वह एक दम पागल है। उसे अपनी मर्यादाका ध्यान नहीं।

'भद्रे! तुम्हारी इच्छा मुझसे छिपी नहीं। मेरी इच्छा भी तुम्हारे अनुकूल ही है। परन्तु थोड़ा अन्तर है। मैं चाहता हूँ—तुम्हारा समागम स्वाधीनतापूर्वक राज-प्रासादके भीतर ही हो। यों जंगलोंमें पशुओंकी तरह क्या आनन्द?—कहो, तुम क्या सम्मति रखती हो?···'—रावणने उसके आलिंगन–अवसरको व्यर्थ करते हुए, जरा मिठासपूर्वक पूछा।

'··· जैसी तुम्हारी इच्छा हो—प्यारे! तुम्हारी खुशीमें ही मेरा आनन्द है, सुख है!!······'

—उपरम्भाके उत्तेजित-मनने व्यक्त किया।

'तो उस मायामय-गढ़-ध्वंसका उपाय···?'—बातको बहुत साधारण ढंगकी बनाते हुए, रावणने प्रश्न किया।

'उपाय···?—जब तुमसे मेरी इच्छा छिपी न रह सकी, तो उपाय कैसे रह सकता है। सुनो गढ़-ध्वंशका उपाय यह है कि············'

—और उस मुग्धाने बग़ैर इसकी चिन्ता किये कि उसके पतिका कितना पराभव होगा, क्या होगा; गढ़-ध्वंस-कारिणी-विद्या रावणको दे ही दी।

ओफ़्! नारीके विचलित-हृदय!

× × × ×

[४]

दूसरे ही दिन—

वह दुर्भेद्य-नगर महाराज-रावणके आधीन था। सारी प्रजाके मुँहपर रावणके नामका जयघोष था। वह भयंकर मायापूर्ण-दुर्ग विलीन हो चुका था। कलतक सिंहासनपर विराजने वाले महाराज नलकुँवर आज बन्दीके रूपमें—रावणके प्रचण्ड-तेजके आगे खड़े हुएथे। शेष सब ज्योंका त्यों था।···

उपरम्भा अपने पतिके समीप खड़ी हुई थी। हृदयमें द्वन्द चल रहा था—पता नहीं कैसा···? ···सब दरबारी उपस्थित थे।

'सुनो···।'—रावणने उपरम्भाको संकेत करते हुए कहा—'तुम स्वयं जानती हो, पर-पुरुष-संगम कितना जघन्य-पाप है। और इसके अतिरिक्त—तुमने मुझे विद्या-दान दिया है, अतः तुम मेरी 'गुरानी' हो, पूज्य हो। मैं तुम्हारे आनन्द, सुख और सम्भोगके लिए महाराज नल-कुँवरको बन्धन-मुक्त कर तुम्हें देरहा हूँ। जाओ, उनके साथ आनन्द करो। पुरुष-पुरुषमें कोई भेद नहीं, मुझे क्षमा करो।···'

उपरम्भाका हृदय आत्म-ग्लानिसे भर गया। उसने समझा—रावण कितना महान है! कितना उच्च है! वह पुरुष नहीं, पुरुषोत्तम है! वन्दनीय है!!·····
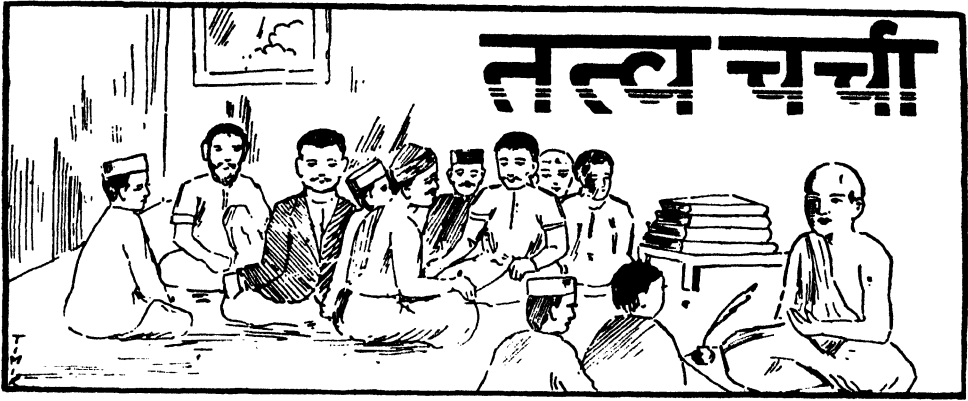
अनेकान्तवाद

[लेखक—पं० मुनि श्रीचौथमलजी]

> इस लेखके लेखक मुनि श्रीचौथमलजी श्वे० स्थानकवासी जैनसमाजके एक प्रधान साक्षर साधु और प्रसिद्ध वक्ता हैं। आपका यह लेख महत्वपूर्ण है और उसपरसे मालूम होता है कि आपने अनेकान्त-तत्त्वका अच्छा मनन और परिशीलन किया है; तभी आप विषयको इतने सरल ढंगसे समझाकर लिख सके हैं। लेख परसे पाठकोंको अनेकान्त-तत्त्वके समझनेमें बहुत कुछ आसानी होगी। आशा है सेवाधर्मके लिये दीक्षित मुनिजीके लेख इसी तरह बराबर 'अनेकान्त' के पाठकोंकी सेवा करते रहेंगे।
>
> —सम्पादक

जैन-धर्म एवं जैनदर्शनमें जिन बहुमूल्य सिद्धान्तोंका प्ररूपण किया गया है उनमें 'अनेकान्त' मुख्य है। अनेकान्तवादकी महत्ता, उपयोगिता और वास्तविकताको देखते हुए, उसे जैन-साहित्यमें जो स्थान प्राप्तहुआ है वह सर्वथा उचित ही जान पड़ता है। अनेकान्तवाद वस्तुत: जैन-दर्शनका प्राण है। यद्यपि इसे अन्यान्य दर्शनकारोंने भी कहीं-कहीं अपनाया है पर अधिकांशमें उन्होंने इसकी उपेक्षा ही की है। इस उपेक्षाका एक फल तो यह हुआ कि जो 'अनेकान्त' सर्व साधारणका सिद्धान्त बन जाना चाहिए था वह सिर्फ़ जैन-दर्शन तक ही सीमित रह गया और उसेभी साम्प्रदायिकताका रूप धारण करना पड़ा। दूसरे, दर्शनशास्त्रोंके परस्पर विरोधी दृष्टिकोण, जो जनताको भ्रममें डालते हैं, एक-दूसरेसे पृथक् ही बने रहे—उनका समन्वय न हो सका। दर्शनशास्त्रोंके इस पृथक्त्वने साम्प्रदायिकता खड़ी करके जनतामें धार्मिक असहिष्णुताको उत्पन्न किया सो तो किया ही, पर उसने अखण्ड सत्यका प्रकाशन भी न होने दिया।

कुछ दार्शनिक विद्वानोंने तो अनेकान्तवादके विरोधका भी प्रयत्न किया है; पर उन्हें असफल होना ही चाहिए था और वैसा हुआ भी, यह हम नहीं आजके जैनेतर निष्पक्ष विद्वान भी स्वीकार करते हैं। कुछ लोगोंने अनेकान्तवादको संशयवाद कहकर भी अपनी अनभिज्ञता प्रदर्शित की है, पर उसके विवेचनकी यहाँ आवश्यकता नहीं है।

हम संसारमें जो भी दृश्य पदार्थ देखते हैं अथवा आत्मा आदि जो साधारणतया अदृश्य पदार्थ हैं, उन सबके अविकल ज्ञानकी कुंजी अनेकान्तवाद है। अनेकान्तवादका आश्रय लिए बिना हम किसी भी वस्तुके परिपूर्ण स्वरूपसे अवगत नहीं होसकते। अतएव अन्य शब्दोंमें यह कहा जासकता है कि 'अनेकान्त' वह सिद्ध यंत्र है जिसके द्वारा अखण्ड सत्यका निर्माण होता है और जिसके बिना हम कदापि पूर्णतासे परिचित नहीं होसकते।

प्रत्येक पदार्थ अपरिमित शक्तियों–गुणों–अंशोंका एक अखण्ड पिण्ड है। पदार्थकी वे शक्तियाँ ऐसी विचित्र हैं कि एक साथ मित्रभावसे रहती हैं, फिर भी एक दूसरेसे विरोधी-सी जान पड़ती हैं, उन विरोधी प्रतीत होने वाली शक्तियों का समन्वय करने, उन्हें यथायोग्य रूपसे वस्तुमें स्थापित करनेकी कला 'अनेकान्तवाद' है। जैसे अन्यान्य कलाओंके लिए कुछ उपादान अपेक्षित हैं उसी प्रकार अनेकान्तकलाके लिए भी उपादानोंकी आवश्यकता है। उन उपादानोंका जैन–दर्शनमें विस्तृत विवेचन किया गया है। सप्तभंगीवाद और नयवाद उनमें मुख्य हैं। नयवाद वस्तुमें विभिन्न धर्मोंका आयोजन करता है और सप्तभंगीवाद एक-एक धर्मका विश्लेषण करता है। कुछ उदाहरणों द्वारा नीचे इसी विषयको स्पष्ट किया जाता है:—

बौद्ध दार्शनिक प्रत्येक पदार्थको क्षणभंगुर मानते हैं। उनके मतसे पदार्थ क्षण–क्षण नष्ट होता जाता है और अव्यवहित दूसरे क्षणमें ज्यों का त्यों नवीन पदार्थ हो जाता है। इसके विरुद्ध कपिलका सांख्य दर्शन कूटस्थ नित्यवादको अंगीकार करता है। इसके मतसे सत्का कभी विनाश नहीं होता और असत्का उत्पाद नहीं होता। अतएव कोई भी पदार्थ न तो कभी नष्ट होता है, न उत्पन्न होता है। इसी प्रकार वेदान्त दर्शनके अनुसार इस विशाल विश्वमें वस्तुओंकी जो विविधता दृष्टिगोचर हो रही है सो भ्रम-मात्र है। वस्तुतः परम–ब्रह्मके अतिरिक्त कोई दूसरी सत्ता नहीं है। वस्तुओंकी विविधता सत्ता–रूप ब्रह्मके ही विविध रूपान्तर हैं। इस प्रकार वेदान्त अद्वैतवादको अंगीकार करता है। इसके विरुद्ध अनेक दार्शनिक परमात्मा, जीवात्मा और जड़की पृथक् पृथक् सत्ता स्वीकार करते हैं और कोई-कोई जीव और जड़का द्वैत मानकर शेष समस्त पदार्थोंका इन्हींमें अन्तर्भाव करते हैं।

जब कोई भद्र जिज्ञासु दर्शन-शास्त्रोंकी इस विवेचनाका अध्ययन करता है तो वह बड़े असमंजस में पड़जाता है। वह सोचने लगता है कि मैं अपनेको क्षणिक समझूं या कूटस्थ नित्य मानलूँ? मैं अपने आपको परम ब्रह्मस्वरूप मान-

कर कृतार्थ होऊँ या उससे भिन्न जीवात्मा समझूँ ? यदि सचमुच मैं क्षणिक हूँ—उत्तरकालीन क्षणमें ही यदि मेरा समूल विध्वंस होने जारहा है तो फिर धर्मशास्त्रोंमें उपदिष्ट अनेकानेक अनुष्ठानोंका क्या प्रयोजन है ? क्षणभंगुर आत्मा उत्पन्न होते ही नष्ट होजाता है तो चारित्र आदि का अनुष्ठान कौन किसके लिये करेगा ? यदि मैं क्षणभंगुर न होकर कूटस्थ नित्य हूँ—मुझमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन कदापि होना संभव नहीं है, तो अनन्तकाल तक मैं वर्त्तमान कालीन अवस्थामें ही रहूँगा। फिर संयम और तपश्चरण के संकटों में पड़ने की क्या आवश्यकता है ?

और यदि वेदान्त-दर्शनकी प्ररूपणाके अनुसार प्रत्येक पदार्थ परमब्रह्म ही हैं तबतो हमें किसी प्रकारकी साधना अपेक्षित ही नहीं है। ब्रह्मसे उच्चतर पद तो कोई दूसरा है नहीं जिसकी प्राप्तिके लिए उद्योग किया जाय ? यदि परमात्मा मूलतः जीवात्मासे भिन्न है तो जीवात्मा कभी परमात्मपदका अधिकारी न हो सकेगा। फिर परमात्मपद प्राप्त करनेके लिए प्रयास करना निरर्थक है।

इस प्रकार विरोधी विचारोंके कारण किसी भी जिज्ञासुमुमुक्षुका गड़बड़में पड़ जाना स्वाभाविक है। ऐसे समय जब कोई व्यक्ति निराश होजाता है तो अनेकान्तवाद उसका पथ-प्रदर्शन करके उसे उत्साह प्रदान करता है। वह इन विरोधोंका मथन करके उलझी हुई समस्याओंको सुलझा देता है। अनेकान्तवाद विरोधी प्रतीत होनेवाले क्षणिकवाद और नित्यवादको विभिन्न दृष्टिबिन्दुओंसे अविरोधी सिद्ध करके उनका साहचर्य सिद्ध करता है।

अनेकान्तवाद बतलाता है कि वस्तु द्रव्य-रूप भी है पर्यायरूप भी। मनुष्य, सिर्फ़ मनुष्य ही नहीं है बल्कि वह जीव भी है और जीव सिर्फ़ जीवही नहीं वरन् मनुष्य, पशु आदि पर्याय-रूप भी है। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु द्रव्य भी है और पर्यायभी है। यद्यपि द्रव्य और पर्यायका पृथक्करण नहीं किया जासकता फिरभी उनकी भिन्नताका अनुभव किया जासकता है। यदि कोई कागजके एक टुकड़ेको अग्निमें जलादे और इस प्रकार उसकी अवस्था–पर्यायको परिवर्तित करदे तो ऐसा करके वह उसके जड़त्वको कदापि नहीं बदल सकता। इससे यह स्पष्ट है कि पर्यायोंका उलटफेर तो होता है परन्तु द्रव्य सदैव एकसा बना रहता है। पर्यायोंके परिवर्तनकी यदि हम सावधानीमें अनुभव करें तो हमें प्रतीत होगा कि परिवर्तनका क्रम प्रतिक्षण जारी रहता है। कोईभी नई वस्तु किसी ख़ास नियत समयपर पुरानी नहीं होती। बालक किसी एक नियत समय पर युवक नहीं बनता। बननेका क्रम प्रतिक्षणही चालू रहता है। इस प्रकार द्रव्यकी पर्यायें प्रतिक्षण पलटती रहती हैं। अतः पर्यायकी अपेक्षा वस्तुको प्रतिक्षण विनश्वर कहा जासकता है। किन्तु द्रव्य अपने मूल स्वरूपका कभी परित्याग नहीं करता। जो जीव है वह भले ही कभी मनुष्य हो, कभी पशु-पक्षी हो, कभी कीड़ा-मकोड़ा हो, पर वह जीव तो रहेगा ही। द्रव्यरूपसे पदार्थका व्यय कदापि नहीं हो सकता। अतः द्रव्यकी अपेक्षा प्रत्येक वस्तु नित्य कही जासकती है। इस प्रकार अनेकान्तवाद नित्यत्व और अनित्यत्वका समन्वय करता है।

स्वामी अपने सेवकसे कहता है—'एक जानवर लाओ।' सेवक गाय, भैंस या घोड़ा कुछभी ले आता है और स्वामी इससे परितुष्ट होजाता है। फिर स्वामी कहता है—'गाय लाओ।' सेवक यदि घोड़ा लेआता है तो स्वामीको सन्तोष नहीं होता। क्यों? इसीलिये कि पहले आदेशमें सामान्यका निर्देश था और उस निर्देशके अनुसार प्रत्येक जानवर एकही कोटिमें था। दूसरे आदेशमें विशेषका निर्देश किया गया है और उसके अनुसार गाय अन्य पशुओंसे भिन्न कोटिमें आगई है। इस प्रकार जान पड़ता है कि सामान्यकी अपेक्षा प्रत्येक पदार्थ एक है और विशेषकी अपेक्षा सब जुदा-जुदा हैं। जब ऐसा है तो सामान्य-रूपसे (सत्ताकी अपेक्षा) समस्त पदार्थोंको एक रूप कहा जा सकता है और इस प्रकार वेदान्तका अद्वैतवाद तर्कसंगत सिद्ध होजाता है। किन्तु जब हमारा लक्ष्य विशेष होता है तो प्रत्येक पदार्थ हमें एक दूसरेसे भिन्न नजर आता है अतः विशेषकी अपेक्षा द्वैतवाद संगत है। इस प्रकार अनेकान्तवाद द्वैत और अद्वैतकी समस्याका समाधान करता है।

ऊपर जिन अपेक्षाओं, दृष्टिकोणों या अभिप्रायोंका उल्लेख किया गया है वेही जैन-दर्शन-सम्मत नय हैं। नय, बोधके वे अंश हैं जिनके द्वारा समूची वस्तुमेंसे किसी एक विवक्षित गुणको ग्रहण किया जाता है और इतर गुणोंके प्रति उपेक्षा-भाव धारण किया जाता है। इन नयोंके द्वारा ही विरोधी धर्मोंका ठीक-ठीक समन्वय किया जाता है। जो दृष्टिकोण द्रव्यको मुख्य मानता है उसे द्रव्यार्थिक-नय कहते हैं और जो अभिप्राय पर्यायको मुख्यता प्रदान करता है वह पर्यायार्थिक-नय कहलाता है। जैसे संगीत कलाका आधार नाद है उसी प्रकार समन्वय-कला या अनेकान्त-वादका आधार नय है। नयोंका यहाँ विस्तृत विवेचन करना संभव नहीं है। नयवाद बड़ा विस्तृत है। कहा है—"**जावइया वयणपहा तावइया चेव हुंति नयवाया।**" अर्थात् वचनके जितने मार्ग हैं उतने ही नयवाद हैं।

अनेकान्त-सिद्धान्त का दूसरा आधार सप्तभंगीवाद है। सप्तभंगीवाद, जैसा कि पहले कहा गया है, प्रत्येक-धर्म का विश्लेषण करता रहता है और उससे यह मालूम होता है कि कोई भी धर्म वस्तु में किस प्रकार रहता है। एक ही वस्तु के अनन्त-धर्मोंमें से किसी एक धर्मके विषयमें विरोध-रहित सात प्रकारके वचन प्रयोगको सप्तभंगी कहते हैं। उदाहरणार्थ अस्तित्व-धर्म को लीजिए। अस्तित्व-धर्मके विषयमें सात भंग इस प्रकार बनते हैं—

(१) **स्यादस्ति घटः**—अर्थात् घटमें घटविषयक अस्ति पाया जाता है। घटमें घट-संबंधी अस्तित्व न माना जाय तो वह खरविषाणकी भांति अवस्तु-नाचीज़ ठहरेगा।

(२) **स्यान्नास्ति घटः**—इसका अर्थ यह है कि घटमें, घटातिरिक्त अन्य पट आदिमें पाया जाने वाला अस्तित्व नहीं पाया जाता। यदि पटादि-विषयक अस्तित्वका निषेध न किया जाय तो घट, पट आदि भी हो जायगा। इस प्रकार एक ही वस्तुमें अन्य समस्त वस्तुओंकी सत्ता होनेसे वस्तुका स्वरूप स्थिर न हो सकेगा। अतएव

प्रत्येक वस्तुमें, उसके अतिरिक्त अन्य वस्तुओंकी असत्ता मानना अनिवार्य है।

(३) **स्यादस्ति नास्ति घटः**— क्रमशः स्वरूप और पररूपकी अपेक्षासे वस्तुका विधान किया जायतो पूर्वोक्त दोनों वाक्योंका जो निष्कर्ष निकलता है वही तीसरा अंग है।

(४) **स्यादवक्तव्यो घटः**—वस्तुमें अनन्त धर्म हैं। भाषा द्वारा उन सबका एक साथ विधान नहीं किया जा सकता। इस अपेक्षा वस्तुका स्वरूप कहा नहीं जा सकता है अर्थात् घट अवक्तव्य है।

इसी प्रकार स्यादस्ति अवक्तव्यो घटः, स्यान्नास्ति अवक्तव्योघटः, और स्यादस्ति-नास्ति-अवक्तव्यो घटः, यह तीन भंग पूर्वोक्त भंगोंके संयोगसे बनते हैं। अतः पूर्वोक्त दिशासे इन्हें भी घटित कर लेना चाहिए।

ऊपरसे यह सिद्धान्त एक पहेली-सा जान पड़ता है; किन्तु गंभीरतापूर्वक मनन करनेसे इसमें रहे हुए शुद्ध सत्यकी प्रतीति होने लगती है। सुप्रसिद्ध विद्वान प्लेटोने एक जगह लिखा है—

When we speak of not being we speak, I suppose, not of something opposed to being but only different.

अर्थात् जब हम असत्ताके विषयमें कुछ कहते हैं तो मैं मानता हूँ, हम सत्ताके विरुद्ध कुछ नहीं कहते, सिर्फ भिन्नके अर्थमें कहते हैं।

इस प्रकार सप्तभंगीवाद यह स्पष्ट करता है कि प्रत्येक धर्म वस्तुमें किस अपेक्षासे रहता है और किस अपेक्षासे नहीं रहता।

अनेकान्तवादकी तात्विक उपयोगिता—वस्तु-स्वरूपका वास्तविक परिचय देना है। किन्तु इसकी व्यावहारिक उपयोगिता भी कुछ कम नहीं है। यदि हम अनेकान्तवादके मर्मको समझलें और जीवनमें उसका प्रयोग करें तो यह विवेकशून्य सम्प्रदायिकता, जिसकी बदौलत धर्म बदनाम हो रहा है, धर्मको सर्व साधारण लोग क्षयका कीटाणु समझने लगे हैं, आये दिन सिर फुटौव्वल होती है, और जिसने धर्मके असली उज्ज्वल रूपको तिरोहित कर दिया है, शीघ्र ही हट सकती है। इसके लिए दूसरेके दृष्टिबिन्दु को समझने और सहन करनेकी आवश्यकता है। विश्व-शान्तिके लिए जैसे 'जीओ और दूसरोंको जीने दो' इस सिद्धान्तके अनुसरणकी आवश्यकता है उसी प्रकार दार्शनिक जगत्की शान्ति के लिए 'मैं सही और दूसरे भी सही' का अनुसरण करना होगा। अनेकान्तकी यही खूबी है कि वह हमें यह बतलाता है कि हम तभी तक सही रास्तेपर हैं जब तक दूसरोंको गलत रास्तेपर नहीं कहते। दूसरोंको जब हम भ्रान्त या मिथ्या कहते हैं तो हम स्वयमेव मिथ्या हो जाते हैं; क्योंकि ऐसा करनेमें अन्य दृष्टिकोण का निषेध हो जाता है, जो किसी अपेक्षासे वस्तु में पाया जाता है। अतएव यदि हम सत्यका अन्वेषण करना चाहें तो हमारा कर्तव्य होगा कि हम दूसरेके विचारको समझें, उसकी अपेक्षा

को सोचें और तब अमुक नयसे उसे संगतियुक्त स्वीकार करलें।

लेख समाप्त करनेसे पहले हमें खेदपूर्वक यह स्वीकार करना चाहिये कि जैनेतरोंकी तो बात ही क्या, स्वयं जैनोंने भी एक प्रकारसे अनेकान्तवाद को भुला दिया है। जो अनेकान्त नास्तिकवाद जैसे जघन्य माने जाने वाले वादोंका भी समन्वय करनेमें समर्थ है उसे स्वीकार करते हुएभी जैन-समाज अपने क्षुद्रतर मतभेदोंका आज समन्वय नहीं कर सकता। आज अनेकान्तवाद 'पोथीका बैंगन' बन गया है, वह विद्वानोंकी चर्चाका विषय बना हुआ है और उसपर हम अभिमान करते हैं; पर उसका व्यवहार हमने नहीं किया। यही कारण है कि जिनके आँगनमें कल्पवृक्ष खड़ा है वेही आज संताप भोग रहे हैं और अपनी शक्तियोंको विभाजित करके अशक्त एवं दीन बन गये हैं। क्या यह संभव नहीं है कि अनेकान्तवादके उपासक अपने मतभेदोंका अनेकान्त-वादके द्वारा निपटारा करें और सत्यके अधिक सन्निकट पहुँचकर एक अखंड और विशाल संघका पुनर्निर्माण करें। यदि ऐसा हुआ तो समझना चाहिए कि अनेकान्त अबभी जीवित है और भविष्यमें भी जीवित रहेगा। अस्तु।

दीपावलीका एक दीप

(१)

दीपक हूँ मस्तकपर मेरे
अग्नि-शिखा है नाच रही—
यही सोच समझा था शायद
आदर मेरा करें सभी !

(२)

किन्तु जल गया प्राण-सूत्र जब
स्नेह सभी निःशेष हुआ—
बुझी ज्योति मेरे जीवनकी
शवसे उठने लगा धुआँ;

(३)

नहीं किसीके हृदय-पटल पर
खिंची कृतज्ञताकी रेखा,
नहीं किसीको आँखों में
आँसू तक भी मैंने देखा !

(४)

मुझे विजित लखकर भी दर्शक
नहीं मौन हो रहते हैं,
तिरस्कार विद्रूप भरे वे
बचन मुझे आ कहते हैं–

(५)

'बना रखी थी हमने दीपों-
की सुन्दर ज्योतिर्माला—
रे कृतघ्न, तूने बुझ कर क्यों
उसको खण्डित कर डाला?'

—भगवत्

अनेकान्तवाद और स्याद्वाद

(ले० श्री पं० वंशीधर व्याकरणाचार्य, न्यायतीर्थ व साहित्यशास्त्री)

कोई भी धर्मप्रवर्तक अपने शासनको स्थायी और व्यापक-रूप देनेके लिये मनुष्य समाजके सामने दो बातोंको पेश करता है---एकतो धर्मका उद्देश्य-रूप और दूसरा उसका विधेय-रूप। दूसरे शब्दोंमें धर्मके उद्देश्य-रूपको साध्य, कार्य या सिद्धान्त कह सकते हैं और उसके विधेय-रूपको साधन, कारण या आचरण कह सकते हैं। वीर-शासनके पारिभाषिक शब्दोंमें धर्मके इन दोनों रूपोंको क्रमसे निश्चयधर्म और व्यवहारधर्म कहा गया है। प्राणिमात्रके लिये आत्मकल्याण में यही निश्चय-धर्म उद्दिष्ट वस्तु है और व्यवहार-धर्म है इस निश्चय-धर्मकी प्राप्तिके लिये उसका कर्तव्य मार्ग।

इन दोनों बातोंको जो धर्मप्रवर्तक जितना सरल, स्पष्ट और व्यवस्थित रीतिसे रखनेका प्रयत्न करता है उसका शासन संसारमें सबसे अधिक महत्वशाली समझा जा सकता है। इतना ही नहीं, वह सबसे अधिक प्राणियों को हितकर हो सकता है। इसलिये प्रत्येक धर्मप्रवर्तकका लक्ष्य दार्शनिक सिद्धान्तकी ओर दौड़ता है। वीरभगवान्‌का ध्यान भी इस ओर गया और उन्होंने दार्शनिक तत्त्वोंको व्यवस्थित रूपसे उनकी तथ्यपूर्ण स्थिति तक पहुँचानेके लिये दर्शनशास्त्रके आधारस्तम्भ-रूप अनेकान्तवाद और स्याद्वाद इन दो तत्त्वोंका आविर्भाव किया।

अनेकान्तवाद और स्याद्वाद ये दोनों दर्शनशास्त्र-के लिये महान् गढ़ हैं। जैनदर्शन इन्हींकी सीमामें विचरता हुआ संसारके समस्त दर्शनोंके लिये आज तक अजेय बना हुआ है। दूसरे दर्शन जैन दर्शनको जीतनेका प्रयास करते तो हैं परंतु इन दुर्गोंके देखने मात्रसे उनको निःशक्त होकर बैठ जाना पड़ता है---किसी के भी पास इनके तोड़नेके साधन मौजूद नहीं हैं।

जहाँ अनेकान्तवाद और स्याद्वादका इतना महत्व बढ़ा हुआ है वहाँ यह भी निःसंकोच कहा जा सकता है कि साधारण जनकी तो बात ही क्या? अजैन विद्वानोंके साथ साथ प्रायः जैन विद्वान भी इनका विश्लेषण करनेमें असमर्थ हैं।

अनेकान्त और स्यात् ये दोनों शब्द एकार्थक हैं या भिन्नार्थक? अनेकान्तवाद और स्याद्वादका स्वतन्त्र स्वरूप क्या है? अनेकान्तवाद और स्याद्वाद दोनोंका प्रयोगस्थल एक है या स्वतन्त्र? आदि समस्याएँ आज हमारे सामने उपस्थित हैं।

यद्यपि इन समस्याओंका हमारी व दर्शनशास्त्र-की उन्नति या अवनति से प्रत्यक्ष रूपमें कोई संबन्ध नहीं है परन्तु अप्रत्यक्षरूपमें ये हानिकर

अवश्य हैं। क्योंकि जिस प्रकार एक ग्रामीण कवि छंद, अलंकार, रस, रीति आदिका शास्त्रीय परिज्ञान न करके भी छंद अलंकार आदिसे सुसज्जित अपनी भावपूर्ण कवितासे जगतको प्रभावित करनेमें समर्थ होता है उसी प्रकार सर्वसाधारण लोग अनेकान्तवाद और स्याद्वादके शास्त्रीय परिज्ञानसे शून्य होने पर भी परस्पर विरोधी जीवन-संबन्धी समस्याओंका इन्हीं दोनों तत्त्वोंके बल-पर अविरोध रूपसे समन्वय करते हुए अपने जीवन-संबन्धी व्यवहारोंको यद्यपि व्यवस्थित बना लेते हैं परंतु फिर भी भिन्न भिन्न व्यक्तियोंके जीवन-संबन्धी व्यवहारोंमें परस्पर विरोधीपन होनेके कारण जो लड़ाई-झगड़े पैदा होते हैं वे सब अनेकान्तवाद और स्याद्वादके रूपको न समझनेका ही परिणाम है। इसी तरह अजैन दार्शनिक विद्वान भी अनेकान्तवाद और स्याद्वादको दर्शनशास्त्र के अंग न मानकरके भी अपने सिद्धान्तोंमें उप-स्थित हुई परस्पर विरोधी समस्याओंको इन्हींके बलपर हल करते हुए यद्यपि दार्शनिक तत्त्वोंकी व्यवस्था करनेमें समर्थ होते हुए नजर आ रहे हैं तो भी भिन्न भिन्न दार्शनिकोंके सिद्धान्तोंमें परस्पर विरोधीपन होनेके कारण उनके द्वारा अपने सिद्धान्तों को सत्य और महत्वशाली तथा दूसरेके सिद्धान्त को असत्य और महत्वरहित सिद्ध करनेकी जो असफल चेष्टा की जाती है वह भी अनेकान्तवाद और स्याद्वादके स्वरूपको न समझनेका ही फल है।

सारांश यह कि लोकमें एक दूसरेके प्रति जो विरोधी भावनाएँ तथा धर्मोंमें जो साम्प्रदायिकता आज दिखाई दे रही है उसका कारण अनेकान्तवाद और स्याद्वादको न समझना ही कहा जा सकता है।

जैनी लोग यद्यपि अनेकान्तवादी और स्याद्वादी कहे जाते हैं और वे खुद भी अपनेको ऐसा कहते हैं, फिरभी उनके मौजूदा प्रचलित धर्ममें जो साम्प्रदायिकता और उनके हृदयोंमें दूसरोंके प्रति जो विरोधी भावनाएँ पाई जाती हैं उसके दो कारण हैं—एकतो यह कि उनमें भी अपने धर्मको सर्वथा सत्य और महत्वशील तथा दूसरे धर्मोंको सर्वथा असत्य और महत्व रहित समझनेकी अहंकारवृति पैदा होजानेसे उन्होंने अनेकान्तवाद और स्याद्वाद-के क्षेत्रको बिलकुल संकुचित बना डाला है, और दूसरे यह कि अनेकान्तवाद और स्याद्वादकी व्यावहारिक उपयोगिताको वे भी भूले हुए हैं।

अनेकान्त और स्यात् का अर्थभेद

बहुतसे विद्वान् इन दोनों शब्दोंका एक अर्थ स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि अनेकान्त रूप-पदार्थ ही स्यात् शब्दका वाच्य है और इसी-लिये वे अनेकान्त और स्याद्वादमें वाच्य-वाचक संबन्ध स्थापित करते हैं—उनके मतसे अनेकान्त वाच्य है और स्याद्वाद उसका वाचक है। परन्तु "वाक्येष्वनेकान्तद्योती" इत्यादि कारिकामें पड़े हुए "द्योती" शब्दके द्वारा स्वामी समन्त-भद्र स्पष्ट संकेत कर रहे हैं कि 'स्यात्' शब्द अनेकान्तका द्योतक है वाचक नहीं।

यद्यपि कुछ शास्त्रकारोंने भी कहीं कहीं स्यात् शब्दको अनेकान्त अर्थका बोधक स्वीकार किया है, परन्तु वह अर्थ व्यवहारोपयोगी नहीं मालूम पड़ता है—केवल स्यात् शब्दका अनेकान्तरूप रूढ़ अर्थ मानकरके इन दोनों शब्दोंकी समानार्थकता सिद्ध की गई है। यद्यपि रूढ़िसे शब्दोंके अनेक

अर्थ हुआ करते हैं और वे असंगत भी नहीं कहे जाते हैं फिरभी यह मानना ही पड़ेगा कि स्यात् शब्दका अनेकान्तरूप अर्थ प्रसिद्धार्थ नहीं है। जिस शब्दसे जिस अर्थका सीधे तौरपर जल्दीसे बोध हो सके वह उस शब्दका प्रसिद्ध अर्थ माना जाता है और वही प्राय: व्यवहारोपयोगी हुआ करता है; जैसे गो शब्द पशु, भूमि, वाणी आदि अनेक अर्थोंमें रूढ़ है परन्तु उसका प्रसिद्ध अर्थ पशु ही है, इसलिये वही व्यवहारोपयोगी माना जाता है। और तो क्या? हिन्दीमें गौ या गाय शब्द जो कि गो शब्दके अपभ्रंश हैं केवल स्त्री गो में ही व्यवहृत होते हैं पुरुष गो अर्थात् बैल रूप अर्थमें नहीं, इसका तात्पर्य यह नहीं कि वे बैल रूप अर्थके वाचक ही नहीं हैं किन्तु बैल रूप अर्थ उनका प्रसिद्ध अर्थ नहीं ऐसा ही समझना चाहिये। स्यात् शब्द उच्चारणके साथ साथ कथंचित् अर्थकी ओर संकेत करता है अनेकान्त-रूप अर्थकी ओर नहीं, इसलिये कथंचित् शब्दका अर्थ ही स्यात् शब्दका अर्थ अथवा प्रसिद्ध अर्थ समझना चाहिये।

अनेकान्तवाद और स्याद्वादका स्वरूप

अनेकान्तवाद शब्दके तीन शब्दांश हैं—अनेक, अन्त और वाद। इसलिये अनेक—नाना, अन्त—वस्तु धर्मोंकी, वाद—मान्यताका नाम 'अनेकान्तवाद' है। एक वस्तुमें नाना धर्मों (स्वभावों) को प्राय: सभी दर्शन स्वीकार करते हैं, जिससे अनेकान्तवादकी कोई विशेषता नहीं रह जाती है और इसलिये उन धर्मोंका क्वचित् विरोधीपन भी अनायास सिद्ध हो जाता है, तब एक वस्तुमें परस्पर विरोधी और अविरोधी नाना धर्मोंकी मान्यताका नाम अनेकान्तवाद समझना चाहिये। यही अनेकान्तवादका अविकलस्वरूप कहा जा सकता है।

स्याद्वाद शब्दके दो शब्दांश हैं—स्यात् और वाद। ऊपर लिखे अनुसार स्यात् और कथंचित् ये दोनों शब्द एक अर्थके बोधक हैं—कथंचित् शब्दका अर्थ है "किसीप्रकार" यही अर्थ स्यात् शब्दका समझना चाहिये। वाद शब्दका अर्थ है मान्यता। "किसी प्रकारसे अर्थात् एकदृष्टिसे—एक अपेक्षासे या एक अभिप्रायसे" इस प्रकारकी मान्यताका नाम स्याद्वाद है। तात्पर्य यह कि विरोधी और अविरोधी नाना धर्मवाली वस्तुमें अमुक धर्म अमुक दृष्टिसे या अमुक अपेक्षा या अमुक अभिप्रायसे है तथा व्यवहारमें "अमुक कथन, अमुक विचार, या अमुक कार्य, अमुक दृष्टि, अमुक अपेक्षा, या अमुक अभिप्राय को लिये हुए है" इस प्रकार वस्तुके किसीभी धर्म तथा व्यवहारकी सामंजस्यता की सिद्धिके लिये उसके दृष्टिकोण या अपेक्षाका ध्यान रखना ही स्याद्वादका स्वरूप माना जासकता है।

अनेकान्तवाद और स्याद्वाद के प्रयोगका स्थल भेद

(१) इन दोनोंके उल्लिखित स्वरूपपर ध्यान देनेसे मालूम पड़ता है कि जहाँ अनेकान्तवाद हमारी बुद्धिको वस्तुके समस्त धर्मोंकी ओर समान रूपसे खींचता है वहाँ स्याद्वाद वस्तुके एक धर्मका ही प्रधान रूपसे बोध करानेमें समर्थ है।

(२) अनेकान्तवाद एक वस्तुमें परस्पर विरोधी और अविरोधी धर्मोंका विधाता है—वह वस्तुको नाना धर्मात्मक बतलाकर ही चरितार्थ हो

जाता है। स्याद्वाद उस वस्तुको उन नाना धर्मोंके दृष्टिभेदोंको बतला कर हमारे व्यवहारमें आने योग्य बना देता है—अर्थात् वह नाना धर्मात्मक वस्तु हमारे लिये किस हालतमें किस तरह उपयोगी होसकती है यह बात स्याद्वाद बतलाता है। थोड़ेसे शब्दोंमें यों कहसकते हैं कि अनेकान्तवादका फल विधानात्मक है और स्याद्वाद-का फल उपयोगात्मक है।

(३) यहभी कहा जासकता है कि अनेकान्तवाद-का फल स्याद्वाद है—अनेकान्तवादकी मान्यताने ही स्याद्वादकी मान्यताको जन्म दिया है। क्योंकि जहाँ नानाधर्मों का विधान नहीं है वहाँ दृष्टिभेदकी कल्पना हो ही कैसे सकती है?

उल्लिखित तीन कारणों से बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि अनेकान्तवाद और स्याद्वादका प्रयोग भिन्न २ स्थलों में होना चाहिये। इस तरह यह बात भलीभांति सिद्ध हो जाती है कि अनेकान्त-वाद और स्याद्वाद ये दोनों एक नहीं हैं; परन्तु परस्पर सापेक्ष अवश्य हैं। यदि अनेकान्तवादकी मान्यताके बिना स्याद्वादकी मान्यताकी कोई आवश्यकता नहीं है तो स्याद्वादकी मान्यताके बिना अनेकान्तवादकी मान्यता भी निरर्थकही नहीं बल्कि असंगत ही सिद्ध होगी। हम वस्तुको नानाधर्मात्मक मान करके भी जबतक उन नाना-धर्मोंका दृष्टिभेद नहीं समझेंगे तबतक उन धर्मोंकी मान्यता अनुपयोगी तो होगी ही, साथही वह मान्यता युक्ति-संगत भी नहीं कही जा सकेगी।

जैसे लंघन रोगीके लिये उपयोगी भी है और अनुपयोगी भी, यह तो हुआ लंघनके विषय में अनेकान्तवाद। लेकिन किस रोगीके लिये वह उपयोगी है और किस रोगीके लिये वह अनुप-योगी है, इस दृष्टिभेदको बतलाने वाला यदि स्याद्वाद न माना गया तो यह मान्यता न केवल व्यर्थ ही होगी बल्कि पित्तज्वरवाला रोगी लंघन-की सामान्य तौरपर उपयोगिता समझकर यदि लंघन करने लगेगा तो उसे उस लंघनके द्वारा हानि ही उठानी पड़ेगी। इसलिये अनेकान्तवादके द्वारा रोगीके संबन्ध में लंघनकी उपयोगिता और अनुपयोगिता रूप दो धर्मोंको मान करके भी वह लंघन अमुक रोगीके लिये उपयोगी और अमुक रोगीके लिये अनुपयोगी है इस दृष्टि-भेदको बतलाने वाला स्याद्वाद मानना ही पड़ेगा।

एक बात और है, अनेकान्तवाद वक्तासे अधिक संबन्ध रखता है; क्योंकि वक्ताकी दृष्टि ही विधानात्मक रहती है। इसी प्रकार स्याद्वाद श्रोता से अधिक संबन्ध रखता है; क्योंकि उसकी दृष्टि हमेशा उपयोगात्मक रहा करती है। वक्ता अनेकान्तवादके द्वारा नानाधर्मविशिष्ट वस्तुका दिग्दर्शन कराता है और श्रोता स्याद्वादके जरिये से उस वस्तुके केवल अपने लिये उपयोगी अंशको ग्रहण करता है।

इस कथन से यह तात्पर्य नहीं लेना चाहिये कि वक्ता 'स्यात्' को मान्यताको और श्रोता 'अनेकान्त'की मान्यताको ध्यान में नहीं रखता है। यदि वक्ता 'स्यात्'की मान्यताको ध्यान में नहीं रक्खेगा तो वह एक वस्तु में परस्पर विरोधी धर्मों-का समन्वय न कर सकनेके कारण उन विरोधी धर्मोंका उस वस्तु में विधान ही कैसे करेगा? ऐसा करने समय विरोधरूपी सिपाही चोरकी

तरह उसका पीछा करनेको हमेशा तैयार रहेगा। इसी तरह यदि श्रोता 'अनेकान्त'की मान्यताको ध्यान में नहीं रक्खेगा तो वह दृष्टिभेद किस विषय में करेगा? क्योंकि दृष्टिभेदका विषय अनेकान्त अर्थात् वस्तुके नाना धर्म ही तो हैं।

इसलिये ऊपरके कथनसे केवल इतना तात्पर्य लेना चाहिये कि वक्ताके लिये विधान प्रधान है–वह स्यात्की मान्यतापूर्वक अनेकान्तकी मान्यताको अपनाता है; और श्रोताके लिये उपयोग प्रधान है वह अनेकान्तकी मान्यतापूर्वक स्यात्की मान्यता को अपनाता है।

मान लिया जाय कि एक मनुष्य है, अनेकान्तवादके जरिये हम इस नतीजेपर पहुँचे कि वह मनुष्य वस्तुत्वके नाते नानाधर्मात्मक है—वह पिता है, पुत्र है, मामा है, भाई है आदि आदि बहुत कुछ है। हमने वक्ताकी हैसियत से उसके इन सम्पूर्ण धर्मोंका निरूपण किया। स्याद्वाद से यह बात तय हुई कि वह पिता है स्यात्–किसी प्रकारसे–दृष्टिविशेषसे–अर्थात् अपने पुत्रकी अपेक्षा, वह पुत्र है, स्यात्–किसी प्रकार अर्थात् अपने पिताकी अपेक्षा, वह मामा है स्यात्-किसी प्रकार अर्थात् अपने भानजे की अपेक्षा, वह भाई है स्यात्-किसी प्रकार–अर्थात् अपने भाई की अपेक्षा।

अब यदि श्रोता लोग उस मनुष्यसे इन दृष्टियोंमें से किसी भी दृष्टि से संबन्ध हैं तो वे अपनी अपनी दृष्टिसे अपने लिये उपयोगी धर्मको ग्रहण करते जावेंगे। पुत्र उनको पिता कहेगा, पिता उसको पुत्र कहेगा, भानजा उसको मामा कहेगा और भाई उसको भाई कहेगा; लेकिन अनेकान्तवादको ध्यान में रखते हुए वे एक दूसरेके व्यवहारको असंगत नहीं ठहरावेंगे। अस्तु।

इस प्रकार अनेकान्तवाद और स्याद्वादके विश्लेषणका यह यथाशक्ति प्रयत्न है। आशा है इससे पाठकजन इन दोनोंके स्वरूपको समझने में सफल होनेके साथ साथ वीर-भगवान्के शासन की गम्भीरताका सहज ही में अनुभव करेंगे और इन दोनों तत्वोंके द्वारा सांप्रदायिकताके परदेको हटा कर विशुद्ध धर्मकी आराधना करते हुए अनेकान्तवाद और स्याद्वादके व्यावहारिक रूपको अपने जीवन में उतार कर वीर-भगवान्के शासनकी अद्वितीय लोकोपकारिताको सिद्ध करने में समर्थ होंगे।

'मैं' और 'मेरे' के जो भाव हैं, वे घमण्ड और खुदनुमाईके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जो मनुष्य उनका दमन कर लेता है वह देवलोकसे भी उच्चलोक को प्राप्त होता है।'

'दुनियामें दो चीजें हैं जो एक दूसरे से बिल्कुल नहीं मिलतीं। धन-सम्पत्ति एक चीज़ है और साधुता तथा पवित्रता बिल्कुल दूसरी चीज़'।

—तिरुवल्लुवर

(१)

तोड़ो मृदुल वल्लकी के ये
सिसक सिसक रोते से तार,
दूर करो संगीत कुञ्ज से
कृत्रिम फूलों का शृङ्गार !

(२)

भूलो कोमल, स्फीत स्नेह-स्वर
भूलो क्रीड़ा का व्यापार,
हृदय पटल से आज मिटा दो
स्मृतियों का अभिनय-आगार!

(३)

भैरव शंख नाद की गूंज
फिर फिर वीरोचित ललकार,
मुरझाए हृदयों में फिर से उठे
गगन भेदी हुङ्कार !

(४)

धधक उठे अन्तस्तल में फिर
क्रान्ति गीतिका की झंकार—
विह्वल, विकल, विवश, पागल
हो नाच उठे उन्मद संसार !

(५)

दीप्त हो उठे उरस्थली में
आशा की ज्वाला साकार,
नस नस में उद्दण्ड हो उठे
नव यौवन रस का सञ्चार !

(६)

तोड़ो वाद्य, छोड़ दो गायन,
तज दो सकरुण हाहाकार;
आगे है अब युद्ध-क्षेत्र—फिर,
उसके आगे—कारागार !

—भग्नदूत

गोत्रकर्माश्रित ऊँच-नीचता

(ले० श्री० बा० सूरजभानुजी, वकील)

इस लेखके लेखक श्रद्धेय बाबू सूरजभानजी वकील समाजके उन पुराने प्रमुख सेवकों एवं लेखकों में से हैं जिन्होंने शुरू शुरूमें समाज को ऊंचा उठाने, उसमें जीवन फूंकने और जागृति उत्पन्न करनेका भारी काम किया था। आज जैन समाजमें सभा-सोसाइटियों की स्थापना, आश्रमों-विद्यालयोंकी योजना, वेश्या-नृत्यादि जैसी कुरीतियोंका निवारण, ग्रन्थों तथा पत्रों का प्रकाशनादिरूपसे जो भी जागृतिका कार्य देखने में आता है वह सब प्रायः आपकी ही बीजरूप सेवाओं का प्रतिफल है। अर्से से वृद्धावस्था आदि के कारण आप कुछ विरक्तसे हो गये थे और आपने लिखना-पढ़ना सब छोड़ दिया था; लेकिन बहुत दिनोंसे मेरी आप से यह बराबर प्रेरणा और प्रार्थना रही है कि आप वीर-सेवा-मन्दिरमें आकर सेवा कार्य में मेरा हाथ बटाएँ और अपना शेष जीवन सेवामय होकरही व्यतीत करें। बहुत कुछ आशा-निराशाके बाद अन्त को मेरी भावना सफल हुई और अब बाबू साहब कई महीनेसे वीर-सेवा-मन्दिरमें विराज रहे हैं। इस आश्रममें आते ही आपने अपनी निःस्वार्थ सेवाओं से आश्रम-वासियोंको चकित कर दिया! आप दिन-रात सेवा-कार्य में लगे रहते हैं, चर्चा-वार्ता करते हुए नहीं थकते, प्रति दिन दो घंटे कन्या-विद्यालयमें कन्याओंको शिक्षा देते हैं, दो घंटे शास्त्र-सभामें व्याख्यान करते हैं और शेष सारा समय आपका ग्रन्थों पर से खोज करने तथा लेख लिखने-जैसे गम्भीर कार्य में ही व्यतीत होता है। यह लेख आपके उसी परिश्रम का पहला फल है, जिसे प्रकाशित करनेमें 'अनेकान्त' अपना गौरव समझता है। आशा है अब आपके लेख बराबर 'अनेकान्त' के पाठकों की सेवा करते रहेंगे। इस लेखमें विद्वानोंके लिये विचारकी पर्याप्त सामग्री है। विद्वानों को उस पर विचार कर अपना अभिमत प्रकट करना चाहिये, जिससे यह विषय भले प्रकार स्पष्ट होकर खूब रोशनी में आ जाय। —सम्पादक

कर्मकी आठ मूल प्रकृतियों में 'गोत्र' नाम का भी एक कर्म है, जो जीवके असली स्वभाव को घात नहीं करता; इसी कारण अघातिया कहलाता है। केवल-ज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद अर्थात् तेरहवें गुण-स्थानमें भी इसका उदय बना रहता है, इतना ही नहीं किन्तु चौदहवें गुणस्थानमें भी अन्त समय के पूर्व तक इसका उदय बराबर चला जाता है। चौदहवेंके अन्त समयमें इसकी व्युच्छित्ति होती है; जैसा कि श्री गोम्मटसार—कर्मकाण्ड के निम्न वाक्यसे प्रकट है—

तदियेक्कं मणुवगदी, पंचिदियसुभगतसतिगादेज्जं।
जसतित्थं मणुवाऊ, उच्चं च अजोगिचरिमम्हि ॥

गाथा २७३

इससे यह बात भी स्पष्ट होजाती है कि गोत्र-कर्मसे जीवोंके भावोंका कोई खास सम्बन्ध नहीं है। जैन शास्त्रों में इस कर्मके ऊँच और नीच ऐसे दो भेद बता कर यह भी बता दिया है कि अस्तित्व तो नीचगोत्रका भी केवल-ज्ञान प्राप्त करनेके बाद तेरहवें गुण-स्थानमें बना रहता है तथा १४वें गुणस्थानमें भी अन्तसमयके पूर्व तक पाया जाता है। यथा—

णीचुच्चाणेकदरं, बंधुदया होंति संभवट्ठाणे।
दो सत्ता जोगित्ति य, चरिमे उच्चं हवे सत्तं ॥

—गो० कर्म० ६३६

जब नीच गोत्रका अस्तित्व केवल-ज्ञान प्राप्त होनेके बाद सयोग-केवली और अयोगकेवली के भी बना रहता है और उसमे उन आप्त-पुरुषोंके सच्चिदानन्द स्वरूपमें कुछ भी बाधा नहीं आती तब इस बात में कोई सन्देह नहीं रहता

कि, नीच हो या उच्च, गोत्रकर्म अपने अस्तित्वमें जीवोंके भावों पर कोई असर नहीं डालता है।

गोम्मटसारके कर्मकाण्डमें ऊँच और नीच गोत्रकी जो पहचान बतलाई है वह इस प्रकार है—

संताणकमेणागयजीवायरणस्स गोदमिदि सण्णा।
उच्चं णीचं चरणं उच्चं णीचं हवे गोदं॥ १३॥

अर्थात्—कुलकी परिपाटीके क्रमसे चला आया जो जीवका आचरण उसको गोत्र कहते हैं; वह आचरण ऊँचा हो तो उसे 'ऊँचगोत्र' और नीचा हो तो 'नीचगोत्र' समझना चाहिये।

इस गाथामें कुल-परम्परासे चले आये ऊँच-नीच आचरणसे ही ऊँच-नीच गोत्रका भेद किया गया है अर्थात् ऊँच-नीच गोत्रके पहचाननेमें कुलका आचरण ही एकमात्र कारण बतलाया है। इससे अब केवल यह बात जाननेको रह गई कि इस आचरणसे सम्यक् चारित्र और मिथ्या चारित्रसे—खरे खोटे धर्माचरणसे—मतलब है या लौकिक आचरणसे—अर्थात् लोक-व्यवहारमें एक तो व्यवहार-योग्य कुल वाला होता है, जिसको आजकलकी भाषामें नागरिक कहते हैं और दूसरा ठग-डकैत आदि कुल वाला होता है, जो लोक-व्यवहारमें व्यवहारयोग्य नहीं माना जाता—निंद्य गिना जाता है, अथवा यों कहिये कि एक तो सभ्य कहे जाने वालोंका कुल होता है और दूसरा उन लोगोंका जो असभ्य कहे जाते हैं। इनमें से कौनसे कुलका आचरण यहाँ अभिप्रेत है?

सर्वार्थसिद्धिमें, श्रीपूज्यपाद स्वामीने, तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ८ सूत्र १२ की टीका लिखते हुए, ऊँच-नीच गोत्र की निम्न पहचान बतलाई है।

यस्योदयात् लोकपूजितेषु कुलेषु जन्म तदुच्चैर्गोत्रं।
यदुदयाद्गर्हितेषु कुलेषु जन्म तन्नीचैर्गोत्रम्॥

अर्थात्—जिसके उदयसे लोकमान्य कुलोंमें जन्म हो वह उच्च गोत्र और निंद्य अर्थात् बदनाम कुलोंमें जन्म हो तो वह नीच गोत्र। ऐसा ही लक्षण ऊँच-नीच गोत्रका श्रीअकलंकदेवने राजवार्तिकमें और विद्यानंदस्वामीने श्लोकवार्तिकमें दिया है। इससे इतनी बात तो बिलकुल स्पष्ट होजाती है कि सम्यक् चारित्र और मिथ्या चारित्र अर्थात् धर्माचरण-अधर्माचरणसे यहाँ कोई मतलब नहीं है—एकमात्र लौकिक व्यवहारसे ही मतलब है। और यह बात इस कथनसे और भी ज्यादा पुष्ट हो जाती है कि 'सबही देव और भोगभूमिया जीव—चाहे वे सम्यग्दृष्टि हों या मिथ्यादृष्टि—जो अणुमात्र भी चारित्र नहीं ग्रहण कर सकते हैं वे तो उच्चगोत्री हैं; परन्तु संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच अर्थात् हाथी, घोड़ा, बैल, बकरी आदि देशचारित्र धारण कर सकने वाले—पंचमगुणस्थान तक पहुँच कर श्रावक के व्रत तक ग्रहण करनेवाले—जीव नीचगोत्री ही हैं। दूसरे शब्दोंमें यों कहिये कि जो व्रती-श्रावकके योग्य धर्माचरण धारण नहीं कर सकते वे तो उच्चगोत्री और जो धारण कर सकते हैं वे नीचगोत्री। इससे ज्यादा और क्या सबूत इस बातका हो सकता है कि गोत्रकर्मकी ऊँच-नीचताका धर्म-विशेषसे कोई सम्बन्ध नहीं है। उसका आधार एकमात्र लोकमें किसी कुलकी ऊँच-नीच-मान्यता है, जो प्रायः लोक-व्यवहार पर अवलम्बित होती है। लोकमें देव शक्तिशाली होने के कारण ऊँचे माने जाते हैं, इस कारण वे तो उच्चगोत्री हुए; और पशु जो अपने पशुपनेके कारण हीन माने जाते हैं वे नीचगोत्री ठहरे।

'सब ही देव उच्चगोत्री हैं' यह बात हृदयमें धारण करके, जब हम उनके भेद-प्रभेदों तथा जातियों और कृत्यों की तरफ ध्यान देते हैं तो यह बात और भी ज्यादा स्पष्ट हो जाती है कि गोत्रकर्म क्या है और उसने संसारभरके सारे प्राणियोंको ऊँच-नीच रूप दो भागों में किस तरह बांट रक्खा है। मोटे रूपसे देव चार प्रकारके हैं—भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी और कल्पवासी अथवा वैमानिक। इनमें से भवनवासी, व्यंतर और ज्योतिषी देवों में सम्यग्दृष्टि जन्म ही नहीं लेता—इन कुलों में पैदा ही नहीं होता है। इन सबके प्रायः कृष्ण, नील, कापोत ये तीन खोटी लेश्याएँ ही होती हैं, चौथी पीत लेश्या तो किंचित्मात्र ही हो सकती है। यथा—

कृष्णा नीला च कापोता लेश्याश्च द्रव्यभावतः।
तेजोलेश्या जघन्या च ज्योतिषान्तेषु भाषिताः॥

—हरिवंशपुराण, ६-१०८

बाकी रहीं पद्म और शुक्ल दो उत्तम लेश्याएँ, ये उनके होतीं ही नहीं हैं। परिणाम उनके प्रायः अशुभ ही रहते हैं और इसी से वे बहुधा पाप ही उपार्जन किया करते हैं। परन्तु संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंचोंके छहों लेश्याएँ होती हैं अर्थात् पीत पद्म और शुक्ल ये तीनों पुण्य उपजानेवाली लेश्याएँ भी उनके हुआ करती हैं*। इस प्रकार धर्माचरण बहुत कुछ उच्च हो जाने पर भी संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच तो नीच गोत्री ही बने रहते हैं और पापाचारी होने पर भी भवन वासी-व्यंतर-जैसे देव उच्चगोत्री कहलाते हैं। सारांश यह कि धर्म-अधर्मरूप प्रवर्तने, पाप-पुण्यरूप क्रियाओं में रत रहने अथवा सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टि होने पर उच्च और नीच गोत्रका कोई भेद नहीं है— धर्म विशेषसे उसका कोई सम्बन्ध ही नहीं है। उसका सम्बन्ध है एकमात्र लोकव्यवहारसे।

कल्पवासी देव भी सब एक समान नहीं होते—उनमें भी राजा, प्रजा, सिपाही, प्यादे, नौकर, चाकर और किल्विष आदि अनेक जातियां होती हैं। पाप कर्म के उदयसे चांडालों के समान नीच काम करने वाले, नगरसे बाहर रहनेवाले और अछूत माने जानेवाले नीच जाति के देव 'किल्विष' कहलाते हैं। अनेक देव हाथी घोड़ा आदि बनकर इन्द्रादिक की सवारी का काम देते हैं; परन्तु ये सब भी उच्च-गोत्री ही हैं।

भवनवासी भी अनेक प्रकार के हैं, जिनमें से अम्बावरीष आदि असुरकुमार जातिके देव प्रथम नरक के ऊपरके हिस्सेके दूसरे भागमें रहते हैं। पूर्व भवमें अति तीव्र संक्लेश भावोंसे जो पापकर्म उपार्जन किया था, उसके उदयसे निरन्तर संक्लेश-युक्त परिणाम वाले होकर ये नारकियों को दुख पहुँचाने के वास्ते नरककी तीसरी पृथिवी तक जाते हैं×, जहां नारकियोंको पिघला हुआ गरम लोहा पिलाया जाता है, गरम लोहे के खम्भों से उनके शरीर को बांधा जाता है, कुल्हाड़ा-बसूला आदि से उनका शरीर छीला जाता है, पकते हुए गरम तेल में पकाया जाता है, कोल्हू में पेला जाता है,

* "णरतिरियाणं ओघो" (गो० जी० ५३०)। टीका 'नरतिरश्चां प्रत्येकं ओघः सामान्योत्कृष्ट-षट्लेश्याः स्युः'—केशववर्णी। 'षट्नृतिर्यक्षु० २६७' —पंचसंग्रहे अमितगतिः।

× पूर्वजन्मनि सम्भावितेनातितीव्रेण संक्लेश-परिणामेन यदुपार्जितं पापकर्म तस्योदयात्सततं क्लिष्टाः संक्लिष्टा असुराः संक्लिष्टासुराः' । इत्यादि – सर्वार्थसिद्धि ३-५

इत्यादिक अनेक प्रकार की वेदनाएँ नारकियोंको दिलवाकर ये असुरकुमार अपना खेल किया करते हैं। परन्तु ऐसा नीचकृत्य करते रहने पर भी ये उच्चगोत्री ही बने रहते हैं।

व्यंतरदेवोंकी भी यक्ष, राक्षस, भूत, पिशाच आदि अनेक जातियां हैं। इनमेंसे भूत, पिशाच और राक्षसों के कृत्यों को वर्णन करनेकी कोई ज़रूरत मालूम नहीं होती। इनकी हृदय-विदारक कहानियां तो कथा-शास्त्रों में अक्सर सुननेमें आती रहती हैं, भूत-पिशाचोंके कृत्यों को भी प्रायः सभी जानते हैं और यह भी मानते हैं कि इनकी अत्यन्त ही नीच पर्याय है, जो इनको इनके पाप कर्मोंके कारण ही मिलती है। परन्तु ये सब देव भी उच्चगोत्री ही हैं।

हरिवंशपुराण का कथन है कि कंस को जब यह मालूम हुआ कि उसका मारनेवाला पैदा हो गया है तो उसने अपने पहले जन्म की सिद्ध की हुई देवियों को याद किया, याद करते ही वे तुरन्त हाजिर हुई और बोलीं कि हम तुम्हारे वैरी को एक क्षण में मार डाल सकतीं हैं। कंसने उनको ऐसा ही करनेका हुक्म दिया, जिस पर उन्होंने कृष्णके मारनेकी बहुत ही तदबीरें कीं। सिद्ध की हुई ऐसी देवियोंके ऐसे ऐसे अनेक दुष्कृत्योंकी कथाएँ जैन ग्रन्थोंमें भरी पड़ी हैं। फिर भी ये सब देवियां उच्च गोत्री ही हैं।

अब ज़रा तिर्यंचोंकी भी जांच कर लीजिए और सबसे पहले बनस्पति को ही लीजिए, जिसमें चन्दन, केसर और अगर आदि बनस्पतियां बहुत ही उच्च जातिकी हैं, बड़-पीपल भी बहुत प्रतिष्ठा पाते हैं और २० करोड़ हिंदुओंके द्वारा पूजे जाते हैं; फूलों में कमल तो सब से श्रेष्ठ है ही— उसकी उपमा तो तीर्थंकरों के अंगों तक को दी गई है, चम्पा, चमेली, गुलाब भी कुछ कम प्रतिष्ठा नहीं पा रहे हैं; फलों में भी अनार, संतरा, अंगूर, सेब और आम बहुत क़दर पाए हुए हैं।

पशुओंमें भी सफेद हाथीकी बड़ी भारी प्रतिष्ठा है; सिंह तो मृगराज व वनका राजा माना ही जाता है, जिस के बल-पाराक्रम-साहस-दृढ़ता और निर्भीकतादिकी उपमा बड़े बड़े राजा महाराजाओं तथा महान् तपस्वियों तक को दी जाती है और जिसके दहाड़ने की आवाज़ से अच्छे अच्छों के छक्के छूट जाते हैं, गौ माता २० करोड़ हिंदुओं की तो पूज्य देवता है ही, किन्तु संसार के अन्य भी सब ही मनुष्य उसके अमृतोपम दूध के कारण उसको बहुत उत्कृष्ट मानते हैं। अमरीका, आष्ट्रेलिया आदि देशोंमें तो, जहां गायके सिवाय भैंस-बकरीका दूध पीना पसन्द नहीं किया जाता है, गायों की बड़ी भारी टहल की जाती है, अपनेसे भी ज्यादा उनको इतना खिलाया-पिलाया जाता है कि वहां की गायें एक बार दुहनेमें एक मन भर तक दूध देने लग गई हैं और पांच हजारसे भी अधिक मूल्यको मिलती हैं। इतना सब कुछ होने पर भी ये सब तिर्यंच नीचगोत्री हैं। तिर्यंचों की हज़ारों-लाखों जातियों में आकाश-पाताल का अन्तर होने और उनमें बहुत कुछ ऊंच-नीचपना माना जाने पर भी गोत्र कर्म के बटवारे के अनुसार सब ही तिर्यंच नीच गोत्र की पंक्ति में बिठाये गये हैं।

जिस प्रकार देवों की अनेक जातियों में ऊँच-नीच का साक्षात् भेद होने पर भी सब देव उच्चगोत्री और तिर्यंचों में अनेक प्रतिष्ठित तथा पूज्य जातियां होने पर भी सब तिर्यंच नीच गोत्री हैं उसी प्रकार नरकोंमें भी यद्यपि प्रथम नरकसे दूसरे नरकके नारकी नीच हैं,

दूसरेसे तीसरेके, तीसरेसे चौथेके, चौथेसे पांचवेंके, पांचवेंसे छठेके और छठेसे सातवेंके नीच हैं; परन्तु ये सब नारकी भी नीच गोत्रकी ही पंक्तिमें रखे गए हैं। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि नरक, तिर्यंच, देव और मनुष्य गति रूप जो बटवारा संसारीजीवोंका हो रहा है गोत्रकर्म के अनुसार उसमें से एक एक गति के सारे ही जीव ऊँच वा नीचरूप एकही पंक्तिमें रक्खे गए हैं। सब ही नारकी तथा सब ही तिर्यंच नीचगोत्री और सबही देव उच्चगोत्री, ऐसा ठहराव हो रहा है।

अब रहे मनुष्य, उनमें भी अनेक भेद हैं। अफरीका आदिके हबशी तथा अन्य जंगली मनुष्य कोई तो ऐसे हैं जो आग जलाना तक नहीं जानते, स्त्री-पुरुष सब ही नंगे रहते हैं, जंगल के जीवों का शिकार करके कच्चा ही खाजाते हैं, लड़ाईमें जो वैरी हाथ आ जाय उसको भी मारकर खाजाते हैं; कोई ऐसे हैं जो मनुष्यों को खाते तो नहीं हैं, किंतु मनुष्योंका मारना ही अपना मनुष्यत्व समझते हैं, जिसने अधिक मनुष्य मारे हों और जो उनकी खोपरियां अपने गलेमें पहने फिरता हो उस ही को स्त्रियां अधिक चाव से अपना पति बनाती हैं; कोई ऐसे हैं जो माता पिताके बूढ़े होने पर उनको मार डालते हैं; कोई ऐसे हैं जो अपनी कमजोर सन्तान को मार डालते हैं। यहां इस आर्यवर्तमें भी उच्चवर्ण और उच्चगोत्रका अभिमान रखने वाले क्षत्रिय राजपूत अपनी कन्याओं को पैदा होते ही मार डालते थे और इसको अपने उच्चकुल का बड़ा भारी गौरव समझते थे; ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ये तीनों ही उच्चवर्ण और उच्चगोत्रके माननीय पुरुष अपने घरकी स्त्रियोंको विधवा होने पर पति के साथ जल मरने का प्रोत्साहन देते थे और उनके जल मरने पर अपना भारी गौरव मानते थे।

अफरीका के हब्शियों की अन्य भी अनेक जातियां हैं, जिनमें एक दूसरेकी अपेक्षा बहुत कुछ नीचता-ऊँचता है। यहां हिंदुस्तान में भी अनेक ऐसी जातियां थीं और कुछ अब भी हैं जो मनुष्यहत्या और लूटमार-को ही अपनी जातिका गौरव समझते हैं। भील, गौंड कोल, संथाल और कोरकू आदि जो जंगलों में रहते हैं और खेती-बाड़ी वा मेहनत-मज़दूरी करते हैं वे उन डकैतोंसे तो श्रेष्ठ हैं, तो भी नगरमें रहने वालोंसे तो नीच ही हैं। नगरनिवासियोंमें भी कोई चांडाल हैं, कोई विष्ठा उठाते हैं, कोई गंदगी साफ़ करते हैं, कोई मरे हुए पशुओंका चमड़ा उतारनेका काम करते हैं, अन्य भी अनेक जातियां हैं जो गंदा काम करती हैं, कोई जाति धोबीका काम करती है, कोई नाईका, कोई लुहारका, कोई बाढ़ीका कोई सेवा-चाकरीका, कोई रोटी पकानेका, कोई पानी भरनेका,कोई खेती,कोई-कोई वणज, व्यापारका, कोई ज़मींदार है और कोई सरदार इत्यादि। अन्य देशोंमें भी कोई राजघराना है, कोई बड़े बड़े लार्डों और पदवी-धारियोंका कुल है, कोई धर्म-उपदेशक हैं, कोई मेहनत मज़दूरी करने वालोंका कुल है कोई पूँजीपतियोंका, इत्यादि अनेक भेद-प्रभेद हो रहे हैं। इस प्रकार मनुष्य जातिमें भी देवों और तिर्यंचों की तरह एक से एक ऊँचे होते होते ऊँच-नीच की अपेक्षासे हज़ार श्रेणियां हो गई हैं; परन्तु मनुष्य जातिकी अपेक्षा वे सब एक ही हैं। जैसा कि आदि पुराण के निम्न वाक्य से प्रकट है—

मनुष्यजातिरेकैव जातिकर्मोदयोद्भवा।
वृत्तिभेदा हि तद्भेदाच्चातुर्विध्यमिहाश्नुते॥

अर्थात्—मनुष्यजाति नामा नाम कर्म के उदय से पैदा होने के कारण समस्त मनुष्यजाति एक ही है—

पेशे के भेदसे ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार भेद किए गए हैं।

देवों में भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी और वैमानिक ये जो चार भेद हैं उनके चार अलग निकाय हैं, इस कारण ज्योतिषी बदलकर वैमानिक नहीं हो सकता और न वैमानिक बदलकर ज्योतिषी ही बन सकता है। इस-ही प्रकार अन्य भी किसी एक निकाय का देव दूसरे निकायमें नहीं बदल सकता।

तिर्यंचों में भी जो वृक्ष हैं वे कीड़े-मकोड़े नहीं हो-सकते, कीड़े-मकोड़े पक्षी नहीं हो सकते, जो पक्षी हैं वे पशु नहीं हो सकते; वनस्पतियों में भी जो आम हैं वह अमरूद नहीं हो सकता, जो अनार है वह अंगूर नहीं हो सकता; पक्षियों में भी तोता कबूतर नहीं हो सकता, मक्खी चील या कौआ नहीं बन सकता; पशुओं में भी कुत्ता गधा नहीं बन सकता; घोड़ा गाय नहीं बन सकता इत्यादि, परन्तु मनुष्यों में ऐसा कोई भेद नहीं है। इसी से श्री गुणभद्राचार्यने कहा है—

वर्णाकृत्यादिभेदनां देहेऽस्मिन्न च दर्शनात्
ब्राह्मण्यादिषु शूद्राद्यैर्गर्भाधानप्रवर्तनात् ॥
नास्ति जातिकृतो भेदो मनुष्याणां गवाश्ववत् ।
आकृतिग्रहणात्तस्मादन्यथा परिकल्प्यते ॥

—उत्तरपुराण पर्व ७४

अर्थात्—मनुष्योंके शरीरोंमें ब्राह्मणादि वर्णों की अपेक्षा आकृति आदि का कोई खास भेद न होनेसे और शूद्र आदिकों के द्वारा ब्राह्मणी आदि में गर्भ की प्रवृत्ति होसकनेसे उनमें जातिकृत कोई ऐसा भेद नहीं है जैसा कि बैल-घोड़े आदि में पाया जाता है।

यह भेद न होनेके कारण ही तो भरत महाराजने म्लेच्छों की कन्याओंसे ब्याह किया है। आदिपुराण में उन कन्याओंको 'कन्यारत्न' कहा है। इन म्लेच्छ कन्या-ओंके साथ ब्याह करनेके बाद वे ही भरत महाराज संयम धारण कर और केवलज्ञान प्राप्तकर उसही भव से मोक्ष गए हैं। भरत महाराजके साथियों ने भी म्लेच्छ-कन्याएँ ब्याही हैं। इसही प्रकार सबही समयोंमें उच्चजाति के लोग म्लेच्छ कन्याएँ ब्याहते आए हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ये सब ही शूद्र कन्याओंको ब्याह सकते हैं। ऐसी आज्ञा तो आदि पुराणमें स्पष्ट ही लिखी है *। हिंदुओं के मान्यग्रन्थ मनुस्मृतिमें भी ऐसा ही लिखा है ×। अबसे सौ दो सौ बरस पहले अरब के लोग अफ़रीका के हब्शियोंको जंगली पशुओं की तरह पकड़ लाते थे, और देश देशान्तरोंमें लेजाकर पशुओं ही के समान बेच देते थे, जो खरीदते थे वे उनको गुलाम बनाकर पशु समान ही काम लेते थे। अनुमान सौ बरस से गुलामी की प्रथा बन्द हो जानेके कारण वे लोग अब आज़ाद हो गए हैं और विद्याध्ययन करके बड़े बड़े विद्वान् तथा गुणवान बन गए हैं— यहां तक कि उनमें से कोई कोई तो अमरीका जैसे विशाल राज्यका सभापति चुना गया है और उसने बड़ी योग्यता के साथ वहाँ राज्य किया है।

मनुष्यपर्याय सब पर्यायोंमें उच्चतम मानी गई है, यहाँ तक कि वह देवोंसे भी ऊँची है; तब ही तो उच्चजाति के देव भी इस मनुष्य पर्यायको पाने के लिए लालायित रहते हैं, मनुष्य पर्यायकी प्रशंसा सभी शास्त्रों ने मुक्त-कण्ठसे गाई है। यहां हमको मनुष्यजातिको देवोंसे उच्च सिद्ध नहीं करना है, केवल इतना ही करना है कि देवोंके समान मनुष्य भी सब उच्चगोत्री ही हैं। जिस प्रकार देवों-

* *शूद्रा शूद्रेण वोढव्या नान्था स्वां तां च नैगमः ।*
वहेत्स्वां ते च राजन्यः स्वां द्विजन्मा क्वचिच्च ताः ॥

× *शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशः स्मृते ।*
ते च स्वा चैव राज्ञश्च ताश्च स्वा चाग्रजन्मनः ॥

में नौकर, चाकर, हाथी घोड़ा आदि सवारी बनाने वाले, चण्डालका काम करने वाले अछूत, भूत-प्रेत-राक्षस और व्यंतर जैसे नीच काम करनेवाले पापी देव सबही उच्चगोत्री हैं, उसही प्रकार मनुष्य भी घटिया से घटिया और बढ़िया से बढ़िया सब ही उच्चगोत्री हैं। गोमटसार-कर्मकाण्ड गाथा नं० १८ में यह बात साफ़ तौर से बताई गई है कि नीच-उच्चगोत्र भावोंके अर्थात् गतियोंके आश्रित हैं। जिससे यह स्पष्टतया ध्वनित है कि नरक-भव और तिर्यंच-भव केसब जीव जिस प्रकार नीचगोत्री हैं उसी प्रकार देव और मनुष्य-भव वाले सब जीव भी उच्चगोत्री हैं। यथा—

"भवमस्सिय णीचुच्चं इदि गोदं।"

तत्वार्थसूत्र अध्याय ८ सूत्र २५ की प्रसिद्ध टीकाओं में—सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक और श्लोकवार्तिकमें—देव और मनुष्य ये दो गतियां शुभ वा श्रेष्ठ और उच्च बताई हैं और नरक तथा तिर्यंच ये दो गतियां अशुभ वा नीच, इसी कारण गोम्मटसार-कर्मकाण्ड गाथा २८५ में मनुष्यगति और देवगति में उच्चगोत्रका उदय बताया है। यथा—

गदिआणुआउउदओ सपदे भूपुण्णबादरे ताओ।
उच्चुदओ णरदेवे थीणतिगुदओ णरे तिरिये ॥

इसी प्रकार गाथा २९० और २९४ के द्वारा नारकीयों तथा तिर्यंचों में नीचगोत्रका उदय बताया है, जिससे चारों ही गतियोंका बटवारा ऊंच और नीच दो गोत्रों में इस प्रकार हो गया है कि नरक और तिर्यंच ये दो भव तो नीचगोत्री और देव तथा मनुष्य ये दो भव उच्चगोत्री हैं। 'जिस प्रकार सभी नारकी और सभी तिर्यंच नीचगोत्री हैं उसी प्रकार सभी देव और सभी मनुष्य उच्चगोत्री हैं, ऐसा गोमटसार में लिखा है,' यह बात सुनकर हमारे बहुत से भाई चौंकेंगे! 'सभी देव उच्चगोत्री हैं,' इसका तो शायद उन्हें कुछ फिकर न होगा; परन्तु 'सभी मनुष्य उच्चगोत्री हैं', यह बात एकदम माननी उनके लिये मुश्किल जरूर होगी, इस कारण इसके लिये कुछ और भी प्रबल प्रमाण देनेकी ज़रूरत है। श्रीतत्त्वार्थसूत्रमें आर्य और म्लेच्छ ये दो भेद मनुष्य-जातिके बताये गये हैं, अगर प्रबल शास्त्रीय प्रमाणों से यह बात सिद्ध हो जावे कि म्लेच्छ खण्डोंके म्लेच्छ भी सब उच्चगोत्री हैं तो आशा है कि उनका यह भ्रम दूर हो जायगा। अस्तु।

गोम्मटसार-कर्मकाण्ड गाथा २६७ और ३०० के कथनानुसार नीचगोत्रका उदय पांचवें गुणस्थान तक ही रहता है, इसके ऊपर नहीं* अर्थात् छठे गुणस्थान और उसके ऊपरके गुणस्थानोंमें नीचगोत्रका उदय नहीं है अथवा यों कहिये कि नीचगोत्री पांचवें गुणस्थानसे ऊपर नहीं चढ़ सकता, छठा गुणस्थानी नहीं हो सकता और न सकल संयम ही धारण कर सकता है। बहुधा हमारे जैनी भाई श्रीधवल और जयधवल आदि सिद्धान्त ग्रन्थोंको नमस्कार करनेके वास्ते जैनबिद्री-मूडबिद्रीकी यात्रा करते हैं। उनमें से श्रीजयधवल ग्रन्थमें स्पष्ट तौर पर सिद्ध किया है कि म्लेच्छखण्डों के म्लेच्छ भी सकल संयम धारण कर सकते हैं—छठे गुणस्थानी मुनि-साधु हो सकते हैं। दिगम्बर आम्नाय में यह शास्त्र बहुत ही ज्यादा माननीय है। इसके सिवाय, श्रीलब्धिसारकी

* *देसे तदियकसाया तिरिया उज्जोव णीचतिरियगदी। छट्ठे आहारदुगंथीणतियं उदयवोच्छिण्णा ॥ २६७ ॥*

देसे तदियकसाया णीचं एमेव मणुससामण्णे।
पज्जत्तेवि य इत्थी वेदाऽपज्जत्तिपरिहीणा ॥ ३०० ॥

संस्कृति टीका में भी ज्यों का त्यों ऐसा ही कथन मिलता है। ये दोनों महान् प्रमाण नीचे उद्धृत किये जाते हैं —

"जइ एवं कुदो तत्थ संजमग्गहणसंभवो त्ति णासंकणिज्जं । दिसाविजयट्टचक्कवट्टिखंधावारेण सह मज्झिमखंडमागयाणं मिलेच्छरायाणं तत्थ चक्कवट्टिआदीहिं सह जादवेवाहियसंबंधाणं संजमपडिवत्तीए विरोहाभावादो। अहवा तत्तत्कन्यकानां चक्रवर्त्यादिपरिणीतानां गर्भेषूत्पन्ना मातृपक्षापेक्षया स्वयमकर्मभूमिजा इतीह विवक्षिताः ततो न किञ्चिद्विप्रतिषिद्धम्। तथाजातीयकानां दीक्षार्हत्वे प्रतिषेधाभावादिति।"

—जयधवला, आरा-प्रति, पत्र ८२७-२८

"म्लेच्छभूमिज-मनुष्याणां सकलसंयमग्रहणं कथं भवतीति नाशंकितव्यम्। दिग्विजयकाले चक्रवर्तिना सह आर्यखण्डमागतानां संयमप्रतिपत्तेरविरोधात्। अथवा तत्कन्यानां चक्रवर्त्यादि परिणीतानां गर्भेषूत्पन्नस्य मातृपक्षापेक्षया म्लेच्छव्यपदेशभाजः संयमसम्भवात् तथाजातीयकानां दीक्षार्हत्वे प्रतिषेधाभावात् ।"

—लब्धिसार-टीका (गाथा १९३ वीं)

इन दोनों लेखोंका भावार्थ इस प्रकार है कि— 'म्लेच्छ भूमिमें उत्पन्न हुए मनुष्योंके सकल संयम कैसे हो सकता है, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये; क्योंकि दिग्विजय के समय चक्रवर्तीके साथ आए हुए उन म्लेच्छ राजाओंके, जिनके चक्रवर्ती आदिके साथ वैवाहिक सम्बन्ध उत्पन्न हो गया है, संयमप्राप्तिका विरोध नहीं है; अथवा चक्रवर्त्यादि के साथ विवाही हुई उनकी कन्याओं के गर्भ से उत्पन्न पुरुषोंके, जो मातृपक्षकी अपेक्षा म्लेच्छ ही कहलाते हैं, संयमोपलब्धिकी सम्भावना होनेके कारण; क्योंकि इस प्रकार की जाति वालों के लिये दीक्षाकी योग्यता का निषेध नहीं है।'

इन लेखोंमें श्रीआचार्य महाराजने यह बात उठाई है कि म्लेच्छ-भूमिमें पैदा हुये जो भी म्लेच्छ हैं उनके सकलसंयम होनेमें कोई शंका न होनी चाहिये—सभी म्लेच्छ सकलसंयम धारण कर सकते हैं, मुनि हो सकते हैं और यथेष्ट धर्माचरणका पालन कर सकते हैं। उनके वास्ते कोई खास रोक-टोक नहीं है। अपने इस सिद्धान्त को पाठकों के हृदय में बिठानेके वास्ते उन्होंने दृष्टान्तरूपमें कहा है कि जैसे भरतादि चक्रवर्तियों की दिग्विजयके समय उनके साथ जो म्लेच्छ राजा आये थे अर्थात् जिन म्लेच्छ राजाओंको जीत कर अपने साथ आर्यखण्डमें लाया गया था और उनकी कन्याओं का विवाह भी चक्रवर्ती तथा अन्य अनेक पुरुषोंके साथ हो गया था, उन म्लेच्छ राजाओंके संयम ग्रहण करने में कोई ऐतराज नहीं किया जाता—अर्थात् जिस प्रकार यह बात मानी जाती है कि उनको सकलसंयम हो सकता है उसी प्रकार म्लेच्छखंडों में रहने वाले अन्य सभी म्लेच्छ आर्यखण्डोद्भव आर्यों की तरह सकलसंयम के पात्र हैं*।

दूसरा दृष्टान्त यह दिया है कि जो म्लेच्छकन्याएँ चक्रवर्ती तथा अन्य पुरुषों से व्याही गई थीं उनके गर्भसे उत्पन्न हुए पुरुष यद्यपि मातृपक्ष की अपेक्षा म्लेच्छ

**म्लेच्छखण्डों में तो काल भी चतुर्थ वर्तता है; जैसा कि त्रिलोकसार की निम्न गाथा नं० ८८३ से प्रकट है—*

भरहइरवदपणपण मिलेच्छखण्डेसु खयरसेढीसु।
दुस्समसुसमादीदो, अंतोत्ति य हाणिवड्ढी य॥

ही थे—माताकी जाति ही सन्तानकी जाति होती है, इस नियमके अनुसार जाति उनकी म्लेच्छ ही थी—तो भी मुनिदीक्षा ग्रहण करनेका उनके वास्ते निषेध नहीं है—वे सकल-संयम ग्रहण कर सकते हैं। इसी प्रकार म्लेच्छखंड के रहने वाले दूसरे म्लेच्छ भी सकल संयम ग्रहण कर सकते हैं। परन्तु सकल संयम उच्चगोत्री ही ग्रहण कर सकते हैं, इस कारण इन महान् पूज्य ग्रन्थों के उपर्युक्त कथनसे कोई भी संदेह इस विषयमें बाक़ी नहीं रहता कि म्लेच्छ खंडोंके रहने वाले सभी म्लेच्छ उच्चगोत्री हैं। जब कर्मभूमिज म्लेच्छ भी सभी उच्चगोत्री ह औरआर्य तो उच्चगोत्री हैं ही, तब सार यही निकला कि कर्मभूमि के सभी मनुष्य उच्चगोत्री हैं और सकल संयम ग्रहण करने की योग्यता रखते हैं।

अब रही भोगभूमिया मनुष्योंकी बात, जो खेती वा कारीगरी आदि कोई भी कर्म नहीं करते, कल्पवृक्षोंसे ही अपनी सब जरूरतें पूरी कर लेते हैं, लड़का और लड़की दोनों का इकट्ठा जोड़ा माँके पेट से पैदा होता है, वे ही आपसमें पति-पत्नी बन जाते हैं और सन्तान पैदा करते हैं। ये सबभी उच्चगोत्री ही कहे गए हैं। हाँ, इनके अतिरिक्त अन्तरद्वीपोंमें अर्थात् लवणसमुद्रादि के टापुओंमें रहनेवाले कुभोगभूमिया मनुष्य भी हैं, जो अन्तरद्वीपज म्लेच्छ कहलाते हैं। वे भी कर्मभूमियों जैसे कोई कर्म नहीं करते और न कर सकते हैं। इनमेंसे कोई सींगवाले, कोई पूँछवाले, कोई ऐसे लम्बे कानों वाले जो एक कानको ओढ़ लेवें और एकको बिछा लेवें, कोई घोड़े-जैसा मुखवाले, कोई सिंह जैसा, कोई कुत्ते-जैसा, कोई भैंसे-जैसा, कोई उल्लू-जैसा, कोई बंदर-जैसा, कोई हाथी-जैसा, कोई गाय-जैसा, कोई मैंढे-जैसा और कोई सूअर-जैसा मुख वाले हैं, प्रायः पेड़ों पर रहते हैं—कोई गुफाओं में भी, कच्चे फल-फूल खाकर ही अपना पेट भरते हैं, कोई एक जंघावाले भी हैं और मिट्टी खाते हैं। इनकी शकलों तथा पेड़ों पर रहने और फल-फूल खाने आदिसे तो यही मालूम होता है कि, ये पशु ही हैं। सम्भव है कि खड़े होकर दो पैरोंसे चलने आदिकी कोई बात इनमें ऐसी हो जिससे ये मनुष्योंकी गिनतीमें गिन लिये गये हों। परन्तु कुछ भी हो, अपनी आकृति, प्रवृत्ति और लोक-पूजित कुलोंमें जन्म न होनेके कारण इनका गोत्र तो नीच ही समझना चाहिये।

नीचगोत्री जीव अधिकसे अधिक पाँचवाँ गुणस्थान प्राप्त कर सकता है—अर्थात् श्रावकके व्रत धारण कर सकता है—सकलसंयम धारण कर छठा गुणस्थान प्राप्त नहीं कर सकता; जैसा कि पूर्वोद्धृत गोम्मटसार, कर्मकाण्ड गाथा २९७,३०० से प्रकट है। इस कथन पर पाठक यह आशंका कर सकते हैं कि जब गोत्रकर्मका धर्माचरणसे कोई ख़ास सम्बन्ध नहीं है, महापापी असुरकुमार, भूत-पिशाच तथा राक्षस-जातिके देव भी उच्चगोत्री हैं और उच्चगोत्रका लक्षण एकगोत्र लोकमान्य कुलों में पैदा होना ही है, तब यह बात कैसे संगत हो सकती है कि नीचगोत्री पंचमगुणस्थान तक ही धर्माचरण कर सकता है?

इस विषयमें पाठकगण जब इस बातपर दृष्टि डालेंगे कि वे नीचगोत्री हैं कौन? तब उनकी यह शंका बिल्कुलही निर्मूल होकर उल्टी यह शंका खड़ी हो जायगी कि वे तो पंचमगुणस्थानी भी कैसे हो सकते हैं? नारकी, तिर्यंच और अन्तरद्वीपज ये ही तो नीचगोत्री हैं। इनमें से नारकी बेचारे तो भयंकर दुःखोंमें पड़े रहनेके कारण ऐसे महा संक्लेश परिणामी रहते हैं कि उनके लिए तो किसी प्रकारका व्रतधारण करना ही अर्थात् पंचमगुणस्थानी होना भी असम्भव बताया गया है। तिर्यंचोंमें भी सबसे

ऊँची अवस्थावाले संज्ञी पंचेन्द्रिय हैं, उनकी भी ऐसी नीच अवस्था है कि उनमें न तो आपसमें बातचीत करनेकी ही शक्ति है, न उपदेशके सुनने-समझनेकी, कोई नया विचार या कोई नई बात भी वे नहीं निकाल सकते। इसीसे वे अपने जीवनके नियमोंमें भी कोई उन्नति या परिवर्तन नहीं कर सकते हैं। कौवा जैसा घोंसला बनाता चला आ रहा है वैसाही बनाता है, चिड़ियाकी जो रीति है वह वैसा ही करती है, बयाकी जातिमें जैसा घोंसला बनता चला आरहा है वैसा ही वह बनाता है, शहदकी मक्खी और भिरड़ भी अपनी-अपनी जातिके नियमके अनुसार जैसा छत्ता बनाती आरही है वैसा ही बनाती है—रत्तीभर भी कोई फेर-फार नहीं हो सकता है। ऐसा ही दूसरे सब तिर्यंचोंका हाल है। इसी कारण उनकी बुद्धिको पश्चिमी विद्वानोंने Instinct of Bruits अर्थात् पशु-बुद्धि कहा है, जो बहुधाकर उसी प्रकार प्रवर्तती है जिस प्रकार कि पुद्गलपदार्थ बिना किसी सोच समझ के अपने स्वभावानुसार प्रवर्तते हैं। ऐसी दशा में संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च किस प्रकार सप्ततत्त्वोंका स्वरूप समझकर सम्यग्दर्शन ग्रहण कर सकते हैं और सम्यग्दृष्टि होने पर किस प्रकार श्रावकके व्रत धारण कर पंचम गुणस्थानी हो सकते हैं? यह बात असम्भवसी ही प्रतीत होती है; परन्तु उनको जाति-स्मरण हो सकता है अर्थात् किसी भारी निमित्त कारण के मिलने पर पूर्वभवके सब समाचार याद आ सकते हैं, जिससे उनकी बुद्धि जाग्रत होकर वे धर्म का श्रद्धान भी कर सकते हैं और नाममात्रको कुछ संयमभी धारण कर सकते हैं। इस प्रकार नीचगोत्रियोंकी अत्यन्त पतित अवस्था होने से उनमें सकल संयम की अयोग्यता पाई जाती है और इसी कारण यह कहा गया है कि नीच-गोत्री पंचम गुणस्थान से ऊपर नहीं चढ़ सकते हैं।

यही हाल अन्तरद्वीपजोंका समझ लेना चाहिये, जो मोटे रूप में तिर्यंचोंके ही समान मालूम होते हैं। उनके अस्तित्वका पता आजकल मालूम न होनेसे और शास्त्रों में भी उनका विशेष वर्णन न मिलनेके कारण उनकी बाबत अधिक कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। हाँ, उनका नाम आते ही इतना अफ़सोस ज़रूर होता है कि पशु-समान अपनी पतित अवस्थाके कारण उनका नीचगोत्री होना तो ठीक ही है; परन्तु उनको मनुष्योंकी गणनामें रखनेसे मनुष्यजाति नाहक़ ही इस बातके लिये कलंकित होती है कि उनमें भी नीचगोत्री होते हैं।

जान पड़ता है अन्तरद्वीपजोंको म्लेच्छ-मनुष्योंकी कोटिमें शामिल कर देनेसे ही मनुष्योंमें ऊंच-नीचरूप उभयगोत्रकी कल्पनाका जन्म हुआ है—किसी ने अन्तरद्वीपजोंको भी लक्ष्यमें रखते हुए, मनुष्योंमें सामान्यरूपमें दोनों गोत्रोंका उदय बतला दिया; तब दूसरोंने, वैसी दृष्टि न रखते हुये, अन्तरद्वीपजोंसे भिन्न मनुष्योंमें भी, ऊँच-नीचगोत्रकी कल्पना कर डाली है। अन्यथा, जो वास्तवमें मनुष्य हैं उनमें नीचगोत्रका उदय नहीं—उन्हें तो बराबर ऊँचा उठते तथा अपनी उन्नतिकी ओर क़दम बढ़ाते हुए देखते हैं। उदाहरण के लिये अफ़रीकाकी पतितसे पतित मनुष्यजाति भी आज उन्नतिशील है—अपनी कहने, दूसरोंकी सुनने, उपदेश ग्रहण करने, हिताहितको समझने, व्यवहार परिवर्तन करने, और अन्य भी सब प्रकारसे उन्नतिशील होनेकी उसमें शक्ति है। उसके व्यक्तियोंमें Instinct of Bruits अर्थात् पशुबुद्धि नहीं है, किंतु मनुष्यों-जैसा उन्नतिशील दिमाग़ है; तबही तो वे ईसाई पाद-रियों आदिके उपदेशसे अपने असभ्य और कुत्सित व्यव-

हारोंको छोड़कर दिनप्रतिदिन उन्नति करते चले जा रहे हैं और सभ्य बनने लग गये हैं। इन्हीं में से जो लोग अरबवालोंके द्वारा पकड़े जाकर अमरीका में गुलाम बनाकर बेचे गये थे उन्होंने तो ऐसी अद्भुत उन्नति करली है कि जिसको सुनकर अचम्भा होता है। उनमेंसे बहुतसे तो आजकल कालिजों में प्रोफैसर हैं और कई अन्य प्रकारसे अद्वितीय विद्वान हैं, यहाँ तक कि कोई कोई तो अमरीका जैसे विशाल द्वीपके मुख्य शासक (President) रह चुके हैं। वास्तवमें सबही कर्मभूमिज गर्भज मनुष्योंकी एक मनुष्य जाति है, उनमें परस्पर घोड़े-बैल जैसा अन्तर नहीं है, सभी में सांसारिक और परमार्थिक उन्नतिके ऊँचेसे ऊँचे शिखरपर पहुँचने की योग्यता है, और वे सब ही नारकियों, तिर्यंचों तथा अन्तरद्वीपजोंसे बिल्कुलही विलक्षण हैं और बहुत ज्यादा ऊँचे पदपर प्रतिष्ठित हैं—इसीसे उच्चगोत्री हैं।

गोमटसार और श्रीजयधवल आदि सिद्धांत ग्रन्थों के अनुसार यह बात सिद्ध करनेके बाद कि आर्य और म्लेच्छ सब ही कर्मभूमिया मनुष्य उच्चगोत्री हैं, अब हम श्रीविद्यानन्द स्वामीके मतका उल्लेख करते हैं, जो उन्होंने श्लोकवार्तिक अध्याय ३, सूत्र ३७ के प्रथम वार्तिककी निम्न टीकामें दिया है—

"उच्चैर्गोत्रोदयादेरार्याः, नीचैर्गोत्रोदयादेश्च म्लेच्छाः।"

अर्थात्—उच्चगोत्रके उदयके साथ अन्य कारणोंके मिलने से आर्य और नीचगोत्रके उदय के साथ अन्य कारणोंके मिलनेसे म्लेच्छ होता है *। भावार्थ जो आर्य है उसके उच्चगोत्र का उदय ज़रूर है और जो म्लेच्छ है उसके नीच गोत्रका उदय अवश्य है। आर्य और म्लेच्छ कौन हैं, इसको श्रीअमृतचन्द्राचार्यने तत्वार्थसार अध्याय १, श्लोक २१२ में इस प्रकार बतलाया है—

आर्यखण्डोद्भवा आर्या म्लेच्छाः केचिच्छकादयः।
म्लेच्छखण्डोद्भवा म्लेच्छा अन्तरद्वीपजा अपि॥

अर्थात्—जो मनुष्य आर्यखण्ड में पैदा हों वे सब आर्य हैं, जो म्लेच्छखण्डोंमें उत्पन्न होने वाले शकादिक हैं वे सब म्लेच्छ हैं। और जो अन्तरद्वीपोंमें उत्पन्न होते हैं वे भी सब म्लेच्छ ही हैं। श्लोकवार्तिकमें म्लेच्छोंका पता इस प्रकार दिया है

"तथान्तर्द्वीपजा म्लेच्छाः परे स्युः कर्मभूमिजाः।"...
"कर्मभूमिभवा म्लेच्छाः प्रसिद्धा यवनादयः।"...

अर्थात्—म्लेच्छोंके 'अन्तरद्वीपज' और 'कर्मभूमिज' ऐसे दो भेद हैं। जो कर्मभूमिमें पैदा हुए म्लेच्छ हैं वे यवन आदि प्रसिद्ध हैं। इससे स्पष्ट है कि श्रीविद्यानन्द आचार्यने यवनादिकको म्लेच्छखण्डोद्भव म्लेच्छ माना है, और इस तरह उनके तथा अमृतचन्द्राचार्यके कथन की एक-वाक्यता सिद्ध होकर दोनों की संगति ठीक बैठ जाती है — शकादिक और यवनादिक कहने में वस्तुतः

** श्री गोम्मटसारादि सिद्धान्त ग्रन्थों के उक्त कथनकी रोशनी में विद्यानन्दाचार्यका यह आर्य-म्लेच्छ विषयक स्वरूप-कथन कुछ सदोष जान पड़ता है। पूज्यपाद-अकलंकादि दूसरे किसी भी प्राचीन आचार्य का ऐसा अभिमत देखने में नहीं आता। अतः जिन विद्वानों को यह कथन निर्दोष जान पड़े उनसे निवेदन है कि वे स्वरूपकथन में प्रयुक्त हुए 'आदि' शब्द के वाच्य को स्पष्ट करते हुए आगम तथा सिद्धांतों ग्रन्थों के इस कथन की संगति ठीक करने की कृपा करें, जिससे यह विषय अधिक प्रकाश में लाया जा सके।*

—सम्पादक

कोई अन्तर नहीं। सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक आदि ग्रन्थों में शक, यवन, शबर, पुलिन्दादिको कर्मभूमिज म्लेच्छ बतलाया ही है। अस्तु ये शक, यवनादिक कौन थे और अब इनका क्या हुआ? इसपर एक विस्तृत लेख के लिखे जानेकी ज़रूरत है जिससे यह विषय साफ़-साफ़ रोशनी में आजाय। हो सका तो इसके अनन्तर उसके लिखनेकी कोशिश की जावेगी।

यहाँ सबसे पहले यह जाननेकी ज़रूरत है कि आर्य-खंडकी हद कहाँ तक है। भरतक्षेत्रकी चौड़ाई ५२६ योजन ६ कला है। इसके ठीक मध्यमें ५० योजन चौड़ा विजयार्ध पर्वत है, जिसे घटाकर दो का भाग देनेसे २३८ योजन ३ कलाका परिमाण आता है; यही आर्य खण्डकी चौड़ाई बड़े योजनों से है, जिसके ४७६००० से भी अधिक कोस होते हैं, और यह संख्या आजकलकी जानी हुई सारी पृथिवीकी पैमाइशसे बहुतही ज्यादा-कई गुणी अधिक है। भावार्थ इसका यह है कि आज कल की जानी हुई सारी पृथिवी तो आर्यखण्ड ज़रूर ही है और आजकलकी जानी हुई इस सारी पृथिवी पर रहने वाले सभी मनुष्य आर्य होनेसे उच्चगोत्री भी ज़रूर ही हैं।

सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक और श्लोकवार्तिक आदि महान् ग्रन्थोंमें क्षेत्र-आर्य, जाति-आर्य, कर्म-आर्य, चारित्र-आर्य और दर्शन-आर्य ऐसे पांच प्रकारके आर्य बतलाये हैं। जो आर्यखण्डमें उत्पन्न हुए हैं—ब्राह्मण हों वा शूद्र, छूत हों वा अछूत यहाँके क़दीम रहने वाले (आदिम निवासी) हों वा म्लेच्छखण्डों से आकर बसे हुये स्त्री-पुरुषोंकी सन्तानसे हों, वे सब क्षेत्र-आर्य हैं। जाति-आर्य वे कहलाये जा सकते हैं, जो सन्तान क्रमसे आर्य हैं, परन्तु इस समय आर्य क्षेत्रों में न रहकर म्लेच्छ-देशोंमें जाबसे हैं। पहले, दूसरे और तीसरे कालमें इस आर्यखण्डमें भोगभूमिया रहते थे, जो अतिउत्तम आर्य तथा उच्चगोत्री थे और कल्पवृक्षोंसे ही अपनी सब इच्छित वस्तुएँ प्राप्त कर लेते थे। तीसरे कालके अन्त में कल्पवृक्ष समाप्त हो गए, तब श्रीऋषभदेव भगवान् ने उनको क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्ररूप तीन भेदों में बाँट कर, खेती, पशु-पालन, व्यापार, सेवा और सिपाही-गीरी आदिके कर्म सिखाए। तत्पश्चात् भरत महाराज ने उन्हीं तीनों में से कुछ मनुष्योंकी एक चौथी ब्राह्मण जाति बनाई। इन चारों ही जातियोंकी सन्तानें, जिनमें छूत-अछूत सभी शामिल हैं, आर्य-सन्तान होनेसे जाति-आर्य हैं।

कर्म आर्योंका वर्णन करते हुए श्री अकलंकदेवने राजवार्तिकमें लिखा है कि वे तीन प्रकारके हैं—एक सावद्यकर्मार्य दूसरे अल्पसावद्यकर्मार्य, तीसरे असावद्य-कर्म-आर्य। पिछले दो भेदोंका अभिप्राय देशव्रतियों तथा महाव्रतियोंसे है। रहे सावद्यकर्मार्य, वे ऐसे कर्मोंसे आजीविका करने वाले होते हैं जिनमें प्रायः पाप हुआ करता है। उनके छह भेद हैं—(१) जो तीर तलवार आदि हथियार चलाने में होशियार हों— फौज, पुलिस के सिपाही और शिकारी आदि वे असिकर्मार्य (२) जो आमद ख़र्च आदि लिखने में दक्ष हों वे मसिकर्मार्य (३) जो खेतीके औजार चलाना जानने वाले, स्वयं खेतीहर, हलचलाने, खेत नौराने, झाड़झूंड़ काटने, घास खोदने, पानी सींचने, खेती काटने, ईख छीलने आदि खेतके कामकी मज़दूरी करने वाले हों वे कृषिकर्मार्य, (४) जो चित्रकारी आदि ७२ प्रकारके कलाकार—जैसे चित्रकार, बहुरूपिये, नट, बादी, नाचनेवाले, गानेवाले, ढोल-मृदङ्ग-वीणा-बांसरी-सारङ्गी-दोतारा-सितार आदि बजानेवाले, बजेवाले, इन्द्रजालिये, अर्थात् बाजीगर,

जुए के खिलाड़ी उबटन आदि सुगन्ध वस्तु बनाने वाले शरीरको मलने और पैर चापी करने वाले, चिनाई के वास्ते ईंट बनाने वाले, चूना फूंकने वाले, पत्थर काटने वाले, जर्राही अर्थात् शरीर को फाड़ने चीरने वाले, लोकरंजन आदि करने वाले भाँड, कुश्तीके पहलवान, डण्डों से लड़ने वाले पटेबाज आदि विद्याकर्मार्य, (५) धोबी, नाई, लुहार, कुम्हार, सुनार आदि-आदि शब्दसे, मरे पशुओं की खाल उतारने वाले, जूता बनाने वाले चर्मकार, बांस की टोकरी और छाज बनानेवाले बँसफोड़ आदि शिल्पकर्मार्य, (६) चन्दनादि गन्धद्रव्य, घी आदि रस, चावल आदि अनाज और रुई-कपास मोती आदिका संग्रह करके व्यापार करनेवाले वणिककर्मार्य। इस तरह ये छहों प्रकारके कर्म करनेवाले श्री अकलंकदेवके कथनानुसार सावद्यकर्म-आर्य हैं। परन्तु ये उपरोक्त छहों कर्म क्षेत्र-आर्य और जाति-आर्य तो करते ही हैं, तब ये कर्म-आर्य म्लेच्छ खंडोंमें रहनेवाले म्लेच्छ ही होसकते हैं, जो आर्यों के समान उपर्युक्त कर्म करने लगे हैं, इसीसे कर्म-आर्य कहलाते हैं।

ये सभी प्रकारके आर्य श्रीविद्यानन्दके मतानुसार उच्चगोत्री होते हैं अर्थात् कर्मभूमिके सब म्लेच्छ भी आर्योंके समान कर्म करने से कर्म-आर्य हो जाते हैं। इनको छोड़ कर जो म्लेच्छ बच रहे हों वे ही नीचगोत्री रह जाते हैं,और वे सिवाय अन्तरद्वीपजोंके और कोई भी नहीं हो सकते हैं— वे ही खेती, कारीगरी आदि कोई भी आर्य-कर्म करने के योग्य नहीं हैं और न आर्य-क्षेत्रों में उनका आगमन अथवा निवास ही बनता है। इस प्रकार विद्यानन्दस्वामीके मतानुसार भी यही परिणाम निकल आता है कि अन्तरद्वीपजोंके सिवाय वर्तमान संसारके सभी मनुष्य उच्चगोत्री हैं।

अन्तमें व्यावहारिक दृष्टिसे ऊँच-नीचताका विचार करनेके लिये पाठकोंसे हमारा यह नम्र निवेदन है कि वे श्रीप्रभाचन्द्राचार्य-रचित प्रमेयकमलमार्तण्डके चतुर्थ अध्यायको अवश्य पढ़ें, जिसमें श्रीआचार्य महाराजने अनेक अकाट्य युक्तियों के द्वारा यह सिद्ध किया है कि जाति सब मनुष्योंकी एक ही है, जन्मसे उसमें भेद नहीं है, जो जैसा काम करने लगता है वह वैसा ही कहलाता है। प्रतिपक्षी इस विषयमें जो भी कुछ तर्क उठा सकता है उस सबका एक-एक करके श्रीआचार्य महाराजने बड़ी प्रबल युक्तियोंसे खंडन किया है, जिससे यह कथन बहुत विस्तृत हो गया है। इसी से उसको हम यहां उद्धृत नहीं कर सके हैं। उसको पाठक स्वयं पढ़लें, ऐसी हमारी प्रार्थना है। हाँ अन्य ग्रन्थोंके कुछ वाक्य लिखेजाते हैं, जिनसे व्यवहारिक दृष्टिकी ऊँच-नीचताके विषयमें पूर्वाचार्यों का कुछ अभिमत मालूम होसके और उससे हृदयमें बैठी हुई चिरकालकी मिथ्या रूढिका विनाश होकर सत्यकी खोज के लिए उत्कण्ठा पैदा होसके, और पूरी खोज होजानेपर अनादि कालका मिथ्यात्व दूर होकर सम्यक्श्रद्धान पैदा होसके। वे वाक्य इस प्रकार हैं,

दीक्षायोग्यास्त्रयो वर्णाश्चतुर्थश्च विधोचितः।
मनोवाक्कायधर्माय मताः सर्वेऽपि जन्तवः॥
उच्चावचजनप्रायः समयोऽयं जिनेशिनाम्।
नैकस्मिन् पुरुषे तिष्ठेदेकस्तम्भ इवालयः॥
—यशस्तिलक चम्पू

भावार्थ—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ये तीनों तो दीक्षा के योग्य हैं ही, किन्तु शूद्र भी विधि द्वारा दीक्षाके योग्य हैं। मन-वचन-कायसे पालन किये जाने वाले धर्मके सब ही अधिकारी हैं। जिनेन्द्र भगवानका यह धर्म-ऊँच नीच दोनों ही प्रकारके मनुष्योंके आधार पर टिका हुआ है। एक स्तम्भके आधार पर जिस तरह

मकान नहीं ठहर सकता उसही तरह ऊँच वा नीचरूप एकही प्रकारके मनुष्योंके आधार पर धर्म नहीं ठहर सकता है।

न जातिर्गर्हिता काचिद् गुणाः कल्याणकारणम् ।
व्रतस्थमपि चाण्डालं तं देवा ब्राह्मणं विदु ॥

—पद्मचरित

भावार्थ—कोई भी जाति निन्दनीय नहीं है, मनुष्य के गुण ही कल्याण करनेवाले होते हैं, व्रतधारी चांडाल भी महापुरुषों द्वारा ब्राह्मण माना जाता है।

सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम् ।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढांगारान्तरौजसम् ॥

—रत्नकरण्डजात

भावार्थ—चाण्डालकी सन्तानभी सम्यग्दर्शन ग्रहण करनेसे देवों द्वारा देव (आराध्य) मानी जाती है।

चातुर्वर्ण्यं यथान्यच्च चाण्डालादिविशेषणम् ।
सर्वमाचारभेदेन प्रसिद्धिं भुवने गतम् ॥

—पद्मचरित

भावार्थ—ब्रह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और चांडाल सब आचारणके भेदसे ही भेद रूप माने जाते हैं।

आचारमात्रभेदेन जातीनां भेदकल्पनम् ।
न जातिर्ब्राह्मणीयास्ति नियता क्वापि तात्त्विकी ॥
गुणैः सम्पद्यते जातिर्गुणध्वंसैर्विपद्यते ।

—धर्मपरीक्षा

भावार्थ—ब्राह्मणादि जाति कोई वास्तविक जाति नहीं है, एकमात्र आचारके भेदसे ही जातिभेदकी कल्पना होती है। गुणोंके प्राप्त करनेसे जाति प्राप्त होती है और गुणोंके नाश होने से वह नष्ट भी होजाती है।

चिह्नानि विटजातस्य सन्ति नाङ्गेषु कानिचित् ।
अनार्यमाचरन् किञ्चिज्जायते नीचगोचरः ॥

—पद्मचरित

भावार्थ—व्यभिचारसे अर्थात् हरामसे पैदा हुएका कोई निशान शरीरमें नहीं होता है, जिससे वह नीच समझा जावे। अतः जिसका आचरण अनार्य अर्थात् नीच हो वहही लोकव्यवहार में नीच समझा जाता है—गोत्रकर्म मनुष्योंको नीच नहीं बनाता।

विप्रक्षत्रियविट्शूद्राः प्रोक्ताः क्रियाविशेषतः ।
जैनधर्मे पराः शक्तास्ते सर्वे बान्धवोपमाः ॥

—धर्मरसिक

भावार्थ—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये सब अपनी अपनी कुछ क्रियाविशेषके कारण ही भेदरूप कहे जाते हैं। वास्तवमें जैनधर्मको धारण करने के लिये सभी समर्थहैं, और उसे पालन करते हुए सब परस्परमें भाई भाईके समान हैं। अस्तु।

अब इस गोत्र कर्मके लेखको समाप्त करनेसे पहले यह भी प्रकट कर देना ज़रूरी है कि किन कारणोंसे उच्चगोत्र कर्मका बन्ध होता है और किन कारणोंसे नीच गोत्रका। इसकी बाबत तत्वार्थसूत्र, अध्याय ६ ठे के सूत्र नं० २५, २६ इस प्रकार हैं:—

"परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य ॥ २५ ॥"

"तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य ॥" २६ ॥

इनमें बतलाया है किअपनी बड़ाई और दूसरोंकी निंदा करनेसे—दूसरोंके विद्यमान गुणोंकोभी ढाँकने और अपने अनहोते गुणोंकोभी प्रकट करनेसे नीचगोत्रकर्म पैदा होता है। प्रत्युत इसके दूसरोंकी बड़ाई और अपनी

निन्दा आदि करने तथा नम्रता धारण करनेसे उच्च-गोत्रकर्मका उपार्जन होता है।

नीच और ऊँच गोत्र कर्मके पैदा होनेके इस सिद्धान्तको अच्छी तरह ध्यानमें रखकर हमको मन, वचन, कायकी प्रत्येक क्रियामें बहुत ही सावधान रहनेकी ज़रूरत है। ऐसा न हो कि अपनी अकड़, अहम्मन्यता वा असावधानीसे हम नीचगोत्र बाँधलें, जिससे नरकोंमें पटके जावें या वृक्ष और कीड़े-मकौड़े आदि बनकर तिर्यंचगति में पड़े-पड़े सड़ा करें अथवा कुभोगभूमिया बनकर तिर्यंचों-जैसा जीवन व्यतीत करनेके लिये बाध्य होवें।

धर्म क्या ?

(ले०—श्री० जैनेन्द्रकुमारजी)

बड़ा अच्छा प्रश्न किया गया है कि धर्म क्या है? जैन आगम में कथन है कि वस्तुका स्वभाव ही धर्म है।

इस तरह स्वभावच्युत होना अधर्म और स्वनिष्ठ रहना धर्म हुआ।

मानवका धर्म मानवता। दूसरे शब्दों में उसका अर्थ हुआ आत्मनिष्ठा।

मनुष्यमें सदा ही थोड़ा-बहुत द्वित्व रहता है। इच्छा और कर्म में फ़ासला दीखता है। मन कुछ चाहता है, तन उस मनको बांधे रखता है। तन पूरी तरह मनके बसमें नहीं रहता, और न मन ही एक दम तन के ताबे हो सकता है। इसी द्वित्वका नाम क्लेश है। यहीं से दुःख और पाप उपजता है।

इस द्वित्वकी अपेक्षा में हम मानवको देखें तो कहा जासकता है कि मन (अथवा आत्मा) उसका स्व है, तन पर है। तन विकारकी ओर जाता है, मन स्वच्छ स्वप्न की ओर। तन की प्रकृतिका विकार स्वीकार करने पर मन में भी मलिनता आजाती है और उसकी शक्ति क्षीण हो जाती है। इससे तन की ग़ुलामी पराधीनता है और तन को मन के वश रखना और मन को आत्मा के वश में रखना स्व-निष्ठा स्वास्थ्य और स्वाधीनता की परिभाषा है।

संक्षेप में सब समय और सब स्थिति में आत्मानुकूल वर्तन करना धर्माचरणी होना है। उस से अन्यथा वर्तन करना धर्म-विमुख होना है। असंयम अधर्म है; क्योंकि इसका अर्थ मानव का अपनी आत्मा के निषेध पर देह के क़ाबू हो जाना है। इसके प्रतिकूल संयम धर्माभ्यास है।

इस दृष्टि से देखा जाय तो धर्म को कहीं भी खोजने जाना नहीं है। वह आत्मगत है। बाहर ग्रन्थों और ग्रन्थियों में वह नहीं पायगा. वह तो भीतर ही है। भीतर एक लौ है। वह सदा जगी रहती है। बुझी, कि वही प्राणी की मृत्यु है। मनुष्य प्रमाद से उसे चाहे न सुने, पर वह अंतर्ध्वनि कभी नहीं सोती। चाहे तो उसे अनसुना कर दो, पर वह तो तुम्हें सुनाती ही है। प्रति क्षण वह तुम्हें सुझाती रहती है कि यह तुम्हारा स्वभाव नहीं है, यह नहीं है।

उसी लौ में ध्यान लगाये रहना; उसी अंतर्ध्वनि के आदेश को सुनना और तदनुकूल वर्तना; उसके अतिरिक्त कुछ भी और की चिंता न करना; सर्वथैव उसी के हो रहना और अपने समूचे अस्तित्व को उसमें होम देना, उसी में जलना और उसी में जीना—यही धर्मका सार है।

सूने महल में दिया जगाले। उसकी लौ में लौ लगा बैठ। आसन से मत डोल। बाहर की मत सुन। सब बाहर को अन्तर्गत हो जाने दे। तब त्रिभुवन में तू ही होगा और त्रिभुवन तुझ में, और तू उस लौ में। धर्मकी यही इष्टावस्था है। यहाँ द्वित्व नष्ट हो जाता है। आत्मा की ही एक सत्ता रहती है। विकार असत् हो रहते हैं, जैसे प्रकाश के आगे अन्धकार।

अनित्यता

[ले०—श्री० शोभाचन्द्र भारिल्ल, न्यायतीर्थ]

(१)

दहला देता था वीरों को जिनका एक इशारा,
जिनकी उँगली पर नचता था यह भूमंडल सारा।
थे कल तक जो शूरवीर रणधीर अभय सेनानी,
पड़े तड़पते आज न पाते हैं चुल्लू-भर पानी!

(२)

अमर मानकर निज जीवनको पर-भव हाय भुलाया,
चाँदी-सोने के टुकड़ों में फूला नहीं समाया।
देख मूढ़ता यह मानव की उधर काल मुस्काया,
अगले पल ले चला यहाँपर नाम-निशान न पाया!

(३)

उच्छ्वासों के मिष से प्रतिपल प्राण भागते जाते,
बादल की-सी छाया काया पाकर क्या इठलाते?
कौन सदा रख सका इन्हें फिर क्या तू ही रख लेगा?
पा यम का संकेत तनिक-सा तू प्रस्थान करेगा?

(४)

बिजली की क्षण-भंगुर आभा कहती-देखो आओ,
तेरे-मेरे जीवन में है कितना भेद बताओ?
जल-बुद्-बुद् मानों दुनियां को अमर सीख देता है—
मौत तभी से ताक रही जब जीव जन्म लेता है।

(५)

बड़े भोर चहुँ ओर ललाई जो भू पर छाई थी,
नभ से उतर प्रभा दिनकर की मध्य दिवस आई थी।
सन्ध्या-राग रँगीला मन को तुरत मोहने वाला,
हाय! कहाँ अब जब फैला है यह भीषण तम काला!

(६)

लहरें लोल जलधि है अपनी आज जहाँ लहराता,
हा! संसार मरुस्थल उसको थोड़े दिन में पाता!
मनहर कानन में सौरभ-मय सुंदर सुमन खिले हैं,
आँधी के हलके झोंके से अब वे धूल मिले हैं!

(७)

है संसार सराय जहाँ हैं पथिक आय जुट जाते,
लेकर टुक विश्राम राह को अपनी-अपनी जाते।
जो आये थे गये सभी, जो आये हैं जाएँगे,
अपने-अपने कर्मों का फल सभी आप पाएँगे॥

(८)

जीवन-तन-धन-भवन न रहे हैं, स्वजन-प्रान छूटेंगे,
दुनियाँके संबंध विदाई की वेला टूटेंगे।
यह क्रम चलता रहा आदि से, अब भी चलता भाई,
संयोगों का एकमात्र फल—केवल सदा जुदाई॥

(९)

कोटि-कोटि कर कोट ओटमें उनकी तू छिप जाना,
पद-पद पर प्रहरी नियुक्त करके पहरा बिठलाना।
रक्षण-हेतु सदा हो सेन सजी हुई चतुरङ्गी,
काल बली ले जाएगा, ताकेंगे साथी-सङ्गी॥

(१०)

धन-दौलत का कहाँ ठिकाना, वह कब तक ठहरेगी?
चारु सुयश की विमल पताका क्या सदैव फहरेगी?
पिता-पुत्र-पत्नी-पोतों का संग चार दिन का है,
फिर चिर-काल वियोग-वेदना-वेदन फल इनका है॥

(११)

जीवन का सौंदर्य सुनहरा शैशव कहाँ गया रे! आंधी-सा मतमाता यौवन भी तो चला गया रे!
अर्द्धमृत्युमय बूढ़ापन भी जाने को आया है, हा! सारा ही जीवन जैसे बादल की छाया है!!

सेवाधर्म-दिग्दर्शन

[सम्पादकीय]

अहिंसाधर्म, दयाधर्म, दशलक्षणधर्म, रत्नत्रय धर्म, सदाचारधर्म, अथवा हिन्दूधर्म, मुसलमानधर्म, ईसाईधर्म, जैनधर्म, बौद्धधर्म इत्यादि धर्म नामोंसे हम बहुत कुछ परिचित हैं; परन्तु 'सेवाधर्म' हमारे लिये अभी तक बहुत ही अपरिचितसा बना हुआ है। हम प्रायः समझते ही नहीं कि सेवाधर्मभी कोई धर्म है अथवा प्रधान धर्म है। कितनों ही ने तो सेवाधर्मको सर्वथा शूद्रकर्म मान रक्खा है, वे सेवकको गुलाम समझते हैं और गुलामीमें धर्म कहाँ? इसीसे उनकी तद्रूप संस्कारोंमें पली हुई बुद्धि सेवाधर्मको कोई धर्म अथवा महत्वका धर्म माननेके लिये तैय्यार नहीं— वे समझ ही नहीं पाते कि एक भाड़ेके सेवक, अनिच्छा पूर्वक मजबूरीसे काम करने वाले परतंत्र सेवक और स्वेच्छासे अपना कर्तव्य समझकर सेवाधर्म का अनुष्ठान करने वाले अथवा लोक-सेवा बजानेवाले स्वयंसेवक में कितना बड़ा अन्तर है। ऐसे लोग सेवाधर्म को शायद किसी धर्मकी ही सृष्टि समझते हों, परन्तु ऐसा समझना ठीक नहीं है। वास्तव में सेवाधर्म सब धर्मों में ओत-प्रोत है और सबमें प्रधान है। बिना इस धर्म के सब धर्म निष्प्राण हैं, निसत्व हैं और उनका कुछ भी मूल्य नहीं है। क्योंकि मन-वचन-कायसे स्वेच्छा एवं विवेकपूर्वक ऐसी क्रियाओं का छोड़ना जो किसी के लिये हानिकारक हों और ऐसी क्रियाओं का करना जो उपकारक हों सेवाधर्म कहलाता है।

'मेरे द्वारा किसी जीवको कष्ट अथवा हानि न पहुँचे मैं सावद्ययोग से विरक्त होता हूँ,' लोक-सेवाकी ऐसी भावना के बिना अहिंसाधर्म कुछ भी नहीं रहता और 'मैं दूसरों का दुख-कष्ट दूर करने में कैसे प्रवृत्त हूँ' इस सेवा-भावनाको यदि दयाधर्मसे निकाल दिया जाय तो फिर वह क्या

अवशिष्ट रहेगा ? इसे सहृदय पाठक स्वयं समझ सकते हैं। इसी तरह दूसरे धर्मों का हाल है, सेवा-धर्म की भावनाको निकाल देने से वे सब थोथे और निर्जीव हो जाते हैं। सेवाधर्म ही उन सब में, अपनी मात्रा के अनुसार प्राणप्रतिष्ठा करने वाला है। इसलिये सेवाधर्मका महत्व बहुत ही बढ़ा चढ़ा है और वह एक प्रकार से अवर्णनीय है। अहिंसादिक सब धर्म उसीके अंग अथवा प्रकार हैं और वह सब में व्यापक है। ईश्वरादिक की पूजा भक्ति और उपासना भी उसी में शामिल (गर्भित) है, जो कि अपने पूज्य एवं उपकारी पुरुषोंके प्रति किये जाने वाले अपने कर्तव्यके पालनादि स्वरूप होती है। इसी से उसको 'देव-सेवा' भी कहा गया है। किसी देव अथवा धर्म प्रवर्तकके गुणों का कीर्तन करना, उसके शासन को स्वयं मानना सदुपदेशको अपने जीवन में उतारना और शासन का प्रचार करना, यह सब उस देव अथवा धर्म-प्रवर्तक की सेवा है और इसके द्वारा अपनी तथा अन्य प्राणियोंकी जो सेवा होती है वह सब इससे भिन्न दूसरी आत्म-सेवा अथवा लोकसेवा है। इस तरह एक सेवा में दूसरी सेवाएँ भी शामिल होती हैं।

स्वामी समन्तभद्र ने अपने इष्टदेव भगवान् महावीरके विषयमें अपनी सेवाओंका और अपने को उनकी फलप्राप्तिका जो उल्लेख एक पद्यमें किया है वह पाठकोंके जानने योग्य है और उससे उन्हें देवसेवाके कुछ प्रकारोंका बोध होगा और साथ ही, यह भी मालूम होगा कि सच्चे हृदयसे और पूर्ण तन्मयताके साथ की हुई वीर-प्रभुकी सेवा कैसे उत्तम फलको फलती है। इसीसे उस पद्यको उनके 'स्तुतिविद्या' नामक ग्रन्थ (जिनशतक) से यहाँ उद्धृत किया जाता है:—

सुश्रद्धा मम ते मते स्मृतिरपि त्वय्यर्चनं चापि ते
हस्तावंजलये कथाश्रुतिरतः कर्णोऽक्षि संप्रेक्षते।
सुस्तुत्यां व्यसनं शिरोनतिपरं सेवेदृशी येन ते
तेजस्वीसुजनोऽहमेव सुकृत तेनैव तेजःपते ॥११४॥

इसमें बतलाया है कि—'हे भगवन्! आपके मतमें अथवा आपके ही विषयमें मेरी सुश्रद्धा है—अन्धश्रद्धा नहीं—, मेरी स्मृति भी आपको ही अपना विषय बनाये हुए है, मैं पूजन भी आपका ही करता हूँ, मेरे हाथ आपको ही प्रणामांजलि करनेके निमित्त हैं, मेरे कान आपकी ही गुणकथा सुननेमें लीन रहते हैं, मेरी आँखें आपके ही रूपको देखती हैं, मुझे जो व्यसन है वह भी आपकी ही सुन्दर स्तुतियों* के रचनेका है और मेरा मस्तक भी आपको ही प्रणाम करनेमें तत्पर रहता है; इस प्रकारकी चूँकि मेरी सेवा है—मैं निरन्तर ही आपका इस तरह पर सेवन किया करता हूँ—इसीलिये हे तेजःपते! (केवलज्ञान स्वामिन्) मैं तेजस्वी हूँ, सुजन हूँ और सुकृति (पुण्यवान्) हूँ।'

यहाँ पर किसीको यह न समझ लेना चाहिये कि सेवा तो बड़ोंकी—पूज्य पुरुषों एवं महात्माओं-की होती है और उसीसे कुछ फल भी मिलता है,

---

* समन्तभद्रकी देवागम, युक्त्यनुशासन और स्वयंभूस्तोत्र नामकी स्तुतियाँ बड़े ही महत्वकी एवं प्रभावशालिनी हैं और उनमें सूत्ररूपसे जैनागम अथवा वीरशासन भरा पड़ा है।

छोटों-असमर्थों, अथवा दीन-दुःखियों आदिकी सेवामें क्या धरा है ? ऐसा समझना भूल होगा। जितने भी बड़े पूज्य, महात्मा अथवा महापुरुष हैं वे सब छोटों, असमर्थों, असहायों एवं दीन-दुःखियोंकी सेवासे ही हुए हैं—सेवा ही सेवकको सेव्य बनाती अथवा ऊँचा उठाती है। और इस लिये ऐसे महान् लोक-सेवकोंकी सेवा अथवा पूजा भक्तिका यह अभिप्राय नहीं कि हम उनका कोरा गुणगान किया करें अथवा उनकी ऊपरी (औपचारिक) सेवा चाकरीमें ही लगाये रक्खें—उन्हें तो अपने व्यक्तित्वके लिये हमारी सेवाकी जरूरत भी नहीं है—कृतकृत्योंको उसकी जरूरत भी क्या हो सकती है ? इसीसे स्वामी समन्तभद्रने कहा है—"न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे"—अर्थात् हे भगवन्, पूजा भक्तिसे आपका कोई प्रयोजन नहीं है ; क्योंकि आप वीतरागी हैं—रागका अंश भी आपके आत्मामें विद्यमान नहीं है, जिसके कारण किसीकी पूजा-सेवासे आप प्रसन्न होते। वास्तवमें ऐसे महान् पुरुषोंकी सेवा-उपासनाका मुख्य उद्देश्य उपकारस्मरण और कृतज्ञताव्यक्तीकरणके साथ 'तद्गुणलब्धि'—उनके गुणोंकी संप्राप्ति-होता है। इसी बातको श्री पूज्यपादाचार्यने 'सर्वार्थ सिद्धि' के मंगलाचरण ('मोक्ष मार्गस्यनेतारं' इत्यादि) में "वन्दे तद्गुणलब्धये" पदके द्वारा व्यक्त किया है। तद्गुण लब्धिके लिये तद्रूप आचरणकी जरूरत है, और इसलिये जो तद्गुण लब्धिकी इच्छा करता है वह पहले तद्रूप आचरण को अपनाता है-अपने आराध्यके अनुकूल वर्तन करना अथवा उसके नक़्शेक़दम पर चलना प्रारंभ करता है। उसके लिये लोकसेवा अनिवार्य हो जाती है—दीनों, दुःखितों, पीड़ितों, पतितों, असहायों, असमर्थों, अज्ञों और पथभ्रष्टोंकी सेवा करना उसका पहला कर्तव्यकर्म बन जाता है। जो ऐसा न करके अथवा उक्त ध्येयको सामने न रखकर ईश्वर-परमात्मा या पूज्य महात्माओंकी भक्तिके कोरे गीत गाता है वह या तो दंभी है, ठग है—अपनेको तथा दूसरोंको ठगता है—और या उन जड़ मशीनोंकी तरह अविवेकी है जिन्हें अपनी क्रियाओंका कुछ भी रहस्य मालूम नहीं होता। और इसलिये भक्तिके रूपमें उसकी सारी उछल-कूद तथा जयकारोंका—जय जयके नारोंका—कुछ भी मूल्य नहीं है। वे सब दंभपूर्ण अथवा भावशून्य होनेसे बकरीके गलेमें लटकते हुए स्तनों (थनों) के समान निरर्थक होते हैं—उनका कुछ भी वास्तविक फल नहीं होता।

महात्मा गांधीजीने कई बार ऐसे लोगोंको लक्ष्य करके कहा है कि 'वे मेरे मुँह पर थूकें तो अच्छा, जो भारतीय होकर भी स्वदेशी वस्त्र नहीं पहनते और सिरसे पैर तक विदेशी वस्त्रोंको धारण किये हुये मेरी जय बोलते हैं। ऐसे लोग जिस प्रकार गांधीजी के भक्त अथवा सेवक नहीं कहे जाते बल्कि मजाक उड़ाने वाले समझे जाते हैं, उसी प्रकार जो लोग अपने पूज्य महापुरुषोंके अनुकूल आचरण नहीं करते—अनुकूल आचरण की भावना तक नहीं रखते—खुशी से विरुद्धाचरण करते हैं और उस कुत्सित आचरण को करते हुए ही पूज्य पुरुषकी वंदनादि किया करते तथा जय बोलते हैं, उन्हें उस महापुरुषका सेवक अथवा

उपासक नहीं कहा जासकता—वे भी उस पूज्य व्यक्तिका उपहास करने-कराने वाले ही होते हैं। अथवा यह कहना होगा कि वे अपने उस आचरण के लिये जड़ मशीनों की तरह स्वाधीन नहीं हैं। और ऐसे पराधीनोंका कोई धर्म नहीं होता। सेवा धर्मके लिये स्वेच्छापूर्वक कार्यका होना आवश्यक है; क्योंकि स्वपरहित साधन की दृष्टि से स्वेच्छा-पूर्वक अपना कर्तव्य समझकर जो निष्काम कर्म अथवा कर्मत्याग किया जाता है, वह सच्चा सेवा-धर्म है।

जब पूज्य महात्माओंकी सेवाके लिये गरीबों, दीन-दुखितोंकी, पीड़ितों-पतितोंकी, असहायों-असमर्थोंकी, अज्ञों और पथभ्रष्टोंकी सेवा अनिवार्य है—उस सेवाका प्रधान अंग है, बिना इसके वह बनती ही नहीं—तब यह नहीं कहा जा सकता और न कहना उचित ही होगा कि 'छोटों-असमर्थों अथवा दीन-दुःखितों आदिकी सेवा में क्या धरा है ?' यह सेवा तो अहंकारादि दोषों को दूर करके आत्मा को ऊँचा उठाने वाली है, तद्गुण-लब्धिके उद्देश्यको पूरा करने वाली है और हर तरह से आत्मविकास में सहायक है, इसलिये परमधर्म है और सेवाधर्मका प्रधान अंग है। जिस धर्मके अनुष्ठानसे अपना कुछ भी आत्म-लाभ न होता हो वह तो वास्तवमें धर्म ही नहीं है।

इसके सिवाय, अनादिकालसे हम निर्बल, असहाय, दीन, दुःखित, पीड़ित, पतित, मार्गच्युत और अज्ञ जैसी अवस्थाओंमें ही अधिकतर रहे हैं और उन अवस्थाओंमें हमने दूसरोंकी खूब सेवाएँ ली हैं तथा सेवा-सहायताकी प्राप्तिके लिये निरन्तर भावनाएँ भी की हैं, और इसलिये उन अवस्थाओंमें पड़े हुए अथवा उनमेंसे गुजरने वाले प्राणियोंकी सेवा करना हमारा और भी ज्यादा कर्त्तव्यकर्म है, जिसके पालनके लिये हमें अपनी शक्तिको जरा भी नहीं छिपाना चाहिये—उसमें जी चुराना अथवा आना-कानी करने जैसी कोई बात न होनी चाहिये। इसीको यथाशक्ति कर्त्तव्यका पालन कहते हैं।

एक बच्चा पैदा होते ही कितना निर्बल और असहाय होता है और अपनी समस्त आवश्यक-ताओंकी पूर्तिके लिये कितना अधिक दूसरों पर निर्भर रहता अथवा आधार रखता है। दूसरे जन उसकी खिलाने-पिलाने, उठाने-बिठाने, लिटाने-सुलाने, ओढ़ने-बिछाने, दिल बहलाने, सर्दी-गर्मी आदिसे रक्षा करने और शिक्षा देने-दिलानेकी जो भी सेवाएँ करते हैं वे सब उसके लिये प्राणदानके समान है। समर्थ होने पर यदि वह उन सेवाओं को भूल जाता है और घमण्डमें आकर अपने उन उपकारी सेवकोंकी--माता-पितादिकोंकी—सेवा नहीं करता—उनका तिरस्कार तक करने लगता है तो समझना चाहिये कि वह पतनकी ओर जा रहा है। ऐसे लोगोंको संसारमें कृतघ्न, गुणमेट और अहसानफ़रामोश जैसे दुर्नामोंसे पुकारा जाता है। कृतघ्नता अथवा दूसरोंके किये हुए उपकारों और ली हुई सेवाओं को भूल जाना बहुत बड़ा अपराध है और वह विश्वासघातादिकी तरह ऐसा बड़ा पाप है कि उसके भारसे पृथ्वी भी काँपती है।

किसीने ठीक कहा है:—

करै विश्वासघात जो कोय, कीया कृतको विसरै जोय।
आपद पड़े मित्र परिहरै, तासु भार धरणी थरहरै॥

ऐसे ही पापोंका भार बढ़जानेसे पृथ्वी अक्सर डोला करती है—भूकम्प आया करते हैं। और इसीसे जो साधु पुरुषभ-ले आदमी होते हैं वे दूसरों के किये हुए उपकारों अथवा ली हुई सेवाओंको कभी भूलते नहीं हैं—'न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति' बदलेमें अपने उपकारियोंकी अथवा उनके आदर्शानुसार दूसरोंकी सेवा करके ऋण-मुक्त होते रहते है। उनका सिद्धान्त तो 'परोपकाराय सतां विभूतयः' की नीतिका अनुसरण करते हुए प्रायः यह होता है:—

उपकारिषु यः साधुः साधुत्वे तस्यको गुणः?
अपकारिषु यः साधुः स साधुः सद्भिरुच्यते॥

अर्थात्—अपने उपकारियोंके प्रति जो साधुता का—प्रत्युपकारादिरूप सेवाका—व्यवहार करता है उसके उस साधुपनमें कौन बड़ाईकी बात है? ऐसा करना तो साधारण जनोचित मामूली-सी बात है। सत्पुरुषोंने तो उसे सच्चा साधु बतलाया है जो अपना अपकार एवं बुरा करने वालोंके प्रति भी साधुताका व्यवहार करता है—उनकी सेवा करके उनके आत्मासे शत्रुताके विषको ही निकाल देना अपना कर्तव्य समझता है।

ऐसे साधु पुरुषोंकी दृष्टिमें उपकारी, अनुपकारी और अपकारी प्रायः सभी समान होते हैं। उनकी विश्वबन्धुत्वकी भावनामें किसीका अपकार या अप्रिय आचरण कोई बाधा नहीं डालता। 'अप्रियमपि कुर्वाणो यः प्रियः प्रिय एव सः' इस उदार भावनासे उनका आत्मा सदा ऊँचा उठा रहता है। वे तो सेवाधर्मके अनुष्ठान द्वारा अपना विकाससिद्ध किया करते हैं, और इसीसे सेवाधर्मके पालनमें सब प्रकारसे दत्तचित्त होना अपना परम कर्तव्य समझते हैं।

वास्तवमें, पैदा होते ही जहाँ हम दूसरोंसे सेवाएँ लेकर उनके ऋणी बनते हैं वहाँ कुछ समर्थ होने पर अपनी भोगोपभोगकी सामग्रीके जुटानेमें, अपनी मान-मर्यादाकी रक्षामें, अपनी कषायोंको पुष्ट करनेमें और अपने महत्व या प्रभुत्वको दूसरों पर स्थापित करनेकी धुनमें अपराध भी कुछ कम नहीं करते हैं। इस तरह हमारा आत्मा परकृत-उपकार भार और स्वकृत-अपराध भारसे बराबर दबा रहता है। इन भारोंके हलका होनेके साथ साथ ही आत्माके विकासका सम्बन्ध है। लोक-सेवासे यह भार हलका होकर आत्मविकासकी सिद्धि होती है। इसीसे सेवाको परमधर्म कहा गया है और वह इतना परम गहन है कि कभी कभी तो योगियोंके द्वारा भी अगम्य हो जाता है—उनकी बुद्धि चकरा जाती है, वे भी उसके सामने घुटने टेक देते हैं और गहरी समाधिमें उतरकर उसके रहस्यको खोजनेका प्रयत्न करते हैं। लोक-सेवाके लिये अपना सर्वस्व अर्पण कर देने पर भी उन्हें बहुधा यह कहते हुए सुनते हैं—

"हा दुट्ठकयं! हा दुट्ठं भासियं! चिंतियं च हा दुट्ठं!
अन्तो अन्तोऽम्मम्मि पच्छुत्तावेण वेयंतो॥"

मन-वचन-कायकी प्रवृत्तिमें जहाँ जरा भी

प्रमत्तता, असावधानी अथवा त्रुटि लोकहितके विरुद्ध दीख पड़ती है वहाँ उसी समय उक्त प्रकार के उद्गार उनके मुँहसे निकल पड़ते हैं और वे उनके द्वारा पश्चाताप करते हुए अपने सूक्ष्म अपराधोंका भी नित्य प्रायश्चित्त किया करते हैं। इसीसे यह प्रसिद्ध है कि—

"सेवाधर्मः परम गहनो योगिनामप्यगम्यः।"

सेवाधर्मकी साधनामें, निःसन्देह, बड़ी सावधानी की ज़रूरत है और उसके लिये बहुत कुछ आत्मबलि–अपने लौकिक स्वार्थोंकी आहुति–देनी पड़ती है। पूर्ण सावधानी ही पूर्ण सिद्धिकी जननी है, धर्मकी पूर्णसिद्धि ही पूर्ण आत्मविकासके लिये गारण्टी है और यह आत्मविकास ही सेवाधर्मका प्रधान लक्ष्य है, उद्देश्य है अथवा ध्येय है।

मनुष्यका लक्ष्य जब तक शुद्ध नहीं होता तब तक सेवाधर्म उसे कुछ कठिन और कष्टकर ज़रूर प्रतीत होता है, वह सेवा करके अपना अहसान जतलाता है, प्रतिसेवाकी—प्रत्युपकार की—वाँछा करता है, अथवा अपनी तथा दूसरों की सेवाकी मापतौल किया करता है और जब उसकी मापतौल ठीक नहीं उतरती—अपनी सेवा से दूसरेकी सेवा कम जान पड़ती है—अथवा उसकी वह वाँछा ही पूरी नहीं होती और न दूसरा आदमी उसका अहसान ही मानता है, तो वह एकदम झुंझला उठता है, खेदखिन्न होता है, दुःख मानता है, सेवा करना छोड़ देता है और अनेक प्रकारके रागद्वेषोंका शिकार बनकर अपनी आत्मा का हनन करता है। प्रत्युत इसके, लक्ष्य शुद्धिके होते ही यह सब कुछ भी नहीं होता, सेवाधर्म एकदम सुगम और सुखसाध्य बन जाता है, उसके करनेमें आनन्द ही आनन्द आने लगता है और उत्साह इतना बढ़ जाता है कि उसके फलस्वरूप लौकिक स्वार्थोंकी सहज ही में बलि चढ़ जाती है और ज़रा भी कष्ट बोध होने नहीं पाता—इस दशामें जो कुछ भी किया जाता है अपना कर्तव्य समझ कर खुशीसे किया जाता है और उसके साथमें प्रतिसेवा, प्रत्युपकार अथवा अपने आदर-सत्कार या अहंकारकी कोई भावना न रहने से भविष्यमें दुःख, उद्वेग तथा कषाय भावों की उत्पत्तिका कोई कारण ही नहीं रहता; और इसलिये सहज ही में आत्मविकास सध जाता है। ऐसे लोग यदि किसीको दान भी करते हैं तो नीचे नयन करके करते हैं और उसमें अपना कर्तृत्व नहीं मानते। किसीने पूछा "आप ऐसा क्यों करते हैं?" तो वे उत्तर देते हैं—

देनेवाला और है मैं समरथ नहिं देन।
लोग भरम मो करत हैं याते नीचे नैन॥

अर्थात्—देनेवाला कोई और ही है और वह इसका भाग्योदय है–मैं खुद कुछ भी देने के लिये समर्थ नहीं हूँ। यदि मैं दाता होता तो इसे पहले से क्यों न देता? लोग भ्रमवश मुझे व्यर्थ ही दाता समझते हैं, इससे मुझे शरम आती है और मैं नीचे नयन किये रहता हूँ। देखिये, कितना ऊँचा भाव

है। आत्मविकास को अपना लक्ष्य बनानेवाले मानवोंकी ऐसी ही परिणति होती है। अस्तु।

लक्ष्यशुद्धिके साथ इस सेवाधर्मका अनुष्ठान हर कोई अपनी शक्तिके अनुसार कर सकता है। नौकर अपनी नौकरी, दुकानदार दुकानदारी, वकील वकालत, मुख्तार मुख्तारकारी, मुहर्रिर, मुहर्रिरी, ठेकेदार ठेकेदारी, ओहदेदार ओहदेदारी, डाक्टर डाक्टरी, हकीम हिकमत, वैद्य वैद्यक, शिल्पकार शिल्पकारी, किसान खेती तथा दूसरे पेशेवर अपने अपने उस पेशे का कार्य और मजदूर अपनी मजदूरी करता हुआ उसीमेंसे सेवा का मार्ग निकाल सकता है। सबके कार्य्यों में सेवाधर्मके लिये यथेष्ट अवकाश है—गुंजाइश है।

सेवाधर्मके प्रकार और मार्ग

अब मैं संक्षेप में यह बतलाना चाहता हूँ कि सेवा-धर्म कितने प्रकारका है और उसके मुख्य मार्ग कौन कौन हैं। सेवा-धर्मके मुख्य भेद दो हैं—एक क्रियात्मक और दूसरा अक्रियात्मक। क्रियात्मकको प्रवृत्तिरूप तथा अक्रियात्मकको निवृत्तिरूप सेवाधर्म कहते हैं। यह दोनों प्रकारका सेवाधर्म मन, वचन और काय के द्वारा चरितार्थ होता है, इसलिये सेवाके मुख्य मार्ग मानसिक, वाचिक और कायिक ऐसे तीन ही हैं—धनादिकका सम्बंध काय के साथ होने से वह भी कायिक में ही शामिल है। इन्हीं तीनों मार्गोंसे सेवाधर्म अपने कार्यमें परिणत किया जाता है और उसमें आत्म-विकास के लिये सहायक सारे ही धर्म-समूह का समावेश होजाता है।

निवृत्तिरूप सेवाधर्ममें अहिंसा प्रधान है। उसमें हिंसारूप क्रियाका—सावद्यकर्मका—अथवा प्राणव्यपरोपण में कारणीभूत मन-वचन-कायकी प्रमत्तावस्थाका त्याग किया जाता है। मन-वचन कायकी इन्द्रिय-विषयोंमें स्वेच्छा प्रवृत्तिका भले प्रकार निरोधरूप 'गुप्ति', गमनादिकमें प्राणि-पीड़ाके परिहाररूप 'समिति', क्रोधकी अनुत्पत्ति रूप 'क्षमा', मानके अभावरूप 'मार्दव', माया अथवा योगवक्रता की निवृत्तिरूप 'आर्जव,' लोभ के परित्यागरूप 'शौच', अप्रशस्त एवं असाधु वचनोंके त्यागरूप 'सत्य', प्राणव्यपरोपण और इन्द्रिय विषयोंके परिहाररूप 'संयम', इच्छानिरोध-रूप 'तप', दुष्ट विकल्पोंके संत्याग अथवा आहारादिक देय पदार्थों में से ममत्वके परिवर्जनरूप 'त्याग,' बाह्य पदार्थों में मूर्छाके अभावरूप 'आकिंचिन्य,' अब्रह्म अथवा मैथुनकर्मकी निवृत्तिरूप 'ब्रह्मचर्य,' (ऐसे 'दशलक्षणधर्म)' क्षुधादि वेदनाओंके उत्पन्न होने पर चित्तमें उद्वेग तथा अशान्ति को न होने देने रूप 'परिषहजय,' राग-द्वेषादि विषमताओंकी निवृत्तिरूप 'सामायिक,' और कर्म-ग्रहण की कारणीभूत क्रियाओंसे विरक्ति-रूप 'चारित्र,' ये सब भी निवृत्तिरूप सेवाधर्मके ही अंग हैं, जिनमें से कुछ 'हिंसा' और कुछ हिंसेतर क्रियाओंके निषेधको लिये हुए हैं।

इस निवृत्ति-प्रधान सेवाधर्मके अनुष्ठानके लिये किसी भी कौड़ी-पैसेकी पासमें जरूरत नहीं है। इसमें तो अपने मन-वचन-कायकी कितनी ही क्रियाओं तकको रोकना होता है—उनका भी व्यय नहीं किया जाता। हाँ, इस धर्म पर चलनेके लिये नीचे लिखा गुरुमंत्र बड़ा ही उपयोगी है—अच्छा मार्गदर्शक है:—

"आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ।"

'जो जो बातें, क्रियाएँ, चेष्टाएँ, तुम्हारे प्रतिकूल हैं—जिनके दूसरों द्वारा किये हुए व्यवहार को तुम अपने लिये पसन्द नहीं करते, अहितकर और दुखदाई समझते हो—उनका आचरण तुम दूसरोंके प्रति मत करो।'

यही पापोंसे बचनेका गुरुमंत्र है। इसमें संकेतरूपसे जो कुछ कहा गया है व्याख्या द्वारा उसे बहुत कुछ विस्तृत तथा पल्लवित करके बतलाया जा सकता है।

प्रवृत्तिरूप सेवाधर्म में 'दया' प्रधान है। दूसरों के दुःखों-कष्टों का अनुभव करके—उनसे द्रवीभूत होकर—उनके दूर करनेके लिये मन-वचन-कायकी जो प्रवृति है-व्यापार है-उसका नाम 'दया' है। अहिंसाधर्मका अनुष्ठाता जहाँ अपनी ओर से किसीको दुःख-कष्ट नहीं पहुँचाता, वहाँ दयाधर्म का अनुष्ठाता दूसरों के द्वारा पहुँचाए गये दुःख-कष्टोंको भी दूर करनेका प्रयत्न करता है। यही दोनों में प्रधान अन्तर है। अहिंसा यदि सुन्दर पुष्प है तो दयाको उसकी सुगंध समझना चाहिये।

दयामें सक्रिय परोपकार, दान, वैय्यावृत्य, धर्मोपदेश और दूसरोंके कल्याणकी भावनाएँ शामिल हैं। अज्ञानसे पीड़ित जनता के हितार्थ विद्यालय-पाठशालाएँ खुलवाना, पुस्तकालय-वाचनालय स्थापित करना, रिसर्च इन्सटीट्यूटों का – अनुसन्धान प्रधान संस्थाओंका – जारी कराना, वैज्ञानिक खोजोंको प्रोत्तेजन देना तथा ग्रन्थनिर्माण और व्याख्यानादिके द्वारा अज्ञानान्धकारको दूर करनेका प्रयत्न करना, रोगसे पीड़ित प्राणियोंके लिये औषधालयों-चिकित्सालयोंकी व्यवस्था करना, बेरोजगारी अथवा भूखसे संतप्त मनुष्योंके लिये रोजगार-धन्धेका प्रबन्ध करके उनके रोटीके सवालको हल करना, और कुरीतियों कुसंस्कारों तथा बुरी आदतोंसे जर्जरित एवं पतनोन्मुख मनुष्य समाजके सुधारार्थ सभा-सोसाइटियोंका क़ायम करना और उन्हें व्यवस्थित रूपसे चलाना, ये सब उसी दया प्रधान प्रवृत्तिरूप सेवाधर्मके अङ्ग हैं। पूज्योंकी पूजा-भक्ति-उपासना के द्वारा अथवा भक्तियोग-पूर्वक जो अपने आत्मा का उत्कर्ष सिद्ध किया जाता है वह सब भी मुख्यतया प्रवृत्तिरूप सेवाधर्मका अङ्ग है।

इस प्रवृत्तिरूप सेवाधर्ममें भी जहाँतक अपने मन, वचन और कायसे सेवाका सम्बन्ध है वहाँ तक किसी कौड़ी पैसे की जरूरत नहीं पड़ती—जहाँ सेवाके लिये दूसरे साधनोंसे काम लिया जाता है वहाँही उसकी जरूरत पड़ती है। और इस तरह यह स्पष्ट है कि अधिकांश सेवाधर्म के अनुष्ठानके लिये मनुष्यको टके-पैसेकी जरूरत नहीं है। जरूरत है अपनी चित्तवृत्ति और लक्ष्यको शुद्ध करनेकी, जिसके बिना सेवाधर्म बनता ही नहीं।

इस प्रकार सेवाधर्मका यह संक्षिप्तरूप, विवेचन अथवा दिग्दर्शन है, जिसमें सब धर्मोंका समावेश हो जाता है। आशा है यह पाठकोंको रुचिकर होगा और वे इसके फलस्वरूप अपने लक्ष्यको शुद्ध बनाते हुये लोकसेवा करनेमें अधिकाधिक रूपसे दत्तचित्त होंगे।

वीर सेवा मन्दिर, सरसावा,
ता० २५–८–१९३८

लुप्तप्राय जैन साहित्य

सम्पादकीय

भगवती आराधनाकी दूसरी प्राचीन टीका-टिप्पणियाँ

भगवती आराधना और उसकी टीकाएँ' नामका एक विस्तृत लेख 'अनेकान्त' के प्रथम वर्षकी किरण ३, ४ में प्रकाशित हुआ था। उसमें सुहृद्वर पं० नाथूरामजी प्रेमीने शिवाचार्य-प्रणीत 'भगवती आराधना' नामक महान् ग्रंथकी चार संस्कृत टीकाओंका परिचय दिया था—१ अपराजित सूरिकी 'विजयोदया,' २ पं० आशाधरकी 'मूलाराधना-दर्पण', ३ अज्ञातकर्तृका 'आराधना-पंजिका' और ४ पं० शिवजीलालकी 'भावार्थ-दीपिका' टीका। पं० सदासुखजीकी भाषावचनिकाके अतिरिक्त उस वक्त तक इन्हीं चार टीकाओं का पता चला था। हाल में मूलाराधना-दर्पण-को देखते हुए मुझे इस ग्रन्थकी कुछ दूसरी प्राचीन टीका-टिप्पणियोंका भी पता चला है और यह मालूम हुआ है कि इस ग्रंथ पर दो संस्कृत टिप्पणों के अतिरिक्त प्राकृत भाषाकी भी एक टीका थी, जिसके होनेकी बहुत बड़ी संभावना थी; क्योंकि मूलग्रंथ अधिक प्राचीन है। साथ ही, यह भी स्पष्ट हो गया कि अपराजित सूरिकी टीकाका नाम 'विजयोदया' ही है, जैसा कि मैंने अपने सम्पादकीय नोट में* सूचित किया था 'विनयोदया' नहीं, जिसके होने पर प्रेमीजीने ज़ोर दिया था।

एक विशेष बात और भी ज्ञात हुई है और वह यह कि अपराजित सूरिका दूसरा नाम 'विजय' अथवा 'श्रीविजय' था। पं० आशाधरजी ने जगह जगह उन्हें 'श्रीविजयाचार्य' के नाम से उल्लेखित किया है और प्रायः इसी नामके साथ उनकी उक्त संस्कृत टीकाके वाक्योंको मतभेदादिके प्रदर्शनरूपमें उद्धृत किया है अथवा किसी गाथाकी अमान्यतादि-विषयमें उनके इस नामको पेश किया है। और इसलिये टीकाकारने टीकाको अपने नामाङ्कित किया है, यह बात स्पष्ट हो जाती है। स्वयं 'विजयोदया' के एक स्थल परसे यह भी जान पड़ा है कि अपराजित सूरिने दशवैकालिक सूत्र पर भी कोई टीका लिखी है और उसका भी नाम अपने नामानुकूल 'विजयोदया' दिया है। यथाः—

"दशवैकालिकटीकायां श्रीविजयोदयायां प्रपंचिता उद्गमादिदोषा इति नेह प्रतन्यते।"

—'उग्गमउप्पायणादि' गाथा नं. ११९७

*देखो, 'अनेकान्त,' प्रथम वर्ष, किरण ४ पृ० २१०

अर्थात्—दशवैकालिककी 'श्रीविजयोदया' नामकी टीकामें उद्गमादिदोषोंका विस्तारके साथ वर्णन किया गया है, इसीसे यहाँ पर उनका विस्तृत कथन नहीं किया जाता।

हाँ, मूलाराधना-दर्पण परसे यह मालूम नहीं होसका कि प्राकृत टीकाके रचयिता कौन आचार्य हुए हैं—पं० आशाधरजी ने उनका नाम साथ में नहीं दिया। शायद एक ही प्राकृत टीकाके होने के कारण उसके रचयिताका नाम देनेकी जरूरत न समझी गई हो। परन्तु कुछ भी हो, इतना स्पष्ट है कि पं० आशाधरजीने प्राकृत टीकाके रचयिताके विषयमें अपने पाठकोंको अँधेरेमें रक्खा है। दोनों टिप्पणियोंके कर्ताओंका नाम उन्होंने जरूर दिया है, जिनमें से एक हैं 'जयनन्दी' और दूसरे 'श्रीचन्द्र'। श्रीचन्द्राचार्यके दूसरे टिप्पण प्रसिद्ध हैं—एक पुष्पदन्त कविके प्राकृत उत्तरपुराणका टिप्पण है और दूसरा रविषेण के पद्मचरित का। पहला टिप्पण वि० सं० १०८० में और दूसरा वि० सं० १०८७ में बनकर समाप्त हुआ है*। भगवती आराधना का टिप्पण भी संभवतः इन्हीं श्रीचन्द्रका जान पड़ता है, जिनके गुरुका नाम श्रीनन्दी था और जिन्होंने वि० सं० १०७० में 'पुराणसार' नामका ग्रन्थ भी लिखा है †।

जयनन्दी नामके यों तो अनेक मुनि होगये हैं; परन्तु पं० आशाधरजी से जो पहले हुए हैं ऐसे एक ही जयनन्दी मुनिका पता मुझे अभी तक चला है, जोकि कनडी भाषाके प्रधान कवि आदिपम्पसे भी पहले होगये हैं; क्योंकि आदिपम्प ने अपने 'आदिपुराण' और 'भारतचम्पू' में जिस का रचनाकाल शक सं० ८६३ (वि० सं० ९९८) है, उनका स्मरण किया है। बहुत संभव है कि ये ही 'जयनन्दी' मुनि भगवती आराधनाके टिप्पणकार हों। यदि ऐसा हो तो इनका समय वि० की १०वीं शताब्दीके क़रीबका जान पड़ता है; क्योंकि आदिपुराणमें बहुतसे आचार्योंके स्मरणान्तर इनका जिस प्रकारसे स्मरण किया गया है उस परसे ये आदिपम्पके प्रायः समकालीन अथवा थोड़े ही पूर्ववर्ती जान पड़ते हैं। अस्तु। विद्वानोंको विशेष खोज करके इस विषयमें अपना निश्चित मत प्रकट करना चाहिये। जरूरत है, प्राकृतटीका और दोनों टिप्पणों को शास्त्रभण्डारों की कालकोठरियोंसे खोजकर प्रकाशमें लाने की। ये सब ग्रन्थ पं० आशाधरजी के अस्तित्वकाल १३वीं-१४वीं शताब्दीमें मौजूद थे और इसलिये पुराने भण्डारोंकी खोज द्वारा इनका पता लगाया

---

* "श्रीविक्रमादित्यसंवत्सरे वर्षाणामशीत्यधिकसहस्रे महापुराण-विषमपदविवरणं सागरसेनपरिज्ञाय मूलटिप्पणं चालोक्य कृतमिदं समुच्चय-टिप्पणं अज्ञपातभीतेन श्रीमद्बलात्कारगण श्री नन्द्याचार्य-सत्कविशिष्येण श्रीचन्द्रमुनिना, निजदोर्दण्डाभिभूत-रिपुराज्यविजयिनः श्रीभोजदेवस्य [राज्ये] ॥१०२॥ इति उत्तर-पुराणटिप्पणकम्"।

"बलात्कारगण-श्रीश्रीनन्द्याचार्य सत्कविशिष्येण श्रीचन्द्र-मुनिना, श्रीमद्विक्रमादित्यसंवत्सरे सप्ताशीत्यधिकवर्षसहस्रे श्रीमद्धारायां श्रीमतो राज्ये भोजदेवस्य पद्मचरिते। इति पद्मचरिते १२३ ......।"

† धारायां पुरि भोजदेवनृपते राज्ये जयात्युच्चकैः
श्रीमत्सागरसेनतो यतिपतेर्ज्ञात्वा पुराणं महत्।
मुक्त्यर्थं भवभीतिभीतजगतां श्रीनन्दिशिष्यो बुधो
कुर्वे चारुपुराणसारममलं श्रीचन्द्रनामा मुनिः ॥१॥

श्रीविक्रमादित्यसंवत्सरे सप्तत्यधिकवर्षसहस्रे पुराणसाराभिधानं समाप्तम्।

जा सकता है। देखते हैं, कौन सज्जन इन लुप्तप्राय ग्रन्थोंकी खोजका श्रेय और यश प्राप्त करते हैं।

अब मैं मूलाराधना दर्पणके उन वाक्योंमेंसे कुछको नीचे उद्धृत कर देना चाहता हूँ जिन परसे उक्त टीका-टिप्पण आदि बातोंका पता चलता है:—

टीका-टिप्पणके उल्लेख—

(१) "षट्त्रिंशद्गुणा यथा—अष्टौ ज्ञानाचारा अष्टौ दर्शनाचाराश्च तपो द्वादशविधं पञ्च समितयस्तिस्रो गुप्तयश्चेति संस्कृतटीकायां, प्राकृतटीकायां तु अष्टाविंशतिमूलगुणाः अचारवत्त्वादयश्चाष्टौ इति षट्त्रिंशत्। यदि वा दश आलोचनागुणा दश प्रायश्चित्तगुणा दशस्थितिकल्पाः षड्जीतगुणाश्चेति षट्त्रिंशत्।"

—आयारवामादीया० गाथा नं० ५२६।

(२) "किमिरागकंबलस्सव (गा० ५३७) कृमिभुक्ताहारवर्णतंतुभिरूतः कंबलः कृमिरागकंबलस्तस्येति संस्कृतटीकायां व्याख्यानं। टिप्पणके तु कृमिरात्यक्तकाहाररंजितं तु निष्पादितकंबलस्येति। प्राकृत टीकायां पुनरिदमुक्तं—उत्तरापथे चर्मरंगम्लेच्छविषये म्लेच्छा जलौकाभिर्मानुषरुधिरं गृहीत्वा भंडकेषु स्थापयन्ति। ततस्तेन रुधिरेण कतिपयदिवसोत्पन्नविपन्नकृमिकेणोर्णासूत्रं रंजयित्वा कंबलं वयन्ति। सोऽयं कृमिरागकंबल इत्युच्यते। स चातीवरुधिरवर्णो भवति। तस्य हि वन्हिना दग्धस्यापि स कृमिरागो नापगच्छतीति।"

(३) "कूरं भक्तं। श्रीचन्दटिप्पणके त्वेवमुक्तं। अत्र कथयार्थप्रतिपत्तिर्यथा—चन्द्रनामा सूपकारः (इत्यादि)।"

—मवतण्ठावो० गा० ५८९

(४) "एवं सति द्वादशसूत्री तेन (संस्कृतटीकाकारेण) नेष्टा ज्ञायते। अस्माभिस्तु प्राकृतटीकाकारादिमतेनैव व्याख्यायते।"

—चमरीबालं०, अगलंमुत्तं० गा० नं० १०५१,१०५२

(५) "कम्मेत्यादि (गा० नं० १९९९) अत्र स कर्ममलः मिथ्यात्वादिस्तोककर्माणि। सिद्धिं सर्वार्थसिद्धिमिति जयनन्दि-टिप्पणे व्याख्या। प्राकृतटीकायां तु कम्ममलविप्पमुक्को कम्ममलेण मेल्लिदो। सिद्धिं णिव्वाणं।"

—कम्ममलविप्पमुक्को सिद्धिं० गा० १९९९।

(६) "सम्मि समभूमिदेशस्थिते वाणा वानोद्भव इति जयनन्दी। अन्ये तु वाणावितरश्रो इत्यनेन व्यंतरमात्रमाहुः।"

—वेमाणिश्रो थलगदो० गाथा नं० २०००

अपराजितसूरि और श्रीविजयकी एकताके उल्लेख—

(७) श्रीविजयाचार्यस्तु मिथ्यात्व सेवामतिचारं नेच्छति। तथा च तद्ग्रन्थो—"मिथ्यात्वमश्रद्धानं तत्सेवायां मिथ्यादृष्टिरेवासाविति नातिचारिता" इति।

—सम्मत्तादीचारा० गा० ४४

(८) "एतां (णत्रमम्मिय जं पुव्वं० गा० ५६५) श्रीविजयो नेच्छति।"

(६) एते·(मल्लेहणाए० ६८१, एगम्मि भवग्गहणे० ६८२) श्रीविजसाचार्योनेच्छति ।"

(१०) "श्रीविचार्योऽत्र आणापायविराग-विचयोनामधर्मध्यानं 'आणापायं' इत्यस्मिन्पाठे त्वपायविचयो नामेति व्याख्यत् ।"

—कल्लाणपावगाए० गा० १७१२

(११) "श्रीविजयस्तु 'दिस्सदि दंता व उवरीति' पाठं मन्यमानो ज्ञायते ।

—जदि तस्स उत्तमंगं० गा० १५९९

उपर्युक्त उल्लेखोंमें विजयाचार्यके नामसे जिन वाक्योंका अथवा विशेषताओंका कथन किया गया है वे सब अपराजितसूरिकी उक्त टीकामें ज्योंकी त्यों पाई जाती हैं। जिन गाथाओं-को अपराजितसूरि (श्रीविजय) ने न मानकर उनकी टीका नहीं दी है उनके विषय में प्राय: इस प्रकार के वाक्य दिये हैं—"अत्रेयं गाथा सूत्रेऽनु-श्रयते", अत्रेमे गाथे सूत्रेऽनुश्रूयेते ।" ऐसी हालतमें श्रीविजय और अपराजितसूरिकी एकता-में कोई सन्देह नहीं रहता।

आशा है साहित्य-प्रेमी और जिनवाणी के भक्त महाशय शीघ्र ही उक्त प्राकृत टीका और दोनों टिप्पणोंको अपने अपने यहाँके शास्त्र-भंडारोंमें खोजनेका पूरा प्रयत्न करेंगे। जो भाई खोजकर इन ग्रंथोंको देखनेके लिये मेरे पास भेजेंगे उनका मैं बहुत आभारी हूँगा और उन ग्रंथों परसे और नई नई तथा निश्चित बातें खोज करके उनके सामने रक्खूँगा। अपने पुरातन साहित्यकी रक्षा पर सबको ध्यान देना चाहिये। यह इस समय बहुत ही बड़ा पुण्य कार्य है। ग्रंथों-के नष्ट होजाने पर किसी मूल्य पर भी उनकी प्राप्ति नहीं हो सकेगी और फिर सिवाय पछताने-के और कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहेगा। अत: समय रहते सबको चेत जाना चाहिये।

वीर-सेवा-मंदिर, सरसावा,

ता० १०-८-१९३८

भावना

कुनय कदाग्रह ना रहे, रहे न पापाचार ।
अनेकान्त ! तव तेज से हो विरोध परिहार ॥१॥
सूख जायँ दुर्गुण सकल, पोषण मिले अपार—
सद्भावोंको लोक में सुखी बने-संसार ॥२॥

—'युगवीर'

प्रभाचन्द्रके समयकी सामग्री

(ले०—श्री० पं० महेन्द्रकुमार न्याय-शास्त्री,)

वाचस्पति और जयन्तका समय

आचार्य प्रभाचन्द्रके समय-निर्णयमें न्याय-मंजरीकार भट्ट जयन्त तथा प्रशस्तपाद-भाष्यकी व्योमवती टीकाके रचयिता व्योमशिवाचार्यका समय-निर्णय अत्यंत अपेक्षणीय है; क्योंकि प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्तण्ड तथा न्यायकुमुदचंद्र-पर न्यायमंजरी और व्योमवतीका स्पष्टतया प्रभाव है*।

जयन्तकी न्यायमंजरीका प्रथम संस्करण विजयनगर सिरीजमें सन् १८९५ में प्रकाशित हुआ है। इसके संपादक म० म० गंगाधर शास्त्री मानवल्ली हैं। उन्होंने भूमिकामें लिखा है कि—'जयन्तभट्टका गंगेशोपाध्यायने उपमानचिन्तामणि (पृ० ६१) में जरन्नैयायिक करके उल्लेख किया है। जयन्तभट्टने न्यायमंजरी (पृ० ३१२) में वाचस्पति मिश्रकी तात्पर्य-टीकासे "जातं च सम्बद्धं चेत्येकः कालः" यह वाक्य 'आचार्यैः' करके उद्धृत किया है। अतः जयन्तका समय वाचस्पति (841 A. D.) से उत्तर तथा गंगेश (1175 A. D.) से पूर्व होना चाहिये।'

डा० शतीशचन्द्र विद्याभूषण भी उक्त वाक्य के आधार पर इनका समय ९ वीं से ११ वीं शताब्दी तक मानते हैं ×। अतः जयन्तको वाचस्पति-का उत्तरकालीन माननेकी परम्पराका आधार म० म० गंगाधर शास्त्री-द्वारा "जातं च सम्बद्धं चेत्येकः कालः" इस वाक्यको वाचस्पति मिश्रका लिख देना ही मालूम होता है।

वाचस्पति मिश्रने अपना समय 'न्यायसूची-निबन्ध' के अन्तमें स्वयं दिया है। यथा—

"न्यायसूचीनिबन्धोऽयमकारि सुधियां मुदे।
श्रीवाचस्पतिमिश्रेण वसुस्वंकवसुवत्सरे॥"

इस में ८९८ वत्सर लिखा है।

म० म० विन्ध्येश्वरीप्रसादजीने 'वत्सर' शब्द से शक संवत् लिया है†। डा० शतीशचन्द्र विद्याभूषण विक्रम संवत लेते हैं‡। म० म० गोपीनाथ कविराज भी लिखते हैं§ कि 'तात्पर्य-टीकाकी परिशुद्धि-टीका बनाने वाले आचार्य उदयनने अपनी 'लक्षणावली' शक सं० ९०६ (984 A. D.) में समाप्तकी है। यदि वाचस्पति-का समय शक सं० ८९८ माना जाता है तो इतनी जल्दी उस पर परिशुद्धि-जैसी टीका बन जाना संभव मालूम नहीं होता।

अतः विक्रम संवत् ८९८ (841 A. D.) यह वाचस्पति मिश्रका समय प्रायः सर्वसम्मत है। वाचस्पति मिश्रने वैशेषिक दर्शनको छोड़कर, प्रायः सभी दर्शनों पर टीकाएँ लिखी हैं। सर्व-

---

* देखो, न्याय कुमुदचन्द्रके फुट नोट्स, तथा प्रमेय कमल मा० की मोक्षचर्चा तथा व्योमवतीकी मोक्ष चर्चा।

× हिस्ट्री ऑफ़ दि इण्डियन लाजिक, पृ० १४६।

† न्यायवार्तिक-भूमिका, पृ० १४५।

‡ हिस्ट्री आफ दि इण्डियन लाजिक, पृ० १३३।

§ हिस्ट्री एंड बिब्लोग्राफी आफ दि न्याय-वैशेषिक Vol III. पृ० १०१।

प्रथम इन्होंने मंडन मिश्रके विधिविवेक पर 'न्याय-कणिका' नामकी टीका लिखी है; क्योंकि इनके दूसरे ग्रन्थोंमें प्राय: इसका निर्देश है। उसके बाद मंडनमिश्रकी ब्रह्मसिद्धिकी व्याख्या 'ब्रह्मतत्त्व-समीक्षा' तथा 'तत्त्वबिन्दु' इन दोनों ग्रन्थोंका निर्देश तात्पर्य-टीकामें मिलता है, अत: उनके बाद 'तात्पर्य-टीका' लिखी गई। तात्पर्य टीकाके साथही 'न्यायसूची-निबन्ध' लिखा होगा; क्योंकि न्यायसूत्रोंका निर्णय तात्पर्य-टीकामें अत्यन्त अपेक्षित है। 'सांख्यतत्वकौमुदी' में तात्पर्य-टीका उद्धृत है, अत: तात्पर्य टीकाके बाद 'सांख्यतत्व-कौमुदी' की रचना हुई। योगभाष्यकी तत्व-वैशारदी टीकामें 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' का निर्देश है, अत: निर्दिष्ट कौमुदीके बाद 'तत्त्ववैशारदी' रची गई। और इन सभी ग्रन्थोंका 'भामती' टीका में निर्देश होने से 'भामती' टीका सब के अन्त में लिखी गई है।

जयन्त वाचस्पति मिश्रके समकालीन वृद्ध हैं

वाचस्पति मिश्र अपनी आद्यकृति 'न्याय-कणिका' के मङ्गलाचरणमें न्यायमञ्जरीकारको बड़े महत्वपूर्ण शब्दों में गुरुरूपसे स्मरण करते हैं। यथा:—

अज्ञानतिमिरशमनीं परदमनीं न्यायमञ्जरींरुचिराम्
प्रसवित्रे प्रभवित्रे विद्यातरवे नमो गुरवे ॥

इस श्लोक में स्मृत 'न्यायमञ्जरी' भट्ट जयन्त-कृत न्यायमञ्जरी-जैसी प्रसिद्ध 'न्यायमञ्जरी' ही होनी चाहिये। अभी तक कोई दूसरी न्यायमञ्जरी सुनने में भी नहीं आई। जब वाचस्पति जयन्तको गुरुरूपसे स्मरण करते हैं तब जयन्तको वाचस्पति के उत्तरकालीन नहीं मान सकते। यद्यपि वाचस्पति-ने तात्पर्य-टीकामें 'त्रिलोचनगुरुन्नीत' इत्यादि पद देकर अपने गुरुरूपसे 'त्रिलोचन' का उल्लेख किया है, फिर भी जयन्तको उनके गुरु अथवा गुरुसम होने में कोई बाधा नहीं है। एक व्यक्तिके अनेक गुरु भी हो सकते हैं।

अभी तक **'जातञ्च सम्बद्धं चेत्येकः कालः'** इस वचन के आधार पर ही जयन्तको वाचस्पति-का उत्तरकालीन माना जाता है। पर, यह वचन वाचस्पतिकी तात्पर्य-टीकाका नहीं है, किन्तु न्याय-वार्तिककार श्री उद्योतकरका है (न्यायवार्तिक-पृ० २३६), जिस न्यायवार्तिक पर वाचस्पतिकी तात्पर्यटीका है। इनका समय धर्मकीर्ति (635–650 A. D.) से पूर्व होना निर्विवाद है।

म० म० गोपीनाथ कविराज अपनी 'हिस्ट्री एण्ड बिब्लोग्राफी ऑफ न्यायवैशेषिक लिटरेचर' में लिखते हैं * कि—वाचस्पति और जयन्त समकालीन होने चाहिएँ; क्योंकि जयन्तके ग्रन्थों पर वाचस्पतिका कोई असर देखने में नहीं आता। 'जातञ्च' इत्यादि वाक्यके विषय में भी उन्होंने सन्देह प्रकट करते हुए लिखा है कि यह वाक्य किसी पूर्वाचार्य का होना चाहिये। वाचस्पतिके पहले भी शङ्कर स्वामी आदि नैयायिक हुए हैं, जिनका उल्लेख तत्वसंग्रह आदि ग्रन्थोंमें पाया जाता है।

म० म० गङ्गाधर शास्त्रीने जयन्तको वाच-स्पतिका उत्तरकालीन मानकर न्यायमञ्जरी (पृ०

* सरस्वती भवन सेरीज़ III पार्ट।

१२०) में उद्धृत 'यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः' इस पद्य को टिप्पणीमें 'भामती' टीकाका लिख दिया है। पर वस्तुतः यह पद्य वाक्यपदीय (१-३४) का है और न्यायमञ्जरी की तरह भामती टीकामें भी उद्धृत ही है—मूलका नहीं है।

न्यायसूत्रके प्रत्यक्ष-लक्षणसूत्र (१-१-४) की व्याख्यामें वाचस्पति मिश्र लिखते हैं कि—' व्यवसायात्मक' पदसे सविकल्पक प्रत्यक्ष ग्रहण करना चाहिये तथा 'अव्यपदेश्य' पदसे निर्विकल्पक ज्ञान का। संशयज्ञानका निराकरण तो 'अव्यभिचारी' पदसे हो ही जाता है, इसलिये संशयज्ञानका निराकरण करना 'व्यवसायात्मक' पदका मुख्य कार्य नहीं है। यह बात मैं 'गुरुन्नीत मार्ग' का अनुगमन करके कहरहा हूँ।'

इसी तरह कोई व्याख्याकार 'अयमश्वः' इत्यादि शब्दसंसृष्ट ज्ञानको उभयजज्ञान कहकर उसकी प्रत्यक्षताका निराकरण करनेके लिए अव्यपदेश्य पदकी सार्थकता बताते हैं। वाचस्पति 'अयमश्वः' इस ज्ञानको उभयजज्ञान न मानकर ऐन्द्रियक कहते हैं। और वह भी अपने गुरुके द्वारा उपदिष्ट इस गाथा के आधार पर—

शब्दजत्वेन शाब्दश्चेत् प्रत्यक्षं चाक्षजत्वतः।
स्पष्टग्रहणरूपत्वात् युक्तमैन्द्रियकं हि तत्॥

इसलिये 'अव्यपदेश्य' पदका प्रयोजन निर्विकल्पकका संग्रह करना ही बतलाते हैं।

न्यायमञ्जरी (पृ० ७८) में 'उभयजज्ञानका व्यवच्छेद करना अव्यपदेश्यपदका कार्य है' इस मत का 'आचार्याः' इस रूप से उल्लेख किया है। उस पर व्याख्याकारकी अनुपपत्ति दिखाकर न्यायमञ्जरीकारने उभयजज्ञानको स्वीकार नहीं किया है।

म० म० गङ्गाधर शास्त्रीने इस 'आचार्याः' पदके नीचे 'तात्पर्यटीकायां वाचस्पतिमिश्राः' यह टिप्पणी की है। यहाँ यह विचारणीय है कि—यह मत वाचस्पति मिश्रका है या अन्य किसी पूर्वाचार्यका। तात्पर्य-टीका (पृ० १४८) में तो स्पष्ट ही उभयजज्ञान नहीं मानकर उसे ऐन्द्रियक कहा है। इसलिये वह मत वाचस्पतिका तो नहीं है। व्योमवती टीका (पृ० ५५५) में उभयजज्ञानका स्पष्ट समर्थन है, अतः वह मत व्योमशिवाचार्यका हो सकता है। व्योमवतीमें न केवल उभयजज्ञानका समर्थन ही है किन्तु उसका व्यवच्छेद भी अव्यपदेश्य पदसे किया है। हाँ, उस पर जो व्याख्याकार की अनुपपत्ति है वह कदाचित् वाचस्पतिकी तरफ लग सकती है, सो भी ठीक नहीं क्योंकि वाचस्पतिने अपने गुरुकी जिस गाथाके अनुसार उभयजज्ञानको ऐन्द्रियक माना है, उससे साफ़ मालूम होता है कि वाचस्पतिके गुरुके सामने उभयजज्ञानको माननेवाले आचार्य (संभवतः व्योमशिवाचार्य) की परम्परा थी, जिसका खण्डन वाचस्पतिके गुरुने किया। और जिस खण्डनको वाचस्पतिने अपने गुरुकी गाथाका प्रमाण देकर तात्पर्य-टीकामें स्थान दिया।

इसी तरह तात्पर्य-टीकामें (पृ० १०२) **'यदा ज्ञानं तदा हानोपादानोपेक्षाबुद्धयः फलम्'** इसका व्याख्यान करते हुए वाचस्पति मिश्रने उपादेयताज्ञानको 'उपादान' पदसे लिया है और उसका क्रम भी 'तोयालोचन, तोयविकल्प, दृष्टतज्जातीयसंस्कारोद्बोध, स्मरण, 'तज्जातीयचेदम्' इत्याकारकपरामर्श, इत्यादि बताया है।

न्यायमंजरी (पृ० ६६) के इसी प्रकरणमें शंका की है कि-'प्रथम आलोचन ज्ञानका फल उपादानादिबुद्धि नहीं हो सकती ; क्योंकि उसमें कई क्षणका व्यवधान पड़ जाता है'? इसका उत्तर देते हुए मंजरीकारने 'आचार्याः' करके उपादेयता ज्ञानको उपादानबुद्धि कहते हैं' इस मतका उल्लेख किया है। इस 'आचार्याः' पद पर भी म० म० गंगाधर शास्त्रीने **'न्यायवार्तिक-तात्पर्यटीकायां वाचस्पतिमिश्राः'** ऐसा टिप्पण किया है। न्यायमंजरीके द्वितीय संस्करणके संपादक सूर्यनारायण जी न्यायाचार्यने भी उन्हींका अनुसरण करके उसे बड़े टाइपमें हेडिंग देकर वाचस्पतिका मत ही छपाया है।

मंजरीकारने इस मतके बाद भी एक व्याख्याताका मत दिया है जो इस परामर्शात्मक उपादेयता ज्ञानको नहीं मानता। यहाँ भी यह विचारणीय है कि—यह मत स्वयं वाचस्पतिका है या उनके पूर्ववर्ती उनके गुरुका? यद्यपि यहाँ उन्होंने अपने गुरुका नाम नहीं लिया है, तथापि व्योमवती जैसी प्रशस्तपादकी प्राचीन टीका (पृ० ५६१) में इसका स्पष्ट समर्थन है, तब इस मतकी परम्परा भी प्राचीन ही मानना होगी। और 'आचार्याः' पदसे वाचस्पति न लिए जाकर व्योमशिव जैसे कोई प्राचीन आचार्य लेना होंगे। मालूम होता है म० म० गंगाधर शास्त्रीने **'जातश्च सम्बद्धश्चेत्येकः कालः'** इस वचनको वाचस्पतिका मानने के कारण ही दो जगह 'आचार्याः' पद पर **'वाचस्पतिमिश्राः'** ऐसी टिप्पणी करदी है, जिसकी परम्परा चलती रही। हाँ, म० म० गोपीनाथ कविराजने अवश्य ही उसे सन्देह-कोटिमें रक्खा है।

भट्ट जयन्तने कारकसाकल्यको प्रमाण माना है तथा प्रत्यक्ष-लक्षणमें इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नत्वादि विशेषणोंसे स्वरूप-सामग्री-विशेषण-पक्ष न मानकर फल-विशेषण-पक्ष स्वीकृत किया है। व्योमवती टीकाके भीतरी पर्यालोचनसे मालूम होता है कि—व्योमशिवाचार्य भी कारकसामग्रीको प्रमाण मानते हैं तथा फलविशेषण-पक्ष भी उन्होंने स्वीकार किया है।

यहाँ यह भी बता देना समुचित होगा कि व्योमवती टीका बहुत पुरानी है। मैं स्वयं इसी लेखमालाके अगले लेखमें व्योमशिवाचार्यके विषयमें लिखूँगा। यहाँ तो अभी तककी सामग्री के आधार पर इतनी प्राक् सूचना की जा सकती है कि जयन्तको व्योमशिवके ग्रन्थोंसे कारकसाकल्य, अनर्थजत्वात् स्मृतिको अप्रमाण मानना, फलविशेषणपक्ष, प्रत्यक्षलक्षण सूत्रमें 'यतः' पदका समावेश आदि विषयोंकी सूचनाएँ मिली हैं।

भट्ट जयन्तकी समयावधि

जयन्त मंजरीमें धर्मकीर्तिके मतकी समालोचनाके साथ ही साथ उनके टीकाकार धर्मोत्तरकी आदिवाक्यकी चर्चाको स्थान देते हैं। तथा प्रज्ञाकरगुप्त के **'एकमेवेदं हर्षविषादाद्यनेकाकारविवर्त्तं पश्यामः तत्र यथेष्टं संज्ञाः क्रियन्ताम्'** (भिक्षु राहुलजीकी वार्तिकालङ्कारकी प्रेसकापी पृ० ४२९) इस वचनका खंडन करते हैं, (न्यायमंजरी० पृ० ७४)।

भिक्षु राहुलजीने टिबेटियन गुरुपरम्पराके अनुसार धर्मकीर्तिका ६२५, प्रज्ञाकरगुप्तका ७००, धर्मोत्तर और रविगुप्तका ७२५ ईस्वी सनका समय लिखा है। जयन्तने एक जगह रविगुप्तका भी नाम लिया है। अतः जयन्तकी पूर्वाविधि ७२५ A. D. तथा उत्तराविधि ८४१ A. D. होनी चाहिए। यह समय जयन्तके पुत्र अभिनन्दन द्वारा दीगई जयन्तकी पूर्वजावलीसे भी संगत बैठता है। अभिनन्द अपने कादम्बरी कथासारमें लिखते हैं कि—

'भारद्वाज कुलमें शक्ति नामका गौड़ ब्राह्मण था। उसका पुत्र मित्र, मित्रका पुत्र शक्तिस्वामी हुआ। यह शक्तिस्वामी कर्कोटवंशके राजा मुक्तापीड ललितादित्यके मंत्री थे। शक्तिस्वामीके पुत्र कल्याणस्वामी, कल्याणस्वामीके पुत्र चन्द्र तथा चन्द्रके पुत्र जयन्त हुए, जो नववृत्तिकारके नामसे मशहूर थे। जयन्तके अभिनन्द नामका पुत्र हुआ।'

काश्मीरके कर्कोट-वंशीय राजा मुक्तापीड ललितादित्यका राज्य काल ७३३से ७६८ A. D. तक रहा है*। यदि प्रत्येक पीढ़ीका समय २५ वर्ष भी मान लिया जाय तो शक्तिस्वामीके ईस्वी सन् ७३५में कल्याणस्वामी, कल्याणस्वामीके ७६०में चन्द्र, चन्द्रके ७८५ में जयन्त उत्पन्न हुए और उन्होंने ईस्वी सन् ८१५ तकमें अपनी 'न्याय मंजरी' बनाई होगी। इसलिये वाचस्पतिके समय में जयन्त वृद्ध होंगे और वाचस्पति इन्हें आदर की दृष्टिसे देखते होंगे। यही कारण है कि उन्होंने अपनी आद्यकृतिमें न्यायमंजरीकारका स्मरण किया है।

व्योमशिव और जयन्तकी तुलना तथा व्योमशिवका समय एवं उनका जैनग्रंथों पर प्रभाव, ये सब विषय अगले लेखमें लिखे जायँगे।

—):※:(—

उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी

(ले० श्री स्वामी कर्मानन्द जी जैन)

यह हम दावेके साथ कह सकते हैं कि संसारमें जितने मत-मतान्तर हैं उन सबका आदि मूल जैन-धर्म्म है। दूसरे सम्पूर्ण धर्म्म जब भारतीय धर्म्मोंके विकृतरूप हैं तब अन्य भारतीय धर्म्म जैन-धर्म्मके रूपान्तर हैं। जैन-धर्म्मका इतिहास अति प्राचीन एवं इसका कथन बहुत ही स्वाभाविक है। आज हम इसके कालवाचक शब्द उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीपर ऐतिहासिक दृष्टिसे विचार करेंगे। अति प्राचीन समयमें भारतीय शास्त्र युगके मुख्य दो भाग

* देखो, संस्कृत साहित्यका इतिहास, परिशिष्ट(ख)पृ० १५।

करते थे, जिनके नाम उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी थे। यथा :—

उत्सर्पिणी युगार्धं च पश्चादवसर्पिणी युगार्धं च।
मध्ये युगस्य सुषमादावन्ते दुष्षमेन्दूच्चात्॥

—आर्य सिद्धान्त, ३, ९।

अर्थात्—युगके दो भाग हैं, प्रथम युगार्धका नाम उत्सर्पिणी तथा दूसरेका अवसर्पिणी है। उत्सर्पिणीके मध्यवर्ती ६ विभाग हैं और इसी प्रकार अवसर्पिणीके भी ६ ही विभाग हैं। इन १२ विभागोंके नाम सुषमा-सुषमा आदि तथा दुषमा-दुषमा आदि हैं—उत्सर्पिणीके ६ विभागोंके नाम सुषमा-सुषमा आदि और अवसर्पिणीके विभागों-के नाम दुषमा-दुषमा आदि हैं।

यदि उपर्युक्त कथनके साथ वैदिक ज्योतिष-ग्रंथ 'आर्य सिद्धान्त' का नाम न रखा जाय तो कोई भी व्यक्ति इसको वैदिक सिद्धान्त कहनेके लिए उद्यत न होगा; क्योंकि मूलरूपमें उपर्युक्त मान्यता शुद्ध जैन-धर्म्म की ही है—वर्त्तमान समय-में जितने भी मत हैं उनमेंसे किसीके भी यहाँ उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी आदि शब्दोंका व्यवहार नहीं है *।

जैन-धर्म्मके सर्वमान्य तत्त्वार्थसूत्रमें इनका स्पष्ट वर्णन है † तथा प्रत्येक बाल-वृद्ध जैन उत्स-र्पिणी-अवसर्पिणीको तथा उनके सुषमा-सुषमादि और दुषमा-दुषमादि विभागोंको जानता ही नहीं किन्तु कंठस्थ तक रखता है। इसी कालचक्रका नाम विकासवाद तथा ह्रासवाद है। डरविनका विकासवाद एवं अन्य विद्वानोंका ह्रासवाद एकान्तवाद हैं; परन्तु जैन-धर्म्मने प्रारम्भसे ही वस्तुके वास्तविक-स्वरूप-का कथन किया है। संसारमें हम विकास और ह्रास दोनों ही देखते हैं, इसलिये जैनशास्त्रने दोनों पक्ष माने हैं। जैनफिलासफीकी तरह वर्त्तमान विज्ञान भी इस बातको स्वीकार करता है कि कभी तो विकासका प्राधान्य होता है और कभी ह्रासका। जब विकासका प्रधान्यत्व होता है तब उत्स-र्पिणीकाल कहलाता है और जब ह्रास प्रधान होता है तो उसको अवसर्पिणीकाल कहते हैं। इन दोनोंके जो सुषमा-सुषमा आदि भेद हैं जैन शास्त्रोंमें उनका नाम आरे हैं। यह 'आरे' कालचक्रकी संज्ञाभी जैनियोंकी ही परिभाषा है—अन्य मतोंमें इसके लिएभी कोई स्थान नहीं है। हाँ वैदिक साहित्यमें आरोंका कुछ वर्णन जरूर है। यथा—

द्वादशारं न हि तज्जराय।

ऋ० मं० १ सू० १६४ मन्त्र ११

अर्थात्—१२ आरे सूर्यकी वृद्धावस्थाके लिये नहीं हैं। अभिप्राय यह है कि सूर्य नित्य सनातन है। न कभी उत्पन्न होता है और न कभी नष्ट होता है। अन्य अनेक स्थानोंमें भी इन आरोंका कुछ कथन है। परन्तु संसारके वास्तविक स्वरूप-को तदनुकुल सुन्दर शब्दोंमें वर्णन करनेका श्रेय जैन-धर्म्मको ही प्राप्त है। उत्सर्पिणी और अवस-

* शब्द कल्पद्रुम कोष और आप्टेकी संस्कृत इंगलिश डिकशनरीमें भी इसे जैनियोंकी ही मान्यता बतलाया है।

—सम्पादक

† भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम्॥ ३—२७॥

र्पिणी जैसे सुन्दर शब्द, जो संसारकी सम्पूर्ण अस्थाओंके भावको प्रकट करते हैं, अन्य शास्त्रों तथा अन्य भाषाओंमें उपलब्ध नहीं हैं। और इसलिये भारतवर्ष इसपर अभिमान भी कर सकता है, क्योंकि भारतके सिवा अन्य देशोंमें इतना मौलिक और उपयुक्त नामकरण नहीं पाया जाता है।

यह दुर्भाग्यकी बात है कि भारतमें साम्प्रदायिक कलहका बीजारोपण हुआ और उसके फल इतने कड़वे एवं भयानक निकले कि उनके स्मरण मात्रसे हृदय काँप उठता है। बस जिस नामको जैन-धर्म्म स्वीकार करता है उसको हम कैसे स्वीकार करें ? इस प्रकारकी भावनाएँ आपसके विरोधसे उत्पन्न हो गईं ! इसीलिये उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीके स्थानपर पुराणकारोंने सर्ग और प्रतिसर्ग नामोंकी रचना की तथा आरोंके स्वाभाविक कथनके स्थानपर मन्वन्तरोंकी कल्पना की गई और कलियुग आदिकी भद्दी कल्पनाका भी जन्म हुआ।

मन्वन्तरोंकी कल्पना किस प्रकार प्रचलित हुई, इसका वर्णन हम 'भारतका आदि सम्राट्' पुस्तकमें कर चुके हैं। कलियुग आदिकी कल्पना नवीनतर है, इसको आजकलके प्रायः सभी ऐतिहासिकोंने मुक्त कंठसे स्वीकार किया है। वैदिक मूल संहिताओंमें कृत, कलि आदि शब्द जूये (द्यूत) के पासोंके अर्थमें ही प्रयुक्त हुए हैं। अतः यह निश्चित है कि वैदिक समयमें कालके विभाग कलियुग आदिके नाममे नहीं थे। उसके पश्चात् 'ब्राह्मण' ग्रन्थोंमें भी कलि आदि शब्द युगके अर्थमें प्रयुक्त हुए नहीं देखे जाते। और इसलिये यह स्पष्ट है कि कलि आदिकी कल्पना नवीनतम तथा अवैदिक है।

इसके अलावा कलियुग कब आरम्भ हुआ, इस विषयमें शास्त्रकारों तथा आधुनिक विद्वानोंमें भयानक मत-भेद पाया जाता है। यथा :—

(१) मदरासके प्रसिद्ध विद्वान् विलएडी०के० अय्यर का मत है कि, कलियुगका आरम्भ ११२६ वर्ष शक पूर्व है।

(२) रमेशचन्द्रदत्त और अन्य अनेक पाश्चात्य पण्डितोंका कथन है कि कलियुगका आरम्भ १३२२ वर्ष शक पूर्व है।

(३) मिश्र-बन्धुओंने सिद्ध किया है कि २०९९ वर्ष शक पूर्व कलिका आरम्भ हुआ।

(४) राज तरंगणीके हिसाबसे २५२६ वर्ष शक पूर्व कलिका आरंभ ठहरता है।

(५) वर्तमान पञ्चांगोंके हिसाबसे तथा लोकमान्य तिलक आदिके मतसे ३१७९ वर्ष शक पूर्वका समय आता है।

(६) कैलाशवासी गौडकके मतसे कलिका आरम्भ समय ५००० वर्ष शक पूर्वका है।

(७) वेदान्तशास्त्री विष्णाजी रघुनाथ लेलेके मतसे ५३०६ वर्ष शक पूर्व कालका प्रारम्भ हुआ।

हमने यहाँ सात मतोंका दिग्-दर्शन कराया है। इसी प्रकार अनेक मत हैं, जिनको स्थानाभावसे छोड़ दिया गया है। पाठक वृन्द ११००की तथा ५३००की संख्याओंका भेद कितना विशाल है, इसको जरा ध्यानसे देखें। इस भारी अन्तरका कारण यह है कि वास्तव में कभी कलियुग आरम्भ ही नहीं हुआ। यह एक निराधार कल्पना है, जिसको विरोधमें उपस्थित किया गया था। इसलिये किसीने कुछ अनुमान लगाया तो किसीने कुछ धारणाकी। इसीप्रकार कलयुगकी समाप्तिके विषयमें भी मतभेद है। नागरी-प्रचारिणीपत्रिका भाग १० अंक १ में एक लेख भारतके सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान् स्वर्गीय श्रीकाशीप्रसादजी

जायसवाल, एम. ए. विद्यामहोदधिने लिखा है। उसमें अनेक प्रमाणोंसे यह सिद्ध किया गया है कि विक्रमादित्यसे पूर्व ही कलियुग समाप्त हो चुका था, उसके पश्चात् विक्रम संवत चला जिसको प्राचीन लेखों में कृत-संवत्के नामसे उल्लेख किया है। इसी भावकी पुष्टि जयचन्द्रजी विद्यालंकारने अपनी 'रूपरेखा'में की है।

इस कल्पनाका कारण यही था कि जब ब्राह्मणोंने देखा कि विक्रमादित्यके राज्यमें सब बातें अच्छी हैं तो उन्होंने कह दिया कि कृत-युग आगया और उनके संवतका नाम भी कृत-संवत् रखदिया; परन्तु जब उनके पश्चात् फिर भी वही पूर्ववत् अवस्था होगई तो 'कलि-वृद्धि भविष्यति' का शोर मचा दिया और कलियुगकी आयुभी बढ़ादी ! इस विषयमें हम भारतके ही नहीं किन्तु संसारके ज्योतिष-विद्याके सर्वश्रेष्ठ विद्वान् पं० बालकृष्णजी दीक्षितका मत लिख देना परम आवश्यक समझते हैं। आप लिखते हैं कि ज्योतिष-ग्रंथोंके मतसे शकारम्भके पूर्व ३१७९ वर्षमें कलियुग आरम्भ हुआ ऐसा कहते हैं सही, किन्तु जिन ग्रंथोंमें यह वर्णन है वे ग्रन्थ २६०० वर्ष कलि लगनेके बादके हैं। सिवा इन ज्योतिष ग्रन्थोंके प्राचीन ज्योतिष या धर्म्मशास्त्र आदि ग्रन्थोंमें कलियुग आरम्भ कब हुआ यह देखनेमें नहीं आया, न पुराणों में ही खोजनेसे मिलता है। यदि कहीं होगा भी तो वह प्रसिद्ध नहीं है। हाँ यह बात तो अवश्य है कि कुछ ज्योतिष ग्रन्थोंके कथनानुसार यह वाक्य मिलते हैं कि कलियुग के आरम्भमें सब ग्रह एकत्रित थे, किन्तु गणित से यह सिद्ध नहीं होता कि ये किस समय (एकत्रित) थे। यदि थोड़ी देरके लिये ऐसा मान भी लें कि सब ग्रह अस्तंगत थे किन्तु भारत आदि पुराणों में तो इसका उल्लेख नहीं मिलता। हाँ उल्लेख मिलता है २६०० वर्ष बादके बने सूर्य सिद्धान्त आदि ग्रंथोंमें'।

—भारतीय ज्योतिःशास्त्र, पृ०१४१।

इसीप्रकार कृतयुग आरम्भकी बात है। इसके विषयमें भी शास्त्रोंका मत है कि जब सूर्य, चंद्रमा, तथा वृहस्पति एक राशीमें आवेंगे तब कृतयुगका आरम्भ होगा, परंतु ज्योतिर्विद् जानते हैं कि इनका एक राशीमें आना असंभव है।

उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध है कि कलियुग आदिकी कल्पना एक निराधार कल्पना है तथा नवीन कल्पना है। इस कल्पनाका मुख्य कारण सृष्टिकी रचनाका सिद्धान्त है। जब यह माना जाने लगा कि सम्पूर्ण जगत् एक समय उत्पन्न हुआ है तो उसकी आयुका प्रश्न उपस्थित होना भी स्वाभाविक ही था। बस इसी प्रश्नको हल करनेके लिये उपयुक्त कल्पना की गई है। इस कल्पनाका एक अन्य भी कारण ऐतिहासिकोंने लिखा और वह यह है कि खालडियन लोगोंमें एक युग अथवा सृष्टिसंवत् ४३२००० वर्षका था, उसीके आधारपर इस कल्पनाको जन्म दिया गया। और उसमें ४३२००० के स्थान पर चार बिन्दु बढ़ाकर चार अरब बत्तीस करोड़ ४३२००००००० की संख्या करदी गई। सारांश यह है कि कालके प्राचीन और वास्तविक भेद उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी ही हैं, जोकि जैन-शास्त्र की मान्यता है। यही मान्यता प्राचीन वैदिक आर्यों की मान्यता थी। वास्तव में जैन-धर्म्म और प्राचीन वैदिक-धर्म्म एक ही वस्तु थी-बादमें उसके रूपान्तर होकर अनेक मत मतान्तरोंकी सृष्टि हुई है। नवीन वैदिक धर्म्मी अपने प्राचीन वास्तविक धर्म्मको भूलकर नई नई कल्पनाएँ करते हैं जैन-धर्म्म ही प्राचीन वैदिक धर्म्म है, इस विषयका सविस्तार और सप्रमाण विवेचन हम 'धर्म्मके आदि प्रवर्तक' ग्रंथ में करेंगे।

भक्तामर स्तोत्र

(ले० श्री० पं० अजितकुमार जैन शास्त्री)

कर्मबन्धनसे स्वतन्त्र होनेके लिये यद्यपि मुख्य साधन ध्यान है—क्योंकि आत्म-ध्यान द्वारा ही सविशेषरूपसे कर्म-राशि क्षय होकर आत्मा शुद्ध होता है—किन्तु आत्मध्यान सतत सर्वदा नहीं हो सकता और न आत्मध्यानका असली उच्चरूप (शुक्लध्यान) सर्वसाधारणको प्राप्त ही होता है अत: आत्मशुद्धिके लिये अनेक प्रकार-के व्रत, नियम, समिति, गुप्ति, भावना, धर्म आदि क्रियाकलापभी नियत किये गये हैं। उनमें छह आवश्यक भी एक गणणीय साधन हैं। मुनि-मार्ग पर चलने वाले वीरात्माओंके लिये सामायिक, वंदना, स्तुति, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय, कायोत्सर्ग ये छह आवश्यक कर्म बतलाये हैं और गृहस्थाश्रममें रहकर धर्मसाधन करने वालोंके लिये प्रायः देवपूजन, गुरूउपासना, स्वाध्याय, संयम, तप, दान ये छह आवश्यक कर्तव्य निर्दिष्ट किये हैं।

मुनिमार्ग तथा गृहस्थमार्गके इन जुदे-जुदे आवश्यकोंमें भक्ति-विषयक वंदना, स्तुति तथा देवपूजन, गुरूपासना ये आवश्यक मिलते जुलते हैं। मुनि भी स्तुति, वंदना-द्वारा परमेष्ठियोंकी भक्ति करते हैं, गृहस्थ भी स्तुति-वंदना-द्वारा पंच-परमेष्ठीकी भक्ति करते हैं। यद्यपि भक्तिको कुछ प्रबल बनानेकेलिये गृहस्थ अष्ट द्रव्य, गीत, नृत्य, वादित्र आदि अन्य बाह्य साधनोंका भी अवलंबन लेता है; जब कि मुनि इन बाह्य साधनोंको दूर छोड़कर भक्तिपूर्ण अपने भावोंका ही अवलंबन लेते हैं। परन्तु अर्हन्तपद पानेकेलिये 'वीतरागता प्राप्तकरना' यह उद्देश्य दोनोंका एक ही जैसा होता है, जिसे सिद्ध करनेकी मुनि तथा गृहस्थ दोनोंही प्रतिदिन चेष्टा करते हैं। अस्तु।

अर्हन्त-भक्तिकेलिये मुख्यरूपसे स्तोत्रोंका सहारा लेना पड़ता है। स्तोत्रोंके द्वारा चित्त भक्तिकी ओर अधिक आकर्षित होता है। अत: स्तोत्र-द्वारा भक्ति करनेकी पद्धति मुनि तथा गृहस्थोंमें सदासे चली आरही है। इसी कारण जबसे शास्त्रनिर्माण प्रारम्भ हुआ मंगलाचरण आदि अनेक रूपमें स्तुति रचना भी प्रारम्भ हुई है। जिन ग्रन्थकारोंने ग्रन्थ रचनाकी उन्होंने प्राय: सबसे पहले अर्हन्त भगवान्की स्तुतिपर लेखनी चलाई—पीछे अन्य विषयपर क़लम उठाई।

स्तुतियोंका आकर्षक सुन्दर रूप स्वामी समन्तभद्राचार्यके समयसे प्रारम्भ होता है। भक्त-की सच्ची भक्तिमें कितनी प्रबलदिव्य-शक्ति है, इस बातका उदाहरण सबसे पहले स्वामी समन्तभद्रने काशी या काञ्ची नगरमें महादेवकी पिण्डीके समक्ष स्वयम्भूस्तोत्र पढ़कर संसारके सामने रक्खा। उपस्थित जनताको समन्तभद्राचार्यने दिखला दिया कि मेरा इष्ट भगवान् मुझसे दूर नहीं है, मेरी हार्दिक भक्ति उसे मेरे सामने ला खड़ा करती है। तदनुसार उपास्य अर्हन्त-प्रतिमा (चन्द्रप्रभु) महादेवकी मूर्तिमेंसे प्रकट हुई।

स्वयम्भूस्तोत्र की रचना है भी अनुपम। समंतभद्राचार्यका तत्वविवेचन एवं तार्किक ढंग जिस प्रकार अद्भुत है उसी प्रकार उनकी स्तुतिरचना भी अदभुत है—उस शैलीकी तुलना अन्य किसी स्तुतिसे नहीं की जासकती।

समन्तभद्राचार्यके पीछे अनेक गणनीय साधु तथा गृहस्थ स्तुतिकार हुए हैं, जिनकी बनाई हुई स्तुतियोंमें भी बहुत भक्तिरस भरा हुआ है—किसी किसीमें तो इतना इतना गूढ़भाव भरा हुआ है जिसका पूर्ण-रहस्य स्वयं उस रचयिताको ही ज्ञात होगा। विषापहार-स्तोत्रमें पंडित धनञ्जयजीने इस बातमें कमाल किया है। कुछ स्तोत्रोंमें मांत्रिक शक्ति अद्भुतरूपसे रक्खी गई है, किसीमें मनोमोहक शाब्दिक लहर लहरा रही है, किसीमें सुन्दर छन्दों द्वारा लालित्य लाया गया है, इत्यादि अनेक रूपमें स्तोत्र दीख पड़ते हैं।

इनमेंसे कुछ स्तोत्र ऐसे भी हैं जिनको दिगम्बर, श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदाय आम तौरपर समान आदर भावसे अपनाते हैं। श्रीमान तुंगाचार्यके रचे हुए भक्तामरस्तोत्रको तथा कुमुदचन्द्राचार्यके बनाये हुए कल्याणमन्दिरको दोनों सम्प्रदाय बड़े आदरभावसे अपनाते हैं। ये दोनों स्तोत्र सचमुच हैं भी ऐसे ही, जिनको सब कोई अपना सकता है। इस बातमें हमको प्रसन्नता होनी चाहिये कि तत्वार्थसूत्रके समान हमारे दो स्तोत्र भी ऐसे हैं जिनमें दिगम्बर श्वेताम्बर सम्प्रदाय समानरूपसे साझीदार हैं। दोनों स्तोत्रोंमें भक्तामरस्तोत्रकी प्रसिद्धि अधिक है। मानतुंगाचार्य दिगम्बर थे या श्वेताम्बर यह बात अभी इतिहाससे ठीक ज्ञात नहीं होपाई है; क्योंकि न तो उनकी और कोई निर्विवाद रचना पाई जाती है, जिससे इस बातका निर्णय होसके और न भक्तामरस्तोत्रमें ही कहीं कुछ ऐसा शब्द-प्रयोग पाया जाता है, जिससे उनका श्वेताम्बरत्व या दिगम्बरत्व निर्णय किया जासके।

श्रीमान् पं० जिनदासजी न्यायतीर्थ शोलापुरने एक बार किसी आधारसे लिखा था कि "मानतुङ्गाचार्य पहले श्वेताम्बर थे किन्तु एक किसी भयानक व्याधिसे छुटकारा पाने पर दिगम्बर साधु हो गये थे।" इस कथानकमें कितना तथ्य है, यह कुछ ज्ञात नहीं। हाँ, इतना अवश्य है कि भक्तामरस्तोत्रमें कोई शब्द ऐसा नहीं पाया जाता जो दिगम्बरीय सिद्धान्तके प्रतिकूल हो। अस्तु।

उपलब्ध भक्तामर स्तोत्रको यद्यपि दिगम्बर, श्वेताम्बर उभय सम्प्रदाय मानते हैं किन्तु वे दोनों श्लोकसंख्यामें एकमत नहीं हैं। यों तो दिगम्बर सम्प्रदायमें भी भक्तामर स्तोत्रकी श्लोकसंख्याके लिये दो मत पाये जाते हैं। प्राय: सर्व साधारण लोग ४८ श्लोक ही भक्तामरमें मानते हैं और उन्हीं ४८ श्लोकोंका भक्तामरस्तोत्र अनेक रूपमें प्रकाशित हो चुका है। इनकी कई टीकाएँ, कई अनुवाद भी छप चुके हैं। अभी श्रीमान पं० लालारामजी शास्त्रीने, भक्तामरस्तोत्रके प्रत्येक पद्यके प्रत्येक पादको लेकर और समस्यापूर्तिके रूपमें तीन तीन पाद अपने नये बनाकर, २०४ श्लोकोंका भक्तामर-'शतद्वयी' नामक सुन्दर स्तोत्र-निर्माण किया है। प्रत्येक श्लोक केवल एक-एक पादकी समस्यापूर्ति करते हुए ४८ पद्योंका एक सुन्दर राजीमती-नेमिनाथ-विषयक 'प्राणप्रिय' काव्य भी प्रकाशित हो चुका है। यंत्र-मंत्र-सहित जो भक्तामरस्तोत्र प्रकाशित हुआ है वह भी ४८ पद्योंका ही है।

किन्तु कुछ महानुभावोंका ख़याल है कि भक्तामरस्तोत्रमें ५२ श्लोक थे, प्रचलित भक्तामरस्तोत्रमें ४ श्लोक कम पाये जाते हैं। वे निम्न लिखित ४ श्लोक और बतलाते हैं—

"नातः परः परमवचोभिधेयो,
लोकत्रयेऽपि सकलार्थविदस्ति सार्वः ।
उच्चैरितीव भवतःपरिघोषयन्त-,
स्ते दुर्गभीरसुरदुन्दुभयः सभायाँम् ।३२।
वृष्टिर्दिवःसुमनसां परितःपपात,
प्रीतिप्रदा सुमनसां च मधुव्रतानाम् ।
राजीवसा सुमनसा सुकुमारसारा,
सामोदसम्पदमदाजिन ते सुदृश्यः ।३३।
पूष्मामनुष्य सहसामपि कोटिसंख्या,
भाजां प्रभाः प्रसरमन्वहया वहन्ति ।
अन्तस्तमः पटलभेदमशक्तिहीनं,
जैनी तनुद्युतिरशेषतमोऽपि हन्ति ।३४।
देव त्वदीय सकलामलकेवलाय,
बोधातिगाधनिरुपप्लवरत्नराशेः ।
घोषःस एव इति सज्जनतानुमेते,
गम्भीरभारभरितं तव दिव्यघोषः ।३५।

ये ४ श्लोक, जोकि भक्तामरस्तोत्रमें और अधिक बतलाये जाते हैं, जिस रूपमें प्राप्त हुए हैं उसी रूपमें यहाँ रक्खे हैं ।

इन श्लोकोंके विषयमें यदि क्षणभरभी विचार किया जाये तो ये चारों श्लोक भक्तामर-स्तोत्रके लिये व्यर्थ ठहरते हैं; क्योंकि इन श्लोकों-में क्रमशः दुन्दुभि, पुष्पवर्षा, भामंडल तथा दिव्य-ध्वनि इन चार प्रातिहार्योंको रक्खा गया है और ये चारों प्रातिहार्य इन श्लोकोंके बिना ४८ श्लोक वाले भक्तामरस्तोत्रमें भी ठीक उसी ३२-३३-३४-३५ वीं संख्याके पद्योंमें यथाक्रम विद्यमान हैं। अतः ये चारों श्लोक भक्तामरस्तोत्रके लिये पुन-रुक्तिके रूपमें व्यर्थ ठहरते हैं तथा इनकी कविता-शैली भी भक्तामरस्तोत्रकी कविताशैलीके साथ जोड़ नहीं खाती ।अतः ५२ श्लोक वाले भक्तामरस्तोत्रकी तो कल्पना निःसार है और न अभी तक किसी विद्वानने समर्थन ही किया है ।

अब श्वेताम्बर सम्प्रदायकी मान्यता पर विचार कीजिये । श्वेताम्बर सम्प्रदायमें कल्याण-मंदिर स्तोत्र तो दिगम्बर सम्प्रदायके समान ४४ श्लोक वालाही माना जाता है किंतु भक्तामर-स्तोत्रको श्वेताम्बर सम्प्रदाय ४८ श्लोक वाला न मानकर ४४ पद्यों वाला ही मानता है। ३२-३३-३४-३५ नम्बर के चार पद्य श्वेताम्बर सम्प्रदाय ने अपने भक्तामरस्तोत्रमें से निकाल दिये हैं। इसीसे प्रचलित भक्तामरस्तोत्र साम्प्र-दायिक भेदसे दो रूपमें पाया जाता है ।

भक्तामरस्तोत्रमें दिगम्बर सम्प्रदायकी मान्यतानुसार ४८ श्लोक ही क्यों नहीं हैं ? इसका उत्तर तीन प्रकारसे प्राप्त हुआ। एक तो यह कि जब कल्याणमंदिरस्तोत्र ४४ श्लोकोंका है, तब उसकी जोड़का भक्तामरस्तोत्र भी ४४ श्लोकों-का ही होना चाहिये—वह ४८ श्लोकोंका कैसे हो ?

दूसरे, भरतक्षेत्रके २४ तीर्थंकर और विदेह क्षेत्रोंके २० वर्तमान तीर्थंकर इनकी कुल संख्या ४४ हुई, इस संख्याके अनुसार भक्तामर-स्तोत्रके श्लोकोंकी संख्या भी ४४ ही होनी चाहिये ।

तीसरे, श्वेताम्बर जैन गुरुकुलके एक स्नातकसे यह उत्तर प्राप्त हुआ कि भक्तामरस्तोत्र एक मंत्रशक्ति से पूर्ण स्तोत्र है। उसके मंत्रोंको सिद्ध करके मनुष्य उन मंत्रोंके आधीन देवोंको बुला २ कर तंग करते थे। देवोंने अपनी व्यथा मानतुंगा-चार्यको सुनाई कि महाराज ! आपने भक्तामर स्तोत्र बनाकर हमारी अच्छी आफ़त ले डाली। मंत्रसिद्ध करके लोग हमको चैनसे नहीं बैठने देते—हर समय मंत्रशक्तिसे बुलाबुलाकर हमें परेशान करते हैं । मानतुंगाचार्यने देवोंपर दया करके भक्तामरस्तोत्रमेंसे चार श्लोक निकाल दिये। अतः भक्तामर ४४ श्लोकोंवाला ही होना चाहिये ।

यदि इन समाधानोंपर विचार किया जाय तो तीनों ही समाधान निःसार जान पड़ते हैं। मानतुंगाचर्य और कुमदचन्द्राचार्यका आपसमें यह कोई समझौता नहीं था कि हम दोनों एक-सी ही संख्याके स्तोत्र बनावें। हरएक कवि अपने अपने स्तोत्रकी पद्यसंख्या रखनेमें स्वतन्त्र है। दूसरे मानतुंगाचार्य कुमुदचन्द्राचार्यसे बहुत पहले हुए हैं। अतः पहली बातके अनुसार भक्तामरके श्लोकोंकी संख्या ४४ सिद्ध नहीं होती।

दूसरा समाधान भी उपहासजनक है। भिन्न भिन्न दृष्टिसे तीर्थंकरोंकी संख्या २४-४८-७२-२४०आदि अनेक बतलाई जासकती हैं। भरत-क्षेत्रके २४ तीर्थंकर हैं तो उनके साथ समस्त विदेहोंके बीस तीर्थंकर ही क्यों मिलाये जाते हैं। ऐरावतक्षेत्रके २४ तीर्थंकर अथवा ढाई-द्वीपके समस्त भरतक्षेत्रोंके तीर्थंकरोंकी संख्या क्यों नहीं लीजाती ?तीर्थंकरोंकी संख्याके अनुसार स्तोत्रोंकी पद्य संख्याका हीन मानना नितान्त भोलापन है और वह दूसरे स्तोत्रोंकी पद्यसंख्याको भी दूषित कर देगा। अतः दूसरी बात भी व्यर्थ है।

अब रही तीसरी बात, उसमें भी कुछ सार प्रतीत नहीं होता; क्योंकि भक्तामरस्तोत्रका प्रत्येक श्लोक जब मंत्र-शक्तिसे पूर्ण है और प्रत्येक श्लोक मंत्ररूपसे कार्यमें लिया जासकता है। तब देवों-का संकट हटानेके लिये मानतुंगाचार्य सिर्फ चार श्लोकोंको ही क्यों हटाते ? सबको क्यों नहीं ? क्योंकि यदि सचमुच ही भक्तामरस्तोत्रके मंत्रा-राधनसे देव तंग होते थे और मानतुंगाचार्यको उन पर दया करना इष्ट था तो उन्होंने शेष ४४ श्लोकोंको देवोंकी आफ़त लेनेके लिये क्यों छोड़ दिया ? इसका कोई भी समुचित उत्तर नहीं हो सकता।

अतः इन समाधानोंसे तो भक्तामरस्तोत्रके श्लोकोंकी संख्या ४४ सिद्ध नहीं होती।

हाँ इतना जरूर है कि भक्तामर स्तोत्रको ४४ श्लोकों वाला मान लेने पर भक्तामरस्तोत्र अधूरा अवश्य रहजाता है। क्योंकि तीर्थंकरोंके प्रातिहार्य जिस प्रकार दिगम्बर सम्प्रदायने माने हैं उसी प्रकारके श्वेताम्बर सम्प्रदायमें भी माने गये हैं। इन आठ प्रातिहार्योंका वर्णन जिस प्रकार कल्याणमंदिर-स्तोत्रमें है, जिसको कि श्वेताम्बर सम्प्रदायभी मानता है, उसी प्रकार भक्तामरस्तोत्रमें भी रक्खा गया है। श्वेताम्बर सम्प्रदायके भक्तामरस्तोत्रमें जिन ३२,३३, ३४, ३५ नम्बरके चार श्लोकोंको नहीं रक्खा गया है उनमें क्रमसे दुन्दुभि, पुष्पवृष्टि, भामण्डल, और दिव्यध्वनि इन चार प्रातिहार्योंका वर्णन है। उक्त चार श्लोकोंको न मानने पर ये चारों प्रातिहार्य छूट जाते हैं। अतः कहना पड़ेगा कि श्वेताम्बरीय भक्तामरस्तोत्रमें सिर्फ़ चार ही प्रातिहार्य बतलाये हैं, जबकि श्वेताम्बरीय सिद्धान्तानुसार प्रातिहार्य आठ होते हैं, और उन छोड़े हुए चार प्रातिहार्यों को कल्याणमंदिर-स्तोत्रमें क्रमशः २५, २०, २४ तथा २१ नम्बरके श्लोकोंमें गुम्फित किया गया है।

अतः श्वेताम्बर सम्प्रदायके सामने दो समस्याएँ हैं। एक तो यह कि, यदि कल्याणमंदिर को वह पूर्णतया अपनाता है तो कल्याणमंदिर की तरह तथा अपने-सिद्धान्तानुसार भक्तामरस्तोत्रमें भी आठों प्रातिहार्योंका वर्णन माने, तब उसे भक्तामरस्तोत्रके ४८ श्लोक मानने होंगे।

दूसरी यह कि, यदि भक्तामरस्तोत्रमें अपनी मान्यतानुसार चार प्रातिहार्य ही मानता है तो कल्याणमंदिरसे भी २०, २६, २४ तथा २५ नम्बरके श्लोकोंको निकाल कर दोनों स्तोत्रोंको समान बना देवें।

इन दोनों समस्याओंमें से पहली समस्या ही श्वेताम्बर समाजको अपनानी होगी; क्योंकि वैसा करने पर ही भक्तामरस्तोत्रका पूर्णरूप उनके पास रहेगा। और उस दशामें दिगम्बर श्वेताम्बर-सम्प्रदायके भक्तामरस्तोत्रमें कुछभी अन्तर नहीं रहेगा।

सामाजिक प्रगति

जैन-समाज क्यों मिट रहा है?

लेखक:— अयोध्याप्रसाद गोयलीय

जैन-समाज अपनेको उस पवित्र एवं शक्तिशाली धर्मका अनुयायी बतलाता है जो धर्म भूले-भटके पथिकों-दुराचारियों तथा कुमार्ग-रतोंका सन्मार्ग-प्रदर्शक था, पतित-पावन था, जिस धर्ममें धार्मिक-सङ्कीर्णता और अनुदारताके लिये स्थान नहीं था, जिस धर्मने समूचे मानव-समाजको धर्म और राजनीतिके समान अधिकार दिये थे, जिस धर्मने पशु-पक्षियों और कीट-पतंगों तकके उद्धारके उपाय बताये थे, जिस धर्मका अस्तित्व ही पतितोद्धार एवं लोकसेवा पर निर्भर था, जिस धर्मके अनुयायी चक्रवर्तियों, सम्राटों और आचार्योंने करोड़ों म्लेच्छ अनार्य तथा असभ्य कहेजाने वाले प्राणियोंको जैनधर्ममें दीक्षित करके निरामिष-भोजी, धार्मिक तथा सभ्य बनाया था, जिस धर्मके प्रसार करनेमें मौर्य, ऐल, राष्ट्रकूट, चाल्युक्य, चोल, होयसल और गंगवंशी राजाओंने कोई प्रयत्न उठा न रक्खा था और जो धर्म भारतमें ही नहीं किन्तु भारतके बाहर भी फैल चुका था। उस विश्व-व्यापी जैन-धर्मके अनुयायी वे करोड़ों लाल आज कहाँ चले गये? उन्हें कौनसा दरिया बहा ले गया? अथवा कौनसे भूकम्पसे वे एकदम पृथ्वीके गर्भमें समा गये?

जो गायक अपनी स्वर-लहरीसे मृतकोंमें जीवन डाल देता था, वह आज स्वयं मृत-प्राय क्यों है? जो सरोवर पतितों-कुष्ठियोंको पवित्र बना सकता था, आज वह दुर्गन्धित और मलीन क्यों है? जो समाज सूर्यके समान अपनी प्रखर किरणोंके तेजसे संसारको तेजोमय कर रहा था, आज वह स्वयं तेजहीन क्यों है? उसे कौनसे राहूने ग्रस लिया है? और जो समाज अपनी कल्पतरु-शाखाओंके नीचे सबको शरण देता था, वही जैन-समाज आज अपनी कल्पतरु-शाखा काटकर बचे खुचे शरणागतोंको भी कुचलनेके लिये क्यों लालायित हो रहा है?

यही एक प्रश्न है जो समाज-हितैषियोंके हृदयको खुरच-खुरचकर खाये जारहा है। दुनियाँ द्वितीयाके चन्द्रमाके समान बढ़ती जारही है, मगर जैन-समाज पूर्णिमाके चन्द्रमाके समान घटता जारहा है। आवश्यकतासे अधिक बढ़ती हुई संसारकी जन-संख्यासे घबड़ाकर अर्थ-शास्त्रियोंने घोषणा की है कि "अब भविष्यमें और सन्तान उत्पन्न करना दुख दारिद्र्यको निमंत्रण देना है।" इतने ही मानव-समूहके लिये स्थान तथा भोज्य-पदार्थका मिलना दूभर हो रहा है, इन्हींकी पूर्ति-

के लिये आज संसारमें संघर्ष मचा हुआ है और मनुष्य-मनुष्यके रक्तका प्यासा बना हुआ है। यदि इसी तेज़ीसे संसारकी जन-संख्या बढ़ती रही तो, प्रलयके आनेमें कुछ भी विलम्ब न होगा। अर्थशास्त्रियोंको संसारकी इस बढ़ती हुई जन-संख्यासे जितनी चिन्ता हो रही है, उतनी ही हमें घटती हुई जैन-जन-संख्यासे निराशा उत्पन्न हो रही है। भारतवर्षकी जन-संख्याके निम्न अंक इस बातके साक्षी हैं :——

	भारतवर्षकी सम्पूर्ण जन-संख्या	केवल जैन जन-संख्या
सन् १८८१	२८ करोड़	१५००००००
सन् १८९१	२९ करोड़	१४१६६३८
सन् १९०१	३० करोड़	१३३४१४०
सन् १९११	३१ करोड़	१२४८१८२
सन् १९२१	३३ करोड़	११७८५९६
सन् १९३१	३५ करोड़	१२५१३४०

उक्त अंकोंसे प्रकट होता है कि ४० वर्षोंमें भारतकी जन-संख्या ७ करोड़ बढ़ी। जब कि इन्हीं ४० वर्षोंमें ब्रिटिश-जर्मन युद्ध, प्लेग, इन्फ्लुएँज़ा, तूफान, भूकम्प-जलजले, बाढ़ वगैरहमें ७–८ करोड़ भारतवासी स्वर्गस्थ होगये, तब भी उनकी जन-संख्या ७ करोड़ और बढ़ी। यदि इन मृतकों की संख्या भी जोड़ली जाय तो ४० वर्षमें भारतवर्ष-की जन-संख्या ड्योढ़ी और इसी हिसाबसे जैन-जन संख्या भी २२ लाख होनी चाहिये थी। किन्तु वह ड्योढ़ी होना तो दूर, घटकर पौनी रह गई।

तब क्या जैनी ही सबके सब लामपर चले गये थे ? इन्हींको चुन-चुनकर प्लेग आदि बीमारियोंने चट कर लिया ? इन्हीको बाढ़ बहा ले गई ? और भूकम्पके धक्कोंसे भी ये ही रसातलमें समा गये ? यदि नहीं तो ६ लाख बढ़नेके बजाय ये तीन लाख घटे क्यों ?

इस 'क्यों' के कई कारण हैं। सबसे पहले जैन-समाजकी उत्पादनशक्तिकी परीक्षा करें तो सन् १९३१ की मर्दमशुमारीके अंकोंसे प्रकट होगा कि जैन-समाज में :—

विधवा	१३४२४५
विधुर	५२६०३
१ वर्षसे १५ वर्ष तक के कारे लड़के	१६६२३५
१५ वर्षसे ४० " " " ...	८६२७५
४० वर्षसे ७० " " " ...	९८६४
१ वर्षसे १५ वर्ष तककी कारी लड़कियाँ	१९४८७२
१५ वर्षसे ४० " " "	९८६४
४० वर्षसे ७० " " "	७८७
१ वर्षसे १५ वर्ष तकके विवाहित स्त्री-पुरुष	३६७१७
१५ वर्षसे ४० " " " "	४२०२६४
४० वर्षसे ७० " " " "	१३६२२५
कुल योग	१२५१३४०

१२५१३४० स्त्री-पुरुषोंमें १५ वर्षकी आयुसे लेकर ४० वर्षकी आयुके केवल ४२०२६४ विवाहित स्त्री-पुरुष हैं, जो सन्तान उत्पादन योग्य कहे जासकते हैं। उनमें भी अशक्त, निर्बल और रुग्ण चौथाईके लगभग अवश्य होंगे, जो सन्तानोत्पत्ति-का कार्य नहीं कर सकते। इस तरह तीन लाख-को छोड़कर ९५१३४० जैनोंकी ऐसी संख्या है, जो वैधव्य, कुमारावस्था, बाल्य और वृद्धावस्थाके

कारण सन्तानोत्पादन शक्तिसे वंचित है। अर्थात् समाजका पौन भाग सन्तान उत्पन्न नहीं कररहा है।

यदि थोड़ी देरको यह मान लिया जाय कि १५ वर्षकी आयुसे कमके ३६७१७ विवाहित दुधमुँहे बच्चे बच्चियाँ कभी तो सन्तान-उत्पादन योग्य होंगे ही, तो भी बात नहीं बनती। क्योंकि जब ये इस योग्य होंगे तब ३० से ४० की आयु वाले विवाहित स्त्री-पुरुष, जो इस समय सन्तानोत्पादन-का कार्य कर रहे हैं, वे बड़ी आयु होजानेके कारण उस समय अशक्त हो जाँयेंगे। अतः लेखा ज्यों का त्यों रहता है। और इस पर भी कहा नहीं जा-सकता कि इन अबोध दूल्हा-दुल्हिनोंमें कितने विधुर तथा वैधव्य जीवनको प्राप्त होंगे।

जैन-समाज में ४० वर्षसे कमकी आयु वाले विवाह योग्य २५५५१० क्वारे लड़के और इसी आयुकी २०४७५६ क्वारी लड़कियाँ हैं। अर्थात् लड़कोंसे ५०७५४ लड़कियाँ कम हैं। यदि सब लड़कियाँ क्वारे लड़कोंसे ही विवाही जाँय तोभी उक्त संख्या क्वारे लड़कों की बचती है। और इसपर भी तुर्रा यह है कि इनमेंसे आधीसे भी अधिक लड़कियाँ दुबारा तिवारा शादी करनेवाले अधेड़ और वृद्ध हड़प करजाँयगे। तब उतने ही लड़के क्वारे और रहजायेंगे। अतः ४० वर्षकी आयुसे कमके ५०७५४ बचे हुये क्वारे लड़के और ४० वर्षकी आयुसे ७० वर्ष तककी आयुके १२४५५ बचे हुये क्वारे लड़के लड़कियोंका विवाह तो इस जन्ममें न होकर कभी अगले ही जन्मोंमें होगा।

अब प्रश्न होता है कि इस मुट्ठीभर जैन-समाजमें इतना बड़ा भाग क्वारा क्यों है ? इसका स्पष्टीकरण सन् १९१४ की दि० जैन डिरेक्टरी के निम्न अंकोंसे हो जाता है :—

	दि०जैन समाज अन्तर्गत जातियाँ।	कुल संख्या।
१	अग्रवाल	६७१२१
२	खण्डेलवाल	६४७२६
३	जैसवाल	१०९९५
	जैसवालदसा	९४
४	परवार	४१९९६
५	पद्मावती पुरवाल	११५९१
६	परवार-दसा	९
७	परवार-चौसके	१२७७
८	पल्लीवाल	४२७२
९	गोलालारे	५५८२
१०	विनैक्या	३६८५
११	गान्धीजैन	२०
१२	ओसवाल	७०२
१३	ओसवाल-बीसा	४५
१४	गंगेलवाल	७७२
१५	बड़ेले	१६
१६	बरैया	१५८४
१७	फतहपुरिया	१३५
१८	उपाध्याय	१२१६
१९	पोरवाल	११५
२०	बुढ़ेले	५६६
२१	लोहिया	६०२
२२	गोलसिंघारे	६२९
२३	खरौआ	१७५०
२४	लमेचु	१९७७
२५	गोलापूरव	१०६४०
२६	गोलापूरव पचबिसे	१९४

२७ चरनागेर	१९८७
२८ धाकड़	१२७२
२९ कठनेरा	६९९
३० पोरवाड़	२८५
३१ पोरवाड़ जाँगड़ा	१७५६
३२ पोरवाड़जाँगड़ विसा	५४०
३३ धवल जैन	३३
३४ कासार	६९८७
३५ बघेरवाल	४३२४
३६ अयोध्यावासी (तारनपंथ)	२९९
३७ अयोध्यावासी	२९३
३८ लाड-जैन	३८५
३९ कृष्णपक्षी	६२
४० काम्भोज	७०५
४१ समैय्या	११०७
४२ असाटी	४६७
४३ दशा-हूमड़	१८०७९
४४ बिसा हूमड़	२५५५
४५ पंचम	३२५५६
४६ चतुर्थ	६९२८५
४७ बदनेरे	५०१
४७ पापड़ीवाल	८
४९ भवसागर	८०
५० नेमा	२८३
५१ नारसिंहपुरा(बीसा)	४४७२
५२ नरसिंहपुरा (दस्सा)	२५९३
५३ गुर्जर	१५
५४ सैतलाल	२०८८९
५५ मेवाड़ा	२१५८
४६ मेवाड़ा (दसा)	२
६७ नागदा (बीसा)	२६५४
५८ नागदा (दसा)	८९७
५९ चित्तौड़ा (दसा)	३०६
६० चित्तौड़ा (बीसा)	५५१
६१ श्रीमाल	७३८
६२ श्रीमाल-दसा	४२
६३ सेलवार	४३३
६४ श्रावक	८४६७
६५ सादर(जैन)	११२४१
६६ बोगार	२४३१
५७ वैश्य (जैन)	२४२
६८ इन्द्र (जैन)	११
६९ पुरोहित	१५
७० क्षत्रिय (जैन)	८७
७१ जैन दिगम्बर	१०९३९
७२ तगर	८
७३ चौघले	१६०
७४ मिश्रजैन	२५
७५ संकवाल	४०
७६ खुरसाले	२४०
७७ हरदर	२३६
७८ ठगर बोगार	५३
७९ बाह्मणजैन	७०४
८० नाई-जैन	४
८१ बढ़ई-जैन	३
८२ पोकरा-जैन	२
८३ सुकर जैन	८
८४ महेश्री जैन	१६
८५ अन्यधर्मी जैन	७३
	४५०५८४

उक्त कोष्टकके अंक केवल दिगम्बरजैन सम्प्रदायकी उपजातियों और संख्याका दिग्दर्शन कराते हैं। दिगम्बर-जैनसमाजकी तरह श्वेताम्बर सम्प्रदायमें भी अनेक जाति-उपजातियाँ हैं। जिनके उल्लेखकी यहाँ आवश्यक्ता नहीं। कुल १२ लाख-की अल्पसंख्या वाले जैनसमाजमें यह सैकड़ों उपजातियाँ कोढ़में खाजका काम दे रही हैं। एक जाति दूसरी जातिसे रोटी-बेटी व्यवहार न करनेके कारण निरन्तर घटती जारही है।

उक्त कोष्ठकके अंक हमारी आँखोंमें ऊँगली डालकर बतला रहे हैं कि नाई, बढ़ई, पोकरा, सुकर, महेश्री और अन्य धर्मी नवदीक्षित-जैनोंको छोड़कर दि० जैनसमाजमें ६४० तो ऐसे जैन कुलोत्पन्न स्त्री-पुरुष बालकोंकी संख्या है जो १८ जातियोंमें विभक्त है, जिनकी जाति-संख्या घटते-घटते १०० से कम २०, ११, ८ तथा २ तक रह गई है। और ३८५६ ऐसे स्त्री-पुरुष-बालकोंकी संख्या है जो १४ जातियोंमें विभक्त है। और जिनकी जाति-संख्या घटते-घटते ५०० से भी कम १०० तक रह गई है।

भला जिन जातियोंके व्यक्तियोंकी संख्या समस्त दुनियामें २, ८, २०, ५०, १००, २०० रह गई हो, उन जातियोंके लड़के लड़कियोंका उसी जातिमें विवाह कैसे हो सकता है ? कितनी ही जातियोंमें लड़के अधिक और कितनी ही जातियोंमें लड़कियाँ अधिक हैं। योग्य सम्बन्ध तलाश करनेमें कितनी कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं, इसे वे ही जान सकते हैं जिन्हें कभी ऐसे सम्बन्धोंसे पाला पड़ा हो। यही कारण है कि जैनसमाजमें १२४५५ लड़के लड़कियाँ तो ४० वर्षकी आयुसे ७० वर्ष तककी आयुके क्वारे हैं। जिनका विवाह शायद अब परलोकमें ही हो सकेगा।

जिस समाजके सीने पर इतनी बड़ी आयुके अविवाहित अपनी दारुण कथाएँ लिये बैठे हों, जिस समाजने विवाह-क्षेत्रको इतना संकीर्ण और संकुचित बना लिया हो कि उसमें जन्म लेने वाले अभागोंका विवाह होना ही असम्भव बन गया हो; उस समाजकी उत्पादन-शक्तिका निरन्तर ह्रास होते रहनेमें आश्चर्य ही क्या है! जिस धर्मने विवाहके लिये एक विशाल क्षेत्र निर्धारित किया था, उसी धर्मके अनुयायी आज अज्ञानवश अनुचित सीमाओंके बन्धनोंमें जकड़े पड़े हैं, यह कितने दुःखकी बात है !! क्या यही कलियुगका चमत्कार है?

जैनशास्त्रोंमें वैवाहिक उदारताके सैकड़ों स्पष्ट प्रमाण पाये जाते हैं। यहाँ पं० परमेष्ठी-दासजी न्यायतीर्थ कृत "जैनधर्मकी उदारता" नामक पुस्तकसे कुछ अवतरण दिये जाते हैं, जो हमारी आखें खोलनेके लिये पर्याप्त है:—

भगवज्जिनसेनाचार्यने आदिपुराणमें लिखा है कि—

शूद्रा शूद्रेण वोढव्या नान्या स्वां तां च नैगमः।
वहेत्स्वां ते च राजन्यः स्वां द्विजन्मा क्वचिच्च ताः

अर्थात्—शूद्रको शूद्रकी कन्यासे विवाह करना चाहिये, वैश्य वैश्यकी तथा शूद्रकी कन्यासे विवाह कर सकता है, क्षत्रिय अपने वर्णकी

तथा वैश्य और शूद्रकी कन्यासे विवाह कर सकता है और ब्राह्मण अपने वर्णकी तथा शेष *तीन वर्णोंकी कन्याओंसे भी विवाह कर सकता है।*

इतना स्पष्ट कथन होते हुए भी जो लोग कल्पित उपजातियोंमें (अन्तर्जातीय) विवाह करनेमें धर्म-कर्मकी हानि समझते हैं उनके लिये क्या कहा जाय? जैनग्रंथोंने तो जाति कल्पनाकी धज्जियाँ उड़ादी हैं। यथा—

अनादाविह संसारे दुर्वारे मकरध्वजे।
कुले च कामनीमूले का जातिपरिकल्पना॥

अर्थात्—इस अनादि संसारमें कामदेव सदासे दुर्निवार चला आरहा है। तथा कुलका मूल कामनी है। तब इसके आधार पर जाति कल्पना करना कहाँ तक ठीक है? तात्पर्य यह है कि न जाने कब कौन किस प्रकार से कामदेव की चपेट में आगया होगा। तब जाति या उसकी उच्चता नीचताका अभिमान करना व्यर्थ है। यही बात गुणभद्राचार्यने उत्तरपुराणके पर्व ७४ में और भी स्पष्ट शब्दोंमें इस प्रकार कही है —

वर्णाकृत्यादिभेदानां देहेऽस्मिन्न च दर्शनात्।
ब्राह्मण्यादिषु शूद्रौद्यैर्गर्भाधानप्रवर्तनात्॥४६१॥

अर्थात्—इस शरीरमें वर्ण या आकारसे कुछ भेद दिखाई नहीं देता है। तथा ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्योंमें शूद्रोंके द्वाराभी गर्भाधानकी प्रवृत्ति देखी जाती है। तब कोई भी व्यक्ति अपने उत्तम या उच्च वर्णका अभिमान कैसे कर सकता है? तात्पर्य यह है कि जो वर्तमानमें सदाचारी है वह उच्च है और जो दुराचारी है वह नीच है।

इसप्रकार जाति और वर्णकी कल्पनाको महत्व न देकर जैनाचार्योंने आचरण पर जोर दिया है।

जैनशास्त्रों, कथा-ग्रंथों या प्रथमानुयोगको उठाकर देखनेपर, उनमें पद-पद पर वैवाहिक उदारता नज़र आएगी। पहले स्वयंवर प्रथा चालू थी, उसमें जाति या कुलकी परवाह न करके गुणका ही ध्यान रखा जाता था। जो कन्या किसीभी छोटे या बड़े कुलवालेको गुण पर मुग्ध होकर विवाह लेती थी उसे कोई बुरा नहीं कहता था। हरिवंश-पुराणमें इस सम्बन्धमें स्पष्ट लिखा है कि—

कन्या वृणीते रुचिरं स्वयंवरगता वरं।
कुलीनमकुलीनं वा क्रमो नास्ति स्वयंवरे॥
११-७१॥

अर्थात्—स्वयंवरगत कन्या अपने पसन्द वरको स्वीकार करती है, चाहे वह कुलीन हो या अकुलीन। कारण कि स्वयंवरमें कुलीनता अकुलीनताका कोई नियम नहीं होता है। जैनशास्त्रोंमें विजातीय विवाहके अनेक उदाहरण पाये जाते हैं। नमूनेके तौरपर कुछका उल्लेख इस प्रकार है

१—राजा श्रेणिक (क्षत्रिय)ने ब्राह्मण-कन्या नन्दश्रीसे विवाह किया था और उससे अभयकुमार पुत्र उत्पन्न हुआ था। (भवतो विप्रकन्यां सुतोऽभूदभयाह्वयः) बादमें विजातीय माता-पिता से उत्पन्न अभयकुमार मोक्ष गया। (उत्तरपुराण पर्व ७४ श्लोक ४२३ से २६ तक)

२—राजा श्रेणिक (क्षत्रिय) ने अपनी पुत्री

धन्यकुमार 'वैश्य' को दी थी। (पुण्याश्रव कथाकोष)

३—राजा जयसेन (क्षत्रिय) ने अपनी पुत्री पृथ्वीसुन्दरी प्रीतिंकर (वैश्य) को दी थी। इनके ३६ वैश्य पत्नियाँ थीं और एक पत्नी राजकुमारी वसुन्धरा भी क्षत्रिया थी। फिर भी वे मोक्ष गये। (उत्तरपुराण पर्व ७६ श्लोक ३४६-४७)

४—कुवेरप्रिय सेठ (वैश्य) ने अपनी पुत्री क्षत्रियकुमारको दी थी।

५—क्षत्रिय राजा लोकपालकी रानी वैश्य थी।

६—भविष्यदत्त (वैश्य) ने अरिंजय (क्षत्रिय) राजाकी पुत्री भविष्यानुरूपासे विवाह किया था तथा हस्तिनापुरके राजा भूपालकी कन्या स्वरूपा (क्षत्रिय) को भी विवाहा था। (पुण्याश्रव कथा)

७—भगवान् नेमिनाथके काका वसुदेव (क्षत्रिय) ने म्लेच्छ कन्या जरासे विवाह किया था। उससे जरत्कुमार उत्पन्न होकर मोक्ष गया था। (हरिवंश-पुराण)

८—चारुदत्त (वैश्य) की पुत्री गंधर्वसेना वसुदेव (क्षत्रिय) को विवाही थी। (हरि०)

९—उपाध्याय (ब्राह्मण) सुग्रीव और यशोग्रीव ने भी अपनी दो कन्यायें वसुदेव कुमार (क्षत्रिय) को विवाही थीं। (हरि०)

१०—ब्राह्मण कुलमें क्षत्रिय मातासे उत्पन्न हुई कन्या सोमश्रीको वसुदेवने विवाहा था। (हरिवंश-पुराण सर्ग २३ श्लोक ४६-५१)

११—सेठ कामदत्त 'वैश्य' ने अपनी पुत्री बंधु-मतीका विवाह वसुदेव क्षत्रियसे किया था। (हरि०)

१२—महाराजा उपश्रेणिक (क्षत्रिय) ने भील-कन्या तिलकवतीसे विवाह किया और उससे उत्पन्न पुत्र चिलाती राज्याधिकारी हुआ। (श्रेणिकचरित्र)

१३—जयकुमारका सुलोचनासे विवाह हुआ था। मगर इन दोनोंकी एक जाति नहीं थी।

१४—शालिभद्र सेठने विदेशमें जाकर अनेक विदेशीय एवं विजातीय कन्याओंसे विवाह किया था।

१५—अग्निभूत स्वयं ब्राह्मण था, उसकी एक स्त्री ब्राह्मणी थी और एक वैश्य थी। (उत्तरपुराण पर्व ७५ श्लोक ७१-७२)

१६—अग्निभूतकी वैश्य पत्नीसे चित्रसेना कन्या हुई और वह देवशर्मा ब्राह्मणको विवाही गई। (उत्तरपुराण पर्व ७५ श्लोक ७३)

१७—तद्भव मोक्षगामी महाराजा भरतने ३२ हज़ार म्लेच्छ कन्याओंसे विवाह किया था।

१८—श्रीकृष्णचन्द्रजीने अपने भाई गज-कुमारका विवाह क्षत्रिय-कन्याओंके अतिरिक्त सोमशर्मा ब्राह्मणकी पुत्री सोमासे भी किया था। (हरिवंशपुराण ब्र० जिनदास ३४-२६ तथा हरिवंश पुराण जिनसेनाचार्य कृत)

१९—मदनवेगा 'गौरिक' जातिकी थी। वसुदेवजीकी जाति 'गौरिक' नहीं थी। फिर भी इन दोनोंका विवाह हुआ था। यह अन्तर्जातीय विवाहका अच्छा उदाहरण है। (हरिवंशपुराण जिनसेनाचार्य कृत)

२०—सिंहक नामके वैश्यका विवाह एक कौशिक-वंशीय क्षत्रिय कन्यासे हुआ था।

२१—जीवंधर कुमार वैश्य थे, फिरभी राजा गयेन्द्र (क्षत्रिय) की कन्या रत्नवतीसे विवाह किया। (उत्तरपुराण पर्व ७४ श्लोक ६४६-५१)

२२—राजा धनपति (क्षत्रिय) की कन्या पद्माको जीवंधरकुमार [वैश्य]ने विवाहा था। (क्षत्रचूड़ामणि लम्ब५ श्लोक ४२-४६)

२३—भगवान् शान्तिनाथ (चक्रवर्ती) सोलहवें तीर्थंकर हुये हैं। उनकी कई हजार पत्नियाँ तो म्लेच्छ कन्यायें थी। (शान्तिनाथपुराण)

२४—गोपेन्द्र ग्वालाकी कन्या सेठ गन्धोत्कट (वैश्य) के पुत्र नन्दाके साथ विवाही गई। (उत्तरपुराण पर्व ७५ श्लोक ३००)

२५—नागकुमारने तो वेश्या पुत्रियोंसे भी विवाह किया था। फिरभी उसने दिगम्बर मुनिकी दीक्षा ग्रहणकी थी। (नागकुमार चरित्र) इतना होनेपर भी वे जैनियोंके पूज्य रह सके।

जैनशास्त्रोंमें जब इसप्रकारके सैंकड़ों उदाहरण मिलते हैं जिनमें विवाह सम्बन्धके लिये किसी वर्ण जाति या, धर्म तकका विचार नहीं किया गया है और ऐसे विवाह करनेवाले स्वर्ग, मुक्ति और सद्‌गतिको प्राप्त हुये हैं तब एक ही वर्ण, एक ही धर्म और एक ही प्रकारके जैनियोंमें पारस्परिक सम्बन्ध करनेमें कौनसी हानि है, यह समझमें नहीं आता।

इन शास्त्रीय प्रमाणोंके अतिरिक्त ऐसे ही अनेक ऐतिहासिक प्रमाण भी मिलते हैं। यथा—

१—सम्राट चन्द्रगुप्तने ग्रीक देशके (म्लेच्छ) राजा सैल्यूकसकी कन्यासे विवाह किया था। और फिर भद्रबाहु स्वामीके निकट दिगम्बर मुनिदीक्षा लेली थी।

२—आबू मन्दिरके निर्माता तेजपाल प्राग्वाट (पोरवाल) जातिके थे, और उनकी पत्नी मोढ़ जातिकी थी। फिरभी वे बड़े धर्मात्मा थे। २१ हजार श्वेताम्बरों और ३ सौ दिगम्बरोंने मिलकर उन्हें 'संघपति' पदसे विभूषित किया था। यह संवत् १२२०की बात है।

३—मथुराके एक प्रतिमा लेखसे विदित है कि उसके प्रतिष्ठाकारक वैश्य थे। और उनकी धर्मपत्नी क्षत्रिया थी।

४—जोधपुरके पास घटियाला ग्रामसे संवत् ९१८ का एक शिलालेख मिला है। कक्कुक नामके व्यक्तिके जैन मन्दिर, स्तम्भादि बनवाने का उल्लेख है। यह कक्कुक उस वंशका था जिसके पूर्व पुरुष ब्राह्मण थे और जिन्होंने क्षत्रिय कन्यासे शादीकी थी। (प्राचीन जैन लेख संग्रह)

५—पद्मावती पुरवालों (वैश्यों) का पाँडों (ब्राह्मणों) के साथ अभी भी कई जगह विवाह सम्बन्ध होता है। यह पाँडे लोग ब्राह्मण हैं और पद्मावती पुरवालोंमें विवाह संस्कारादि कराते थे। बादमें इनका भी परस्पर बेटी व्यवहार चालू हो गया।

६—क़रीब १५० वर्ष पूर्व जब बीजावर्गी जातिके लोगोंने खंडेलवालोंके समागमसे जैन-धर्म धारण करलिया तब जैनेतर बीजावर्गियोंने उनका बहिष्कार करदिया और बेटी व्यवहारकी कठिनता दिखाई देने लगी। तब जैन बीजावर्गी लोग घबड़ाने लगे। उस समय दूरदर्शी खंडेलवालोंने

उन्हें सान्त्वना देते हुये कहा कि "जिसे धर्म-बन्धु कहते हैं उसे जाति-बन्धु कहनेमें हमें कुछभी संकोच नहीं होता है। आजहीसे हम तुम्हें अपनी जातिके गर्भमें डालकर एक रूप किये देते हैं।" इस प्रकार खंडेलवालोंने बीजाबर्गियोंको मिलाकर बेटी-व्यवहार चालू कर दिया। (स्याद्वादकेसरी गुरु गोपालदासजी बरैया द्वारा संपादित जैनमित्र वर्ष ६ अङ्क १ पृष्ठ १२ का एक अंश।)

७—जोधपुरके पाससे संवत् ६०० का एक शिलालेख मिला है। जिससे प्रगट है कि सरदारने जैन-मन्दिर बनवाया था। उसका पिता क्षत्रिय और माता ब्राह्मणी थी।

८—राजा अमोघवर्षने अपनी कन्या विजातीय राजा राजमल्ल सप्तवादको विवाही थी"*।

वि० सं० ४०० वर्ष पूर्व ओसिया नगर (राजपूताना) में पमार राजपूत और अन्य वर्णोंके मनुष्य भी रहते थे। सब वाममार्गी थे और माँस मदिरा खाते थे उन सबको लाखोंकी संख्यामें श्री० रत्नप्रभुसूरिने जैन-धर्ममें दीक्षित किया। ओसिया नगर निवासी होनेके कारण वह सब ओसवाल कहलाये। फिर राजपूतानेमें जितने भी जैन-धर्ममें दीक्षित हुये, वह सब ओसवालोंमें सम्मलित होते गये।

संवत् ६५४ में श्री० उद्योतसूरिने उज्जैनके राजा भोजकी सन्तानको (जो अब मथुरामें रहने लगे थे और माथुर कहलाते थे) जैन बनाया और महाजनोंमें उनका रोटी-बेटी सम्बन्ध स्थापित किया।

सं० १२०६ में श्री० वर्द्धमानसूरिने चौहानोंको और सं० ११७६ में जिनवल्लभसूरिने परिहार राजपूत राजाको और उसके कायस्थ मंत्रीको जैन धर्ममें दीक्षित किया और लूटमार करनेवाले खीची राजपूतोंको जैन बनाकर सन्मार्ग बताया।

जिनभद्रसूरिने राठौड़ राजपूतों और परमार राजपूतोंको संवत् ११६७ में जैन बनाया।

संवत् ११९६ में जिनदत्तसूरिने एक यदुवंशी राजाको जैन बनाया। ११९८ में एक भाटी राजपूत राजाको जैन बनाया।

श्री जिनसेनाचार्यने तोमर, चौहान, साम, चदला, ठीमर, गौड़, सूर्य, हेम, कछवाहा, सोलंकी, कुरु, गहलोत, साठा, मोहिल, आदि वंशके राजपूतों को जैन-धर्ममें दीक्षित किया। जो सब खंडेलवाल जैन कहलाये और परस्पर रोटी-बेटी व्यवहार स्थापित हुआ।

श्री० लोहचार्यके उपदेशसे लाखों अग्रवाल फिरसे जैन-धर्मी हुये।

इस प्रकार १६ वीं शताब्दीतक जैनाचार्यों द्वारा भारतके भिन्न-भिन्न प्रान्तोंमें करोड़ोंकी संख्यामें जैन-धर्ममें दीक्षित किये गये।

इन नवदीक्षितोंमें सभी वर्णोंके और सभी श्रेणी-के राजा-रंक सदाचारी दुराचारी मानव-वर्ग था। दीक्षित होनेके बाद कोई भेद-भाव नहीं रहता था।

जिस धर्ममें विवाहके लिये इतना विशाल क्षेत्र था, आज उसके अनुयायी संकुचित दायरेमें फँसकर मिटते जारहे हैं। जैनधर्मको मानने वाली कितनी ही वैभवशाली जातियाँ, जो कभी लाखों

*(जैनधर्मकी उदारता पृ० ६३—७१)

की संख्यामें थीं, आज अपना अस्तित्व खो बैठी हैं, कितनी ही जैन-समाजसे प्रथक हो गई हैं और कितनी ही जातियोंमें केवल दस-दस पाँच-पाँच प्राणी ही बचे रहकर अपने समाजकी इस हीन-अवस्थापर आँसू बहा रहे हैं।

भला जिन बच्चोंके मुँहका दूध नहीं सूख पाया, दान्त नहीं निकलपाये, तुतलाहट नहीं छूटी, जिन्हें धोती बान्धनेकी तमीज़ नहीं, खड़े होनेका शऊर नहीं और जो यह भी नहीं जानते कि ब्याह है क्या बला? उन अबोध बालक-बालिकाओंको बज्र हृदय माता-पिताओंने क्या सोचकर विवाह-बन्धन में जकड़ दिया? यदि उन्हें समाजके मरनेकी चिन्ता नहीं थी, तब भी अपने लाड़ले बच्चोंपर तो तरस खाना था। हा! जिस समाजने ३६७१७ दुध-मुँहे बच्चे-बच्चियोंको विवाह बन्धनमें बाँध दिया हो, जिस समाजने १८७१४८ स्त्री-पुरुषोंको अधिकाँशमें बाल-विवाह वृद्ध-विवाह और अनमेल विवाह करके वैधव्य-जीवन व्यतीत करनेके लिये मजबूर करदिया हो और जिस समाजका एक बहुत बड़ा भाग संकुचित-क्षेत्र होनेके कारण अविवाहितही मर रहा हो, उस समाजकी उत्पादन-शक्ति कितनी क्षीण दशाको पहुँच सकती है, यह सहजमें ही अनुमान लगाया जा सकता है।

उत्पादन-शक्तिका विकास करनेके लिये हमें सबसे प्रथम अनमेल तथा वृद्ध विवाहोंको बड़ी सतर्कतासे रोकना चाहिये। क्योंकि ऐसे विवाहों द्वारा विवाहित दम्पत्ति प्रथम तो जनन शक्ति रखते हुये भी सन्तान उत्पन्न नहीं कर सकते, दूसरे उनमेंसे अधिकाँश विधवा और विधुर होजानेके कारण भी सन्तान उत्पादन कार्यसे वंचित हो जाते हैं। साथ ही कितने ही विधवा विधुर बहकाये जानेपर जैन-समाजको छोड़जाते हैं।

अत: अनमेल और वृद्धविवाहका शीघ्रसे शीघ्र जनाज़ा निकाल देना चाहिये और ऐसे विवाहोंके इच्छुक भले मानसोंका तीव्र विरोध करना चाहिये। साथही जैनकुलोत्पन्न अन्तरजातियोंमें विवाहका प्रचार बड़े वेगसे करना चाहिये जिससे विवाह योग्य क्वारे लड़के लड़कियाँ क्वारे न रहने पायें।

जब जैन समाजका बहुभाग विवाहित होकर सन्तान उत्पादन कार्य करेगा और योग्य सम्बन्ध होनेसे युवतियाँ विधवा न होकर प्रसूता होंगी, तब निश्चय ही समाज की जन-संख्या बढ़ेगी।

—क्रमशः

'सार्वजनिक प्रेम, सलज्जताका भाव, सबके प्रति सद्व्यवहार, दूसरोंके दोषोंकी पर्दादारी और सत्य-प्रियता—ये पाँच स्तम्भ हैं जिनपर शुभ आचरणकी इमारतका अस्तित्व होता है।'

'अनन्त उत्साह—बस यही तो शक्ति है; जिसमें उत्साह नहीं है, वे और कुछ नहीं, केवल काठ के पुतले हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि उनका शरीर मनुष्योंकासा है।'

—तिरुवल्लुवर

शिलालेखोंसे जैन-धर्मकी उदारता

—लेखक—
श्री० बाबू कामताप्रसाद जैन साहित्यमनीषी

'विप्रक्षत्रियविट्शूद्राः प्रोक्ताः क्रियाविशेषतः ।
जैनधर्मे पराः शक्तास्ते सर्वे बांधवोपमाः ॥'

जैनशास्त्रोंमें मनुष्योंकी मूलतः एक जाति घोषित की गई है—मनुष्योंमें घोड़े और बैल जैसा मौलिकभेद जैनशास्त्रोंने कहीं नहीं बनाया है। लौकिक अथवा जीवन-व्यवहारकी सुविधाके लिये जैनाचार्योंने कर्मकी अपेक्षा मनुष्योंको ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र-वर्गोंमें विभक्त करनेकी कल्पना मात्र की है। यही कारण है कि प्राचीन कालसे लोग अपनी आजीविकाको बदल कर वर्ण-परिवर्तन करते आये हैं। आजकल उत्तर भारतके जैनियोंमें अधिकाँश वैश्य-जातियाँ अपने पूर्वजोंको क्षत्रिय बताती हैं—वर्ण परिवर्तन-के ये प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। अग्रवाल, ओसवाल लम्बकञ्चुक आदि जातियोंके पूर्वज क्षत्रिय ही थे, परंतु आज उनकी ही सन्तान वणिक्-वृत्ति करने के कारण वैश्य होगई है। दक्षिण-भारतके होयसल वंशके राजत्वकालमें वर्ण-परिवर्तन होनेके उल्लेख मिलते हैं। हस्सन तालुकके एल्कोटिजिनालयके शिलालेख (नं० १३० सन् ११४७ ई०)से स्पष्ट है कि होयसलनरेश विष्णु-वर्द्धनके एक सरदार पेरम्माडि नामक थे, जो श्रीअजितसेनाचार्यजीके शिष्य थे; किन्तु इन्हीं पेरम्माडि सरदारके पौत्र मसणि और मारि श्रेष्ठीपदके अधिकारी हुए थे, अर्थात् वे शासनकर्मके स्थान पर वणिककर्म करने लगे थे। शिलालेखमें इसी कारण वह सरदार (शासक) न कहे जाकर श्रेष्ठी कहे गये हैं। बेलूरतालुकके शिलालेख नं० ८६ (सन् ११७७) से स्पष्ट है कि होयसल-नरेश वीर बल्लालदेव के महादंडनायक तंत्रपाल पेम्माडि थे, जिनके पूर्वज चूड़ीके व्यापारी (Bangle sellers) मारिसेट्टी थे। मारिसेट्टी एक दफा व्यापारके लिये दक्षिण भारतको आये और वहाँ उनकी भेंट पोयसल-देवसे हो गई। होयसलनरेश उनसे बहुत प्रसन्न हुए और उन्हें एक महान शासक (Great Chief) नियुक्त किया। इन्हींके पौत्र तंत्रपाल हेम्माडियण थे। बल्लालदेवने बाक़ायदा दरबार बुलाकर उनके शीशपर राजपट्ट बाँधा था*। इस शिलालेखीय साक्षीसे वर्ण-परिवर्तन की वार्ता स्पष्ट होजाती है। इसीलिये जैनाचार्य वर्णभेद की अपेक्षा मनुष्योंमें कोई मौलिक भेद स्थापित

* इपीग्रेफिया कर्नाटिका, भा० ५ पृष्ठ ३६ व ६७
"......होयसल श्री वीर बल्लालदेवरु श्रीमान्-महा-राजधानि-दोरसमुद्रद नेलेविदिनोलु सुख-संकथा-विनोददिं पृथिवी-राज्यं गेय्युत्तम् इरे तत्पाद-पद्मोपजीवि श्रीमान् महाप्रधान-तंत्रपाल-पेम्माडिय्-अन्वयव् एन्ते-न्दडे अय्यावले-बलेगार-मारिसेट्टी तेन्कलु-व्यवहारदिं बन्दु पोयसलदेवनं कन्डु कारुण्यं बडदु......इद्दु महाप्रभुवाग् इरलातमं...तंत्रपालहेम्माडियण्णम्... साम्राज्य-पट्टमं कट्टिसि..."इत्यादि ।

नहीं करते, बल्कि वह घोषित करते हैं कि जैनधर्मकी शरणमें आकर मनुष्यमात्र भ्रातृभावको प्राप्त होते हैं—जैनी परस्पर भाई-भाई हैं। कमसे कम जैनधर्मायतनोंमें प्रत्येक वर्ण और जातिके मनुष्यके साथ समानताका व्यवहार जैनसंघमें किया जाता रहा है। इस अपने कथनकी पुष्टि में हम पाठकोंके समक्ष निम्नलिखित शिलालेखीय साक्षी उपस्थित करते हैं।

इस्वी सन्के प्रारंभ होनेसे पहलेकी बात है। मध्य ऐशिया से शक जातिके लोगोंने भारतपर आक्रमण किया और यहाँ वे शासनाधिकारी होगये। पंजाब और गुजरातमें उनका राज्य स्थापित हुआ था। जैनशास्त्रोंकी अपेक्षा देखा जाय तो इन शकादि लोगोंकी गणना म्लेच्छोंमें करनी चाहिये; परंतु इतिहास बताता है कि तत्कालीन भारतीयोंने इन म्लेच्छ शासकोंको जो 'छत्रप' कहलाते थे, अपना राजा स्वीकार किया था—यही नहीं, उन्हें भारतीय मतोंमें दीक्षित भी किया था। इन राजाओंके समयमें जैन धर्मके केन्द्रस्थान (१) मथुरा (२) उज्जैनी और (३) गिरि नगर थे। इन स्थानोंके आसपास जैन-धर्मका बहु प्रचार था। मथुरासे मिले हुये शिलालेखों से स्पष्ट है कि उस समय वहाँके जैनसंघ में सब ही जातियोंके लोग—देशी एवं विदेशी—राजा और रंक सम्मिलित थे। नागवंशी लोग जो मूलमें मध्य ऐशियाके निवासी थे और वहाँ से भारतमें आये थे, मथुराके पुरातत्वमें जैन गुरुओंके भक्त दर्शाये गये हैं। मथुराके पुरातत्वमें ऐसी बहुतसी मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं जिन्हें नीच कही जानेवाली जातिके लोगोंने निर्माण कराया था। नर्तकी शिवयशाने आयागपट बनवाया था। जिसपर जैनस्तूप अंकित है और निम्नलिखित लेखभी है

"नमो अर्हतानं फगुयशस नतकस भयाये शिवयशे ···३······आ···आ···काये आयागपटो कारितो अरहत पूजाये"।

अर्थात्—"अर्हतोंको नमस्कार! नर्तक फगुयशा की स्त्री शिवयशाने······अर्हतों की पूजाके लिये आयागपट बनवाया।" (प्लेट नं० १२) इसी-तरह मथुराके होली दरवाजेसे मिले हुये स्तूप वाले आयागपट पर एक प्राकृत-भाषाका लेख निम्न प्रकार है:—

"नमो अर्हतो वर्धमानस आराये गणिकायं लोणशोभिकाये धितु समण साविकाये नादाये गणिकाये वसु (ये) आर्हतो देविकुल, आयागसभा, प्रपाशिल (I) प (तो) पतिस्ट (I) पितो निगंथानं अर्ह(ता) यतने स (हा) म (I) तरे भगिनिये धितरे पुत्रेण सर्वेन च परिजनेन अर्हत् पूजाये।"

अर्थात्—अर्हत वर्द्धमानको नमस्कार! श्रमणोंकी श्राविका आरायगणिका लोणशोभिका की पुत्री नादाय गणिका वसुने अपनी माता, पुत्री, पुत्र और अपने सर्व कुटुम्ब सहित अर्हत्का एक मंदिर, एक आयाग सभा, ताल, और एक शिला निर्ग्रंथ अर्हतोंके पवित्र स्थान पर बनवाये।

इन दोनों शिलालेखों से स्पष्ट है कि आजसे लगभग दो हजार वर्ष पहले जैनसंघमें 'नटी' और 'वेश्यायें' भी सम्मिलित होकर धर्माराधनकी पूर्ण अधिकारी थीं। उनका जैनधर्ममें गाढ़ श्रद्धान और अटूट भक्ति थी। वे एक भक्तवत्सल जैनी की भाँति जिनमंदिरादि बनवातीं मिलतीं हैं। यही जैनधर्मकी उदारता है।

मथुराके जैन पुरातत्वकी दो जिन-मूर्तियों परके लेखोंसे प्रकट है कि ईस्वी पूर्व सन् ३ में

एक रंगरेजकी स्त्रीने※ और सन् २६ ई० में गंधी व्यासकी स्त्री जिनदासी ने अर्हत् भगवान्की मूर्तियाँ बनवाईं थीं ! † निस्सन्देह उस समय जैनधर्मका उदार-रूप दिखाई पड़ता था ।

गिरिनगर (काठियावाड़) के एक शिलालेखसे भी जैन-धर्मका उदाररूप स्पष्ट होता है। यह शिलालेख क्षत्रपनरेश रुद्रसिंह का है और इससे स्पष्ट है कि उस शकराजाने जैन-मुनियोंके लिये गुफायें बनवाईं थीं I । इसी उल्लेखसे स्पष्ट है कि वह राजा जैन-गुरुओंका भक्त था—जैनाचार्योंने इन विदेशियोंसे घृणा नहीं की थी ।

उत्तर-भारतके समान ही दक्षिण-भारतके शिलालेखोंसे भी जैन-धर्मके उदार-स्वरूपके दर्शन होते हैं। श्रवणबेलगोलके एक शिलालेखमें एक सुनारके समाधिमरण करनेका उल्लेख है । वहीं एक अन्य शिलालेखमें 'गणित' (तेली) जातिकी आर्यिकाओंका उल्लेख हुआ है‡ । शिलालेख नं० ६६ (२२७ सन् १५३६) में माली हुविडके दानका वर्णन है एवं शिलालेख नं० १४५ (३३६ सन १३२५) में लिखा हुआ है कि बेल्गोलकी नर्तकी मंगायीने 'त्रिभुवनचूड़ामणि जिनालय' निर्माण कराया था । वेलूरतालुक्के शिलालेख नं० १२४ (सन् ११३३ ई०) के लेखसे प्रगट है कि तेलीदास गौंडने जिन मन्दिरके लिये जैन-गुरु शान्तिदेवको भूमि का दान दिया था। उनके साथ २ रामगौंडने भगवान् पार्श्वकी अष्टप्रकारी पूजाके लिये भी दान दिया थाII । वेलूरके शिलालेख नं० १३८ (सन् १२४८) से विदित होता है कि आदि गौंडने एक जिनमन्दिर निर्माण कराया था और उसकी पूजा, ऋषियोंके आहारदान और जीर्णोद्धारके लिए भूमि का दान दिया थाIII । विजयनगरमें एक तेलिनका बनवाया हुआ जिनमन्दिर 'गाणगित्ति जिनभवन' नामसे प्रसिद्ध है । चालुक्य-नरेश अमभद्वितियके एक लेखसे स्पष्ट है कि उनकी प्रेयसी चामेक वेश्या जैन-धर्मकी परम उपासिका थीं । उसने 'सर्वलोकाश्रयजिनालय' निर्माण कराया था और उसके लिये दान दिया था IV । सारांशत: यह स्पष्ट है कि दक्षिण-भारतके जैन-संघमें भी शूद्र और ब्राह्मण—उच्च और नीच—सबही प्रकारके मनुष्योंको आत्मकल्याण करनेका समान अवसर प्राप्त हुआ था ।

राजपूतानामें बीजोल्या-पार्श्वनाथ एक प्रसिद्ध अतिशयक्षेत्र है । वहाँके एक शिलालेखसे स्पष्ट है कि उस तीर्थकी वन्दना करने ब्राह्मण-क्षत्री-वैश्य-शूद्र-सभी आते थे और मनोकामना पूरी करनेके लिए वहाँके रेवतीकुंडमें सभी स्नान करते थेV । गर्ज़ यह कि शिलालेखीय साक्षी जैन-धर्मकी उदारताको मुक्त कण्ठसे स्वीकार करती हैं । क्या वर्तमानके जैनी इससे शिक्षा ग्रहण करेंगे और प्रत्येकको मन्दिरोंमें पूजा-प्रक्षाल और दान देनेका अवसर प्रदान करेंगे ?

※ इपीग्रेफिका इंडिका, १।३८४.

† जर्नल आव दी रॉयल ऐशिया. सो०, भा० ५ पृष्ट १८४

I रिपोर्ट आन दी एंटीक्वीटीज़ आव काठियावाड़ एन्ड कच्छ, पृष्ट १४५-१४६ ।

‡ पतितोद्धारक जैनधर्म, पृष्ट ३५।

II इपीग्रेफिया कर्नाटिका, भा० ५ पृ० ८३ ।

III इपी० कर्ना०, भा० ५ पृ० ९२ ।

IV इपीग्रेफिया इंडिका, भा० ७ पृ १८२ ।

V "रेवतीतीरकुंडेन या नारी स्नानमाचरेत् ।
सा पुत्र भर्तृ सौभाग्यं लक्ष्मीं च लभते स्थिराम् ॥
ब्राह्मणः क्षत्रियो वापि वैश्योवा शूद्रो ऽपिवा।
......स्नानकर्त्ता स प्राप्नोत्युत्तमो गतिम् ॥७६॥
जैन सिद्धान्तभास्कर, भा० २ पृ० ५६. ।

SIX DRAVYAS

By

(K. B. Jinaraja Hegde, B. Sc., LL. B., M. L. A.)

According to Jain Metaphysics there are only six elements in the Universe. By the word 'element' I mean a thing which cannot be further divided or destroyed or added to or subtracted from. They are independent things. And whatever one sees in this universe are either chemical compounds or mixtures of all or some of these six dravyas.

They are (1) JIVA (2) PUDGALA (3) DHARMA (4) ADHARMA (5) KALA & (6) AKASA.

1. *JIVA*

Jiva is Atma, a conscious element which we see in human beings, animals, plants and trees. The proof of the existence of this Atma in the Universe consists more in the experience of people who have genuinely felt of its existence than in several arguments that are advanced. I will only attempt to draw an inference of its existence. Many people must have heard of some people stating the experience of their previous life. Recently there was a case of a girl near about Delhi which was reported in the papers, who suddenly started relating the scenes of her past life and even named her relations in her past life, whom later on she identified. Taking this to be true how was it possible for the girl to relate any thing of her past life unless that there was something common and continuing conscious element in her, between her present and past life. And it is this common element Jainism calls as Atma or Jiva which is indestructible. A similar case was reported from Jhansi in Hindustan times in its issue dated 16/9/1938.

2. *PUDGALA*

Pudgala is matter, it is a substance which could be percieved unlike Atma by all the five or by any one of the senses. Pudgala is a common and indestructible element that is present in all substances like earth, wood, human body, metal, air, gas, water, fire, light, sound, electricity, x-ray etc. In this connection it must be said that the 'element' once thought by the scientists as final indestructible substance is no more found to be true. Every 'element' known to chemistry is no more a final thing that cannot be further divided or destroyed. It is found by scientists that every atom of an element consists of two or more packets of forces (Shakti) which they have called proton and electron identifi-

ed as positive and negative electricity respectively. The different properties of the elements of gold, iron, oxygen, hydrogen etc., they have proved, consists in the different numbers of electrons each element is made up of. According to this theory one element could be converted into another. Lead could be converted into gold or into any other element. This theory establishes the truth of Jaina Metaphysics beyond any doubt. Therefore one can say a table is pudgala, gold is pudgala, iron is pudgala, but pudgala is not only gold, iron and table, because pudgala is a common substance (perceivable by all or any one of the senses) that is found in table, iron and gold. Sound cannot be produced without air or gas i. e., pudgala. Sound cannot exist without pudgala in some form or other, so much so, it is a character or property of pudgala and of pudgala alone and of nothing else in the universe. The property of a substance cannot exist independently of the substance of which it is the property; a substance could be known or recognised by its properties alone. Therefore, we say sound is pudgala but pudgala is not always sound, because sound is only one of the properties of pudgala.

3. *DHARMA*

Dharma according to Jainism is a medium of motion. We know sound cannot travel without the medium of air. Fish cannot float without the medium of liquid. Birds cannot fly without the medium of air. It is found magnetic waves travel long distances, even in areas where there is no air, it travels through water, mountains, metal screens and even up to stars and sun. Air is not a medium for those magnetic waves. The scientists could not explain what that medium was, but they were definite that there must be a medium. It is this medium which the scientists have called it as ether (ether—something that cannot be known). They know that without this ether medium magnetic waves cannot travel. It is by these waves we hear the radio. This ether satisfies all the attributes of Dharma as explained by Jain Metaphysicists.

(4) *ADHARMA*

Adharma is another medium which has exactly the opposite character of Dharma. While Dharma is a necessary medium for motion, Adharma is a medium necessary for things to remain at rest or static. It is not character of anything in this universe to remain either in static or in motion If there should be a medium for motion we could easily conceive that there may be a medium for rest. It is found that the magnetic waves though unaffected by air, mountains water etc., do lose their intensity and finally they fail. Why? Ether does not give any resistance, because there is no substance, no strength either. The only conclusion we can come to is, that Adharma and Dharma are like light and darkness. Wherever there is light there is darkness.

We cannot conceive of light without darkness. The character of light is exactly reverse that of darkness. Therefore if there is a medium for motion there must be medium for rest also. This is also an established truth not beyond the imagination of scientists.

5. *KALA*

Kala is time. According to Jain Metaphysics it is an element that marks, registers or roughly brings about change in everything we see and even among things beyond our vision. It may be admitted that there is nothing in this universe that is always at rest, that does not change. Sun, stars, earth, vegetation, human beings, animals all undergo change every second or even every thousand millionth part of a second. Without cause there is no effect. Then what is tbe cause or what is behind all these changes. It may be said, it is the very nature of things. But that answer will be only begging a question. What is that nature, what is the cause of such a nature? The cause of such a nature that brings changes in things is called by Jain Metaphysicists as 'Kala'. Properly conceived it is not the character of Pudgala, Dharma, Adharma or Jiva. It is independent of them and one additional element among them. Its function in the universe is different and it has independent properties uncommon with any other thing in the universe.

6. *AKASA*

Akasa is Space. It gives room for all other five elements named above. It could not be confused with the sky we see. Akasa according to Jain meta-physicists exists even inside liquid, earth, and metals. In 10 c.c. of water you drop 1 gram of salt or sugar, it dissolves, but the volume of the liquid remains the same. Where has the extra volume of 1 gram of salt disappeared? The answer is, it has occupied the space inherent in the liquid. That space is Akasa. It pervades the whole of the universe. Its character is to provide room for all things in the universe. Without Akasa nothing can exist independently of one another. It is due to Akasa that everything finds its own place. Can anyone imagine a 7th element?

It is rather difficult to explain in a short article of this size, the six dravyas contemplated by the Jain metaphysicists and remove all doubts and answer all counter arguments. The main idea of this article is to prove that the conception of Jain metaphysicists is not opposed to the present-day scientific theories. On the other hand, the development of material science has made it easier to understand and appreciate the worth of Jain Metaphysicists written or told more than thousand years ago.

अहिंसाधर्म और धार्मिक निर्दयता

लेखकः—

श्री चन्द्रशेखर शास्त्री M. O. Ph., H. M. D. काव्यतीर्थ, साहित्याचार्य,
प्राच्यविद्यावारिधि।

अब इस बातको सिद्ध करनेकी आवश्यकता नहीं रह गई है, कि प्रत्येक जीवकी रक्षा करना मनुष्यमात्रका कर्तव्य है। मनुष्य आधुनिक विज्ञानके द्वारा उन्नति करता हुआ अपने जीवनको जितना ही अधिकसे अधिक सुखी बनाता जाता है, उतना ही पशु-पक्षियोंका भार हल्का होता जाता है। वैज्ञानिक खेतीने बैलों और घोड़ोंके हल चलाने के गुरुतर कार्यको बहुत हल्का कर दिया है। रेल, मोटरकार आदि वैज्ञानिक यानोंने बोझ ढोनेके कार्यसे अनेक पशुओंको बचा लिया है। वैज्ञानिक लोगोंकी शोधका कार्य अभी तक बराबर जारी है। उनको अपनी शोधके विषयमें बड़ी बड़ी आशाएँ हैं। उनका विश्वास है कि एक दिन वे विज्ञानको इतना ऊँचा पहुँचा देंगे कि संसारका प्रत्येक कार्य बिना हाथ लगाये केवल बिजलीका एक बटन दबानेसे ही होजाया करेगा। भोजनके विषयमें उनको आशा है कि वह किसी ऐसे भोजनका आविष्कार कर सकेंगे, जो अत्यन्त अल्पमात्रामें खाए जानेपर भी क्षुधाशान्तिके अतिरिक्त शरीरमें पर्याप्त मात्रामें रक्त आदि धातुओंको भी उत्पन्न करेगा। तिसपर भी यह भोजन यंत्रों द्वारा उत्पन्न बिल्कुल निरामिष होगा। इसप्रकार वैज्ञानिक लोग मनुष्य-पशु और पक्षी सभीके बोझको कम करनेके लिये बराबर यत्न कर रहे हैं।

यद्यपि हम भारतवासी यह दावा करते हैं कि संसारके सबसे बड़े धर्मोंकी जन्मभूमि भारतवर्ष है, किन्तु अत्यन्त दयावान जैन और बौद्ध धर्मोंकी जन्मभूमि होते हुए भी जीवरक्षाके लिये जो कुछ विदेशोंमें किया जारहा है, भारतमें अभी उसकी छाया भी देखनेको नहीं मिलती। हम समझते हैं कि विदेशी लोग म्लेच्छ खंडके निवासी एवं मांसभक्षी होनेके कारण हिंसाप्रिय होते हैं, किन्तु तथ्य इसके बिलकुल विपरीत है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यूरोप और अमेरिकाके अधिकांश निवासी मांसभक्षी हैं, किन्तु वे पशुओंके प्रति इतने निर्दय नहीं हैं। आप उनकी इस मनोवृत्तिपर आश्चर्य करसकते हैं, क्योंकि प्राणघात और दयाका आपसमें कोई मेल नहीं हो सकता। किन्तु पाश्चात्य देशोंमें आजकल निरामिष भोजन और प्राणियोंके प्रति दयाका बड़ा भारी आन्दोलन चल रहा है। जिस प्रकार प्राचीन भार-

तीय क्षत्रिय लोग ब्राह्मणोंके सहयोगसे हिंसामई यज्ञ—याग करते करते हिंसासे इतने ऊब गयेथे कि उन्होंने भगवान् महावीर तथा गौतमबुद्ध जैसे अहिंसा प्रचारकोंको उत्पन्न किया उसी प्रकार आजकल पाश्चात्य देशवासी भी व्यर्थकी हिंसा और निर्दयतासे ऊब गये हैं। वहाँ प्रत्येक देशमें निरामिष भोजनका प्रचार करने वाली सभाएँ हैं। आपको यूरोप तथा अमेरिकाके प्रत्येक देशमें शाकाहारी होटल तक मिलेंगे। अब वह ज़माना टल गया, जब पाश्चात्य देशोंमें जानेपर बिना मांस खाए काम नहीं चलता था।

निरामिष भोजनके प्रचारके अतिरिक्त वहाँ प्राणियोंके साथ निर्दयताका व्यवहार न करनेका आन्दोलन भी प्रत्येक देशमें किया जारहा है। इस समय यूरोपके प्रत्येक देश तथा अमेरिकामें जीवदयाप्रचारिणी सभाएँ (Humanitarian Leagues)
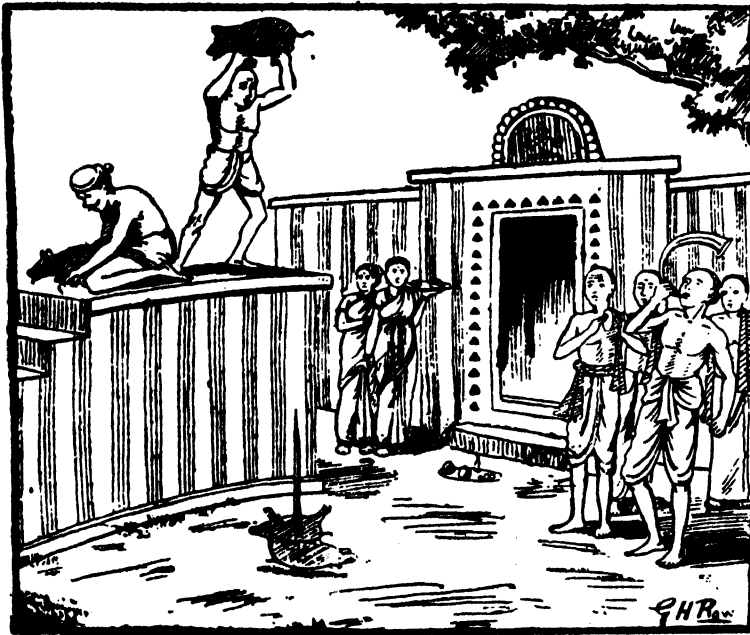
टिन्नेवेली ज़िलेके कई स्थानों में पृथ्वीपर तेज़ नोक वाले भाले या बड़े कीले सीधे गाड़कर उनके ऊपर बड़ी भारी ऊँचाईसे कई सूअर एक-एक करके इस प्रकार फेंके जाते हैं कि वे उस में बिंधकर भालेके नीचे पहुंच जावें। इस प्रकार एक-एक भालेमें एकके ऊपर कई एक सूअर जीवित ही बिंध जाते हैं। बादमें उन मूक प्राणियोंकी बलि दी जाती है।

काम कर रही हैं। जीवदयाप्रचारिणी सभाएँ प्राणियोंपर निर्दयता न करनेका प्रचार केवल ट्रेक्टों, व्याख्यानों और मैजिक लालटैनों—द्वारा ही नहीं करतीं, बल्कि वे अपने अपने देशोंमें पशु—निर्दयता-निवारक कानून (Prevention of Cruelty to Animals Act) भी बनवाती हैं। इसके अतिरिक्त वे जिस देशमें प्राणियोंके प्रति सामूहिक अन्याय किये जानेकी बात सुनती हैं उसका खुला विरोध भी करती हैं। पिछले दिनों अमेरिकाकी जीवदया-सभाने भारतसरकारके बिना किसी प्रतिबन्धके अमेरिकामें बंदर भेजनेके कार्यका कठोर शब्दोंमें विरोध किया था। उन्होंने १ सितम्बर १९३७ से ३१ मार्च १९३८ तक भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेसके पास भी अनेक पत्र भेजकर उससे

अनुरोध किया था कि वह भारतसरकारकी इस प्रवृत्तिको बन्द करनेमें सहायता दें। अमरीकामें अनेक वैज्ञानिक प्रयोगशालाओंमें जीवित पशुओं-की चीरफाड़ करके अथवा उनका ऑपरेशन करके वैज्ञानिक प्रयोग किये जाते हैं। इन बंदरों-को भारतवर्षसे उन्हीं प्रयोगशालाओंके लिये भेजा जाता था, वहाँ उनको अनेक प्रकारके काटने-फाड़ने चीरने, छेदने आदिके कष्ट दिये जाते थे। इस कार्यका चिकित्सकों, पादरियों, जीवित प्राणियोंके ऑपरेशनका विरोध करने वाली सभाओं तथा अन्य भी अनेक व्यक्तियोंने घोर विरोध किया।

एक अमेरिका निवासीका कहना है कि वहाँ प्रतिवर्ष साठ लाख प्राणियोंका प्रयोगशालाओंमें बलिदान किया जाता है। उनमें से केवल पाँच प्रति शतको ही बेहोश करके उनकी चीर-फाड़ की जाती है। शेष सब बिना बेहोश किये ही,

चिंगलेपट ज़िलेके मादमबक्कम नामक स्थानमें जीवित भेड़-बकरीके पेटको थोड़ा काटकर उसकी आँतें खींचली जाती हैं और उन्हें सेल्लीयम्मन् देवीके सामने गलेमें हारकी तरह पहिना जाता है।

चीरे-फाड़े जाते हैं। इन प्रयोगशालाओं पर किसी प्रकारका निरीक्षण नहीं हैं। इनमें निर्दयता पूर्ण सभी कार्य प्रयोग करने वालोंकी पूर्ण सहमतिसे किये जाते हैं। उन प्रयोगोंमें पशुओंकी रीढ़की हड्डीके ऊपरसे खाल और मांसको हटाकर उनकी नाड़ियोंको उत्तेजित करके उनको फासफोरससे जलाया जाता है। फिर उनको उबलते हुए पानीमें डाल दिया जाता है यह सब कुछ उन मूक पशुओं-को बेहोश किये बिना किया जाता है।

इन प्रयोगोंके चिकित्सामें उपयोगके विषयमें भी निश्चयसे कुछ नहीं कहा जा सकता। इन बंदरों के खूनमें से इसप्रकार निर्दयता-पूर्वक निकाले हुए पानी (Serum) को शिशु-पक्षाघातमें दिया

जाता है। इस औषधिके विषयमें खूब बढ़ाचढ़ा कर विज्ञापन निकाले जाते हैं। किन्तु संयुक्तराज्य अमेरिकामें स्वास्थ्य-विभागका कहना है कि इस प्रकार निर्दयता-पूर्वक निकाले हुए किसी भी सीरम ने शिशु-पक्षाघातको अच्छा नहीं किया।

प्राणियों पर दया तथा अव्यर्थ महौषधि न होनेके कारण बंदरोंके ऊपर इस निर्दय तथा व्यर्थ प्रयोगका विरोध बड़े प्रभाव शाली शब्दोंमें किया गया। इस विषयमें कैलिफोर्नियाकी पशुरक्षा समिति तथा जिवित-प्राणि-शल्य विरोधी समितिके प्रधानने लिखा है—"भारतके तीर्थस्थान आध्यात्मिक सौन्दर्य और उन्नतिके भंडार हैं। वह मनुष्योंके अतिरिक्त पशुओंको भी प्रेमभावसे रहनेकी शिक्षा देते है; अतएव ऐसी शिक्षा देने वाला भारत पवित्र नियमका

टिन्नेवली ज़िलेमें तो इतनी अमानुषिकता की जाती है, कि वहाँ एक गर्भवती भेड़के गर्भाशयको फाड़कर उसमेंसे बच्चोंको इस लिये निकाल लिया जाता है कि उन्हें देवकोट्टामें कोटयम्मापर, मायावरममें मरियम्मापर और पालमकोट्टामें अयिरथम्मेनपर बलि चढ़ाया जाता है।

उल्लंघन कुत्सित और नीच विदेशी पैसेके लिये नहीं कर सकता। हम संसारके सभी धर्मोंके नाम पर आपसे दया, सत्य और न्यायके लिये अपील करते हैं।" उन सब लोगों की यह बड़ी भारी अभिलाषा है कि भारतवर्षके बन्दरोंका बाहिर भेजा जाना एक दम बंद होजावे।

यद्यपि आज स्पेन आंतरिक युद्धके कष्टसे जीवन और मृत्युके सन्धि-स्थल पर खड़ा है, किन्तु उन मूक प्राणियों के कष्टसे उसका हृदय भी पिघल गया है। उसकी जीवदया सभाके सितम्बर १९३७ के एक पत्रमें स्पेन के उन पशुओं की रक्षा करनेकी अपील की गई है, जो अपने

मालिकोंके स्पेन युद्धमें मारे जाने अथवा लगे होनेके कारण स्पेनके नगरोंकी सुनसान गलियों में खाना ढूंढते हुए घूम रहे हैं। खाना न मिलने के कारण उक्त पशुओंके पंजर निकल आए हैं। उन पशुओंमें अनेक उच्च नस्लके कुत्तेभी हैं, जो स्पेनकी बमवर्षामें अनाथ होगए हैं।

माड्रिडमें केवल एक समिति पशुरक्षाका कार्य करती थी, किन्तु वह अत्यन्त यत्नशील होती हुई भी उनकी बढ़ी हुई संख्याके कारण उनकी आवश्यकताकी पूर्ति करनेमें असमर्थ है। इसलिये उक्त समितिने संसार भरके दयालु पुरुषोंसे अपीलकी है कि वह अपनी चंचल

दक्षिणी अरकाट ज़िलेके पूवानूर नामक स्थानमें बकरेके गलेको नेहानी वा छीनी से धीरे-धीरे काटकर उसको असीम वेदना पहुंचाई जाती है। बलिदानका यह कार्य संभवतः कसाईके हलाल करनेसे भी अधिक निरद-यतापूर्ण है।

लक्ष्मीका कुछ भाग स्पेन भेजकर उन पशुओंकी रक्षाके कार्यमें सहायता दें।

कनाडामें भी पशुओंके प्रति निर्दयता पूर्ण व्यवहारके विरुद्ध घोर आँदोलन किया जारहा है। टोरैंटो ह्यूमेन सोसाइटीके मैनेजिंग डाइरेक्टर मिस्टर जान मैकनलने पशुओंके ऊपर वैज्ञानिक प्रयोग किये जानेका विरोध जोरदार शब्दोंमें किया है। कनाडाकी पशुरक्षा-समिति जीवित प्राणियोंका ऑपरेशन करनेके विरुद्ध घोर आंदोलन कर रही है, कनाडाकी पशु-निर्दयता निवारक समिति (Society for the Prevention of Cruelty to Animals) की रिपोर्टको देखने पर पता चलता है कि समिति के पास आर्थिक साधनोंकी कमी नहीं है। उस वर्ष उसको अकेली ए० क्राप्ट जर्विस स्टेटसे ही दस सहस्र डालर मिले थे, इसके पदाधिकारी नगरसे बाहिर १४५ मौकों पर गए। उन्होंने १८०५ पशु निर्दयताकी शिकायतें सुनीं, जिनमें से उन्होंने १३६८ को चेतावनी देकर छोड़ दिया और ८२ मामलोंमें सजा कराई। उसने

१४५, ५८० बाड़ोंमें पशुओंका निरीक्षण किया।

पशुओंकी अपेक्षा हमारा पक्षियोंके प्रति भी कम उत्तरदायित्व नहीं है। जैन मंदिरों में प्रायः कबूतरोंको चारा डाला जाता है। वास्तव में हमारा उनके प्रति एक विशेष कर्तव्य है। जिन पक्षियोंको मनुष्य अपने प्रेमवश किसी स्थान विशेषमें लाता है, उनके प्रति तो उसका विशेष कर्तव्य होता जाता है। हमलोग अपने अनाजपातको साफ़ करके धड़ियों गेगल आदि कूड़ियों पर फेंक देते हैं, किन्तु यदि हम उसको किसी सार्वजनिक स्थान पर डलवादिया करें तो, उससे अनेक पक्षियोंको लाभ हो सकता है। अनेक लोगों की ऐसी बुरी आदत होती है कि वह उन प्रकृतिके संगीतवाहकों को लोहेके पिंजरेमें बंद करदेते हैं; अनेक व्यक्ति तोते, मैना, आदि अनेक प्रकार के पक्षियोंको पिंजरेमें बन्द रखते हैं; किन्तु वह

विज़गापट्टम ज़िलेके अनाकवल्ले नामक स्थानमें एक ऐसा बलिदान किया जाता है जिसमें भाले जैसी एक तेज़ नोकदार छुरीको सूअरके गुदास्थानमें डाल कर इतने ज़ोरसे दबाया जाता है कि वह अंदरके भागोंको फाड़तीहुई उसके मुंहमें से निकल आती है

यह नहीं समझते कि प्रत्येक पक्षि जितना सुन्दर खुली वायुमें स्वतन्त्रता पूर्वक श्वास लेकर गाता है उतना पिंजरे के अंदर बन्द रह कर कभी नहीं गा सकता। वास्तवमें हरे हरे खेतोंसे उड़ कर नीले आकाशमें गाते हुए जाने वाले पक्षियोंको देखकर कितना आनन्द होता है? इस गीतको सुनकर कभीभी मन नहीं भरता। किन्तु स्वार्थी मनुष्य उनको पिंजरेमें बन्द करके ही संतुष्ट नहीं होता, वह उनको पकड़ता है उनका शिकार करता है और उनपर अनेक प्रकारके अत्याचार करता है। कई एक व्यक्ति तो इन, निर्बल प्राणियों को मारकाट कर बड़ी शानसे कहा करते हैं, कि आज हमने इतने पक्षियोंका शिकार किया। शिकारियोंकी अपेक्षा बहेलिये या चिड़ीमार लोग

इनपर अधिक अत्याचार करते हैं।

कुछ वर्ष पूर्व कनाडाके क्वेबेक नामक नगरमें एक बहेलियेने एक छोटी लोमड़ीको जीवित ही जालमें पकड़ लिया। उसने उसको अपने घर लेजाकर उस स्थानपर टांग दिया जहाँ अनेक खालें टंगी हुई थीं। उस समय वहाँ एक फोटोग्राफ़र भी था। वह उन खालोंका फोटो लेना चाहता था। किन्तु उसने लोमड़ीको छटपटाते देखकर बहेलियेके निर्दयतापूर्ण कार्यका विरोध किया और कहा कि लोमड़ीके इधर-उधर हिलते समय फोटो किस प्रकार लिया जासकता है। इसपर बहेलियेने लोमड़ीको उतारनेके स्थानमें उसकी अगली टांगोंको एक रस्सीमें बाँधकर आगेको इस प्रकार खींच कर बाँध दिया कि वह हिलडुल भी न सके। इसके बाद फोटोग्राफ़रने फोटो ले लिया। वह इस फोटोको पशुनिर्दयता–निवारक सभामें भेजने
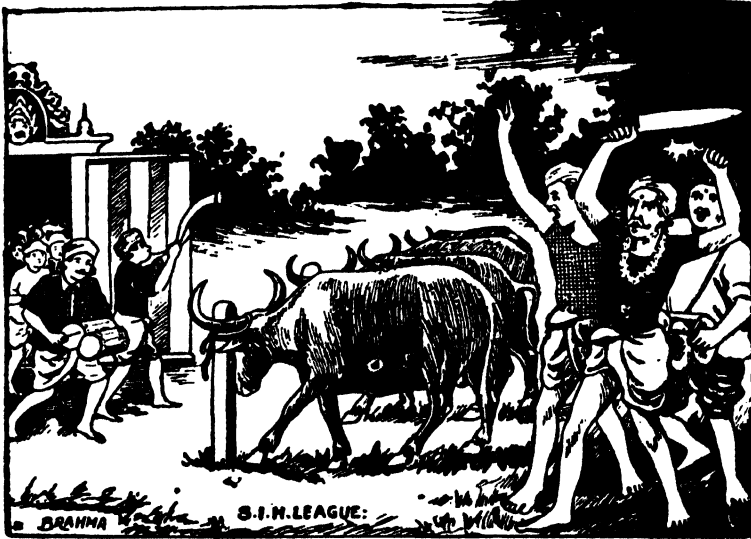
दक्षिणी अरकाटके विरुधचलम् तालुकके मदुवेत्तिमंगलम् मंदिरमें एक साथ सात भैंसोंको काटकर उनकी बलि दी जाती है !! और यह पूजोत्सवका वहाँ एक साधारण रूप है।

वाला था। सारांश यह है कि पशुनिर्दयता-निवारक क़ानूनके अनुसार अनेक व्यक्तियोंको छोटे छोटे अपराधोंमें दंड दिया जाता है, किन्तु बहेलियों और शिकारियोंपर उक्त क़ानून लागू नहीं होता। किसी बच्चेके हाथमें तो जब कभी कोई कुत्ते या बिल्लीका बच्चा पड़ जाता है, उसकी आफ़त ही आ जाती है।

उन्नीसवीं शताब्दीमें बड़े-बड़े चिकित्सकोंने रोग और मृत्युमें कष्ट कम करनेका बड़ा भारी उद्योग किया है। एडिनबरोके डाक्टर सिम्पसनको ऑपरेशनके समय रोगियोंका तड़पना और चिल्लाना देखकर बड़ी दया आई। अतएव उसने बेहोश करनेकी औषधिको खोज निकाला।

अमेरिकामें पशुओंके प्रति दयाभाव प्रदर्शित करनेका प्रचार रेडियो, समाचारपत्र और व्याख्यानों द्वारा किया जाता है। वहाँ अनेक समितियाँ जीवदयाका प्रचार कर रही हैं। इस विषयमें वहाँ प्रतिवर्ष सैकड़ों ट्रैक्ट निकलते हैं।

रैवरेंड डाक्टर ह्यान पेनहाल रीसने तो जीवदयाके विषयमें एक सहस्रसे भी अधिक कविताएँ लिखी हैं।

टोरोंटोकी ह्यूमेन सोसाइटी तथा इसीप्रकारकी अन्य संस्थाएं वहाँ इस विषयमें अत्यंत उपयोगी कार्य कर रही हैं। इस विषयमें डाक्टर ऐलेन भी बड़ा भारी कार्य कर रहे हैं।

उपर्युक्त वर्णनसे प्रगट है कि यद्यपि भारतवर्षमें शेष संसारकी अपेक्षा मांसाहारका प्रचार कम है, तथापि वह जीव दयाके कार्यमें उससे बहुत पीछे है। इंगलैण्ड, फ्रांस, जर्मनी, स्पेन और अमेरिका मांसाहारी देश होते हुये भी जीवदयाके सम्बन्धमें भारतसे बहुत आगे हैं। भारतवर्षका दावा है कि वह कई ऐसे विश्वधर्मोंकी जन्मभूमि

ट्रिचनापलीके पास पुत्तुरके कुलुमियायी मन्दिरमें दो तीन माहके भेड़के बच्चोंकी गर्दनें दाँतोंसे काट कर अथवा छुरीसे छेद करके देवीके सामने उनका रक्त चूसा जाता है !! इस घोर राक्षसी कृत्यने तो खूंख्वार जंगली जानवरोंको भी मात कर दिया है।

है, जिसका आधार प्रेम और अहिंसा है, तो भी यह अत्यन्त खेदकी बात है कि वह जीवदया और प्राणिरक्षाके विषयमें संसारके अन्य देशोंसे बहुत पीछे है। संसारका एक बहुत पिछड़ा हुआ देश है।

भारतवर्षमें अभी तक परमात्मा और धर्मके नामपर बड़े बड़े अत्याचार करके प्राणियोंको प्राणांतक कष्ट दिया जाता है। दक्षिण भारत इस विषयमें शेष भारतसे भी बाज़ी मार ले गया है। वहाँ मूक पशुओंपर धर्मके नामपर बड़े-बड़े अमानुषिक अत्याचार किये जाते हैं। जिन्हें देख-सुनकर रोंगटे खड़े होते हैं और दिमाग़ चकरा जाता है। लेखमें दिये गये कुछ चित्रोंसे इन अत्याचारोंका आभास मिलता है। उनके यहाँ पुनः उल्लेख करनेकी आवश्यक्ता प्रतीत नहीं होती।

इनके अतिरिक्त दक्षिणके अनेक ज़िलोंमें यज्ञके लिये बकरोंके मारनेकी यह प्रथा बहुत जोरों पर है कि बकरोंके अंडकोषोंको किसी भारी वस्तुसे दबाकर कुचलने आदिके अमानुषिक कर्म द्वारा उन मूक पशुओंको मरणान्तिक वेदना पहुँचाई जाती है।

इस प्रकार पशुओंको धर्मके नाम पर असह्य यंत्रणा पहुँचाने वाले कुकृत्योंके अथवा धार्मिक निर्दयताके ये कुछ उदाहरण हैं, जो प्रायः तिलक छाप धारी हिन्दुओंके द्वारा किये जाते हैं, और किये जाते हैं खूब गा बजाकर—हिंसानन्दी रौद्र ध्यानमें मग्न होकर !! संसारके और भी भागोंमें इनके जैसे अन्य अनेक ऐसे कुकर्म किये जाते हैं, जिनको सुनकर हृदय काँप उठता है और समझमें नहीं आता कि ऐसे क्रूर कर्मोंके करने वाले मनुष्य हैं या राक्षस अथवा जंगली जानवर !!
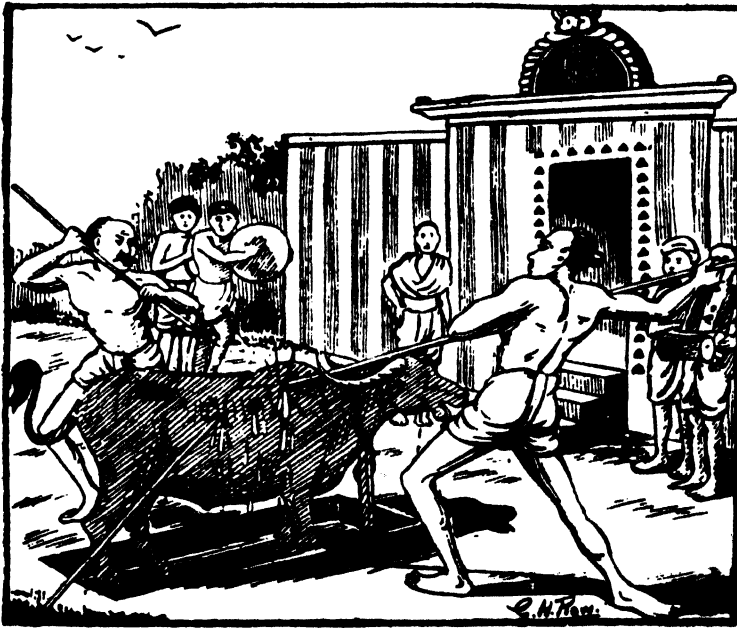
नेलोर ज़िलेके मोपेड्ड नामक स्थानपर देवीके मंदिरके सामने एक चार फुट गहरा गढ़ा खोदकर उसमें एक भैंसेको उतार कर मज़बूतीसे बांध दिया जाता है। इसके पश्चात् कुछ लोग उसको भालेसे छेदकर जानसे मार डालते हैं। ये लोग पहलेसे उसको इस प्रकार मारनेकी शपथ लेते हैं।

पाश्चात्य देश यद्यपि मांसाहारी हैं किन्तु वहाँ प्रयोग शालाओंको छोड़कर अन्यत्र पशुओंको यंत्रणा पहुँचाकर नहीं मारा जाता। वहाँ पशुओंके ऊपर निर्दयतापूर्ण व्यवहार करनेके विरुद्ध क़ानून बने हुए हैं, जिनका उल्लंघन करने पर जुर्माने से लेकर जेल तकका दंड दिया जाता है। पशुओंको गाड़ीमें जोत कर अधिक चलाना, उन पर अधिक बोझा लादना, उनको पेटसे कम चारा देना, निर्दयतापूर्वक पीटना और पैर बांधकर लेजाना आदि कार्य पाश्चात्य देशोंमें कानून विरुद्ध घोषित करदिये गये हैं। सन १८९० में माननीय मिस्टर हचिनसनने भारतीय कौंसिलमें भी 'पशु निर्दयता निवारक' बिल उपस्थित किया था। यद्यपि इस ऐक्टके अनुसार पशुओंके साथ

किये जाने वाले अनेक निर्दयतापूर्ण कार्योंको अवैध क़रार देदिया गया था, किन्तु धर्मके नामपर कीजानेवाली निर्दयताका इसमें भी अन्तर्भाव नहीं किया गया। इस बातको प्रत्येक व्यक्ति समझ सकता है कि मारने, पीटने, अधिक बोझा लादने आदिमें पशुओंको इतना दु:ख नहीं होता, जितना बांध-जूड़कर भालोंसे छेदने, ऊपरसे बर्छी भाले पर डालने, गुदाके मार्गमें लकड़ी डालकर मुँहमें से निकालने, आन्तोंको खींचने और अण्डकोषोंको कुचलने आदिमें होता है। परंतु खेद है कि क़ानून निर्माताओंने इन कार्योंको निर्दयतापूर्ण मानते हुए भी धर्ममें हस्तक्षेप करनेके भयसे नहीं रोका !!

सितम्बर १९३८ में भारतीय व्यवस्थापिका सभा (Legislative Assembly)ने अपने शिमला-सेशन (Session) में 'पशु निर्दयता निवारक क़ानून' में कुछ और संशोधन किये हैं, किन्तु धर्मके नाम पर की जाने वाली निर्दयताको उसमें भी अवैध नहीं किया गया, यह खेदका विषय है।

दक्षिणी अर्काट ज़िले के विरुधचलम् ताल्लुकके मदुवेत्तिमंगलम् नामक स्थानमें सूअरके छोटे छोटे जीवित बच्चोंको भालेसे बींधकर और उसे बिंधे रूपमें ही भालोंपर उठाए हुए आम सड़कोंपर जलूस बनाकरचलते हैं

हाँ इस विषयमें ब्रिटिश भारतकी अपेक्षा देशीराज्योंने कुछ अधिक कार्य किया है निज़ाम हैदराबादने जून १९३८ से अपने राज्यमें गऊ और ऊँटकी क़ुरबानी करना क़ानून द्वारा बन्द कर दिया है। मैसूर, ट्रावनकोर तथा उत्तरी भारतके अनेक राज्योंने भी अपने यहाँ बलि-विरोधी कुछ क़ानून बनाए हैं।

पाठकोंसे यह छिपा नहीं है कि लोकमतके प्रबल विरोधके कारण ही भारत सरकारने सती

प्रथाको बन्द किया है, बालविवाहोंमें कुछ रुकावट डाली है, लाहौरमें बूचड़खाना बनानेके विचारका परित्याग किया है और बंगाल सरकारने अभी-अभी एक क़ानून बनाकर प्रांतकी फूका प्रथाको बन्द किया है।

इन उदाहरणोंसे यह स्पष्ट है कि सरकार लोकमत प्रबलताको देखकर धर्ममें भी हस्तक्षेप करती है। अतः हमको भारतके कोने कोनेमें आन्दोलन करके धर्मके नामपर पशुओंपर किये जाने वाले इन घोर अत्याचारोंको एकदम बंद करा देना चाहिये। इस समय महात्मा गांधी तथा पंडित जवाहरलाल नेहरू तक पशुबलिको जंगली प्रथा बतला कर उसका विरोध कर रहे हैं। और भी कुछ सज्जन प्राणोंकी बाजी लगाकर पशुबलिके विरोधमें उठे हुए हैं। अतः यह अवसर आन्दोलनके लिये बहुत अनुकूल है *।

उयनपल्ली जैसे स्थानोंमें जीवित पशुकी बली देते समय उसकी गर्दनको थोड़ासा काट लिया जाता है फिर उस टपकते हुए रक्तको कटोरेसे देवीके सामने पियाजाता है। बेचारा पशु महावेदना भोगता हुआ तड़प २ कर प्राण दे देता है।

—:*:—

* इस लेखके लिखनेमें मद्रासकी साउथ इण्डियन ह्युमैनिटेरियन लीगकी ओरसे हालमें प्रकाशित (Humanitarian Outlook) नामक पुस्तकका पूरा उपयोग किया गया है—चित्रभी उसी परसे लिये गये हैं। इसके लिये हम उक्त लीगका हृदयसे आभार मानते हैं और साथ ही उसके संचालकों तथा कार्यकर्ताओंका खुला धन्यवाद करते हैं, जो मानव समाजके कलंकरूप ऐसे निर्दय एवं क्रूर बलिविधानों की रोकके लिये प्रयत्नशील हैं।

—लेखक
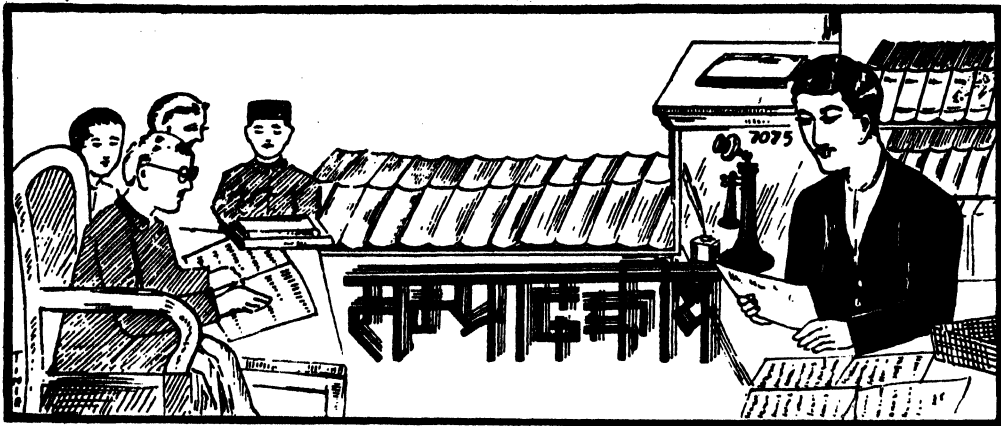
१ प्रास्ताविक निवेदन

वीरनिर्वाण संवत् २४५७ के प्रारम्भ होते ही कार्तिक सुदिमें, 'अनेकान्त' के प्रथम वर्षकी १२ वीं किरणको प्रकाशित करते हुए, अगले वर्षकी जो सूचना निकाली गई थी उसमें समन्तभद्राश्रमका स्थान परिवर्तन, नया डिक्लेरेशन, नया प्रेस-प्रबन्ध और पोस्ट ऑफिसकी नई रजिस्टरी आदि कुछ कारणोंके वश दूसरे वर्ष-की प्रथम किरणको विशेषाङ्क रूपसे चैत्रमें निकालनेकी सूचनाकी गई थी। उस समय किसीको स्वप्नमें भी यह ख़याल नहीं था कि उक्त १२ वीं किरण और इस प्रथम किरणके मध्यमें पूरा आठ वर्षका अन्तराल होगा और मुझे इतने लम्बे समय तक अपने पाठकोंकी सेवासे वंचित रहना पड़ेगा—श्रीकेवली भगवान् ही जानते होंगे कि इस किरण-के उदयमें उस समय ठीक आठ वर्षका आबाधा-काल पड़ा हुआ है। यही वजह है जो इस बीचमें किये गये प्रयत्न सफल नहीं हो सके और यदि एक महान् सुवर्ण अवसर प्राप्त भी हुआ तो, उस समय मैं स्वयं पत्रका सम्पादनभार उठानेके लिये तय्यार न हो सका।

पाठकोंको मालूम है कि 'अनेकान्त' को उस-के प्रथम वर्षमें ६००) रु० के क़रीबका घाटा उठाना पड़ा था *। इस घाटेको प्रदर्शित और उसकी पूर्तिके लिये अपील करते हुये मैंने उस समय लिखा था—

"यह घाटा बजटके भीतर ही रहा, इतनी तो सन्तोषकी बात है। और यह भी ठीक है कि समाजके प्रायः सभी पत्र घाटेसे चल रहे हैं और उनकी स्थिति आदिको दृष्टिसे यह घाटा कुछ अधिक नहीं है। ऐसे पत्रोंको तो शुरू-शुरूमें और भी अधिक घाटा उठाना पड़ता है; क्योंकि समाजमें ऐसे ऊँचे गंम्भीर तथा ठोस साहित्यको पढ़नेवालोंकी संख्या बहुत कम होती है—जैनसमाजमें तो वह और भी कम है। ऐसे पाठक तो वास्तवमें पैदा किये जाते हैं और वे तभी पैदा हो सकते हैं जब इस प्रकार-के साहित्यका जनतामें अनेक युक्तियोंसे अधिका-धिक प्रचार किया जाय—प्रचारकार्यमें बड़ी शक्ति है, वह लोकरुचिको बदल देता है। परन्तु वह प्रचारकार्य तभी बन सकता है जब कि कुछ उदार महानुभाव ऐसे कार्यकी पीठ पर हों और उसकी सहायतामें उनका ख़ास हाथ हो। जितने हिन्दी-पत्र आज उन्नत दीख पड़ते हैं, उनकी उन्नतिके इतिहासमें यही रहस्य संनिहित है कि उन्होंने

* देखो प्रथम वर्षकी किरण १२, पृ० ६६८–६९

शुरू शुरूमें खूब घाटे उठाएँ हैं, परन्तु उन्हें उन घाटोंको पूरा करने वाले मिलते रहे हैं और इसलिये वे उत्साहके साथ बराबर आगे बढ़ते रहे हैं। उदाहरणके लिये 'त्यागभूमि' को लीजिये, जिसे शुरू-शुरूमें आठ-आठ नौ-नौ हज़ारके क़रीब तक प्रतिवर्ष घाटा उठाना पड़ा है, परन्तु उसके सिर पर बिड़लाजी तथा जमनालालजी बजाज जैसे समयानुकूल उत्तम दानी महानुभावोंका हाथ है, जो उसके घाटोंको पूरा करते रहते हैं, इसलिये वह बराबर उन्नति करती जाती है तथा अपने साहित्यके प्रचारद्वारा लोकरुचिको बदल कर नित्य नये पाठक उत्पन्न करती रहती है और वह दिन अब दूर नहीं है जब उसके घाटेका शब्द भी सुनाई नहीं पड़ेगा किन्तु लाभ ही लाभ रहेगा। 'अनेकान्त' को अभी तक ऐसे किसी सहायक महानुभावका सहयोग प्राप्त नहीं है। यदि किसी उदार महानुभावने इसकी उपयोगिता और महत्ताको समझकर किसी समय इसको अपनाया और इसके सिरपर अपना हाथ रक्खा तो यह भी व्यवस्थित रूपसे अपना प्रचारकार्य कर सकेगा और अपनेको अधिकाधिक लोकप्रिय बनाता हुआ घाटेसे सदाके लिये मुक्त होजायगा। जैनसमाज का यदि अच्छा होना है तो जरूर किसी-न-किसी महानुभावके हृदयमें इसकी ठोस सहायताका भाव उदित होगा, ऐसा मेरा अंतःकरण कहता है। देखता हूँ इस घाटेको पूरा करनेके लिये कौन-कौन उदार महाशय अपना हाथ बढ़ाते हैं और मुझे उत्साहित करते हैं। यदि ६ सज्जन सौ-सौ रुपये भी देवें तो यह घाटा सहज ही में पूरा हो सकता है।"

मेरी इस अपील एवं सामयिक निवेदन पर प्रायः कोई ध्यान नहीं दिया गया—सौ-सौ रुपयेकी सहायता देनेवाले ६ सज्जन भी आगे नहीं आए। मैं चाहता था कि या तो यह घाटा पूरा कर दिया जाय और या आगे को कोई सज्जन घाटा उठानेके लिये तय्यार हो जायें तभी 'अनेकान्त' निकाला जाय। परन्तु दोनोंमें से एक भी बात न हो सकी! इस विषयमें लिखा पढ़ी आदिका जितना परिश्रम किया गया उसका तात्कालिक कोई विशेष फल न निकला। हाँ कलकत्तेके प्रसिद्ध व्यापारी, एवं प्रतिष्ठित सज्जन बाबू छोटेलालजी के हृदयमें उसने स्थान जाकर बनाया, उन्होंने कुछ सहायता भी भेजी और वे अच्छी सहायताके लिये व्यापारादिकी अनुकूल परिस्थितिका अवसर देखने लगे।

जनवरी सन १९३४ में 'जयधवलाका प्रकाशन' नामका मेरा एक लेख प्रकट हुआ, जिसे पढ़कर उक्त बाबू साहब बहुत ही प्रभावित हुए, उन्होंने 'अनेकान्त' को पुनः प्रकाशित कराकर मेरे पासका सब धन ले लेनेकी इच्छा व्यक्त की और पत्रद्वारा अपने हृद्गत भावकी सूचना देते हुए लिखा कि, व्यापारकी अनुकूल परिस्थिति न होते हुए भी मैं अनेकान्तके तीन सालके घाटेके लिये इस समय ३६००) रु० एक मुश्त आपको भेंट करनेके लिये प्रोत्साहित हूँ, आप उसे अब शीघ्र ही निकालें। उत्तरमें मैंने लिख दिया कि मैं इस समय वीरसेवामन्दिरके निर्माण कार्यमें लगा हुआ हूँ—ज़रा भी अवकाश नहीं है–बिल्डिंगकी समाप्ति और उसका उद्घाटन-मुहूर्त हो जानेके बाद 'अनेकान्त' को निकालनेका यत्न बन सकेगा, आप अपना वचन धरोहर रक्खें। चुनाँचे वीरसेवामन्दिरके उद्घाटनके बाद सितम्बर सन् १९३६ में, 'जैनलक्षणावली' के कार्यको हाथमें लेते हुए जो सूचना निकाली गई थी उसमें यह भी सूचित कर दिया गया था कि—"अनेकान्तको भी निकालनेका विचार चल रहा है। यदि वह धरोहर सुरक्षित हुई और वीरसेवामन्दिरको समाजके कुछ विद्वानोंका यथेष्ट सहयोग प्राप्त हो सका तो, आश्चर्य नहीं कि 'अनेकान्त' के पुनः प्रकाशनकी योजना शीघ्र ही प्रकट कर दी जाय।"

परन्तु वह धरोहर सुरक्षित नहीं रही। बाबू साहब धर्मकार्यके लिये संकल्पकी हुई अपनी उस

रकमको अधिक समय तक अपने पास नहीं रख सके और इसलिये उन्होंने उसे दूसरे धर्मकार्योंमें दे डाला। बाद को यह स्थिर हुआ कि चूंकि 'जैन-लक्षणावली' और 'धवलादिश्रुत-परिचय' जैसे ग्रन्थोंके कार्यको हाथमें लिया जारहा है, इसलिये 'अनेकान्त' के प्रकाशनको कुछ समयके लिये और स्थगित रक्खा जाय। तदनुसार २८ जून सन् १६३७ को प्रकट होनेवाली 'वीरसेवामन्दिर-विज्ञप्ति' में भी इस बातकी सूचना निकाल दी गई थी।

सालभरमें जैनलक्षणावली आदिके कामपर कुछ काबू पानेके बाद मैं चाहता था कि गत'वीर-शासनजयन्ती'के अवसरपर 'अनेकान्त'को पुनः प्रकाशित करदिया जावे और उसका पहला अंक 'वीरशासनाङ्क' के नामसे विशेषाङ्क रहे, जिससे वीर-सेवामंदिरमें होने वाले अनुसन्धान (रिसर्च) तथा साहित्यनिर्माण जैसे महत्वपूर्ण कार्योंका जनताको परिचय मिलता रहे, परन्तु योग न भिड़ा! इस-तरह 'अनेकान्त'को फिरसे निकालनेका विचार मेरा उसी समयसे चल रहा है—मैं उससे ज़राभी ग़ाफिल नहीं हुआ हूँ।

हर्षका विषय है कि उक्त वीरशासनजयन्तीके शुभअवसरपर ही श्रीमान् लाला तनसुखरायजी (मैनेजिंग डायरेक्टर तिलक बीमा कम्पनी) देहलीका, भाई अयोध्याप्रसादजी गोयलीय सहित, उत्सवके प्रधानकी हैसियतसे वीरसेवामन्दिरमें पधारना हुआ। आपने वीरसेवामन्दिरके कार्योंको देखकर 'अनेकान्तके' पुनः प्रकाशनकी आवश्यक्ताको महसूस किया, और गोयलीयजीको तो उसका बन्द रहना पहलेसे ही खटक रहा था—वे उसके प्रकाशक थे और उनकी देशहितार्थ जेलयात्राके बाद ही वह बन्द हुआ था। अतः दोनोंका अनु-रोध हुआ कि 'अनेकान्त' को अब शीघ्रही निका-लना चाहिये। लालाजीने घाटेके भारको अपने ऊपर लेकर मुझे आर्थिक चिंतासे मुक्त रहनेका वचन दिया—और भी कितना ही आश्वासन दिया साथ ही, उदारतापूर्वक यह भी कहा कि यदि पत्र-को लाभ रहेगा तो उस सबका मालिक वीरसेवा-मन्दिर होगा। और गोयलीयजीने पूर्ववत् प्रकाशक के भारको अपने ऊपर लेकर मेरी प्रकाशन तथा व्यवस्था संबन्धी चिन्ताओंका मार्ग साफ करदिया। ऐसी हालतमें दीपमालिकासे—नये वीरनिर्वाण संवत्के प्रारम्भ होते ही—अनेकान्तको फिरसे निकालनेका विचार सुनिश्चित होगया। उसीके फलस्वरूप यह पहली किरण पाठकोंके सामने उपस्थित है और इस तरह मुझे अपने पाठकोंकी पुनः सेवाका अवसर प्राप्त हुआ है। प्रसन्नताकी बात है कि यह किरण आठ वर्ष पहलेकी सूचना अनुसार विशेषाङ्कके रूपमें ही निकाली जारही है। इसका सारा श्रेय उक्त लालाजी तथा गोयलीयजीको प्राप्त है—खासकर अनेकान्तके पुनः प्रकाशनका सेहरा तो लालाजीके सरपर ही बँधना चाहिये, जिन्होंने उस अर्गलाको हटाकर मुझे इस पत्रको गति देनेके लिये प्रोत्साहित किया, जो अबतक इसके मार्गमें बाधक बनी हुई थी।

इसप्रकार जब अनेकान्तके पुनः प्रकाशनका सेहरा ला० तनसुखरायजीके सिरपर बँधना था, तब इससे पहले उसका प्रकाशन कैसे हो सकता था? ऐसा विचारकर हमें संतोष धारण करना चाहिये और वर्तमानके साथ वर्तते हुए लेखकों पाठकों तथा दूसरे सहयोगियों को पत्रके साथ सहयोग-विषयमें अपना-अपना कर्तव्य समझ लेना चाहिये तथा उसके पालनमें दृढ़संकल्प होकर मेरा उत्साह बढ़ाना चाहिये।

यह ठीक है कि आठ वर्षके भीतर मेरा अनुभव कुछ बढ़ा जरूर है और इससे मैं पाठकोंको पहले से भी कहीं अधिक अच्छी २ बातें दे सकूंगा; परन्तु साथही यहभी सत्य है कि मेरी शारीरिक शक्ति पहलेसे अधिक जीर्ण होगई है, और इसलिये मुझे सहयोगकी अब अधिक आवश्यक्ता है। सुलेखकों और सच्चे सहायकोंका

यथेष्ट सहयोग मुझे मिलना चाहिये और उन्हें 'अनेकान्त'को एक आदर्श पत्र बनानेका ध्येय अपने सामने रखना चाहिये। एक अच्छे योग्य क्लर्ककी भी मुझे कितनेही दिनसे जरूरत है, यदि उसकी संप्राप्ति होजाय तो मेरी कितनी ही शक्तियों को संरक्षण मिले और फिर बहुतसा कार्य सहज हीमें निकाला जा सकता है। मेरे सामने जैनलक्षणावली, धवलादिश्रुतपरिचय और ऐतिहासिक जैनव्यक्तिकोष—जैसे महत्वपूर्ण ग्रंथोंके निर्माणका भी ढेरकाढेर काम सामने पड़ा हुआ है, समाज मेरी शक्तिको जितना ही सुरक्षित रक्खेगा—उसका अनावश्क व्यय नहीं होने देगा—उतना ही वह मुझसे अधिक सेवाकार्य ले सकेगा। मेरा तो अब सर्वस्व ही समाजके लिये अर्पण है

यहाँपर किसीको यह न समझलेना चाहिये कि जब ला० तनसुखरायजी ने सारा आर्थिक भार अपने ऊपर ले लिया है तब चिन्ताकी कौन बात है! अर्थाधारपर तो अच्छेसे अच्छे योग्य क्लर्क की योजनाकी जासकती है और चाहे जैसे सुलेखकोंसे लेख प्राप्त किये जासकते हैं। परन्तु ऐसा समझना ठीक नहीं है। ला० तनसुखरायजी की शक्ति परिमित है और वे अपनी उस शक्तिके अनुसार ही आर्थिक सहयोग प्रदान कर सकते हैं; परन्तु समाजकी शक्ति अपरिमित है और 'अनेकान्त' को जिस रूपमें ऊँचा उठाने तथा व्यापक-रूप देनेका विचार है उसके लिये अपरिमित शक्ति ही अधिक अपेक्षित है। अतः समाजको लालाजीके आर्थिक आश्वासनके कारण अपने कर्तव्यसे विमुख न होना चाहिये; प्रत्युत, अपने सहयोगद्वारा लालाजी को उनके कर्तव्यपालनमें बराबर प्रोत्साहित करते रहना चाहिये।

अन्तमें मैं अपने पाठकोंसे इतना और भी निवेदन करदेना चाहता हूँ कि इस पत्रकी नीति बदस्तूर अपने नामानुकूल वही 'अनेकान्त नीति' है जिसे 'जैनी नीति' भी कहते हैं, जिसका उल्लेख प्रथम वर्षकी पहली किरणके पृष्ठ ५६, ५७ पर किया गया था और जो स्वरूपसे ही सौम्य, उदार, शान्तिप्रिय, विरोधका मथन करने वाली, लोकव्यवहारको सम्यक् वर्तावने वाली, वस्तुतत्वकी प्रकाशक, लोकहितकी साधक, एवं सिद्धिकी दाता है; और इसलिये जिसमें सर्वथा एकान्तता, निरपेक्ष-नय वादता, असत्यता, अनुदारता अथवा किसी सम्प्रदाय-विशेषके अनुचित पक्षपातके लिये कोई स्थान नहीं है। इस नीतिका अनुसरण करके लोकहितकी दृष्टिसे लिखे गये प्रायः उन सभी लेखोंको इस पत्रमें स्थान दिया जासकेगा, जो युक्तिपुरस्सर हों, शिष्ट तथा सौम्य भाषामें लिखे गये हों, व्यक्तिगत आक्षेपोंसे दूर हों और जिनका लक्ष्य किसी धर्म विशेषकी तौहीन करना न हो।

२ लुप्तप्राय जैन-ग्रंथोंकी खोज

'अनेकान्त' के प्रथम वर्षकी पहली किरणमें लुप्तप्राय जैनग्रन्थोंकी खोजके लिये एक विज्ञप्ति (नं० ३) निकाली गई थी, जिसमें २७ ऐसे ग्रन्थोंके नामादि दिये गये थे और उनकी खोजकी प्रेरणा की गई थी। बादको उन ग्रन्थोंकी खोजके लिये बृहत्पारितोषिककी योजना करके एक दूसरी विज्ञप्ति (नं० ४) चौथी किरणमें प्रकट की गई थी और उसमें उन ग्रन्थोंके उल्लेखवाक्यादि-विषयका कुछ विशेष परिचय भी दिया गया था। यद्यपि समाजने उन ग्रन्थोंकी खोजके लिये कोई विशेष ध्यान नहीं दिया, फिर भी यह खुशीकी बात है कि उस आन्दोलनके फलस्वरूप तीन ग्रन्थोंका पता चलगया है, जिसमें एक तो है न्यायविनिश्चय मूल, दूसरा प्रमाणसंग्रह, स्वोपज्ञ भाष्यसहित (ये दोनों ग्रन्थ अकलंकदेवके हैं) और तीसरा वराङ्गचरित। वराङ्गचरितका पता प्रोफेसर ए० एन० उपाध्याय-

जीने कोल्हापुरके लक्ष्मीसेन-मठसे लगाया है, जहाँ वह ताड़पत्रों पर लिखा हुआ है। साथ ही, यह भी खोज की है कि वह वास्तवमें रविषेणाचार्यका बनाया हुआ नहीं है—जिनसेनकृत हरिवंश-पुराणके उल्लेख परसे विद्वानोंको उसे रविषेणाचार्यका समझनेमें भूल हुई है—किन्तु जटाचार्य अथवा जटासिंहनन्दि आचार्यका बनाया हुआ है, जिन्हें धवलकविने अपने हरिवंशपुराणमें 'जटिल-मुनि' लिखा है। यह ग्रन्थ प्रोफेसरसाहबके उद्योगसे—उन्हींके द्वारा सम्पादित होकर—माणिकचन्द्र ग्रन्थमालामें छप भी गया है और अब जल्दी ही प्रकाशित होने वाला है।

स्वोपज्ञ भाष्यसहित प्रमाणसंग्रह ग्रन्थ पाटन (गुजरात) के श्वेताम्बर भण्डारसे मिला है और उसकी सम्प्राप्तिका मुख्यश्रेय मुनि पुण्यविजय तथा पं० सुखलालजी को है। यह ग्रन्थ सिंघी जैन ग्रन्थमालामें छप गया है और जल्दी ही प्रकट होने वाला है।

न्यायविनिश्चय मूलकी टीकापरसे उद्धृत करनेका सबसे पहला प्रयत्न शोलापुरके पं० जिनदासपार्श्वनाथजी फडकुलेने किया। उन्होंने उसकी वह कापी मेरे पास भेजी। जाँचनेपर मुझे वह बहुतकुछ त्रुटिपूर्ण जान पड़ी। उसमें मूलके कितने ही श्लोकों तथा श्लोकार्धोंको छोड़ दिया था और कितने ही ऐसे श्लोकों तथा श्लोकार्धोंको मूल में शामिल कर लिया था, जो मूलके न होकर टीकासे सम्बन्ध रखते थे—और भी कितनी ही अशुद्धियाँ थीं। मैंने उन त्रुटियोंकी एक बृहत सूची तय्यारकी और उसे पं० जिनदासजीके पास फिरसे जाँचने आदिके लिये भेजा; परन्तु उन्होंने जाँचनेका वह परिश्रम करना स्वीकार नहीं किया और इसतरह अपने कर्तव्य पालनमें लापर्वाहीसे काम लिया। इसके बाद मैंने उस त्रुटिसूचीको न्यायाचार्य पं० माणिचन्द्रजीको दिखलाया और कई बार सहारनपुर जाकर आराकी टीका-प्रतिपरसे जाँच कराई। जाँचसे न्यायाचार्यजीने उस त्रुटि-सूचीको ठीक पाया और उसपर यह नोट दिया:—

"श्रीपंडित जुगलकिशोरजी साहिबने भारी परिश्रम करके इस 'न्यायविनिश्चय' के उद्धारका संशोधन किया है। यदि इतने परिश्रमके साथ यह त्रुटि-सूची तय्यार न कीजाती तो उद्धृत प्रति बहुत कुछ अशुद्ध और अधूरी ही नहीं किन्तु अतिरिक्त और असम्बद्ध भी रहती। त्रुटि-सूची स्वबुद्धानुसार ठीक पाई गयी।"

(ता० १०-११-१९३१)

इसके बाद मैंने मूलग्रंथकी एक अच्छी साफ़ कापी अपने हाथसे लिखी और विचार था कि उसे फुटनोटोंसे अलंकृत करके छपवाऊँगा। परन्तु पं० सुखलालजीने उसे जल्दी ही प्रमाणसंग्रहके साथ निकालना चाहा और मेरी वह कापी मुझसे मंगाली। चुनाचे यह ग्रंथ भी अब प्रमाणसंग्रहके साथ सिंधीजैनग्रंथमालामें छप गया है और भूमिकादिसे सुसज्जित होकर प्रगट होने वाला है।

मेरे उठाए हुए इस आन्दोलनमें जिन सज्जनोंने भाग लिया है और इन तीन बहुमूल्य ग्रंथोंके उद्धारकार्य में परिश्रम किया है उन सबका मैं हृदयसे आभारी हूँ। आशा है दूसरे ग्रंथोंकी खोज-का भी प्रयत्न किया जायगा। अभी तो और भी कितने ही ग्रंथ लुप्त, हैं कुछका परिचय इस किरण में अन्यत्र दिया है और शेषका अगली किरणमें दिया जायगा।

:—:():—:

चाणक्य और उसका धर्म

[लेखक—मुनि श्रीन्यायविजयजी]

मौर्यसाम्राज्यके संस्थापक, उद्धारक तथा भारतीय साम्राज्यको विस्तृत एवं व्यापक रूप देनेवाले मन्त्रीश्वर चाणक्यके नामसे शायदही कोई भारतीय विद्वान अपरिचित होगा। चाणक्य प्रखर विद्वान, महामुत्सद्दी, राजकुशल और अद्वितीय सेनाधिपतिथे। मौर्यसाम्राज्यकी स्थापनाके बाद, बड़े बड़े राजा-महाराओंको युद्ध में पछाड़कर, मौर्यसम्राट्के आधीन बनानेकी कुशलता आपमें ही थी। उस समयके विदेशी आक्रमणकार सिकन्दर, सेल्युकस, युडीमौर आदि शत्रुओंके हमलोंसे मौर्यसाम्राज्य और समस्त भारतकी रक्षाका मुख्य श्रेय आपको तथा आपके सैनिकोंको प्राप्त था। नन्दवंशके राजाओंके अत्याचार और धनपिपासा से प्रजाकी रक्षा तथा उस अत्याचारी नृपवंश का नाश करनेका श्रेयभी आप को ही था*।

> इस लेखके लेखक मुनि श्री न्यायविजयजी श्वेताम्बर जैनसमाजके एक प्रसिद्ध लेखक हैं। आप बहुधा गुजराती भाषा में और गुजराती पत्रों में लिखा करते हैं। शोध-खोज से आपको अच्छा प्रेम है और आपकी रुचि ऐतिहासिक अनुसन्धान की ओर विशेष रहती है। यह लेख आपकी उसी रुचिका एक नमूना है। इसमें चाणक्य के धर्म-विषयकी एक नई बात ऐतिहासिक विद्वानोंके सामने विचारके लिये प्रस्तुत कीगई है और उसके लिये कितनी ही सामग्री का संकलन किया गया है। सम्राट् चन्द्रगुप्त के बहुत ही कुशाग्रबुद्धि चाणक्य जैसे प्रधान मन्त्री के धर्म तथा अन्तिम जीवन के विषय में वर्त्तमानके ऐतिहासिक विद्वानों ने अब तक कोई ख़ास प्रकाश नहीं डाला, यह निःसन्देह ही आश्चर्य का विषय है! आशा है अब उनका मौन भंग होगा और वे गम्भीर गवेषणा-द्वारा सत्य का पता लगा कर उसके प्रकट करने में संकोच नहीं करेंगे। —सम्पादक।

---

* मंत्रीश्वर चाणक्यने मौर्य-साम्राज्यकी स्थापनामें कितना महान् कार्य कियाथा, इस सम्बन्धमें 'मौर्य-साम्राज्यके इतिहास' नामक अपनी पुस्तक (पृ० ८१) में गुरुकुलकाँगड़ी के इतिहासके प्रोफेसर श्री० सत्यकेतु विद्यालंकारजी लिखते हैं:—"अब चन्द्रगुप्तका समय आता है, इस वीरने आकर सारे भारतमें एक साम्राज्यकी स्थापनाकी। पहले सिकन्दर द्वारा अधीन किए गए प्रदेशोंको स्वाधीन किया। फिर मगधकेविस्तृतराज्यको अपने आधीन करके सारे भारतको राजनीतिकदृष्टि से भी एक किया। चन्द्रगुप्तने सब विविध राष्ट्रोंको नष्टकर एक साम्राज्य स्थापित किया। चन्द्रगुप्त मौर्य्यही भारतका पहला ऐतिहासिक सम्राट् है। इस बड़े भारी काममें उसकी सहायता करनेवाला आचार्य चाणक्यथा। वास्तवमें सब कुछ करनेवाला चाणक्यही था"।

अब यहाँ विचारणीय विषय यह है कि इतनी सामर्थ्य रखनेवाले महामन्त्रीश्वर किस धर्मके उपासक एवं अनुयायी थे ? इनके जीवनके विषय में अनेक भारतीय और पाश्चात्य विद्वानोंने बहुत कुछ लिखाहै—जैन, बौद्ध और वैदिकधर्मके अनुयायियोंनेभी लिखा है। किन्तु एक को छोड़ कर अन्य सब धर्मावलम्बियोंने चाणक्यके धर्मके विषयमें मौनही धारण किया है। हाँ, सम्राट् चन्द्रगुप्त जैनथे, इस विषय पर बहुत कुछ प्रकाश डाला जाचुका है और अनेक विद्वानोंने मुक्तकण्ठसे स्वीकार भी किया है कि मौर्यसम्राट् चन्द्रगुप्त जैन-धर्मानुयायी थे। लेकिन सम्राट् चन्द्रगुप्तको जैनधर्म के उपासक बनानेवाले कौन थे, इसके विषयमें जैन-ग्रंथोंके अतिरिक्त प्राचीन और अर्वाचीन प्राय: सभी ग्रन्थकारोंने मौनका ही अवलम्बन लिया है। जैनग्रन्थोंमें मन्त्रीश्वर चाणक्यके धर्मका उल्लेख ही नहीं किया गया, अपितु उनके सम्पूर्ण जीवन पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। आवश्यक-निर्युक्ति और पयन्नासंग्रह जैसे प्राचीन ग्रन्थों तक में मंत्रीश्वर चाणक्य के जैन होनेका प्रमाण मिलताहै।

प्रथमही अजैन साहित्यकारोंने चाणक्यके विषयमें जो कुछ लिखाहै उसका संक्षेपमें परि-चय देकर, मैं जैनसाहित्यमें आयाहुआ मंत्रीश्वर का जीवन-चरित्र उद्धृत करूँगा। पुराणोंमें प्राय: इतनाही मिलताहै कि 'नवनन्दोंका चाणक्य ब्राह्मण नाश करेगा और वही मौर्यचन्द्रगुप्तको राज्य देगा "।

विष्णुपुराण में लिखा है कि "उसके अनन्तर चाणक्य ब्राह्मण इन नवनन्दोंका नाश करेगा। नन्दोंके नष्ट होजानेपर मौर्य्यलोग पृथ्वी पर शासन करेंगे। कौटिल्यही उत्पन्न चन्द्रगुप्तको राज्यगद्दी पर बिठावेगा "।

मुद्रा राक्षस नाटकके टीकाकार ढुंढीराज चाणक्यका परिचय देते हुए लिखते हैं "××× इस ब्राह्मणका नाम विष्णुगुप्तथा। यह दण्ड-नीतिका बड़ा पंडित और सब विद्याओंमें पारंगत था। नीतिशास्त्रका तो यह आचार्य ही था।"

कथासरित्सागरमें चाणक्यके विषयमें लिखा है कि ××× "चाणक्यने निमन्त्रण स्वीकार किया और मुख्य होता बनकर श्राद्धमें बैठ गया। एक और ब्राह्मण सुबंधु नामक था। वह चाहताथा कि मैं श्राद्धमें मुख्य होता बनूँ। शकटार ने जाकर मामला नन्द के सामने पेश किया। नन्दने कहा सुबन्धु मुख्य होता बने। दूसरा योग्य नहीं है। भयसे काँपता हुआ शकटार चाणक्य के पास गया। सब बात कहसुनाई। यह सुननाथा कि चाणक्य क्रोधसे जल उठा और शिखा खोलकर प्रतिज्ञा की—अब इस नन्द का सात दिनके अन्दरही नाश करके छोडूँगा और तभी मेरी यह खुली शिखा बँधेगी।" (मौर्य्य सा० इ० पृ० ९६)

प्रसिद्ध बौद्धग्रन्थ महावंश में लिखा है कि—"चणक्क (चाणक्य) नामक ब्राह्मणने इस धन-नन्दका प्रचण्ड क्रोधावेशसे विनाश किया और मोरियों के वंशागत चन्दगुत्त (चन्द्रगुप्त) को सकल जम्बुद्वीपका राजा बनाया"। और इस

ग्रन्थके टीकाकारने चाणक्य परिचय इस प्रकार दिया है—"यह उचित है कि इस स्थान पर हम इन दो व्यक्तियों के विषयोंमें लिखें। यदि मुझसे पूछा जाय कि यह चणक कहाँ रहताथा और यह किसका पुत्रथा ? तो मैं उत्तर दूँगा कि वह तक्षशिलाके ही निवासी एक ब्राह्मणका पुत्रथा। वह तीन वेदोंका ज्ञाता, शास्त्रों में पारंगत, मंत्र विद्या में निपुण और नीति शास्त्रका आचार्यथा"।

सुज्ञ वाचक ! इन प्रमाणों से समझ गए होंगे कि चाणक्य जाति का ब्राह्मण था, वेदशास्त्र, नीति-शास्त्र और राज्य-शास्त्र का महान् आचार्य था और सम्राट् चन्द्रगुप्त बौद्धग्रन्थ की मान्यतानुसार सारे जम्बुद्वीपका राजा बना, यह भी उसी चाणक्य का प्रताप था।

अब जैनग्रन्थकारोंने मंत्रीश्वर चाणक्यको जो जैन मानाहै उसके कुछ प्रमाण उद्धृत करते हैं:—

(१) आवश्यक सूत्रकी निर्युक्तिमें चाणक्य की परिणामिकी बुद्धिके विषयमें दृष्टान्तरूप नाम आताहै। यथा—

"खमए १० अमच्चपुत्ते ११ चाणक्के १२ चेव थूलभद्देच"

आवश्यक० भा. ३ पृ० ५२७

(२) आवश्यक सूत्रकी चूर्णिमें उक्त गाथाका खुलासा करतेहुए लिखाहै :—

"चाणकेति, गोल्लविसए, चणयग्गामो, तत्थचणि तो माहणो, सो अवगयसावगो, तस्य घरे साहूठिया, पुत्तो से जातो सह दाढाहिं, साहूण पाएसु पाडितो, कहियं च, साहूहिं भणियं—रायाभविस्सह, ततो मादुग्गंति जाहितीति दंता घसिया पुणोवि आयरियाणा कहियं, भणंति कज्जउ एत्ताहे विंवतरियो राया भविस्सह अम्मुक बालभावेण चोद्दसवि, विज्जाठाणाणि आगमियाणि सोत्थ सावगो संतुट्ठो"

भावर्थ—गोल्ल देशमें चणिक नामका गाँव था। उसमें चणित नामको ब्राह्मण रहताथा। वह श्रावकोंके गुण से सम्पन्नथा। उसके घर पर जैन श्रमण ठहरे हुएथे। उसके घरमें दाढ़ सहित एक पुत्र की उत्पत्ति हुई। उस लड़के को गुरुके चरणोंमें नमस्कार कराया और गुरुजी को कहा कि यह बालक जन्मसे दाढ़ सहित उत्पन्न क्यों हुआहै। साधुओंने प्रत्युत्तर दियाकि यह बालक राजा होगा'। यह सुन कर पिताने सोचा कि राजा बननेसे दुर्गतिमें जायेगा, यह दुर्गतिमें न जाय, ऐसा सोचकर पिताने उस पुत्रके दाढ़ों को घिस डाला और फिर आचार्यसे निवेदन किया। आचार्यने उत्तर दिया कि अब यह बालक राज्यका अधिकारी तो नहीं रहा, लेकिन राज्यका संचालक अवश्य बनेगा। अनुक्रम से बाल्यावस्था व्यतीत होनेके बाद वह १४ विद्या का पारगामी हुआ। और संतुष्ट चित्त वाला श्रावक बना। (आवश्यक सूत्र, मलयागिरि टीका सहित, भाग ३, दे० ला० पु० तरफ से प्रकाशित)

इसी सूत्रमें आगे चाणक्यकी बुद्धिका, नन्दराज्यके नाशका और चन्द्रगुप्तको राजा बनानेका विस्तार से विवेचन किया है। लेकिन

विस्तार के भय से मैं यहाँ उसका उल्लेख नहीं करूँगा। ऐसाही उल्लेख तथा विवेचन नन्दिसूत्र और उसकी टीकामें और उत्तराध्यन सूत्रकी टीकामें भी पाया जाताहै। सुज्ञ वाचक वहाँसे देख सकते हैं।

(३) पयण्णासंग्रहके अन्तर्गत 'संथारापयण्णा' में, जो कि जैनधर्मके महान् उपासकोंकी समाधि पूर्वक मृत्युके उल्लेखोंको लिये हुए है, तीन गाथाएँ निम्न प्रकारसे पाई जाती हैं, जिनसे मंत्रीश्वर चाणक्यका परमहितोपासक जैन होना स्पष्ट है—

पाडलिपुत्तंमि पुरे, चाणक्को णाम विस्सुओ आसी।
सव्वारंभणिअत्तो, इंगिठीमरणं अह णिवण्णो ॥७३॥
अणुलोमपूअणाए, अह से सत्तू जओ डहइ देहं।
सो तहवी डज्झमाणो, पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥७४॥
गुट्ठयपाओवगओ, सुबंधुणा गोव्वरे पलिवियम्मि।
डज्झंतो चाणक्को, पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं* ॥७५॥

इनमें बतलाया है कि :—पाटलीपुत्र नगरमें चाणक्य नामका प्रसिद्ध (विश्रुत) विद्वान (मंत्री) हुआ। जिसनेसब सावद्यकर्मका त्याग करके जैनधर्म सम्मत इङ्गिणी मरणका साधन किया। अनुकूल पूजाके बहाने से उसके शत्रु (सुबन्धु) ने उसका शरीर जलाया। शरीरके जलते हुएभी चाणक्यने उत्तमार्थको—अपने अभिमत समाधिमरणको— प्राप्त किया। (समभाव होनेसे) गोबाडामें प्रायोपगमन सन्यास (अनशन) लेकर बैठे हुए चाणक्य को सुबन्धुने उपलोंके ढेरमें आग लगाकर जला दिया। जलता हुआ चाणक्य (समभाव होने से) उत्तमार्थको प्राप्त हुआ।

(४) मरणसमाहि ग्रंथमें पृ० १२९ पर लिखा है :—

गुव्वर पाओ वगओ सुबुद्धिना णिऽघिणेण चाणक्को।
दड्ढोणय संचलिओ साहुधिई चिंतणिज्जाउ ॥४७८॥

अर्थात्—चाणक्य उपलोंके ढेर पर प्रायोपगमन संन्यास (अनशन) लेकर बैठा हुआथा उसे निर्दयी सुबुद्धि (सुबन्धु) ने आग लगाकर जला दिया। जलता हुआभी चाणक्य अपने व्रतसे चलायमान न हुआ। उसने समभाव नहीं छोड़ा। ऐसी धीरता जीवन में उतारनी चाहिये।

(५) तेरहवीं शताब्दी के महाविद्वान और प्रसिद्ध इतिहासकार श्रीहेमचन्द्राचार्यजी अपने 'परिशिष्टपर्व' के आठवें सर्गमें चाणक्यका परिचय इस प्रकार देते हैं:—

"इधर गोल्लदेश में एक 'चणक' नामका गाँव था, उस गाँव में चणी नामका एक ब्राह्मण रहता था और चणेश्वरी नामकी उसकी पत्नी थी, चणी और चणेश्वरी दोनों ही जन्मसे श्रावक (जैनी) थे। एक समय जबकि अतिशय ज्ञानवान् जैन मुनि उनके घर पर आकर ठहरे हुएथे, 'चणेश्वरी' ने एक दाँतों-सहित पुत्रको जन्म दिया। उस बालक को लेकर चणी साधुओंके पास आया और उस बालकसे साधुओं को नमस्कार कराकर उसके दन्त-सहित पैदा होनेका हाल कह सुनाया। ज्ञानी मुनि बोले-भविष्य में यह लड़का राजा होगा। राज्य जनित आरम्भसे मेरा पुत्र

---

* गाथा नं० ७३ की मौजूदगीमें इस गाथा की स्थिति कुछ संदिग्ध जान पड़ती है; क्योंकि इसमें उत्तमार्थ प्राप्तिकी उसी बातको व्यर्थ दोहराया गया है। हो सकता है कि नं० ७४ की गाथा प्रक्षिप्तहो। यह गाथा दिगम्बरीय प्राचीन ग्रन्थ 'भगवती आराधना' में 'गुट्ठय' की जगह 'गोट्ठे' पाठभेदके साथ ज्यों की त्यों पाई जाती है। —सम्पादक

नरक का अतिथि न बने, इस विचारको लेकर चणीने पीड़ा का खयाल न करते हुए लड़के के दाँतों को रगड़ दिया और यह समाचार भी उसने साधुओंको कह सुनाया। इस पर वे बोले—दाँतों के रगड़ देनेसे अब यह बालक बिम्बान्तरित राजा होगा। अर्थात् दूसरेको राज्यगद्दी पर बैठा कर राज्य-ऋद्धि भोगेगा। चणी ने उस बालकका नाम 'चाणक्य' रक्खा। चाणक्य' भी विद्या समुद्रका पारगामी श्रावक हुआ और वह श्रमणोपासक होनेके कारण बड़ा सन्तोषी था। एक कुलीन ब्राह्मणकी कन्याके साथ उसका विवाह हुआ था" *।

चाणक्यने नंदवंशका नाश क्यों किया? कैसे किया? किन उपायोंसे चन्द्रगुप्तको राजा बनाकर मगधके साम्राज्यको विस्तृत बनाया? और किन-किन तरीक़ोंसे साम्राज्यका शासन-सूत्र संचालित किया? इन सब बातोंका भी अच्छा वर्णन श्री हेमचन्द्राचार्यने अपने उक्त परिशिष्ट पर्व में किया है। उसी समय बारह वर्षका एक बड़ा भारी अकाल भी पड़ा था। अकालमें प्रजाको ही खानेके लिए अच्छी तरह नहीं मिलता, तब साधुओंकी भी भिक्षामें कठिनताका होना स्वाभाविक है। इस प्रसंगका वर्णन करते हुए सूरिजी महाराज लिखते हैं:—

"इधर जब वह बारह वर्षका दुर्भिक्ष पड़ने लगा तब सुस्थित नामके एक आचार्य अपने शिष्य परिवार के साथ चन्द्रगुप्तके नगरमें रहते थे। दुष्कालकी वजह से वहाँ पर जब साधुओंको भिक्षा दुर्लभ होने लगी—निर्वाह न होसका—तब आचार्य महाराजने अपने शिष्य समुदायको वहाँ से सुभिक्ष वाले देशमें भेज दिया और आप वहीं पर रहे। उनमें से दो क्षुल्लक साधु गुरुभक्तिवशात वापिस लौट आये और गुरु सेवामें रहते रहे। इनको भी जब भिक्षा दुर्लभ हो गई और गुरुभक्ति में बाधा पड़ने लगी, तब ये दिव्यांजनके प्रयोग द्वारा अदृश्य करके सम्राट् चन्द्रगुप्तकी भोजन थालीमें से आहार लेआते थे और गुरु-भक्ति करते थे। इसप्रकार कुछ दिन व्यतीत होगए। एक दिन चाणक्यने चन्द्रगुप्तको दुबला देखकर सोचा कि क्या कारण है जिससे चन्द्रगुप्त दुबला होता जाता है। साथही यह भी सोचा इनकी थाली में से रोज आहारका लोप होजाता है, उसका भी क्या कारण है? अन्तको उन्होंने अपनी तरकीब से जान लिया कि यहाँ दो क्षुल्लक जैन साधु आते हैं, और वे थाली में से भोजन ले जाते हैं। उस समय जैनधर्मके प्रति भक्ति होनेके कारण चाणक्य उनका बचाव करते हुए चन्द्रगुप्त से कहते हैं:—

"ओहो, ये तो आप के पितृगण हैं। आपके ऊपर इनकी बड़ी कृपा है, जो ये ऋषिवेश धारण कर आपके पास आते हैं, ऐसा कह चाणक्यने उन साधुओं को वहाँ से विदा किया।"

"बाद में चाणक्य आचार्य महाराजके पास आकर उन क्षुल्लक साधुओंके अन्यायको प्रगट करता हुआ आचार्यको उपालम्भ देने लगा। सब वार्ता सुनकर आचार्य महाराज ने प्रत्युत्तर दिया:—

* मूल श्लोक इस लेखके परिशिष्टमें दे दिये हैं। वहाँ देखो श्लोक नं० १९४ से २०१ तक।

"इन बेचारे छुल्लकोंका क्या दोष है ? जब तुम्हारे जैसे श्री संघके अग्रणी भी स्वोदर-पोषक हो गए। आचार्य महाराजके इन वचनोंको सुनकर चाणक्यने अत्यन्त नम्रता पूर्वक हाथ जोड़कर सविनय निवेदन किया "भगवान् ! आपने मुझ प्रमादीको भले प्रकार शिक्षादी है। आज से जिस किसी भी साधुको अशन-पानादिकी आवश्यकता होवे मेरे घर आएँ और आहार ग्रहण करें"। इस प्रकार का अभिग्रह करके तथा आचार्य महाराज को भक्ति पूर्वक नमस्कार करके 'चाणक्य' अपने गृह-वास में चले गए*।"

इस प्रसंग परसे पाठक भली भाँति समझ जायँगे कि चाणक्यकी जैनधर्मके प्रति कितनी भक्ति प्रेम, एवं श्रद्धाथी। चाणक्य ने राजा को भी जैनधर्मका उपासक एवं श्रद्धालु जैन-श्रावक बनाने में भरसक प्रयत्न कियाथा। उसी समयके विद्यमान अनेक दर्शनोंके आचार्यों तथा साधुओं से चन्द्रगुप्तको परिचय कराया था। चन्द्रगुप्तने अन्य धर्मावलंबी साधुओंको अपने दरबारमें निमंत्रण भी दिया था। चाणक्यने उन साधुओं-की असच्चरित्रता दिखाकर राजाको कहा, अब आप जैन श्रमण निर्ग्रन्थोंके दर्शन करें। चाणक्यके आग्रह से राजाने जैन मुनियोंको निमंत्रण दिया। जैन साधु अपने आचारके मुताबिक ईर्षा समिति को संशोधन करते हुए शान्तमुद्रासे आकर अपने आसनों पर बैठ गये। राजा और मंत्रीने आकर देखा कि मुनिमहाराज अपने आसनों पर शांति से बैठे हुए हैं। उसी समय साधुओंकी प्रशंसा करते हुए कहा कि:—"जैन महात्मा बड़े जितेंद्रिय और अपने समयको व्यर्थ नष्ट नहीं करने वाले होते हैं" जैन साधुओंने राजाको प्रतिबोध देकर, —धर्मतत्व सुनाकर और खासकर साधुधर्म पर प्रकाश डालते हुए ईर्य्यासमिति शोधते हुए अपने स्थान पर चले आए। तब चन्द्रगुप्तको चाणक्यने कहा "देख बेटा ! धर्म-गुरु ऐसे होते हैं। इन महात्माओंका आना और जाना किस प्रकारका होता है ? और जब तक अपन लोग वहां पर नहीं आए तब तक किस प्रकार उन्होंने अपने समयको निकाला ? ये महात्मा अपने आसनको छोड़कर कहीं भी इधर उधर नहीं भटकते। क्योंकि ये महात्मा यहाँ पर इधर उधर फिरते तो, अवश्य-मेव इस चिकनी और कोमल मिट्टीमें इनकी पद-पंक्ति † भी प्रतिबिम्बित होजाती। इसप्रकार जैनमहात्माओंकी सुशीलता और जितेन्द्रियता देखकर चन्द्रगुप्तको जैन साधुओं पर श्रद्धा होगई और दूसरे पाखण्डी साधुओंसे विरक्ति होगई जैसे योगियोंको विषयोंसे होती है*।"

आचार्य श्री हेमचन्द्रजीने मंत्रीश्वर चाणक्य को जैनधर्मका परम उपासक लिखा है। और

* दुष्काल और साधुओंके इस वर्णनके मूल श्लोक लेखके 'परिशिष्टमें दिये हैं; वहाँ देखो, श्लोक नं० ३७७ से ४१३ तक।

† अजैन साधुओंकी परीक्षाभी उसी तरहसे कीगई थी। अजैन साधु जब तक राजा नहीं आए थे तब तक इधर उधर घूमते रहे थे और ठेठ अन्तःपुर तक देखने लगे थे। जब कि जैन साधुओं की परीक्षाके लिए सूक्ष्म चिकनी मिट्टी बिछाई गई थी लेकिन जैन साधु तो इधर उधर भटके बिना अपने स्थान पर बैठे रहे और जब राजा और मंत्री आए तब धर्म-तत्त्व सुनाकर अपने स्थान पर गए।

* मूल श्लोकोंके लिये देखो, लेखका 'परिशिष्ट' श्लोक ४३० से ४३५ तक।

पाठकोंने ऊपर पढ़भी लियाहै कि चाणक्यने चन्द्रगुप्तको भी जैन बनाया था। आगे चन्द्रगुप्तके पुत्र बिन्दुसारको भी चाणक्यने उनके पिताके समान जैनधर्मका उपासक बनायाथा। मंत्रीश्वर चाणक्य जैन था, किन्तु सामान्य जैन नहीं, दृढ़ताके साथ पक्का जैनधर्मका उपासक था—परम आर्हतोपासक एवं परम श्रमणोपासक था। इसका प्रबल प्रमाण उनकी मृत्युकी घटनासे प्रत्यक्ष मिलता है।

सम्राट् चन्द्रगुप्तकी मृत्युके बाद उनका पुत्र बिन्दुसार भारतका सम्राट् बना। चाणक्य उनका भी मंत्री हुआ, और जैसे सम्राट् चन्द्रगुप्त चाणक्य की बुद्धि अनुसार राज्य-कार्य संचालन करतेथे और धर्मका पालन करतेथे वैसे ही बिन्दुसार भी चाणक्यकी आज्ञाका पालन करता था। किन्तु नीति शास्त्रका यह वाक्य ठीक है। "राजा मित्रं न कस्यचित्" कुछ समय बाद ऐसा बना कि सुबन्धु नामका एक दूसरा मंत्री, जिसे चाणक्यने ही इस महत्वपूर्ण स्थानपर बैठायाथा, चाणक्यको हटानेके लिए षड्यन्त्र रचने लगा। भोला राजा इसमें फँस गया और अपने पिता तुल्य मंत्रीश्वर चाणक्य के प्रति उसको वहम होगया, और उसने उनकी अवज्ञा का भाव प्रदर्शित किया। महानीति विशारद चाणक्यको सारा मामला समझते देर न लगी। आखिरमें उन्होंने सोचाकि—"मैंने ही तो इस दुष्टको इस इस पद पर आरूढ़ किया और उसने मेरे उस उपकारका यह बदला दिया? खैर, इसके कुलके उचित यही बदला युक्त था। अब थोड़े दिनकी जिन्दगी रही है, मुझे राज्य-चिन्तासे भी क्या काम? अब तो समाधि मरण से अपना परलोक सुधारूँगा"।

इसके बाद चाणक्य मंत्रीश्वरने मृत्युकी तैयारीकी। और जैनधर्मके नियमानुसार सब जीवोंके साथमें क्षमायाचना करके, खानपीनादि सब छोड़ करके, साधु जैसी त्याग दशा स्वीकार करके तथा जीवन से भी निस्पृह बनकर अनशन स्वीकार किया।

परिशिष्ट पर्वमें आचार्य श्री हेमचन्द्रजी इस विषयमें लिखते हैं कि—"चाणक्यने दीन-दुःखी अर्थी जनोंको दान देना शुरू कर दिया। जितना नक़द माल था उस सबको दान करके चाणक्यने नगरके बाहर समीपमें ही सूखे आरनोंके ढेर पर बैठकर कर्मनिर्जराके लिये चतुर्विधि आहारका त्याग कर अनशन धारण कर लिया। बिन्दुसार को जब अपनी धायमातासे अपनी माताकी मृत्यु का यथार्थ पता मिला तब वह पश्चाताप करता हुआ वहाँ आया जहाँ पर 'चाणक्य' ध्यानारूढ़ था। उसने चाणक्यसे माफी मांगते हुए कहा :—**"मेरी भूल पर आप कुछ ख्याल न करके मेरे राज्यकी सारसंभाल पूर्ववत् ही करो। मैं आपकी आज्ञाका पालन करूंगा"**। चाणक्य बोला—"राजन्! इस वक्त तो मैं अपने शरीर पर भी निस्पृह हूँ अब मुझे आपसे क्या और आपके राज्यसे क्या"? जैसे समुद्र अपनी मर्यादामें दृढ़ रहता है वैसेही चाणक्यको उसकी प्रतिज्ञामें निश्चल देखकर 'बिन्दुसार' निराश होकर अपने घर चला आया"।

मंत्रीश्वर चाणक्य अनशन लेकर ध्यानमें बैठे हुए हैं, जीवनके अन्तिम क्षण व्यतीत हो रहे हैं। उस समय भी दुष्ट सुबन्धु अपनी दुष्टता नहीं छोड़ता है। उसने सोचा कि राजा मंत्रीश्वर चाणक्यके पास होकर आए हैं, और मेरे सारे षड्यन्त्रका भंडाफोड़ होचुका है, अब राजा मुझे दंड देंगे। अतः वह राजाके पास आया और अपने षड्यन्त्रकी क्षमा-याचना करने लगा तथा कहने लगा कि मैं अब उन मंत्रीजीसे भी जाकर क्षमा याचना करता हूँ। इसके बाद वह चाणक्य के पास जाकर मायाचार पूर्वक अपने अपराधों की क्षमा-याचना करने लगा। ऐसा करते हुए उसे विचार आया कि कहीं यह नगरको वापिस न चला आवे, और इस कुविकल्पमें पड़कर उसने उनकी विधिपूर्वक पूजाके लिये राजासे अनुमति मांगी जो मिलगई। इसके बाद श्री हेमचन्द्राचार्य सुबन्धुकी दुष्टताका निम्न प्रकारसे वर्णन करते हैं—राजाकी आज्ञा पाकर सुबन्धुने चाणक्यकी पूजाका बड़ा ही सुन्दर मालूम देने वाला ढोंग रचा और उस तरह पूजोपचार करते हुए उसने चुपकेसे सूखे धूपाग्निकी एक चिंगारी उस आरनों (उपलों) के ढेर पर गिरादी, जिसपर चाणक्य ध्यानारूढ़ थे। इससे आरने (उपलों) का वह ढेर अनुकूल पवन को पाकर एकदम दहक उठा, और उसमें चाणक्य काठकी तरह जलने लगे!! चाणक्य तो पहलेसे ही चतुर्विध आहारका त्यागकर अनशन करके बैठे थे, अतएव उन्होंने निष्प्रकंप होकर उस दहकती हुई ज्वालामें अपने प्राणोंको समर्पण करके देव-गतिको प्राप्त किया * "।

यह प्रसंग बहुतही करुण है। जिसका क्रोध साम्राज्यको नष्ट करनेमें भी नहीं हिचकताथा। वही पुरुष जैनधर्म के प्रतापसे कितना शान्त, कितना गम्भीर, कितना सहनशील और कितना क्षमावान एवं उदार बना, इसका यह एक आदर्श नमूना है। जिसने शत्रु-सैन्यके सामने युद्धस्थल पर भयङ्कर रण-गर्जना की थी और जिसकी गर्जनाको सुन कर विदेशी आक्रमणकारियोंके सर चक्कर खाने लगते थे, वही पुरुष मृत्युके समय कितना शान्त एवं गम्भीर होता है, शत्रुओंके प्रति कितनी उदारता तथा सहानुभूतिका परिचय देता है और कितने आनन्दसे अपने आपको कालके गालमें डाल देता है! यह दृश्य सचमुच ही अनुपम और अभूतपूर्व है। "मृत्युरपि महोत्सवायते" इसीका नाम है। जैनग्रन्थोंके अतिरिक्त किसी अन्य ग्रन्थकारने मौर्यसाम्राज्यके महान् निर्माता मन्त्रीश्वर चाणक्यकी मृत्युके समयका किञ्चितभी ठीक वृत्तान्त नहीं दिया है। मालूम होता है इसमें जरूर कुछ न कुछ रहस्य छुपा हुआ है।

अनशन स्वीकार करके स्वेच्छासे और सहर्ष मृत्यु प्राप्त करनेमें जैनधर्म बहुत महत्व मानता है। मन्त्रीश्वर चाणक्य सामान्य जैन नहीं, अपितु एक महान् आर्हतोपासक एवं श्रमणोपासक थे। मृत्यु के समय वीतरागदेवका ध्यान करना, अपने जीवनके किए हुए पापोंकी आलोचना करना, शत्रुओंके प्रति भी समानभाव तथा क्षमाभाव रखना, मन-वचन-कायसे शुद्ध बनकर संसारसे

* चाणक्यके अनशनादि मृत्यु पर्यन्त वर्णनके मूल श्लोकोंके लिये देखो, लेखका 'परिशिष्ट' श्लोक नं० ४५७ से ४६९।

निस्पृहता प्राप्त करना सांसारिक सभी कार्योंका त्याग करना एवं अशनपानादि त्याग करके सम-भाव पूर्वक मृत्युकी गोदमें सोना इसीका नाम है, अनशन पूर्वक समाधिमरण इसमें क्रोधका, दीनता का, अनाथताका भाव नहीं होता। ऐसा महान् वीर मरण संप्राप्त करके मंत्रीश्वरने सद्गतिका मार्ग पकड़ा है। जैन-दर्शनने इसका नाम "पंडित मरण" रक्खा है। धन्य है ऐसे वीर पुरुषोंको जिन्होंने अपना जीवन भारतमाताकी सेवामें लगाया, पापियोंका नाशकर धर्मका राज्य चलाया और अन्तमें श्री जिनेन्द्रदेवकी शरण स्वीकार कर आत्म-कल्याण किया।

दिगम्बर ग्रन्थकारोंने भी मन्त्रीश्वर चाणक्य के विषयमें खूब ही लिखा है। भगवती आराधना पुण्याश्रव कथाकोष और आराधना कथाकोषमें इनका उल्लेख मिलता है।

(६) भगवती आराधनामें, जोकि बहुत प्राचीन ग्रन्थ है, एक गाथा निम्नप्रकारसे पाई जाती है—

"गोट्ठे पाओवगदो सुबंधुणा गोब्बरे पलियदम्भि। डज्झन्तो चाणक्को पडिवणणो उत्तमं अट्ठम् ॥१५५६॥

इसमें यह स्पष्ट उल्लेख है कि—गोवाड़ाके स्थान पर चाणक्य प्रायोपगमन संन्यास लिए हुए बैठा था, सुबन्धुने उपलोंके ढेरमें आग लगाकर उसे जलाया और वह जलता हुआ (समभावके कारण) उत्तमार्थको अपने अभिमतसमाधिमरणको प्राप्त हुआ। इस कथनके द्वारा सूत्ररूपसे चाणक्यके जैनविधिसे अनशन लेने आदिकी वह सब सूचना कीगई है जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है।

(७) पुण्याश्रव कथाकोषमें (नन्दिमित्रकी कथाके अन्तर्गत) नन्दराज द्वारा चाणक्यके वृत्त-वर्णन करनेके अनन्तर लिखा है:—

"अब चाणक्यको क्रोध आया और वह नगरसे निकलकर बाहर जाने लगा। मार्गमें चाणक्यने चिल्लाकर कहा—"जो कोई मेरे परम शत्रु राजा नन्दका राज्य लेना चाहता हो, वह मेरे पीछे पीछे चला आवे"। चाणक्यके ऐसे वाक्य सुनकर एक चन्द्रगुप्त नामका क्षत्रिय, जोकि अत्यन्त निर्धन था यह विचार कर कि इसमें मेरा क्या बिगड़ता है? चाणक्यके पीछे होलिया। चाणक्य चन्द्रगुप्तको लेकर नन्दके किसी प्रबल शत्रुसे जा मिला और किसी उपायसे नन्दका सकुटुम्ब नाश करके उसने चन्द्रगुप्तको वहाँका राजा बनाया। चन्द्रगुप्तने बहुत कालतक राज्य करके अपने पुत्र बिन्दुसारको राज्य दे, चाणक्य के साथ जिनदीक्षा ग्रहण की। (पृष्ठ १५७)

(८) आराधना कथाकोषके तृतीय भागमें, जोकि जैनमित्रके १७वें वर्षके उपहाररूपमें प्रकट हुआ था, चाणक्यके पिताका नाम कपिल पुरोहित माताका नाम देविला दिया है और लिखा है कि उस समय पाटलीपुत्रके नन्दराज्यके तीन मन्त्री थे—**कावि, सुबन्धु और शकटाल**। शेष चाणक्य की जो कथा दी है उसका संक्षिप्तसार इस प्रकार है—

"कावि मन्त्रीने एक समय शत्रु राजाको राजा नन्दके कहनेमें धन देकर वापिस लौटा दिया था। पीछेसे धन कमती होजानेसे राजाने कावि मन्त्रीको उनके कुटुम्ब सहित जेलमें डाल दिया।

काविको इससे बहुत गुस्सा आया। थोड़े समय बाद दूसरा शत्रुराजा युद्धके लिए चढ़ा। इस समय राजाको कावि मन्त्रीकी याद आई। राजाने मंत्री को जेलसे बाहर निकाला और राज्यकी रक्षाके लिए कोई तरकीब निकालनेको कहा। काविने अपने बुद्धिबलसे शत्रु राजाको तो वापिस लौटा दिया, किन्तु प्रतिहिंसाकी भावनासे प्रेरित होकर चाणक्यको राज्यके विरुद्ध उकसाया। चाणक्यने नन्द राजाको मार दिया और खुद राजा बन बैठा बहुत वर्षों तक राज्य चलाकर संसार छोड़कर दिगम्बर धर्मके महिधर आचार्यके पासमें दिगम्बर दीक्षा स्वीकार की। चाणक्य मुनि बड़े भारी विद्वन् और तेजस्वी थे। इसलिये थोड़े ही समय में उन्हें आचार्यपद मिल गया। चाणक्य मुनि ५०० शिष्योंके साथमें भूतल पर विचरने लगे।

नन्दराजा का दूसरा मन्त्री सुबन्धु था। नन्दराजकी मृत्युके बाद सुबन्धु क्रौंचपुरके राजा का मंत्री बना। चाणक्य मुनि विहार करते करते क्रौंचपुरमें आए। मंत्री सुबन्धुको चाणक्य मुनि के प्रति द्वेष प्रकट हुआ। नन्द राजाका बदला लेनेके लिये मुनि संघके चारों तरफ घास डलवा कर (?) उनको जिन्दा जलवाने के लिए आग लगादी गई। चौतरफसे आग जलने लगी मुनि संघ ध्यानमें रहा। चाणक्य मुनि भी शुक्ल ध्यान ध्याते-ध्याते कर्मोंको क्षय कर मोक्षमें पहुँचे (?) इस कथनके पिछले दो श्लोक इस प्रकार हैं—

पापी सुबन्धु नामा च मंत्री मिथ्यात्वदूषितः।
समीपे तन्मुनीन्द्राणां कारीषाग्निं कुधीर्ददौ ॥४१॥

तदा ते मुनयो धीरा, शुक्ल ध्यानेन संस्थिताः।
हत्वाकर्माणि निःशेषं, प्राप्ताः सिद्धिं जगद् हिताम् ॥४२॥

(हिन्दी अनुवाद पृ० ४६-५३, मूलकथा पृ० ३१०)

यद्यपि इस कथामें भद्रबाहु और चन्द्रगुप्तका उल्लेख नहीं है। तबभी चाणक्यका चरित्र तो अपने को अच्छी तरहसे मिलता है। दिगम्बर ग्रन्थकारों ने मंत्रीश्वर चाणक्यको सामान्य श्रावक नहीं, सामान्य साधु नहीं, किन्तु महान् आचार्य मानाहै। इतना ही नहीं किन्तु, इस कलिकालमें—पञ्चम युग में—भी इनको अपने शिष्यों सहित मोक्षमें जाने तकका उल्लेख किया है*। लेकिन अपनेको इसमेंसे इतना ही फलितार्थ निकालना है कि मंत्रीश्वर चाणक्य जैनधर्मी था।

अब जरा इतिहासकी तरफभी नजर डालिये। मंत्री चाणक्य सम्राट् बिन्दुसारके समयमें भी विद्यमानथे और सम्राट् बिन्दुसारने उनकी ही सहायतासे राज्य विस्तृत कियाथा यह बात वर्तमान समयके इतिहासज्ञोंको भी मान्य है। देखिये, मौर्य्य साम्राज्यके इतिहासमें विद्वान् लेखक लिखते हैं कि "१६ वीं शताब्दिके प्रसिद्ध तिब्बती लेखक तारानाथने लिखा है कि "बिन्दुसारने चाणक्यकी सहायतासे सोलह राज्यों पर विजय प्राप्तकी"। फिर आगे लिखा है कि "यह बात असंभव नहीं

---

* कथाकारका यह उल्लेख निरा भूलभरा जान पड़ता है। दूसरे किसी भी मान्य दिगम्बर ग्रन्थसे इसका समर्थन नहीं होता। ऐसा मालूम होता है कि 'पडिवाणो उत्तमं अट्ठं' जैसे वाक्यमें प्रयुक्त हुए 'उत्तमार्थ' शब्दका अर्थ उसने मोक्ष समझ लिया है; जबकि पुराने अपराजितसूरि जैसे टीकाकार उसका अर्थ 'रत्नत्रय' देते हैं और प्रसंगसे भी वह बोधि-समाधिका सूचक जान पड़ता है। —सम्पादक।

है कि चाणक्य सम्राट् बिन्दुसारके समय तक विद्यमानहो और मौर्य्य-साम्राज्यको सुदृढ़ करने का निरन्तर प्रयत्न करता रहा हो। वस्तुत: आचार्य चाणक्य भारतके इतिहासमें ही नहीं, अपितु संसारके इतिहासमें एक अद्वितीय और अपूर्व महापुरुष है। मौर्य्य-साम्राज्यके रूपमें सम्पूर्ण भारतको संगठित करना तथा भारतको इतना शक्तिशाली बनाना आचार्य चाणक्यका ही कार्य है"।

सुज्ञ वाचक! ऊपरके वाक्योंसे समझ गए होंगे कि मंत्रीश्वर चाणक्यने ही भारतीय महा-साम्राज्यका सर्जन किया था। मंत्रीश्वर चाणक्य जातिके ब्राह्मण थे लेकिन धर्मसे दृढ़ जैनीथे। मुझे ख्याल है कि पू० पा० आचार्य श्रीविजयेन्द्रसूरि जी महाराजने 'प्राचीन भारतवर्षका सिंहावलोकन' नामक अपनी पुस्तकके पृ० २६ में लिखा है कि "तेओ चाणक्यने पण जैन गणावे छे पठा शास्त्रकारो एम कहे छे के चाणक्य जैन न हता"। अब मुझे विश्वास है कि पू० पा० आचार्य महाराज मेरे दिए हुए उपर्युक्त प्रमाणोंसे अपने विचारोंमें अवश्य परिवर्तन करेंगे। मंत्रीश्वर चाणक्य जैन थे, इसके विषयमें श्वेताम्बर और दिगम्बरके प्राचीन-अर्वाचीन सभी साहित्यका एक मत है।

चाणक्यके कौटिल्य, चाणक्य और विष्णुगुप्त ये तीन नाम तो प्रसिद्ध हैं, किन्तु आचार्य श्री हेमचन्द्रजीने अपने अभिधान चिन्तामणि नामक सुप्रसिद्ध कोश ग्रन्थमें चाणक्यके आठ नाम दिए हैं। यथा—

> वात्स्यायनो मल्लिनागः कुटिलश्चणकात्मजः।
> द्रामिलः पक्षिल स्वामी विष्णुगुप्तोऽङ्गुलश्च सः।

अर्थात्—वात्स्यायन, मल्लिनाग, कुटिल(कौटिल्य), चाणक्य (पालीभाषामें 'चणक' और प्राकृतमें चाणक होता है) द्रामिल, पक्षिलस्वामी, विष्णुगुप्त और अंगुल, ये चाणक्यके नाम हैं।

यद्यपि अजैन ग्रन्थकारोंने मंत्रीश्वर चाणक्य के विषयमें बहुत कुछ लिखा है, परन्तु इनके धर्मके विषयमें किसीने इशारा तक भी नहीं किया; जब कि सभी जैन ग्रन्थकारोंने एक मत होकर मुक्तकंठ से स्वीकार किया है कि मंत्रीश्वर चाणक्य जैन थे। भारतीय ऐतिहासिक साहित्यमें जैन साहित्य का बहुत बड़ा हिस्सा है। इस तरफ हम उपेक्षा नहीं कर सकते। साहित्य व इतिहासप्रेमी विद्वानों को मेरा सादर निमंत्रण है कि वे मंत्रीश्वर चाणक्यके धर्मके विषयमें मैंने जो प्रमाण दिए हैं उनको ध्यानसे पढ़ें, विचारविनिमय तथा चर्चा करें और सत्य बातको स्वीकार करें। यही मेरी शुभेच्छा है।

परिशिष्ट

(श्री हेमचन्द्राचार्य-विरचित परिशिष्ट पर्व के ८वें सर्ग के—चाणक्य-विषयक कुछ अंश)

"इतश्च गोल्ल विषये ग्रामे चणकनामनि । ब्राह्मणोऽभूच्चणी नाम तद् भार्या च चणेश्वरी ॥१९४॥
बभूव जन्म प्रभृति श्रावकत्व चणश्चणी । ज्ञानिनो जैन मुनयः पर्यवात्सुश्च तद् गृहे ॥१९५॥
अन्यदा तुद्गतैर्दन्तैश्चणेश्वर्या सुतोऽजनि । जातं च तेभ्यः साधुभ्यस्तं नमोऽकारयच्चणी ॥१९६॥
तं जातदन्तं जातं च मुनिभ्योऽकथयच्चणी । ज्ञानिनो मुनयोऽप्याख्यन्भावी राजैष बालकः ॥१९७॥
राज्यारम्भेण मत्पुत्रो मा भून्नरकभागिति । अघर्षयत्तस्य दन्तान्पीडामगणयंश्चणी ॥१९८॥
स मुनिभ्यस्तदप्याख्यन्मुनयोऽप्येवमूचिरे । भाव्येष बिम्बान्तरितो राजा रदनघर्षणात् ॥१९९॥
चणी चाणक्य इत्याख्यां ददो तस्याङ्ग जन्मनः । चाणक्योऽपिश्रावकोऽभूत्सर्व विद्याब्धि पारगः २००॥
श्रमणोपासकत्वेन स सन्तोषधनः सदा । कुलीन ब्राह्मणस्यै कामेव कन्यामुपायत ॥२०१॥

× × ×

इतश्चतस्मिन्दुष्काले कराले द्वादशाब्दके । आचार्यः सुस्थितो नाम चन्द्रगुप्त पुरेऽवसत् ॥३७७॥
अन्नदौःस्थ्येन निर्वाहाभावान्नि जगणं स तु । देशान्तराय व्यसृजत्तत्रैवास्थात्स्वयं पुनः ॥३७८॥
व्याघुट्यत्क्षुल्लकौ द्वौ तु तत्रैवाजग्मतुःपुनः । आचार्यैश्च किमायाताविति पृष्टा वशंसताम् ॥३७९॥
वियोगं गुरु पादानां न ह्यावां सो दुमीश्वहे । तद्वः पार्श्वे जीवितं वा मरणं वावयोः शुभम् ॥३८०॥
आचार्यः स्माह न कृतं युवाभ्यां साध्वमुत्रहि । अगाधे क्लेश जलधौ युवां मुग्धौ प्रतिष्यथः ३८१॥
इत्युक्त्वा तावनुज्ञातौ गुरुणा तत्र तस्थतुः । भक्त्या शुश्रूषमाणौ तं तत्पदाम्भोजषट पदौ ३८२॥
ततो दुर्भिक्ष माहात्म्यद्भिक्षयात्यल्प लब्धया । सारयित्वा गुरूणां तौ भुञ्जानावत्यसीदताम् ३८३॥
अदृश्यीभूय सम्भूय तौ द्वौ तत्रैव वासरे । भोजनावसरे चन्द्रगुप्तस्याभ्यर्णभीयतुः ॥३८७॥
अदृश्यमानौ तौ क्षुल्लौ चन्द्रगुप्तस्य भाजने । बुभुजाते यथाकामं बन्धू प्राणा प्रियाविवा ॥३८८॥
एवं दिने दिने ताभ्यां भुञ्जानांभ्यां महीपतिः । ऊनोदरत्वे नोदस्थात्तपस्वीव जितेन्द्रियः ॥३८९॥
कृष्णापक्षक्षपाजापानिखिक्षामः शनैः शनैः । चन्द्रगुप्तनरेन्द्रोऽभूताभ्यामाच्छिन्नभोजनः ॥३९०॥
इतिद्वितीय दिवसे चाणक्यो भोजनौकसि । भोजनावसरे धूमंसूचिभेद्यमकारयत् ॥४०१॥
अनञ्जनदृशौ तौ तु भुञ्जानौ तत्र भाजने । दृष्टौ नरेन्द्र लोकेन कोपाद्भृकुटि कारिणा ॥४०४ ॥
पितिरावृषिरूपेण युवां हि परमेश्वरौ । कृत्वा प्रसाद मस्मासु स्वस्मै स्थानाय गच्छतम् ॥४०६॥

एवं च मौर्यं सम्बोध्याचार्याणांश्चमेत्यत्च । चाणक्योऽदादुपालम्भ तुल्लान्यायं प्रकाशयन् ॥४१०॥
अचार्यः स्माहको दोष तुल्लयो रनयोर्ननु । स्वकुक्षिम्भरयः सत्पुरुषायद्भवादृशाः ॥४११॥
चाणक्योऽपितमाचार्यं मिथ्या दुष्कृत पूर्वकम् । वन्दित्वाभिदधे साधु शिक्षितोऽस्मि प्रमद्वरः ४१२॥
अद्यप्रभृति यद्भक्त पानोपकरणादिकम् । साधूनामुपकुरुते तदादेयं मदोकसि ॥४१३॥

× × ×

सज्जातप्रत्यये राज्ञि द्वितीयेऽहनि तद्गुरुः । धर्ममाख्यातुमाह्वास्त तत्र जैन मुनीनपि ॥४३०॥
निषेदुस्ते प्रथमतोऽप्यासनेष्वेव साधवः । स्वाध्यायावश्यके नाथ नृपागमम् पालयन् ॥४३१॥
ततश्च धर्ममाख्याय साधवो वसतियुः । इर्यासमितिलीन त्वात्पश्यन्तो भुवमेवते ॥४३२॥
गवाक्षविवराधस्ताल्लोष चूर्णं समीक्ष्यतम् । चाणक्यश्चन्द्रगुप्ताय तद्यथायस्थमदूर्शयत् ॥४३३॥
ऊचे च नैते मुनयः पाषण्डिव दिहाययुः । तत्पाद प्रतिविम्बानि न दृश्यन्ते कुतोऽन्यथा ॥४३४॥
उत्पन्न प्रत्ययः साधून गुरून्मेनेऽथ पर्थिवः । पाषण्डिषु विरक्तोऽभूद्विषयेष्विव योगवित् ॥४३५॥

× × ×

गेहान्तर्न्यस्य तां गेहसर्व स्वमित्र पेटिकाम् । दीनानाथादि पात्रेभ्यश्चाणाक्यो न्यददाद्धम् ॥४५७॥
ततश्च नगरा सन्न करीषस्थल मूर्धनि । निषद्यानशनं चक्रे चाणाक्यो निर्जरोद्यतः ॥४५८॥
यथा विपन्न जननी वृत्तान्तं धात्रिका मुखात् । विज्ञाय विन्दुमारोऽनुशयानस्तत्र चाययो ॥४५९॥
उवाच क्षमयित्वा च चाणक्यं चन्द्रगुप्तसुः । पुनर्वर्तय मे राज्यं तवादेश कृदस्म्यहम् ॥४६०॥
मौर्याचार्योऽभ्यधाद्रा जन्कृतं प्रार्थनयानया । शरीरेऽपि निरीहोऽस्मि साम्प्रतं किं त्वयामम् ४६१॥
अचलन्तं प्रतिज्ञाया मर्यादाय इवार्णवम् । चन्द्रगुप्तगुरुं ज्ञात्वा बिन्दुमारो ययौ गृहम् ॥४६२॥
चुकोप गत् मात्रोऽपि बिन्दुसारः सुबन्धवे । सुबन्धुरपि शीतार्त इवोचे कम्पमुद्वहन् ॥४६३॥
देव सम्यग विज्ञाय चाणाक्यो दूषितो मया । गत्वा तं क्षमयाम्यद्य यावत्तावत्प्रसीदमे ॥४६४॥
इति गत्वासुबन्धुस्तं क्षमयामास मायया । अचिन्तयच्च मा भूयोऽप्यसौ व्रजतु पत्तने ॥४६५॥
अमुना कुवि कल्पेन स राजानं व्यजिज्ञपत । चाणक्यं पूजयिष्यामि तस्यापकृति कार्यहम् ॥४६६॥
अनुज्ञातस्ततो राज्ञा सुबन्धुश्चार्णा जन्मनः । पूजामनशनस्थस्य विधातुमुपचक्रमे ॥ ४६७ ॥
पूजां सुबन्धुरापातवन्धुरां विरचय्य च । धूपाङ्गारं करीषान्तश्चिक्षेपान्यैर लक्षितः ॥४६८॥

धूपाङ्गारेणानिस्फालितेन प्रोद्यज्ज्वाले द्राकर्षिस्थले तु ।
दारुप्रायो दह्यमानोऽप्यकम्पो मौर्याचार्योदेव्यभूतत्र मृत्वा ॥४६९॥

———

सेवा-धर्म

[लेखक—श्री डा० भैयालाल जैन, पी-एच० डी०, साहित्यरत्न]

(१)

सरला—पतिहीना, गृह-हीना, आश्रयहीना सरला—संसारके कड़ुवे अनुभवोंसे घबराकर, उसमें सारका लेश भी न देखकर, आज हिमालय की किसी निर्जन कंदरामें, अपने जीवनके शेष दिन बितानेकी इच्छासे निकल पड़ी है। उसका मन एकबारगी ही विरक्त होगया है। क्या यह संसार रहनेके योग्य है? क्या यहाँ की विकार-युक्त दूषित वायु साँस लेने के उपयुक्त है? यहाँका दुर्गन्धमय घृणित जीवन क्या कोई जीवन है? इसमें कौनसी सार्थकता है? छल, प्रपंच, धोका, स्वार्थ; ऐसी सृष्टिकी रचना करके, हे परमात्मा! तू कौनसी अक्षय कीर्ति कमाना चाहता है? क्या इसमें भी कुछ रहस्य है?

सरला चली। सुकुमार शरीर आगे नहीं जाना चाहता था; पर उसमें जो बलिष्ट आत्मा था, वह उसे बलपूर्वक घसीटे लिए जाता था। अपने भविष्य जीवनकी सुखमयी कल्पना करती हुई, सरला आगे बढ़ती ही जा रही थी। एक चट्टानसे दूसरी चट्टान पर होती हुई, एक झाड़ीसे निकलकर, दूसरीमें उलझती हुई, वह जैसे-तैसे एक सुरम्य स्थल पर पहुँच गई। अहा! कैसा मनोरम स्थान है! कैसी पवित्र भूमि है! प्रकृति की कैसी अनुपम शोभा है! संसारके ईर्षा-द्वेष की लपटें, वहाँका अन्याय और पापाचार क्या यहाँ प्रवेश कर सकता है? कदापि नहीं। बस, यही स्थान मेरे अनुकूल है। बन्यवृक्षोंके मधुर फलोंका स्वास्थ्यकर भोजन, सुविस्तृत झीलका निर्मल जल, सुकोमल तृणाच्छादित भूमि पर शयन, नम्र प्रकृतिके पशु-पक्षियोंका संग, इससे अधिक मुझे और क्या चाहिए? जीवनकी समस्त आवश्यक वस्तुएँ यहाँ उपलब्ध हैं। सरलाने मन-

ही-मन ईश्वरको नमन किया। हे परमात्मन ! तूने अपनी सृष्टिमें सब कुछ सिरजा है। मनुष्यकी रुचिका ही दोष है। थोड़ा कष्ट सहन करनेसे जब कि वह सुरक्षित और स्वर्गीय आनन्ददायक महल में पहुँच सकता है, तब वह अन्धा बनकर खाईमें क्यों गिर पड़ता है ?

(२)

अचानक सरला चौंकी। मनके विचार मनही में लीन हो गये। जहाँ की तहाँ रुककर खड़ी हो गई। घूमकर देखा। विस्मय बढ़ा। आगन्तुक ज्यों-ज्यों पास आता गया, त्यों त्यों सरलाके नेत्र आश्चर्यसे अधिकाधिक विस्फरित होते गये। पहिचान लेने पर, वह सहसा चिल्ला उठी—भैया !

विस्मय आनन्दमें परिणत होगया। द्रुत गति से सरला झपटी। हाँपती हुई जाकर, भाईके कन्धेका सहारा लेकर खड़ी होगई। दोनोंके मन-मोर हर्षसे नृत्य करने लगे, मुख-कमल खिल गये।

मन्द-मन्द मुसकराती हुई सरला बोली—भैया !

देवेन्द्रकुमारने विस्मित दृष्टिसे देखा। क्या यह वही दुखिया सरला है ? कैसा अद्भुत आकस्मिक परिवर्तन है ? मुख पर की चिरस्थायी शोक-छाया विलीन होगई है। उसके स्थान पर विमल कान्ति, अपूर्व शोभा और मूर्तिमान तेज विराज रहा है। कृशांग कैसे पुष्ट दीखते हैं !

सरला सुमधुर हास्यके साथ बोली—भैया ! किन विचारोंमें तन्मय हो रहे हो ?

देवेन्द्र—मैं सोच रहा हूँ कि इस समय तुम्हारा रूप अचानक कैसा निखर गया है ! स्वर्ग से उतरकर आई हुई जैसे कोई देव-कन्या हो। बहिन सरला, तुम मुझे इस क्षण साक्षात देवी ही जान पड़ती हो। देवी, तुम्हारे तेजस्वी रूपका संसारके प्राणियों पर कितना गहरा और स्थायी प्रभाव पड़ सकता है ?

सरलाने मुस्कराते हुए कहा—और क्या सोचते हो, भैया ?

देवेन्द्र—और सोच रहा हूँ कि यदि तुम घर लौट चलो तो कैसा अच्छा हो !

सरलाने एकाएक गम्भीरभाव धारण करलिया। फिर उस ऊँचे टीले पर घूमकर चारों ओर अगुँलीके संकेतसे दिखाया और बोली, कहाँ लौट चलनेको कहते हो, भैया ? देखते हो संसार में क्या हो रहा है ? एक दूसरेको खाये जाता है। कोई अपनेको अपना नहीं समझता। स्वार्थान्ध होकर लोग कैसे कैसे पापपूर्ण आचार कर रहे हैं ? स्वर्गके द्वार तक आकर फिर नरक-कुण्डकी ओर लौट चलूँ भैया ? क्या यह बुद्धिमानीका काम होगा ?

देवेन्द्रकुमार ओजस्वी वाणी में बोले—बहिन, क्षमा करना, स्वार्थान्ध कौन है, उसे तुमने ठीकसे नहीं पहिचाना। जो इन दीन-दुखियोंको तुम दिखा रही हो, वे घोर, अज्ञानान्धकारमें पड़े हुए हैं। अपने-पराये, भले-बुरे और स्वार्थ-परमार्थका ज्ञान उन्हें नहीं है। वे जो कुछ करते हैं, समझ-बूझकर नहीं करते। उनकी बुद्धि लोप हो गई है। माया-मोहमें फँसे हुए हैं। पर बहिन ! तुमतो वैसी नहीं हो। फिर उन आपत्तिग्रस्त दुखियोंको अकेला छोड़कर, किनारा क्यों काट रही हो ? अपना

जीवन आनन्दसे व्यतीत करनेके लिए—अपने स्वार्थसाधनके हेतु—तुम इन निर्बलोंकी—अनाथों की अवहेलना क्यों कर रही हो ? बोलो, बहिन, उत्तर दो। इन बेचारे दीनोंकी सहायता न करके, तुम अपने एक अलग ही मार्ग पर जा रही हो। क्या यह स्वार्थपरता नहीं है ?

सरलाका हृदय हिल उठा। नेत्रोंमें अश्रु छल-छला आये। हाथ जोड़कर, उसने भाईके सम्मुख घुटने टेक दिये। बोली—भैया, सचमुच ही मैं अत्यन्त स्वार्थी और पामर हूँ। मुझे सुमार्ग दिखाओ।

देवेन्द्रकुमार भी अपने अश्रु-प्रवाहको न रोक सके। देर तक दोनों एक दूसरेके मुखकी ओर देखकर, रुदन करते रहे ! कैसा हृदय-द्रावक दृश्य था ! शान्त होने पर देवेन्द्रने सरलाका हाथ पकड़ कर उठाया और कहा, बहिन, मैं तुम्हें सुमार्ग क्या दिखा सकता हूँ ? मैं भी सबके जैसा क्षुद्र और तुच्छ हूँ। तब चलो, हम दोनों ही मिलकर, जगत् के हितके लिए कुछ करें। हम लोगोंके लिए सब कार्योंसे उत्तम एक सेवा-मार्ग है। आओ, उसी पर दृढ़ रहकर, दीन-दुखियोंकी विपत्तिमें हाथ बटावें। अपने ही करोड़ों अछूत कहे जाने वाले भाइयोंको ऊँचा उठाकर, गले, लगावें और उन्हें दुरदुराते रहने तथा उनसे घृणा करनेके कारण, समाजके माथे जो कलङ्कका टीका लग गया है, उसे सदाके लिए धो डालें।

हिमालयसे लौटकर, देवेन्द्रकुमार और सरला देवी दोनों सेवा-क्षेत्रमें अवतीर्ण हो गये हैं। त्राहि त्राहि करते हुए, प्राणियोंने अब शरण पाई। दुःखी जनोंको जिस प्रकारकी सेवाकी आवश्यक्ता होती है, वह देवेन्द्र और सरलाके द्वारा तुरन्तकी जाती है। अनाथ बालकोंके लिए, भोजन-वस्त्र तथा शिक्षा-दीक्षाका सुप्रबन्ध किया जाता है। छुआ-छूतका भूत सदाके लिए, देशसे निकाल बाहर कर दिया गया है। अब कोई अछूत नहीं है। जो पहिले अछूत कहे जाते थे वे अब हरिजन के नामसे पुकारे जाते हैं। अब उन्हें सर्वसाधारण कुओं पर जल भरनेकी कोई रोक-टोक नहीं है। मन्दिरोंमें जाकर प्रसन्नतासे देव-दर्शन करते हैं। अब वे बड़ी सफाईसे रहते हैं। सभा-सुसायटी तथा प्रीति-भोजोंमें सब लोगोंके साथ सम्मिलित होते हैं। विद्या पढ़ते हैं। ईति-भीति कोसों दूर भाग गई। सर्वत्र सुराज हो गया।

अधिकार

निरीह पक्षीको मारकर घातकने उसे नीचे गिरा दिया, दयालु-हृदय महात्मा बुद्धने दौड़कर उसे उठाया और वे अपने कोमल हाथ उसके शरीर पर फेरने लगे। घातकने कहा, "तुमने मेरा शिकार क्यों ले लिया" ? बुद्धने कहा—"भाई, तुझे बनके एक निरीह पक्षीको बाण मारकर गिरानेका अधिकार है तो, क्या मुझे उसे उठाकर पुचकारनेका भी अधिकार नहीं है" ? (कल्याण)

प्राकृत—

रत्तो बंधदि कम्मं मुच्चदि कम्मेहिं रागरहिदप्पा ।
एसो बंधसमासो जीवाणं जाण णिच्छयदो ॥

—कुन्दकुन्दाचार्य ।

'जो रागी है--विषयादिकमें आसक्त है—वह निश्चयसे कर्मका बन्धन करता है, और जो राग रहित है—अनासक्त चित्त है—वह कर्मोंके बन्धन-से छूटता है—उसे कर्मका बन्धन नहीं होता तथा पूर्व बँधे कर्मोंकी निर्जरा होजाती है। इस प्रकार जीवोंके बन्ध-मोक्षका यह संक्षेपमें रहस्य है।'

वउ तव संजमु सीलु जिय ए सव्वइँ अकयत्थु ।
जाव ण जाणइ इक्क परु सुद्धउ भाउ पवित्तु ॥

—योगीन्दुदेव ।

'व्रत, तप, संयम और शीलका अनुष्ठान उस वक्त तक निरर्थक है जब तक इस जीवको अपने परम पवित्र एक शुद्ध रूपका बोध नहीं होता है।'

मूढा देवलि देउ णवि णवि सिलि लिप्पइ चित्ति ।
दो-देवलि देउ जिणु, सो बुज्झहिं समचित्ति ॥

—योगीन्दुदेव ।

'हे मूढ़ देवालय में देव नहीं, पत्थर-शिला, लेप तथा चित्र में भी देव नहीं है। जिन-देवतो देह-देवालय में रहते हैं, इस बातको तू सम-चित्त होकर अनुभव कर—अर्थात् समचित्त होकर विचार करेगा, तो तुझे मालूम पड़ेगा कि शरीरमें रहने वाला आत्माही शुद्ध निश्चय नयकी दृष्टिसे देव है—आराध्य है। और इस तरह कोईभी देहधारी तिरस्कारके योग्य नहीं है।'

णिस्संगो चेव सदा कसायसल्लेहणं कुणदि भिक्खू ।
संगा हु उदीरंति कसाए अग्गीव कट्ठाणि ॥

—शिवार्य ।

'परिग्रह-रहित साधुही सदा कषायोंके कृश करनेमें समर्थ होता है-परिग्रही नहीं; क्योंकि परिग्रह ही वास्तव में कषायोंको उत्पन्न करते तथा बढ़ाते हैं, जैसे कि सूखी लकड़ियाँ अग्निकी उत्पत्ति एवं वृद्धि में सहायक होती हैं।'

जो अहिलसेदि पुण्णं सकसाओ विसयसोक्खतण्हाए ।
दूरे तस्स विसोही विसोहिमूलाणि पुण्णाणि ॥

—स्वामिकार्तिकेय ।

'जो मनुष्य कषायवशवर्ती हुआ विषय-सौख्य की तृष्णा से—अधिकाधिक विषय—सुख की प्राप्तिके लिये— पुण्य कर्म करना चाहता है उसके विशुद्ध-चित्त की शुद्धि-नहीं बनती और जब विशुद्धही नहीं बनती तब पुण्य-कर्म कहाँ से बन सकता है? क्योंकि पुण्य कर्मो का मूल कारण चित्त शुद्धि है।'

संस्कृत—

मामपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः ।
मां प्रपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः ॥

—पूज्यपादाचार्य ।

'यह अज्ञ जगत् जो मुझे—मेरे शुद्ध स्वरूप को—देखता-जानता ही नहीं, मेरा शत्रु नहीं है और न मित्र है—अपरिचित व्यक्ति के साथ शत्रुता-मित्रता बन नहीं सकती। और यह ज्ञानी लोक जो मुझे—मेरे आत्मस्वरूप को—भले प्रकार देखता-जानता है, मेरा शत्रु नहीं है और न मित्र है— हो नहीं सकता; क्योंकि आत्मा का दर्शन होने पर राग द्वेषादिका नाश होजाता है और राग द्वेषादिके अभाव में शत्रुता-मित्रता बनती नहीं। इस तरह न मैं किसीका शत्रु-मित्र हूँ और न मेरा कोई शत्रु-मित्र है।

कियतो मारयिष्यामि दुर्जनान् गगनोपमान् ।
मारिते क्रोधचित्ते तु मारिताः सर्वशत्रवः ॥

—बोधिचर्यावतार ।

'अपकार करनेवाले कितने दुर्जनोंको मैं मार सकूँगा? दुर्जन तो अनन्त आकाशकी तरह सर्वत्र व्याप्त हो रहे है। हाँ, यदि मैं अपने चित्त की क्रोध परिणतिको मार डालूँ—क्रोध शत्रु पर विजय प्राप्त करलूँ—तो सारे शत्रु स्वयमेव ही मर जायेंगे—; क्योंकि उनके अपकारकी गणना न करते हुये क्षमा धारण करने से बैर असंभव हो जायगा, बैर के असम्भव हो जाने से शत्रुता नहीं रहेगी और शत्रुता का न रहना ही शत्रुओं का मरण है।'

"विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एवधीराः।"

—कालिदास ।

'विकार का कारण उपस्थित होने पर, जिनके चित्तों में विकार नहीं आता—जो राग, द्वेष, मोह और शोकादिके वशीभूत नहीं होते—वे ही वास्तव में धीर-वीर हैं।

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्च रति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति ॥

—भगवद्गीता ।

'जो मनुष्य सर्व कामनाओं का परित्याग कर निःस्पृह-निरिच्छ होकर रहता है और अहंकार ममकार जिसके पास नहीं फटकते, वही सुख-शान्तिको प्राप्त करता है—शेष सब अशान्तिके ही शिकार बने रहते हैं।'

हेयोपादेयविज्ञानं नोचेद् व्यर्थः श्रमः श्रुतौ ।

—वादीभसिंहाचार्य ।

'यदि शास्त्रों को पढ़कर हेयोपादेय का विज्ञान प्राप्त नहीं हुआ—यह भले प्रकार समझ नहीं पड़ा कि किसमें आत्माका हित है और किसमें अहित है—तो उस सारे ही सुताभ्यास के परिश्रमको व्यर्थ समझना चाहिये।'

कोऽन्धो योऽकार्यरतः को वधिरो यः शृणोति न हितानि ।
को मूको यः काले प्रियाणि वक्तुं न जानाति ॥

—अमोघवर्ष ।

'अन्धा कौन है? जो न करने योग्य बुरे कामोंके करनेमें लीन रहता है। बहरा कौन है? जो हितकी बातें नहीं सुनता। और गूंगा कौन है? जो समय पर मधुर भाषण करना—प्रिय वचन बोलना—नहीं जानता।'
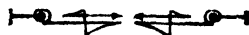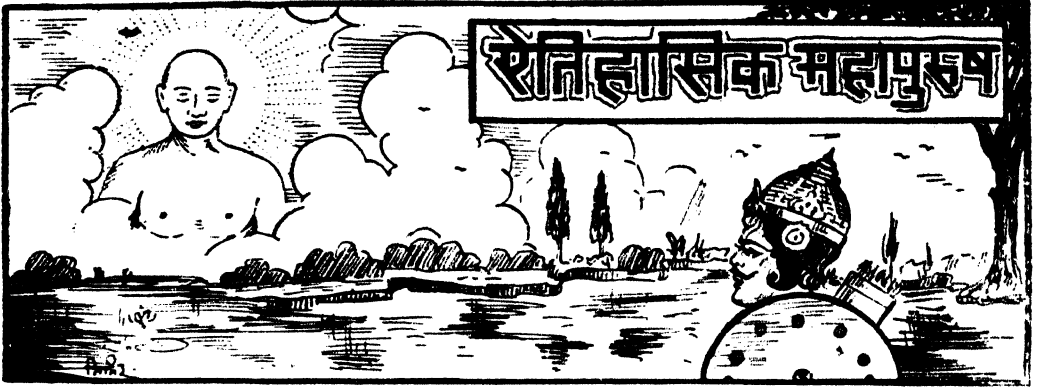
भगवान् महावीरका सेवामय जीवन और

सर्वोपयोगी मिशन

[ले० स्वर्गीय श्री० वाड़ीलाल मोतीलाल शाह]

[भ० महावीर का निर्वाण हुये २४६५ वर्ष बीत गये। उस वक्त से बराबर ही हम हरसाल दीपावली पर उनका निर्वाणोत्सव मनाते आरहे हैं। इस अवसर पर हम केवल पूजा करके जय जयकार बोलकर और लड्डू चढ़ाकर ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं, और इस बात की ज़रूरत नहीं देखते कि भगवान् के जीवन पर कुछ गहरा विचार करें और उससे कोई शिक्षा भी ग्रहण करें! इसीसे हमारे जीवन में कोई प्रगति नहीं हो रही है और हम जहाँ के तहाँ ही नहीं पड़े हैं बल्कि यांत्रिकचरित्रके अधिक अभ्यास द्वारा अथवा जड़ मशीनों की तरह कार्य करते रहनेसे जड़ और पतित तक होते जारहे हैं। ज़रूरत है ऐसे अवसरों पर खास तौर से भ० महावीर के सेवामय जीवन और सर्वोपकारी मिशन पर विचार करने की तथा उसे अपने जीवनमें उतारनेकी। ऐसा करकेही हम भ० महावीर के सच्चे भक्त कहला सकते हैं और अपना तथा लोक का हित साधन कर सकते हैं। इस संबन्धमें अर्सा हुआ श्रीयुत स्वर्गीय भाई वाड़ीलाल मोतीलालजी शाह ने एक महत्वका भाषण प्रार्थना समाज बंबई के वार्षिकोत्सव पर दिया था और वह उस समय जैनकान्फ्रेन्स हेरल्ड तथा जैनहितैषी में प्रकट हुआ था। इस अवसर के लिये उसे बहुत ही उपयुक्त समझ कर यहाँ उद्धृत किया जाता है। आशा है पाठक जन इससे यथेष्ट लाभ उठायेंगे।

—सम्पादक]

जातिभेद, अज्ञानमूलक, क्रियाओं और वहमोंको देशसे निकाल बाहर करनेके लिए जिस महावीर नामक महान् सुधारक और विचारकने तीस वर्ष तक उपदेश दिया था वह उपदेश प्रत्येक देश, प्रत्येक समाज और प्रत्येक व्यक्तिका उद्धार करनेके लिए समर्थ है। परन्तु धर्मगुरुओं या पण्डितोंकी अज्ञानता और श्रावकोंकी अन्धश्रद्धाके कारण आज वे महावीर और वह जैनधर्म अनादृत हो रहा है। सायंस का हिमायती, सामान्यबुद्धि (Common Sense) को विकसित करनेवाला, अन्तःशक्ति को प्रकाशित करनेकी चाबी देनेवाला, प्राणिमात्रको बन्धुत्वकी साँकलसे जोड़नेवाला, आत्मबल अथवा स्वात्मसंश्रयका पाठ सिखलाकर रोवनी और कर्मवादिनी दुनिया को जवाँमर्द तथा कर्मवीर बनानेवाला, एक नहीं किन्तु पच्चीस दृष्टियों से प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक घटना पर विचार करनेकी विशाल-

दृष्टि अर्पण करनेवाला और अपने लाभको छोड़कर दूसरोंका हित साधन करनेकी प्रेरणा करनेवाला—इस तरहका अतिशय उपकारी व्यावहारिक (Practical) और सीधासादा महावीरका उपदेश भले ही आज जैनसमुदाय समझने का प्रयत्न न करे, परन्तु ऐसा समय आरहा है कि वह प्रार्थनासमाज, ब्रह्मसमाज, थियोसोफिकल सुसाइटी और यूरोप अमेरिकाके संशोधकोंके मस्तक में अवश्य निवास करेगा।

सारे संसारको अपना कुटुम्ब माननेवाले महावीर गुरुका उपदेश न पक्षपाती है और न किसी खास समूहके लिए है। उनके धर्मको 'जैनधर्म' कहते हैं, परन्तु इसमें 'जैन' शब्द केवल 'धर्म' का विशेषण है। जड़भाव, स्वार्थबुद्धि, संकुचित दृष्टि, इन्द्रियपरता, आदि पर जय प्राप्त करानेकी चाबी देनेवाला और इस तरह संसारमें रहते हुए भी अमर और आनन्दस्वरूप तत्त्वका स्वाद चखानेवाला जो उपदेश है उसीको जैनधर्म कहते हैं और यही महावीरोपदेशित धर्म है। तत्त्ववेत्ता महावीर इस रहस्यसे अपरिचित नहीं थे कि वास्तविक धर्म, तत्त्व, सत्य अथवा आत्मा काल, क्षेत्र, नाम आदिके बन्धन या मर्यादाको कभी सहन नहीं कर सकता और इसीलिए उन्होंने कहा था कि "धर्म उत्कृष्ट मंगल है और धर्म और कुछ नहीं अहिंसा, संयम और तपका एकत्र समावेश है।" उन्होंने यह नहीं कहा कि 'जैनधर्म ही उत्कृष्ट मङ्गल है' अथवा 'मैं जो उपदेश देता हूँ वही उत्कृष्ट मंगल है।' किन्तु अहिंसा (जिसमें दया, निर्मल प्रेम, भ्रातृभावका समावेश होता है) संयम (जिससे मन और इन्द्रियोंको वशमें रख कर आत्मरमणता प्राप्त की जाती है) और तप (जिसमें परसेवाजन्य श्रम, ध्यान और अध्ययनका समावेश होता है) इन तत्त्वोंका एकत्र समावेश ही धर्म अथवा जैनधर्म है और वही मेरे शिष्योंको तथा सारे संसारको ग्रहण करना चाहिए, यह जताकर उन्होंने इन तीनों तत्त्वोंका उपदेश विद्वानोंकी संस्कृत भाषामें नहीं; परन्तु उस समय की जनसाधारणकी भाषामें प्रत्येकवर्णके स्त्री पुरुषोंके सामने दिया था और जातिभेदको तोड़कर क्षत्रिय महाराजाओं, ब्राह्मण पण्डितों और अधमसे अधम गिने जानेवाले मनुष्योंको भी जैन बनाया था तथा स्त्रियोंके दर्जेको भी ऊँचा उठाकर वास्तविक सुधार की नींव डाली थी। उनके 'मिशन' अथवा 'संघ' में पुरुष और स्त्रियाँ दोनों हैं और स्त्री-उपदेशिकायें पुरुषोंके सामने भी उपदेश देतीं हैं। इन बातोंसे साफ़ मालूम होता है कि महावीर किसी एक समूह के गुरु नहीं, किन्तु सारे मनुष्य समाज के सार्वकालिक गुरु हैं और उनके उपदेशों में से वास्तविक सुधार और देशोन्नति हो सकती है। इसलिए इस सुधारमार्गके शोधक समय को और देशको तो यह धर्म बहुत ही उपयोगी और उपकारी है। इसलिए केवल श्रावक कुल में जन्मे हुए लोगों में ही छुपे हुए इस धर्म रत्नको यत्न-पूर्वक प्रकाश में लानेकी बहुतही आवश्यकता है।

प्राचीन समय में इतिहास इतिहासकी दृष्टि से शायद ही लिखे जाते थे। श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदाय के जुदा-जुदा ग्रन्थों से, पाश्चात्य विद्वानों की पुस्तकों से तथा अन्यान्य साधनों से महावीर-चरित्र तैय्यार करना पड़ेगा। किसी

भी सूत्र में या ग्रन्थ में महावीर भगवान् का पूरा जीवन चरित नहीं है और जुदा-जुदा ग्रन्थकारों का मतभेद भी है। उस समय दन्त कथायें, अतिशयोक्तियुक्त चरित और सूक्ष्म बातों को स्थूल रूप में बतलानेके लिये उपमामय वर्णन लिखने की अधिक पद्धति थी और यह पद्धति केवल जैनोंमें ही नहीं, किन्तु ब्राह्मण, ईसाई आदि के सभी ग्रन्थों में दिखलाई देती है। इसलिए यदि आज कोई पुरुष पूर्वके किसी महापुरुषका बुद्धिगम्य चरित लिखना चाहे तो उसके लिए उपर्युक्त स्थूल वर्णनों, दन्तकथाओं और भक्तिवश लिखी हुई आश्चर्यजनक बातों में से खोज करके वास्तविक मनुष्य-चरित लिखनेका—यह बतलाने का कि अमुक महात्मा किस प्रकार और कैसे कामोंसे उत्क्रान्त होते गये और उनकी उत्क्रान्ति जगत् को कितनी लाभदायक हुई—काम बहुत ही जोखिमका है।

मगध देशके कुण्डग्रामके राजा सिद्धार्थकी रानी त्रिशलादेवीके गर्भसे महावीरका जन्म ई० स० से ५२८ वर्ष (?) पहले हुआ। श्वेताम्बर ग्रन्थकर्ता कहते हैं कि पहले वे एक ब्राह्मणी के गर्भ में आयेथे; परन्तु पीछे देवताने उन्हें त्रिशला क्षत्रियाणीके गर्भमें लादिया! इस बातको दिगम्बरग्रन्थकर्ता स्वीकार नहीं करते। ऐसा मालूम होता है कि ब्राह्मणों और जैनोंके बीच जो पारस्परिक स्पर्धा बढ़ रही थी, उसके कारण बहुत से ब्राह्मण विद्वानोंने जैनोंको और बहुत से जैनाचार्योंने ब्राह्मणोंको अपने अपने ग्रन्थों में अपमानित करनेके प्रयत्न किये हैं। यह गर्भसंक्रमण की कथा भी उन्हीं प्रयत्नोंमें का एक उदाहरण जान पड़ता है। इससे यह सिद्ध किया गया है कि ब्राह्मणकुल महापुरुषों के जन्म लेने के योग्य नहीं है। इस कथा का अभिप्राय यह भी हो सकता है कि महावीर पहले ब्राह्मण और पीछे क्षत्रिय बने, अर्थात् पहले ब्रह्मचर्यकी रक्षापूर्वक शक्तिशाली विचारक (Thinker) बने, पूर्व भवों में धीरे-धीरे विचार-बलको बढ़ाया—ज्ञानयोगी बने और फिर क्षत्रिय अथवा कर्मयोगी—संसार के हित के लिए स्वार्थ त्याग करनेवाले वीर बने।

बालक महावीर के पालन पोषण के लिये पाँच प्रवीण धायें रक्खी गई थीं और उनके द्वारा उन्हें बचपन से वीररस के काव्यों का शौक़ लगाया गया था। दिगम्बरों की मानता के अनुसार उन्होंने आठवें वर्ष श्रावकके बारह व्रत अंगीकार किये और जगत् के उद्धार के लिये दीक्षा लेने के पहले उद्धार की योजना हृदयंगत करने का प्रारम्भ इतनी ही उम्र से कर दिया। अभिप्राय यह कि वे बाल ब्रह्मचारी रहे। श्वेताम्बरी कहते हैं कि उन्होंने ३२ वर्ष की अवस्था तक इन्द्रियों के विषय भोगे—ब्याह किया, पिता बने और उत्तम प्रकार का गृहवास (जलकमलवत्) किस प्रकार से किया जाता है इसका एक उदाहरण वे जगतके समक्ष उपस्थित कर गये। जब दीक्षा लेनेकी इच्छा प्रकटकी तब माता-पिता को दुःख हुआ, इससे वे उनके स्वर्गवास तक गृहस्थाश्रम में रहे। २८ वें वर्ष दीक्षा की तैयारी की गई किन्तु बड़े भाईने रोक दिया। तब दो वर्ष तक और भी गृहस्थाश्रम में ही ध्यान तप आदि करते हुए रहे। अन्तिम वर्षमें श्वेताम्बर ग्रन्थों के अनुसार करोड़ों रुपयों का दान दिया। महावीर भगवान् का दान और दीक्षा में विलम्ब ये दो बातें बहुत विचारणीय हैं। दान, शील, तप और भावना इन चार मार्गों में से पहला मार्ग सबसे सहज है। अँगुलियों के निर्जीव नखों के काट डालने के समान ही 'दान' करना सहज है। कच्चे नख के काटनेके समान 'शील' पालना है। अँगुली काटने के समान 'तप' है और सारे शरीर पर से स्वत्व उठाकर आत्माको उसके प्रेक्षकके समान तटस्थ बना देना 'भावना' है। यह सबसे कठिन है। इन चारों का क्रमिक रहस्य अपने दृष्टान्त से स्पष्ट कर देने के लिए भगवानने पहले दान किया, फिर संयम अङ्गीकार किया और

संयम की ओर लौ लग गई थी, तो भी गुरुजनों की आज्ञा जब तक न मिली, तब तक बाह्य त्याग नहीं लिया। वर्तमान जैनसमाज इस पद्धति का अनुकरण करे तो बहुत लाभहो।

३० वर्षकी उम्रमें भगवान् ने जगदुद्धार की दीक्षा ली और अपने हाथसे केशलोंच किया। अपने हाथोंसे अपने बाल उखाड़नेकी क्रिया आत्माभिमुखी दृष्टि की एक कसौटी है। प्रसिद्ध उपन्यास लेखिका मेरी कोरेलीके 'टेम्पोरलपावर' नामक रसिकग्रन्थ में जुल्मी राजाको सुधारनेके लिए स्थापितकी हुई एक गुप्तमण्डलीका एक नियम यह बतलाया गया है कि मण्डली का सदस्य एक गुप्त स्थान में जाकर अपने हाथ की नसमें तलवार के द्वारा खून निकालता था और फिर उस खून से वह एक प्रतिज्ञापत्र में हस्ताक्षर करता था! जो मनुष्य ज़रासा खून गिराने में डरता हो वह देश रक्षा के महान् कार्य के लिये अपना शरीर अर्पण कदापि नहीं कर सकता। इसी तरह जो पुरुष विश्वोद्धार के 'मिशन' में योग देना चाहता हो उसे आत्मा और शरीर का भिन्नत्व इतनी स्पष्टता के साथ अनुभव करना चाहिये कि बाल उखाड़ते समय ज़रा भी कष्ट न हो। जब तक मनोबलका इतना विकास न हो जाय, तब तक दीक्षा लेने से जगत का शायदही कुछ उपकार होसके।

महावीर भगवान् पहले १२ वर्ष तक तप और ध्यान ही में निमग्न रहे। उनके किये हुये तप उनके आत्मबलका परिचय देते हैं। यह एक विचारणीय बात है कि उन्होंने तप और ध्यान के द्वारा विशेष योग्यता प्राप्त करनेके बाद ही उपदेश का कार्य हाथ में लिया। जो लोग केवल 'सेवा करो,—'सेवा करो' की पुकार मचाते हैं उनसे जगत् का कल्याण नहीं हो सकता। सेवा का रहस्य क्या है, सेवा कैसे करना चाहिये, जगत के कौन-कौन कामों में सहायता की आवश्यकता है, थोड़े समय और थोड़े परिश्रम से अधिक सेवा कैसे हो सकती है, इन सब बातों का जिन्होंने ज्ञान प्राप्त नहीं किया—अभ्यास नहीं किया, वे लोग सम्भव है कि लाभ के बदले हानि करनेवाले हो जाँय। 'पहले ज्ञान और शक्ति प्राप्त करो, पीछे सेवा के लिए तत्पर होओ' तथा 'पहले योग्यता और पीछे सार्वजनिक कार्य' ये अमूल्य सिद्धान्त भगवान् के चरित से प्राप्त होते हैं। इन्हें प्रत्येक पुरुष को सीखना चाहिए।

योग्यता सम्पादन करनेके बाद भगवानने लगातार ३० वर्षों तक परिश्रम करके अपना 'मिशन' चलाया। इस 'मिशन' को चिरस्थायी बनानेके लिए उन्होंने 'श्रावक-श्राविका' और 'साधु-साध्वियों' का संघ या स्वयंसेवक मण्डल बनाया। क्राइस्ट के जैसे १२ एपास्टल्स थे, वैसे उन्होंने ११ गणधर बनाये और उन्हें गण अथवा गुरुकुलों की रक्षाका भार दिया। इन गुरुकुलों में ४२०० मुनि, १० हजार उम्मेदवार मुनि और ३६ हजार आर्यायें शिक्षा लेती थीं। उनके संघ में १५९००० श्रावक और ३००००० श्राविकायें थीं। रेल, तार, पोस्ट आदि साधनों के बिना तीस वर्ष में जिस पुरुषने प्रचार का कार्य इतना अधिक बढ़ाया था, उसके उत्साह, धैर्य, सहन शीलता, ज्ञान, वीर्य, तेज कितनी उच्चकोटि के होंगे इसका अनुमान सहज ही हो सकता है।

पहले पहल भगवानने मगधमें उपदेश दिया। फिर ब्रह्मदेश से हिमालय तक और पश्चिम प्रान्तों में उग्र विहार करके लोगोंके वहमोंको, अन्धश्रद्धाको, अज्ञानतिमिरको, इन्द्रियलोलुपताको और जड़वादको दूर किया। विदेहके राजा चेटक, अंगदेशके राजा शतानीक, राजगृहके राजा श्रेणिक और प्रसन्नचन्द्र आदि राजाओंके तथा बड़े बड़े धनिकों को अपना भक्त बनाया। जातिभेद और लिंगभेद का उन्होंने बहिष्कार किया। जंगली जातियोंके उद्धार के लिए भी उन्होंने उद्योग किया और उसमें अनेक कष्ट सहे।

महावीर भगवान ओटोमेटिक(Automatic) उपदेशक न थे, अर्थात् किसी गुरु की बतलाई

बातों या विधियों को पकड़े रहनेवाले (Conservative) कन्सरवेटिव पुरुष नहीं थे; किन्तु स्वतंत्र विचारक बनकर देशकाल के अनुरूप स्वांग में सत्य का बोध करनेवाले थे। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के उत्तराध्ययन सूत्र में जो केशी स्वामी और गौतम स्वामी की शान्त-कान्फरेंसका वर्णन दिया है, उससे मालूम होता है कि उन्होंने पहले तीर्थंकरकी बाँधी हुई विधिव्यवस्था में फेरफार करके उसे नया स्वरूप दिया था। इतना ही नहीं, उन्होंने उच्च श्रेणीके लोगों में बोली जानेवाली संस्कृत भाषा में नहीं, किन्तु साधारण जनता की मागधी भाषा में अपना उपदेश दिया था। इस बातसे हम लोग बहुत कुछ सीख सकते हैं। हमें अपने शास्त्र, पूजा पाठ, सामायिकादि के पाठ, पुरानी, साधारण लोगों के लिये दुर्बोध भाषा में नहीं किन्तु उनके रूपान्तर, मूलभाव क़ायम रखके वर्तमान बोलचाल की भाषाओं में, देशकालानुरूप कर डालना चाहिए।

महावीर भगवान् का ज्ञान बहुत ही विशाल था। उन्होंने षड्द्रव्यके स्वरूपमें सारे विश्वकी व्यवस्था बतला दी है। शब्दका वेग लोकके अन्त तक जाता है, इसमें उन्होंने बिना कहे ही टेलीग्राफी समझा दी है। भाषा पुद्गलात्मका होती है, यह कह कर टेलीफोन और फोनोग्राफ के आविष्कारकी नींव डाली है। मल, मूत्र आदि १४ स्थानों में सूक्ष्मजीव उत्पन्न हुआ करते हैं, इसमें छूत के रोगों का सिद्धान्त बतलाया है। पृथ्वी, वनस्पति आदिमें जीव है, उनके इस सिद्धान्तको आज डाक्टर बसुने सिद्ध कर दिया है। उनका अध्यात्मवाद और स्याद्वाद वर्तमान के विचारकों के लिए पथप्रदर्शक का काम देनेवाला है। उनका बतलाया हुआ लेश्याओं का और लब्धियों का स्वरूप वर्तमान थिओसोफिस्टों की शोधों से सत्य सिद्ध होता है। पदार्थविज्ञान, मानसशास्त्र और अध्यात्मके विषयमें भी अढाई हज़ार वर्ष पहले हुए महावीर भगवान् कुशल थे। वे पदार्थ-विज्ञान को मानसशास्त्र और अध्यात्मशास्त्र के ही समान धर्मप्रभावनाका अंग मानते थे। क्योंकि उन्होंने जो आठ प्रकारके प्रभावक बतलाये हैं उनमें विद्या-प्रभावकों का अर्थात् साइन्सके ज्ञान से धर्मकी प्रभावना करनेवालोंका भी समावेश होता है।

भगवान्‌का उपदेश बहुत ही व्यवहारी (प्राक्टिकल) है और वह आज कलके लोगों की शारीरिक, नैतिक, हार्दिक, राजकीय और सामाजिक उन्नतिके लिये बहुत ही अनिवार्य जान पड़ता है। जो महावीर स्वामीके उपदेशों का रहस्य समझता है वह इस वितंडावाद में नहीं पड़ सकता कि अमुक धर्म सच्चा है और दूसरे सब झूठे हैं। क्योंकि उन्होंने स्याद्वादशैली बतलाकर नयनिक्षेपादि २५ दृष्टियोंसे विचार करने की शिक्षा दी है। उन्होंने द्रव्य (पदार्थ प्रकृति) क्षेत्र (देश), काल (ज़माना) और भाव इन चारोंको अपने उपदेशमें आदर किया है। ऐसा नहीं कहा कि 'हमेशा ऐसा ही करना, दूसरी तरहसे नहीं।' मनुष्यात्मा स्वतंत्र है, उसे स्वतंत्र रहने देना—केवल मार्गसूचन करके और अमुक देश कालमें अमुक रीतिसे चलना अच्छा होगा, यह बतलाकर उसे अपने देश कालादि संयोगोंमें किस रीतिसे बर्ताव करना चाहिये, यह सोच लेनेकी स्वतंत्रता दे देना—यही स्याद्वादशैलीके उपदेशकका कर्तव्य है। भगवानने दशवैकालिक सूत्रमें सिखलाया है कि खाते-पीते, चलते, काम करते, सोते हुए हर समय यत्नाचार पालो, अर्थात् "Work with attentiveness or balanced mind" प्रत्येक कार्यको चित्तकी एकाग्रता पूर्वक—समतोलवृत्तिपूर्वक करो। कार्यकी सफलताके लिए इससे अच्छा नियम कोई भी मानसतत्त्वज्ञ नहीं बतला सकता। उन्होंने पवित्र और उच्च जीवनकी पहली सीढ़ी न्यायोपार्जित द्रव्य प्राप्त करनेकी शक्ति को बतलाया है और इस शक्तिसे युक्त जीवको

'मार्गानुसारी' कहा है। इसके आगे 'श्रावक' वर्ग बतलाया है, जिसे बारह व्रत पालन करने पड़ते हैं और उससे अधिक उत्क्रान्त—उन्नत हुए लोगों के लिए सम्पूर्ण त्यागवाला 'साधु—आश्रम' बतलाया है। देखिए, कैसी सुगम स्वाभाविक और प्राक्टिकल योजना है। श्रावक के बारह व्रतों में सादा, मितव्ययी और संयमी जीवन व्यतीत करने की आज्ञा दी है। एक व्रत में स्वदेशरक्षाका गुप्त मन्त्र भी समाया हुआ है, एक व्रत में सबसे बन्धुत्व रखनेकी आज्ञा है, एक व्रतमें ब्रह्मचर्यपालन (स्वस्त्रीसन्तोष) का नियम है, जो शरीरबल की रक्षा करताहै, एक व्रत बालविवाह, वृद्धविवाह और पुनर्विवाहके लिए खड़े होनेको स्थान नहीं देता है, एक व्रत जिससे आर्थिक, आत्मिक या राष्ट्रीय हित न होता हो ऐसे किसी भी काम में, तर्क वितर्क में, अपध्यान में, चिन्ता उद्वेग और शोक में, समय और शरीरबलके खोनेका निषेध करता है और एक व्रत आत्मा में स्थिर रहने का अभ्यास डालने के लिए कहता है। इन सब व्रतोंका पालन करनेवाला श्रावक अपनी उत्क्रान्ति और समाज तथा देशकी सेवा बहुत अच्छी तरह कर सकता है।

जब भगवान् की आयु में ७ दिन शेष थे तब उन्होंने अपने समीप उपस्थित हुए बड़े भारी जन समूह के सामने लगातार ६ दिन तक उपदेश की अखण्डधारा बहाई और सातवें दिन अपने मुख्य शिष्य गौतम ऋषि को जान बूझकर आज्ञा दी कि तुम समीप के गाँवों में धर्मप्रचारके लिए जाओ, जब महावीर का मोक्ष हो गया, तब गौतम ऋषि लौटकर आये। उन्हें गुरु-वियोग से शोक होने लगा। पीछे उन्हें विचार हुआ कि "अहा मेरी यह कितनी बड़ी भूल है! भला, महावीर भगवान् को ज्ञान और मोक्ष किसने दिया था? मेरा मोक्ष भी मेरे ही हाथ में है। फिर उसके लिए व्यर्थ ही क्यों अशान्ति भोगूं?" इस पौरुष या मर्दानगी से भरे हुये विचार से—इस स्वावलम्बन की भावनासे उन्हें कैवल्य प्राप्त हो गया और देवदुन्दुभि बज उठे! "तुम अपने पैरों पर खड़े रहना सीखो, तुम्हें कोई दूसरा सामाजिक, राजकीय या आत्मिक मोक्ष नहीं दे सकता, तुम्हारा हर तरहका मोक्ष तुम्हारे ही हाथमें है।" यह महामंत्र महावीर भगवान् अपने शिष्य गौतमको शब्दोंसे नहीं, किन्तु बिना कहे सिखला गये और इसी लिए उन्होंने गौतमको बाहर भेज दिया था। समाजसुधारकोंको, देशभक्तों और आत्ममोक्षके अभिलाषियोंको यह मंत्र अपने प्रत्येक रक्तबिन्दुके साथ प्रवाहित करना चाहिए।

महावीर भगवानके उपदेशोंका विस्तृत विवरण करनेके लिए महीनों चाहिए। उन्होंने प्रत्येक विषयका प्रत्यक्ष और परोक्षरीतिसे विवेचन किया है। उनके उपदेशोंका संग्रह उनके बहुत पीछे देवर्धिगणिने—जो उनके २७ वें पट्टमें हुए हैं—किया है और उसमें भी देशकाल लोगोंकी शक्ति वगैरहका विचार करके कितनी ही तात्त्विक बातों पर स्थूल अलंकारोंकी पोशाक चढ़ा दी है जिससे इस समय उनका गुप्त भाव अथवा Mysticism समझनेवाले पुरुष बहुत ही थोड़े हैं। इन गुप्त भावोंका प्रकाश उसी समय होगा जब कुशाग्रबुद्धिवाले और आत्मिक आनन्दके अभिलाषी सैकड़ों विद्वान् साइन्स, मानसशास्त्र, दर्शनशास्त्र आदिकी सहायतासे जैनशास्त्रोंका अभ्यास करेंगे और उनके छुपे हुए तत्त्वोंकी खोज करेंगे। जैनधर्म किसी एक वर्ण या किसी एक देशका धर्म नहीं; किन्तु सारी दुनियाके सारे लोगोंके लिए स्पष्ट किये हुए सत्योंका संग्रह है। जिस समय देशविदेशोंके स्वतंन्त्र विचारशाली पुरुषोंके मस्तक इसकी ओर लगेंगे, उसी समय इस पवित्र जैनधर्मकी जो इस के जन्मसिद्ध ठेकेदार बने हुए लोगोंके हाथसे मिट्टी पलीद हो रही है वह बन्द होगी और तभी यह विश्वका धर्म बनेगा।

अनेकान्त के नियम

1. अनेकान्तका वार्षिक मूल्य ३।।) रु० पेशगी है। वी० पी० से मंगाने पर तीन आने रजिस्ट्रीके अधिक देने पड़ते हैं। साधारण १ प्रतिका मूल्य चार आना और इस नव-वर्षाङ्कका मूल्य बारह आना है।
2. अनेकान्त प्रत्येक इंग्रेजी माहकी प्रथम तारीखको प्रकाशित हुआ करेगा।
3. अनेकान्तके एक वर्षसे कमके ग्राहक नहीं बनाये जाते। ग्राहक प्रथम किरणसे १२ वीं किरण तकके ही बनाये जाते हैं। एक वर्ष के बीचकी किसी किरणसे दूसरे वर्षकी उस किरण तक नहीं बनाये जाते। अनेकान्तका नवीन वर्ष दीपावलीसे प्रारम्भ होता है।
4. पता बदलनेकी सूचना ता० २० तक कार्यालय में पहुंच जानी चाहिये। महिने-दो महिनेके लिये पता बदलवाना हो तो अपने यहाँके डाकघरको ही लिखकर प्रबन्ध करलेना चाहिये। ग्राहकोंको पत्र व्यवहार करते समय उत्तरके लिये पोस्टेज खर्च भेजना चाहिये। साथ ही अपना ग्राहक नम्बर और पताभी स्पष्ट लिखना चाहिये, अन्यथा उत्तर-के लिये कोई भरोसा नहीं रखना चाहिये।
5. कार्यालयसे अनेकान्त अच्छी तरह जाँच करके भेजा जाता है। यदि किसी मासका अनेकान्त ठीक समय पर न मिले तो, अपने डाकघरसे लिखा पढ़ी करनी चाहिये। वहाँसे जो उत्तर मिले, वह अगली किरण प्रकाशित होनेसे सात रोज़ पूर्व तक कार्यालयमें पहुँच जाना चाहिये। देर होनेसे, डाकघरका जवाब शिकायती पत्रके साथ न आनेसे, दूसरी प्रति बिना मूल्य मिलनेमें बड़ी अड़चन पड़ेगी।
6. अनेकान्तका मूल्य और प्रबन्ध सम्बन्धी पत्र किसी व्यक्ति विशेषका नाम न लिखकर निम्न पतेसे भेजना चाहिये।

व्यवस्थापक "अनेकान्त"
कनॉट सर्कस पो० ब० नं० ४८ न्यू देहली

प्रार्थनाएँ

१. "अनेकान्त" किसी स्वार्थ बुद्धिसे प्रेरित होकर अथवा आर्थिक उद्देश्यको लेकर नहीं निकाला जाता है, किन्तु वीरसेवामन्दिरके महान उद्देश्योंको सफल बनाते हुए लोकहितको साधना तथा सच्ची सेवा बजाना ही इस पत्र-का एक मात्र ध्येय है। अत: सभी सज्जनों को इसकी उन्नतिमें सहायक होना चाहिये।

२. जिन सज्जनोंको अनेकान्तके जो लेख पसन्द आयें, उन्हें चाहिये कि वे जितने भी अधिक भाइयोंको उसका परिचय करा सकें ज़रूर करायें।

३. यदि कोई लेख अथवा लेखका अंश ठीक मालूम न हो, अथवा धर्मविरुद्ध दिखाई दे, तो महज़ उसीकी वजहसे किसीको लेखक या सम्पादकसे द्वेष-भाव न धारण करना चाहिये, किन्तु अनेकान्त-नीतिकी उदारतासे काम लेना चाहिये और हो सके तो युक्ति-पुरस्सर संयत भाषामें लेखकको उसकी भूल सुझानी चाहिये।

४. "अनेकान्त" की नीति और उद्देश्यके अनुसार लेख लिखकर भेजनेके लिये देश तथा समाजके सभी सुलेखकोंको आमन्त्रण है।

५. "अनेकान्त" को भेजे जाने वाले लेखादिक क़ागज़ की एक ओर हाशिया छोड़कर सुवाच्य अक्षरोंमें लिखे होने चाहियें। लेखोंको घटाने, बढ़ाने, प्रकाशित करने न करने, लौटाने न लौटानेका सम्पूर्ण अधिकार सम्पादकको है। अस्वीकृत लेख वापिस मँगानेके लिये पोस्टेज खर्च भेजना आवश्यक है। लेख निम्न पतेसे भेजना चाहिये :—

जुगलकिशोर मुख्तार
सम्पादक अनेकान्त
सरसावा जि० सहारनपुर

Regd. No. L. 4328

Regd. No. L. 4328

विषय-सूची

पृष्ठ

अनेकान्त के नियम

१. अनेकान्तका वार्षिक मूल्य २॥) रु० पेशगी है। वी० पी० से मंगाने पर तीन आने रजिस्ट्रीके अधिक देने पड़ते हैं। साधारण १ प्रतिका मूल्य चार आना है।

२. अनेकान्त प्रत्येक इंग्रेजी माहकी प्रथम तारीखको प्रकाशित हुआ करेगा।

३. अनेकान्तके एक वर्षसे कमके ग्राहक नहीं बनाये जाते। ग्राहक प्रथम किरणसे १२वीं किरण तकके ही बनाये जाते हैं। एक वर्षके बीचकी किसी किरणसे दूसरे वर्षकी उस किरण तक नहीं बनाये जाते। अनेकान्तका नवीन वर्ष दीपावलीसे प्रारम्भ होता है।

४. अनेकान्तको भेजे जाने वाले लेखादिक कागज़की एक ओर हाशिया छोड़कर सुवाच्य अक्षरोंमें लिखे होने चाहियें। लेखोंको घटाने, बढ़ाने, प्रकाशित करने या न करने और लौटाने या न लौटानेका सम्पूर्ण अधिकार सम्पादकको है। अस्वीकृत लेख पोस्टेज टिकिट आने पर ही वापिस किये जा सकेंगे।

५. सब तरहका पत्र व्यवहार इस पतेसे करना चाहिये।

व्यवस्थापक "अनेकान्त"

कनॉट सर्कस, पो० ब० नं० ४८ न्यू देहली।

प्रार्थनाएँ

१. 'अनेकान्त" किसी स्वार्थ बुद्धिसे प्रेरित होकर अथवा आर्थिक उद्देश्यको लेकर नहीं निकाला जाता है, किन्तु वीरसेवामन्दिरके महान उद्देश्योंको सफल बनाते हुए लोकहितको साधना तथा सच्ची सेवा बजाना ही इस पत्रका एक मात्र ध्येय है। अतः सभी सज्जनोंको इसकी उन्नतिमें सहायक होना चाहिये।

२. जिन सज्जनोंको अनेकान्तके जो लेख पसन्द आयें, उन्हें चाहिये कि वे जितने भी अधिक भाइयोंको उसका परिचय करा सकें ज़रूर करायें।

३. यदि कोई लेख अथवा लेखका अंश ठीक मालूम न हो, अथवा धर्मविरुद्ध दिखाई दे, तो महज़ उसीकी वजहसे किसीको लेखक या सम्पादकसे द्वेष-भाव न धारण करना चाहिये, किन्तु अनेकान्त—नीतिकी उदारतासे काम लेना चाहिये और हो सके तो युक्ति पुरस्सर संयत भाषामें लेखकको उसकी भूल सुझानी चाहिये।

४. "अनेकान्त" की नीति और उद्देश्यके अनुसार लेख लिखकर भेजनेके लिये देश तथा समाजके सभी सुलेखोंको आमन्त्रण है।

—सम्पादक।

ॐ अर्हम्

नीति-विरोध-ध्वंसी लोक-व्यवहार-वर्त्तकः सम्यक् ।
परमागमस्य बीजं भुवनैकगुरुर्जयत्यनेकान्तः ॥

वर्ष २ | सम्पादन-स्थान—वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम), सरसावा जि० सहारनपुर
प्रकाशन-स्थान—कनॉट सर्कस पो० ब० नं० ४८ न्यू देहली
मार्गशीर्षशुक्ल, वीरनिर्वाण सं० २४६५, विक्रम सं० १९९५ | किरण २

समन्तभद्र-स्तवन

समन्तभद्रं सद्बोधं स्तुवे वरगुणालयम् ।
निर्मलं यद्यशष्कान्तं बभूव भुवनत्रयम् ॥
—जिनशतकटीकायां, नरसिंहभट्टः ।

उन स्वामी समन्तभद्रका मैं स्तवन करता हूँ, जो सद्बोधरूप थे—सम्यग्ज्ञानकी मूर्ति थे—, श्रेष्ठ गुणोंके आवास थे—उत्तम गुणोंने जिन्हें अपना आश्रयस्थान बनाया था—, और जिनकी यशःकान्तिसे तीनों लोक अथवा भारतके उत्तर, दक्षिण और मध्य ये तीनों विभाग कान्तिमान थे—अर्थात् जिनका यशस्तेज सर्वत्र फैला हुआ था ।

समन्तभद्रो भद्रार्थो भातु भारतभूषणः ।
देवागमेन येनाऽत्र व्यक्तो देवागमः कृतः ॥
—पाण्डवपुराणे, शुभचन्द्राचार्यः ।

जिन्होंने, देवागम, नामक अपने प्रवचनके द्वारा देवागमको—जिनेन्द्रदेवके आगमको—इस लोकमें व्यक्त कर दिया है, वे भारतभूषण और एकमात्र भद्र-प्रयोजनके धारक श्रीसमन्तभद्र लोकमें प्रकाशमान् होवें—अर्थात् अपनी विद्या और गुणोंके आलोकसे लोगोंके हृदयान्धकारको दूर करनेमें समर्थ होवें।

यद्भारत्याः कविः सर्वोऽभवत्सज्ञानपारगः ।
तं कविनायकं स्तौमि समन्तभद्र-योगिनम् ॥

—चन्द्रप्रभचरिते, कविदामोदरः ।

जिनकी भारतीके प्रसादसे—ज्ञानभाण्डाररूप मौलिक कृतियोंके अभ्याससे—समस्त कविसमूह सम्यग्ज्ञानका पारगामी हो गया, उन कविनायक—नई नई मौलिक रचनाएँ करने वालोंके शिरोमणि-योगी श्री समन्तभद्रको मैं अपनी स्तुतिका विषय बनाता हूँ—वे मेरे स्तुत्य हैं, पूज्य हैं।

जीयात्समन्तभद्रोऽसौ भव्य-कैरव-चन्द्रमाः ।
दुर्वादि-वाद-कण्डूनां शमनैकमहौषधिः ॥

—हनुमच्चरित्रे, ब्रह्म अजितः ।

वे स्वामी समन्तभद्र जयवन्त हों—अपने ज्ञान तेजसे हमारे हृदयोंको प्रभावित करें—जो भव्य-रूपी कुमुदोंको प्रफुल्लित करनेवाले चन्द्रमा थे और दुर्वादियोंकी वादरूपी खाज (खुजली) को मिटानेके लिये अद्वितीय महौषधि थे—जिन्होंने कुवादियोंकी बढ़ती हुई वादाभिलाषाको ही नष्ट कर दिया था।

समन्तभद्रस्स चिराय जीयाद्वादीभ-वज्रांकुश-सूक्तिजालः ।
यस्य प्रभावात्सकलावनीयं वंध्यास दुर्वादुक-वार्त्तयाऽपि ॥

—श्रवणबेल्गोल-शिलालेख नं० १०५ ।

वे स्वामी समन्तभद्र चिरजयी हों—चिरकाल तक हमारे हृदयोंमें सविजय निवास करें—, जिनका सूक्तिसमूह—सुन्दर-प्रौढ युक्तियोंको लिए हुए प्रवचन—वादिरूपी हस्तियोंको वशमें करने के लिये वज्रांकुश का काम देता है और जिनके प्रभावसे यह सम्पूर्ण पृथ्वी एकबार दुर्वादकोंकी वार्तासे भी विहीन होगई थी—उनकी कोई बात भी नहीं करता था।

समन्तभद्रस्संस्तुत्यः कस्य न स्यान्मुनीश्वरः ।
वाराणसीश्वरस्याग्रे निर्जिता येन विद्विषः ॥

—तिरुमकूडलुनरसीपुर शि० लेख नं० १०५ ।

जिन्होंने वाराणसी (बनारस) के राजाके सामने विद्वेषियोंको—सर्वथा एकान्तवादी मिथ्या-दृष्टियोंको—पराजित कर दिया था, वे समन्तभद्र मुनीश्वर किसके स्तुतिपात्र नहीं हैं ? अर्थात् , सभीके द्वारा भले प्रकार स्तुति किये जानेके योग्य हैं।

ऊँच-गोत्रका व्यवहार कहाँ ?

(धवल सिद्धान्तका एक मनोरञ्जक वर्णन)

[सम्पादकीय]

षट्खण्डागमके 'वेदना' नामका चतुर्थ खण्ड-के चौबीस अधिकारोंमें से पाँचवें 'पयडि' (प्रकृति) नामक अधिकारका वर्णन करते हुए, श्रीभूतबली आचार्यने गोत्रकर्म-विषयक एक सूत्र निम्न प्रकार दिया है :—

"गोदस्स कम्मस्स दुवे पयडीओ उच्चा-गोदं चेव णीचागोदं चेव एवदियाओ पय-डीओ ॥ १२९ ॥"

श्रीवीरसेनाचार्यने अपनी धवला-टीकामें, इस सूत्रपर जो टीका लिखी है वह बड़ी ही मनोरंजक है और उससे अनेक नई नई बातें प्रकाशमें आती हैं—गोत्रकर्म पर तो अच्छा खासा प्रकाश पड़ता है और यह मालूम होता है कि वीरसेनाचार्यके अस्तित्वसमय अथवा धवलाटीका (धवलसिद्धान्त) के निर्माण-समय (शक सं० ७३८) तक गोत्रकर्म-पर क्या कुछ आपत्ति की जाती थी ! अपने पाठकों-के सामने विचारकी अच्छी सामग्री प्रस्तुत करने और उनकी विवेकवृद्धिके लिये मैं उसे क्रमशः यहाँ देना चाहता हूँ।

टीकाका प्रारम्भ करते हुए, सबसे पहले यह प्रश्न उठाया गया है कि—"उच्चैर्गोत्रस्य क्व व्यापारः ?"—अर्थात् ऊँच गोत्रका व्यापार-व्यव-हार कहाँ ?—किन्हें उच्चगोत्री समझा जाय ? इसके बाद प्रश्नको स्पष्ट करते हुए और उसके समाधानरूपमें जो जो बातें कही जाती हैं, उन्हें सदोष बतलाते हुए जो कुछ कहा गया है, वह सब क्रमशः इस प्रकार है :—

(१) "न तावद्राज्यादिलक्षणायां संपदि [व्यापारः], तस्याः सद्वेद्यतस्समुत्पत्तेः।"

अर्थात्—यदि राज्यादि-लक्षणवाली सम्पदाके साथ उच्चगोत्रका व्यापार माना जाय—ऐसे सम्पत्तिशालियोंको ही उच्चगोत्री कहा जाय—तो यह बात नहीं बनती; क्योंकि ऐसी सम्पत्तिकी समुत्पत्ति अथवा सम्प्राप्ति सातावेदनीय कर्मके निमित्तसे होती है—उच्चगोत्रका उसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

(२) "नाऽपि पंचमहाव्रतग्रहण-योग्यता उच्चैर्गोत्रेण क्रियते, देवेष्वभव्येषु च तद्-ग्रहणं प्रत्ययोग्येषु उच्चैर्गोत्रस्य उदयाभावप्रसंगात्।"

अर्थात्—यदि यह कहा जाय कि उच्चगोत्रके उदयसे पँचमहाव्रतोंके ग्रहणकी योग्यता उत्पन्न होती है और इसलिये जिनमें पँचमहाव्रतोंके ग्रहणकी योग्यता पाई जाय उन्हें ही उच्चगोत्री समझा जाय, तो यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि ऐसा मानने पर देवोंमें और अभव्योंमें, जोकि पँचमहाव्रत-ग्रहणके अयोग्य होते हैं, उच्चगोत्रके उदयका अभाव मानना पड़ेगा—; परन्तु देवोंके उच्चगोत्रका उदय माना गया है और अभव्योंके भी उसके उदयका निषेध नहीं किया गया है।

(३) "न सम्यग्ज्ञानोत्पत्तौ व्यापारः, ज्ञानावरण-क्षयोपशम-सहाय-सम्यग्दर्शनतस्तदुत्पत्तेः, तिर्यक्नारकेष्वपि उच्चैर्गोत्रं तत्र सम्यग्ज्ञानस्य सत्वात्।"

अर्थात्—यदि सम्यग्ज्ञानकी उत्पत्तिके साथमें ऊँच गोत्रका व्यापार माना जाय—जो जो सम्यग्ज्ञानी हों उन्हें उच्चगोत्री कहा जाय—तो यह बात भी ठीक घटित नहीं होती; क्योंकि प्रथम तो ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमकी सहायता-पूर्वक सम्यग्दर्शनसे सम्यग्ज्ञानकी उत्पत्ति होती है—उच्चगोत्रका उदय उसकी उत्पत्तिमें कोई कारण नहीं है। दूसरे, तिर्यंच और नारकियोंमें भी सम्यग्ज्ञानका सद्भाव पाया जाता है; तब उनमें भी उच्चगोत्रका उदय मानना पड़ेगा और यह बात सिद्धान्तके विरुद्ध होगी—सिद्धान्तमें नारकियों और तिर्यंचोंके नीच गोत्रका उदय बतलाया है।

(४) "नादेयत्वे यशसि सौभाग्ये वा व्यापारस्तेषां नामतस्समुत्पत्तेः।"

अर्थात—यदि आदेयत्व, यश अथवा सौभाग्यके साथमें उच्चगोत्रका व्यवहार माना जाय—जो आदेयगुणसे विशिष्ट (कान्तिमान्), यशस्वी अथवा सौभाग्यशाली हों उन्हेंही उच्चगोत्री कहा जाय—तो यह बात भी नहीं बनती; क्योंकि इन गुणोंकी उत्पत्ति आदेय, यशः और सुभग नामक नामकर्म-प्रकृतियोंके उदयसे होती है—उच्चगोत्र उनकी उत्पत्तिमें कोई कारण नहीं है।

(५) "नेक्ष्वाकुकुलाद्युत्पत्तौ [व्यापारः], काल्पनिकानां तेषां परमार्थतोऽसत्वाद्, विड्-ब्राह्मण-साधु (शूद्रे ?) ष्वपि उच्चैर्गोत्रस्योदयदर्शनात्।"

अर्थात्—यदि इक्ष्वाकु-कुलादिमें उत्पन्न होनेके साथ ऊँच गोत्रका व्यापार माना जाय—जो इन क्षत्रियकुलोंमें उत्पन्न हों उन्हें ही उच्चगोत्री कहा जाय—सो यह बात भी समुचित प्रतीत नहीं होती;

क्योंकि प्रथम तो इक्ष्वाकुआदि क्षत्रियकुल काल्पनिक हैं, परमार्थसे (वास्तवमें) उनका कोई अस्तित्व नहीं है। दूसरे, वैश्यों, ब्राह्मणों और शूद्रोंमें भी उच्चगोत्रके उदयका विधान पाया जाता है।

(६) "न सम्पन्नेभ्यो जीवोत्पत्तौ तद्व्यापारः, म्लेच्छराज-समुत्पन्न-पृथुकस्यापि उच्चैर्गोत्रोदयप्रसंगात्।"

अर्थात्—सम्पन्न (समृद्ध) पुरुषोंसे उत्पन्न होने वाले जीवोंमें यदि उच्चगोत्रका व्यापार माना जाय—समृद्धों एवं धनाढ्योंकी सन्तानको ही उच्चगोत्री कहा जाय—तो म्लेच्छ राजासे उत्पन्न हुए पृथुकके भी उच्चगोत्रका उदय मानना पड़ेगा—और ऐसा माना नहीं जाता। (इसके सिवाय, जो सम्पन्नोंसे उत्पन्न न होकर निर्धनोंसे उत्पन्न होंगे, उनके उच्चगोत्रका निषेध भी करना पड़ेगा, और यह बात सिद्धान्तके विरुद्ध जायगी।)

(७) "नाऽणुव्रतिभ्यः समुत्पत्तौ तद्व्यापारः, देवेष्वौपपादिकेषु उच्चैर्गोत्रोदयस्य असत्वप्रसंगात्, नाभेयश्च (स्य?) नीचैर्गोत्रतापत्तेश्च।"

अर्थात्—अणुव्रतियोंसे उत्पन्न होने वाले व्यक्तियोंमें यदि उच्चगोत्रका व्यापार माना जाय—अणुव्रतियोंकी सन्तानोंको ही उच्चगोत्री कहा जाय—तो यह बात भी सुघटित नहीं होती; क्योंकि ऐसा माननेपर देवोंमें, जिनका जन्म औपपादिक होता है और जो अणुव्रतियोंसे पैदा नहीं होते, उच्चगोत्रके उदयका अभाव मानना पड़ेगा, और साथ ही नाभिराजाके पुत्र श्रीऋषभदेव (आदितीर्थंकर) को भी नीचगोत्री बतलाना पड़ेगा; क्योंकि नाभिराजा अणुव्रती नहीं थे—उस समय तो व्रतोंका कोई विधान भी नहीं हो पाया था।

(८) "ततो निष्फलमुच्चैर्गोत्रं, तत एव न तस्य कर्मत्वमपि; तदभावेन नीचैर्गोत्रमपि द्वयोरन्योन्याविनाभावित्वात्; ततो गोत्रकर्माभाव इति *।"

अर्थात्—जब उक्त प्रकारसे उच्चगोत्रका व्यवहार कहीं ठीक बैठता नहीं, तब उच्चगोत्र निष्फल जान पड़ता है और इसीलिए उसके कर्मपना भी कुछ बनता नहीं। उच्चगोत्रके अभाव से नीच गोत्रका भी अभाव हो जाता है; क्योंकि दोनोंमें परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध है—एकके बिना दूसरेका अस्तित्व बनता नहीं। और इसलिये गोत्रकर्मका ही अभाव सिद्ध होता है।

इस तरह गोत्रकर्मपर आपत्तिका यह 'पूर्वपक्ष' किया गया है, और इससे स्पष्ट जाना जाता है कि गोत्रकर्म अथवा उसका ऊँच-नीच-विभाग आज ही कुछ आपत्तिका विषय बना हुआ नहीं है, बल्कि आजसे ११०० वर्षसे भी अधिक समय पहलेसे वह आपत्तिका विषय बना हुआ था—गोत्रकर्माश्रित ऊँच-नीचता पर लोग तरह-तरहकी आशंकाएँ उठाते थे और इस बातको जाननेके

* ये सब अवतरण और आगेके अवतरण भी आराके जैन-सिद्धान्त भवनकी प्रति परसे लिये गये हैं।

लिए बड़े ही उत्कण्ठित रहते थे कि गोत्रकर्मके आधारपर किसको ऊँच और किसको नीच कहा जाय ?—उसकी कोई कसौटी मालूम होनी चाहिए। पाठक भी यह जाननेके लिए बड़े उत्सुक होंगे कि आख़िर वीरसेनाचार्यने अपनी धवला-टीकामें, उक्त पूर्वपक्षका क्या 'उत्तरपक्ष' दिया है और कैसे उन प्रधान आपत्तियोंका समाधान किया है जो पूर्व-पक्षके आठवें विभागमें खड़ी की गई हैं। अतः मैं भी अब उस उत्तरपक्षको प्रकट करनेमें विलम्ब करना नहीं चाहता। पूर्व-पक्षके आठवें विभागमें जो आपत्तियां खड़ी की गई हैं वे संक्षेपतः दो भागोंमें बाँटी जा सकती हैं—एक तो ऊँच गोत्रका व्यवहार कहीं ठीक न बननेसे ऊँच गोत्रकी निष्फलता और दूसरा गोत्रकर्मका अभाव। इसीलिए उत्तरपक्षको भी दो भागों में बांटा गया है, पिछले भागका उत्तर पहले और पूर्व विभागका उत्तर बादको दिया गया है—और वह सब क्रमशः इस प्रकार है :—

(१) "[इति] न, जिनवचनस्याऽसत्यत्व-विरोधात्; तद्विरोधोऽपि तत्र तत्कारणाभाव-तोऽवगम्यते। न च केवलज्ञानविषयीकृते-ष्वर्थेषु सकलेष्वपि रजोजुषां ज्ञानानि प्रवर्तन्ते येनाऽनुपलंभाज्जिनवचनस्याऽप्रमाणत्व-मुच्येत।"

अर्थात्—इस प्रकार गोत्रकर्मका अभाव कहना ठीक नहीं है; क्योंकि गोत्रकर्मका निर्देश जिन-वचन-द्वारा हुआ है और जिनवचन असत्यका विरोधी है। जिनवचन असत्यका विरोधी है, यह बात इतने परसे ही जानी जासकती है कि उसके वक्ता श्रीजिनेन्द्रदेव ऐसे आप्तपुरुष होते हैं जिनमें असत्य के कारणभूत राग-द्वेष-मोहादिक दोषोंका सद्भाव ही नहीं रहता*। जहाँ असत्य-कथनका कोई कारण ही विद्यमान न हो वहाँसे असत्यकी उत्पत्ति भी नहीं होसकती, और इसलिये जिनेन्द्र-कथित गोत्रकर्मका अस्तित्व ज़रूर है।

इसके सिवाय, जो भी पदार्थ केवलज्ञानके विषय होते हैं उन सबमें रागीजीवोंके ज्ञान प्रवृत्त नहीं होते, जिससे उन्हें उनकी उपलब्धि न होनेपर जिनवचनको अप्रमाण कहा जासके। अर्थात् केवल-ज्ञानगोचर कितनी ही बातें ऐसी भी होती हैं जो छद्मस्थोंके ज्ञानका विषय नहीं बन सकतीं, और इसलिए रागाक्रान्त छद्मस्थोंको यदि उनके अस्तित्व-का स्पष्ट अनुभव न हो सके तो इतने पर से ही उन्हें अप्रमाण या असत्य नहीं कहा जा सकता।

(२) "न च निष्फलं [उच्चैः]गोत्रं, दीक्षायोग्य-साध्वाचाराणां साध्वाचारैः कृतसम्ब-न्धानामार्यप्रत्ययाभिधानव्यवहार-निब-न्धनानां पुरुषाणां संतानः उच्चैर्गोत्रम्। तत्रोत्पत्तिहेतुकमप्युच्चैर्गोत्रम्। न चाऽत्र पूर्वोक्तदोषाः संभवन्ति विरोधात्।

* जैसा कि 'धवला' के ही प्रथम खण्डमें उद्धृत निम्न वाक्योंसे प्रकट है :—

आगमो ह्याप्त वचनं आप्तं दोषक्षयं विदुः।
त्यक्तदोषोऽनृतं वाक्यं न ब्रूयाद्धेत्वसंभवात्॥
रागाद्वा द्वेषाद्वा मोहाद्वा वाक्यमुच्यते ह्यनृतम्।
यस्य तु नैते दोषास्तस्यानृतकारणं नास्ति॥

तद्विपरीतं नीचैर्गोत्रम् । एवं गोत्रस्य द्वे एव प्रकृती भवतः ।"

अर्थात्—उच्चगोत्र निष्फल नहीं है; क्योंकि उन पुरुषोंकी सन्तान उच्चगोत्र होती है जो दीक्षा-योग्य-साधुआचारोंसे युक्त हों, साधु-आचार-वालोंके साथ जिन्होंने सम्बन्ध किया हो, तथा आर्याभिमत नामक व्यवहारोंसे जो बँधे हों। ऐसे पुरुषोंके यहाँ उत्पत्तिका—उनकी सन्तान बननेका—जो कारण है वह भी उच्चगोत्र है। गोत्रके इस स्वरूपकथनमें पूर्वोक्त दोषोंकी संभावना नहीं है; क्योंकि इस स्वरूपके साथ उन दोषोंका विरोध है—उच्चगोत्रका ऐसा स्वरूप अथवा ऐसे पुरुषोंकी सन्तानमें उच्चगोत्र का व्यवहार माननेपर पूर्व-पक्षमें उद्भूत किये हुए दोष नहीं बन सकते। उच्चगोत्रके विपरीत नीचगोत्र है—जो लोग उक्त पुरुषोंकी सन्तान नहीं हैं अथवा उनसे विपरीत आचार-व्यवहार-वालोंकी सन्तान हैं वे सब नीचगोत्र-पद के वाच्य हैं, ऐसे लोगोंमें जन्म लेने के कारणभूत कर्मको भी नीचगोत्र कहते हैं। इस तरह गोत्रकर्म की दो ही प्रकृतियाँ होती हैं।

यह उत्तरपक्ष पूर्वपक्षके मुक़ाबलेमें कितना सबल है, कहाँ तक विषयको स्पष्ट करता है और किस हद तक सन्तोषजनक है, इसे सहृदय पाठक एवं विद्वान् महानुभाव स्वयं अनुभव कर सकते हैं। मैं तो, अपनी समझ के अनुसार, यहाँपर सिर्फ इतना ही बतलाना चाहता हूँ कि इस उत्तरपक्ष का पहला विभाग तो बहुत कुछ स्पष्ट है। गोत्रकर्म जिनागमकी खास वस्तु है और उसका वह उपदेश जो उक्त मूलसूत्रमें संनिविष्ट है, अविच्छिन्न ऋषि-परम्परासे बराबर चला आता है। जिनागमके उपदेष्टा जिनेन्द्रदेव—भ० महावीर—राग, द्वेष, मोह और अज्ञानादि दोषोंसे रहित थे। ये ही दोष असत्यवचनके कारण होते हैं। कारण के अभावमें कार्यका भी अभाव हो जाता है, और इसलिए सर्वज्ञ-वीतराग-कथित इस गोत्रकर्मको असत्य नहीं कहा जासकता, न उसका अभाव ही माना जासकता है। कम-से-कम आगम-प्रमाण-द्वारा उसका अस्तित्व सिद्ध है। पूर्वपक्षमें भी उसके अभावपर कोई विशेष जोर नहीं दिया गया—मात्र उच्चगोत्रके व्यवहारका यथेष्ट निर्णय न हो सकनेके कारण उकताकर अथवा आनुषंगिकरूपसे गोत्रकर्मका अभाव बतला दिया है। इसके लिये जो दूसरा उत्तर दिया गया है वह भी ठीक ही है। निःसन्देह, केवल ज्ञान-गोचर कितनी ही ऐसी सूक्ष्म बातें भी होती हैं जो लौकिक ज्ञानोंका विषय नहीं हो सकतीं अथवा लौकिक साधनोंसे जिनका ठीक बोध नहीं होता, और इसलिये अपने ज्ञानका विषय न होने अथवा अपनी समझ में ठीक न बैठनेके कारण ही किसी वस्तु-तत्त्वके अस्तित्वसे इनकार नहीं किया जासकता।

हाँ, उत्तरपक्षका दूसरा विभाग मुझे बहुत कुछ अस्पष्ट जान पड़ता है। उसमें जिन पुरुषोंकी संतानको उच्चगोत्र नाम दिया गया है उनके विशेषणों पर से उनका ठीक स्पष्टीकरण नहीं होता—यह मालूम नहीं होता कि—१ दीक्षायोग्य साधु-आचारोंसे कौनसे आचार विशेष अभिप्रेत हैं ? २ 'दीक्षा' शब्दसे मुनिदीक्षाका ही अभिप्राय है या श्रावकदीक्षाका भी ?—क्योंकि प्रतिमाओं के अति-

रिक्त श्रावकोंके बारह व्रतभी द्वादशदीक्षा-भेद कहलाते हैं*; ३ साधुआचार-वालोंके साथ सम्बन्ध करनेकी जो बात कही गई है वह उन्हीं दीक्षायोग्य साधुआचार वालोंसे सम्बन्ध रखती है या दूसरे साधुआचार वालोंसे ? ४ सम्बन्ध करनेका अभिप्राय विवाह-सम्बन्धका ही है या दूसरा उपदेश, सह-निवास, सहकार्य, और व्यापारादिका सम्बन्धभी उसमें शामिल है ? ५ आर्याभिमत अथवा आर्य-प्रत्ययाभिधान नामक व्यवहारोंसे कौनसे व्यवहारों-का प्रयोजन है ? ६ और इन विशेषणोंका एकत्र समवाय होना आवश्यक है अथवा पृथक्-पृथक् भी ये उच्चगोत्रके व्यंजक हैं ? जबतक ये सब बातें स्पष्ट नहीं होतीं, तबतक उत्तरको सन्तोषजनक नहीं कहा जासकता, न उससे किसीकी पूरी तसल्ली हो सकती है और न उक्त प्रश्न ही यथेष्ट रूपमें हल हो सकता है । साथही इस कथनकी भी पूरी जाँच नहीं हो सकती कि 'गोत्रके इस स्वरूप-कथनमें पूर्वोक्त दोषोंकी सम्भावना नहीं है।' क्योंकि कल्पनाद्वारा जब उक्त बातोंका स्पष्टीकरण किया जाता है तो उक्त स्वरूप-कथनमें कितने ही दोष आकर खड़े हो जाते हैं। उदाहरणके लिए यदि 'दीक्षा' का अभिप्राय मुनिदीक्षाका ही लिया जाय तो देवोंको उच्चगोत्री नहीं कहा जायगा, किसी पुरुषकी सन्तान न होकर औपपादिक जन्मवाले होनेसे भी वे उच्चगोत्री नहीं रहेंगे । यदि श्रावक-के व्रत भी दीक्षामें शामिल हैं तो तिर्यंच पशु भी उच्चगोत्री ठहरेंगे; क्योंकि वे भी श्रावकके व्रत धारण करनेके पात्र कहे गए हैं और अक्सर श्रावकके व्रत धारण करते आए हैं । तथा देव इससे भी उच्चगोत्री नहीं रहेंगे; क्योंकि उनके किसी प्रकार का व्रत नहीं होता—वे अव्रती कहे गए हैं । यदि सम्बन्ध का अभिप्राय विवाह सम्बन्धसे ही हो; जैसा कि म्लेच्छ-खण्डोंसे आए हुए म्लेच्छोंका चक्रवर्ती आदिके साथ होता है और फिर वे म्लेच्छ मुनिदीक्षा तकके पात्र समझे जाते हैं, तब भी देवतागण उच्चगोत्री नहीं रहेंगे; क्योंकि उनका विवाह-सम्बन्ध ऐसे दीक्षायोग्य साध्वाचारोंके साथ नहीं होता है । और यदि सम्बन्धका अभिप्राय उपदेश आदि दूसरे प्रकारके सम्बन्धोंसे हो तो शक, यवन, शवर, पुलिंद और चाण्डालादिककी तो बात ही क्या ? तिर्यंच भी उच्चगोत्री हो जायँगे; क्योंकि वे साध्वाचारोंके साथ उपदेशादिके सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं और साक्षात् भगवान् के समव सरण में भी पहुँच जाते हैं। इस प्रकार और भी कितनी ही आपत्तियाँ खड़ी हो जाती हैं ।

आशा है विद्वान् लोग श्रीवीरसेनाचार्यके उक्त स्वरूप-विषयक कथनपर गहरा विचार करके उन छहों बातोंका स्पष्टीकरण करने आदिकी कृपा करेंगे जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है, जिससे यह विषय भले प्रकार प्रकाशमें आसके और उक्त प्रश्नका सबोंके समझ में आने योग्य हल होसके।

वीरसेवामन्दिर सरसावा, ता० २१-११-१९३८

---

* जैसा कि तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें दिये हुए श्री-विद्यानन्द आचार्यके निम्न वाक्य से प्रकट है :—

"तेन गृहस्थस्य पंचाणुव्रतानि सप्तशीलानि गुणव्रत शिक्षाव्रत-व्यपदेशभाञ्जीति द्वादशदीक्षाभेदाः सम्यक्त्व-पूर्वकाः सल्लेखनान्ताश्च महाव्रत-तच्छीलवत् ।"

भगवान महावीरके बादका इतिहास

[ले० श्री० बाबू सूरजभानु वकील]

महावीरस्वामीका निर्वाण ईसासे ५२८ बरस पहले हुआ, भगवान बुद्धका निर्वाण १५ बरस पहले होचुकाथा। महावीर भगवानके समयमें मगध देशमें, जिनकी राजधानी राजगृह थी, शिशुनाग वंशी राजा श्रेणिक (बिम्बसार) राज्य करता था। ईसासे ६४२ बरस पहले शिशुनागने इस राज्यकी स्थापना की थी। श्रेणिक इस वंशका पाँचवाँ राजा था। ईसासे ५८२ बरस पहले वह राजगद्दी पर बैठा, २८ बरस राज किया और अंग देशको जीतकर अपने राज्यमें मिलाया। श्रेणिकके द्वारा जैन-धर्मका बड़ा भारी प्रचार हुआ। ईसासे ५५२ बरस पहले उसका बेटा अजातशत्रु (कुणिक) गद्दी पर बैठा। उसने अपने मामाओंसे लड़कर वैशाली और कौशलके राज्य भी जीत लिये। अजातशत्रुभी जैनी था; परन्तु बौद्ध ग्रन्थोंमें उसको बौद्ध लिखा है। ईसासे ५१८ बरस पहले उसका देहान्त होगया, जिसके बाद उसका बेटा दर्शक राजा हुआ। उसके बाद ईसासे ४८३ बरस पहले उसका बेटा अजउदयी राजा हुआ। उसने उज्जैनको भी जीत लिया और मगधकी राजधानी राजगृहसे हटाकर पाटलीपुत्र (पटना) में क़ायम की। उसके बाद उसके बेटे अनुरुद्ध का, फिर मुंडका, फिर नन्दीका, राज्य हुआ। नन्दीको नन्दवर्धन भी कहते हैं। उसने उड़ीसा तक सब देश जीत लिया और सारे हिन्दुस्तानका राजा हो गया। उस समय उड़ीसामें जैन-धर्म फैला हुआ था; नन्दिवर्धन कट्टर बौद्ध था, जैन-धर्मसे द्वेष रखता था; इसकारण वह वहाँसे जैन मूर्तियाँ उठा लाया। उसके बाद उसका बेटा महानन्द राजा हुआ; उसके पीछे उसका बेटा महापद्मनन्द राजा हुआ, वह भी सारे हिन्दुस्तानका एक छत्र राजा हुआ और दुनियामें प्रसिद्ध हुआ, उसके पीछे उसके आठ बेटोंका राज्य हुआ, जिनमें मुख्य मामल्यनन्द या धननन्द था, प्रजा उनसे बहुत दुखी थी। ईसासे ३२६ बरस पहले, चन्द्रगुप्त नामके एक जैनीने उनसे राज्य छीन लिया, जिसका कथन आगे किया जायगा।

इनदिनों हिन्दुस्तानकी पश्चिमी सीमासे लेकर यूरुपके यूनान देश तक ईरान (फारिस) के महाराजा दाराका राज्य था। इस वंशके राजा बड़े अभिमानके साथ अपनेको आर्य-पुत्र कहा

करते थे। मिसर, रूम (टर्की) आदि सब देश उसके आधीन थे। पारस राजधानी थी, इसही नगरीके नामसे यह देश फारस कहलाया। उस समय सिकन्दरका पिता फिलप यूनानके एक छोटे से पहाड़ी इलाक़े-मक़दोनियाका राजा था और दाराकी आधीनता मानता था। वह यवन था। यूनानके रहने वाले योन या यवन कहलाते थे। उसके मरने पर उसके महाप्रतापी बेटे सिकन्दरने सारे यूनान पर अधिकार करलिया; फिर मिश्र और टर्कीको जीतता हुआ ईरान पर चढ़ गया, दाराको मारा, ईरान पर क़ब्ज़ा किया, फिर ईसासे ३३० बरस पहले सीस्तान (शकोंके रहनेका स्थान) को जीतकर कंधारको जीता, फिर बाख्तर पहुँचा, समरक़ंद, बुख़ारा आदि सब देश जीते, यहाँ भी शक लोग रहा करते थे। उधर ही एक हिन्दुस्तानी राजा शशिगुप्तका राज्य था; उसको भी जीतकर साथ लिया और पंजाब पर चढ़ाई की। रावलपिंडीसे उत्तरमें तक्षशिला (गांधार देश) के राजा आम्भिने दूरसे ही उसकी आधीनता स्वीकार कर ली और उसके साथ होलिया। पश्चिमी क़ंधारका राजा हस्थी ख़ूब लड़ा; परन्तु हार गया, सिकन्दरने उसका राज्य, उसके साथी संजयको देदिया, फिर अश्वर्गाको जीतकर शशिगुप्तको वहाँका राज्य दिया, फिर तक्षशिला होता हुआ केकय देश (जहलम, शाहपुर, गुजरात) पर आया। वहाँका राजा पुरु बड़ी बहादुरीसे लड़ा, आम्भिने हमला करके उसको पकड़ लिया। सिकन्दरने उसको भी अपना सेनापति बनालिया और ग्लुचुकायन देशको जीतकर उसके आधीन किया, चिनाबनदीके उसपार मुद्रक देशका राजा पुरुका भतीजा था, वह भी बिना लड़े ही आधीन हो गया। स्यालकोटके मुक़ामपर माझा के कठ लोग और क्षुद्रक और मालवाके राजा ख़ूब लड़े, परन्तु पुरुकी सहायतासे सिकन्दरकी जीत हुई। आगे रावी और व्यास नदीके पास पहुँचने पर नन्द राजाकी शक्ति और प्रभावसे भयभीत होकर सिकन्दरकी सेनाने आगे बढ़नेसे इनकार कर दिया। यह ईसासे ३२७ बरस पहले की बात है।

लाचार सिकन्दर जहलुम नदी तक वापिस आया और वहाँसे दक्खिनकी तरफ़ बढ़ा। शिविराजने बिना लड़े ही आधीनता मानली। अगलस्य, मालव और क्षुद्रक जातिवाले लड़े। इस लड़ाईमें सिकन्दरकी छातीमें घाव होगया। आगे चलने पर अम्बष्ठ, वसाति और शौद्र जातिके लोगोंने मुक़ाबिला नहीं किया। वहाँसे सिंधकी तरफ़ बढ़ा, मुचिकर्ण राज्यने भी मुक़ाबिला नहीं किया। ब्राह्मण राजा ने मुक़ाबिला किया, परन्तु सिकन्दरने उसको बहुत निर्दयतासे दबाया। फिर पातानप्रस्थ (हैदराबाद सिंध) पहुँचा। लोग देश छोड़कर भाग गये, फिर पश्चिमके रास्ते हिन्दुस्तानसे बाहर हो गया और ईसासे ३२३ बरस पहले रास्तेमें ही उसका देहान्त होगया। पीछे उसके जीते हुए देशोंको उसके सेनापतियोंने दबालिया। सिकन्दरने अपने इस संग्रामके समयमें यूनानियों, ईरानियों और हिन्दुस्तानियोंके बीच आपसमें विवाह संबन्ध होनेका बहुत ज्यादा रिवाज डाला था।

इन दिनों मगधमें नन्द राजाका राज्य था। प्रजा उससे दुखी थी। जैन-धर्मी चन्द्रगुप्तने ईसासे ३२१ बरस पहले उससे राज्य छीन लिया। कहते

हैं कि वह नन्द राजाकी मुरा नामकी दासीका बेटा था, इसही कारण मौर्य कहलाया। परन्तु उसके कट्टर जैनी होनेके कारण ही उसको द्वेषसे बदनाम किया जाता है। मौर्य नामके क्षत्रियोंका राज्य हिमालयकी तराईमें, नैपालके पास था। बुद्ध भगवान्के निर्वाण होनेपर पिप्पली बनके मौर्य क्षत्रियोंने भी उसकी चिताकी राखका भाग माँगा था। भगवान महावीरके गणधरोंमें भी एक मोरियपुत्र था। चन्द्रगुप्त बालपनेमें ही बड़ा साहसी था। नन्द राजाने उसके अनुपम साहसको देखकर ही उसके मार डालनेका हुक्म दिया था। वह भागकर पंजाब चला गया। वहाँ सिकन्दरसे मिला, परन्तु उससे भी अनबन होगई जिससे सिकन्दरने भी उसके मार डालनेकी आज्ञा दी। वह साहसी वीर वहाँसे भी भाग निकला, वहीं पंजाबमें ही उसको चाणक्य नामका एक महानीतिज्ञ ब्राह्मण मिल गया। सिकन्दरके चले जानेपर चन्द्रगुप्तने चाणक्य की सलाहसे सिकन्दरके जीते हुए प्रदेशोंमें विद्रोह कराकर स्वयं उनका शासक बन बैठा। फिर उनही लोगोंकी फौज बना कर मगधपर चढ़ाई कर दी। और नन्द राजाको जीतकर वहाँका राजा होगया।

सिकन्दरके मरने पर उसके सेनापति सैल्यूकसने उसका जीता हुआ राज्य दबाकर हिन्दुस्तानकी पश्चिमी हद तक अपना अधिकार जमा लिया था। ईसासे ३०५ बरस पहले उसने पंजाब पर भी चढ़ाई कर दी, परन्तु चन्द्रगुप्तने उसको ऐसी मात दी कि उसने हिन्दुस्तानके बाहरके चार सूबे क़ंधार, हिरात, क़िलात और लालबेला चन्द्रगुप्तको देकर और अपनी बेटी उसको ब्याह कर अपनी जान बचाई। फिर काश्मीरसे उत्तर का इलाक़ा काम्बोज और बदक्शां भी चन्द्रगुप्तके आधीन हो गया। वह सारे हिन्दुस्तानका महा प्रतापी राजा हुआ और जैन-धर्मका भारी प्रचार किया। २४ बरस राज्य करके १२ बरसका भारी दुर्भिक्ष पड़ने पर अपने बेटे बिन्दुसारको राज दे, श्री भद्रबाहु आचार्य के साथ, कर्णाटक देशको चला गया, और मुनिदीक्षा लेकर भारी तप किया।

बिन्दुसारने भी बहुत योग्यताके साथ राज्य किया, परन्तु उसने बौद्ध धर्म ग्रहण कर, दुनिया भरमें उसका प्रचार किया। उसके पीछे उसका बेटा अशोक जो ब्राह्मण रानीसे पैदा हुआ था, राजा हुआ। वह चक्रवर्तीके समान महाप्रतापी राजा हुआ। उसने मध्यएशियामें खुतनको और तिब्बतके उत्तरमें तातार देशको भी जीता, जिसको ब्रह्म पुराणमें उत्तर कुरु लिखा है। इस तरह चीन की हद तक उसका राज्य फैल गया। पश्चिममें उसका राज्य यूनान तक फैला। उड़ीसाके राजाके साथ उसकी भारी लड़ाई हुई, जिसमें लाखों आदमी मरते देखकर उसको लड़ाई करने से घृणा हो गई। तबसे उसने लड़ाई लड़ना छोड़कर बौद्ध-धर्मके द्वारा अहिंसा परमोधर्मः का प्रचार करना शुरू कर दिया। दूर दूर तक सबही देशोंमें धर्म उपदेशक भेजे, हुक्मनामे जारी किये, जिनमें हिंसाबन्द करनेकी कड़ी आज्ञा थी। जगह २ बड़े २ स्तम्भ बनवाकर उनपर अपनी आज्ञायें खुदवाई, यज्ञ आदिक धर्म-अनुष्ठानोंमें भी राजाज्ञा द्वारा पशुहिंसा बंद की; जिससे वैदिक

धर्मका प्रचार बहुत कुछ कम हो गया। और ब्राह्मणोंका ज़ोर घट गया। जात-पाँतका झगड़ा दूर होकर सबहीको लौकिक और धार्मिक उन्नति करनेका अवसर प्राप्त हो गया।

अशोकके पीछे उसका बेटा कुणाल राजा हुआ। उसके पीछे उसका बेटा दशरथ राजा हुआ, जिसको सम्प्रति भी कहते हैं। उसको श्री आचार्य महाराज सुहस्तीने जैनी बनाया, उसने जैन-धर्मका ऐसाही भारी प्रचार किया जैसा अशोकने बौद्ध-धर्मका किया था। उसने अफ़ग़ानिस्तान, ईरान, बलख़, बुख़ारा, काशग़र, बदख़शान आदि पश्चिमोत्तर देशोंमें भी धर्म-प्रचारके अर्थ जैन साधु भेजे, जहाँ शक, यवन और पह्लव आदि जातियाँ रहती थीं। जगह २ जैनमन्दिर बनवाये। राजपूतानेमें उसके बनवाये मन्दिरोंके निशान अब तक मिलते हैं। वह सारे हिन्दुस्तानका महा प्रतापी राजा हुआ। उसके बाद शालिशुक, उसके बाद सोमधर्मा (देवधर्मा) उसके बाद शतधनुष, उसके बाद बृहद्रथ राजा हुआ; इसप्रकार ईसासे २८५ बरस पहले तक मौर्य-वंशका राज रहा।

इसी समय बृहद्रथके ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्रने तलवारसे राजाका सिर काट स्वयं मगधका राजा बन बैठा, तभीसे शुंग-वंशका राज चला। परन्तु राजपूतानेमें मौर्यवंशी जैनी राजाओंका राज ईसाकी आठवीं शताब्दी तक बराबर बना रहा। चित्तौड़का क़िला मौर्य राजा चित्रांगदने बनवाया। मानसरोवर मौर्य-वंशी राजामानने ७१३ ईसवीमें बनवाया। कोटा राज्यमें ७३८ ईसवीका शिलालेख मौर्य-राजा धवलका मिला है। बम्बईके ख़ानदेश ज़िलेमें १०६९ ईसवीके शिलालेखमें वहांके २० मौर्य राजाओंके नाम हैं, जिनके वंशज अबतक दक्षिणमें हैं और मोरे कहलाते हैं।

इसप्रकार श्रीमहावीरस्वामी और भगवान बुद्धके समयसे लेकर चारसौ बरस तक जैन-धर्मी राजा श्रेणिककी सन्तान और जैन-धर्मी महाराजा चन्द्रगुप्त मौर्यकी सन्तानका राज्य मगधकी गद्दी पर बना रहकर सारे हिन्दुस्तानमें और हिन्दुस्तानके बाहरभी दूर-दूर तक जैन-धर्म और बौद्ध-धर्मका खूब प्रचार रहा। हिंसामय कर्म कांडोंके स्थानमें अहिंसा परमो धर्मःका डंका बजा और सबही को धर्म पालनका अधिकार मिला; जिसके बाद अब फिर पुष्यमित्र ब्राह्मणके द्वारा हिंसा मय वैदिक धर्मका प्रचार शुरू हुआ, उसने स्वयम् दो बार अश्वमेध यज्ञ किया, ब्राह्मणोंका महत्व प्रारम्भ हुआ, वैदिक-धर्मको न मानने वाले, धर्मअनुष्ठानोंमें पशु-हिंसा न करने वाले शूद्र वा म्लेच्छ कहलाये जाकर घृणा की दृष्टिसे देखे जाने लगे, जात-पातका भेद ज़ोरोंके साथ उठ खड़ा हुआ। मगधसे लेकर पंजाबमें जालंधर तक पुष्यमित्रने जैन और बौद्ध साधुओंको क़त्ल कराया, उनके मठ मन्दिर और बिहार जलवाये; जिससे उनमेंसे बहुतोंने दूसरे देशोंमें जाकर जान बचाई। ३६ बरस उसका राज्य रहा, इस बीचमें उसने जैनों और बौद्धोंका जड़ मूल नाश करनेके वास्ते क्या कुछ नहीं किया?

इधर हिन्दुस्तानसे बाहर क़ाबुल, ईरान, बलख़,

बदख्शांमें बड़ी गड़बड़ होरही थी। बलख-बुखारा में सीरियाके यूनानी राज्यकी तरफ़से यूनानी गवर्नर (क्षत्रप) राज्य करता था। ईसासे २५० बरस पहले क्षत्रप दियोदोतने अपने राज्यको सीरियाके राज्यसे आज़ाद करलिया। बलख के पच्छिम तरफ़ खुरासानमें पार्थव जातिका राज्य था, जो पह्लव कहलाते थे. वहाँ उस समय शकों की एक जाति पर्ण आबसी थी, इन शकोंकी सरदारीमें सारे पार्थव यूनानी राज्यके खिलाफ़ होकर ईसासे २४८ बरस पहले स्वतंत्र होगये, फिर उन्होंने सारे ईरान पर अधिकार करलिया और चार सौ बरस तक राज्य किया। बख़्तरमें यूनानियोंका कुछ राज बना रहा, सीरियाके यूनानी राजा अन्तियोकने ईसासे २०८ बरस पहले बाख़्तर पर चढ़ाईकी; वहाँ देवदातका पोता एकथिदिम राज्य करता था; उसने अपने बेटे दिमेत्रकी मारफ़त सुलह करली। अन्तियोक ने दिमेत्रको अपनी बेटी ब्याह दी और उसकी सहायतासे क़ाबुल पर चढ़ाई की। वहाँके राजा सुभागसेनने सुलह करली। यहाँसे अन्तियोक वापिस चला गया, उसके वापिस चले जाने पर दिमेत्रका राज खूब बढ़ा। सुभागसेनके मरने पर ईसासे १६० बरस पहले दिमेत्रने हरान, काफ़िरस्थान, कंधार और सीस्तान पर कब्ज़ा करलिया। फिर दिमेत्रने हिन्दुस्तान पर चढ़ाई की, और मद्र देशकी राजधानी सियालकोटको जीतकर, मथुरा और मध्य देशभी जीता, और फिर मगध परभी चढ़ाई करदी। इनही दिनों पुष्यमित्र ब्राह्मणने मौर्य राजाका सिर काटकर मगधका राज्य अपने हाथमें लिया था, वह दिमेत्र के मुकाबिलेको खड़ा हुआ।

इनही दिनों उड़ीसामें एक महाप्रतापी जैन राजा खारवेल राज्य करता था। उसने देखा कि पुष्यमित्र उसका मुक़ाबिला नहीं कर सकेगा और दिमेत्र उसको जीतकर उड़ीसा परभी चढ़ आवेगा; इसकारण खारवेल खुद दिमेत्रके मुक़ाबिले को आया और दिमेत्रको वापिस भगाते २ पंजाबसे बाहर निकाल कर आया। लौटते हुए खारवेल मगध परभी चढ़ आया, परन्तु पुष्यमित्रने उसके पैरों पर पड़कर अपना राज्य बचा लिया। पिछले दिनों नन्द राजा जो जैन मूर्तियाँ उड़ीसा से उठा लाया था, उनको वापिस लेकर खारवेल वापिस घर चला गया। खारवेल चक्रवर्तीके समान महादिग्विजयी राजा हुआ है। उसने सारे दक्खन और बंगालको जीत कर वहाँ जैन-धर्मका प्रचार किया, परन्तु उसके मरने पर उसका राज्य आगे नहीं चला। खारवेलके मरने पर पुष्यमित्रने फिर ज़ोर पकड़ा। दिमेत्रको खदेड़ कर जिस पंजाब पर खारवेलका राज्य होगया था उसपर अब पुष्यमित्रने कब्ज़ा करके अश्वमेध यज्ञ किया। ईसासे ११५ बरस पहले दिमेत्र यूनानीका बेटा मेनेन्द्र फिर हिन्दुस्तान पर चढ़ कर आया, परन्तु अबकी बार उसने मगध पर चढ़ाई नहीं की; किन्तु अव्वल पंजाब पर क़ब्ज़ा करके फिर दक्खनकी तरफ़ जीतता हुआ काठिया-वाड़ तक अपना राज्य जमा लिया। हिन्दुस्तानसे बाहरभी चीन तक उसका राज्य होगया, उसने बुद्धधर्म स्वीकार कर लिया था, बौद्ध-ग्रन्थोंमें उसको मिलिन्द लिखा है।

पुष्यमित्रके पीछे उसके वंशके ६ राजा राज्य करते रहे। इस प्रकार शुंगवंशी ब्राह्मणोंका यह राज ११२ बरस तक रहा; जबकि राजाके मंत्री वासुदेव नामके कण्व ब्राह्मणने राजाको मरवा कर स्वयम राज्य पर कब्ज़ा कर लिया। उसके बाद कण्व वंशके तीन राजा और हुए, परन्तु इस वंशका राज्य कुल ४५ बरस तक ही रहा। उसके बाद ईसासे २७ बरस पहले आंध्र वंशके एक राजाने जो सातवाहन वा सातकार्णि कहलाते थे और जिनका राज्य सारे दक्खनमें फैला हुआ था। कण्ववंशके राजा सुश्रमणको मारकर राज्य छीन लिया। ये लोग द्राविड़ थे और बहुत समयसे दक्खनमें राज्य कररहे थे। पीछे येही लोग सालवाहनभी कहलाने लगे थे; इनके समयमें प्राकृतका बहुत भारी प्रचार हुआ और संस्कृतका प्रचार दब गया।

शुंगवंश और कण्ववंशके राज्य कालमें जैन और बौद्धधर्मके स्थानमें वैदिकधर्मका खूब प्रचार हुआ। शैवधर्म और भागवतधर्म (वैष्णवधर्म) की उत्पत्ति हुई और बहुत प्रचार हुआ। सौ डेढ़ सौ बरसके अन्दर ही अन्दर इन धर्मोंका ऐसा भारी प्रचार होगया कि उस समय तक्षशिलाके एक यूनानी राजाने जो अपना एक यूनानी दूत यहाँके राजा भागभद्रके पास भेजा था; उस यूनानी दूतने भी यहाँ विष्णु भगवानका एक गरुडध्वज बनवाया; जिसपर खुदे लेखका अर्थ इसप्रकार है:—

"देवोंके देव वासुदेवका यह गरुडध्वज यहाँ बनवाया, महाराज अन्तलिकितके यहाँसे राजा कासीपुत्त भागभद्र त्राताके—जोकि अपने राजके १४ वें बरसमें है, उसके पास आये हुए तखसिला निवासी दियके पुत्र यवनदूत नागवत हेलिउदोरने"

इनही दिनों विक्रम संवत् चला। इस संवत्के विषयमें पुरानी खोज करने वाले विद्वान बड़ी भारी गड़-बड़में पड़े हुए थे—कुछभी पता नहीं लगा सके थे कि यह संवत् कब चला और किसने चलाया; परन्तु कालकाचार्य नामकी एक जैन कथासे यह गुत्थी बिल्कुल सुलझ गई है और सब विद्वानोंने मानली है। उसके अनुसार उज्जैनके गर्दभिल्ल जातिके एक हिन्दु राजा विक्रमादित्यने जैन-धर्मकी रक्षा करने वाले शकोंको मध्य भारतसे निकाल कर ईसासे ५७ बरस पहले विक्रम संवत् चलाया। शक जातिका वृत्तान्त आगे लिखा जाता है, जिन्होंने विक्रमादित्यके पिता गर्दभिल्लको हराकर उज्जैन पर अपना अधिकार कर लिया था, परन्तु उनका यह अधिकार केवल चार ही बरस रहा; पीछे विक्रमादित्य ने उनसे ही राज्य छीन अपना संवत् चलाया था, इसके १३५ बरस पीछे उज्जैन पर फिर शकों का राज हो गया, तब उन्होंने शक संवत् चलाया, जो अब तक चल रहा है। दक्षिण देशके सबही जैन ग्रंथोंमें शक संवत् ही लिखा जाता रहा है।

शक लोग तिब्बतके उत्तर और चीनके पश्चिम में तातार देशके रहने वाले थे। ये लोग आर्य भाषा बोलते थे और रहन सहन धर्म विश्वास आदिमें भी ऐसे ही थे जैसा वर्णन सबसे पुरानी पुस्तक

वेदोंमें वा ईरान (फ़ारिस) देशकी धर्म पुस्तक जिन्दावस्था (छन्द व्यवस्था) में मिलता है। इनकी एक टोली बहुत दिनोंसे काबुलसे पश्चिम तरफ़ आबसी थी; इसहीसे उस स्थानका नाम शक स्थान वा सीस्तान होगया था। फिर जब ईसासे २४६ बरस पहले चीनके राजाने अपने देशको हूण नामकी एक जंगली जातिकी लूट मारसे बचानेके वास्ते चीनके पश्चिममें ५०० मील लम्बी एक दीवार बनवादी। तबसे यह हूण लोग शकों पर लूट मार करने लगे, उनसे तंग आकर ताहिया वा तुखार नामकी शक जाति काश्मीरके उत्तरमें आबसी थी, उसीके कारण पामीर, कम्बोज, बलख़ और बदख़शानका सारा देश तुखार वा तुखारिस्तान कहलाने लगा था, इसके कुछ दिनों बाद ईसासे १६५ बरस पहले यूइश या ऋषिक नामकी एक और शक जाति बाख़तरमें आबसी, तुखार भी इनके आधीन होगये, फिर इनही शकोंकी एक टोली हरातमें भी जाबसी और कुछ सीस्तानमें आबसे, जहाँ पहलेसे ही शक लोग रहते थे।

सीस्तान उस समय ईरानके पार्थव राजके आधीन था; परन्तु अब नवीन आगन्तुक भाइयोंका बल पाकर शक लोग पार्थवोंसे लड़ पड़े; पार्थव राजा फ्रावत लड़ाईमें मारागया। उसके बेटे आर्त्तबानने तुखारोंपर चढ़ाईकी, परन्तु वह भी मारागया, उसके बेटे मिथ्रदानने शकोंका पूरा पूरा दमन किया, शकोंने उस समय राजाधिराजकी पदवी धारण कर रक्खी थी। ईरान (फ़ारिस) का राजा साहुआनसाह अर्थात साधुओंका भी साधु कहलाता था। पीछेसे यह ही शब्द बिगड़कर शाहनशाह होगया। अपने बाप दादाका बदला लेनेके वास्ते फारिसके राजाने शक सर्दारोंके पास एक कटारी भेजी कि अपने परिवारको बचाना चाहते हो तो अपने सिरकाटकर भेजदो, नहीं तो सर्वनाश करदिया जावेगा।

इनदिनों उज्जैनमें गर्दभिल्ल जातिका राजथा, जिनके अत्याचारोंसे तंग आकर जैनाचार्य कालक सीसतानमें चलागया था। उसने शक सरदारोंको समझाया कि लड़ाई करके क्यों अपना सर्वनाश करते हो? मेरे साथ हिन्दुस्तान चले चलो। शक सरदारोंने उसकी बात मानली और ६६ सरदार अपनी अपनी सेना सहित हिन्दुस्तान आगये। पहले सिंध आये वहाँ राज्य क़ायम किया, फिर काठियावाड़ पहुँचे, वहाँ भी राज्य स्थापित किया। जगह २ गवर्नर नियत किये जो क्षत्रप वा महा क्षत्रय कहलाये। फिर गुजरातके राजाओंकी महायतासे उज्जैनपर चढ़ाई की और अपना राज स्थापित किया परन्तु उज्जैनमें उनका यह राज चार बरस ही रहा, जिसके बाद गर्दभिल्लके बेटे विक्रमादित्यने उनसे राज्य छीनकर ईसासे ५७ बरस पहले विक्रम संवत चलाया।

उस समय शकोंका राजा नहपान था जो लहरात बंशका था, जिसका जमाई उषवदात (ऋषभदत्त) शक था, जिसका एक लेख नासिक (बम्बई अहाता) के पास मिला है, जिसका अर्थ इस प्रकार है:—

"राजा लहरात क्षत्रप नहपानके जमाई

दीनिकके बेटे, तीनलाख गउओंका दान करनेवाले बार्णासापर स्वर्ण दान करने और तीर्थ बनवाने वाले, देवताओं और ब्राह्मणोंको २६ गाँव देनेवाले बरसभर लाख ब्राह्मणोंको खिलाने वाले, पुन्य तीर्थ प्रभासमें ब्राह्मणोंको आठ भार्या देने वाले ······ धर्मात्मा उषवदात (ऋषभदत्त) ने यह लेख बनवाई, पोखरांमें जाकर स्नान किया, तीनहज़ार गौ और गाँव दिये, अश्वभूति ब्राह्मणको खेत दिये"

इसही प्रकार नहपानकी बेटी दत्तमित्राका भी दान है। उषवदातके भी अन्य कई भारी २ दान हैं। उसके बेटे मित्रदेवणकका भी दान है। नहपानके अमात्य वत्सगोत्री अयमका भी दान है।

उज्जैनके बाद शकोंने मथुरा जीता, फिर पंजाब भी लेलिया और यवनोंका अन्त कर दिया, मथुरामें उनका एक लेख मिला है जिसका अर्थ इस प्रकार है :—

"महाक्षत्रप रजुलकी पटरानी युवराज खर-ओस्तसा बेटी की मां अयसिय कमुइअने अपनी मां दादी भतीजी सहित राजा मुकि और उसके घोड़ेकी भूषा करके शाक्य मुनि बुद्ध-का शरीर धातु प्रतिष्ठापन किया, स्तूप और संघाराम भी"

इसही प्रकार एक और लेखमें महाक्षत्रप रजुलके बेटे शुडसने बौद्ध संघकी पूजाके लिये और सारे शकस्तानकी पूजाके लिये पृथ्वी दान की इससे सिद्ध है कि यह शक कुछ तो बौद्ध धर्मी होगये थे और कुछ ब्राह्मण धर्मी।

पंजाबके कैकय देशमें एक शक राजा मोगका अधिकार ईसासे ९५ बरस पहले होगया। फिर ईसासे ६० बरस पहले उनका राज्य हज़ारा ज़िले तक होगया। ईसासे ४५ बरस पहले तक्षशिलामें बुद्धकी मूर्ति स्थापित कराई, जिसके लेखका अर्थ इस प्रकार है :—

"छहरात चक्षुका क्षत्रप लिअक कुसुलुक, उसका पुत्र पतिक तक्षशिलामें भगवान बुद्धकी मूर्ति प्रतिष्ठित कराता है, संघाराम भी, बुद्धोंकी पूजाके वास्ते," इससे सिद्ध है कि इस समय शकोंका राज चक्षु अर्थात् अटक तक पहुँच गया था और वे परम बौद्ध धर्मी थे। शक राजा मोगके सिक्के पंजाबमें बहुत मिलते हैं जिनपर लिखा होता है "राजतिराज महतस मोअस"

इन्हीं दिनों दक्खनमें गोतमी पुत्र राजा सात-कर्णिने शकोंसे राज छीनना शुरू कर दिया था, उज्जैन उनसे छिन ही गया था, इसकारण अब उनका राज केवल सिंध और गांधारमें ही रहगया था। गोतमी पुत्रके शिलालेखमें उसको शक, यवन और पह्लवों (पार्थिवों) का नाश करने वाला और वर्णोंका संकर रोकने वाला लिखा है जिससे साफ़ जाहिर है कि वह कट्टर ब्राह्मण धर्म को पालने वाला था, जात पातके भेदको खूब प्रचार देता था, और शकोंके साथ विवाह सम्बंध-को सख्तीके साथ रोकता था। गोतमी पुत्रका बेटा वसिष्ठिपुत्र राजा हुआ, उसने राज्यको और भी ज्यादा बढ़ाया; मगध देश भी जीता और उड़ीसा भी। ये सब राजा सातबाहनके नामसे प्रसिद्ध हुए और सालवाहन भी कहलाये। ईस्वी सन ६० तक इनका राज रहा; इसके बाद ऋषिक तुखार नामकी शक जातिने हिन्दुस्तानपर चढ़ाई करके उनसे राज्य छीन लिया।

इधर तो सीस्तानके शकोंका अधिकार हिन्दुस्तानसे उठरहा था लेकिन दूसरी तरफ़ बलख बदख्शांके ऋषिक तुखार जातिके शक दिग्विजय करते हुए हिन्दुस्तानकी तरफ़ आरहे थे, वे लोग काशगार, चतराल और दरद देश होते हुए हज़ारेसे गांधार पहुँचे। उनकी पाँच रियासतें थीं।

ये लोग साहु कहलाते थे। ईसासे २० बरस पहले इनमें एक रियासतका राजा कुशान हुआ, उसने अन्य चारों रियासतोंको भी जीत लिया, फिर पार्थवोंसे काबुलभी लेलिया, फिर कंधारभी। वह बौद्ध था, और अपनेको धर्मथिद (धर्म-स्थित) लिखता था, पीछे वह अपनेको देवपुत्रभी कहने लगा था, उसहीने सबसे पहले चीनमें बौद्ध-धर्मका प्रचार करनेके लिये चीनके राजाके पास अपने दूत भेजे थे। पिशावर और तक्षशिलामें भी उसका राज होगया था, वहाँ एक लेख मिला है जिसमें लिखा है कि 'महाराज राजातिराज देवपुत्र कुषणके आरोग्यके लिये बुद्धदेवकी मूर्ति स्थापित कराई।'

ईस्वी ३६ में उसका देहान्त होनेपर उसका बेटा विम राजा हुआ। ईस्वी ६० में उसने पंजाब-पर दखल किया, फिर मथुराकी तरफ बढ़ता हुआ बनारस तक जीतता हुआ चला गया। उसहीने सातवाहनसे उज्जैनका राज्य छीना। उसके सिक्कों पर "महरजस रजदिरजस सर्वलोग ईश्वरस महि-श्वरस विम" लिखा रहता है। मथुरामें एक देव-मंदिर मिला है, जिसमें एक मूर्ति विमकी भी है, मूर्तिके नीचे लिखा है "महाराज राजातिराजो देव पुत्रो कुषाण पुत्रो शाहि वेम" विम बड़ा प्रतापी राजा हुआ, उसका राज पूर्वमें चीन तक, पश्चिममें रूम तक और हिन्दुस्तानमें बनारस तक फैल गया था। राजधानी उसकी बदखशां थी। हिन्दुस्तानका राज्य वह अपने क्षत्रपों द्वारा करता था। ईस्वी ६८ में हिन्दुस्तानसे कश्यपमातंग और धर्मरत्न नाम-के दो बौद्ध साधु चीन भेजे गये थे, जिनकी वजहसे वहाँ एक भारी विहार तय्यार हुआ और बौद्धधर्मकी बुनियाद पड़ी। विम यद्यपि बौद्ध था परन्तु हिन्दुस्तानमें शैवधर्मका अधिक प्रचार हो जानेसे अपनी प्रजाको राज़ी रखनेके वास्ते वह अपने सिक्कोंपर शिवनन्दी (बैल) और त्रिशूल भी बनाने लगा था।

ईस्वी ७५ के क़रीब सातवाहन वंशके राजा महेन्द्रने विमका राज हिन्दुस्तानसे हटा दिया। पंजाबमें मुलतान और करोरके पास बड़ी भारी लड़ाई हुई। उस समय पंजाबमें शकोंकी तरफसे सिरकप का बेटा रिसालू राज्य करता था। महेन्द्रने उसको मारा और शक राज्यको हिन्दुस्तानसे बाहर कर दिया। महेन्द्रने सारा दक्खन देश, सिंध, काठियावाड़, बरार और मध्यदेश सब जीत लिया था। इधर बंगाल, उड़ीसा और उत्तरमें काशमीर भी अपने अधिकारमें करलिया था। यह तमाम देश जीतकर उज्जैनमें उसने एक भारी जलूस निकाला था, जिसमें बंगाल कर्नाटक, गुजरात, काशमीर और सिंधके राजा विन्ध्यबल नामक भील-राजा, निर्मूक नामक फ़ारसका राजा भी जुलूसमें शामिल थे। फिर कलिंग देशका राजा कलिंगसेन भी जो शबरों और भीलोंका स्वामी था अपनी कन्या देकर आधीन होगया था।

मालूम होता है कि विमके मरनेके बाद तुरन्त ही उसके राज्यका कोई अधिकारी नहीं हुआ। इसीसे यह सब गोलमाल हुआ जो १२ बरस तक रहा। पीछे उसके एक वंशज कनिष्कने राज्यकी बागडोर सम्हाली। वह अपने सिक्कोंपर "साहुआन साहुकनेष्क कोशान" लिखता था।

उसने चढ़ाई करके फिरसे सारे हिन्दुस्तानपर अधिकार कर लिया। खुतनके एक लेखमें लिखा है कि खुतनके राजा विजय संभवके वंशज विनयकीर्तिने कनिष्कके साथ मिलकर हिन्दुस्तानपर चढ़ाईकी और अयोध्या जीती। इसके बाद कनिष्क ने सातवाहन (सालवाहन) से उज्जैन जीतकर ईस्वी ७८ में एक संवत् चलाया जो बराबर अब तक चला आ रहा है। राजा विजय संभवके राज्यकालमें आर्य वैरोचनने खुतनमें बौद्धधर्म चलाया था। इस वंशका राज्य बहुत पीड़ी तक बनारहा। तेरहवीं पीढ़ीमें राजा विजयकीर्ति हुआ। ईसासे दो साल पहले चीनके राजदूत चीनमें बौद्धधर्म का प्रचार करनेके वास्ते कम्बोजदेशसे बौद्धधर्मकी पुस्तक ले गये थे। इससे सिद्ध है कि खुतन और कम्बोज आदि देशोंमें बहुत दिनोंसे बौद्धधर्म फैला हुआ था।

कनिष्क बड़ा भारी प्रतापी राजा हुआ है। वह कट्टर बौद्ध था। उसके द्वारा बौद्धधर्मकी असीम उन्नति हुई। उसने पाटलीपुत्रपर चढ़ाई कर वहाँके राजाको हराया, राजासे भारी हरजाना मांगा लेकिन वहांसे बुद्धभगवानका कमण्डलु मिलनेपर बौद्ध विद्वान् अश्वघोषको साथलेकर वापिस चला आया। इसके बाद ईरानके पह्लव राजाने हिन्दुस्तानपर चढ़ाईकी, परन्तु कनिष्कने घोर युद्धकर उसको भगाया। पिशावरकी खुदाईसे मिले हुए एक लेखमें जो शक संवत १ का है बौद्ध आचार्योंके प्रतिग्रहमें दिये गये कनिष्क बिहार और महासेनके संघारामका उल्लेख है। तीसरे बरस सारनाथमें बुद्धकी मूर्ति प्रतिष्ठापित कराई। ११ वें बरस भावलपुरमें राजाधिराज देवपुत्र कनिष्कके नामसे बुद्धकी मूर्ति प्रतिष्ठापित हुई। कनिष्कने चीनपर भी चढ़ाईकी थी, परन्तु रसद न पहुँचनेसे वापिस आना पड़ा था। उसने बदख्शांकी जगह पिशावरको अपनी राजधानी बनाया था। अशोककी तरह उसने भी बौद्धधर्म को दूर-दूर तक फैलाया। काशमीरमें बौद्धधर्म की एक भारी सभा कराई जिसमें ५०० विद्वान् इकट्ठे किये गये। बौद्धधर्मकी महायान नामकी नवीन संप्रदाय स्थापित हुई जो इस समय तक तिब्बत, चीन, जापान और कोरियामें चल रही है। बुद्ध भगवानके त्रिपिटकका भाष्य तैय्यार किया गया और तांबेके पत्रोंपर खुदवाकर सुरक्षित रक्खा गया। काशमीर देशकी सारी आमदनी धर्मप्रचारके वास्ते अर्पण करदी गई। दूर-दूर देशोंमें बौद्ध साधु धर्म-प्रचारके वास्ते भेजे गये, जहाँ कनिष्कने अनेक स्तूप, बिहार, मठ और चैत्य बनवाये।

ईस्वी १२१ में कनिष्कका देहान्त होनेपर उसका बेटा वासिष्क गद्दीपर बैठा, उसके पीछे हविष्क, यह भी कनिष्कके समान बौद्ध-धर्मका बड़ा भारी प्रचारक हुआ। इसका बनवाया हुआ एक महा विशाल बौद्ध संघाराम मथुरामें मिला है। काशमीरमें उसने हविष्कपुर नगर बसाया और बौद्ध-धर्मकी वृद्धि की। ईस्वी ६३१ में जब ह्वेनसांग नामका बौद्धयात्री वहाँ गया था तो उस समय वहाँ पाँच हजार बौद्ध साधु थे जो अनेक बौद्धधर्मशालायें चला रहे थे, हविष्कके बाद दूसरा कनिष्क राजा हुआ, और फिर वासुदेव राजा हुआ।

इस प्रकार ६८ बरस इस वंशका राज्य रहा। वासुदेवका राज ईस्वी १७६ तक रहा। काबुलसे मथुरा तक उसका राज था। बिलोचिस्तानमें कुछ ऐसे लेख मिले हैं; जिनसे सिद्ध होता है कि वहाँ भी उसका राज था और वहाँ भी बौद्ध-धर्म फैल गया था। वह बौद्ध-धर्म प्रचारक था, परन्तु प्रजाको खुश रखनेके वास्ते अपने सिक्कोंपर शिव, नन्दी और त्रिशूलकी मूर्ति बनाने लगा था। ईरानके सासानी राजा भी ईसाकी तीसरी शताब्दी में अपने सिक्कोंपर शिव और नन्दीकी मूर्ति बनाने लगे थे।

उज्जैनका राज्य ईस्वी ११० में एक पुराने महाक्षत्रप चष्टनने कनिष्कके बेटोंसे छीन लिया था। चष्टनका बेटा जयदामा और पोता रुद्रदामा हुआ। ईस्वी १३० में रुद्रदामाने दक्षिण देशके महाराजा गौतमीपुत्रके बेटे राजा सातकार्ण पुलुमायाको अपनी बेटी व्याह दी थी। उस समय रुद्रदामाका राज्य कच्छ देशमें ही रह गया था। पुलुमायाके पिता गौतमीपुत्रने दक्षिणका बहुतसा राज्य रुद्रदामासे छीन लिया था. वह कट्टर हिन्दू था और शकोंको हिन्दुस्तानसे निकालना चाहता था। ईस्वी १५० में रुद्रदामाने अपने जमाई सातकर्णिसे लड़ाई करके वह सब देश छीन लिया जो सातकर्णिके पिता गौतमीपुत्रने रुद्रदामासे छीन लिया था। गिरनारके पास एक बहुत बड़ी झीलका बाँध टूट गया था, रुद्रदामाने उसकी मरम्मत कराई। यह झील जैनराजा चन्द्रगुप्तने बनवाई थी, इससे दूर-दूर तक खेतोंकी आबपाशी होती थी। महाराजा अशोकने तुशासप नामके अपने गवर्नरकी मारफ़त अतुल धन लगाकर इस झील-को पक्का बना दिया था और नहरें निकाल दी थीं। शक राजा रुद्रदामाने इसकी मरम्मत कराई और लेख खुदवाया जिसका सारांश इस प्रकार है:—

"आकर अवन्ति, नीवृत, आनर्त, सुराष्ट्र, श्वभ्र, मारवाड़, कच्छ, सिंधु, सौवीर, कुकर, अपरान्त, निपाद आदि सब प्रदेशोंका स्वामी यौधेयोंके राज्यको जबरदस्ती उखाड़ फेंकने वाला अपने सम्बन्धी सातकर्णीको लड़ाईमें दो बार जीतने वाला, महाक्षत्रप नाम वाला, राज कन्याओं के स्वयंबरों में मालायें पाने वालेने ... झीलकी मरम्मत कराई।"

इससे सिद्ध है कि शकराज अब फिर उज्जैन से लेकर पच्छिममें सिंध तक और सारे दक्खन में फैल गया था। यौधेय जाति पंजाबमें सतलज के पास रहती थी, उसकोभी रुद्रदामाने दो बार हराया अर्थात् इधरभी उसका राज होगया। इस लेखसे यह भी स्पष्ट सिद्ध होता है कि इतना ही नहीं था कि हिन्दुस्तानके क्षत्रिय लोग इन शकोंकी कन्या ले तो लें किन्तु देते नहीं, बल्कि क्षत्रिय राजाओंकी कन्यायें भी इन शक राजाओं के गलेमें वरमालायें डालती थीं और इनसे व्याही जाती थीं।

रुद्रदामाके मरने पर उसके बेटों, दामजद और रुद्रसिंह में लड़ाई रहती रही। अव्वल दामजद राजा हुआ, फिर उसके पीछे रुद्रसिंहका बेटा रुद्रसेन राजा हुआ। उसके बाद उसका भाई सिंह दामा, फिर उसका भाई दामसेन ईस्वी २३६ तक राजा रहा। दामसेनके बाद ईश्वरदत्त नामके

एक आदमीने इन क्षत्रपोंसे राज छीन लिया। वह कोई आभीर सेनापति मालूम होता है, क्योंकि उनदिनों आभीर लोग बहुत ज़ोरोंपर थे और राजपूतानेके पूर्व तरफ आबसे थे, इन आभीरोंने दक्षिणका राज्य भी सातवाहनोंसे छीन लिया था।

इसके बाद एकसौ बरस तकके इतिहासका कुछ भी पता नहीं लगता है। ईस्वी ३०८ में पाटलीपुत्र नगरके पास किसी ग्रामके एक छोटेसे राजा चन्द्रगुप्तको लिच्छवि वंशकी कन्या कुमारदेवी व्याही गई। यह लिच्छवि वंश वैशालीके उस राजा चेटकका वंश है जिनकी कन्याओंसे श्री महावीरस्वामीके पिता राजा सिद्धार्थ और मगध देशके राजा श्रेणिक व्याहे गये थे। चन्द्रगुप्तने ऐसे महान् वंशकी कन्यासे व्याह होनेको अपना बहुत ही भारी गौरव माना, वास्तवमें इस सम्बन्धके प्रतापसे ही वह महाराज हो गया। और चन्द्रगुप्तका राज्य शुरू हुआ। उसने अपने सिक्कों पर लिच्छिवियोंकी बेटीके नामसे अपनी स्त्रीकी भी मूर्ति बनवाई। उसकी सन्तान बड़े गर्वके साथ अपनेको लिच्छियोंके दोहते कहा करती थी। चन्द्रगुप्तने अपना राज तिर्हुत, बिहार और अवध तक फैलाया, विष्णुबंधु नामके बौद्ध साधुके उपदेशसे उसने बौद्ध-धर्म ग्रहण किया और शिक्षाके वास्ते अपने बेटे समुद्रगुप्तको उसकी शागिर्दीमें दिया। ईस्वी ३३१ में उसका देहान्त हो गया और समुद्रगुप्त राजा हुआ।

वह ब्राह्मण धर्मी हुआ, बड़ी-बड़ी लड़ाई लड़ी, दूर-दूर तक राज्यका विस्तार किया। उसने सारा हिन्दुस्तान, दक्खन, उड़ीसा, बंगाल और आसाम सब जीत लिया, यहाँ तक कि मध्यदेश और दक्खनके सब जंगली राजा भी जीते। दक्खनसे वह असंख्य धन लूटकर लाया। उत्तरमें नैपाल, कमाऊं, गढ़वाल और कांगड़ा भी जीता, पच्छिममें मालवा और राजपूतानाके राजा भी अपने आधीन किये। इस भारी दिग्विजयके बाद उसने अश्वमेध यज्ञ किया, और असंख्य द्रव्य ब्राह्मणोंको दिया, सिक्कों पर यज्ञ-स्तम्भसे बंधे हुए घोड़ेकी मूर्ति बनी है, और "अश्वमेध पराक्रम" लिखा हुआ है। पचास बरस राज्य करनेके बाद ईस्वी ३७५ में उसका देहान्त हुआ। उसका बेटा गद्दी पर बैठा जो चन्द्रगुप्त द्वितीयके नामसे प्रसिद्ध हुआ, उसने अपना नाम विक्रमादित्य रखा। उसने पच्छिममें चढ़ाई कर मालवेको जीता, फिर काठियावाड़ और गुजरातको शकोंके हाथसे छीना। वह कट्टर हिन्दू था और शकोंको बिल्कुल ही समाप्त करदेना चाहता था। कहते हैं कि उसहीने शक राजा सत्यसिंहके बेटे रुद्रसिंहको क़त्ल किया और सारा राज लेकर उनका अधिकार हिन्दुस्तानसे उठा दिया।

ईस्वी ४१३ में उसका बेटा कुमारगुप्त राजा हुआ। वह अपनी राजधानी पाटलीपुत्रसे उठाकर अयोध्या ले गया। उसने भी अश्वमेध-यज्ञ किया। ईस्वी ४५५ में उसका देहान्त हो गया, जिसके बाद उसका बेटा स्कंदगुप्त गद्दी पर बैठा। उसही वक्त हूण नामकी जंगली जाति चीनके उत्तर पच्छिमसे आकर भारी लूटमार करने लगी थी, उसने बड़ी बहादुरीसे हूणोंको हटाया और जीतकी खुशीमें एक भारी लाट बनवाई, जिसके

ऊपर विष्णु भगवानकी मूर्ति बनाई गई। गिरनार की झीलकी फिर मरम्मत कराई और बहुमूल्य विष्णुका मन्दिर बनवाया। ईस्वी ४६५ में फिर हूण लोग आये और पंजाबमें गांधार देश पर काबिज हो गये। फिर ईस्वी ४७० में हूणोंने स्कन्दगुप्त पर भी हमला कर दिया। राजा उनका मुक़ाबिला न कर सका और ४८० ईस्वीमें मर गया, जिसके बाद उसका भाई पुरगुप्त गद्दी पर बैठा, फिर ४८५ में पुरगुप्तका बेटा नरसिंहगुप्त बालादित्य राजा हुआ। वह बौद्ध धर्मी था। उसने मगध देशमें नालन्दा मुकाम पर ३०० फिट ऊँचा एक बौद्ध मन्दिर बनवाया जो सोने और रत्नोंकी जड़ाईसे जगमगाता था। ५३५ ईस्वीमें उसका बेटा कुमारगुप्त द्वितीय गद्दी पर बैठा, परन्तु उसका राज्य मगधके एक हिस्से पर ही रहा, नालन्दा बौद्ध धर्मकी शिक्षाका एक भारी केन्द्र रहा, जबतक कि मुसलमानोंने आकर उसको जला नहीं दिया। यहाँसे शकोंकी कहानी तो समाप्त होती है और हूणोंकी कहानी शुरू होती है, जो किसी दूसरे ही लेखमें लिखी जा सकती है।

हिन्दुस्तानमें अब शकोंका राज्य नहीं रहा, लाखों करोड़ों शक जो यहाँ आये थे सब हिन्दू होकर हिन्दुओंमें ही रल-मिल गये। अब कोई पहचान इस बातकी नहीं रही है कि कौन शक हैं और कौन उनके आनेसे पहलेके हिन्दू हैं, परन्तु हिन्दुस्तानसे बाहर उनके अपने देशमें जो शक लोग रह गये थे, वे बराबर बौद्ध बने रहे और बड़े भारी प्रभावके साथ बौद्ध धर्मको पूजते रहे। ४०५ ईस्वीमें फाइयान नामका एक बौद्ध यात्री चीनसे हिन्दुस्तान आया था। वह अपनी यात्राके वर्णनमें लिखता है कि, "खुतानमें उसने बौद्धधर्म का बड़ा भारी प्रचार देखा, जहाँ प्रत्येक घरके दरवाजे पर स्तूप बने हुये थे। घरवाले नित्य उनकी पूजा करते थे। वहाँके राजाने उसको गोमती नामके संघाराममें ठहराया, जिसमें ३ हजार बौद्ध साधु रहते थे। उसके सामने वहाँ रथ-यात्रा भी हुई। रथ बहुत बड़ा था, जो एक महलके समान मालूम होता था और बहुत ही बढ़िया सजाया हुआ था, सोने चान्दीकी मूर्तियाँ उसमें विराजमान थीं। राजा मुकट उतार कर नंगे पाँव अगवानीको जाता था और शाष्टांग प्रणाम कर पूजा करता था। शहरसे बाहर राज्यकी तरफ़से एक संघाराम बना हुआ था, जो ८० बरसमें बनकर तय्यार हुआ था; उसमें बहुत भारी पच्चीकारीका काम हो रहा था—सोने चान्दीके पात्रों और रत्नोंसे जगमगा रहा था, पासही बुद्धदेवका मन्दिर था, जिसकी शोभा वर्णन नहीं की जा सकती। सारे मन्दिरमें सोनेके पत्र जड़े हुए थे। यहाँ दस हजार बौद्ध साधु रहते थे।" वहाँसे वह काबुल आया और स्वात, गांधार और तक्षशिला होता हुआ पिशावर आया, जहाँ बहुत ऊँचा सुन्दर और बहुत मजबूत स्तूप देखा। रास्तेमें जगह २ अनेक स्तूप और मन्दिर देखे परन्तु ऐसा भव्य और सुन्दर कोई न था। चीनी तुर्किस्तानका राजा भी बौद्ध था, वहाँ चार हजार बौद्ध साधु रहते थे।

उधर चीनमें भी इन्हीं शक और पह्लवोंकी कृपासे बौद्ध धर्म फैल गया था; जो अब तक क़ायम है। १५५ ईस्वीमें लोकोत्तम नामका एक

बौद्ध साधु चीन पहुँचा। वह एक पह्लवी युवराज था, जो राजगद्दीको लात मारकर बौद्ध साधु हो गया था। वह बहुत बड़ा विद्वान था, चीनमें जाकर उसने चीनी भाषा सीखी, फिर चीनी भाषामें बौद्ध ग्रंथोंका अनुवाद कर बौद्ध धर्म फैलाया। उसके तीन बरस बाद लोकक्षेम नामका एक शकसाधु वहाँ गया और १८८ ईस्वी तक बौद्ध धर्मका खूब प्रचार करता रहा। २३८ ईसवीमें काबुल निवासी बौद्ध साधु संघभूतिने तीन बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषामें अनुवाद किया। बुद्ध यशस पुन्यतर और विमलाक्ष नामके तीन बौद्ध साधुओं ने चीन जाकर बौद्ध धर्मका प्रचार किया। ४०३ ईसवीमें धर्मरक्ष साधु चीन गया।

कुमारजीव नामका एक तुर्क ३८३ ईस्वीमें चीन गया, वहाँ उसने संस्कृतकी अनेक पुस्तकोंका अनुवाद चीनी भाषामें किया और उनके द्वारा वहाँ बौद्ध धर्म फैलाया। इसके ढाई सौ बरस बाद तकका भी पता लगता है कि उस वक्तभी तुर्किस्तान संस्कृत विद्याका केन्द्र था। तुर्किस्तानके राजा स्वर्णपुष्यका पुत्र स्वर्णदेव बड़ाही धर्म-निष्ठ बौद्ध था। ५८० ईस्वीमें अफ़ग़ानिस्तानके बौद्ध साधु ज्ञानगुप्तने तुर्क सरदारको बुद्ध धर्मकी दीक्षा दी थी। ६२६ ईस्वीमें प्रभाकरमित्र नामका बौद्ध साधु धर्म प्रचारके वास्ते तुर्किस्तानसे चीन गया था। १८६० ईस्वीमें तुर्किस्तानके एक स्तूपमें से भोजपत्रपर लिखी हुई एक संस्कृतकी पुस्तक मिली,इससे भी पहले जर्मनयात्रियोंको तुर्फानमें ताड़-पत्रपर लिखे हुए कई ग्रंथ मिले थे। १८६२ ईस्वीमें फ्रांसीसी यात्रीको खुतनके पास भोजपत्र पर लिखा हुआ एक ग्रन्थ मिला। १६०४ में जर्मन-यात्रियोंको यहाँके आसपाससे अनेक संस्कृत ग्रन्थ मिले। एक जगह प्राकृत ग्रन्थ लकड़ी पर खुदे हुए मिले। तुर्किस्तानमें एक जगह सहस्त्र बुद्धकी गुफ़ा के नामसे प्रसिद्ध हैं, उसकी खुदाई की गई थी, वह फ्रांसीसी विद्वान वहाँ भी पहुँचा तो दीवारोंपर दसवीं शताब्दीके बौद्ध चित्र देखे। १६०० में यहाँसे एक ग्रन्थ भी मिला था। इस फ्रांसीसी विद्वानने अधिक खोज करी तो गुफ़ाके अन्दर एक छोटी गुफ़ा मिली जिसमें ग्रन्थ ही ग्रन्थ भर रहे थे। यह ग्रन्थ चीनी तिब्बती और संस्कृत भाषामें थे, पंद्रह हज़ार पुस्तकें थीं, १०३५ ईसवी में आक्रमण कारियोंके डरसे ये पुस्तकें एक गुफ़ामें रखकर ईंटोंसे चिनाई करदीगई थी। बहुतसे ग्रन्थ रेशम पर भी लिखे हुए मिले हैं, इससे स्पष्ट सिद्ध है कि यद्यपि हिन्दुस्तानमें बौद्ध धर्मकी समाप्ति बहुत पहले होगई, परन्तु अफ़ग़ानिस्तान और तुर्किस्तान आदिमें वह बहुत दिनोंतक बनारहा और बहुत ही उन्नत अवस्थामें रहा।

इसप्रकार हिन्दुस्तानसे बाहर तो काबुल, कंधार, बलख, बदख़शा, खुतन और बाख्तरसे लेकर चीन तक बौद्ध धर्मके द्वारा अहिंसापरमोधर्मः का डंका बजरहा था, परन्तु हिन्दुस्तानमें शक राज्य समाप्त होजानेपर, फिरसे हिंसामय वैदिकधर्मका प्रचार शुरु होगया था। और दिन-दिन ज़ोर पकड़ता जाता था। मौर्य-राज्य समाप्त होजानेके पश्चात इन शकोंके द्वारा ही बौद्धधर्मका बहुत कुछ प्रचार होकर अहिंसा परमोधर्मः का प्रचार होता रहा है, महाप्रतापी शकराजा कनिष्कके

राज्यमें तो महाराज अशोकके समान ही बौद्धधर्मकी उन्नति होकर अहिंसा धर्मका झंडा हिन्दुस्तानमें फहराता रहा है, परन्तु इन शकों का राज्य समाप्त होनेपर धर्मके नामसे हिंसाका जो प्रचार इस पुण्यभूमि हिन्दुस्तानमें हुआ है, वह अकथनीय है। शक राज्यका सूर्य मंद पड़जानेपर ही यहाँ ब्राह्मणों द्वारा मनुस्मृति नामकी धर्मपुस्तक बनाई गई है, जिसमें डंकेकी चोट पशुहिंसा करने और मांस खानेको आवश्यक धर्मानुष्ठान बताया गया है और अहिंसाधर्मका पालन करनेके कारणही शकोंको पतित ठहराया गया है, मनुस्मृति नामकी इस धर्मपुस्तकके कुछ नमूने इस प्रकार हैं:-

यज्ञार्थं ब्राह्मणैर्वध्याः प्रशस्ता मृग पक्षिणः

—५,२२

भावार्थ—यज्ञके वास्ते उत्तम २ पशु-पक्षि ब्राह्मणों के द्वारा बध किये जाने चाहियें।

नियुक्तस्तु यथा न्यायं यो मांसं नात्ति मानवः
सप्रेत्य पशुतां याति संभवानेक विंशतिम्

—५,३५

भावार्थ—श्राद्ध व मधुपर्क आदि अनुष्ठानोंमें नियुक्त हुआ जो मनुष्य मांस नहीं खाता है, वह कईबार पशुका जन्म लेता है।

इस प्रकार ब्राह्मणोंको पशु-पक्षियोंको मारने और श्राद्धादिमें मांस खानेकी कड़ी आज्ञा देकर मनुस्मृति अहिंसा धर्मके मानने वाले शक आदिकों को जाति और धर्म दोनोंसे किस तरह नीचे गिराता है, यहभी सुन लीजिये:—

शनकैस्तु क्रिया लोपादिमाः क्षत्रिय जातयः
वृषलत्वं गतालोके ब्राह्मणादर्शनेनच

पौण्ड्काश्चौड्द्रविड़ाः काम्बोजा यवनाः शकाः
पारदा पह्लवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः

—१०,४३,४४

भावार्थ—पौंड्, औड्, द्राविड़, कम्बोज, यवन, शक, पारद, पह्लव, चीनी, किरात, दरद और खश यह सब क्षत्रिय थे। परन्तु आहिस्ता २ धर्म-क्रिया लोप होनेसे और ब्राह्मणोंको न माननेसे पतित होगये। इनमेंसे यवनोंका कथन तो सबसे पहले किया जा चुका है कि वह यूनान देशके रहने वाले थे और उनमें कुछ ब्राह्मणधर्मी और अनेक बौद्धधर्मी हो गये थे। अहिंसामय बौद्धधर्मको मानना ही उनका ऐसा भारी अपराध था जिसके कारण मनुमहाराजने उनको क्षत्रिय जातिसे नीचे गिरा दिया और धर्मभ्रष्ट बतादिया। पह्लव वा पार्थव भी कुछ बौद्धधर्मी हो गये थे और चीन आदिकमें जाकर बौद्धधर्म फैलाते थे। अब रह गये शक वह तो पक्के जैन वा बौद्धधर्मी और अहिंसा परमोधर्मःका डंका बजाने वाले थे ही। जब तक हिन्दुस्तानमें उनकी हुकूमत रही, तब तक तो यहाँ दया धर्मका ही झंडा लहराता रहा था और यज्ञ आदिमें पशु पक्षियोंका होम करना बहुत ही मंद पड़गया था, तब वह तो मनुमहाराजके कोप भाजन बननेही थे. कम्बोज और दरद भी इन शकोंके देश वासी और साथी ही थे, तब वे कैसे छूट सकते थे। हाँ! चीनियोंकी बाबत जरूर हँसी आती है: उन्होंने कब ब्राह्मण-धर्म माना था और कब वह ब्राह्मणोंको पूजनेथे? जिसके छोड़ देनेसे मनु-महाराजको उन्हें पतित करना पड़ा। उनका तो अबतक हिन्दुस्तानसे कुछ धार्मिक सम्बन्ध भी

नहीं हुआ था। उन बेचारोंकी बाबत तो मनुमहाराज के कानमें शायद इतनीसी भनक पड़गई होगी कि शाक लोग वहाँ भी बौद्धधर्म फैलानेकी कोशिश कर रहे हैं। बस इतनेहीसे आग-बबूला होकर उनको भी धर गिराया। उधर उड़ीसाके निवासी जैनी थे और पौंड्र देशमें भी राजा खारवेलके द्वारा जैन-धर्म फैल गया था। इसकारण ये लोग तो दंडके योग्य थे ही। अब रहे द्राविड़ यह सब लोग दक्षिणी हैं; दक्षिणको ही द्राविड़ देश कहते हैं। दक्षिणमें श्री भद्रबाहुस्वामीके संघके चले जानेके कारण वहाँ जैनधर्मका कुछ २ प्रचार होने लगा था। यहही भनक कानमें पड़ने के कारण मनु-महाराजका पारा तेज होगया और सारेही द्राविड़ोंको पतित लिख दिया। उन्हें क्या मालूम था कि अभी थोड़े ही दिनोंमें द्राविड़ लोग ही अर्थात शालिबाहन आदि आन्ध्र राजा इस राज्यको ब्राह्मण राजाओंसे छीनकर ब्राह्मण धर्मकी रक्षा करेंगे और मनुमहाराज जैसे अनेक ब्राह्मणोंसे जय-जयकारका आशीर्वाद प्राप्त करेंगे। अभी २ पाठकोंने पढ़ा है कि कण्व ब्राह्मणोंसे आँध्रोंने राज छीन लिया और सातकर्णि वा सातबाहन वा साल-बाहनके नामसे अनेक पीढ़ी तक राज करते रहे। ये आँध्र लोग द्राविड़थे जिनकी बाबत मनुस्मृतिने उनके धर्म-भ्रष्ट और जाति-भ्रष्ट होनेकी आज्ञा दे रक्खी है। परन्तु अब राजा होने पर तो वे उससे उच्च धर्मात्मा और कुलीन हो गये हैं, इसही प्रकार मनुमहाराजने लिच्छिवियोंको भी उनके जैनी होनेके कारण हीन और पतित जातिके बताया है परन्तु उसको क्या मालूम था कि इन्हीं लिच्छि-वियोंके साथ सम्बन्ध होजानेके कारण ही गुप्त-वंशी राजा चन्द्रगुप्तका गौरव बढ़ेगा, आंध्रों (द्राविड़ों) के बाद लिच्छिवियोंके ही दोहतोंका अटल राज्य सारे हिंदुस्तानमें होगा। इसही गुप्तवंश के द्वारा ब्राह्मण-धर्मका प्रचार होगा और इन्हींका जय बोली जायगी। यह तो रहे मनुमहाराजके उद्गार; अब दूसरोंकी भी सुनिये जो इनसेभी ऊँचे कूदे और जिन २ देशों में बौद्ध या जैन रहते थे उनकी बाबत यहाँतक लिख मारा कि जो कोई उन देशोंमें जायगा उसको घर आनेपर प्रायश्चित करना पड़ेगा।

> अङ्ग बङ्ग कलिङ्गेषु सौराष्ट्रमगधेषुच ।
> तीर्थ यात्रां विना गत्वा पुनः संस्कारमर्हति ॥
>
> —सिद्धान्तकौमदीकी तत्वबोधनी टीका

भावार्थ—बंगाल, उड़ीसा, काठियावाड़ और मगध देशमें जो कोई तीर्थयात्राके सिवाय अन्य किसी कारणसे जावेगा तो उसको फिरसे संस्कार कराना पड़ेगा।

> सिंधु सौवीर सौराष्टं तथा प्रत्यंत वासिनः
> कलिङ्ग कौङ्कणन्बङ्गान् गत्वा संस्कारमर्हति ।
>
> —देवल स्मृति

भावार्थ—सिन्धु-सौवीर, सोरठ और इनके आस-पासके देशोंमें जानेसे और उड़ीसा, कोकन, बंगाल देशमें जानेसे संस्कार कराना पड़ेगा।

पातंजलि अष्टाध्यायीके अपने महाभाष्यमें लिखता है कि शक और यवन शूद्र हैं, तो भी आर्य लोग उनको अपने बर्तनोंमें भोजन कराते हैं। (२, ४, ७) विष्णु-पुराण और ऐसा ही वायु

पुराणमें लिखा है कि सगरने अपने बैरी हैहयों और तालजंघोंका नाश करके उनके साथी शक, यवन, कम्बोज और पह्लवोंको भी नाश करना चाहा, जिन्होंने डरकर उसके गुरू वशिष्ठकी शरण ली। गुरूने सगरको समझा दिया कि मैंने उनको द्विजातिसे गिरा दिया है, अब तू उनको मत मार. तब सगरने यवनोंको सारा सिर मुँडवाते रहनेकी, शकोंको आधा सिर मुंडानेकी, पारदोंको बाल बढ़ाये रखनेकी, और पह्लवोंको दाढ़ी रखानेकी आज्ञा दी। उनको और अन्यभी अनेक क्षत्रिय जातियोंको होम करने और वेद पढ़नेसे बंदकिया; इससे वे सब जातियाँ म्लेच्छ होगई।

एतच मयैव,त्वत्प्रतिज्ञा परिपालनाय
निज धर्म द्विजसंग परित्यागं कारिताः।
स थेति तद् गुरु वचनम भिनंद्य
तेषां वेषान्यत्व मकारयत्।
यवनान्मुंडिल शिरसोर्ध्व मुंडांछकान्
प्रतंबके शान्यारदान् पह्लवांश्च श्मश्रुधरान्
निःस्वाध्याय वषट् कारान् एतानन्यांश्च
क्षत्रियांश्चकार ते च निज धर्म परित्यागाद्
ब्राह्मणैश्च परित्यक्ता म्लेच्छतां ययुः

इस प्रकार ज्यों २ शकोंकी हुकूमत हिन्दुस्तानसे उठती गई; त्यों त्यों उनकी निन्दा अधिक २ होती गई, यहाँ तक कि वे म्लेच्छ बना दिये गये, परन्तु उनके वास्तविक गुणोंका गौरव हृदयसे कैसे हट सकता था, इसही कारण गर्ग संहितामें लिखा है कि यद्यपि यवन लोग म्लेच्छ कहलाते हैं; परन्तु वे ज्योतिषके पण्डित हैं, इस कारण ब्राह्मणोंसे भी ज्यादा ऋषियोंके समान पूजने योग्य हैं। भविष्य पुराणसे पता चलता है कि हिन्दुओंने सूर्य भगवानकी मूर्ति बनाकर पूजना ईरान (फ़ारिस) वालोंसे ही सीखा। सूर्य देवताकी जो मूर्ति बनाई जाती है, उसके पैरोंमें घुटनोंतक जूता होता है, जैसाकि ईरानी लोग पहनते थे। हिन्दुस्तानमें सूर्य देवताके हज़ारों मन्दिर बने, परन्तु इन मन्दिरोंके पुजारी सब ईरान देशसे ही बुलाये गये, जो मग कहलाते थे। इस प्रकार इनसे धर्म भी सीखते थे और म्लेच्छ भी कहनेमें नहीं लजाते थे।

जो हो, ब्राह्मणोंने तो इन शक आदिकोंको धर्म वा जातिसे पतित वा म्लेच्छ इस कारण कहा कि उन्होंने जैन और बौद्ध होकर अहिंसा परमोधर्मःका डंका बजाया, जिससे ब्राह्मणोंके हिंसा-मय यज्ञ और अन्य भी सबही हिंसा-मय धर्म-क्रियाओंका प्रचार बंद हो गया; परन्तु ब्राह्मणोंका प्रताप बढ़ने पर जब उन्होंने इन शक और यवनोंको म्लेच्छ कहना शुरू किया तब इनकी हाँमें हाँ मिलानेके लिये जैनियोंने भी इनको म्लेच्छ कहना शुरू कर दिया। इस बातका बड़ा आश्चर्य है! सच तो यह है कि जबसे जैन और बौद्धोंका राज्य समाप्त होकर ब्राह्मणोंका राज्य हुआ था, तबसे जैनियोंकी रक्षा करने वाला अगर कोई था तो यह शक लोग ही थे, जिनके राज्य कालमें इनको अपने धर्म-पालनकी सब ही सुविधायें बनीं रहीं, इस कारण जैनियोंको तो इन शकोंका महाकृतज्ञ होना चाहिये था, परन्तु संसार भी कैसा विचित्र है कि इन शकोंकी हुकूमत समाप्त होकर ब्राह्मणोंकी हुकूमतका डंका बजने पर जैनी भी इन शकोंको म्लेच्छ कहने लगे।

(ले०—पं० हरिप्रसाद शर्मा 'अविकसित')

(१)

जिसकी दया दृष्टिसे हिंसक जन्तु बने थे दया निधान,
किया असंख्यों जीव धारियोंका जिसने जगके कल्याण ।
मृग, शावक औ शेर, अजा, जल एक घाटपर पीते थे,
एक ठौर मिल मोद मनाते भेड़, भेड़िये, चीते थे ।
हिंसासी पिशाचिनीको दे डाला जिसने निर्वासन ।
वन्दनीय उस वीर-प्रभुका धन्य-धन्य वह प्रिय शासन ॥

(२)

ऊंच-नीचका भेद मिटाकर बाँधा समताका सम्बन्ध,
भरदी नर-रूपी पुष्पोंमें दया भावकी नूतन गन्ध ।
राग-द्वेष दुर्भाव मिटाकर हृदय सुमन सब दिये खिला ,
बिखरी मानवताकी मालाके मोती सब दिये मिला ।
दिया अहिंसाकी देवीको अतिऊँचा पावन आसन ।
वन्दनीय उस वीर-प्रभुका धन्य-धन्य वह प्रिय शासन ॥

(३)

जिनके चरणोंपर इन्द्रादिक नाना रत्न चढ़ाते थे,
ध्यान मग्न जिनके शरीरसे बन-पशु देह खुजाते थे ।
बाघ-निदाघ-समयमें जिनकी छायाको अपनाते थे,
नाग सूंड रख जिस मुनिवरके चरणोंमें सोजाते थे ।
खग करते थे निकट बैठकर णमोकारका उच्चारण ।
वन्दनीय उस वीर-प्रभुका धन्य-धन्य वह प्रिय शासन ॥

(४)

जिसकी आभा लखकर फूटी मरु-प्रदेशमें सरिता धार,
तटपर बैठा देख रुका सागरका भी अति भीषण ज्वार ।
स्वास सुरभि पा वायु प्रसारित कर देता था भक्ति तरङ्ग,
धनुष-बाण निज जिन्हें देखकर रख देता था दूर अनङ्ग ।
खग-नृप-देवाधिप करते थे जिन चरणोंका आराधन ।
वन्दनीय उस वीर-प्रभुका धन्य-धन्य वह प्रिय शासन ॥

(५)

दिव्य ज्योति लख जिनकी होती थी, लज्जित शशिकी मुस्कान,
दर्शन पाकर प्राणी पीड़ा होजाती थी अन्तर्धान ।
धरा धारकर पद-पद्मोंको होजाती थी जिनके धन्य,
रही जगमगा जगमें जगमग जिनकी धवल सुकीर्ति अनन्य ।
किन्नर और अप्सरा जिनपर बरसाते थे देव-सुमन ।
वन्दनीय उस वीर-प्रभुका धन्य-धन्य वह प्रिय शासन ॥

(६)

खिल उठती थी उषा देखकर जिनका दिव्य अलौकिक तेज,
प्रकृति बिछा देती थी नीचे हरी मखमली दूर्वा सेज ।
मेघ तान देते थे जिनके सिरपर शीतल छाया छत्र,
दर्शन करने मानो प्रभुके होते थे नभपर एकत्र ।
प्रभु-तन-आभा बिजली बनकर करती थीं नभमें गर्जन ।
वन्दनीय उस वीर-प्रभुका धन्य-धन्य वह प्रिय शासन ॥
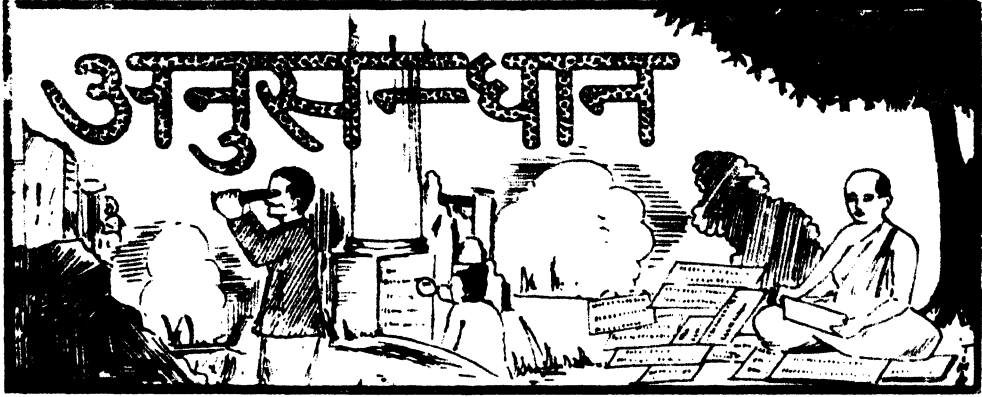
श्रीपालचरित्र साहित्य

(ले०—श्री अगरचन्दजी नाहटा बीकानेर)

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सम्प्रदायोंमें श्रीपाल राजाकी कथा विशेष रूपसे प्रचलित है और वह भी सैंकड़ों वर्षोंसे। अतएव इस कथाका साहित्य विपुल प्रमाणमें उपलब्ध होना स्वाभाविक ही है। उस सारे साहित्यकी पूरी खोजकर एक आलोचनात्मक निबंध लिखनेकी कई वर्षोंसे इच्छा थी और गतवर्ष तद्विषयक श्वेताम्बर साहित्यकी एक सूची भी तैयार करली थी पर दिगम्बर साहित्यका यथोचित पता न होने से † वह यों ही पड़ी रही। कई दि० विद्वानोंसे पूछनेपर भी इस सम्बन्धमें विशेष ज्ञातव्य नहीं मिला, अत: अबतक अन्वेषणके फलस्वरूप जो कुछ विदित हुआ है उसे प्रकाशित कर देना परमावश्यक समझता हूँ, जिससे जितना अन्वेषण अपूर्ण रह रहा है, वह भविष्यमें पूर्ण होकर विशेष रूपसे विचार करनेका अवकाश प्राप्त होसके। आशा है विद्वद्गण इस सम्बन्धमें विशेष प्रकाश डालनेकी कृपा करेंगे।

† पता न होनेका मुख्य कारण यह है कि दि० जैन-ग्रन्थोंकी कोई भी विशाल एवं प्रामाणिक सूची प्रकाशित नहीं हुई; जबकि श्वेताम्बर समाजमें १ जैनग्रथावली २ बड़ी भंडार सूची ३ सूरत (११ भंडार) भांडागार दर्शिका सूची ४ मोहनलालजी ज्ञानभंडार सूरत-सूचीपत्र ५ उज्जैन भंडारसूची ६ रत्नप्रभाकर ज्ञानभंडार ओसिया ७ जैसलमेर भंडार सूची ८ पाटण भंडार सूची ९ भांडारकर ओरियंटल रिसर्च इन्स्टीटयूट संग्रहकी सूची (भा० १-२) १० कलकत्ता संस्कृत कॉलेज जैनग्रन्थ सूची ११ रॉयल एसियाटिक सोसायटी-जैनग्रन्थ सूची १२ बम्बई एसियाटिक सोसायटी जैनग्रन्थ सूची व अनेक रिपोर्ट तथा १३ जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास जैसी पुस्तकें प्रकाशित होचुकी हैं। दि० समाजका सर्व प्रथम कर्तव्य है कि वह जैनसाहित्यके इतिहासकी भांति शीघ्र न होसके तो भी जैनग्रन्थावलीकी भांति सर्व दि० ग्रन्थोंकी विशाल सूची प्रकट अवश्य करे।

प्राचीनता—श्वेताम्बर समाजमें सबसे प्राचीन श्रीपाल चरित्र श्रीरत्नशेखरसूरिजी रचित है जो कि प्राकृत भाषामें सं० १४२८ में बनाया गया है। इससे पहले किसी भी श्वेताम्बर ग्रन्थमें प्रस्तुत श्रीपालजीका नाम तक जाननेमें नहीं आया। अत: यह प्रश्न सहज ही होता है कि कथावस्तु आई कहाँ से? इसके लिये उक्त ग्रन्थमें कोई उल्लेख नहीं है। इस ग्रन्थमें कथाका प्रारंभ, 'गोतम स्वामी ने श्रेणिक राजाके समक्ष नवपद आराधनके महात्म्य व सुफलपर यह दृष्टांत रूपसे कथा कही' इस रूपसे किया गया है। कथावस्तुकी प्राचीनता-का इससे कोई पता नहीं लग सकता, अतएव उप-लब्ध साधनोंसे ही इसकी नींव खोजनी पड़ेगी। दिगम्बर साहित्यमें नरदेव या नरसेन कृत प्राकृत चरित्रादि सभी ग्रन्थोंको अवलोकन कर सबसे प्राचीन चरित्र कौनसा व किस समयका रचित है और उसमें कथावस्तु कहाँसे ली गई है, उसके सम्बन्धमें क्या कुछ उल्लेख है? जैनोंके अतिरिक्त अन्य जैनेतर ग्रन्थोंमें इस कथाका कोई रूप उप-लब्ध है या नहीं? इन सब विषयोंका पूरा अन्वे-षण किया जाना परमावश्यक है। खोज-शोधके प्रेमी दिगम्बर विद्वानोंको इस सम्बन्धमें विशेष ज्ञातव्य प्रगट करनेका अनुरोध है।

इसीप्रकार होलिका आदि कई पर्वोंकी कथाऐं भी दिगम्बर श्वेताम्बर दोनोंमें लगभग एकसी प्रचलित हैं और आचार्योंके जीवन-चरित्र ग्रन्थोंके नामादि † में भी बहुत अधिक साम्य देखा आता है। अत: उनका मूल भी खोजना आवश्यक है कि कौनसी कौनसी कथाएँ दिगम्बर साहित्यसे श्वेताम्बरोंने अपनाईं और कौनसी श्वेताम्बर साहित्यसे दिगम्बरोंने अपनाई हैं।

प्रचार व लोकादर—श्वेताम्बर समाजमें प्रतिवर्ष आश्विन शुक्ला ७ * से पूर्णिमा तक तथा चैत्र शुक्ला ७ से पूर्णिमा तक ६ दिन श्रीसिद्धचक्र नवपद ‡ की आराधनाकी जाती है। उन ६ दिनोंमें प्रस्तुत चरित्र ६-६ महीनेसे पढ़ा जाता है; फिर भी कथा बड़ी सरस है, लोगोंको बड़ी प्रिय एवं रुचिकर है।

श्वेताम्बर समाजमें इस कथाका प्रचार व आदर कितना अधिक है तो यह परिशिष्टमें दी हुई चरित्र-साहित्य-सूचीसे स्पष्ट ही है। खरतर-गच्छ, तपागच्छ [वृद्धतपा, नागपुरीय तपा (पीछे-से पायचंदगच्छ) आदि कई शाखाओंके] अंचल-गच्छ, उपकेशगच्छ, पूर्णिमागच्छ, नायलगच्छ, संडेरकगच्छ, विवंदनीकगच्छीय विद्वानोंने इस-पर अपनी कलम चलाई है, जो कि चरित्रकी

† देखें वीर वर्ष १५ अङ्क ३४ में।

* रत्नशेखरसूरिके प्राकृत चरित्रानुसार सुदी ८ से ही यह तप प्रारम्भ होता था, पर अभी बहुत समयसे सप्तमीसे ही प्रारम्भकी प्रवृत्ति है। श्वे० साहित्य सूचीसे स्पष्ट है कि इसका प्रचार १८ वीं शताब्दीसे बहुत अधिक हो गया है और तभीसे एतद्विषयक ग्रन्थ अधिक बने हैं।

‡ श्वेताम्बर समाजमें नवपद पर पूजाएँ आदि बहुत साहित्य है जिसकी सूची मेरे 'पूजासाहित्य' लेख-में प्रकाशित होगी।

अत्यन्त प्रियताका ही द्योतक है। इतना ही नहीं लौंकागच्छ और स्थानकवासी * विद्वानोंने भी, (जो कि मूर्तिपूजाको नहीं मानते हैं) इसे अपनाकर इसकी विशिष्ट लोकप्रियता सिद्धकी है। प्रकाशित श्रीपालचरित्र व रासोंके प्रतिवर्ष नये नये संस्करण कई सचित्र भी निकलते हैं और कमसे कम उन सबकी ५० हजार प्रति तो अवश्य ही छप चुकी हैं।

प्राचीन हस्तलिखित कई श्रीपाल रासोंकी प्रतियाँ तो सचित्र भी पाई जाती हैं। जिनहर्षकृत ४६ ढालवाले रासकी एक सचित्र प्रति बीकानेरके क्षमाकल्याणजीके भंडारमें भी उपलब्ध है। यथास्मरण एक सचित्र श्रीपाल रासकी प्रति बाबू पूरणचन्दजी नाहरके म्युज़ियममें भी है।

बम्बईके निकटवर्ती ठाणा शहरमें जिससे कि श्रीपालका प्राचीन सम्बन्ध कहा जाता है, विशिष्ट लोकादरके असाधारण उदाहरण स्वरूप खरतर-गच्छीय मुनि ऋद्धिमुनिजीके उपदेशसे मुनिसुव्रत स्वामीके मन्दिरमें श्रीपाल चरित्रकी घटनाओंके सुन्दर भाव पूर्ण दृश्य मय श्रीपालचरित्र मन्दिरके निर्माणकी योजना चल रही है, हजारों रुपयोंका फंड हो गया है। और जगह भी खरीदली गई है। इससे पाठकोंको श्रीपालकथाके लोकादरका सहज-ही दिग्दर्शन हो जाता है।

श्वेताम्बरोंके समान तो नहीं फिर भी दिगम्बर समाजमें भी इसका काफी प्रचार देखा जाता है। पं० दीपचन्द वर्णीकी अनुवादित सचित्र चतुर्थावृति इसका स्पष्ट निदर्शन है। दि० समाज-में यह कथा कहीं कहीं नंदीश्वरव्रत महात्म्यपर कही जाती है और उस व्रतकी आराधना कार्तिक फाल्गुन और आषाढ़के अन्तमें ८-८ दिनों तक कीजाती है।

श्रीपालजी कब हुए थे?—इस सम्बन्धमें श्वेताम्बरीय सबसे प्राचीन प्राकृत श्रीपाल-चरित्रमें तो कोई निर्देश नहीं है पर पिछले चरित्रकारोंने श्रीपालजीको २० वें तीर्थंकर श्री मुनिसुव्रत स्वामीके शासनमें हुआ बतलाया है। कई विद्वान श्रीपालजीकी आयु आदि पर विचार कर इन्हें नेमिनाथके समयमें होना भी कहते हैं; पर ये बातें कहाँतक ठीक हैं यह कहनेका कोई निश्चित साधन नहीं है।

दिगम्बर प्राचीन ग्रन्थोंमें इस सम्बन्धमें क्या उल्लेख मिलता है यह अज्ञात है।

कथातुलना—श्वेताम्बर और दिगम्बर रचित चरित्र-ग्रन्थोंमें कथावस्तुमें कितनी समता विषमता है, इसकी तुलना करना भी आवश्यक है। दिगम्बर रचित प्राचीन ग्रन्थ हमारे सामने नहीं हैं, अतः श्वेताम्बरीय चरित्र ग्रन्थोंमें सबसे प्राचीन रत्नशेखरसूरिकृत प्राकृत श्रीपाल चरित्रसे दि० ब्रह्म

* स्थानकवासी मुनि चौथमलजीने मूल श्रीपाल चरित्रमें जहाँ जहाँ जिनमन्दिर व मूर्तिका उल्लेख था स्वयं मूर्तिपूजाके विरोधी होनेसे बदलकर स्थानक और मुनि आदिका उल्लेख कर दिया है और भी कई सामान्य परिवर्त्तन कर डाले हैं।

i वृत्तिः—खरतरगच्छीय उपाध्याय क्षमाकल्याण, सं० १८६६ आ० सु० १०

ii हिन्दीभाषांतरः—खरतर गच्छीय जिनकृपाचन्द्रसूरि, सं० १६८०

iii हिन्दीभाषांतरः—खरतरगच्छीय वीरपुत्र आनन्दसागर सं० १६६१ दीवाली भुज०

iv अंग्रेजी भाषांतर—भाड़ीलाल जीवालाल चोकसी B. A.

v गुजराती भाषांतरः—हीरालाल हंसराज सं० १६६४से पूर्व

संस्कृत

२ ” पूर्णिमा (राका) पक्षीय सत्यराज गणि, सं० १५१४ पद्य

३ ” वृद्धतपा लब्धिसागर सूरि सं० १५५७ पौ० शु० ८ सो० श्लो० ५०७

४ ” तपागच्छीय ज्ञानविमलसूरि, सं० १७४५ राध० सु० २ उन्नताख्यपुर गद्य-पद्य प्र० १८००

५ ” खरतरगच्छीय जयकीर्ति, सं० १८६८ मि० व० १० जैसलमेर मूलराजराज्ये गद्य

६ ” खरतरगच्छीय लब्धिमुनि, सं० १६६० जेष्ठ सु० ७ भुज० श्लो० १०५१

७ ” निर्नामक पत्र १६ मुनि कांतिसागरजीके पास

१ i वृत्तिसहित दे० ला० पु० फंड सूरत (ग्रन्थांक ६३) से सं० १९८० में प्रकाशित है ii भाषांतरसह श्रीजिनदत्तसूरि ज्ञानभंडार-सूरत से iii भाषांतर सहदोबार, आनन्दसागर ज्ञानभंडार-कोटेसे प्रकाशित। iv रमणीक पी०कोठारी, गांधीरोड, अहमदाबादसे प्र० और युनिवर्सिटीमें प्रीवियस क्लासमें टैक्स्ट बुकरूपसे स्वीकृत। दे० ला० पु० फंडसे प्रकाशित ग्रन्थकी प्रस्तावनामें अवचूरिका कर्त्ताक्षमाकल्याण प्रघोषरूपसे लिखा है और प्रशस्ति नहीं दी है पर बीकानेर भंडारों आदिमें समकालीन लिखित सब प्रतियोंमें प्रशस्ति उपलब्ध है। v भाषांतरसह सं० १९६४–१९७९ दो आवृत्तियें कच्छ और अहमदाबादसे प्र० हो चुकी हैं।

३ श्रीवीरसमाज अहमदाबादसे प्र० ४ दे० ला० पु० फंड ग्रन्थांक ५६ प्र० २–५ हीरालाल हंसराज—जामनगरसे प्र० ७ जिनदत्तसूरि ज्ञानभंडार-बम्बईसे प्रकाशित है।

रास—भाषाकाव्य

(हिन्दी गुजराती राजस्थानी-भाषा)

रचना-काल	स्थान	रचियता	उल्लेख
८ सं० १४९८ का० सु० ५ गु०,	श्रेष्ठि मांडण		जैं० गु० कविओ भा० ३ पृ० ४३३
९ सं० १५०४ आश्विन,	खयनगर	उ० धर्मसुन्दर,	(पत्र १५ अन्त पत्र हमारे संग्रहमें)
१० सं० १५३१ मि० पु० ३ गु०		ज्ञानसागर (नायलगच्छीय)	जैं० गु० क० भा० १ पृ० ५८
११ सं० १५६४ आ० सु० ८	रतलाम	ईश्वरसूरि (सांडेरगच्छ)	जैं०गु०क० भा०३ पृ०५३२ हमारे सं०
१२ सं० १६४२		पद्मसुंदर (विवंदनीकगच्छीय)	देशाइनोंध
१३ सं० १६६२ भा० व० ६		रत्नलाल (खरतर)	हमारे संग्रहमें नं० २५१
१४ सं० १७०२(४?) आ०सु०१० सोपीलका,		तपामानविजय	जैं० गु० क० भा० २ पृ० १२८
१५ सं० १७२२ मि० १३	जहानाबाद	खरतरगच्छीय महिमोदय	” पृ० १६३
१६ सं० १७२२ आ० सु० १० गु०	पलियड	तपामेरुविजय	” पृ० १६२
१७ सं० १७२६ चै० सु० १५ मं०	साहादउइ	तपापद्मविजय	अभय० भं०
१८ *सं० १७२६ आ० व० ८ गु०	अहमदाबाद	अंचल ज्ञानसागर (ढाल ४० गु० ११३१)	जैं० गु० क० भा० २ पृ० ७३
१९ सं० १७२७ भा० सु० ६	खंभात	तपा लक्ष्मीविजय	” पृ० २५१
२० सं० १७२८ दीवाली	किसनगढ़	तपा उदयविजय	” पृ० २५५
२१ + सं० १७३८	रांनेर	तपा विनयविजय यशोविजय (गा० ७५०) (गा० ११२५)	” पृ० १७
२२ सं० १७४०	मिश्र	हरखचन्द साधु	” पृ० ३५६
२३ सं० १७५० चै० सु० ७ सो०	पाटण	खरतर जिनहर्ष	” पृ० ८६
२४ * सं० १७४२ चै० व० १३	पाटण	”	” पृ० ८८
२५ सं० १७६१ आ० सु० १० गु०	नवलखबंदर	तपा जिनविजय	” पृ० ५६७

* पं० हीरालाल हन्सराजके लि० गु० भाषांतरसह कछअंजारसे सं० १९७९ में प्रकाशित ।

+ नं० २१ की अनेकों आवृतियें सानुवाद (पुर्णचन्द्र शर्मा आदि द्वारा अनु०) एवं सचित्र कई प्रकाशकों द्वारा गुजराती एवं नागरी लिपिमें प्रकाशित हो चुकी हैं, सबसे अधिक प्रचार इसी रासका है ।

* नं० २३ सं० १९३० में राय धनपतसिंह बहादुरने प्रकाशित किया था, सं० १९९३ में इसकी सचित्र एव शुद्ध आवृति पं० केशरमुनिजीने जिनदत्तसूरि ज्ञानभंडार बम्बईसे प्रकाशित की है ।

२६ सं० १८०६ प्र० भा० सु० १३	घड़सीसर	खरतर रुघपति	
२७ सं० १८२४ पो० व० ६ र०	बीजापुर-गेरीता	तपा नेमविजय * जै० गु० क० भा० ३ पृ०	५३
२८ सं० १८३७ आषाढ़ सु० २ मं०	अजीमगंज	खरतर लालचन्द "	पृ० १५८
२९ सं० १८५३ का० सु० २	"	तपा चेतनविजय "	पृ० ३३४
३० सं० १८५६ फा० व० ७ र०	"	लोंका रूपचन्द "	पृ० १९१
३१ सं० १८३४ से १८५६		खरतर तत्वकुमार *	
३२ सं० १८७९	पाटण	तपा क्षेमवर्द्धन जै० गु० क० भा० ३ पृ०	२८४
३३ सं० १८९९ आ०	परेंडा	तपा उदयसोमसूरि "	पृ० ३२०
३४ सं० १९१७ काती भाषा-गद्य		खरतर देवराज	हमारे संग्रह में
३५ सं० १९८१ विजय दशमी	मादड़ी	ढुंढक चौथमल (ग्र० १७५०) †	
३६ सं० १९८१ हिन्दी-गद्य		वी० पी० सिंघी सीरोहीसे प्रकाशित	
३७ सं० १९८६ हिन्दी-गद्य म० प्र०		पं० काशीनाथ जैन सजिल्द सचित्र प्रकाशित।	
३८		कन्हैयालालजी जैन कस्तला के लिखित प्र० अनिश्चित।	

३९ श्रीपाल चौपइ	कृपाविनय	उल्लेख:—श्रीपाल-चरित्र सावचूरिकी प्रस्तावना में। सागरानन्द सूरि
४० " लघुरास	उदयरत्न	
४१ बृहच्चरितं	विनय विमल	
४२ श्रीपाल नाटक	ज्ञानचन्द्रजी कोचरके लि०	अप्रकाशित

* नं० ३१ खरतर सूर्यमलजी यतिने संशोधित कर कलकत्तेसे प्रकाशित किया है।

* जैन गुर्जर कविओंके भा० १—२ तो श्वे० जैन कॉन्फरेन्ससे प्रकाशित हो चुके हैं तीसरा भाग छप रहा है पृष्ठ ६२४ तकके छपे फरमे ग्रन्थ लेखक श्रीयुत मोहनलाल दलीचन्द देशाईने अवलोकन मुझे भेजे उनका उपयोग किया है।

† श्री जैनोदय पुस्तक प्रकाशक समिति, रतलाम से प्रकाशित।

दिगम्बर साहित्य

नाम	कर्त्ता	उल्लेख
१ श्रीपाल महामुनिरास :—	सकलकीर्तिशिष्य ब्रह्म जिनदास +	१६ वीं शताब्दी
२ " चरित्र	गोपरगट निवासी कवि परिमल (बरैया)	सं० १६५१ आगरा
३ " आख्यान	वीरचन्द्र प्रशिष्य वादिचन्द्र	सं० १६५१ देशाइनोंध
४ " नाटक	श्री दि० जैन उपदेशक सोसायटी द्वारा प्र० पृ० १५२	
५ मैनासुंदरी नाटक	लाला न्यामतसिंह	प्र०
६ श्रीपाल * चरित्र (नं० २ का अनुवाद)	दीपचन्दवर्णी	सूरत से प्र० सचित्र मूल्य १=)

(श्रीवीर संवत २४३६ जे० व० ११ नरसिंघपुर)

नं० ३ को छोड़कर पांचों ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं कुछ अनिश्चित ग्रन्थोंके नाम ये हैं :—

+ इनके रचित निम्नोक्त ग्रन्थ और भी उपलब्ध हैं जिससे इस कृत्तिमें रचना काल लिखित ८४ होने पर भी इसका समय १६ वीं शताब्दीका पूर्वार्द्ध निश्चित होता है।

१ हरिवंश रास सं० १५२०
२ यशोधर रास
३ आदिनाथ रास
४ श्रेणिक रास
५ करकंडु रास
६ हनुमंत रास
७ समकितसार रास
८ सासर वासो नो रास
९ धर्मपचीसी (जै० गु० क० भा० १-३)

"दि० जैनग्रन्थ-कर्ता और उनके ग्रन्थ" में श्री नाथूरामजी प्रेमीने उपरोक्त ग्रन्थोंके अतिरिक्त इस कविके रचित निम्नोक्त ग्रन्थोंके नाम और भी दिये हैं :—

१० पद्मपुराण
११ जंबूस्वामी चरित्र
१२ होली चरित्र
१३ रात्रिभोजनपृथा
१४ जंबूद्वीप पूजा
१५ अनन्तव्रत पूजा
१६ सार्द्धद्वयद्वीप पूजा
१७ चतुर्विंशत्युद्यापन
१८ मेघमालोद्यापन
१९ चतुस्त्रिंशदुत्तर द्वादश शतोद्यापन
२० अनन्त व्रतोद्यापन
२१ बृहत्सिद्धचक्र पूजा
२२ धर्म पंचासिका
२३ कर्मविपाक रास श्रीपाल रासके साथ प्र०
२४ प्रद्युम्न रास सूरतमे छप भी चुके हैं।

* इस चरित्रकी श्रीयुत वाड़ीलाल मोतीलाल शाहने कड़ी समालोचना जैनहितेच्छुमें की थी, जिसे अनुवादित कर बाबू चन्द्रसेन जैन वैद्य इटावा ने सन् १९१८ में "श्रीपाल चरित्रकी समालोचना" के नामसे प्रकाशित की थी, मूल्य =) है।

	नाम		कर्त्ता	उल्लेख		
७	श्रीपाल चरित्र (प्राकृत)		नरदेव वा नरसेन कृत	दि० जैं० ग्रन्थकर्त्ता,	पृ०	१४
८	"		नेमिदत्त ब्रह्मचारी सं० १५८५	"	पृ०	१५
९	"		मल्लिभूषण भट्टारक	"	पृ०	२०
१०	"		रैधू कवि	"	पृ०	२३
११	"		विद्यानंदि	"	पृ०	२६
१२	"		शुभचन्द्र	"	पृ०	२८
१३	"		सकलकीर्ति भट्टारक	"	पृ०	३०
१४	"	वचनिका	दौलतराम काशलीवाल (बसवानिवासी)	"	पृ०	४३

१५ श्रीपालरास (हिन्दी) ब्रह्म रायमलम (भूलसिंहके पुत्र रणथंभोर निवासी) सं० १६३० (उ० हस्त लि० हि० पु० का विवरण भा० १ पृ० १७१)

१६ श्रीपाल चरित्र (अपभ्रंश) रैधूकवि कृत रचनाकाल १५ वीं शताब्दी ऐ० प० स० भ० बम्बई

इनमें नं० ८-१३ की प्रति कारंजा ज्ञानमन्दिरमें और आरा-सिद्धान्त भवनमें भी है अब शेष ग्रन्थ कहाँ कहाँ पर हैं ? खोजकर रचनाकालादिका पता लगाना आवश्यक है। उपर्युक्त सूचीमें नेमिदत्त और मल्लिभूषण के २ भिन्न व सकलकीर्ति एवं ब्रह्मजिनदास के २ भिन्न भिन्न चरित्र लिखे हैं वे संभव है ४ के स्थान पर दो ही चरित्र हों। क्योंकि नेमिदत्त मल्लिभूषणके एवं जिनदास सकलकीर्तिके शिष्य थे संभव है सूची कर्त्ताने कर्त्ताका नाम निकालने में गलती की हो। आशा है दि० विद्वान इस सम्बन्धमें विशेष प्रकाश डालेंगे।

'योग्य पुरुषोंकी मित्रता दिव्यग्रन्थोंके स्वाध्यायके समान है; जितनी ही उनके साथ तुम्हारी घनिष्टता होती जायगी उतनी ही अधिक खूबियाँ तुम्हें उनके अन्दर दिखाई पड़ने लगेंगी।'

'बुद्धि समस्त अचानक आक्रमणोंको रोकने वाला कवच है। वह ऐसा दुर्ग है जिसे दुश्मन भी घेर कर नहीं जीत सकते।'

—तिरुवल्लुवर

अधिकार !

(श्री० भगवत्स्वरूप जैन 'भगवत्')

[१]

जल जाए प्राणोंकी ममता,
मिट जाए जगका अनुराग !
ओ गायक ! गा ऐसा गायन,
धधक उठे जो ऐसी आग !!

[२]

कम्पित मन दृढ़ताको पाए-
जाए सुप्त हृदय भी जाग !
उस स्वरागमें लय हो, करदूँ-
मैं अपने प्राणोंका त्याग !!

[३]

मर जाए कायरता मनकी-
नाहरता पाए सन्मान !
मानवता उत्सुक-मन होकर-
निर्मित करे भविष्य महान !!

[४]

विकसित हों अभिलाषाएँ भी-
और अलौकिक-सुखप्रद-ज्ञान !
छेड़-छेड़ ! बस, मेरे गायक
वही सुरीली मोहक तान !!

[५]

क्षेम रहे, या प्रलय मचे, या-
विश्व कर उठे हाहाकार !
पर स्वतन्त्र बन जानेका हो-
मनमें मेरे भव्य-विचार !!

[६]

वाणी, आकृति, और क्रिया से-
हो बस, प्रगट यही उद्‌गार !
नहीं चाहिए मुझे पराया-
मिल जाए मेरा अधिकार !!

प्रतीक्षा !

[श्री०—कल्याणकुमार जैन "शशि"]

(१)

मैं हूँ, मेरी भावुकता है,
पुष्पोंकी डलिया अम्लान;
इन्हें जुटाए हुए प्रतीक्षा-
में बैठा हूँ, अन्तर्धान।

(२)

उमड़ी पड़ती है प्रसन्नता-
रोम-रोममें चारों ओर;
श्रद्धा नचती है मयूर बन,
हो-होकर आनन्द-विभोर।

(३)

इसकी भी चिंता न मुझे है-
मुरझा जाएँगे ये फूल,
या यह संध्याकी सुहाग-
लाली हो जायेगी उन्मूल।

(४)

मैं तो उस धुंधले प्रकाशमें-
ही बैठा-बैठा चुपचाप,
खोज रहा हूँ एकाकी हो-
कर, तेरे चरणोंकी चाप।

(५)

पर भय है, यह मनोनीत-
इच्छा जिस समय फलेगी,
पद पर फूल चढ़ानेकी भी-
क्या सुधि मुझे रहेगी ?

जैन-समाजकी उत्पादन-शक्ति ही क्षीण हुई होती, तोभी ग़नीमत थी, वहाँ तो बचे-खुचों को भी कूड़े-करकटकी तरह बुहार कर बाहर फेंका जारहा है। कूड़े-करकटको भी बुहारते समय देख लेते हैं कि कोई क़ीमती अथवा कामकी चीज़ तो इसमें नहीं है; किन्तु समाजसे निकालते समय इतनी सावधानताभी नहीं बर्ती जाती। जिसके प्रतिभी चौधरी-चुकड़ात, पंच-पटेल रुष्ट हुये अथवा जिसने तनिकसी भी जाने, अनजाने भूल की, वही समाज से पृथक कर दिया जाता है। इस प्रकार जैन-समाजको मिटानेके लिये दुधारी तलवार काम कर रही है। एक ओर तो उत्पादन शक्ति-क्षीण करके समाजरूपी सरोवर का स्त्रोत बन्द कर दिया गया है, दूसरी ओर जो बाक़ी बचा है, उसे बाहर निकाला जारहा है। इससे तो स्पष्ट जान पड़ता है कि जैन-समाजको तहस नहस करनेका पूरा संकल्पही कर लिया गया है।

जो धर्म अनेक राक्षसी अत्याचारोंके समक्ष भी सीना ताने खड़ा रहा, जिस धर्मको मिटानेके लिये दुनियाँ भरके सितम ढाये गये, धार्मिक स्थान नष्ट-भ्रष्ट कर दिये गये, शास्त्रोंको जला दिया गया, धर्मानुयाइयोंको औटते हुये तेलके कढ़ाओंमें छोड़ दिया गया, कोल्हुओंमें पेला गया, दीवारोंमें चुन दिया गया, उसका पड़ोसी बौद्ध-धर्म भारतसे खदेड़ दिया गया —पर वह जैन-धर्म मिटायेसे न मिटा। और कहता रहा—

कुछ बात है जो हस्ती मिटती नहीं हमारी।
सदियों रहा है दुश्मन दौरे जहाँ हमारा॥

—"इक़बाल"

जो विरोधियोंके असंख्य प्रहार सहकर भी अस्तित्व बनाये रहा, वही जैनधर्म अपने कुछ अनुदार अनुयाइयोंके कारण ह्रासको प्राप्त होता जा रहा है। जिस सुगन्धित उपवनको कुल्हाड़ी न काट सकी, उसी कुल्हाड़ीमें उपवनके वृक्षके बेंटे लग कर उसे छिन्न-भिन्न कर रहे हैं।

बहुत उम्मीद थीं जिनसे हुए वह महर्बाँ क़ातिल।
हमारे क़त्ल करनेको बने खुद पासबाँ क़ातिल॥

—अज्ञात

सामाजिक रीति-रिवाज उलंघन करनेवालेके लिये जाति-वहिष्कारका दण्ड शायद कभी उपयोगी रहा हो, किन्तु वर्तमानमें तो यह प्रथा बिल्कुलही अमानुषिक और निन्दनीय है। जो कवच समाजकी रक्षाके लिए कभी अमोघ था, वही कवच भारस्वरूप होकर दुर्बल समाजको पृथ्वी-में मिला रहा है।

अपराधीको दण्ड दिया जाय, ताकि स्वयं उसको तथा औरोंको नसीहत हो और भविष्यमें वैसा अपराध करनेका किसीको साहस न हो—यह तो कुछ न्याय संगत बात जँचती भी है; किन्तु अपराधीकी पीढ़ी दर पीढ़ी सहस्त्रों वर्ष वही दण्ड लागू रहे—यह रिवाज बर्बरताका द्योतक और मनुष्य समाजके लिये कलंक है।

नानी दान करे और धेवता स्वर्गमें जाय—इस नियमका कोई समर्थन नहीं कर सकता। खास कर जैनधर्म तो इस नियमका पक्का विरोधी है। जैनधर्मका तो सिद्धान्त है कि, जो जैसे शुभ-अशुभ कर्म करता है वही उसके शुभ-अशुभ फलका भोगने वाला होता है * किसी अन्यको उसके शुभ-अशुभ कर्मका फल प्राप्त नहीं हो सकता। यही नियम प्रत्यक्ष भी देखनेमें आता है कि जिसको जो शारीरिक या मानसिक कष्ट है, वही उसको सहन करता है, कुटुम्बीजन इच्छा होने पर भी बटा नहीं सकते। राज्य-नियम भी यही होता है, कि कितना ही बड़ा अपराध क्यों न किया गया हो, केवल अपराधीको सजा दीजाती है। उसके जो कुटुम्बी अपराधमें सम्मलित नहीं होते, उन्हें दण्ड नहीं दिया जाता है।

किन्तु, हमारी समाजका चलनही कुछ और है। जिसने अपराध किया, वह मरकर अपने आगेके भवोंमें शुभ कर्म करके चाहे महान पदको प्राप्त क्यों न होगया हो, किन्तु उसके वंशमें होने वाले हजारों वर्षों तक उसके वंशज उसी दण्डके भागी बने रहेंगे, जिन्हें न अपराधका पता है और न यही मालूम है कि किसने कब अपराध किया था। और चाहे वह कितने ही सदाचारी धर्मनिष्ठ क्यों न रहें, फिर भी वह निम्न ही समझे जाएँगे, बलासे उनके आचरण और त्यागकी तुलना उनसे उच्च कहे जाने वालोंसे न हो सके, फिर भी वह अपराधीके वंशमें उत्पन्न हुए हैं, इसलिये लाख उत्तम गुण होने पर भी जघन्य हैं। क्या खूब !!

जैन-समाजमें प्राचीन और नवीन दो तरहके ऐसे मनुष्य हैं जो जातिसे पृथक समझे जाते हैं। प्राचीन तो वे हैं जो दस्सा, समैया, और विनैकवार आदि कहलाते हैं, और न जाने कितनी सदियोंसे न जाने किस अपराधके कारण जाति-च्युत चले आते हैं। नवीन वे हैं जो अपनी किसी भूल या पंच-पटेलोंकी नाराजगीके कारण जातिसे पृथक होते रहते हैं।

प्राचीन जातिच्युतोंकी तो धीरे-धीरे समाजें बन गई हैं, वह अपनी २ जातियोंमें रोटी-बेटी व्यवहार कर लेते हैं, उन्हें विशेष असुविधा प्राप्त नहीं होती, किन्तु नवीन जातिच्युतोंको बड़ी आपत्तियोंका सामना करना पड़ता है; क्योंकि उनके तो गाँवोंमें बमुश्किल कहीं-कहीं इकेले-दुकेले घर होते हैं। उनसे पुश्तैनी जाति-च्युत तो रोटी-बेटी व्यवहार करते नहीं। क्योंकि उनकी स्वयं जातियाँ बनी हुई हैं और वह भी रूढ़ीके अनुसार दूसरी जातिसे रोटी-बेटी व्यवहार करना अधर्म समझते हैं। और नवीन जाति-च्युतोंकी कोई जाति तो इतनी शीघ्र बन नहीं सकती ; उनकी पहली रिश्तेदारियाँ सब उसी जातिमें होती हैं, जिससे उन्हें

* अवश्यमेव भोगतव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।

पृथक किया गया है, अतः सब नवीन जाति-च्युत यही चाहते हैं कि हमारा रोटी-बेटी व्यवहार सब जाति-सन्मानितोंमें ही हो, जातिच्युतसे व्यवहार करनेमें हेटी होगी। जातिवाले उनसे व्यवहार करना नहीं चाहते और वह जाति-च्युत, जाति सन्मानितोंके अलावा जाति-च्युतोंसे व्यवहार नहीं करना चाहते। अतः इसी परेशानीमें वह व्याकुल हुए फिरते हैं।

कालेपानी और जीवनपर्यन्त सजाकी अवधि-तो २० वर्ष है; और अपराधी नेकचलनीका प्रमाण दे तो, १४ वर्षमें ही रिहाई पासकता है; किन्तु सामाजिक दण्डकी कोई अवधि नहीं। जिस तरह संसारके प्राणी अनन्त हैं उसीप्रकार हमारी समाजका यह दण्डभी अनन्त है। पाप करने वाला प्राणी कोटानिकोट वर्षोंकी यातना सहकर ७ वें नर्कसे निकलकर मोक्ष जा सकता है, किन्तु उसके वंशज उसके अपराधका दण्ड सदैव पाते रहेंगे—यही हमारे समाजका नियम है।

कुछ लोग कहा करते हैं कि जिस प्रकार उपदंश, उन्माद, मृगी, कुष्ट आदि रोग वंशानुक्रमिक चलते हैं, उसी प्रकार पापका दण्ड चलता है। किंतु उन्हें यह ध्यान रखना चाहिये कि रोग के साथ यदि पापका सम्बन्ध होता तो जिस पापके फल स्वरूप रावण नर्कमें गया, उसीके अनुसार उसके भाई-पुत्रोंको भी नर्कमें जाना पड़ता, किन्तु ऐसा न होकर वह मोक्ष गये। उसके हिमायती बन कर पापका पक्ष लेकर लड़े, किन्तु फिरभी वह तप करके मोक्ष गये। यदि रोग और पापका एकसा सम्बन्ध होता तो पिता नर्क और पुत्र स्वर्ग न जाता। रोगोंका रक्तसे सम्बन्ध है, जिसमें भी वह रक्त जितना पहुँचेगा, उसमें उसके रोगी कीटाणुभी उतने ही प्रवेश कर जायेंगे। रक्त वंश में प्रवाहित होता रहता है, इस लिये रोग भी वंशानुगत चलता रहता है। पापका रक्तसे सम्बन्ध नहीं, यह आत्माका स्वतन्त्र कर्म है, अतः वही उसके फलाफलको भोग सकता है, दूसरा नहीं।

जैन-धर्ममें तो पापीसे नहीं, पापीके पापसे घृणा करनेका आदेश है। पापी तो अपना अहित कर रहा है इसलिये वह क्रोधका, नहीं अपितु दयाका पात्र है। जो उसने पाप किया है, उसका वह अपने कर्मानुसार दण्ड भोगेगा ही, हम क्यों उसे सामाजिक दण्ड देकर धार्मिक अधिकारसे रोकें और क्यों अपनी निर्मल आत्माको कलुषित करें? पापीको तो और अधिक धर्म-साधन करनेकी आवश्यकता है। धर्म-विमुख कर देनेसे तो वह और भी पापके अन्धेरे कूपमें पड़ जायगा। जिससे उसका उद्धार होना नितान्त मुश्किल है। तभी तो जैन-धर्मके मान्य ग्रन्थ पंचाध्याईमें लिखा है:—

सुस्थितीकरणं नाम परेषां सदनुग्रहात्।
भ्रष्टानां स्वपदात् तत्र स्थापनं तत्पदे पुनः॥

अर्थात—धर्म-भ्रष्ट और पद-च्युत प्राणियोंको दया करके धर्ममें लगा देना, उसी पदपर स्थिर करदेना—यही स्थितिकरण है।

जिस धर्मने पतितोंको, कुमार्गरतोंको, धर्म-विमुखोंको, धर्ममें पुनः स्थिर करनेका आदेश देते हुए, उसे सम्यक् दर्शनका एक अंग कहा है। और एकभी अंग-रहित, सम्यकदृष्टि हो नहीं सकता, फिर क्यों उसके अनुयायी जाति-च्युत

करके, धर्माधिकार छीनकर, धर्म-विमुख करके अपनेको मिथ्यादृष्टि बना रहे हैं और क्यों धर्ममें विघ्न-स्वरूप होकर अन्तराय कर्म बान्ध रहे हैं ? जबकि जैन-शास्त्रोंमें स्पष्ट कथन है कि:—

श्वापि देवोऽपिदेवः श्वा जायते धर्म किल्विषात्

धर्मके प्रभावसे—धर्म सेवनसे—कुत्ता भी देव हो सकता है, अधर्मके कारण देव भी कुत्ता हो सकता है। चाण्डाल और हिंसक पशुओंका भी सुधार हुआ है, वहभी निर्मल भावनाओं और धर्म-प्रेमके कारण सद्गतियोंको प्राप्त हुए हैं। जैनधर्म तो कहलाता ही पतित-पावन है। जिसके णमोकार मंत्र पढ़नेसे सब पापोंका नाश होसकता है, गन्धोदक लगाने मात्रसे अपवित्रसे अपवित्र व्यक्ति पवित्र हो सकता है और जिनके यहाँ हजारों कथायें पतितोंके सन्मार्गपर आनेकी बिखरी पड़ी हैं। जिनके धर्मग्रन्थोंमें चींटीसे लेकर मनुष्य तककी आत्माको मोक्षका अधिकारी कहकर समानताका विशाल परिचय दिया है। जो जीव नर्कमें हैं, किन्तु भविष्यमें मोक्ष गामी होंगे, उनकी प्रतिदिन जैनी पूजा करते हैं। कब किस मनुष्यका विकास और उत्थान होने वाला है— यह कहा नहीं जा सकता। तब हम बलात्धर्म-विमुख रखकर उसके विकासको रोककर कितना अधर्म संचय कर रहे हैं ?

अशरण-शरण, पतितपावन जैन-धर्ममें भूले-भटके पतितों, उच्च और नीच सभीके लिये द्वार खुला हुआ है। मनुष्य ही नहीं—हाथी, सिंह, शृगाल, शूकर, बन्दर, न्योले जैसे जीव जन्तुओं का भी जैन-धर्मोपदेशसे उद्धार हुआ है। पतितों और कुमार्गरतों मनुष्योंकी जैनग्रन्थोंमें ऐसी अनेक कथायें लिखी पड़ी हैं जिन्हें जैन धर्मकी शरणमें आनेसे सन्मार्ग और महान पद प्राप्त हुआ है। उदाहरण स्वरूप यहाँ पं० परमेष्ठीदासजी न्याय-तीर्थकी "जैनधर्मकी उदारता" नामकी पुस्तकसे कुछ उद्धरण दिये जाते हैं :—

(१) "अनंगसेना नामकी वेश्याने वेश्या-वृत्ति छोड़कर जैन दीक्षा ग्रहणकी और स्वर्ग गई। (२) यशोधर मुनिने मछली खाने वाले मृगसेन धीवर-को व्रत ग्रहण कराये जिसके प्रभावसे वह मरकर श्रेष्ठ कुलमें उत्पन्न हुआ। (३) ज्येष्ठ आर्यिकाने एक मुनिसे शीलभ्रष्ट होने पर पुत्र-प्रसव किया, फिर भी वह प्रायश्चित द्वारा शुद्ध होकर तप करके स्वर्ग गई। (४) राजा मधु अपने माण्डलिक राजाकी स्त्रीको अपने यहाँ बलात् रखकर विषय भोग करता रहा, फिरभी वह दोनों मुनि-दान देते थे और अन्तमें दोनों ही दीक्षा लेकर स्वर्ग गये। (५) शिवभूति ब्राह्मणकी पुत्री देववतीके साथ शम्भूने व्यभिचार किया, बादमें वह भ्रष्ट देववती विरक्त होकर दीक्षा लेकर स्वर्ग गई। (६) वेश्या लम्पटी अंजनचोर उसी भवसे सद्गतिको प्राप्त हुआ। (७) मांसभक्षी मृगध्वज और मनुष्यभक्षी शिवदास भी मुनि होकर महान पदको प्राप्त हुए। (८) अग्निभूत मुनिने चाण्डालकी अन्धी लड़की-को श्राविकाके व्रत ग्रहण कराये। वही तीसरे भव-में सुकुमाल हुई थी। (९) पूर्णभद्र और मानभद्र दो वैश्य-पुत्रोंने एक चाण्डालको श्रावकके व्रत ग्रहण कराये, जिसके प्रभावसे वह मरकर १६ वें स्वर्गमें ऋद्धिधारी देव हुआ। (१०) म्लेच्छकन्या जरासे भगवान नेमिनाथके चाचा वसुदेवने विवाह

किया, जिससे जरत्कुमार हुआ। जरत्कुमारने मुनि दीक्षा ग्रहणकी थी। (११) महाराजा श्रेणिक पहले बौद्ध थे तब शिकार खेलते थे और घोर हिंसा करते थे, मगर जैन हुए तब शिकार आदि व्यसन त्याग कर जैन-धर्मके प्रतिष्ठित अनुयायी कहलाये। (१२) विद्युतचोर चोरोंका सरदार होने पर भी जम्बू स्वामीके साथ मुनि होगया और तप करके सर्वार्थसिद्धि गया। वैश्यागामी चारुदत्त भी मुनि होकर सर्वार्थसिद्धि गये। (१३) यमपाल चाण्डाल जैन-धर्मकी शरणमें आनेसे देवों द्वारा पूज्यनीय हुआ।" (पृ० ११ और ४३)

उक्त उद्धरणोंसे स्पष्ट होजाता है कि जैन-धर्मका क्षेत्र कितना व्यापक और महान् है। उसमें कीट-पतंग, जीव-जन्तु, पशु और मनुष्य सभीके उत्थानकी महान् शक्ति है। सभीको उसकी कल्पतरु शाखाके नीचे बैठ कर सुख-शान्ति प्राप्त करनेका अधिकार है। जैन-धर्म किसी वर्ग विशेष या जाति विशेष की मीरास नहीं है। जैन-धर्मके मन्दिरोंमें सभी समान रूपसे दर्शन और पूजनार्थ जाते थे। इस सम्बन्धका उल्लेख श्रीजिनसेनाचार्यके हरिवंश पुराणमें पाया जाता है जो कि श्रद्धेय पं० जुगलकिशोरजी कृत विवाह-क्षेत्र प्रकाश नामकी पुस्तकसे उद्धृत करके पाठकोंके अवलोकनार्थ यहाँ दिया जाता है :—

सस्त्रीकाः खेचरा याताः सिद्धकूटजिनालयम्।
एकदा वंदितुं सोपि शौरिर्मदनवेगया ॥
कृत्वा जिनमहं खेटाः प्रवन्द्य प्रतिमागृहम्।
तस्थुः स्तंभानुपाश्रित्य बहुवेषा यथायथम् ॥
विद्युद्वेगोपि गौरीणां विद्यानां स्तंभमाश्रितः।
कृतपूजास्थितः श्रीमान्स्वनिकायपरिष्कृतः ॥
पृष्टया वसुदेवेन तनो मदनवेगया।
विद्याधरनिकायास्ते यथास्त्रमिति कीर्तिताः ॥
—२; ३, ४, ५,

* * * *

अमी विद्याधरा ह्यार्याः समासेन समीरितः।
मातंगानामपि स्वामिन्निकायान् श्रृणु वच्मिते ॥
नीलांबुदचयश्यामा नीलांबरवरस्रजः।
अमी मातंगनामानो मातंगस्तंभसंगताः ॥
श्मशानास्थिकृत्तोत्तंसा भस्मरेणुविधूसराः।
श्मशाननिलयास्त्वेते श्मशानस्तंभमाश्रिताः ॥
नीलवैडूर्यवर्णानि धारयंत्यंबराणि ये।
पाण्डुरस्तंभमेत्यामी स्थिताः पाण्डुकखेचराः ॥
कृष्णाजिनधरास्त्वेते कृष्णचर्माम्बरस्रजः।
कानीलस्तंभमध्येत्य स्थिताः कालश्वपाकिनः ॥
पिंगलैर्मूर्ध्वजैर्युक्तास्तप्तकांचनभूषणाः।
श्वपाकीनां च विद्यानां श्रितास्तंभं श्वपाकिनः ॥
पत्रपर्णांशुकच्छन्न-विचित्रमुकुटस्रजः।
पार्वतेया इति ख्याता पार्वतंस्तंभमाश्रिताः ॥
वंशीपत्रकृतोत्तंसाः सर्वर्तुकुसुमस्रजः।
वंशस्तंभाश्रिताश्चैते खेटा वंशालया मताः ॥
महाभुजगशोभांकसंदष्टवरभूषणाः।
वृक्षमूलमहास्तंभमाश्रिता वार्क्षमूलकाः ॥
स्ववेषकृतसंचाराः स्वचिह्नकृतभूषणाः।

समासेन समाख्याता निकायाः खचरोद्गताः ॥
इति भार्योपदेशेन ज्ञानविद्याधरान्तरः ।
शौरिर्यातो निजं स्थानं खेचराश्च यथायथम् ॥

—२६ वाँ सर्ग ।

—१४, १५, १६, १७, १८, १९, २०, २१, २२, २३, २४.

इन पद्योंका अनुवाद पं० गजाधरलालजीने, अपने भाषा * हरिवंश पुराणमें, निम्न प्रकार दिया है :--

"एकदिन समस्त विद्याधर अपनी अपनी स्त्रियों-के साथ सिद्धकूट चैत्यालयकी वंदनार्थ गये । कुमार (वसुदेव) भी प्रियतमा मदनवेगाके साथ चलदिये ॥२॥ सिद्ध कूटपर जाकर चित्र विचित्र वेषोंके धारण करने वाले विद्याधरोंने सानन्द भगवानकी पूजाकी चैत्यालयको नमस्कार किया एवं अपने अपने स्तंभोंका सहारा ले जुदे २ स्थानों पर बैठ गये ॥३॥ कुमारके श्वसुर विद्युद्वेगने भी अपने जातिके गौरिक निकायके विद्याधरोंके साथ भले प्रकार भगवानकी पूजाकी और अपनी गौरी-विद्याओंके स्तंभका सहारा ले बैठ गये ॥४॥ कुमार को विद्याधरोंकी जातिके जाननेकी उत्कण्ठा हुई इसलिये उन्होंने उनके विषयमें प्रियतमा मदन-वेगासे पूछा और मदनवेगा यथायोग्य विद्याधरों-की जातियोंका इसप्रकार वर्णन करने लगी--

* * * *

"प्रभो ! ये जितने विद्याधर हैं वे सब आर्य जातिके विद्याधर हैं अब मैं मातंग [अनार्य] जातिके विद्याधरोंको बतलाती हूँ आप ध्यान पूर्वक सुनें—

"नील मेघके समान श्याम नीली माला धारण किये मातंग [चांडाल] स्तंभके सहारे बैठे हुए, ये मातंग जातिके विद्याधर हैं ॥१४-१५॥ मुर्दोंकी हड्डियोंके भूषणोंसे भूषित भस्म (राख) की रेणुओं-से मटमैले और श्मशान [स्तंभ] के सहारे बैठे हुए ये श्मशान जातिके विद्याधर हैं ॥ १६ ॥ वैडू-र्यमणिके समान नीले नीले वस्त्रोंको धारण किये पाँडुर स्तंभके सहारे बैठे हुये ये पाँडुक जातिके विद्याधर हैं ॥ १७ ॥ काले काले मृगचर्मोंको ओढ़े काले चमड़ेके वस्त्र और मालाओंको धारे काल-स्तंभका आश्रय ले बैठे हुए ये कालश्वपाकी जातिके विद्याधर हैं ॥ १८ ॥ पीले वर्णके केशोंसे भूषित, तप्त सुवर्णके भूषणोंके धारक श्वपाक विद्याओंके स्तंभके सहारे बैठने वाले ये श्वपाक [भंगी] जाति के विद्याधर हैं ॥ १९ ॥ वृक्षोंके पत्तोंके समान हरे वस्त्रोंके धारण करनेवाले, भाँति भाँतिके मुकुट और मालाओंके धारक, पर्वतस्तंभका सहारा लेकर बैठे हुए ये पार्वतेय जातिके विद्याधर हैं ॥ २० ॥ जिनके भूषण बाँसके पत्तोंके बने हुए हैं जो सब ऋतुओंके फूलोंकी माला पहिने हुए हैं और वंशस्तंभके सहारे बैठे हुए हैं वे वंशालय जातिके विद्याधर हैं ॥ २१ ॥ महासर्पके चिह्नोंसे युक्त उत्तमोत्तम भूषणोंको धारण करने वाले वृक्षमूल नामक विशाल स्तंभके सहारे बैठे हुए ये वार्क्षमूलक जातिके विद्याधर हैं ॥ २२ ॥ इस प्रकार रमणी मदनवेगा द्वारा अपने अपने वेष और चिह्न युक्त भूषणोंसे विद्याधरोंका भेद जान कुमार अति प्रसन्न हुए और उसके साथ अपने स्थानको वापिस चले आये एवं अन्य विद्याधर भी अपने अपने स्थानों-को चले गये ॥ २३-२४ ॥"

इस उल्लेख परसे इतनाही स्पष्ट मालूम नहीं होता कि मातंग जातियोंके चाण्डाल लोग भी जैनमंदिरमें जाते और पूजन करते थे बल्कि यहभी मालूम होता है कि *स्मशानभूमिकी हड्डियों

* देखो इस हरिवंशपुराणका सन् १९१६का छपा हुआ संस्करण, पृष्ठ २८४, २८५ ।

*यहाँ इस उल्लेख परसे किसीको यह समझनेकी भूल न करनी चाहिये कि लेखक आजकल ऐसे अपवित्र वेषमें जैन मंदिरोंमें जानेकी प्रवृत्ति चलाना चाहता है ।

के आभूषण पहिने हुए, वहाँकी राख बदनसे मले हुए, तथा मृगछाला ओढ़, चमड़ेके वस्त्र पहिने और चमड़ेकी मालाएँ हाथमें लिये हुए भी जैनमंदिरमें जासकते थे, और न केवल जाही सकते थे बल्कि अपनी शक्ति और भक्तिके अनुसार पूजा करने के बाद उनके वहाँ बैठनेके लिए स्थान भी नियत था, जिससे उनका जैन-मंदिरमें जानेका और भी ज्यादा नियत अधिकार पाया जाता है†। जान पड़ता है उस समय 'सिद्ध कूट जिनालय' में प्रतिमागृहके सामने एक बहुत बड़ा विशाल मंडप होगा और उसमें स्तंभों के विभागसे सभी आर्य जातियोंके लोगोंके बैठने के लिये जुदाजुदा स्थान नियत कर रक्खे होंगे। आजकल जैनियोंमें उक्त सिद्धकूट जिनायलके ढंग-का—उसकी नीतिका अनुसरण करनेवाला—एकभी जैनमंदिर नहीं है। लोगोंने बहुधा जैन मंदिरोंको देवसम्पत्ति न समझकर अपनी घरू सम्पत्ति समझ रक्खा है, उन्हें अपनी ही चहल-पहल तथा आमोद-प्रमोदादिके एक प्रकारके साधन बना रक्खा है, वे प्राय: उन महोदार्य-सम्पन्न लोकपिता वीतराग भगवानके मंदिर नहीं जान पड़ते जिनके समवशरणमें पशुतक भी जाकर बैठतेथे, और न वहाँ, मूर्तिको छोड़कर, उन पूज्य पिताके वैराग्य, औदार्य तथा साम्यभावादि गुणों का कहीं कोई आदर्श ही नजर आता है। इसीसे वे लोग उनमें चाहे जिस जैनीको आने देते हैं और चाहे जिसको नहीं। ऐसे सब लोगोंको खूब याद रखना चाहिये कि दूसरोंके धर्म-साधनमें विघ्न करना—बाधक होना—, उनका मंदिर जाना बंद करके उन्हें देवदर्शन आदिसे विमुख रखना, और इस तरह पर उनकी आत्मोन्नतिके कार्यमें रुकावट डालना बहुत बड़ा भारी पाप है। अंजना सुंदरीने अपने पूर्व जन्ममें थोड़ेही कालके लिये, जिनप्रतिमा को छिपाकर, अपनी सोतनके दर्शनपूजनमें अन्तराय डाला था। जिसका परिणाम यहाँ तक कटुक हुआ कि उसको अपने इस जन्ममें २२ वर्ष तक पतिका दु:सह वियोग सहना पड़ा और अनेक संकट तथा आपदाओंका सामना करना पड़ा, जिनका पूर्ण विवरण श्रीरविषेणाचार्यकृत 'पद्म पुराण' के देखनेसे मालूम हो सकता है। श्रीकुन्द-कुन्दाचार्यने, अपने 'रयणसार' ग्रन्थमें यह स्पष्ट बतलाया है कि—'दूसरोंके पूजन और दानकार्यमें अन्तराय (विघ्न) करनेसे जन्मजन्मान्तरमें क्षय, कुष्ठ, शूल, रक्तविकार, भगंदर, जलोदर, नेत्रपीड़ा, शिरोवेदना आदिक रोग तथा शीत उष्ण (सरदी गरमी) के आताप और (कुयोनियोंमें) परिभ्रमण आदि अनेक दुःखोंकी प्राप्ति होती हैं।' यथा—

खयकुट्ठसूलमूलो लोयभगंदरजलोदरक्खिसिरो-

सीदुण्हबह्मराई पूजादाणंतरायकम्मफलं ॥३३॥

इसलिए जो कोई जाति-बिरादरी अथवा पंचायत किसी जैनीको जैनमन्दिरमें न जाने अथवा जिनपूजादि धर्मकार्योंसे वंचित रखनेका दण्ड देती है वह अपने अधिकारका अतिक्रमण और उल्लंघन ही नहीं करती बल्कि घोर पापका अनुष्ठान करके स्वयं अपराधिनी बनती है।" पृष्ठ ३१-३६।

—क्रमशः

†श्री जिनसेनाचार्यने, ९ वीं शताब्दीके वातावरण के अनुसार भी, ऐसे लोगोंका जैनमंदिर में जाना आदि आपत्तिके योग्य नहीं ठहराया और न उससे मंदिरके अपवित्र होजानेको ही सूचितकिया। इससे क्या यह न समझ लिया जाय कि उन्होंने ऐसी प्रवृत्तिका अभिनंदन किया है अथवा उसे बुरा नहीं समझा!

डाकिया

लेखक—श्री भगवत् स्वरूप जैन 'भगवत्'

(१)

आप एक ऐसी स्त्री की कल्पना कीजिए, जो ग़रीबी के सबब आँसू बहाया करती है, पति की अनुपस्थिति के कारण दिल मसोस कर ज़िन्दगी बिताती है, और आधी दर्जन बच्चों के मारे घड़ी भर चैन नहीं लेने पाती। इसके बाद भी जो कुछ रहता है, उसे उसका स्वास्थ्य पूरा करता है—कभी जुकाम; कभी बुखार, कभी कुछ और कभी कुछ।

तो समझ लीजिए कि वह रूपा है। उसका पति अहमदाबाद के किसी 'मिल' में नौकर है। तीस दिन,—हाँ! पूरे तीस दिन, बाद उसे पन्द्रह रुपये मिलते हैं। जिस में दस रुपये का वह 'मनि-आर्डर' कर देता है। बचते हैं चार रुपये चौदह आने!—अगर खुश किस्मती से कोई 'फ़ायन' न हो जाए तब! वे बाकी तीस दिन तक पेट की ज्वाला बुझाने के काम आते हैं।

और इधर—

छः बच्चे और उनकी माँ—रूपा, प्रतीक्षा की गोद में बैठकर तीस दिन काट पाते हैं! सैकड़ों अरमान मनि-आर्डर आने तक मन में क़ैद रहते हैं। लेकिन आते ही किधर उड़ जाते हैं, पता नहीं! आख़िर ख़र्च भी तो है, हल्के पूरे सात प्राणियोंका। पर रूपा?....हाँ, रूपा उन दश रुपयों में पूरा एक महीना किस तरह काटती है, वह कौन जाने?—किसे पर्वाह, जो उसके जीवन-यापन पर नज़र डाले।

गाँव के एक कोने में उसका घर है। घर कहो या झोंपड़ी, जो कुछ है, वही है। सामने टूटा-सा छप्पर, फिर गिरती हुई मिट्टी की ज़रा लम्बी-सी दहलीज़। इसके बाद—ऊबड़-खाबड़-सा चौक और एक कोठा, जिसका पटाव ऐसा, जैसे अब गिरा, अब गिरा!

बर्सात होती है तो घर में पाँव रखने भर को सूखी जगह नहीं रहती। बच्चों का घर और बेहद कीच, यह दोनों बातें उसे और भी घृणास्पद बना देती हैं। चौक में दीवारों की लगास से कुछ सब्ज़ी हो पड़ी है, जो बजाय सुन्दरता बढ़ाने के—शायद कीड़ा-मकोड़ा न हो—भयका उत्पादन करती है। रूपा का मन भय से भर जाता है, जब उसके बच्चे घास-पात की ओर खेलने लगते हैं। पर करें क्या?—लाचारी है।……औरत का दिल इतना करता चला जा रहा है, वह क्या थोड़ा है?—और उस पर भी इस भरे-पूरे गाँव में कोई उसका हम-दर्द नहीं, हितू नहीं, दयालु नहीं।

× × ×

(२)

एक महीने बाद—

रात का वक्त है, मेघ बरस चुका है, लेकिन थोड़ी फुहारें अब भी शेष हैं। प्रकृतिस्थली अन्ध-कार की चादर में मुँह छिपाए पड़ी है। समीर की चंचल प्रवृत्ति अपने कार्य में व्यस्त है। घन-गर्जना

की भयानकता आतंक बन रही है, दामिनी की अस्थिर ज्योति दृष्टि को उद्भ्रान्त बना रही है।

मगर कहाँ ....?

वहाँ, जहाँ पर अभागे प्राणी सोने के लिये जगह नहीं पा रहे, बैठे बैठे रात बिता रहे हैं। कभी रोते हुए आकाश की ओर देखते हैं, और कभी अपनी दशा की ओर।

वे काले बादल कहीं उनसे स्पर्द्धा तो नहीं कर रहे........?

गुदड़ों में लुके-छिपे बच्चे इधर उधर लुढ़क रहे हैं-कुछ सोये, जागते से। बड़ा लड़का—'मीना' जिसकी आयु आठ नौ साल की होगी, मगर दुर्बल शरीर सात आठ वर्ष से अधिक का उसे समझने नहीं देता—रूपा के समीप, सर्दी के मारे ठिठुरता, पेट में घौंटू छिपाए बैठा है।

रूपा की दोनों आँखें पानी बरसा रही हैं। वह सोच रही है—'महीना हो गया, मगर मनिआर्डर आज भी नहीं आया, नौ तारीख होगई। क्या बात हुई.....? पिछले महीने तो पाँचवीं को ही मिल गया था। छः, सात, आठ, नौ, चार दिन हो गए। जरूर कोई न कोई वजह हुई—नहीं, वे भला मनिआर्डर न भेजते...? कहीं बीमार तो नहीं हो गये, सिक-रिपोर्ट में......?'—और दुखद, अज्ञान-भय ने उसे तड़पा दिया। परन्तु—तुरन्त ही विचार मुड़ा 'किसी नई नवेली के जाल में तो नहीं पड़ गए? बड़ा शहर है, क्या मुश्किल? तिस पर ठहरा मर्दों का मन, क्या फ़िक्र कि गाँव में बाल-बच्चे भूखे नंगे ......?'

ईर्षा की एक हल्की लहर उसके मुँह पर दौड़ गई! स्त्री की शंकित-मनोवृत्ति कुछ पनपती, अगर कुछ कारण पाती!...... या परस्थिति ठीक होती।

...सामने बैठा था, मीना जाड़े के मारे सिकुड़ा हुआ! फिर विचारों को फिरते क्या देर लगती! वह सोचती-कल जरूर आजाएगा—मनिआर्डर! रुक नहीं सकता! इतने दिन जो हो गए, कल दशवीं तारीख है न?— पाँच को भी भेजा होगा, तब भी आजायगा! कल यह बात नहीं कि 'न आये!"

विचारों की धारा आगे बढ़ती—'छह रुपये तो अनाज वाले को देने हैं, वह जान लिये लेता है, फिर उससे लाना भी तो है—अनाज! घर में क्या है...?—बहुत होगा, तो कल तक के लिये!—और तीन रुपये कपड़े वाले के, उस बेचारे को तो बहुत दिन हो गये! और कपड़ा भी तो लाना है-एक-एक कुरता सबको, एक फतूली! मुझे...! क़रीब चौदह-गज, दो-रुपये का...! तेल, मिर्च, मसाला और वैद्य जी के दवा के पैसे...! कुछ हो, 'मनिआर्डर' आये तो...सब कर लूँगी! छुन्नो को पैसे का दूध पिलाऊँगी, मीना जूतों के लिये अड़ रहा है—दिलवा दूँगी, चार-छः आने वाले!'

और उसी समय—छुन्नो, साल-भर की दुधमुँही बच्ची, भूख और सर्दी के मारे रो उठती है!

'आ' काहे को रोती है—मेरी...!' रूपा उसे छाती से लगा लेती है।

आकाशमें हवा और पानी दोनों मिल रहे हैं! अँधियारी उन्हें छिपाना चाहती है, पर असमर्थ...!

× × × ×

(३)

दूसरे दिन, सुबह नौ बजे—मीना छप्परमें बैठा है। रूपा दहलीज में! दोनों के मन, दोनों की दृष्टि प्रतीक्षा में लग रही है!

'देख रे! डाकिया आया कि नहीं, धूप तो आधे छप्पर पर आ गई! यही वक्त तो उसके आने का होता है!'—रूपा ने भ्रमित-दृष्टि को मीना के मुख पर गड़ाते हुये कहा।

'देख तो रहा हूँ—माँ! अभी तो......

अरे.........वह रहा 'गोपिया' के द्वार पर, चिट्ठी दे रहा है !......वह आया......!'—मीना ने खुशी में डूब कर कहा।

'उधर ही आ रहा है—क्या ?'—रूपा के धड़कते हुये दिल ने पूछा !

'हाँ .... हाँ .... !—माँ !'—मीना बोला। दोनों प्रसन्न थे !

'यह लो, तुम्हारा मनिआर्डर है ! रूपा ने सुना तो गद्-गद् हो गई !

'देखो, निकला न उसका अनुमान सही ?—क्या आज उसका मनिआर्डर न आता, यह हो सकता था ?'—मीना की बाँह में उसने चिकौटी काटी, जैसे कहा 'आगे, बढ़ !'

मीना लपक कर आगे बढ़ा, डाकिया बराबर के—घर के—द्वार पर था !

'लाओ, माँ का अगूठा लगवाऊँ ?'—मीना ने आँखें डाकिया की ओर लगा दीं !

'नहीं, तुम्हारा नहीं, इसका है !'—डाकिया ने 'केदार' की ओर संकेत किया !

मीना मग्न !

'अरे ! उसके दादा का मनिआर्डर नहीं, आया...?'—अब......?" उसकी सूखी-आँखों में नमी आई ! रूँधे- कण्ठ से बोला—

हमारा मनिआर्डर......!"

'नहीं है—बेटा ! होता तो देता न ....?'

डाकिया के स्वर में दर्द था, सहानुभूति थी !

मीना लौटा, निराशा का असह्य-भार लिए हुए।

'या ..! माँ आज भी नहीं आया।'

रूपा दहलीज का एक किवाड़ खोले, सब देख सुन रही थी। पर निश्चय नहीं कर पा रही थी कि बात क्या है ? मीना की बात सुनी तो धम्म से जमीन पर गिर पड़ी।

'ऐं ... ! ...ऐं ... आज भी नहीं आया, अरे ! कल 'कहाँ से खायेंगे ?'

डाकिया मीना के द्वार के आगे से निकला।

उफ ! रूपा की जैसे सारी कामनाएं भागी जा रही हों।

डाकिया की उड़ती हुई, सरसरी नजर ने देखा—'मीना की माँ के जैसे प्राण निकल रहे हैं।'

उसने अपनी गति को धीमा किया, सुना—'ऐं! आज भी नहीं आया, अरे कल कहाँसे खायेंगे ?'

उसके हृदय में एक दर्द उठा, वह सोचने लगा 'कितनी करुणाजनक परिस्थिति है—ओह ! मनिआर्डर पर ही इस परिवार का जीवन निर्भर है ! खाने के लिए चाहिए ही, और मनिआर्डर आ-ही नहीं रहा ! पाँच, सात दिन होगए रोज बेचारों का कोमल-मन टूट जाता है ! सुबह-ही-सुबह ! .. और उस पाप का पातक लगता है-मुझे ! अरे ! मैं ही तो नित्य उनकी आशाप्रासादों को ढा देता हूँ ! उफ् ! बेचारे कैसे डरते -दिल से देखते हैं, पूछते हैं। चाहते हैं कि-'हाँ, है तुम्हारा मनिआर्डर।'—मैं कहूँ ! मगर मैं ......? कहता हूँ-कहना पड़ता है 'नहीं है।'...अह: ! यह 'नहीं है !' कैसा तलवार-सा लगता है-उन्हें ! लेकिन ...... बात मेरे हाथ की भी तो नहीं, मजबूर हूँ।'

और वह इन्हीं विचारों में उलझा हुआ, आगे बढ़ जाता है।

× × ×

(४)

रात को.......... !

'जा रही हूँ, जा रही हूँ—मैं ! सुनता है, रे मीना ! बच्चों को संभाल .... हो .. हो ... दादा आवें, ... अब आवें ... अ .... ब .... क ... ह ... ना कि कि छुन्नों की माँ ... तुम्हारा ... मनिआर्डर ... मनि आ ... र ... ड ... र .... डाकिया ने ... हे।... भगवान् ... भ ... ब .... !

छोटा-सा बच्चा-मीना, माँ की अनर्गल-बातें सुनता रहा, पर समझा कुछ नहीं। ... कि वह

क्या कह रही है, कहाँ जा रही है? रात के वक्त, ऐसी बुखार की हालत में। सुबह ही से तो वह तप रही है-आग की तरह! सात, आठ दिन से रोज़ हरारत आ जाती थी! लेकिन आज की-सी बातें तो···!

मीना रो उठा! उसके भाई-बहिन भी जगकर उसका साथ देने लगे। रात की नीरवता में वह टूटी झोंपड़ी करुण-क्रन्दन से प्रकम्पित हो उठी।

पर ···! रूपा की नींद तोड़ने के लिए वह 'कुछ नहीं' सिद्ध हुई!

क्योंकि वह मूर्छित थी, अचेत थी, संज्ञा-शून्य थी! थर्मामेटर होता तो बतलाता—उसे एक सौ पाँच—साढ़े, पाँच डिग्री फ़ीवर था।

मगर उसे देखने वाला कौन?

× × × ×

सुबह··············!

लेकिन आज यह क्या बात?—न रूपा किवाड़ों से झाँक रही है—न मीना आया! वह दर्वाजे के सामने आगया, मगर फिर भी सन्नाटा! यह मामला क्या है?—सप्ताह-भर से तो वह···!

उसे याद आई—'यह सब आज खायेंगे-क्या?' ···ओफ़···ग़रीबी!

उसने अपनी दशा उससे मिलाई! दोनों में कोई फ़र्क, कोई अन्तर नहीं! उसके घर भी···! वह यहाँ इतनी दूर पड़ा है! उसे क्या ख़बर?

उससे न रहा गया! आगे बढ़ा, किवाड़ों पर हल्का धक्का दिया, वह खुल गया! फिर उसने जो कुछ देखा, वह उसे—उसके दयालु-मन को—हिला देने के लिये काफ़ी था!

रूपा—मरी-सी, सिसकती-सी, आँखें फाड़े उसकी ओर देख रही है! बच्चे इधर-उधर उसके बराबर पड़े हैं—रोते, भुनभुनाते हुए-से!

डाकिया काँप गया!

रूपा ने बोलना चाहा पर बोल न सकी! उस का कण्ठ भी आज पराया बन रहा था!

दिनों का फेर इसी को कहते हैं!

डाकिया ने उसकी आँखों में पढ़ा—'क्या आज मनिआर्डर आया है?'—मन की जिज्ञासा आँखों में खेल रही थी!

डाकिया की वाणी स्वतन्त्र होगई! वह रूपा की गीली दृष्टि न देख सका!

'हाँ! आज तुम्हारा मनि आर्डर आया है—रूपा!'—डाकिया ने चमड़े के थैले और हाथ की चिट्ठियों पर नज़र डालते हुए कहा।

लेकिन··· यह उसका वचन था, या चन्द्रोदय-रस?—मरती हुई रूपाने अपने को आलोकमय-संसार में पाया!

'अरे! उसका मनि आर्डर आगया,···छुन्नों उसकी कब की रो रही है, मीना को बाज़ार भेज कर अनाज···!'—सैकड़ों विचार रूपाके मस्तिष्क में दौड़ गए! वह उठ बैठी।

उसका कण्ठ फूटा—'लाओ, अँगूठा करूँ!'

'मगर मैं मनिआर्डर को डाकखाने भूल आया हूँ! अभी लाया···!'

हर्ष-भरे स्वर में डाकिया ने उत्तर दिया, और तुरन्त उस झोंपड़ी से बाहर होगया!

'यह लो, दश रुपया!'—डाकियाने रुपये रूपा के काँपते हाथों में धर दिए!

'अँगूठा!'—रूपा बोली।

'नहीं, क़ानून बदल गया है, अब अँगूठा नहीं कराया जाता!,—डाकिया ने जवाब दिया!

मगर वह भोली रूपा इस रहस्य से अविदित ही रही, कि मनिआर्डर उसका नहीं आया, रुपये डाकिया ने अपनी जेब से दिये हैं!

डाकिया प्रसन्न था—उसने आज एक परिवार का संरक्षण किया था!

वह बढ़ा···! पीछे से किसी ने गाया—
'घायल की गति घायल जाने और न जाने कोय!'

'अनेकान्त' पर लोकमत

'अनेकान्त' के द्वितीय वर्षकी प्रथम किरणको पाकर जिन जैन-अजैन विद्वानों, प्रतिष्ठित पुरुषों, तथा अन्य सज्जनोंने उसका हृदयसे स्वागत किया है और उसके विषयमें अपनी शुभ सम्मतियाँ तथा ऊँची भावनायें 'वीरसेवामन्दिर' को भेजनेकी कृपा करके संचालकोंके उत्साहको बढ़ाया है उनमेंसे कुछ सज्जनोंके विचार तथा हृदयोद्गार पाठकोंके अवलोकनार्थ नीचे प्रकट किये जाते हैं :—

(१) श्रीमान् मुनि श्री कल्याणविजयजी,

"'अनेकान्त' की सजधज वही है जो पहले थी, खुशीकी बात इतनीही है कि अब इसे अच्छा संरक्षण मिल गया है। आशाही नहीं पूर्ण विश्वास है कि अब यह साहित्य-क्षेत्रमें प्रकाश डालनेके साथ-साथ सामाजिक क्षेत्रमें भी अपनी किरणें फेंकता रहेगा, ऐसे आसार दीखते हैं। तथास्तु।"

(२) श्रीमान् शतावधानी मुनि श्री रत्नचन्द्रजी व मुनि श्रीअमरचन्द्रजी—

"दीर्घातिदीर्घ निशाकालके बाद अनेकान्त-सूर्यका उदय बड़ी शानके साथ हुआ। वर्षकी प्रथम किरण जो ज्ञान-प्रकाश लेकर आई है वह सहृदय सज्जनोंके हृदय-मन्दिरको खूब जगमगा देनेवाला है।

वर्तमान जागृतिके लिए जो भी विषय आवश्यक हैं, उन सबको पत्रमें स्थान दिया है और बड़ी खूबीसे दिया है। कुछ लेख तो बड़ेही गवेषणापूर्ण हैं और वे पत्रकी प्रतिष्ठा को काफ़ी ऊँचे धरातलमें ले जाते हैं।

साम्प्रदायिक कलहके वातावरणसे पत्रको अलग रखनेका जो प्रारम्भसे ही शुभ संकल्प किया है वह शत-शत बार प्रशंसनीय है। पत्रकी नीति-रीति विशाल है, उदार है, फलतः वह जैन-संसारके सभी विभागों को एक समान लाभकारी सिद्ध होगा।

श्रीयुत जुगलकिशोरजी जैन-संसारके माने हुए निष्पक्ष विद्वान हैं। पत्रकी प्रतिष्ठाके लिए सम्पादकके स्थानमें एकमात्र आपका नाम ही सर्वतः अलं है। हम आशा करते हैं—सुयोग्य सम्पादककी छत्रछायामें 'अनेकान्त' अपने निश्चित् समयपर उदित होता रहेगा और अपना भविष्य अधिक से अधिक समुज्वल बनाएगा। यथावकाश हमभी अपनी सेवा कभी-कभी 'अनेकान्त' को अर्पण करने का प्रयत्न करेंगे।"

(३) श्रीमान् पं० कैलाशचन्द्रजी जैनशास्त्री प्रधानाध्यापक स्या० वा० वि० बनारस—

"आठ वर्षके सुदीर्घ अन्तरालके बाद अपने पूर्व परिचित बन्धुको उसी सुन्दर कलेवरमें देखकर किसे हर्ष न होगा। मुखपृष्ठपर वही अनेकान्तसूर्य अपनी विविध रश्मियोंके साथ विराजमान है और अन्तरंग पृष्ठोंमें अनुसन्धान, तत्त्वचर्चा, अतीतस्मृति, सम्यक्पथ आदि ज्ञानकी विविध धारायें अनेकान्तके प्रकाशमें झिलमिल झिलमिल कर रही हैं। तभीतो देखनेवालों की आँखें चौंधिया जाती हैं। अस्तु, लेखों का संकलन सुन्दर है और उनकी विविध विषयता रोचक। इससे सभी प्रकारके पाठकोंका अनुरञ्जन हो सकेगा। योंतो सभी लेख सुपाठ्य हैं, किन्तु उनमें श्री कुन्दकुन्द और

Regd. No. L. 4328

पत्तिसूत्रके पौर्वापर्यका आपका लेख ऐतिहासिकोंके सामने कुछ नये विचार रखता है और उससे कुन्दकुन्द का समय निर्णीत करनेमें कुछ नये प्रमाण प्रकाशमें आये हैं। बाबू सूरजभानजीका लेखतो लेखन कला की दृष्टिसे बहुत ही उत्कृष्ट है। इतने गम्भीर विषयको इतनी सरलता और रोचकतासे प्रतिपादन करना सूरज-भानजी सरीखे सिद्धहस्त लेखकोंका ही काम है।

आपने मुझसे लेख माँगा था, परन्तु कोई विषय न सूझ पड़नेसे मैं अभी आपसे क्षमा माँगकर छुट्टी ले लेनेका विचार करता था, परन्तु इस अङ्कने, ख़ासकर बाबू सूरजभानजीके लेखने—मुझे लिखनेकी सामग्री देदी है। और अब मैं आपके तकाज़ेसे उऋण होनेकी चिन्तामें हूँ।

अन्तमें आपके सुदीर्घ जीवनकी कामना करता हुआ 'अनेकान्त' के संचालक और प्रकाशकको हार्दिक धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता, जिनकी उदारता और प्रयत्न शीलता से 'अनेकान्त' के पुनः दर्शन कर सकनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ। इस अङ्कमें प्रूफ संबन्धी अशुद्धियाँ अधिक हैं, अतः इधर ध्यान देनेकी आव-श्यकता है।

(४) श्रीमान पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायशास्त्री,

"पत्र आशानुरूप रहा। इसकी रीति-नीतिसे मुझे भी कुछ लिखने का उत्साह हुआ है। छपाई तथा प्रूफ संशोधन सन्तोषजनक नहीं है। पत्र हर तरहके पाठकोंके योग्य यथेष्ठ सामग्रीसे परिपूर्ण है।"

(५) श्रीमान पं० शोभाचन्द्रजी न्यायतीर्थ,
हैडमास्टर जैन गुरुकुल, ब्यावर—

"'अनेकान्त'की प्रथम किरण प्राप्त हुई। अने-कान्त-चक्रपर नज़र पड़ते ही हार्दिक उल्लासकी अनु-भूति हुई। अन्दरकी सामग्री तो ठोस, महत्वपूर्ण और माननीय होनीही थी। आपके सम्पादकत्वमें जैसी आशा थी, 'अनेकान्त' उसे पूर्ण करता है। 'गुन न हिरानो गुनग्राहक हिरानो है'—किन्तु समाज अपनी गुणग्राहकताका कितना परिचय देता है?"

—क्रमशः

सूचना

सम्पादकजीके १ नवम्बरसे बीमार पड़ जानेके कारण इस किरणके लेखोंका उनके द्वारा सम्पादन नहीं होसका। इतनीही प्रसन्नताकी बात है कि वे शुरूके एक फार्मका मैटर २१ तारीखको भेज सके हैं। अब उनकी तबियत सुधर रही है और पूर्ण आशा है कि तीसरी किरणका सम्पादन उन्हींके द्वारा होगा।

—व्यवस्थापक

विषय-सूची

ॐ अर्हम्

नीति-विरोध-ध्वंसी लोक-व्यवहार-वर्त्तकः सम्यक् ।
परमागमस्य बीजं भुवनैकगुरुर्जयत्यनेकान्तः ॥

वर्ष २ | सम्पादन-स्थान—वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम), सरसावा जि० सहारनपुर
प्रकाशन-स्थान—कनॉट सर्कस पो० ब० नं० ४८ न्यू देहली
पौषशुक्ल, वीरनिर्वाण सं० २४६५, विक्रम सं० १९९५ | किरण ३

समन्तभद्र-वन्दन

तीर्थं सर्वपदार्थ-तत्त्व-विषय-स्याद्वाद-पुण्योदधेः
भव्यानामकलङ्क-भावकृतये प्राभावि काले कलौ ।
येनाचार्यसमन्तभद्र-यतिना तस्मै नमः संततं
(कृत्वा विक्रियते स्तवो भगवतां देवागमस्तत्कृतिः॥)

—देवागमभाष्ये, भट्टाकलंकदेवः ।

जिन्होंने सम्पूर्ण-पदार्थ-तत्त्वोंको अपना विषय करनेवाले स्याद्वादरूपी पुण्योदधि-तीर्थको, इस कलि-कालमें. भव्यजीवोंके आन्तरिक मलको दूर करनेके लिए प्राभावित किया है—उसके प्रभावको सर्वत्र व्याप्त किया है—उन आचार्य समन्तभद्र यतिको—सन्मार्गमें यत्नशील मुनिराजको—बारबार नमस्कार ।

भव्यैक-लोकनयनं परिपालयन्तं
स्याद्वाद-वर्त्म परिणौमि समन्तभद्रम् ॥

—अष्टशत्यां, भट्टाकलंकदेवः ।

स्याद्वादमार्गके संरक्षक और भव्यजीवोंके लिए अद्वितीय सूर्य—उनके हृदयान्धकारको दूर करके अन्तः प्रकाश करने तथा सन्मार्ग दिखलाने वाले—श्रीसमन्तभद्र स्वामीको मैं अभिवन्दन करता हूँ।

नमः समन्तभद्राय महते कविवेधसे।
यद्वचो वज्रपातेन निर्भिन्नाः कुमताद्रयः॥
—आदिपुराणे, जिनसेनाचार्यः।

जो कवियोंको—नये नये संदर्भ रचनेवालोंको—उत्पन्न करनेवाले महान विधाता (कवि-ब्रह्मा) थे—जिनकी मौलिक रचनाओंको देखकर—अभ्यासमें लाकर—बहुतसे लोग नई नई रचना करनेवाले कवि बन गए हैं, तथा बनते जाते हैं और जिनके वचनरूपी वज्रपातसे कुमतरूपी पर्वत खण्ड-खण्ड हो गए थे—उनका कोई विशेष अस्तित्व नहीं रहा था—उन स्वामी समन्तभद्रको नमस्कार हो।

समन्ताद्भुवने भद्रं विश्वलोकोपकारिणी।
यद्वाणी तं प्रवन्दे समन्तभद्रं कवीश्वरम्॥
—पार्श्वनाथचरिते, सकलकीर्तिः।

जिनकी वाणी—ग्रन्थादिरूप भारती—संसारमें सब ओरसे मंगलमय-कल्याणरूप है और सारी जनताका उपकार करने वाली है उन कवियोंके ईश्वर श्रीसमन्तभद्रकी मैं सादर वन्दना करता हूँ।

वन्दे समन्तभद्रं तं श्रुतसागर-पारगम्।
भविष्यसमये योऽत्र तीर्थनाथो भविष्यति॥
—रामपुराणे, सोमसेनः।

जो श्रुतसागरके पार पहुँच गए हैं—आगमसमुद्रकी कोई बात जिनसे छिपी नहीं रही—और जो आगेको यहाँ—इसी भरतक्षेत्रमें—तीर्थंकर होंगे, उन श्रीसमन्तभद्रको मेरा अभिवन्दन है—सादर नमस्कार है।

समन्तभद्रनामानं मुनिं भाविजिनेश्वरम्।
स्वयंभूस्तुतिकर्त्तारं भस्मव्याधिविनाशनम्॥
दिगम्बरं गुणागारं प्रमाणमणिमण्डितम्।
विरागद्वेषवादादिमनेकान्तमतं नुमः॥
—मुनिसुव्रतपुराणे, कृष्णदासः।

जो स्वयम्भूस्तोत्र के रचयिता हैं, जिन्होंने भस्मव्याधिका विनाश किया था—अपने भस्मक रोगको बड़ी युक्तिसे शान्त किया था—, जिनके वचनादिकी प्रवृत्ति रागद्वेषसे रहित होती थी, 'अनेकान्त' जिनका मत था, जो प्रमाण-मणिसे मण्डित थे—प्रमाणतारूपी मणियोंका जिनके सिर सेहरा बँधा हुआ था—अथवा जिनका अनेकान्तमत प्रमाणमणिसे सुशोभित है और जो भविष्य-कालमें जिनेश्वर (तीर्थंकर) होने वाले हैं, उन गुणोंके भण्डार श्रीसमन्तभद्र नामक दिगम्बर मुनिको हम प्रणाम करते हैं।
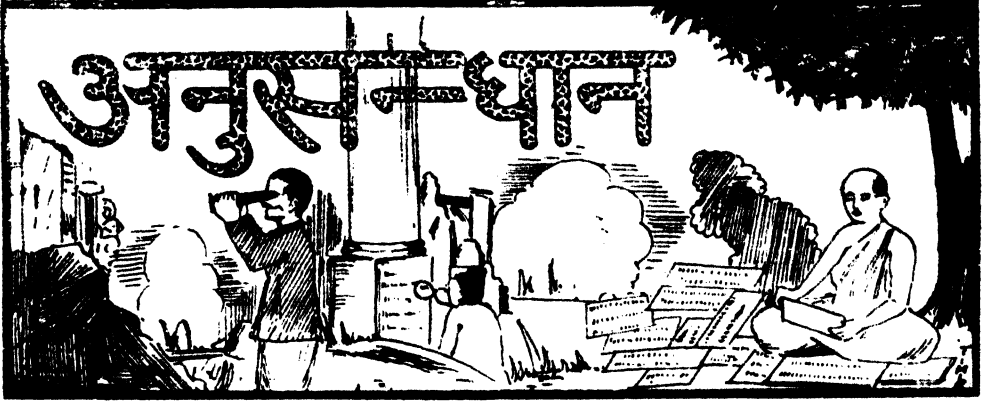
आर्य और म्लेच्छ

[सम्पादकीय]

श्री गृद्धपिच्छाचार्य उमास्वातिने, अपने तत्त्वार्थाधिगमसूत्र ग्रन्थमें, सब मनुष्यों को दो भागोंमें बाँटा है—एक 'आर्य' और दूसरा 'म्लेच्छ'; जैसा कि उनके निम्न दो सूत्रोंमे प्रकट है:—

"प्राङ्मानुषोत्तरान्मनुष्याः।"

"आर्या म्लेच्छाश्च*।" अ० ३ ॥

परन्तु 'आर्य' किसे कहते हैं और 'म्लेच्छ' किसे ?—दोनोंका पृथक् पृथक् क्या लक्षण है ? ऐसा कुछ भी नहीं बतलाया। मूलसूत्र इस विषयमें मौन हैं। हाँ, श्वेताम्बरोंके यहाँ तत्त्वार्थसूत्र पर एक भाष्य है, जिसे स्वोपज्ञभाष्य कहा जाता है—अर्थात् स्वयं उमास्वातिकृत बतलाया जाता है। यद्यपि उस भाष्यका स्वोपज्ञभाष्य होना अभी बहुत कुछ विवादापन्न है, फिर भी यदि थोड़ी देरके लिए—विषयको आगे सरकानेके वास्ते—यह मान लिया जाय कि वह उमास्वाति-कृत ही है, तब देखना चाहिए कि उसमें भी 'आर्य' और 'म्लेच्छ' का कोई स्पष्ट लक्षण दिया है या कि नहीं। देखने से मालूम होता है कि दोनोंकी पूरी और ठीक पहचान बतलानेवाला वैसा कोई लक्षण उसमें भी नहीं है, मात्र भेदपरक कुछ स्वरूप ज़रूर दिया हुआ है और वह सब इस प्रकार है:—

"द्विविधा मनुष्या भवन्ति। आर्या म्लिशश्च। तत्रार्या षड्विधाः। क्षेत्रार्याः जात्यार्याः कुलार्याः कर्मार्याः शिल्पार्याः भाषार्या इति। तत्र क्षेत्रार्या पञ्चदशसु कर्मभूमिषु जाताः। तद्यथा। भरतेष्वर्धषड्विंशतिषु जनपदेषु जाताः शेषेषु च चक्रवर्तिविजयेषु। जात्यार्या इक्ष्वाकवो विदेहा हरयोऽम्बष्ठाः ज्ञाताः कुरवो वुंबुनाला उग्रा भोगा राजन्या इत्येवमादयः। कुलार्याः कुलकराश्चक्रवर्तिनो बलदेवा वासुदेवा ये चान्ये आतृतीयादापञ्चमादासप्तमाद्वा कुलकरेभ्यो वा विशुद्धान्वयप्रकृतयः। कर्मार्या यजनयाजनाध्ययनाध्यापनप्रयोगकृषिलिपि—वाणिज्ययोनिपोषणवृत्तयः। शिल्पार्यास्तन्तुवायकुलालनपिततुन्नवायदेवटादयोऽल्पसावद्या अगर्हिता—जीवाः। भाषार्या नाम ये शिष्टभाषानियतवर्णं लोकरूढस्पष्टशब्दं पञ्चविधानामप्यार्याणां संव्यवहारं भाषन्ते।

*श्वेताम्बरोंके यहाँ 'म्लेच्छाश्च' के स्थान पर 'म्लिशश्च' पाठ भी उपलब्ध होता है, जिससे कोई अर्थभेद नहीं होता।

अतो विपरीता म्लिशः । तद्यथा । हिमवतश्चतसृषु विदिक्षु त्रीणियोजनशतानि लवणसमुद्रमवगाह्य चतसृणां मनुष्यविजातीनां चत्वारोऽन्तरद्वीपा भवन्ति त्रियोजनशतविष्कम्भायामाः । तद्यथा । एकोरुकाणामाभाषकाणां लाङ्गूलिकानां वैषाणिकानामिति । चत्वारि योजनशतान्यवगाह्य चतुर्योजनशतायामविष्कम्भा एवान्तरद्वीपाः । तद्यथा । हयकर्णानां गजकर्णानां गोकर्णानां शष्कुलीकर्णानामिति । पञ्चशतान्यवगाह्य पञ्चयोजनशतायामविष्कम्भा एवान्तरद्वीपाः । तद्यथा । गजमुखानां व्याघ्रमुखानामादर्शमुखानां गोमुखानामिति । षड्योजनशतान्यवगाह्य तावदायामविष्कम्भा एवान्तरद्वीपाः । तद्यथा । अश्वमुखानां हस्तिमुखानां सिंहमुखानां व्याघ्रमुखानामिति । सप्तयोजनशतान्यवगाह्य तावदायामविष्कम्भा एवान्तरद्वीपाः । तद्यथा । अश्वकर्णसिंहकर्णहस्तिकर्णकर्णप्रावरणनामानः । अष्टौ योजनशतान्यवगाह्याष्टयोजनशतायामविष्कम्भा एवान्तरद्वीपाः । तद्यथा । उल्कामुखविद्युज्जिव्हमेषमुखविद्युद्दन्तनामानः ।। नवयोजनशतान्यवगाह्य नवयोजनशतायामविष्कम्भा एवान्तरद्वीपा भवन्ति । तद्यथा । घनदन्तगूढदन्तविशिष्टदन्तशुद्धदन्तनामानः ।।एकोरुकाणामेकोरुकद्वीपः । एवं शेषाणामपि स्वनामभिस्तुल्यनामानो वेदितव्याः ।। शिखरिणोऽप्येवमेवेत्येवं षट्पञ्चाशदिति ।।"

इस भाष्यमें मनुष्योंके आर्य और म्लेच्छ ऐसे दो भेद करके आर्योंके क्षेत्रादिकी दृष्टिसे छह भेद किए हैं—अर्थात पंद्रहकर्म भूमियों (५ भरत, ५ ऐरावत और ५ विदेहक्षेत्रों) में उत्पन्न होनेवालों को 'क्षेत्रार्य'; इक्ष्वाकु, विदेह, हरि, अम्बष्ट, ज्ञात, कुरु, बुंबुनाल, उग्र, भोग, राजन्य इत्यादि वंशवालों को 'जात्यार्य'; कुलकर-चक्रवर्ति-बलदेव-वासुदेवोंको तथा तीसरे पाँचवें अथवा सातवें कुलकरसे प्रारम्भ करके कुलकरोंसे उत्पन्न होनेवाले दूसरे भी विशुद्धान्वय-प्रकृतिवालोंको 'कुलार्य'; यजन, याजन, अध्ययन, अध्यापन, प्रयोग, कृषि, लिपि, वाणिज्य और योनियोषणसे आजीविका करने वालोंको 'कर्मार्य'; अल्प सावद्यकर्म तथा अनिन्दित आजीविका करने वाले बुनकरों, कुम्हारों, नाइयों, दर्जियों और देवटों (artisans = बढ़ई आदि दूसरे कारीगरों) को 'शिल्पकर्मार्य'; और शिष्ट पुरुषों की भाषाओंके नियतवर्णोंका, लोकरूढ स्पष्ट शब्दोंका तथा उक्त क्षेत्रार्यादि पंच प्रकारके आर्योंके संव्यवहारका भले प्रकार उच्चारण-भाषण करनेवालों को 'भाषार्य' बतलाया है। साथ ही क्षेत्रार्यका कुछ स्पष्टीकरण करते हुए उदाहरणरूपसे यह भी बतलाया है कि भरतक्षेत्रोंके साढ़े पच्चीस साढ़े पच्चीस जनपदोंमें और शेष जनपदोंमें से उन जनपदोंमें जहाँ तक चक्रवर्तीकी विजय पहुँचती है, उत्पन्न होनेवालों को 'क्षेत्रार्य' समझना चाहिए। और इससे यह कथन ऐरावत तथा विदेहक्षेत्रोंके साथ भी लागू होता है—१५ कर्मभूमियोंमें उनका भी ग्रहण है, उनके भी २५॥, २५॥ आर्यजनपदों और शेष म्लेच्छक्षेत्रोंके उन जनपदोंमें उत्पन्न होनेवालोंको 'क्षेत्रार्य' समझना चाहिए, जहाँ तक चक्रवर्तीकी विजय पहुँचती है।

इस तरह आर्योंका स्वरूप देकर, इससे विपरीत लक्षण वाले सब मनुष्योंको 'म्लेच्छ' बतलाया है और उदाहरणमें अन्तरद्वीपज मनुष्योंका कुछ विस्तारके साथ उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट है कि जो लोग उन दूरवर्ती कुछ बचे-खुचे प्रदेशोंमें रहते हैं जहाँ चक्रवर्तीकी विजय नहीं पहुँच पाती अथवा चक्रवर्तीकी सेना विजयके लिए नहीं जाती और जिनमें जात्यार्य, कुलार्य, कर्मार्य, शिल्पार्य और भाषार्यके भी कोई लक्षण नहीं हैं वे ही सब 'म्लेच्छ' हैं।

भाष्यविनिर्दिष्ट इस लक्षणसे, यद्यपि, आजकलकी जानी हुई पृथ्वीके सभी मनुष्य क्षेत्रादि किसी-न-किसी दृष्टिसे 'आर्य' ही ठहरते हैं—शकयवनादि भी म्लेच्छ नहीं रहते—परन्तु साथ ही भोगभूमिया—हैमवत आदि अकर्मभूमिक्षेत्रोंमें उत्पन्न होने वाले—मनुष्य 'म्लेच्छ' हो जाते हैं;

क्योंकि उनमें उक्त छह प्रकारके आर्योंका कोई लक्षण घटित नहीं होता। इसीसे श्वे० विद्वान पं० सुखलालजीने भी, तत्त्वार्थसूत्रकी अपनी गुजराती टीकामें, म्लेच्छके उक्त लक्षण पर निम्न फुटनोट देते हुए उन्हें 'म्लेच्छ' ही लिखा है—

"आ व्याख्या प्रमाणे हैमवत आदि त्रीश भोगभूमिओमां अर्थात् अकर्म भूमिओमां रहेनारा म्लेच्छो ज छे।"

पएणवणा (प्रज्ञापना) आदि श्वेताम्बरीय आगम-सिद्धान्त ग्रन्थोंमें मनुष्यके सम्मूर्च्छिम और गर्भव्युत्क्रान्तिक ऐसे दो भेद करके गर्भव्युत्क्रान्तिकके तीन भेद किये हैं—कर्मभूमक, अकर्मभूमक, अन्तरद्वीपज; और इस तरह मनुष्योंके मुख्य चार भेद बतलाए हैं *। इन चारों भेदोंका समावेश आर्य और म्लेछ नामके उक्त दोनों भेदोंमें होना चाहिये था; क्योंकि सब मनुष्योंको इन दो भेदोंमें बांटा गया है। परन्तु उक्त स्वरूपकथनपरसे सम्मूर्च्छिम मनुष्योंको—जो कि अंगुलके असंख्यातवें भाग अवगाहनाके धारक, असंज्ञी, अपर्याप्तक और अन्तमुर्हूतकी आयु वाले होते हैं—न तो 'आर्य' ही कह सकते हैं और न म्लेच्छ ही; क्योंकि क्षेत्रकी दृष्टिसे यदि वे आर्य क्षेत्रवर्ति-मनुष्योंके मल-मूत्रादिक अशुचित स्थानोंमें उत्पन्न होते हैं तो म्लेच्छ क्षेत्रवर्ति-मनुष्योंके मल-मूत्रादिकमें भी उत्पन्न होते हैं और इसी तरह अकर्मभूमक तथा अन्तरद्वीपज मनुष्योंके मल-मूत्रादिकमें भी वे उत्पन्न होते हैं ×।

इसके सिवाय, उक्तस्वरूप-कथन-द्वारा यद्यपि अकर्मभूमक (भोगभूमिया) मनुष्योंको म्लेच्छोंमें शामिल कर दिया गया है, जिससे भोगभूमियोंकी सन्तान कुलकरादिक भी म्लेच्छ ठहरते हैं, और कुलार्य तथा जात्यार्यकी कोई ठीक व्यवस्था नहीं रहती! परन्तु श्वे०आगम ग्रन्थ (जीवाभिगम तथा प्रज्ञापना जैसे ग्रन्थ) उन्हें म्लेच्छ नहीं बतलाते—अन्तरद्वीपजों तकको उनमें म्लेच्छ नहीं लिखा; बल्कि आर्य और म्लेच्छ ये दो भेद कर्मभूमिज मनुष्योंके ही किए हैं—सब मनुष्योंके नहीं; जैसा कि प्रज्ञापना-सूत्र नं ३७ के निम्न अंशसे प्रकट है:—

"से किं कम्मभूमगा? कम्मभूमगा पएणरसविहा पएणत्ता, तं जहा-- पंचहिं भरहेहिं पंचहिं एरावएहिं पंचहिं महाविदेहेहिं; ते समासओ दुविहा पएणत्ता, तं जहा-आयरिया य मिलिक्खू य *।"

ऐसी हालतमें उक्त भाष्य कितना अपर्याप्त, कितना अधूरा, कितना विपरीत और कितना सिद्धान्तागमके विरुद्ध है उसे बतलानेको जरूरत नहीं—सहृदयविज्ञ पाठक स्वयं समझ सकते हैं। उसकी ऐसी मोटी मोटी त्रुटियाँ ही उसे स्वोपज्ञ-भाष्य माननेसे इनकार कराती हैं और स्वोपज्ञभाष्य मानने वालोंकी ऐसी उक्तियों पर विश्वास नहीं होने देती कि 'वाचकमुख्य उमास्वातिके लिए सूत्रका उल्लंघन करके कथन करना असम्भव है ×।' अस्तु।

अब प्रज्ञापनासूत्रको लीजिए, जिसमें कर्मभूमिज मनुष्योंके ही आर्य और म्लेच्छ ऐसे दो भेद किए हैं। इसमें भी आर्य तथा म्लेच्छका

* मणुस्सा दुविहा पएणत्ता, तं जहा—संमुच्छिम—मणुस्सा य गब्भवक्कंतियमणुस्सा य।······गब्भवक्कंतियमणुस्सा तिविहा पएणत्ता, तं जहा—कम्मभूमगा, अकम्मभूमगा, अन्तरदीवगा। ··· ··

—प्रज्ञापना सूत्र ३६, जीवाभिगमेऽपि

× देखो, प्रज्ञापना सूत्र नं० ३६ का वह अंश जो "गब्भवक्कंतियमणुस्सा य" के बाद "से किं संमुच्छिम-मणुस्सा!" से प्रारम्भ होता है।

* जीवाभिगममें भी यही पाठ प्रायः ज्यों का त्यों पाया जाता है—'मिलिक्खू' की जगह 'मिलेच्छा' जैसा पाठभेद दिया है।

× "नापि वाचकमुख्याः सूत्रोल्लंघनेनाभिदधत्यसंभाव्यमानत्वात्।"   —सिद्धसेनगणिटीका, पृ० २६७

कोई विशद एवं व्यावर्तक लक्षण नहीं दिया। आर्योंके तो ऋद्धिप्राप्त, अनृद्धिप्राप्त ऐसे दो मूल-भेद करके ऋद्धिप्राप्तोंके छह भेद किए हैं, अरहंत चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, चारण, विद्याधर। और अनृद्धिप्राप्त आर्योंके नवभेद बतलाए हैं, जिनमें छह भेद तो क्षेत्रार्य आदि वे ही हैं जो उक्त तत्त्वार्थाधिगमभाष्यमें दिए हैं, शेष तीन भेद ज्ञानार्य, दर्शनार्य, और चारित्रार्य हैं। जिनके कुछ भेद-प्रभेदोंका भी कथन किया है। साथही, म्लेच्छ-विषयक प्रश्न (से किं तं मिलिक्खू?) का उत्तर देते हुए इतना ही लिखा है—

"मिलक्खू अणेगविहा पण्णत्ता, तं जहा--सगा जवणा चिलाया सवर-बब्बर-मुरुंडोड-भडग-णिण्णग-पक्कणिया कुलक्ख-गोंड-सिंहलपारसगोधा कोंच-अम्बड इदमिल-चिल्लल-पुलिंद-हारोस-दोवबोक्काणगन्धा हारवा पहिलय-अज्झलरोम- पासपउसा मलया य बंधुया य सूयलि-कोंकण-गमेय-पल्हव-मालव-मग्गर आभासिआ कणवीर-ल्हसिय-खसा खासिय णेदूर-मोंढ डोंबिल गलओस पाओस कक्केय अक्खाग हूणरोमग-हूणरोमग भरुमरुय चिलाय वियवासी य एवमाइ, सेत्तं मिलिक्खू।'

इसमें 'म्लेच्छ अनेक प्रकारके हैं' ऐसा लिख कर शक, यवन, (यूनान) किरात, शबर, बर्बर मुरुण्ड, ओड (उडीसा), भटक, णिण्णग, पक्कणिय, कुलक्ष, गोंड, सिंहल (लंका), फारस (ईरान), गोध, क्रौंच आदि देश-विशेष-निवासियों को 'म्लेच्छ' बतलाया है। टीकाकार मलयगिरि सूरिने भी इनका कोई विशेष परिचय नहीं दिया—सिर्फ इतना ही लिख दिया है कि 'म्लेच्छोंकी यह अनेकप्रकारता शक-यवन-चिलात-शबर-बर्बरादि देशभेदके कारण है। शकदेश-निवासियोंको 'शक' यवनदेश-निवासियोंको 'यवन' समझना, इसी तरह सर्वत्र लगालेना और इन देशोंका परिचय लोकसे—लोकशास्त्रोंके आधार पर पर्याप्त करना *

इन देशोंमें कितने ही तो हिन्दुस्तानके भीतर-के प्रदेश है, कुछ हिमालय आदिके पहाड़ी मुक़ाम हैं और कुछ सरहद्दी इलाक़े हैं। इन देशोंके सभी निवासियोंको म्लेच्छ कहना म्लेच्छत्वका कोई ठीक परिचायक नहीं है; क्योंकि इन देशोंमें आर्य लोग भी बसते हैं—अर्थात् ऐसे जन भी निवास करते हैं जो क्षेत्र, जाति तथा कुलकी दृष्टिको छोड़ देने पर भी कर्मकी दृष्टिसे, शिल्पकी दृष्टिसे, भाषाकी दृष्टिसे आर्य हैं तथा मतिज्ञान-श्रुतज्ञानकी दृष्टिसे और सराग-दर्शनकी दृष्टिसे भी आर्य हैं। उदाहरणके लिये मालवा, उड़ीसा, लंका और कोंकण आदि प्रदेशोंको ले सकते हैं जहाँ उक्त दृष्टियोंको लिये हुए अगणित आर्य बसते हैं।

हो सकता है कि किसी समय किसी दृष्टि-विशेषके कारण इन देशोंके निवासियोंको म्लेच्छ कहा गया हो; परन्तु ऐसी दृष्टि सदा स्थिर रहने वाली नहीं होती। आज तो फिजी जैसे टापुओंके निवासी भी, जो बिल्कुल जंगली तथा असभ्य थे और मनुष्यों तकको मारकर खा जाते थे, आर्य-पुरुषोंके संसर्ग एवं सत्प्रयत्नके द्वारा अच्छे, सभ्य, शिक्षित तथा कर्मादिक दृष्टिसे आर्य बन गये हैं; वहाँ कितने ही स्कूल तथा विद्यालय जारी हो गये हैं और खेती, दस्तकारी तथा व्यापारादिके कार्य होने लगे हैं। और इसलिये यह नहीं कहा जा सकता है कि फिजी देशके निवासी म्लेच्छ होते हैं। इसी तरह दूसरे देशके निवासियोंको भी जिनकी अवस्था आज बदल गई है म्लेच्छ नहीं कहा जा सकता। जो म्लेच्छ हजारों वर्षोंसे आर्योंके सम्पर्कमें आरहे हों और आर्योंके कर्म कर रहे हों उन्हें म्लेच्छ कहना तो आर्योंके उक्त लक्षण अथवा स्वरूपको सदोष बतलाना है। अतः वर्तमानमें उक्त देश-निवासियों तथा उन्हीं जैसे दूसरे देशनिवासियोंको भी, जिनका उल्लेख

* 'तत्रानेकविधत्वं शक-यवन-चिलात-शबर-बर्बरादिदेशभेदात्, तथा चाह—तं जहा सगा, इत्यादि, शकदेशनिवासिनः शका, यवनदेशनिवासिनो यवनाः एवं, सर्वममी नानादेशाः लोकतो विज्ञेयाः।"

'एवमाइ' शब्दोंके भीतर संनिहित है, म्लेच्छ कहना समुचित प्रतीत नहीं होता और न वह म्लेच्छत्वका कोई पूरा परिचायक अथवा लक्षण ही हो सकता है।

श्रीमलयगिरि सूरिने उक्त प्रज्ञापनासूत्रकी टीकामें लिखा है--

"म्लेच्छा अव्यक्तभाषासमाचारा:,"
"शिष्टासम्मतसकल व्यवहारा म्लेच्छा: ।"

अर्थात्--म्लेच्छ वे हैं जो अव्यक्त भाषा बोलते हैं--ऐसी अस्पष्ट भाषा बोलते हैं जो अपनी समझमें न आवे। अथवा शिष्ट (सभ्य) पुरुष जिन भाषादिकके व्यवहारोंको नहीं मानते उनका व्यवहार करने वाले सब म्लेच्छ हैं।

ये लक्षण भी ठीक मालूम नहीं होते; क्योंकि प्रथम तो जो भाषा आर्योंके लिये अव्यक्त हो वही उक्त भाषाभाषी अनार्योंके लिये व्यक्त होती है तथा आर्योंके लिये जो भाषा व्यक्त हो वह अनार्यों के लिये अव्यक्त होती है और इस तरह अनार्य लोग परस्परमें अव्यक्त भाषा न बोलनेके कारण आर्य हो जावेंगे तथा आर्य लोग ऐसी भाषा बोलनेके कारण जो अनार्योंके लिये अव्यक्त है—उनकी समझमें नहीं आती—म्लेच्छ ठहरेंगे। दूसरे, परस्परके सहवास और अभ्यासके द्वारा जब एक वर्ग दूसरे वर्गकी भाषासे परिचित हो जावेगा तो इतने परसे ही जो लोग पहले म्लेच्छ समझे जाते थे वे म्लेच्छ नहीं रहेंगे—शक-यवनादिक भी म्लेच्छत्वकी कोटिसे निकल जाएँगे, आर्य हो जावेंगे। इसके सिवाय, ऐसे भी कुछ देश हैं जहाँके आर्योंकी बोली-भाषा दूसरे देशके आर्य लोग नहीं समझते हैं, जैसे कन्नड-तामील-तेलगु भाषाओंको इधर यू० पी० तथा पंजाबके लोग नहीं समझते। अत: इधरकी दृष्टिसे कन्नड-तामील-तेलगु भाषाओंके बोलने वालों तथा उन भाषाओंमें जैन ग्रन्थोंकी रचना करने वालोंको भी म्लेच्छ कहना पड़ेगा और यों परस्परमें बहुत ही व्याघात उपस्थित होगा—। न म्लेच्छत्वका ही कोई ठीक निर्णय एवं व्यवहार बन सकेगा और न आर्यत्वका ही।

रही शिष्ट-सम्मत भाषादिक के व्यवहारोंकी बात, जब केवली भगवानकी वाणीको अठारह महाभाषाओं तथा सातसौ लघु भाषाओंमें अनुवादित किया जाता है तब ये प्रचलित सब भाषाएँ तो शिष्टसम्मत भाषाएँ ही समझी जायँगी, जिनमें अरबी फ़ार्सी, लैटिन, जर्मनी, अंग्रेजी, फ्रांसीसी, चीनी और जापानी आदि सभी प्रधान प्रधान विदेशी भाषाओंका समावेश हो जाता है। इनसे भिन्न तथा बाहर दूसरी और कौनसी भाषा रह जाती है जिसे म्लेच्छोंकी भाषा कहा जाय? बाकी दूसरे शिष्टसम्मत व्यवहारोंकी बात भी ऐसी ही है—कुछ व्यवहार ऐसे हैं जिन्हें हिन्दुस्तानी असभ्य समझते हैं और कुछ व्यवहार ऐसे हैं जिन्हें विदेशी लोग असभ्य बतलाते हैं और उनके कारण हिन्दुस्तानियोंको असभ्य'—अशिष्ट एवं Uncivilized समझते हैं। साथही कुछ व्यवहार हिन्दुस्तानियोंके ऐसे भी हैं जो दूसरे हिन्दुस्तानियोंकी दृष्टिमें असभ्य हैं और इसी तरह कुछ विदेशियों के व्यवहार दूसरे विदेशियोंकी दृष्टिमें भी असभ्य हैं। इस तरह शिष्टपुरुषों तथा शिष्टसम्मत व्यवहारोंकी बात विवादस्पन्न होनेके कारण इतना कहदेने मात्रसे ही आर्य और म्लेच्छकी कोई व्यावृत्ति नहीं होती—ठीक पहचान नहीं बनती। और इसलिए उक्त सब लक्षण सदोष जान पड़ते हैं।

अब दिगम्बर ग्रन्थोंको भी लीजिए। तत्त्वार्थ सूत्रपर दिगम्बरोंकी सबसे प्रधान टीकाएँ सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक तथा श्लोकवार्तिक हैं। इनमेंसे किसीमें भी म्लेच्छका कोई लक्षण नहीं दिया—मात्र म्लेच्छोंके अन्तरद्वीपज और कर्मभूमिज ऐसे दो भेद बतलाकर अन्तरद्वीपजोंका कुछ पता बतलायाहै और कर्मभूमिज म्लेच्छोंके विषयमें इतना ही लिख दिया है कि "कर्मभूमिजा: शक-

यवनशबरपुलिन्दादयः" (सर्वा०, राज०)—अर्थात शक, यवन, शबर और पुलिन्दादिक लोगोंको कर्मभूमिज म्लेच्छ समझना चाहिए। श्लोकवार्तिकमें थोड़ासा विशेष किया है—अर्थात यवनादिकको म्लेच्छ बतलानेके अतिरिक्त उन लोगोंको भी म्लेच्छ बतला दिया है जो यवनादिकके आचारका पालन करते हों। यथा:—

कर्मभूमिभवा म्लेच्छाः प्रसिद्धा यवनादयः।
स्युः परे च तदाचारपालनाद्बहुधा जनाः॥

परन्तु यह नहीं बतलाया कि यवनादिकका वह कौनसा आचार-व्यवहार है जिसे लक्ष्य करके ही किसी समय उन्हें 'म्लेच्छ' नाम दिया गया है, जिससे यह पता चल सकता कि वह आचार इस समय भी उनमें अवशिष्ट है या कि नहीं और दूसरे आर्य कहलानेवाले मनुष्योंमें तो वह नहीं पाया जाता! हाँ, इससे इतना आभास जरूर मिलता है कि जिन कर्मभूमिजोंको म्लेच्छ नाम दिया गया है वह उनके किसी आचारभेदके कारण ही दिया गया है—देशभेदके कारण नहीं। ऐसी हालतमें उस आचार-विशेषका स्पष्टीकरण होना और भी ज्यादा जरूरी था; तभी आर्य-म्लेच्छकी कुछ व्यावृत्ति अथवा ठीक पहचान बन सकती थी। परन्तु ऐसा नहीं किया गया, और इसलिए आर्य-म्लेच्छकी समस्या ज्यों की त्यों खड़ी रहती है—यह मालूम नहीं होता कि निश्चितरूपसे किसे 'आर्य' कहा जावे और किसे 'म्लेच्छ'!

श्लोकवार्तिकमें श्रीविद्यानन्दाचार्यने इतना और भी लिखा है—

"उच्चैर्गोत्रोदयादेरार्याः,
नीचैर्गोत्रोदयादेश्च म्लेच्छाः।"

अर्थात—उच्चगोत्रके उदयादिक कारणसे आर्य होते हैं और जो नीचगोत्रके उदय आदिको लिये हुए होते हैं उन्हें म्लेच्छ समझना चाहिये।

यह परिभाषा भी आर्य-म्लेच्छकी कोई व्यावर्तक नहीं है; क्योंकि उच्च-नीचगोत्रका उदय तो अति सूक्ष्म है—वह छद्मस्थोंके ज्ञानगोचर नहीं, उसके आधारपर कोई व्यवहार चल नहीं सकता—और 'आदि' शब्दका कोई वाच्य बतलाया नहीं गया, जिससे दूसरे व्यावर्तक कारणोंका कुछ बोध हो सकता।

शेष रही आर्योंकी बात, आर्यमात्रका कोई खास व्यावर्तक लक्षण भी इन ग्रन्थोंमें नहीं है—आर्योंके ऋद्धिप्राप्त-अनृद्धिप्राप्त ऐसे दो भेद करके ऋद्धिप्राप्तोंके सात तथा आठ और अनृद्धिप्राप्तोंके क्षेत्रार्य, जात्यार्य, कर्मार्य, चरित्रार्य, दर्शनार्य ऐसे पाँच भेद किये गये हैं। राजवार्तिकमें इन भेदोंका कुछ विस्तारके साथ वर्णन जरूर दिया है; परन्तु क्षेत्रार्य तथा जात्यार्यके विषयको बहुत कुछ गोलमोल कर दिया है—"**क्षेत्रार्याःकाशीकौशलादिषु जाताः। इक्ष्वाकुजातिभोजादिकुलेषु जाता जात्यार्याः**" इतना ही लिखकर छोड़ दिया है! और कर्मार्यके सावद्यकर्मार्य, अल्पसावद्यकर्मार्य, असावद्यकर्मार्य ऐसे तीन भेद करके उनका जो स्वरूप दिया है उससे दोनोंकी पहचानमें उस प्रकारकी वह सब गड़बड़ प्रायः ज्योंकी त्यों उपस्थित होजाती है, जो उक्त भाष्य तथा प्रज्ञापनासूत्रके कथनपरसे उत्पन्न होती है। जब असि, मषि, कृषि, विद्या, शिल्प और वाणिज्यकर्मसे आजीविकाकरने वाले, श्रावकका कोई व्रत धारण करने वाले और मुनि होने वाले (म्लेच्छ भी मुनि होसकते हैं *) सभी 'आर्य' होते हैं तब शक-यवनादिकको म्लेच्छ कहने पर काफ़ी आपत्ति खड़ी होजाती है और आर्य-म्लेच्छकी ठीक व्यवृत्ति होने नहीं पाती।

हाँ, सर्वार्थसिद्धि तथा राजवर्तिकमें '**गुणैर्गुणवद्भिर्वा अर्यन्त इत्यार्याः**' ऐसी आर्यकी निरुक्ति

(शेष पृष्ठ २१० पर देखिए)

* देखो, जयधवलाका वह प्रमाण जो इसी वर्षकी पहली किरणमें पृ० ४० पर उद्धृत है।
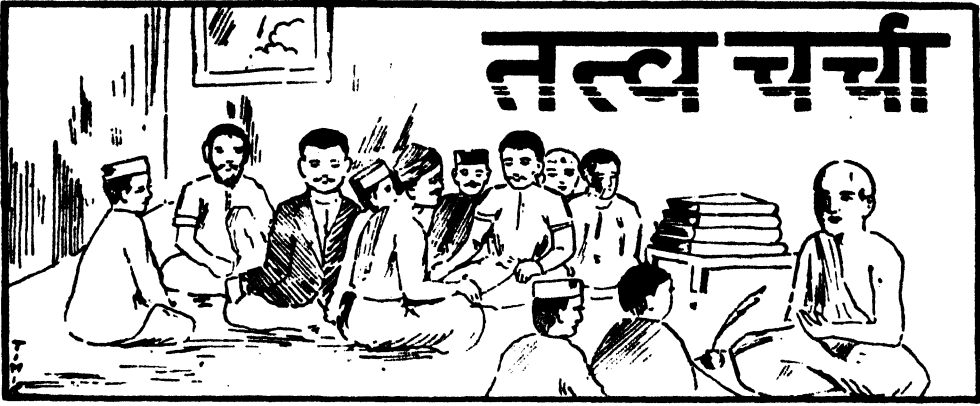
जाति-मद सम्यक्त्वका बाधक है

[ले०—श्री० बाबू सूरजभानजी वकील]

धर्ममार्ग पर क़दम रखनेके लिए जैन-शास्त्रोंमें सबसे पहले शुद्ध सम्यक्त्व ग्रहण करनेकी बहुत भारी आवश्यकता बतलाई है। जब तक श्रद्धा अर्थात् दृष्टि शुद्ध नहीं है तब तक सभी प्रकारका धर्माचरण उस उन्मत्तकी तरह व्यर्थ और निष्फल है जो इधर-उधर दौड़ता फिरता है और यह निश्चय नहीं कर पाता कि किधर जाना है अथवा उस हाथीके स्नान-समान है जो नदीमें नहाकर आपही अपने ऊपर धूल डाल लेता है।

सम्यक्त्वको मलिन करनेवाले पच्चीस मल-दोषोंमें आठ प्रकारके मद भी हैं, जिनसे सम्यक्त्व भ्रष्ट होता है—उसे बाधा पहुँचती है। इनमें भी जाति और कुलका मद अधिक विशेषताको लिए हुए है। सम्यग्दृष्टिके लिए ये दोनों ही बड़े भारी दूषण हैं। मैं एक प्रतिष्ठित कुलका हूँ, मेरी जाति ऊँची है, ऐसा घमण्ड करके दूसरोंको नीच एवं तिरस्कारका पात्र समझना अपने धर्मश्रद्धानको खराब करना है, ऐसा जैन-शास्त्रोंमें कथन किया गया है।

आदिपुराणादि जैन-शास्त्रोंके अनुसार चतुर्थ कालमें जैनी लोग एकमात्र अपनी ही जातिमें विवाह नहीं करते थे किन्तु ब्राह्मण तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चारों ही वर्णकी कन्याओं से विवाह कर लेता था; क्षत्रिय अपने क्षत्रिय वर्णकी, वैश्यकी तथा शूद्रकी कन्याओंसे और वैश्य अपने वैश्य वर्णकी तथा शूद्र वर्णकी कन्यासे भी विवाह कर लेता था। बादको सभी वर्णोंमें परस्पर विवाह होने लग गये थे, जिनकी कथाएँ जैन-शास्त्रों में भरी पड़ी हैं। इन अनेक वर्णोंकी कन्याओंसे जो सन्तान होती थी उसका कुल तो वह समझा जाता था जो पिताका होता था और जाति वह मानी जाती थी जो माताकी होती थी। इसी कारण शास्त्रों में वंशसे सम्बन्ध रखनेवाले दो प्रकारके मद वर्णन किए हैं। अर्थात् यह बतलाया है कि न तो किसी सम्यग्दृष्टिको इस बातका घमण्ड होना चाहिए कि मैं अमुक ऊँचे कुलका हूँ और न इस बातका कि मैं अमुक ऊँची जातिका

हैं। दूसरे शब्दोंमें उसे न तो अपने बापके ऊँचे कुलका घमण्ड करना चाहिए और न अपनी माताके ही ऊँचे वंशका।

जो घमण्ड करता है वह स्वभावसे ही दूसरोंको नीचा समझता है। घमण्डके वश होकर किसी साधर्मी भाईको—सम्यग्दर्शनादिसे युक्त व्यक्तिको—अर्थात् जैन-धर्म-धारीको नीचा समझना अपने ही धर्मका तिरस्कार करना है; क्योंकि धर्मका आश्रय-आधार धर्मात्मा ही होते हैं—धर्मात्माओंके बिना धर्म कहीं रह नहीं सकता। और इसलिए धर्मात्माओंके तिरस्कारसे धर्मका तिरस्कार स्वतः हो जाता है। कुल-मद या जाति-मद करनेका यह विष-फल धर्मके श्रद्धानमें अवश्य ही बट्टा लगाता है, ऐसा श्री समन्तभद्र स्वामीने अपने रत्नकरण्डश्रावकाचारके निम्नपद्य नं० २६ में निर्दिष्ट किया है—

स्मयेन योऽन्यानत्येति धर्मस्थान् गर्विताशयः।
सोऽत्येति धर्ममात्मीयं न धर्मो धार्मिकैर्विना॥

इसी बातको प्रकारान्तरसे स्पष्ट करते हुए अगले श्लोक नं० २७ में बताया है कि–जिसके धर्माचरण द्वारा पापोंका निरोध हो रहा है—पापका निरोध करनेवाली सम्यग्दर्शनरूपी निधि जिसके पास मौजूद है—उसके पास तो सब कुछ है, उसको अन्य कुलैश्वर्यादि सांसारिक सम्पदाओंकी अर्थात् सांसारिक प्रतिष्ठाके कारणोंकी क्या जरूरत है? वह तो इस एक धर्म-सम्पत्तिके कारण ही सब कुछ प्राप्त करने में समर्थ है और बहुत कुछ मान्य तथा पूज्य होगया है। प्रत्युत इसके जिसके पापोंका आस्रव बना हुआ है—धर्मका श्रद्धान और आचरण न होनेके कारण जो नित्य ही पापोंका संचय करता रहता है उसको चाहे जो भी कुलादि सम्पदा प्राप्त हो जाय वह सब व्यर्थ है—उसका वह पापास्रव उसे एक-न-एक दिन नष्ट कर देगा और वह खुद उसके दुर्गति-गमनादिको रोक नहीं सकेगी। भावार्थ, जिसने सम्यक्त्वपूर्वक धर्म धारण करके पापका निरोध कर दिया है वह चाहे कैसी ही ऊँची-नीची जाति या कुलका हो, संसारमें वह चाहे कैसा भी नीच समझा जाता हो, तो भी उसके पास सब कुछ है और वह धर्मात्माओंके द्वारा मान तथा प्रतिष्ठा पानेका पात्र है—तिरस्कारका पात्र नहीं। और जिसको धर्मका श्रद्धान नहीं, धर्मपर जिसका आचरण नहीं और इसलिए जो मिथ्यादृष्टि हुआ निरन्तर ही पाप संचय किया करता है वह चाहे जैसी भी ऊँचसे ऊँच जातिका, कुलका अथवा पदका धारक हो, ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो, शुक्ल हो, श्रोत्रिय हो, उपाध्याय हो, सूर्यवंशी हो, चन्द्रवंशी हो, राजा हो, महाराजा हो, धन्नासेठ हो, धनकुबेर हो, विद्याका सागर या दिवाकर हो, तपस्वी हो, ऋद्धिधारी हो, रूपवान हो, शक्तिशाली हो, और चाहे जो कुछ हो–परन्तु वह कुछ भी नहीं है। पापास्रव के कारण उसका निरन्तर पतन ही होता रहेगा और वह अन्तको दुर्गतिका पात्र बनेगा। समन्तभद्रका वह गम्भीरार्थक श्लोक इस प्रकार है:—

यदि पापनिरोधोऽन्यसम्पदा किं प्रयोजनम्।
अथ पापास्रवोऽस्त्यन्यसम्पदा किं प्रयोजनम्॥

इसके बादका निम्न श्लोक नं० २८ भी इसी बातको पुष्ट करनेके लिए लिखा गया है और उसमें यह स्पष्ट बतलाया गया है कि चाण्डालका पुत्र भी यदि सम्यग्दर्शन ग्रहण करले—धर्म पर आचरण करने लगे—तो कुलादि सम्पत्तिसे अत्यन्त गिरा हुआ होने पर भी पूज्य पुरुषोंने उसको 'देव' अर्थात् आराध्य बतलाया है—तिरस्कारका पात्र नहीं; क्योंकि वह उस अंगारके सदृश होता है जो बाह्य-में राखसे ढका हुआ होने पर भी अन्तरंगमें तेज तथा प्रकाशको लिए हुए है और इसलिए कदापि उपेक्षणीय नहीं होता—

सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम् ।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसम् ॥

फिर इसीको अधिक स्पष्ट करते हुए श्लोक नं० २६ में लिखते हैं कि 'धर्म धारण करनेसे तो कुत्ता भी देव हो जाता है और अधर्मके कारण—पापाचरण करनेसे—देव भी कुत्ता बन जाता है। तब ऐसी कौनसी सम्पत्ति है जो धर्मधारीको प्राप्त न हो सके।' ऐसी हालतमें धर्मधारी कुत्तेको क्यों नीचा समझा जाय और अधर्मी देवको तथा अन्य किसी ऊँचे वर्ण वा जातिवाले धर्महीनको क्यों ऊँचा माना जाय ? वह श्लोक इस प्रकार है—

श्वापि देवोऽपि देवः श्वा जायते धर्मकिल्बिषात् ।
कापि नाम भवदेन्या सम्पद्धर्माच्छरीरिणाम् ॥

इस प्रकार आठों प्रकारके मदोंका वर्णन करते हुए श्री समन्तभद्र स्वामीने जाति और कुल-के मदका विशेष रूपसे उल्लेख करके इन दोनों मदोंके छुड़ाने पर अधिक जोर दिया है। कारण इसका यही है कि हिन्दुस्तानको एक मात्र इन्हीं दो मदोंने गारत किया है। ब्राह्मणोंका प्राबल्य होने पर कुल और जातिका घमण्ड करनेकी यह बीमारी सबसे पहले वेदानुयायी हिन्दुओंमें फूटी। उस समय एकमात्र ब्राह्मण ही सब धर्म-कर्मके ठेकेदार बन बैठे, क्षत्रिय और वैश्यके वास्ते भी वे ही पूजन-पाठ और जप-तप करनेके अधिकारी रह गए; शूद्र न तो स्वयं ही कुछ धर्म कर सकें और न ब्राह्मण ही उनके वास्ते कुछ करने पावें, ऐसे आदेश निकले; शूद्रोंकी छायासे भी दूर रहने की आज्ञाएँ जारी हुईं। अचानक भी यदि कोई वेदका वचन शूद्रके कानमें पड़ जाय तो उसका कान फोड़ दिया जाय और यदि कोई धर्मकी बात उसके मुखसे निकल जाय तो उसकी जीभ काट ली जाय, ऐसे विधान भी बने। प्रत्युत इसके, ब्राह्मण चाहे कुछ धर्म-कर्म जानता हो या न जानता हो और चाहे वह कैसा ही नीच कर्म करता हो, तो भी वह पूज्य माना जावे। ऐसा होने पर एकमात्र हाड़मांसकी ही छुटाई-बड़ाई रह गई ! किसीका हाड़मांस पूज्य और किसीका तिरस्कृत समझा गया !!

फल इसका यह हुआ कि धर्म-कर्म सब लुप्त हो गया। क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र तो धर्म-ज्ञानसे वंचित कर ही दिये गए थे; किन्तु ब्राह्मणोंको भी अपनी 'जातिके घमण्डमें आकर ज्ञानप्राप्ति और किसी प्रकारके धर्माचरणकी जरूरत न रही। इस कारण वे भी निरक्षर-भट्टाचार्य तथा कोरे बुद्धू रहकर प्रायः शूद्रोंके समान बन गए और अन्तको रोटी बनाना, पानी पिलाना, बोझा ढोना आदि शूद्रोंकी वृत्ति तक धारण करने के लिए उन्हें बाधित होना पड़ा।

संक्रामक रोगकी तरह यह बीमारी जैनियोंमें भी फैलनी शुरू हुई, जिससे बचानेके लिए ही आचार्योंको यह सत्य सिद्धान्त खोलकर समझाना पड़ा कि जो कोई अपनी जाति व कुल आदिका घमण्ड करके किसी नीचातिनीच यहाँ तक कि चाण्डालके रज-वीर्यसे पैदा हुए चाण्डाल-पुत्रको भी, जिसने सम्यग्दर्शनादिके रूपमें धर्म धारण कर लिया है, नीचा समझता है तो वह वास्तवमें उस चाण्डालका अपमान नहीं करता है किन्तु अपने जैन-धर्मका ही अपमान करता है—उसके हृदयमें धर्मका श्रद्धान रंचमात्र भी नहीं है। धर्मका श्रद्धान होता तो जैन-धर्मधारी चांडालको क्यों नीचा समझता? धर्म धारण करनेसे तो वह चाण्डाल बहुत ऊँचा उठ गया है; तब वह नीचा क्यों समझा जाय? कोई जातिसे चाण्डाल हो वा अन्य किसी बातमें हीन हो, यदि उसने जैन-धर्म धारण कर लिया है तो वह बहुत कुछ ऊँचा तथा सम्माननीय हो गया है। सम्यग्दर्शनके वात्सल्य अङ्ग-द्वारा उसको अपना साधर्मी भाई समझना, प्यार करना, लौकिक कठिनाइयें दूर करके सहायता पहुँचाना और धर्म-साधनमें सर्व प्रकारकी सहूलियतें देना यह सब सच्चे श्रद्धानीका मुख्य कर्त्तव्य है। जो ऐसा नहीं करता उसमें धर्मका भाव नहीं, धर्मकी सच्ची श्रद्धा नहीं और न धर्मसे प्रेम ही कहा जा सकता है। धर्मसे प्रेम होनेका चिन्ह ही धर्मात्माके साथ प्रेम तथा वात्सल्य भावका होना है। सच्चे धर्म-प्रेमीको यह देखनेकी जरूरत ही नहीं होती कि अमुक धर्मात्माका हाड़मांस किस रजवीर्यसे बना है—ब्राह्मणसे बना है वा चाण्डाल से।

स्वामी कुन्दकुन्दाचार्य भी अपने दर्शनपाहुडमें लिखते हैं—

> ण वि देहो वन्दिज्जइ
> ण वि य कुलो ण वि य जाइ संजुत्तो।
> को वंदिम गुणहीणो
> ण हु सवणो णेय सावओ होई ॥२७॥

अर्थात्—न तो देहको वन्दना की जाती है, न कुलको और न जाति-सम्पन्नको। गुणहीन कोई भी वन्दना किये जानेके योग्य नहीं; जो कि न तो श्रावक ही होता है और न मुनि ही। भावार्थ—वन्दना अर्थात् पूजा-प्रतिष्ठा के योग्य या तो श्रावक होता है और या मुनि; क्योंकि ये दोनों ही धर्म-गुणसे विशिष्ट होते हैं। धर्म-गुण-विहीन कोई भी कुलवान तथा ऊँची जातिवाला अथवा उसकी हाड़मांस भरी देह पूजा प्रतिष्ठाके योग्य नहीं है।

श्रीशुभचन्द्राचार्यने भी ज्ञानार्णवके अध्याय २१ श्लोक नं० ४८ में लिखा है कि:—

> कुलजातीश्वरत्वादिमद-विध्वस्तबुद्धिभिः।
> सद्यः संचीयते कर्म नीचैर्गतिनिबन्धनम् ॥

अर्थात्—कुलमद, जातिमद, ऐश्वर्यमद आदि मदों से जिनकी बुद्धि नष्ट हो गई है ऐसे लोग बिना किसी विलम्बके शीघ्र ही उस पापकर्मका संचय करते हैं जो नीच गतिका कारण है—नरक-तिर्यंचादि अनेक कुगतियों और कुयोनियों में भ्रमण कराने वाला है।

इन्हीं शुभचन्द्राचार्यने ज्ञानार्णवके ६ वें अध्यायके श्लोक नं० ३० में यह भी प्रकट किया है 'कि जो

लोग विकलाङ्गी हों—खण्डित देह हों, विरूप हों—बदसूरत हों, दरिद्री हों, रोगी हों और कुलजाति आदिसे हीन हों वे सब शोभासम्पन्न हैं, यदि सत्य-सम्यक्त से विभूषित हैं'। अर्थात धर्मात्मा पुरुष कुल जाति आदिसे हीन होने पर भी किसी प्रकार तिरस्कारके योग्य नहीं होते। जो जाति आदिके मदमें आकर उनका तिरस्कार करता है वह पूर्वोक्त श्लोकानुसार अपनेको नीच गतिका पात्र बनाता है। यथा:—

खंडितानां विरूपाणां दुर्विधानां च रोगिणाम्
कुलजात्यादिहीनानां सत्यमेकं विभूषणम्

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी ४३० वीं गाथामें भी लिखा है कि उत्तम धर्मधारी तिर्यंच-पशु भी उत्तम देव हो जाता है तथा उत्तम धर्मके प्रसादसे चाँडाल भी देवोंका देव सुरेन्द्र बन जाता है। यथा—

उत्तमधम्मेणजुदो होदि तिरक्खो वि उत्तमोदेवो
चंडालो वि सुरिंदो उत्तम धम्मेण संभवदि

आचार्योंकी ऐसी स्पष्ट आज्ञाओंके होने पर भी, अफ़सोस के साथ कहना पड़ता है कि कुल और जातिके घमंडका यह महारोग जैनियोंमें भी जोर-शोरके साथ घुस गया, जिसका फल यह हुआ कि नवीन जैनी बनते रहना तो दूर रहा, लाखों-करोड़ों मनुष्य, जिनको इन महान आचार्योंने बड़ी कोशिशसे जैनी बनाया था, उस कुल का घमंड रखने वाले जैनियोंमें प्रतिष्ठा न पानेके कारण जैनधर्मको छोड़ बैठे! इसके सबूतके तौर पर अब भी अनेक जातियां ऐसी मिलती हैं जो किसी समय जैनी थीं परन्तु अब उनको जैनधर्म से कुछ भी वास्ता नहीं है। और यह तो स्पष्ट ही है कि जहाँ इस भारतवर्ष में किसी समय जैनी अधिक और अन्यमती कम थे वहाँ अब पैंतीस करोड़ मनुष्यों में कुल ग्यारह लाख ही जैनी रह गये हैं और उनको भी अनेक प्रकार के अनुचित दण्ड-विधानों आदिके द्वारा घटानेकी कोशिश की जा रही है।

घटें या बढ़ें जिनको धर्मसे प्रेम नहीं है, जिनको धर्मकी सच्ची श्रद्धा नहीं है और जो सम्यक्त्वके स्थितिकरण तथा वात्सल्य अङ्गोंके पास तक नहीं फटकते उन्हें ऐसी बातोंकी क्या चिन्ता और उनसे क्या मतलब! हाँ, जो सच्चे श्रद्धानी हैं, धर्म से जिनको सच्चा प्रेम है वे जरूर मनुष्यमात्रमें उस सच्चे जैनधर्मको फैलानेकी कोशिश करेंगे जिस पर उनकी दृढ श्रद्धा है। अर्थात कोई छूत हो या अछूत, ऊँच हो वा नीच सभीको वे धर्म सिखाएँगे, सबहीको जैनी बनाएँगे और जो जैनधर्म धारण कर लेगा उसके साथ वात्सल्यभाव रखकर हृदयसे प्रेम भी करेंगे, उसकी प्रतिष्ठा भी करेंगे और उसे धर्म-साधनकी सब प्रकारकी सहूलियतें भी प्रदान करेंगे तथा दूसरोंसे भी प्राप्त कराएँगे। उनके लिए स्वामी समन्तभद्रका निम्न वाक्य बड़ा ही पथ-प्रदर्शक होगा, जिसमें स्पष्ट लिखा है कि 'जो श्री जिनेन्द्रदेवको नत मस्तक होता है—उनकी शरण में आता है—अर्थात जैनधर्म को ग्रहण करता है वह चाहे कैसा ही नीचातिनीच क्यों न हो, इसी लोकमें—इसही जन्ममें—अति ऊँचा हो जाता है; तब फिर कौन ऐसा मूर्ख है अथवा कौन

ऐसा बुद्धिमान है जो जिनेन्द्रदेवकी शरणमें प्राप्त न होवे अर्थात् उनका बताया हुआ धर्ममार्ग ग्रहण न करे ? सभी जैनधर्मकी शरणमें आकर अपनी इहलौकिक तथा पारलौकिक हित साधन कर सकेंगे।

यो लोके त्वानतः सोऽनिहीनोऽप्यतिगुरुर्यतः
बालोऽपि त्वा श्रितं नौति को नो नीतिपुरः कुतः

श्रीसमन्तभद्र आदि महान् आचार्योंके समय-में ऐसा ही होता था। सभी प्रकारके मनुष्य जैन-धर्म ग्रहण करके ऊँचे बन जाते थे, माननीय और प्रतिष्ठित हो जाते थे। तब ही तो इन महान् आचार्योंने हिंसामय यज्ञोंको भारतसे दूर भगाया और अहिंसामय धर्मका झण्डा फहराया। अब भी यदि ऐसा ही होने लगे, जैनियोंका हृदय जाति-कुलादिके मदसे शून्य होकर धर्मकी भावनासे भर जाय और वे धर्मप्रचारके लिए अपने पूर्वजोंका अनुकरण करने लगें, तो दुनिया भरके लोग आज भी इस सच्चे धर्मकी शरणमें आने के लिए उत्सुक हो सकते हैं। पर यह तभी हो सकता है जब इस समय जो लोग जैनी कहलाते हैं और जैनधर्मके ठेकेदार बनते हैं, उनको धर्म का सच्चा श्रद्धान हो, आचार्योंके वाक्योंका उनके हृदयमें पूरा पूरा मान हो, धर्मके मुक़ाबिलेमें लौकिक रीति-रिवाजोंका जिन्हें कुछ ख़याल न हो, कुल और जाति का झूठा घमण्ड जिनके पास न हो और अपना तथा जीवमात्रका कल्याण करना ही जिनका एकमात्र ध्येय हो। आशा है धर्मप्रेमी बन्धु इन सब बातों पर विचार कर अपने कर्तव्य-पथ पर अग्रसर होंगे।

वीर सेवा मन्दिर सरसावा।

कीया गरूर गुल ने जब रंगो-रूप बू का।
मारे हवा ने झोंके, शबनम ने मुँह में थूका॥

—अज्ञात।

'महान् कार्योंके सम्पादन करनेकी आकांक्षाको ही लोग महत्त्वके नामसे पुकारते हैं और ओछापन उस भावनाका नाम है जो कहती है कि मैं उसके बिना ही रहूँगी।'

'महत्ता सर्वदा ही विनयशील होती है और दिखावा पसन्द नहीं करती मगर क्षुद्रता सारे संसारमें अपने गुणोंका ढिंढोरा पीटती फिरती है।'

—तिरुवल्लुवर।

अधर्म क्या ?

[लेखक—श्री जैनेन्द्रकुमारजी]

अब प्रश्न कि अधर्म क्या ? जो धर्मका घात करे वह अधर्म।

लेकिन अधर्म अभावरूप है। वह सत्‌रूप नहीं है। इससे अधर्म असत्य है।

इसीमें व्यक्तिके साथ अधर्म है। समझमें तो अधर्म जैसा कुछ है ही नहीं। धर्माधर्मका भेद अत: कृत्यमें व्यक्तिकी भावनाओंके कारण होता है।

अधर्म स्व-भाव अथवा सद्‌भाव नहीं है। वह विकारी भाव है। अतएव परभाव है। जैन-दर्शन ने माना है कि वह जीवके साथ पुद्‌गलके अनादि सम्बन्धके कारण सम्भव होता है। पर वह सम्बन्ध अनादि होनेके कारण अनन्त नहीं है। वह सान्त है।

जीवके साथ पुद्‌गलकी जड़ताका अन्त करने वाला, अर्थात मुक्तिको समीप लानेवाला इस भाँति जबकि धर्म हुआ, तब उस बन्धनको बढ़ानेवाला और मुक्तिको हटानेवाला अधर्म कहलाया।

धर्म इस तरह स्व-पर और सदसद्विवेक स्वरूप है। अधर्मका स्वरूप संशय है। उसमें जड़ और चैतन्यके मध्य विवेककी हानि है। उसमें जड़में और जड़तामें भी व्यक्ति ममत्व और आग्रह रखता दीखता है। जड़को अपना मानता है, उसमें अपनापन आरोपता है और इस पद्धतिसे आत्म-ज्योतिको मन्द करता है और स्वयं जड़वत परिणमनका भागी होता है।

नित्यप्रतिके व्यवहारमें जीवकी गति द्वंद्वमयी देखनेमें आती है। राग-द्वेष, हर्ष-शोक, रति-अरति। जैसे घड़ीका लटकन (पेंड्युलम) इधर से उधर हिलता रहता है, उसे थिरता नहीं है वैसेही संसारी जीवका चित्त उन द्वंद्वोंके सिरोंपर जा-जाकर टकराया करता है। कभी बेहद विराग (अरति) आकर घेर लेता है और जुगुप्सा हो आती है। घड़ीमें कामना और लिप्सा (रति) जागजाती है। इस छन इससे राग, तो दूसरे पल दूसरेसे उत्कट द्वेषका अनुभव होता है। ऐसेही हाल खुशी और हाल दुखी वह जीव मालूम होता है।

अधर्म इस द्वंद्वको पैदा करनेवाला और बढ़ाने वाला है। द्वंद्वही नाम क्लेशका है।

धर्मका लक्ष्य कैवल्य स्थिति है। वहाँ साम्य भाव है। वहाँ मन और चित्तके अतिरिक्त कुछ नहीं है। विकल्प, संशय, द्वंद्वका वहाँ सर्वथा नाश है। उसीको कहो सच्चिदानन्द।

अधर्मका वाहन है विकल्प-ग्रस्त बुद्धि। ममता, मोह, मायामें पड़ी मानव-मति।

उसका छुटकारेका उपाय है श्रद्धा। बुद्धि जब विकल्प रचती है तो श्रद्धा उसीके मध्य संकल्प जगा देती है।

श्रद्धा-संयुक्त बुद्धिका नाम है विवेक।

जहाँ श्रद्धा नहीं है वहाँ अधर्म है। उस जगह बुद्धि जीवको बहुत भरमाती है। तरह-तरहकी इच्छाओंसे मनुष्यको सताती है। और उसके ताबे होकर मनुष्य अपने भवचक्रको बढ़ाता ही है। ऐसी बुद्धिका लक्षण है लोकैषणा। उसीको अधर्मका लक्षण भी जानना चाहिए।

पुण्यकर्म समझेजानेवाले बहुतसे कृत्योंके पीछे भी यह लोकैषणा अर्थात् सांसारिक महत्वा-कांक्षा छिपी रह सकती है। पर वह जहाँ हो वहाँ अधर्मका निवास है। और जहाँ अधर्म है वहाँ धर्मका घात है।

इस बातको बहुत अच्छी तरह मनमें उतारलेने की आवश्यकता है। नहीं तो धर्माधर्मका तात्विक भेद इतना सूक्ष्म होजाता है कि जिज्ञासुके उसमें खो रहनेकी आशंका है।

मुख्य बात आत्म-जागृतिकी है। अपने बारेमें सोना किसीको नहीं चाहिए। आँख झपकी कि चोर भीतर बैठ जायगा। वह चोर भीतर घुसाहो तब बाहरी किसी अनुष्ठानकी मददसे धर्मको साधना भला कैसे हो सकती है। अपनी आत्माकी चौकी-दारी इसलिए खूब सावधानीसे करनी चाहिए। जो अपनेको धोखा देगा उसे फिर कोई गुरु, कोई आचार्य, कोई शास्त्र और कोई मन्दिर भीतर नहीं पहुँचा सकेगा। अपनेको भूलना और भुलाना अधर्म है। जागते रहना और जानते रहना ही धर्मकी साधना है।

दीनोंके भगवान्!

[ले०—रवीन्द्रनाथ ठाकुर]

उस दिन देवताका रथ नगर-परिक्रमा करने वाला था। महादेवीने महाराजसे कहा—"आइए, रथ-यात्रा देख आएँ।"

सभी पीछे चल दिए। केवल एक व्यक्ति नहीं आया। वह था शूद्रक, जो झाड़ूके लिए सींकें एकत्रित करता था।

सेवकोंके सरदारने दयार्द्र होकर कहा—"तुम भी आसकते हो, शूद्रक!"

उसने सिर झुकाकर कहा—"नहीं देव!"

शूद्रककी झोंपड़ीके समीप होकर ही सब रथ-यात्रा देखने जाते थे। जब राजमन्त्रीका हाथी उसके झोंपड़ेके समीप आया, तो मन्त्रीने पुकारकर कहा—"शूद्रक! आ, रथ-यात्राके समय देव-दर्शन करले।"

"राजाओंकी भाँति मैं देवदर्शन नहीं करता स्वामिन्!" उसने उत्तर दिया।

"भला, तुझे देवदर्शनका यह सौभाग्य फिर कब प्राप्त होगा?"

"जब भगवान् मेरी झोंपड़ीके दरवाज़े पर आवेंगे नाथ!"

मन्त्रीने अट्टहास करके कहा—"मूर्ख तेरे द्वारपर भगवान् स्वयं दर्शन देने आवेंगे, और महाराज उनके दर्शनके लिए रथ-यात्रामें सम्मिलित होने जारहे हैं!"

शूद्रकने दबी आवाज़से उत्तर दिया—"भगवान्के सिवा और कौन दरिद्रोंके घर आता है स्वामिन्!"

—'प्रकाश' से।

क्या सिद्धान्त-ग्रन्थोंके अनुसार सब ही मनुष्य उच्चगोत्री हैं ?

(लेखक—श्री० पं० कैलाशचन्द्रजी जैन, शास्त्री)

अनेकान्तके द्वितीयवर्षकी प्रथम किरणमें 'गोत्रकर्माश्रित ऊँच-नीचता' शीर्षकसे वयोवृद्ध समाज-सेवक बाबू सूरजभानुजी वकीलका एक सुन्दर लेख प्रकाशित हुआहै। इस लेखकी महत्ता बतलानेके लिये इतना लिखना ही पर्याप्त है कि सम्पादकने उसे प्रकाशित करनेमें अपने पत्रका गौरव बतलाया है। गोम्मटसार और श्रीजयधवलआदि सिद्धान्त-ग्रन्थोंके आधार पर लेखक-महोदयने यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि आर्य और म्लेच्छ सब ही कर्मभूमिया मनुष्य उच्चगोत्री हैं। तथा चारों ही गतियोंका बटवारा ऊँच और नीच दो गोत्रोंमें करते हुए लिखा हैं—'जिस प्रकार सभी नारकी और सभी तिर्यञ्च नीच गोत्री हैं उसी प्रकार सभी देव और सभी मनुष्य उच्चगोत्री हैं, ऐसा गोम्मटसारमें लिखा है।' लेखक-महोदयका विचार है कि अन्तरद्वीपजोंको म्लेच्छ मनुष्योंकी कोटिमें शामिल करदेनेसे ही मनुष्योंमें ऊँच-नीचरूप उभयगोत्रकी कल्पनाका जन्म हुआ है। अन्तरद्वीपजोंके सिवाय सब ही मनुष्य उच्चगोत्री हैं। इत्यादि, लेखक महोदयकी केवल कल्पना ही उनके उक्त मन्तव्योंका आधार होती तो उन्हें व्यक्तिगत विचार समझकर नजरअन्दाज किया जासकता था, किन्तु यत: उन्होंने सिद्धान्त-ग्रन्थोंका मथन करके उनके वाक्योंके आधार पर अपने मन्तव्योंकी सृष्टि की है, अत: एक अभ्यासी के नाते स्वभावत: मेरी यह जाननेकी रुचि हुई कि जिन वाक्योंके आधार पर लेखक महोदयने उक्त निष्कर्ष निकाला है, उन वाक्योंसे उक्त निष्कर्ष निकलता है या नहीं ? अपनी शक्तिके अनुसार ऊहापोह करनेके बाद मैं इसी निर्णय पर पहुँच सका हूँ कि लेखकमहोदयका निष्कर्ष ठीक नहीं है, उन्हें अवश्य कुछ भ्रम हुआ है। नीचे उनके भ्रमका स्पष्टीकरण किया जाता है।

सिद्धान्त-ग्रन्थोंमें बतलाया है कि सभी नारकी और तिर्यञ्च नीचगोत्री होते हैं और सभी देव उच्चगोत्री होते हैं। अपने लेखके प्रारम्भमें लेखक-महोदयने इस बातका चित्रण बड़े सुन्दर ढङ्गसे किया है। उसके बाद उन्होंने इस बातके सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि देवोंके समान मनुष्य भी सब उच्चगोत्री ही हैं। इस बातका समर्थन करते हुए उन्होंने लिखा है—"गोम्मटसार-कर्मकाण्ड गाथा नं० १८ में यह बात साफ़ तौरसे बताई गई है कि नीच-उच्चगोत्र भवोंके अर्थात् गतियोंके आश्रित है। जिससे यह स्पष्टतया ध्वनित है कि नरकभव और तिर्यञ्चभवके सब जीव जिस प्रकार नीचगोत्री हैं, उसी प्रकार देव और मनुष्यभव वाले सब जीव भी उच्चगोत्री हैं। यथा—'भवमस्सिय णीचुच्चं इदि गोदं।' तत्वार्थसूत्र अ० ८, सू० २५ की प्रसिद्ध टीकाओंमें—सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक और श्लोकवार्तिकमें—देव और मनुष्य ये दो गतियाँ शुभ वा श्रेष्ठ और उच्च बताई हैं और नरक तथा तिर्यञ्च ये दो गतियाँ अशुभ वा नीच, इसी

कारण गोम्मटसार-कर्मकाण्ड गाथा २८५में मनुष्य गति और देवगतिमें उच्चगोत्रका उदय बताया है।" इन पंक्तियोंके द्वारा लेखकमहोदयने बड़ी बुद्धिमत्ताके साथ अपने अभिप्रायका समर्थन किया है; किन्तु गोम्मटसार-कर्मकाण्डकी गाथा २८५ के जिस अंश 'उच्चुदओ णरदेवे' को उन्होंने अपने मतके समर्थनमें उपस्थित किया है, मुझे खेद है कि वह उनके मतका समर्थक नहीं है; क्योंकि—उदय-प्रकरणको प्रारम्भ करते हुए ग्रन्थकारने कुछ गाथाओंके द्वारा विशेष स्थानमें या विशेष अवस्थामें उदय आने वाली प्रकृतियोंका निर्देश किया है। उसी सिलसिलेमें उन्होंने बताया है कि उच्चगोत्रका उदय मनुष्यगति और देवगतिमें होता है। उनके इस लेखका यह आशय कदापि नहीं है कि मनुष्यगति और देवगतिमें उच्चगोत्रका ही उदय होता है। यदि ऐसा आशय लिया जायगा तो उससे ग्रन्थमें पूर्वापर विरोध होजायगा; क्योंकि आगे गाथा २९८में मनुष्यगतिमें उदययोग्य जो १०२ प्रकृतियाँ गिनाई हैं, उनमें नीचगोत्र भी सम्मिलित है *। अतः कर्मकाण्ड गा० २८५ से तो यह बात साबित नहीं होती कि 'सभी मनुष्य उच्चगोत्री हैं'।

मेरे विचारमें अपने उक्त प्रमाण (गा० २८५) की कमजोरीको लेखकमहोदय भी अनुभव करते हैं, तभी तो उन्होंने लिखा है—"सभी मनुष्य उच्चगोत्री हैं, ऐसा गोम्मटसारमें लिखा है, यह बात सुनकर हमारे बहुतसे भाई चौंकेंगे।.........इस कारण इसके लिये कुछ और भी प्रबल प्रमाण देनेकी जरूरत है।" आइये, जरा प्रबल प्रमाणोंका भी सिंहावलोकन करें।

आपने लिखा है—"श्री तत्वार्थसूत्रमें आर्य और म्लेच्छ ये दो भेद मनुष्य जातिके बताये गये हैं, अगर प्रबल शास्त्रीय प्रमाणोंसे यह बात सिद्ध हो जावे कि म्लेच्छखण्डोंके म्लेच्छ भी सब उच्चगोत्री हैं तो आशा है कि उनका यह भ्रम दूर हो जायगा। गोम्मटसार-कर्मकाण्ड गाथा २९७ और ३००के कथनानुसार नीच-गोत्रका उदय पाँचवें गुणस्थान तक ही रहता है, इसके ऊपर नहीं। अर्थात् ...... नीच-गोत्री पाँचवें गुणस्थानसे ऊपर नहीं चढ़ सकता, छठा गुणस्थानी नहीं होसकता और न सकलसंयम ही धारण कर सकता है।.........श्री जयधवल ग्रन्थमें स्पष्ट तौर पर सिद्ध किया है कि म्लेच्छ खण्डोंके म्लेच्छ भी सकलसंयम धारण कर सकते हैं—छठे गुणस्थानी मुनि-साधु हो सकते हैं। ....इसके सिवाय, श्री लब्धिसारकी संस्कृतटीकामें भी ज्यों का त्यों ऐसा ही कथन मिलता है।" इसके बाद लेखकमहोदय ने जयधवला तथा श्री लब्धिसार की संस्कृतटीकासे प्रमाण उद्धृत किये हैं। व्यर्थमें लेखका कलेवर बढ़ाना अनुचित समझ कर† यहाँ हम उन दोनों प्रमाणोंका केवल

* यह ठीक है कि उनमें नीच गोत्र भी सम्मिलित है; परन्तु मनुष्य गतिमें भी तो सम्मूर्छन मनुष्य तथा अन्तर्द्वीपज मनुष्य सम्मिलित हैं, जिन्हें बा० सूरजमानजी ने अपने लेख में उच्च-गोत्री नहीं बतलाया है। उन्हींमेंसे किसीको लक्ष्य करके यदि वह नीचगोत्रका उदय बतलाया गया हो तो उस पर क्या आपत्ति हो सकती है, उसे यहाँ स्पष्ट करके बतला दिया जाता तो अच्छा होता। —सम्पादक

† यहाँ प्रमाणों का ज्यों का त्यों उद्धृत कर देना अनुचित समझते हुए भी आगे चलकर (पृ. २०१ पर) उन्हें तोड़-मरोड़ एवं काट-छाँट के साथ उद्धृत करना क्यों उचित समझा गया, इसके ठीक रहस्यको लेखकमहाशय ही समझ सकते हैं। —सम्पादक

भावार्थ — लेखकमहोदयके ही शब्दोंमें — दिये देते हैं, जो इस प्रकार है—"म्लेच्छ भूमिमें उत्पन्न हुए मनुष्योंके सकलसंयम कैसे हो सकता है, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये; क्योंकि दिग्विजयके समय चक्रवर्ती के साथ आये हुए उन म्लेच्छ राजाओंके जिनके चक्रवर्ती आदिके साथ वैवाहिक सम्बन्ध उत्पन्न हो गया है, संयमप्राप्तिका विरोध नहीं है; अथवा चक्रवर्त्यादिके साथ विवाही हुई उनकी कन्याओंके गर्भसे उत्पन्न पुरुषोंके, जो मातृपक्षकी अपेक्षा म्लेच्छ ही कहलाते हैं, संयमोपलब्धिकी संभावना होने के कारण; क्योंकि इस प्रकार की जातिवालोंके लिये दीक्षा की योग्यताका निषेध नहीं है।"

श्री जयधवला और लब्धिसारके प्रमाणोंका उक्त भावार्थ बिल्कुल जँचा-तुला है। अतः उसके सम्बन्धमें कुछ कहनेकी आवश्यकता नहीं है, किन्तु उसके आधार पर लेखकमहोदयने जो फलितार्थ निकाला है, वह अवश्य ही नुक्ताचीनीके योग्य है। आप लिखते हैं—"इन लेखोंमें श्री आचार्य महाराजने यह बात उठाई है कि म्लेच्छ भूमिमें पैदा हुए जो भी म्लेच्छ हैं उनके सकल-संयम होने में कोई शङ्का न होनी चाहिये—सभी म्लेच्छ सकल-संयम धारण कर सकते हैं, मुनि हो सकते हैं और यथेष्ट धर्माचरणका पालन कर सकते हैं। उनके वास्ते कोई खास रोक-टोक नहीं है। अपने इस सिद्धान्तको पाठकोंके हृदयमें बिठानेके वास्ते उन्होंने दृष्टान्तरूपमें कहा है कि जैसे भरतादिचक्रवर्तियोंकी दिग्विजयके समय उनके साथ जो म्लेच्छ राजा आये थे अर्थात् जिन म्लेच्छ राजाओंको जीतकर अपने साथ आर्यखण्डमें लाया गया था और उनकी कन्याओंका विवाह भी चक्रवर्ती तथा अन्य अनेक पुरुषोंके साथ हो गया था, उन म्लेच्छ राजाओंके संयम ग्रहण करनेमें कोई ऐतराज नहीं किया जाता—अर्थात् जिस प्रकार यह बात मानी जाती है कि उनको सकल-संयम हो सकता है उसी प्रकार म्लेच्छ खण्डोंमें रहने वाले अन्य सभी म्लेच्छ आर्यखण्डोद्भव आर्योंकी तरह सकल-संयमके पात्र हैं। दूसरा दृष्टान्त यह दिया है कि जो म्लेच्छकन्याएँ चक्रवर्ती तथा अन्य पुरुषोंसे ब्याही गई थीं उनके गर्भसे उत्पन्न हुए पुरुष यद्यपि मातृपक्षकी अपेक्षा म्लेच्छ ही थे—माताकी जाति ही सन्तानकी जाति होती है, इस नियमके अनुसार जाति उनकी म्लेच्छ ही थी—तो भी मुनिदीक्षा ग्रहण करनेका उनके वास्ते निषेध नहीं है—वे सकल-संयम ग्रहण कर सकते हैं। इसीप्रकार म्लेच्छखण्डके रहने वाले दूसरे म्लेच्छ भी सकल-संयम ग्रहण कर सकते हैं। परन्तु सकल-संयम उच्चगोत्री ही ग्रहण कर सकते हैं, इस कारण इन महान् पूज्य ग्रन्थोंके उपर्युक्त कथनसे कोई भी सन्देह इस विषयमें बाक़ी नहीं रहता कि म्लेच्छखण्डोंके रहनेवाले सभी म्लेच्छ उच्चगोत्री हैं। जब कर्मभूमिज म्लेच्छ भी सभी उच्चगोत्री हैं और आर्य तो उच्चगोत्री हैं ही, तब सार यही निकला कि कर्मभूमिके सभी मनुष्य उच्चगोत्री हैं और सकल-संयम ग्रहण करनेकी योग्यता रखते हैं।"

लेखक महोदयने अपने प्रमाणोंका जो भावार्थ स्वयं दिया है, उसके प्रकाशमें उनके इस फलितार्थ-

को जो कोई भी समझदार व्यक्ति पढ़ेगा, वह सिर-धुने बिना न रहेगा। मुझे आश्चर्य है कि पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार जैसे सम्पादककी पैनी दृष्टिसे बचकर यह फलितार्थ बिना टीका-टिप्पणीके कैसे प्रकाशित हो गया ? अस्तु; लेखकमहोदयका कहना है कि–"इन लेखों में आचार्य महाराजने यह बात उठाई है कि म्लेच्छ भूमिमें पैदा हुए जो-भी म्लेच्छ हैं उनके सकल-संयम होनेमें कोई शंका नहीं करना चाहिये, सभी म्लेच्छ मुनि हो सकते हैं, और अपने इस सिद्धान्तको पाठकोंके हृदय-में बैठानेके लिये उन्होंने दो दृष्टान्त दिये हैं।" किन्तु उनके भावार्थसे यह आशय नहीं निकलता। भावार्थमें तो 'म्लेच्छ भूमिमें उत्पन्न हुए मनुष्योंके सकल-संयम कैसे हो सकता है, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये लिखा है और लेखक महोदय उसका यह आशय निकालते हैं कि म्लेच्छ भूमिमें पैदा हुए जो भी म्लेच्छ हैं उनके सकलसंयम होनेमें कोई शंका नहीं होनी चाहिये, सभी म्लेच्छ मुनि हो सकते हैं। बहुवचनान्त 'मनुष्यों'का अर्थ म्लेच्छमात्र करना और 'सकल-संयम कैसे हो सकता है ऐसी शंका नहीं करने' का अर्थ 'सकल-संयम होने में कोई शंका न होनी चाहिये' करना, अर्थका अनर्थ करना है। यदि 'ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये' (इति नाशङ्कितव्यम्) का अर्थ 'इसमें कोई शंका नहीं करनी चाहिये किया जायगा, तो शास्त्रीय जगत्में बड़ा भारी विप्लव पैदा हो जायगा। शास्त्रकार अपने सिद्धान्तको पुष्ट करनेके लिये उसमें संभाव्य शंकाओंका स्वयं उल्लेख करके उनका समाधान करते हैं। इस प्रकार उनके द्वारा जो शंकाएँ उठाई जाती है, वे उनका सिद्धान्त नहीं होतीं, किन्तु उनके सिद्धान्तमें वे शंकाएँ की जा सकतीं हैं, इसीलिए उन्हें उनका समाधान करना पड़ता है। अब यदि 'इतिI' शब्द-का अर्थ 'ऐसी' के स्थानमें 'इसमें' किया जाता है तो सिद्धान्तमें उठाई गई 'आशंका' स्वयं सिद्धान्त-का रूप धारण कर लेती है, जैसा कि लेखक महोदयने आशंकाको ही सिद्धान्त बना दिया है*। आशंकाको ही सिद्धान्त मान लेने पर जो विप्लव

I श्री राजवार्तिक पृ० ४१ पर, सूत्र १-१३ की व्याख्या करते हुए, अकलङ्कदेव ने 'इति' शब्द के हेतु, एवम्, प्रकार, व्यवस्था, अर्थविपर्यास, समाप्ति और शब्दप्रादुर्भाव, ये अर्थ किये हैं। इनमें 'ऐसा' अर्थका सूचक 'एवम्' शब्द तो वर्तमान है किन्तु 'इसमें' अर्थका सूचक कोई भी शब्द नहीं है। अत: 'इति' का 'इसमें' अर्थ भ्रान्त है (लेखक)नोट—बा० सूरजभान-जीने 'इति' का साफ़ एवं स्पष्ट अर्थ 'ऐसी' दिया है, जैसा कि लेखकद्वारा उद्धृत उनके उस 'भावार्थ' से प्रकट है जिसे लेखकने "बिल्कुल जँचा-तुला" माना है। उसे व्यर्थ की खींचतान करके 'इसमें' अर्थ बतलाना लेखकका अनुचित प्रयास है।—सम्पादक

* यह ठीक है कि जो शंका उठाई जाती है वह सिद्धान्त नहीं होती; परन्तु जिस मान्यतामें उठाई जाती है और शंकाका समाधान करके उस मान्यताको दृढ़ करने रूप जो फलितार्थ निकाला जाता है वह सब तो समाधानकारकका सिद्धान्त होता है या इस पर भी कुछ आपत्ति है ? यदि इस पर कुछ आपत्ति नहीं और न हो सकती है, तो हमें सबसे पहले यह देखना चाहिये कि जयधवलामें किस मान्यताको सामने रखकर क्या आपत्ति कीगई है ? उसी पर से यह मालूम होसकेगा कि बाबू साहबने आशंका को ही सिद्धान्त बना दिया है क्या ? लेखमें बाबू साहब-द्वारा उद्धृत जयधवलाके "जइ एवं कुदो तत्थ-" यदि ऐसा है तो वहां अमुक बात कैसे बनती है—ये शब्द भी एक विचारकके लिये इस बातकी खास आवश्यकता उपस्थित करतेहैं कि वह पहले 'जइ एवं' (यदि ऐसा है) और 'तत्थ' (वहाँ) जैसे शब्दोंके वाच्यको मालूम करे और तब कुछ कहने अथवा लिखनेका साहस करे। अत: जयधवलाके उस पूर्व प्रकरणको मैं यहाँ उद्धृत कर देना चाहता हूँ। जयधवलके 'संजमलद्धि' नामक अनुयोगद्वार (अधिकार)-

उपस्थित होगा, उसके एक दो उदाहरण इस प्रकार हैं—

श्रीधवलजीमें दर्शनोपयोगकी चर्चामें, 'जं सामण्णं गहणं' इत्यादि गाथाका व्याख्यान करते समय एक वाक्य I इस प्रकार है—"अविसेसदूण गहणं' इति–अर्थात् अविशेष्य यद् ग्रहणं तद्

में एक चूर्णिसूत्र देकर जो कुछ इसके पूर्व लिखा गया है वह सब इस प्रकार है—

"अकम्मभूमियस्स पडिवज्जमाणस्स जहण्णयं संजमट्ठाणमणंतगुणं। (चू० सू०) पुव्विल्लादो असंखे० लोगमेत्तछट्ठाणाणि उवरि गंतूणेदस्स समुप्पत्तीए। को अकम्मभूमिओ णाम? भरहैरावयविदेहेसु विणीतसण्णिदमज्झिमखंडं मोत्तूण सेसपंचखंडविणिवासी मणुओ एत्थ 'अकम्मभूमिओ' त्ति विवक्खिओ। तेसु धम्मकम्मपवुत्तीए असंभवेण तब्भावोववत्तीदो।"

इसमें सूत्रद्वारा अकर्मभूमिक मनुष्यके जघन्यसंयमस्थानको अनन्तगुणा बतलाकर और फिर उसकी कुछ विशेषताका निर्देश करके यह प्रश्न उठाया गया है कि 'अकर्मभूमिक' मनुष्य किसे कहते हैं? उत्तरमें बतलाया है कि 'भरत, ऐरावत और विदेहक्षेत्रोंमें 'विनीत' नामके मध्यमखण्ड (आर्य खण्ड) को छोड़कर शेष पाँच खण्डोंका विनिवासी (क़दीमी बाशिंदा) यहाँ 'अकर्मभूमिक' इस नामसे विवक्षित है; क्योंकि उन पाँच खण्डोंमें धर्म-कर्मकी प्रवृत्तियाँ असंभव होनेके कारण उस अकर्मभूमिक भावकी उत्पत्ति होती है।

इसके बाद ही "जइ एवं कुदो तत्थ संजमग्गहणसंभवो?" नामका वह प्रश्न दिया गया है, जिससे बाबू साहबके लेखमें उद्धृत प्रमाणवाक्यका प्रारंभ होता है और जिसका अर्थ है—यदि ऐसा है—उन पाँच खण्डोंमें (वहाँ के निवासियोंमें) धर्म-कर्मकी प्रवृत्तियाँ असंभव हैं—तो फिर वहाँ (उन पाँच खण्डोंके निवासियोंमें) संयम-ग्रहण कैसे संभव हो सकता है? और फिर, "त्ति णासंकणिज्जं" इत्यादि वाक्योंके द्वारा प्रश्नगत शंकाको निर्मूल बतलाते हुए, दो उदाहरणोंको साथमें लेकर—हेतुकी पुष्टिमें दो उदाहरण देकर नहीं—विषयका स्पष्टीकरण किया गया है और यह बतलाया गया है कि किस प्रकार उन पाँच खण्डोंके मनुष्योंके सकलसंयम हो सकता है, जिसका स्पष्ट आशय यह है कि उन पाँच खण्डोंके म्लेच्छ मनुष्योंमें सकल-संयम-ग्रहणकी पात्रता तो है परन्तु वहाँकी भूमि उसमें बाधक है—वह भूमि धर्म-कर्मके अयोग्य है—और इसलिये जब वे चक्रवर्ति आदिके साथ आर्यखण्डको आजाते हैं तब यहाँ आकर खुशीसे सकलसंयम धारण कर सकते हैं। उनकी इस संयमप्रतिपत्ति और स्वीकृतिमें कोई विरोध नहीं है।

ऐसे कथन और स्पष्टीकरणकी मौजूदगीमें कोई भी विवेकी मनुष्य यह कल्पना नहीं कर सकता कि शंकाको निर्मूल बतलाने वाले आचार्य महोदयका वह सिद्धान्त नहीं है जो उक्त सूत्रमें उल्लेखित हुआ है अथवा वह उनकी मान्यता नहीं है जिसको उन्होंने अपने समाधान-द्वारा स्पष्ट और पुष्ट किया है। और इसलिये शास्त्री जी ने जयधवलकी ऐसी स्पष्ट बातके विरोधमें जो कुछ लिखनेका प्रयत्न किया है वह सब उनकी विचारशीलताका द्योतक नहीं है। उन्हें ऊपरका सारा प्रसंग मालूम होने पर स्वयं ही अपनी इस व्यर्थकी कृतिके लिये खेद होगा—इसके लिये पछताना पड़ेगा कि 'इति' शब्दका अर्थ बाबू साहबके 'भावार्थ' में साफ तौर पर 'ऐसी' दिया होने पर भी खींचतान-द्वारा उसे जो 'इसमें' अर्थ बतलाया गया था उससे भी अपने अभीष्टकी अथवा आचार्यमहोदयके उस सिद्धान्त-मान्यताके अभावकी सिद्धि न हो सकी—और यदि सद्भावना अथवा सदाशयता का तकाज़ा हुआ तो लेखमें बा० सूरजभानजीके लिये जिन ओछे शब्दोंका प्रयोग किया गया है, उनके फलितार्थको पढ़कर सिर धुने बिना न रहने आदि की जो बात कही गई है और उन्हें वृद्धावस्थामें अत्याचार न करने का जो अप्रासंगिक एवं अनधिकृत परामर्श दिया गया है उस सबको वापिस भी लेना पड़ेगा।

मुझे खेद है कि शास्त्रीजीने बाबू सूरजभानजीके फलितार्थको यों ही कदर्थित करनेकी धुनमें दो तीन उदाहरणों के द्वारा अपने खण्डनकी जो भूमिका बाँधी है अथवा उसे विशद करनेकी चेष्टा की है उसमें सत्यसे काम न लेकर कुछ छलसे काम लिया है—उन उदाहरणोंकी पंक्तियोंके साथमें आशंकित सिद्धान्तकी मान्यतादिके सूचक "जइ एवं कुदो तत्थ" जैसे शब्दोंके वाचक कोई शब्द नहीं हैं—न उन्हें तुलनाके लिये रक्खा गया है—फिर भी उन वाक्योंकी तुलना जयधवलके वाक्यसे की गई है और इस तरह असंगत उदाहरणों-द्वारा ग़लत अर्थका प्रतिपादन करके अपने पाठकोंको जान बूझ कर भुलावे तथा भ्रममें डाला गया है!! सद्विचारकोंके द्वारा ऐसा अनुचित कृत्य न होना चाहिये—वह उनको शोभा नहीं देता। —सम्पादक

I धवल की दर्शनविषयक चर्चाका कुछ अंश मेरी नोटबुकमें उद्धृत है, उसी परसे यह वाक्य दिया गया है।

दर्शनम्, इति न 'बाह्यार्थगतसामान्यग्रहणं दर्शनम्' इति आशंकानीयम्, तस्यावस्तुन: कर्मत्वाभावात्।" इसमें बतलाया है कि–'बाह्य अर्थकी विशेषता न करके जो (स्वरूपका) ग्रहण होता है उसे दर्शन कहते हैं। अत: 'बाह्य अर्थके सामान्य आकारके ग्रहण करनेको दर्शन कहते हैं' ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि (केवल) सामान्य अवस्तु है अत: वह ज्ञानका विषय नहीं हो सकता। यहाँ पर 'बाह्य अर्थके सामान्य आकारके ग्रहण करनेको दर्शन कहते हैं, ऐसी शङ्का न करनी चाहिये' इस वाक्यका अर्थ यदि लेखकजीके मतानुसार किया जाय तो वह इस प्रकार होगा—'इस वाक्यमें श्री आचार्य महाराजने यह बात उठाई है कि 'बाह्य अर्थके सामान्य आकारके ग्रहण करनेको दर्शन कहते हैं' इस सिद्धान्तमें किसीको भी शङ्का नहीं करनी चाहिये, अर्थात बाह्य अर्थके सामान्य आकारके ग्रहण करनेको ही दर्शन कहते हैं'। बेचारे ग्रन्थकार दर्शनके जिस प्रचलित अर्थका निराकरण करना चाहते थे, वही उनका सिद्धान्त बना जाता है। अस्तु; दूसरा उदाहरण यहाँ यद्यपि तत्त्वार्थ-श्लोकवार्तिकसे दिया जाता है, किन्तु वह इतना प्रचलित है कि दर्शन और न्यायका शायद ही कोई ग्रन्थ ऐसा हो जिसमें वह वर्तमान न हो। सूत्र ६-४, की व्याख्यामें श्री विद्यानन्दने संसारी जीवकी परतन्त्रताको कषायहेतुक सिद्ध करनेके लिये एक अनुमान दिया है। उसको निर्दोष सिद्ध करते हुए उन्होंने लिखा है—"साध्यसाधनविकलमुदाहरणम् इति च न शङ्कनीयम्, पद्ममध्यगतस्य भृङ्गस्य तद्गन्धलोभकषायहेतुकत्वेन तत्संकोचकाले पारतंत्र्यानपेक्षिणः प्रसिद्धत्वात्'। इस लेखमें ग्रन्थकारने बतलाया है कि क्यों उनका उदारण साध्यविकल और साधनविकल नहीं है। यहाँ परभी 'उदाहरण साध्य और साधनसे विकल है, ऐसी शङ्का न करनी चाहिये' का अर्थ यदि लेखकमहोदयके मतानुसार किया जाय तो कहना होगा कि—'उदाहरण साध्य और साधनसे विकल है, इस बातमें कोई शङ्का नहीं करनी चाहिये, अर्थात् उदाहरण साध्यसे भी शून्य है और साधनसे भी, और यह बात इतनी सुनिश्चित है? कि उसमें किसी सन्देहको भी स्थान नहीं है। क्या खूब रही, बेचारे विद्यानन्दजी का अपने ही अनुमानको समर्थन करनेका प्रयास उसका घातक बन बैठा। इसे ही कहते हैं अपने हाथों अपना घात*। अस्तु।

लेखकमहोदयका कहना है कि—'अपने इस सिद्धान्तको पाठकोंके हृदयमें बिठानेके वास्ते उन्होंने दो दृष्टान्त दिये हैं'। किन्तु उनका यह कथन भी बिल्कुल असङ्गत है; क्योंकि जिन दो प्रकारों (तरीकों) के द्वारा ग्रन्थकारने म्लेच्छ जीवोंमें सकलसंयम होसकनेका निर्देश किया है, वे दोनों प्रकार उदाहरणरूपमें नहीं हैं। शिक्षित पाठकोंसे यह बात अज्ञात नहीं है कि संस्कृतमें उदाहरण

* खेद है कि लेखकजीने जयधवला के उस मूल तुलना-वाक्यमें प्रयुक्त हुए 'जइ एवं कुदो तस्स' जैसे शब्दों के वाक्यको छिपाकर खुद ही तो श्री विद्यानन्दजी के वाक्यको ग़लत रूपमें जयधवला के वाक्यके साथ तुलनाके लिये प्रस्तुत किया और फिर खुद ही ऐसी सदोष तुलनाके आधार पर विद्यानन्दजीका मखौल उड़ाने बैठ गये! यह उचित नहीं है। इसी प्रकारका अनौचित्य पिछले तथा अगले उदाहरणके प्रयोगमें भी पाया जाता है। —सम्पादक

या दृष्टान्त का निर्देश करनेके लिये 'यथा' 'इव' आदि शब्द तथा 'वत्' प्रत्ययका निर्देश किया जाता है, तथा हिन्दीमें 'यथा' 'जैसा' 'तरह' आदि शब्दोंका निर्देश किया जाता है। किन्तु लेखक-महोदयके द्वारा दिये गये भावार्थमें और उसके मूलभूत जयधवला और लब्धिसारकी टीकाके प्रमाणोंमें* इस तरहका कोई शब्द नहीं है। दोनों प्रमाणोंमें 'विरोहाभावादो', 'संयमप्रतिपत्तेरविरोधात्' और 'संयमसंभवात्' शब्दोंकी पञ्चमी विभक्तिसे स्पष्ट है कि जिन दो वाक्योंको लेखक-महोदय दृष्टान्तपरक बतलाते हैं, वे दोनों हेतुपरक हैं; क्योंकि हेतुमें पञ्चमी विभक्ति होती है। लेखक-महोदयके द्वारा निकाले गये फलितार्थको दूषित करनेके लिये ऊपर श्री धवलजी और तत्त्वार्थश्लोक-वार्तिकसे जो दो वाक्य दिये गये हैं, पाठक देखेंगे कि उनमें भी 'आशङ्कनीयम् और नशंकनीयम्' के बाद जो वाक्य हैं वे भी पञ्चम्यन्त, अतएव हेतुपरक हैं। यदि उन वाक्योंको भी दृष्टान्तपरक मान लिया जाय तो उनके पूर्ववर्ती वाक्योंका अर्थ लेखकमहोदयके मतानुसार करनेसे होनेवाली गड़बड़ीमें जो थोड़ी बहुत कमी रह गई थी, उसकी पूर्ति होजायगी। असलमें यदि किसीसे कहा जाय कि 'ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिये', तो वह तुरन्त प्रश्न करेगा—क्यों? और इस क्यों का जो उत्तर दिया जायगा वह आशंका न करने में हेतु बतलाएगा। इसीसे लेखकमहोदयने अपने प्रमाणोंका जो भावार्थ दिया है, उसमें लिखा है— 'म्लेच्छभूमिमें उत्पन्न हुए मनुष्योंके सकल-संयम कैसे हो सकता है, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये; क्योंकि ......।' न्यायशास्त्रके सम्पर्कमें आने वाले पाठक जानते ही हैं कि अनुमानमें प्रतिज्ञाके बाद हेतु और हेतुके बाद उदाहरणका प्रयोग किया जाता है। प्रतिज्ञाके बाद—बिना हेतुप्रयोगके—उदाहरण कोई विज्ञ पुरुष नहीं देता। जयधवला और लब्धिसार-टीकाके प्रमाण और उनके भावार्थ में 'नाशंकितव्यम्' और 'ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये' तक तो प्रतिज्ञा-वाक्य हैं और उसके बाद जो दो वाक्य हैं वे दोनों हेतुपरक हैं, वहाँ दृष्टान्त की तो गन्ध तक भी नहीं है। यदि उन वाक्योंमें दृष्टान्त भी दिया होता तो उनकी रचना इस प्रकारसे होनी चाहिये थी—'ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि म्लेच्छभूमिमें उत्पन्न हुए जीवोंके सकलसंयमका विरोध नहीं है। जैसे, दिग्विजयके समय चक्रवर्ती आदिके साथ आये हुए उन म्लेच्छ राजाओंके, जिनके चक्रवर्ती आदिके साथ वैवाहिक सम्बन्ध उत्पन्न होगया है, संयमका विरोध नहीं है। अथवा, जैसे, चक्र-वर्त्यादिके साथ विवाही हुई उनकी कन्याओंके

* "म्लेच्छभूमिजमनुष्याणां सकलसंयमग्रहणं कथं भवतीति नाशंकितव्यम्, दिग्विजयकाले चक्रवर्तिना सह आर्यखण्ड-मागतानां संयमप्रतिपत्तेरविरोधात्। अथवा, तत्कन्यकानां चक्रवर्त्यादिपरिणीतानां गर्भेषूत्पन्नस्य मातृपक्षापेक्षया म्लेच्छव्यपदेशभाजः संयमसम्भवात्। तथाजातीयकानां दीक्षार्हत्वे प्रतिषेधाभावात्।" लब्धिसार टीका, गाथा १९५। (लेखमें १९३ अशुद्ध छपा है) जयधवलाके प्रमाणमें थोड़ा सा अन्तर है। उसमें लिखा है—'मिलेच्छरायाणं तत्थ चक्कवट्टिआदीहिं सह जादवेवाहियसंबंधाणं संजम-पडिवत्तीए विरोहाभावादो (जयधवलामें इस पंक्तिके पूर्व ये शब्द भी दिये हुए हैं, जिनका यहाँ छोड़ा जाना तथा जयधवलाके प्रमाणको पहले न देकर बाद को खण्डित रूप में देना कुछ अर्थ रखता है—"अइ एवं कुदो तत्थ संजमगाहणसंभवो त्ति णासं-कणिज्जं। दिग्विजयट्टि चक्कवट्टिखंधावारेण सह मज्जिमखंडमागयाणं।" —सम्पादक)।

गर्भसे उत्पन्न हुए पुरुषोंके सकलसंयमका विरोध नहीं है'। टीकाकारने चक्रवर्तीके साथ आये हुए म्लेच्छ राजाओंके तथा चक्रवर्ती आदिको विवाही गई म्लेच्छकन्याओंके गर्भसे उत्पन्न हुए पुरुषोंके सकलसंयम धारण कर सकनेको उदाहरणरूपमें उपस्थित नहीं किया है, किन्तु हेतुरूपमें उपस्थित किया है। इसके स्पष्टीकरणके लिये, हमें एकबार अपना ध्यान लब्धिसारके उस प्रकरणकी ओर लेजाना होगा, जिसमें उक्त वाक्य पाया जाता है।

लब्धिसारके जिस प्रकरणमें गाथा नं० १९५ वर्तमान है, जिसकी टीकाके एक अंशको प्रमाण-रूपमें उद्धृत किया गया है, उस प्रकरणमें म्लेच्छ पुरुषोंके भी संयम-स्थान बतलाये हैं। उसी परसे टीकाकारने यह प्रश्न उठाया है कि म्लेच्छभूमिमें उत्पन्न हुए जीवोंके सकलसंयम कैसे हो सकता है ? और उसका समाधान दो प्रकारसे किया है। एक तो यह कि जो म्लेच्छराजा चक्रवर्तीके साथ आर्यखण्डमें आजाते हैं और जिनका चक्रवर्ती आदिके साथ वैवाहिक आदि सम्बन्ध होजाता है, वे सकलसंयम धारण कर सकते हैं, और इस प्रकार म्लेच्छपुरुषोंमें भी संयमके स्थान होसकते हैं। दूसरा यह कि चक्रवर्ती जिन म्लेच्छकन्याओं से विवाह करता है, उनकी सन्तान मातृपक्षकी अपेक्षासे म्लेच्छ कहलाती है, और वह सन्तान संयम धारण कर सकती है। इस शंका-समाधान-से यही ध्वनित होता है कि म्लेच्छभूमिमें उत्पन्न हुए पुरुषोंके आमतौर पर संयमका विधान नहीं था, अतः टीकाकारको उक्त शङ्कासमाधानके द्वारा यह बतलाना आवश्यक प्रतीत हुआ कि किन-किन म्लेच्छपुरुषोंके सकलसंयम होसकता है। भावार्थ-की अन्तिम पंक्ति—इस प्रकारकी जातिवालोंके लिये दीक्षाकी योग्यताका निषेध नहीं है (तथा-जातीयकानां दीक्षार्हत्वे प्रतिषेधाभावात्)—से यह बात बिलकुल स्पष्ट होजाती है; क्योंकि इसमें स्पष्ट रूपसे बतलाया है कि इस प्रकारकी जातिवालोंके, अर्थात जिन म्लेच्छराजाओंका चक्रवर्ती आदिके साथ वैवाहिक आदि सम्बन्ध होगया है, तथा चक्रवर्ती आदिके साथ विवाही हुई म्लेच्छ-कन्याओंसे जो सन्तान उत्पन्न होती है, उनके दीक्षाका निषेध नहीं है। इस वाक्यसे यह निष्कर्ष निकलता है कि अन्य म्लेच्छोंके दीक्षाका निषेध है। यदि टीकाकारको लेखक महोदयका सिद्धान्त अभीष्ट होता तो उन्हें दो प्रकारके म्लेच्छोंके संयम-का विधान बतलाकर उसकी पुष्टिके लिये उक्त अन्तिम पंक्ति लिखनेकी कोई आवश्यकता ही नहीं थी। क्योंकि वह पंक्ति उक्त सिद्धान्त—सभी म्लेच्छ सकलसंयम धारण कर सकते हैं—के विरुद्ध जाती है*।

* यदि 'तथा-जातीयकानां' पदसे लेखक महाशयको म्लेच्छोंकी दो जातियोंका ग्रहण अभीष्ट है—एक तो म्लेच्छ कन्याओंसे आर्य पुरुषोंके संयोगद्वारा उत्पन्न हुए उन मनुष्योंकी जाति जिन्हें आप लेखमें ही आगे 'परम्परया म्लेच्छ' लिखते हैं और दूसरी म्लेच्छखण्डोंसे आर्यखण्डको आए हुए 'साक्षात् म्लेच्छोंकी जाति, तब चूंकि आर्य खण्डको आए हुए साक्षात् म्लेच्छोंकी जो जाति होती है वही जाति म्लेच्छ खण्डोंके उन दूसरे म्लेच्छोंकी भी होती है जो आर्य खण्डको नहीं आते हैं, इसलिये साक्षात म्लेच्छ जाति के मनुष्योंके सकल-संयमके ग्रहणकी पात्रता होनेसे म्लेच्छ खण्डोंमें अवशिष्ट रहे दूसरे म्लेच्छ भी सकलसंयमके पात्र ठहरते हैं—कालान्तरमें वे भी अपने भाई-बन्दोंके साथ आर्य खण्डको आकर दीक्षा ग्रहण कर सकते हैं। दिग्विजयके बाद आर्य-म्लेच्छखण्डोंमें परस्पर आवागमनका मार्ग खुल ही जाता है। और इस तरह सकलसंयम-गृहणकी पात्रता एवं संभावनाके कारण म्लेच्छ खण्डोंके सभी म्लेच्छोंके उच्च गोत्री होनेसे बाबू सूरजभानजीका वह फलितार्थ अनायास ही सिद्ध होजाता है, जिसके विरोधमें इतना अधिक द्राविडी प्राणायाम किया गया है !!

—सम्पादक

म्लेच्छ पुरुषोंके संयमके स्थान बतलानेके लिए जो दो प्रकार बतलाये गए हैं, उनके मध्यमें पड़ा हुआ 'अथवा' शब्द भी ध्यान देने योग्य है। 'अथवा'* शब्द एक वियोजक अव्यय है, जिसका प्रयोग वहाँ होता है जहाँ कई शब्दों या पदोंमेंसे किसी एकका ग्रहण अभीष्ट हो। समुच्चयकारक 'तथा' आदि शब्दोंका प्रयोग न करके 'अथवा' शब्द का प्रयोग करनेमें कोई विशेष हेतु अवश्य होना चाहिये। मैं ऊपर लिख आया हूँ कि म्लेच्छ पुरुषोंके सकलसंयमके स्थान किस प्रकार हो सकते हैं, यह टीकाकारने बतलाया है और उसके दो प्रकार बतलाये हैं। मेरी दृष्टिमें जिन लोगोंके जहनमें यह बात समाना कठिन प्रतीत हुई कि चक्रवर्ती आदिके साथ आये हुए म्लेच्छराज सकलसंयम धारण कर सकते हैं, उन लोगोंको दृष्टिमें रखकर आचार्य महाराजने म्लेच्छोंमें संयमके स्थान हो सकनेका दूसरा प्रकार बतलाया है। पहले प्रकारमें तो विशिष्ट दशामें साक्षात् म्लेच्छोंके सकलसंयम हो सकनेकी बात कही है, किन्तु दूसरेमें परम्परया म्लेच्छोंके, अर्थात् आर्यपुरुष और म्लेच्छकन्यासे उत्पन्न हुए पुरुषोंके, जो यद्यपि पितृवंशकी अपेक्षा आर्य ही हैं, किन्तु मातृवंशकी अपेक्षा म्लेच्छ हैं, सकल-संयमका विधान किया है। यदि मेरा दृष्टिकोण ठीक है तो 'अथवा' शब्दसे भी उक्त सिद्धान्त—सभी म्लेच्छ सकलसंयम धारण कर सकते हैं—का खण्डन होता है।

इस विस्तृत विवेचनसे यही निष्कर्ष निकलता है कि सिद्धान्त-ग्रन्थोंके वाक्योंसे लेखकमहोदय-ने जो आशय निकाला है वह सर्वथा भ्रान्त है। अतः उनके आधार पर सभी मनुष्योंको उच्चगोत्री नहीं माना जा सकता। नीचे इसीके सम्बन्धमें एक और भी उदाहरण देकर इस चर्चाको समाप्त किया जायगा।

सर्वार्थसिद्धि अ० १, सू० ७ की व्याख्यामें एक वाक्य निम्न प्रकार है—"औपशमिकमपर्याप्त-कानां कथम्, इतिचेत्, चारित्रमोहोपशमेन सह मृतान्प्रति।" इसमें शङ्का की गई है कि अपर्याप्तकों-के औपशमिक सम्यक्त्व किस प्रकार हो सकता है और उसका समाधान किया गया है कि चारित्र-मोहनीयका उपशम करके जो जीव मरणको प्राप्त होते हैं, उनके अपर्याप्तक दशामें औपशमिक सम्यक्त्व हो सकता है। इस वाक्यकी रचना लब्धिसार-टीकाके उक्त प्रमाणकी तरह भी की जा सकती है, जो इस प्रकार होगी—"औपशमिक-मपर्याप्तकानां कथं भवतीति नाशंकितव्यम्, चारित्र-मोहोपशमेन सह मृतानां तत्सत्त्वाविरोधात्।" इसकी रूपरेखामें थोड़ासा अन्तर हो जाने पर भी सर्वार्थसिद्धिकी मूल पंक्ति और उसके इस परि-वर्तित रूपके अर्थमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। इसका भावार्थ इस प्रकार है—'अपर्याप्तकोंके औपशमिक सम्यक्त्व कैसे हो सकता है, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि चरित्रमोहनीयका उपशम करके मरणको प्राप्त हुए जीवोंके औपशमिक सम्यक्त्वके होनेमें कोई विरोध नहीं है।' इस भावार्थका आशय यदि लेखक महोदयके दृष्टि-कोणसे निकाला जाए तो वह इस प्रकार होगा—'इस पंक्तिमें आचार्य महाराजने यह बात बतलाई है कि जो भी अपर्याप्तक जीव हैं, या जो भी

* संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर, पृ० ३७

अपर्याप्तक देव हैं—क्योंकि उक्त पंक्तिका सम्बन्ध देवगतिसे है—उनके औपशमिक सम्यक्त्व होनेमें कोई शङ्का नहीं करनी चाहिए, सभी अपर्याप्तकों के औपशमिक सम्यक्त्व हो सकता है। और अपने इस सिद्धान्तको पाठकोंके हृदयमें बिठानेके लिए उन्होंने दृष्टान्तरूपमें कहा है कि जैसे चारित्रमोहनीय कर्मका उपशम करके मरणको प्राप्त होनेवाले जीवोंके औपशमिक सम्यक्त्व होनेमें कोई विरोध नहीं है अर्थात् जिस प्रकार उन जीवोंके औपशमिक सम्यक्त्व माना जाता है, उसी प्रकार सभी अपर्याप्तकोंके औपशमिक सम्यक्त्व हो सकता है।' इस आशयसे सर्वार्थसिद्धिकारके मतका तो कचूमर निकल ही जाता है, साथ ही साथ जैनसिद्धान्तकी कई मान्यताओंकी भी लगे हाथों हत्या हो जाती है। अतः इस प्रकारके आशयको दुराशय कहना ही उपयुक्त होगा। और दुराशयसे जो निष्कर्ष निकाला जाता है वह कभी भी तात्त्विक नहीं हो सकता। अतः सिद्धान्त-ग्रन्थोंके आधार पर तो यह बात साबित नहीं होती कि सभी मनुष्य उच्चगोत्री हैं। तथा श्रीविद्यानन्द स्वामीके मतसे भी यह बात प्रमाणित नहीं होती।

लेखक महोदयने श्रीविद्यानन्द स्वामीके मतसे भी यह सिद्ध करनेकी चेष्टा की है कि सभी मनुष्य उच्चगोत्री हैं। स्वामी विद्यानन्दने अपने श्लोकवार्तिक (अ०३सू०३७)में आर्य और म्लेच्छकी परिभाषा करते हुए लिखा है—'उच्चैर्गोत्रोदयादेरार्याः, नीचैर्गोत्रोदयादेश्च म्लेच्छाः।'' अर्थात् उच्चगोत्रके उदयके साथ साथ अन्य कारणोंके मिलनेसे आर्य और नीच गोत्रके उदयके साथ अन्य कारणोंके मिलनेसे म्लेच्छ होते हैं। तत्त्वार्थ सूत्रकी टीकाओंमें* आर्य के पाँच भेद किए हैं—क्षेत्रार्य, जात्यार्य, कर्मार्य, चारित्रार्य और दर्शनार्य। जो काशी, कोशल आदि आर्यदेशोंमें उत्पन्न हुए हैं, वे क्षेत्र-आर्य हैं। जो इक्ष्वाकु आदि आर्यवंशमें उत्पन्न हुए हैं वे जाति-आर्य हैं। जो असि, मसि, कृषि, विद्या, शिल्प और वाणिज्यके कार्योंको करते हैं तथा जो यजन,

---

*श्वेताम्बरसम्मत उमास्वातिके भाष्यमें आर्यपुरुषोंके ६ भेद बतलाए हैं—क्षेत्रार्य, जात्यार्य, कुलार्य, कर्मार्य शिल्पार्य और भाषार्य। १५ कर्मभूमियोंमें, उनमें भी भरत और ऐरावत क्षेत्रके साढ़े पचीस साढ़े पचीस आर्यदेशोंमें और विदेहक्षेत्रके १६० विजयों में (पिछली बात 'आया म्लेच्छाश्च' सूत्रके उक्त भाष्यमें तो नहीं पाई जाती—**सम्पादक**) जो मनुष्य पैदा होते हैं वे क्षेत्रार्य हैं। प्रज्ञापनासूत्रमें भरतक्षेत्रके साढ़े पचीस देशोंके नाम इस प्रकार गिनाए हैं—मगध,अङ्ग, बङ्ग, कलिङ्ग, काशी, कोसल, कुरु, कुशावर्त, पाञ्चाल, जङ्गल, सुराष्ट्र, विदेह, वत्स (कौशाम्बी) शाण्डिल्य, मलय, वत्स (वैराटपुर), वरण, दशार्ण, चेदि, सिंधु-सौवीर, शूरसेन, भङ्ग, पुरिवर्ता, कुणाल, लाट, और आधा केकय। जो इक्ष्वाकु, विदेह हरि, ज्ञात, कुरु, उग्र आदि वंशोंमें पैदा हुए हैं, वे जात्यार्य हैं। कुलकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, तथा अन्य जो विशुद्ध कुलमें जन्म लेते हैं वे कुलार्य हैं। यजन, याजन, पठन, पाठन, कृषि, लिपि, वाणिज्य, आदिसे आजीविका करने वाले कर्म-आर्य हैं। बुनकर, नाई, कुम्हार वगैरह जो अल्प आरम्भवाले और अगर्हित आजीविकासे जीवन पालन करते हैं, वे शिल्पार्य हैं। जो शिष्ट पुरुषोंके योग्य भाषामें बोलचाल आदि व्यवहार करते हैं, वे भाषार्य हैं। लें०

याजन, अध्ययन, अध्यापन आदि धर्माचरणमें संलग्न रहते हैं, ऐसे अव्रती, देशव्रती और महाव्रती कर्म-आर्य हैं। जो उत्कृष्ट चरित्रका पालन करते हैं वे चारित्र-आर्य हैं और सम्यग्दृष्टि दर्शन-आर्य हैं। लेखकमहोदयका कहना है कि—"असि मसि आदि कर्म क्षेत्र-आर्य और जाति-आर्य तो करते ही हैं, तब ये कर्म-आर्य म्लेच्छ खण्डोंमें रहनेवाले म्लेच्छ ही हो सकते हैं, जो आर्योंके समान उपर्युक्तकर्म करने लगे हैं, इसीसे कर्म-आर्य कहलाते हैं। ये कर्म-आर्य श्रीविद्यानन्दके मतानुसार उच्चगोत्री हैं, क्योंकि विद्यानन्दजीने आर्योंके उच्चगोत्रका उदय बतलाया है। इस प्रकार विद्यानन्द-स्वामीके मतानुसार भी यही परिणाम निकलता है कि अन्तरद्वीपजोंके सिवाय सभी मनुष्य उच्चगोत्री हैं।" यहाँ यह बतलादेना जरूरी है कि स्वामी विद्यानन्दने म्लेच्छोंके अन्तर्द्वीपज और कर्मभूमिज इस प्रकार दो भेद किए हैं और यवन आदिको कर्मभूमिज म्लेच्छ बतलाया है। तथा लेखक महोदयने स्वयं इस बातको लिखा है कि श्रीविद्यानन्द आचार्यने यवनादिकको म्लेच्छ-खण्डोद्भव म्लेच्छ माना है। इसपर लेखकमहोदयसे मेरा नम्र प्रश्न है कि यदि म्लेच्छखण्डोंमें उत्पन्न हुए म्लेच्छ ही कर्मार्य हैं तो विद्यानन्द-प्रमुख ग्रन्थकारोंने उन्हें म्लेच्छोंके भेदोंमें क्यों गिनाया ? या तो उन्हें आर्योंके भेदोंमें से कर्मार्य भेद निकाल देना चाहिए था, या फिर म्लेच्छके भेदोंमें कर्मभूमिज म्लेच्छ नहीं गिनाना चाहिए था। क्योंकि जब म्लेच्छखण्डोद्भव म्लेच्छ आर्यके भेदोंमें ही अन्तर्भूत हो जाते हैं, तो उन्हें म्लेच्छोंमें गिननेकी क्या आवश्यकता थी, और यदि उन्हें म्लेच्छ ही बतलाना था तो आर्यके भेदोंमें कर्मार्य भेद रखनेकी क्या आवश्यकता थी। तथा ऐसी अवस्थामें भारतवर्षके किसी भी खण्ड को म्लेच्छखण्ड कहना ही अज्ञानता है; क्योंकि जब वे सभी आर्य हैं और इसीलिए उच्चगोत्री भी हैं, तो फिर बेचारोंको इस बेहूदे नामसे पुकारने की वजह ही क्या है ? आर्योंकी तरह ही वे सब सकल संयम धारण कर सकते हैं, उन्हींकी तरह कृषि आदि कार्य करके अपना उदरपोषण करते हैं और सभी उच्च गोत्री भी हैं। विद्यानन्द म्लेच्छोंके नीचगोत्रका उदय बतलाते हैं और म्लेच्छ खण्डोद्भव लेच्छोंको म्लेच्छ बतलाते हैं, फिर भी उनके मतसे सभी मनुष्य उच्चगोत्री सिद्ध हो जाते हैं, यह एक अजीब पहेली है। असलमें लेखक महोदयको पहलेकी ही तरह गहरा भ्रम हो गया है और उसका एक कारण कर्मार्यकी समस्याको न सुलझा सकना भी ज्ञात होता है। अतः उनके इसभ्रमको दूर करने के लिए इस समस्याको सुलझाना आवश्यकप्रतीत होता है।

कर्मार्य कौन हैं ?

मैं ऊपर बतला आया हूँ कि आचार्योंने आर्य पुरुषोंके पाँच भेद गिनाये हैं और म्लेच्छ पुरुषोंके दो– अन्तर्द्वीपज और कर्मभूमिज। भरत, ऐरावत और विदेह कर्मभूमियाँ हैं, अर्थात् कर्मभूमिमें केवल आर्यखण्ड या म्लेच्छखण्ड ही सम्मिलित नहीं है, किन्तु आर्य और म्लेच्छ दोनों ही भूमियाँ सम्मिलित हैं। ऐसी परिस्थितिमें म्लेच्छोंके अन्तर्द्वीपज और म्लेच्छखण्डोद्भव भेद न

करके अन्तर्द्वीपज और कर्मभूमिज भेद करना निरर्थक प्रतीत नहीं होता। अर्थात् म्लेच्छखण्डोद्भवके स्थानमें कर्मभूमिज भेद रखनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि म्लेच्छखण्डके बाहिर भी म्लेच्छ पाये जाते हैं और उन्हें अन्तर्भूत करनेके लिये ही म्लेच्छोंके भेदोंमें कर्मभूमिज भेद गिनाया है। अब देखना यह है कि क्या शास्त्रोंसे यह बात प्रमाणित होती है कि आर्यखण्डमें भी म्लेच्छ रहते हैं? इसके लिये सबसे पहले तो जयधवला और लब्धिसार-टीकाके उन प्रमाणोंपर ही ध्यान देना चाहिये, जिन्हें लेखकमहोदयने अपने लेखमें उद्धृत किया है। उनमें स्पष्ट लिखा है कि चक्रवर्ती आदिके साथ बहुतसे म्लेच्छ आर्यखण्डमें आजाते हैं और उनका यहाँके लोगोंके साथ वैवाहिक आदि सम्बन्ध होजाता है। अर्थात्-वे आर्यखण्डमें आकर बसते हैं और यहाँके रीति-रिवाजों को अपना लेते हैं। तथा आदिपुराण, पर्व ४२ में, भरत महाराजने राजाओंको उपदेश देते हुए कहा है—

"स्वदेशेऽनक्षरम्लेच्छान्प्रजाबाधाविधायिनः।
कुलशुद्धिप्रदानाद्यैः स्वसात्कुर्यादुपक्रमैः ।७६।"

अर्थात्—आपके देशमें जो निरक्षर (बे पढ़े लिखे) म्लेच्छ प्रजाको कष्ट देते हों उन्हें कुलशुद्धि वगैरहके द्वारा अपनेमें मिलालेना चाहिये।

इस उल्लेखसे भी यह स्पष्ट है कि आर्यखण्ड में भी म्लेच्छ पुरुष आ बसते थे। तथा, श्लोकवार्तिक (पृ० ३५७) में कर्मभूमिज म्लेच्छोंको बतलाते हुए लिखा है—

कर्मभूमिभवा म्लेच्छाः प्रसिद्धा यवनादयः।
स्युः परे च तदाचारपालनाद् बहुधा जनाः॥

अर्थात्—यवनादिक कर्मभूमिज म्लेच्छ प्रसिद्ध हैं तथा मलेच्छोंके आचारका पालन करनेके कारण अन्य भी बहुतसे मनुष्य कर्मभूमिज म्लेच्छ हो जाते हैं। यहाँ पर ग्रन्थकारने यद्यपि यह स्पष्ट नहीं किया है कि ये म्लेच्छ यवन कौन हैं? किन्तु श्लोकके उत्तरार्द्धसे ऐसा प्रतीत होता है कि वे म्लेच्छखण्डोद्भव म्लेच्छ ही हैं*। परन्तु 'प्रसिद्धाः' पद यह बतलाता है कि आर्यखण्डके मनुष्य उन यवनोंसे अच्छी तरह परिचित हैं। और इस परिचयका कारण उन यवनोंका आर्यखण्डमें आना ही होसकता है। अतः इस लेखसे भी यह स्पष्ट है कि आर्यखण्डमें भी म्लेच्छ रहते थे।

अमृतचन्द्र सूरिने अपने तत्त्वार्थसारमें आर्य और म्लेच्छका परिचय देते हुए लिखा है—

आर्याखण्डोद्भवा आर्याः म्लेच्छाः केचिच्छकादयः
म्लेच्छखण्डोद्भवा म्लेच्छा अन्तरद्वीपजा अपि२१२

अर्थात्—जो आर्यखण्डमें उत्पन्न हों वे आर्य हैं। किन्तु कुछ शकादिक म्लेच्छ हैं। म्लेच्छखण्डमें उत्पन्न होनेवाले और अन्तरद्वीपज सब म्लेच्छ हैं। इस श्लोकको लेखक महोदयने भी उद्धृत किया है। किन्तु उन्होंने 'म्लेच्छखण्डोद्भवाः' और 'शकादयः'को क्रमशः विशेषण

* यदि वे म्लेच्छखण्डोद्भव म्लेच्छ ही हैं तो यह कथन अमृतचन्द्राचार्यके विरुद्ध जायगा; क्योंकि उन्होंने तत्त्वार्थसारके श्लोक नं० २१२ में, जो आगे उद्धृत है, शक-यवनादिकको आर्यखण्डोद्भव बतलाया है।

—सम्पादक

और विशेष्य बनाकर उसका अर्थ करते हुए लिखा है—"जो म्लेच्छखण्डोंमें उत्पन्न होनेवाले शकादिक हैं वे सब म्लेच्छ हैं।" किन्तु इस प्रकार अर्थ करनेमें 'केचित्' शब्दको छोड़ देना पड़ता है, जिसका उदाहरण प्रत्यक्षमें वर्तमान है। क्योंकि 'केचित्' शब्दको साथमें लेलेने पर अर्थ इस प्रकार होता है—'म्लेच्छखण्डोंमें उत्पन्न होने वाले कुछ शकादिक म्लेच्छ हैं।' इस अर्थमें म्लेच्छखण्डमें उत्पन्न होनेवाले सभी व्यक्ति म्लेच्छ सिद्ध नहीं होते, किन्तु कुछ शकादिक ही म्लेच्छ सिद्ध होते हैं, और ऐसा अर्थ करना आगम-बाधित है, इसीसे बा० सूरजभानुजीको 'केचित्' शब्दका अर्थ करना छोड़ देना पड़ा है, जो ठीक नहीं है। अतः 'म्लेच्छाः केचिच्छकादयः' और 'म्लेच्छखण्डोद्भवा म्लेच्छाः' इन दोनों पदोंको एकमें न मिलाकर स्वतन्त्र ही रखना चाहिए। तभी 'केचित्' शब्दकी सार्थकता भी सिद्ध होती है और आचार्य अमृतचन्द्रका लेख पूर्वाचार्योंके कथनके प्रतिकूल भी नहीं जाता। असलमें बात यह है कि आर्यखण्डमें उत्पन्न होनेवालोंको आर्य बतलाते समय आचार्य महाराजकी दृष्टिमें आर्यखण्डमें आकर बस जानेवाले शकादिक भी थे*। अतः स्पष्टीकरण के लिए उन्होंने लिख दिया कि कुछ शकादिक म्लेच्छ हैं। इस प्रकार आचार्य अमृतचन्द्रके लेखसे भी यह सिद्ध है कि आर्यखण्डमें म्लेच्छ भी आबसते थे। आकर बसे हुए इन म्लेच्छोंमेंसे जो म्लेच्छ यहाँके रीति-रिवाज अपना लेते थे और आर्योंकी ही तरह कर्म करने लगते थे वे कर्म-आर्य कहे जाते थे; क्योंकि आर्यखण्डमें उत्पन्न न होनेके कारण वे क्षेत्रार्य नहीं कहे जा सकते थे और जात्यार्य तो हो ही कैसे सकते थे। अतः वे कर्म-आर्य कहलाते थे। किन्तु आर्यखण्ड में आकर भी जो अपने पुश्तैनी म्लेच्छ आचारको नहीं छोड़ते थे वे म्लेच्छ के म्लेच्छ रहते थे। इस प्रकार कर्म-आर्यकी समस्या सरलतासे सुलझ जाती है।

किन्तु आचार्य विद्यानन्दने आर्य और म्लेच्छ की जो परिभाषा दी है, जिसपर सम्पादक 'अनेकान्त' ने भी एक टिप्पणी की है, वह समञ्जस प्रतीत नहीं होती; क्योंकि उनकी परिभाषाके अनुसार तो सभी आर्य, भले ही वे केवल क्षेत्रार्य हों, उच्चगोत्री ठहरते हैं और सभी म्लेच्छ, जिनमेंसे कुछ चक्रवर्ती आदिके साथ आर्यखण्डमें आकर सकल-संयम धारण कर सकनेकी पात्रता रखते हैं, नीच-गोत्री ठहरते हैं। अस्तु।

* म्लेच्छखण्डोंसे आर्यखण्डमें आकर बसने वाले स्वयं 'आर्यखण्डोद्भव' नहीं कहलाते हैं—म्लेच्छखण्डोद्भव ही कहलाते हैं—भले ही आगे चलकर उनकी सन्तान आर्यखण्डमें उत्पन्न होनेके कारण 'आर्यखण्डोद्भव' कहलाए। 'केचित्' शब्दका अर्थ साथमें लेते हुए 'आर्यखण्डोद्भव' पद 'आर्याः' और 'म्लेच्छाः' दोनों पदोंके साथ समानरूपसे सम्बद्ध है। इसके सिवाय, शक-यवनादिक लोग जिन देशोंके आदिम निवासी हैं वे आर्यखण्डके ही प्रदेश हैं—शास्त्र-कथित पाँच म्लेच्छखण्डोंके नहीं; जैसा कि विवादापन्न लेखमें भी आर्यखण्डकी हद बतलाते हुए प्रकट किया गया है। अतः शकादिकको म्लेच्छखण्डोंसे आकर बसने वाले कहना ठीक नहीं, और न वह आचार्य महोदयका अभिप्राय है।

—सम्पादक

इस लम्बी चर्चासे पाठक जान सकेंगे कि जिन महान् ग्रन्थोंके आधार पर बा० सूरजभानुजी ने अन्तरद्वीपजोंके सिवाय सभी मनुष्योंको उच्च-गोत्री सिद्ध करनेका प्रयत्न किया था, उनमें से कोई भी ग्रन्थ उनकी इस नवीन खोजका साथ नहीं देता। उनका यह प्रयत्न कहाँ तक सराहनीय है, इसका निर्णय करनेका भार तो मैं पाठकों पर ही छोड़ देना उचित समझता हूँ। किन्तु इतना अवश्य लिख देना चाहता हूँ कि शास्त्रके श्रद्धानी हों या अश्रद्धानी, दोनोंने ही शास्त्रके साथ न्याय करनेकी चेष्टा बहुत कम की है। अवश्य ही ऐसा करनेमें आन्तरिक कारण उनकी सदाशयता रही हो। किन्तु मैं तो इसे सभ्य भाषामें प्यारका अत्याचार ही कहूँगा। ऐसा ही अत्याचार बाबू सूरजभानुजीने भी किया है। वृद्धावस्थामें इस प्रकारके अत्याचार न करनेका उनसे अनुरोध करते हुए मैं केवल एक बातकी और समीक्षा करके इस लेखको समाप्त करूँगा।

बाबूजीने लिखा है—'जब नीचगोत्रका अस्तित्व केवलज्ञान प्राप्त होनेके बाद सयोगकेवली और और अयोगकेवलीके भी बना रहता है और उससे उन आप्त पुरुषोंके सच्चिदानन्द स्वरूपमें कुछ भी बाधा नहीं आती तब इस बातमें कोई सन्देह नहीं रहता कि नीच या उच्च गोत्रकर्म अपने अस्तित्व से जीवोंके भावों पर कोई असर नहीं डालता है। है।' लेखक महोदयके इस कथनमें मैं इतना और जोड़ देना चाहता हूँ कि यह विशेषता केवल गोत्र-कर्म में ही नहीं है किन्तु कर्ममात्रमें है। किसी भी कर्मका अस्तित्वमात्र जीवके भावों वगैरह पर कोई असर नहीं डालता, उसके लिए उस कर्मका उदय होना आवश्यक है। इसीसे कर्मकी तीन दशाएँ बतलाई गई हैं—बन्ध, उदय, और सत्ता। बन्ध-दशा और सत्तादशामें कर्म अपना कार्य करनेमें अशक्त रहता है। उदयकालमें ही उसमें क्रिया-शीलता आती है। अतः गोत्रकर्म भी अपनी उदय-दशामें ही जीवके भावोंपर असर डालता है।

नोट—

इस लेखके लेखक शास्त्रीजी मेरे मित्र हैं। लेखमें मुझे मेरे कर्तव्यकी ओर जो उन्होंने सावधान किया है, उसके लिये मैं उनका बहुत आभारी हूँ। उसी चेतावनी एवं उसी सावधानीके फलस्वरूप, अवकाशादिकी अनुकूलता न होनेपर भी मुझे इस लेखपर कुछ नोटोंके लगानेका परिश्रम करना पड़ा है। लेख परसे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि श्रीविद्यानन्दाचार्यके आर्य-म्लेच्छ-विषयक जिस स्वरूप-कथनको मैंने सदोष बतलाया था उसे आपने भी सदोष ही स्वीकार किया है तथा उसकी सदोषता-को थोड़ा व्यक्त भी किया है। इससे सम्पूर्ण म्लेच्छों अथवा म्लेच्छमात्रके नीचगोत्री होनेकी जो एक समस्या खड़ी हुई थी उसका हल होता हुआ नज़र आता है। साथ ही, सम्पूर्ण आर्यों तथा आर्यमात्रके उच्चगोत्री होनेमें भी रुकावट पैदा होती है। और इस तरह यह बात सामने आती है कि किसीका आर्य अथवा म्लेच्छ होना भी ऊँच-नीच गोत्रका कोई परिचायक नहीं है। अथवा दूसरे शब्दोंमें यों कहिये कि यदि आर्योंमें ही ऊँचगोत्रका व्यवहार माना जाय तो वह ठीक

नहीं है । इसी तरह म्लेच्छोंमें ही नीचगोत्रका व्यवहार मानना भी ठीक नहीं है। अच्छा होता यदि शास्त्रीजी धवलसिद्धान्तके आधार पर लिखे हुए मेरे उस लेखका भी विचार साथमें कर डालते जो 'ऊँचगोत्रका व्यवहार कहाँ ?' इस शीर्षकके साथ 'अनेकान्त'की दूसरी किरणमें प्रकाशित हुआ है; क्योंकि आपके इस लेखविषयका—समस्त कर्मभूमिज मनुष्योंके सिद्धान्तग्रन्थानुसार ऊँचगोत्री होनेके विचारका—उस लेखके साथ पूरा पूरा सम्बन्ध है। अनेकान्तकी उक्त किरण भी इस लेखके भेजनेसे कई रोज़ पहले आपको मिल चुकी होगी तथा आवश्यकता होनेपर आप और भी कुछ दिनके लिये इस लेखका भेजना रोक सकते थे। उस लेखपर आपका विचार आजाने पर मुझे भी प्रकृत विषयपर विचार करनेका यथेष्ट अवसर मिलता। आशा है शास्त्रीजी अब उक्त लेखपर भी अपना विचार शीघ्र भेज देनेकी कृपा करेंगे।

—सम्पादक।

'समृद्ध अवस्थामें तो नम्रता और विनयकी विस्फूर्ति करो, लेकिन हीन स्थितिके समय मान-मर्यादाका पूरा खयाल रक्खो।'

'ज़र्मानकी खासियतका पता उसमें उगने वाले पौधेसे लगता है; ठीक इसी तरह, मनुष्यके मुखसे जो शब्द निकलते हैं उनसे उसके कुलका हाल मालूम हो जाता है।'

'अच्छी संगतसे बढ़कर आदमीका सहायक और कोई नहीं है। और कोई भी चीज़ इतनी हानि नहीं पहुंचाती जितनी कि बुरी सङ्गत।'

—तिरुवल्लवर।

पृष्ठ १८६ का शेष

और दी है और राजवार्तिकमें 'अर्यन्ते' का अर्थ 'सेव्यन्ते' भी दिया है। यद्यपि यह आर्य शब्दकी निरुक्ति है—लक्षण नहीं। फिर भी इसके द्वारा इतना प्रकट किया गया है कि जो गुणोंके द्वारा तथा गुणियोंके द्वारा सेवा किये जाएँ, प्राप्त हों वा अपनाए जायँ वे सब 'आर्य' हैं। और इस तरह गुणीजन तथा गुणीजन जिन्हें अपनालें वे अगुणी भी सब आर्य ठहरते हैं। शक-यवनादिकोंमें भी काफी गुणीजन होते हैं—बड़े बड़े विद्वान, राजा तथा राजसत्ता चलाने वाले मंत्री आदिक भी होते हैं—वे सब आर्य ठहरेंगे। और जिन गुणहीनों तथा अनक्षर म्लेच्छोंको आदिपुराणके निम्न वाक्यानुसार कुल-शुद्धि आदिके द्वारा आर्य लोग अपना लेंगे, वे भी आर्य होजावेंगे—

स्वदेशेऽनक्षरम्लेच्छान् प्रजाबाधाविधायिनः।
कुलशुद्धिप्रदानाद्यैः स्वसात्कुर्यादुपक्रमैः॥

इससे आर्य-म्लेच्छकी समस्या सुलझनेके बजाय और भी ज्यादा उलझ जाती है। अतः विद्वानोंसे निवेदन है कि वे इस समस्याको हल करनेका पूरा प्रयत्न करें—इस बातको खोज निकालें कि वास्तवमें 'आर्य' किसे कहते हैं और 'म्लेच्छ' किसे? दोनोंका व्यावर्तक लक्षण क्या है? जिससे सब गड़बड़ मिट कर सहज में ही सबको आर्य और म्लेच्छका परिज्ञान होसके।

वीरसेवामन्दिर सरसावा,
ता० १७-१२-१९३८

कमनीय कामना

[ले०—उपाध्याय कविरत्न श्री अमरचन्द्र जी]

[शार्दूल विक्रीडित]

पापाचार न एक भी जगत में,
होवे कहीं भी कभी;
बूढ़े, बाल, युवा, तथा युवति हों,
धर्मके—प्रेमी सभी।
पृथ्वी का हर एक मर्त्य पशु से,
साक्षात् बने देवता;
पावे पामर पापमूर्ति जगती,
स्वर्लोक से श्रेष्ठता।

जैनधर्मके मान्य ग्रन्थोंमें इतना स्पष्ट और विशद विवेचन होनेपर भी उसके अनुयायी आज इतने संकीर्ण और अनुदार विचारके क्यों हैं ? इसका एक कारण तो यह है कि, वर्तमानमें जैनधर्मके अनुयायी केवल वैश्य रह गए हैं, और वैश्य स्वभावतः कृपण तथा क़ीमती वस्तुको प्रायः छुपाकर रखनेवाले होते हैं। इसलिए प्राणोंसे भी अधिक मूल्यवान् धर्मको खुदके उपयोगमें लाना तथा दूसरोंको देना तो दूर, अपने बन्धुओंसे भी छीन-झपट कर उसे तिजोरीमें बन्द रखना चाहते हैं। उनका यह मोह और स्वभाव उन्हें इतना विचारनेका अवसर ही नहीं देता कि धर्मरूपी सरोवर बन्द रखनेसे शुष्क और दुर्गन्धित होजायगा। वैश्योंसे पूर्व जैनसंघकी बागडोर क्षत्रियोंके हाथमें थी। वे स्वभावतः दानी और उदार होते हैं। इसलिए उन्होंने जैनधर्म जितना दूसरोंको दिया उतना ही उसका विकास हुआ। भारतके बाहर भी जैनधर्म खूब फला फूला। जैनधर्मको जबसे क्षत्रियोंका आश्रय हटकर वैश्योंका आश्रय मिला, तबसे वह क्षीरसागर न रहकर गाँव का पोखर-तालाब बन गया है। उसमें भी साम्प्रदायिक और पार्टियोंके भेद-उपभेद रूपी कीटाणुओंने सड़ाँद (महादुर्गन्धि) उत्पन्न करदी है, जिसके कारण कोई भी बाहरी आदमी उसके पास तक आनेका साहस नहीं करता।

यह ठीक है कि अपराध करने पर दण्ड दिया जाय—इसमें किसीको विवाद नहीं; परन्तु दण्ड देनेकी प्रणालीमें अन्तर है। एक कहते हैं—अपराधीको धर्मसे प्रथक कर दिया जाय, यही उसकी सज़ा है, उसके संसर्गसे धर्म अपवित्र हो जायगा। दूसरे कहते हैं— जैसे भी बने धर्म-च्युतको धर्म में स्थिर करना चाहिए, जिससे वह पुनः सन्मार्ग पर लग जाय। ऐसा न करनेसे अनाचारियोंकी संख्या बढ़ती चली जायगी और फिर धर्म-निष्ठों-का रहना दूभर हो जायगा। भला जिस प्रतिमा का गन्धोदक लगानेसे अपवित्र शरीर पवित्र होते हैं, वही प्रतिमा अपवित्रोंके छूनेसे अपवित्र क्योंकर हो सकती है ? जिस अमृतमें संजीवनी शक्ति व्याप्त है, वह रोगीके छूनेसे विष कैसे हो सकता है ? रोगीके लिए ही तो अमृतकी आवश्यकता है। पारस पत्थर लोहेको सोना बना सकता है—लोहे के स्पर्शसे स्वयं लोहा नहीं बनता।

खेद है कि हम सब कुछ जानते हुए भी अन्ध प्रणालीका अनुसरण कर रहे हैं। एक वे भी जातियाँ हैं जो राजनैतिक और धार्मिक अधिकार पानेके लिए हर प्रकारके प्रयत्न और हरेक

ढंगसे दूसरों को अपनाकर अपनी संख्या बढ़ाती जारही हैं, और एक हमारी जाति है जो बढ़ना तो दूर निरन्तर घटती जारही है। भारतके सात करोड़ अछूतोंकी जब हिन्दु-धर्म छोड़ देनेकी अफ़वाह उड़ी तो, मिस्रसे मुसलमान, अमेरिकासे ईसाई, जापानसे बौद्ध और पंजाबसे सिक्ख प्रतिनिधि अछूतोंके पास पहुँचे और सबने अपने अपने धर्मोंमें उन्हें दीक्षित करनेका प्रयत्न किया, किन्तु जैनियोंकी ओरसे प्रतिनिधि पहुँचना तो दरकिनार, ऐसी आशा रखना भी व्यर्थ साबित हुआ।

लेखानुसार जैन-समाजसे २२ जैनी प्रतिदिन घटते जारहे हैं और हम उफ़ तक भी नहीं करते—चुपचाप साम्यभावसे देख रहे हैं। एक भी सहधर्मीके घटने पर जहाँ हमारा कलेजा तड़प उठना चाहिये था—जब तक उसकी पूर्ति न करलें; तब तक चैन नहीं लेना चाहिये था—वहाँ हम निश्चेष्ट बैठे हुए हैं! देवियोंके अपहरण और पुरुषोंके धर्म-विमुख होनेके समाचार नित्य ही सुनते हैं और सर धुनकर रह जाते हैं! सच बात तो यह है कि ये सब काण्ड अब इतनी अधिक संख्यामें होने लगे हैं कि उनमें हमें कोई नवीनता ही दिखाई नहीं देती—हमारी आँखें और कान इन सब बातों के देखने सुननेके अभ्यस्त हो गए हैं।

जैन-समाजकी इस घटतीका जिम्मेवार कौन है? जैनसमाजके मिटानेका यह कलङ्क किसके सिर मढ़ा जायगा? वास्तवमें जैन-समाजकी घटती के जिम्मेवार वे हैं, जिन्होंने समाजकी उत्पादन-शक्तिको क्षीण करके उसका उत्पत्ति स्रोत बन्द किया है और मिटानेका कलंक उनके सर मढ़ा जायगा, जिन्होंने लाखों भाइयोंको जाति-च्युत करके धर्म-विमुख कर दिया है और रोज़ाना किसी न किसी भाईको समाजसे बाहर निकाल रहे हैं!

हायरे अनोखे दण्ड-विधान !!! तनिक किसी से जाने या अनजानेमें भूल हुई नहीं कि वह समाजसे प्रथक! मन्दिरमें दर्शन करते हुए ऊपरसे कबूतरका अण्डा गिरा नहीं कि उपस्थित सब दर्शनार्थी जातिसे खारिज! गाड़ीवानकी असावधानीसे पहियेके नीचे कुत्ता दबकर मर गया और गाड़ीमें बैठी हुई सारी सवारियाँ जातिसे च्युत! क्रोधावेशमें स्त्री कुएँमें गिरी और उसके कुटुम्बी जातिसे खारिज! किसी पुरुषने किसी विधवा या सधवा स्त्रीपर दोषारोप किया नहीं कि उस स्त्री सहित सारे कुटुम्बी समाजसे बाहर !!

उक्त घटनाएँ कपोलकल्पित नहीं, बुन्देलखण्डमें, मध्यप्रदेशमें, और राजपूतानेमें, ऐसे बदनसीब रोजानाही जातिसे निकाले जाते हैं। कारज या नुक्ता न करने पर अथवा पंचोंसे द्वेष होजाने पर भी समाजसे प्रथक होना पड़ता है। स्वयं लेखक ने कितनीही ऐसी कुल-बधुओंकी आत्म-कथाएँ सुनी हैं जो समाजके अत्याचारी नियमोंके कारण दूसरोंके घरोंमें बैठी हुई आहें भर रही हैं। जाति-बहिष्कार के भयने मनुष्योंको नारकी बना दिया है। इसी भयके कारण भ्रूण हत्याएँ, बाल हत्याएँ आत्म-हत्याएँ जैसे अधर्म कृत्य होते हैं। तथा स्त्रियाँ और पुरुष विधर्मियोंके आश्रय तकमें जानेको मजबूर होते हैं।

सच है—

नशा पिलाके गिराना तो सबको आता है।
मज़ा तो जब है कि गिरतोंको थामले साक़ी ॥

—इक़बाल

गिरते हुओंको ठोकर मार देना, मुसीबतज़दोंको और चर्का लगा देना, बेऐबोंको ऐब लगादेना, भूले हुओंको गुमराह कर देना, नशा पिलाके गिरादेना, आसान है और यह कार्य तो प्रायः सभी कर सकते हैं; किन्तु पतित होते हुए–गिरतेहुए–को सम्हाल लेना, बिगड़ते हुएको बनादेना, धर्म-विमुखको धर्मारूढ़ करना, बिरलोंका ही काम है। और यही बिरलेपनका कार्य जैनधर्म करता रहा है। तभीतो वह पतित-पावन और अशरण-शरण कहलाता रहा है।

जब जैन-धर्मको राज-आश्रय नहीं रहा और इसके अनुयायियोंको चुन-चुन कर सताया गया। उनका अस्तित्व खतरेमें पड़ गया, तब नव-दीक्षित करनेकी प्रणालीको इसलिए स्थगित कर दिया गया, ताकि राजधर्म-पोषित जातियाँ अधिक क्षुभित न होने पाएँ और जैनधर्मानुयायियोंसे शूद्रों तथा म्लेच्छों जैसा व्यवहार न करने लगें—नास्तिक और अनार्य जैसे शब्दोंसे तो वे पहले ही अलंकृत किए जाते थे। अत: पतित और निम्न श्रेणीके लिए तो दरकिनार जैनेतर उच्च वर्गके लिए भी जैन-धर्मका द्वार बन्द कर दिया गया ! द्वार बन्द न करते तो और करते भी क्या ? जैनोंको ही बलात् जैनधर्म छोड़ने के लिए जब मजबूर किया जारहा हो, शास्त्रोंको जलाया जा रहा हो, मन्दिरोंको विध्वंस किया जा रहा हो। तब नव-दीक्षा-प्रणालीका स्थगित करदेनाही बुद्धिमत्ता थी। उस समय राज्य-धर्म—ब्राह्मणधर्म—जनताका धर्म बन गया। उसकी संस्कृति आदिका प्रभाव जैनधर्म पर पड़ना अवश्यम्भावी था। बहुसंख्यक, बलशाली और राज्यसत्ता वाली जातियोंके आचार-विचारकी छाप अन्य जातियों पर अवश्य पड़ती है। अतः जैन-समाजमें भी धीरे-धीरे धार्मिक-संकीर्णता एवं अनुदारताके कुसंस्कार घर कर गए। उसनेभी दीक्षा-प्रणालीका परित्याग करके जातिवाहिष्कार जैसे घातक अवगुणको अपनालिया ! जो सिंह मजबूरन भेड़ोंमें मिला था, वह सचमुच अपनेको भेड़ समझ बैठा !!

वह समयही ऐसा था उस समय ऐसाही करना चाहिए था; किन्तु अब वह समय नहीं है। अब धर्मके प्रसारमें किसी प्रकारका खतरा नहीं है। धार्मिक पक्षपात और मज़हबी दीवानगीका समय बहगया। अब हरएक मनुष्य सत्यकी खोज में है। बड़ी सरलतासे जैनधर्मका प्रसार किया जा सकता है। इससे अच्छा अनुकूल समय फिर नहीं प्राप्त हो सकता। जितने भी समाजसे बहिष्कृत समझे जा रहे हैं, उन्हें गले लगाकर पूजा-प्रक्षाल का अधिकार देना चाहिए। और नव-दीक्षाका पुराना धार्मिक रिवाज पुनः जारी कर देना चाहिए। वर्त्तमानमें सराक, कलार आदि कई प्राचीन जातियाँ लाखोंकी संख्यामें हैं। जो पहले जैन थीं और अब मर्दुम शुमारीमें जैन नहीं लिखी जाती हैं; उन्हें फिरसे जैनधर्ममें दीक्षित करना चाहिए। इनके अलावा महावीरके भक्त ऐसे लाखों गूजर मीने आदि हैं जो महवीरके नामपर जान देसकते

हैं; किन्तु वह जैनधर्मसे अनभिज्ञ हैं वे प्रयत्न करने पर—उनके गाँवोंमें जैन रात्रिपाठशालाएँ खोलने पर—वे आसानीसे जैन बनाए जा सकते हैं। हमारे मन्दिरों और संस्थाओंमें लाखों नौकर रहते हैं; मगर वह जैन नहीं हैं। जैनोंको छोड़कर संसारके प्रत्येक धार्मिक स्थानमें उसी धर्मका अनुयायी रह सकता है; किन्तु जैनोंके यहाँ उनकी कई पुश्तें गुज़र जाने पर भी वे अजैन बने हुए हैं। उनको कभी जैन बनानेका विचार तक नहीं किया गया। जलमें रहकर मछली प्यासी पड़ी हुई है।

जिन जातियोंके हाथका छुआ पानी पीना अधर्म समझा जाता है,उनमें लोग धड़ाधड़ मिलते जा रहे हैं। फिर जो जैन-समाज खान-पान रहन सहनमें आदर्श है, उच्च है और अनेक आकर्षित उसके पास साधन हैं, साथही जैनधर्म जैसा सन्मार्ग प्रदर्शक धर्म है; तब उसमें सम्मलित होने में लोग अपना सौभाग्य क्यों नहीं समझेंगे ?

ज़माना बहुत नाजुक होता जा रहा है। सबल निर्बलोंको खाए जा रहे हैं। बहु संख्यक जातियाँ अल्प संख्यक जातियों के अधिकारोंको छीनने और उन्हें कुचलनेमें लगी हुई हैं। बहुमतका बोल बाला है। जिधर बहुमत है उधरही सत्य समझा जा रहा है। पंजाब और बंगालमें मुस्लिम मिनिस्ट्री है, मुस्लिम बहुमत है तो हिंदुओंके अधिकारोंको कुचला जारहा है; जहाँ काँग्रेसका बहुमत है वहाँ उसका बोलबाला है। जिनका अल्पमत है वे कितनाही चीखें चिल्लाएँ, उनकी सुनवाई नहीं हो हो सकती। इसलिए सभी अपनी जाति-संख्या बढ़ानेमें लगे हुए हैं। समय रहते हमें भी चेत जाना चाहिए। क्या हमने कभी सोचा है कि जिस तरह हिन्दु-मुसलमानों या सिक्खोंके साम्प्रदायिक संघर्ष होते रहते हैं यदि उसी प्रकार कोई जाति हमें मिटानेको भिड़ बैठी तब उस समय हमारी क्या स्थिति होगी ? वही न ? जो आज यहूदियों और अन्य अल्पसंख्यक निर्बल जातियोंकी हो रही है। अतः हमें अन्य लोगोंकी तरह अपनी एक ऐसी सुसंगठित संस्था खोलनी चाहिए जो अपने लोगों को संरक्षण एवं स्थितिकरण करती हुई दूसरोंको जैनधर्ममें दीक्षित करनेका सातिशय प्रयत्न करे। ताकि हम पूर्ण उत्साह एवं दृढ़ संकल्पके साथ कह सकें—

आज जो हमसे ज़ियादा हैं वो कल कम होंगे।
जब कमर बाँधके उट्ठेंगे हमी हम होंगे॥

ले चुके अँगड़ाइयाँ ऐ गेसुओ वालो उठो।
नूर का तड़का हुआ, ऐ शब के मतवालो उठो॥
—"बर्क़" देहल्वी।

प्रभाचन्द्रके समयकी सामग्री

[द्वितीय लेख]

[लेखक—पं० महेन्द्रकुमार न्याय-शास्त्री,]

व्योमशिवाचार्यका समयादिक

राजशेखरने प्रशस्तपादभाष्यकी 'कन्दली' टीकाकी 'पंजिका' में प्रशस्तपादभाष्यकी चार टीकाओंका इस क्रमसे निर्देश किया है—सर्वप्रथम 'व्योमवती' (व्योमशिवाचार्य), तत्पश्चात् 'न्यायकन्दली' (श्रीधर), तदनन्तर 'किरणावली' (उदयन) और उसके बाद 'लीलावती' (श्रीवत्साचार्य)। ऐतिह्यपर्यालोचनासे भी राजशेखरका यह निर्देशक्रम संगत जान पड़ता है। इस लेखमें हम व्योमवतीके रचयिता व्योमशिवाचार्यके विषयमें कुछ विचार प्रस्तुत करते हैं।

व्योमशिवाचार्य शैव थे। अपनी गुरु-परम्परा तथा व्यक्तित्वके विषयमें स्वयं उन्होंने कुछ भी नहीं लिखा। पर रणिपद्रपुर रानोद, वर्त्तमान नारोदग्राम की एक वापी-प्रशस्ति * से इनकी गुरु-परम्परा तथा व्यक्तित्व-विषयक बहुतसी बातें मालूम होती हैं, जिनका कुछ सार इस प्रकार है—

'कदम्बगुहाधिवासी मुनीन्द्रके शङ्खमठिकाधिपति नामक शिष्य थे, उनके तेरम्बिपाल, तेरम्बिपालके आमर्दकतीर्थनाथ और आमर्दकतीर्थनाथके पुरन्दरगुरु नामके अतिशय प्रतिभाशाली तार्किक शिष्य हुए'। पुरन्दरगुरुने कोई ग्रन्थ अवश्य लिखा है; क्योंकि उसी प्रशस्ति-शिलालेखमें अत्यन्त स्पष्टतासे यह उल्लेख है कि—'इनके वचनोंका खण्डन आज भी बड़े बड़े नैयायिक नहीं कर सकते ×।' स्याद्वादरत्नाकर आदि ग्रन्थोंमें पुरन्दरके नामसे कुछ वाक्य उद्धृत मिलते हैं, सम्भव है वे पुरन्दर ये ही हों। 'इन पुरन्दरगुरुको **अवन्तिवर्मा** राजा उपेन्द्रपुरसे अपने देशको ले गया। अवन्तिवर्माने इन्हें अपना राज्यभार सौंप कर शैवदीक्षा धारण की और इस तरह अपना जन्म सफल किया। पुरन्दरगुरुने मत्तमयूरपुरमें एक बड़ा मठ स्थापित किया। दूसरा मठ रणिपद्रपुरमें भी इन्होंने स्थापित किया था। पुरन्दरगुरुका **कवचशिव** और कवचशिवका **सदाशिव** नामक शिष्य हुआ, जो कि रणिपद्र नामके तापसाश्रम में तपः साधन करता था। सदाशिवका शिष्य **हृदयेश** और हृदयेशका शिष्य **व्योमशिव** हुआ, जोकि अच्छा प्रभावशाली, उत्कट प्रतिभासम्पन्न और समर्थ विद्वान था।' व्योमशिवाचार्यके प्रभावशाली होनेका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि इनके नामसे ही व्योममन्त्र प्रचलित हुए थे*। 'ये

* प्राचीन लेखमाला द्वि० भाग, शिलालेख नं० १०८।

× यस्याधुनापि विबुधैरितिकुल्यशांसि, व्याहन्यते न वचनं नयमार्गविद्भिः॥

* "अस्य व्योमपाददिमन्त्र रचनाख्याताभिधानस्य च।"—वापीप्रशस्तिः

सदनुष्ठानपरायण, मृदु-मितभाषी, विनय-नय-संयमके अद्भुतस्थान तथा अप्रतिम प्रतापशाली थे। इन्होंने रणिपद्रपुरका तथा रणिपद्रमठका उद्धार एवं सुधार किया था और वहीं एक शिवमन्दिर तथा वापीका भी निर्माण कराया था ।' उसी वापी-पर उक्त प्रशस्ति खुदी है ।

इनकी विद्वत्ताके विषयमें शिलालेखके ये श्लोक पर्याप्त हैं—

"सिद्धान्तेषु महेश एष नियतो न्यायेऽक्षपादो मुनिः ।
गंभीरे च कणाशिनस्तु कणभुक्शास्त्रे श्रुतौ जैमिनिः ॥
सांख्येऽनल्पमतिः स्वयं च कपिलो लोकायते सद्गुरुः ।
बुद्धो बुद्धमते जिनोक्तिषु जिनः को वाथ नायं कृती ॥
यद्भूतं यदनागतं यदधुना किंचित्क्वचिद्वर्त (र्त) ते ।
सम्यग्दर्शनसम्पदा तदखिलं पश्यन् प्रमेयं महत् ॥
सर्वज्ञः स्फुटमेष कोपि भगवानन्यः क्षितौ सं(शं)करः ।
धत्ते किन्तु न शान्तधीर्विषमदृग्रौद्रं वपुः केवलम् ॥"

इनमें बतलाया है कि 'व्योमशिवाचार्य—शैव-सिद्धान्तमें स्वयं शिव, न्यायमें अक्षपाद, वैशेषिक शास्त्रमें कणाद, मीमांसामें जैमिनि, सांख्यमें कपिल, चार्वाक-शास्त्रमें बृहस्पति, बुद्धमतमें बुद्ध तथा जिनमतमें स्वयं जिनके समान थे। अधिक क्या; अतीतानागतवर्तमानवर्ती यावत प्रमेयोंको अपनी सम्यग्दर्शनसम्पत्तिसे स्पष्ट देखने जानने वाले सर्वज्ञ थे और ऐसा मालूम होता था कि मात्र विषमनेत्र (तृतीयनेत्र) तथा रौद्रशरीर को धारण किए बिना वे पृथ्वी पर दूसरे शङ्कर भगवान् ही अवतरे थे। इनके गगनेश, व्योमशम्भु, व्योमेश, गगनशशिमौलि आदि नाम भी थे।

शिलालेखके आधारसे समय—व्योमशिवके पूर्ववर्ती चतुर्थगुरु पुरन्दरको अवन्तिवर्मा राजा अपने नगरमें लेगया था। अवन्तिवर्माके चाँदीके सिक्कों पर 'विजितावनिरवनिपतिश्रीअवन्तिवर्मा दिवं जयति" लिखा रहता है तथा संवत् २५० पढ़ा गयाहै *। यह संवत् संभवतः गुप्त-संवत् है। डा० फ्लीटके मतानुसार गुप्तसंवत् ई० सन् ३२० की २६ फर्वरी को प्रारम्भ होता है †। अतः ५७० ई०में अवन्तिवर्माका अपनी मुद्राको प्रचलित करना इतिहाससिद्ध है। इस समय अवन्तिवर्मा राज्य कर रहे होंगे तथा ५७० ई०के आसपास ही वे पुरन्दरगुरुको अपने राज्यमें लाए होंगे। ये अवन्तिवर्मा मौखरी वंशीय राजा थे। शैव होने के कारण शिवोपासक पुरन्दरगुरुको अपने यहाँ लाना भी इनका ठीकही था। इनके समय-संबन्धमें दूसरा प्रमाण यहहै कि--बैसवंशीय राजा हर्षवर्द्धन-की छोटी बहिन राज्यश्री अवन्तिवर्माके पुत्र ग्रहवर्माको विवाही गई थी। हर्षका जन्म ई०५९० में हुआ था। राज्यश्री उससे १ या २ वर्ष छोटी थी। ग्रहवर्मा हर्षसे ५-६ वर्ष बड़ा जरूर होगा। अतः उसका जन्म ५८४ ई० के करीबका मानना चाहिए। राज्यकाल ६०० से ६०६ तक रहा है। अवन्तिवर्मा का यह इकलौता लड़का था। अतः मालूम होता है कि ५८४ में अर्थात् अवन्तिवर्मा-की ढलती अवस्थामें यह पैदा हुआ होगा। अस्तु; यहाँ तो इतना ही प्रयोजन है कि ५७० ई० के आसपास ही अवन्तिवर्मा पुरन्दरको अपने यहाँ लेगए थे।

---

*देखो, भारतके प्राचीन राजवंश, द्वि० भा० पृ० ३७५।

†देखो, भारतके प्राचीन राजवंश, द्वितीय भाग पृ० २२९।

यद्यपि सन्यासियोंकी शिष्य-परम्पराके लिए प्रत्येक पीढ़ीका समय २५ वर्ष मानना आवश्यक नहीं है; क्योंकि कभी कभी २० वर्षमें ही शिष्य प्रशिष्यों की परम्परा चल जाती है। फिर भी यदि प्रत्येक पीढ़ी का समय २५ वर्ष ही माना जाय तो भी व्योमशिवकी अधिकसे अधिक उत्तरावधि ई० सन् ६७० से आगे नहीं जा सकती।

दार्शनिकग्रन्थोंके आधारसे समय—व्योमशिव स्वयं ही अपनी व्योमवती टीका (पृ० ३९२)में श्रीहर्षका एक महत्वपूर्ण ढंगसे उल्लेख करते हैं। यथा—

"अतएव मदीयं शरीरमित्यादि प्रत्यये-ष्वात्मानुरागसद्भावेऽपि आत्मनोऽवच्छेद-कत्वम्। श्रीहर्ष देवकुलमिति ज्ञाने श्रीहर्षस्येव उभयत्रापि बाधकसद्भावात्, यत्र ह्यनुराग-सद्भावेऽपि विशेषणत्वे बाधकमस्ति तत्रा-वच्छेदत्वमेव कल्प्यते इति। अस्ति च श्रीहर्षस्य विद्यमानत्वम्। आत्मनि कर्तृत्व-करणत्वयोरसम्भव इति बाधकम्...।"

यद्यपि इस सन्दर्भ का कुछ पाठ छूटा मालूम होताहै फिरभी **'अस्ति च श्रीहर्षस्य विद्यमानत्वम्'** यह वाक्य खास तौरसे ध्यान देने योग्य है। इससे साफ मालूम होता है कि श्रीहर्ष (606-647 A. D. राज्य) व्योमशिवके समयमें विद्यमान थे। यद्यपि यहां यह कहा जा सकता है कि व्योमशिव श्रीहर्ष-के बहुत बाद होकर भी ऐसा उल्लेख कर सकते हैं; परन्तु जब शिलालेखसे उनका समय ई० सन् ६७० से आगे नहीं जाता तथा श्रीहर्षकी विद्यमानता का वे इस तरह जोर देकर उल्लेख करते हैं तब उक्त कल्पनाको स्थान ही नहीं मिलता।

व्योमवती का अन्तः परीक्षण—व्योमवती (पृ० ३०६,३०७,६८०) में धर्मकीर्तिके प्रमाण-वार्तिक (२-११, १२ तथा १-६८,७२) से कारिकाएँ उद्धृत की गई हैं। इसी तरह व्योमवती (पृ०६१७) में धर्मकीर्त्तिके हेतुबिन्दु प्रथमपरिके **"डिण्डिक रागं परित्यज्य अक्षिणी निमील्य"** इस वाक्यका प्रयोग पाया जाता है। इसके अतिरिक्त और भी बहुतसी कारिकाएँ प्रमाणवार्त्तिककी उद्धृत देखी जाती हैं।

व्योमवती (पृ० ५९१,५९२) में कुमारिलके मीमांसा-श्लोकवार्त्तिकसे अनेक कारिकाएँ उद्धृत हैं। व्योमवती (पृ० १२९) में उद्योतकरका नाम लिया है। भर्तृहरिके शब्दाद्वैत दर्शनका (पृ०२०च) खण्डन किया है और प्रभाकरके स्मृतिप्रमोषवादका भी (पृ० ५४०) खंडन किया है।

इनमें भर्तृहरि धर्मकीर्त्ति, कुमारिल तथा प्रभाकर ये सब प्राय: समसामयिक और ईसाकी सातवीं शताब्दिके पूर्वार्द्धके विद्वान हैं। उद्योतकर छठी शताब्दिके विद्वान् हैं। अत: व्योमशिवके द्वारा इन समसामायिक एवं किंचित्पूर्ववर्ती विद्वानों का उल्लेख तथा समालोचनका होना संगत ही है। व्योमवती (पृ० १५) में बाणकी कादम्बरीका उल्लेख है। बाण हर्षकी सभाके विद्वान् थे, अत: इसका उल्लेख भी होना ठीक ही है।

व्योमवती टीकाका उल्लेख करनेवाले परवर्ती-ग्रन्थकारोंमें शान्तरक्षित, विद्यानन्द, वाचस्पति, प्रभाचन्द्र, श्रीधर, जयंत, उदयन, वादिराज, वादि-देवसूरि, गुणरत्न, सिद्धर्षि तथा हेमचंद्र विशेषरूप-से उल्लेखनीय हैं।

शांतरक्षितने वैशेषिक-सम्मत षट्पदार्थोंकी परीक्षा की है। उसमें प्रशस्तपादके साथ ही साथ शंकरस्वामी नामक नैयायिकका मत भी वे पूर्वपक्षरूपसे उपस्थित करते हैं। परंतु जब हम ध्यानसे देखते हैं तो उनके पूर्वपक्षमें प्रशस्तपाद-व्योमवतीके शब्द स्पष्टतया अपनी छाप मारते हुए नजर आते हैं। (तुलना—तत्त्वसंग्रह पृ० २०६ तथा व्योमवती पृ० ३४३।) तत्वसंग्रहकी पंजिका (पृ० २०६) में व्योमवती (पृ०१२६) के स्वकारणसमवाय तथा सत्तासमवायरूप उत्पत्ति के लक्षणका उल्लेख है। शान्तरक्षित तथा उनके शिष्य कमलशीलका समय ई०की आठवीं शताब्दिका पूर्वार्द्ध है। (देखो, तत्वसंग्रहकी भूमिका पृ० xcvi)

विद्यानन्द आचार्यने अपनी आप्तपरीक्षा (पृ० २६) में व्योमवती टीका (पृ० १०७) से समवायके लक्षणकी समस्तपदकृत्य उद्धृत की है। 'द्रव्यत्वोपलक्षित समवाय द्रव्यका लक्षण है' व्योमवती (पृ० १४९) के इस मन्तव्यकी समालोचना भी आप्तपरीक्षा (पृ० ६) में की गई है

वाचस्पति मिश्र अपनी तात्पर्यटीकाके पृ० १०८ पर प्रत्यक्षलक्षणसूत्रमें 'यतः' पदका अध्याहार करते हैं तथा पृ० १०२ पर लिंगपरामर्श ज्ञानको उपादान बुद्धि कहते हैं। व्योमवतीटीकामें पृ० ५५६ पर 'यतः' पदका प्रयोग प्रत्यक्षलक्षणमें किया है तथा पृ० ५६१ पर लिंगपरामर्श ज्ञानको ही उपादानबुद्धि कहा है। वाचस्पति मिश्रका समय ८४१ A.D. है।

जयन्तकी न्यायमंजरी (पृ० २३) में व्योमवती (पृ० ६२१) के अनर्थजत्वात् स्मृति-सिद्धान्तको अप्रमाणमाननेका समर्थन किया है, साथही पृ० ६५ पर व्योमवती (पृ० ५५६) के फलविशेषणपक्षको स्वीकारकर कारकसामग्रीको प्रमाणमानने के सिद्धान्तका अनुसरण किया है। जयन्तका समय हम अपने पहले लेखमें ईसाकी नवमी शताब्दिका प्रथमपाद सिद्ध कर आए हैं।

प्रभाचन्द्र आचार्यने मोक्षनिरूपण (प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ० ८८, आत्मस्वरूपनिरूपण (न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ३४९, प्रमेयक मलमा० पृ० २९, समवायलक्षण (न्यायकुमु० पृ० २९५, प्रमेयकमलमा० पृ० १८२ आदिमें व्योमवती को लिया है (देखो व्योमवती पृ० २० से, ३९३, १०७)। स्वसंवेदनसिद्धिमें व्योमवतीके ज्ञानान्तरवेद्यज्ञानवादका खंडन भी किया है।

श्रीधर तथा उदयनाचार्यने अपनी कन्दली (पृ० ४) तथा किरणावलीमें व्योमवती (पृ० २० क) के '**नवानामात्मविशेषगुणानां सन्तानोऽत्यन्तमुच्छिद्यते सन्तानत्वात्......यथाप्रदीपसन्तानः।**' इस अनुमान को 'तार्किकाः' तथा 'आचार्याः' शब्दसे उद्धृत किया है। कन्दली (पृ०२०) में व्योमवती (पृ० १४९) के '**द्रव्यत्वोपलक्षितः समवायःद्रव्यत्वेन योगः**' इस मतकी आलोचना की गई है। इसी तरह कन्दली (पृ० १८) में व्योमवती (पृ० १२९) के '**अनित्यत्वं तु प्रागभावप्रध्वंसाभावोपलक्षिता वस्तुसत्ता।**' इस अनित्यत्व के लक्षणका खण्डन किया है। कन्दली (पृ० २००) में व्योमवती (पृ० ५९३) के 'अनुमान-लक्षणमें विद्याके सामान्यलक्षणकी अनुवृत्ति करके संशयादिका व्यवच्छेद करना तथा स्मरणके व्यवच्छेद-

के लिए 'द्रव्यादिषु उत्पद्यते' इस पदका अनुवर्त्तन करना' इन दो मतोंका समालोचन किया है। कन्दलीकार श्रीधरका समय त्र्यधिकदशोत्तरनव-शतशकाब्दे' पदके अनुसार ६१३ शक अर्थात् ६६१ ई० है। और उदयनाचार्यका समय ६८४ ई० है।

वादिराज अपने न्यायविनिश्चिय-विवरण (लिखित पृ० १११ B. तथा ११२ A.) में व्योमवतीसे पूर्वपक्ष करते हैं।

वादिदेवसूरी अपने स्याद्वादरत्नाकर (पृ० ३१८ तथा ४१८) में पूर्वपक्षरूपसे व्योमवतीका उद्धरण देते हैं।

गुणरत्न अपनी षड्दर्शनसमुच्चय की वृत्ति (पृ० ११४ A.) में सिद्धर्षि न्यायावतारवृत्ति (पृ० ६) में तथा हेमचन्द्र प्रमाणमीमांसा (पृ० ७) में व्योमवतीके प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम इस प्रमाणत्रित्व की वैशेषिकपरम्पराका पूर्वपक्ष करते हैं।

इस तरह व्योमवती की संक्षिप्त तुलनासे ज्ञात हो सकेगा कि व्योमवतीका जैनग्रन्थोंसे विशिष्ट सम्बन्ध है।

इस प्रकार हम व्योमशिवके समयको शिला-लेख तथा उनके ग्रन्थके उल्लेखोंके आधारसे ईस्वी सन् ६५० से ६७० तक अनुमान करते है। यदि ये आठवीं या नवमीं शताब्दिके विद्वान् होते तो अपने समसामयिक शंकराचार्य, शान्तरक्षित जैसे विद्वानों का उल्लेख अवश्य करते। हम देखते हैं कि—व्योमशिव शांकरवेदान्तका उल्लेख भी नहीं करते तथा विपर्यय ज्ञानके विषयमें अलौकार्थ-ख्याति, स्मृतिप्रमोष आदिका खण्डन करने पर भी शंकरके अनिर्वचनीयार्थख्यातिवाद का नामभी नहीं लेते। व्योमशिव जैसे बहुश्रुत एवं सैकड़ों मत-मतान्तरोंका उल्लेख करने वाले आचार्यके द्वारा किसी भी अष्टम शताब्दि या नवम शताब्दिवर्त्ती आचार्यके मतका उल्लेख न किया जाना ही उनके सप्तम शताब्दिवर्ती होनेका प्रमाण है।

अतः डा० कीथका इन्हें नवमी शताब्दिका विद्वान् लिखना तथा डा० एस० एन० दासगुप्ता का इन्हें छठी शताब्दिका विद्वान् बतलाना ठीक नहीं जँचता *।

---

* यह लेख मैंने व्योमशिवके विशिष्ट अभ्यासी मित्रवर श्री विभूतिभूषण भट्टाचार्य काशीसे चर्चा करके लिखा है। अतः उन्हें इसके लिए धन्यवाद है।

—लेखक

'संसार भरके धर्मग्रन्थ सत्यवक्ता महात्माओंकी महिमाकी घोषणा करते हैं।'

'धन, वैभव और इन्द्रिय-सुखके तूफ़ानी समुद्रोंको वही पार कर सकते हैं कि जो उस धर्म-सिन्धु मुनीश्वरके चरणोंमें लीन रहते हैं।'

—तिरुवल्लुवर

विपत्तिका वरदान—[ले०—बा० महावीरप्रसाद जैन, बी० ए०,]

विपत्तिने निविड़ अन्धकार-पूर्ण रात्रिमें चारों ओरसे साहसको घेर लिया। काले बादलोंके सदृश उसके पारिधानने उसे आच्छादित कर प्रत्येक दिशामें साहसका मार्ग रोक दिया।

उस प्रलयङ्कारी अन्धकारमें बस केवल दो नक्षत्र चमक रहे थे। और वह साहसकी दोनों आँखें थीं !

वायुमें प्रकम्पन हुआ। अन्धकार औरभी गहन हो उठा। साहसकी धर्मानियोंमें भी रक्तका प्रवाह बढ़ गया। उसने अपने चमकीले नेत्र, विपत्तिके आकाशको छूते हुए सिरकी ओर उठाकर पूछा—

"माता ! क्या आज अपने पुत्रको चारों ओरसे घोटकर मारही डालेगी ?"

विपत्तिके विकट अट्टहाससे वायुमण्डल काँप उठा। उसके सरसे काली काली लटाएँ वायुमें इधर-उधर लम्बे सर्पोंकी नाईं लहराने लगीं।

"मातासे क्या अपनेही पुत्रका गौरव नहीं सहा जाता ?" विपत्ति-पुत्र, साहसने गम्भीर स्वरमें पूछा।

दिग-दिगान्तको कँपादेने वाले स्वरमें गर्जन कर विपत्ति बोली—"रे द्रोही ! अपनी जननीको ही पराजित कर तू यश-लाभ चाहता है। मेरे चिर शत्रु 'धैर्य' के साथ मिलकर मुझसे द्रोह करते तुझे लज्जा नहीं आती ?"

धैर्यके कन्धेपर हाथ रखकर साहसने उत्तर दिया—"माता, तो मुझे जन्म काहेको दिया था ! अपनेसे लड़ना मेरा धर्म बताकर आज मुझे उससे विमुख होनेका उपदेश देरही हो ?"

विपत्तिने अबकी बार कुछ मुलायम होकर कहा—"तेरे इस धर्माचरणसे मेरे प्रभावकी व्यापकता नष्ट हो रही है। साधारण मनुष्य भी अब तेरे बूतेपर मेरा सामना करनेको उद्यत हो जाते हैं।"

साहसने कण्ठमें करुणा भरकर कहा—"माँ ! क्या तुम्हारा मातृत्व तुम्हारे स्वार्थपर विजय प्राप्त नहीं कर सकेगा ? पुत्रकी गौरव-वृद्धिसे माताका मस्तक ऊँचा नहीं होगा ? अपने एकान्त आधिपत्य को अक्षुण्ण रखनेकी लालसामें माता पुत्रका गला घोंट देगी ? नहीं–नहीं–माँ ! मुझे वरदान दो !!"

विपत्तिके मुखपर पुत्रके तेजपूर्ण मुख-मण्डल को देखकर प्रसन्नतासी फूट पड़ी। माताका वात्सल्य स्वार्थपर विजयी हुआ। गद्‌गद कण्ठसे वह बोली—"धन्य हो पुत्र, तुम धन्य हो ! वत्स, मैं तुम्हें वरदान देती हूँ कि मेरे सन्मुख रणक्षेत्रमें आकर तुम सदा विजय प्राप्त करो !!"

चारों ओरके बादल फट गए। और आशाका सुनेहरा प्रकाश सारे संसारपर व्याप्त हो गया।

क्या कुन्दकुन्द ही 'मूलाचार' के कर्ता हैं ?

[ले०—श्री० पं० परमानन्द जैन, शास्त्री]

जैन ग्रन्थकारोंमें आचार्य कुन्दकुन्दका स्थान बहुत ऊँचा है। आप अपने समयके एक बहुत ही प्रसिद्ध विद्वान हो गए हैं। जैन-सिद्धान्तों तथा अध्यात्म-विद्याके विषयमें आपका ज्ञान बहुत बढ़ा चढ़ा था। आपकी उपलब्ध मौलिक रचनाएँ ही इस विषयकी ज्वलन्त उदाहरण हैं। प्रवचनसार, पंचास्तिकाय और समयसार जैसे ग्रन्थ तो समूचे जैनसमाजको अपनी ओर आकृष्ट किए हुए हैं। दिगम्बर-श्वेताम्बर दोनों ही समाजोंमें उनका समान रूपमें आदर और प्रचार है। अंग्रेजी अनुवादादि के साथ प्रकाशमें आनेके कारण बाह्य जगतमें भी अब उनकी अच्छी ख्याति हो चली है। नियमसार और भावपाहुड जैसे ग्रन्थ भी अपना खास महत्व रखते हैं। वास्तवमें आपकी सभी कृतियाँ महत्वपूर्ण हैं और सब जैन-धर्मको व्यक्त करनेवाली हैं।

श्री कुन्दकुन्दाचार्यके विषयमें यह प्रसिद्ध है कि उन्होंने चौरासी पाहुड (प्राभृत) ग्रन्थोंकी रचना की थी। पाहुड नामसे प्रसिद्ध होनेवाले आपके उपलब्ध ग्रन्थोंमें यद्यपि आमतौर पर १ दंसणपाहुड, २ चारित्त पाहुड, ३ सुत्तपाहुड, ४ बोध-पाहुड, ५ भावपाहुड ६ मोक्खपाहुड, ७ लिंगपाहुड और ८ सीलपाहुड, ऐसे आठ पाहुडोंका ही नाम लिया जाता है परन्तु वास्तवमें समयसार, पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, नियमसार, रयणसार जैसे ग्रन्थ भी पाहुड-ग्रन्थ ही हैं, जिनमेंसे कुछ तो समयपाहुड, पंचत्थिपाहुड जैसे नामोंसे उल्लेखित भी मिलते हैं। इन ग्रन्थों तथा कुछ भक्तिपाठोंके अतिरिक्त 'बारस-अणुवेक्खा' नामका आपका एक ग्रन्थ और भी उपलब्ध है। शेष सब पाहुड ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं हैं—उनमें से कुछके नाम ज़रूर मिलते हैं—और यह हमारा दुर्भाग्य तथा प्रमाद है जो हम उन्हें सुरक्षित नहीं रख सके!

हाँ 'मूलाचार' नामका भी एक ग्रन्थ है, जो वट्टकेराचार्यकृत कहा जाता है। वसुनन्दि आचार्य ने मूलाचारकी टीकामें उसे 'वट्टकेराचार्यकृत' लिखा है। ये वट्टकेराचार्य कब हुए? किस गुरुपरम्परा-में हुए? इनके बनाए हुए दूसरे कौन कौन ग्रन्थ हैं? और इनके नामका अन्यत्र कहीं उल्लेख मिलता है या कि नहीं? इन सब बातोंका कोई पता नहीं। मात्र वसुनन्दि आचार्यकी टीका परसे ही यह नाम प्रचारमें आया हुआ जान पड़ता है।

कुछ विद्वानोंका खयाल है कि 'मूलचार' ग्रन्थ भी आचार्य कुन्दकुन्दकृत ही होना चाहिए। प्रो० ए० एन० उपाध्यायने प्रवचनसारकी अपनी भूमिका-में उसे कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंकी लिस्टमें दिया है, अनेक ग्रन्थ-प्रतियोंमें भी वह कुन्दकुन्दकृत लिखा मिलता है। माणिकचन्द्रग्रन्थमालामें प्रकाशित प्रतिके अन्तमें भी उसे निम्न वाक्य द्वारा कुन्दकुन्दाचार्य-प्रणीत लिखा है—"इतिमूला-

चारविवृतौ द्वादशोऽध्यायः । कुन्दकुन्दाचार्यप्रणीत-मूलाचाराख्य-विवृतिः । कृतिरियं वसुनन्दिनः श्रीश्रमणस्य । ”

इन सब बातोंको लेकर बहुत दिनोंसे मेरे हृदयमें यह जिज्ञासा चल रही थी कि 'मूलाचार' ग्रन्थ वास्तवमें किसका बनाया हुआ है और उत्सुकता थी कि इस विषयका शीघ्र निर्णय होना चाहिए। इधर मुख्तार साहब, अधिष्ठाता वीर-सेवा-मन्दिरकी सूचना मिली कि कुन्दकुन्दके ग्रन्थों-के साथ 'मूलाचारके' साहित्यकी तुलना होनी चाहिए। तदनुसार मैं तुलनाके कार्यमें प्रवृत्त हुआ। यद्यपि मुख्तार साहबकी इच्छानुसार तुलनाका वह पूरा निर्णायक कार्य मुझसे नहीं बनसका, फिर भी सामान्यरूपसे कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंके साथ मूला-चारकी गाथाओंका मिलान किया गया। इस मिलान परसे गाथाओं की समानता-असमानतादि-का जो कुछ पता चला है उसे विद्वानों एवं रिसर्च-स्कालरोंके जाननेके लिए नीचे प्रकट किया जाता है, जिससे यह विषय शीघ्रही निर्णीत हो सके:—

आचार्य कुन्दकुन्दके 'बारसअणुवेक्खा' ग्रन्थकी मंगलाचरण-गाथा कुछ शब्दपरिवर्तनके साथ 'मूलाचार' के आठवें 'द्वादशानुप्रेक्षा' नामक अधिकारमें भी मंगलाचरण रूपसे ही पाई जाती है। यथा—

णमिऊण सव्वसिद्धे झाणुत्तमखविददीहसंसारे।
दस दस दो दो य जिणे दस दो अणुपेहणं वोच्छे ॥
—बारसअणुवेक्खा

सिद्धे णमंसिदूण य झाणुत्तमखविददीहसंसारे।
दह दह दो दो य जिणे दसदो अणुपेहणं वोच्छे ॥
—मूलाचार, ६९१

प्रथम गाथाके अतिरिक्त बारसअणुवेक्खाकी दूसरी गाथा भी मूलाचारके उक्त अधिकारमें मंगलाचरण गाथाके अनन्तर ही ज्यों की त्यों उपलब्ध होती है। यथा—

अद्धुवमसरणमेगत्तमण्णसंसारलोगलसुचित्तं।
आसवसंवरणिज्जरधम्मं बोहिं च चिंतेज्जो ॥ २ ॥
—बारसअणुवेक्खा। २ ॥

अद्धुवमसरणमेगत्तमण्णसंसारलोगमसुचित्तं।
आसवसंवरणिज्जरधम्मं बोधिं च चिंतेज्जो ॥
—मूलाचार, ६९२

मूलाचारमें यह गाथा ४०३ नम्बर पर भी पाई जाती है। इसी तरह बारसअणुवेक्खाकी १४, २२, २३, ३५, ३६ नम्बरकी गाथाएँ भी मूलाचारमें क्रमशः ६९९, ७०१, ७०२, ७०६, ७०६ नम्बर पर पाई जाती हैं। परन्तु इनमेंसे अनुप्रेक्षाकी १५ नम्बर वाली गाथाके चतुर्थपाद 'तस्स फलं भुंजदे एवक्को'की जगह मूलाचारमें 'एवं चिंतेहि एयत्तं' पाठ दिया हुआ है। बारसअणुवेक्खाकी ४७ नम्बर की गाथाका पूर्वार्ध मूलाचारकी २३७ नम्बरकी गाथाके साथ ज्यों का त्यों मिलता है; परन्तु उत्तरार्ध नहीं मिलता।

आचार्य कुन्दकुन्दके 'नियमसार' की गाथाएँ नं० ६९, ७० ९९, १००, १०२, १०३, १०४ मूला-चारमें क्रमशः नं० ३३२, ३३३, ४५, ४६, ४८, ३९, ४२ पर ज्यों की त्यों पाई जाती हैं। ९९, १०० नम्बरवाली गाथाएँ कुन्दकुन्दके भावपाहुडमें ५७, ५८ नम्बर पर और १०० नम्बर वाली गाथा समयसार में भी२७७ नम्बर पर उपलब्ध होती है।

नियमसारकी २, ६२, व ६५ नम्बरकी गाथाएँ मूलाचारमें कुछ पाठभेद तथा परिवर्त्तनके साथ

क्रमशः नं० २०२, १२, १५ पर पाई जाती हैं। यथा—

मग्गो मग्गफलं त्तिय दुविहं जिणसासणं समक्खादं।
मग्गो मोक्ख उवायो तस्स फलं होइ णिव्वाणं ॥

—नियमसार, २

मग्गो मग्गफलं त्ति य दुविहं जिणसासणे समक्खादं।
मग्गो खलु सम्मत्तं मग्गफलं होइ णिव्वा ॥

—मूलाचार, २०२

पेसुण्णहासककसपरणिंदप्पप्पसंसियं वयणं,
परिचित्ता सपरहिदं भासासमिदी वदं तस्स ॥

—नियमसार, ६२

पेसुण्णहासककसपरणिंदाप्पप्पसंसविकहादी।
वज्जित्ता सपरहिदं भासासमिदी हवे कहणं ॥

—मूलाचार, १२

पासुकभूमिपदेसे गूढे रहिए परोपरोहेण।
उच्चारादिच्चागो पइट्ठा समिदी हवे तस्स ॥

—नियमसार, ६५

एगंते अच्चित्ते दूरे गूढे विसाल मविरोहे।
उच्चारादिच्चाओ पदिठावणिया हवे समिदी ॥

—मूलाचार, १५

पंचास्तिकायकी गाथाएँ नं० ७५, १४८ मूलाचारमें क्रमशः नं० २३१ व ९६३ पर ज्यों की त्यों पाई जाती हैं।

समयसारकी 'भूयत्थेणाभिगदा' नामकी गाथा भी मूलाचारमें २०३ नम्बर पर ज्योंकी त्यों पाई जाती है। परन्तु समयसारकी 'रत्तो बन्धदि' नाम की गाथा नं १५० मूलाचारमें नं० २४७ पर कुछ शब्दोंके परिवर्तनके साथ उपलब्ध होती है। यथा—

रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपण्णो।
एसो जिणोवदेसो तह्मा कम्मेसु मा रज्ज ॥

—समयसार, १५०

रागी बन्धइ कम्मं मुंचइ जीवो विरागसंपण्णो।
एसो जिणोवएसो समासदो बन्धमोक्खाणं ॥

यह गाथा प्रवचनसारमें भी निम्नरूपसे पाई जाती है—

रत्तो बन्धदि कम्मं मुच्चदि कम्मेहिं रागरहिप्पा ॥
एसो बन्धसमासो जीवाणं जाण णिच्छयदो।

—प्रवचनसार, २-८७

'लिंगपाहुड' की मंगलाचरण-गाथाका **'काऊण णमोक्कारं अरहंताणं तहेव सिद्धाणं'**। यह पूर्वार्ध मूलाचारके 'षडावश्यक' अधिकार की मंगलाचरण-गाथाका भी पूर्वार्ध है; परन्तु उत्तरार्ध दोनोंका भिन्न है।

'बोधपाहुड' की ३३ नम्बरकी 'गइइंदिये च काये' और ३४ नम्बरकी 'पंचवि-इंदियपाणा' नामकी दोनों गाथाएँ मूलाचारमें क्रमशः ११६७, ११६१ नम्बर पर पाई जाती हैं, परन्तु मूलाचारमें मणवचकाएणं' की जगह 'मणवचकायादु' और 'दहपाणा' की जगह दसपाणा' पाठभेद पिछली गाथा नं० ११६१ में पाया जाता है, जो बहुत ही साधारण है।

'चारित्तपाहुड' की ७ नम्बरकी गाथा भी मूलाचारमें २०१ नम्बर पर पाई जाती है। परन्तु 'चारित्तपाहुड' में 'णिस्संकिय णिक्कंखिय' पाठ है और मूलाचारमें 'णिस्संकिद णिक्कंखिद' पाठ पाया जाता है, जिसे वास्तवमें कोई पाठभेद नहीं कह सकते।

इसी प्रकार कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंकी और भी कितनी ही गाथाओंके पूर्वार्ध, उत्तरार्ध, एकपादादि अंश मूलाचारमें ज्यों के त्यों या कुछ साधारणसे अन्तरके साथ पाए जाते हैं, जिन्हें विस्तारभयसे यहाँ छोड़ा जाता है।

इस सब तुलना परसे मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि मूलाचारके कर्ता आचार्य कुन्दकुन्द ही होने चाहिएँ। कुन्दकुन्दके एक ग्रंथकी कोई कोई गाथायें जो मूलाचारमें उपलब्ध होती हैं वे कुन्दकुन्दके दूसरे ग्रंथोंमें भी पाई जाती हैं। उदाहरणके लिए समयसार की निम्न गाथाको लीजिये—

"अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुण समद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठ संठाणं॥

—समयसार, ४९

यह गाथा प्रवचनसारके दूसरे अधिकारमें नंबर ८० पर, नियमसार में नम्बर ४६ पर और भावपाहुडमें नम्बर ६४ पर पाई जाती है। इसी तरह और भी कुछ गाथाओंका हाल है, और यह बात उन गाथाओंके कुन्दकुन्दकृत होने को पुष्ट करती है। मेरा यह अनुमान कहाँ तक सच है इस पर विद्वानोंको विचार करना चाहिए। मुझे तो यह बात भी कुछ खटकतीसी ही जान पड़ती है कि दो बराबरकी जोटके विद्वानोंमें एक दूसरेके ग्रंथके मंगलाचरणको अपने ग्रंथमें अपनावे—उसे ज्यों का त्यों उठाकर रक्खे। मूलाचारका कर्ता भिन्न होनेकी हालतमें या तो 'बारसअणुवेक्खा' वाला मंगलाचरण और लिंगपाहुडके मंगलाचरणका पूर्वार्ध मूलाचारमें नहीं पाया जाना चाहिए था और या फिर बारसअणुवेक्खा तथा लिंगपाहुडमें ही उसका उस रूपमें अस्तित्व नहीं होना चाहिए था, क्योंकि कोई भी समर्थ ग्रंथकार दूसरे ग्रंथकारके मंगलाचरणकी नक़ल नहीं करता है।

आचार्य कुन्दकुन्दके 'प्रवचनसार' में यद्यपि मुनि-धर्मका निरूपण है;परन्तु वह बहुत ही संक्षिप्तरूपमें है। इसलिए आचारांगकी पद्धतिके अनुरूप मुनि-चर्याका कथन करनेवाला उनका कोई ग्रंथ अवश्य होना चाहिए और वह मेरी समझमें 'मूलाचार' ही जान पड़ता है। विद्वानोंसे मेरा निवेदन है कि वे इस विषयमें यथेष्ठ विचार करके अपना अपना निर्णय देवें, जिससे यह बात निश्चित हो जाय कि मूलाचार ग्रंथ वास्तवमें कुन्दकुन्दाचार्यका बनाया हुआ है या वट्टकेरका। यदि वट्टकेरका बनाया हुआ है, तो उनकी गुरुपरम्परा क्या है? अस्तित्वकाल कौनसा है? और मूलाचारके अतिरिक्त उन्होंने किसी दूसरे ग्रंथका भी निर्माण किया है कि नहीं? इन सब बातोंका भी निर्णय होना चाहिए, जिससे वस्तुस्थिति खूब स्पष्ट हो जाय। आशा है कि मेरे इस निवेदन पर जरूर ध्यान दिया जायेगा।

वीरसेवा-मन्दिर-सरसावा, ता० २६-११-१९३८

'अनेकान्त' पर लोकमत

(६) श्री० चन्द्रशेखर शास्त्री M. O. PH. H, M. D. काव्यतीर्थ साहित्याचार्य प्राच्य-विद्यावारिधिः—

"पत्र वास्तवमें बहुत सुन्दर निकला है। जैन-समाजके पत्रोंमें सम्पादनका एकदम अभाव रहता है। वास्तवमें सम्पादनकला और जैनसमाज इन दोनों शब्दोंमें कोई सामंजस्यही नहीं है। किन्तु आपका पत्र न केवल उस तथ्यका अपवाद है वरन् उसका सम्पादन अत्यन्त उच्चकोटिका है। आपने अनेकान्तको निकालकर वास्तवमें एक बड़ी भारी कमीको पूरा किया है। आशा है कि यह पत्र इसी प्रकार रिसर्च द्वारा जैनसमाज एवं हिन्दी संसारकी सेवा करता रहेगा। पत्रके उच्चकोटिके सम्पादनके लिए मेरी बधाई स्वीकार करें।"

(७) मंगलाप्रसाद पुरस्कारविजेता प्रो० सत्यकेतु विद्यालंकार (डी० लिट्:)—

"'अनेकान्त' का दिसम्बर सन् ३८ का अंक मैंने देखा। इसके सभी लेख उत्कृष्ट तथा विद्वत्ता-पूर्ण हैं। विशेषतया, श्रीबाबू सूरजभानु वकीलका 'भगवान् महावीरके बादका इतिहास' लेख बहुत ही खोजपूर्ण तथा उपयोगी है। मेरी सम्मतिमें केवल इसी एक लेखके लिये भारतीय इतिहासके प्रत्येक जिज्ञासुको 'अनेकान्त'का अनुशीलन करना चाहिये। जैनधर्म तथा इतिहासके साथ भारतीय इतिहासके विद्वानोंने यथोचित न्याय नहीं किया है—जैनधर्मका अतीत बहुत गौरव-मय तथा उज्वल था, उसे भारतीय इतिहासमें अधिक महत्व मिलना चाहिये। पर जैनसाहित्यसे विद्वानोंको जो पर्याप्त परिचय नहीं है, उसका उत्तरदायित्व विशेषतया जैनसमाज पर ही है। मुझे आशा है कि 'अनेकान्त' द्वारा जैनधर्म, जैन-साहित्य तथा जैन-इतिहास अधिक प्रकाशमें आवेगा और ऐतिहासिक लोग जैनधर्मके अतीत-के साथ अधिक न्याय करनेमें समर्थ होंगे।"

(८) साहित्याचार्य विश्वेश्वरनाथ रेउ M.R.A.S.

"अनेकान्त एक उच्चकोटिका पत्र है और इसमें जैनधर्म सम्बन्धी उच्चकोटिके निबन्ध प्रकाशित होते हैं। आशा है जैनसमाज इसे अपनाकर संचालक और सम्पादकके परिश्रमको सार्थक करेंगे।"

(९) श्री० रामस्वरूप शास्त्री, संस्कृताध्यक्ष मुस्लिम यूनिवर्सिटी, अलीगढ़:—

"यह पत्र वास्तवमें अधिक रुचिकर एवं धार्मिक विचारोंसे अलंकृत है। तथा विशेषतया जैनधर्मकी सत्ता, स्थिति और महत्वको विस्तृत-रूपमें बतलाता है। विशिष्टविषयों पर जो लेख हैं वे सप्रमाण और सयुक्तिक वर्णित हैं। मेरे विचारसे यह पत्र वर्तमान कालमें सुपठित एवं अल्पपठित जनताके लिये हृदयहारी बनकर परमोपयोगी सिद्ध होगा।"

(१०) श्री पं० नाथूराम प्रेमी, बम्बईः—

"सभी महत्त्वके ऐतिहासिक लेख पढ़ गया हूँ। आपके दोनों लेख बहुत महत्वके हैं। पूज्य सूरजभानुजीका लेख खास तौरसे पढ़ा। अन्तर द्वीपजोंके अतिरिक्त सारे मनुष्योंको उच्चगोत्री बतलाना बिल्कुल मौलिक खोज है। यह श्रेय आपको ही है कि आपने उत्साहित करके इस अवस्थामें भी उनसे लिखवा लिया।"

(११) श्री० पं० लोकनाथ शास्त्री, मूडबिद्रीः—

"आपने जिस महत्त्व कार्यके करनेका—'अनेकान्त' को पुनरुज्जीवन करनेका बीड़ा उठाया है, वह सर्वथा सराहनीय तथा प्रशंसनीय है।··· आपके सम्पादकीय लेख और श्री सूरजभानुजी वकीलके (गोत्रकर्माशित ऊँच नीचता) वगैरह लेख विचारणीय तथा मननीय हैं।"

(१२) श्री० पं० उग्रसेन जैन एम.ए.एल.एल.बी.

"इस पत्रकी उपयोगिताके सम्बन्धमें तो कहने की आवश्यकता ही नहीं; विद्वान् स्वयंही भलीभाँति जानते हैं।"

(१३) श्री राजेन्द्रकुमार 'कुमरेश', कोटाः—

"सुयोग्य सम्पादन, सुन्दर प्रकाशन, उच्च-आदर्श, धार्मिकविचार और भिन्न भिन्न विषयोंपर अन्वेषणात्मक लेख 'अनेकान्त'की विशेष खूबियाँ हैं।"

(१४) श्री गुणभद्र, राजचन्द्रआश्रम अगासः—

"समाजमें ऐसे पत्रकी बड़ी भारी आवश्यकता थी जो तुलनात्मक दृष्टिसे लेखोंद्वारा जैनधर्मका प्रचार कर सके। पत्रकी नीतिको देखते हुए अनुमान होता है कि वह भविष्यमें सर्वप्रिय हो सकेगा। इसके सभीलेख अनुसन्धान पूर्वक लिखे गए हैं। गोत्रकर्म सम्बन्धीलेख समाजके लिए बड़ा ही उपयोगी सिद्ध होगा।"

(१५) श्री० पं० सुन्दरलाल वैद्य, दमोहः—

"पत्रका कलेवर महत्वपूर्ण है। लेखमाला पठन एवं मनन करनेसे तो चित्तमें प्राचीन स्मृति तथा नवीन उत्साह आलोकित होने लगता है—पत्रके प्रत्येक स्थलमें अवश्य ही कोई न कोई नवीन बात मिलती है। सम्पादन कलाके मर्मज्ञ वृद्ध सम्पादकजीके सम्पादकीय लेखोंमें नवयुवकों जैसा उत्साह कूटकूटकर भरा हुआ है। मैं पत्र की रीति-नीति पर मुग्ध हूँ तथा चाहता हूँ कि हमारे समाजके विद्वान् व धार्मिक वर्ग पत्रको पूर्वस्मृतिके प्रकाशमें लानेके लिए हर तरहसे प्रयत्नशील होंगे।"

(१६) श्री वसन्तलाल (हकीम), झाँसीः—

"'अनेकान्त'का रूप मनको मोहित करनेवाला है तथा उसमें संकलित लेखादि, जो कि विकास रूप विद्या और बुद्धिद्वारा लिखे गए हैं, वे पठनीय ही नहीं बल्कि हृदयमें बिठानेके योग्य हैं।"

(१७) बा० माईदयाल बी. ए. (ऑनर्स)मेलसाः—

"'अनेकान्त' के लेखोंके बारेमें कुछ लिखना सूर्यको दीपक दिखाना है।"

(१८) श्री० कामताप्रसाद, सम्पादक 'वीर' अलीगंज

"अनेकान्त' जैसे पहले एक सुन्दर बहुमूल्य विचार-पत्र था, वैसा ही अब भी है। उसमें उसके सुयोग्य सम्पादककी मौलिक गवेषणाएँ एवं अन्य विद्वानोंकी सुसंकलित रचनाएँ पठनीय हैं। विद्वान और सामान्य पाठक इससे समानलाभ उठा सकते हैं। हम अनेकान्तकी उत्तोत्तर उन्नतिके इच्छुक हैं।"

(क्रमशः)

अनेकान्त के नियम

१. अनेकान्तका वार्षिक मूल्य २।।) पेशगी है। वी० पी० से मंगाने पर तीन आने रजिस्ट्रीके अधिक देने पड़ते हैं। साधारण एक प्रतिका मूल्य चार आना है।

२. अनेकान्त प्रत्येक इंग्रेजी माहकी प्रथम तारीखको प्रकाशित हुआ करेगा।

३. अनेकान्तके एक वर्षसे कमके ग्राहक नहीं बनाए जाते। ग्राहक प्रथम किरणसे १२ वीं किरण तकके ही बनाये जाते हैं। एक वर्षके बीचकी किसी किरणसे दूसरे वर्षकी उस किरण तक नहीं बनाये जाते। अनेकान्तका नवीन वर्ष दीपावलीसे प्रारम्भ होता है।

४. पता बदलनेकी सूचना ता० २० तक कार्यालय में पहुँच जानी चाहिए। महिने-दो महिनेके लिये पता बदलवाना हो तो अपने यहाँके डाकघरको ही लिखकर प्रबन्ध कर लेना चाहिए। ग्राहकोंको पत्र व्यवहार करते समय उत्तरके लिए पोस्टेज खर्च भेजना चाहिए। साथ ही अपना ग्राहक नम्बर और पता भी स्पष्ट लिखना चाहिये, अन्यथा उत्तरके लिए कोई भरोसा नहीं रखना चाहिये।

५. कार्यालयसे अनेकान्त अच्छी तरह जाँच करके भेजा जाता है। यदि किसी मासका अनेकान्त ठीक समय पर न मिले तो, अपने डाकघरसे लिखा पढ़ी करनी चाहिये। वहाँसे जो उत्तर मिले, वह अगली किरण प्रकाशित होनेसे सात रोज पूर्व तक कार्यालयमें पहुँच जाना चाहिये। देर होनेसे, डाकघरका जवाब शिकायती पत्रके साथ न आनेसे, दूसरी प्रति विना मूल्य मिलनेमें बड़ी अड़चन पड़ेगी।

६. अनेकान्तका मूल्य और प्रबन्ध सम्बन्धी पत्र किसी व्यक्ति विशेषका नाम न लिखकर निम्न पतेसे भेजना चाहिये।

व्यवस्थापक "अनेकान्त"
कनॉट सर्कस पो० ब० नं० ४८ न्यू देहली।

प्रार्थनाएँ

१. "अनेकान्त" किसी स्वार्थ बुद्धिसे प्रेरित होकर अथवा आर्थिक उद्देश्यको लेकर नहीं निकाला जाता है, किन्तु वीरसेवामन्दिरके महान उद्देश्योंको सफल बनाते हुए लोकहितको साधना तथा सच्ची सेवा बजाना ही इस पत्र-का एक मात्र ध्येय है। अत: सभी सज्जनों-को इसकी उन्नतिमें सहायक होना चाहिये।

२. जिन सज्जनोंको अनेकान्तके जो लेख पसन्द आयें, उन्हें चाहिये कि वे जितने भी अधिक भाइयोंको उसका परिचय करा सकें जरूर करायें।

३. यदि कोई लेख अथवा लेखका अंश ठीक मालूम न हो, अथवा धर्मविरुद्ध दिखाई दे, तो महज उसीकी वजहसे किसीको लेखक या सम्पादकसे द्वेष-भाव न धारण करना चाहिये, किन्तु अनेकान्त-नीतिकी उदारतासे काम लेना चाहिये और हो सके तो युक्ति-पुरस्सर संयत भाषामें लेखकको उसकी भूल सुझानी चाहिये।

४. "अनेकान्त" की नीति और उद्देश्यके अनुसार लेख लिखकर भेजनेके लिये देश तथा समाजके सभी सुलेखकोंको आमन्त्रण है।

५. "अनेकान्त" को भेजे जाने वाले लेखादिक कागजकी एक ओर हाशिया छोड़कर सुवाच्य अक्षरोंमें लिखे होने चाहियें। लेखोंको घटाने, बढ़ाने, प्रकाशित करने न करने, लौटाने न लौटानेका सम्पूर्ण अधिकार सम्पादकको है। अस्वीकृत लेख वापस मँगानेके लिये पोस्टेज खर्च भेजना आवश्यक है। लेख निम्न पतेसे भेजना चाहिये :—

जुगलकिशोर मुख्तार
सम्पादक अनेकान्त
सरसावा जि० सहारनपुर।

Regd. No. L. 4328

अनुकरणीय

धर्म-प्रेमी ला० छुट्टनलालजी सैंदेवालोंने ५० रु० 'अनेकान्त'की सहायतार्थ प्रदान किए हैं। अतः आपकी ओरसे २५ निम्न जैनेतर संस्थाओंको 'अनेकान्त' १ वर्षके लिए भेंट-स्वरूप भिजवाना प्रारम्भ कर दिया है। लालासाहबकी इस उदारताके लिए संस्थाओंने धन्यवादके पत्र भी भेजे हैं। जैनेतरोंमें जितना भी 'अनेकान्त'का प्रवेश होगा, उतनाही जैनधर्मके प्रति फैले हुए भ्रामक विचारोंका निराकरण और जैनधर्मका आदर होगा। इसी प्रचारकी दृष्टिसे पृष्ठ संख्या एक वर्षमें पूर्ववत देते हुए भी वार्षिक मूल्य ४ रु० के स्थानमें ३॥ रु० कर दिया है। इसपर भी जैनेतर विद्वानों, शिक्षण संस्थाओं और पुस्तकालयोंमें भेंट स्वरूप भिजवाने वाले दानी महानुभावोंसे २ रु० वार्षिक ही मूल्य लिया जायगा। किन्तु यह रियायत केवल जैनेतर संस्थाओंको अमूल्य भिजवाने पर ही दी जायगी। यदि समाजसे १०० दानी महानुभाव भी अपनी ओरसे सौ-सौ, पचास-पचास अथवा यथाशक्ति जैनेतर संस्थाओंको "अनेकान्त" भेंट स्वरूप भिजवानेको प्रस्तुत होजाएँ तो अनेकान्त आशातीत सफलता प्राप्त कर सकता है। जैनेतरोंमें अनेकान्त जैसे साहित्यका प्रचार करना जैनधर्मके प्रचारका महत्वपूर्ण और सुलभ साधन है। आशा है समाजके अन्य उदारमना महानुभाव श्रीमान ला० छुट्टनलालजीके इस कार्यका अनुकरण करेंगे। आपकी ओरसे निम्न संस्थाओंमें "अनेकान्त" भेंट-स्वरूप एक वर्ष तक जाता रहेगा।

१	मंत्री	शान्तिनिकेतन बोलपुर (बंगाल)	१४	"	मारवाड़ी पुस्तकालय देहली
२	"	हिन्दू यूनीवर्सिटी बनारस	१५.	"	राजाराम कॉलेज कोल्हापुर
३.	"	हिन्दुस्तान एकेडेमी इलाहाबाद	१६	"	गायकवाड़ कॉलेज बड़ौदा
४.	"	श्री नागरी-प्रचारिणी सभा बनारस	१७.	"	सेण्ट स्टीफन कॉलेज देहली
५	"	विक्टोरिया कॉलेज ग्वालियर	१८.	"	गवर्नमेण्ट संस्कृत कॉलेज बनारस
६	"	गुजरात कॉलेज अहमदाबाद	१९.	"	वाडिया कॉलेज पूना
७.	"	मद्रास यूनिवर्सिटी मद्रास	२०.	"	महाराणा कालेज उदयपुर
८.	"	मॉरिस कॉलेज नागपुर	२१.	"	हरबर्ट कालेज कोटास्टेट
९.	"	कलकत्ता यूनीवर्सिटी कलकत्ता	२२.	"	गुजरात पुरातत्व विद्यामन्दिर अहमदाबाद
१०.	"	रामजस कॉलेज देहली			
११.	"	ओरियन्टल कॉलेज लाहौर	२३.	"	देहली यूनीवर्सिटी देहली
१२	"	किंग एडवर्ड कॉलेज अमरावती	२४.	"	हिन्दू कॉलेज देहली
१३.	"	गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी	२५.	"	ज्वालापुर महाविद्यालय ज्वालापुर

विषय-सूची

प्रकाशकीय—

१ "अनेकान्त" आगामी पाँचवीं किरणसे बिलकुल नये और सुन्दर टाइपमें छपेगा

२ ३१ जनवरीके बाद ५०० ग्राहक और बन जाने पर आठ पृष्ठ और बढ़ाए जा सकेंगे

३ 'अनेकान्त'की प्रकाशन और व्यवस्था सम्बन्धी त्रुटियोंसे हमें अवश्य सूचित करना चाहिए। साथही 'अनेकान्त' को उत्तरोत्तर सुरुचिपूर्ण और उन्नतिशील बनानेके लिए अपनी सम्मति साथ सहयोग देना चाहिए

ॐ अर्हम्

नीति विरोध-ध्वंसी लोक-व्यवहार-वर्त्तकः सम्यक् ।
परमागमस्य बीजं भुवनैकगुरुर्जयत्यनेकान्तः ॥

वर्ष २	सम्पादन-स्थान—वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम), सरसावा जिला सहारनपुर प्रकाशन-स्थान—कनॉट सर्कस पो० ब० नं० ४८, न्यू देहली माघशुक्ल, वीरनिर्वाण सं० २४६५, विक्रम सं० १९९५	किरण ४

समन्तभद्र-कीर्तन

कवीनां गमकानां च वादीनां वाग्मिनामपि ।
यशः सामन्तभद्रीयं मूर्ध्नि चूडामणीयते ॥

—आदिपुराणे, जिनसेनाचार्यः ।

श्री समन्तभद्रका यश कवियोंके नये नये संदर्भ अथवा नई नई मौलिक रचनाएँ तय्यार करने में समर्थ विद्वानोंके—गमकोंके,—दूसरे विद्वानोंकी कृतियोंके मर्म एवं रहस्यको समझनेवाले तथा दूसरोंको समझानेमें प्रवीण व्यक्तियोंके, विजयकी ओर वचनप्रवृत्ति रखनेवाले वादियोंके, और अपनी वाक्‌पटुता तथा शब्द-चातुरीसे दूसरों को रंजायमान करने अथवा अपना प्रेमी बना लेनेमें निपुण ऐसे वाग्मियोंके मस्तक पर चूडामणिकी तरह सुशोभित है। अर्थात् स्वामी समन्तभद्रमें कवित्व, गमकत्व, वादित्व और वाग्मित्व नामके चार गुण असाधारण कोटिकी योग्यताको लिये हुए थे—ये चारोंही शक्तियां आपमें खास तौरसे विकासको प्राप्त हुई थीं—और इनके कारण आपका निर्मल यश दूर दूर तक चारों ओर फैल गया था। उस वक्त जितने वादी, वाग्मी, कवि और गमक थे उन सब पर आपके यशकी छाया पड़ी हुई थी—आपका यश चूडामणिके तुल्य सर्वोपरि था—और वह बादको भी बड़े बड़े विद्वानों तथा महान् आचार्योंके द्वारा शिरोधार्य किया गया है।

सामन्तभद्रोऽजनि भद्रमूर्तिस्ततः प्रणेता जिनशासनस्य ।
यदीय-वाग्वज्रकठोरपातश्चूर्णीचकार प्रतिवादिशैलान् ॥

—श्रवणबेल्गोल-शिलाले० नं० १०८

श्रीसमन्तभद्र (बलाकपिच्छाचार्यके बाद) 'जिनशासनके प्रणेता' हुए हैं, वे भद्रमूर्ति थे और उनके वचन-रूपी वज्रके कठोर पातसे प्रतिवादी-रूपी पर्वत चूर-चूर होगये थे—कोई प्रतिवादी उनके सामने नहीं ठहरता था।

कुवादिनः स्वकान्तानां निकटे परुषोक्तयः ।
समन्तभद्रयत्यग्रे पाहि पाहीति सूक्तयः

—अलङ्कार चिन्तामणौ, अजितसेनः

कुवादिजन अपनी स्त्रियोंके निकट तो कठोर भाषण किया करते थे—उन्हें अपनी गर्वोक्तियां सुनाते थे;—परन्तु जब समन्तभद्र यतिके सामने आते थे तो मधुरभाषी बन जाते थे और उन्हें 'पाहि पाहि'— रक्षा करो, रक्षा करो अथवा आप ही हमारे रक्षक हैं, ऐसे सुन्दर मृदु वचन ही कहते बनता था।

श्रीमत्समन्तभद्राख्ये महावादिनि चागते ।
कुवादिनोऽलिखन्भूमिमंगुष्ठैरानताननाः ॥

—अलंकारचिन्ता०, अजितसेनाचार्यः

जब महावादी श्रीसमन्तभद्र (सभास्थान आदिमें) आते थे तो कुवादिजन नीचा मुख करके अंगूठोंसे पृथ्वी कुरेदने लगते थे—अर्थात् उन लोगों पर – प्रतिवादियों पर—समन्तभद्रका इतना प्रभाव पड़ता था कि वे उन्हें देखते ही विषण्ण-वदन होजाते थे और 'किं कर्तव्यविमूढ, बन जाते थे।

समन्तभद्रादिकवीन्द्रभास्वतां, स्फुरन्ति ऽमलसूक्तिरश्मयः ।
व्रजन्ति खद्योतवदेव हास्यतां, न तत्र किं ज्ञानलवोद्धता जनाः ॥

ज्ञानार्णवे, श्रीशुभचन्द्राचार्यः

श्रीसमन्तभद्र-जैसे कवीन्द्र-सूर्योंकी जहां निर्मल सूक्ति-रूपी किरणें स्फुरायमान होरही हैं वहां वे लोग खद्योत या जुगनूकी तरह हँसीको ही प्राप्त होते हैं जो थोड़ेसे ज्ञानको पाकर उद्धत हैं – कविता अर्थात् नूतन संदर्भकी रचना करने लगते हैं।

सरस्वती-स्वैरविहारभूमयः समन्तभद्रप्रमुखा मुनीश्वराः ।
जयन्ति वाग्वज्रनिपातपाटित-प्रतीपराद्धन्त-महीध्रकोटयः ॥

– गद्यचिन्तामणौ, वादीभसिंहाचार्यः

श्रीसमन्तभद्र-जैसे मुनीश्वर जयवन्त हों – अपने तेजोमय व्यक्तित्व से सदा दूसरोंको प्रभावित करते रहें – जो सरस्वती की स्वच्छन्द विहारभूमि थे – जिनके हृदयमन्दिरमें सरस्वतीदेवी बिना किसी रोक-टोकके पूरी आज़ादीके साथ विचरती थी और उन्हें असाधारण विद्याके धनी बनाये हुए थी – और जिनके वचनरूपी वज्रके निपातसे प्रतिपक्षी सिद्धान्तरूपी पर्वतोंकी चोटियां खण्ड-खण्ड होगई थीं – अर्थात् समन्तभद्रके आगे बड़े बड़े प्रतिपक्षी सिद्धान्तोंका प्रायः कुछ भी गौरव नहीं रहा था और न उनके प्रतिपादक प्रतिवादीजन ऊँचा मुँह करके ही सामने खड़े हो सकते थे।

सकाम धर्मसाधन

[सम्पादकीय]

—:o:—

लौकिक-फलकी इच्छाओंको लेकर जो धर्मसाधन किया जाता है उसे 'सकाम धर्मसाधन' कहते हैं और जो धर्म वैसी इच्छाओंको साथमें न लेकर, मात्र अपना आत्मीय कर्तव्य समझकर किया जाता है उसका नाम 'निष्काम धर्मसाधन' है। निष्काम धर्म-साधन ही वास्तवमें धर्मसाधन है और वही धर्मके वास्तविक-फलको फलता है। सकाम धर्मसाधन धर्मको विकृत करता है, सदोष बनाता है और उससे यथेष्ट धर्म-फलकी प्राप्ति नहीं होसकती। प्रत्युत इसके, अधर्मकी और कभी कभी घोर पाप-फलकी भी प्राप्ति होती है। जो लोग धर्मके वास्तविक स्वरूप और उसकी शक्तिसे परिचित नहीं, जिनके अन्दर धैर्य नहीं, श्रद्धा नहीं, जो निर्बल हैं—कमज़ोर हैं, उतावले हैं और जिन्हें धर्मके फलपर पूरा विश्वास नहीं, ऐसे लोग ही फल-प्राप्तिमें अपनी इच्छाकी टांगें अड़ा कर धर्मको अपना कार्य करने नहीं देते—उसे पंगु और बेकार बना देते हैं और फिर यह कहते हुए नहीं लजाते कि धर्म-साधनसे कुछ भी फलकी प्राप्ति नहीं हुई। ऐसे लोगोंके समाधानार्थ—उन्हें उनकी भूल का परिज्ञान करानेके लिए ही यह लेख लिखा जाता है, और इसमें आचार्य-वाक्योंके द्वारा ही विषय-को स्पष्ट किया जाता है।

श्री गुणभद्राचार्य अपने 'आत्मानुशासन' ग्रन्थमें लिखते हैं—

संकल्प्यं कल्पवृक्षस्य चिन्त्यं चिन्तामणेरपि ।
असंकल्प्यमसंचिन्त्यं फलं धर्मादवाप्यते ॥ २२ ॥

अर्थात्—फलप्रदानमें कल्पवृक्ष संकल्पकी और चिन्तामणि चिन्ताकी अपेक्षा रखता है—कल्पवृक्ष बिना संकल्प किये और चिन्तामणि बिना चिन्ता किए फल नहीं देता; परन्तु धर्म वैसी कोई अपेक्षा नहीं रखता—वह बिना संकल्प किए और बिना चिन्ता किए ही फल प्रदान करता है।

जब धर्म इस प्रकार स्वयं ही फल देता है और फल देनेमें कल्पवृक्ष तथा चिन्तामणिकी शक्तिको भी मात (परास्त) करता है, तब फल-प्राप्तिके लिए इच्छाएँ करके—निदान बांधकर—अपने आत्माको

व्यर्थ ही संक्लेशित और आकुलित करनेकी क्या ज़रूरत है ? ऐसा करनेसे तो उल्टा फल-प्राप्तिके मार्गमें कांटे बोये जाते हैं। क्योंकि इच्छा फल-प्राप्तिका साधन न होकर उस में बाधक है।

इसमें सन्देह नहीं कि धर्म-साधनसे सब सुख प्राप्त होते हैं; परन्तु तभी तो जब धर्म-साधनमें विवेकसे काम लिया जाय। अन्यथा, क्रियाके—बाह्य धर्माचरणके—समान होनेपर भी एकको बन्धफल दूसरेको मोक्षफल अथवा एकको पुण्यफल और दूसरेको पापफल क्यों मिलता है ? देखिये, कर्मफलकी इस विचित्रताके विषयमें श्रीशुभचन्द्राचार्य ज्ञानार्णवमें क्या लिखते हैं—

यत्र बालश्चरत्यस्मिन्पथि तत्रैव पण्डितः ।
बालः स्वमपि बध्नाति मुच्यते तत्त्वविद्ध्रुवम् ॥७-२१॥

अर्थात्—जिस मार्ग पर अज्ञानी चलता है उसीपर ज्ञानी चलता है। दोनोंका धर्माचरण समान होनेपर भी अज्ञानी अपने अविवेकके कारण कर्म बांधता है और ज्ञानी अपने विवेक-द्वारा कर्म बन्धनसे छूट जाता है। ज्ञानार्णवके निम्न श्लोकमें भी इसी बातको पुष्ट किया गया है—

वेष्टयत्यात्मनात्मानमज्ञानी कर्मबन्धनैः ।
विज्ञानी मोचयत्येव प्रबुद्धः समयान्तरे ॥ ७-१७ ॥

इससे विवेकपूर्वक आचरणका कितना बड़ा माहात्म्य है उसे बतलानेकी अधिक ज़रूरत नहीं रहती। श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने, अपने प्रवचनसारके चारित्राधिकारमें, इसी विवेकका—सम्यग्ज्ञानका—माहात्म्य वर्णन करते हुए बहुत स्पष्ट शब्दोंमें लिखा है—

जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं ।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि उस्सासमेत्तेण ॥ ३८ ॥

अर्थात्—अज्ञानी-अविवेकी मनुष्य जिस अथवा जितने ज्ञानावरणादिरूप कर्मसमूहको शत-सहस्र-कोटि भवोंमें—करोड़ों जन्म लेकर—क्षय करता है उस अथवा उतने कर्मसमूहको ज्ञानी-विवेकी मनुष्य मन-वचन-कायकी क्रियाका निरोधकर अथवा उसे स्वाधीनकर स्वरूपमें लीन हुआ उच्छ्वासमात्रमें—लीलामात्रमें—नाश कर डालता है।

इससे अधिक विवेकका माहात्म्य और क्या हो सकता है ? यह विवेक ही चारित्र को 'सम्यक्चारित्र' बनाता है और संसार परिभ्रमण एवं उसके दुःख-कष्टोंसे मुक्ति दिलाता है। विवेकके बिना चारित्र मिथ्या चारित्र है, कोरा कायक्लेश है और वह संसार-परिभ्रमण तथा दुःखपरम्पराका ही कारण है। इसीसे विवेकपूर्वक अथवा सम्यग्ज्ञानके अनन्तर चारित्रका आराधन बतलाया गया है; जैसा कि श्रीअमृतचन्द्राचार्यके निम्न वाक्यसे प्रगट है—

न हि सम्यग्व्यपदेशं चारित्रमज्ञानपूर्वकं लभते ।
ज्ञानानन्तरमुक्तं चारित्राराधनं तस्मात् ॥ ३८ ॥

—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

अर्थात्—अज्ञानपूर्वक—विवेकको साथमें न लेकर दूसरोंकी देखा-देखी अथवा कहने सुनने मात्रसे—जो चरित्रका अनुष्ठान किया जाता है वह 'सम्यक् चारित्र' नाम नहीं पाता—उसे 'सम्यक् चारित्र' नहीं कहते। इसीसे (आगममें) सम्यग्ज्ञानके अनन्तर—विवेक हो-जाने पर—चारित्रके आराधन का—अनुष्ठानका—निर्देश किया गया है—रत्नत्रय धर्मकी आराधनामें, जो मुक्तिका मार्ग है, चारित्रकी आराधनाका इसी क्रमसे विधान किया गया है।

श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने, प्रवचनसारमें, 'चारित्तं खलुधम्मो' इत्यादि वाक्यके द्वारा जिस चारित्रको—स्वरूपाचरणको—वस्तुस्वभाव होनेके कारण धर्म बतलाया है वह भी यही विवेकपूर्वक सम्यक्चारित्र

है, जिसका दूसरा नाम साम्यभाव है और जो मोह-क्षोभ अथवा मिथ्यात्व-राग-द्वेष तथा काम-क्रोधादिरूप विभावपरिणतिसे रहित आत्माका निज परिणाम होता है* ।

वास्तवमें यह विवेक ही उस भावका जनक होता है जो धर्माचरण का प्राण कहा गया है । बिना भावके तो क्रियाएं फलदायक होती ही नहीं । कहा भी है—"*यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः*× ।" तदनुरूप भावके बिना पूजनादिककी, तप-दान-जपादिककी और यहां तक कि दीक्षाग्रहणादिककी सब क्रियाएँ भी ऐसी ही निरर्थक हैं जैसे कि बकरीके गलेके स्तन (थन) । अर्थात् जिस प्रकार बकरीके गले में लटकते हुए स्तन देखनेमें स्तनाकार होते हैं, परन्तु वे स्तनोंका कुछ भी काम नहीं देते—उनसे दूध नहीं निकलता—उसी प्रकार बिना तदनुकूल भावके पूजा-तप-दान-जपादिककी उक्त सब क्रियाएँ भी देखनेकी ही क्रियाएँ होती हैं, पूजादिक का वास्तविक फल उनसे कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता † ।

ज्ञानी विवेकी मनुष्य ही यह ठीक जानता है कि पुण्य किसे कहते हैं और पाप किसे ? किन भावोंसे पुण्य बँधता है, किनसे पाप और किनसे दोनोंका बन्ध नहीं होता ? स्वच्छ, शुभ तथा शुद्ध भाव किसे कहते हैं ? और अस्वच्छ, अशुद्ध तथा अशुभ भाव किस का नाम है ? सांसारिक विषय-सौख्यकी तृष्णा अथवा तीव्र कषायके वशीभूत होकर जो पुण्य-कर्म करना चाहता है वह वास्तव में पुण्यकर्मका सम्पादन कर सकता है या कि नहीं ? और ऐसी इच्छा धर्मकी साधक है या बाधक ? वह खूब समझता है कि सकाम धर्मसाधन मोह-क्षोभादिसे घिरा रहनेके कारण धर्मकी कोटिसे निकल जाता है; धर्म वस्तुका स्वभाव होता है और इसलिये कोई भी विभावपरिणति धर्मका स्थान नहीं ले सकती । इसीसे वह अपनी धार्मिक क्रियाओंमें तद्रूपभावकी योजना द्वारा प्राणका संचार करके उन्हें सार्थक और सफल बनाता है । ऐसे ही विवेकी जनोंके द्वारा अनुष्ठित धर्मको सब-सुखका कारण बतलाया है । विवेककी पुट बिना अथवा उसके सहयोगके अभाव में मात्र कुछ क्रियाओंके अनुष्ठानका नाम ही धर्म नहीं है । ऐसी क्रियाएँ तो जड मशीनें भी कर सकती हैं और कुछ करती हुई देखी भी जाती हैं—फोनोग्राफके कितने ही रिकार्ड खूब भक्ति-रसके भरे हुए गाने तथा भजन गाते हैं और शास्त्र पढ़ते हुए भी देखने में आते हैं । और भी जड़मशीनोंसे आप जो चाहें धर्मकी बाह्य क्रियाएँ करा सकते हैं । इन सब क्रियाओंको करके जड़मशीनें जिस प्रकार धर्मात्मा नहीं बन सकतीं और न धर्मके फलको ही पा सकती हैं, उसी प्रकार अविवेक-पूर्वक अथवा सम्यग्ज्ञानके बिना धर्मकी कुछ क्रियाएँ कर लेने मात्रसे ही कोई धर्मात्मा नहीं बन जाता और न धर्मके फलको ही पा सकता है । ऐसे अविवेकी मनुष्यों और जड़मशीनों में कोई विशेष अन्तर नहीं होता—उन की क्रियाओंको सम्यक्चारित्र न कह कर 'यांत्रिक चारित्र' कहना चाहिये । हां, जड़मशीनोंकी अपेक्षा ऐसे मनुष्योंमें मिथ्याज्ञान तथा मोहकी विशेषता होनेके कारण वे उसके द्वारा पाप-बन्ध करके अपना अहित

*चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो ।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥ ७ ॥

× देखो, कल्याणमन्दिर स्तोत्रका 'आकर्णितोऽपि' आदि पद्य ।

†भावहीनस्य पूजादि-तपोदान-जपादिकम् ।
व्यर्थं दीक्षादिकं च स्यादजाकण्ठे स्तनाविव ॥"

ज़रूर कर लेते हैं—जब कि जड़मशीनें वैसा नहीं कर सकतीं। इसी यांत्रिक चारित्रके भुलावेमें पड़कर हम अक्सर भूले रहते हैं और यह समझते रहते हैं कि हमने धर्मका अनुष्ठान कर लिया! इसी तरह करोड़ों जन्म निकल जाते हैं और करोड़ों वर्षकी बाल-तपस्या से भी उन कर्मोंका नाश नहीं होपाता, जिन्हें एक ज्ञानी पुरुष त्रियोगके संसाधन-पूर्वक क्षणमात्रमें नाश कर डालता है। अस्तु।

इस विषयमें स्वामी कार्तिकेयने, अपने अनुप्रेक्षा ग्रंथमें, कितना ही प्रकाश डाला है। उनके निम्न वाक्य ख़ास तौरसे ध्यान देने योग्य हैं :—

कम्मं पुरणं पावं हेऊ तेसिं च होंति सच्छिदरा।
मंदकसाया सच्छा तिव्वकसाया असच्छा हु॥
जीवो वि हवइ पावं अइतिव्वकसायपरिणदो णिच्चं।
जीवो हवेइ पुरणं उवसमभावेण संजुत्तो॥
जोअहिलसेदि पुरणं सकसाओ विसयसोक्खतण्हाए।
दूरे तस्स विसोही विसोहिमूलाणि पुरणाणि॥
पुरणासए ण पुरणं जदो णिरीहस्स पुरणसंपत्ती।
इय जाणिऊण जइणो पुरणे वि म आयरं कुणह॥
पुरणं बंधदि जीवो मंदकसाएहि परिणदो संतो।
तम्हा मंदकसाया हेऊ पुरणस्स णहि वंछा॥

—गाथा नं० ९०, १९०, ४१० से ४१२

इन गाथाओं में बतलाया है कि—'पुण्य कर्मका हेतु स्वच्छ, (शुभ) परिणाम हैं और पाप कर्म का हेतु अस्वच्छ (अशुभ या अशुद्ध) परिणाम। मंदकषायरूप परिणामोंको स्वच्छ परिणाम और तीव्र कषायरूप परिणामोंको अस्वच्छ परिणाम कहते हैं॥ जो जीव अतितीव्र कषायसे परिणत होता है, वह पापी होता है और जो उपशमभाव से—कषाय की मंदता से—युक्त रहता है वह पुण्यात्मा कहलाता है॥ जो जीव कषाय-भावसे युक्त हुआ विषयसौख्य की तृष्णा से—इन्द्रिय-विषय को अधिकाधिक रूपमें प्राप्त करने की तीव्र इच्छा से पुण्य करना चाहता है—पुण्य क्रियाओंके करने में प्रवृत्त होता है—उससे विशुद्धि बहुत दूर रहती है, और पुण्य-कर्म विशुद्धिमूलक-चित्तकी शुद्धि पर आधार रखने वाले-होते हैं। अतः उनके द्वारा पुण्यका सम्पादन नहीं होसकता—वे अपनी उन धर्मके नामसे अभिहित होने वाली क्रियाओंको करके पुण्य पैदा नहीं कर सकते॥ चूंकि पुण्यफलकी इच्छा रखकर धर्म-क्रियाओंके करनेसे—सकाम धर्मसाधनसे—पुण्यकी सम्प्राप्ति नहीं होती, बल्कि निष्काम-रूपसे धर्मसाधन करने वालेके ही पुण्यकी संप्राप्ति होती है, ऐसा जानकर पुण्यमें भी आसक्ति नहीं रखनी चाहिये॥ वास्तवमें जो जीव मंद कषायसे परिणत होता है वही पुण्य बांधता है, इसलिये मंदकषाय ही पुण्यका हेतु है, विषयवांछा पुण्यका हेतु नहीं—विषयवांछा अथवा विषया सक्ति तीव्रकषायका लक्षण है और उसका करने वाला पुण्यसे हाथ धो बैठता है।

इन वाक्योंसे स्पष्ट है कि जो मनुष्य धर्म-साधनके द्वारा अपने विषय-कषायोंकी पुष्टि एवं पूर्ति चाहता है उसकी कषाय मन्द नहीं होती और न वह धर्मके मार्ग पर स्थिर ही होता है। इसलिए उसके द्वारा वीतराग भगवानकी पूजा-भक्ति-उपासना तथा स्तुति-पाठ, जप-ध्यान, सामायिक, स्वाध्याय, तप, दान और व्रत-उपवासादिरूपसे जो भी धार्मिक क्रियाएँ बनती हैं वे सब उसके आत्मकल्याणके लिए नहीं होतीं—उन्हें एक प्रकारकी सांसारिक दुकानदारी ही समझना चाहिए। ऐसे लोग धार्मिक क्रियाएं करके भी पाप उपार्जन करते हैं और सुखके स्थानमें उल्टा दुखको निमन्त्रण देते हैं। ऐसे लोगोंकी इस परिणतिको श्रीशुभचन्द्राचार्यने, ज्ञानार्णवग्रन्थके २५वें प्रकरणमें,

निदान-जनित आर्त्तध्यान लिखा है और उसे घोर दुःखोंका कारण बतलाया है। यथा—

पुण्यानुष्ठानजातैरभिलषति पदं यज्जिनेन्द्रामराणां,
यद्वा तैरेव वांछत्यहितकुलकुजच्छेदमत्यन्तकोपात्।
पूजा-सत्कार-लाभ-प्रभृतिकमथवा याचते यद्विकल्पैः
स्यादार्त्तं तन्निदानप्रभवमिहनृणां दुःखदावोग्रधाम ॥

अर्थात्—अनेक प्रकारके पुण्यानुष्ठानोंको—धर्म कृत्योंको—करके जो मनुष्य तीर्थंकरपद तथा दूसरे देवोंके किसी पदकी इच्छा करता है अथवा कुपित हुआ उन्हीं पुण्याचरणोंके द्वारा शत्रुकुल-रूपी वृक्षोंके उच्छेदकी वांछा करता है, और या अनेक विकल्पोंके साथ उन धर्म-कृत्योंको करके अपनी लौकिक पूजा प्रतिष्ठा तथा लाभादिककी याचना करता है, उसकी यह सब सकाम प्रवृत्ति 'निदानज' नामका, आर्त्तध्यान है। ऐसा आर्त्तध्यान मनुष्योंके लिये दुःख-दावानल-का अग्रस्थान होता है—उससे महादुःखोंकी परम्परा चलती है।

वास्तवमें आर्त्तध्यानका जन्म ही संक्लेश परिणामोंसे होता है, जो पाप बन्धके कारण हैं। ज्ञानार्णवके उक्त प्रकरणान्तर्गत निम्न श्लोक में भी आर्त्तध्यानको कृष्ण-नील-कापोत ऐसी तीन अशुभ लेश्याओंके बल पर ही प्रकट होने वाला लिखा है और साथ ही यह सूचित किया है कि यह आर्त्तध्यान पाप-रूपी दावानलको प्रज्वलित करनेके लिये इन्धन-के समान है—

कृष्ण-नीलाद्य सल्लेश्याबलेन प्रविजृम्भते।
इदंदुरितदावार्चिः प्रसूतेरिन्धनोपमम् ॥ ४० ॥

इससे स्पष्ट है कि लौकिक फलोंकी इच्छा रखकर धर्मसाधन करना धर्माचरणको दूषित और निष्फल ही नहीं बनाता बल्कि उल्टा पापबन्धका कारण भी होता है, और इसलिए हमें इस विषयमें बहुत ही सावधानी रखनेकी ज़रूरत है। हमारा सम्यक्त्व भी इससे मलिन और खण्डित होता है। सम्यक्त्वके आठ अंगोंमें निःकांक्षित नामका भी एक अंग है, जिसका वर्णन करते हुए श्रीअमितगति आचार्य अपने उपासका-चारके तीसरे परिच्छेदमें साफ़ लिखते हैं—

विधीयमानाःशम-शील-संयमाः
श्रियं ममेमे वितरन्तु चिन्तिताम्।
सांसारिकानेकसुखप्रवर्द्धिनी
निष्कांक्षितो नेति करोति कांक्षाम् ॥ ७४ ॥

अर्थात्—निःकांक्षित अंगका धारक सम्यग्दृष्टि इस प्रकारकी वांछा नहीं करता है कि मैंने जो शम शील और संयमका अनुष्ठान किया है वह सब धर्माचरण मुझे उस मनोवांछित लक्ष्मी को प्रदान करे जो नाना प्रकारके सांसारिक सुखोंमें वृद्धि करनेके लिए समर्थ होती है—ऐसी वांछा करनेसे उसका सम्यक्त्व दूषित होता है।

इसी निःकांक्षित सम्यग्दृष्टिका स्वरूप श्रीकुन्दकुन्दा-चार्य ने 'समयसार'में इस प्रकार दिया है—

जो ण करेदि दु कंखं कम्मफले तह य सव्वधम्मेसु।
सो णिक्कंखो चेदा सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥ २४८ ॥

अर्थात्—जो धर्मकर्म करके उसके फलकी—इन्द्रिय विषयसुखादिकी इच्छा नहीं रखता है—यह नहीं चाहता है कि मेरे अमुक कर्मका मुझे अमुक लौकिक फल मिले—और न उस फलसाधनकी दृष्टिसे नाना प्रकारके पुण्यरूप धर्मोंको ही इष्ट करता है—अपनाता है—और इस तरह निष्कामरूपसे धर्मसाधन करता है, उसे निःकांक्षित सम्यग्दृष्टि समझना चाहिये।

यहां पर मैं इतना और बतला देना चाहता हूं कि श्री तत्त्वार्थसूत्रमें क्षमादि दश धर्मोंके साथमें 'उत्तम'

विशेषण लगाया गया है—उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दवादि-रूपसे दश धर्मोंका निर्देश किया है। यह विशेषण क्यों लगाया गया है? इसे स्पष्ट करते हुए श्रीपूज्यपाद आचार्य अपनी सर्वार्थसिद्धि टीका में लिखते हैं—

"दृष्टप्रयोजनपरिवर्जनार्थमुत्तमविशेषणम्।"

अर्थात्—लौकिक प्रयोजनों को टालने के लिए 'उत्तम' विशेषण का प्रयोग किया गया है।

इससे यह विशेषणपद यहां 'सम्यक्' शब्दका प्रतिनिधि जान पड़ता है और उसकी उक्त व्याख्यासे स्पष्ट है कि किसी लौकिक प्रयोजनको लेकर—कोई दुनियावी ग़र्ज़ साधनेके लिये—यदि क्षमा-मार्दव-आर्जव-सत्य-शौच संयम-तप-त्याग-आकिंचन्य ब्रह्मचर्य इन दश धर्मोंमें से किसी भी धर्मका अनुष्ठान किया जाता है तो वह अनुष्ठान धर्मकी कोटिसे निकल जाता है—ऐसे सकाम धर्मसाधनको वास्तवमें धर्मसाधन ही नहीं कहते। धर्मसाधन तो स्वरूपसिद्धि अथवा आत्मविकास के लिये आत्मीय कर्त्तव्य समझ कर किया जाता है, और इसलिये वह निष्काम धर्मसाधन ही हो सकता है।

इस प्रकार सकाम धर्मसाधनके निषेधमें आगमका स्पष्ट विधान और पूज्य आचार्योंकी खुली आज्ञाएं होते हुए भी, खेद है कि हम आज-कल अधिकांशमें सकाम धर्मसाधनकी ओर ही प्रवृत्त हो रहे हैं। हमारी पूजा-भक्ति-उपासना, स्तुति-वन्दन-प्रार्थना, जप, तप, दान और संयमादिकका सारा लक्ष लौकिक फलोंकी प्राप्तिकी तरफ ही लगा रहता है—कोई उसे करके धन-धान्यकी वृद्धि चाहता है तो कोई पुत्रकी संप्राप्ति, कोई रोग दूर करनेकी इच्छा रखता है तो कोई शरीरमें बल लानेकी, कोई मुकदमेमें विजयलाभके लिये उसका अनुष्ठान करता है तो कोई अपने शत्रुको परास्त करनेके लिये, कोई उसके द्वारा किसी ऋद्धि-सिद्धिकी साधनामें व्यग्र है तो कोई दूसरे लौकिक कार्योंको सफल बनानेकी धुनमें मस्त, कोई इस लोकके सुख चाहता है तो कोई परलोकमें स्वर्गादिकोंके सुखोंकी अभिलाषा रखता है!! और कोई कोई तो तृष्णाके वशीभूत होकर यहां तक अपना विवेक खो बैठता है कि श्री वीतराग भगवानको भी रिश्वत (घूस) देने लगता है—उनसे कहने लगता है कि हे भगवान आपकी कृपा से यदि मेरा अमुक कार्य सिद्ध होजायगा तो मैं आपकी पूजा करूंगा, सिद्धचक्रका पाठ थापूंगा, छत्रचँवरादि भेंट करूंगा, रथ-यात्रा निकलवाऊंगा, गजरथ चलवाऊंगा अथवा मन्दिर बनवादूंगा!! ये सब धर्मकी विडम्बनाएं हैं! इस प्रकार की विडम्बनाओं से अपने को धर्मका कोई लाभ नहीं होता और न आत्म-विकास ही सध सकता है। जो मनुष्य धर्मकी रक्षा करता है—उसके विषयमें विशेष सावधानी रखता है—उसे विडम्बित या कलंकित नहीं होने देता, वही धर्मके वास्तविक फलको पाता है। *'धर्मो रक्षति रक्षितः'* की नीतिके अनुसार रक्षा किया हुआ धर्म ही उसकी रक्षा करता है और उसके पूर्ण विकास को सिद्ध करता है।

ऐसी हालतमें सकाम धर्मसाधनको हटाने और धर्मकी विडम्बनाओंको मिटानेके लिये समाजमें पूर्ण आन्दोलन होने की ज़रूरत है। तभी समाज विकसित तथा धर्मके मार्ग पर अग्रसर हो सकेगा, तभी उसकी धार्मिक पोल मिटेगी और तभी वह अपने पूर्व गौरव-गरिमाको प्राप्त कर सकेगा। इसके लिये समाजके सदाचारनिष्ठ एवं धर्मपरायण विद्वानोंको आगे आना चाहिये और ऐसे दूषित धर्माचरणोंकी युक्ति-पुरस्सर खरी-खरी आलोचना करके समाजको सजग तथा सावधान करते हुए उसे उसकी भूलोंका परिज्ञान कराना चाहिये तथा भूलोंके सुधारका सातिशय प्रयत्न कराना चाहिये। यह इस समय उनका ख़ास कर्तव्य है और बड़ा ही पुण्य-कार्य है। ऐसे आन्दोलन-द्वारा सन्मार्ग दिखलानेके लिये अनेकान्तका 'सम्यक्‌पथ' नामका स्तम्भ-द्वार खुला हुआ है। वे इसका यथेष्ट उपयोग कर सकते हैं और उन्हें करना चाहिये।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा,
ता० ७-१-१९३९

* * *

हमारे पराक्रमी पूर्वज

(१)

वीरसेनाचार्य

[ले०—अयोध्याप्रसाद गोयलीय]

सन १४७८ ईस्वीकी बात है, जब जैनों पर भी बौद्धोंकी तरह काफ़ी सितम ढाये गये थे। कोल्हुओंमें पेलकर, तेलके गरम कढ़ाओंमें औंटा कर, जीवित जलाकर और दीवारोंमें चुन कर उन्हें स्वर्गधाम (?) पहुँचाया गया था! जो किसी प्रकार बच रहे, वे जैसे तैसे जीवन व्यतीत कर रहे थे।

उन्हीं दिनों दक्षिण-अर्काट ज़िलेके जिंजी प्रदेश का वेंकटामपेटई राजा था। इसका जन्म कवरई नाम की नीच जाति में हुआ था। उच्च कुलोत्पन्न कन्या-वरण करके उच्चवंशी बननेकी लालसाने उसे बहशी बना दिया था। उसने जैनियोंको बुलाकर अपनी अभिलाषा प्रकट की, कि वे अपने समाजकी किसी सुन्दरी कन्यासे उसका विवाह करदें!

राजाके मुखसे उक्त प्रस्तावका सुनना था, कि जैनी वज्रहतेसे रह गये! यह माना कि 'संसार असार है, जीवन क्षण-भंगुर है, राज्य-वैभव नश्वर एवं पाप का मूल है' ऐसे ही कुछ विचारोंके चक्करमें पड़कर जैन जन अपनी राज्य सत्ता लुटा बैठे थे, प्राचीन गौरव खो बैठे थे, फिर भी वंशज तो नर-केसरियोंके थे। वनका सिंह अपनी जवानी, तेज और शौर्य खो देने पर भी मूँछका बाल क्या उखाड़ने देगा? वह दलदल में फँसे हाथीके समान तो अपमान सहन कर नहीं सकेगा! भलेही जैन अपना पूर्व वैभव तथा बल विक्रम सब गँवा बैठे थे, परन्तु जैनधर्म द्वेषी नीच कुलोत्पन्न राजाको कन्या देदें, यह कैसे हो सकता था? यह उस कन्या और कन्याके पिताका ही नहीं, वरन समूचे जैनसंघके अपमान और उसकी आन-मानका प्रश्न था। यह अभिलाषा प्रकट करनेका साहस ही राजाको कैसे हुआ? यही क्या कम अपमान है। इस धृष्टताका तो उत्तर देनाही चाहिये, पर विचित्र ढंग से, यही सोचकर जैनियोंने कन्या विवाह देनेकी स्वीकृति देदी।

नियत समय और नियत स्थान पर राजा की बारात

पहुँची, किन्तु वहां स्वागत करनेवाला कोई न था। विवाह की चहल-पहल तो दरकिनार, वहां किसी मनुष्य का शब्द तक भी सुनाई न देता था। घबड़ाकर मकान का द्वार खोलकर जो देखा गया तो, वहां एक कुतिया बैठी हुई मिली, जिसके गले में बन्धे हुए काग़ज़ पर लिखा था "राजन ! आपसे विवाह करनेको कोई जैन-बाला प्रस्तुत नहीं हुई, अतः हम क्षमा चाहते हैं। आप इस कुतियासे विवाह कर लीजिये और जैनकन्या की आशा छोड़ दीजिये। सिंहनी कभी शृगालको वरण करते हुए नहीं सुनी होगी।"

वाक्य क्या थे ? ज़हर में बुझे हुए तीर थे। आदेश हुआ राज्यभरके जैनियोंको नष्ट कर दिया जाय। जो जैनधर्म परित्याग करें उन्हें छोड़कर बाक़ी सब परलोक भेज दिये जाएँ। राज्याज्ञा थी, फ़ौरन तामील की गई। जो जैनत्वको खोकर जीना नहीं चाहते थे, वे हँसते हुए मिट गये। कुछ बाह्यमें जैनधर्मका परिधान फैंककर छद्म-वेषी बन गये। और कुछ सचमुच जैनधर्म छोड़ बैठे !

जैनधर्म के बाह्य आचार—जिन-दर्शन, रात्रिभोजन-त्याग और छना हुआ जलपान—सब राज्य द्वारा अपराध घोषित कर दिये गये। अपराधीको मृत्यु-दण्ड देना निश्चत् किया गया। परिणाम इसका यह हुआ कि धीरे-धीरे जनता जैनधर्म को भूलने लगी और अन्य धर्म के आश्रय में जाने लगी।

इन्हीं दिनों दुर्भाग्यसे क्यों, सौभाग्यसे कहिये, एक ग्रहस्थ महाशय टिण्डीवनमके निकट बेलूरमें एक वापीके किनारे छुपे हुए जल छानकर पीरहे थे। राजा के सिपाहियोंने उन्हें देखा और जैनी समझकर बन्दी कर लिया। पुत्र होनेकी खुशीमें राजाने उस समय प्राण-दण्ड न देकर भविष्यमें ऐसा न करनेकी केवल चेतावनी देकर ही उन्हें छोड़ दिया।

सिंहके गोली खाने पर जो स्थिति होती है, वही उक्त ग्रहस्थ महाशयकी हुई। वे चुटीले सांप की तरह क्रोधित हो उठे ! 'बचजानेसे तो मरजाना कहीं श्रेष्ठ था, क्या हम छद्मवेषी बने इसी तरह धर्मका अप-मान सहते हुए जीते रहेंगे—इन्हीं विचारों में निमग्न होकर मारे मारे फिरने लगे, वापिस घर न गये और श्रवणबेलगोला में जाकर जिन-दीक्षा ग्रहण करके मुनि होगये। उन्होंने खूब अध्ययन करके जैनधर्म का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त किया। और फिर सारे दक्षिणमें जीवन-ज्योति जगा दी। सौ जैन रोज़ाना बनाकर आहार ग्रहण करने की प्रतिज्ञा की। यह आज कल के साधुओं जैसी अटपटी और जैनसंघ को छिन्न-भिन्न करने वाली प्रतिज्ञा नहीं थी। यह जान पर खेल जाने वाली प्रतिज्ञा थी। मगर जो इरादेके मज़बूत और बातके धनी होते हैं, वे मृत्युसे भी भिड़ जाते हैं। और सफ-लता उनके पांव चूमा करती है। अतः निर्भय होकर उन्होंने धोंसे पर चोट जमाई और वे गाली, पत्थर, भयङ्कर यंत्रणाओं तथा मान-अपमान की पर्वाह न कर के कार्य-क्षेत्र में उतर पड़े। हाथीकी तरह झूमते हुए जिधर भी निकल जाते थे, मृतको में जीवन डाल देते थे। उनके सत्प्रयत्नसे बिखरीहुई शक्ति पुनःसञ्चित हुई। जो जैन छद्मवेशी बने हुए थे वे प्रत्यक्ष रूप में वीर-प्रभुके झण्डेके नीचे सङ्गठित हुए और जो जैन नहीं रहे थे, वे पुनः जैनधर्म में दीक्षित किए गये। साथ ही बहुतसे अजैन जो जैनधर्मको अनादरकी दृष्टिसे देखते थे, जैनधर्म में आस्था रखने लगे, और जैनी बननेमें अपना सौभाग्य समझने लगे। जिस दक्षिण प्रान्तमें जैन-धर्म लुप्तप्राय हो चुका था। उसी दक्षिणमें फिरसे घर-घरमें णमोकार मन्त्रकी ध्वनि गूंजने लगी। आजभी दक्षिण प्रान्तमें जो जैनधर्मका

प्रभाव और अस्तित्व है, वह सब प्रायः उन्हीं कर्म-वीर के साहसका परिणाम है। जहां जहां उन्होंने अपने चरण-कमल रक्खे, वहांका प्रत्येक अणु हमारे लिए पूज्यनीय बन गया है। मालूम है यह कौन थे? यह श्रीवीरसेनाचार्य थे। आजभी कहीं वीरसेनाचार्य हों; तो फिर घर-घरमें वही जिनमन्त्रोच्चारण होने लगे। और जैनी बारह लाख न रहकर करोड़ोंकी संख्यामें पहुँच जांय।

इन्हीं प्रातःस्मरणीय श्रीवीरसेनाचार्यका समाधि-मरण वेलूरमें हुआ। जैनधर्मके प्रसारमें इनको सहायता देने वाला जिंजीप्रदेशका गंगप्पा ओडइयर नाम का एक गृहस्थ था। इसने जैनधर्मकी प्रभावना और प्रसारमें जो सहायता दी, उसके फलस्वरूप आजभी जब बिरादरीमें दावत होती है; तब सबसे पहले इसीके वंशवालोंको पान दिया जाता है, तथा टिंडीवनम् तालुकाके सीतामूरमें जब भट्टारकका चुनाव होता है तब इस वंश वालेकी सम्मति मुख्य समझी जाती है। इसकी सन्तान अभी तक तायनूरमें वास करती है*। ऐसेही महान् पुरुषोंकी अमर सेवाओं द्वारा जैन-धर्मकी जड़ें इतनी गहरी जमी हुई हैं कि हमारे उखाड़े नहीं उखड़तीं। वर्ना हमने जैनधर्मको मिटानेका प्रयत्नही कौनसा बाक़ी छोड़ा है। ऐसीही महान आत्माओंके बल पर जैन-धर्म पुकार-पुकारकर कह रहा है :—

नक्शे बातिल मैं नहीं जिसको मिटाये आस्माँ।
मैं नहीं मिटनेका जबतक है बिनाये आस्माँ॥

—"बक़"

* इस लेखमें उल्लखित बातें कल्पित अथवा पौराणिक नहीं, किन्तु सब सत्य और विश्वस्त हैं तथा मद्रास-मैसूरके स्मारकोंमें बिखरी हुई पड़ी हैं। उन्हीं पर से यह निबन्ध संकलित किया गया है। —लेखक

अतीत-स्मृति

इन सूखे-हाड़ोंके भीतर भरी धधकती-ज्वाला!
जिसे शान्त करने समर्थ है नहीं असित-घनमाला!!
इस भग्नावशेष की रजमें समुत्थान की आशा—
रखती है अस्तित्व, किन्तु है नहीं देखने वाला!!

माना, आज हुए हैं कायर त्याग पूर्वजों की कृति!
स्वर्ग-अतीत, कला-कौशल, बल, हुआ सभी कुछ विस्मृति!!
पर फिर भी—अवशिष्ट भाग में भी—इच्छित-जीवन है—
वह क्या?—यही कि मनमें खेले नित अतीत की स्मृति!!

पतन-मार्गसे विमुख, सुपथमें अग्रणीयता देकर!
मानवीयताके सुपात्र में अमर अमिय-रसको भर!!
कर सकती नूतन-उमंगमय ज्योति-राशि आलोकित—
भूल न जाएँ यदि हम अपने पूर्व गुणी-जनका स्वर!!

वह थे, हां! सन्तान उन्हींकी हमभी आज कहाते!
पर कितना चरणानुसरणकर कीर्ति-राशि अपनाते!!
'कुछभी नहीं!' इसी उत्तरमें केन्द्रित सारी चेष्टा—
काश! यादभी रख सकते तो इतना नहीं लजाते!!

* * *

भगवत्स्वरूप जैन 'भगवत्'

स्त्री-शिक्षा

[ले०—श्रीमती हेमलता जैन, हिन्दी प्रभाकर]

आधुनिक उन्नतिके युगमें इस संसारकी प्रत्येक जाति उन्नतिके पथ पर अग्रसर होरही है और स्वयंको सबसे अधिक उन्नत बनानेके प्रयासमें संलग्न है। परन्तु खेदका विषयहै कि जैनजाति और विशेषकर जैन स्त्री-जाति अब भी गहरी निद्रामें निमग्न है ! इस वैज्ञानिक उन्नतिके युगमें भी वह चुप्पी साधे हुए है ! इसका कारण विचारने पर केवल अशिक्षाही मालूम पड़ता है। जैन जाति अशिक्षा के घोर अंधकार में डूबी हुई है ! देशकी समस्त स्त्री जतियां जब अविद्या का आवरण पूरी तरह उतारकर फेंकने का निश्चय करके प्रगतिको अपना रही हैं, तब जैन-स्त्री-जातिही इस दौड़में सबसे पीछे है और यही मुख्य कारण है कि जैन समाज दिन प्रति दिन अवनति के गर्तमें फँसता जारहा है।

एक समय था जब कि जैनजातिका साम्राज्य चारों ओर छाया हुआ था, देशके कोने-कोनेमें जैनधर्मका प्रचार था और एक समय अब है कि जैनजातिको बहुत-सी देशकी जातियां जानती भी नहीं, उन्हें इतना भी मालूम नहीं कि जैन जातिका भी संसारमें कुछ अस्तित्व है। इस अवनतिका प्रत्यक्ष कारण यही है कि प्राचीन समयमें समाजकी देवियां पूर्ण शिक्षित होती थीं, उनसे अच्छी शिक्षासम्पन्न, कर्मनिष्ट तथा धर्मप्रेमी संतान पैदा होती थीं और उसके कारण समाज उन्नत होता था, समाजका प्रत्येक अंग सुदृढ़ होता था, प्रत्येक व्यक्ति अपने धर्म व समाज पर किए गए आक्षेपोंको दूर करनेकी योग्यता रखता था, अपने धर्मकी विशेषताएं स्वयं जानता था और औरों को समझानेकी योग्यता रखता था, जिसका फल धर्म की प्रगति होता था। परन्तु खेद है कि अब अशिक्षिता होनेके कारण अबलाएं स्वयंही यह नहीं जानती कि धर्म क्या है ? फिर उनकी संतान में धर्म के प्रति ज्ञान व श्रद्धा किस प्रकार पैदा हो सकती है। उन बेचारियोंको यह पताही नहीं कि धर्मका असली महत्व क्या है और धर्म क्या वस्तु है ? केवल रातको भोजन न

करना, नितप्रति मंदिर हो आना, अष्टमी चतुर्दशीको हरे फल फूल न खाना, छानकर पानी पीना, बस इतने ही पर उनके धर्मकी इति है। सच पूछा जाय तो इसमें उनका कोई अपराध भी नहीं, जब उनको शिक्षाही नहीं मिली, उनको इससे अधिक कुछ बतायाही नहीं गया तो वह क्या कर सकती हैं? अतः अब स्त्री जाति का कर्तव्य है कि वह अपने समाजमें स्त्री शिक्षाके प्रचारका बीड़ा उठायें। अब यह समय उपस्थित होगया है जब हम समाजके कोने-कोनेमें स्त्री-शिक्षाके प्रचारकी आवाज़ पहुँच कर अपना कार्य आरंभ करदें। स्त्रियोंके शिक्षित होने परही समाज पूर्ण उन्नतिको पहुँच सकता है अन्यथा नहीं।

प्राचीन समय में शिक्षित माताओंके गर्भसे ही राजा श्रेणिक जैसे धर्मप्रेमी, अकलंक-निष्कलंक जैसे धर्म पर मिटनेवाले वीर पैदा हुए थे, जिन्होंने धर्मके लिये अपना सर्वस्व अर्पण किया। यदि हम अपने धर्मकी तथा समाजकी उन्नति चाहते हैं तो हमारा प्रधान कर्तव्य है कि हम पूर्णरूपसे स्त्री शिक्षाको अपनायें, समाजमें फिरसे अंजना, सीता, गुणमाला तथा मनोरमा जैसी सतियां पैदा करें। परन्तु यह तभी हो सकेगा जब हम पूर्णरूपसे अपने समाजमें विद्याका प्रचार करनेके लिये दत्तचित्त हो जायेंगी और अपनी कन्याओंको पूर्ण शिक्षित बनाने का दृढ़ संकल्प कर लेंगी। इस समय अन्य जातियों में बहुतसी ग्रेजुएट, वकील, बैरिस्टर तथा डाक्टर देवियां मिलेंगी, परन्तु जैन जातिमें खोजने पर शायद दो-चार ग्रेजुएटही निकल आयें। इससे अधिककी आशा बिल्कुल व्यर्थ है। अतः हमको भी इस उन्नतिकी दौड़ में शीघ्र-से-शीघ्र भाग लेना चाहिए।

अब प्रश्न यह है कि आधुनिक उन्नतिके साथ-साथ हमें आधुनिक शिक्षाप्रणाली को भी अपनाना चाहिए या कि नहीं? वह कैसी है और उसका हम पर क्या असर होता है, इसका विचार करने पर हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि आधुनिक शिक्षा प्राप्त करके कन्यायें प्रायः अभिमानिनी होजाती हैं, अपने सन्मुख किसीको कुछ समझती ही नहीं, फैशनका भूत उन्हें परेशान किये रहता है। वे क्रीम, पाउडर तथा चटक-मटक व व्यर्थकी बातों में फंसे रहनाही अधिक पसंद करती हैं, घरका कार्य करना पसंद नहीं करतीं, तथा निर्लज्ज भी होजाती हैं? इसलिये बहुतसे माता-पिता शिक्षा को पसंद नहीं करते और इच्छा रहते हुए भी अपनी कन्याओंको शिक्षा नहीं दिला सकते। वे कहते हैं कि ऐसी शिक्षितों से तो अशिक्षित ही अच्छी हैं, और उनका यह कहना वास्तवमें सत्य भी है। परन्तु साथही उन्हें यहभी सोचना चाहिए कि यह दोष किसका है? शिक्षाका नहीं बल्कि आधुनिक शिक्षा प्रणाली का है, जिसके सुधार की नितांत आवश्यकता है। शिक्षा यह नहीं कहती कि तुम शिक्षा प्राप्त करके योग्यताके अतिरिक्त अयोग्यता प्राप्त करो। पुस्तकों में यह बात नहीं लिखी होतीं कि तुम फैशनेबिल हो जाओ या घमंडिन बन जाओ।

फलतः यह कर्तव्य तो हमारा ही है कि हम अपने लिए शिक्षाकी उत्तमोत्तम प्रणाली स्वीकार करें। योग्य जैन स्कूल स्थापित करें, उनमें उत्तमोत्तम पुस्तकोंको स्थान दें तथा योग्य शिक्षिकायें नियत करें। शिक्षकाओं का योग्य होना परमावश्यक है, कारण क्योंकि प्रायः उनके ही ऊपर कन्याओंका भविष्य निर्भर रहता है। यदि वे स्वयं योग्य होंगी तो कन्याओंको भी योग्य शिक्षा देने में सफल हो सकेंगी और यदि स्वयं ही अयोग्य होंगी तो दूसरोंको क्या योग्य बना सकेंगी? ऐसी हालत में योग्य शिक्षिकाओं के लिए हमें मुख्य मुख्य स्थानों पर ट्रेनिंग स्कूल स्थापित करने चाहियें, जिनमें

से योग्य शिक्षा प्राप्त करके निकलें और स्कूलोंमें शिक्षिकाके पद को सुशोभित करें।

आधुनिक शिक्षामें कन्याओंको ग्रहप्रबन्धादि तथा धार्मिक शिक्षा देनेका कोई प्रबन्धही नहीं है, जिसका कि हमको अपने जीवनकी प्रत्येक घड़ीमें काम पड़ता है। अतः हमें गणित, इतिहास आदिके अतिरिक्त ग्रहप्रबन्ध शिशुपालन, शिल्पकला, धार्मिक तथा स्वास्थ्य-सम्बन्धी विषयभी पूर्ण रूपसे अपनाने चाहिएं, जिसमें हमें वास्तव में शिक्षित होनेका सौभाग्य प्राप्त हो सके और हम शिक्षा को बदनाम करनेका अवसर प्राप्त न कर सकें। शिक्षा प्राप्त कर लेने पर हमारे हृदयमें नम्रता, सेवाधर्म, देशभक्ति तथा धर्म पर दृढ़ता आदि गुण उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होने चाहिएं। अवगुणोंकी उत्पत्ति हममें इसलिए भी होजाती है कि शालाओंमें जो शिक्षा लड़कोंके लिए नियत है, वही हम लोगोंको भी दी जाती है और जो हमारी प्रकृतिके बिलकुल विरुद्ध होती है। ऐसी शिक्षा जिसका असर हम पर उल्टा पड़ता है और हम लाभके बदले हानि उठाती हैं। इस कारण शिक्षा प्रचारके साथ-साथ हमारा प्रधान लक्ष शिक्षा प्रणालीको उत्तम बनाना भी है, जिससे हमें वास्तविक लाभहो, हम सच्ची उन्नति कर सकें और समाजको उन्नति बनानेमें सहायक हो सकें।

समाज तो वास्तवमें तब तक उन्नति करही नहीं सकता जब तक कि स्त्रियां सुशिक्षिता नहीं होंगी, क्योंकि रथ के दोनों पहिये बराबर होनेसे ही रथ ठीक गतिसे चल सकता है अन्यथा नहीं। नारी समाजका उत्थानही देश धर्म तथा समाजको और खासकर ग्रहस्थ जीवनको उन्नत बना सकता है। अशिक्षाके कारण हमारा ग्रहस्थ जीवनभी अत्यन्त कष्टकर होता जारहा है। हम भीरु, कायर, कलहप्रिय तथा बाह्याडंबर व श्रृंगारमें मग्न रहने वाली होती जा रही हैं, और इसलिए हमारी सन्तानभी पतनोन्मुख हो रही है।

अब प्रश्न यह उठ सकता है कि जब हम पहले बहुत उन्नति दशामें थीं, तो हमारी यह अवस्था क्योंकर हुई? इसके लिए हम कह सकतीं हैं कि जबसे हिन्दुस्तानकी कुछ परिस्थितियोंके वश स्त्री शिक्षाको पाप समझा जाने लगा, पढ़ी लिखी स्त्रियोंको कलङ्क लगाने लगे और उनकी हँसी उड़ने लगी—कहा जाने लगा कि क्या पढ़कर उन्हें नौकरी करना है या पण्डित बनना है, तभीसे हमारी यह शोचनीय दशा हुई है। इस में सन्देह नहीं कि भारतकी नारियां सदासे पतियोंकी अनुगामिनी रही हैं, उनकी आज्ञाही उनके लिए सदा आर्ष वाक्य रही हैं, वे पति आज्ञा पालन अपना कर्तव्य और धर्म समझती रहीं, परन्तु पतियोंने उनके प्रति अपना कर्तव्य भुला दिया वे मनमाने ऐसे नियम बनाते चले गये, जिनसे स्त्रियां मूर्ख होती गईं और पुरुषोंकी दृष्टिमें गिरती गईं। अन्तमें वे केवल तृप्ति और बच्चे पैदा करनेकी मशीनें ही रह गईं। इस तरह हमारा जीवन भार रूप होने लगा और होता जारहा है तथा इन्हीं कारणोंसे हमारा पतन हुआ है।

परन्तु हर्ष का विषय है कि इस उन्नतिके युगमें कुछ समयसे फिर हमारा ध्यान स्त्रीशिक्षाकी ओर आकर्षित हुआ है और हम अपनी त्रुटिको अनुभव करने लगे हैं। अतएव अब वह समय आगया है कि हम समाज के प्रत्येक हिस्सेमें स्त्रीशिक्षाके प्रचारका बीड़ा उठालें और उसे कोने कोनेमें पहुँचा कर ही चैन लें, ताकि वह समय शीघ्रही हमारे नेत्रोंके सन्मुख उपस्थित होजाय, जब कि हमारे समाजकी प्रत्येक स्त्री सुशिक्षिता दृष्टि गोचर हो, हमारा स्त्रीसमाज फिरसे सुसंगठित

हो जाय, घर-घरमें सुख और शान्ति का साम्राज्य उपस्थित होवे और समाज अवनति के गर्त से निकलकर उन्नतिके शिखर पर आरूढ़ होवे, साथही इस प्रकार स्त्री जाति योग्य शिक्षा प्राप्त करके सभ्यताकी आधुनिक दौड़में भाग लेवे और परस्परकी मुठभेड़में कार्य परायणता, उदारता, श्रमशीलता, विद्यानुरागता, नम्रता, देशप्रेम, स्वच्छता आदि गुण ग्रहण करें और पुरुषोंके औद्धत्य, भोगविलास, चटकमटक आदि अवगुणोंको दूरसे ही तिलाञ्जलि देवे। इस प्रकार के आचरण द्वारा उन्नति प्राप्त करके हम अपने प्राचीन गौरवको फिरसे प्राप्त कर सकती हैं। अन्यथा उन्नति सर्वथा असम्भव है। अतः अब हम सबको मिलकर अपने उत्थानका पूरा प्रयत्न करना चाहिए और दिखला देना चाहिए कि जागृत हुआ स्त्री समाज देश धर्म तथा समाजकी क्या कुछ उन्नति कर सकता है ?

मंगल-गीत

उत्कण्ठे ! छिपकर न रहो अब,
समारम्भ हो नर्त्तन !
आज कराओ पलट-पलट,
कल्पना-चित्र दिग्दर्शन !!

उठो, उमंगो ! क़ैद रह चुकीं,
बहुत काल, अब खेलो !
आज़ादी कह रही----उठो,
अपना हक़ बढ़कर लेलो !!

हर्ष ! विश्व-उपवन में निर्भय----
होकर प्रति-दिन फूलो !
दुख ढकेल पाताल-लोक में----
स्वर्ग-लोक को छू लो !!

मनोनीत-सुख वारिद आओ,
बरषो घुमड़-घुमड़ कर !
प्राणों में भर दो नवीनता,
का असीम-सा सागर !!

मन मंगल-मय तन मंगल-मय----
मंगल-मय वसुधा हो !
ओज, तेज, संगीत, राग-मय----
प्रगटित एक प्रभा हो !!

भगवत्स्वरूप जैन 'भगवत्'

* * *

कथा कहानी

ले०—अयोध्याप्रसाद गोयलीय

[इस स्तम्भमें ऐसी छोटी छोटी सुरुचि और भाव पूर्ण पौराणिक, ऐतिहासिक तथा मौलिक कथा-कहानियां देने की अभिलाषा है जो व्याख्यानों, शास्त्र सभाओं और लेखोंमें उदाहरण रूपसे प्रस्तुत की जा सकें। इस ढंगकी कहानियोंके लिखनेका अभ्यास न होते हुए भी कुछ लिखनेका प्रयास किया है, जिससे विद्वान लेखक मनोभाव समझ कर इस ढंग की कथा कहनियां लिखकर भिजवा सकें।]

(१) जब द्रोपदी सहित पांचो पाण्डव वनों में देश-निर्वासनके दिन काट रहे थे असह्य आपत्तियां झेलते हुए भी परस्परमें प्रेम पूर्वक सन्तोषमय जीवन व्यतीत कर रहे थे—तब एक बार श्रीकृष्ण और उनकी पत्नी सत्यभामा उनसे मिलने गये। विदा होते समय एकान्त पाकर सत्यभामाने द्रोपदीसे पूछाः—"बहन ! पांचों पाण्डव तुम्हें प्रेम और आदरकी दृष्टिसे देखते हैं, तुम्हारी तनिकसी भी बातकी अवहेलना करनेकी उनमें सामर्थ्य नहीं है, वह कौनसा मन्त्र है जिसके प्रभावसे ये सब तुम्हारे वशीभूत हैं।" द्रोपदीने सहज स्वभाव उत्तर दिया—"बहन ! पतिव्रता स्त्रीको तो ऐसी बात सोचनीभी नहीं चाहिए। पति और कुटुम्बी-जन सब मधुर वचन तथा सेवासे प्रसन्न होते हैं—मन्त्रादिसे वशीभूत करनेके प्रयत्नमें तो वे और भी परे खिचते हैं।" यह सुनकर सत्यभामा मनही मन अत्यन्त लज्जित हुई।

(२) एक मार्ग चलती हुई बुढ़िया जब काफ़ी थक चुकी तो राह चलते हुए एक घुड़सवारसे दीनतापूर्वक बोलीः—'भैया, मेरी यह गठरी अपने घोड़े पर रखले और जो उस चौराहे पर प्याऊ मिले, वहां दे देना, तेरा बेटा जीता रहे, मैं बहुत थक गई हूँ मुझसे यह अब उठाई नहीं जाती।' घुड़सवार ऐंठकर बोलाः—"हम क्या तेरे बाबाके नौकर हैं, जो तेरा सामान लादते फिरें" और यह कहकर वह घोड़ेको ले आगे बढ़ गया। बुढ़िया बिचारी धीरे धीरे चलने लगी। आगे बढ़कर घुड़सवारको ध्यान आया कि, गठरी छोड़कर बड़ी ग़लती की। गठरी उस बुढ़ियासे लेकर प्याउवालेको न देकर यदि मैं आगे चलता होता, तो कौन क्या कर सकता था ? यह ध्यान आतेही वह घोड़ा दौड़ाकर फिर बुढ़िया के पास आया और बड़े मधुर वचनोंमें बोलाः—"ला बुढ़िया माई, तेरी गठरी ले चलूं, मेरा इसमें क्या बिगड़ता है, प्याऊ पर देता जाऊंगा।" बुढ़िया बोली—"नहीं बेटा वह बात तो गई, जो तेरे दिलमें कह गया है वही मेरे कानमें कह गया है। जा अपना रास्ता नाप, मैं तो धीरे-धीरे पहुंच ही जाऊंगी।" घुड़सवार मनोरथ पूरा न होता देख अपना सा मुंह लेकर चलता बना।

(३) हज़रत मुहम्मद, जबतक अरबवालोंने उन्हें नबी स्वीकृत नही किया था तबकी बात है, घरसे रोज़ाना नमाज़ पढ़ने मस्जिदमें तशरीफ़ लेजाते तो,

रास्तेमें एक बुढ़िया उनके ऊपर कूड़ा डालकर उन्हें रोज़ाना तंग करती। हज़रत कुछ न कहते, चुपचाप मनही मनमें ईश्वरसे उसे सुबुद्धि देनेकी प्रार्थना करते हुए नमाज़ पढ़ने चले जाते। हस्बदस्तूर मुहम्मद साहब एक रोज़ उधर से गुज़रे तो बुढ़िया ने कूड़ा न डाला। हज़रत के मन में कौतूहल हुआ। आज क्या बात है जो बुढ़िया ने अपना कर्तव्य पालन नहीं किया। दरवाज़ा खुलवाने पर मालूम हुआ कि बुढ़िया बीमार है। हज़रत अपना सब काम छोड़ उसकी तीमारदारी (परिचर्या) में लग गये। बुढ़िया हज़रत को देखते ही काँप गई और उसने समझा कि आज उसे अपनी उद्दण्डताओं का फल अवश्य मिलेगा। किन्तु बदला लेने के बजाय उन्हें अपनी सेवा करते देख, उसका हृदय उमड़ आया और उसने मुहम्मद साहब पर ईमान लाकर इस्लाम धर्म ग्रहण किया। हज़रत के जीवनमें कितनीही ऐसी झाँकियाँ हैं, जिनसे विदित होता है कि सुधारकों के पथमें कितनी बाधायें उपस्थित होती हैं और उन सबको पार करनेके लिए, विरोधियोंको अपना मित्र बनानेके लिए, उन्हें कितने धैर्य और प्रेममय जीवनकी आवश्यकता पड़ती है। विरोधीको नीचा दिखाने, बदला लेने आदिकी हिंसक भावनाओंसे अपना नहीं बनाया जा सकता। कुमार्गरत, भूला-भटका प्रेम-व्यवहारसे ही सन्मार्ग पर आ सकता है।

(४) अक्सर ऋद्धिधारी मुनियोंके आहार लेनेके अवसर पर रत्नोंकी वर्षा होती है। एक बारका पुराणों में उल्लेख है कि एक नगरमें जब ऋद्धिधारी मुनियों का आगमन हुआ तो भक्तोंके घर आहार लेते हुए रत्नों की वर्षा होने लगी। इस प्रलोभनको एक बुढ़िया सँवरण न कर सकी और उसने भी विधिवत् आहार बनाकर मुनि महाराजको नवधाभक्ति पूर्वक पड़गाहा। मुनि महाराजके अँजुली करने पर बुढ़िया जल्दी-जल्दी गरम खीर उनके हाथ पर खानेके लिए डाल, ऊपर देखने लगी कि अब रत्नोंकी वर्षा हुई, परन्तु मुनिमहाराज का हाथ तो जल गया, किन्तु रत्न न बरसे। मुनि अन्तराय समझकर चले भी गये। मगर बुढ़िया ऊपर को मुँह किये रत्न-वृष्टि का इन्तज़ार ही करती रही। उसकी समझ में यह तनिक भी नहीं आया कि निस्वार्थ और स्वार्थ मूलकभाव भी कुछ अर्थ रखते हैं?

(५) कौरव और पाण्डव जब बचपनमें पढ़ा करते थे, तब एक रोज़ उन्हें पढ़ाया गया—"सत्य बोलना चाहिए, क्रोध छोड़ना चाहिए।" दूसरे रोज़ सबने पाठ सुना दिया किन्तु युधिष्टिर न सुना सके और वह खोए हुएसे चुप-चाप बैठे रहे, उनके मुँहसे उस रोज़ एक शब्द भी नहीं निकला। गुरुदेव झुंझलाकर बोले—युधिष्ठिर तू इतना मन्दबुद्धि क्यों है! क्या तुझे २४ घण्टे में यह दो वाक्य भी कण्ठस्थ नहीं हो सकते, युधिष्ठिर का गला भर आया वह अत्यन्त दीनता-पूर्वक बोले—गुरुदेव! मैं स्वयं अपनी इस मन्द बुद्धि पर लज्जित हूँ। २४ घण्टेमें तो क्या जीवनके अन्त समय तक इन दोनों वाक्यों को कण्ठस्थ कर सका—जीवन में उतार सका—तो अपने को भाग्यवान् समझूंगा। कलका पाठ इतना सरल नहीं था जिसे मैं इतनी शीघ्र याद कर लेता।" गुरुदेव तब समझे पाठ याद करना जितना सरल है जीवन में उतारना उतना सरल नहीं।

* * *
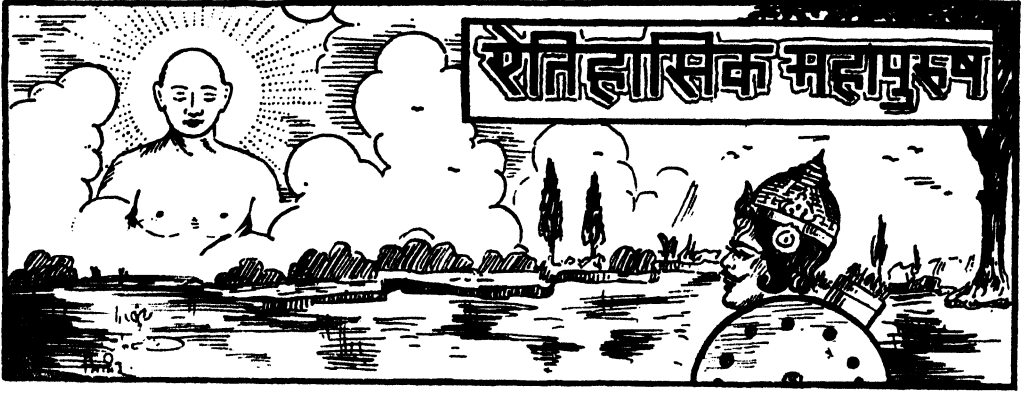
आचार्य हेमचन्द्र

[ले०—श्री० रतनलाल संघवी न्यायतीर्थ, विशारद]

प्राक-परिचय

भारतीय साहित्यके प्रांगणमें प्रादुर्भूत श्रेष्ठतम विभूतियोंमेंसे कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र भी एक पवित्र और श्रेष्ठतमदिव्य विभूति हैं। विक्रम संवत् ११४५ की कार्तिक पूर्णिमा ही इन लोकोत्तर प्रतिभा-संपन्न महापुरुषका पवित्र जन्मदिन है। इनकी अगाधि बुद्धि, गंभीरज्ञान और अलौकिक प्रतिभाका अनुमान करना हमारे जैसे अल्पज्ञोंके लिए कठिन ही नहीं बल्कि असम्भव है। आपकी प्रकर्ष प्रतिभासे उत्पन्न महान् मंगलमय ग्रन्थराशि गत सातसौ वर्षोंसे संसारके सहृदय विद्वानोंको आनन्द-विभोर करती हुई दीर्घतपस्वी भगवान् महावीर स्वामीके गूढ़ और शांतिप्रद सिद्धान्तोंका सुन्दर रीति से परिचय करा रही है।

साहित्यका एक भी ऐसा अंग अछूता नहीं छूटा है, जिस पर कि आपकी अमर और अलौकिक लेखनी न चली हो, न्याय, व्याकरण, काव्य कोष, छंद, रस, अलंकार, नीति योग, मन्त्र, कथा, चारित्र, आध्यात्मिक और दार्शनिक आदि सभी विषयों पर आपकी सुन्दर और रसमय कृतियाँ उपलब्ध हैं। संस्कृत और प्राकृत दोनोंही भाषाओं में आप द्वारा लिखित महत्वपूर्ण और भावमय साहित्य अस्तित्व में है। कहा जाता है कि अपने बहु-मूल्य जीवनमें आपने साढ़े तीन करोड़ श्लोक प्रमाण साहित्यकी रचना की थी। किंतु भारतीय साहित्य के दुर्भाग्य से उसका अधिकांश अंश नष्ट प्रायः हो चुका है। लेकिन यह परम प्रसन्नताकी बात है कि जो कुछ भी उपलब्ध है, वह भी आपकी उज्ज्वल और सौम्य कीर्त्तिको सदैव बनाये रक्खेगा। समस्त भारतकी ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण विश्वकी संस्कृत-प्राकृत-प्रिय विदुषी जनता आपके दैवी ग्रन्थोंके लिए सदैव ऋणी रहेगी।

महान् प्रतापी राजा विक्रमादित्यकी विद्वत्-समिति

में जो स्थान महाकवि कालिदासका था, और गुणज्ञ राजा हर्षकी राजसभामें जो स्थान गद्य साहित्यके अनुपम कवि बाणभट्टका था; वही स्थान और वैसी ही गौरवपूर्ण प्रतिष्ठा आचार्य हेमचन्द्रकी चौलुक्यवंशी गुजरात-नरेश सिद्धराज जयसिंहकी राज्य-सभा में था अशोकके समान प्रतिभा सम्पन्न और अमारि-पडहके प्रवर्तक परमार्हत महाराज कुमारपालके तो आचार्य हेमचन्द्र साक्षात् राज-गुरु, धर्म-गुरु और साहित्य-गुरु थे।

जीवन-परिचय

आचार्य हेमचन्द्रका जन्म-स्थान गुजरात प्रान्तान्तर्गत "धँधुका" नामक नगर है, जो कि आजभी विद्यमान है। इनकी माताका नाम "पाहिनी-देवी" और पिता का नाम "चाच-देव" था। ये जाति के "मोढ़" महाजन थे। कहा जाता है कि जब हेमचन्द्र अपनी माताके गर्भमें आये, तब इनकी माताने यह स्वप्न देखा कि "मैंने एक चिन्तामणि रत्न पाया है, और उसे अपने गुरुदेवकी सेवामें भेंट कर दिया है।"

सौभाग्यसे दूसरे दिन उसी नगरमें पधारे हुए श्री प्रद्युम्नसूरिके शिष्य आचार्य देवचन्द्रसूरिके सामने पाहिनीदेवी ने अपने स्वप्नकी बात कही। आचार्य ने यही शुभ फल बतलाया कि तुम्हारे गर्भमें एक अगाध बुद्धि सम्पन्न पुत्र-रत्न होगा; जो कि दीक्षित होकर जैन-धर्मकी चिन्तामणिरत्नके समान प्रभावना करेगा। यह भविष्य-वाणी आगे चलकर अक्षरशः सत्य प्रमाणित हुई।

गर्भकालके समाप्त होने पर यथा समय चाचदेव को पुत्र-रत्नकी प्राप्ति हुई। यह सन् १०८८ विक्रम ११४५ कार्तिक पूर्णिमा बुधवारकी बात है। पुत्रका नाम "चंगदेव" रक्खा गया। चंगदेव शरीर और कांतिमें चन्द्रकलाके समान शनैः शनैः बढ़ने लगे। एक दिनकी बात है कि आचार्य देवचन्द्रसूरि ग्रामानुग्राम विहार करते हुए "धंधुका" पधारे और जैन मन्दिर में ठहरे। चंगदेव अपनी माताके साथ उनके दर्शनार्थ आये। आचार्य देवचन्द्रसूरिने चंगदेवकी बालसुलभ चांचल्य और बुद्धिमत्ता देखकर पाहिनी-देवी से कहा कि यह बालक इस कलिकाल में जैनधर्म के लिये भगवान् गौतम जैसा महान् प्रभावक और अत्युच्चकोटिका श्रेष्ठ साहित्यकार होगा तथा सम्पूर्ण गुजरात में "अमारि-अहिंसा" की विजयघोषणा करेगा। इसलिए मेरी इच्छा है कि इसको मुझे भेंट करदे।

माता हर्षातिरेकसे और पुत्र-प्रेमसे आंखोंमें आंसू लाती हुई गद् गद् हो गई और तत्काल ही अपने पति की बिना सम्मति लिये ही पुत्रको गुरुदेव के चरणों में समर्पण कर दिया। यह घटना संवत् ११५० की है। जबकि बालककी आयु केवल पांच वर्षकी थी। आचार्य श्री चांगदेवको साथमें लेकर खंभात पधारे। उस समय खंभातका शासक जैन कुलभूषण मन्त्री उदयन था। वहां पर चांगदेवको संवत् ११५० माघ शुक्ला चतुर्दशी शनिवारको दीक्षा दी और "सोम-चन्द्र" नाम संस्करण किया।

शिशुमुनि सोमचंद्रने दीक्षा-क्षणसे ही विद्याभ्यास और अन्य गुणार्जन में अपनी संपूर्ण शक्ति लगादी और १६ वर्षमें ही अर्थात् २१ वर्षकी आयु होते ही सोमचंद्र महान् विद्वान् और अनेक गुणसम्पन्न महापुरुष होगये। जैन-शास्त्रों और जैनेतर शास्त्रोंका विशाल मननपूर्वक-वाचन, नूतनमार्मिक साहित्य निर्माण करनेकी शक्ति समयज्ञता, दंभरहित भाषामाधुर्यपूर्वक स्वाभाविक व्याख्यान वैभव, प्रखरतेज, प्रचंड वाग्मिता, व्यवहार चतुरता, प्रकर्ष प्रतिभा, मौलिक विद्वत्ता, सामाजिक राजनैतिक और धार्मिक परिस्थितिज्ञता आदि सभी आवश्यक गुण मुनि सोमचंद्रमें स्पष्ट रूपसे झलकने लगे।

आचार्यपद

आचार्य देवचन्द्रसूरिने इस प्रकार आपकी सिद्ध सारस्वता और अन्य शुभ लक्षणोंको देखकर आपको आचार्य पदवी प्रदान करनेका कल्याणप्रद निर्णय किया। तदनुसार संवत् ११६६ वैसाख शुक्ला तृतिया (इक्षु-तृतीया) के दिन मध्याह्नकाल में खंभात शहरमें चतुर्विध संघके सामने आचार्य-पदवी प्रदान की और "आचार्य हेमचन्द्र सूरि" नाम ज़ाहिर किया। इस समय सोमचन्द्रसूरि उर्फ़ हेमचन्द्रसूरिकी आयु केवल २१ वर्षकी ही थी।

हमारे चरित्र-नायककी पूज्य माताजीने भी दीक्षा लेली थी। इस अवसर पर उन्हें भी साध्वी-वर्गमें "प्रवर्तिनी" जैसा पवित्रपद प्रदान किया गया। यह आचार्य हेमचन्द्र-की असाधारण मातृ भक्तिका ही सुन्दर परिणाम था।

आचार्य हेमचन्द्र खंभातसे विहार करके विविध स्थानोंको पवित्र करते हुए गुजरातकी राजधानी पाटणमें पधारे उससमय वहांके शासक सिद्धराज जयसिंह थे।

एक दिन मार्गमें हाथी पर बैठकर जाते हुए राजा की दृष्टि आचार्य हेमचन्द्र पर पड़ गई। लक्षणोंसे उसे ये महाप्रतापी नर-शार्दूल प्रतीत हुए। तत्काल हाथी उनके समीप लेगया और हाथ जोड़कर बोला कि हे महाराज ! कृपया मेरे योग्य सेवा फरमाइये। आचार्य श्रीने काव्यमय उत्तर दिया कि "हे राजन् ! अपने इस दिग्गजको आगे-आगे चलाता ही जा; पृथ्वीको धारण करने वाले दिग्गज भले ही व्याकुल हों, क्योंकि वास्तवमें पृथ्वीका भार तो तुम्हीने अपने विशाल कंधों पर धारण कर रक्खा है। अतः दिग्गजों की परवाह कौन करता है।" चतुर और मर्मज्ञ राजा काव्य-चमत्कृतिपूर्ण उत्तर सुनकर परम संतुष्ट हुआ और विनय पूर्वक निवेदन किया कि, 'हे महाभाग ! आप सदैव राज-सभा में पधारा करें। आप मेरी सभाके लिये सूर्य—समान सिद्ध होंगे। उस दिनसे आचार्य श्री राजाकी विद्वत-सभाको सुशोभित करने लगे। शनैः शनैः दिन प्रति दिन राजाकी हमारे चरित्र नायकके प्रति अनन्य भक्ति और असाधारण श्रद्धा बढ़ने लगी। तत्कालीन सभी जैन और जैनेतर लब्धप्रतिष्ठित विद्वान् आचार्य हेमचन्द्रकी प्रतिभा का लोहा मानते हुए अपनी अपनी विद्वत्ता को उनकी अद्वितीय विद्वत्ता के आगे हीन-कोटि की समझने लगे थे। यही कारण है कि सिद्धराज जयसिंहने जब राज्य-सभा में नवीन संस्कृत-व्याकरणकी रचनाका प्रस्ताव रक्खा तो सभी विद्वानों की दृष्टि एक साथ आचार्य हेमचन्द्र पर पड़ी। सभीने अपनी अपनी असमर्थता प्रगट करते हुए एक स्वरसे यही कहा कि इस पवित्र और आदर्श कार्यका भार केवल आचार्य हेमचन्द्रही सहन कर सकते हैं। अन्य किसीमें इस कार्यको पूर्ण करनेके लिए न तो इतनी प्रतिभा ही है और न इतनी शक्ति ही है।

गुजरातका प्रधान व्याकरण

अन्तमें आचार्य हेमचन्द्रने सिद्धराज जयसिंहके विनयमय आग्रहसे सुन्दर, प्रासादगुणसंपन्न, प्राञ्जल और लालित्यपूर्ण संस्कृत-भाषामें सर्वाङ्गसम्पन्न बृहत् व्याकरणकी रचना की। व्याकरणका नाम "सिद्ध-हेम" रक्खा गया। "सिद्ध' से तात्पर्य सिद्धराज जयसिंह हैं और "हेम" से मतलब आचार्य हेमचन्द्र हैं।

इस व्याकरणमें ८ अध्याय हैं। प्रथम सात अध्याय में संस्कृत भाषाका व्याकरण है और शेष आठवें में प्राकृत, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिकापैशाची और अपभ्रंश इन ६ भाषाओंका व्याकरण है। प्रथम सात अध्यायोंकी सूत्र-संख्या ३५६६ है और आठवेंकी १११९ हैं। सम्पूर्ण मूल ग्रन्थ ११०० श्लोक प्रमाण है।

संस्कृत-भागके प्रकरणोंका क्रम इस प्रकार है :—संज्ञा; स्वर-संधि, व्यंजन-संधि, नाम, कारक, षत्वणत्व, स्त्री-प्रत्यय, समास, आख्यात (क्रिया) कृदन्त, तद्धित और प्राकृत-प्रक्रिया। इस पर स्वयं आचार्य श्री ने दो वृत्तियाँ लिखी हैं। बृहद्वृत्ति १८ हज़ार श्लोक प्रमाण है और छोटी ६ हज़ार श्लोक प्रमाण है। इनमें सब संस्कृत-शब्दोंकी सिद्धि आगई है। कोई भी शेष नहीं रही है। छोटी-टीका मन्द बुद्धिवालेके लिये अत्यन्त उपयोगी और सरल है। धातुरूप ज्ञानके लिये धातु-परायण उर्फ धातु-पाठ ५ हज़ार श्लोक प्रमाण है। उणादि सूत्र २०० श्लोक प्रमाण हैं। अनेक प्रकारके ललित छन्दों में रचित "लिंगानुशासन" तीन हज़ार श्लोक प्रमाण टीका से युक्त है। इसी प्रकार कहा जाता है कि आचार्य हेमचन्द्रने अपने इस व्याकरण पर ८४००० श्लोक प्रमाण बृहन्यास नामक विस्तृत विवरण भी लिखा था। किन्तु दुर्भाग्यसे आज वह अनुपलब्ध है। सुना जाता है कि उसका थोड़ा सा भाग पाटन और राधनपुरके भण्डारोंमें। है इस प्रकार यह सम्पूर्ण कृति १ लाख और २५ हज़ार श्लोक प्रमाण कही जाती है। १ मूल (दो वृत्ति सहित) २ धातु—(सवृत्ति) ३ गणपाठ (सवृत्ति) ४ उणादि-सूत्र (सटीक) और ५ लिंगानुशासन (बृहतवृत्ति सहित) ये पांच अंग सिद्धहेम व्याकरणके कहे जाते हैं।

स्वोपज्ञवृत्तिमें आचार्यश्रीने प्राचीन वैयाकरणोंके मन्तव्योंकी ऊहापोह-पूर्वक समालोचना की है; इससे व्याकरण-शास्त्रके विकासके इतिहासके अनुसन्धान में महत्त्व-पूर्ण सहायता मिल सकती है। गुजरातके इस प्रधान व्याकरण में सूत्रक्रम, वृत्ति-कौशल, उदाहरण-चातुर्य और व्याकरणके सिद्धन्तोंका विश्लेषण आदि पर विचार करनेसे यह भली प्रकारसे जाना जा सकता है कि यह तत्कालीन उपलब्ध सब व्याकरणोंका नवनीत है। आचार्य हेमचन्द्रकी प्रकर्ष प्रतिभाका प्रदर्शन इसमें पद-पद पर होता है।

इसका आठवां अध्याय सम्पूर्ण भारतीय प्राचीन भाषाओंके व्याकरणों में अपना विशेष स्थान रखता है। संस्कृत व्याकरणके साथ प्राकृत-व्याकरणको भी संयोजित करनेकी परिपाटी आचार्य हेमचन्द्रने ही स्थापित की है। वररुचि और भामह आदि अन्य आचर्योंने भी प्राकृत-व्याकरणकी रचना की है; किन्तु उनका दृष्टिकोण संस्कृत-नाटकों में आई हुई (व्यवहृत) प्राकृत, शौरसेनी आदि भाषाओंका भावार्थ समझने तक ही रहा है, जब कि आचार्य हेमचन्द्रका अपने समय तकके पाये जानेवाले विविध भाषाओंके सम्पूर्ण साहित्यको समझनेके लिये और उन भाषाओंका अपना अपना स्वतंत्रव्यक्तित्व सिद्ध करनेके लिये और उनका आवश्यक सम्पूर्ण व्याकरण रचनेका उद्देश्य रहा है। दूसरी विशेषता यह है कि जिस प्रकार प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि ने "छांदसम" कह कर वेदकी भाषाका व्याकरण लिखा है; उसी तरहसे जैन-आगमोंमें व्यवहृत शब्दों की सिद्धि "आर्षम्" कह कर की है महाराष्ट्रीय जैन प्राकृत और अपभ्रंश-भाषाको समझानेका जितना प्रयत्न आचार्य हेमचन्द्रने किया है; उतना अन्यत्र नहीं देखा जाता है। अपभ्रंश भाषाके प्रति तो आचार्य हेमचन्द्रका वर्णन अद्वितीय है। भारतकी वर्तमान अनेक प्रान्तीय-भाषाओंकी जननी अपभ्रंश ही है। इस दृष्टिसे निश्चय ही भाषा-विज्ञानके इतिहास में आचार्य हेमचन्द्रको यह अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण कृति है। अष्टम-अध्यायमें क्रमसे प्राकृत, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिकापैशाची, और अपभ्रंश-भाषाओंका व्याकरण है। क्रमशः
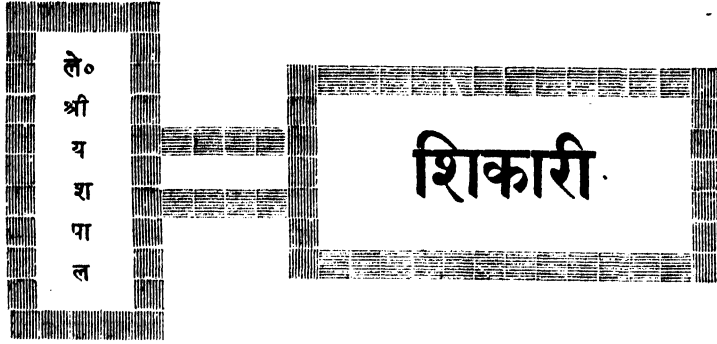
बट-वृक्षकी घनी डालियोंमें सूर्य-तापसे सुरक्षित चिड़िया और उसका नन्हा-सा बच्चा बैठे विश्राम लेरहे थे। गर्मी पड़ रही थी। और वे दोनों दिन-भरके थके-मांदे थे। चिड़िया अधिक थकी नहीं थी। चाहती तो उड़कर सीधी अपने घोंसले तक पहुँच जाती और अपने अन्य बच्चों के बीच आराम करती; लेकिन वह बच्चेकी व्याकुलता न देख सकी। बच्चा बेहद थक गया था और अब एक पग भी और उड़ना उसके लिए दूभर हो गया था। चिड़िया-माँ को उसे छोड़ कर आगे बढ़ जाना सम्भव नहीं था।

ठंडी वायुमें दोनों आँखें मूँदे बैठे थे। थोड़ी देर में चिड़ियाने कहा—'बेटा, अब चलें ?'

'थोड़ा और ठहरो, माँ। अभी चलते हैं।'—अन्य-मनस्क भावसे बच्चेने कहा।

दोनों चुप हो गये।

कुछ देर पश्चात् चिड़िया ने फिर कहा, 'क्यों बेटा, अब चलें ?'

'हाँ, माँ, चलो।'

—और ज्यों ही दोनों उड़ने को हुए कि—

ठाँय-ठाँय—

और बच्चा पृथ्वी पर आ गिरा! चिड़िया ने देखा। क्षण-भरको वह ज्ञान-शून्य हुई कि फिर संभल गई। उसके सम्मुख दो समस्याएँ थीं। बच्चेका प्रेम और जीवनका लोभ।

लेकिन निर्णय वह आस्मान में जाकर करेगी। वह उड़ चली, इतनी ऊँची कि जहाँ मानवबलकी पहुँच नहीं है।

उधर!

शिकारी की दुनाली बन्दूक चिड़ियाकी ओर तन गई। शिकारीने निशाना लगानेका प्रयत्न किया; लेकिन चिड़िया तेज़ीसे उड़ रही थी।

शिकारी निशाना न लगा सका। वह प्रतीक्षा करने लगा कि ज्यों ही चिड़िया पर थामे कि वह घोड़ा दबादे।

सहसा सुना—

'ओ पगले, व्यर्थ है यह सारा परिश्रम। निश्चिंत बैठ। चिड़िया में माँ की ममता है। वह बच्चेके समीप आयगी, अभी आयगी।'

शिकारी ठहर गया।

—माँ की ममता! इतनी कि चिड़िया अपने प्राणों की भी चिन्ता न करेगी? और उस निर्जीव बच्चेके लिए अपने प्राणोंको भी संकटमें डाल देगी? इतना त्याग! इतना बलिदान!!

शिकारीका मस्तिष्क चक्कर खा उठा। बन्दूक तनी थी; लेकिन निश्चेष्ट शरीरको लेकर वह अनुभव कर

रहा था कि उसकी उँगलियोंमें जान नहीं है । और जैसे उसके हृदयकी धड़कन थमती जा रही है ।

चिड़िया आस्मानमें मँडराती रही और सोचती रही । लेकिन सारे मार्ग अवरुद्ध थे । केवल बच्चे के पास जाने का मार्ग ही खुला था ।

विलम्ब न कर एक ही सपाटे में वह अपने बच्चेके मृत शरीर के समीप आ बैठी ।

शिकारीकी बन्दूक तनी थी ।

निशाना लगा था ।

और शिकारी आकुल मन को लिए चुपचाप बैठा था । कहाँ बल था उसमें कि घोड़े को दबाकर चिड़िया को शिकार बनाले ।

क्षण-भर निस्तब्धता छाई रही । चिड़िया निडर पर खोई-सी बच्चे से चिपटी बैठी थी । वह जानती थी कि उसका घातक उसकी घात में बैठा है । इसकी चिन्ता उसे लेशमात्र भी नहीं थी ।

शिकारीकी बन्दूक अनायास ही नीचे आ गिरी ।

एक ओर चिड़िया अपने प्यारे बच्चेके बिछोह पर गरम-गरम आँसू बहा रही थी, दूसरी ओर शिकारीकी आँखें सजल थीं और दो-दो अश्रु-कण उसके कपोलों पर लुढ़क रहे थे ।

अन्तर-ध्वनि

(ले० श्री कर्म्मानन्दजी जैन)

(१)

अस्ताचल पर देख भानुको, सिहर उठा तन-मन सारा !
नर-जीवनका यह मौलिक दिन, और खोदिया इक प्यारा !!
व्यथित हुआ है अन्तरात्मा, विश्व भार ढोते ढोते !
निकला अहो दिवाला ! वैभव, इसी तरह खोते खोते !!

(२)

आशा थी नर-तन पाकर कुछ, घाटा पूरा कर लेंगे !
दर्शन-ज्ञान-चरण-रत्नों से कोठे अपने भर लेंगे !!
फेंक भार को भव सागर से, जल्दी पार उतर लेंगे !
मलिन कोठरी त्याग शुद्धतम, सिद्ध शिला पर घर लेंगे !!

(३)

कल कल करते कल्प बिताये, नहीं कभी सुख-फल पाया !
मृग मरीचिका-सम भटका मैं, अन्त समय फिर पछताया !!
इस पागल पन पर मेरे यह, निशा मौन मुस्काती है !
शान्त व्योम से मूक-ध्वनि कुछ, कानों में कह जाती है !!

(४)

चन्द्रदेव ! मुझपर क्यों हँसते, मैं तो आप दुखारी हूँ !
निज सम्पत खोकर घर घर का, हा ! अब बना भिखारी हूँ !!
यह सब देख हृदय जल उठता, सुप्त भाव जग जाते हैं !
तपत बुझानेको अन्तरकी, नयन नीर भर लाते हैं !!

(५)

दूर हुआ हा ! भानु ज्ञानका, मन-मन्दिर अँधियारी है !
घाव हृदयके छील रही यह, शशि-सुष्मा हत्यारी है !!
मोह-ज्वरसे अति व्याकुल हूँ, मस्तक-पीड़ा भारी है !
खाना पीना बातें करना, सब कुछ लगता खारी है !!

(६)

इसके वैद्य आप ही हैं, यह जान शरण में आया हूँ !
मन है तुच्छ पास "स्वामिन्", बस भेंट उसीकी लायाहूँ !!
दुष्कृत्यों पर पछताता हूँ, नीर नयन से जारी है !
लाखों मुझ से तारे अब तो, जिनवर ! मेरी बारी है !!

महोदयसे भी इसी प्रकार अन्य कवियोंकी भी काव्य समीक्षा प्रगट करनेका अनुरोध है।

श्वेताम्बर जैन समाजका केन्द्रस्थान गुजरात और राजपूताना है। वहां हिन्दी-भाषाका प्रचार पूर्व कालसे ही नहीं रहा। अतः श्वेताम्बर-समाजमें हिन्दी भाषाके ग्रन्थ अपेक्षा कृत कम है। दिगम्बर साहित्यमें हिन्दीग्रन्थों की संख्या बहुत अधिक है। इधर ३०० वर्षोंमें रचित अधिकांश ग्रन्थ हिन्दी में ही हैं। अतः हिन्दी समाजके विद्वानोंका यह सर्व प्रथम एवं परमावश्यक कर्त्तव्य है कि वे अपने प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थोंको पूर्ण खोजकर उनके इतिहास नवनीतको शीघ्रातिशीघ्र जनताके समक्ष रक्खें।

एक बात मैं कहदेना और भी आवश्यक समझता हूँ और वह यह है कि केवल ग्रन्थ प्रकाशित कर देनेसे ही कार्य नहीं चलेगा। ग्रन्थतो बहुतसे प्रकाशित हैं, फिर भी जैन साहित्यके विषयमें जैनेतर विद्वान इतने अधिक अंधकारमें क्यों हैं? इसके कारण पर जब विचार किया जाता है तो यह बात स्पष्ट जान पड़ती है कि हमने अपने ग्रन्थोंको प्रसिद्ध प्रसिद्ध अजैन पुस्तकालयों एवं जैनेतर विद्वानोंके हाथों तक पहुँचानेकी ओर सर्वथा दुर्भिक्ष रक्खा है। अतः अब मेरे नम्र अभिप्रायानुसार हमें अपने प्रत्येक विशिष्ट ग्रन्थोंको जैनेतरपत्र सम्पादकों के पास समालोचनार्थ तथा प्रसिद्ध प्रसिद्ध अजैन पुस्तकालयों एवं विद्वानोंको भेंट स्वरूप भेजना चाहिये। साथ ही हिन्दी सामयिक पत्रोंमें हिन्दी एवं अन्य सभी प्रकार के जैन साहित्यके सम्बन्धमें लेख बहुत अधिक संख्यामें प्रकाशित करने चाहियें तभी हमारा साहित्य विश्वमें अपना उपयुक्त स्थान पासकेगा।

'जिसका मन सत्यमें निमग्न है वह पुरुष तपस्वीसे भी महान् और दानीसे भी श्रेष्ठ है।'

'तीर सीधा होता है और तम्बूरेमें कुछ झुकाव रहता है। इसलिये आदमियोंको सूरतसे नहीं, बल्कि उनके कामोंसे पहिचानो।'

'अहिंसा सब धर्मों में श्रेष्ठ धर्म है। सचाईका दर्जा उसके बाद है।'

'यदि तुम नेकीको चाहते हो तो कामनासे दूर रहो क्योंकि कामना एक जाल और निराशा मात्र है।'

'कामनासे मुक्त होनेके सिवाय पवित्रता और कुछ नहीं है और यह मुक्ति पूर्ण सत्यकी इच्छा करनेसे ही मिलती है।'

'मनुष्यकी समस्त कामनाएँ तुरन्तही पूर्ण होजाया करें यदि वह अपने मनके क्रोधको दूर करदे।'

'हृदयसे निकली हुई मधुरवाणी और ममता मयी स्निग्ध दृष्टिके अन्दरही धर्मका निवासस्थान है।'

'सब प्रकारकी ईर्ष्यासे रहित स्वभावके समान दूसरी और कोई बड़ी नियामत नहीं है।'

'बुराईसे बुराई पैदा होती है, इसलिये आगसे भी बढ़कर बुराईसे डरना चाहिये।'

—तिरुवल्लुवर

* * *

हमारी विभूतियाँ

श्री० नाथूराम प्रेमी

लेखक —
श्री० जैनेन्द्रकुमार

[हमारी समाजमें वर्तमानमें भी ऐसे साहित्य-सेवी, दार्शनिक, लेखक, कवि, दानवीर, धर्मवीर, देशभक्त और लोकसेवक विद्यमान हैं, जिनपर हमें क्या संसारको अभिमान हो सकता है। "अनेकान्तमें" कुछ ऐसीही विभूतियों के परिचय देनेकी प्रबल इच्छा थी। हर्ष है कि मेरी प्रार्थनाको मान देकर श्री० जैनेन्द्रकुमारजीने इस स्तम्भके उद्घाटन करनेकी कृपाकी है। — व्यवस्थापक]

भाई अयोध्याप्रसादजी चाहते हैं कि श्री नाथूराम प्रेमीसे मेरा परिचय है, सो उनके बारेमें कुछ लिखादूं। परिचय मेरा उतना घना नहीं है जितना और बहुतोंका होगा। उम्रमें वह मेरे बड़े हैं। उस अर्थमें हम साथी नहीं हैं। मुझे सुध-बुध नहीं थी, तब उन्होंने हिन्दी साहित्यके क्षेत्रमें स्मरणीय काम किया। बम्बईकी उनकी 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर सीरीज़' हिन्दी-प्रकाशनमें शायद सबसे नामी ग्रन्थ-माला है। उसका आरम्भ हुआ तब मैं बच्चा हूँगा।

परिचय मेरा इस तरह हुआ। मेरे पास एक छोटी-सी पुस्तक लिखी हुई थी। उसका नाम था 'परख'। वह एक प्रकाशकको दी गई थी; लेकिन उन्हें वाइदा करने पर भी छापनेकी सुविधा नहीं हो सकी थी। नया लेखक था। परिचय मेरा था नहीं। कौन मेरी किताब छापता? जो परिचित थे, वही छापना टालते रहे तो मैं और किससे क्या आशा कर सकता था! ऐसी हालतमें स्थानीय प्रकाशक-मित्रके यहाँसे लौटनेपर पुस्तककी पाण्डु-लिपि कोई एक महीने तक मेरे यहाँ पड़ी रही। साहस न होता था, किसे भेजूं? कहाँ भेजूं? प्रकाशकोंके विषयमें ऐसी-वैसी कहानियाँ सुनी थीं और मैं एकदम नया था।

फिर जाने क्या सूझा कि एकबार जीको कड़ा कर मैंने पुस्तक नाथूराम प्रेमीजीको भेजदी। आशा थी वह बैरंग वापिस आजायगी। और उसकी कोई पूछ न होगी। लेकिन भेजनेके चौथे रोज़ही एक ख़त मिला कि पुस्तक आपकी मिली है। देखकर उत्तर दूंगा। उसके तीसरे रोज़ पत्र मिल गया कि पुस्तक हम छाप सकते हैं। और जो टर्म्स हों, लिखें रुपया हम पहले भी भेज सकते हैं।

मुझ नए लेखकके लिए यह व्यवहार अप्रत्याशित था। लेकिन श्री नाथूराम प्रेमीकी यही खूबी है। वह व्यवहारमें अत्यन्त प्रामाणिक हैं। और जहाँ लाभका सौदा किया जाता है, वहाँभी वह प्रामाणिकता नहीं तजेंगे, अपना लाभ छोड़ सकते हैं।

फिर तो परिचय घनिष्ठ ही होता गया। मैंने देखा कि उन्हें सत्साहित्यकी सहज परख है। किसी विद्वत्ताकी

कसौटी पर कसकर वह उसे नहीं जाँचते हैं। ऐसी कसौटी तो बल्कि सब जगह काम भी नहीं दे सकती। सहज-बुद्धि द्वारा ही वह सत् और असत् में भेद करते हैं। उनकी शिक्षा अधिक नहीं है, लेकिन बुद्धि पैनी है। और बारीक-से-बारीक बातमें भी वह खोते नहीं हैं। अध्यवसाय उनका अनुपम है। उसीके बल पर प्रेमीजी आज विद्वान् ही नहीं हैं, सफल साहित्य-कर्ता हैं और सफल व्यवसायी हैं।

एक बातसे वह बरी हैं। महत्वाकांक्षा उनकी कर्तव्यसे आगे नहीं जाती। कल्पनाओंमें वह नहीं बहकते। जो करना है, करते हैं। और नामवरी दूसरेके लिए छोड़ सकते हैं। प्रदर्शन का मोह उन्हें नहीं है। और सभा-समाजमें आप उन्हें पहचाननेमें भूलभी कर सकते हैं। अनायास वह आगे नहीं दीखेंगे और पीछे बैठकर भी वह नहीं सोचेंगे कि पीछे बैठे हैं।

बिना पूँजी बम्बई-जैसे शहर में उन्होंने हिन्दी-भाषा का प्रकाशन आरम्भ किया और उसे सफल बनाया। यह सब प्रामाणिकता और अध्यवसायके बल पर। अपना व्यवसाय सफल और भी बनाते हैं, लेकिन इसमें वह अपनी दृष्टिको भी परिमित बना लेते हैं। प्रेमीजी का काम निरा धंधा नहीं था। उनमें दृष्टिका विस्तार आवश्यक था। नई-से-नई प्रगतिका उस पर प्रभाव था। संकीर्णता उस व्यवसाय में निभ नहीं सकती थी। व्यक्ति जागरूक न रहे तो वह तनिक पिछड़ भी जा सकता है। लेकिन प्रेमीजी पिछड़े नहीं। उनके हिन्दी ग्रन्थ-कार्यालय की साहित्यिक दृष्टिसे अब भी सबसे अधिक प्रतिष्ठा है।

यह छोटी खूबी नहीं है। प्रेमीजी जैन-संस्कारोंको लेकर अ-जैनोंके प्रति तनिक भी पराये नहीं हैं। दिगम्बर हैं; लेकिन श्वेताम्बर भी उनके समान निकट हैं। उसी तरह वह जैनेतर समाजके बीच अपना स्वत्व क़ायम रख सकते हैं। उन्होंने अपनापन नहीं खोया। लेकिन उसे समेटा भी नहीं। वह विस्तृत होते चले गए। विस्तृत अर्थात् समभावी।

हमारा एक से अधिक बार साथ रहनेका मौक़ा आया है। मैंने देखा कि उनमें युवकोचित स्फूर्ति है। कामको वह टालते नहीं; निबटाते जाते हैं। क्या छोटा क्या बड़ा, सब काम उन्हें समान है। इस बारेमें झूठी लज्जा उनमें नहीं है। अपनेको साधारणसे अधिक नहीं गिनते। परिस्थितिके अनकूल अपनेको निभा लेते हैं। साज-बाजसे वह दूर हैं। और जो ऊपरी है, उसमें वह नहीं फँसते।

वह विद्वान् हैं, लेकिन सहानुभूतिसे शून्य नहीं हैं। यह गुण उनमें सामान्य से अधिक है। हृदय उनका कोमल है। इतना कोमल है कि ज़रूरतसे ज़्यादा। तबियतसे वह परिवारके आदमी हैं। सच्चे अर्थोंमें सद्-गृहस्थ। सहानुभूतिको बांटते चलते हैं। अपनेको एकाकी और अलग बताकर बड़े बननेकी उनमें स्पर्धा नहीं है। उनकी विशेषता यह है कि वह उपदेशक नहीं हैं। सुहृद हैं। आपको लैक्चर नहीं देते। चुपचाप आपके काम आजाते हैं। आजके प्रचारवादी युगमें यह विशेषता दुर्लभ है। हर कोई एक-दूसरेको सीख देनेको और सुधारनेको तत्पर दीखता है। काम आनेके समय उद्यत कम लोग दीखते हैं।

पर प्रगटमें उग्रता नहीं तो भी असली दृढ़ता तो उनमें है। उनका जैन-हितैषी अब भी जैनियोंको याद है। अग्रगामी सब आन्दोलनोंके वह साथ दीखे। और भरसक सुधारको वह अपने जीवन में उतारते गए। लेकिन वह इस प्रकार कि विरोध के बीज न पड़ें। हृदयके उदार, पर कर्मसे उन्होंने अनुदारोंका भी साथ नहीं छोड़ा। सामाजिक भावसे वह हिल-मिलकर चले।

यह हेलमेलकी वृत्ति उनके संस्कारों में गहरी है। वह नेता नहीं हैं; न क्रांतिकारी हैं। न शास्ता हो सकते

हैं। वक्ताभी वह नही हैं, वह मंच पर आकर बोलनेसे बेहद बचते हैं। यह नहीं कि उनके विचार सुलझे नहीं हैं, या भावनाकी कमी है। सो तो एक बार जब वह मेरे अनुरोध पर बोले; उनकी वक्तृता अतिशय सुसंगत थी। बेशक जोश उसमें नहीं था। न जोश उभारनेकी उसमें शक्ति थी। स्फूर्ति नहीं, अनुभवकी उसमें अपील थी।

प्रेमीजी कर्मशील कार्यकर्ता हैं। वाग्मिताका उनमें अभाव है। लहरसे उल्टे नहीं चल सकते। लेकिन लहरमें बहते भी नहीं। और विघ्न-बाधाओंके बीच अपने काममें लगे रह सकते हैं।

काममें चुस्त, व्यवहारमें तत्पर, वह एक सच्चे मित्र हैं। बुराईकी उनमें क्षमता नहीं। स्वभावसे धर्म-भीरु। मालूम होता है कि बहुत चेष्टा पूर्वक उन्हें असत् प्रवृत्ति को नहीं जीतना पड़ता। वैसी प्रवृति असलमें उनमें निसर्गसे ही दुर्बल है। अनायास वह नेक हैं। बदी कोई उनसे मानों अत्यन्त प्रयत्न पूर्वक ही हो सकती है। वह मूलसे सज्जन हैं।

मैं मानता हूँ कि उनके जीवन-कार्यमें प्रामाणिक सद्वृत्तिकी एक मूल धारा रही है। और इसीके कारण उनके जीवन में हम सबके लिए बहुत कुछ अनुकरणीय है।

* * *

दर्शन और बन्धन !

(१)
मैं तेरे मन्दिर में प्रवेश—
गद्गद् होकर कर रहा नाथ !
पर मैं तो विकसित पुष्पराशि—
से पूर्ण रहित हूँ, रिक्त हाथ !

(२)
यदि निश्चय सत्य-मार्ग पर हूँ,
उस में न योग्यता का छिपाव;
तब तो यह बन्धन है कलङ्क !
दर्शन-बन्धन में क्या लगाव ?

(३)
शंकाओं से होकर स्वतन्त्र,
हीनत्व, अभाव, इसे न मान;
निर्बलता को आमन्त्रित कर,
तो फिर क्यों मांगू क्षमा-दान ?

(४)
पर बात यहीं तक नहीं अन्त;
आया हूँ यह लेकर विचार—
यदि बन आए तो चरणों पर,
यह तन मन धन दूं सभी वार !

(५)
पर चरणों को तो घेरे हैं—
ये चढ़े हुए अनगिनत हार !
तत्काल इन्हें चुन चुन करके,
मैं फेंकू क्यों न अभी उतार ?

(६)
आते हैं जो आह्लादित हो,
तेरे दर्शन की लिये प्यास !
ये पुष्प-प्रदर्शन कर देते—
तेरे पद-चुम्बन से निराश !!

(७)
ये हैं भक्तों का खण्ड-मान,
सत्ताधारी का अहंकार !
इन पुष्पहार ने किया बन्द—
चरण-स्पर्शन का दिव्य द्वार !!

(रचयिता :—श्री० कल्याणकुमार जैन 'शशि')

गोत्रकर्म-सम्बन्धी विचार

(ले०—ब्र० शीतलप्रसादजी)

['अनेकान्त'की सुन्दर समालोचनाके साथ यह लेख 'जैनमित्र'के पिछले पौष शुक्ल १ के अङ्कमें मुद्रित हुआ है, और वहां इसे 'अनेकान्त'में भी प्रकट कर देनेकी मुझे प्रेरणा की गई है। जैनमित्रका यह लेख अपनेको सुसम्पादनसे विहीन और अवतरणों तथा छापे आदिकी अनेक त्रुटियों—अशुद्धियोंको लिये हुए जान पड़ा, और इसलिये मुझे उसको जैनमित्र परसे ज्योंका त्यों उद्धृत करनेमें संकोच होता था। बादको ब्रह्मचारीजीने उसकी एक अलग मुद्रित कापी भी, मात्र दो तीन अशुद्धियोंको ठीक करके, मेरे पास भेजी और उसे अनेकान्तमें छाप देनेका अनुरोध किया। ऐसी हालतमें भाषा आदिका कोई सुधार-संस्कार किये बिना ही यह लेख ब्रह्मचारीजीकी उक्त कापीके अनुसार ज्योंका त्यों प्रकट किया जाता है। साथमें कुछ स्पष्टीकरणादिके लिये एक सम्पादकीय नोट भी लगा दिया है, जिसे पाठक लेखके अन्तमें देखने की कृपा करेंगे। —सम्पादक]

गोत्रकर्म पर एक लेख बाबू सूरजभानजीका अनेकान्त पृष्ठ ३३ से ४७ तक है व पं० जुगलकिशोरजी लि० पृ० १२९ से १३६ तक है। दोनों लेख विद्वानों को ग़ौर से पढ़ने योग्य हैं।

बाबू सूरजभानजी ने यह सिद्ध किया है कि देवोंमें जैसे उच्चगोत्रका ही उदय है वैसा मनुष्योंमें भी होता है व उसके प्रमाणमें कर्मकाण्ड गोमट्टसार गाथा २८५ लिखी है। उस गाथाकी संस्कृत टीकामें वाक्य हैं—उच्चैर्गोत्रस्योदयो मनुष्ये सर्वदेवभेदके।—भाषामें पं० टोडरमलजीने अर्थ दिया है "उच्चगोत्रका उदय किसी मनुष्यमें व सर्व देवोंमें है। अर्थात् सर्व मनुष्यों में नहीं। आगे कर्मकाण्डकी गाथा २९२ प्रगट करती है कि मनुष्योंमें उदय योग्य प्रकृतियां १०२ हैं। १२२ में से स्थावर, सूक्ष्म, तिर्यंचगति व गत्यानुपूर्वी, आतप, उद्योत, एकेंद्रिय से चार इन्द्रिय जाति, साधारण नरकगति, गत्यानुपूर्वी, नरकायु, तिर्यञ्चआयु, देवायु, वैक्रियिक शरीर, व अङ्गोपांग, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी इन २० को निकाल देना चाहिये। इन १०२ में नीच गोत्र उच्चगोत्र दोनों गर्भित हैं।

गाथा ३०० में मानवोंमें नीचगोत्रकी उदय व्युच्छित्ति पंचम देशविरति गुणस्थानमें है—अर्थात् नीच गोत्रका उदय पांचवें गुणस्थान तक मनुष्योंके भीतर होसकता है, आगे नहीं। कर्मकाण्ड गाथा ३०३–३ से विदित होगा कि भोगभूमिके मानवोंके नीचगोत्रका उदय नहीं होता। उनके ७८ का उदय होता है। भोगभूमिके मानवोंके उच्चगोत्रका ही उदय होता है।

वास्तवमें मनुष्योंके दोनों गोत्रोंका उदय है व एकही वंशमें आचरणके कारण गोत्रका उदय बदल जाता है। आर्यखण्ड में जब कर्मभूमि हुई तब मानवों में नीच-ऊंच का भेद होगया। उस समय जो लोक

निंद्य काम करने वाले मानव थे। उनके नीचगोत्रका उदय होगया, जिनके पुरुषोंमें भोगभूमिमें उच्चगोत्र का उदय था।

जैसे नारक तिर्यंचोंमें सदा नीच व देवों में सदा उच्चका उदय होता है। वैसा मानवोंमें एकसा नियम नहीं है।

गोत्रकर्मका कार्य

गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा ११३-१९७॥ लाख कोड़ कुलोंका वर्णन करती हुई कहती है—"उच्चैर्गोत्र-नीचैर्गोत्रयोः उत्तरोत्तरप्रकृतिविशेशोदयैः संजाताः वंशा कुलानि।"

भावार्थ—उच्चगोत्र नीचगोत्रकी उत्तरोत्तर अनेक प्रकृति विशेष के उदयसे जो उत्पन्न होते हैं वंश उनको कुल कहते हैं। कुलोंका कथन ११७ तक है। पंडित टोडरमलजी लिखते हैं—जिन पुद्गलोंसे शरीर निपजे तिनके भेद कुल हैं।

१९७॥ लाख करोड़ कुल सर्व संसारी जीवोंके होते हैं। गोत्रकर्मके उतने ही भेद होते हैं। उनसे शरीर की जड़ बनती है। जैसा बीज होता है वैसा असर उस वीर्य से उत्पन्न शरीरमें व जीवमें बना रहता है। जैसे आम्रके वृक्ष में व फल में आमके बीजका असर रहता है। गोत्र कर्म जीव विपाकी है। खानदानी बीजका असर जीव में बना रहना गोत्रकर्मका कारण है।

नारकियोंका गोत्रकर्म नारकियोंका आचरण नरक क्षेत्रके योग्य रखता है। देवोंका आचरण गोत्र-कर्म देवोंके अनुसार रखता है। तिर्यंचोंके आचरण तिर्यंचके अनुसार। इन तीन गतिके जितने कुलक्रम हैं वे गोत्रकर्मके उदय से होते हैं, उच्चगोत्र नीचगोत्र की संज्ञाएं परस्पर सापेक्ष हैं। व्यवहार नयसे हैं, उपचार से हैं। जैसे वेदनीय कर्म एक है, व्यवहारसे साता असाता भेद हैं। जब साताकारी बाहरी निमित्त होता है तब जीवके साताका व जब असाताकारी निमित्त होता है तब असाताका उदय कहते हैं। निश्चय नयसे सर्व ही परवेदना असाता है। देवोंके उच्चगोत्रके माननेका कारण उनके शरीर पुद्गलकी उच्चता है। मलमूत्रका न होना, कवलाहारका न होना, रोगादिका न होना। वर्ताव में ऐसा है कि सब देव क्रीड़ा करते हैं।

व्यवहार में कोई परकी देवांगना से भोग नहीं करता है। मदिरा मांस खाते नहीं हैं। मानव नारक व तिर्यंचकी अपेक्षा, पुद्गलोंकी व लौकिक व्यवहारकी उत्तमता है। उन पर्यायों में पीतादि तीन लेश्याएं शुभ होती हैं। किल्विष जातिके देवोंका व भूतपिशाचोंका भी शरीर समचतुस्र संस्थान होता है। यहां वे कामदेव से भी सुन्दर होते हैं। उच्चगोत्रके तारतम्यसे अनेक भेद होते हैं। इससे देवों में जातिभेद हैं। नारकियों का शरीर हुंडक, कुत्सित होता है। खराब पुद्गलोंसे बना है। वर्ताव भी कष्टप्रद है। इससे नीच गोत्रका उदय माना गया है। तिर्यंचोंका शरीर अनेक प्रकार पुद्गलोंसे रचित है। मनुष्यके मुक़ाबलेमें उनका व्यवहार व वर्ताव व रहन-सहन सब निम्न श्रेणीका है। वे घासपर जी सकते हैं, मनुष्य घास पर नहीं जी सकता। इत्यादि कारणोंसे उनके नीचगोत्रका उदय व्यवहार में माना गया है।

मानवोंमें दोनों गोत्रोंका उदय होता है। जिस देशमें व क्षेत्रमें जो वंश निंद्य आचरण वाले माने जाते हैं उनसे उत्पन्न मानव के जन्म समय नीच गोत्र का उदय व जो वंश या कुल अपेक्षासे ऊंच माने जाते हैं उनसे उत्पन्न मानवमें जन्म समय उच्चगोत्र का उदय माना जायगा। यह सर्व ही आर्यखण्ड व म्लेच्छखण्ड

वासियोंके होता है। म्लेच्छखण्डोंमें भी खेती, वाणिज्य, राज्यादि व चांडालादि कर्म करनेवाले होते हैं।

मनुष्योंमें योग्य आचरणकी मान्यता लोगोंमें बढ़नेसे वह मानव माननीय होकर नीच गोत्रके उदयको न भोगकर उच्च गोत्रका उदय भोगता है। जो उच्च गोत्री अयोग्य आचरणसे लोकनिंद्य होजाता है वह उच्च गोत्रके उदयको बंद करके नीच गोत्रका उदय भोगने लगता है। गोत्र परिवर्तन न हो तो कर्मभूमिके मानवों के अवसर्पिणी कालमें भोगभूमिकी संतान होनेसे सबके उच्च गोत्रका उदय ही हो सो ऐसा नहीं माना जासकता, कर्मकाण्डकी गाथाओंसे। उत्सर्पिणीमें पहले कालमें व अवसर्पिणीके छठे कालमें नीच आचरण होनेसे मानवों में बहुतके नीच गोत्रका उदय होता है, फिर उत्सर्पिणी के दूसरे तीसरे कालमें उनकी संतानोंमें योग्य व लोक-मान्य चारित्र होनेसे उच्च गोत्रका उदय होजाता है।

श्री ऋषभदेव द्वारा स्थापित तीन वर्ण लौकिक हैं व काल्पनिक हैं व भरतजी स्थापित ब्राह्मण वर्ण भी काल्पनिक है। जैसे श्री वीरसेनाचार्य धवलटीकामें लिखते हैं। देखो अने० पृ० १३२ नं० (५) काल्पनिकानां।

इन चार वर्ण धारियोंमें जो प्रशंसनीय आचारके धारी हैं वे नीच गोत्रीसे सद् शूद्र याने लोक पूज्य आचरणका धारी शूद्र जैन साधु होसकता है व सुआचरणी म्लेच्छ भी मुनि होसकते हैं। कर्मोंका उदय नोकर्म या बाहरी निमित्तके आधीन आता है। जहां आचरण लोकमान्य है, वहीं उच्चगोत्रका उदय है। जहां आचरण लोक-निंद्य है वहीं नीच गोत्रका उदय मानना होगा। जिस प्रांत या देशकी जनता जिस आचरणको बुरा मानती है वह लोक-निंद्य है। जिसे अच्छा मानती है वह लोकमान्य है।

वर्तमान जानी हुई दुनियांमें सर्व देशोंके मानवोंमें दोनों गोत्रोंका उदय किसी न किसी मानवके मानना होगा। नीच ऊँचकी कल्पना सर्व देशोंमें रहती है। स्वाभाविक है। जैसे शरीरमें उत्तम अंग मस्तक है नीचा अंग पगथली है। जो दीनहीन सेवक मदिरापायी आदि हैं वे सब जगह नीच माने जाते हैं। तो भी कोई नियत आचरण नीच कुलों का स्थापन नहीं किया जा सकता है। यह उच्च व नीच आचरणकी मान्यता उस स्थानके लोगोंकी मान्यतापर है। जैसे कोई ठण्डी हवामें साता कोई असाता मान लेता है।

वास्तवमें गोत्रकर्म वंशकी परिपाटीकी संतानको व उसके आकारको ही निर्णय करता है। उसका असर जीवके वर्तनपर पड़ता है। इससे इसको जीवविपाकी माना गया है।

सम्पादकीय नोट—

इस लेखमें मेरे और बाबू सूरजभानजीके ऐसे दो लेखोंका उल्लेख है और उन्हें ग़ौरसे पढ़नेकी विद्वानोंको प्रेरणा भी की गई है; परन्तु विचार उनमेंसे सिर्फ़ बाबू सूरजभानजीके लेख पर ही किया गया है। अच्छा होता यदि ब्रह्मचारीजी मेरे लेख पर भी अपने विचार प्रकट कर देते। अस्तु। लेखको मैंने दो तीन बार पढ़ा परन्तु उस परसे यह पूरी तौर पर स्पष्ट नहीं हो सका कि लेखमें कौनसी बातको लेकर किन हेतुओंके साथ उसे विचारके लिये प्रस्तुत किया गया है। हां, कुछ प्रमाण-शून्य ऐसी बातें ज़रूर जान पड़ीं जो पाठकोंको चक्करमें डाल देती हैं और कुछ भी निर्णय नहीं कर पातीं। नीचे इन्हीं सब बातोंका दिग्दर्शन कराया जाता है:—

(१) गोम्मटसार-गाथा नं० २८५ की टीकाओंके आधार पर जो यह प्रतिपादन किया गया है कि 'उच्च-

गोत्रका उदय किसी मनुष्यमें है, सर्व मनुष्योंमें नहीं' वह एक प्रकारसे व्यर्थ जान पड़ता है; क्योंकि बाबू सूरजभानजीने सब मनुष्यों अथवा मनुष्यमात्रको उच्च-गोत्री नहीं बतलाया। पं० टोडरमलजीका "किसी मनुष्य" शब्दोंका प्रयोग भी मनुष्योंके किसी वर्गका सूचक जान पड़ता है और वह उस वक्त तक 'कर्मभूमिज' मनुष्योंके लिये व्यवहृत समझा जा सकता है जब तक कि उसके विरुद्ध कोई स्पष्ट उल्लेख न दिखलाया जाय। बाबूजीने अन्तरद्वीपजोंको नीचगोत्री बतलाकर एक वर्गके मनुष्योंको नीचगोत्रके उदयके लिये छोड़ रक्खा है—सन्मूर्च्छन मनुष्य भी नीचगोत्री ही हो सकते हैं—ऐसी हालतमें कर्मभूमिज मनुष्योंको उच्चगोत्री बतलाना उक्त-टीका वाक्योंसे बाधित नहीं ठहरता, और इसलिये विना किसी विशेष स्पष्टीकरणके उनका दिया जाना व्यर्थ जान पड़ता है।

(२) कर्मकाण्डकी गाथा नं० २९२ में मनुष्योंमें उदय योग्य १०२ प्रकृतियोंका कोई उल्लेख नहीं है, वह उल्लेख गाथा नं० २९८ में ज़रूर है और उसमें जिन प्रकृतियोंका उल्लेख है उनमें नीच गोत्र भी शामिल है; परन्तु वहां यह नहीं बतलाया कि ये १०२ प्रकृतियां कर्मभूमिज मनुष्यों में ही उदययोग्य हैं। सामान्यरूपसे मनुष्यजातिके लिये उदय-योग्य कर्मप्रकृतियोंका उल्लेख किया है और साफ तौर पर 'ओघ' शब्दका प्रयोग किया है, जो सामान्यका वाचक है। इससे नीच गोत्रके उदयका निर्देश अन्तरद्वीपजों और सन्मूर्च्छन मनुष्योंके लिये हो सकता है। विना स्पष्टीकरणके मात्र इस समुच्चय-कथनसे कोई नतीजा बाबू सूरजभानजीके लेखके विरुद्ध नहीं निकाला जासकता।

(३) उक्त ग्रन्थकी गाथा नं० ३०० के आधार पर जो यह प्रतिपादन किया गया है कि 'मनुष्योंमें पांचवें गुणस्थान तक नीच गोत्रका उदय हो सकता है' वह एक अच्छा प्रमाण ज़रूर है; परन्तु उसका कुछ महत्व तब ही स्थापित हो सकता है जब पहले यह सिद्ध कर दिया जावे कि 'कर्मभूमिज मनुष्योंको छोड़कर शेष सब मनुष्योंमेंसे किसी भी मनुष्यमें किसी समय पांचवां गुणस्थान नहीं बन सकता है।' विना ऐसा सिद्ध किये उक्त सामान्य कथनसे प्रकृत विषयमें कोई बाधा नहीं आती।

(४) कर्मकाण्ड-गाथा नं० ३०२, ३०३ के आधार पर भोगभूमिया मनुष्योंके, ७८ प्रकृतियोंके उदयका उल्लेख करके, जो उच्चगोत्रका ही उदय होना प्रतिपादित किया गया है वह निरर्थक जान पड़ता है; क्योंकि बाबू सूरजभानजीने अपने लेखमें उन्हें उच्चगोत्री स्वीकार ही किया है सिद्धको साधना व्यर्थ है। हां, इस उल्लेख परसे ब्रह्मचारीजीका मनुष्योंमें उदय योग्य १०२ प्रकृतिवाला उल्लेख और भी निःसार हो जाता है और यह स्पष्टरूपसे समझमें आने लगता है कि मनुष्य जातिके सब वर्गोंमें उदययोग्य प्रकृतियों की संख्या १०२ नहीं है। और इस लिये गाथा नं० २९८ का कथन मनुष्य-सामान्यको लक्ष्य करके ही किया गया है।

(५) "वास्तवमें मनुष्योंके दोनों गोत्रोंका उदय है," ब्रह्मचारीजीके इस वाक्यमें प्रयुक्त हुए 'मनुष्यों' पदका अर्थ यदि 'मनुष्यमात्र' का है, तब तो उनका यह कथन अपने उस पूर्व कथनके विरुद्ध पड़ता है जिसमें वे भोगभूमियोंके सिर्फ उच्चगोत्रका ही उदय बतलाते हैं। और यदि उसका अभिप्राय किसी वर्ग-विशेषके मनुष्योंसे है तो जब तक उसका सूचक कोई विशेषण साथमें न हो तबतक यह नहीं समझा जा सकता कि इस वाक्यके द्वारा बा० सूरजभानजीके

कथनका कोई विरोध होता है। तब यह वाक्य निरर्थक-जैसा ही रह जाता है।

(६) एकही "वंशमें आचरणके कारण गोत्रका उदय बदल जाता है," इसके समर्थनमें कोई प्रमाण नहीं दिया गया, और न इसी बातको किसी प्रमाणसे स्पष्ट किया गया है कि उच्चगोत्री भोगभूमियों की संतान कर्मभूमिका प्रारम्भ होते ही कैसे ऊँच-नीच गोत्र में बँट जाती हैं ? भोगभूमिके समय जिनके पूर्व पुरुषों-माता-पितादिमें उच्चगोत्रका उदय था उनके किसी लोकनिंद्य कामके करने मात्रसे एकदम नीच गोत्रका उदय कैसे होगया ? क्या गोत्रकर्मके उदय और अस्तका आधार लोककी वह अनिश्चित् मान्यता है, जो सदा एकरूपमें नहीं रहा करती ? युक्ति और आगमसे इन सब बातोंका स्पष्टीकरण हुए बिना ब्रह्मचारीजीके उक्त कथनका कुछ भी मूल्य नहीं आँका जा सकता—वह उनकी निजी कल्पना ही समझी जायगी। प्रत्युत इसके, उनका यह कथन श्री पूज्यपाद, अकलंकदेव और विद्यानन्द—जैसे आचार्योंके विरुद्ध पड़ता है; क्योंकि इन आचार्योंने अपने ग्रन्थोंमें—क्रमशः सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिकमें—'उच्चगोत्र उसे बतलाया है, जिसके उदयसे लोकपूजित कुलोंमें जन्म होता है और नीचगोत्र उसे, जिसके उदयसे गर्हित कुलों में जन्म होता है।' यह किसी भी ग्रन्थमें नहीं बतलाया कि लोकपूजित कुलमें जन्म लेकर भी कोई हीनाचरणमात्रसे नीचगोत्री होजाता है अथवा उसका जन्म ही बदल जाता है। और न यही लिखा है कि एक ही जन्म में आचरण के बदल जानेसे गोत्र-कर्मका उदय बदल जाता है। क्या ब्रह्मचारीजी जन्म को लेकर अथवा गोम्मटसारके "भवमस्सिय णीचुच्चं" वाक्यके अनुसार भवको आश्रित करके गोत्र-कर्मकी ऊँच-नीचता नहीं मानते, किन्तु लौकिक कर्माश्रित ऊँच-नीचता का विधान करते हैं और उसीके आधार पर गोत्रकर्मके उदय-अस्त का नृत्य होना बतलाते हैं ? यदि ऐसा है तब तो यह आपका एक निजी सिद्धान्त ही ठहरेगा, और इस सिद्धान्तके अनुसार एक जन्म में सैंकड़ों ही नहीं किन्तु हज़ारों बार गोत्रका परिवर्तन हो जाया करेगा; क्योंकि आम तौर पर मन-वचन-कायके कर्मद्वारा क्षण क्षण में (बहुत कुछ शीघ्र) मनुष्यपरिणति पलटती रहती है—प्रायः शुभ-से अशुभ और अशुभसे शुभरूप होती रहती है। ऐसी हालत में गोत्रकर्म एक खिलवाड़ हो जायगा और उसका कुछ भी सैद्धान्तिक मूल्य नहीं रहेगा। साथ ही, विद्यानन्द स्वामीने आर्योंके उच्चगोत्रका जो उदय बतलाया है वह बात भी नहीं बन सकेगी। अतः ब्रह्मचारीजीको पूर्ण विवेचनात्मक दृष्टिसे अपने कथनका स्पष्टीकरण करना चाहिये। योंही चलती अथवा जो मन आई बात कह देनेसे कोई नतीजा नहीं।

(७) गोम्मटसार--जीव काण्डकी गाथा नं० ११३ में संस्कृतका वैसा कोई वाक्य नहीं है, और न उसका कोई आशय ही संनिविष्ट है, जिसे उक्त गाथा "कहती है" इन शब्दोंके साथ उद्धृत किया गया है और फिर जिसका भावार्थ दिया गया है ! उक्त गाथाकी संस्कृत छाया इस प्रकार है—

> *द्वाविंशतिः सप्त त्रीणि च सप्त*
> *च कुलकोटिशतसहस्राणि।*
> *ज्ञेया पृथिव्युदकाग्निवायु-*
> *कायिकानां परिसंख्या ॥*

हां, एक टीका में वह ज़रूर पाया जाता है, जब कि दूसरी टीकामें उसका अभाव है। और इसलिये उसे एक टीकाकारका अभिमत कहना चाहिये,

न कि मूल गोम्मटसारका। परन्तु उसके उल्लेख-द्वारा और सर्व संसारी जीवोंके १९७॥ लाख कोटि कुलोंका उल्लेख करके ब्रह्मचारीजी विवादस्थ विषयके सम्बंध में क्या विशेष नतीजा निकालना चाहते हैं वह उनके लेख परसे कुछ भी स्पष्ट नहीं होता! आप लिखते हैं---"१९७॥ लाखकोडकुल सर्व संसारी जीवोंके होते हैं। गोत्रकर्म के भी उतने ही भेद होते हैं"। यद्यपि सिद्धान्तग्रंथोंमें गोत्र कर्मकी दो ही प्रकृतियां बतलाई हैं—एक ऊंच गोत्र, दूसरी नीचगोत्र; षटखण्डागम में भूतबलि आचार्यने "एवदियाओ पयडीओ" वाक्यके द्वारा यह नियमित किया है कि गोत्रकर्मकी ये हो दो प्रकृतियां हैं; फिर भी ब्रह्मचारीजीकी इस संख्याका अभिप्राय यदि ऊंच-नीच गोत्रोंकी तरतमताकी दृष्टिसे हो और उसके अनुसार यह मान भी लिया जाय कि गोत्रकर्मके भी कुलों जितने भेद हैं तब भी वे सब भेद ऊँच नीच के मूल भेदों से बाहर तो नहीं हो सकते - ऊँचगोत्रकी तरतमताके जितने भेद हो सकेंगे वे सब ऊंच गोत्रके भेद और नीच गोत्रकी तरतमा के जितने भेद हो सकेंगे वे सब नीच गोत्र के होंगे। ऐसी हालतमें जीवोंके जिस वर्गमें उच्चगोत्रका उदय होगा वहां उच्चगोत्रकी तरतमता को लिये हुए कुल होंगे और जिस वर्गमें नीचगोत्रका उदय होगा उसमें नीचगोत्रकी तरतमता को लिए हुए कुल होंगे। उदाहरणके लिये देवोंके २६ लाख नारकियों के २५ लाख कोटि कुल हैं और देवोंमें उच्चगोत्र तथा नारकियोंमें नीचगोत्रका उदय बतलाया गया है, इससे देवोंके वे सब कुल उच्चगोत्रकी और नारकियोंके नीच गोत्रकी तरतमताको लिये हुए हैं। इसी तरह मनुष्योंके १२ लाख कुलकोटि भी अपने वर्गीकरणके अनुसार ऊँच अथवा नीचगोत्रकी तरतमताको लिये हुए हैं। अर्थात् भोग भूमिया मनुष्योंके कुल जिस प्रकार उच्च-गोत्रकी तरतमताको लिये हुए हैं उसीप्रकार कर्म-भूमिज मनुष्योंके कुल भी उच्चगोत्रकी तरतमता को लिये हुए हो सकते हैं। उच्चगोत्रकी इस तरतमताका अभिप्राय यदि ऊँच-नीच गोत्र किया जायगा तो फिर देवों तथा भोग भूमिया मनुष्योंमें भी ऊँच-नीच दोनों गोत्रों का उदय मानना पड़ेगा। साथ ही, नीचगोत्र-संबन्धी तरमतता की भी वही स्थिति होने से नारकियोंके ऊँच-नीच दोनों ही गोत्रोंका उदय कहना पड़ेगा। और यह सब कथन जैनसिद्धान्तके विरुद्ध जायगा। अतः ब्रह्मचारीजीके उक्त उल्लेखों परसे कोई भी अनुकूल नतीजा निकलता हुआ मालूम नहीं होता, और इसलिये वे निरर्थक जान पड़ते हैं।

(८) ब्रह्मचारीजी लिखते हैं—"जैसा बीज होता है वैसा असर उस वीर्यसे उत्पन्न शरीरमें व जीवमें बना रहता है।" साथही यहभी लिखते हैं कि—"खानदानी बीज का असर जीवमें बना रहना गोत्र कर्मका कारण है।" इन दोनों वाक्योंको पढ़कर बड़ाही कौतूहल होता है और इनकी निःसारताको व्यक्त करनेके लिये बहुत कुछ लिखनेकी इच्छा भी होती है, पर उसके लिये यथेष्ट अवसर और अवकाश न देखकर यहां इतना ही लिख देना चाहता हूँ कि यदि 'जैसा बीज होता है उसका वैसा असर जीव में बना रहता है' ऐसा ब्रह्मचारी-जी मानते हैं तो फिर उन्होंने उच्चगोत्री भोगभूमियाओं की कतिपय सन्तानोंके लिये कर्मभूमिका प्रारम्भ होने पर नीचगोत्री होनेका विधान कैसे कर दिया! उनके बीजमें जो ऊँच गोत्रका असर था वह तो तब बना नहीं रहा!! इसी तरह जब वे आचरणके अनुसार गोत्रका बदल जाना मानते हैं और जिसकी चर्चा ऊपर नं० ६ में की गई है, तब उस परिवर्तनके पूर्व बीजमें जिस गोत्रका जो असर था वह परिवर्तन हो जाने पर कहां

बना रहेगा ? यदि असर बना रहेगा तो भिन्न परिवर्तन नहीं हो सकेगा—कोई भी नीचसे ऊँच और ऊँचसे नीच गोत्री नहीं बन सकेगा;—क्योंकि ब्रह्मचारीजी अपने दूसरे वाक्यमें ख़ानदानी बीजका असर जीवमें बना रहना ही गोत्र कर्मका कारण बतलाते हैं !! फिर तो जैसा कारण वैसा ही कार्य होगा—नीचसे ऊँच और ऊँचसे नीच गोत्ररूप भिन्न कार्य नहीं हो सकेगा। और न ऊँचगोत्री भोगभूमियाओंकी कोई सन्तान ही नीच गोत्री हो सकेगी, और इस तरह आर्यखण्डके सब मनुष्य उच्चगोत्री बने रहेंगे। जान पड़ता है इसपर ब्रह्मचारीजीका कुछ भी लक्ष नहीं गया और उन्होंने यों ही बिना कोई विशेष विचार किये उक्त दोनों वाक्योंकी सृष्टि कर डाली है !!

'बीजका असर जीवमें बना रहना गोत्र कर्मका कारण है' यह निर्देश तो ब्रह्मचारीजीका और भी विचित्र जान पड़ता है ! किस सिद्धान्तग्रन्थमें ऐसा लिखा है, उसे ब्रह्मचारीजीको प्रकट करना चाहिये। श्रीतत्वार्थसूत्र-जैसे ग्रन्थोंमें तो ऊँच-नीच गोत्रके कारण दूसरे ही बतलाये हैं, जिन्हें बाबू सूरजभानजीने अपने लेखके अन्तमें उद्धृतभी किया है और जो '*परात्मनिन्दाप्रशं०*' आदि दो सूत्रों तथा उनके भाष्यादि परसे जाने जासकते हैं।

(९) ख़ानदानी बीजवाले उक्त वाक्यके अनन्तर लिखा है कि—"नारकियोंका गोत्रकर्म नारकियोंका आचरण नारकक्षेत्रके योग्य रखता है। देवोंका आचरण गोत्रकर्म देवोंके अनुसार रखता है। तिर्यंचोंके आचरण तिर्यंचोंके अनुसार। इन तीन गतिके जितने कुलक्रम हैं वे गोत्रकर्मके उदयसे होते हैं।" तब क्या मनुष्योंका गोत्रकर्म मनुष्योंका आचरण मनुष्योंको मनुष्यक्षेत्रके योग्य नहीं रखता है और मनुष्य गतिके जितने कुल क्रम हैं वे मानवोंके उस गोत्र कर्मके उदयसे नहीं होते हैं ? यदि ऐसा है तब तो मनुष्योंके गोत्र कर्मकी इस विशेषताके लिये किसी हेतुका निर्देश साथमें होना चाहिये था। और यदि ऐसा नहीं है, तो फिर मनुष्यके गोत्रका कथन यहां क्यों छोड़ा गया ? तथा तीन गतिसम्बन्धी गोत्रोंके कार्यका उल्लेख करके क्या नतीजा निकाला गया ? यह सब कुछ भी समझमें नहीं आसका।

(१०) देवोंके उच्च गोत्रका मुख्य कारण उनके शरीरपुद्गलकी उच्चता, नारकियोंके नीच गोत्रका कारण उनके शरीरका हुँडक, कुत्सित तथा ख़राब पुद्गलोंसे रचित होना और तिर्यंचोंके नीच गोत्रका कारण उनके शरीर पुद्गलोंकी विविधता तथा उनका घास पर जी सकना बतलाकर, मनुष्योंके लिये ऊँच और नीच दोनों गोत्रोंका जो विधान किया है वह कुछ विलक्षणसा जान पड़ता है। जिस मनुष्यशरीरसे देश-संयम और सकल-संयमका साधन हो सकता है, जिसको पाकर ही मुक्तिकी प्राप्ति हो सकती है, जिसको पानेके लिये देवगण भी तरसा करते हैं—यह आशा लगाये रहते हैं कि कब मनुष्यभव मिले और हम संयम धारण करें—और जिसका मिलना शास्त्रोंमें बड़ा ही दुर्लभ बतलाया है, वह शरीर क्या उच्च पुद्गलोंका बना हुआ नहीं होता ? यदि होता है और गोत्रकर्म शरीरपुद्गलाश्रित है तो फिर मनुष्योंके देवोंकी तरह एक उच्चगोत्रका विधान न करके ऊँच-नीच दो गोत्रोंका विधान क्यों किया गया है ? यदि शरीरपुद्गलोंकी कुछ विविधता इसका कारण हो तो फिर तिर्यंचोंके भी ऊँच-नीच दोनों गोत्रोंका विधान करना चाहिए था। घास खाकर जी सकना यदि उन्हें उच्च गोत्री न बना सकता हो तो मनुष्य भी उच्च गोत्री न बन सकेंगे; क्योंकि वे भी घास अर्थात् बनस्पति-आहार पर जीवित रह सकते हैं और रहते हैं—आर्य समाजियोंमें तो इस बातको लेकर घास-

पार्टी और मांसपार्टी ऐसे दो भेद ही बन गये हैं—और इसलिये ब्रह्मचारीजीका यह लिखना कि "मनुष्य घासपर नहीं जी सकता" कुछ विचित्र-सा ही जान पड़ता है। इसके सिवाय, घास खाकर जीना यदि नीच गोत्रका कारण और नीच गोत्री होनेका सूचक है तो फिर जितने भ मांसाहारी पशु हैं वे सब उच्च गोत्री हो जावेंगे अथवा उन्हें उच्च गोत्री कहना पड़ेगा। कितने ही तिर्यंचोंके शरीर ऐसे सुन्दर और इतने अधिक उच्च पुद्गलोंके बने हुए होते हैं कि मनुष्य भी उन पर मोहित होता है और अपने सुन्दर-से-सुन्दर अंगोंको भी उनकी उपमा देता है। शरीर-पुद्गलोंकी इस उच्चताके कारण उन तिर्यंचोंको भी उच्चगोत्री मानना पड़ेगा। इस तरह ब्रह्मचारीजीने गोत्रकी ऊँच-नीचताका जो माप-दण्ड स्थिर किया है वह बहुत कुछ दूषित तथा आपत्तिके योग्य जान पड़ता है।

(११) आर्यखण्ड और म्लेच्छखण्डोंके मनुष्योंमें ऊँच-नीच गोत्रकी विशेषताका कोई विशेष भेद न करके ब्रह्मचारीजी सभी खण्डोंके मनुष्योंमें जन्म-समयकी अपेक्षा नीचगोत्रका उदय उन सब मनुष्योंके बतलाते हैं जो ऐसे कुलों या वंशोंमें उत्पन्न हुए हों जो उस देश वा क्षेत्रकी दृष्टिसे निन्द्य आचरण वाले माने जाते हों, और ऊँच गोत्रका उदय उन सब मनुष्योंके ठहराते हैं जो ऐसे वंशों या कुलोंमें पैदा हों जो अपेक्षाकृत वहाँ ऊँच माने जाते हों। इसमें जिन म्लेच्छ देशोंमें म्लेच्छाचार—हिंसामें रति, मांस भक्षणमें प्रीति और परधन हरणादि* निन्द्य नहीं समझा जाता, वहांके वंशोंमें उत्पन्न होने वाले मनुष्य भी उच्चगोत्री ठहरेंगे और जिस वंश वाले उस आचारको छोड़ देंगे वे वहां रहते हुए नीचगोत्री हो जावेंगे। इसी तरह जिन आर्यक्षेत्रोंमें मांसभक्षणादिक निन्द्यकर्म समझे जाते हैं वहां उनका सेवन न करने वाले चाण्डालादि कुलोंमें भी उत्पन्न मानव उच्चगोत्री और सेवन करने वाले ब्राह्मणादि कुलोंमें भी उत्पन्न मानव नीच गोत्री होंगे, यही क्या ब्रह्मचारीजी-का आशय है? यदि ऐसा ही आशय है तो फिर जिस देशमें मांसभक्षण अथवा विधवाविवाह आदिको मनुष्यों-का एक वर्ग निन्द्य और दूसरा वर्ग अनिन्द्य समझता है वहाँ आपके ऊँच-नीच गोत्रकी क्या व्यवस्था होगी? यह मालूम होना चाहिए। साथ ही यह भी मालूम होना चाहिए कि ऐसी हालतमें—लोकमान्यता पर ही एक आधार रहने पर—गोत्रकर्मकी क्या वास्तविकता रह जायगी? अथवा गोत्रकर्माश्रित ऊँच-नीचता और व्यावहारिक ऊँच-नीचतामें क्या भेद रह जायगा? यदि कुछ भेद नहीं रहेगा तो फिर देवोंमें जो व्यावहारिक ऊँच-नीचता है उसके अनुसार देव भी ऊँच और नीच दोनों गोत्रके क्यों नहीं माने जाएँगे? और इसी प्रकार तिर्यंचोंमें भी, जो कि अणुव्रत तक धारण कर सकते हैं, दोनों गोत्रोंका उदय क्यों नहीं माना जायगा? इन सब बातोंका स्पष्टीकरण होना चाहिए।

(१२) नीच कुलमें जन्म लेकर अर्थात् नीचगोत्री होकर भी यदि कोई मनुष्य योग्य आचरणके द्वारा लोकमें अपनी मान्यता बढ़ा लेवे तो वह नीचगोत्रके उदयको न भोग कर उच्च गोत्रका उदय भोगता है, और उच्च गोत्री होकर भी यदि कोई मनुष्य अयोग्य आचरण करके लोक निन्द्य हो जावे तो वह उच्च गोत्रके उदयको बन्द करके नीचगोत्रका उदय भोगने लगता है, ऐसा ब्रह्मचारी-जी लिखते हैं। इसका आशय है—किसी गोत्रका उदय

*म्लेच्छाचारो हि हिंसायां रतिर्मांसाशनेऽपि च।
परस्वहरणे प्रीतिः निर्धूतत्वमिति स्मृतम् ॥४२-१८४॥
—आदिपुराणे, जिनसेनाचार्यः

होकर भी फल न देना और किसीका उदय न होकर भी फल प्रदान करना ! यह सिद्धान्त कौनसे ग्रन्थके आधार पर निश्चित किया गया है वह लेखपरसे कुछ मालूम नहीं होता ! ब्रह्मचारीजीको उसे सिद्धान्तग्रन्थोंके आधार पर स्पष्ट करके बतलाना चाहिए। साथ ही यह भी बतलाना चाहिए कि इस सिद्धान्तकी मान्यता पर ख़ानदानी बीजका असर जीवमें बना रहना जो आपने प्रतिपादन किया है वह कहाँ बना रहेगा ? और पूर्व गोत्रके उदयानुसार जिस उच्च या नीच शरीर पुग्दलकी सम्प्राप्ति हुई थी वह क्या गोत्र परिवर्तन पर विघट जायगा अथवा उसका उपयोग नहीं रहेगा ? क्योंकि ऊँच और नीच दोनों गोत्रोंका उदय अथवा फलभोग एक साथ नहीं होता।

(१३) आगे ब्रह्मचारीजी लिखते हैं—"गोत्र परिवर्तन न हो तो कर्मभूमिके मानवोंके अवसर्पिणी काल में भोगभूमिकी संतान होनेसे सबके उच्चगोत्रका ही उदय हो सो ऐसा नहीं माना जासकता, कर्मकाण्डकी गाथाओंसे।" परन्तु कर्मकाण्ड की वे गाथाएँ कौनसी हैं, यह प्रगट नहीं किया ! यदि पूर्वोल्लिखित गाथाओंसे ही अभिप्राय है तो उनसे उक्त अमान्यता व्यक्त नहीं होती; जैसा कि शुरूके नम्बरों में की गई उनकी चर्चा से प्रकट है। यदि उच्चगोत्री भोगभूमियाओंकी संतान उच्चगोत्री न हो तो जिसके उदय से लोकपूजित कुलोंमें जन्म होता है उसे उच्चगोत्र कहते हैं, यह सिद्धान्त ही बाधित होजायगा और ब्रह्मचारीजीकी 'ख़ानदानी बीजका असर जीवमें बना रहने वाली बात, भी फिर बनी नहीं रहेगी ! अस्तु; उक्त वाक्यके अनन्तर अवसर्पिणी और उत्सर्पिणीके कुछ कालोंमें ऊंच तथा नीच गोत्रका जो नियम दिया है उसके लिये स्पष्ट रूपसे किसी मान्य ग्रंथका प्रमाण प्रकट होनेकी ज़रूरत है। वह यों ही निराधार रूपसे नहीं माना जा सकता।

(१५) ब्रह्मचारीजीका एक वाक्य इस प्रकार है—"इन चार वर्णधारियोंमें जो प्रशंसनीय आचारके धारी हैं वे ही नीचगोत्री से सद् शूद्र याने लोक-पूज्य आचरणका धारी शूद्र जैनसाधु होसकता है व सुआचरणी म्लेच्छ भी मुनि होसकता है।" इस वाक्य, की बैठक पर से उसका पूरा आशय व्यक्त नहीं होता। हां, इतना तो समझमें आ गया कि इसके द्वारा ब्रह्मचारीजी सत् शूद्रों तथा सुआचरणी म्लेच्छोंके लिये मुनि होसकने का खुला विधान करते हैं; परन्तु चारों वर्णोंके मनुष्योंमें जो प्रशंसनीय आचारके धारी हैं वे ही नीचगोत्री, ऐसा क्यों ? यह कुछ समझमें नहीं आया !! खुलासा होना चाहिये। साथही, यह भी स्पष्ट होना चाहिये कि "जहां आचरण लोक-मान्य है वहीं उच्चगोत्रका उदय है।" ऐसा लिखकर ब्रह्मचारीजीने जो आगे लोकमान्य अथवा लोकपूज्य आचरणका यह लक्षण दिया है कि "जिस प्रांत या देशकी जनता जिस आचरणको अच्छा मानती है वह लोकमान्य है।" इसके अनुसार आर्यखण्डान्तर्गत किसी ऐसे म्लेच्छदेशका कोई म्लेच्छ या सत् शूद्र जहां मांस-भक्षण अच्छा माना जाता है और इसलिये लोकमान्य आचरण है, अपने उस आचरण को कायम रखता हुआ मुनि हो सकता है या कि नहीं" और लक्षणानुसार ऐसे पूज्य आचरणी मांसाहारियोंके यहां भोजन कर सकता है या कि नहीं ?

(१७) अन्तमें ब्रह्मचारीजीने "नीच-ऊँचकी कल्पना सर्व देशोंमें रहती है। स्वाभाविक है, इत्यादि रूपसे जो कुछ लिखा है वह सब लोकव्यवहार की ऊँच-नीचताका द्योतक है—विचारके लिए उपस्थित 'गोत्र कर्माश्रित ऊँच-नीचता, के साथ उसका कोई ख़ास सम्बन्ध स्थापित नहीं होता। ऐसी ऊंच-

नीचता तो देवों, नारकियों तथा तिर्यंचोंमें भी पाई जाती है, जिसका कितना ही उल्लेख बाबू सूरजभानजीने अपने लेखमें किया है; परन्तु उसके कारण जिस प्रकार देवादिकों में ऊंच-नीच दोनों गोत्रोंके उदयकी व्यवस्था नहीं की जाती उसी प्रकार मनुष्योंमें भी उसका किया जाना अनिवार्य नहीं ठहरता। यदि मनुष्योंमें उसे अनिवार्य किया जायगा तो देवों, नारकियों तथा तिर्यंचोंको भी उभयगोत्री मानना पड़ेगा उन्हें एक गोत्री मानने का फिर कोई कारण नहीं रहेगा।

इसके सिवाय, ब्रह्मचारीजीके शब्दोंमें यदि 'कोई नियत आचरण नीच कुलोंका स्थापित नहीं किया जा-सकता और ऊँच-नीच आचरणकी यह मान्यता उस स्थानके लोगोंकी मान्यता पर निर्भर है,' तो फिर गोत्रकर्मके ऊंच-नीच परमाणुओंकी भी कोई वास्तविकता नहीं रहेगी, न शास्त्रकथित उनके आस्रव-कारणोंका ही कोई मूल्य रह सकेगा और न वह गोत्र-कर्म-सिद्धान्तशास्त्रकी कोई वस्तु ही रह जायगी—लौकिक तथा सैद्धान्तिक गोत्रोंका भेद भी उठ जायगा—तब तो गोत्रकर्मका निर्णय, निर्धार और उसकी सब व्यवस्था भी किसी सिद्धान्तशास्त्र अथवा प्रत्यक्षदर्शीके द्वारा न होकर उस स्थानकी जनताके द्वारा ही हुआ करेगी जहां वह आचरण-कर्ता निवास करता होगा !!

इस तरह ब्रह्मचारीजीका लेख बहुतही अस्पष्ट है और वह बहुतसी बातोंको स्पर्श करता हुआ किसी भी एक विषयको विचारके लिये ठीक प्रस्तुत करता हुआ मालूम नहीं होता। आशा है ब्रह्मचारीजी, उक्त १७ कलमों द्वारा सूचित की गई सब बातों पर प्रकाश डालते हुए, अपने लेखको स्पष्ट करनेकी कृपा करेंगे, जिससे गोत्रकर्माश्रित ऊँच-नीचताका यह विषय सम्यक् प्रकार से निर्णीत हो सके।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा,
ता० १८—१—१९३९

जागृति-गीत

रचयिता :
श्री कल्याणकुमार जैन, 'शशि'

(१)

सर्वत्र हुआ है समुत्थान !
हो रहा विजय का तुमुल गान !
नव-क्रान्ति हुई है विद्यमान !
उठ, तू भी उठ, उन्माद त्याग !
उठ, सोये साहस ! जाग जाग !!

(२)

जडता तक में जीवन-विकास—
पा रहा पनप कर पूर्ण हास !
तू शक्ति-केन्द्र है कर प्रयास !
महका कर नव-जीवन-पराग !
उठ, सोये साहस ! जाग जाग !!

(३)

यदि पौरुष सोता है सँभाल !
जग डूब रहा है तो उछाल !
बन जा इतिहासों में मिसाल !
कायर जीवन में लगा आग !
उठ, सोये साहस ! जाग जाग !!

(४)

भर भूमण्डल में ध्वनि महान !
गा उथल-पुथल-मय क्रान्ति-गान !
जग चाह रहा है शक्ति-दान !
नव राग छेड़, कुछ गा विहाग !
उठ, सोये साहस ! जाग जाग !!

(५)

गुमराह हो रहा सार्थवाह !
रुक रहा वीरता का प्रवाह !
मानव में दानव घुसा आह !
प्रस्तुत है सिर पर काल-नाग !
उठ, सोये साहस ! जाग जाग !!

* * *
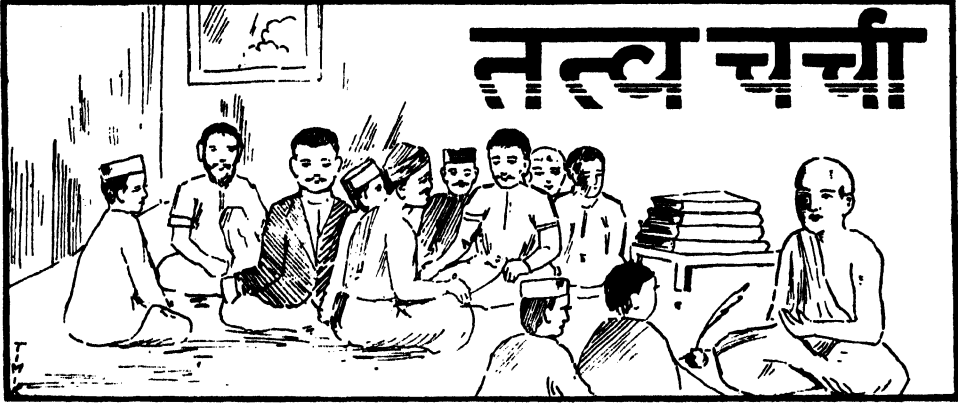
धार्मिक-वार्त्तालाप

[ले० —श्री बाबू सूरजभानुजी वकील]

मथुराप्रसाद—कहिये बाबू ज्योतिप्रसादजी, सुना है आपके साधु आये हैं, जिनके भोजनके वास्ते घर-घर में बड़ी भारी तय्यारियाँ हो रही हैं, पर आपके यहाँ तो वैसा कोई विशेष आरम्भ होता दिखाई नहीं देता है !

ज्योतिप्रसाद—जैन-धर्मके अनुसार तो, जो भोजन किसी साधु महाराजको खिलाये जानेके उद्देश्य से बनाया जाता है,—उनके निमित्तसे ही भोजनका आरम्भ किया जाता है—वह भोजन उनके ग्रहण करने के योग्य नहीं होता वे तो उदिष्ट भोजन अर्थात् अपने निमित्त बनाये गये भोजनके त्यागी होते हैं। जैनधर्मके साधुओंका तो बहुत ही उच्च स्थान है, उदिष्ट भोजनका त्याग तो जुल्लक और ऐल्लकके भी होता है, जो साधु—मुनि नहीं कहलाते हैं, किन्तु गृह-त्यागी अवश्य होते हैं। वास्तवमें सच्चे श्रावकोंके यहां तो नित्य ही प्रासुक भोजन बनता है। जो भोजन वह नित्य अपने लिये बनाते हैं उसीमेंसे कुछ मुनियोंका, ऐल्लक, क्षुल्लक आदि अतिथिको भी देवें, ऐसी शास्त्रकी आज्ञा है। जो गृहस्थ इसके विरुद्ध आचारण करते हैं, अर्थात् मुनि विशेष के निमित्त भोजनका आरम्भ करके उस बातको छिपाते हुए उन्हें भोजन कराते हैं वे स्वयं अपराधके भागी होते हैं।

मथुराप्रसाद—आपके साधु नग्न रहते हैं, यदि वे लँगोटी लगा लिया करें तो क्या कुछ हरज हो ?

ज्योतिप्रसाद—ऐल्लक, जुल्लक हमारे यहां लंगोटी बांधते हैं वा एक खंड वस्त्र रखते हैं; परन्तु मुनि वा साधुका दर्जा बहुत ऊँचा है। उनको अपनी देहसे कुछ भी ममत्व नहीं होता है, क्रोध-मान-माया-लोभ आदि विषयों और मोहका वे अच्छा दमन किये रहते हैं; कामवासना उनके पास तक भी फटकने नहीं पाती, एक मात्र आत्म-शुद्धि ही में उनका समय व्यतीत होता है, और संसारकी कोई लज्जा-कज्जा उन्हें पथ-भ्रष्ट नहीं कर सकती। कोई बुरा कहै वा भला, स्तुति करै वा निन्दा, आदर सत्कार करे या तिरस्कार गाली दे, पूजा

वंदना करैं वा मारे पीटे, सबसे उनका समभाव ही रहता है। सबहीका वे हित-चिंतन करते हैं, सब ही का कल्याण करते हैं। साथ ही बस्तीसे दूर बनमें रहते हैं, जेठ-आषाढ़की कड़ाकेकी धूप, सावन-भादोंकी मूसलाधार वर्षा, पोह-माघका ठिठराने वाला पाला, सब उनके नंगे शरीर पर पड़ते हैं, परन्तु उनको कुछ भी पर्वाह नहीं होती, कुछ भी यत्न वे उससे बचनेका नहीं करते हैं। ऐसे आत्म-ध्यानियों को लंगोटी बांधने की क्या पर्वाह हो सकती है?

मथुराप्रसाद—तो क्या वह आबादीमें आते ही नहीं हैं—मनुष्योंसे दूर ही रहते हैं?

ज्योतिप्रसाद—आते हैं, जब देखते हैं कि खाना-पीना दिये बिना किसी प्रकार भी यह शरीर स्थिर नहीं रह सकेगा, तब आहारके वास्ते ज़रूर बस्तीमें आते हैं। उस समय जो कोई श्रावक शुद्ध आहार तय्यार बताकर उन्हें बुलाता है, उसके घर जाकर खड़े-खड़े कुछ आहार ले लेते हैं और फिर बनमें चले जाते हैं। रात्रिको भी आत्म-ध्यानमें ही लगे रहते हैं।

मथुराप्रसाद—अच्छा, ऊँचे दर्जेके तपस्वी होने पर भी यदि वह लंगोटी बांध लिया करें तो क्या हरज हो? आहारके लिये तो बस्ती में उनको आना ही पड़ता है, वनमें भी लोग उनके दर्शनोंको ज़रूर जाते होंगे, अब यदि उनके हृदयमें किसी प्रकारकी कोई वासना नहीं रही है तो भी उनको नग्न देखकर गृहस्थियोंके मनमें तो विकार आ सकता है और खासकर स्त्रियोंको तो अवश्यही बुरा मालूम होता होगा।

ज्योतिप्रसाद—सबही घरोंमें बच्चे नंगे फिरते हैं, गली-बाज़ारोंमें भी जाते-आते हैं, मां, बहन, दादी, नानी, नौकरानी आदि सब ही उनको नग्न अवस्था में अपनी छातीसे चिपटाकर सुलाते हैं, किसीको भी उनका नग्न-पना बुरा नहीं मालूम होता है और न किसी के मनमें कोई विकारही उत्पन्न होता है। कारण इसका यही है कि उन बच्चोंके मनमें अभी तक किसीभी प्रकार का कोई काम विकार पैदा नहीं हुआ है न उनकी चेष्टा से ही किसी प्रकारके काम विकारकी आभा आती है, इसीसे उनका नग्न रहना किसीको बुरा मालूम नहीं होता, यहां तक कि यह ख़याल भी नहीं आता कि यह नंगा है। इस ही तरह सच्चे जैन-साधुओंके मनमें भी किसी प्रकारका विकार नहीं होता है। परम-वीतरागता उनकी चेष्टासे झलकती है और कामवासना की तो गंध भी उनमें नहीं होती है। इसी कारण उनके दर्शनोंसे गृहस्थियोंको भी वीतरागके भाव पैदा होते हैं—राग-भाव तो किसी प्रकार पैदा ही नहीं हो सकते। हां, लंगोटी बांधनेसे ज़रूर उनकी वीतराग मुद्रामें फ़र्क़ आता है। इसी कारण लंगोटी बंद त्यागी (ऐल्लक क्षुल्लक) के दर्शनों से वीतरागताका इतना भाव नहीं होता जितना कि नग्न साधुके दर्शनोंसे होता है। यह तो प्राकृतिक बात है, जैसा कोई होगा वैसा ही उसका प्रभाव दूसरों पर पड़ेगा।

मथुराप्रसाद—तो क्या आपके साधु कोई भी वस्तु अपने पास नहीं रखते हैं?

ज्योतिप्रसाद—रखते हैं, एक तो ज्ञान-प्राप्तिके वास्ते शास्त्र रखते हैं; दूसरे मोरके पंख वा अन्य किसी पक्षी के मुलायम परोंकी कूची रखते हैं, जिससे जहाँ बैठना होता है, वह स्थान जीव-जन्तुओंसे साफ़ कर लिया जाता है और इस तरह कोई जीव उनके शरीरसे दबकर मर न जाय, इसकी पूरी अहतियात की जाती है, तीसरे कमण्डलु जिसमें कुछ पानी रहता है, और वह टट्टी जाने पर गुदा साफ करनेके काम आता है। बस इन तीन वस्तुओंके सिवाय और कुछ नहीं रखते हैं।

मथुराप्रसाद—कमण्डलु तो शायद काठका होता

है और काठके अन्दर पानी घुस जाता है; इसलिए धोने मांजनेसे शुद्ध नहीं होसकता ? उस कमण्डलुका जल, जो गुदा साफ करनेके वास्ते टट्टीमें लेजाया जाता है, कुल्ली करने और हाथ मुँह धोने आदिके काम में कैसे आसकता होगा ?

जोतिप्रसाद—कमण्डलु काठका हो वा धातुका, मुनि महाराज उसको धोते व माँजते नहीं हैं, न वह गुदा धोकर अपने हाथको ही मट्टी मलकर साफ करते हैं, उनके पास तो कोई दूसरा शुद्ध पानी ही नहीं होता है, जिससे वे कमण्डल वा हाथको शुद्ध करलें, मुँह भी वह स्वयं कभी नहीं धोते हैं, न दांत साफ करते हैं, न कुल्ली करते हैं, न कभी नहाते और न कभी शरीर को धोते व पोंछते हैं। उनको तो शरीरसे कुछ भी मोह नहीं होता है। इसही कारण शरीरकी सफ़ाईकी तरफ़ उनका कुछ भी ध्यान नहीं जाता है। उनका ध्यान तो एकमात्र अपनी आत्माको शुद्ध करनेकी तरफ़ लगा रहता है—वे सदा मोह-माया और ममताको दूर कर आत्माको अपने शुद्ध ब्रह्मस्वरूपमें लेआनेकी ही कोशिश करते रहते हैं।

मथुराप्रसाद—यह तो आपने बड़ी अनोखी बात सुनाई। हिन्दूधर्ममें तो शरीर शुद्धिको ही सबसे मुख्य माना है, और आप उसको बिल्कुलही उड़ाये देते हैं।

ज्योतिप्रसाद—प्रत्येक जीव अपने वास्तविक रूप से सच्चिदानन्द स्वरूप है; परन्तु राग-द्वेष-मोहके जालमें फँसा हुआ संसारमें रुलता फिरता है। जो जीव इस राग-द्वेष मोह रूप- मैलको धोकर शुद्ध-बुद्ध होजाता है, वही अपने असली सच्चिदानन्द स्वरूप को पालेता है। शरीरके मैलको धोने पोंछनेसे आत्माका मैल नहीं धुलता है, तब जैन मुनियोंका अपने शरीरकी शुद्धिकी तरफ कुछ भी ध्यान न देकर एक मात्र आत्मशुद्धिमें ही लगे रहना अनोखी बात कैसे हो सकती है ?

मथुराप्रसाद—अच्छा तो क्या संसारी मनुष्योंके वास्ते भी स्नानादिके द्वारा शरीरको पवित्र रखना धर्म नहीं है ?

ज्योतिप्रसाद—साधु हो वा गृहस्थी धर्मतो सबके वास्ते एक ही है और वह एक मात्र अपनी आत्माको रागद्वेषादिके मैलसे शुद्ध करना ही है, फ़र्क़ सिर्फ़ इतना है कि साधु तो बिल्कुल ही संसारके मोहसे विरक्त होकर पूर्णरूपसे आत्म-शुद्धिमें लग जाते हैं और ग्रहस्थी संसार के मोहमें भी फँसता है और कुछ धर्म साधन भी करता है। इसीसे पद्मनन्दिपंचविंशतिका में कहा है—

सम्पूर्णदेशभेदभ्यां स च धर्मो द्विधा भवेत्।
आद्यभेदे च निर्ग्रन्थ द्वितीये गृहिणो मताः ॥

अर्थात्—पूर्णरूप और अंशरूप भेदसे धर्म-साधन दो प्रकार है, पूर्ण साधन करनेवाला नग्नसाधु और अंशरूप साधन करनेवाला गृहस्थी कहलाता है। जैन-धर्ममें धर्मात्मा गृहस्थके ग्यारह दर्जे क़ायम किये गये हैं। पहला दर्जा श्रद्धानीका है, जिसको जैनधर्मके सिद्धान्तों का श्रद्धान तो होगया है परन्तु अभी त्याग कुछ भी नहीं। दूसरा दर्जा अणुव्रतीका है, जो हिंसा झूठ चोरी आदि पांचों पापोंका अंशरूप त्याग करता है—और अपने इस त्यागको बढ़ानेके वास्ते तीन प्रकारके गुणव्रतों और चार प्रकारके शिक्षाव्रतोंका पालन करता है। शिक्षाव्रतों-में उसका एक व्रत यह भी होता है कि महिनेमें चार दिन प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशीको वह उपवास करता है, अर्थात् गृहस्थका सब आरम्भ त्याग कर, एक मात्र धर्म सेवन में ही लग जाता है — खाना, पीना, नहाना और शरीरका सँवारना आदि कुछ भी सांसारिक कार्य वह नहीं करता है।

उत्तमचन्द (जैनी) यह आपने क्या कहा कि, उपवासके दिन श्रावकको नहाना भी नहीं चाहिये ! स्नान नहीं करेगा तो पूजन, स्वाध्याय, ध्यान, सामायिक आदि धर्म-साधन कैसे होगा ?

ज्योतिप्रसाद—शास्त्रोंमें तो उपवासीके वास्ते स्नान करना मना ही लिखा है। देखिये प्रथम तो रत्न-करंड श्रावकाचारके निम्न श्लोकमें ही श्री समन्तभद्रस्वामी ने साफ़ लिखा हैं कि. उपवासके दिन पांचों पापोंका, शृंगार, आरंभ, गंध, पुष्प, स्नान, अंजन और नस्यका त्याग करना चाहिये—

पञ्चानां पापानामलंक्रियारम्भ गन्ध पुष्पाणाम्।
स्नानाञ्जननस्या ना मुपवासे परिहृति कुर्यात् ॥१०८॥

दूसरे स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी गाथा ३५८, ३५९ में लिखा है कि "जो ज्ञानी श्रावक दोनों पर्वोंमें स्नान-विलेपन. आभूषण, स्त्रीसंसर्ग, गंध, धूप, दीप आदिका त्याग करता है, वैराग्यसे ही अपनेको आभूषित करके, उपवास, एक बार भोजन अथवा नीरस आहार करता है; उसके प्रोषध उपवास होता है, यथा

ण्हाण विलेवणभूसण इत्थी संसग्गगंधधूवदीवादि।
जो परिहरेदि णाणी वेरग्गाभरणभूसणं किच्चा ।३५८
दोसुवि पव्वेसु समा उववासं एय भत्तणिव्वियडी ।
जो कुणइ एव माई तस्स वयं पोसहं विदियं ॥३५६॥

तीसरे, श्री पूज्यपाद स्वामीने सर्वार्थसिद्धि नामक महामान्य ग्रन्थमें प्रोषधोपवासीके लिये लिखा है कि, वह स्नान, गंध, माला, आभरणादि जो भी शरीरके शृंगार हैं उन सबसे रहित होवे—

प्रोषधोपवासः स्वशरीरसंस्कारकारण,
स्नान-गंध-माल्याभरणादि विरहितः ।

—तत्वार्थसूत्र अध्याय ७ सूत्र २१ का भाष्य

चौथे, श्रीअकलङ्कदेवने राजवार्तिकमें भी ऐसा ही वर्णन किया है—

स्वशरीर संस्कार संस्करण स्नान—
गंधमाल्या भरणादि विरहतः···

—तत्वार्थ सूत्र अध्याय ७ सूत्र २१ का भाष्य

पांचवें श्रीविद्यानन्दाचार्यजीने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ श्लोकवार्तिकमें भी उल्लेख किया है—

कः पुनः प्रोषधोपवासो यथा विधीत्यु
च्यते स्नान गंध माल्यादि विरहितोः...

—तत्वार्थ सूत्र अध्याय ७ सूत्र २१ का भाष्य

इस प्रकार उपवासके दिन स्नान न करनेकी सब ही महान् आचार्योंकी स्पष्ट आज्ञा होने पर, मेरी बात पर सन्देह करनेकी तो कोई वजह नहीं होसकती है; हां उल्टा मैं यह सन्देह अवश्य कर सकता हूँ कि पूजा, स्वाध्याय, ध्यान; सामायिक आदि धर्म कर्मोंके करनेमें स्नानका किया जाना क्यों ज़रूरी समझा जावे ? स्नान तो उस शरीरको साफ़ करनेके वास्ते है, जो ऐसा महान अपवित्र और अशुद्ध है कि किसी बड़े भारी समुद्रका सारा पानी भी उसके धोनेमें लगा दिया जावे, तो भी पवित्र न हो, और यदि पवित्र हो भी जाय तो उसकी पवित्रतासे धर्मका क्या सम्बन्ध ? स्वाध्याय, पूजा, ध्यान, सामायिक, स्तुति, भजन आदि जो कुछ भी हैं वे तो एक मात्र आत्माकी शुद्धि, विषय-कषाय तथा राग-द्वेष मोहके दूर करनेसे ही होती है, न कि हाड मांस अथवा चर्मको धोनेसे। तब शरीर शुद्धिके बिदून आत्मशुद्धि से हो सकती; ऐसा क्यों माना जावे ? मुनि बिना स्नान किये ही रात दिन धर्म-साधनमें लगे रहते हैं, नहाना तो दूर रहा वे तो टट्टी जानेके बाद गुदाको कमण्डलुके पानी से धोकर हाथोंको भी नहीं मटियाते हैं और न किसी दूसरे शुद्ध पानीसे ही धोते हैं। उस कमण्डलुको जिसके

पानीसे गुदाको धोते हैं साथ लिये फिरते हैं, उसी कमण्डलुके, पानीसे धोए हुए हाथोंसे शास्त्र लिये रहते हैं और स्वाध्याय आदि दूसरे धर्म-कृत्य करते रहते हैं। इससे सिद्ध है कि स्नान करना धर्मसाधनके वास्ते ज़रूरी नहीं है किन्तु बाधक है। इस ही कारण मुनियोंको तथा उपवास कर्ताओंको स्नान करनेका निषेध है।

उत्तमचन्द—स्नान करना धर्म साधनमें बाधक है, यह आपने एकही कही! आगेको शायद आप इसको पाप बताने लगेंगे!

ज्योतिप्रसाद—बाधक मैंने अपने ही मनसे नहीं बताया, किन्तु जैन-शास्त्रोंमें ही मुनि और उपवासकर्ता के लिये स्नानकी मनाही करके इसको बाधित सिद्ध किया है। और बाधक ही नहीं किन्तु खुल्लम-खुल्ला पाप बताया है। देखिये श्री पद्मनन्दि आचार्य पंचविंशतिका में इस प्रकार लिखते हैं:—

आत्मातीव शुचिः स्वभावत इति स्नानं वृथास्मिन्परे,
कायश्चाशुचिरेव तेनशुचितामभ्येति नो जातुचित्
स्नानस्यो भय थेत्य भूद्विफलता ये कुर्वते तत्पुनः
स्तेषां भूजलकीटकोटिहननात्पापाय रागाय च।

अर्थात्—आत्मा शुद्ध है, उसको जल-स्नानकी क्या ज़रूरत है? शरीर महा अपवित्र है, वह जल-स्नानसे पवित्र हो नहीं सकता, इस कारण दोनों प्रकारके स्नानसे कुछ लाभ नहीं! जो स्नान करते हैं उनको मिट्टी और जलके करोड़ों जीवोंके मारनेका पाप लगता है और रागका पाप भी।

चित्रे प्राग्भव कोटि संचितरजः संबंधिता विभ्रंवन्,
मिथ्यात्वादि मल व्यपाय जनकः स्नानं विवेकः सताम्।
अन्यद्वारिकृतं तु जंतुनिकर व्यापाद नात्पाप कृत्
नो धर्मो न पवित्रता खलु ततः काये स्वभावाशुचौ॥

अर्थात्—पहले किये हुए करोड़ों पापोंकी धूल जम-जमकर चित्त मलिन हो रहा है उस मिथ्यात्वको दूर करनेवाला जो विवेक है वही वास्तविक स्नान है, जल-के स्नानसे तो जीवोंका नाश होकर एकमात्र पापही होता है, उसमें कुछ भी धर्म नहीं है और न उसके द्वारा उस शरीरकी पवित्रताही बन सकती है, जो स्वभाव-से ही अपवित्र है।

उत्तमचन्द—अगर स्नान करना पाप है तो मुनियों और उपवास करने वालों ही को क्यों, अन्य सब ही लोगों-को नहानेसे क्यों मना नहीं किया गया?

ज्योतिप्रसाद—पहले दर्जे वाला अव्रती श्रावक तो त्रस, स्थावर किसी भी जीवकी हिंसाका त्यागी होनेको तैयार नहीं होता है, हिंसादि पांचों पापोंको अंश रूपभी छोड़नेको हिम्मत नहीं करता है, तब उसके वास्ते तो स्नानकी मनाही कैसे की जा सकती है? दूसरे दर्जेवाला अणुव्रती भी एकेन्द्रिय स्थावर जीवोंकी हिंसाका तो त्याग नहीं करता है त्रस जीवोंकी भी एकमात्र संकल्पी हिंसाका ही त्याग करता है, आरम्भी उद्योगी और विरोधी हिंसाका त्याग नहीं करता है। इस कारण उसको भी स्नानकी मनाही नहीं की जा सकती है। हां, उपवास के दिन वह आरम्भ आदिक गृहस्थके सबही कामोंका त्याग करके मात्र धर्म-साधन में ही लगता है, इसही कारण उस दिन उसको स्नान करने की भी मनाही है। स्वामिकार्तिकेय अपने अनु-प्रेक्षा ग्रन्थमें लिखते हैं—

उव्वासं कुव्वंतो आरंभं जो करेदि मोहादो।
सो णिय देहं सोसदि ण झाडए कम्म लेसंपि॥३७८॥

अर्थात्—जो उपवासमें मोह वस आरम्भ करता है, वह उपवास करके अपनी देह ही को सुखाता है, कर्मों की तो लेशमात्र भी निर्जरा नहीं करता है।

उत्तमचन्द—उपवासके दिन कोई भी गृहस्थका कार्य न किया जाए, मुनि होकर बैठ जावे, ऐसा तो किसीसे भी नहीं हो सकता है।

ज्योतिप्रसाद—शास्त्रोंमें तो ऐसा ही लिखा है और भी देखिये—

कषाय विषयाहार त्यागो यत्र विधीयते।
उपवासः स विज्ञेयः शेषं लंघनकं विदुः॥

—स्वामिकार्तिकेय-टीका

अर्थात्—कषाय, विषय और आहार इन तीनों का जहां त्याग होता है वहीं उपवास बनता है, नहीं तो शेष सब लंघन है।

उत्तमचन्द—हम तो एक बात जानते हैं कि जिस दिन हम बिना स्नान किये ही सामायिक करने बैठ जाते हैं तो चित्त कुछ व्याकुल ही सा रहता है। ऐसा शुद्ध और शान्त नहीं रहता जैसा कि स्नान करके सामायिक करने में रहता है।

ज्योतीप्रसाद—हम जैसे मोही जीवोंकी ऐसी ही हालत है। यदि किसी दिन हमारे मकानमें झाड़ू न लगे तो उस मकानमें बैठनेको जी नहीं चाहता है, बैठते हैं तो चित्त कुछ व्याकुल सा ही रहता है। ऐसा साफ शुद्ध और प्रसन्न नहीं रहता जैसा कि झाड़ू बुहारू दिये साफ और सुथरे मकानमें रहता है। झाड़ने बुहारने के बाद भी यदि मकानकी सब चीजें अटकल पच्चू बेतरतीब ही पड़ी हों; सुव्यवस्थित रूपमें यथास्थान न रक्खी हुई हों, तो भी उस मकानमें बैठकर काम करने को जी नहीं चाहता है। कारण कि हमारा मोही मन सुन्दरता और सफ़ाई चाहता है, ऐसा ही बिना स्नान किये अर्थात् शरीरको साफ और सुन्दर बनाये बिदून सांसारिक वा धार्मिक किसी भी काममें हमारा जी नहीं लगता है। यह सब मोहकी ही महिमा है। जब तक मोह है तब तक तो मोहकी गुलामी करनी ही पड़ेगी, इस कारण किसी भी सांसारिक वा धार्मिक कार्य प्रारम्भ करनेसे पहले यदि हमारा मन स्नान करना चाहे तो अवश्य कर लेना चाहिये। वैसे भी शरीरकी रक्षाके वास्ते स्नान करना ज़रूरी है, परन्तु स्नान करनेको धर्मका अंग मानना वा स्नान किये बिदून धर्म-साधनका निषेध करना अत्यन्त धर्म विरुद्ध और मिथ्यात्व है।

उत्तमचन्द—आप तो निश्चय सी बातें करते हैं, परन्तु हम जैसे गृहस्थियों से तो निश्चय का पालन नहीं हो सकता है। व्यवहार धर्म ही सध जाय तो बहुत है। इसका भी लोप हो गया तो कुछ भी न रहेगा।

ज्योतिप्रसाद—मैं भी व्यवहार धर्मकी ही बात कहता हूं। जीवका जो वास्तविक परम वीतराग रूप ज्ञानानन्द स्वरूप है अर्थात् अर्हंतो और सिद्धोंका जो स्वरूप है वह ही जीवका निश्चय धर्म है, उस असली रूप तक पहुंचनेके जो साधन हैं, वह सब व्यवहार धर्म हैं; *'जो सत्यारथ रूप सो निश्चय, कारण सो व्यवहारो।'* ऐसा छह ढालामें तो कहा है। परन्तु इसके लिए श्रीकुन्दकुन्दाचार्य आदिके निम्न वाक्य ख़ासतौरसे ध्यान देने योग्य हैं

धम्मादी सद्दहणं सम्मत्तं णाणमंग पुव्व गदं
चिट्ठा तवंहि चरिया ववहारो मोक्ख मग्गोत्ति।१६०।

पंचास्तिकाये, कुन्दकुन्द०

अर्थात्—धर्मादि द्रव्योंका श्रद्धान करना व्यवहार सम्यग्दर्शन है; १२ अंग १४ पूर्व जिन-वाणीका ज्ञान होना व्यवहार सम्यग्ज्ञान है; तप आदिकमें लगना तथा १३ प्रकारके चारित्रका अनुष्ठान व्यवहार चरित्र है; और यह सब व्यवहार मोक्ष मार्ग है।

असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्तीय जाण चारित्तं।
वदसमिदिगुत्तिरूवं ववहारणयादु जिण भणियम्॥

—द्रव्यसंग्रह, नेमिचन्द्र

अर्थात्—अशुभसे बचना और शुभमें लगना यह व्यवहार चारित्र है। व्रत, समिति गुप्तिरूप चारित्र धर्म व्यवहार नयसे ही जिनेन्द्र भगवानने कहा है।

इस प्रकार जो भी साधन आत्म-कल्याणके वास्ते होता है वह सब व्यवहार-धर्म है, और जो साधन विषय कषायोंकी पूर्तिके वास्ते होता है, वह लौकिक व्यवहार है। गृहस्थीको दोनोंही प्रकारके साधन करने पड़ते हैं,

अर्थात् जितना उससे हो सकता है वह धर्म-साधन भी करता है और विषयकषायों की पूर्ति भी करता है, इसही कारण रत्न-करंड श्रावकाचारमें श्री समन्तभद्र स्वामीने भोगोपभोग परिमाण-व्रतका वर्णन करते हुए, त्यागने योग्य विषयोंमें स्नानका भी नाम दिया है। यथा—

भोजन-वाहन-शयन-स्नान अपवित्राङ्ग-रागकुसुमेषु।
ताम्बूल वसन भूषण मन्मथ-संज्ञीत गीतेषु॥

भावार्थ—भोजन, सवारी, बिस्तर, स्नान, सुगन्ध, पुष्पादि ताम्बूल, वस्त्र, अलंकार काम-भोग, गाना-बजाना, इनका नियम रूप त्याग करना। इसही प्रकार अमितगति श्रावकाचारमें भी भोगोपभोग परिमाण-व्रतका वर्णन करते हुए अध्याय ६ श्लोक ९३ में स्नान करनेको भोग बताकर त्याज्य बताया है—

हाँ, जो दूसरी प्रतिमा-धारी अणुव्रती नहीं है, अर्थात् जिसको भोगोपभोग परिमाण-व्रत नहीं है उसे अवश्य स्नान करना चाहिए। परन्तु स्नान करनेको व्यवहार-धर्मका ज़रूरी अंग नहीं मानना चाहिए। ऐसा मानने से तो व्यवहार-धर्म लोप होता है— उसको भारी धक्का पहुँचता है।

उत्तमचन्द— धक्का कैसे पहुँचता है?

ज्योतिप्रसाद—स्नान करनेको यदि व्यवहार-धर्मका ज़रूरी अंग मान लिया जावे तो जो बीमार बिस्तरसे नहीं उठ सकता है, महा अपवित्र अवस्थामें पड़ा हुआ है, कम-से-कम जो स्नान नहीं कर सकता है, प्रसूता-स्त्री जो दस दिन तक जच्चाख़ानेमें महा अपवित्र दशामें पड़ी रहती है, अन्य भी जो कोई किसी दुष्टका बन्दी हो गया है और स्नान आदि नहीं कर सकता है, वह सब परमात्माका ध्यान, स्तुति, वंदना आदि कुछ भी नहीं कर सकेगा। तब तो शायद वह कोई धर्म-भाव भी अपने हृदयमें न ला सके, किन्तु एकमात्र पाप परिणाम् ही अपने हृदयमें लाने पड़ें मन तो चुप रह नहीं सकता; शरीर अपवित्र होनेके कारण जब उसको धर्म-भाव हृदयमें लानेकी मनाही होगी तब पाप-परिणाम ही मनमें लाने पड़ेंगे, जाड़ेमें चार बजे ही गृहस्थीकी आँख खुल जाती है, सुबह होनेको तीन घण्टेकी देर है, रातको उठकर नहानेकी हिम्मत नहीं, तब यदि ऐसी अवस्थामें परमात्माका ध्यान, स्तुति आदि नहीं कर सकता तो धर्मको धक्का लगा कि नहीं।

उत्तमचन्द—आपभी ग़ज़ब करते हैं। कहीं ऐसा भी हो सकता है कि अपवित्र रहनेके कारण कोई परमात्मा की स्तुति, भक्ति न कर सके ऐसा होता तो ऐसा क्यों कहा जाता है कि—

अपवित्रः पवित्रो वा सुस्थितो दुःस्थितोऽपि वा।
ध्यायेत्पंच नमस्कारं सर्व पापैः प्रमुच्यते ॥१॥
"अपवित्र पवित्रो वा सर्वावस्थांगतोऽपि वा।
यः स्मरेत्परमात्मानं स बाह्याभ्यन्तरे शुचिः" ॥२॥

अर्थात्—कोई पवित्र हो वा अपवित्र हो, अच्छी अवस्था में हो वा बुरी में, जो णमोकार मंत्र का ध्यान करता है, वह सब पापोंसे छूट जाता है, इसही प्रकार जो कोई पवित्र हो वा अपवित्र हो अथवा किसी भी अवस्थाको प्राप्त क्यों न हो, जो परमात्माका स्मरण करता है वह अंतरंगमें भी और बाहरसे भी पवित्र है।

ज्योतिप्रसाद—बस तब तो हमारी आपकी बात एक हो गई।

मथुराप्रसाद—आजकी आपकी बातोंसे मुझे तो बहुत-ही आनन्द प्राप्त हुआ। मैं तो जैन-धर्मको ऐसा ही समझता था जैसे हिन्दु सनातनियोंके वे सिर-पैरके ढकोसले, पर आजकी बातोंसे तो यह मालूम हुआ कि जैन-मत तो बिल्कुल ही प्राकृतिक धर्म है। वस्तु-स्वभाव और हेतुवाद पर अवलम्बित है। यदि आप घंटा-आधघंटा दे सकें तो मैं तो नित्य-ही इस सच्चे धर्मका स्वरूप सुना करूँ।

ज्योतिप्रसाद—आप ज़रूर आया करें जहाँ तक मुझसे हो सकेगा मैं ज़रूर जैनधर्मका स्वरूप वर्णन किया करूँगा। जितना आप इसका स्वरूप जानते जायँगे उतना-ही-उतना आपको यह प्रतीत होता रहेगा कि वास्तवमें वस्तु स्वभाव-ही जैन-धर्म है, यह धर्म परीक्षा-प्रधानी युक्ति-युक्त और पक्षपात रहित है।

* * *

जीवन के अनुभव

ले०—अयोध्याप्रसाद गोयलीय

[इस स्तम्भमें जीवन सम्बन्धी ऐसी घटनाएँ देनेकी इच्छा है जो सत्यके प्रयोग, आत्म-विश्वास, सदाचार, सेवाधर्म, लोकसेवा, दान, तप, संयम, स्वाध्याय, पूजा, उपासना, भक्ति, सामायिक, व्रत, उपवास तथा पूर्वजन्मके फलस्वरूप आदि रूपसे अपने जीवनमें अनुभव की हों, या आँखों से प्रतक्ष देखी हों। हमारी समाजमें ऊँचे से ऊँचे तपस्वी, त्यागी, धर्मात्मा, ज्ञानी, दानी, विद्यमान हैं। हमारी उनसे विनीत प्रार्थना है कि वे कृपा करके अपने जीवनके ऐसे अनुभव लिखें जो उपयोगी होवें। साथ ही यह भी बतलाएँ कि उन्होंने किस प्रकार साधना की, उनके कार्य में कितनी विघ्न-बाधाएँ उपस्थित हुईं और फिर किस प्रकार सफलता प्राप्त हुई? शायद कुछ सज्जन लेखनकला का अभ्यास न होने से लिखनेमें संकोच करें, किन्तु हमारी उनसे पुनः नम्र प्रार्थना है कि वे जैसी भी भाषा में लिख सकें या लिखवा सकें अवश्य लिखवाएँ। स्वानुभव की वह टूटी फूटी भाषा ही, अनुभव हीन सँवरे हुए लाखों लेखो से अधिक कल्याणकारी होगी और उससे काफ़ी आत्म-लाभ हो सकेगा। अपने भावों को स्पष्ट करने के लिए यहां कुछ उदाहरण लिख देने का विनम्र प्रयास किया है। इसमें आत्म-विज्ञापनकी गन्ध आए तो मुझे अनधिकारी समझते हुए क्षमा करें। इसके द्वारा आत्मानुभवी अपने लेख लिखने की रूप रेखा बना सकें, इसीलिये अनधिकारचेष्टा करनेकी यह धृष्टता की है।]

(१) सन् १९२५–२६ ईस्वीकी बात होगी। जाड़ोंके दिन थे, मेरे एक मित्र जो देहलीमें ही रहते थे। उनके यहां कुछ मेहमान आये हुए थे। उन सबकी इच्छा थी कि मैं भी रातको उन्हींके पास रहूं। अतः घर पर मैं अपनी मां से रातको न आनेके लिए कहकर चला गया और मित्रके यहां जागरणमें सम्मिलित हो गया; परन्तु रात्रिको दस बजेके करीब घर आनेके लिये एकाएक मन व्याकुल होने लगा। मित्रके यहां मुझे काफ़ी रोका गया और इस तरह मेरा अकस्मात् चल देना उन्हें बहुत बुरा लगने लगा। मैं भी इस तरह एकाएक जानेका कोई कारण न बता सकनेकी वजहसे अत्यन्त लज्जित हो रहा था, किन्तु उनके बार बार रोकने पर भी मुझे वहां एक मिनट भी रहना दूभर हो गया और मैं ज़िद करके चला ही आया। घर आकर मां को दरवाज़ा खोलनेको आवाज़ दी। दरवाज़ा खुलने पर देखता हूं कि कमरे में धुआं भरा हुआ है और मां के लिहाफ़ में आग सुलग रही है। दौड़कर जैसे तैसे आग बुझाई। पूछने पर मालूम हुआ कि थोड़ी देर पहले लालटेन जलाने को माचिश जलाई थी, वही बिस्तरे पर गिर गई और धीरे-धीरे से सुलगती रही। यदि दो चार मिनट का विलम्ब और हो जाता तो मां जलकर भस्म हो जाती। साथही मकान में ऊपर तथा बराबरमें रहने वालोंकी क्या अवस्था होती, कितनी जन-हत्या होती, कितना धन नष्ट होता, यह सब सोचते ही कलेजा धक-धक करने लगा! उस समय किस आन्तरिक-शक्तिने मुझे घर आनेके लिये प्रेरित

किया ? यह मेरे किसी पूर्व संचित पुण्यका उदय ही समझना चाहिए।

(२) सन् १९३० में, असहयोग आन्दोलनमें, जब मुझे २॥ वर्षका कारागार हुआ, तब वहां मोन्टगुमरी जेल (पंजाबका उन दिनों काला पानी) में मलेरिया बुख़ार किसीको न आजाय, इस ख़यालसे प्रत्येक क़ैदीको जबरन कुनैन मिक्श्चर पिलाया जाता था। उन दिनों विलायती दवासे मुझे परहेज़ था। अतः जब वे मेरी ओर आये तब मैंने दवा पीनेसे क़तई इन्कार कर दिया। कुछ लिहाज़ समझिये या आत्म-विश्वास समझिये, सिपाहियोंने मुझे जबरन दवा नहीं पिलाई। किन्तु यह अवश्य कहा कि दवा न पीनेकी सूचना हमें साहब (सुपरिण्टेण्डेण्ट जेल) को अवश्य देनी होगी और फिर आप पर काफ़ी सख़्ती होगी और दवा भी पीनी होगी। सिपाहियोंकी सूचना पर साहब मेरे पास आया और दवा न पीनेका कारण पूछा। मैंने दवा पीनेमें अपनी असमर्थता प्रकट की तो बोला :— "यदि बीमार पड़ गये तब ?" मेरे मुँहसे अनायास निकल पड़ा— "यदि बीमार होजाऊँ तो आप कड़ीसे कड़ी सज़ा दे सकेंगे।" साहब ऑलरायट कहकर चला गया ? किन्तु सज़ाकी पूरी अवधि तक मुझे दवाकी तनिक भी आवश्यकता न पड़ी। बुख़ार, खांसी, ज़ुकाम, क़ब्ज़ वग़ैरह मुझे कुछ भी नहीं हुआ। इतने अर्सेमें एक भी तो शिकायत नहीं हुई। जबकि अन्य साथी दो-तीन माहमें ही जेलसे बीमारियोंका पुंज बनकर आते थे।

क्रमशः

* * *

अनेकान्त पर लोकमत

(१९) बाबा भागीरथजी वर्णी—

"अनेकान्त" की दो किरणें मैंने पढ़ी हैं। 'अनेकान्त' अपने ढंगका एक ही पत्र है। जैनियोंमें सम्भवतः अभी इसे अपनानेकी योग्यताका अभाव है। मेरी शुभ कामना है कि अनेकान्त विश्वव्यापी होकर घर-घरमें वीर प्रभुका सन्देश पहुँचानेमें समर्थ हो।"

(२०) श्री उपाध्याय मुनि अमरचन्दजी 'कविरत्न'

"आज एक बहुत आनन्दका दृश्य देख रहा हूं। सात वर्ष पहलेका मेरा पाठ्यपत्र 'अनेकान्त' पुनः प्रकाशित होकर समाजके सम्मुख आया है और आते ही अपनी पुरानी पुनीत स्मृतिको फिरसे ताजा बना दिया है।

जैनसंसारमें यह पहलाही पत्र है, जो इस ढंगमें निकल रहा है। विद्वतापूर्ण लेखोंका संग्रह, वास्तवमें हर किसी सहृदय विद्वानसे प्रशंसा पा सकता है। साथ ही सांप्रदायिक वातावरणसे अपने आपको अलग रखनेका जो संकल्प है, वह और भी शतशत बार अभिनन्दनीय है। श्री मुख़्तार साहबकी मँजी हुई लेखनीका चमत्कार सम्पादकीय टिप्पणीके रूपमें, एक ख़ास दर्शनीय वस्तु है। मैं हृदयसे अनेकान्तकी सफलता चाहता हूँ एवं चिरायुके लिये मंगल कामना करता हूं।"

—क्रमशः

* * *

किया ! यह मेरे किसी पूर्व संचित पुण्यका उदय ही समझना चाहिए।

(२) सन् १९३० में, असहयोग आन्दोलनमें, जब मुझे २। वर्षका कारागार हुआ, तब वहां मोन्टगुमरी जेल (पंजाबका उन दिनों काला पानी) में मलेरिया बुखार किसीको न आजाय, इस ख़यालसे प्रत्येक क़ैदीको जबरन कुनैन मिक्श्चर पिलाया जाता था। उन दिनों विलायती दवाओंसे मुझे परहेज़ था। अत: जब वे मेरी ओर आये तब मैंने दवा पीनेसे क़तई इन्कार कर दिया। कुछ लिहाज़ समझिये या आत्म-विश्वास समझिये, सिपाहियोंने मुझे जबरन दवा नहीं पिलाई। किन्तु यह अवश्य कहा कि दवा न पीनेकी सूचना हमें साहब (सुपरिन्टेण्डेण्ट जेल) को अवश्य देनी होगी और फिर आप पर-आफ़त आती होगी और हम पर भी बीती होगी। सिपाहियोंकी सूचना पर साहब मेरे पास आया और दवा न पीनेका कारण पूछा। मैंने दवा पीनेमें अपनी असमर्थता प्रकट की तो बोला :—"यदि बीमार पड़ गये तब ?" मेरे मुँहसे अनायास निकल पड़ा—"यदि बीमार होजाऊँ तो आप कहींसे कड़ी सज़ा दे सकेंगे।" साहब ऑलराइट कहकर चला गया ! किन्तु सज़ाकी पूरी अवधि तक मुझे दवाकी तनिक भी आवश्यकता न पड़ी। बुखार, खांसी, जुकाम, क़ब्ज़ वग़ैरह मुझे कुछ भी नहीं हुआ। इतने अर्सेमें एक भी तो शिकायत नहीं हुई। जबकि अन्य साथी दो-तीन माहमें ही जेलसे बीमारियोंका पुंज बनकर आते थे।

क्रमशः

* * *

अनेकान्त पर लोकमत

(१९) बाबा भागीरथजी वर्णी—

"अनेकान्त" की दो किरणें मैंने पढ़ी हैं। 'अनेकान्त' अपने ढंगका एक ही पत्र है। जैनियोंमें सम्भवतः अभी इसे अपनानेकी योग्यताका अभाव है। मेरी शुभ कामना है कि अनेकान्त विश्वव्यापी होकर घर-घरमें वीर प्रभुका सन्देश पहुँचानेमें समर्थ हो।"

(२०) श्री उपाध्याय मुनि अमरचन्दजी 'कविरत्न'

"आज एक बहुत आनन्दका दृश्य देख रहा हूँ। आठ वर्ष पहलेका मेरा पाठ्यपत्र 'अनेकान्त' पुनः प्रकाशित होकर आँखोंके सम्मुख आया है और आते ही पुरानी पुरानी पुनीत स्मृतिको फिरसे ताज़ा बना दिया है। जैनसंसारमें यह पहलाही पत्र है, जो इस ढंगसे निकल रहा है। विद्वतापूर्ण लेखोंका समह, वास्तवमें हर किसी सहृदय विद्वानसे प्रशंसा पा सकता है। साथ ही साम्प्रदायिक वातावरणसे अपने आपको अलग रखनेका जो संकल्प है, वह और भी शतशत बार अभिनन्दनीय है। श्री मुख्तार साहबकी मँजी हुई लेखनीका चमत्कार सम्पादकीय टिप्पणीके रूपमें, एक ख़ास दर्शनीय वस्तु है। मैं हृदयसे अनेकान्तकी सफलता चाहता हूँ एवं चिरायुके लिये मंगल कामना करता हूँ।"

—क्रमशः

* * *

अनुकरणीय

धर्मप्रेमी ला० छुट्टनलालजी जैन सैदूवालोंने "अनेकान्त" जिन २५ जैनेतर संस्थाओं को एक वर्ष तक भेट स्वरूप भिजवाते रहनेके लिए ४१) रु० की सहायता प्रदान की थी, उन संस्थाओंकी सूची तीसरी किरणके चौथे पृष्ठ पर दी जा चुकी है। हमें हर्ष है कि इस मासमें निम्नलिखित दानी महानुभावोंकी ओरसे 'अनेकान्त' एक वर्ष तक भेट स्वरूप भिजवाते रहनेके लिए और सहायता प्राप्त हुई है। अत 'अनेकान्त' प्रथम किरणसे भेजना प्रारम्भ कर दिया गया है। धन्यवाद-स्वरूप जो संस्थाओंकी ओरसे पत्र आ रहे हैं वह दानी महानुभावोंको भेजे जा रहे हैं। 'अनेकान्त' पर आए हुए लोकमत से ज्ञात हो सकेगा कि अनेकान्तके प्रचारकी कितनी नितान्त आवश्यकता है। जितना अधिक 'अनेकान्त' का प्रचार होगा उतना ही अधिक सत्य, शान्ति और लोक-हितैषी भावनाओं का प्रचार होगा। 'अनेकान्त' को हम बहुत अधिक सुन्दर और उन्नतिशील देखना चाहते हैं, किन्तु हमारी शक्ति, बुद्धि और हिम्मत सब कुछ परिमित है। हमें समाज-हितैषी धर्म-प्रेमी बन्धुओंके सहयोगकी अत्यन्त आवश्यकता है। हम चाहते हैं कि समाजके उदार हृदय बन्धु जैनेतर संस्थाओं और विद्वानों को प्रचारकी दृष्टिसे 'अनेकान्त' अपनी ओरसे भेट स्वरूप भिजवाएँ और जैन बन्धुओंको अनेकान्त-का ग्राहक बननेके लिये उत्साहित करें। ताकि 'अनेकान्त' कितनी ही उपयोगी पाठ्य-सामग्री और पृष्ठ संख्या बढ़ाने में समर्थ हो सके।

—व्यवस्थापक

श्रीमन्त सेठ लक्ष्मीचन्दजी भेलसा की ओर से —

क्र०	संस्था	स्थान
१	यूनिवर्सिटी कालेज आफ ला	नागपुर
२	हिस्लाप कालेज	नागपुर
३	सिटी कालेज	नागपुर
४	आर्ट्स कालेज	रायपुर
५	राजाराम लायब्रेरी	नागपुर
६	गवर्नमेण्ट हाईस्कूल	सागर
७	जगन्नाथ हाई स्कूल	मण्डला
८	गवर्नमेण्ट हाई स्कूल	दमोह
९	हिन्दी भाषी संघ हाई स्कूल	नागपुर
१०	पटवर्धन हाई स्कूल	नागपुर
११	युवराज पब्लिक लायब्रेरी	उज्जैन
१२	मथरादास इन्टर मिजियट कालेज,	मोगा
१३	पब्लिक लायब्रेरी जुबली बाग	सहारनपुर
१४	मुंशीराम पब्लिक लायब्रेरी	देहरादून
१५	काशीराम हाई स्कूल	सहारनपुर
१६	वैश्य हाई स्कूल	रोहतक
१७	सी. ए. वी. हाई स्कूल	रोहतक
१८	बौद्ध विहार लायब्रेरी सारनाथ	बनारस
१९	किंग जार्ज मेडिकल कालेज	लखनऊ
२०	लखनऊ यूनिवर्सिटी	लखनऊ
२१	काशी विद्या पीठ	बनारस
२२	ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम,	हरिद्वार
२३	सनातन धर्म सभा	भेलसा
२४	क्वीन्स कालेज	बनारस
२५	पटना यूनिवर्सिटी	पटना
२६	मारवाड़ी पुस्तकालय, बड़ा बाजार	कलकत्ता
२७	दयालसिंह कालेज	लाहौर
२८	गयाप्रसाद पब्लिक लायब्रेरी ए.बी.रोड	कानपुर
२९	इन्टरमीजियट कालेज	खुर्जा

Regd. No. L. 4328

३० टोम्र्सन कालेज	रुड़की
३१ एम.जम इन्टर मिजिएट कालेज, मिर्जा	
३२ रायल एसियाटिक सोसाइटी	कलकत्ता
३३ गवर्नमेण्ट हाई स्कूल	राँची (बिहार)
३४ बम्बई यूनिवर्सिटी	बम्बई
३५ मारवाड़ी रिलीफ सोसाइटी	कलकत्ता
३६ वर्धा शिक्षा योजना मन्दिर	व र्धा
३७ ग्राम उद्योग संघ, मगनवाड़ी	वर्धा
३८ पब्लिक लायब्रेरी	मन्दसौर
३९ होल्कर कालेज	इन्दौर
४० क्रिश्चियन कालेज	इन्दौर
४१ पंजाब यूनिवर्सिटी	लाहौर
४२ गवर्नमेण्ट कालेज	लाहौर
४३ फारमन क्रिश्चियन कालेज	लाहौर
४४ सनातन धर्म कालेज	लाहौर
४५ ला कालेज	लाहौर
४६ म्युनिसिपल लायब्रेरी	लाहौर
४७ दी डाइरेक्टर इनचीफ, कैटेलोगस	कैटेलोग्रस
यूनिवर्सिटी आफ मद्रास	मद्रास
४८ आर्यसमाज मन्दिर	
ठि० ला० रामस्वरूपजी वकील	भेलसा
४९ सार्वजनिक वाचनालय	भेलसा

५०, ५१ दो उन्होंने विद्वानोंको भिजवाए हैं।

जैन नवयुवक सभा जबलपुरकी ओर से :—

१ एग्रीकलचर कालेज	नागपुर
२ साइन्स कालेज	नागपुर
३ रोबर्टसन मैडिकल हाई स्कूल	नागपुर
४ इन्जीनियरिंग कालेज	नागपुर
५ युनिवर्सिटी लायब्रेरी	नागपुर
६ रोबर्टसन कालेज	जबलपुर
७ सिटी कालेज	जबलपुर
८ डिस्ट्रिक्ट लायब्रेरी	जबलपुर
९ मॉडल हाई स्कूल	जबलपुर
१० हितकारिणी हाई स्कूल	जबलपुर
११ महाराष्ट्र हाई स्कूल	जबलपुर
१२ अग्रवाल नवयुवक मंडल	जबलपुर
१३ स्पेन्स ट्रेनिंग कालेज	जबलपुर
१४ थियोलोजिकल कालेज	जबलपुर
१५ जैन लायब्रेरी, जवाहरगंज	जबलपुर

ला० रामधनरायजी जैन देहली की ओर से :—

१ श्री जैन मन्दिर महल्ला पिथवाडा,	रोहतक
२ मिस आर्य मित्र आइलैण्ड हर्गमैंज	
होशयाहुवा (सन्तोन)	

माननीय ला० तनसुखराय जैनकी ओर से :—

१ वर्द्धमान पब्लिक लायब्रेरी	देहली

ला० फेरुमल चतरसैन सरवना की ओर से :—

१ डी. ए. वी. कालेज	लाहौर

ला० बुद्धिप्रकाश जैनकी ओर से :—

१ इलाहाबाद यूनिवर्सिटी	इलाहाबाद

बा० ज्ञानचन्द कोटाकी ओर से :—

१ महाराजा कालेज	जयपुर
२ गवर्नमैण्ट कालेज	रोहतक
३ रामसुखदास कालेज	फिरोजपुर
४ लाहौर कालेज आफ वीमैन	लाहौर
५ मरे कालेज	स्यालकोट

विषय-सूची

प्रकाशकीय—

१. पूर्व सूचनानुसार पाँचवीं किरण नए टाइपमें प्रकाशित हो रही है।

२. "अनेकान्त" के इस माहमें ४ पृष्ठ और अधिक जा रहे हैं और यदि हमारी पसन्दका मोटा और रूखा कागज़ मिल गया जैसा कि आडर दिया हुआ है तो छटवीं किरणसे चार पृष्ठ और बढ़ा दिये जाएँगे। यानी टाईटल सहित ६० पृष्ठ अनेकान्त में रहा करेंगे।

३. स्थानाभावके कारण 'हमारी विभूतियाँ', 'पराक्रमी पूर्वज', 'जीवन के अनुभव', 'शिक्षाका महत्व' और नारी-उपयोगी लेख इस अंक में नहीं दिये जा सके।

ॐ अर्हम्

नीति-विरोध-ध्वंसी लोक-व्यवहार-वर्त्तकः सम्यक् ।
परमागमस्य बीजं भुवनैकगुरुर्जयत्यनेकान्तः ॥

वर्ष २

सम्पादन-स्थान—वीर-सेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम), सरसावा, जि० सहारनपुर
प्रकाशन-स्थान—कनॉट सर्कस, पो० ब० नं० ४८, न्यू देहली
फाल्गुणशुक्ल, वीरनिर्वाण सं०२४६५, विक्रम सं०१९९५

किरण ५

समन्तभद्र-अभिनन्दन

कार्यादेर्भेद एव स्फुटमिह नियतः सर्वथा कारणादे-
रित्याद्येकान्तवादोद्धततरमतयः शान्ततामाश्रयन्ति ।
प्रायो यस्योपदेशादविघटितनयान्मानमूलादलंघ्यात्
स्वामी जीयात्स शश्वत्प्रथिततरयतीशोऽकलंकोरुकीर्तिः ॥

—अष्टसहस्र्यां, विद्यानन्दाचार्यः

जिनके नय-प्रमाण-मूलक अलंघ्य उपदेशसे—प्रवचनको सुनकर—महाउद्धतमति वे एकान्तवादी भी प्रायः शान्तताको प्राप्त हो जाते हैं जो कारणसे कार्यादिकका सर्वथा भेद ही नियत मानते हैं अथवा यह स्वीकार करते हैं कि कारण-कार्यादिक सर्वथा अभिन्न ही हैं—एक ही हैं—वे निर्मल तथा विशालकीर्तिसे युक्त अति प्रसिद्ध मुनिराज स्वामी समन्तभद्र सदा जयवन्त रहें—अपने प्रवचनप्रभावसे बराबर लोक-हृदयोंको प्रभावित करते रहें ।

मनोवेदना

भगवत्स्वरूप जैन 'भगवत्'

हृदयकी वह अमूल्य-निधियाँ-
कि जिनसे है जीवन, जीवन !
ठगाकर भोलेपनसे उन्हें-
दरिद्री हो बैठा यह मन !!

किया करते उद्वेलित इसे-
क्षणिक,अस्थिरसुख-दुखतूफ़ान
न करनेको समर्थ होता-
वास्तविकताकी दृढ़-पहिचान !

पहुँच जाता सक्षेम सानन्द
कभी उत्थान-हिमालय पर !
ढुलक कर पतन-तलहटीमें-
बना लेता यह अपना घर !!

विविध, आमिक-प्रलोभनों पर-
निरन्तर यह रहता फूला !
झूलता मंत्र-मुग्धकी भांति-
निराशा-आशाका झूला !!

ग्रन्थि ऐसी दृढ़ता के साथ-
दुखद-घटनाओंसे उलझी !
चाहती नहीं सुलझना और-
न जोहै अबतक भी सुलझी !!

अपनी दशा

मैं हँसता हूँ तो दुनिया-
मुझको पागल बतलाती !
जब रोता हूँ तो उस पर-
कुछ दया नहीं दिखलाती !!

मेरे रोने हँसनेमें-
अब फिर विशेषता क्या है !
हँसना भी वैसा ही है-
जैसा कि दुखद-रोना है !!

इस दुनियाकी क्या कहते-
दुनिया है रंग-रंगीली !
दुखियोंको रौरव है तो-
सुखियोंको तान रसीली !!

मैं सुख-दुख के सागरमें-
अपनापन भूल रहा हूँ !
माया-मरीचिका लेकर-
हर्षित हो फूल रहा हूँ !!

पर हृदय-देशमें कैसा-
चल रहा विकट-आन्दोलन!
कोमल तर अभिलाषाएँ-
पा रहीं नित्य-प्रति बन्धन !!

मेरी सूखी आंखोंमें-
नित सजल-गानकी लहरी !
क्यों अनजाने ही दुखप्रद-
मदिरा-सी चढ़ती गहरी !!

मैं नहीं चाहता मेरा-
कोई रहस्य प्रगटित हो !
सुख हो या दुख कुछ भी हो-
बस, मनमें ही सीमित हो !!

भगवत्स्वरूप जैन 'भगवत्'
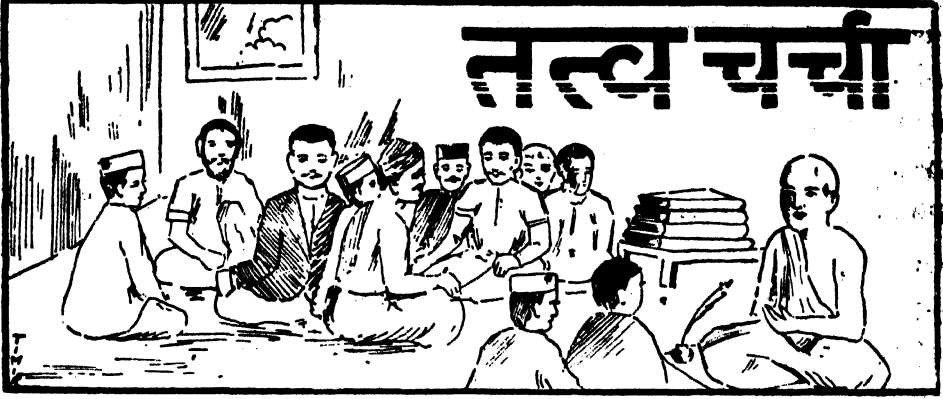
गोत्रकर्म पर
शास्त्रीजीका उत्तर-लेख

[सम्पादकीय]

स्याद्वादमहाविद्यालयके प्रधान अध्यापक पं० कैलाशचन्दजीका एक लेख 'अनेकान्त' की गत तीसरी किरणमें प्रकाशित किया गया था। वह लेख बाबू सूरजभानजी वकीलके 'गोत्रकर्माश्रित ऊँच-नीचता' शीर्षक लेखके उत्तर रूपमें था और उसमें उक्त लेख पर कुछ 'नुक्ताचीनी' करते हुए बाबू साहबको 'गहरे भ्रमका होना' लिखा था, बाबू साहबने जयधवला तथा लब्धिसार टीकाके वाक्योंका जो निष्कर्ष अपने लेखमें निकाला था उसे 'सर्वथा भ्रान्त' 'अर्थका अनर्थ' तथा 'दुराशय' बतलाते हुए और यहां तक भी लिखते हुए कि 'फलितार्थको जो कोई भी समझदार व्यक्ति पढ़ेगा वह सिरधुने बिना नहीं रहेगा' बाबू साहबको उसके कारण 'दुराशयसे युक्त', 'शास्त्रके साथ न्यायकी यथेष्ट चेष्टा न करने वाला' और 'अत्याचारी' तक प्रकट किया था। साथ ही, 'वृद्धावस्थामें ऐसा अत्याचार न करनेका उनसे अनुरोध' भी किया था। यह सब कुछ होते हुए भी शास्त्रीजीके लेखमें विचारकी सामग्री बहुत ही कम थी, कोई ऐसा खास शास्त्रप्रमाण भी उन्होंने अपनी तरफ़से प्रस्तुत नहीं किया था जिससे यह स्पष्ट होता कि कर्मभूमिज मनुष्य ऊँच और नीच दोनों गोत्रवाले होते हैं, लेखका कलेवर 'ऐसी' और 'इसमें' के शब्दजालमें पड़कर और उनके प्रयोग-फलको प्रदर्शित करनेके लिये कई व्यर्थके उदाहरणोंको अपनी तरफ़से घड़-मढ़कर बढ़ाया गया था—अर्थात्, बाबू साहबने अपने लेखमें उद्धृत जयधवला और लब्धिसारटीकाके प्रमाणोंका जो एक संयुक्त भावार्थ दिया था उसमें मूलके 'इति' शब्दका अर्थ 'ऐसी' ही लिखा था, बादको जब वे उन प्रमाणोंका निष्कर्ष निकालने बैठे तो उन्होंने मूलके शब्दोंका पूरा अनुसरण न करके—निष्कर्षमें मूलके शब्दोंका पूरा अनुसरण किया भी नहीं जाता और न लाज़िमी ही होता है—उसे अपने शब्दोंमें दिया था। उस निष्कर्षमें 'इसमें' शब्दका प्रयोग देखकर शास्त्रीजीने उसे बलात् 'इति' शब्दका अर्थ बतलाते हुए कहा था कि 'इति' शब्दका 'इसमें' अर्थ नहीं होता, 'इसमें'

अर्थ करनेसे बड़ा अनर्थ हो जायगा और उस अनर्थको सूचित करनेके लिये तीन लम्बे लम्बे उदाहरण घड़कर पेश किये थे, जिनसे उनके लेखमें व्यर्थका विस्तार होगया था। ऐसी हालतमें उनका लेख अनेकान्तमें दिये जानेके योग्य अथवा कुछ विशेष उपयोगी न होते हुए भी महज़ इस ग़र्ज़से देदिया गया था कि न देनेसे कहीं यह न समझ लिया जाय कि विरोधी लेखोंको स्थान नहीं दिया जाता। साथ ही, उसकी निःसारता आदिको व्यक्त करते हुए कुछ सम्पादकीय नोट भी लेख पर लगा दिये गये थे। मेरे उन नोटोंको पढ़कर शास्त्रीजी-को कुछ क्षोभ हो आया है और उसी क्षोभकी हालतमें उन्होंने एक लम्बासा लेख लिखकर मेरे पास भेजा है। लेखमें पद पदपर लेखकका क्षोभ मूर्तिमान नज़र आता है और उसमें मेरे लिये कुछ कटुक शब्दोंका प्रयोग भी किया गया है, जिन्हें यहां उद्धृत करके पाठकोंके हृदयोंको कलुषित करनेकी मैं कोई ज़रूरत नहीं समझता। क्षोभके कारण मेरे नोटों पर कोई गहरा विचार भी नहीं किया जा सका और न उसे करना ज़रूरी ही समझा गया है—क्षोभ में ठीक विचार बनता भी नहीं—यों ही अपना क्षोभ व्यक्त करनेको अथवा महज़ उत्तरके लिये ही उत्तर लिखा गया है। इसीसे यह उत्तर-लेख भी विचारकी कोई नई सामग्री—कोई नया प्रमाण—सामने रखता हुआ नज़र नहीं आता। उन्हीं बातोंको प्रायः उन्हीं शब्दोंमें फिर-फिरसे दोहरा कर—अपने लेखके, वकील साहबके लेखके तथा मेरे नोटोंके वाक्योंको जगह-जगह और पुनः पुनः उद्धृत करके—अपनी बातको पुष्ट करनेका निष्फल प्रयत्न किया गया है।

इस तरह प्रस्तुत उत्तरलेखको फ़िज़ूलका विस्तार दिया गया है और वह १४ बड़े पृष्ठों का अर्थात् पोने दो फार्मके क़रीबका होगया है, उसे ज्योंका त्यों पूरा छाप कर यदि तुर्की-बतुर्की जवाब दिया जावे तो समूचे लेख-का कलेवर चार फार्मसे ऊपरका हो जावे और पढ़ने-वालोंको उसपरसे बहुत ही कम बात हाथ लगे। मैं नहीं चाहता कि इस तरह अपने पाठकोंका समय व्यर्थ नष्ट किया जाय। शास्त्रीजीके पिछले लेखको पढ़कर कुछ विचारशील विद्वानोंने मुझे इस प्रकारसे लिखा भी है कि—"परिमित स्थानवाले पत्रमें ऐसे लम्बे लम्बे लेखों-का प्रकाशन जिनमें प्रतिपाद्य वस्तु अधिक कुछ न हो बांछनीय नहीं है। शास्त्रीय प्रमाणोंको 'ऐसी' और 'इसमें' के शाब्दिक जंजालमें नहीं लपेटना चाहिए। वे प्रमाण तो स्पष्ट हैं जैसा कि आपने अपने नोटमें लिखा है। म्लेच्छोंमें संयमकी पात्रतासे इनकार तो नहीं किया जा सकता।" साथ ही, मुझे यह भी पसंद नहीं है कि कटुक शब्दोंकी पुनरावृत्ति-द्वारा उनकी परिपाटीको आगे बढ़ाकर अप्रिय चर्चाको अवसर दिया जाय। हमारा काम प्रेमके साथ खुले दिलसे वस्तुतत्त्वके निर्णयका होना चाहिये—मूल बातको 'ऐसी' और 'इसमें' के प्रयोग-जैसी लफ़्ज़ी (शाब्दिक) बहसमें डाल कर किसीको भी शब्द-छलसे काम न लेना चाहिये। उधर शास्त्रीजी कुछ हेर-फेरके साथ बाबू सूरजभानजीके विषयमें कहे गये अपने उन शब्दोंको वापिस भी ले रहे हैं जिनकी सूचना इस लेखके शुरूमें की गई है। साथ ही मेरे लिये जिन कटुक शब्दोंका प्रयोग किया गया है उसपर लेखके अन्तमें अपना खेद भी व्यक्त कर रहे हैं—लिख रहे हैं कि "नोटोंका उत्तर देते हुए मेरी लेखनी भी कहीं कहीं तीव्र होगई है और इसका मुझे खेद है!" ऐसी हालतमें शास्त्रीजीका पूरा लेख छापकर और उसकी पूरी आलोचना करके पाठकोंके समय तथा शक्तिका दुरुपयोग करना और

व्यर्थकी अप्रिय चर्चाको आगे बढ़ाना उचित मालूम नहीं होता। अतः उज्र-माज़रत, सफ़ाई-सचाई तथा व्यक्तिगत आक्षेप और कटुक अलोचनाकी बातोंको छोड़कर, जो बातें गोत्रकर्मकी प्रस्तुत चर्चासे खास सम्बंध रखती हैं उन्हीं पर यहाँ सविशेषरूपसे विचार किए जानेकी ज़रूरत है। विचारके लिये वे विवादापन्न बातें संक्षेपमें इस प्रकार हैं:—

(१) म्लेच्छोंके मूल भेद कितने हैं? और शक, यवन, शवर तथा पुलिन्दादिक म्लेच्छ आर्यखण्डोद्भव हैं या म्लेच्छखण्डोद्भव?

(२) शक, यवन, शवर और पुलिन्दादिक म्लेच्छ सकलसयमके पात्र हैं या कि नहीं?

(३) वर्तमान जानी हुई दुनियाके सब मनुष्य उच्चगोत्री हैं या कि नहीं?

(४) श्री जयधवल और लब्धिसार-जैसे सिद्धान्त-ग्रंथोंके अनुसार म्लेच्छखण्डोंके सब मनुष्य सकल-संयमके पात्र एवं उच्चगोत्री हैं या कि नहीं?

इन सब बातोंका ही नीचे क्रमशः विचार किया जाता है, जिसमें शास्त्रीजीकी तत्तद्विषयक चर्चाकी आलोचना भी रहेगी। इससे पाठकोंके सामने कितनी ही नई नई बातें प्रकाशमें आएँगी और वे सब उनकी ज्ञानवृद्धि तथा वस्तुतत्त्वके यथार्थ निर्णयमें सहायक होंगी:—

(१) म्लेच्छोंके मूल भेद दो अथवा तीन हैं—१ कर्मभूमिज २ अन्तरद्वीपज रूपसे दो भेद और १ आर्य-खण्डोद्भव, २ म्लेच्छखण्डोद्भव तथा ३ अन्तरद्वीपज रूपसे तीन भेद हैं। शक-यवन-शवरादिक आर्यखण्डोद्भव म्लेच्छ हैं—आर्यखण्डमें उत्पन्न होते हैं, म्लेच्छखण्डों-में उत्पन्न होनेवाले अथवा वहाँके विनिवासी (क़दीमी बाशिन्दे) नहीं हैं; जैसा कि श्री अमृतचन्द्राचार्यके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

आर्यखण्डोद्भवा आर्या म्लेच्छाः केचिच्छकादयः।
म्लेच्छखण्डोद्भवा म्लेच्छा अन्तरद्वीपजा अपि॥

—तत्त्वार्थसार

अर्थात्—आर्यखण्डमें उत्पन्न होनेवाले मनुष्य प्रायः करके तो 'आर्य' हैं परन्तु कुछ शकादिक 'म्लेच्छ' भी हैं। बाकी म्लेच्छखण्डों तथा अन्तरद्वीपोंमें उत्पन्न होने वाले सब मनुष्य 'म्लेच्छ' हैं।

पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री म्लेच्छोंके म्लेच्छखण्डो-द्भव और अन्तरद्वीपज ऐसे दो भेद ही करते हैं और शक-यवनादिकको म्लेच्छखण्डोंसे आकर आर्यखण्डमें बसनेवाले म्लेच्छ बतलाते हैं। साथही, यह भी लिखते हैं कि आर्यखण्डोद्भव कोई म्लेच्छ होते ही नहीं, आर्य-खण्डमें उत्पन्न होनेवाले सब आर्य ही होते हैं, यहां तक कि म्लेच्छखण्डोंसे आकर आर्यखण्डमें बसनेवालों-की संतान भी आर्य होती है, शकादिकको किसी भी आचार्यने आर्यखण्डमें उत्पन्न होने वाले नहीं लिखा, विद्यानन्दाचार्यने भी यवनादिकको म्लेच्छखण्डोद्भव म्लेच्छ बतलाया है। परन्तु इनमेंसे कोई भी बात उनकी ठीक नहीं है। विद्यानन्दाचार्यने यवनादिकको म्लेच्छखण्डोद्भव नहीं बतलाया और न म्लेच्छोंके अन्तरद्वीपज तथा म्लेच्छ-खण्डोद्भव ऐसे दो भेद ही किये हैं, बल्कि अन्तरद्वीपज और कर्मभूमिज ऐसे दो भेद किये हैं; जैसा कि उनके श्लोकवार्तिकके निम्न वाक्यों से प्रकट है—

"तथान्तरद्वीपजा म्लेच्छाः परे स्युः कर्मभूमिजाः।...
"कर्मभूमिभवा म्लेच्छाः प्रसिद्धा यवनादयः।
स्युः परे च तदाचारपालनाद्बहुधा जनाः॥"

श्रीपूज्यपाद और अकलंकदेवने भी ये ही दो भेद किये हैं और शक-यवनादिकको म्लेच्छखण्डोद्भव नहीं

लिखा, किन्तु कर्मभूमिज बतलाया है । यथा—

"म्लेच्छा द्विविधा अन्तरद्वीपजाः कर्मभूमिजाश्चेति ।"

"कर्मभूमिजाश्च शक-यवन-शबर-पुलिन्दादयः ।"

—सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक

वास्तवमें आर्यखण्ड और म्लेच्छखण्ड दोनों ही कर्मभूमियाँ हैं और इस लिये 'कर्मभूमिज' शब्दमें आर्य-खण्डोद्भव तथा म्लेच्छखण्डोद्भव दोनों प्रकारके म्लेच्छोंका समावेश है । इसीसे अमृतचन्द्राचार्यने उन्हें स्पष्ट करते हुए म्लेच्छोंको तीन भेदोंमें विभाजित किया है । अतः अमृतचन्द्राचार्यके उक्त वाक्यमें प्रयुक्त हुए 'केचिच्छकादयः' का अर्थ म्लेच्छखण्डोंसे आकर आर्यखण्डमें बसने वाले म्लेच्छ नहीं किन्तु 'आर्य खण्डोद्भव' म्लेच्छ ही हो सकता है और यह विशेषण दूसरे म्लेच्छोंसे व्यावृत्ति करानेवाला होनेके कारण सार्थक है । अमृतचन्द्राचार्यके समयमें तो म्लेच्छखण्डों-से आकर आर्यखण्डमें बसने वाले कोई म्लेच्छ थे भी नहीं, जिन्हें लक्ष्य करके यह भेद किया गया हो । जो म्लेच्छ किसी चक्रवर्तीके समयमें आकर बसे भी होंगे उनका अस्तित्व उस समय होही नहीं सकता और उनकी संतान शास्त्रीजीके कथनानुसार म्लेच्छ रहती नहीं—वह पहले ही आर्यजातिमें परिणत होगई थी । इसके सिवाय, शक और यवनादिक जिन देशोंके निवासी हैं वे आर्यखण्डके ही प्रदेश हैं । श्री आदिनाथ भगवान्के समयमें और उनकी आज्ञासे आर्यखण्डमें जिन मुख्य तथा अन्तराल देशोंकी स्थापना की गई थी उनमें शक-यवनादिकके देश भी हैं । जैसा कि श्रीजिनसेनाचार्य-विरचित आदिपुराणके निम्न वाक्योंसे प्रकट है :—

दर्वाभिसार-सौवीर-शूरसेनापरान्तकाः ।
विदेह-सिन्धु-गान्धार-यवनाश्चेदि-पल्लवाः ॥१५५॥
काम्भोजाऽरट्ट-बाल्हीक-तुरुष्क-शक-केकयाः ।
निवेशितास्तथाऽन्येपि विभक्ता विषयास्तथा ॥१५६॥
तदन्तेऽन्तपालानां दुर्गाणि परितोऽभवन् ।
स्थानानि लोकपालानामिव स्वर्धामसीमसु ॥१६०॥
तदन्तरालदेशाश्च बभूवुरनुरक्षिताः ।
लुब्धकाऽरण्यचरट-पुलिन्द-शबरादिभिः ॥ १६१ ॥

—आदिपुराण, पर्व १६

यही वजह है कि जिस समय भरत चक्रवर्ती दिग्वि-जयके लिये निकले थे तब उन्हें गंगाद्वार पर पहुँचनेसे पहले ही आर्यखण्डमें अनेक म्लेच्छ राजा तथा पुलिन्द लोग मिले थे—पुलिन्द म्लेच्छोंकी कन्याएँ चक्रवर्तीकी सेनाको देखकर विस्मित हुई थीं- और उन्होंने अनेक प्रकार की भेंटे देकर भरत चक्रवर्तीके दर्शन किये थे । उस वक्त तक म्लेच्छखण्डोंके कोई म्लेच्छ आर्यखण्डमें आये भी नहीं थे, और इसलिये वे सब म्लेच्छ पहलेसे ही आर्यखण्डमें निवास करते थे; जैसा कि आदिपुराणके निम्न वाक्योंसे प्रकट हैं:—

पुलिन्दकन्यकाः सैन्यसमालोकनविस्मिताः ।
अव्याजसुन्दराकारा दूरादालोकयत्प्रभुः ॥४१॥
चमरीबालकान्केचित् केचित्कस्तूरिकाण्डकान् ।
प्रभोरुपायनीकृत्य ददृशुर्म्लेच्छराजकाः ॥४२॥
ततोविदूरमुल्लंघ्य सोऽध्वानं सह सेनया ।
गंगाद्वारमनुप्रापत् स्वमिवालंघ्यमर्णवम् ॥४५॥

—आदिपुराण, पर्व २८

इन सब प्रमाणोंसे इस विषयमें कोई संदेह नहीं रहता कि शक, यवन, शबर और पुलिन्दादिक म्लेच्छ आर्यखण्डके ही रहने वाले हैं, आर्यखण्डोद्भव हैं—म्लेच्छखण्डोद्भव नहीं हैं । शास्त्रीजी का उन्हें 'म्लेच्छ खण्डोद्भव' लिखना तथा यह प्रतिपादित करना कि 'आर्यखण्डोद्भव कोई म्लेच्छ होते ही नहीं' तथा 'किसी आचार्यने उन्हें आर्यखण्डमें उत्पन्न होनेवाला लिखा

ही नहीं', बिल्कुल ग़लत है। साथ ही, यह कहना भी ग़लत हो जाता है कि 'आर्यखण्डमें उत्पन्न होनेवाले सब आर्य ही होते हैं, म्लेच्छ नहीं'। इसके सिवाय, 'क्षेत्र आर्य'का जो लक्षण श्रीभट्टाकलंक-देवने राजवार्तिक में दिया है उसमें भी यह नहीं बतलाया कि जो आर्यखण्डमें उत्पन्न होते हैं वे सब 'क्षेत्र आर्य' होते हैं, बल्कि "*काशी-कोशलादिषु जाताः क्षेत्रार्याः*" इस वाक्यके द्वारा काशी-कौशलादिक जैसे आर्यदेशोंमें उत्पन्न होनेवालोंको ही 'क्षेत्र आर्य' बतलाया है—शक, यवन तुरुष्क (तुर्किस्तान) जैसे म्लेच्छ देशोंमें उत्पन्न होने वालोंको नहीं। और इस लिए शास्त्रीजीका उक्त सब कथन कितना अधिक निराधार है उसे सहृदय पाठक अब सहज ही में समझ सकते हैं। साथ ही, उनके पूर्वलेख पर इस विषयका जो नोट मैंने (अनेकान्त पृ० २०७) दिया था उसकी यथार्थताका भी अनुभव कर सकते हैं। और यह भी अनुभव कर सकते हैं कि उस नोट पर गहरा विचार करके उसकी यथार्थता आँकनेका अथवा दूसरी कोई खास बात खोज निकालनेका वह परिश्रम शास्त्रीजीने नहीं उठाया है जिसकी उनसे आशा की जाती थी। अस्तु; अब शक-यवनादिके सकलसंयमकी बातको लीजिये।

(२) जब ऊपरके कथनसे यह स्पष्ट है कि कि शक-यवनादि देश आर्यखण्डके ही प्राचीन प्रदेश हैं, उनके निवासी शक-यवन-शबर-पुलिन्दादिक लोग आर्यखण्डोद्भव म्लेच्छ हैं और वे सब आर्यखण्डमें कर्मभूमिका प्रारम्भ होनेके समयसे अथवा भरतचक्रवर्तीकी दिग्विजयके पूर्वसे ही यहाँ पाये जाते हैं तब इस बातको बतलाने अथवा सिद्ध करनेकी जरूरत नहीं रहती कि शक-यवनादिक म्लेच्छ उन लोगोंकी ही सन्तान हैं जो आर्यखंडमें वर्तमान कर्मभूमिका प्रारंभ होनेसे पहले निवास करते थे। शास्त्रोंके कथनानुसार वे लोग भोगभूमिया थे और भोगभूमिया सब उच्चगोत्री होते हैं—उनके नीच गोत्रका उदय ही नहीं बतलाया गया*—इसलिये भोगभूमियोंकी सन्तान होनेके कारण शक-यवनादिक लोग भी उच्च-गोत्री ठहरते हैं।

सकलसंयमका अनुष्ठान छठे गुणस्थानमें होता है और छठे गुणस्थान तक वे ही मनुष्य पहुँच सकते हैं जो कर्मभूमिया होनेके साथ साथ उच्चगोत्री होते हैं। चूंकि शक-यवनादिक लोग कर्मभूमिया होनेके साथ-साथ उच्चगोत्री हैं, इस लिये वे भी आर्यखण्डके दूसरे कर्मभूमिज मनुष्यों (आर्यों) की तरह सकलसंयमके पात्र हैं।

भगवती आराधनाकी टीकामें श्रीअपराजितसूरिने, कर्मभूमियों और कर्मभूमिजोंका स्वरूप बतलाते हुए, कर्मभूमियाँ उन्हें ही बतलाया है जहाँ मनुष्योंकी आजीविका असि, मषि, कृषि आदि षट् कर्मों-द्वारा होती है और जहां उत्पन्न मनुष्य तपस्वी हुए सकलसंयमका पालन करके कर्मशत्रुओंका नाश करते हुए सिद्धि अर्थात् निर्वृति तक को प्राप्त करते हैं। यथा—

असिर्मषिः कृषिः शिल्पं वाणिज्यं व्यवहारिता।
इति यत्र प्रवर्तन्ते नृणामाजीवयोनयः॥
प्रपाल्य संयमं यत्र तपः कर्मपरा नराः।
सुरसंगतिं वा सिद्धिं प्रयान्ति हतशत्रवः॥
एताः कर्मभुवो ज्ञेयाः पूर्वोक्ता दश पंच च।
यत्र संभूय पर्याप्तिं यान्ति ते कर्मभूमिजाः॥

इससे साफ़ ध्वनित है कि कर्मभूमियोंमें उत्पन्न मनुष्य-सकलसंयमके पात्र होते हैं, और इसलिये उनके उच्च-गोत्रका भी निषेध नहीं किया जा सकता। अतः आर्योंकी तरह शक-यवनादि म्लेच्छ भी उच्च-गोत्री होते हुए

* देखो, *गोम्मटसार-कर्मकाण्ड गाथा न०३०२, ३०३*

सकलसंयमके पात्र हैं, इतना ही नहीं, बल्कि म्लेच्छ-खण्डोंके म्लेच्छ भी कर्मभूमिज मनुष्य होनेके कारण सकलसंयमके पात्र हैं, जिनके विषयका विशेष विचार आगे नम्बर ४ में किया जायगा।

यहाँ पर, इस विषयको अधिक स्पष्ट करते हुए, मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि श्री जयधवल के 'संयमलब्धि' अनुयोगद्वारमें निम्न चूर्णिसूत्र और उसके स्पष्टीकरण-द्वारा आर्यखण्डमें उत्पन्न होनेवाले कर्मभूमिक मनुष्यको सकलसंयमका पात्र बतलाया है। उसके सकलसंयम-लब्धिके जघन्य स्थानको भी पूर्व प्रतिपातस्थानसे अनन्तगुणा-अनन्तगुणी भावसिद्धि (विशुद्धि) को लिये हुए लिखा है—

"*कम्मभूमियस्स पडिवज्जमाणस्स जहण्णयं संजमट्ठाणमणंतगुणं* (चू० सूत्र)। *कुदो? संकिलसेणिबंधणपडिवादठाणादो पुव्विल्लादो तव्विवरीदस्सेदस्स जहण्णत्ते वि अणंतगुणभावसिद्धीए णायोववण्णत्तादो। एत्थ कम्मभूमियस्सेति वुत्ते पण्णारसकम्मभूमीसु मज्झिमखंडसमुप्पण्णमणुसस्स गहणं कायव्वं कर्मभूमिसु जातः कर्मभूमिजमिति तस्य तद् व्यपदेशार्हत्वात्।*"

इसी तरह सकलसंयमके उत्कृष्ट स्थानको भी पूर्व प्रतिपद्यमान स्थानसे अनन्तगुणा लिखा है। यथा—

"*कम्मभूमियस्स पडिवज्जमाणस्स उक्कस्सयं संजमट्ठाणमणंतगुणं* (चूर्णि सूत्र)। *कुदो? खेत्ताणुभावेण पुव्विल्लादो एदस्स तहाभावसिद्धीए वाहाणुवलद्धीदो।*"

यही सब बात लब्धिसार ग्रंथ-गाथा नं० १९५ की निम्न टीकासे और भी स्पष्टरूपमें जानी जाती है—

"*तस्माद्देशसंयमप्रतिपाताभिमुखोत्कृष्टप्रतिपातस्थानादसंख्येयलोकमात्राणि षट्स्थानान्यन्तरयित्वा मिथ्यादृष्टिचरस्याऽऽर्यखण्डजमनुष्यस्य सकलसंयमग्रहणप्रथमसमयेवर्तमानं जघन्यं सकलसंयमलब्धिस्थानं भवति।...**ततःपरमसंख्येयलोकमात्राणि षट्स्थानानि गत्वा आर्यखण्डजमनुष्यस्य देशसंयतचरस्य संयमग्रहणप्रथमसमये वर्तमानमुत्कृष्टं सकलसंयमलब्धिस्थानं भवति।*"

इन सब अवतरणोंसे यह बिल्कुल स्पष्ट है कि आर्यखण्डमें उत्पन्न होनेवाले मनुष्योंमें सकलसंयमके ग्रहणकी पात्रता होती है। शक, यवन, शबर और पुलिन्दादिक लोग चूंकि आर्यखण्डमें उत्पन्न होते हैं—जैसा कि ऊपर सिद्ध किया जा चुका है—इसलिये वे भी सकलसंयमके पात्र हैं—मुनि हो सकते हैं।

(३) आर्यखण्डकी जो पैमाइश जैन शास्त्रोंमें बतलाई है उसके अनुसार आज-कलकी जानी हुई सारी दुनिया उसकी सीमाके भीतर आ जाती है। इसीसे बाबू सूरजभानजीने उसे प्रकट करते हुए अपने लेखमें लिखा था—

"भरतक्षेत्रकी चौड़ाई ५२६ योजन ६ कला है। इसके ठीक मध्यमें ५० योजन चौड़ा विजयार्ध पर्वत है, जिसे घटाकर दोका भाग देनेसे २३८ योजन ३ कलाका परिमाण आता है; यही आर्यखण्डकी चौड़ाई बड़े योजनोंसे हैं, जिसके ४७६००० से भी अधिक कोस होते हैं, और यह संख्या आजकलकी जानी हुई सारी पृथिवीकी पैमाइश से बहुत ही ज्यादा—कई गुणी अधिक है। भावार्थ इसका यह है कि आज-कलकी जानी हुई सारी पृथिवी तो आर्यखण्ड जरूर ही है।"

---

* इस मध्य स्थानके छोड़े हुए दो वाक्य म्लेच्छखण्डके मनुष्योंके सकलसंयमग्रहणकी पात्रतासे सम्बन्ध रखते हैं, जिन्हें आगे ४थे नम्बर की चर्चामें यथास्थान उद्धृत किया जावेगा।

इस पर शास्त्रीजीकी भी कोई आपत्ति नहीं। और समाजके प्रसिद्ध विद्वान् स्वर्गीय पं० गोपालदासजी वरैय्याने भी अपनी भूगोलमीमांसा पुस्तकमें, आर्यखण्डके भीतर एशिया, योरुप, अमेरिका, एफ्रीका और आष्ट्रेलिया-जैसे प्रधान-प्रधान द्वीपोंको शामिल करके वर्तमानकी जानी हुई सारी दुनियाका आर्यखण्डमें समावेश होना बतलाया है। जब आर्यखण्डमें आजकलकी जानी हुई सारी दुनिया आजाती है, और आर्यखण्डमें उत्पन्न होनेवाले मनुष्य सकलसंयमके पात्र होते हैं, जैसा कि नं०२ में सिद्ध किया जा चुका है, तब आजकलकी जानी हुई सारी दुनियाके मनुष्य भी सकलसंयमके पात्र ठहरते हैं। और चूंकि सकलसंयमके पात्र वे ही हो सकते हैं जो उच्चगोत्री होते हैं, इसलिये आजकलकी जानी हुई दुनियाके सभी मनुष्योंको गोत्र-कर्मकी दृष्टिसे उच्चगोत्री कहना होगा—व्यावहारिक दृष्टिकी ऊँच-नीचता अथवा लोकमें प्रचलित उपजातियोंके अनेकानेक गोत्रोंके साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

(४) अब रही म्लेच्छखण्डज म्लेच्छोंके सकल संयमकी बात, जैन-शास्त्रानुसार भरतक्षेत्रमें पांच म्लेच्छखण्ड हैं और वे सब आर्यखण्डकी सीमाके बाहर हैं। वर्तमानमें जानी हुई दुनियासे वे बहुत दूर स्थित हैं, वहांके मनुष्योंका इस दुनियाके साथ कोई सम्पर्क भी नहीं है और न यहांके मनुष्योंको उनका कोई ज़ाती परिचय ही है। चक्रवर्तियोंके समयमें वहांके जो म्लेच्छ यहां आए थे वे अब तक जीवित नहीं हैं, न उनका अस्तित्व इस समय यहां संभव ही हो सकता है और उनकी जो सन्तानें हुई वे कभीकी आर्योंमें परिणत हो चुकी हैं, उन्हें म्लेच्छखण्डोद्भव नहीं कहा जा सकता—शास्त्रीजीने भी अपने प्रस्तुत लेखमें उन्हें 'क्षेत्र आर्य' लिखा है और आपने पूर्व लेखमें (अने० पृ० २०७) म्लेच्छखण्डोंसे आए हुए उन म्लेच्छोंको 'कर्म आर्य' बतलाया है जो यहांके रीतिरिवाज अपना लेते थे और आर्योंकी ही तरह कर्म करने लगते थे; यद्यपि आर्यखण्ड और म्लेच्छखंडोंके असि, मषि, कृषि, वाणिज्य और शिल्पादि षट् कर्मोंमें परस्पर कोई भेद नहीं है—वो दोनों ही कर्मभूमियोंमें समान हैं, जैसाकि ऊपर उद्धृत किये हुए अपराजितसूरिके कर्मभूमिविषयक स्वरूपसे प्रकट है, और भगवज्जिनसेनके निम्न वाक्यसे तो यहां तक स्पष्ट है कि म्लेच्छखंडोंके म्लेच्छ धर्मकर्मसे बहिर्भूत होनेके सिवाय और सब बातोंमें आर्यावर्तके ही समान आचारके धारक हैं—

धर्मकर्मबहिर्भूता इत्यमी म्लेच्छका मताः।
अन्यथाऽन्यैः समाचारैरार्यावर्तेन ते समाः॥

—आदिपुराण पर्व ३१, श्लोक १४२

साथ ही, यह सिद्ध किया जा चुका है कि शक, यवन शबर और पुलिन्दादिक जातिके म्लेच्छ आर्यखंडके ही आदिम निवासी (कदीमी बाशिन्दे) हैं—प्रथम चक्रवर्ती भरतकी दिग्विजयके पूर्वसे ही वे यहां निवास करते हैं—म्लेच्छखंडोंसे आकर बसने वाले नहीं हैं। ऐसी हालतमें यद्यपि म्लेच्छखंडज म्लेच्छोंकी सकलसंयमकी पात्रताका विचार कोई विशेष उपयोगी नहीं है और उससे कोई व्यावहारिक नतीजा भी नहीं निकल सकता, फिर भी, चूंकि इस विषयकी चर्चा पिछले लेखोंमें उठाई गई है और शास्त्रीजीने अपने प्रस्तुत उत्तर-लेखमें भी उसे दोहराया है, अतः इसका स्पष्ट विचार भी यहां कर देना उचित जान पड़ता है। नीचे उसीका प्रयत्न किया जाता है:—

श्रीजयधवल नामक सिद्धान्त ग्रन्थमें 'संयमलब्धि' नामका एक अनुयोगद्वार (अधिकार) है। सकलसावद्य कर्मसे विरक्ति-लक्षणको लिये हुए, पंचमहाव्रत, पंचसमिति और तीनगुप्तिरूप जो सकलसंयम है उसे प्राप्त होनेवालेके विशुद्धिपरिणामका नाम संयमलब्धि है और वही मुख्य-

तथा उक्त अनुयोगद्वारका विषय है। इस अनुयोगद्वारमें आर्यखंडके मनुष्योंकी तरह म्लेच्छखंडोंके मनुष्योंको भी सकलसंयमका पात्र बतलाया है और उनके विशुद्धि-स्थानोंका अल्पबहुत्वरूपसे उल्लेख किया है; जैसा कि उसके निम्न वाक्योंसे प्रकट है:—

"अकम्मभूमियस्स पडिवज्जमाणयस्स जहण्णयं संजमट्ठाणमणंतगुणं (चूर्णि सूत्र)[कुदो?] पुव्विल्लादो असंखेयलोगमेत्तछट्ठाणाणि उवरि गंतूणेदस्स समुप्पत्तीए। को अकम्मभूमिओ णाम? भरहैरवयविदेहेसु विणीतसण्णिदमज्झिमखंडं मोत्तूणं सेसपंचखंडविणिवासी मणुओ एत्थ 'अकम्मभूमिओ'त्ति विवक्खिओ। तेसु धम्मकम्मपवुत्तीए असंभवेण तब्भावोववत्तीदो।

जइ एवं कुदो तत्थ संजमग्गहणसंभवो? त्तिणासंकणिज्जं। दिसाविजयट्टिचक्कवट्टिखंधावारेण सह मज्झिमखण्डमागयाणं मिलेच्छरायाणं तत्थ चक्कवट्टिआदीहिं सह जादवेवाहियसंबंधाणं संजमपडिवत्तीए विरोहाभावादो।

अहवा तत्तत्कन्यकानां चक्रवर्त्यादिपरिणीतानां गर्भेषूत्पन्ना मातृपक्षापेक्षया स्वयमकर्मभूमिजा इतीह विवक्षिताः। ततो न किंचिद्विप्रतिषिद्धं। तथा जातीयकानां दीक्षार्हत्वे प्रतिषेधाभावादिति।

तस्सेवुक्कस्सयं पडिवज्जमाणस्स संजमट्ठाणमणंतगुणं (चूर्णिसूत्र)। कुदो? †……

ये वाक्य उन दोनों वाक्य-समूहोंके मध्यमें स्थित हैं जो ऊपर नं० २ में आर्यखंडके मनुष्योंके सकलसंयमकी पात्रता बतलानेके लिये उद्धृत किये जा चुके हैं। इनका आशय क्रमशः इस प्रकार है—

'सकलसंयमको प्राप्त होनेवाले अकर्मभूमिकके जघन्य संयम-स्थान—मिथ्यादृष्टिसे सकलसंयमग्रहणके प्रथम समयमें वर्तमान जघन्य संयमलब्धिस्थान—अनन्तगुणा है। किससे? पूर्वमें कहे हुए आर्यखंडज मनुष्यके जघन्य संयमस्थानसे; क्योंकि उससे असंख्येय लोकमात्र षट्स्थान ऊपर जाकर इस लब्धिस्थानकी उत्पत्ति होती है। 'अकर्मभूमिक' किसे कहते हैं? भरत, ऐरावत और विदेहक्षेत्रोंमें 'विनीत' नामके मध्यमखण्ड (आर्यखण्ड) को छोड़कर शेष पाँच खण्डोंका विनिवासी (क़दीमी बाशिन्दा) मनुष्य यहाँ 'अकर्मभूमिक' इस नाम से विवक्षित है; क्योंकि उन पाँच खंडोंमें धर्मकर्मकी प्रवृत्तियां असंभव होनेके कारण उस अकर्मभूमिक भावकी उत्पत्ति होती है।'

'यदि ऐसा है—उन पाँच खण्डोंमें (वहाँके निवासियोंमें) धर्म-कर्मकी प्रवृत्तियाँ असंभव हैं—तो फिर वहां (उन पाँच खंडोंके निवासियोंमें) संयम-ग्रहण कैसे संभव हो सकता है? इस प्रकारकी शंका नहीं करनी चाहिये; क्योंकि दिग्विजयार्थी चक्रवर्तीकी सेनाके साथ जो म्लेच्छ राजा मध्यमखंड (आर्यखंड) को आते हैं और वहाँ चक्रवर्ती आदिके साथ वैवाहिक सम्बन्धको प्राप्त होते हैं उनके सकलसंयम-ग्रहणमें कोई विरोध नहीं है—अर्थात् जब म्लेच्छखंडोंके ऐसे म्लेच्छोंके सकलसंयम-ग्रहणमें किसीको कोई आपत्ति नहीं, वे उसके पात्र समझे जाते है, तब वहाँके दूसरे सजातीय म्लेच्छोंके यहाँ आने पर उनके सकल संयम-ग्रहणकी पात्रतामें क्या आपत्ति हो सकती है? कुछ भी नहीं, इससे शंका निर्मूल है।

---

† इस प्रश्नका उत्तर अपनी कापीमें नोट किया हुआ नहीं है और वह प्रायः पूर्वस्थानसे असंख्येय-लोकमात्र षट्स्थानोंकी सूचनाको लिये हुए ही जान पड़ता है।

'अथवा—और प्रकारान्तरसे †— न म्लेच्छोंकी जो कन्याएँ चक्रवर्ती आदिके साथ विवाहित होती हैं उनके गर्भसे उत्पन्न होनेवाले मातृपक्षकी अपेक्षा स्वयं अकर्मभूमिज (म्लेच्छ) होते हैं—अकर्मभूमिककी सन्तान अकर्मभूमिक, इस दृष्टिसे—वे भी यहाँ विवक्षित हैं—उनके भी सकलसंयमकी पात्रता और संयमका उक्त जघन्य स्थान अनंतगुणा है। इस लिये कुछ भी विप्रतिषिद्ध‡ नहीं है—दोनोंके तुल्य बलका कोई विरोध नहीं है, अर्थात् एक को सकलसंयमका पात्र और दूसरेको अपात्र नहीं कहा जासकता; क्योंकि उस प्रकारकी दोनों ही जातिवालोंके दीक्षाग्रहणकी योग्यताका प्रतिषेध नहीं है—अर्थात् आगम अथवा सिद्धान्त ग्रन्थोंमें न तो उस जातिके म्लेच्छोंके लिये सकलसंयमकी दीक्षाका निषेध है जो उक्त म्लेच्छखंडोंमेंसे किसी भी म्लेच्छखंड के विनिवासी (क़दीमी बाशिन्दे) हों तथा चक्रवर्तीकी सेना आदिके साथ किसी भी तरह आर्यखण्डको आगये हों, और न उस जातिवालोंके लिये जो म्लेच्छखंडकी कन्याओंसे आर्यपुरुषोंके संयोग-द्वारा उत्पन्न हुए हों।'

'सकलसंयमको प्राप्त करनेवाले उसी अकर्मभूमिक मनुष्यके उत्कृष्ट संयम स्थान—देशसंयतसे सकलसंयम ग्रहणके प्रथम समयमें वर्तमान उत्कृष्ट संयम-लब्धिस्थान —अनन्तगुणा है। किससे ?...।'

सिद्धान्तचक्रवर्ती श्रीनेमिचन्द्राचार्यने आर्यखंडज और म्लेच्छखंडज मनुष्योंके सकलसंयमके जघन्य और उत्कृष्ट स्थानोंका यह सब कथन लब्धिसार ग्रंथकी गाथा नं० १९५ में समाविष्ट किया है, जो संस्कृतटीका-सहित इस प्रकार है—

ततो पडिवज्जगया अज्जमिलेच्छे मिलेच्छअज्जे य ।
कमसो अवरं अवरं वरं वरं होदि संखं वा ॥

टीका—तस्माद्देशसंयमप्रतिपाताभिमुखोत्कृष्टप्रतिपातस्थानादसंख्येयलोकमात्राणि षट्स्थानान्यन्तरयित्वामिथ्यादृष्टिचरस्याऽऽर्यखण्डजमनुष्यस्यसकलसंयम ग्रहणप्रथमसमये वर्त्तमानं जघन्यं सकलसंयम-लब्धिस्थानं भवति । ततः परमसंख्येयलोकमात्राणि षट्स्थानान्यतिक्रम्य म्लेच्छभूमिज-मनुष्यस्य मिथ्यादृष्टिचरस्य संयमग्रहण-प्रथमसमये वर्तमानं जघन्यं संयम-लब्धिस्थानं भवति । ततः परमसंख्येयलोकमात्राणि षट्स्थानानि गत्वा म्लेच्छभूमिजमनुष्यस्य देशसंयत-

---

† 'अथवा' तथा 'वा' शब्द प्रायः एकार्थ-वाचक हैं और वे 'विकल्प' या 'पक्षान्तर' के अर्थमें ही नहीं, किन्तु 'प्रकारान्तर' तथा 'समुच्चय' के अर्थमें भी आते हैं; जैसा कि निम्न प्रमाणों से प्रकट है :—

अहवा (अथवा) = १ "सम्बन्धस्य प्रकारान्तरोपदर्शने", २ "पूर्वोक्तप्रकारापेक्षया प्रकारान्तरत्व द्योतने।" —*अभिधानराजेन्द्र*

वा = 'वा स्याद्विकल्पोपमयोरिवार्थेऽपि समुच्चये ।'
—*विश्वलोचन कोश, सिद्धान्तकौ० त० टी०*

'अथ' शब्द भी 'समुच्चय' के अर्थमें आता है। यथा—

"अथेति मङ्गलाऽनन्तरारम्भप्रश्नकार्त्स्न्येधिकारप्रतिज्ञासमुच्चयेषु।"
—*सिद्धान्तकौ० तत्त्वबो० टी०*

'अहवा' के प्रयोग का निम्न उदाहरण भी ध्यान में लेने योग्य है—

"आहारे धणरिद्धि पवट्टइ, चउविहु चाउ जि एहुपवट्टइ
अहवा दुट्ठवियप्पहँ चाए, चाउ जि एहु मुणहु समवाए।'
—*दशलाक्षणिकधर्मजयमाला*

‡ विप्रतिषेधः—"तुल्यबलविरोधो विप्रतिषेधः।"

"The opposition of two courses of action which are equally important, the conflict of two even-matched interests." V. S. Apte.

चरस्य संयमग्रहण-प्रथमसमये उत्कृष्टं संयमलब्धि-स्थानं भवति । ततः परमसंख्येयलोकमात्राणि षट्-स्थानानि गत्वा आर्यखंडज-मनुष्यस्य देशसंयतचरस्य संयमग्रहण-प्रथमसमये वर्तमानमुत्कृष्टं सकलसंयम-लब्धिस्थानं भवति । एतान्यार्यम्लेच्छमनुष्यविषयाणि सकलसंयम-ग्रहण-प्रथमसमये वर्तमानानि संयमलब्धि-स्थानानि प्रतिपद्यमानस्थानानीत्युच्यन्ते ।

अत्रार्य-म्लेच्छमध्यमस्थानानि मिथ्यादृष्टिचरस्य वा असंयतसम्यग्दृष्टिचरस्य वा देशसंयतचरस्य वा तदनुरूपविशुद्धया सकलसंयमं प्रतिपद्यमानस्य संभवन्ति । विधिनिषेधयोर्नियमाऽवचने संभवप्रतिपत्तिरिति न्यायसिद्धत्वात् । अत्र जघन्यद्वयं यथायोग्यतीव्रसंक्लेशविष्टस्य, उत्कृष्टद्वयं तु मंदसंक्लेशाविष्टस्येति ग्राह्यं ।

म्लेच्छभूमिज-मनुष्याणां सकलसंयमग्रहणं कथं संभवति? इतिनाशंकितव्यम् । दिग्विजयकालेचक्रवर्तिना सह आर्यखण्डमागतानां म्लेच्छराजानां चक्रवर्त्यादिभिः सह जातवैवाहिकसम्बन्धानां संयमप्रतिपत्तेरविरोधात् । अथवा तत्कन्यकानां चक्रवर्त्यादिपरिणीतानां गर्भेषूत्पन्नस्य मातृपक्षापेक्षया म्लेच्छव्यपदेशभाजः संयमसंभवात् । तथाजातीयकानां दीक्षार्हत्वे प्रतिषेधाभावात् ।"

टीकामें गाथाके आशयको स्पष्ट करते हुए लिखा है—

'उस देशसंयम-प्रतिपाताभिमुख उत्कृष्टप्रतिपातस्थान-से असंख्यातलोकमात्र षट् स्थानोंका अन्तराल करके मिथ्यादृष्टि आर्यखंडजमनुष्यके सकलसंयम-ग्रहणके प्रथम समयमें वर्तमान जघन्य सकलसंयम-लब्धिस्थान होता है। उसके बाद असंख्यात लोकमात्र षट् स्थानोंको उल्लंघन करके मिथ्यादृष्टि म्लेच्छभूमिज मनुष्यके संयमग्रहणके प्रथम समयमेंवर्तमान सकलसंयम लब्धिका जघन्य स्थान होता है। उसके बाद असंख्यात लोकमात्र षट् स्थान जा करके म्लेच्छखण्डके देशसंयमी मनुष्यके सकलसंयम-ग्रहणके प्रथम समयमें उत्कृष्ट सकलसंयम-लब्धिका स्थान होता है। तदनन्तर असंख्यात लोकमात्र षट् स्थान जा करके आर्यखंडके देशसंयमी मनुष्यके सकलसंयमग्रहणके प्रथम समयमें वर्तमान उत्कृष्ट सकलसंयम-लब्धिस्थान होता है। ये सब सकलसंयम ग्रहणके प्रथम समयमें होने वाले आर्य-म्लेच्छभूमिज मनुष्यविषयक संयम-लब्धिस्थान 'प्रतिपद्यमान स्थान' कहलाते हैं।'

'यहां आर्यखंडज और म्लेच्छखंडज मनुष्योंके मध्यम स्थान—जघन्य और उत्कृष्ट स्थानोंके बीचके स्थान—मिथ्यादृष्टिसे वा असंयतसम्यग्दृष्टिसे अथवा देशसंयतसे सकलसंयमको प्राप्त होनेवालेके संभाव्य होते हैं। क्योंकि विधि-निषेधका नियम न कहा जाने पर संभवकी प्रतिपत्ति होती है, ऐसा न्याय सिद्ध है। यहां दोनों जघन्य स्थान यथायोग्य तीव्रसंक्लेशाविष्टके और दोनों उत्कृष्ट स्थान मंद-संक्लेशाविष्टके होते हैं, ऐसा समझ लेना चाहिये।'

'म्लेच्छभूमिज अर्थात् म्लेच्छखंडोंमें उत्पन्न होने-वाले मनुष्योंके सकलसंयमका ग्रहण कैसे संभव हो सकता है? ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये; क्योंकि दिग्विजयके समयमें चक्रवर्तीके साथ जो म्लेच्छराजा आर्यखंडको आते हैं और चक्रवर्ती आदिके साथ वैवाहिक सम्बंधको प्राप्त होते हैं उनके सकलसंयमके ग्रहणका विरोध नहीं है—अर्थात् जब उन्हें सकलसंयमके लिये अपात्र नहीं समझा जाता तब उनके दूसरे सजातीय म्लेच्छबन्धुओंको अपात्र कैसे कहा जा सकता है और कैसे उनके सकलसंयम-ग्रहणकी संभावनासे इनकार किया जा सकता है? कालान्तरमें वे भी आर्यखंडको आकर सकलसंयम-ग्रहण कर सकते हैं, इससे शंका निर्मूल है। अथवा उन म्लेच्छोंकी जो कन्याएँ चक्रवर्ती आदिके साथ विवाहित

होती हैं उनके गर्भसे उत्पन्न होनेवाले मातृपक्षकी अपेक्षा म्लेच्छ कहलाते हैं उनके सकलसंयम संभव होनेसे भी म्लेच्छभूमिज मनुष्योंके सकलसंयम-ग्रहणकी संभावना है। उस प्रकारकी जातिवाले म्लेच्छोंके दीक्षा-ग्रहणकी योग्यताका (आगममें) प्रतिषेध नहीं है—इससे भी उन म्लेच्छभूमिज मनुष्योंके सकलसंयम-ग्रहणकी संभावना सिद्ध है—जिसका प्रतिषेध नहीं होता उसकी संभावनाको स्वीकार करना न्यायसंगत है।'

यहाँ पर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती जयधवलकी रचना के बहुत बाद हुए हैं—जयधवल शक सं० ७५६ में बन कर समाप्त हुआ है और नेमिचन्द्राचार्य गोम्मटस्वामीकी मूर्तिका निर्माण करानेवाले तथा शक संवत् ९०० में महापुराणको बनाकर समाप्त करने वाले श्रीचामुण्डरायके समयमें हुए और उन्होंने शक सं० ९०० के बाद ही चामुंडरायकी प्रार्थनादिको लेकर जयधवलादि ग्रंथों परसे गोम्मटसारादि ग्रंथोंकी रचना की है। लब्धिसार ग्रन्थ भी चामुण्डरायके प्रश्नको लेकर जयधवल परसे सारसंग्रह करके रचा गया है; जैसा कि टीकाकार केशववर्णीके निम्न प्रस्तावना-वाक्यसे प्रकट है—

"श्रीमान्नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्ती सम्यक्त्वचूडामणिप्रभृतिगुणनामाङ्कित-चामुण्डरायप्रश्नानुरूपेण कषायप्राभृतस्य जयधवलाख्यद्वितीयसिद्धान्तस्य पंचदशानां महाधिकाराणां मध्ये पश्चिमस्कंधाख्यस्य पंचदशस्यार्थं संगृह्य लब्धिसारनामधेयं शास्त्रं प्रारभमाणो भगवत्पंचपरमेष्ठिस्तव-प्रणामपूर्विकां कर्तव्यप्रतिज्ञां विधत्ते।"

जयधवल परसे जो चार चूर्णिसूत्र ऊपर (नं० २, ४ में) उद्धृत किये गये हैं उन्हें तथा उनकी टीकाके आशयको लेकर ही नेमिचन्द्राचार्यने उक्त गाथा नं० १९५ की रचना की है। चूर्णिसूत्रोंमें कर्मभूमिक और अकर्मभूमिक शब्दोंका प्रयोग था, कर्मभूमिकमें म्लेच्छखण्डोंके मनुष्य आ सकते थे और अकर्मभूमिकमें भोगभूमियोंका समावेश हो सकता था। इसीसे जयधवलकारको 'कर्मभूमिक' और 'अकर्मभूमिक' शब्दोंके प्रकरणसंगत वाच्य को स्पष्ट कर देनेकी ज़रूरत पड़ी और उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया कि कर्मभूमिकका वाच्य 'आर्यखण्डज' मनुष्य और अकर्मभूमिक का 'म्लेच्छखण्डज' मनुष्य है—साथ ही यह भी बतला दिया कि म्लेच्छखण्डज कन्यासे आर्यपुरुषके संयोग-द्वारा उत्पन्न होनेवाली सन्तान भी एक प्रकारसे म्लेच्छ तथा अकर्मभूमिक है, उसका भी समावेश 'अकर्मभूमिक' शब्दमें किया जा सकता है। इसीलिये नेमिचन्द्राचार्यने यह सब समझ कर ही अपनी उक्त गाथामें कर्मभूमिक और अकर्मभूमिकके स्थान पर क्रमशः 'अज्ज' तथा 'मिलेच्छ' शब्दोंका प्रयोग दूसरा कोई विशेषण या शर्त साथमें जोड़े बिना ही किया है, जो देशामर्शकसूत्रानुसार 'आर्यखण्डज' तथा 'म्लेच्छखण्डज' मनुष्यके वाचक हैं; जैसा कि टीकामें भी प्रकट किया गया है। ऐसी हालतमें यहां (लब्धिसारमें) उस प्रश्न की नौबत ही नहीं आती जो जयधवलमें म्लेच्छखण्डज मनुष्यके अकर्मभूमिक भावको स्पष्ट करने पर खड़ा हुआ था और जिसका प्रारंभ 'जइ एवं'–'यदि ऐसा है -', इन शब्दोंके साथ होता है तथा जिसका समाधान वहां उदाहरणात्मक हेतुद्वारा किया गया है; फिर भी टीकाकारने उस का कोई पूर्व सम्बन्ध व्यक्त किये बिना ही उसे जयधवल परसे कुछ परिवर्तनके साथ उद्धृत कर दिया है (यदि टीकाका उक्त मुद्रित पाठ ठीक है तो) और इसीसे टीकाके पूर्व भागके साथ वह कुछ असंगतसा जान पड़ता है।

इस तरह यतिवृषभाचार्यके चूर्णिसूत्रों, वीरसेन-जिनसेनाचार्योंके 'जयधवल' नामक भाष्य, नेमिचन्द्र-

सिद्धान्तचक्रवर्तीके लब्धिसार ग्रन्थ और उसकी केशववर्णि कृत टीका परसे यह बिल्कुल स्पष्ट है कि म्लेच्छखंडोंके मनुष्य संयमलब्धिके पात्र हैं—जैन मुनिकी दीक्षा लेकर, छठे गुणस्थानादिकमें चढ़ कर, महाव्रतादिरूप सकलसंयमका पालन करते हुए अपने परिणामोंको विशुद्ध कर सकते हैं। यह दूसरी बात है कि म्लेच्छखंडोंमें रहते हुए वे ऐसा न कर सकें; क्योंकि वहाँकी भूमि धर्म-कर्मके अयोग्य है। श्री जिनसेनाचार्यने भी, भरत चक्रवर्तीकी दिग्विजयका वर्णन करते हुए *'इति प्रसाध्य-तां भूमिमभूमिं धर्मकर्मणाम्'* इस वाक्यके द्वारा उस म्लेच्छभूमिको धर्म-कर्मकी अभूमि बतलाया है। वहाँ रहते हुए मनुष्योंके धर्म-कर्मके भाव उत्पन्न नहीं होते, यह ठीक है। परन्तु आर्यखंडमें आकर उनके वे भाव उत्पन्न हो सकते हैं और वे अपनी योग्यताको कार्यमें परिणित करते हुए खुशीसे आर्यखण्डज मनुष्योंकी तरह सकलसंयमका पालन कर सकते हैं। और यह बात पहले ही बतलाई जा चुकी है कि जो लोग सकलसंयमका पालन कर सकते हैं—उसकी योग्यता अथवा पात्रता रखते हैं—वे सब गोत्र-कर्मकी दृष्टिसे उच्च गोत्री होते हैं। इसलिये आर्यखंड और म्लेच्छखंडोंके सामान्यतया सब मनुष्य अथवा सभी कर्मभूमिज मनुष्य सकलसंयमके पात्र होनेके साथ-साथ उच्चगोत्री भी हैं। यही इस विषयमें सिद्धान्त-ग्रंथोंका निष्कर्ष जान पड़ता है।

विचारकी यह सब साधन-सामग्री सामने मौजूद होते हुए भी, खेद है कि शास्त्रीजी सिद्धान्तग्रंथोंके उक्त निष्कर्षको मानकर देना नहीं चाहते! शब्दोंकी खींच-तान-द्वारा ऐसा कुछ डौल बनाना चाहते हैं जिससे यह समझ लिया जाय कि सिद्धान्तकी बातको न तो यतिवृषभने समझा, न जयधवलकार वीरसेन-जिनसेनाचार्योंने, न सिद्धान्तचक्रवर्ती नेमिचन्द्रने और न उनके टीकाकार केशववर्णीने!! क्योंकि यतिवृषभने अपनी चूर्णिमें अकर्मभूमिक पदके साथ ऐसा कोई शब्द नहीं रक्खा जिससे उसका वाच्य अधिक स्पष्ट होता या उसकी व्यापक शक्तिका कुछ नियन्त्रण होता! जयधवलकारने अकर्मभूमिकका अर्थ सामान्यरूपसे म्लेच्छखंडोंका विनिवासी मनुष्य कर दिया! तथा चूर्णिकारके साथ पूर्ण सहमत न होते हुए भी अपना कोई एक सिद्धान्त क़ायम नहीं किया!! और जो सिद्धान्त प्रथम हेतुके द्वारा इस रूपमें क़ायम भी किया था कि सिर्फ वे ही म्लेच्छ राजा सकलसंयमको ग्रहण कर सकते हैं जो चक्रवर्तीकी सेनाके साथ आर्यखण्डको आकर अपनी बेटी भी चक्रवर्ती या आर्यखंडके किसी दूसरे मनुष्यके साथ विवाह देवें, उसका फिर दूसरे हेतु-द्वारा परित्याग कर दिया और यह लिख दिया कि ऐसे म्लेच्छ राजाओंकी लड़कीसे जो संतान पैदा हो वही सकल संयमकी पात्र होसकती है!!! इसी तरह सिद्धान्तचक्रवर्तीने भी अपनी उक्त गाथामें प्रयुक्त हुए 'मिलेच्छ' शब्दके साथ कोई विशेषण नहीं जोड़ा—आर्यखण्डके मनुष्योंके साथ विवाह सम्बन्ध-जैसी कोई शर्त नहीं लगाई—जिससे उसकी शक्ति सीमित होकर यथार्थतामें परिणत होती!! और न उनके टीकाकारने ही उस पर कोई लगाम लगाया है; बल्कि खुले आम म्लेच्छभूमिज-मात्रके लिये सकल संयमके जघन्य, मध्यम तथा उत्कृष्ट स्थानोंका विधान कर दिया है!!! मेरे ख़यालसे शास्त्रीजीकी रायमें इन आचार्योंको चूर्णि-सूत्र आदिमें ऐसे कोई शब्द रख देने चाहियें थे जिनसे सामान्यतया सब म्लेच्छोंको सकलसंयमके ग्रहणका अधिकार न होकर सिर्फ़ उन ही म्लेच्छ राजाओंको वह प्राप्त होता जो चक्रवर्तीकी सेनाके साथ आकर अपनी बेटी भी आर्यखण्डके किसी मनुष्यके साथ विवाह देते—बेटी विवाह देनेकी शर्त ख़ास तौर पर लाज़िमी रक्खी

जाती !! अथवा ऐसा करदिया जाता तो और भी अच्छा होता कि उन बेटियोंसे पैदा होने वाली सन्तान ही सकल-संयमकी अधिकारिणी है—दूसरा कोई भी म्लेच्छखंडज मनुष्य उसका पात्र अथवा अधिकारी नहीं है !! ऐसी स्थितिमें ही शायद उन आचार्योंकी सिद्धान्तविषयक समझ-बूझका कुछ परिचय मिलता !!! परन्तु यह सब कुछ अब बन नहीं सकता, इसीसे स्पष्ट शब्दोंके अर्थकी भी खींचतान-द्वारा शास्त्रीजी उसे बनाना चाहते हैं !!!

शास्त्रीजीने अपने पूर्वलेखमें '*तथाजातीयकानां दीक्षार्हत्वे प्रतिषेधाभावात्*' इस वाक्यकी, जोकि जयधवला और लब्धिसार-टीका दोनोंमें पाया जाता है और उनके प्रमाणोंका अन्तिम वाक्य है, चर्चा करते हुए यह बतलाया था कि इस वाक्यमें प्रयुक्त हुए 'तथाजातीयकानां' पदके द्वारा म्लेच्छोंकी दो जातियोंका उल्लेख किया गया है—एक तो उन साक्षात् म्लेच्छोंकी जातिका जो म्लेच्छ-खंडोंसे चक्रवर्ती आदिके साथ आर्यखंडको आ जाते हैं तथा अपनी कन्याएँ भी चक्रवर्ती आदिको विवाह देते हैं और दूसरे उन परम्परा म्लेच्छोंकी जातिका जो उक्त म्लेच्छ कन्याओंसे आर्यपुरुषोंकेसंयोग द्वारा उत्पन्न होते हैं। इन्हीं दो जाति वाले म्लेच्छोंके दीक्षाग्रहणका निषेध नहीं है। साथ ही लिखा था कि—"इस वाक्यसे यह निष्कर्ष निकलता है कि अन्य म्लेच्छोंके दीक्षाका निषेध है। यदि टीकाकारको लेखकमहोदय (बा० सूरजभानजी) का सिद्धान्त अभीष्ट होता तो उन्हें दो प्रकारके म्लेच्छोंके संयमका विधान बतलाकर उसकी पुष्टिके लिये उक्त अन्तिम पंक्ति (वाक्य) लिखनेकी कोई आवश्यक्ता ही नहीं थी, क्योंकि वह पंक्ति उक्त सिद्धान्त—सभी म्लेच्छ खंडोंके म्लेच्छ सकलसंयम धारण कर सकते हैं—के विरुद्ध जाती है।" इस पर मैंने एक नोट दिया था और उसमें यह सुझाया था कि—'यदि शास्त्रीजीको उक्त पदसे ऐसी दो जातियोंका ग्रहण अभीष्ट है, तब चूंकि आर्यखंडको आए हुए उन साक्षात् म्लेच्छोंकी जो जाति होती है वही जाति म्लेच्छखंडोंके उन दूसरे म्लेच्छोंकी भी वही है जो आर्यखंडको नहीं आते हैं, इसलिये साक्षात् म्लेच्छ जातिके मनुष्योंके सकलसंयम-ग्रहणकी पात्रता होनेसे म्लेच्छखंडोंमें अवशिष्ट रहे दूसरे म्लेच्छ भी सकलसंयमके पात्र ठहरते हैं—कालान्तरमें वे भी अपने भाई-बन्दों (सजातीयों) के साथ आर्यखंडको आकर दीक्षा ग्रहण कर सकते हैं। और इस तरह सकलसंयम-ग्रहणकी पात्रता एवं संभावनाके कारण म्लेच्छखंडोंके सभी म्लेच्छोंके उच्चगोत्री होनेसे बाबू सूरजभानजीका वह फलितार्थ अनायास ही सिद्ध हो जाता है, जिसके विरोधमें इतना अधिक द्राविडी प्राणायाम किया गया है।'

म्लेच्छखंडोंमें अवशिष्ट रहे म्लेच्छोंकी कोई तीसरी जाति शास्त्रीजी बतला नहीं सकते थे, इसलिये उन्हें मेरे उक्त नोटकी महत्ताको समझनेमें देर नहीं लगी और वे ताड़ गये कि इस तरह तो सचमुच हमने खुद ही अपने हाथों अपने सिद्धान्तकी हत्या कर डाली है और अजान-में ही बाबू साहबके सिद्धान्तकी पुष्टि करदी है !! अब करें तो क्या करें ? बाबू साहबकी बातको मान लेना अथवा चुप बैठ रहना भी इष्ट नहीं समझा गया, और इसलिये शास्त्रीजी प्रस्तुत उत्तरलेखमें अपनी उस बातसे ही फिर गये हैं !! अब वे '*तथाजातीयकानाम्*' पदमें एक ही जातिके म्लेच्छोंका समावेश करते हैं और वह है उन म्लेच्छ कन्याओंसे आर्यपुरुषोंके सम्बन्ध-द्वारा उत्पन्न होनेवाले मनुष्योंकी जाति !!! इसके लिये शास्त्रीजीको शब्दोंकी कितनी ही खींचतान करनी पड़ी है और अपनी नासमझी, कमज़ोरी, दिलमुलयक़ीनी, डाँवाडोल परिणति तथा हेराफेरीको जयधवलके रचयिता आचार्य महाराजके ऊपर लादते हुए यहाँ तक भी कह देना पड़ा है कि—

(१) "आचार्यने सूत्रमें आये हुए 'अकर्मभूमिक' शब्दकी परिभाषाको बदल कर अकर्मभूमिकोंमें संयम-स्थान बतलानेका दूसरा मार्ग स्वीकार किया !"

(२) " *'ततो न किंचिद् विप्रतिषिद्धम्'* पदसे यह बात ध्वनित होती है कि 'अकर्मभूमिक'की पहली विवक्षा में कुछ 'विप्रतिषिद्ध' अवश्य था । इसीसे आचार्यको 'अकर्मभूमिक' की पहली विवक्षाको बदल कर दूसरी विवक्षा करना उचित जान पड़ा !"

(३) "यदि आचार्य महाराजको पाँच खंडोंके सभी म्लेच्छ मनुष्योंमें सकलसंयम ग्रहणकी पात्रता अभीष्ट थी और वे केवल वहाँकी भूमिको ही उसमें बाधक समझते थे—जैसा कि सम्पादकजीने लिखा है—तो प्रथम तो उन्हें आर्यखंडमें आगत म्लेच्छ मनुष्योंके संयमप्रतिपत्तिका अविरोध बतलाते समय कोई शर्त नहीं लगानी चाहिये थी। दूसरे, पहले समाधानके बाद जो दूसरा समाधान होना चाहिये था, वह पहले समाधानसे भी अधिक उक्त मतका समर्थक होना चाहिये था और उसके लिए 'अकर्मभूमिक' की परिभाषा बदलनेकी आवश्यकता नहीं थी !"

(४) "इस प्रकारसे अकर्मभूमिक मनुष्योंके सकल-संयम-स्थान बतलाकर भी आचार्यको संतोष नहीं हुआ, जिसका संभाव्य कारण मैं पहले बतला आया हूँ। अतः उन्हें अकर्मभूमिक शब्दकी पहली विवक्षा—म्लेच्छ खंडोंके मनुष्य—को छोड़ कर, अकर्मभूमिक शब्दकी दूसरी विवक्षा करनी पड़ी, जिसमें किसीको कोई विप्रतिपत्ति न हो सके। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि आचार्यका अभिप्राय किसी-न-किसी प्रकारसे अकर्म-भूमिक मनुष्यके संयमस्थान सिद्ध करना है न कि म्लेच्छ खंडोंके सब मनुष्योंमें सकलसंयमकी पात्रता सिद्ध करना, यदि उनकी यही मान्यता होती तो वे अकर्मभूमिक शब्दसे विवक्षित म्लेच्छ खंडके मनुष्योंको छोड़कर और अकर्म भूमिककी दूसरी विवक्षा करके सिद्धान्तका परित्याग न करते !!"

शास्त्रीजीके लेखकी ऐसी विचित्र स्थिति होते हुए और यह देखते हुए कि वे अपनी हेराफेरीके साथ जय-धवल-जैसे महान् ग्रन्थके रचयिता आचार्य महाराजको भी हेराफेरीके चक्करमें डालना चाहते हैं और उनके कथनका लब्धिसारमें निश्चित सार खींचने वाले सिद्धान्त-चक्रवर्ती नेमिचन्द्र-जैसोंकी भी बातको मानकर देना नहीं चाहते, यह भाव पैदा होता है कि तब उनके साथकी इस तत्त्वचर्चा को आगे चलानेसे क्या नतीजा निकल सकता है ? कुछ भी नहीं। अतः मैं इस बहस को यहाँ ही समाप्त करता हूँ और अधिकारी विद्वानोंसे निवेदन करता हूँ कि वे इस विषयमें अपने-अपने विचार प्रकट करनेकी कृपा करें।

वीर-सेवामन्दिर, सरसावा, ता०२१-२-१६३६

सुभाषित

घरमें भूखा पड़ रहै, दस फाकै हो जाँय।
तुलसी भैया बन्धुके कबहुँ न माँगन जाँय ॥
तुलसी कर पर कर करो, कर तर कर न करो।
जा दिन कर तर कर करो, ता दिन मरन करो ॥

मांगन मरण समान है, मत कोई माँगो भीख ।
माँगन ते मरना भला, यह सतगुरकी सीख ॥ —तुलसी

दस्ते सवाल सैंकड़ों ऐबोंका ऐब है।
जिस दस्तमें यह ऐब नहीं वह दस्ते ग़ैब है ॥ —ग़ालिब

परिवर्तन

लेखक—
[भगवत्स्वरूप जैन 'भगवत्']

मनोदया थी अतीव सुन्दर ! और फिर प्रेमके लिए क्या सुन्दर, क्या असुंदर ? वह तो अन्धा होता है न ?—विवेक-हीन ! तिस पर था वज्रबाहुको स्वभाव-गत उचित और हार्दिक-प्रेम ! होना भी चाहिए, वह इसलिए कि पुरुषके लिए सौन्दर्य-वती, पतिपद-पूजक नारीके अतिरिक्त इस अथिर-विश्वमें और कोई सुख ही नहीं। विश्वकी कठोरताका निराकरण नारी ही कर सकती है। साथ ही—मनोदया और वज्रबाहुका दाम्पत्तिक चयन, मानवीय-त्रुटियों द्वारा न होकर प्राकृतिक या जन्म-जात संस्कारों द्वारा हुआ हो, ऐसा प्रतिभासित होता था ! दोनों ही तारुण्यके उमङ्ग-भरे उपवनमें विहार कर रहे थे ! मनोदया सौन्दर्य-समृद्धि की अधीश्वरी थी तो वज्रबाहु थे युवक-तेज और मन्मथ-सैन्यके सरस अधिनायक ! वह इन्द्रीवर सुरभि थी, तो वह रस-लोलुप—भ्रमर ! वह साध्य थी तो वह साधक ! किन्तु इस अन्तरकी तहमें विरसता न थी, एक उमंग थी, एक आकर्षण था,—और थी एक अभिन्नता-सी ! जो प्रेम-सम्बन्धमें, वांछनीय-वस्तुके रूपमें, ग्राह्य होती है !·····

उसदिन जैसेही राजकुमार-वज्रबाहुने अपने भव्य-भवनमें प्रवेश किया, कि—एक सम-वयस्क युवक पर उनकी दृष्टि पड़ी ! प्रेमाभिवादन हुआ ! एक दूसरेको देख, दोनों प्रसन्न हुए !

यह थे—उदय सुन्दर !

हस्तिनागपुर-नरेश महाराज दन्तवातनके सुपुत्र ! राजकुमारी मनोदया के प्रेमपूर्ण सहोदर ! या कहना चाहिए—वीर-वज्रबाहुके स्नेही—साले साहिब।

खुले मन और खुले तरीके पर बातें चलीं। साले-बहनोई का नाता, फिर लगावट और परदेका काम ही क्या ?—बातें करते कितनी देर हुई, इसका दोनोंमें से किसीको पता नहीं ! इसके बाद कामकी बातोंका नम्बर आया।—

'···तो महाराजने स्वीकारता देदी ?'—कुछ कष्ट-सा अनुभव करते हुए वज्रबाहुने पूछा !

'हाँ !—सहर्ष···! अस्वीकारताकी वजह भी तो होती—कुछ !'—साले-साहिबने आवश्यकतासे अधिक

दृढ़-स्वरमें उत्तर दिया ! जैसे उन्हें इच्छित-विजय प्राप्त हुई हो।

'लेकिन···!'—अस्फुट, भग्न-वाक्य वज्रबाहुके मुँहसे निकला। और वह कुछ सोचने लगे! जैसे हृदयमें क्षीर-फेन उठ रहा हो, कुछ ठेस लगी हो! मनो-वेदनाने मुखाकृति पर व्याघात किया!

'लेकिन···?—लेकिन महाराज विवेकशील हैं! वृद्ध-पुरुष हैं! उन्होंने बहुत ज़माना देखा है! वे मर्यादा नहीं उलङ्घ सकते।'—उदय सुन्दरने अपने पक्षकी मज़बूती सामने रखी! मगर इसने वज्रबाहुके सुनहरे-स्वप्नोंका ध्वंश कर दिया। वह तिलमिला उठे!

'तो···?—तो बिदा होगी ही?···लेकिन यह तो मेरे लिए अन्याय है! मेरी कोमल-भावनाओं का हनन है! मेरी जीवन-पहेली का निरादर है! मौत है, सरासर मौत! नहीं, मैं एक क्षण भी एकाकी-जीवन बितानेके लिए समर्थ नहीं!'—वज्रबाहुके उत्तेजित-हृदयसे प्रगट हुआ!

उदयसुन्दर खिलखिलाकर हँस पड़ा! उसकी हँसीमें व्यंग था! उपेक्षा थी!! और थी चुभने वाली कसक!!!

'···खूब! तो क्या कीजिएगा?—वृद्धि-पितामहकी आज्ञा भंग?···'—हँसी पर काबू करते हुए सालेसाहिब ने फ़र्माया!

अवाक्!

क्षण-भर पूर्ण शान्ति!!

फिर—

'कदापि नहीं···!'

'तब···?'

'मैं भी साथ चलूंगा···!'

'ऐं···! आपभी साथ चलेंगे—क्या मतलब?—क्या मेरी बहिन के साथ-साथ आपकी भी बिदा होगी···?···'—साश्चर्य, विस्फारित-नेत्रों से राजकुमारकी ओर देखते हुए उदयसुन्दरने कहा!

'हां! मैं भी 'उसके' साथ ही चलूंगा!··· विदा···! बिदा टल नहीं सकती, मैं बग़ैर उसके रह नहीं सकता! और उपाय नहीं!'—उदास-चित्त, गंभीरतापूर्वक वज्रबाहु बोले।

'···वाह! अरे, ज़रा सोचिये तो इसमें आपका कितना अपयश होगा?—लोगोंकी आपके लिए कैसी धारणा बनेगी?—दूषित ही, न?···फिर लाभ क्या?—दो-दिन बाद भी तो आप आ सकते हैं!...' उदयसुन्दरने दलील पेश की।

मौन! शोक-शील, चिन्ता-पूर्ण मुद्रा! फिर बाष्पाकुलित-कण्ठ से वह बोले—'दो-दिन...? ओफ़्! दो-दिन! मैंने कहा न, मैं उसके बिना क्षण-भर भी नहीं रह सकता!...समझते नहीं उदयसुन्दर! लोग कहेंगे, जो उनका मन कहेगा! और मैं करूँगा, जो मेरे मनकी होगी। मन, गुलामोंका भी स्वतंत्र होता है।'

'तो अन्तिम निर्णय...?'

'यही कि मैं भी साथ-साथ चलूंगा! ज्योत्स्नासे शशि जुदा रह नहीं सकता!'

'आपकी इच्छा!'

× × ×

तरुण-हृदयोंमें सदा बसन्त रहता है। लेकिन बसुन्धरा एक वर्ष बाद अपने वक्षस्थल पर उसे फलते-फूलते देखती है।

कितना मनोमुग्धकर था मधु-ऋतुका शुभागमन! प्रकृति-सुन्दरीने जैसे किसी अज्ञात्-लोककी सुषमाका चित्रण किया हो। चतुर्दिक नेत्र-प्रिय सौन्दर्य

बिखरा हुआ था। लगता था—बनस्पति-वाला रूप-प्रतियोगिताके लिये साज-श्रृंगार युक्त खड़ी है !

रंग-विरंगे फूलों, हरी-हरी दूब और कुहु-वादिनी-कोयलों; शुकों द्वारा वह पार्वतीय-उपवन रमणीकता-की सीमा बना हुआ था ! धवलित-निर्भरोंका निनाद, विचित्र प्रकारके संगीतका सृजन कर रहा था ! सौरभित-मलय-समीर सरस-हृदयोंमें मादकता का उत्पादन कर रही थी !...चराचर, जैसे सभी सौन्दर्य-मदिरा पी, उन्मत्त हो रहे थे !

और तभी ...

उपवन के प्रबल-आकर्षणने पथ पर जाते हुए युवकोंका ध्यान अपनी ओर खींचा। वह रुक गये।... उतरे।

'इतनी रमणीक यह कौन-सी जगह है ?'—वज्र-बाहुने उपवन को भर नज़र देखते हुए कहा !

'बसन्त-गिरि-शैल !'—उदयसुन्दरने उत्तर दिया।

'कुछ देर यहाँ विश्राम किया जाए तो क्या हानि ?'—राजकुमारके सरस-मनसे निकला।

'कुछ नहीं !'...—और तभी उदय सुन्दर भगिनी-मनोदयाके बैठनेके लिये स्थानकी व्यवस्थामें लगा।

राजकुमार—वज्रबाहु लता-मण्डपोंकी शोभा निरखते, आगे बढ़े !

हृदय आनन्दसे उन्मत्त हो रहा था।

अहो ! कितने सुहावने वह आम्र-वृक्ष ?—यह कर्णिकार-जातिके, और यह...?—अग्निकी तरह दहकते हुए कुसुम वाले—रौद्र जाति के वृक्ष ?...वाह कितने प्रकारके पादप-समुदाय मण्डित हैं—यह उद्यान कैसी मनोहारी शोभा है—यहां शरीरको कैसी आनन्द-वर्धक वायु लगती है—जैसे विरहीको प्रिया-मिलन ! ...कोकिलोंका मधुर-रव कैसा प्रिय मालुम देता है जैसे समरांगण में विजय-सन्देश !

—और वह...?—वह क्या है, भग्न द्रुम या पाषाण-स्तम्भ !...उस लता मण्डपके उधर !...

कुमारका हृदय हर्षसे प्लावित हो रहा था ! कल्पना-प्रांगण में कौतूहल, जिज्ञासा, और प्रमोद मिल कर खेल रहे थे। वह अपने 'आपे' को भूले जारहे थे।

—और आगे बढ़ गए।

"...हैंय ! यह पाषाण-स्तम्भ नहीं' पाषाण-वत, स्थिर, कायोत्सर्ग-धारी ऋषिराज हैं !'—सहसा कुमार-के मुखसे प्रकट हुआ। वह समीपमें उनके सन्मुख खड़े हो, दर्शन करने लगे ! मनकी विचार-धारा दूसरी दिशाकी ओर बहने लगी !—

'धन्य ! योगीश्वर ! निस्पृही, मोक्षाभिलाषी ! ...कितना पवित्र, कितना आदर्श, और कितना अनु-करणीय जीवन है—इनका ! इन्हींका जीवन, जीवन कहलानेका अधिकारी हो सकता है। वासना रहित, राग-द्वेश-वर्जित परोपकार, और आत्म-आराधना पूर्ण ! यथार्थ सुख-पथके पथिक ! मुक्ति-मन्दिरके निकट ! इन्द्रिय-विकार विजयी !...'

'उहु ! कितना सौम्य है मुख मण्डल, क्षीण शरीर होने पर भी तपोबलकी कैसी प्रखर-दीप्ति विराज रही है ? जैसे शशि बिम्बसे सौम्य, सुखद काँति ! कैसी अलौकिक अजेय शक्ति उपार्जन की है—कि 'बसन्त' की मधुर बेला भी परास्त हो रही है ! वही नासाग्र भाग पर दृष्टि ! वही अचल वैराग्य पूर्ण, दिगम्बर पवित्र वेष !...'

वज्रबाहुकी सरस दृष्टिमें परिवर्तनका नाट्य आरम्भ हुआ। वह निर्निमेष देखते-भर रह गये ! हृदय में महत्भावनाएं तरंगित होने लगीं।

'यदि मैं इस वेषको स्वीकार कर लूं...?—क्या विपर्यान्वित हृदय पवित्र न बन जाएगा ?...अवश्य ! ओफ़ ! मैंने जीवनके इतने अमूल्य दिन व्यर्थ गँवा दिये ! धिक् मेरी दूषित बुद्धिको ! पर अब भी मैं अपनी दुखद भूलको, आत्म-चिन्तनके मार्ग पर लगा कर सुधार सकता हूँ।...जो हुआ, वह हुआ !...'

कुमारकी चञ्चल दृष्टि जैसे कील दी गई हो। वह मंत्र मुग्धकी तरह ज्यों के त्यों खड़े देखते रहे। हृदय-में विचारोंके ज्वार भाटे आ रहे थे। लेकिन वह क्षणिक न थे, स्थायित्व उनके साथ था। वह सोचने लगे—

'···मैं वासनाओंका गुलाम, विषय-शैल्यके शिखर पर सो रहा था—एकदम तन्मय, अचेत ! अगर चेत न हुआ होता, तो···?— निश्चय था स्वाभाविक था कि रसातलमें पतनके महान्-दुखको प्राप्त होता ! और तब··············!'

'क्या मुनी होनेके विचारमें हैं—आप ?' घूमकर कुमारने दृष्टि फेरी तो — उदय सुन्दर विचारोंका क्षेत्र सीमित ! वज्रबाहुने गम्भीरता पूर्वक मुस्करा भर दिया ।

उदयसुन्दर हँसता रहा ! जैसे उसकी हँसी में— लोकलाजकी परवाह न करने वाले कामी, तपोधन-योगीश को देख रहे हैं, खूब—यह भाव हों !

साले साहिबने व्यंग तो तीखा किया, शायद अपने दिलकी बुझाई । लेकिन बहिनोई साहबको वह चुभा भी नहीं ! वह उसी तरह हँसते हुए बोले —'बात तो ठीक पकड़ी ! यही तो मेरे मनमें थी ! लेकिन अब यह तो कहो, तुम्हारे मन में क्या है ?···'

'मेरे मनमें···?—अगर तुम मुनी होओगे, तो मुझे क्या ?—मैं भी हो जाऊँगा ? मैं तुम-सा थोड़े हूं ! तुम अपनी कहो !' —

—उदयसुन्दरने फिर भी अपनी ठिठोली न छोड़ी ! उसे था विश्वास, ऐसा सरस-जीवन बिताने वालेके यह उद्‌गार—महज़ हँसी हैं ! और हँसीमें जो कहा जाय—सब ग़लत ! फिर वह पीछे हटे तो क्यों ?

'तो बस, यह तो अब यों ही रही ! विरक्त-जीवन महान्-वस्तु है ! आत्मिक-सुखका साधन है ! और विषयाभिलाषा है—नरकका रास्ता !'—वीर वज्रबाहुने वस्त्राभूषण परित्याग करते हुए, विवेक पूर्ण, दृढ़-स्वरमें कहा !

उदयसुन्दर आश्चर्य-चकित !

यह हुआ क्या ?—यह हँसी थी या यथार्थ-वस्तु ? ······अब···?—

रो पड़ा वह ! जैसे हँसीका साथी आ पहुँचा हो ! या हो हँसीका प्रायश्चित्त !!!

'उदयसुन्दर ! रोते हो ?—किसलिए···? संयोग-वियोग दोनों पास-पास रहते हैं । जो जन्मता है, वह मरता अवश्य है । फिर किसका मोह ?—कैसा प्रेम...? यही तो संसार है ! अस्थिर-संसार !! त्याज्य-सँसार !!!...'

क्षण-भरके लिये वज्रबाहुका विरक्त-कण्ठ रुका । उदय सुन्दर रोता रहा ! वह बोले—'मत रोओ ! रोना उपाय नहीं, कायरता है ! रोना आता है; इसलिए रोते हो ! यह नहीं सोचते—रोनेका उत्पाद कहांसे हुआ ? उसे ही नाश न कर दो !...यह तुम्हारी हँसी नहीं थी, मेरे लिए उपकार था । आदर्श-हँसी थी ! मुझे सुखकी ओर अग्रसर करना था । वह हुआ, मेरा जीवन सफलतासे पूर्ण हुआ ।'

—और वह दिगम्बर-वेष रख, तपोनिधि महाराज गुणसागरसे स्वर्गापवर्ग-दायिनी भगवती-दीक्षाकी याचना करने लगे ।

उदयसुन्दरका रुदन सीमा लाङ्घने लगा ! राजकुमारी मनोदया भी आ पहुँची !

× × ×

कुछ समय बाद—

राजकुमार वज्रबाहु और उदयसुन्दर दोनों वंदनीय-साधुके रूपमें विराजमान थे ! वही विश्वपूज्य दिगम्बरवेश ! शान्तिमय मुखाकृति !! और वासना-शून्य हृदय !!!

पति और भ्राता दोनोंके प्रेमसे वञ्चिता—मनोदयाने अपना कर्तव्य सोचा !···एक आदर्श-नारीका ध्येय विचारा !!—

और वह······?—

मात्र श्वेत-साड़ीसे सुशोभित आर्यिकाके रूपमें थी !

बसन्तकी मधुरिम बयार अब भी बह रही थी ! कोकिलोंकी कूकसे उद्यान अब भी मुखरित हो रहा था ! फूलों-पल्लवोंकी छटा अब भी वैसी ही थी !

लेकिन······?—

लेकिन अब किसीका ध्यान उस पर न था ! कोई उन्हें निरख कर प्रसन्न होने वाला न था ! जैसे उन सबका आकर्षण, सारी शोभा नष्ट होगई हो !

एक महान्-परिवर्तन !······

आचार्य हेमचन्द्र

[ले० —श्री० रतनलाल संघवी न्यायतीर्थ, विशारद]

—:*०*:—
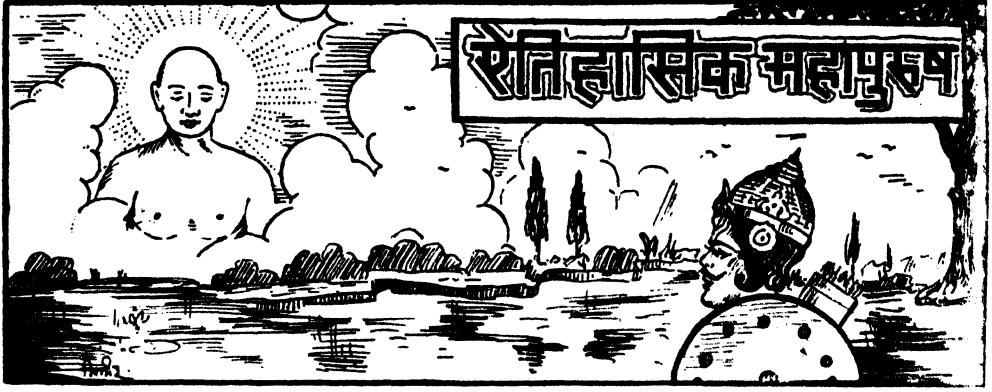
(क्रमागत)

व्याकरणका सम्मान

कहा जाता है कि जब आचार्यश्रीने यह व्याकरण समाप्त कर लिया तो राजा अत्यन्त प्रसन्नताके साथ समारोह पूर्वक उस ग्रन्थराजको अपने खुदकी सवारीवाले हाथी पर रखवाकर दरबारमें लाया। हाथी पर दोनों ओर दो स्त्रियें श्वेत चामर उड़ाती थीं और ग्रन्थ पर श्वेत-छत्र द्वारा छाया कर रक्खी थी। राज्य-सभामें विद्वानों द्वारा उसका पाठ कराया गया और ग्रन्थकी विधिवत् पूजा करके प्रतिष्ठा पूर्वक राजकीय सरस्वती भण्डारमें उसकी स्थापना की गई। उस समय किसी कविने अपने उद्गार भी इस प्रकार प्रकट किये थे:—

भ्रातः संवृणु पाणिनि प्रलपितं, कातन्त्रकंथा वृथा।
मा कार्षीः कटुशाकटायनवचः, क्षुद्रेण चान्द्रेण किम्॥
किं कंठाभरणादिभिर्बठरयस्यात्मानमन्यैरपि।
श्रूयन्ते यदि तावदर्थमधुराः, श्रीसिद्धहेमोक्तयः॥

अर्थात्—हे भाई! जहां तक श्रीसिद्धहेम-व्याकरणकी अर्थमधुरमय उक्तियां सुननेमें आती हैं; वहां तक पाणिनि (व्याकरण) के प्रलापको बन्द रख। कातन्त्र (शिवशर्मा कृत) व्याकरणरूपी कंथाको व्यर्थ समझ। शाकटायन व्याकरणके कटुवचनोंको मत बोल। क्षुद्र चांद्र (चन्द्रगोत्री बौद्धकृत) व्याकरण तो किस कामका? इसी प्रकार कंठाभरण आदि अन्य व्याकरणोंके द्वारा अपने आपको क्यों बठर (कलुषित) करता है? अर्थात्, केवल सरस शब्दमय, लालित्यपदपूर्ण, काव्य-तुल्यमधुर सिद्धहेमव्याकरण ही सर्वश्रेष्ठ और सुन्दर है। अब पाठक स्वयं कल्पना कर सकते हैं कि कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्रका जैनसमाजके प्रतिभाशाली आचार्यों; समर्थ विद्वानों, सुयोग्य लेखकों और सुपूज्य प्रभावक महात्माओंमें कितना ऊँचा, कितना गौरवमय और कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है? यदि हम ऐसे

आचार्यश्रीजीको "जिन-शासन-प्रणेता" जैसी उपाधिसे विभूषित करें तो भी अपेक्षा विशेषसे यह अत्युक्तिपूर्ण नहीं समझा जाना चाहिये।

जयसिंहके अन्य संस्मरण

कहा जाता है कि कुछ द्वेषी ब्राह्मणोंने राजा और आचार्यश्रीके परस्परमें फूट उत्पन्न करानेका प्रबल प्रयत्न किया। किन्तु वे असफल रहे। ब्राह्मणोंने राजासे कहा कि हे राजन्! महर्षि वेद-व्यास कृत महाभारतमें तो लिखा है कि पांडव शैवदीक्षासे दीक्षित होकर हिमालय गये थे। और आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं कि जैन-दीक्षा ग्रहण करके वे मोक्षमें गये हैं। यह परस्पर विरोधी बात कैसी? आचार्यश्रीने तत्काल उत्तर दिया कि जैन पांडव और थे एवं महाभारतीय पांडव दूसरे थे। विभिन्न कालमें अनेक पांडव होगये हैं। इसका प्रमाण महाभारतमें इस प्रकार है:—

अत्र भीष्मशतं दग्धं, पाँडवानाम् शतत्रयम्।
द्रोणाचार्यसहस्रं तु, कर्णसंख्या न विद्यते॥

इस प्रकार महाभारतीय प्रमाण पर वे सब ब्राह्मण पण्डित लज्जित हुए और क्षमा मांगी। एकबार राजा ने आचार्यश्रीसे प्रश्न पूछा कि महाराज संसारमें सत्य धर्म कौनसा है? महाराजने उत्तर दिया कि:—

तिरोधीयत दर्भादिभिर्यथा दिव्यं तदौषधम्।
तथाऽमुष्मिन् युगे सत्यो धर्मो धर्मान्तरैर्नृप॥
परं समम धर्माणां सेवनात् कस्यचित् क्वचित्।
जायते शुद्धधर्माप्तिः दर्भछन्नौषधाप्तिवत्॥

अर्थात्—हे राजन्! जिस प्रकार दिव्य औषधि दर्भ आदि घासमें ढँकी रहती है। वैसे ही इस युगमें भी सत्य धर्म अन्य धर्मोंसे ढँका हुआ है। किन्तु जिस प्रकार सब घासका अनुसंधान करनेसे दिव्य औषधि मिल जाती है। वैसे-ही सब धर्मोंका अध्ययन, मनन और परिचयसे वास्तविक धर्मकी भी प्राप्ति हो जाती है। अतः सब धर्मोंका अध्ययन परिचयादि करना चाहिये। राजा आचार्यश्रीके मुखसे धर्म-गवेषणाके लिये इस प्रकारके निष्पक्षपात वाले सुन्दर विचार सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ। राजा आचार्यश्रीके इसी प्रकारके अन्य आदर्श विचारों और भाव-पूर्ण व्याख्यानोंसे प्रभावान्वित होकर पूरी तरहसे जैन-धर्मानुरागी हो गया था। सिद्धराजने महाराज साहबके साथ विशाल संघको लेकर सोमनाथ, गिरनार और शत्रुंजय आदि जैसे स्थानोंकी तीर्थ-यात्रा भी की थी। आचार्य हेमचन्द्रके विचारोंसे पता चलता है कि वे सर्व-धर्म समभाव वाले, उदार और निष्पक्षपाती मनस्वी महा-पुरुष थे। यही कारण है कि वे सोमनाथ जैन अजैन मन्दिरमें भी राजाके साथ गये और मधुर-कण्ठसे उदार-दृष्टि-पूर्वक इस प्रकार स्तुति की:—

यत्र तत्र समये यथा तथा;
योऽसि सोऽसि अभिधया यया तया।
वीतदोष कलुषः सचेत् भवान्;
एक एव भगवन्! नमोऽस्तु ते॥
भव बीजांकुर जनना;
रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा;
नमस्तस्मै॥ इत्यादि इत्यादि॥

सिद्धराज जयसिंहने एक "रामविहार" नामक जैन-मन्दिर पाटणमें और दूसरा २४ जिन प्रतिमावाला "सिद्ध विहार" नामक जैन-मन्दिर सिद्धपुरमें बनाया था। राजा शैव होता हुआ भी पूरी तरहसे जैन-धर्मानुरागी और आचार्य हेमचन्द्रका परम भक्त एवं अनन्य श्रद्धालु बन गया था। सिद्धराजने विक्रम ११५१ से ११९९ तक राज्य किया और ११९९ में देवगतिको प्राप्त हुआ।

कुमारपालसे भेट और उसकी कृतज्ञता

सिद्धराज जयसिंहकी मृत्युके पश्चात् आचार्यश्री गुजरातके विभिन्न प्रदेशोंको अपने पादपङ्कजों द्वारा पवित्र करने लगे। एक दिन उनकी और भावी गुजरात-नरेश कुमारपालकी भेंट होगई। सामुद्रिक श्रेष्ठ लक्षणोंके आधारसे आचार्यश्रीने उसका यथोचित आदर सत्कार किया और फरमाया कि "आजसे सात वर्ष पश्चात् अमुक दिन और अमुक घड़ीमें तुम्हारा राज्याभिषेक होगा।"

अन्तमें यह बात सत्य प्रमाणित हुई और संवत् ११९९ में ५० वर्षकी आयुमें कुमारपाल पाटणकी राज्यगद्दीका अधिकारी हुआ। जनताने और राज्याधिकारियोंने परम उल्लासके साथ उसका राज्याभिषेक किया; एवं अपना शासक स्वीकार किया। राजा कुमारपालने राज्याभिषेक होतेही तत्काल आचार्यश्रीको कृतज्ञतापूर्वक स्मरण किया। आचार्य हेमचन्द भी राजाकी विनतिको स्वीकारकर पाटणमें पधारे। राजाने अत्यन्त आदर सत्कार किया और अपना राज्य, वैभव, सम्पत्ति सब कुछ इस कृतज्ञ और गुरुभक्त राजाने आचार्यश्रीके चरणोंमें समर्पण कर दी।

राजा पूरी तरहसे हेमचन्दसूरिको अपना गुरु मानने लगा और विक्रम संवत् १२१६ की मार्गशीर्ष शुक्ला द्वितीयाको प्रगट रूपसे सम्यक्त्वकी और श्रावक व्रतकी दीक्षा लेली। राजाके दृढव्रती श्रावक बन जानेपर आचार्यश्रीने 'परमार्हत' नामक सुन्दर और विशिष्ट-भावद्योतक पदवीसे उसे विभूषित किया। धर्म प्रेमके प्रस्तावसे परमार्हत कुमारपालके राज्यकी सीमा भी बहुत विस्तृत होगई थी। आचार्य हेमचन्दने 'महावीर-चरित्र' में कुमारपालके राज्यकी सीमा उत्तरमें तुर्किस्तान, पूर्वमें गङ्गानदी, दक्षिणमें विंध्याचल, और पश्चिममें समुद्र-पर्यंत बतलाई है।

परमार्हत कुमारपालके धर्म-कार्य

नरवीर कुमारपालने अपने सम्पूर्ण राज्यमें निम्न-लिखित तीन आज्ञाओंका पूरी तरहसे पालन करानेके लिये प्रभावशाली हुक्म जारी कर दिया था जिसका कि अक्षरशः सम्पूर्ण राज्य में पालन किया गया:— (१) प्राणी मात्रका वध बन्द किया जावे और सभी जीवोंको अभयदान दिया जाय। (२) मानव-जीवनको नष्ट करने वाले दुर्व्यसन-द्यूत, मांस, मद्य, शिकार आदि अकार्य सर्वथा नहीं किये जावें। (३) दीर्घतपस्वी भगवान् महावीर स्वामीकी पवित्र आज्ञाओंका पालन और सत्य-धर्मका प्रचार किया जावे।

परमार्हतकुमारपालने 'अमारि पडह' अर्थात् पूर्ण अभयदानकी जयघोषणा अपने सम्पूर्ण और विस्तृत राज्य में करवादी थी। राजकुल देवी कंटकेश्वरीको जो हिंसामय बलिदान दिया जाता था, वह तक बन्द करवा दिया गया था। इस प्रकार आचार्य हेमचन्द्रने इस कलियुग तकमें भी जैन-धर्मका पुनः महान् प्रभाव स्थापित करके जैन-धर्मकी असाधारण सेवा की है। विस्तृत राज्यकी शासन-प्रणाली पर जैन-धर्मका प्रेममय नियंत्रण स्थापित करके हमारे चरित्र-नायक निश्चयही 'जैन-शासन प्रणेता' की पंक्तिमें जा विराजे हैं।

महाराज कुमारपालने अपनी स्मृतिके लिए 'कुमार विहार' नामक अत्युच्चकोटिका अतिभव्य जैनमन्दिर बनवाया था। जोकि ७२ जिनालयोंसे परिवेष्टित था। तारङ्गाजी पर्वत पर भी अजितनाथजीका महान सुन्दर मन्दिर बनवाया था। कुमारपालका यह आंतरिक विश्वास था कि मैं अजितनाथजीकी कृपासे ही प्रत्येक कार्यमें विजयी होता हूँ। धर्मात्मा कुमारपालने अनेक

मन्दिर, तालाब, धर्मशाला, पुस्तकालयभण्डार और उपाश्रय आदिका निर्माण कराया था। कहा जाता है कि अपने जीवनमें कुमारपालका दैनिक कार्य क्रम भी आदर्श और नियमित था। मुनिदर्शन, सामायिक आदि धर्म कार्य भी प्रतिदिन किया करता था। इस सम्बन्धी विस्तृत और प्रामाणिक विवरण सोमप्रभाचार्य विरचित 'कुमारपालप्रतिबोध' नामक ग्रन्थसे जाना जासकता है। विस्तार भयसे अधिक लिखनेमें असमर्थता है। यह सब प्रताप आचार्य हेमचन्द्रका ही है। इस प्रकार अनेक दृष्टियों से आचार्य हेमचन्द्र महान् प्रभावक, अद्वितीय मेधावी और असाधारण महापुरुष हैं। इनका साहित्यिक-जीवन जितना श्रेष्ठ और उज्ज्वल है उतना ही कर्तव्य-मय जीवन भी प्रशस्त और आदर्श है।

कुमारपालके संस्मरण

कुछ ब्राह्मण पंडित कुमारपालको हिन्दू-धर्ममें पुनः दीक्षित करनेके लिये अनेक प्रयत्न करने लगे। इन्द्रजाल द्वारा कुमारपालको दिखाने लगे कि देखो ये तुम्हारेमाता-पिता और अन्य पूर्वज तुम्हारे कुलधर्मको छोड़नेसे दुःखी होरहे हैं और तुम्हें श्राप देरहे हैं। इसपर आचार्य हेमचन्द्रने पुनः योग्य-विद्याके बलसे कुमारपाल को बतलाया कि देखो ये तुम्हारे पूर्वज तुम्हारे द्वारा जैन-धर्म ग्रहण करनेसे ही सुखी और सन्तुष्ट हैं। और तुम्हें कल्याणमय भावनाके साथ शुभाशीर्वाद दे रहे हैं। इस प्रकार अनेक और हर प्रकारकी प्रवृत्तियोंसे विधर्मियोंद्वारा च्युत करनेका प्रबल प्रयत्न किया जाने पर भी कुमारपालको जैन-धर्ममें दृढ़ बनाये रखना केवल हमारे चरित्र-नायककी विशिष्ट प्रतिभाका ही फल था। ऐसी सामर्थ्य अन्य किसीमें होना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। आचार्य हेमचन्द्र जब कुमारपालके साथ सोमनाथके मन्दिरमें गये तो वहां महादेवजीके लिंगमेंसे एक सन्यासीका रूप प्रगटित किया और राजाको अपनी विशिष्ट शक्तिका प्रामाणिक मूर्तिमंत विश्वास कराया। ऐसा कहा जाता है कि एक-दो युद्धके प्रसंग उपस्थित होने पर आचार्यश्री अपने विद्या-बलसे मानव-संहारको टालनेके उद्देश्यसे शत्रु राजाको कुमारपालकी शरण में ले आये थे।

एक बार काशीसे आये हुए विश्वेश्वर नामक कविने कुमारपालके समक्ष ही राज-सभामें हेमचन्द्रश्रीके लिए व्यङ्गात्मक ध्वनिसे कहा कि—

"पातु वो हेमगोपालः कम्बलं दंडमुद्वहन्"

अर्थात्—कम्बल और दंडा रखने वाला हेमगोपाल (गाय चराने वालेकी वेषभूषा वाला अतः ग्वालिया) हमारी रक्षा करे। इस पर आचार्यश्रीने अविलम्ब उत्तर दिया कि

"षड दर्शनपशुग्रामं चारयन् जैनगोचरे।"

अर्थात्—जैनधर्मरूपी बाड़े में छः दर्शनरूपी पशुसमूहको घेरकर रखने वाला (ऐसा गोपाल-स्वरूप हेमचन्द्र रक्षा करे)। इस पर सारी सभा प्रसन्न हो उठी और वह कवि लज्जित होगया। आचार्य हेमचन्द्रकी प्रत्युत्पन्नमतिसम्पन्न प्रतिभाका अनेक प्रकरणोंमें से यह एक छोटासा किन्तु मार्मिक प्रमाण है। यह उनकी दक्षता, स्फूर्तिशीलता और हाज़िर-जवाबीका एक सुन्दर उदाहरण है।

आचार्य हेमचन्द्रके प्रति परमार्हत कुमारपालकी असाधारण श्रद्धा, अनन्य भक्ति, अद्वितीय सम्मान और अलौकिक अनुराग था। यदि लौकिक अलङ्कारिक भाषामें कहें तो इन दोनोंका सम्बन्ध "दो शरीर और एक जीववत्" था। इन दोनोंके अनेक उपदेशप्रद संस्मरण हैं; किन्तु स्थलसंकोचसे अधिक लिखनेमें असमर्थता है। अधिक जाननेकी इच्छा रखनेवाले पाठक

"कुमारपालप्रतिबोध, प्रभावकचरित्र, प्रबन्धचिन्तामणि, प्रबन्धकोश, और उपदेशतरङ्गिणी" आदि ग्रन्थोंसे जाननेकी कृपा करें। महाराज कुमारपालका जन्म संवत् ११४९ है। राज्याभिषेक संवत् ११९९ है और स्वर्गवास संवत् १२३० है। इस प्रकार लगभग ३१ वर्ष तक राज्य-शासन करके ८१ वर्षकी आयुमें आपका स्वर्गवास हुआ।

हेमचन्द्रकी कृतियां—दो महाकाव्य

अब आचार्य हेमचन्द्रकी साहित्यिक उत्कृष्ट कृतियोंका सिंहावलोकन करना अप्रासंगिक नहीं होगा। "सिद्धहेम" व्याकरणके सम्बन्धमें पहले लिखा जा चुका है। इसी व्याकरणमें आई हुई संस्कृत-शब्दसिद्धि और प्राकृत शब्दसिद्धिका प्रयोगात्मक ज्ञान करानेके लिये "संस्कृतद्वयाश्रय" और प्राकृत-द्वयाश्रय नामक दो महाकाव्योंकी रचना की है। इन महाकाव्योंके अध्ययनसे विद्यार्थीको व्याकरण और व्याकरणके नियमोंका तथा काव्यमय शब्द कोषका भली भांति ज्ञान होसकता है। सिद्धहेममें आई हुई शब्दसिद्धिका प्रयोगात्मक ज्ञान करनेके लिए अत्यन्त परिश्रम करनेकी आवश्यकता नहीं। दोनों महाकाव्योंकी इतिहासकी दृष्टिसे भी महान उपयोगिता है। क्योंकि संस्कृत महाकाव्यमें तो गुजरातके राजनैतिक इतिहासमें प्रख्यात चालुक्य वंशका वर्णन तथा सिद्धराज जयसिंहके दिग्विजयका विवेचन किया गया है। और प्राकृत महाकाव्यमें सोलङ्की वंशके ऐतिहासिक वर्णनके साथ-साथ महाराज कुमारपालका चरित्र भी विस्तार-पूर्वक लिखा गया है। इसीलिए इसका अपरनाम "कुमारपाल-चरित्र" भी है। यह काव्य अतिविचित्र और काव्य-चमत्कृतिका सुन्दर उदाहरण है। अतः गुजरातके प्रामाणिक इतिहासग्रन्थोंमें इन कृतियोंका असाधारण और महत्वपूर्ण स्थान है।

इन काव्योंको "द्वयाश्रय" कहनेका तात्पर्य यह है कि एक तरफ तो कथा-वस्तुका निर्वाह व्यवस्थितरूपसे चलता है और दूसरी ओर "सिद्धहेम" में आए हुए "प्रयोग" क्रमपूर्वक काव्यशैलीसे व्यवहृत होते हुए देखे जाते हैं। प्राकृत महाकाव्यमें प्राकृत, शोरसेनी, मागधी पैशाची, चूलिकापैशाची और अपभ्रंश इन छः भाषाओंके सुन्दर साहित्यक पद्य और व्याकरणगत नियमोंके आनुपूर्वीपूर्वक उदाहरणोंका अभूतपूर्व सामंजस्य देखा जाता है। इसकी कथा-वस्तु "सोलंकी-वंश" वर्णन है। जो कि मूलराजसे प्रारंभ होकर कुमारपालके शासन-वर्णन तक चलती है।

महाकविभट्टिने भी "पाणिनी-व्याकरण" में आई हुई शब्दसिद्धिको समझानेके लिये रामायणकी कथा-वस्तु लेकर "भट्टिकाव्य" की रचना की है। किन्तु ऐतिहासिक दृष्टिसे उसका उतना मूल्य नहीं है; जितना कि हेमचन्द्रके इन महाकाव्योका। क्योंकि भट्टिकी कथा-वस्तु प्रागैतिहासिक-कालकी होनेसे इतिहासकी वास्तविकताका निर्णय कराने में सर्वथा अनुपयोगी है जबकि आचार्यश्रीकी ये कृतियां गुजरात के मध्यकालीन इतिहासके खोजके लिये अनुपम साधनरूप हैं व्याकरणकी दृष्टिसे भी दोनों काव्य उससे अधिक श्रेष्ठ हैं। क्योंकि पाणिनीमें जिस क्रमसे शब्दसिद्धि आई है उस क्रमसे भट्टिकाव्यमें उनका प्रयोग उदाहरण पूर्वक नहीं समझाया गया है। जबकि अधिकृत काव्योंमें सिद्धहेमके क्रमको नहीं छोड़ा गया है।

दोनों काव्योंका परिमाण क्रमसे २८२८ और १५०० श्लोक संख्या प्रमाण है। संस्कृत काव्य पर

अभयतिलक गणिकी १७५७४ श्लोक प्रमाण टीका है। और प्राकृत काव्य पर पूर्णकलश गणिकी ४२३० श्लोक प्रमाण टीका है। दोनों ही काव्य सटीकरूपसे बम्बई संस्कृत सीरीज द्वारा प्रकाशित होचुके हैं।

कहा जाता है कि आचार्य हेमचन्द्रने "सप्तसंधान महाकाव्य" और "नाभेय-नेमिद्विसंधान" महाकाव्यकी भी रचना की थी। किन्तु वर्तमानमें उनकी अनुपलब्धि होने से नहीं कहा जा सकता है कि यह उक्ति कहां तक सत्य है। लेकिन हेमचन्द्रकी प्रतिभाको देखते हुए यह कल्पना सत्य प्रतीत होती है कि सप्तसंधान काव्य और द्विसंधान काव्यकी रचना करना उनकी शक्तिके बाहिरकी बात नहीं थी।

चार कोष-ग्रन्थ

"व्याकरण और काव्य" रूप ज्ञान-मन्दिरके स्वर्ण-कलश समान चार कोष ग्रन्थोंका भी आचार्य हेमचन्द्रने निर्माण किया है। प्रथम कोषका नाम "अभिधान-चिन्तामणि" है। यह छः काण्डोंमें विभाजित है। अमरकोषके समान होता हुआ भी इसमें उसकी अपेक्षा शब्द संख्या ड्योढीके लगभग है। यह मूल १५९१ श्लोक संख्या प्रमाण है। इसपर दस हज़ार श्लोक प्रमाण स्वोपज्ञ टीका भी है दूसरा कोष "अनेकार्थ-संग्रह" है। यह सात काण्डोंमें विभाजित है। इसमें विश्वकोषके समान प्रत्येक शब्दके अधिकसे अधिक कितने अर्थ होसकते हैं; यह बतलाया गया है। मूल १८२६ श्लोक प्रमाण है। इसपर भी ६०३० श्लोक प्रमाण स्वोपज्ञ वृत्ति है।

तीसरा कोश "देशीनाम माला" है। जो कि भाषा-विज्ञानकी दृष्टिसे अत्यन्त उपयोगी और उपादेय ग्रंथ है। जो शब्द संस्कृत-भाषाकी दृष्टिसे न तो तद्रूप हैं, न तद्भव हैं और न तत्सम हैं, वे देशी कहलाते हैं। भाषा-विकासका अध्ययन करने, नष्ट प्रायः तत्कालीन भाषाओंको सीखने और प्राचीन भाषाओंके अवशिष्ट साहित्यका जीर्णोद्धार करनेकी दृष्टिसे यह कोष एक बहु मूल्य साधन है। आचार्यश्रीकी यह कृतिभी विद्वानोंके लिये अलंकार समान है। मूल ८५० श्लोक प्रमाण है। इसपर भी स्वोपज्ञ रत्नावलि नामक ३५०० श्लोक प्रमाण वृत्ति है। "शेष-नाममाला" के रूपमें एक परिशिष्टांशरूप कोष भी पाया जाता है; जो कि २२५ श्लोक प्रमाण कहा जाता है।

चौथा कोष "निघटु-शेष" है। जिसमें वनस्पतिके नाम भेदादि बतलाये गये हैं। यह आयुर्वेद-विज्ञान और औषधि-विज्ञानकी दृष्टिसे एक उपयोगी और लाभप्रद ग्रन्थ है। इससे आचार्यश्रीकी आयुर्वेद-शास्त्रमें भी अव्याहतगति थी—ऐसा प्रतीत होता है।

(छटवीं किरणमें समाप्त)

सुभाषित

दो बातनको भूल मत जो चाहत कल्याण।
"नारायण" एक मौतको दूजे श्रीभगवान॥
"कबिरा" नौबत आपनी दिन दस लेहु बजाय।
यह पुर पट्टन यह गली बहुरि न देखो आय॥
चाह गई चिन्ता गई मनुआँ बेपरवाह।
जिसको कछू न चाहिये सो जन शाह-शाह॥

पर-द्रोही पर-दार-रत पर-धन पर-अपवाद।
ते नर पामर पापमय देह धरें मनुजाद॥
जाके घट समता नहीं ममता मगन सदीव।
रमता राम न जानही सो अपराधी जीव॥
राम रसिक अरु राम रस कहन सुननको दोय।
जब समाधि परगट भई तब दुविधा नहिं कोय॥

—संकलित

कथा कहानी

ले०—अयोध्याप्रसाद गोयलीय

(६)

जब वीर-केसरी राणा प्रताप जगलों और पर्वत-कन्दराओंमें भटकते फिरते थे, तब उनका एक भाट पेटकी ज्वालासे तंग आकर शहन्शाह अकबरके दरबारमें पहुँचा और सिरकी पगड़ी बगलमें छुपाकर फ़र्शी सलाम झुकाया। अकबरने भाटकी यह उद्दण्डता देखी तो तमतमा उठा और रोषभरे स्वरमें पूछा—"पगड़ी उतारकर मुजरा देना जानता है कितना बड़ा अपराध है"? भाट अत्यन्त दीनतापूर्वक बोला—"अन्नदाता! जानता तो सब कुछ हूं; मगर क्या करूं मजबूर हूं? यह पगड़ी हिन्दूकुल भूषण राणा प्रतापकी दी हुई है, जब वे आपके सामने न झुके, तब उनकी दी हुई यह पगड़ी कैसे झुका सकता था? मेरा क्या है; मैं ठहरा पेटका कुत्ता, जहां भी पेट भरनेकी आशा देखी, वहीं मान अपमानकी चिन्ता न करके पहुँच गया। मगर जहांपनाह……?" अकबरने सोचा, वह प्रताप कितना महान् है, जिसके भाट तक शत्रुके शरणागत होने पर भी उसके स्वाभिमान और मर्यादाको अक्षुण्ण रखते हैं!

(७)

गुलाम-वंशीय नासिरुद्दीन महमूद बादशाह अत्यन्त सच्चरित्र और धर्मनिष्ठ था। आजीवन इसने राज-कोषसे एक भी पैसा न लेकर अपनी हस्त-लिखित पुस्तकोंसे जीवन-निर्वाह किया। भारतवर्षका इतना बड़ा बादशाह होने पर भी इसके एक ही पत्नी थी। घरेलू कार्योंके अलावा रसोई भी स्वयं बेगमको बनानी पड़ती थी। एकबार रसोई बनाते समय बेगमका हाथ जल गया तो उसने बादशाहसे कुछ दिनके लिये रसोई बनानेके लिए नौकरानी रख देनेकी प्रार्थना की। मगर बादशाहने यह कहकर बेगमकी प्रार्थना अस्वीकार करदी कि—"राज-कोष पर मेरा कोई अधिकार नहीं है, वह तो प्रजाकी ओरसे मेरे पास केवल धरोहर मात्र है। और धरोहरमें से अपने कार्योंमें व्यय करना अमानतमें ख़यानत है। बादशाह तो क्या, प्रत्येक व्यक्तिको स्वावलम्बी होना चाहिये। अपने कुटुम्बके भरण-पोषणके लिए स्वयं कमाना चाहिये। जो बादशाह स्वावलम्बी न होगा, उसकी प्रजा भी अकर्मण्य होजायगी, अतः मैं राज-कोषसे एक पैसा भी नहीं लेसकता और मेरी हाथकी कमाई सीमित है। उससे तुम्हीं बताओ नौकरानी कैसे रक्खी जासकती है?"

(८)

पाण्डवोंका चिरशत्रु दुर्योधन जब किसी शत्रु द्वारा बन्दी कर लिया गया, तब धर्मराज युधिष्ठिर अत्यन्त व्याकुल हो उठे। उन्होंने भीमसे दुर्योधनको छुड़ा लानेका अनुरोध किया। भीम युधिष्ठिरकी आज्ञाकी अवहेलना करता हुआ बोला—"मैं और उस पापीको छुड़ा लाऊँ? जिस अधमके कारण आज हम दर-दरके

भिखारी और दाने-दानेको मोहताज हैं, जिस पापात्मा-ने द्रोपदीका अपमान किया और जो हमारे जीवनके लिए राहु बना हुआ है, उसी नारकीय कीड़े-के प्रति इतनी मोह-ममता रखते हुए आपको कुछ ग्लानि नहीं होती धर्मराज !" भीमके रोष भरे उत्तरसे धर्मराज चुप हो रहे; किन्तु उनकी आन्तरिक-वेदना नेत्रोंकी राह पाकर मुँह पर अश्रु रूपमें लुढ़क पड़ी ! अर्जुनने यह देखा तो लपककर गाण्डीव-धनुष उठाया और जाकर शत्रुको युद्धके लिए ललकार उसे पराजित करके दुर्योधनको बन्धनसे मुक्त कर दिया। तब धर्मराज भीमसे हँसकर बोले—भैया, हम आपसमें भले ही मतभेद और शत्रुता रखते हैं, कौरव १०० और हम पाण्डव ५, बेशक जुदा-जुदा हैं। हम आपसमें लड़ेंगे, मरेंगे, किन्तु किसी दूसरेके मुक़ाबिलेमें हम १०० या ५ नहीं, अपितु १०५ हैं। संसारकी दृष्टिमें भी हम भाई-भाई हैं। हममें से किसी एकका अपमान हमारे समूचे वंशका अपमान है, यह बात तुम नहीं, अर्जुन जानते हैं। युधिष्ठिरके इस व्यंगसे भीम मुँह लटकाकर रह गये।

(९)

विश्व-विजेता सिकन्दर जब मृत्यु-शैया पर पड़ा छटपटा रहा था, तब उसकी माँने रुँधे हुए कण्ठसे पूछा—"मेरे लाड़ले लाल ! अब मैं तुझे कहाँ पाऊँगी ?" सिकन्दरने बूढ़ी मांको ढारस देनेकी नीयतसे कहा—"अम्मीजान ! सत्रहवीं वाले रोज़ मेरी क़ब्र पर आना, वहां तुझे मैं अवश्य मिलूंगा।" मांकी मोहब्बत, बड़ी मुश्किलसे १७ रोज़ कलेजा थामकर बैठी रही। आख़िर १७ वीं वाले दिन, रातके समय क़ब्र पर गई। कुछ पाँवों की आहट पाकर बोली—"कौन बेटा सिकन्दर !" आवाज़ आई "कौनसे सिकन्दरको तलाश करती है ?" मांने कहा—"दुनियाके शहन्शाह, अपने लख्ते-जिगर सिकन्दरको, उसके सिवा और दूसरा सिकन्दर है कौन ?" अट्टहास हुआ और वह पथरीली राहोंको तै करता हुआ, भयानक जंगलोंको चीरता फाड़ता पर्वतोसे टकराकर विलीन हो गया। धीमेसे किसीने कहा—"अरी बावली कैसा सिकन्दर ! किसका सिकन्दर ! कौनसा सिक-न्दर ! यहाँके तो ज़र्रे ज़र्रेमें हज़ारों सिकन्दर मौजूद हैं !" बृद्धा मांकी मोहनिन्द्रा भग्न हुई।

(१०)

भरत चक्रवर्ती छहखण्ड विजय करके वृषभाचल पर्वत पर अपना नाम अंकित करने जब गये, तब उन्हें अभिमान हुआ कि, मैं ही एक ऐसा प्रथम चक्रवर्ती हूँ जिसका नाम पर्वत पर सबसे शिरोमणि होगा। किन्तु पर्वत पर पहुंचतेही उनका सारा गर्व खर्व होगया। जब उन्होंने देखा कि यहां तो नाम लिखने तक को स्थान नहीं। न जाने कितने और पहले चक्र-वर्ती होकर यहां नाम लिख गये हैं। तब लाचारीको उन्हें एक नाम मिटाकर अपना नाम अंकित करना पड़ा।

(११)

हज़रत अयूब मुसलमानोंके एक बहुत माने हुए वली हुए हैं। वे बड़े दयालु थे। उनके सीने-में ज़ख्म हो गये थे और उनमें कीड़े पड़ गये थे। एक रोज़ आप मर्दानेमें एक स्थान पर खड़े हुए थे कि चन्द कीड़े ज़ख्मसे निकलकर ज़मीनपर गिर पड़े। तब आपने वे कीड़े ज़मीनसे उठाकर दुबारा अपने ज़ख्ममें रख लिये। लोगोंके पूछने पर हज़रतने फर्माया—क़ुदरतने इन कीड़ोंकी ख़ुराक यहीं दी है, अलहदा होने पर मर जाएँगे। जब हम किसीमें जान नहीं डाल सकते, तब हमें उनकी जान लेनेका क्या हक़ हैं ?"

बौद्ध तथा जैनधर्म पर एक सरसरी नज़र

[ले० श्री० बी० एल० सराफ बी० ए० एलएल० बी० वकील
मंत्री सी० पी० हिन्दी साहित्य सम्मेलन]

इस लेखके लेखक वकीलसाहब एक प्रसिद्ध अजैन विद्वान् हैं, जो कि मध्यप्रदेशकी साहित्यिक विद्वत्परिषदके मेम्बर भी हैं। थोड़ीसी प्रेरणाको पाकर आपने जो यह लेख भेजनेकी कृपाकी है उसके लिए आप विशेष धन्यवादके पात्र हैं। लेख परसे सहज ही में यह जाना जासकता है कि हमारे उदार-हृदय अजैन बन्धु जैन-धर्मका अध्ययन करनेके लिये भी कितना परिश्रम उठाते हैं, कहां तक उसमें सफल होते हैं और उसके विषयमें कितना सुन्दर विचार रखते हैं। तुलनात्मक दृष्टिको लिए हुए यह लेख अच्छा पढ़ने योग्य है। और इसके अन्तमें जैनियोंके तीन कर्तव्योंकी ओर जो इशारा किया गया है वह ख़ास तौरसे जैनियोंके ध्यान देनेकी वस्तु है। यदि हमारे जैनी भाई अपने उन कर्तव्योंको पूरी तरहसे पालन करें तो इसमें सन्देह नहीं कि आजके वातावरणमें जैन-धर्मके असंख्य प्रेमी पैदा होसकते हैं।

—सम्पादक

वेदोंके अशरीरी जन्ममें भी विरोधकी धारा छुपी हुई दीखती है, यदि वैदिक ऋषि या वैदिक सभ्यता को माननेवाले पोशाक पहिनते हैं, ईश्वरको मानते हैं और पशुबलि करते हैं, तो एक ओर ऐसे नग्न क्षपणकोंकी भी भारी संख्या है जो वस्त्र नहीं पहिनना चाहते हैं, जगत्कर्त्ता ईश्वरका अस्तित्व नहीं मानते तथा हिंसाको गवारा नहीं करते और उसके विरोधमें अपनी आवाज़ उठाते हैं। इन विरोधियोंने ही मालूम होता है आगे चलकर सुसंस्कृत जैन और बौद्धोंका रूप धारण किया है। इन दोनों धर्मोंने हिन्दूधर्म के प्रति कई अमर उपकार किये हैं। हिन्दूसमाजके सत्याग्रही पुत्रोंने अन्तमें इन दो झगड़ेलू किन्तु विरोध करते करते अपना बालिग़ होजाना साबितकर हिन्दूसमाजको "पुत्रं मित्र वदाचरेत्" वाली उक्ति पर चलनेको बाध्य किया और हिन्दूसमाजको अपने सामाजिक तथा धार्मिक संगठनमें आये हुए विकारोंको धो डालना पड़ा—पशुहिंसासे मुख मोड़ना पड़ा और जातियोंकी असमानताका दुर्ग भगवान्के मन्दिरके सामने ध्वंस होगया। वह विरोधका युग ख़तम हुए सैंकड़ों वर्ष बीत गये। जैनधर्म तथा बौद्धधर्मकी उस कृपाको भी जो उन्होंने सजीव हिन्दू जाति परकी, लम्बाकाल होचुका, पर न हमने ही यह सोचा कि इन उपकारी विरोधियोंके अन्य सिद्धान्तोंकी ओर भी लक्ष्य दिया जावे, शायद उनमें भी कहीं छुपा हुआ विरोधका अन्त करने वाला स्याद्वाद जैसा हीरा निकल आवे, और न

उन्होंने ही। विरोधी तो कहाँसे सोचनेमें प्रवृत्त होते, उन्हें तो संस्कृति-विध्वंसक एक और जातिसे भी संघर्ष-में आना पड़ा, जिसके कारण उन्हें सभ्यता और संस्कृति की ही बात नहीं, किन्तु अपने ग्रन्थों तकको सुरक्षित रखनेके लिए ख़ास तहख़ाने तैयार कराने पड़े ! और उनकी वह मनोवृत्ति आज भी सैकड़ों अमूल्य ग्रन्थोंको हवा तक नहीं लगने देती; हालांकि आजका संसार इस सम्बन्धमें उतना दुराग्रही नहीं है। आजका संसार ज्ञान-पिपासु है अथवा परस्परके आदान-प्रदानको गुण समझने लगा है। वैसे भी भारतवर्षके इतिहासके ख़ासे पहलूको तबदील करनेवाली इन जातियोंके इतिवृत्तिको अब उपेक्षित छोड़नेका फल होगा—भारतीय इतिहास-का अधूरा रहना, जो प्रगतिमें बहुत बाधा उपस्थित करेगा। सरसरी तौरसे देखा जावे तो इन धर्मोंके अनु-रूप समय समय पर हिन्दूधर्ममें क्रांति और सुधारकी धारा निकलती रही है। यदि जैन और बौद्धधर्मने जो कुछ किया वह ख़राब समझा जाने लायक़ है, तो प्रायः इसी तरहका बहुतसा काम मध्यकालीन भारतके सुधारक साधु संतोंने भी किया है—सिक्खोंके गुरुओंने किया, महाराष्ट्रके संतोंने किया और हमारे पास वाले युगमें ऋषि दयानन्दने भी किया है। हमने बहुतसी नाक भौं सिकोड़ी; किन्तु अन्तमें हमें कह देना पड़ा कि हे क्रांति-कारी सुधारको ! तुम्हारे अप्रिय सत्यमें जो उपकार छिपा है वह भुलाया नहीं जा सकता और विरोधके कारण हम तुम्हें मिटा देना उचित नहीं समझते। वह समय बहुत वर्षों पूर्व आचुका है जबकि हमें इन क्रांति-कारी धर्मोंसे बहुत समीपता प्राप्त कर लेनी चाहिये थी। जैनधर्ममें हिन्दूधर्मकी तरह उनके ख़ुदके २४ अवतार हैं, जो तीर्थंकर कहे जाते हैं। बौद्धधर्ममें भी गौतम बुद्धके पूर्व २३ और बुद्धोंका होना बतलाया जाता है। जैनधर्ममें १४ कुलकरोंका होना भी पाया जाता है, जिन्होंने कला-कौशल, ज्ञान विज्ञान तथा सामयिक सिद्धान्तों आदिका प्रसार किया; और ये तीर्थंकरोंसे पूर्व होचुके हैं। अंतिम कुलकरने ही प्रथम तीर्थंकरको जन्म दिया था। हिन्दूधर्मके सतयुग, त्रेता, द्वापर, कल-युगके अनुसार कुलकरोंका युग भोग भूमिया सतयुग समझा जाता है, जिसके अन्तमें कर्मभूमि शुरू होजाती है। तीर्थंकरोंकी योग्यता अवतारों जैसी रहती है, पर वे सृष्टिकर्त्ता नहीं माने जाते।

अतिशयोंकी कमी न तो हिन्दूधार्मिक पुस्तकोंमें है और न जैनधार्मिक ग्रन्थोंमें ही है। आयुका क्रम हज़ारों वर्षोंका जिस तरहसे पल्य और कोड़ा कोड़ी सागरके रूप-में हम जैनधर्ममें पाते हैं, वैसी ही हज़ारों वर्षोंकी आयुका प्रमाण हिन्दूधर्मकी पुस्तकोंमें भी पाया जाता है। अहिंसा-का सिद्धांत जैन तथा बौद्ध धर्ममें प्रायः एकसा पाया जाता है। परन्तु एकने अपने बादके कालमें अहिंसाको ईश्वरीय रूपमें अभिषिक्त किया और हम यह भी समझने लगे कि जैनधर्मकी अहिंसा अव्यवहार्य है तथा भार-तवर्षका पतन इस अहिंसावृत्ति ही ने किया। दूसरे धर्ममें अहिंसाका नाम लेते हुए भी प्रायः किसी भी प्राणीको मनुष्यका पेट भरनेके लिए छोड़ा नहीं, तब भी आश्चर्य है कि इस अहिंसाका पाठ पढ़ाने वाले किन्तु व्यवहारी हिंसक धर्मके अनुयायी भारतवर्षके बाहर चीन, जापान कोलम्बो, रंगून आदिमें करोड़ोंकी संख्यामें अब भी पाये जाते हैं, और शुरूसे आख़ीरतक अहिंसाव्रतको पकड़े चले आने वाले और अहिंसाकी वास्तविक वृत्तिमें उत्त-रोत्तर सक्रिय वृद्धि करते जाने वालोंकी समाज संख्या केवल ११ लाख रह गई है ! भारतके बाहर तो हमारे दुर्भाग्यसे प्रायः है ही नहीं। हिंदूधर्ममें धर्मके नामपर कीजाने वाली हिंसा या कर्मकाण्डी हिंसाको तथा आपद्

धर्मकी हिंसाको बौद्ध तथा जैनधर्मोंकी भांति पाप नहीं कहा गया है। पर जैनधर्म तथा बौद्ध धर्मकी कृपासे यह हिंसा भी बन्द होगई। जैनधर्मकी विरोधी हिंसा कर्मयोगकी हिंसासे मिलती जुलती है। देशकी विपत्तिको टालनेकी अथवा आक्रमणकारियोंसे रक्षण करनेकी यह हिंसा ग्रहस्थोंके लिये शास्त्रसम्मत है। फिरभी जैनधर्मियोंने बहुत समयसे इसे प्रोत्साहन देना प्रायः बन्द कर दिया है।

हिंदूसमाजकी वर्णव्यवस्था न जैनधर्ममें पाई जाती है और न बौद्धधर्ममें ही। जैन और बौद्धधर्मके नाते इन दोनों धर्मोंमें सामाजिक अधिकार समानतासे प्राप्त होते रहे हैं। और जैन तथा बौद्ध समाजमें प्रवेश हिंदू-धर्मके चारों वर्णोंमें से होता रहा है, किन्तु आज इस सम्बन्धमें अपराधी जैनसमाज ही पाया जाता है, जो उसी मर्ज़को स्वतः पुष्ट कर रहा है जिसकी दवाके रूपमें उसने यह अङ्ग हिन्दूसमाजके सामने विराट तथा सुन्दर रूपमें अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीरके युगमें पेश किया था। वैसे तो भगवान् आदिनाथके जन्मकालमें ब्राह्मणोंको छोड़कर शेष तीन वर्ण उपस्थित थे ही और उनके सुपुत्र सम्राट भरतचक्रवर्तीने ब्राह्मणवर्गकी आवश्यकता होने पर उसे भी कायम किया था, किन्तु वर्ण-शृङ्खला भी धीरे धीरे ढीली पड़ती गई, जिसके कारण आज जैनसमाज वैश्यसमाजका पर्याय होगया, यद्यपि जैनतीर्थंकर क्षत्रिय वर्णके थे तथा बुद्ध भगवान् भी क्षत्रिय वर्णके थे।

आश्रम व्यवस्था मोटे रूपमें जैनधर्म मानता है। भेद केवल इतना ही है कि वानप्रस्थ तथा सन्यास यहां सब वर्णोंके लिए खुला हुआ है जबकि हिन्दूसमाजमें चतुर्थवर्णको वे प्राप्त नहीं ? बौद्धधर्ममें तो तृतीय आश्रम यानी वानप्रस्थकी कठोर तपस्या तथा यातना किसी भी बौद्धके लिये नियत नहीं, किन्तु सन्यासमें भी नग्नत्व द्वारा जैन समाजने जो उत्कृष्टता लादी वह बौद्धधर्म में नहीं।

हिन्दू-धर्ममें आत्माका परमात्माके अंग रूपमें जो अमरताका सिद्धान्त स्थापित किया गया है, वह जैन-धर्मको उस तरहसे मान्य नहीं, क्योंकि जैन-धर्मने परमात्माको यानी किसीको विश्वकर्ताके रूपमें माना ही नहीं—बौद्ध-धर्मकी भी प्रायः यही धारणा है। जैन-सिद्धांतमें जड प्रकृति तथा चैतन्य आत्मा अनादिसे इसीतरह कर्मके चक्रमें बँधेहुए चले आरहे हैं। बौद्ध-धर्म आत्माको नित्य नहीं मानता। जैन-धर्ममें कर्मको वस्तु रूपमें अर्थात् उस Matter रूपमें जिसे वे पुद्गल कहते हैं, माना है। हालांकि हिन्दू-धर्ममें वैसा नहीं। किन्तु इस कर्मको भी जैन-धर्ममें अर्थात् सूक्ष्म माना है। कर्मकी विवेचना और उनका संग्रह तथा नाशका वर्गीकरण जैन-धर्ममें एक बड़ी सुन्दर वस्तु है।

सनातन-धर्मके ईश्वरके समीपवर्ती जैन-धर्मके तीर्थंकर हैं, जो आदर्श-गुणोंसे सुसज्जित विशेष व्यक्ति कहे जाते हैं, और जिनतक पहुँचनेका प्रयास हरएक जैनीका परम-कर्तव्य है। यही धारणा बौद्ध-धर्मके महायानपंथकी है, जो भगवान् बुद्धको प्रायः ईश्वरके स्थानपर बिठलाता है। जैन तथा बौद्ध दोनों धर्म ब्राह्मणत्वकी विशेषताके हामी नहीं। जैनियोंके कुल तीर्थंकर क्षत्रिय वर्णके थे। भगवान् बुद्ध भी इसी वर्णके महापुरुष थे। वेदको जिसतरह हिन्दू-धर्ममें भगवान्का वाक्य माना जाता है, उसतरहसे जैन-धर्म उसे माननेको तैयार नहीं। उनके यहांके यदि कोई अमर वाक्य हो सकते हैं, तो वे उनके तीर्थंकरोंकी अंतिम अवस्थामें खिरनेवाली वाणीके वाक्य हैं, जिसे जैन-समाजमें वही सम्मान है जो वेद-वाक्योंको हिन्दु-धर्ममें है। हमारे ऋग्, यजु०,

अथर्व०, तथा साम की तरह उनके प्रथमानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग द्रव्यानुयोगके ग्रन्थोंमें वह वाणी संकलित कही जाती है। मोक्ष तथा निर्वाणकी प्राप्ति कर्मोंका क्षय होजाने पर बौद्ध तथा जैन दोनों धर्म मानते हैं। बुद्ध भगवान्‌ने चारित्रके सम्बन्धमें बहुत ज़्यादा ज़ोर दिया है। जैन-धर्म सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्‌चारित्र इन तीनोंपर एकसा ज़ोर देता है, जिसे रत्नत्रय कहा जाता है। धर्म, बुद्ध तथा संघको यही स्थान बौद्ध-धर्ममें प्राप्त है। हिन्दू-धर्ममें तो किसी एकके द्वारा भी मोक्ष प्राप्त हो सकता है—चाहे वह केवल ज्ञान हो, चाहे केवल कर्म या केवल वैराग्य या केवल भक्ति हो।

हिन्दुओंके धर्मशास्त्र केवल संस्कृत भाषामें या बादको हिंदीमें भी तैयार किये गये; किन्तु जैनधर्मके प्राचीन ग्रन्थ अर्धमागधी प्राकृत भाषामें और बादको संस्कृत तथा हिन्दी-भाषामें भी रचे गये, जैन तथा बौद्ध दोनों धर्मोंका यह उद्देश्य था कि धार्मिक विचारोंका प्रचार जनताकी बोलचालकी भाषामें ही होना चाहिये और इसलिये जैन-लेखकोंने प्राकृत तथा अन्य प्रान्तीय भाषाओंको साहित्यिक-दृष्टिसे बहुत मूल्यवान बना दिया। दक्षिण भारतकी तामिल, कनाड़ी आदि बहुत सी भाषाओंके आदि ग्रन्थ तो जैनाचार्योंके ही लिखे हुए हैं। बौद्धोंने पाली भाषाको अपनाकर उसे ही उच्च-शिखरपर पहुँचाया। भक्तिकालीन भारतमें तथा बादके कालमें बनारसीदास आदि जैसे कवियोंने हिन्दी-साहित्यके प्रति बड़ा उपकार किया है। आजकलके तो प्रायः सभी लेखक जैन तथा बौद्ध साहित्य हिन्दी-भाषामें लिख रहे हैं। जैनियोंके आजकलके हिसाबसे माने हुए इतिहास कालके पूर्वके महापुरुषों तथा उनकी कृतियोंको इतिहास प्रबतक माननेको तैयार नहीं। इस संबन्धमें कुछ हद-तक हिन्दू-धर्मकी भी वही अवस्था है जो जैन धर्म की। इसका कारण है साहित्यिक अज्ञानता। जिसके निमित्त कारण हैं बहुत दूरतक जैनी ही, जो अपने बहुतसे अमूल्य ग्रन्थों को अबतक भी समाजके सामने नहीं रख सके। एक समय था जब पाश्चात्य विद्वान लेथब्रिज (Leth Bridge) तथा एल्फिन्सटन (Elphinstone) जैसे विद्वान जैनधर्मको छटवीं शताब्दी में पैदा हुआ बतलाते थे, विलसन (Wilson) लासेन (Lassen) वार्थ (Barth) वेवर (Webr) आदिने तो जैन-धर्मको बौद्ध-धर्मकी शाखा ही बता दिया था। डा० बुहलर और हालही में स्वर्गस्थ होने वाले जर्मन विद्वान जैन-दर्शन-दिवाकर डाक्टर हर्मन जैकोबीने कमसे कम २३ वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ तक जैनियोंका ऐतिहासिक काल स्वीकृत किया है। यदि हम खोज करते तो हम भी उसी निष्कर्षको पहुँचते, पर हमारा दुर्भाग्य है कि हम अपना महत्व पश्चिमकी रञ्जित आंखों द्वारा ही देखते हैं। उनके निष्कर्षके बाद हम भी उनके पद चिन्हों पर चलनेको तैयार हो जाते हैं।

खेद है कि हम भारतवासियोंने भी यहाँके जन्म लेनेवाले जैन और बौद्ध-धर्मको अच्छी तरह समझनेका यत्न नहीं किया और न हम पुरानी कुभावनाओंसे अपनेको ऊपर ही उठा सके। हमने जहाँ क्षपणकको देखा कि कुण्डलकी चोरी या ऐसा ही कोई और घृणित-कार्य उसके पीछे लगा दिया। हम तो "न पठेत् यामनी भाषां प्राणैः कण्ठ गतैरपि, हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैन मन्दिरम्" का पाठ लिये हुए अपने दृष्टि-कोणको पहिलेसे ही दूषित किये हुए बैठे थे। यद्यपि हमारे शास्त्रोंमें जैन और बौद्धोंसे बढ़कर चार्वाक आदि जैसे घोर तथा वास्तविक नास्तिक पहलेसे ही थे, फिर यदि जैन और बौद्धोंने भी इसी तरहसे कुछ अनर्गल अथवा

अरुचिकर बातें हमारे धर्मके संबन्धमें लिखदीं तो क्या आश्चर्य ? और इन्हीं सब झमेलोंमें पड़कर यदि पाश्चत्य विद्वानोंने जैन तथा बौद्ध-धर्मका वास्तविक महत्व-नहीं समझा तो हम सब भारतवासियों ही के दुर्भाग्य से !

जिस तरहसे बौद्ध-धर्म महायान तथा हीनयान पंथोंमें विभक्त होगया, उसी तरहसे उज्जैनके दुष्कालने भद्रबाहु श्रुतकेवलीके समयमें जैन-धर्मको भी दो बड़ी शाखाओंमें विभाजितकर दिया है—एक दिगम्बर दूसरा श्वेताम्बर, जो आपत् धर्मके रूपमें वस्त्र धारण करने लगा। जिस शांति तथा प्राणीमात्रकी एकताका पाठ पढ़ानेको महावीरने अन्तिम तीर्थंकरके रूपमें जन्म लिया था, उसी सिद्धान्तकी अवहेलना कर बड़ी कटुताके साथ दोनों फिरके बढ़ रहे हैं और लाखों रुपयोंका अपव्यय भी कर रहे हैं। देखें भगवान् इन्हें कब सुबुद्धि देता है। मोटा अन्तर इनदो वर्गोंमें इतना ही है कि श्वेताम्बर तीर्थंकरोंकी मूर्तियोंको वस्त्राभूषण पहिनाते हैं, जबकि दिगम्बर प्रतिमाओंको उनके असली रूपमें नग्न रखते हैं। दूसरे श्वेताम्बराम्नाय स्त्रीको मोक्ष-गामिनी भी मानता है दिगम्बर नहीं ! इसमें सन्देह नहीं कि जैनधर्मने स्त्री जातिकी दशा बहुत सुधारी है और उनके लिए श्राविका तथा आर्यिकाके रूपमें संघ सङ्गठित कर उन्हें धर्म-पालनका अच्छा अवसर दिया है।

हिंसा रोकनेको मुखपर कपड़ा बांधने वाले तथा दन्तधावन न करने वाले ढूंढिया जैन-समाजमें बहुत कम हैं। उनके समाजको ख़राब व गलीज समझ बैठना हमारी बड़ी ग़लती है। जैनधर्मके विश्वभ्रातृत्व तथा अहिंसावादमें और अन्य धर्मोंके सिद्धान्तोंमें यही अन्तर है कि अन्य धर्मोंमें कहीं, कहीं आपत् धर्मके तौर पर हिंसा स्वीकृत की गई है, किन्तु निरे उपयोगितावादकी भित्ति पर जैन-धर्म हिंसाकी स्वीकृति नहीं देता। जैन धर्मका भ्रातृत्व उन छोटे छोटे जीवों तक फैला हुआ है, जिनके अस्तित्वको भी नैतिक दृष्टिसे अन्य समाज मानने को तैयार नहीं।

कोई आश्चर्यकी बात नहीं यदि जैन-धर्मसे दीक्षित नर श्रेष्ठोंने सदियों तक राज्य-संचालनकी बागडोर अपने हाथोंमें थामी और सफलता-पूर्वक राज्य-संचालन भी किया, किन्तु संकल्पी हिंसाको अपने कार्योंमें स्थान नहीं दिया। भलेही विरोधी हिंसाके सबन्धमें राज्यकारण जहाँ बाध्य करता था, वहाँ आगा-पीछा भी नहीं किया। आज बौद्ध-धर्म भले ही प्रचारका धर्म है, किन्तु जैन-धर्मने तो इस महान अंगको त्यागकर जैन-धर्मको पंगु तथा एक दृष्टिसे सीमित बनादिया है।

बड़े आश्चर्यकी बात है कि जनता की भाषावाला तथा जनताकी भावनाको प्रमुख रखनेवाला महान-धर्म एकतो भारतके बाहर ही होगया, व दूसरा भी अधिकांश जनताका धर्म न होसका ! बौद्ध-धर्मकी आकर्षक आधार शिला चारित्रपर थी, परन्तु जिस समय शंकराचार्य व उनके पूर्ववर्ती कुमारिलभट्ट तथा परवर्ती आचार्योंका प्रहार हुआ, उस समय चारित्रकी आधारशिला भिक्षु तथा भिक्षुणियों दोनोंमें भ्रष्टाचारमें परिवर्तित हो चुकी थी। जितनी मोहक सुखता बौद्ध-धर्मके "बुद्ध-धर्म" व "संघ" में थी, उतनी जैन-धर्मके सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्रमें न थी। इसलिये बौद्ध-धर्म अधिक प्रचारित होते हुए भी स्थायी न रह सका। भगवान् बुद्धके अनिश्चितवादने यद्यपि जनताको बौद्धिक दासतामें नहीं रक्खा, किन्तु फिरभी सैद्धान्तिक निश्चयकी कमी एक दोष समझा जाने लगा व हमला करनेवालोंको दो दार्शनिकविचार-धाराओंके मिलान करनेमें बौद्धिक-धर्मका अधूरापन बतानेका अवसर मिला। इसे दूर करनेके लिए बड़ी-बड़ी सभाएँ की गई, पर नतीजा आशाजनक

नहीं निकला। सदाचारकी अनुपस्थितिमें अनिश्चितवाद-में समाजके सामने कोई आधारशिला समाजकी व्यवस्थाको क़ायम रखनेको नज़र नहीं आती थी। राज्याश्रयोंमें दुर्बलताके कारण फिर सनातन-धर्मी प्राचीन जागृति सामने आगई।

हूण लोगोंने गुप्त राज्यको नष्ट भ्रष्ट कर ही दिया था, व अशान्ति फैल ही रही थी। हर्ष-वर्धन-जैसे राजाने बौद्ध तथा हिन्दू दोनों धर्मोंका सत्कार किया, जबकि वह बौद्ध था। गुप्त राजाओंके ज़मानेमें हिन्दू-धर्मका पुनरुद्धार पहिले ही शुरू होगया था, जिस समानता की तीव्र धारा तथा हिंसाके प्रति घृणा बौद्ध-धर्मने जाग्रत की थी, उसे सनातन धर्मने भी ग्रहणकर वैष्णव-धर्ममें सम्मलित कर दिया। इसलिए हिन्दू-धर्मकी वैष्णव शाखा सार्वजनिक धर्मके रूपमें समाज की समस्या हल करनेको सामने आई।

जिस बौद्ध-धर्मने नागार्जुन, गुणमति, चन्द्रपाल, ज्ञानचन्द्र, प्रभामित्र, स्थिरमति धर्मपाल, शीलबुद्ध, जिन-मित्र आदि जैसे विशेषज्ञोंका नालन्दविश्व-विद्यालयमें की संस्कृतिमें जन्म दिया और जिस विश्व-विद्यालयने छटवीं सदीमें शीलभद्र जैसे सौ वर्षसे भी अधिक जीवित रहने वाले अधिष्ठाताको जन्म दिया, जिसके हाथके नीचे १५०० अध्यापक और १०,००० से अधिक विद्यार्थी जो हर तरहसे निःशुल्क पढ़ते थे, तथा जिसके वर्षों चरणचुम्बनमें ह्यूनत्सांग जैसे प्रसिद्ध चीनी परिव्राजकने अपना अहोभाग्य समझा और जिसने अपने गुरु धर्मपालके समक्ष ही मगध राज्यमें विख्यात् ऐतिहासिक विजय प्राप्त की, ऐसी महान आत्माके रहते हुए भी भारतकी जनताके हृदय पर बौद्ध-धर्म आसन न जमा सका।

महायान पन्थने भगवान् बुद्धको अवतार तथा सुख दुखका कर्ता मान कर उनका पूजन भी शुरू कर दिया, परन्तु फिर भी हिन्दू-धर्म बाजी मार लेगया। छठी शताब्दीके महान पंडित तथा 'प्रमाण-समुच्चय'के प्रणेता दिग्नाग-जैसे अपने पंथ पर दृढतासे क़ायम रहनेवाले महान् बौद्ध भी ईश्वर कृष्ण द्वारा विहार जलाए जाने पर इस धर्मके अपकर्ष-में अधिक समय तक हाथ न लगा सके। सौत्रान्तिक-शाखाके सम्पादक कुमारलब्धने भी माथा टेक दिया और अश्वघोषकी प्रतिभा भी प्रवाहको न बांध सकी। तक्षशिला, नालन्दा, विक्रमशिला, ओदन्तपुरी और धन्य-कुटीके महान विद्यालय भी काफ़ी तादादमें इतने महान पुरुष तैयार नहीं कर सके जो इस धर्मको जैसे तैसे १२वीं शताब्दीसे आगे ले जाते, जबकि बख्तयारखिलजी-ने विक्रमशिला व ओदन्तपुरीके महान् पुस्तकागार तथा विहार अग्नि-समर्पित कर दिये! राजगृह तथा वैशालीमें बड़े बड़े उत्सव हुए पर ये सारी बातें इस धर्मको भारत-वर्षमें सुरक्षित न रख सकीं। प्रयास तथा क्रान्तिमें भी सामनेकी समस्याका हल प्रधान था व जहां कुछ हद तक होगया वहां उस धर्मका महत्व भी गिर गया। जैनधर्म भी उसी झण्डेको उठाकर खड़ा हुआ था जो कुछ समयको भगवान बुद्धके भी हाथोंमें रहा।

जैनदर्शनमें वह अधूरापनका दोष नहीं लग सकता जो कि बौद्धदर्शनके सम्बन्धमें लगाया जाता था। जैन-यतियोंने शिक्षणका कार्य अपने जिम्मे ले समाजके अन्तस्तलके निकट पहुँचनेका बड़ा प्रेमयुक्त प्रयत्न किया था, यहां तक कि उनका "ॐ नमः सिद्धम्" जैनेतर जैसा मालूम होने लगा था। राजस्थानमें इस धर्मके प्रचारका कारण था वैष्णवोंकी विचार विराटता-का जैनधर्मसे समीकरण। जैनधर्मकी हिंसामें मनस्यन्यत, वचस्यन्यत्का प्रश्न नहीं था। प्रचारके लिये जैनधर्मने

हिन्दी तथा अन्य प्रान्तीय भाषाओंको भी इकदम अपना लिया था तथा समय समय पर व्यवहार-कुशलता भी प्रदर्शितकी थी। अशोक-जैसे कलिंग विजयके बाद उन्होंने हथियार नहीं फेंक दिये। हिंसाके जंगली सिद्धान्तोंमें जहां पवित्रता लाई जा सकती थी, वहां उन्होने पवित्रता भी प्रदानकी।

कलाकौशल तथा स्थायी ऐतिहासिक सामग्री प्रदान करनेके संबन्धमें दोनों धर्मोंका एकसा महत्व है। श्रवण-बेलगोल, खजराहा, आबू, सम्मेदशिखर आदि तथा एलोरा, अजंता, सांची, सारनाथ, तक्षशिला आदिमें आज इन दोनोंके कीर्तिस्तम्भ इनके जीवित होनेके प्रमाण दे रहे हैं। जैनधर्मका शाश्वत शान्तिका प्रयास तो उनके सप्तभंगीनय सापेक्षावाद, स्याद्वाद या Reletinity के सिद्धान्तमें छुपा हुआ है। वाद-प्रवादादिके द्वारा भी युद्धको वे गुंजाइश देना नहीं चाहते। प्रायः हरएक मतके प्रति उनकी विचार-सहिष्णुता स्याद्वादसे झलकती है।

बौद्धमतने जिसतरहसे राज्याश्रयमें विस्तार किया उसी तरहसे जैन-धर्मने भी अपना प्रसार किया। अशोक श्रेणिक, बिम्बसार, हर्षवर्धन आदि जैसे बौद्ध तथा उज्जैनके चण्डप्रद्योतको हरानेवाले सिंधुसौवीरके अधिपति उदायन, कलिंगपर विजय करनेवाले तथा आदि तीर्थंकरकी प्रतिमा लेआनेवाले मगधेश नन्दि-वर्धन, राजनीति-कुशल कलिंगवीर खारवेल, जिन्होंने मगधसे बदला चुकाया; बादामीके चालुक्य महाकवि रविकीर्तिके राज्याश्रयी पुलकेशी द्वितीय, सोलंकी नरेश कुमारपाल, वीर-प्रवर राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष, गंगवंशके वीर सेनानी चामुण्डराय, गुजरातके अधीश्वर बघेल वीर, वीरधवलके युद्धाध्यक्ष मन्त्री पालबन्धु तेजपाल तथा वस्तुपाल, जिन्होंने आबूके इतिहास-प्रसिद्ध मन्दिर बनवाये और जिन्होंने अपने पथभ्रष्ट राजाके काकाको भी जैनयतिके अपमानपर उनकी अँगुली कटवाकर दण्डित किया, बीकानेरके राजमन्त्री भागचन्द बच्छावत जिन्होने राजाके दुराग्रहको सिर नहीं नवाया व युद्धकर वीरगति प्राप्त की, तथा श्रावस्तीके सुहृदयध्वज आदि जैसे जैन नराधिपों, युद्ध-वीरों और सामन्तोंने इन धर्मोंको बहुत उपकृत किया है। और उत्कृष्टज्ञानयोगकी तैयारीमें जिनसेन, गुणभद्र अकलङ्क, नेमिचन्द्र, समन्तभद्राचार्य, हेमचन्द्राचार्य, कुन्दकुन्दाचार्य, सिद्धसेन दिवाकर, हरिभद्र, धनपाल अमितगत्याचार्य, हीरविजयसूरि आदि जैसे विद्वान भी पीछे नहीं थे। इन जैन यतियोंकी भद्रता तथा सचाईको देख उस युगके चक्रवर्ती सम्राटको भी हिंसा बन्द करनी पड़ी। पशु-पक्षियोंको भी जैनयतियोंकी कुटीरके पास अभयप्रदान किया गया। भारत-दिवाकर प्रातः स्मरणीय राणावंशके महाराणा राजसिंहने भी अहिंसाको अपने कृत्योंसे अङ्कित किया। व हीरविजयके स्वागतको फतहपुरसीकरीमें सम्राट् अकबरने बड़ी तैयारी की थी, पर उन्होंने मांगी केवल अहिंसा।

आजका जैनसमाज नित्यशः देवदर्शन, स्वाध्याय रात्रिभोजनत्याग तथा अहिंसाके अनुपालन आदि द्वारा धर्मकी प्राण-प्रतिष्ठा कर रहा है। पर इन सबसे बढ़-कर विशाल परिग्रह सामिग्रीसे ओत-प्रोत मन्दिरोंमें उसका ख़र्च हो रहा है, जिनमें जैन-समाजके ही नहीं, किन्तु प्राणी मात्रके उद्धारक वीतराग भगवान् ऋषभदेव, पार्श्वनाथ, महावीर आदि विराजे हैं। आज विशाल-काय मन्दिरोंका निर्माण कराने वालोंके लिए अपने नाम-को अमर बनानेके प्रचुर-साधन प्राप्त हैं। इसलिए कीर्ति-ध्वजा फहरानेके लिए दूसरी संस्थाओंकी खोज अधिक वाँछनीय है, जहाँ जैन तथा जैनेतर समाजकी भलाई

निहित है। साहित्य प्रकाशनकी ओर सम्पति-वैभवकी तूफानी लहरोंपर तैरने वाले इस शान्त समाजका उतना लक्ष्य नहीं, जितने परिमाणमें सदुपयोगके लिए वीतराग भगवान्ने परिग्रहका स्वामी इन्हें बनाया है। दानकी सार्वात्रिक विराटता भी उतनी जैन-समाजमें नज़र नहीं आती जितनी अपेक्षित है। धर्म-प्रचार शैथिल्यको देखते हुए तो ऐसा मालूम पड़ता है कि जैनसमाजने प्रचार धर्मके नामसे जैनधर्मका पुकारा जाना गौरवकी बात नहीं समझी है या फिर श्रेणिक बिम्बसारके युवराज अभयकुमारकी पारसीक विजय तथा धर्म-प्रचारको निरी गाथा समझ रक्खा है। निःसन्देह वीरोंकी इस जातिने आज अपनेको व्यापार वीर-वैश्य ही समझ रक्खा है, पर उसी वीरत्वमें आशाशाहकी (आततायी बनवीरसे उदयसिंहके रक्षणकी) ज्योति नहीं, महाराणा प्रतापकी धर्म-टेक रखनेमें सहायक होने वाले भामाशाहके अपरिग्रह या परिग्रह परिभाषा व्रतकी शक्ति नहीं, क्या जैन-समाज इन विशाल-आत्माओंके जीवन-त्यागको उपेक्षणीय वस्तु ही मानता रहेगा?

संसारकी सम्पति कैसी है?

जासूं तू कहत सम्पदा हम री सो तो,
साधुनि ये डारी ऐसे जैसे नाक सिनकी।
जासूं तू कहत हम पुण्य जोग पाई सो तो,
नरककी साई है बढ़ाई डेढ़ दिन की॥
घेरा माँहि परयो तू विचारे सुख आँखिन को,
माँखिन के चूटत मिठाई जैसे भिनकी।
ऐते पर होय न उदासी जगवासी जीव,
जगमें असाता है न साता एक छिनकी॥

कोल्हूके बैलकी दशा

पाटी बाँधी लोचनि सो सकुंचे दबोचनि सों,
कोचनीके सोचसों निवेदे खेल तनको।
धाइबो ही धन्धा अरु कन्ध माँहि लग्यो जोत,
बार बार आरत है कायर है मनको॥
भूख सहे प्यास सहे दुर्जनको त्रास सहै,
थिरता न गहे न उसास लहे छिनको।
पराधीन घूमे जैसे कोल्हूको कमेरो बैल,
तैसो ही स्वभाव भैया जग वासी जनको॥

दुर्जनका मन

सरलको सठ कहै वकताको धीठ कहै,
विनै करे तासों कहै धनको अधीन है।
छमीको निबल कहै दमीको अदत्ति कहै,
मधुर वचन बोले तासों कहै दीन है॥
धरमीको दंभी निसप्रेहीको गुमानी कहै,
तृषणा घटाये तासों कहै भाग्यहीन है।
जहां साधु गुण देखे तिनको लगावे दोष,
ऐसो कछु दुर्जनको हिरदो मलीन है॥

सूक्ति मुक्तावली

ज्यों मति हीन विवेक बिना नर,
साजि मतङ्गज ईंधन ढोवै।
कञ्चन भाजन धूल भरे शठ,
मूढ़ सुधारस सों पग धोवै।
वाहित काग उड़ावन कारण,
डार महा मणि मूरख रोवै।
त्यों यह दुर्लभ देह बनारसि,
पाय अजान अकारथ खोवै।

[स्वर्गीय कविवर बनारसीदासजी]

अदृष्ट शक्तियां और पुरुषार्थ

[ले० श्री० बाबू सूरजभानुजी वकील]

मनुष्योंमें सबसे अधिक पतित अवस्था इस समय अफ़रीकाके हब्शियोंकी है। कुछ दिन पहिले वे लोग नंगे रहते थे, घर बनाकर रहना नहीं जानते थे, न आग जलाकर भोजन बनाना ही उनको आता था। परन्तु अब ईसाई पादरियोंके अथक परिश्रमसे उनमें कुछ समझ-बूझ आती जाती है। पतितावस्थामें वे लोग बादलोंकी गरज और बिजलीकी कड़कसे बहुत भयभीत होते थे और समझते थे कि कोई बलवती शक्ति हमारा नाश करनेको आरही है। इस कारण वे इन बादल और बिजलीके आगे हाथ जोड़ते थे, मस्तक नवाते थे, और प्रार्थना करते थे कि हम तुम्हारी शरणागत हैं, हम पर क्षमा करो। वह समझते थे कि जिस प्रकार बलवान् पुरुष ख़ुशामद करनेसे और भेंट-पूजा देनेसे शान्त होजाते हैं, उसी प्रकारके विधानोंसे ये गरजते बादल और कड़कती हुई बिजलियाँ भी शान्त हो जाएँगी। इसही कारण वे किसी कमज़ोर मनुष्यको मारकर उनकी भेंट चढ़ाते थे, उनकी स्तुति गाते थे और गिड़गिड़ा कर प्रार्थना करते थे कि हम तुम्हारे दास हैं हमको क्षमा करो। इसही प्रकार आंधी, पानी, अग्नि आदिसे भी डरकर भेंट चढ़ाते थे और पूजा-प्रतिष्ठा किया करते थे। यही इनका धर्म था—इससे अधिक वे और कुछ भी नहीं जानते थे।

बलवती शक्तियोंका यह भय मनुष्यमें बहुत कुछ समझ-बूझ आजाने पर भी बना रहता है; जैसा कि प्राचीन कालमें जब मनुष्य जहाज़ चलाकर समुद्र पार आने जाने लग गए थे, तब भी समुद्रको मनुष्यकी बलि देते थे, फिर होते-होते मनुष्यकी बलि देना राज-आज्ञासे बंद हो गया तब इन भयङ्कर शक्तियोंको पशु-पक्षियोंकी बलि दी जाने लगी। जैसाकि यहां आर्यभूमिमें अब तक भी जब भयंकर महामारी आती है वा दुष्काल आदि अन्य कोई आपत्ति आपड़ती है तो ग्रामके लोग इकट्ठे होकर भैंसे आदि किसी बड़े पशुकी बलि देते हैं, चेचक आदि बीमारियोंको शान्त करनेके वास्ते मुर्ग़ा, बकरीका बच्चा वा सूअरका बच्चा आदि भेंट चढ़ाते हैं और पूवे, लपसी, खील-बताशे तो मामूली तौर पर छोटी-मोटी शक्तियोंको भी चढ़ाते रहते हैं। सर्पकी पूजा की जाती है, गा-बजा कर खूब स्तुति की जाती है और दूध पिलाया जाता है। स्त्रियाँ बेचारी तो चूहों तकको पूजती हैं, हलवा बनाकर उनके बिलोंमें रखती हैं और हाथ जोड़कर प्रार्थना करती हैं कि हे मामा चूहो, हमारे घरकी वस्तुएँ मत काटना।

अफ़रीकाके इन बुद्धिहीनोंको चलते-फिरते हट्टे-कट्टे मनुष्यके मरजानेका भी बड़ा अचम्भा होता है, वे नहीं समझते कि यह क्या होगया है, इसही कारण डरते हैं कि कहीं वह शक्ति जो इस मृतक शरीरमें से निकल गई है और दिखाई नहीं देती, गुप्तरूपसे हमको कुछ हानि न पहुँचादे। इसकारण प्रेतोंकी भी पूजा कीजाती है। दिखाई न देनेके कारण इन प्रेतोंका भयतो इन जङ्गली लोगोंके हृदयमें बादल, बिजली आदि से भी अधिक बना रहता है—विशेषकर एकान्तमें, अँधेरेमें इनसे डरते रहते हैं। कोई मरगया, तो किसी भूतने ही मार दिया, किसीको बीमारी होगई, तो किसी भूत-प्रेतने ही करदी, कोई गिर पड़ा चोट लग गई वा अन्य कोई उपद्रव होगया तो किसी भूत-प्रेतका ही कोप होगया! इस प्रकार हरसमय ही उनका भय बना रहता है।

उनके इस भारी भयके कारण ही उनमेंसे कुछ चालाक लोग इन मूर्खोंको यह विश्वास दिलाने लगजाते

हैं कि हमने अनेक प्रकारकी सिद्धियोंके द्वारा अनेक भूत प्रेतोंको अपने वशमें कर लिया है, जिससे हम जो चाहें वह वही करनेको तैयार होजाते हैं। इन चालाक लोगोंके बहकायेमें आकर ये बुद्धिहीन मनुष्य अपनी प्रत्येक बीमारी, आपत्ति और अन्य सबही प्रकारके कष्टोंके निवारण करनेके लिए इनही लोगोंके पीछे-पीछे फिरने लग जाते हैं।

इन मन्दबुद्धि हब्शियोंका तो आश्चर्यही क्या है, जबकि इस आर्यभूमि पर भंगी, चमार, कहार, कुम्हार आदि श्रमजीवी लोगोंमें आज तक भी ऐसाही देखनेमें आता है। वे भी अपनी सबही बीमारियों और कष्टोंको किसी अदृष्ट भूतका ही प्रकोप मानते हैं उन्हींमेंसे कुछ चालाक लोग ऐसे भी निकल आते हैं, जो भूत प्रेतोंके इस प्रकोपको दूर करनेकी शक्ति रखनेका बहाना करने लग जाते हैं, इस कारण बेचारे भोले-लोग अपने प्रत्येक कष्टमें इन चालाक लोगोंकी ही शरण लेते हैं।

गांवके इन गँवार लोगोंकी देखादेखी बड़े-बड़े सभ्य और प्रतिष्ठित घरानोंकी मूर्ख स्त्रियाँ भी अपने बच्चोंकी सर्व प्रकारकी बीमारियोंमें इन्हीं मायाचारी भङ्गी-चमारोंको बुलाती हैं, हाथ जोड़ती हैं, ख़ुशामद करती हैं कि जिस प्रकार भी हो सके कृपा करके हमको वा हमारी बेटी-बहू वा बच्चों को इन अदृष्ट भूत-प्रेतोंकी झपेटसे बचाओ। इन मायाचारियोंमें से जो अति-धूर्त होते हैं, वे तो यहांतक भी कहने लग जाते हैं कि हम अपने बसमें किये भूतोंके द्वारा चाहे जिसको जानसे मरवादें वा और भी जो चाहें करा दें। इन धूर्तोंका यह पराक्रम सुनकर मोहांध पुरुष उनके पीछे-पीछे फिरने लग जाते हैं, यहां तक कि बड़े-बड़े श्रेष्ठ और बुद्धिमान् पुरुष भी अपने बलवान् वैरीका नाश करनेके वास्ते इन्हींका सहारा लेते हैं, वैरीको मारनेके वास्ते उस पर मूठ चलवाते हैं और अन्य भी अनेक प्रकारसे उनको हानि पहुँचानेका उपाय कराते हैं।

इस प्रकार प्रतिष्ठित पुरुषोंके द्वारा इन भंगी, चमारोंको पुजता देखकर पढ़े लिखे विद्वानोंको भी लालच आता है, वे बीमारी आदिक सर्व प्रकारकी आपत्तियोंका कारण भूत प्रेतोंके स्थानमें सूरज शनिश्चर आदि क्रूर ग्रहोंका प्रकोप बताकर सोना चांदी आदि देनेके द्वारा उनका प्रकोप दूर हो जानेका उपाय बताने लग जाते हैं, और धनवान लोग आई हुई आपत्ति दूर होनेका यह सहज उपाय सुनकर तुरन्त ही उसे स्वीकार कर लेते हैं—सोना चांदी आदि बहुमूल्य वस्तुएँ देकर इन क्रूर ग्रहोंकी दशाको टालनेका उपाय करने लग जाते हैं और यह नहीं सोचते हैं कि इस प्रकार धन दे डालनेसे क्या ये ग्रह अपनी चाल पलट देंगे? जन्म कुण्डलीके जिस घरमें स्थित होनेसे ये ग्रह हमारे वास्ते हानि कारक बताये जाते थे, उपाय करनेसे क्या अब वे उस घर से हट गये हैं? यदि हट गये हैं तो क्या पिछली जन्म कुण्डली रद्द हो गई है और दूसरी शुभ ग्रहों वाली बनानी पड़ गई है? नहीं ऐसा तो नहीं होता है। इसप्रकारके उपायों द्वारा न तो ग्रहोंकी चाल ही बदली जा सकती है और न इस बदली हुई नवीन चालकी कोई नवीन जन्म-पत्री ही बनती है, तब फिर इन उपायों द्वारा ग्रहोंका टलना क्यों मानते हैं? इसका कोई भी उत्तर नहीं मिलता है!

इस प्रकार संसारमें अफ़रीकाके जँगली लोगोंके समान अव्वल २ तो हानिकारक देवी देवताओं और भूत प्रेतों आदिकी मान्यता शुरू होती है, जो लोगोंके बहुत कुछ सभ्य हो जाने पर भी बनी रहती है, फिर उन्नति करते करते जब मनुष्य घर बनाकर रहने लगता है, खेती बाड़ी करता है, बैल डंगर रखता है, विवाहके बन्धनमें पड़कर कौटुम्बिक जीवन बिताने लग जाता है, वस्तु-संग्रह करता है और जब उसकी ज़रूरतें तथा कामनायें भी बहुत कुछ बढ़ जाती हैं, तब वह अपनी प्रबल इच्छाओंके वश होकर आंधी पानी आग बिजली आदिक भयानक शक्तियोंको भेंट चढ़ा कर केवल यह ही प्रार्थना नहीं करता है कि हमको विध्वंस मत करना, किसी प्रकारकी हानि मत पहुँचाना, किन्तु उनसे अपनी इच्छाओं और मनोकामनाओंकी पूर्तिकी भी प्रार्थना करने लग जाता है, जिससे होते होते ये शक्तियां सर्व प्रकारके कारज साधने वाली भी मानी जाने लगती हैं। यह दशा स्पष्ट रूपसे हमको वेदोंके

गीतोंमें मिलती है। उस समय आर्य लोग बादल, बिजली, आग, पानी आदि प्राकृतिक शक्तियोंको देवता मान कर अपनी इच्छा-पूर्तिके लिये उनसे प्रार्थना रूप जो गीत गाया करते थे उनका संग्रह होकर ही ये चार वेद बन गये हैं। इन गीतोंके द्वारा इन्द्र, अग्नि, वायु, जल और सूर्य आदिकसे यह प्रार्थना की गई है कि लड़ाईमें तुम हमारी विजय कराओ, हमारे वैरियोंका नाश करो, उनकी टांग तोड़ो और गर्दन मरोड़ो, उनकी बस्तियाँ बर्बाद करो, हमको सुख सम्पति दो, समृद्धिशाली करो, सन्तान दो, बल दो, पराक्रम दो और धन्य-धान्य दो। इन देवताओंको प्रसन्न करनेके वास्ते वे मेढ़, बकरी आदि पशु अग्नि में भस्म करते थे और पूवे तथा भुना अन्न भी चढ़ाते थे।

कुछ समय पीछे अधिकाधिक बुद्धिका विकास होने पर इन आर्योंका यह भी विचार होने लगा कि धरती, आकाश, सूरज, चान्द, हवा, पानी आदि सब ही वस्तुओंका कोई एक नियन्ता भी ज़रूर है, जो इन सबको नियम रूपसे चला रहा है। इस प्रकार अब उनमें सर्व शक्तिमान एक ईश्वरके माननेकी भी प्रथा शुरू हुई, साथही स्तुति करने और भेंट चढ़ानेसे खुश होकर वह भी हमारे कार्य-सिद्ध कर देता है यह मान्यता बराबर जारी रही। फिर होते होते जीवका भी ख्याल आया कि यह देहसे भिन्न कोई नित्य पदार्थ है, ज्ञानवान होने से ईश्वरका ही कोई अंश है, जो इच्छा, द्वेष आदि मोह मायामें फँसकर संसारके दुख-भोग रहा है। इसके बाद कालक्रमसे यह भी माना जाने लगा कि मनुष्य, कुत्ता, बिल्ली, कीड़ा, मकौड़ा, चील, कबूतर आदि सबही पर्यायोंमें यह जीव अपने कर्मानुसार भ्रमण करता फिरता है, ईश्वर सर्व शक्तिमान और सर्वज्ञान सम्पन्न होनेके कारण जीवोंके कर्मोंका न्याय करता रहता है, बिल्ली, कुत्ता आदि बनाता रहता है, और सुख तथा दुख देता रहता है, वह न्यायवान है, सबके कर्मोंको जानने वाला है, इस कारण जो जैसा करता है, उसको वैसाही फल देता है। यह सब कुछ हुआ, परन्तु यह मान्यता फिर भी उसही जोर शोरके साथ कायम रही कि अपनी स्तुति और बड़ाईको सुनकर अपनी पूजा-प्रतिष्ठासे अपनी मान मर्यादा पूरी हुई देख कर वह न्यायकारी ईश्वर हमारे सबही कष्ट दूर कर देता है, हमारी मनोकामनायें भी सब पूरी कर देता है। इसीसे "मेरे अवगुण मत न चितारो नाथ ! मुझे अपना जान उबारो" जैसी प्रार्थनाएँ बराबर चली आती हैं। फल इसका यह होता है कि संसारके मोही जीव पाप कर्मोंसे बचना इतना ज़रूरी नहीं समझते हैं, जितना कि शक्तिशाली ईश्वरकी भक्ति, स्तुति और पूजाके द्वारा उसको खुश रखना ज़रूरी समझते हैं।

मोहकी कैसी बड़ी विचित्र महिमा है कि सर्वज्ञ, सर्व शक्तिमान् और पूर्ण न्यायकारी एक ईश्वरको कर्मोंका फल देनेवाला मानते हुए भी मनुष्योंके मोहवश ऐसी २ अद्भुत मान्यतायें भी इस हिंदुस्तानमें प्रचलित होजाती हैं कि गङ्गास्नान करते ही जन्म-जन्मके सब पाप नष्ट हो जाते हैं ! कौनसा मूर्ख है जो ऐसे सस्ते सौदेको स्वीकार न करे। नतीजा इसका यह होता है कि बड़े-बड़े ब्रह्मज्ञानी, साधु-संन्यासी, अनेक पन्थों और सम्प्रदायोंके योगी, बड़े-बड़े विद्वान और तार्किक, राजा और धनवान्, स्त्री और पुरुष, पापी और धर्मात्मा, सभी आंख मीचकर गङ्गामें गोता लगानेको दौड़े आते हैं, गंगाके पण्डोंको द्रव्य चढ़ाते हैं, और कृतार्थ होकर खुशी-खुशी घर जाते हैं। समझ लेते हैं, कि पिछले पाप तो निबटे आगेको जब अधिक पाप संचय होजाएँगे तब फिर एक गोता लगा आएँगे।

इससे भी आसान तरकीब मन्त्रोंकी है। किसीके सिर में दर्द होगया, बुखार आगया, आंख वा दाढ़ दुखने लगी, पीलिया होगया, जिगर बढ़ गया, तिल्ली होगई, दूध पीते बच्चेने माताकी छातीमें चोट मारदी, गरज़ चाहे किसी भी कारणसे कोई भी रोग शरीरमें होगया हो, उसकी चिकित्सा किसी वैद्यसे करानी निरर्थक है, शरीरकी बिगड़ी हुई प्रकृतिको औषधियोंके द्वारा ठीक करना व्यर्थ है—बस किसी मन्त्रवादीके पास चले जाइये, उसके कुछ शब्द उच्चारण करतेही सब रोग दूर होजायगा ! सांपने काट लिया हो, बिच्छू भिड़ ततैया आदिने डङ्क

मारा हो, बावले कुत्तेने काटा हो, किसी पुरुषका व्याह न होता हो, स्त्रीके सन्तान न होती हो, होकर मरजाती हो, बेटा न होता हो, बेटियाँ ही बेटियां होती हो, अति कष्ट रहता हो, कोई पुरुष किसी स्त्री पर आशिक़ होगया हो और वह न मिलती हो, कोई झूठा मुक़दमा जीतना हो, किसीका किसीसे मनमुटाव कराना हो, किसीको जानसे मरवाना हो, किसीकी धनसम्पत्ति प्राप्त करनी हो, ये सब कार्य मन्त्रवादीके द्वारा सहजहीमें सम्पन्न होसकते हैं ! जो कार्य सर्वशक्तिमान परमेश्वरकी बरसों पूजा-भक्ति करनेसे सिद्ध नहीं होसकता वह मन्त्रवादीके ज़रा ओठ हिलानेसे पूर्ण होसकता है ! परन्तु दूसरोंका ही, ख़ुद मन्त्रवादीका नहीं, यह भी मन्त्रका एक नियम है !!

मन्त्रके बीजाक्षर बड़े-बड़े ब्रह्मज्ञानियोंने अपने आत्मबलसे जाने हैं; तभीतो इनमें इतना बल है कि चलते दरियाको रोकदें, गगनभेदी पहाड़को भी इधरसे उधर करदें, सूरजकी चालको बदलदें और पृथ्वीको उलटकर धरदें, जलती आगको ठण्डी करदें, बजती बीनको बन्द करदें, चलती हवाको रोकदें, जब चाहें पानी बरसादें और बरसते पानीको रोकदें, प्रकृतिका स्वभाव, सृष्टिका नियम, ईश्वरकी शक्ति मन्त्रबलके सामने कुछ भी हस्ती नहीं रखती है ! किसी धनवानको ऐसी व्याधि लगी हो कि जीवनकी आशा न रही हो, तो अनेक पण्डित ऐसा मन्त्र जपने बैठ जाएँगे कि मृत्यु पास भी न फटकने पाए, कोई ऐसा बैरी चढ़कर आवे, जो सेनासे परास्त नहीं किया जासकता हो तो, मन्त्रवादी उसको अपने बलसे दूर भगा देंगे ! ऐसी ऐसी अद्भुत शक्तियाँ मन्त्रोंकी गाई जाती हैं।

ग़ज़नीका एक छोटा-सा राजा महमूद हिन्दुस्तान जैसे महाविशाल देशपर चढ़कर आता है। आवे, एक महमूद क्या यदि हज़ार महमूद भी चढ़कर आएँ तो मन्त्रकी एक फूंकसे उड़ा दिये जावेंगे ! फल इसका यह होता है कि बहुत थोड़ीसी सेनाके साथ एक ही महमूद सारे हिन्दुस्तानमें मन्दिरोंको तोड़ता और मूर्तियोंको फोड़ता हुआ फिर जाता है, कोई चूंतक भी नहीं कर पाता है, राजा महाराजाओं, बड़े-बड़े धनवानों-विद्वानों और मन्त्रवादियोंकी हज़ारों स्त्रियोंको पकड़कर लेजाता है, जो काबुलमें जाकर दो-दो रुपयेको बिकती हैं ! हिंदुस्तानका मन्त्रबल यह सब तमाशा देखताही रह जाता है ! इस प्रकार महमूद १७ बार हिन्दुस्तान आया और बेखटके इसही प्रकारके उपद्रव करता हुआ हँसता-खेलता वापस जाता रहा ! यह सब कुछ हुआ, परन्तु मन्त्रोंके द्वारा कार्य-सिद्ध करानेका प्रचार ज्योंका त्यों बना ही रहा ! महमूद पर मन्त्र नहीं चला, क्योंकि वह राजा था, राजा पर मन्त्र नहीं चलता है, बस इतना-सा कोई भी उत्तर काफ़ी है !!

संसारके नियमानुसार काम करनेमें तो बहुत भारी पुरुषार्थ करना पड़ता है—किसान ज्येष्ठ आषाढ़की धूपमें दिनभर हल जोतता है, फिर बीज बोता है, नौराई करता है, पानी देता है, बाड़ लगाता है, रातों जाग-जागकर रखवाली करता है, खेत काटता है, गाहता है, उड़ाता है, तब कहीं छः महीने पीछे कुछ अनाज प्राप्त होता है अति वृष्टि होगई, ओला काकड़ा पड़ गया, टिड्डीदलने खेत खालिया तो सालभरकी मेहनत यों हीं बर्बाद गई। परन्तु मन्त्रके द्वारा कार्यकी सिद्धि करानेमें तो मन्त्रवादीकी थोड़ी-सी सेवा करनेके सिवाय और कुछ भी नहीं करना पड़ता है, इस कारण पुरुषार्थ करनेमें कौन जान खपावे ? अकर्मण्य होकर आरामके साथ क्यों न जीवन बितावें ? फल इस अकर्मण्यताका यह हुआ कि वह भारत जो दुनिया भरका सरताज गिना जाता था, काबुल जैसे छोटेसे राज्यका ग़ुलाम बन गया ! बेखटके मुसलमानोंका राज्य होगया, मन्दिर तोड़ २ कर मस्जिदें बननी शुरू होगईं, गौ माताकी हत्या होने लगी नित्य कई लाख जनेऊ टूटने लगे और मुसलमान बनाये जाने लगे ! राज्य गया, मान गया और इसीके साथ धर्म गया और ईमान गया, सब कुछ गया, परन्तु नहीं गया तो मन्त्रशक्ति पर विश्वास नहीं गया।

अकर्मण्यका चाहे सब कुछ जाता रहे, परन्तु उससे पुरुषार्थ कदाचित भी नहीं होसकता है। इस वास्ते अब बेचारे हिन्दुस्तानियोंने मुसलमानोंका सहारा लेना शुरू कर दिया है, वे अपना कलमा पढ़कर हमारे बच्चों पर

फूंक मार देंगे तो हमारा बच्चा जीता रहेगा, वह कोई तावीज़ (यन्त्र) लिखकर देदेंगे तो उसको बांधनेसे कोई बीमारी नहीं आएगी, उनके मन्त्रोंसे सर्व प्रकारकी बीमारी दूर होजाएगी, पुत्रहीनोंको पुत्रकी प्राप्ति होजाएगी, अविवाहितोंका विवाह होजाएगा, झूठे मुक़दमे फतह होजाएँगे, खेतमें खूब पैदावार होगी, आजीविका लग जाएगी, अन्य भी सब ही कार्योंकी सिद्धि होजाएगी, सांप-बिच्छू-भिड़-ततय्या आदि जानवरोंका ज़हर उतारनेके वास्तेभी अब इन दुनियाँ--विजयी मुसलमानोंके पासही जाना चाहिये, पण्डितोंके मन्त्र तो अब फीके पड़ गये हैं, इन शक्तिशाली मुसलमानोंकी जीती जागती जोत है, इस कारण अब तो इनहींसे कारज सिद्ध कराना उचित होगा। बस इतना विश्वास होने पर मस्जिद में अज़ान देने वाला कोई ग़रीब अनपढ़ मुल्ला, भीख मांगता फिरता हुआ कोई ग़रीब मुसलमान भी पुजने लग जाता है, इन्हींके द्वारा अकर्मण्य और पुरुषार्थहीन हिन्दुओंके सब कामोंकी सिद्धि होने लगती है !!

क्योंजी हिन्दू भाइयो ! तुम्हारे पण्डितों, पुजारियों और सन्यासियोंके जो मन्त्र थे, वे तो बड़े बड़े ब्रह्मज्ञानियोंको उनकी भारी भारी दुद्धर तपस्याके पश्चात् उनके आत्म-बलके द्वारा ही ज्ञात हुए थे, उन मन्त्रोंमें ईश्वरकी शक्ति विद्यमान थी, मन्त्रोंके बीजाक्षरोंमें ही ईश्वरने अपनी सारी शक्तिको स्थापन कर रखा था। जिनका उच्चारण होतेही कुछसे कुछ हो जाता है, मन्त्रोंके उच्चारण करनेमें यदि एक छोटीसी मात्राका भी हेर फेर होजाय तो ग़ज़ब ही होजाय। इस कारण उच्च-जातिके बड़े-बड़े विद्वान ही इन मन्त्रोंको साधते थे, बड़ी भारी शुद्धि और पवित्रताई रखते थे, तबही यह मन्त्र उनको सिद्ध होते थे और उनके पास टिकते थे, परन्तु इन मुसलमानोंको तो तुम धर्मसे परान्मुख और ऐसे अशुद्ध अपवित्र बतातेहो कि यदि ५० गज लम्बा भी फ़रश बिछा हो और उसके एक कोने पर कोई मुसलमान बैठा हो तो, उस फ़रसके दूसरे कोने पर बैठकर भी तुम पानी नहीं पीसकते हो, तब ईश्वरीय शक्ति रखने वाले ये मन्त्र इनके पास कहाँसे आगये और तुम्हारे ब्रह्म-ज्ञानियोंको ये मन्त्र क्यों नहीं मालूम हुए। परमपिता परमेश्वरने ये मन्त्र बड़े-बड़े ब्रह्म-ज्ञानियोंसे क्यों छिपाये रक्खे और इन अधर्मियोंको क्यों बता दिये ?

इन बातोंको विचारे कौन ? विचार होता तो अकर्मण्य ही क्यों होते, और क्यों इस प्रकार भटकते फिरते। प्रकृतिकी रीतिके अनुसार सीधा पुरुषार्थ करते और सबके सरताज बने बैठे रहते।

इनको इस प्रकार विचार शून्य देखकर और यह बात जानकर कि ब्रह्म-ज्ञानियोंके जाने हुए देव भाषाके मन्त्रोंके स्थानमें मुसलमानोंके अरबी भाषाके मन्त्रों पर भी वैसा ही बल्कि उससे भी ज्यादा विश्वास हमारे हिन्दू भाइयोंका होगया है, ग्रामके कुछ चालाक लोगोंने अपनी गँवारू भाषामें भी मन्त्र घड़ने शुरू कर दिये और जब गांवके भोले लोगोंको उन गँवारू मन्त्रोंका विश्वास होगया तो शहरोंके बड़े-बड़े लोगों तकमें भी उनकी धाक बैठ गई। इन गँवारू भाषाके मन्त्रों द्वाराभी दुनियाँ के सब काम सिद्ध होने लग गये। बल्कि इन मन्त्रोंमें तो यहां तक बल आगया कि यदि किसीको कोई सांप काट ले तो मन्त्रवादी अपना गँवारू मन्त्र पढ़कर बांसका एक तिनका फेंक देगा और वह तिनका उस सांपको पकड़ लावेगा और वह साँप अपने मुँहसे उस मनुष्यके शरीर में से ज़हर चूस लेगा। सबही लोग गँवारू मन्त्रोंकी इस अद्भुत शक्ति पर विश्वास रखते हैं। परन्तु क्या किसीने ऐसा होते देखा है ? देखा नहीं तो ऐसोंसे सुना ज़रूर है जिन्होंने मन्त्र शक्तिका यह अद्भुत दृश्य अपनी आंखोंसे देखा है ? अच्छातो चलो ढूंढकर किसी ऐसे आदमी से मिलें, जिसने अपनी आंखों यह अद्भुत दृश्य देखा हो, परन्तु हिंदुस्तान भरमें फिर जाइये ऐसा कोई न मिलेगा जिसने यह अचम्भा अपनी आंखों देखा हो। हां ऐसे बहुत मिलेंगे जिन्होंने सुना है और सुननेसे ही जिनको इस पर पूर्ण विश्वास है। हिंदुस्तान में अनेक भाषा बोली जाती हैं—पञ्जाबी, हिंदुस्तानी, मारवाड़ी, पूर्वी, बँगला उड़िया, गुजराती, मराठी, मदरासी सबही प्रकारकी बोलियोंमें यह गँवारू मन्त्र बन गये हैं। हिन्दुस्तानके विचारहीन लोगोंका

ऐसा सहज विश्वास देखकर भंगी, चमार आदि महा पतित जातियोंके चालाक लोगोंने भी अपनी टूटी-फूटी भाषामें अनेक मन्त्र घड़ लिए और उन मन्त्रोंके द्वारा अपनी जातिके मूर्ख लोगोंके कारज सिद्ध करने शुरू करदिये ! जब इन मूर्ख लोगोंके द्वारा ऊँची जातिकी मूर्ख स्त्रियोंको भी भङ्गी चामारोंके मन्त्रोंका बल सुनाई दिया तो वे भी अपने बच्चोंकी बीमारी आदिमें इन लोगोंको बुलाने लग गई। "फुरे-मन्त्र बाचा गुरूका-बोल सांचा, फुरे नाफुरे तो लूना चमारीके कुण्डमें पड़े" इसही प्रकारके ऊट—पटांग कुछ गँवारू बोल कहकर कठिनसे-कठिन कार्योंकी सिद्ध होने लग गई। ये शक्तिशाली मन्त्र ऐसे महा नीच और अपवित्र पुरुषोंके पास कैसे ठहर सकते हैं, ऐसे तर्क उठने पर यह विश्वास दिलाया जाने लगा कि यह कलि-काल है जिसमें पवित्र मन्त्र तो ठहर ही नहीं सकते हैं, इस कारण अब तो अपवित्र मन्त्रही काम देंगे और उसही के पास रहेंगे जो अपवित्र रहेगा—पाक रहने वालेके पास तो ये मन्त्र ठहर ही नहीं सकते हैं। जब विचार-शक्तिसे काम ही न लेना हुआ तब इस बातका भी विश्वास क्यों न कर लिया जाय ?

विश्वास भी कैसे न हो ! जब कठिनसे कठिन बीमारी या अन्य कोई कष्ट अथवा कठिनसे कठिन कार्य दो चार पैसे नक़द या सेर आधसेर अनाज देनेसे इन बेचारे भङ्गी चमारोंके द्वारा सिद्ध होता हुआ नज़र आता है तो क्यों न करालिया जावे ? गृहस्थ लोग रात-दिन अनेक प्रकारकी चिन्ताओंमें फँसे रहते हैं, उनका काम तर्क-वितर्क करनेसे नहीं चल सकता है, गृहस्थीका संसार तो आंख मीचकर सबही को मानने और सबही से सहायता लेते रहनेसे ही चल सकता है ! अच्छा भाई यदि महा-मूढ़ और अविचारी बननेसे ही तुम्हारा संसार चलता है तो ऐसे ही चलाओ। परन्तु इतना कहे बिना हम भी नहीं रह सकते हैं कि अपने शक्ति-शाली मन्त्रों पर भरोसा रखने वाले तीस करोड़ हिन्दुस्तानी, पुरुषार्थ और बाहु-बल पर भरोसा रखने वाले ३० लाख मुसलमानोंसे परास्त होगये। राजपाट खोया, धर्म कर्म खोया और ग़ुलाम बने। साथही यह भी बतला देना चाहते हैं कि बच्चोंकी बीमारीमें योग्य डाक्टरोंसे औषधि कराने वाले अँग्रेज़ोंके हज़ार बच्चोंमें से चालीस मरते हैं और ब्रह्मज्ञानियोंके बीज मन्त्रों, मुसलमानोंके गंडे तावीज़ों, अनपढ़ गँवारोंके मन्त्रों और भङ्गी चमारोंकी झाड़-फूक का सहारा लेने वाले हिन्दुस्तानियोंके हज़ारमें से चारसौ बच्चे मर जाते हैं। अब आपही विचार करलें कि मूढ़-मति बनकर आप अपना संसार चला रहे हैं वा अमूढ़ दृष्टि हुए विचारसे काम लेकर।

संसारमें कोई भी अदृष्ट शक्ति किसीका बिगाड़ या सँवार नहीं करती है, यहां तक कि यह सारा संसार भी किसीके चलाये नहीं चल रहा है। न कोई इसका बिगाड़नेवाला है और न बनानेवाला है, जो भी कुछ होरहा है वह सब वस्तु स्वभावके अनुसार ही होरहा है। वस्तुएँ अनादि हैं और उनके स्वभाव भी अनादि हैं। आगका जो स्वभाव है वह अनादिसे है और अनन्त तक रहेगा। इसही प्रकार प्रत्येक वस्तुका स्वभाव अनादि अनन्त है। प्रत्येक वस्तु अपने-अपने स्वभावानुसार काम करती है और नियमानुसार अपने समीपकी वस्तु पर असर डालती है। इसहीसे अलटन-पलटन होता है और संसारका चक्र चलता है। संसारके सबही मनुष्य और सबही पशु-पक्षी बहुधा वस्तुओंके स्वभाव का अटल होना जानते हैं, तबही तो बेखटके खाते पीते हैं और अन्य प्रकार बर्तते हैं। वस्तु स्वभावके इस अटल सिद्धान्तपर ही जीवोंका सारा संसार-कार्य चल रहा है—खेती बाड़ी होती है, खाना पीना बनता है, दवादारू की जाती है, सब प्रकारकी कारीगरी बनती है, विषय-भोग होते हैं, खेल तमाशे किये जाते हैं, और भी सबही प्रकारके व्यवहार चलते हैं। यदि संसारकी वस्तुओंके स्वभावके अटल होनेका विश्वास न होता तो किसी वस्तुके छूनेका भी साहस न होता और न कोई किसी प्रकारका व्यवहार ही चल सकता था।

ऐसी दशामें कर्ता-हर्ता आदि अदृष्ट शक्तियोंकी कल्पना करना और फिर उनको मनुष्योंके समान खुशा-

मद करने, बड़ाई गाने वा भेंट पूजासे खुश होकर हमारी इच्छानुसार काम करनेवाला मानलेना मूढ़ता नहीं तो और क्या है ? मनुष्यकी श्रेष्ठता तो उसकी बुद्धिसे ही है, नहीं तो उसमें और पशुमें अन्तर-ही क्या है ? बुद्धिबलसे ही यह छोटासा मनुष्य बड़े-बड़े हाथियोंको पकड़ लाकर उनपर सवारी करता है, महा भयानक सिंहोंको पिंजरे में बन्द करता है, पहाड़ोंको तोड़ता है, गंगा जमुना जैसी विशाल नदियोंको बसमें करके नहरों द्वारा अपने खेतों तक बहा लेजाता है, आग पानीको बसमें करके उसकी भापसे हज़ारों कोस लम्बे चौड़े समुद्रकी छातीपर करोड़ों मन बोझके भारी-ज़्हाज़ चलाता है, इसही प्रकार धरतीपर रेल और आकाशमें विमान उड़ाता फिरता है, महा भयानक कड़कती हुई बिजलीको बसमें करके उसके द्वारा क्षण-भरमें लाखों कोस ख़बर पहुँचाता है, घर बैठा दूर-दूर देशोंके गाने सुनता है, अन्य भी अनेक प्रकारके चमत्कारी कार्य करता है । ये सब मनुष्यने किसी देवी-देवताको मानकर वा किसी मन्त्र वादीकी ख़ुशामद करके सिद्ध नहीं किये हैं, किन्तु अपने बुद्धिबलसे आग पानी आदि वस्तुओंके स्वभावको पहचानकर ही सम्पन्न किये हैं ।

यह सब पुरुषार्थका ही फल है । अकर्मण्यको गिड़गिड़ाने और किसी देवी-देवता वा ईश्वरके आगे हाथ पसारकर भीख मांगनेमें कुछ नहीं मिलता है । अतः जैन-धर्मकी सबसे पहली शिक्षा यही है कि आंखें खोलो, मनुष्य बनो, बुद्धिसे काम लो, वस्तुस्वभावको खोजो, उसहीके अनुसार चलो, स्वावलम्बी बनो, और पूरी हिम्मतके साथ पुरुषार्थ करने में लगो, न किसीसे कुछ मांगो, न डरो, सबके साथ मिलजुल कर रहो, यही तुम्हारा मनुष्यत्व है, यही तुम्हारा गृहस्थ जीवन है । इसही प्रकार आत्मिक उन्नतिके वास्ते भी आत्माके असली स्वभावको जानो, उसमें जो विकार आरहा है उसको पहचानो और वह जिस तरह भी दूर हो सकता हो उस ही कोशिश में लग जाओ । क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक कषायोंके वशमें हो जानेसे और इन्द्रियोंके विषयोंकी चाहके चक्करमें पड़ जानेसे ही जीवको दुःख होता है, जितनी-जितनी विषय कषाएँ भड़कती हैं उतना-उतनाही जीवको तड़पाती हैं और जितनी-जितनी मन्द होती हैं उतनी-उतनीही जीव को शान्ति मिलती है । अतः विषय-कषाय ही जीवात्मा के विकार हैं, जिनके दूर होनेसे ही इसको परम शान्ति मिल सकती है । इन विषय कषायों के कम करने तथा सर्वथा दूर कर देनेके साधनोंका नाम ही धर्म है ।

जितने भी धर्म इस समय संसारमें प्रचलित होरहे हैं वे सब धर्मके इस सिद्धान्तको मानने वाले ज़रूर हैं, परन्तु किसी एक ईश्वर वा अनेक देवी देवताओंकी खुद मुख्तारी क़ायम रखनेके कारण जिस प्रकार वे सांसारिक कार्योंकी सिद्धिके वास्ते उनकी ख़ुशामद करना, बड़ाई गाना और भेंट चढ़ाना आदि ज़रूरी समझते हैं । जिससे वह अदृश्य शक्ति प्रसन्न होकर उनका कार्य सिद्ध करदे उसी प्रकार आत्मशुद्धिके वास्ते भी यही तर्कीब बताते हैं । परन्तु जिस प्रकार ख़ुशामद करने और गिड़गिड़ाने से संसारका कोई कार्य सिद्ध नहीं होता, जो कुछ होता है वह वस्तु स्वभावानुसार पुरुषार्थ करनेसे ही होता है, उसी प्रकार आत्मिक उन्नति भी महज़ ख़ुशामदों और प्रार्थनाओंसे नहीं हो सकती है, किन्तु हिम्मतके साथ कषायोंके कम करनेसे ही होती है । यदि हम खेतमें अनाज पैदा करना चाहें तो नियमानुसार जोतना बोना आदि खेतके सबही पुरुषार्थ करने पड़ेंगे, घर बैठे किसी अदृष्ट शक्तिकी ख़ुशामद करते रहनेसे तो अनाज पैदा नहीं होजायगा । यही हाल आत्मोन्नति का है, उसमें भी जो कुछ होगा अपने ही पुरुषार्थसे होगा । हां, आत्मोन्नति का उत्साह हृदयमें लानेके वास्ते उन महान पुरुषोंकी बड़ाई ज़रूर गानी चाहिए, जिन्होंने महान् धैर्य और साहसके साथ अपनी विषय-कषायों पर विजय पाकर अपनी आत्माको शुद्ध किया है—सच्चिदानन्द पद प्राप्त कर लिया है—अथवा जो इस प्रकारकी महान् साधनाओंमें लगे हुए हैं । उनके महान कृत्योंको याद कर करके हमको भी ऐसी महा साधनाओंके करने का हौसला, उत्साह, तथा साहस

हो सकता है।

जैनधर्मके तीर्थंकर पुरुषार्थ पूर्वक महती साधनाओं के द्वारा परमात्म-पदको प्राप्त करके संसारके भोले लोगोंको पुकार-पुकार कर कहते हैं कि किसीके भरोसे मत रहो, न हम तुम्हारा कुछ कर सकते हैं न कोई दूसरे। तुम्हारा भला बुरा तो जो कुछ होगा वह सब तुम्हारे ही किये होगा, हौसला करो, हिम्मत बांधो और विषय कषायोंको कम करनेमें लग जाओ, न जल्दी करो न घबराओ, धैर्यके साथ पुरुषार्थ करते रहनेसे सब कुछ होजायगा, मगर होगा सब तुम्हारे ही कियेसे। इस कारण एक मात्र अपने पुरुषार्थ पर ही भरोसा रक्खो और डटे रहो—कारज अवश्य सिद्ध होगा, पुरुषार्थ ही लोक-परलोक तथा परमार्थ दोनोंकी सिद्धि का मूल-मन्त्र है, वस्तु स्वभावके अनुसार काम करनेसे कार्य अवश्य सिद्ध होता है, बुद्धिबलसे काम लेकर वस्तु स्वभावको जानना और तदनुसार काम करना ही पुरुषका कर्तव्य है; मूढ़ मति होनेसे सबही काम बिगड़ते हैं, पशुता आती है और पशुके समान खूंटेसे बँधनेकी और दूसरोंका गुलाम बननेकी नौबत आती है। यही जैन-धर्मकी स्वावलम्बी शिक्षा है।

—:०:—

सम्पादकीय नोट—

इस लेखमें लेखक महोदयने अनेकानेक अदृष्ट शक्तियों—देवीदेवताओंकी निराधार कल्पना, उनकी निष्फल आराधना, मन्त्रोंकी विडम्बना और उन सबसे होने वाली मनुष्यत्व तथा देशकी हानिका जो चित्र खींचा है, वह प्रायः बड़ा ही सुन्दर, हृदयद्रावक और शिक्षाप्रद है। इसमें सन्देह नहीं कि जब मनुष्य मिथ्यात्वके वशीभूत, भयसे पीड़ित, नाना प्रकारकी इच्छाओंसे आक्रान्त, विषय-कषायोंसे व्याप्त और विवेक-बलसे विहीन होता है, तब वह इसी तरह भटका करता है और इसी तरह उसका पतन हुआ करता है। विवेकके अभावमें वह पुरुषार्थको नहीं अपनाता, स्वावलम्बी बनना नहीं चाहता, इच्छाओंका दमन, विषय-कषायों पर विजय तथा भय पर काबू नहीं कर सकता, और इसलिये अकर्मण्य तथा परावलम्बी हुआ दर-दरकी ठोकरें खाता फिरता है, दुःख उठाता है और उसे कभी शान्ति नहीं मिलती। विवेकको खोकर ही भारतवासियोंकी यह सब दुरावस्था हुई है और वे पतित तथा पराधीन बने हैं! अथवा यों कहिये कि अविवेकके साम्राज्यमें ही धूर्त चालाकोंकी बन आई है और उन्होंने अनेक अस्तित्व-विहीन झूठे देवी-देवताओंकी सृष्टि, तरह-तरहके बनावटी मन्त्रों-यन्त्रोंकी योजना और उन सबमें तथा पुरातनसे चले आये देवी-देवताओं एवं समीचीन मन्त्रोंमें विचित्र-विचित्र शक्तियोंकी कल्पना करके उसके द्वारा अपने कुत्सित स्वार्थकी सिद्धिकी है और कषायोंकी पुष्टिकी है—इस तरह स्वयं पतित होते हुए देश तथा समाजको भी पतनके गड्ढे में ढकेला है! जनताके अविवेकका दुरुपयोग करने वाले ऐसे धूर्त तथा चालाक लोग प्रायः सभी समयों और सभी देशोंमें होते रहे हैं और उन्होंने मानव-समाजको खूब हानि पहुँचाई है। जब-जब जनतामें अविवेक बढ़ता है तब-तब ऐसे धूर्तोंका प्राबल्य होता है और जब अविवेक घटता जाता है तब ऐसे लोगोंकी सत्ता भी स्वतः उठती जाती है। अतः जनतामें विवेकके जाग्रत करनेकी ख़ास जरूरत है; जो उसे जाग्रत करते हैं वे ही मानव-समाजके सच्चे हितैषी और परम-उपकारी हैं।

लेखके मात्र इतने आशय अथवा अभिप्रायसे ही मैं सहमत हूं, शेषके साथ मेरी सहमति नहीं है।

—सम्पादक
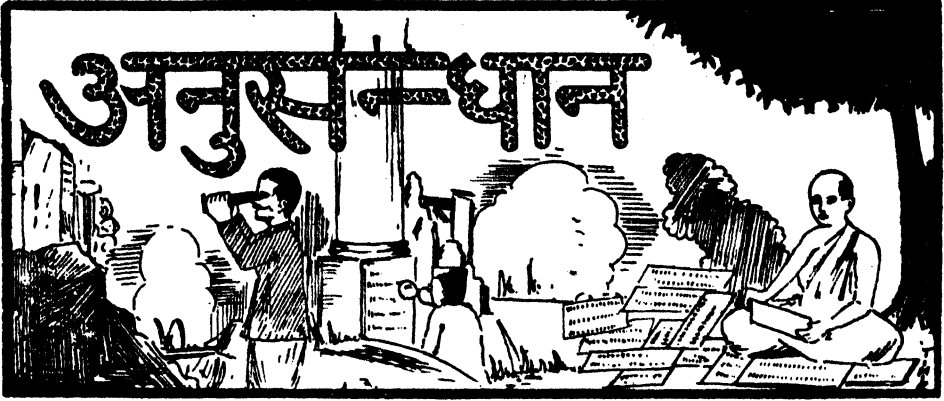
मूलाचार संग्रह ग्रन्थ है।

(ले०—श्री पं० परमानन्द जैन शास्त्री)

जैन-समाजमें 'मूलाचार' ग्रन्थ आचार्य कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंके समान ही आदरणीय है। इसमें आचारांग-कथित यतिधर्मका—मुनियोंके आचार-विचारका—अच्छा वर्णन है। साथ ही, अन्य भी कुछ आवश्यक विषयोंका समावेश किया गया है। ग्रंथकी गाथा-संख्या १२४३ है और वह निम्नलिखित बारह अधिकारोंमें विभाजित है—

१ मूलगुण, २ बृहत्प्रत्याख्यान संस्तर-संस्तव, ३ संक्षेपप्रत्याख्यान, ४ समाचार, ५ पंचाचार, ६ पिण्ड-शुद्धि, ७ षडावश्यक, ८ द्वादशानुप्रेक्षा, ९ अनगार-भावना, १० समयसार, ११ शीलगुण, १२ पर्याप्ति।

इस ग्रन्थ पर एक टीका तो बारहवीं शताब्दी के आचार्य वसुनन्दीकी बनाई हुई 'आचारवृत्ति' नामकी मिलती है, जो माणिकचन्द्र-ग्रन्थमालामें प्रकाशित भी हो चुकी है; और दूसरी 'मूलाचारप्रदीपिका' नामकी संस्कृत टीका सकलकीर्ति आचार्य-कृत भी उपलब्ध है जो पूर्वटीकासे कईसौ वर्ष बादकी बनी हुई है; परन्तु वह अभी तक मेरे देखनेमें नहीं आई। इनके सिवाय, दो हिन्दी भाषाकी टीकाएँ भी उपलब्ध हैं। इन सब टीकाओंके कारण जैनसमाजमें इस ग्रंथके पठन-पाठनका खूब प्रचार है। मूलाचारके रचयिता श्री वट्टकेर कहे जाते हैं; परन्तु वे कौन हैं, कब हुए हैं, किसके शिष्य थे और उनका क्या विशेष परिचय है? इत्यादि बातोंका हमें कुछ भी पता नहीं है। कुछ लोगोंकी दृष्टिमें आचार्य कुन्दकुन्द ही 'मूलाचार' के कर्ता हैं—ग्रंथकी कुछ प्रतियोंमें कुन्दकुन्दका नाम भी साथ में दर्ज है।

ग्रंथमें कुन्दकुन्दाचार्यके ग्रंथोंकी बहुतसी गाथाओंको देखकर पहले मेरा यह खयाल हो गया था कि इस मूलाचारके कर्ता कुन्दकुन्द ही होने चाहियें, और उसी को मैंने 'अनेकान्त' की तीसरी किरणमें प्रकाशित अपने एक लेख द्वारा प्रकट किया था। परन्तु अब मूलाचारका दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों आम्नायके ग्रन्थोंके साथ तुलनात्मक दृष्टिसे अध्ययन करने पर नतीजा कुछ दूसरा ही निकला। और उससे यह निश्चय हो गया कि इसके

कर्ता आचार्य कुन्दकुन्द नहीं हैं और न इसकी रचना एक ग्रन्थके रूपमें हुई है; किन्तु यह भिन्न भिन्न १२ प्रकरणोंका एक संग्रह ग्रंथ है, जिनमेंसे एकका दूसरे प्रकरणके साथ कोई घनिष्ट सम्बन्ध मालूम नहीं होता—अर्थात् एक प्रकरणके कथनका सिलसिला दूसरेके साथ ठीक नहीं बैठता। ग्रन्थके शुरूमें ग्रंथके नामादिको लिये हुए कोई प्रतिज्ञा-वाक्य भी नहीं और न ग्रन्थके प्रकरणों अथवा अधिकारोंका ही कोई निर्देश है—प्रत्येक प्रकरण अपने अपने मंगलाचरण तथा कथनकी प्रतिज्ञाको लिये हुए हैं। इससे यह ग्रन्थ जुदे जुदे बारह प्रकरणोंका एक संग्रह ग्रंथ जान पड़ता है। १२वाँ 'पर्याप्ति' नामका अधिकार तो आचारशास्त्रके साथ कोई खास सम्बन्ध भी नहीं रखता, और इस लिये वह इन प्रकरणोंकी निर्माण-विभिन्नता और संग्रहत्वको और भी अधिकताके साथ सूचित करता है। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि इन सब प्रकरणोंका निर्माण किसी एक विद्वान्के द्वारा हुआ है। हाँ, इतना हो सकता है कि किसी एक विद्वानके द्वारा इनका संग्रह तथा इनमें संशोधन-परिवर्धनादि होकर 'मूलाचार' नाम दिया गया हो। कुछ भी हो, ग्रंथमें प्रायः प्राचीन आचार्योंके वाक्योंका ही संकलन किया गया है और वह संकलन शिवार्य विरचित 'भगवती आराधना' के बादका जान पड़ता है; क्योंकि इस ग्रन्थकी सबसे अधिक गाथाओंको मूलाचारमें अपनाया गया है।

श्रीकुन्दकुन्दाचार्यके ग्रंथोंसे जिन गाथाओं तथा गाथा-वाक्योंका इस ग्रंथमें संग्रह किया गया है उसका कुछ दिग्दर्शन, मैं अपने पिछले लेखमें—'क्या कुन्दकुन्द ही मूलाचारके कर्ता हैं?' इस शीर्षकके नीचे—करा चुका हूँ। कुन्दकुन्दके ग्रंथोंसे भिन्न जिन दूसरे ग्रंथों अथवा दूसरे आचार्य वाक्योंका इसमें ज्योंका त्यों तथा कुछ पाठभेद या परिवर्तनादिके साथ संग्रह पाया जाता है उसका परिचय नीचे दिया जाता है। ऊपरकी सब परिस्थिति और नीचे दिये हुए परिचय परसे विद्वान् पाठकोंको यह भले प्रकार मालूम हो सकेगा कि मूलाचार कोई स्वतन्त्र ग्रंथ न होकर एक संग्रह ग्रंथ है। इसी विज्ञापनाके लिए इस लेखका सारा प्रयत्न है:—

इस ग्रंथके 'पर्याप्ति'नामक अन्तिम अधिकारमें गति-आगतिका कुछ वर्णन 'सारसमय' नामक ग्रंथसे लेकर रक्खा गया है; जैसा कि उसकी गाथा नं० ११८४ के निम्न पूर्वार्धसे प्रकट है—

"एवं तु सारसमए भणिदा दु गदीगदी मए किंचि।"

इस गाथाकी व्याख्या करते हुए श्रीवसुनन्दी आचार्यने लिखा है—

"एवं तु अनेन प्रकारेण 'सारसमये' व्याख्या-प्रज्ञप्त्यां सिद्धान्ते तस्माद्वा भणिते गत्यागती गतिश्च भणिता आगतिश्च भणिता मया किंचित् स्तोकरूपेण। सारसमयादुद्धृत्य गत्यागतिस्वरूपं स्तोकं मया प्रतिपादितमित्यर्थः।"

इसी संस्कृत टीकाका आश्रय लेकर भाषा-टीकाकार पं०जयचन्दजीने भी लिखा है कि—"इस प्रकार व्याख्या प्रज्ञप्ति नामके सिद्धान्त ग्रंथमेंसे लेकर मैंने कुछ गति-आगतिका स्वरूप कहा।"

आचार्य वसुनन्दीने 'सारसमय'का अर्थ जो व्याख्या-प्रज्ञप्ति नामका सिद्धान्त ग्रंथ किया है वह किस आधार पर किया है, यह कुछ मालूम नहीं होता। मूल ग्रंथके उस उल्लेख परसे तो ग्रंथका नाम 'सारसमय' ही जान पड़ता है, जो कोई प्राचीन ग्रंथ होना चाहिये।

श्वेताम्बर समाजमें 'भगवती सूत्र' को व्याख्याप्रज्ञप्ति नामका पाँचवाँ अंग माना जाता है। उसका अवलोकन करनेसे मालूम हुआ कि उसमें संक्षिप्तरूपसे गति-आगतिका

कुछ वर्णन जरूर है; परन्तु वह मूलाचारके वर्णनसे भिन्न जान पड़ता है। हो सकता है कि व्याख्याप्रज्ञप्ति नामका कोई दूसरा ही ग्रंथ दिगम्बर सम्प्रदायमें उस समय मौजूद हो और उस परसे उक्त कथनको ज्यों का त्यों देखकर ही 'सारसमय' का दूसरा नाम व्याख्याप्रज्ञप्ति लिख दिया हो अथवा सारसमयका दूसरा नाम ही व्याख्याप्रज्ञप्ति हो। कुछ भी हो, मूल ग्रंथके देखे बिना निश्चितरूपसे कुछ भी नहीं कहा जा सकता। ऐसे ग्रंथकी तलाश होनी चाहिये।

यहां पर मैं इतना और भी प्रकट कर देना चाहता हूँ कि मूलाचारका उक्त गति-आगति-विषयक कथन अमृतचन्द्र आचार्यके 'तत्त्वार्थसार' में अर्थतः ज्योंका त्यों पाया जाता है, सिर्फ मूलाचारकी ११६२ और ११८४ नं० की दो गाथाओंका कथन नहीं मिलता, जो प्रतिज्ञा-वाक्य और उपसंहारकी सूचक हैं और संग्रहकर्ता-के द्वारा स्वयं रची गई जान पड़ती हैं। तुलनाके लिये, नमूनेके तौर पर, मूलाचारकी दो गाथाएँ तत्त्वार्थसारके पद्यों सहित नीचे उद्धृत की जाती हैं—

तिरणहं खलु कायाणं तहेव विगलिंदियाण सव्वेसिं।
अविरुद्धं संकमणं माणुसतिरिएसु भवेसु॥

—मूलाचार, ११६४

त्रयाणां खलु कायानां विकलात्मनामसंज्ञिनाम्।
मानवानां तिरश्चां वाऽविरुद्धं संक्रमो मिथः॥

—तत्त्वार्थसार, २-१५४

सव्वे वि तेउकाया सव्वे तह वाउकाइया जीवा।
ण लहंति माणुसत्तं णियमा दु अणंतरभवेहिं॥

—मूलाचार, ११६५

सर्वेपि तैजसा जीवाः सर्वे चानिलकायिकाः।
मनुजेषु न जायन्ते ध्रुवं जन्मन्यन्तरे॥

—तत्त्वार्थसार, २-१५७

इस परसे यह अनुमान होता है कि या तो आचार्य अमृतचंद्रके सामने मूलाचारका उक्त प्रकरण था और या उक्त प्रकरणके रचयिताके सामने तत्त्वार्थसार मौजूद था—एकने दूसरेकी कृतिको अपने ग्रंथमें अनुवादित किया है। संभव है 'सारसमय' का अभिप्राय तत्त्वार्थसार-से ही हो, और यह भी संभव है कि 'सारसमय' नामका कोई दूसरा ही प्राचीन ग्रंथ हो और उसी परसे दोनों ग्रंथ-कारोंने उसे अपने अपने ग्रंथमें अपनाया हो। ये सब बातें विद्वानोंके लिये विचार किये जानेके योग्य हैं।

मूलाचारके षडावश्यक अधिकारमें, छहों आव-श्यकोंकी निर्युक्तियोंका वर्णन है। श्वेताम्बर सम्प्रदायमें कुछ ग्रन्थों पर जो निर्युक्तियाँ पाई जाती हैं वे यद्यपि भद्रबाहु स्वामीकी बनाई हुई कही जाती हैं और प्राचीन भी जान पड़ती हैं परन्तु उनका संकलन श्वेताम्बराचार्य देवर्द्धिगणिके समयमें हुआ है, जो वीर निर्वाण संवत् ९८० (वि० सं० ५१०) कहा जाता है। इन निर्युक्ति-ग्रंथोंमें आवश्यक निर्युक्ति नामका भी ग्रन्थ है। इसको देखने और मूलाचारके साथ तुलना करने पर मालूम हुआ कि कितनी ही गाथाएँ जो आवश्यक निर्युक्तिमें मिलती हैं वे मूलाचारके उक्त अधिकारमें भी ज्योंकी त्यों अथवा कुछ पाठभेद या थोड़से शब्द-परिवर्तनके साथ पाई जाती हैं। नमूनेके तौर पर मूलाचार और आवश्यक-निर्युक्तिकी ऐसी कुछ गाथाएँ इस प्रकार हैं:—

रागद्दोसकसाये इंदियाणि य पंच य।
परीसहे उवसग्गे णासयंतो णमोऽरिहा॥

—मूला०, ५०४

रागद्दोसकसाए इंदिआणि अ पंच वि।
परीसहे उवसग्गे नासयंतो नमोऽरिहा॥

—आव० नि०, ९१८

दीहकालमयं जंतू उसदो अट्ठकम्महि ।
सिदे धत्ते णिधत्ते य सिद्धत्तमुवगच्छइ ॥
—मूला०, ५०७

दीहकालरयं जंतू कम्मंसेसियमट्ठहा ।
सिअधंतंति सिद्धस्स सिद्धत्तमुवजायइ ॥
—आव० नि०, ६५३

बारसंगं जिणक्खादं सज्झायं कथितं बुधे ।
उवदेसइ सज्झायं तेणुवझाओ उच्चदि ॥
मूला०, ५११

बारसंगो जिणक्खाओ सज्झाओ कहिओ बुहेहिं ।
तं उवइसंति जम्हा उवझाया तेण वुच्चंति ॥
—आव० नि० ६६७

णिव्वाणसाधए जोगे सदा जुंजंति साधवो ।
समा सव्वेसु भूदेसु तम्हा ते सव्वसाधवो ॥
—मूला०, ५१२

निव्वाणसाहए जोए जम्हा साहंति साहुणो ।
समा य सव्वभूएसु तम्हा ते भावसाहुणो ॥
—आव०नि०, १००२

सामाइयणिज्जुत्ती वोच्छामि जधाकमं समासेण ।
आयरियपरंपरए जहागदं आणुपुव्वीए ॥
—मूला०, ५१७

सामाइयनिज्जुत्तिं वुच्छं उवएसियं गुरुजणेणं ।
आयरियपरंपराएण आगयं आणुपुव्वीए ॥
—आव० नि०, ८७

इसी प्रकार मूलाचारकी १२५, ५१४, ५२५, ५२६, ५३०, ५३१ नंबरकी गाथाएँ आवश्यक निर्युक्तिमें क्रमशः नं०६६६, ६२६, ७६७, ७६८, ७६६, ८०१ पर कुछ पाठभेद या थोड़ेसे शब्द-परिवर्तनके साथ उपलब्ध होती हैं। परन्तु मूलाचारकी ५२६ नं० की गाथाका उत्तरार्ध आवश्यक-निर्युक्तिकी ७६८ नंबरकी गाथाके उत्तरार्धसे नहीं मिलता; क्योंकि वह श्रीकुन्दकुन्दके नियमसारकी १२८ नंबरकी गाथाका पूर्वार्ध है और वहीं-से उठाकर रक्खा गया जान पड़ता है। मूलाचारकी ५२५, ५२६ नं०वाली दोनों गाथाएँ नियमसारमें क्रमशः नं० १२७ व १२६ पर पाई जाती हैं; परन्तु ५२६वीं गाथाका उत्तरार्ध नहीं मिलता, वह नियमसारकी १२८वीं गाथाका पूर्वार्ध है और वहीं से उठाकर रक्खा गया जान पड़ता है।

इनके सिवाय, आवश्यक-निर्युक्ति और मूलाचारके षडावश्यक-अधिकारकी और भी बहुतसी गाथाएँ परस्पर मिलती जुलती हैं, जिनके नम्बरोंकी सूचना पं० सुखलाल-जीने अपनी 'सामायिक-प्रतिक्रमणनुं रहस्य' नामक पुस्तकमें की है। निर्युक्ति-सहित 'आवश्यक' ग्रन्थका उत्तरार्ध वीरसेवामन्दिरमें न होनेके कारण मुझे उनकी जाँचका अवसर नहीं मिल सका। अतः पाठकोंकी जानकारी आदिके लिये वे गाथा-नम्बर क्रमशः उक्त पुस्तक परसे नीचे दिये जाते हैं:—

मूलाचारकी गाथाएँ—नं० ५०५, ५२४, ५३८, ५१०, ५६०, ५६१, ५६३, ५६४, ५६५, ५६६, ५६७, ५६८, ५६६, ५७६, ५७७, ५७८, ५६२, ५६३, ५६४, ५६५, ५६६, ५६७, ५३६, ५४०, ५४१, ५४४, ५४६, ५४६, ५५०, ५५१, ५५२, ५५३, ५५५, ५५६, ५५७, ५५८, ५५६, ५६६, ६००, ६०१, ६०३, ६०४, ६०५, ६०६, ६०७, ६०८, ६१०, ६१२, ६१३, ६१४, ६१५, ६१७, ६२१, ६२६, ६३२, ६३३, ६४०, ६४१, ६४२, ६४३, ६४५, ६४८, ६५६, ६६८, ६६६, ६७१, ६७४, ६७५, ६७६, ६७७।

आवश्यकनिर्युक्तिकी गाथाएँ—नं० ६२१, (१४६ भाष्य), (१६० भाष्य), ६५४, १०६६, १०७६, १०७७, १०६६, १०६३, १०६४, १०६५, १०६६, १०६७,

११०२, ११०३, १२१७, ११०५, ११०७ ११९१, ११०६, ११९३, ११९८, (लोगस्स १, ७), १०५८, १०५७, १९५, १९७, १९९, २०१, २०२, १०५९, १०६०,१०६२,१०६१,१०६३,१०६४,१०६५,१०६६, १२००, १२०१, १२०२, १२०७, १२०८, १२०९, १२१०, १२११, १२१२, १२२५, १२३३, १२४७, १२३१, १२३२, १२५०,१२४३, १२४४,(२६३ भाष्य), १५१५, (२४८ भाष्य), (२४९ भाष्य), २५०, २५१, १५८९, १४४७, १३५८, १५४६, १५४७, १५४१, १४७९, १४९८, १४९०, १४९२ ।

इसी तरह मूलाचारके पिण्डशुद्धि अधिकारमें उद्गम-उत्पादनादि दोषोंके नाम प्रकट करने वाली तथा अन्य भी कुछ गाथाएँ ऐसी पाई जाती हैं जो 'पिण्ड-निर्युक्ति' में कुछ पाठभेद अथवा थोड़े शब्द परिवर्तनके साथ उपलब्ध होती हैं । यथाः—

धादीदूदणिमित्ते आजीवे वणिवगे य तेगिंच्छे ।
कोधी माणी मायी लोभी य हवंति दस एदे ॥
पुव्वी पच्छा संथुदि विज्जामंते य चुण्णजोगे य ।
उप्पादणा य दोसो सोलसमो मूलकम्मेय ॥

—मूला० ४४५, ४४६

धाईदूयणिमित्ते आजीववणीमगे तिगिच्छा य ।
कोहे माणे माया लोभे य हवंति दस एए ॥
पुव्विं पच्छा संथव विज्जामंते य चुन्न जोगे य ।
उप्पायणाइदोसा सोलसमे मूलकम्मे य ॥

—पिं० निं० ४०८, ४०९

आदंके उवसग्गे तिरक्खणे बंभचेरगुत्तीओ ।
पाणिदया तवहेऊ सरीरपरिहारवोच्छेदो ॥
उग्गमउप्पादणएसणं च संजोयणं पमाणं च ।
इंगालधूमकारण अट्ठविहा पिण्डसुद्धी दु ॥

—मूला० ४८०, ४२१

आयंके उवसग्गे ति रिक्खया बंभचेरगुत्तीसु ।
पाणिदया तवहेउं सरीरवोच्छेएण छट्ठाए ॥
पिंडे उग्गमउप्पायणेसणा जोयणा पमाणं च ।
इंगालधूमकारण अट्ठविहा पिण्डणिज्जुत्ती ॥

—पिं० नि० ६६६, १

मूलाचारकी गाथाएँ नं०४२२, ४२३, ४८७, ३५०, ४७९,४९२, पिण्डनिर्युक्तिकी क्रमशः गाथाओं नं० ९२, ९३, १०७, ६९२, ६६२, ५३०, के साथ मिलती-जुलती हैं—थोड़ेसे साधारण परिवर्तन अथवा पाठभेदको लिये हुए हैं ।

मूलाचारकी निम्नलिखित गाथाएँ वे हैं जो भगवती आराधनामें ज्योंकी त्यों उसी रूपमें उपलब्ध होती हैं:—

५६, ११९, १६३, १६४, २३७, २३९, २४५, २४६, २६९, २७७, २९५, २९६, २९९, ३००, ३०२, ३०७, ३०८, ३१४, ३१५, ३२६, ३२७, ३२८, ३२९, ३३२, ३३३, ३३४, ३३६, ३३७, ३३८, ३४०, ३४१, ३४२, ३४३, ३४६, ३५३, ३५३, ३५८, ३६५, ३६९, ३७२, ३७३, ३७४, ३७५, ३७६, ३७७, ३७८, ३७९, ३८०, ३८५, ३८६, ३८७, ३८८, ३९१, ३९२, ३९६, ४००, ४०१, ६९२, ७०२, ९००, ९०७, ९०८, ९४०, ९६९, १०३० ।

भगवती आराधनामें इन गाथाओंके नं० क्रमशः इस प्रकार है :—

५४७, १६६९, ४११, ४१२, १८२५, १८३५, १८४७, १८४८, २६०, ३४, ११८५, ११८६, ११७, ११८, ११९१, ११९२, ११९३, ११९४, ११९५, १२००, १२०१, १२०२, १२०३, ११४८, ११८८, ११८९, १२०५, १२०६, १२०७, १२१०, १२११, ७७०, १२१३, २०८, २१३, २१४, २३६, ११४, ११५, ११८, ११९, १२०, १२१, १२२, १२३, १२४, १२५,

१२६, १२८,१२६, १३०, १३१, ३०५, ३०६, १७०३, १७१२, १७१३, १७१५, १६७०, ७७०, २८६, ८०, ७०, १०४, ५६२।

भगवती आराधनाकी कितनीही गाथाएँ ऐसी भी हैं जो थोड़ेसे पाठभेद अथवा कुछ शब्द परिवर्तनके साथ मूलाचारमें उठाकर रक्खी गई जान पड़ती हैं। उनमेंसे नमूनेके तौर पर तीन गाथाएँ नीचे दी जाती हैं:—

आचेलक्कुद्देसियसेज्जाहररायपिंडकिरियम्मे।
जेट्टपडिक्कमणे वि य मासं पज्जोसवणकप्पो॥

—भग० आ० ४२१

अच्चेलक्कुद्देसियसेज्जाहररायपिण्डकिरियम्मं।
वदजेट्टपडिक्कमणे मासे पज्जोसवणकप्पो॥

—मूला० ६०६

एयग्गेण मणं रुंभिऊण धम्मं चउव्विहं झादि।
आणापाय विवागं विचयं संठाणविचयं च॥

—भग० आ०, १७०८

एग्गेण मणं रुंभिऊण धम्मं चउव्विहं झाहि।
आणापायविवायं विचओ संठाणविचयं च॥

—मूला०, ३६८

अह तिरियउड्ढलोए विचणादि सपज्जए ससंठाणे।
एत्थे य अणुगदाओ अणुपेहाओ वि विचणादि॥

—भग० आ०, १७१४

उड्ढमह तिरियलोए विचणादि सपज्जए ससंठाणे।
एत्थेव अणुगदाओ अणुपेक्खाओ य विचणादि॥

—मूला०, ४०२

इसी प्रकार मूलाचारकी ११८, १६०, ३१६, ३१८, ३२५, ३३०, ३५२, ३७०, ३७१, ३८४, ३६४, ३६५, ३६७, ३६६, ६१८, ६७०, नं० की गाथाएँ भी भगवती आराधनामें क्रमशः ६८२, ४१०, ११६६, ११६७, ११६६, १२०४, २१५, ११६, ११७, १२७, ११८४, १७०२, १७०४, १७११, ५६१, १०७ नंबरों पर छोटे मोटे परिवर्तनोंके साथ पाई जाती हैं।

इस सब तुलना और ग्रंथके प्रकरणों अथवा अधिकारोंकी उक्त स्थिति परसे मुझे तो यही मालूम होता है कि मूलाचार एक संग्रह ग्रंथ है और उसका यह संग्रहत्व अथवा संकलन अधिक प्राचीन नहीं है; क्योंकि टीकाकार वसुनन्दीसे पूर्वके प्राचीन साहित्यमें उसका कोई उल्लेख अभी तक देखने तथा सुननेमें नहीं आया। हो सकता है कि वसुनन्दीसे कुछ समय पहलेके वट्टकेर नामक किसी अप्रसिद्ध मुनि या आचार्यने ग्रंथके प्रकरणोंकी अलग अलग रचना की हो और उनके अकायक देहावसानके कारण वे प्रकरण प्रकाशमें न आसके हों—कुछ अर्से तक यों ही पड़े रहे हों। बादको वसुनन्दी आचार्यने उनका पता पाकर उन्हें एकत्र संकलित करके 'मूलाचार' नाम दे दिया हो और अपनी टीका लिखकर उनका प्रचार किया हो। कुछ भी हो, इस विषयमें विशेष अनुसंधानकी ज़रूरत है। विद्वानोंको इसकी असलियत खोज निकालने और ग्रंथकार तथा ग्रंथके रचना-समय पर यथेष्ट प्रकाश डालनेके लिये पूरा प्रयत्न करना चाहिये। इसके लिये मेरा विद्वानोंसे सानुरोध निवेदन है।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा, ता०८-१-१६३८

'अनेकान्त' पर लोकमत

(२१) मुनि श्री विद्याविजयजीः—

" 'अनेकान्त' का पुनः प्रकाशन भी उतनी ही योग्यता और उपयोगिताके साथ निकलता है जैसे कि पहले निकलता था। सारी जैन समाजमें यह एक ही मासिक पत्रिका है जो विद्वद् योग्य खुराक देती है। प्रत्येक लेख ख़ासी खोजपूर्वक और विद्वता पूर्ण निकलता है।"

(२२) मुनि श्री न्यायविजयजी देहली

" 'अनेकान्त' अपने भूतपूर्व गौरवके साथ निकलता है। अपना गौरव और प्रतिष्ठा रख सकनेमें समर्थ हो यही हमारी शुभेच्छा है।"

(२३) श्री ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजीः—

"इस परमोपयोगी सैद्धान्तिक पत्रका पुनः प्रकाशन अभिनन्दनीय है। दोनों ही अंक पढ़ने योग्य लेखोंसे भूषित हैं। लेखकोंने सर्व ही लेख बड़े परिश्रमसे लिखे हैं। यह पत्र जिनधर्मकी प्रभावनाका व जिनशासनकी महिमा जगतमें प्रगट करनेका साधन है। जिस ढंगसे ये अंक प्रगट हुए हैं उसी तरह यदि आगेके अंक प्रगट हों व उनमें पक्षपातकी व असभ्य भाषाकी दुर्गन्ध न हो तो यह पत्र गुलाबके पुष्पके समान सर्वको आदरणीय होगा। प्रकाशक लालाजीको कोटिशः धन्यवाद है जो इसके खर्चके घाटेका भार स्वीकार करते हैं।

मूल्य २॥) वार्षिक है। हर एक स्वाध्याय प्रेमीको अवश्य ग्राहक होजाना चाहिये, जिससे प्रकाशकको घाटा न सहना पड़े।"

(२४) श्री साहु श्रेयांसप्रसादजी, नजीबाबादः—

" 'अनेकान्त'का अंक प्राप्त हुआ। पाठ्यसामग्री और संकलन बहुत सुन्दर है। आपके संचालनमें 'अनेकान्त' का इतना उपयोगी और विद्वता पूर्ण प्रकाशन होना निश्चय ही था। निःसन्देह यह पत्र समाजके लिए आदर और मननकी वस्तु बनेगा"।

(२५) श्री० रतनलालजी संघवी, न्यायतीर्थ-विशारद अध्यापक जैन फिलासोफी जैन गुरुकुल,छोटी सादड़ी—

"लेख सामग्री और गेट-अप आदि आन्तरिक और बाह्य दोनों दृष्टिसे 'अनेकान्त' वर्तमानमें जैन-समाजका सर्वश्रेष्ठ और सुन्दर पत्र है। गवेषणापूर्ण गंभीर संपादकीय लेख पत्रकी आत्मा हैं। आशा है कि आपके तत्वावधानमें पत्र निरन्तर उन्नति करता हुआ जैनसाहित्य और जैन इतिहासकी चिरस्थायी महत्वपूर्ण सेवा करता रहेगा।"

(२६) श्री० प्रो० हीरालालजी एम.ए., एल.एल.बी. अमरावती :—

" 'अनेकान्त'के नवीन दो अंक देखकर अत्यन्त आनन्द हुआ। जैन पत्र पत्रिकाओंमें जिस कमीको प्रत्येक साहित्यिक अनुभव कर रहा था, उसकी सोलहों आना पूर्ति इस पत्रके द्वारा होगी ऐसी आशा है। यह और भी बड़ी प्रसन्नताकी बात है कि बाबू सूरजभानुजी वकील जैसे कुशल, अनुभवी महारथियोंको आपने पुनः साहित्य-सेवामें खींचा है। मैं इस पत्रिकाको चिरंजीवी देखनेका अभिलाषी हूँ।"

(२७) श्री. पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य, सागरः—

"'अनेकान्त' का नववर्षाङ्क प्राप्त हुआ। ललचाई हुई आंखोंसे उसे पढ़ा-खूब पढ़ा। सभी लेख सारभूत हैं। प्रसन्नताकी बात है कि अंकका कलेवर व्यर्थ के बकवादसे वर्जित है। आपने सम्पादकका भार लेकर जैन समाज पर जो अनुग्रह किया है उसकी मैं स्तुति करता हूं। और यह भी लिखता हूँ कि आप समाजके पंडितोंको जो बहुत कुछ लिख सकते हैं, पर उपेक्षामें निमग्न हैं, कुछ लिखवानेका प्रयत्न करेंगे।"

(२८) श्री. पं० बंशीधरजी व्याकरणाचार्य, बीनाः—

"मेरी उत्कट अभिलाषा है कि मैं 'अनेकान्त' का इसी रूपमें सतत् दर्शन करता जाऊं और इस महत्वपूर्ण पत्रकी कितनी ही सेवा करके अपने को धन्य समझूं।"

"अनेकान्त" अपने नामके अनुरूप जैनसिद्धान्तका प्रकाशक हो और यदि मैं आगे न बढूं तो भी इसके जरिये अनेकान्तवादी जैनियोंका व्यावहारिक जीवन न केवल समुन्नत हो बल्कि आदर्शताका नमूना हो। इस के विषयमें यह मेरी आन्तरिक भावना है। इसका भविष्य सुन्दर है ऐसा मेरा दृढ विश्वास है।"

(२९) श्री पं० गोविन्दराय जैन शास्त्री, न्यायतीर्थ कोडरमा :—

"आठ वर्षकी लम्बी प्रतीक्षाके बाद 'अनेकान्त' सूर्यके दर्शन पाकर हृत्पद्म विकसित हुआ। वर्षकी प्रथम किरण ही जिस प्रकारकी ऐतिहासिक और समाजोन्नतिकी साधन सामग्रीको लेकर उदित हुई है वह अवश्य ही इसके उज्वल भविष्यकी सूचक है। हमारा दृढ विश्वास है कि 'अनेकान्त'की विविध रश्मियां अवश्य ही मिथ्याभिषिक्त आत्माओंके हृत्पटलांकित मिथ्यातमको पूर्ववत् अपसारित करनेमें समर्थ होंगी। हम 'अनेकान्त' का हृदयसे अभिनन्दन करते हैं और भावना भाते हैं कि 'अनेकान्त' अपनी अनेकान्तमयनीतिसे अनेकान्तका प्रबल प्रचार करनेमें हमारा सहायक होगा"।

(३०) श्री.कल्याणकुमारजी जैन 'शशि' रामपुरस्टेटः—

"हमारी समाजमें यही एक ऐसा पत्र है जिसे हिम्मतके साथ जैनेतरोंके हाथमें दिया जा सकता है। पत्रमें समस्त सामग्री नामकी अपेक्षा कामके दृष्टिकोणसे दी गई है। संकलन अभूतपूर्व और छपाई, सफाई, ढंग इत्यादि सब गेट-अप उत्तम है अनेकान्त प्रत्येक दृष्टिसे सर्वाङ्ग सुन्दर है।"

(३१) प्रोफेसर आर. डी. लड्डू, एम. ए., परशुराम भाउ कालिज पूना:—

"By this elegant literary magazine you have really done great service to Jainisma. It fills a longfelt lacuna in field of Indology, and I trust that it will redound to the study of Jain culture. My heartfelt congratulations to you on the pious and genuine zeal you have shown in rejuvenating a worthy journal though after a long interval"

Regd. No. L. 4328

अनुकरणीय

जिन दातारोंकी ओरसे १०१ संस्थाओंको 'अनेकान्त' भेटस्वरूप भिजवाया जा रहा है, उन दातारों और संस्थाओंकी सूची तीसरी और चौथी किरणमें सधन्यवाद प्रकाशित हो चुकी है। इस माहमें ला० वंशीधर मीरीमल जैन देहलीने विवाहोपलक्षमें और श्रीमती सुनहरीदेवी शाहदराने अपने पति स्वर्गीय लाला श्योसिंहरायजीकी स्मृतिमें अन्य संस्थाओंको भेजते हुए'अनेकान्त'के लिये भी ६-६ रु० दान-स्वरूप भिजवानेकी कृपा की है। किन्तु हम अपने नियमानुसार अनेकान्तके लिये दान नहीं लेते। अतः उन रुपयोंसे ६ स्थानोंमें अनेकान्त प्रथम किरणसे भिजवाना प्रारम्भ कर दिया है। उक्त दातारोंके अलावा बा० आनन्दकुमारजी न्यू देहली और बा० महावीरप्रसादजी बी.ए. सरधनाने एक-एक संस्था को भिजवानेके लिये २-२ रु० और बा० सुखपालचन्दजी जैन न्यू देहलीने २॥) रु० भिजवाए हैं। अतः उक्त दातारोंकी ओरसे निम्न संस्थाओंको अनेकान्त प्रथम किरणसे भेट-स्वरूप एक वर्षके लिये जारी कर दिया गया है। आशा है अन्य सज्जन भी अनुकरण करके अनेकान्तके प्रचारमें सहायक होंगे।

—व्यवस्थापक

श्रीमती सुनहरीदेवी धर्मपत्नी स्व० ला० श्योसिंहराय जैन रईस शाहदरा (देहली) की ओरसे—

१०२ मंत्री, मारवाड़ी लायब्रेरी, शाहदरा (देहली)
१०३ एस.एल. डी. कालेज एलिसब्रिज अहमदाबाद
१०४ बनारसीदास कालेज लायब्रेरी, अम्बाला कैंट

बा० महावीरप्रसाद जैन, बी.ए. सरधना (मेरठ) की ओर से—

१०५ सैण्ट चार्लस हाईस्कूल सरधना (मेरठ)

ला० वंशीधर मीरीमलजी जैन, देहलीकी ओर से—

१०६ गवर्नमेण्ट कालेज, लायलपुर
१०७ भूपेन्द्र कालेज, पटियाला स्टेट।
१०८ दि० जैन मन्दिर, शिकारपुर (बुलन्दशहर)

ला०आनन्दकुमार जैन,न्यू देहलीकी ओरसे—

१०९ बद्रीप्रसाद पब्लिक लायब्रेरी, मुजीमण्डी-फिरोजपुर कैण्ट।

बा०सुखमालचन्दजी जैन,न्यूदेहलीकी ओरसे—

११० जैन स्कूल बाजार हरसरनदास, सहारनपुर

नेमचन्द जैन ऑडीटरके प्रबन्धसे 'वीर प्रेस' ऑफ इन्डिया कनॉट सर्कस न्यू देहलीमें छपा।

वन्दे वीरम्

[ले० श्री० 'भगवत्' जैन]

[१]

पुण्य-दिवस है आज, वीर-प्रभुने अवतार लिया था !
दुखी-विश्वके साथ एक गुरुतर-उपकार किया था !!
कठिन-कार्य नेतृत्व-लोकहितको-स्वीकार किया था !
मंत्र-अहिंसाका जगतीको करुणाधार दिया था !!

[२]

है जिनके नेतृत्व-कालकी अबतक हम पर छाया !
'हम उनके' यह कहने भरका गौरव हमने पाया !!
यदि हम उनके पथ पर चलते तो मिट जाती माया !
रहता नहीं कभी भी यह मन सुखके हित ललचाया !!

[३]

वह विभूति ! जिनका दर्शन है सबको मंगल-कारी !
जिनकी शान्ति-मुखाकृतिसे तर जाते पापाचारी !!
नाम-मात्र जिनका अन्वर्थ कहलाता संकट-हारी !
अभय-लोकका वासी बनता वीर-नाम-व्यापारी !!

[४]

वंदनीय वह अखिल विश्वके, माया-मोह-विजेता !
सर्व शक्ति-शाली परमेश्वर ! जगके अनुपम-नेता !!
सीमा-हीन-ज्ञानके बलपर-हैं अणु-अणुके वेत्ता !
गाते जिनकी सतत महत्ता मुनि-सुर-गण-अधिनेता !!

[५]

हृदय ! उन्हींके चिन्तनमें अब भक्ति-युक्त होकर रम !
बदल वासना-पूर्ण विश्वका यह मिथ्या कार्य-क्रम !!
तभी, वेदना-वन्हि स्वतः ही, हो जावेगी उपशम !
अतः प्रेमसे कहो निरन्तर सुख-कर वन्दे वीरम् !!

卐 卐 卐

❀ विषय-सूची ❀

श्री जैन नया मन्दिर देहली

इस मन्दिरकी निर्माण कला देखते ही बनती है। समवशरणमें संगमरमरकी वेदीमें पच्चीकारीका काम बिल्कुल अनूठा और अभूतपूर्व है। कई अंशोंमें ताजमहलसे भी अधिक बारीक और अनुपम काम इस वेदीमें हुआ (पृ० ३३४)

(ला० पन्नालाल जैन अग्रवालके सौजन्यसे प्राप्त)

ॐ अर्हम्
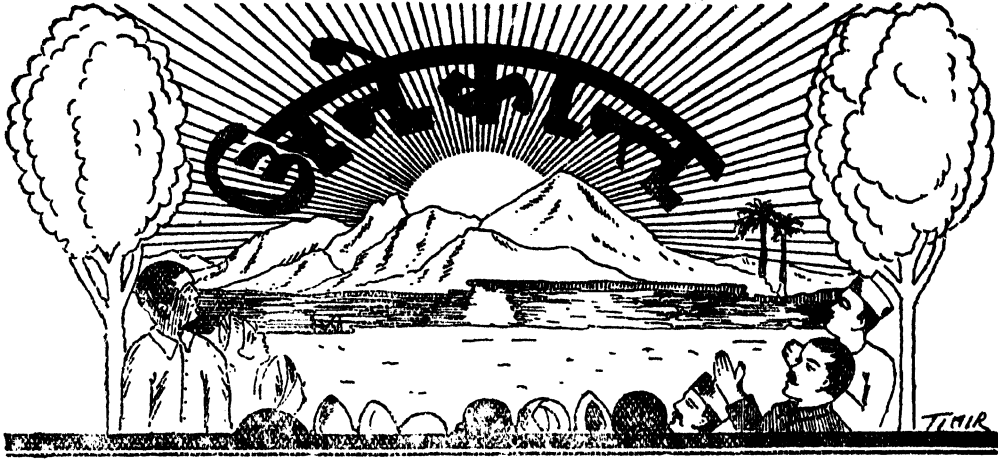
नीति-विरोध-ध्वंसी लोक-व्यवहार-वर्त्तकः सम्यक् ।
परमागमस्य बीजं भुवनैकगुरुर्जयत्यनेकान्तः ॥

वर्ष २

सम्पादन-स्थान—वीर-सेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम) सरसावा, जि० सहारनपुर
प्रकाशन-स्थान—कनॉट सर्कस, पो० ब० नं० ४८, न्यू देहली
चैत्र शुक्ल, वीरनिर्वाण सं० २४६५, विक्रम सं० १९९६

किरण ६

समन्तभद्र-प्रवचन

नित्याद्येकान्तगर्तप्रपतनविवशान्प्राणिनोऽनर्थसार्था-
दुद्धर्तुं नेतुमुच्चैः पदममलमलं मंगलानामलंघ्यम् ।
स्याद्वाद-न्यायवर्त्म प्रथयदवितथार्थं वचः स्वामिनोदः
प्रेक्षावत्त्वात्प्रवृत्तं जयतु विघटिताऽशेषमिथ्याप्रवादम् ॥

—अष्टसहस्र्यां, विद्यानंदाचार्यः

स्वामी समन्तभद्रका वह निर्दोष प्रवचन जयवन्त हो—अपने प्रभावसे लोकहृदयोंको प्रभावित करे—जो नित्यादि एकान्तगर्तोंमें—वस्तु कूटस्थवत् सर्वथा नित्य ही है अथवा क्षण-क्षणमें निरन्वय विनाशरूप सर्वथा क्षणिक ही है, इस प्रकारकी मान्यतारूपी एकान्तखड्डोंमें—पड़नेके लिये विवश हुए प्राणियोंको अनर्थ-समूहसे निकालकर मंगलमय उच्चपदको प्राप्त करानेके लिये समर्थ है, स्याद्वाद न्यायके मार्गको प्रख्यात करने वाला है, सत्यार्थ है, अलंघ्य

है, परीक्षापूर्वक प्रवृत्त हुआ है अथवा प्रेक्षावान्-समीक्ष्यकारी—आचार्यमहोदयके द्वारा जिसकी प्रवृत्ति हुई है और जिसने संपूर्ण मिथ्याप्रवादको विघटित—तितर-बितर—कर दिया है।

विस्तीर्णदुर्नयमयप्रबलान्धकार-दुर्बोधतत्त्वमिह वस्तु हितावबद्धम् ।
व्यक्तीकृतं भवतु नस्सुचिरं समन्तात्सामन्तभद्र-वचनस्फुटरत्नदीपैः ॥

—न्यायविनिश्चयालंकारे, वादिराजसूरिः

फैले हुए दुर्नयरूपी प्रबल अन्धकारके कारणसे जिसका तत्त्व लोकमें दुर्बोध हो रहा है—ठीक समझ नहीं पड़ता—वह हितकारी वस्तु—प्रयोजनभूत जीवादि-पदार्थमाला—श्रीसमन्तभद्रके वचनरूपी देदीप्यमान रत्नदीपकोंके द्वारा हमें सब ओरसे चिरकाल तक स्पष्ट प्रतिभासित होवे—अर्थात् स्वामी समन्तभद्रका प्रवचन उस महा-जाज्वल्यमान रत्नसमूहके समान है जिसका प्रकाश अप्रतिहत होता है और जो संसारमें फैले हुए निरपेक्षनयरूपी महामिथ्यान्धकारको दूर करके वस्तुतत्त्वको स्पष्ट करनेमें समर्थ है, उसे प्राप्त करके हम अपना अज्ञान दूर करें।

स्यात्कारमुद्रितसमस्तपदार्थपूर्णं त्रैलोक्यहर्म्यमखिलं स खलु व्यनक्ति ।
दुर्वादकोक्तितमसा पिहितान्तरालं सामन्तभद्र-वचनस्फुटरत्नदीपः ॥

—श्रवणबेल्गोलशिलाले० नं० १०५

श्रीसमन्तभद्रका प्रवचनरूपी देदीप्यमान रत्नदीप उस त्रैलोक्यरूपी महलको निश्चितरूपसे प्रकाशित करता है जो स्यात्कारमुद्राको लिये हुए समस्त पदार्थोंसे पूर्ण है और जिसके अन्तराल दुर्वादियोंकी उक्तिरूपीअन्धकारसे आच्छादित हैं।

जीवसिद्धिविधायीह कृतयुक्त्यनुशासनम् ।
वचः समन्तभद्रस्य वीरस्येव विजृम्भते ॥

—हरिवंशपुराणे, जिनसेनाचार्यः

जीवसिद्धिका विधायक और युक्तियों द्वारा अथवा युक्तियोंका अनुशासन करने वाला—अर्थात् 'जीवसिद्धि' और 'युक्त्यनुशासन' जैसे ग्रन्थोंके प्रणयनरूप—समन्तभद्रका प्रवचन श्रीवीरके प्रवचनकी तरह प्रकाशमान है—अन्तिम तीर्थंकर श्रीमहावीर भगवान्के वचनोंके समकक्ष है और प्रभावादिकमें भी उन्हींके तुल्य है।

श्रीमत्समन्तभद्रस्य देवस्यापि वचोऽनघम् ।
प्राणिनां दुर्लभं यद्वन्मानुषत्वं तथा पुनः ॥

—सिद्धान्तसारसंग्रहे, नरेन्द्रसेनाचार्यः

श्रीसमन्तभद्रदेवका निर्दोष प्रवचन प्राणियोंके लिये ऐसा ही दुर्लभ है जैसा कि मनुष्यत्वका पाना—अर्थात् अनादि कालसे संसारमें परिभ्रमण करते हुए प्राणियोंको जिस प्रकार मनुष्यभवका मिलना दुर्लभ होता है उसी प्रकार समन्तभद्रदेवके प्रवचनका लाभ होना भी दुर्लभ है, जिन्हें उसकी प्राप्ति होती है वे निःसन्देह सौभाग्यशाली हैं।

अन्तरद्वीपज मनुष्य

[सम्पादकीय]

मनुष्योंके कर्मभूमिज आदि चार भेदोंमें 'अन्तरद्वीपज' भी एक भेद है। अन्तरद्वीपोंमें जो उत्पन्न होते हैं उन्हें 'अन्तरद्वीपज' कहते हैं। ये अन्तरद्वीप लवणोदधि तथा कालोदधि समुद्रोंके मध्यवर्ती कुछ टापू हैं, जहां कुमानुषों-की उत्पत्ति होती है और इसीसे इन द्वीपोंको 'कुमानुषद्वीप' भी कहते हैं, जैसा कि तिलोयपण्णत्ती (त्रिलोकप्रज्ञप्ति) के निम्न वाक्योंसे प्रकट है—

"कुमाणुसा होंति तण्णामा।"
"दीवाण कुमाणुसेहि जुताणं॥"

—अधिकार ४ था

इन द्वीपोंमें उत्पन्न होनेवाले मनुष्योंकी आकृति पूर्णरूपसे मनुष्यों-जैसी नहीं होती—मनुष्याकृतिके साथ पशुओंकी आकृतिके मिश्रणको लिये हुए होती है। ये मनुष्य प्रायः तिर्यंचमुख होते हैं—कोई अश्वमुख हैं, कोई गजमुख, कोई वानरमुख इत्यादि; किन्हींके सींग हैं, किन्हींके पूंछ और कोई एक ही जंघावाले होते हैं। अपने इस आकृतिभेदके कारण ही उनमें परस्पर भेद है—एक अन्तरद्वीपमें प्रायः एक ही आकृतिके मनुष्य निवास करते हैं। कालोदधिकी पूर्वदिशामें तो 'उदकमानुष' भी रहते हैं, जिन्हें जलचर मनुष्य समझना चाहिये; और पश्चिम दिशामें 'पक्षिमानुष' भी वास करते हैं, जिनके पक्षियोंकी तरह परोंका होना जान पड़ता है। यथा:—

कालोदे दिशि निश्चेयाः प्राच्यामुदकमानुषाः।
अपाच्यामश्वकर्णास्तुप्रतीच्यांपक्षिमानुषाः॥ ५-५६७॥

—हरिवंशपुराणे, जिनसेनः

अपनी ऐसी-ऐसी विचित्र आकृतियों और पशुओंके समान जीवन व्यतीत करनेके कारण वे लोग 'कुमानुष' कहलाते हैं। अपराजितसूरिने, जो कि विक्रमकी प्रायः ७वीं या ८वीं शताब्दीके विद्वान् हैं, भगवती आराधनाकी गाथा नं० ७८१ की टीकामें इन कुमानुषोंकी आकृति आदिका कुछ वर्णन देते हुए, इन्हें साफतौर पर मनुष्यायु-को भोगने वाले, कन्द-मूल-फलाहारी और मृगोपमचेष्टित लिखा है। यथा—

इत्येवमादयो ज्ञेया अन्तरद्वीपजा नराः॥
समुद्रद्वीपमध्यस्थाः कन्दमूलफलाशिनः।
वेदयन्ते मनुष्यायुस्ते मृगोपमचेष्टिताः॥

'मृगोपमचेष्टित' विशेषणसे यह स्पष्ट जाना जाता है कि ये लोग प्रायः पशुओंके समान जीवन व्यतीत करने वाले होते हैं।

श्रीजटा-सिंहनन्द्याचार्य, जो कि विक्रमकी प्रायः ७वीं

शताब्दीके करीब हुए हैं, अपने वरांगचरित* के छठे सर्गमें तिर्यंचगतिके दुःखों और उसके कारणोंका वर्णन करते हुए लिखते हैं :—

सुसंयतान्वाग्भिरधिक्षिपन्तो ह्यसंयतेभ्यो ददते सुखाय ।
तिर्यङ्मुखास्ते च मनुष्यकल्पा द्वीपान्तरेषु प्रभवन्त्यभद्राः
केचित्पुनर्वानरतुल्यवक्त्राः केचिद्गजेद्रप्रतिमाननाश्च ।
अश्वानना मेरादूमुखाश्चकेचिदजोष्ट्रवक्त्रामहिषीमुखाश्च।

अर्थात्—जो लोग सुसंयमी पुरुषोंका वचनों द्वारा तिरस्कार करते हुए असंयमी पुरुषों (अपात्रों) को सुखके लिये दान देते हैं वे द्वीपान्तरोंमें तिर्यंचमुख वाले अभद्र प्राणी (कुमानुष) होते हैं, जिन्हें 'मनुष्यकल्प'—मनुष्योंसे कुछ हीन—समझना चाहिये। इनमेंसे कोई बन्दर-जैसे मुखवाले, कोई हाथी-जैसे मुखवाले, कोई अश्वमुख, कोई मेंढामुख, कोई बकरामुख, कोई ऊँटमुख, और कोई भैंस-मुख होते हैं।

साथ ही, सातवें सर्गमें निम्न वाक्य-द्वारा, उन्होंने यह भी सूचित किया है कि अपात्रदानका फल कुमानुषों में जन्म लेकर और सुपात्रदानका फल भोगभूमिमें जन्म लेकर भोगना पड़ता है, इससे अपात्रदान त्याज्य है—

अपात्रदानेन कुमानुषेषु सुपात्रदानेन च भोगभूमौ ।
फलं लभन्ते खलु दानशीलास्तस्मादपात्रं परिवर्जनीयम्

इन दोनों कथनों से स्पष्ट है कि श्रीजटा-सिंहनन्दी-आचार्यने अन्तरद्वीपज मनुष्योंको प्रायः तिर्यंचोंकी कोटिमें रक्खा है, उन्हें 'मनुष्यकल्प' तथा 'कुमानुष' बतलाया है और भोगभूमिया नहीं माना।

श्रीजिनसेनाचार्यने आदिपुराणमें अंतरद्वीपोंको कुमानुषजनोंसे भरे हुए लिखा है और साथ ही उन्हें दिग्विजयके अनन्तर भरत चक्रवर्तीकी विभूतिके वर्णनमें शामिल किया है, जिससे यह मालूम होता है कि भरत-चक्रवर्तीने अन्तरद्वीपोंको भी अपने आधीन किया है और इसलिये वे द्वीप भोगभूमिके क्षेत्र नहीं हैं। आदि-पुराणका वह वाक्य इस प्रकार है—

भवेयुरन्तरद्वीपाः षट्पंचाशत्प्रमा मिताः ।
कुमानुषजनाकीर्णा येऽर्णवस्य खिलायिताः ॥६५॥
—पर्व ३७वां

अब इस विषयमें तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकके कथनको भी लीजिये, जो अनेक ग्रन्थकथनोंके समन्वयरूप जान पड़ता है। श्रीविद्यानन्दाचार्य 'आर्या म्लेच्छाश्च' इस सूत्र-की टीकामें, म्लेच्छमनुष्योंके अन्तरद्वीपज और कर्मभूमिज ऐसे दो भेद करनेके बाद '*आद्याः षरणवतिः ख्याता वार्धिद्वयतटद्वयोः*' इस वाक्यके द्वारा अन्तरद्वीपजोंको लवणो दधि और कालो दधिके दोनों तटवर्ती द्वीप भेद के कारण ९६ प्रकार के बतलाते हुए, लिखते हैं—

"*ते च केचिद्भोगभूमिसमप्रणिधयःपरेकर्मभूमि-समप्रणिधयःश्रूयमाणाःकीदृगायुरुत्सेधवृत्तयइत्याचष्टे—*

भोगभूम्यायुरुत्सेधवृत्तयो भोगभूमिभिः ।
समप्रणिधयः कर्मभूमिवत्कर्मभूमिभिः ॥

भोगभूमिभिःसमानप्रणिधयोऽन्तरद्वीपजा म्लेच्छा भोगभूम्यायुरुत्सेधवृत्तयःप्रतिपत्तव्याः, कर्मभूमिभिःसम-प्रणिधयःकर्मभूम्यायुरुत्सेधवृत्तयस्तथानिमित्तसद्भावात्।"

इन वाक्योंके द्वारा यह प्रतिपादन किया गया है कि—'उन अन्तरद्वीपज मनुष्योंमेंसे कुछ तो—किसी किसी अन्तरद्वीपके निवासी तो—'भोगभूमिसमप्रणिधि' हैं और शेष सब 'कर्मभूमिसमप्रणिधि' हैं। जिनकी आयु, शरीरकी ऊंचाई और वृत्ति (प्रवृत्ति अथवा आजी-विकाके साधन) भोगभूमियोंके समान हैं उन्हें 'भोग-भूमिसमप्रणिधि' कहते हैं और जिनकी आयु, ऊँचाई

* यह ग्रन्थ प्रो० ए. एन. उपाध्याय एम. ए. के द्वारा सुसंपादित हो कर अभी माणिकचन्द्रग्रन्थमालामें प्रकट हुआ है।

तथा वृत्ति कर्मभूमिके समान हैं वे 'कर्मभूमिसमप्रणिधि' कहलाते हैं; क्योंकि उनकी आयु आदिके लिये उस उस प्रकारके निमित्तका वहां सद्भाव है।'

ऊपरके इन सब प्राचीन कथनोंका जब एक साथ विचार किया जाता है तो ऐसा मालूम होता है कि अन्तरद्वीपज मनुष्य अधिकांशमें 'कर्मभूमिसमप्रणिधि' हैं—कर्मभूमियोंके समान आयु, उत्सेध तथा वृत्तिको लिये हुए हैं—, उनका *'कन्दमूलफलाशिनः'* विशेषण और भरत चक्रवर्तीके द्वारा उन द्वीपोंको जीतकर स्वाधीन किया जाना भी इसी बातको सूचित एवं पुष्ट करता है। यहां इस लेखमें उन्हींका विचार प्रस्तुत है। वे सब कुमानुष हैं, मनुष्य कल्प हैं—मनुष्योंसे हीन हैं—और 'मृगोपमचेष्टित' विशेषणसे पशुओंके समान जीवन व्यतीत करने वाले हैं। उनकी आकृति अधिकतर पशुओंसे मिलती-जुलती है—पशुजगतकी तरफ उसका ज्यादा झुकाव है—क्योंकि शरीरका प्रधान अंग 'मुख' ही उनका पशुओं-जैसा है और उसीकी विशेषता के कारण उनमें नामादिकका भेद किया जाता है—'तिर्यङ्मुखाः' विशेषण भी उनकी इसी बातको पुष्ट करता है। जटासिंहनन्दी आचार्यने तो तिर्यंचोंके वर्णनमें ही उनका वर्णन दिया है—मनुष्योंके वर्णनमें उनका समावेश नहीं किया। इससे यह स्पष्ट जाना जाता है कि ये अन्तरद्वीपज मनुष्य प्रायः तिर्यंचोंके ही समान हैं—मात्र मनुष्यायुका उपभोग करने तथा कुछ आकृति मनुष्यों-जैसी भी रखने आदिके कारण कुमानुष कहलाते हैं। और इसलिये इन अभद्र प्राणियोंको तिर्यंचोंके ही समान नीचगोत्री समझना चाहिये।

चूंकि तिर्यंचोंको देशसंयमका पात्र माना गया है और ये कर्मभूमिसमवृत्तिवाले अन्तरद्वीपज मनुष्य मनुष्याकृति आदिके संमिश्रण द्वारा दूसरे तिर्यंचपशुओंसे कुछ अच्छी ही हालतमें होते हैं, इसलिये इनमें देशसंयमकी पात्रता और भी अधिक सम्भव जान पड़ती है। ऐसी हालतमें यह कहना कुछ भी असंगत मालूम नहीं होता कि ये लोग तिर्यंचोंकी तरह नीचगोत्री होनेके साथ साथ देशसंयत नामके पांचवें गुणस्थान तक जा सकते है।

और इसलिये गोम्मटसार-कर्मकाण्डकी गाथा नं० ३००में *'देसे तदियकसाया णीचं एमेव मणुससामण्णे'* इस वाक्यके द्वारा मनुष्य सामान्यकी दृष्टिसे—किसी वर्ग-विशेषकी दृष्टिसे नहीं—देशसंयत गुणस्थानमें जो नीच गोत्रका उदय बतलाया है वह इन अन्तरद्वीपज मनुष्यों को लक्ष्य करके ही जान पड़ता है। और *'मणुवे ओघो थावर'* इत्यादि गाथा नं०२९८ में मनुष्योंके जो उदय-योग्य १०२ प्रकृतियां बतलाई हैं और उनमें नीचगोत्र की प्रकृतिको भी शामिल किया है उसमें नीचगोत्र-विषयक उल्लेख इन अन्तर द्वीपज मनुष्यों तथा सम्मूर्च्छन मनुष्योंको भी लक्ष्य करके किया गया है, क्योंकि ये दोनों ही नीचगोत्री हैं और गाथामें 'ओघ' शब्दके प्रयोगद्वारा सामान्यरूपसे मनुष्यजातिकी दृष्टिसे कथन किया गया है —मनुष्यमात्र अथवा कर्मभूमिज आदि किसी वर्गविशेष के मनुष्योंकी दृष्टिसे नहीं। यदि मनुष्यमात्र अथवा सभी वर्गोंके मनुष्योंके लिये उदययोग्य प्रकृतियोंकी संख्या १०२ मानी जाय तो गाथा नं० ३०२ व ३०३ में भोग-भूमिज मनुष्योंके उदययोग्य प्रकृतियोंकी संख्या जो ७८ बतलाई है और उसमें नीचगोत्रको शामिल नहीं किया उसके साथ विरोध आता है। साथ ही, अन्तरद्वीपज और सम्मूर्च्छन मनुष्योंमें भी उच्चगोत्रका उदय ठहरता है; क्योंकि १०२ प्रकृतियोंमें उच्चगोत्र भी शामिल है। बाकी कर्मभूमिज मनुष्य—जिनमें आर्यखण्डज और म्लेच्छखण्डज दोनों प्रकारके मनुष्य शामिल हैं—सकलसंयमके पात्र होने के कारण उच्च गोत्री हैं, यह बात मैं अपने पिछले लेखमें —'गोत्रकर्म पर शास्त्रीजीका उत्तर लेख' शीर्षकके नीचे स्पष्ट कर चुका हूँ; और इसलिये गोम्मटसार कर्मकाण्डकी उक्त गाथा नं०२९८ तथा ३०० में मनुष्योंके नीचगोत्रके उदयका जो सम्भव बतलाया गया है वह कर्मभूमिज मनुष्योंकी दृष्टिसे मालूम नहीं होता।

इस प्रकार प्राचीन दिगम्बर जैन ग्रंथोंपरसे कर्मभूमि-समप्रणधि अन्तरद्वीपजमनुष्योंके नीचगोत्री होने और देशसंयम धारण कर सकने का जो निष्कर्ष निकलता है वह पाठकोंके सामने है। आशा है विद्वज्जन इसपर विचार करनेकी कृपा करेंगे।

वीरसेवामंदिर, सरसावा; ता०३-३-१९३९

हमारे पराक्रमी पूर्वज

(२)

राजा हरसुखराय

[ले० अयोध्याप्रसाद गोयलीय]

वे भी दिन थे, जब हमारे पूर्वज लक्ष्मीकी आराधना न करके उस पर शासन करते थे! धनको कौड़ियोंकी तरह बखेरते थे, पर वह कम न होता था! ग़रीब-गुरबाओंकी इम्दाद करते थे, मगर डरते हुए!—कहीं ऐसा न हो कोई भाई बुरा मान जाय और कह बैठे—"हम ग़रीब हुए तो तुम्हें धन्नासेठी जतानी नसीब हुई!" धार्मिक तथा लोकोपयोगी कार्यों-में लाखों रुपये लगाते थे, परन्तु भय बना रहता था कि कहीं किसीको आत्म-विज्ञापनकी गन्ध न आजाए! किए हुए धर्म-दानकी प्रशंसा सुन पड़ती थी तो बहरे बन जाते थे, जिससे आत्म-प्रशंसा सुन कर अभिमान न हो जाय! वे लक्ष्मीके उपासक न होकर वीतरागके उपासक थे। लक्ष्मीको पूर्व संचित शुभ कर्मोंका उपहार न समझ कर कुमार्गकी प्रवर्त्तक समझते थे। उनका विश्वास था—सुईके छिद्रोंमें हजार ऊंटोंका निकल जाना तो सम्भव, पर लक्ष्मीपतिका संसार-सागरसे पार होना सम्भव नहीं। इसीलिये वे लक्ष्मीको ठुकराते थे और उसके बल पर सम्मान नहीं चाहते थे; पर होता था इसके विपरीत। लक्ष्मी उनके पाँवोंसे लगी फिरती थी। कोयलोंमें हाथ डालते तो अशर्फियां बन जाती थीं और सांप पर पाँव पड़ता था तो वह रत्न-हार बन जाता था।

वे लक्ष्मीके लिये हमारी तरह वीतराग भगवान्‌को रिझानेका हास्यास्पद प्रयत्न नहीं करते थे। और न धेलीकी खील-बताशे मेलेमें बांटते हुए मंगतोंके सर पर पाँव रखकर दानवीर कहलानेकी लालसा रखते थे। पाँच आनेकी काठकी चौकी मन्दिरमें चढ़ाते हुए उसके पायों पर चारों भाइयोंका नाम लिखानेकी इच्छा नहीं रखते थे और न अपनी स्वर्गीय धर्मपत्नीकी पवित्र स्मृति में सवा रुपयेका छतर चढ़ा कर कीर्ति ही लूटना चाहते थे। उन्हें पद-प्रतिष्ठा तथा यश-मानकी लालसा न होकर आत्मोद्धारकी ही कामना बनी रहती थी।

नेकी करके कुएमें फेंकनेवाले ऐसे ही माईके लालों-में देहलीके राजा हरसुखराय और उनके सुपुत्र सुगन-चन्दजी हुए हैं। सन् १७६० में देहलीके धर्मपुरे मोहल्लेमें राजा हरसुखराजजीने एक अत्यन्त दर्शनीय भव्य जिन-मन्दिरका निर्माण कराया, जिसकी लागत उस समयकी ८ लाख कूती जाती है। यह मन्दिर ७ वर्षमें बनकर जब तैयार हुआ तो एक दिन लोगोंने सुबह उठकर देखा कि मन्दिरका सारा काम सम्पूर्ण हो चुका है केवल शिखर पर एक दो रोज़का काम और बाक़ी था, किन्तु तामीर बन्द कर दी गई है और राजा साहब, जो सर्दी गर्मी बरसातमें हर समय मेमार-मज़दूरोंमें खड़े काम कराते थे, आज वहाँ नहीं हैं।

लोगोंको अनुमान लगाते देर न लगी। एक सज्जन बोले—"हम पहले ही कहते थे इस मुसलमानी राज्यमें जब कि प्राचीन मन्दिर ही रखने दूभर हो रहे हैं, तब नया मन्दिर कैसे बन पाएगा?"

दूसरे महाशय अपनी अक्लकी दौड़ लगाते हुए बोल उठे—"खैर भाई राजा साहब बादशाहके खजाँची हैं, मन्दिर बनानेकी अनुमति ले ली होगी। मगर शिखरबन्द मन्दिर कैसे बनवा सकते थे? अगर मन्दिर-का शिखर बनानेकी आज्ञा दे दी जाय, तो मस्जिद और मन्दिरमें अन्तर ही क्या रह जायगा?"

तीसरेने अटकल लगाते हुए कहा—"बेशक मन्दिरकी शिखरको मुसलमान कैसे सहन कर सकते हैं? देखो न, शिखर बनता देख फौरन तामीर रुकवादी।"

किसीने कहा—"अरे भई राजा साहबका क्या बिगड़ा, वे तो मुँह छुपाकर घरमें बैठ गये। नाक तो हमारी कटी!! भला हम किसीको अब क्या मुँह दिखाएँगे इस फजीतेसे तो यही बेहतर था कि मन्दिरकी नींव ही न खुदवाते!!!"

जिस प्रकार म्युनिस्पैलिटीका जमादार ऊँचे-ऊँचे महल और उनके अन्दर रहने वाले भव्य नर-नारियों-को न देखकर गन्दगीकी ओर ही दृष्टिपात करता है, उसी प्रकार छिद्रानुवेषी गुण न देख कर अवगुण ही खोजते फिरते हैं। जो कोरे नुक्ताचीं थे वे नुक्ताचीनी करते रहे; मगर जिन्हें कुछ धर्मके प्रति मोह था उन्होंने सुना तो अन्न-जल छोड़ दिया। पेट पकड़े हुए राजा हरसुखरायजीके पास गये और आँखोंमें आँसू भर कर अपनी व्यथा को प्रकट करते हुए बोले—

"आपके होते हुए भी जिन-मन्दिर अधूरा पड़ा रह जाय, तब तो समझिये कि भाग्य ही हमारे प्रतिकूल है। आप तो फर्माते थे कि बादशाह सलामतने शिखर बनानेके लिये खुद ही अपनी ख्वाहिश ज़ाहिर की थी; फिर नागहानी यह मुसीबत क्यों नाज़िल हुई!"

राजा साहबने पहले तो टालमटूलकी बातें कीं फिर मुंह लटकाकर सकुचाते हुए बोले—"भाइयोंके आगे अब पर्दा रखना भी ठीक नहीं मालूम होता, दरअसल बात यह है कि जो कुछ थोड़ीसी पूंजी थी, वह सब खत्म हो गई, कर्ज में किसीसे लेनेका आदी नहीं, सोचता हूँ बिरादरीसे चन्दा करलूं, मगर कहनेकी हिम्मत नहीं होती। इसीलिये मजबूरन तामीर बन्द कर दी गई है।"

सुना तो बाँछें खिल गईं—"बस राजासाहब इतनी ज़रीसी बात!!" कहकर आगन्तुक सज्जनोंने अशर्फियोंका ढेर लगा दिया! और बोले—"आपकी जूतियाँ जाएँ चन्दा माँगने। हम लोगोंके होते आपको इतनी परेशानी!! लानत है हमारी ज़िन्दगी पर!!!

राजासाहब कुछ मुस्कराते और कुछ लजाते हुए बोले—बेशक, मैं अपने सहधर्मी भाइयोंसे इसी उदारताकी आशा रखता था। मगर इतनी रक़मका मुझे करना क्या

है? दो चार रोज़की तामीर-खर्चके लिये जितनी रकमकी ज़रूरत है, उसे अगर मैं लूंगा तो सारी बिरादरीसे लूंगा वर्ना एकसे भी नहीं।"

हील-हुज्जत बेकार थी, हर जैन घरसे नाममात्रको चन्दा लिया गया। मन्दिर बनकर जब सम्पूर्ण हुआ तो बिरादरीने मिन्नतें कीं—राजा साहब मन्दिर आपका है, आप ही कलशारोहण करें। राजा साहब पगड़ी उतारकर बोले—भाइयो! मन्दिर मेरा नहीं पंचायतका है, सभीने चन्दा दिया है, अतः पंचायत ही कलशारोहण करे और वही आजसे इसके प्रबन्धकी ज़िम्मेदार है।"

लोगोंने सुना तो अवाक् रह गये, अब उन्होंने इस थोड़ीसी रकमके लिये चन्दा उगाहनेके रहस्यको समझा।

मन्दिर आज भी उसी तरह अपना सीना ताने हुए गत गौरवका बखान कर रहा है। इस मन्दिरकी निर्माण-कला देखते ही बनती है। समवशरण में संगमरमरकी वेदीमें पचीकारीका काम बिल्कुल अनूठा और अभूतपूर्व है। कई अंशोंमें ताजमहलसे भी अधिक बारीक और अनुपम काम इस वेदी पर हुआ है। वेदीमें बने सिंहोंकी मूछोंके बाल पत्थरमें खुदाई करके काले पत्थरके इस तरह अंकित किए गए हैं कि कारीगरके हाथ चूम लेनेको जी चाहता है और बेसाख्ता हरसुखरायजीकी इस सुरुचिके लिये वाह-वाह निकल पड़ती है। श्री जिनभगवान्का प्रतिबिम्ब इस वेदीमें जिस पाषाण-कमल पर विराजमान है वह देखते ही बनती है। यद्यपि प्राचीन तक्षणकलासे अनभिज्ञ और जापानी टाइलोंसे आकर्षित बहुतसे जैनबन्धुओंको यह मन्दिर अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सका है, फिर भी जैनोंके लाख-लाख छुपाने पर भी विदेशोंमें इसकी भव्य कारीगरीकी चर्चा है और विदेशी यात्री देहली आने पर इस मन्दिरको देखनेका ज़रूर प्रयत्न करता है। यह मन्दिर १७६ वर्ष पुराना होने पर भी नए मन्दिरके नामसे प्रसिद्ध है।

इस मन्दिरकी जब प्रतिष्ठा हुई थी, तो तमाम क़ीमती सामान मुसलमानोंने लूट लिया था, किन्तु बादशाहके हुक्मसे वह सब सामान लुटेरोंको वापिस करना पड़ा। हरसुखरायजी शाही खजाँची थे और बादशाहकी ओरसे उन्हें राजाका खिताब मिला हुआ था। इन्हींके सुपुत्र सेठ सुगनचन्दजी हुए हैं। इन्हें भी पिताके बाद राजाकी उपाधि और शाही खजाँचीगीरी प्राप्त हुई थी और वह ईस्टइण्डिया कम्पनीके शासनकाल तक इन्हीं के पास रही। इनका जीवन-परिचय अगली किरणमें देखिये।

सत्संग

जाइयो तहाँ ही जहाँ संग न कुसंग होय,
कायरके संग शूर भागे पर भागे है।
फूलनकी बासना सुगन्ध भरे बासनामें,
कामिनीके संग काम जागे पर जागे है।
घर बसे घर पै बसौ, घर वैराग कहाँ,
काम, क्रोध, लोभ, मोह पागे पर पागे है।
काजरकी कोठरीमें लाखहु सयानो जाय,
काजरकी एक रेख लागे पर लागे है॥

—अज्ञात्

परोपकार

जड़से उखाड़के सुखाय डारें मोहि,
मेरे प्राण घोट डारें घर धुआँके मकानमें।
मेरी गाँठ काटें मोहि चाकूसे तरास डारें,
अन्तरमें चीर डारें धरें नहीं ध्यानमें।
स्याही माँहि बोर-बोर करें मुख कारो मेरो,
करूँ मैं उजारो तोकू ज्ञानके जहानमें।
परे हूँ पराये हाथ तजूँ न परोपकार,
चाहे घिस जाऊँ यूँ कहै कलम कानमें॥

—कविरत्न गिरधर शर्मा
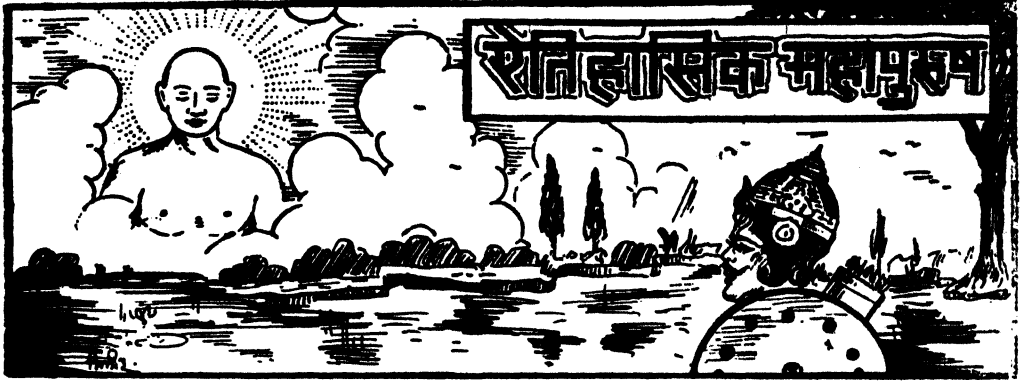
आचार्य हेमचन्द्र

[ले० श्री रतनलाल संघवी न्याय-तीर्थ विशारद]

(क्रमागत)

रस-अलंकार-ग्रन्थ

साहित्यके मामाणिक अंग रूप रस, अलंकार, गुण, दोष, रीति आदिका वास्तविक और विस्तृत ज्ञान करनेके लिये आचार्य हेमचन्द्रकी इस संबंधमें "काव्यानुशासन" नामक सुन्दर कृति महान् और उच्चकोटिकी है। इसकी रचना सुप्रसिद्ध काव्यज्ञ मम्मट कृत "काव्य-प्रकाश" के समान है। साहित्यशास्त्रके प्रमुख अङ्गोंका अधिकारी रूपसे इसमें जो मार्मिक विवेचन किया गया है; उसमें आचार्य हेमचन्द्रकी सर्वतोमुखी प्रतिभाका और प्रकांड पांडित्यका अच्छा पता चलता है। यह सूत्र-बद्ध ग्रंथ है। इस पर "अलंकार-चूडामणि" नामक २८०० श्लोक प्रमाण स्वोपज्ञवृत्ति है। इसी प्रकार इस पर "अलंकार-वृत्ति-विवेक" नामक ४००० श्लोक प्रमाण एक दूसरी स्वोपज्ञ विस्तृत टीका भी है। इन विशालकाय टीकाओंमें विस्तृत रूपसे मूल-भावोंको उदाहरण पूर्वक समझानेका सफल प्रयास किया गया है।

व्यंजना-शक्ति के विवेचनमें और शान्तरसकी सिद्धिमें गंभीर और उपादेय मीमांसा की गई है। "सिद्धहेम" के समान ही इसमें भी आठ अध्याय है। पहला प्रस्तावना रूप है, दूसरा रस संबंधी है। जिसमें ६ रसोंका एवं स्थायी, व्यभिचारी और सात्विक भावोंका भेद पूर्वक वर्णन है। रसाभासका विवेचन भी है। तीसरे अध्यायमें काव्य, रस, पद, वाक्य आदिके दोषोंकी मीमांसा की गई है। चौथेमें माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणोंका विवेचन है। पांचवेंमें अनुप्रास, लाटानुप्रास, यमक, चित्रकाव्य, श्लेष, वक्रोक्ति और पुनरुक्ताभास आदि शब्दालंकारोंका वर्णन है। छठेमें अर्थालंकारोंका विस्तार किया गया है। सातवेंमें नायक, नायिका उनके भेद प्रभेद और उनके

गुण लक्षण आदिकी विवेचना है । अंतिम आठवेंमें प्रबंधात्मक काव्यके भेदोंका, और प्रेक्ष्यकाव्य, श्रव्य काव्य और नाटक आदिका कथन किया गया है।

छन्द-शास्त्र

छन्द-शास्त्रमें "छन्दानुशासन" नामक कृति पाई जाती है। मूल-ग्रंथ २२५ श्लोक-प्रमाण है। उस पर भी तीन हजार श्लोक प्रमाण सुन्दर स्वोपज्ञवृत्ति है। यह भी आठ अध्यायोंमें बटा हुआ है। छन्द-शास्त्रमें यह ग्रंथ अपनी विशेष सत्ता रखता है। अन्य छन्द-ग्रंथोंसे इसमें अनेक विशेषताएँ हैं। संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओंके छन्दोंका अनेक सुन्दर उदाहरणोंके साथ इसमें विवेचन किया गया है। यह इसकी उल्लेखनीय विशेषता है। इसके अध्ययनसे छन्दोंका सरल रीतिसे उपयोगी ज्ञान हो सकता है।

हमारे परम प्रतापी चरित्र नायकने शब्दानुशासन (व्याकरण), लिंगानुशासन (कोष), काव्यानुशासन (अलंकारादि ग्रंथ) और छन्दानुशासन, इस प्रकार चार महत्वपूर्ण ग्रंथोंकी रचना करके संस्कृत-साहित्य पर महान् और अवर्णनीय उपकार किया है। कहा जाता है कि इन्होंने वाद विवाद संबंधी "वादानुशासन" नामक ग्रंथकी भी रचना की थी। किन्तु अनुपलब्ध होनेसे इस संबंधमें कुछ भी लिखना कठिन है। लेकिन "प्रमाण-मीमांसा" में इन्होंनें जो "छल, जाति, निग्रहस्थान आदिका विस्तृत विवरण लिखा है; उसको देखते हुए यह कहा जा सकता है कि इनकी इस संबंधमें कोई न कोई स्वतंत्र कृति अवश्य होनी चाहिये। लेकिन इनकी अनेक अन्य कृतियोंके समान ही संभव है कि यह कृति भी नष्ट हो गई होगी।

आध्यात्मिक ग्रंथ

आध्यात्मिक-विषयमें आपकी रचना "योग-शास्त्र" अपर नाम "अध्यात्मोपनिषद" है। मूल १२०० श्लोक प्रमाण है। यह भी १२ हजार श्लोक प्रमाण स्वोपज्ञटीका-से अलंकृत है। मुमुक्षु जीवोंके लिये-उभय लोककी शांति प्राप्त करनेवालोंके लिये यह सरल और महत्वपूर्ण ग्रंथ है। यह प्रकाश नामक १२ अध्यायोंमें विभाजित है। इसमें ज्ञानयोग, दर्शनयोग, चारित्रयोग, सम्यक्त्व, मिथ्यात्व, गृहस्थधर्म, कषाय, इंद्रिय-जय, मनः शुद्धि, मैत्री आदि चार भावना, आसन प्राणायाम, प्रत्याचार-धारणा, पिंडस्थ, पदस्थ आदि शुभध्यानोंके भेद, मनंजय, परमानंद, उन्मनीभाव, आदि अनेक योग और अध्यात्म विषयोंका वर्णन किया हुआ है। शान्तरसपूर्ण आत्मो-पदेश दिया हुआ है। यह भी अपनी कोटिका अनन्य ग्रंथ है। इसमें पातंजलिकृत योग-शास्त्रमें वर्णित आठ योगांगोको जैनधर्मानुसार आचरणीय करनेका प्रयास किया गया है। इसमें आसन प्राणायाम संबंधी जो विस्तृत विवेचन पाया जाता है। उससे पता चलता है कि उस समयसे "हठ-योग" का प्रचुर मात्रामें प्रचार था इस ग्रंथमें "विक्षिप्त", यातायात, श्लिष्ट और सुलीन ये मनके ४ भेद सर्वथा नवीन और मौलिक किये गये हैं। निश्चय ही जैन-आचार-शास्त्र और जैन-तत्त्वज्ञान शास्त्रका प्रतिनिधित्व करनेवाले ग्रंथोंमेंसे एक यह भी कहा जा सकता है।

स्तोत्र-ग्रंथ

आचार्यश्रीने "वीतराग-स्तोत्र" और "महादेव-स्तोत्र" नामक दो स्तोत्र भी लिखे हैं। "वीतराग-स्तोत्र" अर्हंतदेवके विविध लोकोत्तर गुणोंका परिचायक, भक्ति-रससे भरपूर और स्तुतिके सर्व गुणोंसे संपन्न प्रसाद गुण युक्त, प्रतिदिन पठनीय सुन्दर स्तोत्र है। यह अनुष्टुप छन्दमें होता हुआ भी अत्यंत आह्लादक और आकर्षक है।

कथा-ग्रंथ

समुद्र-समान विस्तृत और अति गंभीर "त्रिषष्टि-शलाका पुरुष-चरित्र" और परिशिष्टपर्वग्रन्थ आप द्वारा रचित कथा-ग्रन्थ हैं। त्रिषष्टिशलाका पुरुष-चरित्रमें वर्तमान अवसर्पिणीकालके २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ६ बलदेव, ६ वासुदेव और ६ प्रतिवासुदेवका जीवन-चरित्र वर्णित है। यह पौराणिक-काव्य होता हुआ भी मध्यकालीन इतिहासके अनुसंधानमें और खास करके गुजरातके इतिहासकी दृष्टिसे उपयोगी साधन सिद्ध हो सकता है। क्योंकि इसमें हेमचन्द्रकालीन समाज-स्थिति, देशस्थिति, लोक-व्यवहार आदि बातोंका वर्णन मिल सकता है। इससे यह भी पता चलता है कि आचार्य हेमचन्द्र सुधारक-मनोवृत्तिके महापुरुष थे। यह १० वर्षोंमें समाप्त हुआ है। इसका परिमाण ३४००० श्लोक प्रमाण है। रस, अलंकार, छन्द, कथा-वस्तु, और काव्योचित अन्य गुणोंकी अपेक्षासे यह एक उच्च कोटिका महाकाव्य कहा जासकता है। हेमचन्द्र-की पूर्ण प्रतिभाका पूरा-पूरा प्रकाश इसमें उज्ज्वलताके साथ सुन्दररीति से प्रकाशित हो रहा है। संस्कृत काव्य साहित्यका इसे रत्नाकर समझना चाहिये।

परिशिष्ट पर्व इसी ग्रंथराजका उपसंहार है। इसमें महावीर-स्वामीसे लगाकर युगप्रधान वज्रस्वामी तक-का जीवन-वृत्तान्त वर्णित है। अखण्ड-जैन संघमें उत्पन्न होने वाले मतभेद, श्रुतपरम्पराका विच्छेद और उद्धार, देशमें पड़े हुए १२ दुष्काल, साधुसंघकी संयमपरायणता और शिथिलता, संघकी महासत्ता, मगध-सम्राट श्रेणिक और बिंबिसार, अजातशत्रु कोणिक, संप्रति, चन्द्रगुप्त, अशोकश्री, नवनन्द, मौर्योंकी उन्नति और अपकर्ष, गर्दभिल्लकी बलपूर्वकता, शकों द्वारा देशका अंगभंग, आदि अनेक ऐतिहासिक वर्णनोंसे यह ग्रन्थ भरा पड़ा है। इतिहासकी दृष्टिसे यह महान् उपादेय ग्रंथ है।

नीति और अन्य ग्रन्थ

नीति-ग्रन्थोंकी दृष्टिसे "अर्हन्नीति" ग्रंथ आपकी रचना कही जाती है। यह १४०० श्लोक प्रमाण है। विद्वानोंमें मतभेद है कि यह ग्रंथ आचार्य हेमचन्द्रका है या नहीं। क्योंकि इसमें वर्णित अनेक बातें आचार्यश्री के व्यक्तित्वके अनुकूल प्रतीत नहीं होती हैं।

इसी प्रकार न्यायबलाबल सूत्राणि, बालभाषा व्याकरण सूत्रवृत्ति, विभ्रम सूत्रम्, शेषसंग्रह, शेषसंग्रह-सारोद्धार, द्वात्रिंशत्द्वात्रिंशिका, द्विजवदनचपेटा, चन्द्र-लेखविजयप्रकरणम्, इत्यादि ग्रंथ भी आचार्य हेमचन्द्र-के रचित कहे जाते हैं। आर्हतमत प्रभाकर कार्यालय पूना द्वारा प्रकाशित प्रमाणमीमांसाके भूमिका पृष्ठ ६ और १० पर उक्त ग्रंथोंका उल्लेख किया हुआ है। इस सम्बन्धमें अनुसंधान करनेकी आवश्यकता है, तभी कुछ निश्चित् निर्णय दिया जा सकता है।

न्याय-ग्रन्थ

न्याय-ग्रंथोंमें दो स्तुति-आत्मक बतीसियाँ और डेढ़ अध्यायवाली प्रमाणमीमांसा उपलब्ध है। प्रमाण-मीमांसा-ग्रंथ जैन-न्याय साहित्यमें अपना विशेष स्थान रखता है। "अथ प्रमाणमीमांसा" नामक प्रथम सूत्रकी स्वोपज्ञ-वृत्तिसे ज्ञात होता है कि आचार्यश्रीने व्याकरण, काव्य, और छन्दानुशासनकी रचनाके बाद इसकी रचना की थी। यह पांच अध्यायोंमें विभक्त था। प्रत्येक-अध्याय एकसे अधिक आन्हिक वाला था। किन्तु दुर्भाग्यसे आजकल प्रथम अध्याय (दो आन्हिक वाला) और दूसरे अध्यायका प्रथम आन्हिक इस प्रकार केवल डेढ़ अध्याय ही उपलब्ध है। उप-लब्ध अंशके सूत्रोंकी संख्या १०० है और इस पर

स्वोपज्ञवृत्ति २५०० श्लोक प्रमाण है। सम्पूर्ण श्वेताम्बरीय न्याय साहित्यमें वादिदेवसूरिके न्याय-सूत्रों (प्रमाणनयतत्त्वालोक) के अतिरिक्त केवल यही न्याय-ग्रंथ सूत्रबद्ध है। वादिदेवसूरिके न्यायसूत्रोंकी अपेक्षा इस ग्रन्थके सूत्र अधिक छोटे, सरल, स्पष्ट और पूर्ण अर्थके द्योतक हैं।

आचार्य हेमचन्द्र गौतमकी आन्हिक वाली पंचाध्यायीकी रचनाशैलीके अनुसार "जैन न्याय-पंचाध्यायी" के रूप में प्रमाणमीमांसाकी रचना करना चाहते थे। किन्तु यह ग्रंथ पांच अध्यायोंमें समाप्त हुआ था या नहीं; अधूरा ही रह गया था, या शेष अंश नष्ट हो गया है, आदि बातें विस्मृतिके गर्भमें संनिहित हैं। इसमें गौतमकी रचनाशैली मात्रका अनुकरण किया गया है न कि विषयका। शब्दोंके लक्षणों में भी पर्याप्त भिन्नता है। विषयकी दृष्टिसे प्रमाण, अनध्यवसाय, विपर्यय, वस्तु, प्रत्यभिज्ञान, व्याप्ति, पक्ष, दृष्टान्ताभास, दूषण, जय, पराजय, अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा, मनःपर्ययज्ञान, अवधिज्ञान, द्रव्येन्द्रिय आदि विषय गौतम सूत्रोंमें सर्वथा नहीं है। गौतमने ५ हेत्वाभास माने हैं; जब कि जैन-न्यायमें २ ही माने गये हैं। इसी प्रकार मान्यताओंकी अपेक्षासे भी गौतम-सूत्रोंमें और इसमें पर्याप्त भिन्नता है। "प्रमाण" के लक्षण में "स्व" पदके संबंध में आचार्य हेमचन्द्रने काफ़ी ऊहापोह की है और अपनी उल्लेखनीय मतभिन्नता स्पष्ट शब्दोंमें प्रदर्शित की है। आचार्य श्री की विशेषतामय नैयायिक प्रतिभा के इसमें पद-पद पर दर्शन होते हैं। यदि सौभाग्यसे यह संपूर्ण पाया जाता तो जैन-न्यायके चोटीके ग्रन्थोंमेंसे होता। और आचार्य श्रीकी हीरेके समान चमकने वाली एक उज्ज्वल कृति होती। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण उपलब्ध अंश है।

इनकी न्यायविषयक बतीसियोंमेंसे एक "अन्ययोगव्यवछेद" है और दूसरी "अयोगव्यवछेद" है। दोनोंमें प्रसादगुणसंपन्न ३२-३२ श्लोक हैं। उदयनाचार्यने कुसुमांजलिमें जिस प्रकार ईश्वरकी स्तुतिके रूपमें न्याय-शास्त्रका संग्रंथन किया है; उसी तरहसे इनमें भी भगवान् महावीर स्वामीकी स्तुतिके रूपमें षट्-दर्शनोंकी मान्यताओंका विश्लेषण किया गया है। श्लोकोंकी रचना महाकवि कालिदास और स्वामी शंकराचार्यकी रचना-शैलीका स्मरण कराती है। दार्शनिक श्लोकोंमें भी स्थान २ पर जो विनोदमय अंश देखा जाता है; उससे पता चलता है कि आचार्य हेमचन्द्र हंसमुख और प्रसन्न प्रकृतिके होंगे। अयोगव्यवछेदका विषय महावीर स्वामीमें "आप्तत्व सिद्ध करना" है और अन्ययोगव्यवछेदका विषय अन्य धर्म प्रवर्तकोंमें "आप्तत्वका अभाव सिद्ध करना" है। अन्ययोग व्यवछेद पर मल्लिषेणसूरिकी तीन हज़ार श्लोक प्रमाण स्याद्वाद-मंजरी नामक प्रसादगुणसंपन्न भाषामें सरस और सरल व्याख्या है। जैन न्यायसाहित्यमें यह व्याख्या ग्रंथ अपना विशेष और आदरपूर्ण स्थान रखता है। इस व्याख्यासे पता चलता है कि मूलकारिकाएँ (अन्ययोगव्यवछेद-मूल) कितनी गंभीर, विशद अर्थवाली और उच्चकोटि की हैं। हेमचन्द्रकी प्रतिभापूर्ण स्वाभाविक कलाका इसमें सुन्दर प्रदर्शन हुआ है।

कलिकाल सर्वज्ञता

इस प्रकार आचार्य हेमचन्द्र, व्याकरण, काव्य, कोष, छन्द, अलंकार, वैद्यक, धर्मशास्त्र, राजधर्म, नीतिधर्म, युद्धशास्त्र, समाजव्यवस्थाशास्त्र, इन्द्रजालविद्या, शिल्पविद्या, वनस्पतिविद्या, रत्नविद्या, ज्योतिषविद्या, सामुद्रिकशास्त्र, रसायनशास्त्र, धातुपरिवर्तनविद्या, योग-

विद्या, मन्त्र, तन्त्र, यंत्र, वादविद्या, न्यायशास्त्र, आदि अनेक विद्याओंके महासागर थे । इस प्रकार इनकी प्रत्येक शास्त्रमें अव्याहतगति, दूरदर्शिता और व्यवहारज्ञता देखकर यदि "कलिकाल सर्वज्ञ" अथवा वर्तमान भाषामें कहा जाय तो "जीवितविश्वकोष" जैसी भावपूर्ण उपाधिसे हमारे चरित्र नायक विभूषित किये गये हैं; तो यह ज़रा भी अत्युक्ति पूर्ण नहीं समझा जाना चाहिये । यही कारण है कि इनके नामके साथ दीर्घ कालसे "कलिकालसर्वज्ञ" उपाधि जुड़ी हुई देखी जाती है । पीटर्सन आदि पाश्चिमात्य विद्वानोंने तो आचार्य श्री को Ceeon of knowledge अर्थात् "ज्ञानके महासागर" नामक जो अनुरूप उपाधि दी है । वह पूर्णरूपेण सत्य है ।

आचार्यश्रीके अन्य संस्मरण

कहा जाता है कि आचार्य हेमचन्द्रने अपने प्रशंसनीय जीवन-कालमें ३३ हज़ार घरोंको अर्थात् लगभग डेढ़ लाख मनुष्योंको जैनधर्मावलम्बी बनाया था । आचार्य श्री चाहते तो अपने नामसे एक अलग संप्रदाय अथवा नया धर्म स्थापित कर सकते थे । किन्तु यह उनकी महान् उदारता और अलौकिक निस्पृहता ही थी, कि उन्होंने ऐसा नहीं करके जैनधर्मको ही दृढ़, स्थायी, एवं प्रभावशाली बनानेमें ही अपना सर्वस्व होम दिया ।

यह जैन-समाज इस प्रकार अनेक दृष्टियोंसे आचार्य हेमचन्द्रको सदैव कृतज्ञता पूर्वक स्मरण करता रहेगा और आचार्य हेमचन्द्रका नाम जैनधर्मके उच्च कोटिके ज्योतिर्धरोंकी श्रेणीमें सदैवके लिये स्वर्णाक्षरोंमें लिखा हुआ रहेगा । कहा जाता है कि आचार्य हेमचन्द्रने एक सर्वथा नग्न पद्मिनी स्त्रीके सामने अपनी विद्याकी सिद्धी की थी । उस समय भी इनके शरीरमें बाल बराबर भी विकृति नहीं आई थी । इससे अनुमान किया जा सकता है कि ये ब्रह्मचर्यके कितने बड़े हिमायती और पूर्ण पालक थे । यों तो ये बाल-ब्रह्मचारी थे ही और आजीवन एक निष्ठासे विशुद्धरूपेण ब्रह्मचर्य व्रतका इन्होंने पालन किया था ।

इस प्रकार आचार्य हेमचन्द्र साधुओंमें चक्रवर्ती, कामदेव जीतनेमें महादेव, ज्ञानलक्ष्मीमें कुबेर, व्याख्यान समयमें बृहस्पति, प्रयत्नमें भागीरथ, तेजमें सूर्य, शान्तिमें चन्द्र, स्थिरतामें मेरू, इन्द्रिय दमनमें यमराज, और सत्यमें युधिष्ठिरके समान थे । हमारे चरित्र-नायक तपस्याके जलते हुए अंगारे, ज्ञानके समुद्र, चारित्रमें स्फटिक, संयमकी साकार प्रतिमा, गुणोंके आगार, शक्तिके भण्डार, और सेवामें—परोपकारमें दधीचिके समान थे ।

अन्तमें ८४ वर्षकी आयुमें संवत् १२२६ में गुजरातके ही नहीं किन्तु सम्पूर्ण भारतके असाधारण तपोधन रूप इन महापुरुषका स्वर्गवास हुआ ।

आपके अनेक शिष्य थे । उनमेंसे रामचन्द्र, गुणचन्द्र, यशश्चन्द्र, उदयचन्द्र, वर्धमानगणि, महेन्द्रमुनि, और बालचन्द्र ये सात मुख्य कहे जाते हैं ।

अन्त में इन शब्दोंके साथ यह निबन्ध समाप्त किया जाता है कि आचार्य हेमचन्द्रकी कृतियाँ, चरित्र और परोपकारमय जीवन बतलाता है कि ये कलिकाल सर्वज्ञ, जिन-शासनप्रणेता और भारतकी दिव्य विभूति थे ।

शिक्षाका महत्व

(लेखक—पं० परमानन्द शास्त्री)

मानव-समाजकी उन्नतिकी जड़ शिक्षा है। इसके द्वारा ही मनुष्य अपनी मानसिक, शारीरिक, नैतिक और आध्यात्मिक शक्तियोंका उद्भावन एवं विकास कर सकता है। शिक्षासे शिष्टता, सभ्यताकी सृष्टि, एवं वृद्धि होती है और उसके द्वारा ही हमारे उस पवित्रतम ध्येय-की सिद्धि हो सकती है, जिसकी प्राप्तिकी हमें निरन्तर अभिलाषा लगी रहती है और जिसके लिये हम अनेक तरहके साधन जुटाया करते हैं। आत्मिक शिक्षाही हमारे हृदयोंमें सन्निहित अज्ञान अन्धकारके पुंजका नाश करती है, अन्धविश्वासको जड़मूलसे उखाड़ कर फेंकती है, कदाग्रहको हटाती है और उसीसे हमें हेयोपादेयका ठीक परिज्ञान होता है। शिक्षित समाज ही सर्वकला सम्पन्न होकर धार्मिक सामाजिक तथा राजनैतिक खेत्रों-में प्रगति पासकता है, वही अपने देशको ऊंचा उठा सकता है और उसीके प्रयत्नसे राष्ट्र अपनी शक्तिको संगठितकर खूब सम्पन्न समृद्ध तथा लोकोपयोगी बन सकता है। प्रत्युत इसके, अशिक्षित समाज एक क़दम भी आगे नहीं बढ़ सकता, उसमें नवजीवनका संचार हो नहीं सकता, शिक्षित समाजकी तरह वह अपने गौरवको संसारमें क़ायम नहीं रख सकता है और न समय शक्तिके प्रवल वेगके सामने अपनेको स्थिर ही रख सकता है।

वास्तवमें जो शिक्षित हैं—सच्चे अर्थमें शिक्षासे सम्पन्न है और इसलिये जिनके पास शिक्षारूपी चिन्ता-मणि मौजूद है वे ही संसारमें महान् हैं, प्रतिष्ठित हैं और धनी हैं। उनके सामने संसारकी दूसरी बड़ीसे बड़ी विभूतियाँ भी तुच्छ है। भीषणसे भीषण आपदाएँ भी उन्हें अपने कर्तव्यपथसे विचलित नहीं कर सकतीं और वे बराबर अपने कर्तव्यपर आरूढ़ हुए प्रगति करते रहते हैं तथा देशको स्वतन्त्र एवं आज़ाद बनानेमें बड़ी भारी शक्तिका काम देते हैं।

यह सब शिक्षाका ही माहात्म्य तथा प्रभाव है जो हमें पशु जगतसे अलग करता है, अन्यथा आहार, भय, निद्रा और मैथुन ये चारों संज्ञाएँ पशुओं तथा मनुष्यों दोनोंमें ही समानरूपसे पाई जाती हैं। एक शिक्षा ही मनुष्यमें विशेषता उत्पन्न करती है और वही हमें पशुओंसे उच्च तथा आदर्श नागरिक बनाती है। जो अशिक्षित हैं—वस्तुतत्व से अनभिज्ञ हैं—अपने कर्तव्यको नहीं पहिचानते। उन्हें 'विद्या विहीनाः पशुभिः समानाः' की नीतिके अनुसार पशुवत् ही समझना चाहिये।

परन्तु भारतीय वर्तमान शिक्षण-पद्धतिसे हमारा समाज सच्चे अर्थमें शिक्षित नहीं हो सकता और न उसमें प्राचीन भारतीय गौरवकी झलक ही आसकती

है; क्योंकि वर्तमान शिक्षा-प्रणाली बहुत कुछ दूषित हो चुकी है, उसके कारण शिक्षित व्यक्तियोंसे भी शिष्टता और सभ्यताका व्यवहार उठता जा रहा है। यही वजह है कि समाजसे लोकसेवा और विश्वप्रेम जैसी सद्भावनाएँ भी किनारा करती जाती हैं और वह हमें पराधीनता या गुलामीके गर्तमें ढकेलती चली जाती हैं ऐसी शिक्षासे हमारे मनोबल तथा आत्मिक शक्तियोंका पूर्ण विकास होना तो दूर रहा, हम साधारणसे दुःख कष्टोंका भी मुकाबला करनेके लिये समर्थ नहीं हो सकते हैं। वह हमारे पथमें रोड़े अटकाती है और हमें कर्तव्य-विहीन, अकर्मण्य, स्वार्थी, प्रमादी और देश-द्रोही बनाती जाती है। यही कारण है जो हमसे स्वावलम्बन तथा सदाचार दूर होता चला जाता है और उनके स्थानपर पराधीनता तथा असदाचारता हमें घेरे हुए है। आज भारतीय समाजोंमें फैशनका रोग इतना बढ़ गया है कि उससे भारतका कोई भी प्रान्त देश या नगर-ग्राम अछूता नहीं बचा है। यह रोग टिड्डी दलके समान भारतियोंके सीधे-सादे आनन्दप्रद रहन-सहन और वेष-भूषाका एकदम सफाया बोलता हुआ चला जाता है। और इसने भारत-की सभ्यताका नाशकर उसे उजाड़ सा बना दिया है। आज भारतके नवयुवक और युवतियां सभी जन पाश्चात्य सभ्यताकी चकाचौंधमें चुंधियाकर अपने प्राचीन गौरवको भूलते जा रहे हैं, विदेशोंकी चमकीली, भड़कीली वस्तुओंके लुभावमें पड़कर अपने ग़रीब देश-का करोड़ों अरबों रुपया उनके संग्रह करनेमें व्यर्थ फंसाते जारहे हैं। यह सब दूषित शिक्षा प्रणालीका ही प्रभाव है।

वास्तवमें वह शिक्षा ही नहीं, जो मस्तिष्कको परिष्कृत तथा चित्तको निर्मल एवं प्रसादादिगुणोंसे युक्त नहीं बनाती और न लोकसेवा जैसे महत्वपूर्ण कार्योंमें प्रवृत्ति ही कराती है। जिससे हमारा आत्मा स्वतन्त्रता-की ओर अग्रसर नहीं होता और न जो हमें कर्तव्यका यथेष्ट ज्ञान ही प्रदान करती है, ऐसी शिक्षासे हमारा उत्थान कैसे हो सकता है? अस्तुः शिक्षाके सम्बन्धमें शिक्षाके ध्येयकी व्याख्या करते हुए भारतकी विभूति-स्वरूप महात्मा गांधीके निम्न वाक्य खासतौरसे ध्यान देने योग्य हैं:—

"जो शिक्षा चित्तकी शुद्धि न करती हो, मन और इन्द्रियोंको वशमें रखना न सिखाती हो, निर्भयता और स्वावलम्बन न पैदा करे, उप-जीविकाका साधन न बतावे और गुलामीसे छूटनेका और आज़ाद रहनेका हौसला, साहस और सामर्थ न पैदा करे, उसमें जान-कारीका खज़ाना कितना ही भरा हो, कितनी ही तार्किक कुशलता और भाषा-पाण्डित्य हो, वह वास्त-विक नहीं, अधूरी है।"

महात्माजीके इन महत्वपूर्ण एवं सारगर्भित वाक्यों पर ध्यान रखते हुए हमें अब अपने कर्तव्यकी ओर पूर्ण तौरसे ध्यान देना चाहिये। भारतके सभी स्त्री-पुरुषों, बालक-बालिकाओं और बूढ़े तथा जवानोंको शिक्षित करनेका-उन्हें साक्षर विद्यावान एवं सदाचारी बनानेका प्रयत्न करना चाहिये। इसके लिये उन्हें वर्त-मान शिक्षा प्रणालीको छोड़ कर प्राचीन शिक्षा पद्धतिके अनुसार अथवा उसमें थोड़ासा उपयोगी सुधार करके सत्-शिक्षाका आयोजन करना होगा, तभी भारत अपनी खोई हुई स्वाधीनता प्राप्त कर सकेगा और तभी भारत-वासी अपनी लौकिक तथा पारमार्थिक उन्नति कर सकेंगे

वीर-सेवा-मन्दिर, सरसावा,

ता० १५-१-१६३६

भगवान् महावीर

[ले०—श्री० आनन्द जैन, दर्शन-साहित्य-शास्त्री, न्याय-साहित्यतीर्थ]

१

विषम दुःखकी ज्वालाओंसे जला हुआ था जब संसार !
दानव बन, मानव था करता अबलाओं पर अत्याचार !!
शूद्र-जनोंका सुन पड़ता था संसृति-तल में हाहाकार !
धर्म-नाम पर होता था नित पशुओंका भीषण संहार !!

२

प्रकृति प्रकम्पित होकर अपने गिन-गिन अश्रु बहाती थी !
मानवता रोती थी केवल दानवता हँस पाती थी !!
कर्म-काण्डका जाल बिछाकर दम्भी मौज उड़ाते थे !
नीति-न्यायका गला घोट कर न्यायी पीसे जाते थे !!

३

जातिवादने छीन लिये थे शूद्र-जनोंके सब अधिकार !
मानुषतासे वंचित मानव फिरता था बस मनुजाकार !!
उसी समय इस पृथ्वीतल पर तुमने लिया पुण्य-अवतार !
राज-पाट तज पुनः जगतका करने लगे सतत उद्धार !!

४

ललनाएँ चरणोंमें तेरे स्वागत-पुष्प चढ़ाती थीं !
उत्सुकतासे पावन-पथमें बढ़कर पुण्य कमाती थीं !
शूद्र म्लेच्छ सब ही में तुमने भ्रातृ-भाव दरसाया था !
अन्यायोंकी होली करके नव-जीवन सरसाया था !!

५

सिंह-गर्जना सुन कर तेरी हुए पराजित अत्याचार !
मानुषता सिखलाई तूने हे मानवताके श्रृंगार !!
कोरी कर्म-काण्डता विघटी, हुआ मूक-पशुबलि-संहार !
फूले थे जो अन्यायोंसे पछताते अब बारम्बार !!

६

अनेकान्तकी अद्‌भुत शैली सब जगको सिखलाई थी !
धर्म-समन्वय करके सबकी मौलिकता दिखलाई थी !
सम्प्रदायके द्वन्द्व भगाकर निज-पर भेद मिटाया था !
आध्यात्मिकता सिखा जगत्को आनन्द पाठ पढ़ाया था !!

७

जनमतकी परवाह न करके जग-हितकी दिखलाई राह !
हुआ विरोध तुम्हारा लेकिन घटा न उससे कुछ उत्साह !!
अन्त विजय-लक्ष्मीने डारी कण्ठ तुम्हारे वर-वरमाल !
'जिन' कहलाए, शत्रु नशाए, गावें अबतक सब गुणमाल !!

८

दुखियोंको गोदीमें लेकर तुम्हीं खिलाने वाले थे !
प्यासोंको सुधाम्बु निज-करसे तुम्हीं पिलाने वाले थे !!
मुर्दोंमें भर कर नव-जीवन, तुम्हीं जिलाने वाले थे !
अन्यायोंकी पकड़ जड़ोंको, तुम्हीं हिलाने वाले थे !!

९

महावीर थे, वर्धमान तुम, सन्मति नायक जगदाधार !
सत्पथ-दर्शक विश्व-प्रेममय दया-अहिंसाके अवतार !!
प्रमुदित होकर मुझे सिखाओ सेवा पर होना बलिदान !
मिट जाऊँ, पर मिटे न मेरा सेवामय उत्सर्ग महान !!

नारीत्व

[लेखक—श्री. भगवत्स्वरूप जैन 'भगवत्']

दोनों इतिहाससे पहलेकी चीज़ें हैं—पाप और पुण्य ! ···नीची-मनोवृत्तिका नाम पाप और ऊँचीका नाम पुण्य ! चाहे एकका नाम दुर्जनता, दूसरीका सज्जनता रख लीजिए ! प्रकारान्तरसे बात एक ही आकर पड़ती है ।

छिद्रान्वेषण अधम-मनोवृत्तिका ही एक प्रकार है । और वह प्रत्येक न्याय-हीन हृदयमें स्थान पानेके लिए कटिबद्ध रहा करता है !... अयोध्या-नरेश महाराज मधुकको उत्तर-दिशाकी ओर दिग्विजयके लिए गया हुआ जान, दुर्जन-नरेशोंको अयोध्याका राजमुकुट लेनेकी सूझी ! उन्होंने सोचा—'अवसर अनुकूल है ! अवसरसे लाभ लेना है विद्वत्ताका काम ! सिंहासन सूना है ! नाम-मात्र के लिए—महारानी सिंहिका स्थानापन्न हैं ! लेकिन उससे क्या ... ! ... रणांगण, कठोरताका उपनाम है ! वज्र-हृदयकी आवश्यकता है—उसके लिए ! नारी...?—कोमलाँगी-नारी, नाम सुनकर ही भयाकुल हो उठेगी ! धैर्य खो बैठेगी ! उसके किए कुछ न होगा ! और···राज्य हमारा, और फिर हमारा ! इसमें कोई सन्देह नहीं !···'

और दूसरे ही प्रभात—अयोध्याका सिंहासन खतरेसे खाली न था ! अयोध्याके इर्द-गिर्द चारों तरफ़ बड़ी-बड़ी फ़ौजें उसे घेरे हुए पड़ी थीं ! नगरमें आतंक छाया हुआ था ! प्रत्येक स्वदेश-प्रेमीका हृदय—इस सहसा आनेवाले संकटके कारण—क्षुब्ध हो रहा था ! दुखद-भविष्यकी कठोर-कल्पना उसे उत्पीडन दे रही थी ! महाराजकी अनुपस्थितिमें, इन उद्दण्ड, दुष्ट-प्रकृति, राज्य-लोलुपोंके अनाचार-पूर्ण कृत्योंके प्रति जनता अत्यन्त उग्र थी अवश्य ! लेकिन विवश थी, मजबूर थी ! उसका प्यारा शासक उससे दूर था ! उसके दुख दर्द, उसकी अन्तर-वेदनाका पूछने-सुनने वाला कोई न था ! नगरमें नीरवता विराज रही थी ! ठीक वैसी, जैसी मध्य रात्रिमें श्मशान की ! न कहीं उमंग न उल्लास !

* * *

(२)

'...मैं मानती हूँ नारी कोमल होती है ! लेकिन स्मरण रखिए, मान-मर्यादाका ध्यान उसे भी रहता है ! महाराजकी अनुपस्थितिमें राज्यकी ज़िम्मेदारी, उसका उत्तरदायित्व मेरे सिर है ! प्रजाका सुख-दुख मेरे अधीन

है ! अधीनस्थकी रक्षाका भार मेरे कन्धों पर है !...सुनो, अगर मैं आज नारीत्वकी रक्षा करती हूँ तो उसका स्पष्ट अर्थ यही होता है कि मैं अपने कर्तव्यको ठुकराती हूँ ! प्रजाके साथ विश्वास-घात करती हूँ ! और आँखों देखते स्वदेशको अनधिकारियोंके हाथ लुटने देती हूँ ! ...मेरा निश्चय है कि—.........'

महारानी अपना निश्चय प्रगट करें इसके पहिले प्रधान सचिवने कुछ कहना मुनासिब समझा ! बातको तोड़ते हुए ज़रा गंभीर मुद्राके साथ वह बोले—... महाराज जिन विचारोंको अधिक तरज़ीह देते हैं उनके बावजूद मैं ख़याल करता हूँ कि आप ख़ामोश बैठें तो ज्यादह मुनासिब-बात होगी ! और समर-भूमिमें हमारी फ़ौज जी-जान से, वफ़ादारीसे लड़ेगी इसका मुझे पूरा विश्वास है !...'

महारानीने खिन्न-भावसे बातें सुनीं ! मुख पर एक उदासीकी रेखा-सी खिंच गई ! वह क्षण-भर चुप रहीं ! फिर—

'पर...आप यह तो सोचिए—अगर कहीं विजय लक्ष्मी उधर गई तो...? तब मुझे मर्मान्तक पश्चाताप न होगा,यह आप कह सकते हैं ?—स्वदेशकी क्या दशा होगी ?—महाराज लौटकर भी 'महाराज' कहला सकेंगे ? जवाब दीजिए न इन बातों का !...एक ओर नारीत्व है,दूसरी ओर कर्तव्य, कठोर-कर्तव्य ! देशका प्रतिनिधित्व गुरुतर-उत्तरदायित्व !!...एक ओर मैं ग़ुलाम हूँ, दूसरी ओर राष्ट्र-का-राष्ट्र मेरा सेवक ! बतलाओ—मुझे अपनी गुलामीकी रक्षा करनी चाहिए या अपने आधीनोंकी ?

'... यह तो ठीक है ! लेकिन......!—

'लेकिन...फिर'ठीक' के साथ 'लेकिन' बे-सूद है ! स्वतंत्रताके रणांगणमें नारीत्वका बलिदान चढ़ाना भी उचित ही है इसे महाराज यदि लम्बे-दृष्टिकोणसे देखेंगे तो कभी बुरा न कहेंगे !...'

'काश ! आज अगर हमारा हृदय महाराजकी नाराज़ीके डरसे न भरा होता तो—इन पवित्र विचारोंका मुक्त-कण्ठसे स्वागत किया होता !...धन्य हो देवी ! एक भारतीय-महिलाके लिए यही शोभा है ! अबलाके कलंक को सबला बन कर मिटाना ही उनका ध्येय है !

'तो उठो, आज़ादीकी रक्षाके लिए अपने बल, अपने पौरुष, और अपनी साहसिकताका परिचय दो !

* * *

(३)

कुछ दिन बाद—

दिग्विजयकी दुन्दुभी बजाते हुए महाराज-मधुक लौटे ! सूनी-सी अयोध्या लह-लहा उठी ! प्रत्येक भवन आनन्द नादसे प्रकम्पित हो उठा ! सब ओर ख़ुशीका साम्राज्य छा गया ! राज्य-भक्ति उमड़ पड़ी ! महाराज राज-महल पहुंचे ! स्वयं भी उन्हें कम प्रसन्नता न थी ! वह अपनी विजय पर मुग्ध थे !—

'महाराजकी जय हो !'—दरबारियोंने अभिवादन किया।

महाराज सिंहासनासीन हुए ! कुशल-क्षेमोपरान्त, राज्य-समाचार दर्याफ्त किए गए ! × × × ×

'हूँ ! ऐसी बात ?...अच्छा फिर...?'—महाराजने साश्चर्य पूछा !

'...समीप ही था कि राज-सिंहासन पर शत्रुओंका अधिकार हो जाता और...!'—प्रधान सचिवने उत्तर दिया।

'तो फिर लड़ाई छिड़ी, और उसमें तुम्हारी जीत हुई ! क्यों यही न ?'

'हाँ ! महाराज !'

'मैं तुम्हारी वीरताकी प्रशंसा करता हूँ ! संकटके

समयमें जिस धीरतासे तुमने काम लिया—उसके लिए मैं तुम लोगों से बहुत प्रसन्न हूँ! तुम्हें इसी वफ़ादारीके साथ—!'

'लेकिन महाराज...!'

'क्या...?'

'...विजय प्राप्तिमें हम लोग तो नाम-मात्रके लिए हैं। असलमें इस बातका सारा श्रेय महारानी सिंहिकाको ही दिया जा सकता है। उन्हींके बल, उन्हींके साहस और उन्हींके अदम्य उत्साहके कारण हमारी विजय हो सकी है। नहीं तो देशकी रक्षा नितान्त कठिन थी!...साथ ही, उन्होंने एक और शुभ-संवाद आपके सुनानेके लिये प्रेषित किया है! वह यह कि लगे हाथों उन्होंने दक्षिण-दिग्विजय भी कर डाली। सभी उद्दण्ड दुश्मन आज नत-मस्तक हैं। महारानीकी शत्रुघाती तलवारने वह करिश्मा दिखाया कि आज आपकी कीर्ति शतोमुखी हो रही है!...'

'महारानी स्वयं रणाँगण में लड़ीं?'

'हाँ, महाराज! उन्हींके शौर्यने विजयी बनाया, नहीं—देश बर्बाद हो ही चुका था। उन्होंने इस दिलेरीके साथ शत्रु-सेनाका क्षय किया कि बड़े-बड़े योद्धा दाँतों-तले उंगली दाब गये। शत्रु-पक्ष तितर-बितर हो गया। वह शस्त्र-शास्त्रकी पूर्ण ज्ञाता हैं।...'

महाराजने क्या सुना, क्या नहीं; कौन कहे? उनका मुख-कमल मलिन हो गया उदासीकी लकीरें कपोलों पर झलक उठीं। जैसे मनोवेदना स-जग हो उठी हो।

वह कुछ देर चुप, सोचते रहे!

गहरी निस्तब्धता!

फिर बोले—'ओफ़! कितनी विचारणीय बात है? लज्जाका इतना परित्याग?...स्त्रीकी शोभा लज्जासे ही तो होती है! मैं नहीं जानता था—महारानी इतनी उद्दण्ड हैं! यह उनकी गहरी धृष्टताका परिचय है। पौरुष, पुरुषोंके बाँटकी चीज़ है। उसे अपनाकर उन्होंने अनधिकार चेष्टा की है!—वज़नदार अपराध किया है! स्त्रीत्वकी अवहेलना ही उसका अन्त है।...स्त्रियोंको होना चाहिए कोमल! वीरत्व उन्हें शोभा नहीं देता! वह उनकी चीज़ ही नहीं!'—एक गहरी साँस लेते हुए महाराजने प्रगट किया!

'महाराजका कहना अनुचित नहीं! लेकिन इतना विचारणीय अवश्य है कि उस परिस्थितिमें—जिसमें कि महारानीजीने स्वदेश-प्रेमसे प्रेरित होकर अपनी वीरताका सफल-प्रदर्शन किया है कदापि दूषित नहीं! उसे धृष्टता न कहकर कर्तव्य-निष्ठा कहना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है!'—प्रधान-सचिवने दलील पेश की!

'ऊँह! कोरी विडम्बना! अगणित-पर-पुरुषोंके बीचमें एक स्त्रीका जाना, चारित्रिक-दृष्टिसे क्षम्य नहीं! स्त्रीकी निश्चय ही—जघन्य-प्रवृत्तिका द्योतक है!...'—महाराजने अपनी उपेक्षाको आगे बढ़ाया।

'साधारण तरीक़े पर यह भी माननीय हो सकती है; परन्तु यह बात सिद्धान्त नहीं बन सकती! स-तेज स्त्रीत्वके सन्मुख विकारोंको नष्ट होजाना पड़ता है! फिर महारानी जैसी पतिवृत-धर्म-परायणा स्त्री पर आरोप लगाना, उनके साथ अन्याय है! उनके उपकारपूर्ण कार्यके प्रति कृतघ्नता है! और है एक महान् आदर्शका विरोध!!'—प्रधान-सचिवने समझाया!

पौलिटिक्स-विचारोंने महाराजके दाम्पत्तिक-जीवनमें विरक्तताका सूत्र-पात किया! वह राष्ट्रीय हानि लाभके भावोंसे दूर हटकर, नारीत्वके अन्वेषणमें घुस पड़े! बोले—'हो सकता है महारानीके सतीत्व पर शंका

न की जा सके। लेकिन मेरी दृष्टिमें यह धृष्टता कदापि क्षम्य नहीं! मैं उसका परित्याग करता हूँ! महिर्षी-पद वापिस लिया जाए!!'

किसकी ताब?—किसकी हिम्मत? जो महाराजकी आज्ञाके खिलाफ़ ज़बान हिलाता!

सब चुप!

राज-आज्ञा! अटलनीय-राज-आज्ञा!—और महारानी परित्यक्त करदी गई!

* * *

(४)

दिन बीत रहे थे—

पर न अब उमंग शेष थी न उत्साह! एक लम्बी निराशा, एक कसक, और आत्मग्लानि महारानीके साथ थी! उसका समग्र-वैभव, दरिद्र बन चुका था! उसकी 'आज्ञा'का नाम अब 'पुकार' था! उसके मुखका तेज़ अब करुणत्व में परिवर्तित हो चुका था!

अब 'दिन' वर्ष बनकर उसके सामने आता है! कभी-कभी वह सोचती है—'क्या नारीका जीवन सचमुच दूसरे पर अवलम्बित है?—उसका अपना कुछ भी नहीं? दूसरेकी खुशी ही उसकी खुशी है! उसका निश्चित उद्देश्य ही नहीं?—कर्तव्य···?—यही कि आँखें मूँदकर—दूसरेका अनुकरण करे! फिर चाहे किसीका कितना ही अनिष्ट क्यों न हो!···

वाहरे, नारी-जीवन!···

इतना जटिल, इतना परतन्त्र!'

कभी उसके विचार दूसरी-दिशाकी ओर बहते—'बड़ी गहरी-भूल हुई मेरी! मुझे इन झगड़ोंमें पड़ना ही क्यों था! मेरा इनसे मतलब?—मुझे महाराजकी आज्ञाके अतिरिक्त और सोचना ही क्या? वहीं तक है मेरा कार्य-क्षेत्र!···आगे बढ़ना ही तो अपराध था! वह मैंने किया ही,—ओफ़!···अब···?···'

दुर्गा-सी कठोर महारानी सिंहिका—जिनके तेजके आगे शत्रुकी परछाईं तक न टिक सकती थी—अविरल-आँसुओं से रो पड़ीं! शत्रु-दलके सामने डटा रहनेवाला साहस पानी बन चला! पति-प्रेमके आगे वह हार मान गईं! पौरुष, बल, कठोरता और धीरताके पटको फाड़कर नारीत्वकी कोमल-भावना प्रगट हो गई!

वह रोने लगीं! विवशताका शृंगार यही तो है!···परित्यक्त-जीवन! नीरस-जीवन!! मृत्युके ही तो उपनाम हैं!!!

* * *

(५)

'वह मुझे भूल सकते हैं, लेकिन मैं उन्हें एक मिनिटको भी भूल सकूँ, यह असम्भव! उनका तिरिस्कार भी मुझे प्यारसे अधिक है। उनकी खुशी मेरा स्वर्ग है! उनकी तकलीफ़ मेरी मौत! बोलो?—बोलो···?—उन्हें क्या हुआ है?—क्या कष्ट है?'—महारानीके प्रेम-विव्हल हृदयने प्रश्न किया!

'दाह-रोग!'—सेविकाने परस्थिति सामने रखी!—'अगणित-भिषग्वरोंने बहुमूल्य औषधियोंका सेवन कराया है! लेकिन लाभके नामपर महाराजकी एक भी 'आह!'बन्द नहीं हुई! जीवन-आशा संकटमें है! बड़ी वेदना है—उन्हें! क्षण-भरको शान्ति नहीं!···'

'दाह-रोग?··· महाराजको कष्ट?—जीवनमें सन्देह···?'—महारानीने पूछा!

'हाँ! ऐसी ही बात है!'—परिचारिकाने दृढ़ताके साथ कहा। क्षण-भर महारानी चुप रहीं! आँखें मूँदे कुछ सोचती रहीं! फिर बोलीं—

'सखी! प्रधान-सचिवसे कहो, अगर मेरा सतीत्व निर्दोष है! महाराजके प्रति ही मेरा सारा प्रेम रहा है

तो—मेरी अंजुलीके जलके छींटे उन्हें आरोग्य करेंगे ! जाओ, शीघ्र जाकर इसकी व्यवस्था करो ! मुझे विश्वास है, मेरा सतीत्व, मेरी परीक्षाके समय काम आयेगा !'

'जो हुक्म !'

* * *

(६)

परीक्षा-भूमि पर—

राज्य-दरबार में आज उपस्थिति—नित्यकी अपेक्षा कहीं अधिक थी ! नगरके सभी प्रमुख व्यक्ति मौजूद थे ! दर्शकोंकी भीड़ उमड़ी पड़ रही थी ! एक कौतुहल था—'जिस कठिन-रोगको उग्र-औषधियाँ नष्ट न कर सकीं, उसे सतीत्व—पातिव्रत-धर्म तत्काल दूर कर दिखायेगा !'

ज़िम्मेदार राज-कर्मचारी बैठे हुए थे। एक ओर महाराज शय्याशन पर लेटे, वेदनाकी आहें भर रहे थे !

···मलिन-वेश, परित्यक्ता महारानी सिंहिकाने, बहुत-दिन बाद आज दरबारमें प्रवेश किया ! उनके मुखपर आज दिव्य-तेज झलक रहा था !

सब-लोग उठ खड़े हुए ! महारानीने आगे बढ़, अन्तःकरणकी शुद्धता-पूर्वक गंभीर-स्वरमें कहा—'अगर मेरा सतीत्व अक्षुण्ण रहा हो, निर्दोष हो ! तो इस प्रासुक-जलके छींटे महाराजको आरोग्य करें ! यही सतीत्वकी परीक्षा हो !'

—और तत्काल महारानीने अंजुलीमें जल लेकर महाराजको छींटे दिए !

हर्ष···!!!—

महाराज उठ बैठे ! जैसे उनकी सारी वेदना मंत्र-शक्ति द्वारा खींचली गई हो ! मुँहपर उत्साह, हर्ष एक साथ खेल उठे ! शरीर कान्तिपूर्ण, नीरोग !!

सब, आश्चर्य-चकित नेत्रोंसे देखते-भर रह गए ! श्रद्धासे मस्तक झुक गए !

महाराज—प्रेमोन्मत्त महाराज—शय्या त्याग महारानीके समीप आए ! प्रसन्नता भरे गद्-गद्-स्वरमें बोले—'धन्य सतीत्व-सामर्थ्य ! मुझे क्षमा करो, मैंने अपराध किया है ! भूल की है मैंने !···मैं नहीं जानता था—कि वीर-रमणियाँ दूषित-विकारोंसे दूर हट जाती हैं !···'

महारानीका वज्र-हृदय पानी होगया। प्रेमोद्रेकके मारे कण्ठ अवरुद्ध होगया। आँखोंमें प्रसन्नताका पानी छलछला आया। आदर्श-स्थापित करनेके दर्म्यानकी मुसीबतें विस्मरण होगई ! हर्ष-पूर्ण-स्वर में बोलीं—

'···महाराज !'

महाराजने स्वर्ग-सुखका अनुभव करते हुए उत्तर दिया—'प्रिये !'

तृप्ति-दृष्टि !!!

सुभाषित

जे परनारि निहारि निलज्ज, हँसै विगसैं बुधिहीन बड़ेरे,
जूंठनकी जिमि पातर देखि, खुशी उर कूकर होत घनेरे ।
है जिनकी यह टेव सदा, तिनको इह भव अपकीरति है रे,
है परलोक विषै दृढ़ दण्ड, करै शत खण्ड सुखाचल के रे ॥

—भूधरदास

उन्मत्त संसारके काले कारनामे

[ले० पं० नाथूरामजी डोंगरीय जैन]

आज हिन्दुस्तानमें ही नहीं, दुनियाँके तमाम मुल्कोंमें मानसिक अनुदारता और पाशविक असहिष्णुताका नग्न तांडव हो रहा है। एक जाति दूसरी जातिसे, एक देश दूसरे देशसे, एक पार्टी दूसरी पार्टीसे, एक भाई दूसरे भाईसे, प्रायः इसलिये लड़ता है कि उससे भिन्न जाति, देश, पार्टी या भाईके विचार भिन्न हैं और उसके अनुकूल नहीं है। कट्टर मुसलमान हिन्दुओं और ईसाइयोंको अपना महान् शत्रु केवल इसलिये समझता है कि वे उसके मान्य क़ुरान शरीफ, खुदा और रीति-रिवाजोंसे सहमत नहीं हैं। इसी प्रकार अनुदार ईसाई या हिन्दू मुसलमानोंको भी उक्त कारणोंसे ही अपना कट्टर शत्रु समझते हैं।

यद्यपि अधिकांश धर्म अपने अपने शास्त्रोंमें मान्य एक ही ईश्वर, खुदा या गॉड (God) को ही सारी दुनियाँ और उसके मनुष्योंका कर्त्ता-धर्त्ता मानते हैं और इसीलिये उन सबके मतानुसार जिस परमपिता, खुदा या गॉडने हिन्दूको बनाया उसीने मुसलमान और ईसाईको भी पैदा किया, यह बात सिद्ध है; तो भी कट्टर मुसलमान हिन्दुओंकी हस्ती मिटा देनेकी और अनुदार हिन्दू मुसलमानोंको नेस्तनाबूद कर देनेकी दिली ख्वाहिश रखता है और इस प्रकार वह अपने संकुचित एवं अनुदार दृष्टिकोण द्वारा मज़ेमें अपने ही मान्य धर्मशास्त्रों-का गला घोटता रहता है। इसी तरह प्रत्येक धर्मात्माका धर्म यद्यपि संसारके संपूर्ण मानवोंके प्रति मित्रतापूर्ण उदार व्यवहार करनेकी शिक्षा देता है; किन्तु होता इससे विपरीत ही है। "क्योंकि इसके विचार मेरे विचारों-से भिन्न हैं।" प्रायः यही सोचकर मानव-समाजका अधिकांश भाग उसकी रहनुमाईका दम भरने वाले बड़े बड़े नामधारी नेता (Leaders) एक दूसरेके कट्टर दुश्मन बने हुए हैं और उसके प्राणोंका अपहरण करने तक पर तुले हुए हैं।

केवल धार्मिक विचारोंमें ही विभिन्नता होनेके कारण भारतके हिन्दू और मुसलमानोंके असहिष्णुता-पूर्ण भीषण दंगे और रक्तपात, जो कि आये दिन होते रहते हैं, विश्वविख्यात हैं। अब ज़रा दूसरे मुल्कोंमें होने वाले असहिष्णुता और हृदय-संकीर्णता सम्बन्धी काले कारनामों पर भी दृष्टिपात कीजिए—जर्मनी और इटली रूसके स्पष्टतः इसलिए घोर शत्रु बने हुए हैं कि उसका सिद्धान्त प्रजातन्त्र और साम्यवादकी भित्ति पर खड़ा हुआ है और इटली व जर्मनीका उसके विरुद्ध डिक्टेटरशिप एवं फैसिष्ट वादके आधार पर। इन राष्ट्रों-की पारस्परिक शत्रुतामें और भी कई कारण हो सकते हैं और हैं, किन्तु जैसी कि समय समय पर हर हिटलर और सीन्योर मुसोलिनीके मुँहसे ध्वनि निकलती रहती है, मुख्य कारण विचार-विभिन्नता ही है। स्पेनमें प्रजा-तन्त्रात्मक शासनका, किन्तु जनरल फ्रांकोने वहाँ डिक्टेटरशिप कायम करनेके लिए विद्रोहके नाम पर जो अपने ही देशवासियोंका हृदयविदारक संहार किया व

करवाया है वह कलकी बात नहीं है; बल्कि इन पंक्तियोंके लिखने तक जनसंहार वहाँ पर भीषण रूपसे हो रहा है। हजारों औरतों और निरपराध बच्चोंको केवल इसलिए मौतके घाट उतार दिया गया है कि वे प्रजा-तांत्रिक सरकारकी छत्रछायामें पल रहे थे, जो कि उसके विचारोंके अनुकूल नहीं थी। यही नहीं जापानने चीनियोंके ऊपर जो जबरदस्त और भीषण आक्रमण कर रक्खा है उसका कारण भी उसने चीनियोंकी विचार विभिन्नता ही बतलाई है। जापानियोंका कहना है कि चीनी बोलशेविज़्मके अनुयायी होते जा रहे हैं। और जापान चाहता है कि वह अपने पड़ोसियोंको इस खतरनाक मर्ज़से बचावे। अतः जापानने चीनमें हर मुमकिन कोशिश की, कि चीनी इस रूसी सिद्धान्तके फेर में न पड़ें, किन्तु जब उसे सफलता न मिली तब उसे उसकी रहनुमाई करनेके लिए मजबूरन इस आखिरी संहार शस्त्रका प्रयोग करना पड़ा, आदि आदि!

यद्यपि जापानियोंने चीनपर जो आक्रमण किया है वह उस पर कब्जा करनेकी नीयतसे ही किया है, फिर भी यदि उसकी ही बात मानली जावे, तो यह प्रश्न विचारणीय ही रहेगा कि विचार-भिन्न होनेसे ही क्या किसीके प्राण ले लेना चाहिये? या उसे दुश्मन समझ लेना चाहिये?

विचार-विभिन्नता और स्वार्थ-सिद्धिके फलस्वरूप दम्भी जापान चीनपर हमला करके जो-जो अत्याचार चीनियोंके कुचलनेमें कर रहा है, उनको नज़रन्दाज़ कर देनेके बाद हमारी दृष्टि दुनियांमें एक मात्र प्रजातंत्रका दम भरने वाले उस देश पर जाती है, जहां कि ज़रा-सी विचार-विभिन्नताके कारण उसी देशके हज़ारों मनुष्य गोलीसे उड़ा दिये गये। समाचार-पत्रोंके पाठकोंको मालूम होगा कि रूसमें मोसियो स्टैलिनकी सरकारके खिलाफ विचार रखने और बोलने वाला व्यक्ति फाँसी और मौतकी सजासे कमका अपराधी नहीं माना जाता। जब प्रजातंत्रात्मक देशमें ही अधिकार-हीन जनताके मुँहमें लगाम लगानेकी ही नहीं, मुँह-सीमने तककी कोशिशें जारी हैं, तो फैसिस्ट शासनमें होने वाले अत्याचारोंका तो कहना ही क्या है! जर्मनीमें नाज़ी-विरोधियों और यहूदियोंकी दुर्दशा किसे कष्ट नहीं पहुँचाती! अस्तु।

इधर देखिये—आज़ादपार्कमें जल्सा हो रहा है, फलाँ साहबके अमुक बात कहते ही उक्त विचारके विरोधी सज्जनों (!) ने ईंट पत्थर बरसाने शुरू कर दिये! सैंकड़ोंके सर फूटे और दो चारने प्राणोंसे हाथ धोये!!

रासलीलामें कृष्णका पार्ट अदा करने वाले एक्टरके सर पर जो मुकुट होता है उसकी कलगी एक पार्टीके कथनानुसार दायीं ओर दूसरीके कथनानुसार बायीं ओर होना चाहिये थी, बस, इसी बात पर झगड़ा हो गया और शायद सैकड़ों घायल हो गये!!

वह देखिये—मस्जिदके सामनेसे बाजा बजाता हुआ एक हिन्दुओंका जुलूस निकल रहा है। यद्यपि ऐसे बाजों पर न तो पहिले कभी झगड़ा हुआ था, न इस बाजेके बराबर ही शोर मचाने वाले दूसरे मोटर, एंजिन, वायुयान या बादलों आदि पर कोई ऐतराज़ किया जा सकता है और न अभी नमाज़ पढ़नेका ही वक्त है, तो भी धर्मधुरन्धर मुसलमानोंने हमला कर दिया! और तड़ातड़ लाठियाँ चलनेसे सैकड़ों सर फूट गये!! क्या यह सब जहालतसे भरी हुई अनुदारता और असहिष्णुताका परिणाम नहीं है!

हम समझते हैं कि अनादि कालसे ही प्रत्येक प्राणी-के विचार एक दूसरेसे भिन्न रहे हैं और अनन्त काल तक रहेंगे। यह बात दूसरी है कि किसी किसी विषय या बातके सम्बन्धमें एकसे अधिक मनुष्य सहमत हो

गये हों या हो जाएँ; किन्तु यह असम्भव है कि प्रत्येक प्राणीके विचार किसी भी समय एकसे ही हो जाएँ। सब देश जातियों तथा एक नगरके निवासियोंके विचारोंकी एकता तो दूर, एक ही बापके दो बेटोंके भी सब विचार एकसे नहीं होते। ऐसी अवस्थामें क्या केवल मतभेद होने मात्रसे ही मनुष्योंको कुत्तोंकी तरह लड़ लड़ कर अपना जीवन बर्बाद करते रहना चाहिए और बलवानोंको निर्बलों पर अत्याचार करते रहना चाहिए ? यह एक प्रश्न है, जिस पर समय रहते प्रत्येक समझदार व्यक्तिको तो विचार करना ही चाहिए; किंतु उन जाहिलोंको भी, जो कि उक्त दुष्कृत्य करने कराने पर तुले हुए हैं और दुनियांमें अशांतिकी आग धधकाकर खुद भी उसीमें जल रहे हैं, शीघ्र ही ठंडे दिलसे विचार करना चाहिए। अन्यथा, वह दिन दूर नहीं है जब कि असहिष्णुताकी इस धधकती हुई आगमें दूसरोंके साथ वे खुद भी देखते देखते भस्म हो जाएँगे।

इस समस्या पर हमें कोई नये सिरेसे विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि प्राचीन कालमें भी हीनाधिकरूपसे हमारे पूर्वजोंके सामने कभी जात्यन्धताके रूपमें तो कभी धर्मान्धताके रूपमें यह असहिष्णुता अनेक रूपसे प्रगट होती रही है। इसका हल भी उन्होंने न केवल उस समयके लिए किया बल्कि सदा-सर्वदाके लिए करके रख दिया। दुनियाँ चाहे तो उस हलके निम्न सूत्र पर अमलकर अपने जीवनको और दूसरोंके जीवनको भी पूर्णरूपसे सुखी तथा शांतिपूर्ण बना सकती है:—

"भाइयो! यदि तुम सचमुच ही शांति और सुखके इच्छुक हो, तो दुनियाके प्रत्येक प्राणीको अपना मित्र समझो, मतभेद होने मात्रसे ही किसीको अपना शत्रु समझकर उससे द्वेष मत करो; क्योंकि विभिन्न प्राणियोंके नाना स्वभाव और विचित्र दृष्टिकोणोंके होनेसे मतभेद होना स्वाभाविक है। अपने दृष्टिकोणको पवित्र बनाओ और प्रत्येक बात पर या वस्तुके स्वभाव पर हर पहलूसे हठको छोड़कर विचार करो। हो सकता है कि कोई जान बूझकर ग़ल्ती कर रहा हो या उसने बातको ग़लत समझा हो, तो भी उससे द्वेष न कर यदि तुमसे बन सके और तुम उसे समझानेका पात्र समझो तो उसे वास्तविकता समझा दो, वरना मध्यस्थ ही रहो और उसकी मूर्खता पर झुंझलाओ नहीं, किंतु दया करो। साथही, प्रत्येक प्राणीकी दिलसे भलाई चाहते रहो और किसीका स्वप्नमें भी बुरा न विचारो। और यदि तुम्हें कोई दीन दुखी दिखाई दे तो दयार्द्र होकर फौरन उसकी मदद करो। यदि किसी गुणी पुरुषके दर्शन हों तो उसका प्रेम पूर्वक आदर करो और यदि कारणवश या अकारण ही कोई तुमसे द्वेष करे तो तुम उस पर उपेक्षा कर जाओ। यदि ऐसा करोगे तो शीघ्र ही देखोगे कि दुनिया सुख और शांतिकी गोदमें खेल रही है।"

ये हैं विश्वकी दिव्य विभूति भगवान् महावीरके पवित्र विचार, जो उन्होंने संसारके प्राणी मात्रको सुखी बनाने एवं विभिन्न विचारोंके कारण फैली हुई अशांतिको दूर करनेके लिये व्यक्त किये थे, जिस पर अमल करनेसे मानव-समाज ही नहीं बल्कि उस समयका पशु-समाजभी आनन्द-विभोर हो गया था। क्या आजका मदोन्मत्त, स्वार्थांध और असहिष्णु संसार ठण्डे दिलसे उपरोक्त पवित्र विचारों पर विचार करेगा ? यदि वह सुख और शांतिको दिलसे चाहता है तो हमारा यह पूर्ण विश्वास है कि एक दिन उसे उक्त पवित्र वाक्यों पर विचार करना ही पड़ेगा।

दक्षिणके तीर्थक्षेत्र

[वि० सं० १७४० के लगभगके एक यात्रीकी दृष्टिमें]

卐 卐 卐

(लेखक—श्री० पं० नाथूरामजी 'प्रेमी')

हमारे ग्रन्थभण्डारों और घरोंमें न जाने कितनी ऐतिहासिक सामग्री पड़ी हुई है जिसकी ओर बहुत ही कम ध्यान दिया गया है। बहुतसे ग्रन्थभण्डारोंकी नाममात्रकी सूचियाँ भी बन गई हैं, परन्तु सूचियाँ बनानेवालोंको शायद वह दृष्टि ही प्राप्त नहीं है जिससे वे ऐसी सामग्रीकी खोज कर सकें और उसको महत्व दे सकें। इसके लिए ज़रूरत है कि अब कोई व्यवस्थित प्रयत्न किया जाय।

लगभग २७-२८ वर्ष पहले मैं सोनागिर गया था और वहाँके भट्टारकजी से मिला था। वहाँके ग्रन्थ-भंडारको देखनेकी मेरी प्रबल इच्छा थी। भंडार दिखलानेसे उन्होंने इन्कार तो नहीं किया, परन्तु दिखलाया भी नहीं—आजकल आजकल करके टाल दिया। उसी समय मैंने उनके पास एक पुरानी बही देखी और एक बस्तेमें बँधे हुए कुछ काग़ज़-पत्र। बही सौ-सवासौ वर्षकी थी। उन दिनों भट्टारक और उनके शिष्य पंडित या पांडे अपनी गद्दीके अनुशासनमें रहने वाले स्थानोंका सालमें कमसे कम एकबार दौरा करते थे और अपना बँधा हुआ टैक्स वसूल किया करते थे। उक्त बहीमें उन स्थानोंकी सिलसिलेवार सूची थी और प्रत्येक स्थानके दो दो चार चार मुखियों-के नाम भी लिखे थे। किस शिष्यके अधिकारमें कहाँसे कहाँ तकका क्षेत्र है, यह भी उससे मालूम हो जाता था। अपने गांवका और उसके आस पासके परिचित स्थानों तथा मुखियोंका नाम भी मैंने उसमें देखा। मुखिया वे ही थे जिनके नाम मैंने अपनी दादीके मुँहसे सुन रक्खे थे। कहीं कहीं टैक्सकी रकम भी लिखी हुई थी।

बस्तेमें कुछ सुन्दर सचित्र चिट्ठियाँ थीं जो जन्मकुंडलियोंके समान काफी लम्बी और गद्य-पद्यमय थीं। वे गजरथ-प्रतिष्ठाएँ करानेवालोंकी तरफसे लिखी हुई थीं। उनमें प्रतिष्ठा कराने वालेके वंशका, स्थानका, वहाँके मुखियोंका, राज्य-के शौर्य-वीर्यका और दूसरी आनुषंगिक बातोंका

आतिशय्य-युक्त वर्णन था। कुछ चिट्ठियाँ शिष्यों-द्वारा उनके गुरु भट्टारकोंके नामकीभी थीं, जिनकी भाषा कुछ संस्कृत और कुछ देशी थी। मैंने चाहा कि उन काग़ज़-पत्रों को अच्छी तरह देखकर कुछ नोट्स लेलूं, परन्तु भट्टारकजीने दूसरे समयके लिए टाल दिया और फिर मैं कुछ न कर सका।

इसके बाद मैंने सन् १९१६ में मुनि श्रीजिन-विजयजी-द्वारा सम्पादित 'विज्ञप्ति-त्रिवेणी*' देखी, जो एक जैन साधु-द्वारा अपने गुरुके नाम लिखी हुई एक बहुत विस्तृत कवित्वपूर्ण संस्कृत चिट्ठी थी, जिससे उस समयकी (वि० सं० १४८४ की) अनेक धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक बातों पर प्रकाश पड़ता है। उस समय जैन साधु जब किसी स्थानमें चातुर्मास करते थे तब अपने आचार्य या गुरुको खूब विस्तृत पत्र लिखकर भेजते थे और वह 'विज्ञप्ति' कहलाती थी।

विज्ञप्ति-त्रिवेणीको और भट्टारकजीके बस्तेकी उक्त चिट्ठियोंको देखकर मुझे विश्वास-सा हो गया है कि इस तरहकी अनेक चिट्ठियाँ हमारे भंडारोंमें—विशेष करके वहाँ, जहाँ भट्टारकोंकी गद्दियां रही हैं—पड़ी होंगी और प्रयत्न करनेसे वे संग्रह की जासकती हैं। उनसे मध्यकालीन इतिहासपर बहुत कुछ प्रकाश पड़ सकता है।

स्वर्गीय 'गुरुजी' पं० पन्नालालजी वाकली-वालने आरासे पं० जयचन्दजी, दीवान अमर-चन्दजी और कविवर वृन्दावनजीकी जो चिट्ठियाँ प्राप्त की थीं वे प्रकाशित हो चुकी हैं†। सभी जानते हैं कि वे कितने महत्व की हैं।

हमारा अनुमान है कि अधिकांश तीर्थक्षेत्रोंके सम्बन्धमें भी हमारे भंडारों और निजी अथवा घरू काग़ज़-पत्रोंमें बहुत-सी सामग्री मिल सकती है। उस समय लोग बड़ी बड़ी लम्बी तीर्थ-यात्रायें करते थे और चार चार छह छह महीनोंमें घर लौटते थे। उनके साथ विद्वान् और त्यागी-व्रती भी रहते थे। उनमेंसे कोई-कोई अपनी यात्राओंका विवरण भी लिखते होंगे। प्राचीन गुट-कों और पोथियोंमें ऐसे कुछ विवरण मिले भी हैं। श्वेताम्बर-सम्प्रदायके सुरक्षित और सुव्यवस्थित पुस्तक-भंडारोंसे जब ऐसे अनेक यात्रा-वर्णन उप-लब्ध हुए हैं,तब दिगम्बर भंडारोंमें भी इनके मिलने की काफी संभावना है।

इस लेखमें मैं ऐसे ही एक यात्रा वर्णनका परिचय देना चाहता हूँ। मैंने और प्रो०हीरालालजीने 'हमारे तीर्थक्षेत्र' * नामक अपने विस्तृत लेखमें एक दो जगह 'तीर्थमाला' से कुछ प्रमाण दिये हैं। उसके कर्ता श्रीशीलविजयजी श्वेताम्बर संप्रदायके तपा-गच्छीय संवेगी साधु थे और उनके गुरुका नाम पं० शिवविजयजी था। उन्होंने पश्चिम-पूर्व-दक्षिण और उत्तर चारों दिशाओंके तीर्थोंकी पैदल यात्रा की थी और जो कुछ उन्होंने देखा-सुना था उसे अपनी गुजराती भाषामें पद्य-बद्ध लिखलिया था। इसके पहले भागमें ८९, दूसरेमें ५५, तीसरेमें १७३ और चौथेमें ५५ पद्य हैं। प्रत्येक भागके प्रारम्भमें मंगलाचरणके रूपमें दो दो तीन तीन दोहे और अन्तमें चार चार लाइनों का एक एक 'कलस' है। शेष सब चौपइयाँ हैं।

* श्री आत्मानन्द-जैनसभा, भावनगर-द्वारा प्रकाशित।

† देखो, जैनग्रन्थरत्नाकर-कार्यालय बम्बई-द्वारा प्रका-शित 'वृन्दावन-विलास'।

* देखो जैनसिद्धान्तभास्कर किरण ४, वर्ष ५वें की।

पूर्वके तीर्थोंकी यात्रा उन्होंने वि० सं० १७११-१२ में, दक्षिणकी १७३१-३२ में, पश्चिमकी १७४६ में और उत्तरकी शायद १७४८ में की थी। 'शायद' इसलिए कि पुस्तकके पद्य-भागमें संवत नहीं दिया है, परन्तु अन्तकी पुष्पिकामें लिखा है--"संवत् १७४८ वरषे मागसरमासे शुकलपक्षे त्रयोदशी तिथौ सोमवासरे लिखितम् *।"

स्व० श्रीधर्मविजयसूरिने वि० सं० १९७८ में 'प्राचीन तीर्थमाला संग्रह' नामका एक संग्रह प्रकाशित किया था ×। उसमें भिन्न-भिन्न यात्रियोंकी लिखी हुई छोटी-बड़ी पच्चीस तीर्थमालायें हैं। शीलविजयजीकी तीर्थमाला भी उसीमें संग्रहीत है।

यों तो यह समस्त पुस्तक ही बड़े महत्वकी है, परन्तु हम इसकी दक्षिण-यात्राके अंशका ही विवरण पाठकोंके सामने उपस्थित करेंगे। क्योंकि यह अंश ही दिगम्बर सम्प्रदायके पाठकोंके लिए अधिक उपयोगी होगा। अबसे लगभग ढ़ाईसौ वर्ष पहलेके दक्षिणके तीर्थों और दूसरे धर्मस्थानोंके सम्बन्धमें इससे बहुत-सी बातें मालूम होंगी।

स्वयं श्वेताम्बर होने पर भी लेखकने दक्षिणके समस्त दिगम्बर-सम्प्रदायके तीर्थोंका श्रद्धा-भक्ति-पूर्वक वर्णन किया है और उनकी वन्दना की है।

पृथ्वी-भ्रमणकी उपयोगिता दिखलाने के लिए उन्होंने एक गाथा उद्धृत की है--

दिसइ विविहचरियं जाणिज्जेइ दुज्जणसज्जनविसेसो।
अप्पाणं च किलज्जइ हिंडज्जइ तेण पुहवीए ॥

अर्थात्--विविध प्रकारके चरित देखना चाहिए, दुर्जनों और सज्जनोंकी विशेषता जाननी चाहिए और आत्माको भी पहिचानना चाहिए। इसके लिए पृथ्वी-भ्रमण आवश्यक है।

इस पुस्तकमें जो कुछ लिखा है लेखकने स्वयं पैदल-यात्रा करके लिखा है और सब कुछ देखकर लिखा है; फिर भी बहुत-सी बातें सुनी-सुनाई भी लिखी हैं, जैसा कि उन्होंने कहा है--

जगमां तीरथ सुंदरू, ज्योतिवंत झमाल।
पभणीस दीठां सांभल्यां, सुणतां अमी-रसाल ॥३॥

अथवा--

दष्यिण दिसिवी बोली कथा,
निसुणी दीठी जेमियथा ॥१०८॥

अपनी दक्षिण-यात्राका प्रारम्भ वे नर्मदा नदीके परले पारसे करते हैं और वहींसे दक्षिण देशमें प्रवेश करते हैं।

नदी निर्बदा पेलि पार, आव्या दष्यिणदेसमझारि।
मानधाता तीरथतिहां सुणयु, शिवधर्मी ते मानि पणुं ॥

मान्धाताके विषयमें इतना ही कहकर कि इसे शिवधर्मी बहुत मानते हैं वे आगे खंडवा जाकर खानदेशके बुरहानपुरका वर्णन करने लगते हैं। यहाँ यह नोट करने लायक बात है कि मान्धाताका उल्लेख करके भी लेखक 'सिद्धवरकूट' का कोई ज़िक्र नहीं करते हैं और इसका कारण यही जान पड़ता है कि उस समय तक वहाँ सिद्धवरकूट नहीं माना जाता था※।

---

* यह लेखककी लिखी या लिखाई हुई पहली ही प्रति मालूम होती है और उक्त प्रति ही प्रकाशनके समय सम्पादकके सामने आदर्श प्रति थी।

× श्रीयशोविजय-जैनग्रंथमाला, भावनगर-द्वारा प्रकाशित मूल्य २॥)

※ 'सिद्धवरकूट' तीर्थकी स्थापना पर 'हमारे तीर्थ-क्षेत्र' नामक लेखमें विचार किया गया है, जो जैनसिद्धान्तभास्करकी हालकी किरणमें प्रकाशित हुआ है।

बुरहानपुरमें चिन्तामणि पार्श्वनाथ, महावीर, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, सुपार्श्वनाथके मन्दिर हैं और बड़े-बड़े पुण्यात्मा महाजन बसते हैं। उनमें एक ओसवालवंशके भूषण 'छीतू जगजीवन'नामके संघवी (संघपति) हैं, जिनकी गृहिणीका नाम 'जीवादे' है। उन्होंने माणिक्यस्वामी, अन्तरीक्ष, आबू, गोडी (पार्श्वनाथ) और शत्रुंजय की यात्रा की है। प्रतिष्ठायें की हैं। वे संघके भक्त और सुपात्रदानी हैं। दूसरे धनी पोरवाड़ वंशके सारंगधर' संघवी हैं, जिन्होंने संवत् १७३२ में बड़ी भारी ऋद्धिके साथ चैत्यवन्दना और मालवा, मेवाड़, आबू, गुजरात तथा विमलाचल (शत्रुंजय?) की यात्रा करके अपनी लक्ष्मी को सफल किया है। तीसरे दिगम्बर-धर्मके अनुयायी 'जैसल जगजीवनदास' नामके बड़े भारी धनी हैं, जिनकी शुभमति है और जो प्रतिदिन जिन पूजा करते हैं। उनकी तरफ़से सदाव्रत जारी है, जिसमें आठ रुपया रोज खर्च किया जाता है।

इसके आगे मलकापुर है, वहाँके शान्तिनाथ भगवान् को प्रणाम करता हूँ। वहाँसे देवलघाट चढ़कर बरारमें प्रवेश किया जाता है। देवलगाँवमें नेमीश्वर भगवान्‌को प्रणाम किया। इसके आगे समुद्र तक सर्वत्र दिगम्बर ही बसते हैं—

हवि सघलि दीगंबर वसिं, समुद्रसुधीते घणूं उल्हसिं॥१३

फिर 'अन्तरीक्ष पार्श्वनाथ' का वर्णन करते हैं—

शिरपुरनयर अंतरीकपास, अमीझरो वासिम†सुविलास।

आगे इस तीर्थके विषयमें एक दन्तकथा लिखी है कि रावण का भगिनीपति खरदूषण राजा बिना पूजा किये भोजन नहीं करता था। एक बार वह वनविहारको निकला और मन्दिर भूल गया। तब उसने बालू और गोबरकी एक प्रतिमा बनाई और नमोकार मन्त्र पढ़कर उसकी प्रतिष्ठा करके आनन्दसे पूजा की। वह प्रतिमा यद्यपि वज्र-सदृश होगई परन्तु कहीं पीछे कोई इसका अविनय न करे, इसलिए उसने उसे एक जलकूपमें विराजमान कर दिया और वह अपने नगरको चला आया।

इसके बाद उस कुए के जलसे जब 'एलगराय※' का रोग दूर होगया, तब अन्तरीक्ष प्रभु प्रकट हुए और उनकी महिमा बढ़ने लगी। पहले तो यह प्रतिमा इतनी अधर थी कि उसके नीचेसे एक सवार निकल जाता था, परन्तु अब केवल एक धागा ही निकल सकता है!

इसके आगे लूणार‡ गाँव और एलजपुरी अर्थात् एलिचपुरका उल्लेखमात्र करके कारंजा नगरका बहुत विस्तृत वर्णन किया है, जो यहाँ सबका सब उद्‌धृत कर दिया जाता है—

एलजपुरकारंजानयर, धनवंतलोक वसि तिहां सभर।
जिनमन्दिर ज्योती जागता, देव दिगंबरकरि राजता॥२१
तिहां गच्छनायक दीगंबरा, छत्र सुखासन चामरधरा।
श्रावक ते सुद्धधरमीवसिइ, बहुधनअगणित तेहनि अछइ
बघेरवालवंश सिणगार, नामि संघवी भोज उदार।

---

† वासिम सिरपुरसे १० मील दूर है।

※ जिसे राजा 'एल' कहा जाता है शायद वही यह 'एलगराय' है। आकोलाके गेजेटियरमें लिखा है कि एल राजाको कोढ़ हो गया था, जो एक सरोवरमें नहानेसे अच्छा होगया। उस सरोवरमें ही अन्तरीक्षकी प्रतिमा थी और उसीके प्रभावसे ऐसा हुआ था।

‡ लोणार बुलडाना ज़िलेमें मेहकरके दक्षिणमें १२ मील पर है। बरारमें यह गाँव सबसे प्राचीन है। इसका पुराना नाम विरजक्षेत्र है।

समकितधारी जिनने नमइ, अवरधरमस्यूं मननवि रमइ२३
तेहवे कुले उत्तमआचार, रात्रिभोजननो परिहार।
नित्यईपूजामहोच्छव करइ, मोतीचोकजिनआगलिभरइ२४
पंचामृत अभिषेक घणी, नयणे दीठी तेम्हि भणी।
गुरुसाइमी पुस्तकभंडार, तेहनी पूजा करि उदार ॥ २५
संघप्रतिष्ठा ने प्रासाद, बहुतीरथ ते करि आह्लाद।
करनाटककुंकणगुजराति, पूरब मालव ने मेवात ॥२६
द्रव्यतणा मोटा व्यापार, सदावर्त पूजा विवहार।
तपजपक्रियामहोच्छवघणा, करिजिनसासनसोहामणा२७
संवत सातसतरि सही, गढ़ गिरनारी जात्रा करी।
लाख एक तिहां धनवावरी, नेमिनाथनी पूजा करी ॥२८
हेममुद्रासंघवच्छलकीओ, लाच्छितणोलाहोतिहां लीओ
परविं पाई सीआलिं दूध, ईषुरस उंनालि सुद्ध ॥२९॥
अेलाफूलिं वास्यां नीर, पंथीजननि पाई धीर।
पंचामृत पकवाने भरी, पोषिं पात्रज भगति करी ॥३०
भोजसंघवीसुत सोहामणा, दाता विनयी ज्ञानी घणा
अर्जुनसंघवीपदारथ(?)नाभ, शीतलसंघवीकरिशुभकाम३१

इसका सारांश यह है कि—'कारंजामें बड़े बड़े धनी लोग रहते हैं और प्रकाशमान जैन-मन्दिर हैं, जिनमें दिगम्बरदेव विराजमान हैं। वहाँ गच्छ-नायक (भट्टारक) दिगम्बर हैं जो छत्र, सुखासन (पालकी) और चँवर धारण करते हैं। शुद्ध धर्मी श्रावक हैं, जिनके यहाँ अगणित धन है। बघेरवाल वंशके शृंगार रूप भोज-संघवी (सिंघई) बड़े ही उदार और सम्यक्त्वधारी हैं। वे जिन भगवान्‌को ही नमस्कार करते हैं। उनके कुलका आचार उत्तम है। रात्रिभोजनका त्याग है। नित्य ही पूजा महोत्सव करते रहते हैं, भगवान्‌के आगे मोती-चौक पूरते हैं और पंचामृतसे अभिषेक करते हैं। यह मैंने आँखों देखकर कहा है। गुरु-स्वामी ‡ (भट्टारक) और उनके पुस्तक-भंडारका पूजन करते हैं। उन्होंने संघ निकाला, प्रतिष्ठा की, प्रासाद (मन्दिर) बनवाये और आल्हाद पूर्वक बहुतसे तीर्थोंकी यात्रा की है। कर्नाटक, कोकण, गुजरात, पूर्व, मालवा और मेवाड़से उनका बड़ा भारी व्यापार चलता है। जिनशासनको शोभा देनेवाले सदावर्त, पूजा, जप, तप, क्रिया, महोत्सव आदि उनके द्वारा होते हैं। संवत् १७०७ में उन्होंने गढ़ गिरनारकी यात्रा करके नेमि भगवान्‌की पूजा की, सोनेकी मुहरोंसे संघ-वात्सल्य किया और एक लाख रुपया खर्च करके धनका 'लाहा' लिया। प्रपाओं (प्याऊ) पर शीतकालमें दूध, गर्मियोंमें गन्नेका रस और इलायची वासित जल पन्थियों-को पिलाया और पात्रोंको भक्तिपूर्वक पंचामृत-पक्वान्न खिलाया। 'भोज संघवी' के पुत्र 'अर्जुन संघवी' और 'शीतल संघवी' भी बड़े दाता, विनयी, ज्ञानी और शुभ काम करनेवाले हैं।

इसके आगे मुक्तागिरिके विषयमें लिखा है कि वह शत्रुंजयके तुल्य है—और वहाँ चौबीस तीर्थंकरोंके ऊँचे ऊँचे प्रासाद हैं—

हवि मुगतागिरि जात्रा कहुं, शेत्रुंजतोलि ते पण लहुं।
ते उपरि प्रासाद उतंग, जिन चौबीसतणा अतिचंग ॥

इसके आगे सिंधखेडि, पातूर, ओसावुदगिरि, कल्याण, और बिधर शहरका उल्लेख मात्र किया है, सिर्फ पातूरमें चन्द्रप्रभ और शान्तिनाथ जिनके मन्दिरोंको बतलाया है—

‡ इस 'स्वामी' शब्दका व्यवहार कारंजाके भट्टारकों-के नामोंके साथ अब तक होता रहा है; जैसे वीरसेन स्वामी।

सिंघखेडि[1] आंबा[2] पातूर[3], चन्द्रप्रभ जिन शांति सनूर।
ओसा वुदगिरि[4] गढ़ कल्याण[5], सहिर विघर[6] प्रसीद्धुं ठाण।

इसके आगे तैलंगदेशके भागनगर गलकुंडू* (गोलकुंडा) का वर्णन है। लिखा है कि उसका विस्तार चार योजनका है और कुतुबशाहका‡ राज्य है। उसकी सेनामें एक लाख घुड़सवार और नौ लाख सिपाही हैं। गोलकुंडेमें छत्तीस हजार वेश्यायें हैं और रातदिन नाचगान हुआ करता है‡। यहाँके श्रावक धनी, दानी, ज्ञानी और धर्मात्मा हैं। मणि माणिक्य, मूंगेके जानकार (जौहरी) और देवगुरु-की सेवा करनेवाले हैं।

वहाँ ओसवाल वंशके एक 'देवकरणशाह' नामके बड़े भारी धनी हैं, जो चिन्तामणि चैत्यमें प्रतिदिन जिनपूजा और संघ-वात्सल्य करते हैं। उनकी ओर-से सदावर्त है। वे दीन-दुखियोंके लिए कल्पवृक्ष हैं। राजा उन्हें मानते हैं। 'उदयकरण' और 'आस-करण' सहित वे तीन भाई हैं—सम्यक्त्वी, निर्मल बुद्धि, गर्वरहित और गुरुभक्त। उनके गुरु अंचल गच्छके हैं।

वहाँ आदिनाथ और पार्श्वनाथके दो मन्दिर हैं। एक दिगम्बर मन्दिर बहुत बड़ा है।

इसके आगे लिखा है कि कुल्लपाकपुर-मंडन माणिक-स्वामीकी× सेवा करनी चाहिए। वहाँकी प्रतिमा भरतरायकी स्थापित की हुई है। इस तीर्थ-का उद्धार राजा शंकररायकी रानीने किया है। इस मिथ्याती राजाने ३६० शिवमन्दिर बनवाये और इसकी रानीने इतने ही जिनमन्दिर। इन मन्दिरों-का विस्तार एक कोसका है, जहाँ पूजन-महोत्सव हुआ करते हैं। (अगली किरण में समाप्त)

---

१ महाराष्ट्र-ज्ञानकोशके अनुसार जब जानोजी भोंसलेने निजामअलीको परास्त करके सन्धि करनेको लाचार किया था, तब पेशवा स्वयं तो शिन्दखेडमें रह गया था और विश्वासराव तथा सिन्धियाको उसने औरंगाबाद भेज दिया था। इसके बाद सारवरखेडमें बड़ी भारी लड़ाई हुई और निजामअली परास्त हुआ (ई० सन् १७५६)। इसी शिन्दखेडका शीलविजयजीने उल्लेख किया है। यह बरारमें ही है।

२ आंबा बरारका ही कोई गाँव होगा।

३ आकोला जिलेकी बालपुर तहसीलका एक कस्बा इसके पासके जंगलमें कई गुफायें हैं। एक गुफामें एक जैनमन्दिर भी है। संभव है, वह चन्द्रप्रभ भगवानका ही हो।

४ यह शायद 'ऊखलद' अतिशय क्षेत्र हो, जो निजाम स्टेट रेलवेके मीरखेल स्टेशनसे तीन चार मील है। यह स्थान पहाड़ पर है, इसलिये 'गिरि' कहा जा सकता है।

५ कल्याणको आजकल 'कल्याणी' कहते हैं। यह निजाम राज्यके बेदर जिलेकी एक जागीरका मुख्य स्थान है। चालुक्य-नरेश सोमेश्वर (प्रथम) ने यहाँ अपनी राजधानी स्थापित की थी। सन् १६५६ में यहाँके गढ़ या किलेको औरङ्गजेबने फतह किया था।

६ यह निजाम राज्यका जिला 'बेदर' है।

* हैदराबादसे पश्चिम पाँच मील पर बसा हुआ पुराना शहर। इसीका पुराना नाम भागनगर था।

‡ यह कुतुबशाहीका अन्तिम बादशाह अबूहसन-कुतुबशाह होगा, जो सन् १६७२ में गोलकुंडेकी गद्दी पर बैठा था। सितम्बर १६८७ में औरंगज़ेबने गोलकुंडा फतह किया और अबूहसनको गिरिफ़्तार किया।

‡ इन संख्याओंमें कुछ अतिशयोक्ति हो सकती है। प्रो० इन्द्र विद्यावाचस्पति-लिखित 'मुगलसाम्राज्यका क्षय और उसके कारण' नामक ग्रन्थके अनुसार इस शहरमें बीस हजार वेश्यायें और अगणित शराबघर थे।

× कुल्पाक या माणिकस्वामी तीर्थ निजाम स्टेटमें सिकन्दराबादके पास है। वहाँ बहुतसे शिलालेख मिले हैं। दिगम्बर जैन डिरैक्टरीके अनुसार गजपन्थमें संवत् १४४१ का एक शिलालेख था जिसमें 'हँसराजकी माता गोदूबाई ने माणिकस्वामीका दर्शन करके अपना जन्म सफल किया' लिखा है, पर अब इस लेखका पता नहीं है।

कथा कहानी

ले०—अयोध्याप्रसाद गोयलीय

(१२)

महाभारतके युद्धमें कौरव सेनापति भीष्मपितामह जब अर्जुनके बाणोंसे घायल होकर रणभूमिमें गिर पड़े तो कुरुक्षेत्रमें हा-हाकार मचगया। कौरव-पाण्डव पारस्परिक वैर-भाव भूलकर गायकी तरह डकराते हुए उनके समीप आए। भीष्मपितामहकी मृत्यु यद्यपि पाण्डव-पक्षकी विजय-सूचक थी। फिर भी थे तो पितामह न? धर्मराज युधिष्ठिर बालकोंकी भाँति फुप्पा मार कर रोने लगे। अन्तमें धैर्य रखते हुए रुँधे हुए कण्ठसे बोले—"पितामह! हम ईर्ष्यालु दुर्बुद्धि पुत्रोंको, इस अन्त समयमें जीवनमें उतारा हुआ कुछ ऐसा उपदेश देते जाइये जिससे हम मनुष्य जीवनकी सार्थकता प्राप्त कर सकें।" धर्मराजके वाक्य पूरा होनेपर अभी पितामहके ओठ पूरी तरह हिल भी न पाए थेकि द्रौपदीके मुखपर एक हास्यरेखा देख सभी विचलित हो उठे। कौरवोंने रोष भरे नेत्रोंसे द्रौपदी को देखा। पाण्डवोंने इस अपमान और ग्लानिका अनुभव करते हुए सोचा—"हमारे सरसे साया उठ रहा है और द्रौपदीको हास्य सूझा है।" पितामहको कौरव-पांडवोंकी मनोव्यथा और द्रौपदीके हास्यको भांपनेमें विलम्ब न लगा। वे मधुर स्वरमें बोले 'बेटी द्रौपदी! तेरे हास्यका मर्म मैं जानता हूँ। तूने सोचा—'जब भरे दरबारमें दुर्योधनने साड़ी खींची तब उपदेश देते न बना, बनोंमें पशु-तुल्य जीवन व्यतीत करनेको मजबूर किया गया तब सान्त्वनाका एक शब्दभी मुँहसे न निकला, कीचक द्वारा लात मारे जानेके समाचार भी साम्यभावसे सुन लिये, रहने योग्य स्थान और क्षुधा-निवृत्तिको भोजन मांगने पर जब कौरवोंने हमें दुतकार दिया, तब उपदेश याद न आया। सत्य और अधिकारकी रक्षाके लिये पांडव युद्ध करनेको विवश हुए तो सहयोग देना तो दूर, उल्टा कौरवोंके सेनापति बनकर हमारे रक्तके प्यासे हो उठे और जब पांडवों द्वारा मार खाकर जमीन सूँघ रहे हैं—मृत्युकी घड़ियाँ गिन रहे हैं—तब हमींको उपदेश देनेकी लालसा बलवती हो रही है। पुत्री तेरा यह सोचना सत्य है। तू मुझ पर जितना हँसे कम है। परन्तु, पुत्री! उस समय मुझमें उपदेश देनेकी क्षमता नहीं थी, पापात्मा कौरवोंका अन्न खाकर मेरी आत्मा मलीन होगई थी, दूषित रक्त नाड़ियोंमें बहनेसे बुद्धि भ्रष्ट हो गई थी। किन्तु वह सब अपवित्र रक्त अर्जुनके बाणोंने निकाल दिया है। अत: आज मुझे सन्मार्ग बतानेका साहसहो सकता है।"

* * *

(१३)

हज़रत उमर (द्वितीय खलीफा) बहुत सादगी-पसन्द थे। इन्होंने अपने बाहुबलसे अरब, फ़लस्तीन, रूम, बेतुल मुक़द्दस, (शामका एक स्थान) आदिमें केवल १० वर्षमें ही ३६००० किले और शहर फतह किये। यह विजयी खलीफ़ा सादगीके नमूने थे। राज-कोषसे केवल अपने परिवारके पालनके लिये २० रु० माहवार लेते थे। तंगदस्ती इतनी रहती थी कि कपड़ों पर आपको चमड़ेका पेवन्द लगाना पड़ता था, ताकि उस स्थानसे दोबारा न फट जाएँ। जूते भी स्वयं गांठ लेते थे। सिरहाने तकियेकी एवज़ ईंटें लगाते थे। उनके बच्चे भी फटे हाल रहते थे। इसलिये हमजोली बालक अपने नये कपड़े दिखाकर उन्हें चिढ़ाते थे। एक दिन आपके पुत्र अब्दुलरहमानने अपने लिये नये कपड़े बनवानेके लिये रो-रोकर खलीफ़ासे बहुत मिन्नतें कीं। खलीफाका हृदय पसीजा और उन्होंने अगले वेतनमें काट लेनेके लिये संकेत करते हुए दो रुपया पेशगी देनेको लिखा। किंतु कोषाध्यक्ष खलीफ़ाका पक्का शिष्य था अतः उसने यह लिखकर दो रुपये पेशगी देनेसे इन्कार कर दिया कि-- 'काश इस बीचमें आप इन्तकाल फ़र्मा गये--स्वर्गस्थ हो गये तो यह पेशगी लिए हुए रुपये किस खातेमें डाले जाएँगे? मौतका कोई भरोसा नहीं उसे आनेमें देर नहीं लगती और फिर आपका तो युद्धमय जीवन मृत्युसे खिलवाड़ करनेको सदैव प्रस्तुत रहता है। मैं नहीं चाहताकि आप कर्जदार होकर जाएँ।' हज़रत उमर इस पर्चेको पढ़कर रो पड़े और कोषाध्यक्षकी इस दूरन्देशीकी बारबार सराहना की। प्यारे पुत्रको अगले माहमें कपड़े बनवा देनेका आश्वासन देते हुए गलेसे लगाया! इन्हीं खलीफा साहबने अपने इस प्यारे पुत्रको एक अनाथ लड़कीसे बलात्कार करने पर बेंत लगवाई थीं, जिससे पुत्रकी मृत्यु हो गई थी।

* * *

(१४)

पानीपतकी दूसरी लड़ाईमें हेमू युद्ध करता हुआ अकबर बादशाहके सेनापति द्वारा वन्दी कर लिया गया। वन्दी अवस्थामें वह अकबरके समक्ष लाया गया। उस समय अकबरकी आयु केवल १३ वर्षकी थी। पुरातन प्रथाके अनुसार अकबरको हेमूका वध करनेके लिये कहा गया, किंतु उसने यह कहकर कि--निःसहाय और वन्दी मनुष्य पर हाथ उठाना पाप है' प्राण लेनेसे इन्कार कर दिया। बालक अकबरकी इस दूरदर्शिता और विशाल हृदयताकी उपस्थित जनसमूहने मुक्तकंठसे प्रशंसाकी। अकबर अपने ऐसे हीं लोकोत्तर गुणोंके कारण इस छोटी-सी आयुमें काँटोंका ताज पहनकर विशाल साम्राज्य स्थापित कर सका था।

* * *

भाग्य और पुरुषार्थ
[तक़दीर और तदबीर]

[ले० श्री० बाबू सूरजभानुजी वकील]

भाग्य, दैव, क़िस्मत वा तक़दीर क्या है और पुरुषार्थ, उद्यम, तदबीर वा कोशिश क्या है ? भाग्यसे ही सब कुछ होता है वा जीवकी अपनी कोशिश भी कुछ काम कर सकती है ? और अगर दोनों ही शक्तियोंके मेलसे कार्य होता है तो इनमें कौन बलवान् है और कौन निर्बल ? भाग्यकी शक्ति कितनी है और पुरुषार्थकी कितनी ? भाग्यका काम क्या है और पुरुषार्थका क्या ? इन सब बातोंको जानना मनुष्यके लिये बहुत ही ज़रूरी है। अतः इस लेखमें इन ही सब बातोंको स्पष्ट करनेकी कोशिश की जायगी।

एकमात्र भाग्यसे ही वा एकमात्र पुरुषार्थसे ही कार्यकी सिद्धि माननेको दूषित ठहराते हुए श्रीनेमिचन्द्राचार्य गोम्मटसार कर्मकांड गाथा ८९४ में लिखते हैं कि, यथार्थ ज्ञानी भाग्य और पुरुषार्थ दोनों ही के संयोगसे कार्यकी सिद्धि मानते हैं, एक पहियेसे जिस प्रकार गाड़ी नहीं चल सकती, उसी प्रकार भाग्य वा पुरुषार्थमें से किसी एकसे ही कार्यकी सिद्धि नहीं हो सकती। अथवा बनमें आग लग जानेपर जैसे अंधा पुरुष दौड़ने भागनेकी शक्ति रखता हुआ भी बनसे बाहर नहीं हो सकेगा वैसे ही एक लंगड़ा पुरुष देखनेकी शक्ति रखता हुआ भी बाहर नहीं निकल सकेगा। हाँ, अगर अन्धा लंगड़ेको अपनी पीठ पर या कंधे पर चढ़ा ले, लंगड़ा रास्ता बताता रहे और अन्धा चलता रहे तो दोनों ही बनसे बाहर हो जावेंगे। इसी प्रकार भाग्य और पुरुषार्थ दोनों ही के सहारे संसारी जीवोंके कार्योंकी सिद्धि होती है किसी एकसे नहीं।

भाग्य और पुरुषार्थ क्या है, इसको श्री विद्यानन्द स्वामीने अष्टसहस्रीमें (श्लोक नं०८८ की टीकामें) इस प्रकार स्पष्ट किया है—"पहले बांधे हुए कर्मों ही का नाम दैव (भाग्य वा किस्मत) है, जिसको योग्यता भी कहते हैं, और वर्तमानमें जीव जो तदबीर, कोशिश या चेष्टा करता है वह पुरुषार्थ है।" (भावार्थ जो पुरुषार्थ किया जा चुका है और जिसका फल जीव भोग रहा है वा भोगेगा वह तो भाग्य कहलाता है और जो पुरुषार्थ अब किया जा रहा है वह पुरुषार्थ कहलाता है। वास्तव में दोनों ही पुरुषार्थ हैं—एक पहला पुरुषार्थ है और दूसरा हालका पुरुषार्थ।

जीवका असली स्वरूप सर्वदर्शी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, और परमानन्द है, परतन्त्रता इन्द्रियोंकी आधीनता, राग, द्वेष, मोह—आदि उसका असली स्वभाव नहीं है। परन्तु अनादि कालसे यह जीव कर्मोंके बन्धनमें पड़ा हुआ, अपनी ज्ञानादि शक्तियोंको बहुत कुछ खोकर, राग, द्वेष और मोहके जालमें फँसा हुआ, शरीर रूपी क़ैदखानेमें बन्द पड़ा तरह तरहके दुख भोग

रहा है। किन्तु इस प्रकार कर्मोंके महाजालमें फँसा रहकर भी जीवका निज स्वभाव सर्वथा नष्ट नहीं हो गया है और न सर्वथा नष्ट हो ही सकता है *। इस कारण कर्मोंके जालमें पूरी तरह फँसे हुये भी जीव-की ज्ञानादि शक्तियाँ कुछ न कुछ बाकी जरूर रहती हैं, जिनके कारण ही वह अजीव पदार्थोंसे अलग पहचाना जाता है और जीव कहलाता है। इन ही बची हुई शक्तियोंके द्वारा पुरुषार्थ करके वह कर्मोंके बन्धनोंको कम और कमजोर कर सकता है और होते होते सब ही बन्धनोंको तोड़कर सदाके लिये अपना असली ज्ञानानन्द स्वरूप प्राप्त कर सकता है। अपने इस असली स्वभाव-को प्राप्त कर लेनेके बाद फिर कभी कोई कर्म उसके पास तक भी नहीं फटकने पाता है और न कभी उसका किसी प्रकार का बिगाड़ ही कर सकता है।

कर्मफल देकर नित्य ही झड़ते रहते हैं और नये २ बँधते रहते हैं; परन्तु तपके द्वारा कर्म बिना फल दिये भी नाश हो जाते हैं ‡। साधारण गृहस्थी भी दर्शन मोहनीयकी तीन और चारित्र मोहनीयकी चार कर्म प्रकृतियोंका क्षय, उपशम वा क्षयोपशम करके ही सम्यक्श्रद्धानी होता है। किसी कर्मका बिल्कुल ही नाश कर देना ही क्षय है, फल देनेसे रोक देना उपशम है और कुछ क्षय, कुछ उपशम तथा कुछ उदयका नाम क्षयोपशम है। संसारी जीव कोई भी ऐसा नहीं है जिसको कुछ न कुछ मतिज्ञान और श्रुतज्ञान न हो। निगोदिया जीवों तकको भी कुछ न कुछ ज्ञान जरूर होता है—यह दोनों ज्ञान ज्ञानावरणीय कर्मके क्षयोपशम से ही होते हैं। जीवके स्वभावको बिल्कुल नाश कर देने वाले कर्मके बड़े हिस्सेका बिना फल दिये नाश हो जाना, हल्का असर करने वाले हिस्सेका फल देना और बाकी हिस्सेका आगेसे फल देनेके वास्ते सत्तामें रहना क्षयोपशम कहलाता है ‡।

यह ऐसा ही है जैसा कि शरीरमें कोई दुखदाई मवाद इकट्ठा हो जाने पर या कोई नुकसान करनेवाली वस्तु खा लेने पर उसको क़ै या दस्तके द्वारा निकाल डालना, या किसी दवाके द्वारा उसका असर रोक देना या कुछ निकाल देना और कुछ असर होते रहना। जिस तरह किसी दवाईके ऊपर दूसरी दवाई खानेसे पहली खाई हुई दवाई जल्द ही अपना असर शुरू कर देती है उस ही तरह एक कर्म जो बहुत देरमें फल देनेवाला हो, किसी कारणसे तुरन्त ही फल देने लग जाता है, जिसको कर्मकी उदीरणा कहते हैं। कर्मका अपने समय पर फल देना उदय कहलाता है और समयसे पहले फल देना उदीरणा है।

कर्मोंका पैदा होना और बँधना भी रुक सकता है। जिसको सँवर कहते हैं। मूलकर्म आठ हैं और उनके भेद अर्थात् उत्तर प्रकृति १४८ हैं। इनमेंसे ४१ प्रकृ-तियोंका बँधना तो सम्यक् श्रद्धान होते ही रुक जाता है अणुव्रती श्रावक होने पर और भी १० प्रकृतियाँ बँधनेसे रुक जाती हैं, इस ही तरह आगे आगे बढ़ने पर और प्रकृतियोंका भी बँधना रुकता जाता है। किसी समयके भले बुरे परिणामोंके कारण पहली बँधी हुई कर्म प्रकृतियाँ एक उत्तर प्रकृतिसे दूसरी उत्तर प्रकृतिमें बदल

*देखो गोमट्टसार गाथा २९ की संस्कृत टीका और पं० टोडरमलजीका हिंदी अनुवाद।

‡ देखो भगवती आराधनासार गाथा १८५० की संस्कृत टीका अपराजितसूरि कृत तथा लब्धिसारकी टीका टोडरमलजी कृतमें गाथा ३९२ के नीचेका प्रश्नो-त्तर।

‡ देखो गोमट्टसार जीवकांड गाथा १३ की संस्कृत टीका और पं० टोडरमलजी कृत हिन्दी अनुवाद।

जाती है—जैसे कि सुख देने वाली साता और दुख देने वाली असाता ये वेदनीय कर्मकी दो उत्तर प्रकृतियाँ सातासे असाता और असातासे साता हो सकती हैं, अर्थात् किसी समयके भले बुरे कर्मोंकी ताक़तसे पहला बँधा हुआ पुण्य कर्म बदल कर पाप रूप हो सकता है और पाप बदल कर पुण्य हो सकता है।

यह बात ऐसी ही है जैसे कि दूध पीनेके बाद कोई तेज़ खटाई खाले, जिससे वह दूध भी फटकर दुखदाई हो जाय, या पेटमें दर्द कर देने वाली कोई वस्तु खाकर फिर कोई ऐसी पाचक औषधि खा लेना जिससे पहली खाई हुई वस्तु तुरन्त पचकर सुखदाई हो जाय। इस ही प्रकार कर्मोंके फल देनेकी शक्ति भी बदल कर हल्की भारी हो सकती है और कर्मोंके कायम रहनेका समय भी घट बढ़ सकता है। इस सब अलटन-पलटनको संक्रमण कहते हैं *।

साराँश इस सारे कथनका यह है कि कर्म कोई ऐसी अटल और बलवान शक्ति नहीं है जो टाली टल ही न सके। उसको सबही जीव अपने पुरुषार्थसे सदा ही तोड़ते मरोड़ते रहते हैं।

तीव्र कषाय करनेसे पाप बँध होता है और मन्द कषायसे पुण्य, जो लोग कर्मोंके उदयसे भड़कने वाली कषायको भड़कने नहीं देते। कर्मोंको अपना असर नहीं करने देते। अपने परिणामोंकी पूरी पूरी सम्हाल रखते हैं, वे पुण्य बन्ध करते हैं और जो कुछ भी सावधानी नहीं रखते, भड़काने वाले कर्मोंका उदय होने से परिणामोंको चाहे जैसा भड़कने देते हैं वे पाप बंध करते हैं, और दुख उठाते हैं।

पुरुषार्थहीनके प्रायः सब ही कार्य नष्ट भ्रष्ट होते हैं और पुरुषार्थ करनेवालेके प्रायः सब कार्य सिद्ध हुआ करते हैं, यह बात सब ही सांसारिक कार्योंमें स्पष्ट दिखाई देती है। मनुष्य अपने पुरुषार्थ से खेती करके तरह-तरहके अनाज, तरह-तरहकी भाजी और तरह-तरहके फल पैदा करता है; एक वृक्षकी दूसरे वृक्षके साथ क़लम लगाकर उनके फलोंको अधिक स्वादिष्ट और रसभरे बनाता है; अनाजको पीस-पोकर और आगसे पकाकर सत्तर प्रकारके सुस्वाद भोजन बनाता है; मिट्टीसे ईंटें बनाकर, फिर उनको आगमें पकाकर आकाशसे बातें करनेवाले बड़े-बड़े ऊंचे महल चिनता है; हज़ारों प्रकारके सुन्दर-सुन्दर वस्त्र बनाता है, लकड़ी, लोहा, तांबा, पीतल, सोना, चाँदी आदि ढूंढ कर उनसे अनेक चमत्कारी वस्तुएँ घड़ लेता है; काग़ज़ बनाकर पुस्तकें लिखता है और चिट्ठियाँ भेजता है; तार, रेल, मोटर, एँजिन, जहाज़, घड़ी, घंटा, फोन, सिनेमा आदिक अनेक प्रकारकी अद्भुत कलें बनाता है और नित्य नयेसे नई बनाता जाता है; यह सब उसके पुरुषार्थकी ही महिमा है। पशु इस प्रकारका कोई भी पुरुषार्थ नहीं करते हैं, इस ही कारण उनको यह सब वस्तुएँ प्राप्त नहीं होती हैं, उनका भाग्य वा कर्म उनको ऐसी कोई वस्तु बनाकर नहीं देता है, घास-फूस जीव-जन्तु आदि जो भी वस्तु स्वयं पैदा हुई मिलती है उस ही पर गुज़ारा करना पड़ता है, बरसातका सारा पानी, जेठ असाढ़की सारी धूप, शीत समयका सारा पाला अपने नंगे शरीर पर ही झेलना पड़ता है, और भी अन्य अनेक प्रकारके असह्य दुःख पुरुषार्थहीन होनेके कारण सहने पड़ते हैं!

इसके उत्तरमें शायद हमारे कुछ भाई यह कहने लगें कि मनुष्योंको उनके कर्मोंने ही तो ऐसा ज्ञान और ऐसा पुरुषार्थ करनेका बल दिया है जिससे वे ऐसी-ऐसी अद्भुत वस्तुएँ बना लेते हैं, पशुओंको उनके कर्मोंने ऐसा ज्ञान और पुरुषार्थ नहीं दिया है, इस कारण

* देखो गोमट्टसार कर्मकांड गाथा ४३८, ४३९।

यह नहीं बना सकते हैं। मनुष्योंको उनके कर्म यदि ऐसा ज्ञान और उद्यम करनेकी शक्ति न देते तो वे भी कुछ न कर सकते, यह सब भाग्य वा कर्मोंकी ही तो महिमा है जिससे मनुष्य ऐसे अद्भुत कार्य कर रहे हैं। परन्तु प्यारे भाइयो! क्या आपके खयालमें तीर्थंकर भगवान्‌को जो केवलज्ञान प्राप्त होता है, जिससे तीनों लोकके सबही पदार्थ उनको बिना इन्द्रियोंके सहारेके साक्षात् नज़र आने लग जाते हैं तो क्या केवलज्ञानकी यह महान् शक्ति भी कर्मोंकी ही दी हुई होती है? नहीं ऐसा नहीं है। यह सब शक्ति तो उनको उनके पुरुषार्थके द्वारा कर्मोंके नाश करनेसे ही प्राप्त होती हैं, कर्मोंकी दी हुई नहीं होती है। कर्म तो जीवको कुछ देते नहीं किन्तु बिगाड़ते ही हैं। कर्मोंका कार्य तो जीवको ज्ञान वा विचारशक्ति वा अन्य किसी प्रकारका बल देना नहीं है, किन्तु इसके विपरीत कर्मोंका काम तो जीवके ज्ञान और बल वीर्यको नष्ट भ्रष्ट कर देनेका ही है। ज्ञान और बल वीर्य तो जीवका निज स्वभाव है, जितना-जितना किसी जीव का बलवीर्य नष्ट-भ्रष्ट और कम हो-रहा है वह सब उसके कर्मशत्रुओंका ही तो काम है, और जितना-जितना जिस किसी जीवमें ज्ञान और बल वीर्य हैं वह उसका अपना असली स्वभाव है, जिसको नष्ट-भ्रष्ट करनेके लिये कर्मोंका काबू नहीं चल सका है। इस कारण मनुष्य अपने ज्ञान और विचार बलसे जो यह लाखों करोड़ों प्रकारका सामान बनाता है वह सब अपनी निज शक्तिसे ही बना रहा है, कर्मोंकी दी हुई शक्तिसे नहीं। कर्मोंका काबू चलता तो, वे उसकी यह शक्ति भी छीन लेते और कुछ भी न बनाने देते।

मनुष्योंकी बनिसबत पशुओं पर कर्मोंका अधिक काबू चलता है इसी वास्ते उन बेचारोंको यह कम उनकी ज़रूरतोंका कुछ भी सामान नहीं बनाने देते हैं। कर्म तो जीवके शत्रु हैं, इस कारण उनका काम तो एकमात्र बिगाड़नेका ही है—सँवारने का नहीं। भेद सिर्फ इतना ही है कि जब कोई कर्म हमको अधिक काबूमें करके अधिक दुख पहुँचाता है तो उसको हम पाप कर्म कहते हैं और जब कोई कर्म कमज़ोर होकर हमपर कम काबू पाता है जिससे हम अपने असली ज्ञान गुण और बलवीर्यसे कुछ पुरुषार्थ करनेके योग्य हो जाते हैं और कम दुःख उठाते हैं तो इसको हम पुण्य कर्म कहने लग जाते हैं और खुश होते हैं।

जिस प्रकार बीमारी मनुष्यको दुख ही देती है सुख नहीं दे सकती है उसी प्रकार कर्म भी जीवको दुःख ही देते हैं सुख नहीं दे सकते हैं। बीमारी भी जब मनुष्यको अधिक दबा लेती है, उठने बैठने भी नहीं देती है, होश-हवाश भी खो देती है, खाना पीना भी बन्द कर देती है, नींद भी नहीं आती हैं, रात्रि दिन असह्यपीड़ा ही होती रहती है, तब वह बीमारी बहुत बुरी और महानिन्द्य कही जाती है; परन्तु जब योग्य औषधि करनेसे वह असह्य बीमारी कम होकर सिर्फ थोड़ी-सी कमज़ोरी आदि रह जाती है, मनुष्य अपने कारोबारमें लगने योग्य हो जाता है, तो खुशियां मनाई जाती हैं, परन्तु यह खुशी उसको बीमारीने नहीं दी है किन्तु बीमारीके कम होने से ही हुई है। इसी प्रकार कर्म भी जब जीवको अच्छी तरह जकड़कर कुछ भी पुरुषार्थ करनेके योग्य नहीं रहने देते हैं तो वे खोटे व पापकर्म कहलाते हैं और जब जीव अपने शुभ परिणामोंके द्वारा कषायोंको मंद करके कर्मोंको कमज़ोर कर देता है जिससे वह पुरुषार्थ करनेके योग्य होकर अपने सुखकी सामग्री जुटाने लग जाता है तो वह उन हलके कर्मोंको शुभ व पुण्य कर्म कहने लग जाता है।

कर्म क्या हैं, जीवके साथ कैसे उनका सम्बन्ध

होता है और वह क्या कार्य करते हैं, इसका सारांश रूप कथन इस प्रकार है, कि राग-द्वेष रूप भावोंसे आत्मामें एक प्रकारका संस्कार पड़ जाता है, जिससे फिर दोबारा राग-द्वेष पैदा होता है, उस राग द्वेषसे फिर संस्कार पड़ता है. इस प्रकार एक चक्करसा चलता रहता है, परन्तु किसी वस्तुमें कोई प्रकार का भी संस्कार वा बिगाड़ बिना किसी दूसरी वस्तुके मिले हो नहीं सकता है, इस कारण यहां भी यह होता है कि रागद्वेष रूप भावोंके द्वारा जब आत्मामें हलन चलन होती है तो आत्माके पासके सूक्ष्म पुद्गल परमाणुओंमें भी हलन चलन पैदा होती है, जिससे वे आत्माके साथ मिलकर उसमें संस्कार वा बिगाड़ पैदा कर देते हैं। वे ही पुद्गल परमाणु कर्म कहलाते हैं।

आत्माके साथ इन कर्मोंका जो कर्तव्य होता है उसके अनुसार इन कर्मोंके आठ भेद कहे गये हैं—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अन्तराय, वेदनीय, आयु, नाम, और गोत्र। ज्ञानावरण और दर्शनावरणसे आत्माकी जाननेकी शक्ति खराब होती है, मोहनीय कर्मसे पदार्थोंका मिथ्या श्रद्धान होकर सच्चा श्रद्धान भ्रष्ट होता है और विषय कषाय रूप तरंगें उठकर उसकी सुख शाँतिमें खराबी आती है। अन्तराय कर्मसे आत्माके बलवीर्य आदि शक्तियोंको अपना कार्य करनेमें रोक पैदा होती है। आंख नाक आदि पांचों इन्द्रियाँ अपने अपने विषयका अनुभव अर्थात् स्वाद वेदनीय कर्मके द्वारा प्राप्त करती हैं। साता वेदनीयसे सुखका अनुभव होता है और असातासे दुखका। जैसा कि गोम्मटसार कर्मकांड गाथा १४में लिखा है—

अक्खाणं अणुभवणं वेयणीयं सुहसरूवयं सादं
दुक्ख सरूवमसादं तं वेदयदीदि वेदणियं ॥

अर्थ पं० टोडरमलजी कृत—'इन्द्रियनके अपने विषयनका अनुभवन—जानना सो वेदनीय है, तहां सुखस्वरूप साता है, दुखस्वरूप असाता है, तिन सुख दुखनको वेदयति कहिये अनुभव करावे सो वेदनीय कर्म है।

परन्तु यह वेदनीय कर्म मोहनीय कर्मके उदयके बलसे ही अर्थात् राग द्वेषके होनेपर ही सुख दुखका अनुभव करा सकता है; जैसाकि गोमट्टसार कर्मकांड गाथा १६ में लिखा है।

घादिंव वेयणीयं मोहस्स बलेण घाददे जीवं।
इदि घादीणं मज्झे मोहस्सादिम्हि पठिदंतु ॥

अर्थ पं० टोडरमलजी कृत—वेदनीय नामाकर्म सो घातिया कर्मवत मोहनीय कर्मका भेद जो रति अरति तिनके उदयकाल कर ही जीवको घाते हैं, सुख दुख स्वरूप साता असाता कौं कारण इन्द्रियनका विषय तिनका अनुभव करवाय घात करै है।

कुछ समय तक किसी एक शरीरमें जीवको ठहराये रखना यह आयु कर्मका काम है, किसी प्रकारका शरीर प्राप्त करना यह नाम कर्मका काम है। ऊँच-नीच भव वा गति प्राप्त कराना यह गोत्र कर्मका काम है।

इस प्रकार इन आठ कर्मोंके कार्यको जान लेने पर यह बात साफ़ हो जाती है, कि कर्मोंका जो कुछ भी ज़ोर चलता है वह उस ही पर चलता है जिसके वे कर्म होते हैं। कर्म करनेवाले जीवके सिवाय अन्य किसी भी जीव पर वा उसके शरीरके सिवाय अन्य किसी पुद्गल पदार्थ पर उनका कोई अधिकार नहीं होता है।

संसार में अनन्तानन्त जीव और हज़ारों लाखों ग्रह तारे नक्षत्र और आग पानी हवा मिट्टी आदिक अनन्त पुद्गल पदार्थ सब अपना-अपना काम करते रहते हैं।

उसी संसारमें हम भी हैं, हमारा और इन सब जीव और अजीव पदार्थोंका संयोग इसी तरह हो जाता है जिस तरह रातको बसेरेके लिये एक पेड़ पर आये हुए पक्षियोंका वा एक सरायमें इकट्ठे हुए मुसाफ़िरोंका—

पक्षियों वा मुसाफ़िरोंका यह सब संयोग एक पेड़ पर आ बैठने वा एक सरायमें आकर ठहरनेके कारण ही होता है, कोई किसी दूसरेके कर्मोंसे खिंचा हुआ आकर इकट्ठा नहीं होता है न कोई किसी दूसरेके कर्मों-से खिंच ही सकता है। इस ही अचानक क्षणभरके संयोगमें हम किसीसे राग कर लेते हैं और किसीसे द्वेष फिर इसी रागद्वेषके कारण उनके अनेक प्रकारके परिवर्तनों उनके सुख और दुःखोंको अपना सुख और दुःख मानकर सुखी और दुःखी होने लग जाते हैं। इसी प्रकार जीवका अपने कुटम्बियों नगर-निवासियों और देशवासियोंसे संयोग और वियोग होता रहता है, ऐसा ही जीवोंका संयोग संसारकी अनेकानेक निर्जीव वस्तुओंसे भी होता रहता है।

एक कामी पुरुष बहुत दिन पीछे रातको अपनी स्त्रीसे मिलता है और चाहता है कि रात लम्बी होजाय इसी कारण नगरका घंटा बजने पर झुंझलाता है कि क्यों ऐसी जल्दी २ घंटा बजाया जारहा है; फिर दिनमें जब अपनी प्यारी स्त्रीसे विछोहा रहता है तो तड़पता है कि क्यों देर देरमें घंटा बज रहा है। इसीको किसी कविने इस प्रकार वर्णन किया है—

कल शबेवस्ल‡ में क्या जल्द बजें थीं घड़ियाँ।
आज क्या मरगये घड़ियाल बजाने वाले॥

इसी प्रकार कभी रात होती है कभी दिन, कभी चाँदनी होती है कभी अँधेरी, मौसमें बदलती हैं, जाड़ा पड़ता है, गर्मी होती है, पानी बरसता है, बादल होता है, धूप निकलती है, हवा कभी ठण्डी चलती है, कभी गर्म, नदियाँ बहतीं हैं, पानी का बहाव आता है, अन्य भी अनेक प्रकारके अलटन-पलटन होते रहते है। संसार का यह सारा चक्र हमारे कर्मोंके आधार नहीं चल रहा है, किन्तु घड़ियालके घंटोंकी तरह सब कार्य संसारकी अनन्तानन्त वस्तुओंके अपने अपने स्वभावके अनुसार ही होरहा है। परन्तु हम अपनी इच्छाके अनुसार कभी रात चाहते हैं कभी दिन, कभी जाड़ा चाहते हैं कभी गर्मी, कभी बादल चाहते हैं, कभी धूप, कभी वर्षा चाहते हैं कभी सूखा। इसी प्रकार संसारके अन्य भी सभी कामोंको अपनी इच्छाके अनुसार ही होते रहना चाहते हैं, परन्तु यह सारा संसार हमारे आधीन न होनेसे जब यह कार्य हमारे अनुसार नहीं होते हैं तो, हम दुःखी होते हैं और अपने भाग्य व कर्मोंको ही दोष देने लग जाते हैं। किन्तु इसमें हमारे कर्मोंका क्या दोष? भूल तो हमारी है जो हम सारे संसारको, जो न हमारे आधीन है न हमारे कर्मोंके ही आधीन, अपने ही अनुकूल चलाना चाहते हैं, नहींचलता है तो दुःखी होते हैं।

रेलमें सफ़र करते समय इधर उधरसे आ-आकर अनेक मुसाफिर बैठते रहते हैं, कोई उतरता है कोई चढ़ता है, यों ही तांतासा लगा रहता है—तरह तरहके पुरुषोंसे संयोग होता रहता है, किसीसे दुख मिलता है, किसीसे सुख। कोई बीमार है, हरदम खांसता है, थूकता है, छींकता है, जिससे हमको दुख होता है। किसीके शरीर और कपड़ोंमें बू आरही है, जिससे हमारा नाक फटा जा रहा है; कोई सुगन्ध लगाये हुए है जिसकी महँकसे जी खुश होता है; कोई सुन्दर गाना गाता है, कोई दूसरे मुसाफिरोंसे लड़ रहा है, इन सब ही के भले बुरे कृत्योंसे कुछ न कुछ दुख सुख हमको भी भोगना

‡ मिलापकी रात।

ही पड़ता है। कारण इसका एकमात्र यही है कि रेलमें सफ़र करनेके कारण हमारा उनका संयोग हो गया है हमारे कर्म हमको दुख सुख देनेके वास्ते उनको उनके घरोंसे खैंचकर नहीं ले आये हैं, हमारी ही तरह वह सब भी अपनी२ ज़रूरतोंके कारण ही यहां रेलमें सफ़र करनेको आये हैं। हमारे कर्मोंका तो कुछ भी ज़ोर उन पर नहीं चल सकता है और न उनके कर्मोंका कुछ ज़ोर हमारे ऊपर ही चल सकता है।

इस ही प्रकार नरक स्वर्ग आदि अनेक गतियोंसे आ आकर जीव एक कुटम्बमें, एक नगरमें और एक देशमें इकट्ठे हो जाते हैं, वह भी सब अपने अपने कर्मानुसार ही आ-आ कर जन्म लेते हैं, हमारे कर्म उनको खैंच कर नहीं ला सकते हैं। रेलके मुसाफिरोंकी तरह एक स्थानमें इकट्ठा होकर रहनेके संयोगसे उनके द्वारा भी हमारा अनेक प्रकारका बिगाड़ संवार होता है जो हमें भेलना ही पड़ता है। दृष्टान्त रूप मान लीजिये कि एक हमारे किसी पड़ौसीके यहाँ बेटेका विवाह है जिसके कारण रात दिन गाजा बाजा, गाना नाचना, खाना खिलाना आदि अनेक उत्सव होते रहते हैं, उनके इस शोर-गुलसे रातको हमको नींद भर सोना नहीं मिलता है, जिससे हम कुछ दुखी होते हैं; तो क्या हमारे कर्मोंने ही हमको यह थोड़ा सा दुख पहुँचानेके वास्ते पड़ौसीके यहां उसके बेटेका विवाह रचवा दिया है ?

ऐसा ही दूसरा दृष्टान्त यह हो सकता है कि पड़ौसीके यहाँ कोई जवान मौत हो गई है जिससे उसकी जवान विधवा रात दिन विलाप करती है, उसके इस विलापसे हमारी नींदमें खलल पड़ रहा है, तो क्या हमारे कर्मोंने ही हमारी नींदमें खराबी डालनेके वास्ते जवान पड़ौसी-को मारकर उसकी जवान स्त्रीको विधवा बनाया है ? नहीं, ऐसा मानना तो बिल्कुल ही हँसीकी बात होगी। असल बात तो यह ही माननी पड़ेगी कि ब्याह वालेके यहां भी उसके अपने ही कर्मोंसे विवाह प्रारम्भ हुआ और मरने वालेके यहां भी उसके अपने ही कर्मोंसे मौत हुई, परन्तु पड़ौसमें रहनेके संयोगसे वह हमारी नींदमें खलल डालनेके निमित्त ज़रूर हो गये।

इसको और भी ज्यादा स्पष्ट करनेके लिये दूसरा दृष्टान्त यह हो सकता है कि कुछ वर्ष पहले यहां हिन्दुस्तानमें लाखों मन चीनी जावासे आती थी और खूब मँहगी बिकती थी, जिससे हरसाल करोड़ों रुपया हिन्दुस्तान से जावा चला जाता था, हिन्दुस्तान कंगाल और वह मालामाल होता जाता था, लेकिन अब कुछ सालसे हिन्दुस्तानियोंने यहां ही चीनी बनानी शुरू करदी है, जिससे यहां चीनी भी सस्ती हो गई है और रुपया भी यहाँका यहां ही रहने लग गया है परन्तु जावावालों-की चीनीकी बिक्री बन्द होनेसे उनके सब कारखाने पट हो गये हैं, तो क्या जावावालोंके खोटे कर्मोंने ही जावावालोंको हानि पहुँचानेके वास्ते हिन्दुस्तानवालों-से चीनी बनानेके कारखाने खुलवा दिये है ? नहीं ऐसा नहीं माना जा सकता है, यहां वालोंने जो कारखाने खोले हैं वह तो अपनेही कर्मोंसे या अपने ही पुरुषार्थ-से खोले हैं, जावावालोंके खोटे कर्मोंसे वह क्यों खोलते, हाँ कारखाने खोलकर जावावालोंको नुकसान पहुँचने-के निमित्त कारण वह ज़रूर हो गये हैं।

(नोट—लेखकके अगले अंशमें निमित्त कारण और उसकी शक्ति पर विशेष विचार किया गया है जो पाठकोंके लिये विचारकी बहुत कुछ नई सामग्री प्रस्तुत करेगा और उसके साथ ही यह लेख अगले अंकमें समाप्त होगा।) —प्रकाशक

मानव-मन

[ले०—पं० नाथूरामजी डोंगरीय जैन]

[१]

विश्व-रंग-भूमें अदृश्य रह
बनकर योगिराज-सा मौन—
मानव-जीवनके अभिनयका
संचालन करता है कौन ?

[२]

किसके इंगित पर संसृतिमें
ये जन मारे फिरते हैं ?
मृग-तृष्णामें शांति-सुधाकी
भ्रांत कल्पना करते हैं।

[३]

आशा और निराशाओंकी धारा कहाँ बहा करती ?
अभिलाषाएँ कहाँ निरन्तर नवक्रीड़ा करती रहतीं ?

[४]

क्षण-भंगुर यौवन-श्री पर यह
इतराता है इतना कौन ?
रूप-राशि पर मोहित होकर
शिशु-सम मचला करता कौन ?

[५]

बिन पग विश्व-विपिनमें करता—
रहता कौन स्वच्छंद विहार ?
बन सम्राट् राज्य बिन किसने
कर रक्खा सब पर अधिकार ?

[६]

रोकर कभी विहँसता है, तो फिर चिन्तित हो जाता है।
भाव-भङ्गिके नित गिरगिट-सम नाना रंग बदलता है ॥

[७]

चित्र बिचित्र बनाया करता
बिन रँग ही रह अन्तर्द्धान।
किसने चित्रकलाका ऐसा
पाया है अनुपम वरदान ?

[८]

प्रिय मन ! तेरी ही रहस्यमय
यह सब अजब कहानी है।
कर सकता जगती पर केवल
मन ! तू ही मनमानी है ॥

[९]

किन्तु वासना-रत रहता ज्यों, त्यों यदि प्रभु चरणोंमें प्यार—
करता, तो अबतक हो जाता भवसागरसे बेड़ापार ॥

जैनधर्म और अनेकान्त

[ले०—श्री पं० दरबारीलालजी 'सत्यभक्त']

धर्म और दर्शन ये जुदे-जुदे विषय हैं; परन्तु प्रागैतिहासिक कालसे ही इन दोनोंका आश्चर्यजनक सम्बन्ध चला आता है। प्रत्येक धर्म अपना एक दर्शन रखता रहा है। उस दर्शनका प्रभाव उस धर्म पर आशातीत रूपमें पड़ा है। दर्शनको देखकर उस धर्मको समझनेमें सुभीता हुआ है इतना ही नहीं, किन्तु उस समय दर्शनको समझे बिना उस धर्मका समझना अति कठिन था।

जैन-धर्मका भी दर्शन है और उसमें एक ऐसी विशेषता है जो जैनधर्मको बहुत ऊँचा बना देती है। आत्मा क्या है ? परलोक क्या है ? विश्व क्या है ? ईश्वर है कि नहीं ? आदि समस्याओंको सुलझानेकी कोशिश सभी दर्शनोंने की है और जैन-दर्शनने भी इस विषयमें दुनियाको बहुत कुछ दिया है, अधिकारके साथ दिया है और अपने समयके अनुसार वैज्ञानिक दृष्टिको काममें लाकर दिया है। परन्तु जैन-दर्शनकी इतनी ही विशेषता बतलाना विशेषता शब्दके मूल्यको कम कर देना है। जैन-दर्शनने जो दार्शनिक विचार दुनियाके सामने रक्खे वे गम्भीर और तथ्यपूर्ण हैं यह प्रश्न ही जुदा है। इस परीक्षामें अगर जैन-दर्शन अधिकसे अधिक नम्बरोंमें पास भी हो जाय तोभी यह उसकी बड़ी विशेषता नहीं कही जा सकती। उसकी बड़ी विशेषता है 'अनेकान्त' जो केवल दार्शनिक सत्य ही नहीं है, बल्कि धार्मिक सत्य भी है। इस अनेकान्तका दूसरा नाम स्याद्वाद है। जैन-दर्शनमें इसका स्थान इतना महत्वपूर्ण है कि जैन-दर्शनको स्याद्वाद दर्शन या अनेकान्त दर्शन भी कहते हैं।

एकान्तदृष्टि एक बड़ा भारी पाप है। जैनधर्ममें इसे मिथ्यात्व कहते हैं। मिथ्यात्व पाँच पापोंसे भी बड़ा पाप माना गया है; क्योंकि वे पाप, पापके रूपमें ही दुनियाको सताते हैं, इसलिये उनका इलाज कुछ सरलतासे होता है; परन्तु मिथ्यात्वरूपी पाप तो धर्मका जामा पहिन कर समाजका नाश करता है। अन्य पाप अगर व्याघ्र हैं तो मिथ्यात्वरूपी पाप गोमुख-व्याघ्र है। यह क्रूर भी है और पहिचाननेमें कठिन भी है।

जिसके हृदयमें सर्वथा एकान्तवाद बस गया उसके हृदयमें उदारता, विश्वप्रेम आदि जो धर्मके मूल-तत्व हैं वे प्रवेश नहीं पा सकते, न वह सत्यकी प्राप्ति कर सकता है। इस प्रकार वह चारित्र-हीन भी होता है और ज्ञान-हीन भी होता है। वह दुराग्रही होकर अहंकारकी और अन्धविश्वासकी पूजा करने लगता है। इस तरह वह जगत्को भी दुःखी तथा अशान्त करता है और स्वयं भी बनता है।

एकान्तवादकी इस भयंकरताको नष्ट करनेके लिये जैनदर्शनने बहुत कार्य किया है। उसका नयवाद और सप्तभंगी उसकी बड़ी से बड़ी विशेषता है। इसके द्वारा नित्यवाद, अनित्यवाद, द्वैतवाद, अद्वैतवाद, आदिके दार्शनिक विरोधोंको बड़ी खूबीके साथ शान्त करनेकी कोशिशकी गई है। इतना ही नहीं किन्तु यह अनेकान्तवाद भी कहीं एकान्तवाद न बन जावे इसके लिये सतर्कता रक्खी गई है और कहा गया है किः—

अनेकान्तोप्यऽनेकान्तः, प्रमाण नय साधनः।

अनेकान्तः प्रमाणात्ते, तदेकान्तोऽर्पितान्नयात् * ॥

अर्थात्—अनेकान्त भी अनेकान्त है। प्रमाण दृष्टिको मुख्य करनेसे वह अनेकान्त है और नयदृष्टिको मुख्य करनेसे वह एकान्त भी है। इसलिये एकान्तका भी उपयोग करना चाहिये। सिर्फ इतना ख्याल रखना चाहिये कि वह एकान्त असदेकान्त न हो जाय।

एकान्त असदेकान्त तभी बनता है जब वह दूसरे दृष्टिविन्दुका विरोधी हो जाता है। अपने दृष्टिविन्दुके अनुसार विचार करता रहे और दूसरे दृष्टिविन्दुका खंडन न करे तो वह सदेकान्त है। इस प्रकार सदेकान्तके रूपमें एकान्तको भी उपादेय माना गया है, यह अनेकान्तकी परम अनेकान्तता है। इस प्रकार जैन-दर्शनकी उदारता व्यापक हो करके भी कितनी व्यवस्थित और विचार पूर्ण है इसका पता लगता है।

मैं ऊपर कह चुका हूँ कि दर्शनका और धर्मका निकट सम्बन्ध रहा है। जैन-दर्शनका यह अनेकान्त-सिद्धान्त अगर दार्शनिक क्षेत्रकी ही वस्तु रहे तो उससे विशेष लाभ नहीं हो सकता। दार्शनिक समस्याएँ जटिल बनी रहें या सुलझ जाएँ इसकी चिन्ता जन-साधारणको नहीं होती। जनता तो उसके व्यावहारिक उपयोगको देखती है, इसलिये अनेकान्तकी व्यावहारिक उपयोगिता ही विशेष विचारणीय है।

धर्म हो या संसारकी कोई भी व्यवस्था हो, वह इसी लिये है कि मनुष्य सुख-शान्ति प्राप्त करे सुखशान्तिके लिये हमारा क्या कर्तव्य है और क्या अकर्तव्य है और उस कर्तव्यको जीवनमें कैसे उतारा जा सकता है और अकर्तव्यसे कैसे दूर रहा जा सकता है, इसीके लिये धर्म है, इसी जगह अनेकान्तकी सबसे बड़ी उपयोगिता है।

आज रूढ़ि और सुधारके बीचमें तुमुल युद्ध हो रहा है। जैन-समाज भी इससे अछूता नहीं है। यदि जैन-समाजमें अनेकान्तकी भक्ति होती तो क्या यह सम्भव था कि इस युद्धका ऐसा रूप होता? पद-पद पर द्रव्य-क्षेत्र काल-भावकी दुहाई देने वाले जैनशास्त्र क्या किसी सुधारके इसीलिये विरोधी हो सकते हैं कि वह सुधार है या नया है? क्या हमारा अनेकान्त सिर्फ इसीलिये है कि वह स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षा घटका अस्तित्व और परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षा घटका नास्तित्व बतलाया करे? क्या उसका यह कार्य नहीं है कि वह यह भी बतलावे कि समाजके लिये अमुक कार्य-रीतिरिवाज अमुक-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावके लिये अस्ति है और दूसरे द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावके लिये नास्ति है। इसलिये यह बहुत सम्भव है कि धर्मके नाम पर और व्यवहारके नाम पर आज जो आचार-विचार चल रहे हैं उनमेंसे अनेक हज़ार दो हज़ार वर्ष पुराने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावके लिये अस्ति-रूप हों और आजके लिये नास्तिरूप हों। मेरा यह कहना नहीं है कि हरएक आचार-विचारको बदल देना चाहिये। मैं तो सिर्फ इतना ही कहना चाहता हूँ कि हमको अपने आचार-विचार पर अनेकान्त-दृष्टिसे विचार करना चाहिये कि उसमें क्या क्या आजके लिये अस्तिरूप है और क्या क्या नास्तिरूप है। सम्भव है कल जो अस्ति है वह आज नास्ति हो जाय और कल जो नास्ति था वह आज अस्ति हो जाय।

परन्तु, जैन-समाजका दुर्भाग्य तो इतना है कि इस अनेकान्त-दृष्टिका व्यावहारिक उपयोग करना तो दूर, किंतु उस पर विचार करना भी घृणित समझा जाता है। अगर कोई विदेशी इस दृष्टिसे विचार करके कुछ बात कहे तो जैन समाज उसके गीत गा देगा; परन्तु उस दृष्टिसे स्वयं विचार न करेगा। आज अनेकान्तके गीत गानेको जैन समाज तैयार है, और उनके गीत गाने-

---

* यह स्वामी समन्तभद्रके स्वयम्भूस्तोत्रका वाक्य है—सम्पादक

को भी जैन समाज तैयार है और जैनसमाजके बाहर रहकर अनेकान्तका व्यावहारिक उपयोग कर रहे हैं; परन्तु दुर्भाग्यवश जैनसमाज यह नहीं चाहता कि कोई उसका लाल अनेकान्तका व्यावहारिक उपयोग करे, उसको कुछ ऐसा रूप दे जिससे जड़ समाजमें कुछ चैतन्यकी उद्भूति हो, दुनियाका कुछ आकर्षण हो, उसको कुछ मिले भी। जैन समाजको आज सिर्फ नामकी पूजा करना है, अर्थकी नहीं।

परन्तु जैन समाजसे मैं विनीत किन्तु स्पष्ट शब्दोंमें कह देना चाहता हूँ कि यह रुख जैनधर्मका रुख नहीं है। जैनधर्म कवित्वकी अपेक्षा विज्ञानकी नींव पर अधिक खड़ा है। कवित्वमें भावुकता रहती है अवश्य, परन्तु उसमें अन्धश्रद्धा नहीं होती और विज्ञानमें तो अन्धश्रद्धा-का नाम ही पाप समझा जाता है। विज्ञानका तो प्राण ही विचारकता, निष्पक्षता है। यदि जैनसमाज जैन धर्मको वैज्ञानिक धर्म कहना चाहता है—जैसा कि वह है—तो उसे स्वतन्त्र विचारकता, योग्य परिवर्तनशीलता, सुधारकताका स्वागत करना चाहिये। धर्मका मूल-द्रव्योंकी योजनोंकी वर्षोंकी और अविभाग प्रतिच्छेदोंकी गणनामें नहीं है किन्तु वह जनहितमें है। विश्वके कल्याणके लिये, सत्यकी पूजाके लिये किसी भी मान्यताका बलिदान किया जा सकता है। विज्ञान आज जो विद्युद्वेगसे दौड़ रहा है और विद्युत्के समान हो चमक रहा है उसका कारण यही है कि उसमें अहंकार नहीं है। सत्यकी वेदी पर वह प्राचीनसे प्राचीन और प्यारेसे प्यारे सिद्धान्तका—विचारका बलिदान कर देता है। कोई धर्म अगर वैज्ञानिक है तो उसमें भी यही विशेषता होनी चाहिये।

एक दिन जैन धर्ममें यह विशेषता थी, इसीलिये वह ईश्वर-सरीखे सर्वमान्यतत्वको निरर्थक समझकर सिंहा-सनसे उतार सका, वेद-सरीखे देवमान्य श्रद्धास्पद ग्रन्थ-को फेंक सका, विज्ञानकी कसौटी पर जो न उतरा उसका 'ऑपरेशन' कर दिया, तभी वह दृढ़ताके साथ कह सका कि मैं वैज्ञानिक हूँ। परन्तु आजका जैन-धर्म—अर्थात् जैनधर्मके नाम पर समझा जानेवाला वह रूप जो साधारण लोगोंकी अन्ध श्रद्धारूपी गुफामें पड़ा है—क्या इस प्रकार वैज्ञानिकताका परिचय दे सकता है? आज तो जैनसमाजका शिक्षित और त्यागीवर्ग भी वैज्ञानिक जैनधर्मके पक्षमें खड़ा नहीं हो पाता। शिक्षितवर्गकी शक्ति भी जनताको सुपथ पर लानेमें नहीं किंतु रिझानेमें नष्ट हो रही है। उसे वैज्ञानिक जैनधर्मके मार्ग पर चलानेकी बात तो दूर, परन्तु सुनानेमें और सुननेमें भी उसका हृदय प्रकम्पित हो उठता है। अहा! कहाँ जैन धर्म, कहाँ उसकी वैज्ञानिकता, अनेकान्तता और कहाँ यह कायरता, अन्धश्रद्धा !! दोनोंमें ज़मीन आस्मानसे भी अधिक अन्तर है।

याद रखिये! इस वैज्ञानिक निष्पक्षताके बिना अनेकान्त पास भी नहीं फटक सकता, और अनेकान्त-के बिना जैन-धर्मकी उपासना करना प्राणहीन शरीरका उपयोग करना है। जैन-धर्मकीविजय-वैजयन्ती उड़ाने-की बात तो दूर रहे, परन्तु उससे जैनसमाज अगर कुछ लाभ उठाना चाहता हो, तो उसे सत्य और कल्याणकारी प्रत्येक विचार और प्रत्येक आचारको अपनाकर, उसका समन्वय कर अनेकान्तकी व्याव-हारिक उपयोगिताका परिचय देना चाहिये। जहाँ अनेकान्तकी यह व्यावहारिक उपयोगिता है वहां जैन-धर्म है। इसके बिना जैनधर्मका नाम तो रक्खा जा सकता है; परन्तु जैनधर्म नहीं रक्खा जा सकता*।

---

* जैनाचार्य श्रीआत्मानन्द-जन्मशताब्दि-स्मारक ग्रन्थसे उद्धृत।
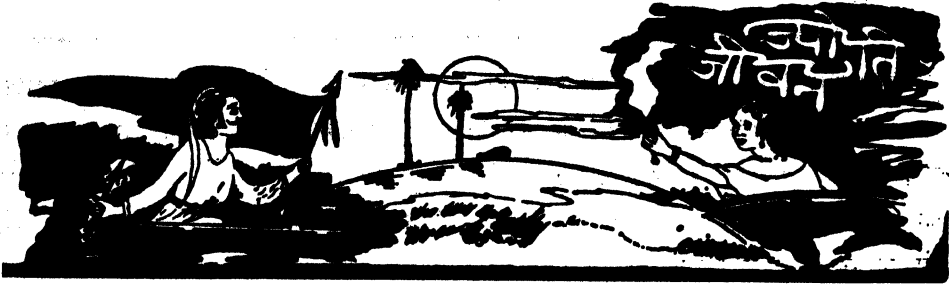
तरुण-गीत

वीर ! भरदो फिर वह हुंकार !
मचे अवनी पर धुआँधार !!

卐 卐 卐

कान्ति-नर्त्तनमें ले आल्हाद,
उमंगों की आएँ लहरें !
हमारे शौर्य-पराक्रम की,
पताकाएँ नभ में फहरें !!
मिटे दुखितों का हाहाकार
वीर ! भरदो फिर वह हुंकार !

卐 卐 卐

नराधम-छलियों की सत्ता,
न जग में कहीं जगह पाए !
हमारे उर की मानवता—
बहुत सो चुकी, जाग जाए !!
सिखादे, कहते किसको प्यार !
वीर ! भरदो फिर वह हुंकार !

卐 卐 卐

समाई कायरता मन में,
रक्त का हुआ आज पानी !
मुर्दनी-सी मुँह पर छाई—
लुट गई सारी मर्दानी !
बाग़ फिर हो जाए गुलज़ार !
वीर ! फिर भरदो वह हुंकार !!

卐 卐

न हो हमको प्राणों का मोह,
न हम कर्तव्य विमुख जाएँ !
धर्म और देश-प्रेम-परित,
सदा बलिदान-गान गाएँ !!
तभी हो जीने का अधिकार !
वीर ! भरदो फिर वह हुंकार !!

卐 卐 卐

शक्ति मय, बल-शाली जीवन,
विश्व-मंदिर की शोभाएँ !
अहिंसा की किरणें पाकर !
प्रभाकर-तुल्य जगमगाएँ !!
हो उठे नव जीवन संचार !
वीर ! फिर भरदो वह हुंकार !!

卐 卐 卐

बनें हम आशावादी सिंह,
अभय पुस्तक को सिखलाने !
बनाले अन्तरंग को सुदृढ,
लगे उद्यम पथ अपनाने !!
निराशा पर कर व्रज-प्रहार !
वीर ! भरदो फिर वह हुंकार !!

卐 卐 卐

रुढियोंका दुखप्रद विश्वास—
शृंखलाओंका पागल प्रेम !
भग्न हो सारा गुरुडम-वाद-
दृष्टिगत हो समाज में क्षेम,
बनावट हीन, स्वच्छ व्यवहार !
वीर ! भरदो फिर वह हुंकार !!

卐 卐

धर्म पर मर मिटने की साध-
हृदय में सदा फले फले
न सुखमें, दुखमें संकटमें-
हृदय उसको क्षण भर भूले
यही हो जीवन का शृंगार
वीर ! भरदो फिर वह हुंकार !!

卐 卐 卐 卐 卐 卐

भगवत्स्वरूप जैन "भगवत्"
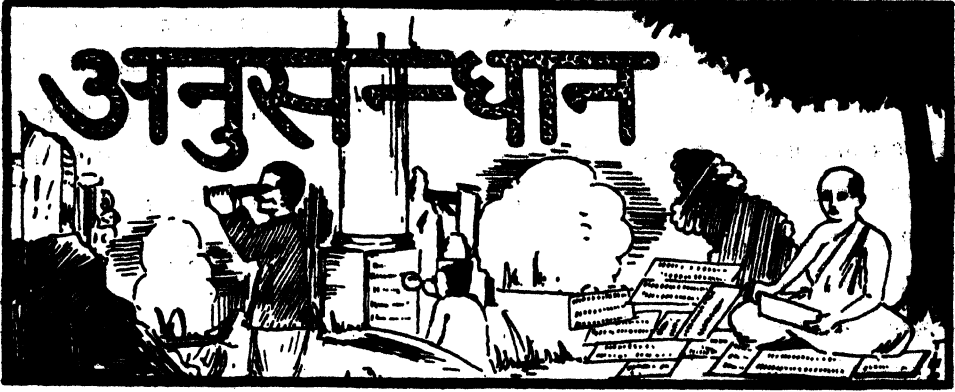
भगवती आराधना और शिवकोटि

[ले०—पं० परमानन्दजी शास्त्री]

उपलब्ध जैन साहित्यमें 'भगवती आराधना' नामका ग्रन्थ बड़ा ही महत्वपूर्ण है और वह अपनी खास विशेषता रखता है। ग्रन्थका प्रतिपाद्य विषय बड़ा रोचक तथा हृदयग्राही है। इसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप नामकी चार आराधनाओंका वर्णन किया गया है, जो मोक्षको प्राप्त करनेमें समर्थ होनेके कारण 'भगवती' कहलाती हैं और इसलिये विषयानुरूप ग्रन्थका भगवती आराधना नाम उपयुक्त प्रतीत होता है। यह ग्रन्थ खासकर मुनियोंको लक्ष्य करके लिखा गया है। वास्तवमें मुनिधर्मकी और श्रावकधर्मकी भी अधिकांश सफलता सल्लेखना या समाधिपूर्वक मरण करनेमें अर्थात् शरीर और कषायोंको कृश करते हुए शान्तिके साथ अपने प्राणोंका त्याग करनेमें है। इसी कारण इस ग्रन्थमें सल्लेखनामरणके भेद-प्रभेदों और उनके योग्य साधन-सामग्री आदिका कितना ही विस्तृत वर्णन किया गया है। आराधनाके विषयको इतने अच्छे ढंगसे प्रतिपादन करने वाला दूसरा ग्रन्थ दिगम्बर जैन समाजमें उपलब्ध नहीं है। हां, इतना ज़रूर मालूम होता है कि इससे पहले भी जैन समाजमें आराधना-विषयके कुछ ग्रन्थ मौजूद थे उन्हीं परसे शिवार्यने इस ग्रन्थकी रचना की है, और यह बात ग्रन्थमें पूर्वाधारको व्यक्त करने वाले 'पुव्वायरियणिबद्धा' जैसे पदोंसे भी साफ ध्वनित है।

ग्रन्थके अन्तमें बालपण्डित-मरणका कथन करते हुए, देशयती—श्रावक—के व्रतोंका भी कुछ विधान किया है और वह इस प्रकार है:—

पंच य अणुव्वदाइं सत्त य सिक्खाउ देसजदिधम्मो।
सव्वेण य देसेण य तेण जुदो होदि देसजदी ॥
पाणिवधमुसावादादत्तादाणपरदारगमणेहिं ।
अपरिमिदिच्छादो वि य अणुव्वयाइं विरमणाइं ॥
जं च दिसावेरमणं अणत्थदंडेहिं जं च वेरमणं।
देसावगासियं पि य गुणव्वयाइं भवेताइं ॥
भोगाणं परिसंखा सामाइयमतिहि संविभागो य।
पोसहविधी य सव्वो चदुरो सिक्खाउ वुत्ताओ।

आउ[illegible] मरणे [illegible] जीविदासाए ।
णादीहिं [illegible] पच्छिमसल्लेहणमकासी ।

—गाथा नं० २०७६ से २०८३

इन गाथाओंमें श्रावकके बारह व्रतोंका विधान करते हुए शिवार्यने आचार्य समन्तभद्रकी तरह गुणव्रतोंमें भोगोपभोगपरिमाण व्रतको न लेकर देशावकाशिकको ग्रहण किया है और शिक्षाव्रतोंमें देशावकाशिकको न लेकर भोगोपभोगपरिमाण व्रतका विधान किया है। परन्तु सल्लेखनाका कथन समन्तभद्रकी तरह व्रतोंसे अलग ही किया है, जब कि आचार्य कुन्दकुन्दने सल्लेखनाको चौथा शिक्षाव्रत बतलाया है। इससे मालूम होता है कि ग्रन्थकारने उमास्वातिप्रणीत तत्त्वार्थसूत्रके 'दिग्देशानर्थदण्ड' इत्यादि सूत्र (७-२०) की मान्यताको बहुत कुछ अपनाया है।

इस ग्रन्थ पर प्राकृत और संस्कृतभाषामें कई टीका-टिप्पण लिखे गये हैं, जिनमेंसे चार टीकाओंका—विजयोदया, मूलाराधनादर्पण, आराधनापंजिका और भावार्थदीपिका नामकी टीकाओंका—उल्लेख तो पं० नाथूरामजी प्रेमीने 'भगवती आराधना और उसकी टीकाएँ' शीर्षक लेखमें किया है*। ये सभी टीकाएँ उपलब्ध हैं और उनमेंसे शुरूकी दो टीकाएँ तो, अमितगत्याचार्य-कृत पद्यानुवाद सहित, मूल ग्रन्थकी नवीन हिंदी टीकाके साथ 'देवेन्द्रकीर्त्तिग्रन्थमाला' में प्रकाशित भी हो चुकी हैं, शेष दो टीकाएँ अप्रकाशित हैं। इनके सिवाय, एक प्राकृतटीका, चन्द्रनन्दी और जयनन्दीकृत दो टिप्पणों तथा किसी अज्ञातनाम आचार्यकृत दूसरे पद्यानुवादके नामादिकका उल्लेख भी पं० आशाधरजीकी 'मूलाराधनादर्पण' नामक टीकामें पाया जाता है।

इन चारोंमेंसे प्राकृत टीका अधिक प्राचीन है और टिप्पणादि उसके बादके बने हुए मालूम होते हैं। ये सब टीका-टिप्पण १३वीं शताब्दीमें पं० आशाधरजीके सामने मौजूद थे। परन्तु खेद है कि आज कहीं भी उनका अस्तित्व सुननेमें नहीं आता!

रचनाकाल

यह ग्रन्थ आचार्य शिवकोटि या शिवार्यका बनाया हुआ है। ग्रन्थमें 'सिवज्जेण' पदके द्वारा ग्रंथकारका नाम 'शिवार्य' अथवा संक्षिप्त रूपसे 'शिव' नामके आचार्य सूचित किया है, और श्रीजिनसेनाचार्यादिने उन्हें 'शिवकोटि' प्रकट किया है। ये शिवकोटि अथवा शिवार्य कब हुए हैं, किस संवत्में उन्होंने इस ग्रन्थकी रचनाकी और उनका क्या विशेष परिचय है? इत्यादि बातोंके जाननेका इस समय कोई साधन नहीं है। क्योंकि न तो ग्रन्थकारने ही इन बातोंकी सूचक कोई प्रशस्ति दी है और न किसी दूसरे आचार्यने ही उनके विषयका ऐसा कोई उल्लेख किया है। हाँ, ग्रंथके अन्तमें निम्न दो गाथाएँ ज़रूर पाई जाती हैं:—

अज्जजिणणंदिगणिसव्वगुत्तगणिअज्जमित्तणंदीणं ।
अवगमिय पादमूले सम्मं सुत्तं च अत्थं च ॥
पुव्वायरियणिबद्धा उवजीवित्ता इमा ससत्तीए ।
आराधणा सिवज्जेण पाणिदलभोइणा रइदा ॥

—गाथा नं० २१६५, २१६६

इन दोनों गाथाओंमें बतलाया है कि 'आर्य जिननंदिगणी, आर्य सर्वगुप्तगणी और आर्य मित्रनंदिगणीके चरणोंके निकट भले प्रकार सूत्र और अर्थको समझ करके और पूर्वाचार्योंके द्वारा निबद्ध हुई आराधनाओंके कथनका उपयोग करके पाणितलभोजी—करतल पर लेकर भोजन करने वाले—शिवार्यने यह 'आराधना' ग्रन्थ अपनी शक्तिके अनुसार रचा है।

* देखो, अनेकान्त वर्ष १, अंक ३, ४।

इस प्रशस्तिमें आर्य जिननन्दिगणी आदि जिन तीन गुरुओंका नामोल्लेख है, वे कौन हैं, कब हुए हैं, उनकी गुरुपरम्परा और गण-गच्छादि क्या हैं ? इत्यादि बातोंको जाननेका भी कोई साधन उपलब्ध नहीं है। हाँ, द्वितीय गाथामें प्रयुक्त हुए ग्रन्थकारके 'पाणिदलभोइणा' इस विशेषणपदसे इतनी बात स्पष्ट हो जाती है कि आचार्य शिवकोटिने इस ग्रन्थकी रचना उस समय की है जब कि जैनसंघमें दिगम्बर और श्वेताम्बर भेदकी उत्पत्ति हो गई थी। उसी भेदको प्रदर्शित करनेके लिये ग्रन्थकर्त्ताने अपने साथ उक्त विशेषण-पदका लगाना उचित समझा है।

'भगवती आराधना'में आचार्य कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंकी कुछ गाथाएँ ज्योंकी त्यों रूपसे पाई जाती हैं। जिनका एक नमूना इस प्रकार है—

दंसणभट्टा भट्टा दंसणभट्टस्स णत्थि णिव्वाणं ।
सिज्झंति चरियभट्टा दंसणभट्टा ण सिज्झंति ॥

भगवती आराधनामें नं० ७३८ पर पाई जाने वाली यह गाथा कुन्दकुन्दके दर्शनप्राभृतकी तीसरी गाथा है। इसी प्रकार कुन्दकुन्दके नियमसारकी दो गाथाएँ नं०६९, ७० भगवतीआराधनामें क्रमशः नं०११८७, ११८८ पर, चारित्रप्राभृतकी ३६ वीं गाथा नं० १२११ पर और बारसअणुवेक्खाकी दूसरी गाथा नं० १७१५ पर ज्यों की त्यों पाई जाती हैं। इनके अतिरिक्त कुछ गाथाएँ ऐसी भी हैं जो थोड़ेसे पाठभेद या परिवर्तनादिके साथ उपलब्ध होती हैं। ऐसी गाथाओंका एक नमूना इस प्रकार है—

जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं ।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि उस्सासमेत्तेण ॥

—प्रवचनसार, ३, ३८

जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं ।
तं णाणी तिहि गुत्तो खवेदि अंतोमुहुत्तेण ॥

—भग० आ०, १०८

इसी तरहकी स्थिति गाथा नं० ११८४, १२०६, १२०७, १२१०, १८२४ की समझनी चाहिये, जो कुछ परिवर्तनादिके साथ चारित्र प्राभृतकी गाथा नं० ३१, ३२, ३३, ३५ और पंचास्तिकायकी गाथा नं०६४ तथा प्रवचनसारके द्वितीय अध्यायकी गाथा नं० ७६ परसे बनाई गई जान पड़ती हैं।

इस सब कथनसे शिवकोटिका कुन्दकुन्दाचार्यके बाद होना पाया जाता है। इसके सिवाय, ग्रन्थमें उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रका भी कई जगह अनुकरण किया गया है। उदाहरणके लिये निम्न गाथाको ही लीजिये:—

अणसणअवमोदरियं रसपरिचाओ य वुत्तिपरिसंखा ।
कायस्स च परितावो विवित्तसयणासणं छट्ठं ।

—गाथा नं० २०८

यह गाथा तत्त्वार्थसूत्र अध्याय नं० ९ के निम्न सूत्र से बनाई गई जान पड़ती है—

"अनशनावमौदर्य्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्याग-विविक्तशय्यासनकायक्लेशा बाह्यं तपः ॥१९॥"

इसी प्रकारकी और भी कुछ गाथाएँ हैं, जिनमें उमास्वातिके सूत्रोंका स्पष्ट अनुकरण जान पड़ता है। सात शिक्षाव्रतों वाले सूत्रके अनुसरणकी बात ऊपर बतलाई ही जा चुकी है।

आचार्य शिवकोटिके सामने समन्तभद्रस्वामीके ग्रन्थोंका होना भी पाया जाता है, क्योंकि इस ग्रन्थमें बृहत्स्वयंभूस्तोत्रके कुछ पद्योंके भावको अनुवादित किया गया है—टीकाकारने भी उसके समर्थनमें स्वयंभूस्तोत्रके वाक्यको उद्धृत करके बतलाया है। यथाः—

जह जह भुंजइ भोगे तह तह भोगेसु वड्ढदे तण्हा ।
—भग० आ० गा० १२६२

तृष्णार्चिषः परिदहन्ति न शान्तिरासा-
मिष्टेन्द्रियार्थविभवैः परिवृद्धिरेव ।
—बृहत्स्वयंभूस्तोत्र, ८२ ।

बाहिरकरणविसुद्धी अब्भंतरकरणसोधणत्थाए ॥
—भग० आ० १३४८

बाह्यं तपः परमदुश्चरमाचरंस्त्व—
माध्यात्मिकस्य तपसः परिबृंहणार्थम् ॥
—बृहत्स्वयंभूस्तोत्र, ८३ ।

इनके अतिरिक्त रत्नकरण्डश्रावकाचारके सल्लेखना-विषयक 'उपसर्गे दुर्भिक्षे' इत्यादि पद्यकी प्रायः सभी बातोंका अनुकरण इस ग्रन्थकी गाथा नं० ७३, ७४ में किया गया है। इससे ग्रन्थकारमहोदय आचार्य कुन्द-कुन्द तथा उमास्वातिके बाद ही नहीं किंतु समन्तभद्रके भी बाद हुए जान पड़ते हैं।

भगवती आराधनामें १५४९ नं० पर एक गाथा निम्न रूपसे पाई जाती है:—

रोहेडयम्मि सत्तीए हओ कोंचेण अग्गिदइदो वि ॥
तं वेयणमधियासिय पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥

इसमें बताया गया है कि रोहेड नगरके क्रौंच नाम-के राजाने अग्नि नामक राजाके पुत्रको शक्तिशस्त्रसे मारा था और उन अग्निपुत्र मुनिराजने उस दुःखको साम्यभावसे सहनकर उत्तमार्थकी प्राप्ति की थी। पं० आशाधरजीने 'मूलाराधनादर्पण' में इस गाथाकी व्याख्या करते हुए अग्नि नामक राजाके पुत्रका नाम 'कार्तिकेय' लिखा है, अकलंकदेवने 'तत्त्वार्थराजवार्तिक' में महावीरतीर्थमें दारुण उपसर्ग सहनेवाले दश मुनियों के नामोंमें कार्तिकेयका भी नाम दिया है, आराधना कथाकोषकी ६६वीं कार्तिकेयस्वामीकी कथामें भी कार्तिकेयके पिताका नाम अग्नि नामक राजा दिया है और कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी ४८७ नं०की गाथा में '*सामि-कुमारेण*' पदके द्वारा उसके रचयिताका नाम जो स्वामि-कुमार दिया है। उसका अर्थ संस्कृत-टीकाकार शुभ-चन्द्रने 'स्वामिकार्तिकेयमुनिना आजन्मशीलधारिणा' किया है। इसके सिवाय, अन्य किसी कार्तिकेय मुनि का नाम भी जैन साहित्यमें उपलब्ध नहीं होता, जिससे आराधनामें प्रयुक्त हुए अग्निराजाके पुत्र कार्तिकेयको कार्तिकेयानुप्रेक्षाके कर्त्तासे भिन्न समझा जा सके। ऐसी हालतमें, यदि सचमुच ही यह अनुप्रेक्षा ग्रन्थ उक्त गाथा-वर्णित अग्निपुत्र कार्तिकेयके द्वारा रचा गया है तो यह कहना होगा कि 'भगवती आराधना' ग्रन्थ कार्तिकेयानुप्रेक्षाके बाद बनाया गया है। परंतु कितने बाद बनाया गया, यह अभी निश्चित रूपसे कुछ भी नहीं कहा जा सकता; तो भी यह निःसंकोच रूपसे कहा जा सकता है कि इस ग्रंथकी रचना आचार्य समंतभद्र और पूज्यपादके मध्यवर्ती किसी समयमें हुई है; क्योंकि आलोचनाके दश दोषोंके नामोंको प्रकट करनेवाली इस ग्रंथकी निम्न गाथा नं०५६२ तत्त्वार्थसूत्रके ९वें अध्या-यके २२वें सूत्रकी व्याख्या करते हुए पूज्यपादने अपनी सर्वार्थसिद्धिमें 'उक्तं च' रूपसे उद्धृत की है—

आकंपिय अणुमाणिय जं दिट्ठं बादरं च सुहुमं च ।
छण्णं सद्दाउलयं बहुजण अव्वत्त तस्सेवी ॥

इसके सिवाय, आचार्य पूज्यपादने 'सर्वार्थसिद्धि' में इस आराधना ग्रंथ परसे और भी बहुत कुछ लिया है, जिसका एक नमूना नीचे दिया जाता है—

"निक्षेपश्चतुर्विधः अप्रत्यवेक्षितनिक्षेपाधिकरणं दुष्प्र-मृष्टनिक्षेपाधिकरणं, सहसा निक्षेपाधिकरणमनाभोग-निक्षेपाधिकरणं चेति । संयोगो द्विविधः—भक्तपान-संयोगाधिकरणमुपकरणसंयोगाधिकरणं चेति ।

निसर्गस्त्रिविधः—कायनिसर्गाधिकरणं, वाग्निसर्गाधिकरणं, मनोनिसर्गाधिकरणं चेति ।

अ० ६, सू०९ कीटीका ।

यह सब व्याख्या भगवती आराधना ग्रंथकी निम्न गाथाओं (नं० ८१४, ८१५) परसे ली गई जान पड़ती है—

सहसाणाभोगियदुप्पमज्जिदअपच्चवेक्खणिक्खेवो ।
देहो व दुप्पउत्तो तहोवकरणं च णिव्वित्ति ॥
संजोयणमुवकरणाणं च तहा पाणभोयणाणं च ।
दुट्ठणिसिट्ठा मणवचकाया भेदा णिसग्गस्स ॥

इस तरह शिवकोटि अथवा शिवार्य आचार्य पूज्यपादसे पहले होगये हैं; परंतु कितने पहले हुए यह यद्यपि अभी निश्चितरूपसे नहीं कहा जा सकता, फिर भी समंतभद्र तक उसकी सीमा ज़रूर है।

समन्तभद्रका शिष्यत्व

श्रवणबेलगोलके शिलालेख नं० १०५ में, जो शक संवत् १०५० (वि० सं० ११८५) का लिखा हुआ है, शिवकोटिको समन्तभद्रका शिष्य और तत्त्वार्थसूत्रकी टीकाका कर्ता घोषित किया है। यथाः—

तस्यैव शिष्यश्शिवकोटिसूरिस्तपोलतालम्बनदेहयष्टिः
संसारवाराकरपोतमेतत्तत्त्वार्थसूत्रं तदलंचकार ॥

'विक्रान्तकौरवनाटक' के कर्ता आचार्य हस्तिमल्लने भी, जो विक्रमकी १४वीं शताब्दीमें हुए हैं अपने निम्न श्लोकमें समन्तभद्रके दो शिष्यों का उल्लेख किया है—एक शिवकोटि, दूसरे शिवायनः—

शिष्यौतदीयौशिवकोटिनामाशिवायनःशास्त्रविदांवरेण्यौ
कृत्स्नश्रुतं श्रीगुरुपादमूले ह्यधीतवन्तौ भवतः कृतार्थौ

उक्त दोनों पद्योंमें जिन शिवकोटिको समन्तभद्रका शिष्य बताया है वे भग० आराधनाके कर्त्तासे भिन्न कोई दूसरे ही शिवकोटि मालूम पड़ते हैं; क्योंकि यदि ये शिवकोटि ही समन्तभद्रके शिष्य होते, तो वे अपने गुरु समन्तभद्रका स्मरण ग्रन्थमें ज़रूर करते और उनकी भस्मक व्याधि दूर होने तथा चन्द्रप्रभकी मूर्तिके प्रकट होनेवाली घटनाका भी अन्य उदाहरणोंकी तरह उल्लेख करते। परन्तु भगवती आराधनामें ऐसा कुछ भी नहीं किया गया, इससे यह बात अभी सुनिश्चित रूपसे नहीं कही जासकती कि ये शिवकोटि ही समन्तभद्रके शिष्य हैं। जबतक इसका समर्थन किसी प्राचीन प्रमाणसे न होजाय तब तक यह कल्पना पूरी तौरसे प्रामाणिक नहीं मानी जासकती और न इस पर अधिक ज़ोर ही दिया जासकता है।

'भगवती आराधना' के तत्त्वार्थसूत्र-विषयक अनुसरणको देखनेसे तो यह कल्पना भी हो सकती है कि इन्हीं आचार्य शिवकोटिने तत्त्वार्थसूत्र की टीका की हो, तब ये शिवकोटि समन्तभद्रके शिष्य ही ठहरते हैं; क्योंकि १०५ नं० के उक्त शिलावाक्यमें प्रयुक्त हुए 'एतत्' शब्दसे यह स्पष्ट जाना जाता है कि वह तत्त्वार्थसूत्रकी उस टीका परसे लिया गया है जिसे समन्तभद्रके शिष्य शिवकोटिने रचा है*। परन्तु आचार्य शिवकोटिने अपने जिन गुरुओं का नामोल्लेख किया है उनमें आचार्य समन्तभद्रका कहीं भी ज़िक्र नहीं है, यह एक विचारणीय बात ज़रूर है। हाँ, यह हो सकता है कि समन्तभद्रका दीक्षानाम 'जिननन्दि' हो; तब समन्तभद्रके शिष्यत्व-विषयकी सारी समस्या हल होजाती है। इसमें सन्देह नहीं कि एक शिवकोटि समन्तभद्रके शिष्य ज़रूर थे, और वे संभवतः काञ्चीके राजा थे—बनारसके नहीं; किन्तु वे यही शिवकोटि हैं, और इन्होंने ही तत्त्वार्थसूत्रको सर्व-

* देखो, श्री जुगलकिशोरजी मुख्तार-रचित 'स्वामी समन्तभद्र (इतिहास)' पृष्ठ ९६ ।

प्रथम—पूज्यपादसे भी पहले—अपनी टीकासे अलंकृत किया, यह अभी निश्चित रूपसे नहीं कहा जासकता। इसके लिये विशेष अनुसन्धान की ज़रूरत है।

रत्नमालाके कर्ता शिवकोटि

पं० जिनदासजी शास्त्रीने 'भगवती आराधना' की भूमिकामें यह सिद्ध करनेकी चेष्टा की है कि रत्नमाला ग्रंथके कर्त्ता शिवकोटि ही समन्तभद्र के शिष्य हैं और उन्हींके द्वारा यह भगवती आराधना ग्रंथ रचा गया है। उनकी यह कल्पना बिल्कुल ही निराधार जान पड़ती है।

'रत्नमाला' एक छोटासा संस्कृत ग्रंथ है, जिसकी रचना बहुत कुछ साधारण है और वह माणिकचंद-ग्रंथमालाके 'सिद्धान्तसारादिसंग्रह' में प्रकाशित भी हो चुका है। उसका गवेषणापूर्वक अध्ययन करनेसे पता चलता है कि यह ग्रंथ आधुनिक है, शिथिलाचारका पोषक है और किसी भट्टारकके द्वारा रचा गया है। इसकी रचना 'यशस्तिलकचम्पू' के कर्ता सोमदेवसूरिसे पीछेकीजानपड़ती है; क्योंकि यशस्तिलकके उपासकाध्ययन का एक पद्य रत्नमालामें कुछ तोड़-मरोड़कर रक्खा गया मालूम होता है। यथाः—

सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणम्॥

—यशस्तिलकचम्पू

सर्वमेवविधिर्जैनः प्रमाणं लौकिकः सतां।
यत्र न व्रतहानिः स्यात्सम्यक्त्वस्य च खंडनं॥

—रत्नमाला ६५

यशस्तिलक चम्पूका रचनाकाल शकसंवत् ८८१ (वि० सं० १०१६) है, अतः रत्नमालाकी रचना इसके पीछेकी जान पड़ती है। रत्नमालामें शिथिलाचार-पोषक वर्णन भी पाया जाता है, जिसका एक श्लोक नमूनेके तौर पर दिया जाता है:—

कलौ काले वनेवासो वर्ज्यते मुनिसत्तमैः।
स्थीयते च जिनागारे ग्रामादिषु विशेषतः॥२२॥

इस श्लोकमें बताया है कि इस कलिकालमें मुनियों को बनमें न रहना चाहिये। श्रेष्ठ मुनियोंने इसको वर्जित बतलाया है। इस समय उन्हें जैनमन्दिरोंमें, विशेषकर ग्रामादिकोंमें, ठहरना चाहिये। इससे पाठक जान सकते हैं कि यह उस समयकी रचना है जबकि साधु-सम्प्रदायमें शिथिलता आगई थी और चैत्यवास तथा ग्रामवासकी प्रवृत्ति ज़ोर पकड़ती जाती थी। भगवती आराधनामें वनवासके निषेधादिका ऐसा कोई विधान नहीं पाया जाता है। इसके सिवाय, 'भगवती आराधना' में शिवकोटिने अपने जिन तीन गुरुओंके नाम दिये हैं उनमेंसे 'रत्नमाला' के कर्त्ताने एक का भी उल्लेख नहीं किया, जब रत्नमालामें सिर्फ़ सिद्धसेन भट्टारक और समन्तभद्रका ही स्मरण किया गया है। इससे स्पष्ट जाना जाता है कि 'रत्नमाला' और 'आराधना' दोनों ग्रंथ एक ही विद्वानकी कृति नहीं है और न हो सकते हैं। भगवती आराधनाके सिवाय, शिवकोटिकी कोई दूसरी रचना अब तक उपलब्ध ही नहीं हुई है। ऐसी हालतमें पाठक स्वयं समझ सकते हैं कि उक्त पं० जिनदास शास्त्रीने आराधना ग्रंथके कर्ता शिवकोटिको जो रत्न-मालाका कर्त्ता लिखा है वह कितना अधिक निराधार, भ्रमपूर्ण तथा अप्रामाणिक है।

ऊपरके इस समस्त विवेचन परसे यह बात स्पष्ट है कि 'भगवती आराधना' के कर्त्ता शिवकोटि या शिवार्य आचार्य कुन्दकुन्द, उमास्वाति, समन्तभद्र तथा संभवतः कार्तिकेयके बाद हुए हैं, और सर्वार्थ-सिद्धिप्रणेता पूज्यपादसे पहले हो गये हैं—उनका अस्तित्वकाल स्वामी समन्तभद्र और पूज्यपाद दोनोंके मध्यवर्ती है। साथही, यह भी स्पष्ट है कि 'रत्नमाला' के कर्ता शिवकोटि भगवती आराधनाके रचयितासे भिन्न हैं—दोनों एक व्यक्ति नहीं हो सकते। रही भगवती आराधनाके कर्ताकी समन्तभद्रके साथ शिष्य सम्बन्धकी बात, वह अभी सन्दिग्ध है—विशेष प्रमाणोंकी उपलब्धिके बिना उसके सम्बन्धमें निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता। आशा है विद्वान् लोग इस विषयमें विशेष प्रमाणोंको खोज निकालनेका प्रयत्न करेंगे। मुझे अबतकके अनुसन्धान-द्वारा जो कुछ मालूम होसका है वह विद्वानोंके सामने विचारार्थ प्रस्तुत है।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा, ता० ७-३-१९३९

पथिक

[ले० श्री० नरेन्द्रप्रसाद जैन, बी. ए.]

उसके नन्हेंसे हृदयमें कितनी पीड़ा थी, कितनी कसक थी, इसका किसीको अनुमान नहीं ! अशान्तिके बवण्डर उठते और एक क्षणके लिये उसके मनको उद्वेलित कर देते ! शांति उससे कोसों दूर थी, उसे अपने जीवनसे असंतोष था, वह जीवनका अर्थ समझना चाहता पर नहीं समझ पाता था ! जितना ही वह इस गुत्थीको सुलझानेका प्रयत्न करता उतना ही वह निराश होता जाता ! उसकी दृष्टिमें दुनिया क्या प्रत्येक कार्य हेय था। वह खोजमें था एक ऐसे उद्देश्यकी जो उसकी आत्माको स्वीकार हो। एक और ही किसी वस्तुका बना हुआ उसका हृदय था। दुनियाने उसे नहीं समझा, उसकी दृष्टिमें वह पत्थरका टुकड़ा था, पर वास्तवमें वह एक रत्न था जिसकी आभा देरमें प्रकट होती है। उसका दिल रोता था, लेकिन उस विलापको संसारने न सुना।

वह एक चित्रकार था, और था एक सफल कलाकार। सुन्दरसे सुन्दर चित्र बनाता, पर उसकी दृष्टिमें न जँचता और मिटा देता ! उस स्वप्नलोककी प्रभाको अपनी कलाके द्वारा चित्रित करता, पर उसका मन विक्षोभसे भर जाता, वह तूलिका रख देता ! उसकी कूँची प्रकृतिके ऐसे ऐसे नयनाभिराम दृश्योंकी सृष्टि करती, परन्तु उसकी आत्मा सन्तुष्ट न होती ! उसका जी ऊब गया था ! वह कभी कभी वीणा उठा लेता और गुनगुनाने लगता, परन्तु ऐसा राग न निकाल पाता जो उसकी आत्माको कुछ क्षणके लिये उस लोकमें ले जाता जहाँ सर्वदा शान्ति है, सुख है संतोष है।

उसने सोचा शायद देश-भक्ति ही उसको शान्ति प्रदान कर सके। उसने स्वयंसेवकोंमें नाम लिखा लिया, नमक क़ानून तोड़ा, जेल गया, परन्तु उसको अभिलिषित वस्तु प्राप्त न हुई ! वह-दिन-पर दिन निराश होता जाता, उसकी सारी आशायें भस्म होती जा रहीं थीं ! उसने प्रकृतिको भी अपनी सहचरी बनाया, वह घण्टों सरिताके तट पर बैठा हुआ लहरोंका नृत्य देखा करता, पत्तोंकी मर्मर ध्वनि, वायुका संदेश सुनता, फूलोंसे बातें करता; परन्तु उसका हृदय संतुष्ट न होता ! वह अपने हृदयकी पुकार न सुन पाता !

* * *

रात्रिका पिछला प्रहर, पृथ्वी पर अलसाई-सी चाँदनी फैली हुई थी, आकाशमें चन्द्रदेव हँस रहे थे और वह चला जा रहा था न मालूम किस ओर ! पक्षी बोला—'कहाँ चले'। फूलने कहा—'उस पार'। उसके पास इतना समय न था कि इसका उत्तर देता ! आज या तो उसके जीवनका अवसान था और या मंगल प्रभात। वह अपने प्रश्नका उत्तर पूछने जा रहा था। उसके हृदयमें आशा की ज्योति जग रही थी, कभी निराशा आकर उसको बुझा देती और कभी फिर आशा आकर उसको सँवार लेती। उसने देखा कुछ दूरपर कदम्बके नीचे दीपक जल रहा है। उसकी आत्माने कहा—'बढ़े चलो', उसकी गति तेज़ हो गई ! उसने देखा एक योगी ध्यानमग्न बैठे हैं, वह बैठ गया ! उनकी शान्त मुद्रासे एक ज्योति-सी निकल रही थी। समाधि टूटी, योगीश्वर बोले—"क्या पूछते हो।" उसने कहा—"जीवन का उद्देश्य।" एक कोमल वाणी हुई, उसने सुना, योगीश्वरने कहा—"मनुष्य मात्रकी सेवा।" वह खड़ा हो गया, उसके हृदयने कहा—"परोपकार"। दूरसे ध्वनि आई "मनुष्यकी सेवा" ! सहसा अज्ञानका पर्दा फट गया ! दृष्टि निर्मल हो गई। उसकी आत्माने संतोषकी साँस ली। उसके मनमें तब शांति विराजमान थी। वह एक ओर चला और विलीन हो गया !

* * *

अब वह देशका भूषण है। प्रत्येक देशवासीके हृदयमें उसकी मंजुलमयी प्रतिमा विराजती है। वह अनाथोंका पिता है, विधवाओंका भ्राता है, युवकोंका सखा है, और वृद्धोंका सहारा है। दुखीकी एक भी करुण पुकार उसके अन्तस्तलमें उथल-पुथल मचा देती है, वह अधीर हो उठता है ! अब भी प्रकृति उसकी सहचरी है, परन्तु 'सेवा' अब उसके हृदयकी रानी है ! न उसे किसीसे घृणा है, न उसे किसीसे द्वेष है। उसके हृदयमें प्रेमकी एक सरिता बहती है, जिसकी कोई सीमा नहीं, जिसका कोई अन्त नहीं ! ग्राम-ग्राम घर-घर वह जाता है। छोटे-छोटे बच्चोंको अपने पास बिठा कर बड़े प्रेमसे शिक्षा देता है। युवकोंको वह बातें समझाता है और उनके काममें सहायता देता है। उसने प्रत्येक व्यक्तिके हृदयमें यही भावना भर दी है कि भगवान् तुम्हारे अन्दर हैं, उनको देखो, उनको पहिचानो, मनुष्य मात्रसे प्रेम करो, तभी उनको पहिचान सकोगे। उसने ही जनतामें साहस, सज्जनता, उदारता और क्षमा आदि गुणोंका फिरसे संचार कर दिया है ! उसके ही त्यागसे सारे देशमें शांति तथा सुखका साम्राज्य फैला हुआ है और इसीमें उसका सच्चा संतोष है।

प्रत्येक देशवासीने उसे अपना सम्पूर्ण हृदय अर्पित कर दिया है, वह उसकी पूजा करता है, भक्ति करता है और उसे अपना देवता समझता है।

और सब उसे 'पथिक' कहते हैं।

अनेकान्त के नियम

१. अनेकान्तका वार्षिक मूल्य २॥) पेशगी है। वी.पी.से मंगाने पर समयका काफी दुरुपयोग होता है और ग्राहकोंको तीन आने रजिस्ट्रीके अधिक देने होते हैं। अतः मूल्य मनिआर्डरसे भेजनेमें ही दोनों ओर सुविधा रहती है।

२. अनेकान्त प्रत्येक माहकी २८ ता० को अच्छी तरह जाँच करके भेजा जाता है। जो हरहालत में १ ता०तक सबके पास पहुँच जाना चाहिये। इसीलिये टाइटिल पर १ ता० छपी होती है। यदि किसी मासका अनेकान्त १ ता० को न मिले तो, अपने डाकघरसे लिखा पढ़ी करनी चाहिये। वहाँसे जो उत्तर मिले वह उस मासकी १५ ता० तक हमारे पास पहुँच जाना चाहिये। देर होनेसे, डाकघरका जवाब शिकायती पत्रके साथ न आनेसे दूसरी प्रति बिना मूल्य भेजनेमें असुविधा रहेगी।

३. अनेकान्तके एक वर्षसे कमके ग्राहक नहीं बनाये जाते। ग्राहक प्रथम किरणसे १२ वीं किरण तकके ही बनाये जाते हैं। एक वर्षकी किरणसे दूसरे वर्षकी बीचकी किसी उस किरण तक नहीं बनाये जाते। अनेकान्तका नवीन वर्ष दीपावलीसे प्रारम्भ होता है।

४. पता बदलनेकी सूचना ता० २० तक कार्यालयमें पहुँच जानी चाहिये। महिने दो महिने के लिये पता बदलवाना हो, तो अपने यहाँके डाकघरको ही लिखकर प्रबन्ध कर लेना चाहिये। ग्राहकोंको पत्र व्यवहार करते समय उत्तरके लिए पोस्टेज खर्च भेजना चाहिये। साथ ही अपना ग्राहक नम्बर और पता भी स्पष्ट लिखना चाहिये, अन्यथा उत्तर-के लिये कोई भरोसा नहीं रखना चाहिये।

६. अनेकान्तका मूल्य और प्रबन्ध सम्बन्धी पत्र किसी व्यक्ति विशेषका नाम न लिखकर निम्न पतेसे भेजना चाहिये।

व्यवस्थापक "अनेकान्त"
कनॉट सर्कस पो० बॉ० नं०४८ न्यू देहली।

प्रार्थनाएँ

१. "अनेकान्त" किसी स्वार्थ बुद्धिसे प्रेरित होकर अथवा आर्थिक उद्देश्यको लेकर नहीं निकाला जाता है, किन्तु वीरसेवामन्दिरके महान उद्देश्योंको सफल बनाते हुए लोकहितको साधना तथा सच्ची सेवा बजाना ही इस पत्र-का एक मात्र ध्येय है। अतः सभी सज्जनों-को इसकी उन्नतिमें सहायक होना चाहिये।

२. जिन सज्जनोंको अनेकान्तके जो लेख पसन्द आएँ, उन्हें चाहिये कि वे जितने भी अधिक भाइयोंको उसका परिचय करा सकें जरूर करायें।

३. यदि कोई लेख अथवा लेखका अंश ठीक मालूम न हो अथवा धर्मविरुद्ध दिखाई दे, तो महज उसीकी वजहसे किसीको लेखक या सम्पादकसे द्वेष-भाव न धारण करना चाहिये, किन्तु अनेकान्त-नीतिकी उदारतासे काम लेना चाहिये और हो सके तो युक्ति-पुरस्सर संयत भाषामें लेखकको उसकी भूल सुझानी चाहिये।

४. "अनेकान्त" की नीति और उद्देश्यके अनु-सार लेख लिखकर भेजनेके लिए देश तथा समाजके सभी सुलेखोंको आमन्त्रण है।

५. "अनेकान्त" को भेजे जाने लेखादिक कागजकी एक ओर हाशिया छोड़कर सुवाच्य अक्षरोंमें लिखे होने चाहियें। लेखोंको घटाने, बढ़ाने, प्रकाशित करने न करने, लौटाने न लौटानेका सम्पूर्ण अधिकार सम्पा-दकको है। अस्वीकृत लेख वापिस मँगानेके लिये पोस्टेज खर्च भेजना आवश्यक है। लेख निम्न पतेसे भेजना चाहिये:—

जुगलकिशोर मुख्तार
सम्पादक अनेकान्त
सरसावा, जि० सहारनपुर

Regd. No. L. 4328

वीर-सेवा-मन्दिरको सहायता

हालमें वीरसेवा-मन्दिर सरसावाको निम्न सज्जनोंकी ओरसे ३६ रु० की सहायता प्राप्त हुई है, जिसके लिये दातार महाशय धन्यवादके पात्र हैं:—

१०) श्रीमती मुनहरीदेवी धर्मपत्नी स्व० ला० श्यामसिंह रायजी जैन रईस देहली-शाहदरा (पतिकी मृत्युके समय निकाली हुई दानकी रकममेंसे)।

५) ला० जोतीदास एडवोकेट करनाल व मेसर्स चोखेलाल राजेन्द्रकुमार जैन अम्बाला छावनी (चि० पदमचन्द व शान्तीदेवीके विवाहकी खुशीमें)।

११) बा० नानकचन्दजी जैन रिटायर्ड सब इंजिनियर सरसावा (सहारनपुर) नई हवेलीके मुहूर्तकी खुशीमें

५) ला० उग्रसेन शीतलप्रसादजी जैन सहारनपुर (विवाहकी खुशीमें)

५) ला० अनूपसिंहजी सोनीपत और ला० बसाउलालजी पानीपत (पुत्र-पुत्रीके विवाहकी खुशीमें)

—अधिष्ठाता 'वीर सेवा मंदिर'।

धन्यवाद

फाजिलका निवासी ला० हरप्रसादजी जैनने दो रुपये भेजकर अपनी ओरसे साहित्य सदन अबोहर (पंजाब) को एक वर्षके लिये "अनेकान्त" भिजवाना प्रारम्भ किया है और निम्नलिखित बन्धुओंने अनेकान्तके ७६ ग्राहक बनानेकी कृपा की है। एतदर्थ धन्यवाद।

	ग्राहक		ग्राहक
बा० सुखमालचंदजी जैन, न्यू देहली	२५	बा० जुगमन्दरदास जैन	२
बा० कौशलप्रसादजी जैन	१२	पं० भंवरलाल जैन	१
मि० स्वरूपचंद गुप्ता	१०	बा० छबीलदास ससल	१
बा० पेशीलाल जैन	१०	पं० हीरालालजी शास्त्री	१
बा० राजेन्द्रप्रसाद जैन	६	श्री नंदलालजी जैन	१
पं० रामलाल जैन पत्रकार	४	बा० छोटेलाल जैन	१
मि० धर्मदास गुप्ता	४	बा० दलीपचंद जैन	१

नेमचन्द जैन ऑर्डीटरके प्रबन्धमें 'वीर प्रेस ऑफ इण्डिया' कनॉट सर्कस न्यू देहलीमें छपा।

❀ विषय सूची ❀

अनुकरणीय

जिन दातारोंकी ओरसे १११ संस्थाओंको 'अनेकान्त' भेट स्वरूप भिजवाया जा रहा है, उन दातारों और संस्थाओंकी सूची सधन्यवाद छठी किरण तक प्रकाशित होचुकी है। इस माहमें श्रीमान सिद्धकरणजी सेठी अजमेर वालोंने ४ रु० दो जैनेतर विद्वानोंके लिये और ला० लक्ष्मीचन्दजी जैन पालम निवासी ने २ रु० १ संस्थाको एक वर्ष तक अनेकान्त भेट स्वरूप भिजवानेके लिये भिजवाए हैं। अतः दातारोंकी इच्छानुसार "अनेकान्त" प्रथम किरणसे जारी कर दिया गया है। —व्यवस्थापक

देहली-महावीर-जयन्तीके जुलूसका एक दृश्य—
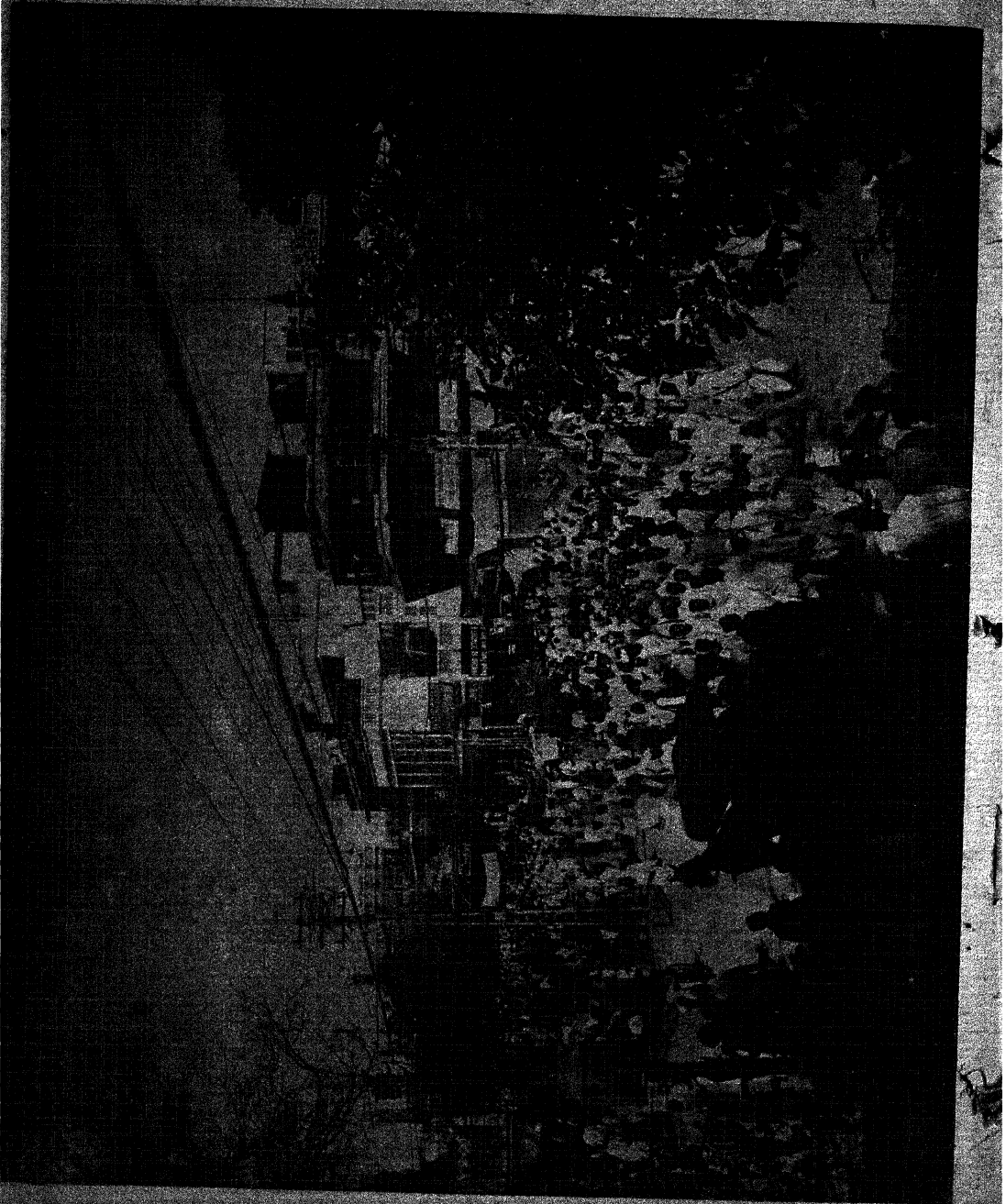
वीर-जयन्ती वाले रोज देहलीके समस्त जैनोंने अपना कारोबार बन्द रख कर एक विशाल जुलूस निकाला था।

ॐ अर्हम्

नीति-विरोध-ध्वंसी लोक-व्यवहार-वर्त्तकः सम्यक् ।
परमागमस्य बीजं भुवनैकगुरुर्जयत्यनेकान्तः ॥

वर्ष २ | सम्पादन-स्थान—वीर-सेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम) सरसावा, जि० सहारनपुर
प्रकाशन-स्थान—कनॉट सर्कस, पो० ब० नं० ४८, न्यू देहली
बैशाख शुक्ल, वीरनिर्वाण सं० २४६५, विक्रम सं० १९९६ | किरण ७

समन्तभद्र-प्रणयन

समन्तभद्रादिमहाकवीश्वरैः कृतप्रबन्धोज्ज्वलसत्सरोवरे ।
लसिद्रसालंकृति-नीरपङ्कजे सरस्वती क्रीडति भावबन्धुरे ॥

—श्रृंगारचन्द्रिकायां, विजयवर्णी

महाकवीश्वर श्रीसमन्तभद्र-द्वारा प्रणयन किये गये प्रबन्धसमूह (वाङ्मय) रूपी उस उज्वल सत्सरोवरमें, जो रसरूप जल तथा अलंकाररूप कमलोंसे सुशोभित है और जहाँ भावरूपी हंस विचरते हैं, सरस्वती क्रीड़ा करती है— अर्थात्, स्वामी समन्तभद्रके ग्रन्थ रस तथा अलंकारोंसे सुसज्जित हैं, सद्भावोंसे परिपूर्ण हैं और सरस्वतीदेवीके क्रीडास्थल हैं—विद्यादेवी उनमें बिना सकी रोक-टोकके स्वच्छन्द विचरती है और वे उसके ज्ञान-भण्डार हैं। इसीसे महाकवि श्री वादीभसिंहसूरिने, गद्यचिन्तामणिमें, समन्तभद्रका "*सरस्वती-स्वैर-विहारभूमयः*" विशेषणके साथ स्मरण किया है।

स्वामिनश्चरितं तस्य कस्य नो विस्मयावहं ।
देवागमेन सर्वज्ञो येनाद्यापि प्रदर्श्यते ॥

—पार्श्वनाथचरिते, वादिराजसूरिः

उन स्वामी (समन्तभद्र) का चरित्र किसके लिये विस्मयकारक—आश्चर्यजनक—नहीं है, जिन्होंने 'देवागम' नामके अपने प्रवचन-द्वारा आज भी सर्वज्ञको प्रदर्शित कर रक्खा है ! सभीके लिये विस्मयकारक है—निःसन्देह, समन्तभद्रका 'देवागम' नामका प्रवचन जैनसाहित्यमें एक अद्वितीय एवं बेजोड़ रचना है और उसके द्वारा जिनेन्द्रदेवका आगम भले प्रकार लोकमें व्यक्त हो रहा है। इसीसे शुभचन्द्राचार्यने, अपने पाण्डवपुराणमें

समन्तभद्रका स्मरण करते हुए, उन्हें "देवागमेन येनाऽत्र व्यक्तो देवागमः कृतः" विशेषणके साथ उल्लेखित किया है।

त्यागी स एव योगीन्द्रो येनाऽक्षय्यसुखावहः ।
अर्थिने भव्यसार्थाय दिष्टो रत्नकरण्डकः ॥

—पार्श्वनाथचरिते, वादिराजसूरिः

वे ही योगीन्द्र समन्तभद्र सच्चे त्यागी (दाता) हुए हैं, जिन्होंने भव्यसमूहरूपी सुखार्थीको अक्षय सुखका कारण धर्मरत्नोंका पिटारा—'रत्नकरण्डक' नामका धर्मशास्त्र—दान किया है।

प्रमाण-नय-निर्णीत-वस्तुतत्त्वमबाधितम् ।
जीयात्समन्तभद्रस्य स्तोत्रं युक्त्यनुशासनम् ॥

—युक्त्यनुशासनटीकायां, विद्यानन्दः

श्रीसमन्तभद्रका 'युक्त्यनुशासन' नामका स्तोत्र जयवन्त हो, जो प्रमाण और नयके द्वारा वस्तुतत्त्वके निर्णयको लिये हुए है और अबाधित है—जिसके निर्णयमें प्रतिवादी आदि-द्वारा कोई बाधा नहीं दी जा सकती।

यस्य च सद्गुणाधारा कृतिरेषा सुपद्मिनी ।
जिनशतकनामेति योगिनामपि दुष्करा ॥
स्तुतिविद्यां समाश्रित्य कस्य न क्रमते मतिः ।
तद्वृत्तिं येन जाड्ये तु कुरुते वसुनन्द्यपि ॥

—जिनशतकटीकायां, नरसिंहभट्टः

स्वामी समन्तभद्रकी 'जिनशतक' (स्तुतिविद्या) नामकी रचना, जो कि योगियोंके लिये भी दुष्कर है, सद्गुणोंकी आधारभूत सुन्दर कमलिनी के समान है—उसके रचना-कौशल, रूप-सौन्दर्य, सौरभ-माधुर्य और भाव-वैचित्र्यको देखते तथा अनुभव करते ही बनता है। उस स्तुतिविद्याका भले प्रकार आश्रय पाकर किसकी बुद्धि स्फूर्तिको प्राप्त नहीं होती? जडबुद्धि होते हुए भी वसुनन्दी स्तुतिविद्याके समाश्रयणके प्रतापसे उसकी वृत्ति (टीका) करनेमें समर्थ होता है।

यो निःशेषजिनोक्तधर्मविषयः सामन्तभद्रैः‡ कृतः
सूक्तार्थैरमलैः स्तवोऽयमसमः स्वल्पैः प्रसन्नैः पदैः ।
....
स्थेयांश्चन्द्रदिवाकरावधि बुधप्रह्लादचेतस्यलम् ॥

—स्वयम्भूस्तवटीकायां, प्रभाचन्द्रः

श्रीसमन्तभद्रका 'स्वयम्भूस्तोत्र', जो कि सूत्ररूपमें अर्थका प्रतिपादन करनेवाले, निर्दोष, स्वल्प एवं प्रसन्न (प्रसादगुणविशिष्ट) पदोंके द्वारा रचा गया है और सम्पूर्ण जिनोक्त धर्मको अपना विषय किये हुए है, एक अद्वितीय स्तोत्र है, वह बुधजनोंके प्रसन्न चित्तमें सूर्य-चन्द्रमाकी स्थिति-पर्यन्त स्थित रहे।

तत्त्वार्थसूत्र-व्याख्यान-गन्धहस्तिप्रवर्त्तकः ।
स्वामी समन्तभद्रोऽभूद्देवागमनिदेशकः ॥

स्वामी समन्तभद्र तत्त्वार्थसूत्रके 'गन्धहस्ति' नामक व्याख्यानके प्रवर्तक (विधायक) हुए हैं और साथ ही देवागमके—'देवागम' नामक ग्रन्थके अथवा जिनेन्द्रदेव प्रणीत आगमके—निर्देशक (प्ररूपक) भी थे।

---

‡ *यहाँ पर 'श्रीगौतमाद्यैः' पद दिया हुआ है, जिसका कारण गौतम स्वामीके स्तोत्रको भी शुरूमें साथ लेकर दो तीन स्तोत्रोंकी एक साथ टीका करना है।*

दक्षिणके तीर्थक्षेत्र

[वि०सं० १७४० के लगभगके एक यात्रीकी दृष्टिमें]

[ले०—श्री पं० नाथूरामजी प्रेमी]

(छटी किरणका शेष अंश)

इसके आगे द्रविड़ देशका प्रारंभ हुआ है जिसके गंजीकोटि†, सिकाकोलि‡ और चंजी+ चंजाउरे× स्थानोंके नाम दिये हैं जिनमें सोने, चाँदी और रत्नोंकी अनेक प्रतिमा हैं।

आगे जिनकांची, शिवकांची और विष्णुकांचीका उल्लेख है जिनमेंसे जिनकांचीके विषयमें बतलाया है कि वहाँ स्वर्गोपम जैनमन्दिर हैं और शिवकांचीमें बहुत-से शिवालय तथा विष्णुकाँचीमें विष्णुमन्दिर हैं जहाँ पूजा, रथयात्रायें होती रहती हैं।

इसके बाद कर्नाटक देशका वर्णन है जहाँ चोरोंका संचरण नहीं है। कावेरी नदीके मध्य (तट ?) श्रीरंगपट्टण बसा हुआ है। वहाँ नाभिमल्हार (ऋषभदेव), चिन्तामणि (पार्श्व) और वीर भगवान्के विहार (मन्दिर) की भेंट की। वहाँ देवराय* नामक राजा है जो मिथ्यामती होने पर भी शुभमति है। भोज सरीखा दानी है और मद्य-मांससे दूर रहने वाला है। उसकी सेनामें पांच लाख सिपाही हैं। वहाँ हाथी और चन्दन होते हैं। उसकी

† गंजीकोट शायद मद्रास इलाकेके कडाप्पा जिलेका गंडिकोट है जिसे बोमनपल्लेके राजा कप्पने बसाया था और एक किला बनवाया था। फरिश्ताके अनुसार यह किला सन् १५८९ में बना था। विजयनगरके राजा हरिहरने यहाँ एक मन्दिर बनवाया था।

‡ सिकाकोलि गंजाम जिलेकी चिकाकोल तहसील है।

+ चंजी कुछ समझमें नहीं आया।

× चंजाउरि तंजौर है।

** दोड्ड देवराजका समय ई० स०१६५९-७२ है और चिक्क देवराजका १६७२-१७०४ है। शीलविजयजीके समयमें अर्थात १६८३ के लगभग चिक्कदेवराज ही होना चाहिए। इसने लिंगायत शैवधर्म छोड़कर वैष्णवधर्म स्वीकार किया था। श्री रंगनाथकी सुवर्णमूर्ति शायद इसीकी बनवाई हुई है।*

आमदनी ६५ लाखकी है जिसमेंसे १८ लाख धर्म कार्यमें खर्च होता है—आठ लाख अक्कुर (विष्णु) के लिए, चार लाख जिनदेवके लिए और छह लाख महादेवके लिए। रंगनाथकी मूर्ति सुवर्णकी है। हरि शयन मुद्रामें है और गंगाधर (शिव) वृषभारूढ़ हैं। इनकी पूजा बड़े ठाटसे होती है। इसी तरह सिद्धचक्र और आदिदेवकी भी राजाकी ओरसे अच्छी तरह सेवा होतीहै। देवको चार-गांव लगे हुए हैं, जिनसे अढलक धन आता है। यहाँ के श्रावक बहुत धनी, दानी और दयापालक हैं। राजाके ब्राह्मण मन्त्री विशालाक्ष जिन्हें बेलांदुर पंडित* भी कहते हैं विद्या, विनय और विवेक-युक्त हैं। जैनधर्मका उन्हें पूरा अभ्यास है। जिनागमों-की ×तीन बार पूजा करते हैं, नित्य एकासन करते हैं और केवल बारह वस्तुएँ लेते हैं। जैन शासनको दिपाते हैं। राज-धुरन्धर हैं। उन्होंने वीर-प्रासाद नामका विशाल मन्दिर बनवाया है, जिसमें पुरुषप्रमाण पीतलकी प्रतिमा है। सप्तधातु, चन्दन और रत्नोंकी भी प्रतिमायें हैं। इस कार्यमें उन्होंने बीस हजार द्रव्य उत्साहसे खर्च किया है। ये पुण्यवन्त सात क्षेत्रोंका पोषण करते हैं, पंडितप्रिय, बहुमानी और सज्जन हैं। प्रति वर्ष माघकी पूनोंको गोमट्टस्वामीका एकसौ आठ कलशोंसे पंचामृत अभिषेक करते हैं। बड़ी भारी रथयात्रा होती है। गोमट्टस्वामी श्रीरंगपट्टणसे बारह कोस पर हैं, जो बाहुबलिका लोक प्रसिद्ध नाम है। चामुंडराय जिनमतीने यह तीर्थ स्थापित किया था। पर्वतके ऊपर अनुमान ६० हाथकी कायोत्सर्ग मुद्रावाली यह मूर्ति है। पास ही बिलगोल (श्रवणबेल्गोल) गाँव है। पर्वतपर दो और शेष ग्राममें इक्कीस मिलाकर सब २३ मन्दिर हैं। चन्द्रगुप्तराय (चन्द्रगुप्त बस्ति) नामक मन्दिर भद्रबाहु गुरुके अनशन (समाधिमरण) का स्थान है। गच्छके स्वामी-का नाम चारुकीर्त्ति (भट्टारक पट्टाचार्य) है। उनके श्रावक बहुत धनी और गुणी हैं। देवको सात गाँव लगे हुए हैं, जिनसे सात हजारकी आमदनी है। दक्षिणका यह तीर्थराज कलियुगमें उत्पन्न हुआ है।

इसके आगे कनकगिरि* है जिसका विस्तार पाव

---

* मैसूरसे दक्षिण-पूर्व ४२ मील पर येलान्दुर नामका एक गाँव है। विशालाक्ष उसी गाँवके रहने वाले थे, इसलिए उन्हें येलांदुर पंडित भी कहते थे। चिक्कदेवराज जब नज़रबन्द था तब विशालाक्षने उसपर अत्यन्त प्रेम दिखलाया था। इस लिए जब सन् १६७२ में वह गद्दीपर बैठा, तब उसने इन्हें अपना प्रधान मन्त्री बनाया। सन् १६७७ में इन्होंने गोम्मटस्वामीका मस्तकाभिषेक कराया।

× संभव है उस समय श्रीरंगपट्टणमें भी धवलादि सिद्धान्त ग्रंथ रहे हों।

* कनकगिरि मलेयूरका प्राचीन नाम है। मैसूर राज्यके चामराजनगर तालुकेमें यह ग्राम है। प्राचीन कालमें यह जैन-तीर्थके रूपमें प्रसिद्ध था और एक महत्त्वपूर्ण स्थान गिना जाता था। कलगिरि ग्राममें सरोवरके तटपर शक संवत् ८३१ का एक शिलालेख मिला है जिसमें लिखा है कि परमानदी कोंगुणि वर्माके राज्यमें कनकगिरि तीर्थपर जैनमन्दिरके लिए श्री कनकसेन भट्टारककी सेवामें दान दिया गया। (देखो मद्रास और मैसूरके प्राचीन जैन-स्मारक।) यहाँ पहले एक जैन मठ भी था जो अब श्रवणबेल्गोलके अन्तर्गत है। कनकगिरि पर बीसों शिलालेख मिले हैं। शक १५६६ के एक लेख-में इसे 'हेमाद्रि' लिखा है जो कनकगिरिका ही पर्यायवाची है। शक सं० १७३५में यहाँ देशीय गणके अग्रणी और सिद्धसिंहासनेश भट्टाकलंकने समाधिपूर्वक स्वर्गलाभ किया।

कोस है और जिसमें चन्द्रप्रभ† स्वामीकी देवी ज्वाला-मालिनी है।

कनकगिरि ज्वालामालिनी, देवी चन्द्रप्रभस्वामिनी।

आगे शीलविजयी कावेरी नदीको पार करके मलयाचलमें संचार करते हैं और अंजनगिरि‡ स्थानमें विश्राम लेकर शान्तिनाथको प्रणाम करते हैं। वहाँ चन्दनके बन हैं, हाथी बहुत होते हैं और भारी-भारी सुन्दर वृक्ष हैं। फिर घाट उतरकर कालिकट बन्दर पहुँचते हैं जहां श्वेताम्बर मन्दिर है और गुज्जर (गुजराती) व्यापारी रहते हैं।

वहाँसे सौ कोसपर सुभरमणी[1] नामका ग्राम है। वहाँके संभवनाथको प्रणाम करता हूँ। फिर गोम्मटस्वामीपुर[2] है, सात धनुषकी प्रतिमा है। यहाँसे आगे जैनोंका राज्य है, पाँच[3] स्थानोंमें अब भी है। तुल[4] (तुलुव) देश का बड़ा विस्तार है, लोग जिनाज्ञाके अनुसार आचार पालते हैं।

आगे बदरी नगरी या मूडबिद्रीका वर्णन है। जो अनुपम है, जिसमें १६ मन्दिर हैं। उनमें बड़े-बड़े मंडप हैं, पुरुष प्रमाण प्रतिमायें हैं। वे सोनेकी हैं और बहुत सुन्दर हैं। चन्द्रप्रभ, आदीश्वर, शान्तीश्वर, पार्श्वके मन्दिर हैं जिनकी श्रावकजन सेवा करते हैं। जिनमती स्त्री राज्य करती है। दिगम्बर साधु हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों वर्णके श्रावक हैं। जातियोंका यही व्यवहार है *। मिथ्यादेवोंको कोई नहीं मानता। ताड़पत्रोंकी पुस्तकोंका भंडार है, जो ताँबेकी पेटियोंमें रहती हैं। सात धातुकी, चन्दनकी, माणिक, नीलम, वैडूर्य, हीरा और विद्रुम (मूँगा) रत्नोंकी प्रतिमायें हैं। बड़े पुण्यसे इनके दर्शन किये।

आगे कारकल ग्राममें नौपुरुष ऊँची गोम्मटस्वामीकी

---

† सन् १४०० (वि०सं० १४५७) के एक शिलालेखसे मालूम होता है कि शुभचन्द्रदेवके शिष्य चन्द्रकीर्तिदेवने इस पर्वतपर चन्द्रप्रभस्वामीकी प्रतिमा स्थापित की। शीलविजयजीने शायद इन्हीं चन्द्रप्रभस्वामीका उल्लेख किया है।

‡ यह अंजनगिरि कुर्ग (कोडगु) राज्यमें है। इस समय भी वहाँ शान्तिनाथका मन्दिर मौजूद है। यहाँ शक १४६६ का एक कनड़ीमिश्रित संस्कृत शिलालेख मिला है, जिसमें लिखा है, कि अभिनव-चारुकीर्ति पंडितने अंजनगिरिकी शान्तिनाथबस्तीके दर्शन किये और सुवर्णनदीसे पाई हुई शान्तिनाथ और अनन्तनाथकी मूर्तियोंको विराजमान किया।

१ सुभरमणी शायद 'सुब्रह्मण्य' का अपभ्रंश नाम है। यह हिन्दुओंका तीर्थ है। यह तुलुदेशके किनारे पश्चिम घाटके नीचे विद्यमान है।

२ गोम्मटस्वामीपुर शायद वही है जो मैसूरसे पश्चिमकी ओर १६ मीलकी दूरीपर जंगलमें है और जहाँ गोम्मटस्वामीकी १५ हाथ ऊँची प्रतिमा है।

३ यात्रीके कथनानुसार उस समय तुलुदेशमें कई छोटे-छोटे राज्य थे। जैसे अजिल, चौट, बंग, मुल आदि।

४ दक्षिण कनाडा जिला तुलुदेश कहलाता है। अब सिर्फ वहींपर तुलु भाषा बोली जाती है। पहले उत्तर कनाडाका भी कुछ हिस्सा तुलु देशमें गर्भित था। शीलविजयजीके समय तक भी तुलु देशमें कई जैन राजा थे। कारकलके राजा भैर-रस ओडियरने जो गोम्मट देवीके पुत्र थे ई० स० १५८८ से १५९८ तक राज्य किया है। ये जैन थे।

** नातितणो ओहज विवहार, मिथ्यादेवतणो परिहार। ८३। 'ओहज' का अर्थ 'यह ही' होता है; परन्तु 'यही व्यवहार' क्या सो कुछ स्पष्ट नहीं होता।*

प्रतिमा है । नेमिनाथके चैत्यमें बहुत-सी रत्न प्रतिमायें हैं । नाभिमल्हार (ऋषभदेव) की चौमुखी मूर्ति है ‡।

आगे वरांग ग्राममें नेमिकुमारका मन्दिर है और पर्वतपर साठ मन्दिर हैं ÷ । इस तरह तुलुव देशका वर्णन आह्लादपूर्वक किया ।

आगे लिखा है कि सागर और मलयाचलके बीच-में जैन-राज्य है । वहाँ जिनवरकी झांकीका प्रसार है । और कितना वर्णन करूँ ? वहाँसे पीछे लौटकर फिर कर्नाटकमें[1] आया, घाट चढ़कर विनुरि[2] आया, जहाँ रानी राज्य[3] करती है जिसके नौ लाख सिपाही हैं = विनुरिमें दो सुन्दर मन्दिरोंकी वन्दना की ।

विनुरिसे फिर हुंवसि[1] आये, जहाँ पार्श्वनाथ और पद्मावती देवी है । वहाँ आसपास अनेक सर्प फिरते रहते हैं पर किसीका पराभव नहीं करते । ऐसे महिमाधाम और वांछित-काम स्थानकी पूजा की ।

फिर लिखा है कि चित्रगढ़[2], बनोसीगाँव[3] और पवित्र स्थान बंकापुर[4] देखा, जो मनोहर और विस्मयवन्त

---

‡ मद्रास-मैसूरके जैन-स्मारकके अनुसार कारकलमें चौमुखा मन्दिर छोटी पहाड़ी पर है जिसे शक संवत् १५०८ में वेंगीनगरके राजा इम्मदि भैरवने बनवाया था ।

÷ कारकलसे तीर्थली जाते हुए वरांग ग्राम पड़ता है । वहाँ विशाल मन्दिर है । इसके पास जंगल और बड़े बड़े पहाड़ हैं । इन पहाड़ोंमेंसे ही किसीपर उस समय साठ मन्दिर रहे होंगे ।

१ वेणूरके पास कोई घाट नहीं है, संभव है गंग-वाड़िके पास यात्रीने घाट चढ़ा हो ।

२ विनुरि अर्थात् वेणूर । यह मूडबद्रीसे १२ और कारकलसे २४ मील दूर है । यहाँ गोम्मट-स्वामीकी २५ हाथ ऊँची मूर्ति है जिसका निर्माण वि०सं०१६६० में हुआ था । यह स्थान गुरुपुर नदीके किनारे पर है ।

३ वेणूरमें सन् १६८३ से १७२१ तक अजिलवंश की रानी पदुमलादेवीका राज्य था, जो जैन थी । नौ लाख सेनाकी बात अतिशयोक्ति है ।

१ हूमच पद्मावती तीर्थ शिमोगा जिलेमें है और तीर्थलीसे १८ मील दूर है । यहाँ भट्टारककी गद्दी है । यह जैनमठ आठवीं शताब्दीके लगभग स्थापित हुआ बताया जाता है । इस मठके अधिकारी बड़े बड़े विद्वान् हो गये हैं । पद्मावतीदेवीकी बहुत महिमा बतलाई जाती है ।

२ मैसूर राज्यके उत्तरमें चित्तलदुर्ग नामका एक जिला है । चित्रगढ़ शायद यही होगा । यहाँ होय-साल राजवंशकी राजधानी रही है । गढ़ और दुर्ग पर्यायवाची हैं, इसलिए चित्तलदुर्गको चत्तलगढ़ या चित्रगढ़ कहा जा सकता है ।

३ बनौसी सायद वनबासीका अपभ्रंश हो । उत्तर कनाडा जिलेकी पूर्व सीमापर वनबासी नामका एक गाँव है । इस समय इसकी जनसंख्या दो हजारके लगभग है । परन्तु पूर्वकालमें बहुत बड़ा नगर था और वनबास देशकी राजधानी था । १३ वीं शताब्दी तक यहाँ कदम्ब वंशकी राजधानी रही है । यहाँके एक जैनमन्दिरमें दूसरीसे बारहवीं शताब्दी तकके शिलालेख हैं ।

४ धारवाड़ जिलेका एक कस्बा है । भगवद्गुण-भद्राचार्यने अपना उत्तरपुराण इसी बंकापुरमें समाप्त किया था । उस समय यह वनबास देशकी राजधानी था और राष्ट्रकूट-नरेश अकालवर्षका सामन्त लोका-दित्य यहाँ राज्य करता था । राष्ट्रकूट महाराज अमोघ-

तीर्थ है—

चित्रगढ़ बनोसी गाम, बंकापुर दीठु सुभधाम।
तीरथ मनोहर विस्मयवन्त,......

आगे यात्रीजीने लक्ष्मेश्वरपुर‡ तीर्थकी एक अपूर्व बात इस तरह लिखी है—

स्वामीके सेवकने अर्थात किसी यक्षने श्रावकोंसे कहा कि नौ दिन तक एक शङ्खको फूलोंमें रक्खो और फिर दशवें दिन दर्शन करो। इस पर श्रावकोंने नौ दिन ऐसा ही किया और नवें दिन ही देख लिया तो उन्होंने उस शंखको प्रतिमारूपमें परिवर्तित पाया परन्तु प्रतिमाके पैर शंखरूप ही रह गये, अर्थात् यह दशवें दिन की निशानी रह गई। शंखमेंसे नेमिनाथ प्रभु प्रगट हुए और इस प्रकारसे शंख परमेश्वर कहलाये।

इसके बाद शीलविजयजी गदक[1], राय-हुबली[2], और रामरायके[3] लोकप्रसिद्ध बीजानगरमें[4] होते हुए ही बीजापुर आते हैं। बीजापुरमें शान्ति जिनेन्द्र और पद्मावतीके दर्शन किये, यहांके श्रावक बहुत धनी गुणी और मणियोंके व्यापारी हैं। ईदलशाहका[5] बलवान राज्य है, जो बड़ा प्रजा-पालक है और जिसकी सेनामें दो लाख सिपाही हैं।

वर्ष (८५१-६९) के सामन्त 'बंकेयरस' ने इसे अपने नामसे बसाया था।

‡ लक्ष्मेश्वर धारवाड़ जिलेमें मिरजके पटवर्धन-की जागीरका एक गाँव है। इसका प्राचीन नाम 'पुलिगेरे' है। यहाँ शंख बस्ति नामका एक विशाल जैनमन्दिर है जिसकी छत ३६ खम्भोंपर थमी हुई है, यात्रीने इसीको 'शंख परमेश्वर' कहा जान पड़ता है इस शंखबस्तिमें छह शिलालेख प्राप्त हुए हैं। शक संवत् ६५६के लेखके अनुसार चालुक्य-नरेश विक्रमादित्य (द्वितीय) ने पुलिगेरेकी शंखतीर्थ वस्तीका जीर्णोद्धार कराया और जिनपूजाके लिए भूमि दान की। इससे मालूम होता है कि उक्त बस्ति इससे भी प्राचीन है। हमारा अनुमान है कि अतिशय क्षेत्र-कांडमें कहे हुए शंखदेवका स्थान यही है---

पासं सिरपुरि वंदमि होलगिरी संखदेवम्मि।

जान पड़ता है कि लेखकोंकी अज्ञानतासे 'पुलिगेरि' ही किसी तरह 'होलगिरि' हो गया है। उक्त पंक्तिके पूर्वार्धका सिरपुर (श्रीपुर) भी इसी धारवाड़ जिलेका शिरूर गाँव है जहाँ का शक संवत् ७८७ का एक शिलालेख (इन्डियन ए० भाग १२, पृ० २१६) प्रकाशित हुआ है। स्वामी विद्यानन्दका श्रीपुर पार्श्वनाथ स्तोत्र संभवतः इसी श्रीपुरके पार्श्वनाथको लक्ष्य करके रचा गया होगा।

१ धारवाड़ जिलेकी गदग तहसील।

२ हुबली जिला बेलगाँव।

३-४ विजयनगरका साम्राज्य तालीकोटकी लड़ाई में सन् १५६५ में मुसलमानों द्वारा नष्ट हो गया और रामरायका वध किया गया। यह वहाँका अन्तिम हिन्दू राजा था। इसके समयमें यह साम्राज्य उन्नति के शिखर पर था। यात्रीके समयके कुछ बरसों बाद पेद्दा विजय रामरायने पोतनरसे राजधानी हटाकर विजयनगरमें स्थापित की थी।

५ सन् १६८३ के लगभग जब शीलविजयजीने यह यात्रा की थी, बीजापुरकी आदिलशाही दुर्दशा-ग्रस्त थी। उस समय अली आदिलशाह (द्वि०) का बेटा सिकन्दर आदिलशाह बादशाह था। औरङ्ग-जेबकी चढ़ाईयाँ हो रही थीं। १६८४ में शाहजादा आजमशाहको उसने बीजापुरकी चढ़ाईपर भेजा था। १६८६ में सिकन्दर कैद हो गया और १६८८ में उसकी मृत्यु हो गई।

आगे करहिडा और कलिकुंड पार्श्वनाथके विषयमें लिखा है कि उनकी महिमा आज भी अखंड है। दिवाली-के दिन ब्रह्मादिक सारे देव आकर प्रणाम करते हैं।

इसके बाद कुछ स्थानोंके नाम-मात्र दिये हैं— चारणगिरि, नवनिधि[1], रायबाग,[2] हुकेरी[3]।

इस तरफ पंचम, वणिक, छीपी,[4] कंसार, वणकर[5] और चतुर्थ जातिके श्रावक हैं। ये सभी दिगम्बरी हैं, पर एक साथ भोजन नहीं करते। शिवाजीके मराठा राज्यके अधीन हैं। तुलजा देवीकी[6] सेवा करने वाले लोग बहुत हैं।

फिर स्याहगढ़, मूगी पईठाणके[7] नाम-मात्र हैं। पईठाणमें वाण गंगाके किनारे जीवित स्वामी मुनिसुव्रत-की प्रतिमा प्रकट हुई। यहाँ सिद्धसेन दिवाकर और हरिभद्रसूरि हुए। कविजनोंकी माता भारती भद्रकाली देवी दीपती है!

आगे किसनेर,[8] दौलताबाद, देवगिरि, औरङ्गाबाद के नाम-मात्र देकर इलोरिके[9] विषयमें लिखा है कि देख कर हृदय उल्लसित हो गया। इसे विश्वकर्माने बनाया है। फिर इमदानगरि,[10] नासिक, त्रंबक और तुंगगिरि-का उल्लेखमात्र करके दक्षिण यात्रा समाप्त कर दी है—

दष्यिणदिसिनी बोली कथा, निसुणी दीठी जेमि यथा।'

पं० के० भुजवलि शास्त्रीने इस लेखके कई स्थानोंका पता लगानेमें सहायता देनेकी कृपा की है।

---

१ जान पड़ता है 'नवनिधि' पाठ भूलसे छप गया है। 'तवनिधि' होगा। यह स्तवनिधि तीर्थ है जो बेलगाँवसे ३८ और निपाणीसे ३ मील है। द० म० जैनसमाके जल्से अक्सर यहीं होते हैं।

२ कोल्हापुर राज्यके एक जिलेका सदर मुकाम।

३ बेलगाँव जिलेकी चिकोड़ी तहसीलका एक कस्बा

४ शिपी या दर्जी।

५ बुननेवाले।

६ शोलापुरसे २८ मीलकी दूरी पर तुलजापुर नामका कस्बा है, उसके पास पहाड़की तलैटीमें तुलजादेवीका मन्दिर है। वहाँ हर साल बड़ा भारी [illegible] लगता है।

७ प्राचीन प्रतिष्ठानपुर और वर्तमान पैठण निजाम राज्यके औरङ्गाबाद जिलेकी एक तहसील। विविध तीर्थकल्पके अनुसार यहां 'जीवंतसामि-मुणि सुव्वय' की प्रतिमा थी।

८ औरङ्गाबादके पासका कचनेर है।

९ एलोराके गुफा-मन्दिर।

१० अहमदनगर।

सुभाषित

'संसार भरके धर्म-ग्रन्थ सत्यवक्ता महात्माओंकी महिमाकी घोषणा करते हैं।'

'अपना मन पवित्र रक्खो, धर्मका समस्तसार बस एक इसी उपदेशमें समाया हुआ है। बाक़ी और सब बातें कुछ नहीं, केवल शब्दाडम्बर मात्र है।'

'केवल धर्म जनित सुख ही वास्तविक सुख है। बाक़ी सब तो पीड़ा और लज्जा मात्र हैं।' —तिरुवल्लुवर

श्रुतज्ञानका आधार

[लेखक—पं० इन्द्रचन्द्र जैन शास्त्री]

जैनाचार्योंने मतिज्ञान और श्रुतज्ञानको सभी संसारी प्राणियोंके स्वीकार किया है। मति-ज्ञान सब प्राणियोंके होता है, इस विषयमें विवादके लिये स्थान नहीं है। परंतु श्रुतज्ञानके विषयमें नाना प्रकारकी शंकायें उठा करती हैं। आचार्योंने श्रुतज्ञानको मनका विषय माना है* तथा श्रुतज्ञान सभी प्राणियोंके होता है, ऐसी अवस्थामें सभी प्राणी मन वाले हो जावेंगे। जितने भी मन-सहित होते हैं वे सभी संज्ञी कहलाते हैं। इस प्रकार सभी संसारी प्राणी संज्ञी कह-लाने लगेंगे, तब संज्ञी और असंज्ञी की भेदकल्पना ही न रहेगी। यदि इन दोनों भेदोंको माना जाय तो श्रुतज्ञान की संभावना सभी संसारी प्राणियोंके न रहेगी, क्योंकि असंज्ञीके मन कैसे संभव हो सकता है ? मन तो न हो और मनका विषय हो यह कैसे हो सकता है ?

इसका समाधान इस प्रकार किया जाता है कि, असंज्ञीके द्रव्यमन तथा उपयोगरूप भावमन नहीं होता किन्तु लब्धिरूप भावमन सभी प्राणियोंके होता है। इस लिये श्रुतज्ञान सभी प्राणियोंके हो सकता है। यह सम-न्वय कहाँ तक उचित है, इसी पर विचार करना है।

जैनाचार्योंने मनके दो भेद किये हैं—पहिला भाव मन दूसरा द्रव्यमन ×। द्रव्यमनके विषयमें विचार नहीं करना हैं। यहां विवाद केवल भावमनके विषयमें है। इसलिये उसी पर विचार किया जाता है।

भावमनके दो भेद किये जाते हैं—लब्धिरूप और उपयोगरूप। लब्धि "अर्थ-ग्रहण-शक्ति" और उपयोग "अर्थ-ग्रहण-व्यापार" को कहते हैं †। इन दोनों प्रकार के परिणामोंको भावमन कहते है।

"समनस्कामनस्काः" इस सूत्रकी व्याख्यामें *"वीर्यान्तराय-नोइन्द्रियावरणक्षयोपशमापेक्षयाआत्म-नो विशुद्धिर्भावमनः"* इस वाक्यके द्वारा यह प्रतिपादन किया है कि वीर्यान्तराय और नोइन्द्रिया-वरण कर्मके क्षयोपशमसे आत्माकी विशुद्धिको 'भावमन' कहते हैं।

यह भावमन केवल आत्मपरिणामों पर ही निर्भर है। लब्धि और उपयोग इन दोनों आत्मपरिणामोंमेंसे किसी एक परिणामके होने पर भी भावमनकी संभावना हो सकती है। इस प्रकार लब्धिरूप भावमन सभी प्राणियोंके संभव हो सकता है। इसलिये 'श्रुतज्ञान सभी प्राणियोंके होता है' इसमें कोई बाधा नहीं आती।

शंका—क्या द्रव्यमनके बिना भावमन हो सकता है ? यदि एकेंद्रिय जीवमें द्रव्यमनके बिना भावमन हो सकता है, तो द्रव्यरसनाके बिना भावरसना, द्रव्यघ्राणके बिना भावघ्राण आदि पांचों भावेन्द्रियोंका सत्व होना चाहिये। अन्यथा, एकेंद्रिय जीवमें द्रव्यमनके बिना भावमन तो होजाय, किन्तु द्रव्यरसना आदिके बिना भाव-रसना आदि न हो इसमें क्या नियामक है ? भावमन जैसे द्रव्यमनके बिना उपयोगरूपमें नहीं आ

---

* श्रुतमनिन्द्रियस्य। — तत्वार्थसूत्र-अ० २ सूत्र २१

× मनो द्विविधं द्रव्यमनो भावनश्चेति।
—सर्वार्थसि० अ० २ सू० ११

† तत्वार्थग्रहणशक्तिर्लब्धिः, अर्थग्रहणव्यापारउपयोगः।
—लघीयस्त्रय, पे० १५

उसी प्रकार अन्य भावेन्द्रियाँ भी द्रव्येन्द्रियोंके बिना उपयोगरूपमें न आवें, परंतु उनका क्षयोपशम भी न हो यह कैसे हो सकता है ? जब कि भावमन भी वहाँ पर क्षयोपशमरूपसे विद्यमान है । परंतु जैन-सिद्धांतमें एकेन्द्रिय जीवोंके रसना आदि भावेन्द्रियोंका लब्धिरूपमें अभाव स्वीकार किया है । तब भावमनका भी लब्धिरूपसे अभाव स्वीकार करना चाहिये । ऐसी हालतमें श्रुतज्ञान सब जीवोंके होता है, यह सिद्धांत बाधित हो जाता है ।

समाधान—किसी भी द्रव्येन्द्रिय या भावेन्द्रियके लिये उसी जातिके क्षयोपशमकी आवश्यकता हुआ करती है । बिना क्षयोपशमके कभी भी द्रव्येन्द्रिय या भावेन्द्रियकी संभावना नहीं हुआ करती । इस नियमके अनुसार भावमनके लिए भी नोइन्द्रियावरणके क्षयोपशमकी आवश्यकता होती है, यह पहिले कहा जाचुका है । अब देखना यह है कि, नोइन्द्रियावरणके क्षयोपशमके समान ही अन्य इन्द्रियोंका क्षयोपशम होता है अथवा कुछ भिन्नता है ? इसके लिये गोम्मटसार-जीवकाण्डकी निम्न गाथा पर भी विचार करना उचित है ।

सुहमणिगोदअपज्जत्तयस्स जादस्स पढमसमयम्हि
फासिंदियमदिपुव्वं सुदणाणं लद्धिअक्खरयं ॥

अर्थात्—सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवके उत्पन्न होनेके प्रथम समयमें स्पर्शन-इन्द्रियजन्य मतिज्ञानपूर्वक लब्ध्यक्षररूप श्रुतज्ञान होता है । 'लब्धि' श्रुतज्ञानावरणके क्षयोपशमको कहा है, और 'अक्षर' अविनश्वरको कहते हैं । अर्थात्—इतना ज्ञान हमेशा निरावरण होता है, इसलिये इस ज्ञानको लब्ध्यक्षर कहते हैं । इस क्षयोपशमका कभी विनाश नहीं होता है, कमसे कम इतना क्षयोपशम तो सब जीवोंके होता ही है । लब्ध्यक्षररूप श्रुतज्ञान और नोइन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशमका एक ही अर्थ है ।

इस कथनसे यह स्पष्ट है कि लब्ध्यपर्याप्तक जीवमें नोइन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशमके लिये किसी प्रयत्नविशेषकी आवश्यकता नहीं होती, यह क्षयोपशम उसके स्वयं होता है । इसलिये वहाँ द्रव्यमनके बिनाभी भावमन हो सकता है, तथा भावमनमें भी उपयोगरूप भावमनके बिना लब्धिरूप भावमन हो सकता है । अन्य इन्द्रियोंके विषयमें ऐसा नहीं है । इसलिये भावेंद्रिय और भावमनकी तुलना नहीं की जा सकती है ।

शंका—विग्रह-गतिमें मनुष्य-भवोन्मुख प्राणीके जब पाँचों इन्द्रियाँ क्षयोपशमरूपमें विद्यमान रहती हैं फिर भी उसका पंचेन्द्रियत्व कायम रहता है । इसी तरह जिन असंज्ञी जीवोंका मन केवल क्षयोपशम रूपमें ही विद्यमान रहता है, उनका समनस्कत्व ही क्यों छीना जाय ? यदि विग्रहगतिमें जीव संज्ञी कहलाता है, तो दूसरे दो इन्द्रियादिक जीव भी संज्ञी कहलाने चाहियें; क्योंकि भावमनस्त्व दोनों जगह बराबर है । अगर वह संज्ञी है न असंज्ञी तो दो इन्द्रियादिक जीव भी संज्ञित्व-असंज्ञित्व दोनोंसे रहित होने चाहियें ।

समाधान—विग्रहगतिमें मनुष्य-भवोन्मुख प्राणीके पांचों इन्द्रियाँ क्षयोपशमरूपमें विद्यमान रहती हैं । यह क्षयोपशम ही द्रव्येन्द्रियकी रचना करानेमें कारण होता है । भावेन्द्रियाँ, द्रव्येन्द्रियोंकी रचना नियमसे कराती हैं । भावेन्द्रियाँ हों और द्रव्येन्द्रियकी रचना न हो यह संभव नहीं हो सकता । इतना होने पर भी यह कोई नियम नहीं कि उसी समय रचना हो । समय-भेद हो सकता है । विग्रहगतिमें पंचेन्द्रियत्वकी उपचारसे कल्पना की गई है परन्तु भावेन्द्रियकी तरह भावमन नियमसे द्रव्यमनकी रचना नहीं कराता, इसलिये इसकी उपचारसेभी कल्पना नहीं करना चाहिये ।

विग्रहगतिमें मनुष्य-भवोन्मुख जीवके क्षयोपशमरूप-

में विद्यमान पाँचों इन्द्रियोंकी कारणरूप होनेके कारण कार्यमें उपचार कर सकते हैं। आचार्य पूज्यपादने *"लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियं"* सूत्रकी व्याख्या करते हुए, शंका की है कि भावेन्द्रियमें इन्द्रियत्वकी कल्पना कैसे की जाय? इसका उत्तर दियाहै—*"कारणधर्मस्य कार्ये दर्शनात् यथा घटाकारपरिणतं विज्ञानं घट इति"।* इस दृष्टांतके अनुसार विग्रहगतिमें पंचेन्द्रियत्वकी कल्पना मिथ्या नहीं कही जा सकती। यह नियम मनके विषयमें घटित नहीं किया जा सकता।

दूसरी बात यह भी है कि इन्द्रियके दो भेद किये हैं, द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय। इन दोनोंमें किसी एकके होने पर भी, उस जीवको उस इन्द्रिय-वाला कह सकते हैं। परन्तु यह बात मनके विषयमें घटित नहीं हो सकती। संज्ञीके लिये द्रव्यमन और उपयोगरूप भावमन (लब्धि-रूप भावमन तो उपयोगके साथ होता ही है) दोनोंकी आवश्यकता होती है। तथा दोनोंके अभावसे असंज्ञी कहलाता है। जैसा कि द्रव्यसंग्रहके टीकाकार ब्रह्मदेवने लिखा है—*"एकेन्द्रियास्तेपि यदष्टपत्रपद्माकारं द्रव्य-मनस्तदाधारेण शिक्षालापोपदेशादिग्राहकं भावमन-श्चेति तदुभयाभावादसंज्ञिन एव"।* अर्थात्—अष्टदल पद्मके आकार द्रव्यमन और उसके आधार शिक्षालाप उपदेश आदि ग्रहण करने वाला भावमन होता है। इन दोनोंका जिनके अभाव होता है, ऐसे एकेन्द्रियादिक जीव असंज्ञी होते हैं। इतना स्मरण रखना चाहिये कि यहाँ जो भावमनका निषेध किया है, उसका तात्पर्य उपयोगरूप भावमनसे ही है, लब्धिरूप भावमनसे नहीं। उपयोगका सामान्य लक्षण—'अर्थग्रहणव्यापार' किया है, शिक्षा उपदेश आदि ही मनका व्यापार है। लब्धिका काम शिक्षा उपदेशादि ग्रहण करना नहीं। इसलिये यहाँ लब्धिरूप भावमनके अभावको किसी तरह नहीं माना जा सकता।

साथमें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि यह संज्ञी और असंज्ञीकी कल्पना शरीरसहित संसारी प्राणियोंकी अपेक्षा है। शरीरसे मेरा तात्पर्य औदारिक, वैक्रियक, आहारक शरीरसे है। तथा असंज्ञीकी कल्पना सिर्फ औदारिक शरीरमें ही होती है। जिस अवस्थामें ये शरीर ही नहीं होते, उस अवस्थामें संज्ञी, असंज्ञीकी कल्पना ही व्यर्थ है। इसलिये विग्रहगतिमें इस विषयको उठाना उचित नहीं है। यदि किसी तरह विग्रहगतिमें कल्पना की भी जाय तो उस नियमको द्वीन्द्रियादि जीवोंमें घटित करना सर्वथा अनुचित है।

शंका—असंज्ञीके भावमन यदि लब्धिरूपमें माना जायगा तो 'असंज्ञित्व' को जीवके असाधारणभावोंमेंसे कोई-सा भी भाव नहीं मानना होगा। जबकि भट्टाकलंकने इसे औदायिक भावोंमें गर्भित किया है। असंज्ञित्वको औदायिक माननेके लिये नोइन्द्रियावरणके सर्वघाति-स्पर्द्धकोंका उदय मानना अनिवार्य है, जबकि लब्धिरूप भावमनमें नोइन्द्रियावरणके सर्वघातिस्पर्धकोंका उदया-भावीक्षय विद्यमान है। इसलिये असंज्ञित्व भाव या तो औदयिक नहीं होना चाहिये अथवा भावमनको असंज्ञीके लब्धिरूपमें नहीं रहना चाहिये, परन्तु भट्टाकलंक असं-ज्ञित्वको औदयिक भावोंमें गिनाते हैं। इससे स्पष्ट है कि भट्टाकलंक भावमनको असंज्ञीके कैसे भी स्वीकार नहीं करते। आचार्य माधवचन्द्र त्रैविद्यनेजीव-काण्ड बड़ी टीका पृष्ट ३४५ पर भी इसी बातका समर्थन किया है।

समाधान—भट्टाकलंकने *'नोइन्द्रियावरणस्य सर्व-घातिस्पर्धकस्योदयात् हिताहितपरीक्षां प्रत्यसामर्थ्य-मसंज्ञित्वमौदयिकम्''* ऐसा कहा है। यहाँ असंज्ञित्वका अर्थ हिताहितप्राप्तिके प्रति असमर्थता बतलाई है, तथा उसका कारण नोइन्द्रियावरणके सर्वघातिस्पर्धकोंका

उदय बताया है। इसीको यदि दूसरे शब्दोंमें कहा जाय तो यों कह सकते हैं—हिताहितप्राप्तिमें सामर्थ्य रखने वाले नोइन्द्रियावरणके सर्वघातिस्पर्धकोंका उदय होनेसे असंज्ञित्वको औदयिक कहा है। यहां '*हिताहित-परीक्षा*" पदसे ही भट्टाकलंकका अभिप्राय साफ़ मालूम होता है कि नोइन्द्रिया वरणका और भी कुछ अन्य कार्य है, जिसकी यहाँ अपेक्षा नहीं है। अन्यथा "*नोइन्द्रियावरणस्य सर्वघातिस्पर्द्धकस्योदयात्*" सिर्फ इतना ही पद रखते "*हिताहितपरीक्षां प्रत्यसामर्थ्य*" पदकी कोई आवश्यकता नहीं थी। इस कथनसे स्पष्ट है कि हिताहितपरीक्षा करने वाले उपयोगरूप भावमनका ही यहाँ कथन है, लब्धिरूप भावमनका नहीं। यदि नोइन्द्रियावरणके क्षयोपशमका कार्य सिर्फ हिताहित-परीक्षाकी सामर्थ्य ही हो तो फिर 'अर्थग्रहणरूप शक्ति' किससे होगी? इसके लिये क्या कारण माना जायगा? नोइन्द्रियावरणके क्षयोपशमसे दोनों लब्धि और उपयोग रूप भावमन होते हैं। दोनोंका कारण एक ही है। कारण एक होने पर भी सम्पूर्ण नोइन्द्रियावरणके उदयकी विवक्षा नहीं मानी जा सकती। जिस प्रकार चाक्षुष मतिज्ञानावरणके उदयका अर्थ सम्पूर्ण मतिज्ञानावरणका उदय नहीं माना जा सकता, उसी प्रकार हिताहितपरीक्षा करने वाले नोइन्द्रियावरणके उदयसे लब्धिरूप नोइन्द्रियावरणका उदय कभी नहीं लिया जा सकता। इसलिये असंज्ञीके लब्धिरूप भावमन रहते हुए भी नोइन्द्रियावरणके उदयसे असंज्ञित्वको औदयिक भावमें गर्भित कर सकते है। इस प्रकार असंज्ञीके सर्वघातिस्पर्द्धकोंका उदयाभावी क्षय और उदय दोनों संभव हो सकते हैं। इस प्रकार भट्टाकलंकके मतसे असंज्ञीके भावमन माननेमें कोई बाधा नहीं आती।

आचार्य माधवचन्द्र त्रैविद्यदेवने प्राणियोंके अनुसार प्राणोंका वर्णन करते हुए लिखा है—"*मनोबलप्राणः पर्याप्तसंज्ञिपंचेन्द्रियेष्वेव संभवति तन्निबन्धन वीर्यान्तरायनोइन्द्रियावरणक्षयोपशमस्यान्यत्राभावात्*" अर्थात् मनोबल प्राणका अस्तित्व पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रियके ही संभव हो सकता है; क्योंकि इसप्रकारका नोइंद्रियावरणका क्षयोपशम पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रियको छोड़कर दूसरी जगह संभव नहीं। यहां '*तन्निबन्धन*' पदसे स्पष्ट है कि किसी खास नोइन्द्रियावरणके क्षयोपशमकी यहाँ विवक्षा है। इसका यह अर्थ कभी भी नहीं किया जा सकता कि संज्ञी पंचेन्द्रियको छोड़कर नोइन्द्रियावरणका क्षयोपशम दूसरी जगह नहीं होता। अन्यथा, यहाँ '*तन्निबन्ध*' पद न डालकर '*वीर्यान्तरायनोइन्द्रियावरणक्षयोपस्यान्यत्राभावात्*' इतना ही पद डालना चाहिये था। इस कथनसे आचार्यका आशय लब्धिरूप भावमनका कारण नो-इन्द्रियावरणसे नहीं है। इसलिये आचार्य माधवचन्द्र त्रैविद्यके मतसे भी असंज्ञीके भावमन माननेमें कोई बाधा नहीं आती।

शंका—अन्य लब्धीन्द्रियोंके होने पर जब कि द्रव्येन्द्रियोंका बनना अनिवार्य है, तब मनोलब्धिके होने पर द्रव्यमनका बनना अनिवार्य होना ही चाहिये। इसी अनिवार्यताको लक्ष्यमें रखकर भगवान् पूज्यपादने लब्धिका लक्षण 'क्षयोपशविशेष' ही नहीं किया, किन्तु "*यत्सन्निधानादात्मा द्रव्येन्द्रियनिवृतिः प्रति व्याप्रियते*" अर्थात् जिसके रहनेसे आत्मा द्रव्येन्द्रियकी रचनामें लग जाय, इतना और जोड़ दिया है। इसलिये केवल भावमनका अस्तित्व कैसे रह सकता है।

समाधान—उमास्वामीने संसारी प्राणियोंके दो भेद "*समनस्कामनस्काः*" इस सूत्र द्वारा किये हैं। इस सूत्रकी व्याख्यामें आचार्य पूज्यपादने "*पुद्गलविपाकिकर्मोदयापेक्षं द्रव्यमनः*" तथा "*वीर्यान्तरायनो-*

इन्द्रियावरणक्षयोपशमापेक्षया आत्मनो विशुद्धि-र्भावमनः" इस प्रकार लक्षण किया है। यदि आचार्यको भावेन्द्रियकी तरह भावमनको भी द्रव्यमनकी रचनामें अनिवार्य कारण बतलाना होता तो अवश्य उसका खुलासा करते, जैसा कि *"लब्ध्युपयोगौ"* सूत्रकी व्याख्यामें किया है। यदि यह कहा जाय कि दो जगह उसी बातको लिखनेसे क्या फायदा ? भावेन्द्रियके किये गये लक्षणोंको यहाँ भी घटित कर सकते हैं। परंतु यह कहना भी ठीक न होगा; क्योंकि रचना-सामान्य दोनों जगह है, मनमें भी और इन्द्रियोंमें भी। ऐसी अवस्थामें किसी खास कारणको पहिले न कहकर पश्चात् कहनेमें कोई खास हेतु नहीं मालूम होता। तथा *"समनस्का-मनस्काः"* सूत्रमें द्रव्यमन और भावमनके लक्षण पृथक् लिखनेकी भी आवश्यकता नहीं थी। द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रियके लक्षणोंसे ही कार्य चल सकता था। इससे मालूम होता है कि आचार्य द्रव्यमन और भावमनके लक्षणको द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रियके लक्षणोंसे पृथक् रखना चाहते थे।

सूत्रकी व्याख्याके लिये पृथक् लक्षण यदि मान भी लिया जाय तब भी *"संसारिणस्त्रसस्थावराः"* सूत्रके पहिले *"समनस्कामनस्काः"* सूत्र देनेकी कोई आवश्य-कता नहीं थी। इन्द्रियोंके भेद और लक्षण करने वाले सूत्रोंके बाद इस सूत्रको दे सकते थे, वहाँ इस सूत्रका स्थान और भी संगत होता। तथा *"संसारिणस्त्र-सस्थावराः"* के स्थान पर सिर्फ *"त्रसस्थावराः"* इतने सूत्रसे ही कार्य चल जाता। एक अक्षरकी बचतको पुत्रोत्पत्ति सदृश लाभ समझनेवाले सूत्रकार चार अक्षरों की बचतसे क्यों न लाभ उठाते ? परन्तु आचार्यको दोनों प्रकरण अलग अलग रखना इष्ट था, ऐसा ज्ञात होता है। इसलिये इन्द्रियोंमें किये लक्षणोंको 'मन' के किये गये लक्षणोंमें भी स्वीकार कर लिया जाय यह नहीं माना जा सकता।

इन प्रमाणोंके द्वारा यह सिद्ध हो जाता है कि लब्धिरूप भावमन सभी संसारी प्राणियोंके होता है। इसलिये श्रुतज्ञान सभी संसारी प्राणियोंके होता है, इसमें बाधा नहीं आती।

प्रकृतिका संदेश

अपराधियोंको दण्ड देनेमें प्रकृति ज़रा भी संकोच नहीं करती। प्रकृति उच्च और गम्भीर स्वरके साथ चिल्ला चिल्ला कर कह रही है कि "वह जाति—जिसके कि शासक विलासितामें डूबे हुए हैं, कामोन्मादमें सराबोर हैं, इन्द्रिय-परतामें तरवतर हैं, दुर्बलों, दरिद्रों और अनाथोंसे घृणा करते हैं— जीवित नहीं रह सकती। कमज़ोर जातियों पर दाँत लगाये, टकटकी बान्धे, मुँह फाड़कर बगुलोंके समान उन्हें उदरस्थ करनेकी कामना रखने वाली बलवती जातियाँ जीती न रहेंगी। जो जाति केवल बल और तलवार के ही साम्राज्यको मानती है वह तलवारसे ही मरेगी। न्याय, धर्म और सदाचारके अतिरिक्त मैं किसी भी देश या जातिकी परवाह नहीं करती। ऐ संसारकी वर्तमान जातियो, यदि तुम मुझे ध्यानमें न रक्खोगी तो, वाबिलोन, यूनान और रोमकी तरह तुम भी सदाके लिये अन्तर्हित हो जाओगी ! मैं न्यायी धार्मिक और पुण्यात्मा राष्ट्र चाहती हूँ।। मुझे सीधे सादे स्वभावके, स्वच्छ हृदयके, निर्विकार दिलके तथा ज़बानके सच्चे मनुष्य प्रिय हैं। मैं ऐसे लोगोंसे प्यार करती हूँ जिन्हें सत्य जीवनसे भी प्यारा है। मैं इतना ही चाहती हूँ। ऐ मनुष्यकी सन्तानो, क्या तुममें मुझे तृप्त करनेकी शक्ति है ! यदि तुम मुझे सन्तुष्ट कर सकोगे, तो मैं तुम्हें सदाके लिये अजर-अमर और अजेय कर दूंगी; जब तक सूर्यमें ताप, चन्द्रमामें ठंडक, नभमें नक्षत्र और आकाशमें नील वर्ण है—नहीं नहीं जब तक कालका स्रोत बहता है, तब तक मैं तुम्हारी यशःकीर्ति और सुख्यातिकी दुन्दभिः बजाती रहूँगी।"

—नीति-विज्ञान, पृ० १३१-३२।

ज्ञान-किरण

(लेखक—श्री० 'भगवत्' जैन)

एक-दूसरेका शत्रु बन गया ! भ्रातृत्व तककी हत्या करनेके लिए प्रस्तुत ! इसका सबब थी—एक सुन्दरी ! लेकिन जब ज्ञान-किरणका उदय हुआ, तब……?

तब दोनों तरुण-साधुके रूपमें जगहितकी भावनाका प्रस्तार कर रहे थे ! …वाँछनीय, पवित्र ज्ञान-किरण !!!

[१]

इससे पहिले उन्होंने और कुछ देखा—पहिचाना ही नहीं ! लम्बे-लम्बे दिन आते, रातें आतीं और चली जातीं ! सप्ताह, मास, वर्ष बनकर बहुत-सा समय निकल गया ! लेकिन उन्होंने उसकी ओर देखा तक नहीं ! देखते-विचारते तो तब, जब अवकाश होता ! दैनिक-कार्यक्रम ही इतना सीमित, इतना व्यवस्थित और इतना नियंत्रित था कि विद्या-मन्दिरके अतिरिक्त भी पृथ्वी पर कुछ और है, इस तकका उन्हें पता न लगा ! अध्यापककी गम्भीर-मुद्रा और पाठ्य-पुस्तकें बस, इन्हीं दो तक उनका ध्यान, उनकी दृष्टि सीमित रही !

कितना परिवर्तन हो चुका था—अब ! जब महाराजने साक्षर बनानेके लिए सौंपा था, तब दोनों अबोध-बालकके रूपमें थे ! लेकिन आज…?—वे दोनों स्मर-स्वरूप, नव-यौवन, महा विद्या-विभूषित पण्डितराज बनकर महाराजके सामने जा रहे हैं !

अध्यापक सागरघोषके हर्षोन्मत्त-हृदयकी क्या आज कल्पना की जा सकती है…?—उन्हें एक अवर्णनीय-सुखका अनुभव हो रहा है ! वह आज अपने कठिन-परिश्रमका दरबारमें प्रदर्शन कराएँगे ! आजका दिन उनके लिए सफलताका दिन है !

सिद्धार्थ-नगरके महाराज क्षेमंकरके ये दो पुत्र हैं—एक देश-भूषण दूसरे कुल-भूषण !

[२]

'महाराजकी जय हो !'

एक हर्ष-भरे जय-घोषके साथ दरबारमें कुछ व्यक्तियोंने प्रवेश किया !

महाराजने देखा—उन्हींके आत्मज तो हैं ! खुशीका पारावार नहीं ! चिरपिपासित-उत्कंठा नर्त्तन कर उठी !

क्या इससे भी अधिक कोई हर्षका अवसर होगा ?…महाराज अपनी पद-मर्यादा भूल गए, वात्सल्यने उन्हें ओत-प्रोत कर दिया ! सिंहासन पर वे स्थिर न रह सके ! उतरे ! स-भक्ति दोनोंने चरण-स्पर्श-पूर्वक प्रणाम् किया ! महाराजने किया प्रगाढ़-प्रेमालिंगन !—और सब यथा-स्थान बैठे ! अब महाराज, सागरघोषकी तरफ मुखातिब हुए ! एक कृतज्ञता-भरी नज़रसे उनकी ओर देखा, कुछ मुस्कराये भी उन्होंने कर-बद्ध नमस्कार किया !

इसके बाद—बातें प्रारम्भ हुईं ! पहिले राज-

कुमारोंके विद्याध्ययनकी ! फिर कुमारोंकी योग्यता-परीक्षा-सम्बन्धी ! तदुपरान्त महाराजने राजकुमारोंकी विवाह-चर्चामें योग दिया—'क्या वे सब राज-कन्याएँ आगईं, जो राजकुमारोंके लिए तजवीज की गई हैं ?'

'जी, महाराज! आज्ञानुसार सारा प्रबन्ध उचित रीतिसे किया जा चुका है ! सभी राजकुमारियाँ स-सन्मान ठहरा दी गई हैं...!'—सचिव महोदयने अ-विलम्ब उत्तर दिया।

'तो...? राजकुमारोंको अवसर दिया जाना चाहिए ?'—महाराजने कहा।

'अवश्य !' प्रधान सचिव बोले।

[२]

प्रासादके एक भव्य झरोखे पर राजकुमारोंकी नजर टिकी ! एक अनिंद्य-सुन्दरी, लावण्यकी प्रतिमा, षोड़शी-बाला बैठी, राज-पथकी ओर देख रही थी !

पद, गति-हीन ! वाणी स्तब्ध ! और हृदय—? विक्षुब्ध ! बस, देखते-भर रह गए—वे दोनों !

देशभूषण सोचने लगे—'कितनी मनोमुग्धकर है यह ?...कैसा रूप पाया है—इसने ?...यही मेरे योग्य है ! मेरा पाणि-ग्रहण इसीके साथ होना चाहिए ! ...हजार शादियाँ भी कुछ नहीं, अगर यह मेरी अपनी न हुई तो ?...'

सहसा समीप खड़े हुए कुलभूषणकी ओर नजर जा पड़ी ! देखा तो वह भी एकटक ! कीलित-दृष्टि !...भ्रमित-विचारोंको ठेस लगी ! मन कुछ दूसरी तरहका हो उठा !—'अगर कुलभूषण इस प्रेमके मैदानमें सामने आए तो··· ?—तो··· फिर उपाय...? क्या उसके लिए उसे मैदान खाली कर देना पड़ेगा ?—यह सुख-संकल्प, मधुर-आकाँक्षा क्या यों ही छोड़ दी जा सकेगी ? और फिर वह इन्हें छोड़ भी सकता है—क्या ? कदापि नहीं ! हरगिज नहीं ! वह अब इस रास्तेसे तिल-भर भी नहीं हट सकता ! अब यह सब उसके वशकी बात भी तो नहीं !··· भ्रातृ-स्नेह···?—ऊँह ! उस पर कहाँ तक ध्यान दिया जा सकता है ? वहीं तक न, जहाँ तक प्रणय-बलिदानका अवसर न आए ! फिर उसे भी तो सोचना आवश्यक है, सब मैं ही सोचूं ?—यह हो कैसे सकता है ! वह मेरे पथका बाधक न बने, हट जावे, यही ठीक है ! वरनः···?—वरनः मैं उसे जानसे मार दूँगा। और शादी मेरे ही साथ होकर रहेगी !...'

और उधर—

उधर छोटे साहिब—राजकुमार-कुलभूषण—सोच रहे हैं—'साक्षात् अप्सरा तो है—ही ! अगर नारी ही माना जाय तो सौन्दर्यकी सीमा ! इससे अधिक-सुन्दर कोई और हो सकती है, मुझे इसमें सन्देह है, विवाद है, मतभेद है ! मेरा विवाह-संस्कार होगा तो इसीके साथ ! मुझे दूसरी अन्य राज-कन्याओंसे कोई प्रयोजन, कोई वास्ता नहीं ! मेरा मक़सद—मेरा विचार—अनेक शादी करनेका नहीं, मैं एक शादी करना चाहता हूँ ! लेकिन मनकी ! तबियतकी ! और ऐसी, जो हजारोंमें एक हो ! इसीलिए तो हमें यह मौक़ा—यह अवसर—दिया गया है कि हम इच्छित-पत्नी-निर्वाचन कर सकें ! फिर भी, इतने अधिकार पर भी, इतनी स्वतंत्रता पर भी हम निश्चेष्ट रहें तो यह अपनी मूर्खता होगी बड़ी-मूर्खता !...'

—सोचते जा रहे थे, शायद अभी बहुत कुछ सोचते। पर बड़े-भाईने जो संक्षिप्त-दृष्टि इनकी ओर फेरी कि विचार-धाराका रुख पलट पड़ा! बोला एक-दूसरे से कोई कुछ नहीं! ज़रूरत ही न महसूस हुई किसीको—कुछ! जैसा सोचना ही दोनों का सब—कुछ हो!—'अरे! भाई साहब भी तो···?—लेकिन यह उनकी अनुचित-चेष्टा है! उन्हें कुछ गम्भीरतासे भी काम लेना चाहिए! प्रेम करें, बा-खुशी, शौक़से करें! पर थोड़ा विचार कर तो, किससे करना चाहिए किससे नहीं! यों ही जिधर मुह उठा, उधर ही! यह क्या?—थोड़ा मुझे भी रास्ता देंगे कि नहीं, मैं क्यों हटने लगा अपने पथ से? वे ही न हट जाएँ! मैं छोटा हूँ कि वे? प्रेम करना वे ही तो जानते हैं, दूसरा तो कोई है—ही नहीं वाह! खूब रहे! पहिले वे चुन लें, फिर बचे-खुचेका मालिक मैं? यह हरगिज़ नहीं हो सकता! वह बड़े हैं, उनका बड़प्पन, उनकी गुरुता तभी तक है जब तक मैं उस रूपमें उन्हें मानता हूँ! वरनः इस प्रेम-युद्धमें वे बुरी तरह हारेंगे, मैं कठोर-से कठोर शक्तियाँ भी अड़ानेसे बाज न आऊँगा! भले ही मुझे भ्रातृ-रक्तसे हाथ रँगने पड़ें! लेकिन मैं पीछे क़दम न हटाऊँगा। इस सुन्दरीका गठ-बन्धन होगा मेरे ही साथ! देखेंगे कौन रोकेगा—तब?···'

दोनों ही की उग्र-विचार-धाराएँ अन्तमें एक-मुख होकर वेगके साथ, दूपित-ढालू-पथकी ओर बहने लगीं! मुखाकृति पर रौद्रता अधिकृत होगई! दोनों ही प्रेम-पूर्ण-हृदय कुछ विरसता-सी, कटुता-सी अनुभव करने लगे! एक घातक संघर्ष-सा छिड़ गया, जिसने अंतरंगकी कोमलताका ध्वंश कर दिया! जन्म-जात-स्नेह, विद्यार्थी-जीवनकी अभिन्नता! चिर-प्रेम, सब-कुछ क्षण-भरमें अदृश्य!!

दोनों अचल, अकम्प वहीं, उसी वातायनके सामने, खड़े रहे! जैसे सजीव न हों, निर्जीव हों, पाषाण हों! और भी खड़े रहते—कुछ देर! हृदय-की, नेत्रोंकी प्यास बुझाने, या कहें बढ़ानेके लिए! अगर उसी वक्त, पीछेकी ओरसे याचक-समुदाय विरदावलि न गा उठता!—

'महाराजाधिराज सिद्धार्थ-नगर-नरेश महाराज क्षेमंकर, रानी विमला उनके ये युगल-चाँद-सूर्यसे पुत्र, तथा यह झरोखेमें स्थित रम्भा-सी सुकुमारी भगिनी कमलोत्सवा चिरंजीव होउ···!'

'हँय! यह क्या?'—दोनों ही कुमारोंके मुँहसे एक साथ निकला!

तनी हुई भृकुटियाँ, स्वभाव पर आगईं! विकारी-नेत्र भूमिकी ओर गए! घोर पाप!···

उन्नत-शैलके शिखरसे गिर गए हों, अचानक बज्राघात हुआ हो, या मर्म-स्थानमें असह्य-यंत्रणा दी गई हो! आहत-व्यक्तिकी तरह दोनों कराह उठे।

अब दोनोंकी विचार-धारा एक होकर एक-दिशाकी ओर बह रही थी—

'...उँह! कितना छल-मय है—यह संसार? मायावी···! यहीं पर ऐसे घृणित, अ-श्रवणीय विचार उत्पन्न हो सकते हैं! ओफ़! मोहकी महत्ता?—स्नेहके बन्धन···? स्वार्थी-प्रेम···?—कितने दूषित-विचार उत्पन्न कर दिए तूने!...कुछ ठिकाना है? प्राण-से भ्रातृकी हत्याके लिए उद्यत हो गया! किसके लिए?—अपनी-ही बहिनके लिए! हिश्···!

बहिन···?--कमलोत्सवा हम दोनोंकी बहिन है! अहह! विद्याध्ययन! तू ने परिवार तकके परिचयसे वंचित रखा! हम लोगोंने यह तक न जाना, परिवारमें कौन-कौन हैं? अध्यापक, पाठ्य-पुस्तकें, और विद्या-मन्दिर ये ही हमारी दुनियाँ रहे!

उफ्! कितना जघन्य-पाप कर डाला—हम लोगोंने! अपनी सहोदरा भगिनी पर कुदृष्टि! कितना बड़ा धोखा खाया, जिसका हिसाब नहीं! लेकिन अब···?

पश्चात्तापके अतिरिक्त भी एक उपाय शेष है, जिसके द्वारा भूलका सुधार हो सकता है, वह --पापका प्रायश्चित्त!

--तो बस, 'हमें अब वही करना है!'

और वे चल दिए--बगैर राज-कन्याओंका निरीक्षण किए हुए!

[४]

'आखिर बात क्या हुई? यह रंगमें भंग, रसमें विष कैसा?'

सब चकित! किसीकी जिज्ञासाका उत्तर नहीं! स्वयं महाराज कारण समझनेमें असमर्थ हैं कि अनायास राजकुमार विरक्त हुए क्यों?...वे राज-कन्याओंका दिग्दर्शन करने गये थे, विवाह-संस्कारका आयोजन किया जा रहा था! और इसी बीच सुना जाता है कि दोनों राजकुमार विश्व-बन्धन-निराकरणार्थ विपिन-विहारी होने जा रहे हैं! अतीव-आश्चर्य!

अपार जन-समूहको साथ लिए, महाराज बढ़े चले जा रहे हैं! सभी हृदयोंमें विचित्र कोलाहल, अनोखा-ताण्डव और निराला-संघर्ष हो रहा है!

और आगे बढ़ते हैं! देखते हैं—और जो देखनेमें आता है, वह महाराजके स्नेही-मनको प्रकम्पित किए बगैर नहीं रहता! वे मन्त्र-मुग्धकी तरह देखते-भर रह जाते हैं! हृदयकी मूर्तिमान् होने वाली सुखद अभिलाषाएँ भविष्यके गर्भमें ही नष्ट हो जाती हैं! कैसा कष्ट है, महान् कष्ट!

···दोनों तरुण राजकुमार वैराग्य वेशमें, विश्व-विकार-वर्जित, परम शान्ति-मुद्रा रखे, तिष्ठे हुए हैं!

धन्य !!!—

सभी आगन्तुकोंके-उस वंदनीयताके आगे---श्रद्धासे मस्तक झुक गए! महाराज भी बच न सके! हृदय पुत्र—शोकमें डूब रहा है! मनोवेदना मुखपर प्रतिभासित हो रही है! ···तनो-बदनकी उन्हें खबर नहीं, कब वे बैठे, कब तपोनिधि-योगिराज-का व्याख्यान प्रारम्भ हो गया?

उन्होंने कुछ अस्पष्ट-सा सुना—

'संसार भ्रान्तिमय है! यहाँ प्रतिपल दूषित विचारों का सृजन होता रहता है!······'

'अबतक हमने ज्ञानार्जन किया था! लेकिन यथार्थ ज्ञान-किरणका उदय न हुआ था! अब हृदयाकाशमें ज्ञान-किरणें प्रस्फुटित हो उठी हैं! अब दूषित-विचारोंका, संसारका हमें भय नहीं! यही निर्भय-अवस्थाका वास्तविक मार्ग है!···'

लेकिन महाराजके मोही-हृदयमें ज्ञान-किरण प्रविष्ट न हुई! शोकार्त हो, उन्होंने ठानलिया—आमरण-अनशन !!!

सुख-दुख

(लेखिका—श्री० लज्जावती जैन)

संसारकी गति बड़ी विचित्र है, सुखके बाद दुख और दुखके बाद सुख आते रहते हैं। बल्कि यों कहिये कि संसारमें सुखी जीवोंकी अपेक्षा, दुखी जीवोंका क्षेत्र बहुत विस्तृत है। जनसमुदायमें अधिक संख्या आधिव्याधि से परिपूर्ण है। दुखका मुख्य कारण है वासना। हजारों प्रकारकी सुखसामग्री एकत्रित होने पर भी सांसारिक वासनाओंसे दुखकी सत्ता भिन्न नहीं होती। आरोग्य शरीर, लक्ष्मी, गुणवती सुन्दर स्त्री और सुयोग्य सदाचारी सन्तान आदिके प्राप्त होते हुए भी दुःखका संयोग कारण कम नहीं होता। इससे यह स्पष्ट है कि दुःखसे सुखको भिन्न करना और केवल सुख-भोगी बननेकी इच्छा रखना दुःसाध्य है।

सुख-दुःखका समस्त आधार मनोवृत्तियों पर है। महान् धनी एवं ज्ञानवान् व्यक्ति भी लोभ तथा वासनाके वशीभूत होकर कष्ट उठाता है। निर्धनसे निर्धन व्यक्ति भी सन्तोषवृत्तिके प्रभावसे मनके उद्वेगोंको रोककर सुखी रह सकता है। मनोवृत्तियोंका विलक्षण प्रवाह ही सुख दुःखके प्रवाहका मूल है। जो वस्तु आज रुचिकर और प्रिय मालूम होती है, वह ही कुछ समय बाद अरुचिकर प्रतीत होने लगती है। इससे यह बात स्पष्ट है कि बाह्य पदार्थ सुख-दुखके साधक नहीं हैं, बल्कि उनका आधार हमारी मनोवृत्तियोंका विचित्र प्रवाह ही है।

राग, द्वेष और मोह ये मनोवृत्तियोंके विशेपरूप अथवा इन्हीं पर समस्त संसार चक्र चल रहा है। इस त्रिदोषको दूर करनेका सरल उपाय सत्शास्त्रावलोकनके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। किन्तु मनुष्यको मैं रोगी हूँ, मुझे कौनसा रोग है, यह ज्ञान कठिनतासे होता है। जहाँ संसारकी सुख तरंगें मनको लुभाती हों, जहाँ मनुष्य मान और विलासिताके हिंडोलेमें झूल रहा हो, और जहाँ तृष्णारूपी जलके प्रबल प्रवाहमें गिर कर मनुष्य बेसुध हो रहा हो, वहाँ रोग समझना कठिन ही नहीं, किन्तु असम्भव जैसा है। अपनी आन्तरिक स्थितिका ज्ञान न रख सकने वाले व्यक्ति बिल्कुल नीचे दर्जेके होते हैं। जो जीव मध्यम श्रेणीके हैं, जो अपनेको त्रिदोषाक्रान्त समझते हैं—अपनेको त्रिदोषजन्म उग्रतापसे पीड़ित मानते हैं—और जो उस रोगके प्रतिकारकी शोधमें हैं, उनके लिये आध्यात्मिक उपदेशकी आवश्यकता है।

'अध्यात्म' शब्द 'अधि' और 'आत्म' इन दो शब्दोंके मेलसे बना है। इसका अर्थ है आत्माके शुद्ध स्वरूपको लक्ष्य करके उसके अनुसार व्यवहार करना। संसारके मुख्य दो तत्व हैं--जड़ और चेतन, जिनमेंसे एकको जाने बिना दूसरा नहीं जाना जा सकता। ये आध्यात्मिक विषयमें अपना पूर्ण स्थान रखते हैं।

आत्मा क्या वस्तु है? आत्माको सुख-दुखका अनुभव कैसे होता है? सुख-दुखके अनुभवका कारण आत्मा ही है या किसी अन्यके संसर्गसे आत्माको सुख-दुखका ज्ञान होता है? आत्माके साथ कर्मका क्या सम्बन्ध है? वह सम्बन्ध कैसे होता है? तथा आदिमान है या अनादि? यदि अनादि है तो उसका उच्छेद कैसे हो सकता है? कर्मके भेद-प्रभेदोंका क्या हिसाब है? 'कार्मिक बन्ध, उदय ओर सत्ता कैसे नियम बद्ध हैं? अध्यात्ममें इन सब बातोंका यथेष्ट विवेचन है और इनका पूर्णरूपसे परिचय कराया गया है।

इसके अतिरिक्त अध्यात्मशास्त्रमें संसारकी

असारता का हू-बहू चित्र अङ्कित किया गया है। इस शास्त्रका मुख्य उद्देश्य भिन्न-भिन्न रूपसे उपदेश द्वारा भावनाओंको स्पष्टतया समझाकर मोह-ममताके ऊपर दबाव डालना है। और मोह-ममताके दूर होने पर ही सुख-दुख समान हो सकते हैं।

बुरे आचरणोंका त्याग, तत्त्व अध्ययनकी इच्छा, साधु-सन्तोंकी संगति, साधुजनोंके प्रति प्रीति, तत्त्वोंका श्रवण, मनन तथा अध्ययन, मिथ्यादृष्टिका नाश, सम्यक्दृष्टिका प्रकाश, राग-द्वेष, क्रोधमान, माया, आदिका त्याग, इन्द्रियोंका संयम, ममताका परिहार, समताका प्रादुर्भाव, मनोवृत्तियोंका निग्रह, चित्तकी निश्चलता, आत्मस्वरूपमें रमणता, सद्ध्यानका अनुष्ठान, समाधिका आविर्भाव, मोहादिक कर्मोंका क्षय और अन्तमें केवलज्ञान तथा निर्वाणकी प्राप्ति। इस प्रकारका आत्मोन्नतिका क्रम अध्यात्ममें भली भाँति दिया गया है।

अनन्तज्ञानस्वरूप सच्चिदानन्दमय आत्मा कर्मोंके संसर्गसे शरीररूपी अंधेरी कोठरीमें बन्द है। कर्मके संसर्गका मूल अज्ञानता है, समस्त शास्त्रावलोकन करके भी जिसको आत्माका ज्ञान प्राप्त न हुआ हो उसको अज्ञानी ही समझना उचित है। क्योंकि आत्मिकज्ञानके बिना मनुष्यका उच्चसे उच्च ज्ञान भी निरर्थक है। और अज्ञानतासे जो दुःख होता है वह आत्मिकज्ञान-द्वारा ही क्षीण हो सकता है। ज्ञान और अज्ञानमें प्रकाश और अन्धकारके समान बड़ा अन्तर है। अंधकारको दूर करनेके लिये जिस प्रकार प्रकाशकी अत्यन्त आवश्यकता है उसी प्रकार अज्ञानको दूर करनेके लिये ज्ञानकी आवश्यकता है। आत्मा जब तक कषायों, इन्द्रियों और मनके आधीन रहता है, तबतक उसको सांसारिक सुख-दुखका अनुभव होता रहता है। किन्तु जब वही इनसे भिन्न हो जाता है—निर्मोही बन अपनी शक्तियोंको पूर्ण रूपसे विकसित करनेमें लग जाता है—तब 'मुमुक्षु' कहलाता है और अन्तको साधनाकी समाप्ति कर 'सिद्धात्मा' अथवा 'शुद्धात्मा' बन जाता है।

क्रोधका निग्रह क्षमासे है, मानका पराजय मृदुतासे, मायाका संहार सरलतासे और लोभका विनाश संतोषसे होता है। इन कषायोंको जीतनेके लिये इन्द्रियोंको अपने वशमें करना आवश्यक है। इन्द्रियों पर पूर्णतया अधिकार जमानेके लिये मनःशुद्धिकी आवश्यकता होती है। मनोवृत्तियोंको दबानेकी आवश्यकता होती है। वैराग्य और सत्क्रियाके अभावसे मनका रोध होता है—मनोवृत्तियाँ अधिकृत होती हैं। मनको रोकनेके लिये राग-द्वेषका दबाना बहुत आवश्यक है और राग-द्वेषके मैलको धोनेका काम समतारूपी जल करता है। ममताके मिटे बिना समताका प्रादुर्भाव नहीं होता। ममता मिटानेके लिये कहा है:—

"अनित्यं संसारे भवति सकलं यन्नयनगम्"

अर्थात्—नेत्रोंसे इस संसारमें जो कुछ दिखाई देता है वह सब अनित्य है—क्षण भंगुर है। ऐसी अनित्यभावना और इसीप्रकार दूसरी अशरणआदि भावनाएँ भावनी चाहिएँ। इन भावनाओंका वेग जैसे जैसे प्रबल होता जाता है वैसे ही वैसे ममत्वरूपी अन्धकार क्षीण होता जाता है और समताकी देदीप्यमान ज्योति जगमगाने लगती है। जब समताका आत्मामें प्रादुर्भाव हो जाता है तो सुख-दुख समान जान पड़ने हैं और मनुष्यमें प्रबल शान्ति विराजने लगती है।

हमारा जैन-धर्म

[ले० —पं० सूरजचंदजी डाँगी 'सत्यप्रेमी']

हमारा जैन-धर्म गुणखान।
परम अहिंसाका प्रतिपादक सुखका सत्य विधान।
हमारा जैन-धर्म गुणखान॥

(१)

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-आचरण, कहा मुक्तिका द्वार।
संयम-तप-सेवा बतलाया, विश्व-शांतिका सार॥
श्रमण-संस्कृतिका ले आधार,
कर्म-काण्डोंमें किया सुधार।
क्रूरताका करके संहार,
सिखाया सब जीवों पर प्यार।
कर्मचेतनामें समझाया, सरल भेद-विज्ञान।
हमारा जैन-धर्म गुणखान॥

(२)

त्याग और वैराग्य-भावमें समझ जगतका त्राण।
वीतरागता ध्येय बनाया जीवनका कल्याण॥
शरण उत्कृष्ट सिद्धभगवन्त,
हमारे व्यक्ति-देव अर्हन्त।
सुगुरु निर्ग्रन्थ उच्चतम सन्त,
दयामय प्रेमपंथ सुखवन्त।
परमाधार चतुर्मंगल हैं, शिवमय मोद-निधान॥
हमारा जैन-धर्म गुणखान॥

(३)

निर्गुण-सगुण-जिनेश्वर पाठक और संघ-सरदार,
जगमें व्याप्य समस्त सन्तजन परम इष्ट 'नवकार'
हमारा महामंत्र सुख-धाम,
अनवरत अवलम्बन अभिराम।
किया करते हम सदा प्रणाम,
हृदय पाता विशुद्ध विश्राम।
विघ्न-विनाशक अघ-संहारक पंचशक्तिका ध्यान।
हमारा जैन-धर्म गुणखान॥

(४)

राग द्वेषकी ग्रन्थि भेदकर दूर किया दुःस्वार्थ।
छोड़ा जब मिथ्यात्व-दुराग्रह, मिला सत्य परमार्थ॥
सीखकर प्रथम धर्म सागार,
लिये फिर पंच महाव्रत धार।
हटाये सब प्रमाद-व्यवहार,
पूर्ण संयमका पाया सार।
निर्विकार बन मार भगाया क्रोध-लोभ-छल-मान
हमारा जैन-धर्म गुणखान॥

(५)

विविध नयों का द्वन्द देखकर बना मनुज दिग्भ्रान्त।
अनिरपेक्ष स्याद्वाद सिखाकर नष्ट किया एकान्त॥
द्रव्य तो पृथक पृथक् स्यादेक,
किन्तु पर्याय अनेकानेक।
मिटाई ध्रुव-अध्रुवकी टेक,
कहा पाखण्ड सदा अतिरेक।
शुद्ध समन्वय-शक्ति बताई सद्विवेक पहिचान।
हमारा जैन-धर्म गुणखान॥

(६)

वर्णाश्रम या यज्ञ-नाम पर फैले अत्याचार।
आत्मशुद्धिके निर्मल बलसे उनपर किया प्रहार॥
युद्ध भी रहा दया का अंग,
कभी हो सका न संयम भंग।
पड़े आकर जब कठिन प्रसंग
बनाया उचित धर्मका ढंग।
सप्तभंगियोंका उत्पादन सत्य उदार महान।
हमारा जैन-धर्म गुणखान॥

(७)

सभी धर्म वे भी महान हैं सत्य जिन्होंका प्राण।
जिनने समय समय पर आकर किया लोककल्याण॥
किन्तु हम बने रूढ़ि के दास,
हृदयमें हुआ दम्भका वास।
द्वेष, अघप्रसर, मोह, उच्छ्वास
हमारे पास अन्ध-विश्वास।
सूर्य्य-चन्द्रके सत्यप्रेमकी ज्योत्स्ना हो कि विज्ञान।
हमारा जैन-धर्म गुणखान।

श्रीपूज्यपाद और उनकी रचनाएँ

[सम्पादकीय]

जैनसमाजमें 'पूज्यपाद' नामके एक सुप्रसिद्ध आचार्य विक्रमकी छठी (ईसाकी पाँचवीं) शताब्दीमें हो गये हैं, जिनका पहला अथवा दीक्षानाम 'देवनन्दी' था और जो बादको 'जिनेन्द्रबुद्धि' नामसे भी लोकमें प्रसिद्धिको प्राप्त हुए हैं। आपके इन नामोंका परिचय अनेक शिलालेखों तथा ग्रन्थों आदि परसे भले प्रकार उपलब्ध होता है। नीचेके कुछ अवतरण इसके लिये पर्याप्त हैं :—

यो देवनन्दिप्रथमाभिधानो
बुद्ध्या महत्या स जिनेन्द्रबुद्धिः।
श्रीपूज्यपादोऽजनि देवता-
भिर्यत्पूजितं पादयुगं यदीयम् ॥३॥

—श्रवणबेल्गोल शि० नं० ४० (६४)

प्रागभ्यधायि गुरुणा किल देवनन्दी,
बुद्ध्या पुनर्विपुलया स जिनेन्द्रबुद्धिः।
श्रीपूज्यपाद इति चैष बुधैः प्रचख्ये,
यत्पूजितः पदयुगे वनदेवताभिः ॥२०॥

—श्र० शि० नं० १०५ (२५४)

श्रवणबेल्गोलके इन दोनों शिला-वाक्यों परसे, जिसका लेखनकाल क्रमशः शक सं० १०३७ व १३२० है, यह साफ़ जाना जाता है कि आचार्य महोदयका प्राथमिक नाम 'देवनन्दी' था, जिसे उनके गुरुने रक्खा था और इसलिये वह उनका दीक्षानाम है, 'जिनेन्द्रबुद्धि' नाम बुद्धिकी प्रकर्षता एवं विपुलताके कारण उन्हें बादको प्राप्त हुआ था; और जबसे उनके चरण-युगल देवताओंसे पूजे गये थे तबसे वे बुधजनों द्वारा 'पूज्यपाद' नामसे विभूषित हुए हैं।

श्रीपूज्यपादोद्धृतधर्मराज्यस्ततः
सुराधीश्वरपूज्यपादः।
यदीयवैदुष्यगुणानिदानीं वदन्ति
शास्त्राणि तदुद्धृतानि ॥१५॥
धृतविश्वबुद्धिरयमत्र योगिभिः
कृतकृत्यभावमनुबिभ्रदुच्चकैः।
जिनवद्बभूव यदनङ्गचापहृत्स
जिनेन्द्रबुद्धिरिति साधुवर्णितः ॥१६॥

—श्र० शि० नं० १०८ (२५८)

शक संवत् १३५५ में उत्कीर्ण हुए इन शिला-वाक्योंसे स्पष्ट है कि 'श्रीपूज्यपादने धर्मराज्यका उद्धार किया था—लोकमें धर्मकी पुनः प्रतिष्ठा की थी—इसीसे आप देवताओंके अधिपति-द्वारा पूजे गये और 'पूज्य-पाद' कहलाये। आपके विद्याविशिष्ट गुणोंको आज भी आपके द्वारा उद्धार पाये हुए—रचे हुए—शास्त्र बतला रहे हैं—उनका खुला गान कर रहे हैं। आप जिनेन्द्रकी तरह विश्वबुद्धिके धारक—समस्त शास्त्र विषयोंके पारं-गत—थे और कामदेवको जीतनेवाले थे, इसीसे आपमें ऊँचे दर्जेके कृतकृत्य-भावको धारण करनेवाले योगियों-ने आपको ठीक ही 'जिनेन्द्रबुद्धि' कहा है।' इसी शिलालेखमें पूज्यपाद-विषयक एक वाक्य और भी पाया जाता है, जो इस प्रकार है:—

श्रीपूज्यपादमुनिरप्रतिमौषध-
र्द्धिर्जीयाद्विदेहजिनदर्शनपूतगात्रः।
यत्पादधौतजलसंस्पर्शप्रभावात्
कालायसं किल तदा कनकीचकार ॥१७॥

इसमें पूज्यपाद मुनिका जयघोष करते हुए उन्हें अद्वितीय औषध-ऋद्धिके धारक बतलाया है। साथ ही, यह भी प्रकट किया है कि विदेहक्षेत्र-स्थित जिनेन्द्रभग-वान्‌के दर्शनसे उनका गात्र पवित्र हो गया था और उनके चरण-धोए जलके स्पर्शसे एक समय लोहा भी सोना बन गया था।

इस तरह आपके इन पवित्र नामोंके साथ कितना ही इतिहास लगा हुआ है और वह सब आपकी महती कीर्ति, अपार विद्वत्ता एवं सातिशय प्रतिष्ठाका द्योतक है। इसमें सन्देह नहीं कि श्रीपूज्यपाद स्वामी एक बहुत ही प्रतिभाशाली आचार्य, माननीय विद्वान्, युगप्रधान और अच्छे समर्थ योगीन्द्र हुए हैं। आपके उपलब्ध ग्रन्थ निश्चय ही आपकी असाधारण योग्यताके जीते-जागते प्रमाण हैं। भट्टाकलंकदेव और श्रीविद्यानन्द जैसे बड़े बड़े प्रतिष्ठित आचार्योंने अपने राजवार्तिकादि ग्रंथों-में आपके वाक्योंका—सर्वार्थसिद्धि आदिके पदोंका—खुला अनुसरण करते हुये बड़ी श्रद्धाके साथ उन्हें स्थान ही नहीं दिया, बल्कि अपने ग्रन्थोंका अंग तक बनाया है।

जैनेन्द्र-व्याकरण

शब्द-शास्त्रमें आप बहुत ही निष्णात थे। आपका 'जैनेन्द्र' व्याकरण लोकमें अच्छी ख्याति एवं प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुका है—निपुण वैयाकरणोंकी दृष्टिमें सूत्रोंके लाघवादिके कारण उसका बड़ा ही महत्व है और इसी-से भारतके आठ प्रमुख शाब्दिकोंमें आपकी भी गणना है *। कितने ही विद्वानोंने किसी आचार्यादिकी प्रशंसा-में उसके व्याकरण-शास्त्रकी निपुणताको आपकी उपमा दी है; जैसा कि श्रवणबेल्गोलके निम्न दो शिलावाक्यों-से प्रकट है:—

"सर्वव्याकरणे विपश्चिदधिपः श्रीपूज्यपादः स्वयम्।"
(शि० नं० ४७, ५०)

"जैनेन्द्रे पूज्यपादः।" (शि० नं० ५५)

पहला वाक्य मेघचन्द्र त्रैविद्यदेवकी और दूसरा जिनचन्द्राचार्यकी प्रशंसामें कहा गया है। पहलेमें, मेघ-चन्द्रको व्याकरण-विषयमें स्वयं 'पूज्यपाद' बतलाते हुए, पूज्यपादको 'अखिल-व्याकरण-पण्डितशिरोमणि' सूचित किया है और दूसरेमें जिनचन्द्रके 'जैनेन्द्र'-व्याकरण-विषयक ज्ञानको स्वयं पूज्यपादका ज्ञान बतलाया है, और इस तरह 'जैनेन्द्र' व्याकरणके अभ्यासमें उसकी दक्षताको घोषित किया है।

---

* *इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशलीशाकटायनाः।*
पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टौ च शाब्दिकाः॥
—धातुपाठः।

पूज्यपादके इस व्याकरणशास्त्रकी प्रशंसामें अथवा इस व्याकरणको लेकर पूज्यपादकी प्रशंसामें विद्वानोंके ढेरके ढेर वाक्य पाये जाते हैं। नमूनेके तौर पर यहाँ उनमेंसे दो-चार वाक्य उद्धृत किये जाते हैं:—

कवीनां तीर्थकृद्देवः किंतरां तत्र वर्ण्यते।
विदुषां वाङ्मलध्वंसि तीर्थं यस्य वचोमयम् ॥५२॥

—आदिपुराणे, जिनसेनः।

अचिन्त्यमहिमा देवः सोऽभिवंद्यो हितैषिणा।
शब्दाश्च येन सिद्ध्यन्ति साधुत्वं प्रतिलम्भिताः॥१८॥

—पार्श्वनाथचरिते, वादिराजः।

पूज्यपादः सदा पूज्यपादः पूज्यैः पुनातु माम्।
व्याकरणार्णवो येन तीर्णो विस्तीर्णसद्गुणः॥

—पांडवपुराणे, शुभचन्द्रः।

शब्दाब्धीन्दुं पूज्यपादं च वन्दे।

—नियमसारटीकायां, पद्मप्रभः।

प्रमाणमकलंकस्य पूज्यपादस्य लक्षणम्।
द्विसंधानकवेः काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम्॥

—नाममालायां, धनञ्जयः।

नमः श्रीपूज्यपादाय लक्षणं यदुपक्रमम्।
यदेवात्र तदन्यत्र यन्नात्रास्ति न तत्क्वचित्॥

—जैनेन्द्रप्रक्रियायां, गुणनन्दी।

अपाकुर्वन्ति यद्वाचः कायवाक्चित्तसंभवम्।
कलंकमंगिनां सोऽयं देवनन्दी नमस्यते॥

—ज्ञानार्णवे, शुभचन्द्रः।

इनमेंसे प्रथमके दो वाक्योंमें पूज्यपादका 'देव' नामसे उल्लेख किया गया है, जो कि आपके 'देवनन्दी' नामका संक्षिप्त रूप है। पहले वाक्यमें श्रीजिनसेनाचार्य लिखते हैंकि 'जिनका वाङ्मय—शब्द शास्त्ररूपी व्याकरण-तीर्थ—विद्वज्जनोंके वचनमलको नष्ट करने वाला है वे देवनंदी कवियोंके तीर्थङ्कर हैं, उनके विषयमें और अधिक क्या कहा जाय? दूसरे वाक्यमें वादिराजसूरिने बतलाया है कि 'जिनके द्वारा—जिनके व्याकरणशास्त्रको लेकर—शब्द भले प्रकार सिद्ध होते हैं वे देवनंदी अचिंत्य महिमायुक्त देव हैं और अपना हित चाहनेवालोंके द्वारा सदा वंदना किये जाने के योग्य हैं। तीसरे वाक्यमें, शुभचंद्र भट्टारकने, पूज्यपादको पूज्योंके द्वारा भीपूज्यपाद तथा विस्तृत सद्गुणोंके धारक प्रकट करते हुए उन्हें व्याकरण-समुद्रको तिरजानेवाले लिखा है और साथ ही यह प्रार्थना की है कि वे मुझे पवित्र करें। चौथेमें, मलधारी पद्मप्रभदेवने पूज्यपादको 'शब्दसागरका चंद्रमा' बतलाते हुए उनकी वंदना की है। पाँचवेंमें, पूज्यपादके लक्षण (व्याकरण) शास्त्रको अपूर्व रत्न बतलाया गया है। छठेमें, पूज्यपादको नमस्कार करते हुए उनके लक्षण शास्त्र (जैनेन्द्र) के विषयमें यह घोषणा की गई है कि जो बात इस व्याकरणमें है वह तो दूसरे व्याकरणोंमें पाई जाती है परन्तु जो इसमें नहीं है वह अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं होती, और इस तरह आपके 'जैनेन्द्र' व्याकरणको सर्वाङ्गपूर्ण बतलाया गया है। अब रहा सातवाँ वाक्य, उसमें श्रीशुभचन्द्राचार्यने लिखा है कि 'जिनके वचन प्राणियोंके काय, वाक्य और मनः सम्बन्धी दोषोंको दूर कर देते हैं उन देवनन्दी को नमस्कार है।' इसमें पूज्यपादके अनेक ग्रन्थोंका उल्लेख संनिहित है—वाग्दोषोंको दूर करनेवाला तो आपका वही प्रसिद्ध 'जैनेन्द्र' व्याकरण है, जिसे जिनसेनने भी '*विदुषां वाङ्मलध्वंसि*' लिखा है, और चित्तदोषोंको दूर करनेवाला आपका मुख्य ग्रन्थ "समाधितंत्र" है, जिसे 'समाधिशतक' भी कहते हैं, और जिसका कुछ विशेष परिचय प्रस्तुत लेखमें आगे दिया जायगा। रहा कायदोषको दूर करनेवाला ग्रन्थ, वह कोई वैद्यकशास्त्र

होना चाहिये, जो इस समय अनुपलब्ध है‡ 'जैनेन्द्र' के कई संस्करण अपनी जुदी जुदी वृत्तियों सहित प्रकाशित हो चुके हैं।

वैद्यक शास्त्र

विक्रमकी १५वीं शताब्दीके विद्वान् कवि मंगराजने कनडी भाषामें 'खगेन्द्रमणिदर्पण' नामका एक चिकित्साग्रन्थ लिखा है और उसमें पूज्यपादके वैद्यकग्रन्थका भी आधाररूपसे उल्लेख किया है, जिससे मंगराजके समय तक उस वैद्यकग्रन्थके अस्तित्वका पता चलता है परन्तु सुहृद्वर पं० नाथूरामजी प्रेमी उसे किसी दूसरे ही पूज्यपादका ग्रन्थ बतलाते हैं और इस नतीजे तक पहुँचे हैं कि 'जैनेन्द्र'के कर्त्ता पूज्यपादने वैद्यकका कोई शास्त्र बनाया ही नहीं—यों ही उनके नाम मँढ़ा जाता है, जैसा कि उनके "जैनेन्द्रव्याकरण और आचार्य-देवनन्दी" नामक लेखके निम्न वाक्यसे प्रकट है*:—

"इस (खगेन्द्रमणिदर्पण) में वह (मंगराज) अपने आपको पूज्यपादका शिष्य बतलाता है और यह भी लिखता है कि यह ग्रंथ पूज्यपादके वैद्यक-ग्रंथसे संग्रहीत है। इससे मालूम होता है कि पूज्यपाद नामके एक विद्वान् विक्रमकी तेरहवीं (१४वीं ?) शताब्दीमें भी हो गये हैं और लोग भ्रमवश उन्हींके वैद्यकग्रंथको जैनेन्द्रके कर्ताका ही बनाया हुआ समझकर उल्लेख कर दिया करते हैं।"

इस निर्णयमें प्रेमीजीका मुख्य हेतु 'मंगराजका अपनेको पूज्यपादका शिष्य बतलाना' है जो ठीक नहीं है। क्योंकि प्रथम तो ग्रंथपरसे यह स्पष्ट नहीं कि मंगराजने उसमें अपनेको किसी दूसरे पूज्यपादका शिष्य बतलाया है—यह तो पूज्यपादके विदेह-गमनकी घटना तकका उल्लेख करता है, जिसका सम्बन्ध किसी दूसरे पूज्यपादके साथ नहीं बतलाया जाता है; साथही, अपने इष्ट पूज्यपाद मुनीन्द्रको जिनेन्द्रोक्त सम्पूर्ण सिद्धांतसागरका पारगामी बतलाता है और अपनेको उनके चरण-कमलके गन्धगुणोंसे आनन्दित चित्त प्रकट करता है; जैसा कि उसके निम्न अन्तिम वाक्योंसे प्रकट है:—

'इदु सकल-आदिम-जिनेन्द्रोक्तसिद्धान्तपयःपयोधिपारग-श्रीपूज्यपादमुनीन्द्र-चारु-चरणारविन्द-गन्धगुणनंदितमानस श्रीमदखिलकलागमोत्तुंग-मंगविभुविरचितमप्प खगेन्द्रमणिदर्पणदोलु षोडशाधिकारं समाप्तम्॥"—(आरा० सि० भ० प्रति)

इससे मंगराजका पूज्यपादके साथ साक्षात् गुरु-शिष्यका कोई सम्बन्ध व्यक्त नहीं होता और न यही मालूम होता है कि मंगराजके समयमें कोई दूसरे 'पूज्यपाद' हुए हैं—यह तो अलंकृत भाषामें एक भक्तका शिष्य-परम्पराके रूपमें उल्लेख जान पड़ता है। शिष्यपरम्पराके रूपमें ऐसे बहुतसे उल्लेख देखनेमें आते हैं। उदाहरणके तौर पर 'नीतिसार'के निम्न प्रशस्तिवाक्यको लीजिये, जिसमें ग्रन्थकार इन्द्रनन्दीने हजार वर्षसे भी अधिक पहलेके आचार्य कुन्दकुन्द

‡ पूज्यपादकी कृतिरूपसे 'वैद्यसार' नामका जो ग्रंथ 'जैन-सिद्धान्तभास्कर' (त्रैमासिक) में प्रकाशित हो रहा है वह इन श्री पूज्यपादाचार्यकी रचना नहीं है। हो सकता है कि यह मंगलाचरणादिविहीनग्रंथ पूज्यपादके किसी ग्रन्थ पर ही कुछ सार लेकर लिखा गया हो; परंतु स्वयं पूज्यपाद कृत नहीं है। और यह बात ग्रन्थके साहित्य रचनाशैली और जगह जगह नुसखोंके अन्तमें पूज्यपादने भाषितः निर्मितः जैसे शब्दोंके प्रयोगसे भी जानी जाती है।

* देखो, 'जैनसाहित्यसंशोधक' भाग १, अङ्क २, पृ० ८३ और 'जैनहितैषी' भाग १५, अङ्क १-२; पृ० ५७॥

स्वामीका अपनेको शिष्य (विनेय) सूचित किया है:—
"—*स श्रीमानिन्द्रनन्दी जगति विजयतां भूरिभावानुभावी दैवज्ञः कुन्दकुन्दप्रभुपदविनयः स्वागमाचारचंचुः।*"

ऐसे वाक्योंमें पदों अथवा चरणोंकी भक्ति आदिका अर्थ शरीरके अङ्गरूप पैरोंकी पूजादिका नहीं, किन्तु उनके पदोंकी—वाक्योंकी—सेवा-उपासनादिका होता है, जिससे ज्ञान विशेषकी प्राप्ति होती है।

दूसरे, यदि यह मान भी लिया जाय कि मंगराजके साक्षात् गुरु दूसरे पूज्यपाद थे और उन्होंने वैद्यकका कोई ग्रंथ भी बनाया है, तो भी उससे यह लाज़िमी नतीजा नहीं निकाला जा सकता कि उन्हींके उस वैद्यकग्रन्थके भ्रममें पड़कर लोग 'जैनेन्द्र' के कर्त्ता पूज्यपादको वैद्यकशास्त्रका कर्त्ता कहने लगे हैं। क्योंकि ऐसी हालतमें वह भ्रम मंगराजके उत्तरवर्ती लेखकोंमें ही होना सम्भव था- पूर्ववर्तीमें नहीं। परन्तु पूर्ववर्ती लेखकोंने भी पूज्यपादके वैद्यकग्रन्थका उल्लेख तथा संकेत किया है संकेतके लिये तो शुभचन्द्राचार्यका उपर्युक्त श्लोक ही पर्याप्त है, जिसके विषयमें प्रेमीजीने भी अपने उक्त लेखमें यह स्वीकार किया है कि "श्लोकके 'काय' शब्दसे भी यह बात ध्वनित होती है कि पूज्यपाद स्वामीका कोई चिकित्साग्रंथ है।" वह चिकित्साग्रंथ मंगराजके साक्षात् गुरुकी कृति नहीं हो सकता; क्योंकि उसके संकेत-कर्त्ता शुभचंद्राचार्य मंगराजके गुरुसे कई शताब्दी पहले हुए हैं। रही पूर्ववर्ती उल्लेखकी बात, उसके लिये उग्रादित्य आचार्यके 'कल्याणकारक' वैद्यकग्रंथका उदाहरण पर्याप्त है, जिसमें पूज्यपादके वैद्यकग्रंथका 'पूज्यपादेन भाषितः' जैसे शब्दोंके द्वारा बहुत कुछ उल्लेख किया गया है और एक स्थानपर तो अपने ग्रंथाधारको व्यक्त करते हुए '*शालाक्यं पूज्यपादप्रकटितमधिकं*' इस वाक्यके द्वारा पूज्यपादके एक चिकित्साग्रंथका स्पष्ट नाम भी दिया है और वह है 'शालाक्य' ग्रंथ जो कि कर्ण, नेत्र, नासिका, मुख और शिरोरोगकी चिकित्सासे सम्बंध रखता है। अतः प्रेमीजीने जो कल्पना की है वह निर्दोष मालूम नहीं होती।

यहाँ पर मैं इतना और भी प्रकट कर देना चाहता हूँ कि चित्रकवि सोमने एक 'कल्याणकारक' वैद्यकग्रन्थ कनडी भाषामें लिखा है, जोकि मद्य-मांस-मधुके व्यवहारसे वर्जित है और जिसमें अनेक स्थानोंपर गद्य-पद्य-रूपसे संस्कृत वाक्य भी उद्धृत किये गये हैं। यह ग्रन्थ पूज्यपाद मुनिके 'कल्याणकारकबाहडसिद्धान्तक' नामक ग्रन्थके आधारपर रचा गया है; जैसाकि उसके "पूज्यपादमुनिगलुं पेल्द कल्याणकारकबाहडसिद्धांतकदिं" विशेषण से प्रकट है। इससे पूज्यपादके एक दूसरे वैद्यक-ग्रन्थका नाम उपलब्ध होता है। मालूम नहीं चित्रकवि सोम कब हुए हैं। उनका यह ग्रन्थ आराके जैनसिद्धांत-भवनमें मौजूद है।

इसके सिवाय, शिवमोग्गा ज़िलांतर्गत 'नगर' ताल्लुकके ४६ वें शिलालेखमें, जो कि पद्मावती-मंदिरके एक पत्थरपर खुदा हुआ है, पूज्यपाद-विषयक जो हक़ीक़त दी है वह कुछ कम महत्वकी नहीं है और इसलिये उसे भी यहाँ पर उद्धृत कर देना उचित जान पड़ता है। उसमें जैनेन्द्र-कर्त्ता पूज्यपाद-द्वारा 'वैद्यकशास्त्र' के रचे जानेका बहुत ही स्पष्ट उल्लेख मिलता है। यथा:-

'न्यासं जैनेंद्रसंज्ञं सकलबुधनुतं पाणिनीयस्य भूयो—
न्यासं शब्दावतारं मनुजततिहितं वैद्यशास्त्रं च कृत्वा-
यस्तत्वार्थस्य टीकां व्यरचयदिह तां भात्यसौ पूज्यपाद
स्वामी भूपालवंद्यः स्वपरहितवचः पूर्णदृग्बोधवृत्तः॥

शब्दावतार और सर्वार्थसिद्धि

'नगर' ताल्लुकके उक्त शिलावाक्यमें पूज्यपादके चार ग्रन्थोंका क्रमनिर्देशपूर्वक उल्लेख किया गया है, जिनमेंसे

पहला ग्रंथ है 'जैनेन्द्र' नामक न्यास (व्याकरण), जिसे संपूर्ण बुधजनोंसे स्तुत लिखा है; दूसरा पाणिनीय व्याकरणके ऊपर लिखा हुआ 'शब्दावतार' नामका न्यास है; तीसरा मानव-समाजके लिये हितरूप 'वैद्यशास्त्र' और चौथा है तत्त्वार्थसूत्रकी टीका 'सर्वार्थसिद्धि'। यह टीका पहले तीन ग्रन्थोंके निर्माणके बाद लिखी गई है, ऐसी स्पष्ट सूचना भी इस शिलालेखमें की गई है। साथ ही, पूज्यपाद स्वामीके विषयमें लिखा है कि वे राजासे × वंदनीय थे, स्वपरहितकारी वचनों (ग्रंथों) के प्रणेता थे और दर्शन-ज्ञान-चारित्रसे परिपूर्ण थे।

इस अवतरणसे पूज्यपादके 'शब्दावतार' नामक एक और अनुपलब्ध ग्रंथका पता चलता है, जो पाणिनीय व्याकरणका न्यास है और 'जैनेन्द्र' व्याकरणके बाद लिखा गया है। विक्रमकी १२ वीं शताब्दीके विद्वान कवि वृत्तविलासने भी अपने 'धर्मपरीक्षे' नामक कन्नडी ग्रन्थमें, जो कि अमितगतिकी 'धर्मपरीक्षा'को लेकर लिखा गया है, पाणिनीय और व्याकरण पर पूज्यपादके एक टीकाग्रन्थका उल्लेख किया है जो उक्त 'शब्दावतार' नामक न्यास ही जान पड़ता है। साथ ही पूज्यपादके द्वारा भूरक्षणार्थ (लोकोपकारके लिये) यंत्र-मंत्रादि-विषयक शास्त्रोंके रचे जानेको भी सूचित किया है—जिसके 'आदि' शब्दसे वैद्यशास्त्रका भी सहज ही में ग्रहण होसकता है—और पूज्यपादको 'विश्वविद्याभरण' जैसे महत्वपूर्ण विशेषणोंके साथ स्मरण किया है।

यथाः—

'भरदिं जैनेन्द्रं भासुरं एनल् ओरेदं पाणिणीयक्के टीकुं बरेदं तत्वार्थमं टिप्पणदिम् आरपिदं यंत्रमंत्रादिशास्त्रोक्तकरमं। भूरक्षणार्थं विरचिसि जसमुं तालिददं विश्वविद्याभरणं। भव्यालियाराधितपदकमलं पूज्यपादं व्रतीन्द्रम्।'

पाणिनीयकी काशिका वृत्तिपर 'जिनेन्द्रबुद्धि'का एक न्यास है। पं० नाथूरामजी प्रेमीने अपने उक्त लेखमें प्रकट किया है कि 'इस न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि' के नामके साथ 'बोधिसत्वदेशीयाचार्य' नामकी बौद्ध पदवी लगी हुई है, इससे यह ग्रंथ बौद्धभिक्षुका बनाया हुआ है। आश्चर्य नहीं जो वृत्त-विलास कविको पूज्यपादके 'जिनेन्द्रबुद्धि' इस नाम साम्यके कारण भ्रम हुआ हो और इसीसे उसने उसे पूज्यपादका समझकर उल्लेख कर दिया हो।' परन्तु ऊपरके शिलालेखमें न्यासका स्पष्ट नाम 'शब्दावतार' दिया है और उसे काशिकावृत्तिका नहीं बल्कि पाणिनीयका न्यास बतलाया है, ऐसी हालतमें जब तक यह सिद्ध न हो कि काशिकापर लिखे हुए न्यासका नाम 'शब्दावतार' है और उसके कर्त्ताके नामके साथ यदि उक्त बौद्ध विशेषण लगा हुआ है तो वह किसीकी बादकी कृति नहीं है ‡ तब तक धर्म-परीक्षाके कर्त्ता वृत्तविलासको भ्रमका होना नहीं कहा जा सकता; क्योंकि पूज्यपादस्वामी गंगराजा दुर्विनीतके शिक्षागुरु (Precoptor) थे, जिसका राज्यकाल ई० सन् ४८२ से ५२२ तक पाया जाता है और उन्हें हेब्बुर आदिके अनेक शिलालेखों (ताम्रपत्रादिकों) में 'शब्दावतार'के कर्तारूपसे दुर्विनीत राजाका गुरु उल्ले-

× यह गंगराजा 'दुर्विनीत' जान पड़ता है। जिसके पूज्यपाद शिक्षागुरु थे।

‡ देहलीके नये मन्दिरमें 'काशिका-न्यास'की जो हस्तलिखित प्रति है उसमें उसके कर्ता 'जैनेन्द्रबुद्धि' के नामके साथ 'बोधिसत्वदेशीयाचार्य' नामकी कोई उपाधि लगी हुई नहीं है—ग्रन्थकी संधियोंमें "इत्याचार्यस्थविरजिनेन्द्रबुद्ध्युपरचितायां न्यास— (तथा 'काशिकाविवरणन्यास') पंचिकायां" इत्यादि रूपसे उल्लेख पाया जाता है।

खित किया है † ।

इष्टोपदेश आदि दूसरे ग्रन्थ

इन सब ग्रंथोंके अतिरिक्त पूज्यपादने और कितने तथा किन किन ग्रंथोंकी रचना की है इसका अनुमान लगाना कठिन है—'इष्टोपदेश' और 'सिद्धभक्ति' ÷ जैसे प्रकरण ग्रंथ तो शिलालेखों आदिमें स्थान पाये बिना ही अपने अस्तित्व एवं महत्वको स्वतः ख्यापित कर रहे हैं। 'इष्टोपदेश' ५१ पद्योंका एक छोटासा यथा नाम तथा गुणसे युक्त सुंदर आध्यात्मिक ग्रंथ है और वह पं० आशाधरजीकी संस्कृतटीका सहित माणिकचंद्र ग्रंथमाला-में प्रकाशित भी हो चुका है । 'सिद्धिभक्ति' ९ पद्योंका एक बड़ा ही महत्वपूर्ण 'गम्भीरार्थक' प्रकरण है । इसमें सूत्ररूपसे सिद्धिका, सिद्धिके मार्गका सिद्धिको प्राप्त होनेवाले आत्माका आत्मविषयक जैन सिद्धांतका, सिद्धिके क्रमका, सिद्धिको प्राप्त हुए सिद्धियोंका और सिद्धियोंके सुखादिका अच्छा स्वरूप बतलाया गया है । 'सिद्धिसोपान'‡ में यह अपने विकासके साथ प्रकाशित हुआ है ।

हाँ, लुप्तप्राय ग्रन्थोंमें छंद और काव्यशास्त्र-विषयक आपके दो ग्रंथोंका पता और भी श्रवणबेल्गोलके शिला-लेख नं० ४० के निम्न वाक्यसे चलता है :—

"जैनेन्द्रं निजशब्दभागमतुलं सर्वार्थसिद्धिः परा
सिद्धान्ते निपुणत्वमुद्घकविता जैनाभिषेकः स्वकः ।
छन्दः सूक्ष्मधियं समाधिशतकं स्वास्थ्यं यदीयं विदा-
माख्यातीह स पूज्यपादमुनिपः पूज्यो मुनीनां गणैः ॥४॥"

इस वाक्यमें, ऊँचे दर्जेकी कुछ रचनाओंका उल्लेख करते हुए, बड़े ही अच्छे ढँगसे यह प्रतिपादित किया है कि 'जिनका "जैनेन्द्र" शब्द शास्त्रमें अपने अतुलित भागको, 'सर्वार्थसिद्धि' (तत्त्वार्थटीका) सिद्धांतमें परम निपुणताको, 'जैनाभिषेक' ऊँचे दर्जेकी कविताको, 'छन्दःशास्त्र' बुद्धिकी सूक्ष्मता (रचनाचातुर्य) को और 'समाधिशतक' जिनकी स्वात्मस्थिति (स्थितप्रज्ञता) को संसारमें विद्वानों पर प्रगट करता है वे 'पूज्यपाद' मुनीन्द्र मुनियोंके गणोंसे पूजनीय हैं ।

'एकान्तखण्डन'ग्रंथमें लक्ष्मीधरने, पूज्यपाद स्वामी-का षड्दर्शनरहस्य-संवेदन-सम्पादित-निस्सीमपाण्डित्य-मण्डिताः' विशेषणके साथ स्मरण करते हुए, उनके विषयमें एक खास प्रसिद्धिका उल्लेख किया है—अर्थात् यह प्रकट किया है कि उन्होंने नित्यादि सर्वथा एकान्त पक्षकी सिद्धिमें प्रयुक्त हुए साधनोंको दूषित करनेके लिये उन्हें 'विरुद्ध' हेत्वाभास बतलाया है; जब कि सिद्धसेना-चार्यने 'असिद्ध' हेत्वाभास प्रतिपादन करनेमें ही संतोष धारण किया है और स्वामी समन्तभद्रने 'असिद्ध-विरुद्ध'

---

† देखो 'कुर्गइन्स्क्रिप्शन्स' भू० ३; 'मैसूर ऐण्ड कुर्ग' जिल्द १, पृ०३७३; 'कर्णाटकभाषाभूषणम्' भू० पृ० १२; 'हिस्टरी आफ कनडीज़ लिटरेचर' पृ० २५ और 'कर्णाटककविचरिते' ।

÷ *सिद्धभक्तिके साथ श्रुतभक्ति, चरित्रभक्ति, योगभक्ति, आचार्यभक्ति, निर्वाणभक्ति, तथा नन्दी-श्वरभक्ति, नामके संस्कृत प्रकरण भी पूज्यपादके प्रसिद्ध हैं । क्रियाकलापके टीकाकार प्रभाचन्द्रने अपनी सिद्धभक्ति टीकामें "संस्कृताः सर्वा भक्तयः पूज्यपादस्वामिकृताः प्राकृतास्तु कुंदकुंदाचार्यकृताः" इस वाक्यके द्वारा उन्हें पूज्यपाद-कृत बतलाया है । ये सब भक्ति पाठ 'दशभक्ति' आदिमें मुद्रित होकर प्रकाशित हो चुके हैं ।*

‡ *प्रस्तावना-लेखक-द्वारा लिखी हुई यह ४८ पृष्ठकी 'सिद्धिसोपान' पुस्तक वीरसेवामन्दिर,सरसावा-से बिना मूल्य मिलती है ।*

दोनों ही रूपसे उन्हें दूषित किया है। साथ ही, इसकी पुष्टिमें निम्न वाक्य 'तदुक्तं' रूपसे दिया है :—

असिद्धं सिद्धसेनस्य विरुद्धं देवनन्दिनः।
द्वयं समन्तभद्रस्य सर्वथैकान्तसाधनमिति ॥

एकांत साधनाको दूषित करनेमें तीन विद्वानोंकी प्रसिद्धिका यह श्लोक सिद्धिविनिश्चय-टीका और न्याय-विनिश्चय-विवरणमें निम्न प्रकारसे पाया जाता है :—

असिद्धः सिद्धसेनस्य विरुद्धो देवनन्दिनः।
द्वेधा समंतभद्रस्य हेतुरेकांतसाधने ॥

न्यायविनिश्चय-विवरणमें वादिराजने इसे 'तदुक्तं' पदके साथ दिया है और सिद्धिविनिश्चय-टीकामें अनन्त-वीर्य आचार्यने इस श्लोकको एकबार पाँचवें प्रस्तावमें "यद्वद्यत्यसिद्धः सिद्धसेनस्य" इत्यादि रूपसे उद्धृत किया है, फिर छठे प्रस्तावमें इसे पुनः पूरा दिया है और वहाँ पर इसके पदोंकी व्याख्या भी की है। इससे यह श्लोक अकलंकदेवके सिद्धिविनिश्चय ग्रंथके 'हेतुलक्षणसिद्धि' नामक छठे प्रस्तावका है। जब अकलंकदेव जैसे प्राचीन—विक्रमकी सातवीं शताब्दीके—महान् आचार्यों तकने पूज्यपादकी ऐसी प्रसिद्धिका उल्लेख किया है तब यह बिल्कुल स्पष्ट है कि पूज्यपाद एक बहुत बड़े तार्किक विद्वान् ही नहीं थे बल्कि उन्होंने स्वतंत्ररूपसे किसी न्यायशास्त्रकी रचना भी की है, जिसमें नित्यादि-एकान्तवादोंको दूषित ठहराया गया है और जो इस समय अनुपलब्ध है अथवा जिसे हम अपने प्रमाद एवं अनोखी श्रुतभक्तिके वश खो चुके हैं !

सारसंग्रह

श्रीधवलसिद्धान्तके एक उल्लेखसे यह भी पता चलता है कि पूज्यपादने 'सारसंग्रह' नामका भी कोई ग्रंथ रचा है, जो नय-प्रमाण-जैसे कथनोंको भी लिये हुए है। आश्चर्य नहीं जो उनके इसी ग्रंथमें न्याय-शास्त्रका विशद विवेचन हो और उसके द्वारा नित्यादि-एकान्तवादियोंको दूषित ठहराया गया हो। नयके लक्षणको लिये हुए वह उल्लेख इस प्रकार है:—

"तथा सारसंग्रहेऽप्युक्तं पूज्यपादैरनन्तपर्यात्मकस्य वस्तुनोऽन्यतमपर्यायाधिगमे कर्त्तव्ये जात्यहेत्वपेक्षो निरवद्यप्रयोगोनय इति।"

—'वेदना' खण्ड ४

ऊपरके सब अवतरणों एवं उपलब्ध ग्रंथोंपरसे पूज्यपादस्वामीकी चतुर्मुखी प्रतिभाका स्पष्ट पता चलता है और इस विषयमें कोई संदेह नहीं रहता कि आपने उस समयके प्रायः सभी महत्वके विषयोंमें ग्रन्थोंकी रचना की है। आप असाधारण विद्वत्ताके धनी थे, सेवा-परायणोंमें अग्रगण्य थे, महान् दार्शनिक थे, अद्वितीय वैयाकरण थे, अपूर्व वैद्य थे, धुरंधर कवि थे, बहुत बड़े तपस्वी थे, सातिशय योगी थे और पूज्य महात्मा थे। इसीसे कर्णाटकके प्रायः सभी प्राचीन कवियोंने—ईसा की ८ वीं, ९वीं, १०वीं शताब्दियोंके विद्वानोंने—अपने ग्रंथोंमें बड़ी श्रद्धा-भक्तिके साथ आपका स्मरण किया है और आपकी मुक्तकंठसे खूब प्रशंसा की है।

जीवन-घटनाएँ

आपके जीवनकी अनेक घटनाएँ हैं—जैसे, १ विदेहगमन, २ घोर तपश्चर्यादिके कारण आँखोंकी ज्योतिका नष्ट हो जाना तथा 'शान्त्यष्टक'*के एकनिष्ठा एवं एकाग्रता-पूर्वक पाठसे उसकी पुनः सम्प्राप्ति, ३ देवताओंसे चरणोंका

** यह शान्त्यष्टक 'न स्नेहाच्छरणं प्रयान्ति भगवन्' इत्यादि पद्यसे प्रारम्भ होता है और 'दश-भक्ति' आदिके साथ प्रकाशित भी हो चुका है। इसके अन्तिम आठवें पद्यमें 'मम भक्तिकस्यचविभो ! दृष्टिप्रसन्नांकुरु' ऐसा द्व्यर्थक वाक्य भी पाया जाता है, जो दृष्टि प्रसन्नताकी प्रार्थनाको लिये हुए है।*

पूजा जाना, ४ औषधि-ऋद्धिकी उपलब्धि, ५ और पादस्पृष्ट जलके प्रभावसे लोहेका सुवर्णमें परिणत हो जाना (अथवा उस लोहेसे सुवर्णका विशेष लाभ प्राप्त होना)। इनपर विशेष विचार करने तथा ऐतिहासिक प्रकाश डालनेका इस समय अवसर नहीं है। ये सब विशेष ऊहापोहके लिये यथेष्ट समय और सामग्रीकी अपेक्षा रखती हैं। परन्तु इनमें असंभवता कुछ भी नहीं है—महायोगियोंके लिये ये सब कुछ शक्य हैं। जबतक कोई स्पष्ट बाधक प्रमाण उपस्थित न हो तब तक *'सर्वत्र बाधकाभावाद्वस्तुव्यवस्थितिः'* की नीतिके अनुसार इन्हें माना जासकता है।

पितृकुल और गुरुकुल

पितृकुल और गुरुकुलके विचारको भी इस समय छोड़ा जाता है। हाँ, इतना ज़रूर कह देना होगा कि आप मूलसंघान्तर्गत नन्दिसंघके प्रधान आचार्य थे, स्वामी समन्तभद्रके बाद हुए हैं—श्रवणबेल्गोलके शिलालेखों (नं० ४०, १०८) में समन्तभद्रके उल्लेखानन्तर *'ततः'* पद देकर आपका उल्लेख किया गया है और स्वयं पूज्यपादने भी अपने 'जैनेन्द्र' में *'चतुष्टयं समन्तभद्रस्य'* इस सूत्र (५-४-१६८) के द्वारा समन्तभद्रके मतका उल्लेख किया है। इससे आपका समन्तभद्रके बाद होना सुनिश्चित है। आपके एक शिष्य वज्रनन्दीने विक्रम सं० ५२६ में द्राविड़संघकी स्थापना की थी, जिसका उल्लेख देवसेनके 'दर्शनसार' ग्रंथमें पाया जाता है ×। आप कर्णाटक देशके निवासी थे। कन्नड भाषामें लिखे हुए 'पूज्यपादचरिते' तथा 'राजावलीकथे' नामक ग्रंथोंमें आपके पिताका नाम 'माधवभट्ट' तथा माताका 'श्रीदेवी' दिया है और आपको ब्राह्मणकुलोद्भव लिखा है। इसके सिवाय, प्रसिद्ध व्याकरणकार 'पाणिनि' ऋषिको आपका मातुल (मामा) भी बतलाया है, जो समयादिककी दृष्टिसे विश्वास किये जानेके योग्य नहीं है*।

× जैसा कि दर्शनसारकी निम्न दो गाथाओंसे प्रकट है:—

सिरिपुज्जपादसीसो दाविडसंघस्स कारगो दुट्ठो।
णामेण वज्जणंदी पाहुडवेदी महासत्तो ॥ २४ ॥
पंचसए छव्वीसे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।
दक्खिण महुराजादो दाविडसंघो महामोहो ॥२८॥

** यह लेख वीरसेवामन्दिर-ग्रन्थमालामें संस्कृत-हिन्दी-टीकाओंके साथ मुद्रित और शीघ्र प्रकाशित होनेवाले 'समाधितन्त्र' ग्रन्थकी 'प्रस्तावना' का प्रथम अंश है। द्वितीय अंश अगली किरणमें प्रकट किया जायगा। —सम्पादक*

चहक

[—'भगवत्' जैन]

आज सुखके गीत गा लो!
प्रेम की दीपावली में,
मुग्ध होकर जगमगालो !!
आज सुखके गीत गा लो !!
सुर-धनुषकी रम्यता यह—?
एक-क्षणमें जायेगी ढह !
फिर निशाकी श्याम-आभा—
जाग जायेगी भयावह !!
गा उठेंगे प्राण नत हो—
हे प्रभाकर ! ज्योति डालो !
आज सुखके गीत गा लो !!
सजल-सौदामिनि-सहित-घन—?
जो रहा है विश्व पर तन !
एक-पलमें भग्न होकर—
जायेगा जल-बूंद वह बन !
करुण-स्वरमें तब कहेगा—
हे अवनि ! मुझको छिपालो !
आज सुखके गीत गा लो !!

भाग्य और पुरुषार्थ

[तक़दीर और तदबीर]

[लेखक श्री० बाबू सूरजभानु वकील]

(क्रमागत)

निमित्त कारण कर्मोंको कैसा नाच नचाता है और क्या-से-क्या कर डालता है, यह बात अकालमृत्युके कथनसे बहुत अच्छी तरह समझमें आसकती है। कुंद-कुंद स्वामीने भाव पाहुडकी गाथा नं० २५, २६ में अकाल-मृत्युका कथन इस प्रकार किया है—हे जीव! मनुष्य और तिर्यंच पर्यायमें तूने अनेकबार अकाल मृत्युके द्वारा महादुख उठाया है, विषके खानेसे वा विषैले जानवरों-के काटे जानेसे, किसी असह्य दुखके आपड़नेसे, अधिक खून निकल जानेसे, किसी भारी भयसे, हथियारके घातसे, महा संक्लेशरूप परिणामोंके होनेसे—अर्थात् अधिक शोक माननेसे वा अधिक क्रोध करनेसे—आहार न मिलनेसे, सांसके रुकनेसे, बरफ़में गलजानेसे, आगमें जलजानेसे, पानीमें डूबजानेसे, पर्वत, वृक्ष वा अन्य किसी ऊँचे स्थानसे गिरपड़नेसे, शरीरमें चोट लगनेसे, अन्य भी अनेक कारणोंसे अकाल मृत्यु होती रही है। इसीप्रकार गोमट्टसार कर्मकांडकी निम्न गाथा ५७में भी विष, रक्त-क्षय, भय, शस्त्रघात, महावेदना, सांस-रुकना, आहार न मिलना आदि कारणोंसे बँधी आयु-का छीजना अर्थात् समयसे पहले ही मरण होजाना लिखा है।

विसवेयणरत्तक्खयभयसत्थग्गहणसंकिलेसेहिं।
उस्सासाहाराणं णिरोहदो छिज्जदे आऊ ॥५७॥

तत्त्वार्थसूत्र अध्याय २ सूत्र ५३ का भाष्य करते हुए श्री अकलंकस्वामीने राजवार्तिकमें और श्रीविद्या-नन्दस्वामीने श्लोकवार्तिकमें मरणकालसे पहले मृत्यु-का हो जाना सिद्ध किया है और लिखा है कि अकाल-मृत्युके रोकनेके वास्ते आयुर्वेदमें रसायन आदिक वर्तना लिखा है जिससे भी अकाल मृत्यु सिद्ध है। इस ही प्रकार अन्य शारीरिक रोगोंके दूर करनेके वास्ते भी औषधि आदिक बाह्य निमित्त कारणोंका जुटाना ज़रूरी बताया है। भगवती आराधनासार गाथा ८२३ का अर्थ करते हुए पंडित सदासुखजीने अकाल-मृत्युका वर्णन इस प्रकार किया है—

"कितनेक लोग ऐसे कहे हैं, आयुका स्थिति-बंध किया सो नहीं छिदे है, तिनकूं उत्तर कहे हैं—जो आयु नहीं ही छिदता तो विष भक्षण तैं कौन पराङ्-मुख होता अर उखाल (कै कराना) विष पर किस वास्ते देते, अर शस्त्रका घाततैं भय कौन वास्ते करते अर सर्प, हस्ती, सिंह, दुष्ट मनुष्यादिकनको दूरहीतैं कैसे परिहार करते; अर नदी समुद्र कूप वापिका तथा अग्निकी ज्वालामें पतन तैं कौन भयभीत होता। जो आयु पूर्ण हुआ बिना मरण ही नहीं तो रोगादिकका इलाज काहेकूं करते, तातैं यह निश्चय जानहूँ—जो आयुका घातका बाह्य निमित्त मिल जाय तो तत्काल आयुका घात

होय ही जाय, इमें संशय नहीं है, बहुर आयुकर्मकी नाईं अन्यकर्म भी जो बाह्यनिमित्त परिपूर्ण मिल जाय तो उदय हो ही जाय, नीम-भक्षण करेगा ताके तत्काल असाता वेदनीय उदय आवे है, मिश्री इत्यादिक इष्ट वस्तु-भक्षण करे ताके सातावेदनीय उदय आवे ही है तथा वस्त्रादिक आड़े आजाय चक्षुद्वारे मतिज्ञान रुक जाय, कर्णमें डाटा देवें तो कर्ण द्वारे मतिज्ञान रुक जाय, ऐसे ही अन्य इन्द्रियनके द्वारे ज्ञान रुके ही है;नशा आदिक द्रव्यतें श्रुतज्ञान रुक जाय है, भैंसकी दही लस्सन आदिक द्रव्यके भक्षण तें निद्राकी तीव्रता होय ही है, कुदेव, कुधर्म, कुशास्त्रकी उपासना तें मिथ्यात्वकर्मका उदय आवे ही है, कषायणके कारण मिले कषायणकी उदीर्णा होवे ही है, पुरुषका शरीरकूं तथा स्त्रीका शरीर कूं स्पर्शनादिक कर वेदकी उदीर्णतें कामकी वेदना प्रज्वलित होय ही है, अरति कर्मकूं इष्टवियोग, शोककर्म-कूं सुपुत्रादिकका मरण, इत्यादिक कर्मकी उदय उदी-र्णादिककूं करे ही है । तातें ऐसा तात्पर्य जानना, इस जीवके अनादिका कर्म-संतान चला आवे है, अर समय समय नवीन नवीन बन्ध होय है, समय समय पुरातन कर्म रस देय देय निर्जरे हैं, सो जैसा बाह्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, मिल जाय तैसा उदयमें आजाय, तथा उदीर्णा होय उत्कटरस देवे । अर जो कोऊ या कहै, कर्म करैगा सो होयगा, तो कर्म तो या जीवके सर्व ही पाप पुण्य सत्तामें मौजूद विषैं हैं, जैसा जैसा बाह्य निमित्त प्रबल मिलेगा, तैसा तैसा उदय आवेगा, और जो बाह्य निमित्त कर्मके उदयको कारण नाहीं, तो दीक्षा लेना, शिक्षा देना तपश्चरण करना सत्संगति करना, वाणिज्य व्यवहार करना, राजसेवादि करना, खेती करना, औषधि सेवन करना, इत्यादिक सर्व व्यवहारका लोप हो जाय, तातें ऐसी भावनाकूं परमागमतें निश्चय करना, जो आयु कर्मका परमाणु तो साठ वर्ष पर्यंत समय समय आबाजोग्य निषेकनिमें बांटाने प्राप्त भया होय अर बीचमें बीस बरसकी अवस्था ही में जो विष शस्त्रादिकका निमित्त मिल जाय तो चालीस बरस पर्यंत जो कर्मका निषेक समय समय निर्जरता सो अन्तर्मुहूर्तमें उदीर्णा नैं प्राप्त होय इकट्ठा नाशनैं प्राप्त होय, सो अकाल मरण है ।"

भावार्थ इस कथनका यह है कि जिस प्रकार किसी अंगीठीमें जलते हुए कोयले भर दिये जावें तो साधारण रीतिसे मन्द-मन्द तौर पर जलते हुए वे कोयले एक घंटे तक जलते रहेंगे, कोयलोंके थोड़े थोड़े कण हरदम जल जल कर राख होते रहेंगे और एक घंटेमें सब ही जलकर खतम हो जायेंगे, परन्तु अगर तेज हवा चलने लगे या कोई ज़ोर ज़ोरसे पंखा झलने लगे, फूंक मारने लगे या उन कोयलोंपर मिट्टीका तेल डाल दे तो वे कोयले एकदम भड़क उठेंगे और दस पांच मिनटमें ही जलकर राख हो जायेंगे । उसही प्रकार हर एक कर्मका भी बँधा हुआ समय होता है, उस बँधे हुए समय तक वह कर्म साधारण रीतिसे मन्द मन्द गतिसे अपना असर दिखाता हुआ हरदम कण कण नाश होता रहता है । समय पूरा होने तक वह सब खतम हो जाता है, इस ही को कर्मोंका उदय होना, झड़जाना या निर्जरा होते रहना कहते हैं, परन्तु अगर किसी ज़ोरदार निमित्त कारणसे कर्मका वह हिस्सा भी जो देरमें उदय होता जल्दी उदयमें आजाय तो उसे उदीर्णा कहते हैं । दृष्टांत रूपसे किसीकी आयु साठ बरसकी है लेकिन बीस बरसकी ही अवस्थामें उसको सांपने काट खाया या किसीने तलवारसे सिर काट दिया, जिससे वह मर गया तो यह समझना चाहिये कि उसकी बाक़ी बची हुई चालीस बरसकी आयुकी उदीर्णा हो गई, ऐसे ही

अन्य भी कर्मोंकी उदीर्णा निमित्त कारणोंके मिलनेसे होती रहती है।

अकालमृत्युके इस कथनसे यह तो ज़ाहिर ही है कि जिस जीवकी आयु ६० वर्ष की थी, उसको उसके आयुकर्मने ही २० वर्षकी उमरमें नहीं मार डाला है, अर्थात् उसके आयुकर्मने ही ऐसा कारण नहीं मिलाया है, जिससे वह २० वर्षकी ही आयुमें मर जाय। आयुकर्मका ज़ोर चलता तो वह तो उसको ६० वर्ष तक ज़िन्दा रखता; परन्तु निमित्त कारणके मुक़ाबिलेमें आयु-कर्मकी कुछ न चल सकी, तब ही तो ४० वर्ष पहले ही उसकी मृत्यु हो गई। जब आयु जैसे महा-प्रबल कर्मका यह हाल है तब अन्य कर्मोंकी तो मजाल ही क्या है,जो निमित्त कारणोंका मुकाबिला कर सकें—उनको अपना कार्यकरनेसे रोक सकें—तब ही तो कोई जबरदस्त आदमी किसीको जानसे मार सकता है, लाठी जूते थप्पड़से भी पीट सकता है, उसका रहनेका मकान भी छीन सकता है, धन सम्पत्ति भी लूट सकता है, उसकी स्त्री-पुत्रको भी उठाकर ले जा सकता है, चोरी भी कर सकता है, अन्य भी अनेक प्रकारके उपद्रव मचा सकता है, कर्मोंमें यह शक्ति नहीं है कि इन उपद्रवोंको रोक दें। कर्मोंमें यह शक्ति होती तो संसारमें ऐसे उपद्रव ही क्यों होने पाते? परन्तु संसारमें तो बड़ा हाहाकार मचा हुआ है, जीव जीवको खारहा है, सब ही जीव एक दूसरेसे भय-भीत होकर अपनी जान बचाते फिर रहे हैं, चूहे बिल्ली-से डरकर इधर-उधर छिपते फिरते हैं, बिल्ली कुत्तेसे डर कर दुबकती फिरती है, मक्खियोंको फँसानेके लिये मकड़ीने अलग जाल फैला रक्खा है, चोर डाकू अलग ताक लगा रहे हैं, दूकानदार ग्राहकको लूटनेकी धुनमें है और ग्राहक दूकानदारको ही ठगनेकी फ़िकरमें है, धोका फरेब जालसाज़ीका बाज़ार गरम हो रहा है, एकको एक हड़प करना चाह रहा है। इसीसे अपने अपने कर्मोंके भरोसे न रह कर सब कोई पूरी पूरी सावधानीके साथ अपने अपने जान मालकी रक्षाका प्रबन्ध करता है, चौकी-पहरा लगाता है, अड़ौसी पड़ौसी और नगर-निवासियोंका गुट्ट मिलाकर हर कोई एक दूसरेकी रक्षा करनेके लिये तैय्यार रहता है, रक्षाके वास्ते ही राज्यका प्रबन्ध किया जाता है, और बड़ा भारी कर राज्यको दिया जाता है।

ऊपरके शास्त्रीय कथनसे यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि बुरे वा भले किसी भी प्रकारके निमित्त मिलानेका दुख वा सुखकी सामग्री जुटानेका काम कर्मोंका नहीं है; तब ही तो प्रत्येक मनुष्य कर्मोंके भरोसे न बैठकर अपने सुखकी सामग्री जुटानेके वास्ते रात्रिदिन पुरुषार्थ करता है, खेती, सिपाहीगीरी, कारीगरी, दस्तकारी, दुकानदारी, मिहनत-मज़दूरी, नौकरी-चाकरी आदि सब ही प्रकारके धंधोंमें लगा रह कर ख़ून पसीना एक करता रहता है, यहाँ तक कि अपने आरामको भी भुला देना पड़ता है और तब ही ज्यों त्यों करके अपनी जीवन यात्रा पूरी करनेके योग्य होता है। जो मनुष्य पुरुषार्थ नहीं करता है, कर्मोंके ही भरोसे पड़ा रहता है वह नालायक़ समझा जाता है और तिरस्कारकी दृष्टिसे देखा जाताहै।

ऊपरके शास्त्रीय कथनमें साफ़ लिखा है कि किसी-ने नीमके कड़वे पत्ते चबाये, जिससे उसका मुँह कड़वा होगया तो उसके असातावेदनीय कर्मने उदय हो कर उसका जी बुरा कर दिया अर्थात् उसको दुखका अनु-भव करादिया और जब उसने मिठाई खाई, जिससे उसका मुँह मिठा हो गया, तो सातावेदनीय कर्मने उदय होकर उसका जी खुश कर दिया, उसको सुखका अनु-भव करा दिया। भावार्थ—कड़वी मीठी वस्तुका जुटाना कर्मोंका काम नहीं है, यह काम तो मनुष्यके स्वयं पुरु-

षार्थके द्वारा वा दूसरोंके द्वारा मिलाये हुए निमित्तका ही है। कर्मका काम तो एकमात्र इतना ही है कि जैसा निमित्त मिले उसके अनुसार जीवको सुखी वा दुखी करदे।

इस एक ही संसारमें अनन्ते जीवों और अनन्ते पुद्गल पदार्थोंका निवास है और वे सब अपना अपना काम करते रहते हैं, जिससे आपसमें उनकी मुठभेड़ होती रहती है—रेल व सरायके मुसाफिरोंकी तरह संयोग-वियोग होता ही रहता है। एकका कर्म किसी दूसरेको खींच नहीं लाता और न खींच कर ला ही सकता है।

कर्मोंका काम तो जीवमें एक प्रकारका बिगाड़ वा रोग पैदा करते रहना ही है। रोगीको जब रोगके कारण जाड़ा लगता है तो ठंडी हवा बुरी लगती है, परन्तु उसका रोग उसको दुख देनेके वास्ते ठंडी हवा नहीं चलाता न ठंडीहवा चलानेकी रोगमें सामर्थ्य ही होती है, रोगका तो सिर्फ इतना ही काम है कि ठंडी हवा लगे तो रोगीको दुख हो, फिर जब रोगीको तेज़ बुखार चढ़ जाता है तो ठंडी हवा अच्छी और गर्म हवा बुरी लगने लगती है, तब भी उसके रोगमें यह सामर्थ्य नहीं होती है कि उसको दुख देनेके वास्ते गर्म हवा चलादे। इसी प्रकार कर्म भी जीवको सुख-दुख पहुँचानेके वास्ते संसारके जीवों तथा पुद्गल पदार्थोंको खींचकर उसके पास नहीं लाते है, उनका तो इतना ही काम है कि उसके अन्दर ऐसा भाव पैदा करदें जिससे वह किसी चीज़के मिलनेसे सुख मानने लगे और किसीसे दुख।

कफ़के रोगीको मिठाई खानेकी बहुत ही प्रबल इच्छा होती है, मिठाई खानेमें सुख मानता है और खटाईसे दुख। पित्तका रोगी खटाईसे खुश होता है और मिठाईसे दुखी। परन्तु रोगीके रोगका यह काम नहीं है कि वह उसको सुखी वा दुखी करनेको कहींसे मिठाई या खटाई लाकर उसे खिलादे। इसी प्रकार कर्म भी जीवोंमें तरह तरहकी विषय और कषाय पैदा करते रहते हैं; परन्तु उनका यह काम नहीं है कि जीवमें जैसी विषय या कषाय पैदा की उसके अनुकूल या प्रतिकूल वस्तुएँ भी इधर उधरसे खींचकर उसको लादें।

क्या बिल्लीको भूख लगने पर उसके ही शुभ कर्म चूहोंको बिलमेंसे बाहर निकाल कर फिराने लगते हैं, जिससे बिल्ली आसानीसे पकड़ कर खाले या चूहेके खोटे कर्म ही बिल्लीको पकड़ कर लाते हैं, जिससे वह चूहोंको मार डाले? यदि पिछली बात ठीक है तो जब कोई मनुष्य किसी दूसरे मनुष्यको मार डालता है तो मारनेवाला क्यों पकड़ा जाता है और क्यों अपराधी ठहराया जाता है? उसको तो मरनेवालेके खोटे कर्मोंने ही मरनेके वास्ते मजबूर किया था, तब उस बेचारेका क्या कुसूर? परन्तु ऐसा माननेसे तो संसारका सब ही व्यवहार गड़बड़में पड़ जाता है और राज्यका भी कोई प्रबन्ध नहीं रहता है। ऐसी हालतमें हिंसक, शिकारी, चोर, डाकू, लुटेरा, धोकेबाज़ ज़ालिम, जार, जालसाज़, बदमाश, आदि कोई भी अपराधी नहीं ठहरता है। जो जुल्म किसी पर हुआ है वह सब जब उस ही के कर्मोंसे हुआ—खुद उसीके कर्म चोर डाकू व अन्य किसी ज़ालिमको जुल्म करनेके वास्ते खींचकर लाते हैं, तब जुल्म करने वालेका क्या क़ुसूर? वह क्यों पकड़ा जावे और क्यों सज़ा पावे?

इस प्रकार यह बात किसी तरह भी नहीं मानी जा सकती है कि भला-बुरा जो कुछ भी होता है वह सब अपने ही कर्मोंसे होता है, अपने कर्म उसके निमित्त-कारण बनते हैं अथवा निमित्त कारणोंको जुटाते हैं। कर्म जब हमारे ही किये हुये हैं तब उनका बस भी हम पर ही चलना चाहिये, दूसरों पर उनका बस कैसे चल

सकता है। कोई पैदा होता है तो अपने कर्मोंसे, मरता है तो अपने कर्मोंसे, दूसरोंके शुभकर्म न किसीको खींच लाकर उसके यहाँ पैदा करा सकते हैं और न दूसरोंके अशुभ कर्म किसीको मारकर उससे वियोग ही करा सकते हैं। संयोग-वियोग तो सरायके मुसाफ़िरोंके मेलके समान एक ही संसारमें रहनेके कारण आपसे आप ही होता रहता है और यह ही संयोग वियोग अच्छा बुरा निमित्त बन जाता है। अच्छे अच्छे निमित्तोंके मिलनेसे जीवका उद्धार हो जाता है, जैसे कि सद्गुरुओंके उपदेशसे व सत्शास्त्रोंके पढ़नेसे जीवका अनादि कालीन मिथ्यात्व छूटकर सम्यक् श्रद्धानकी प्राप्ति हो जाती है; वीतराग भगवान्की वीतराग मुद्राको देखकर वीतराग भगवान्के गुणोंको याद करनेसे, गुणगानरूप स्तुति करनेसे और वीतरागताका उपदेश सुननेसे सम्यक्-चारित्र धारण करनेका उत्साह पैदा होता है, जिससे सत्पथ पर लग कर जीव अपना कल्याण कर लेता है—सदाके लिये दुखोंसे छूट जाता है। खोटे निमित्तोंके मिलनेसे जीव विषय-कषायोंमें फँसकर अपना सत्यानाश कर लेता है, कर्मोंकी कड़ी जँजीरोंमें बन्धकर नरक और तिर्यञ्चगतिके दुख उठाता है।

अनादि कालसे ही विषय-कषायोंमें फँसा हुआ यह जीव विषय-कषयोंका अभ्यासी हो रहा है, इस ही कारण विषय-कषायोंको भड़काने वाले निमित्तोंका असर उस पर बहुत जल्द होता है, विषय-कषायकी बातोंके ग्रहण करनेके लिये वह हर वक्त तैय्यार रहता है। इसके विपरीत विषय-कषायोंको रोकने, दबाने, काबूमें रखने अथवा सर्वथा छोड़ देनेकी बात उसको बिल्कुल ही अनोखी मालूम होती हैं और इसीसे यह बहुत ही कठिनताके साथ हृदयमें बैठती है। ऐसी हालतमें बड़ी भारी सावधानीके साथ खोटे निमित्तोंसे बचते रहनेकी, उनको अपने पास तक भी न आने देनेकी और पूरी कोशिशके साथ उत्तम उत्तम निमित्तोंको मिलाते रहनेकी बहुत ही ज़्यादा ज़रूरत है। खोटे निमित्त जीवके उतने ही वैरी नहीं जितने कि खोटे कर्म; बल्कि उनसे भी अधिक शत्रु हैं; क्योंकि ये खोटे निमित्त ही तो सोती कषायोंको जगा कर जीवसे महा खोटे कर्म कराते हैं और उसका सत्यानाश कर डालते हैं। इस ही कारण शास्त्रोंमें महामुनियों तकको भी खोटे निमित्तोंसे बचते रहनेको भारी ताक़ीद की गई है, जिसके कुछ नमूने इस प्रकार हैं:—

भगवती आराधनासारके नमूने—

गाथा १०६४—एकान्तमें माता, पुत्री, बहनको देखकर भी काम भड़क उठता है। गाथा १२०६—जैसे कोई समुद्रमें घुसे और भीगे नहीं तो बड़ा आश्चर्य है,ऐसे ही यदि कोई विषयोंके स्थानमें रहे और लिप्त न हो तो आश्चर्य ही है।

गाथा ३३५—हे मुनि अग्नि समान और विषसमान जो आर्यिकाओंका संग है उसको त्याग।

गाथा ३३८—यदि अपनी बुद्धि स्थिर भी हो,तो भी आर्यिकाकी संगतिसे इसप्रकार चित्त पिघल जाता है जैसे अग्निसे घी।

गाथा १०८६—जैसे किसीको शराब पीता देखकर वा शराबकी बातें सुनकर शराबीको शराब पीनेकी भड़क उत्पन्न हो जाती है, उसही प्रकार मोही पुरुष विषयोंको देखकर वा उनकी बात सुनकर विषयोंकी अभिलाषा करने लग जाता है।

मूलाचारके नमूने

गाथा ६५४—संगतिसे ही सम्यक्त्व आदिकी शुद्धि बढ़ती है और संगतिसे ही नष्ट होती है, जैसे कि कमलकी संगतिसे पानी सुगंधित हो जाता है, और अग्निकी संगतिसे गरम।

गाथा ६६०—काठकी बनी हुई स्त्रीसे भी डरना चाहिये, क्योंकि निमित्त कारणके मिलनेसे चित्त चलायमान होता है।

निमित्त कारणके मिलनेसे कर्म किस तरह भड़क उठते हैं इसका उल्लेख गोम्मटसारमें संज्ञाओंके वर्णनमें —इस प्रकार मिलता है—

गाथा १३३—जिसके निमित्तसे भारी दुःख प्राप्त हो ऐसी वाँच्छाको संज्ञा कहते हैं। आहार, भय, मैथुन और परिग्रह यह चार संज्ञाएँ हैं।

गाथा १३४—आहारके देखने वा याद करनेसे पेट भरा हुआ न होनेपर असातावेदनी कर्मकी उदय उदीरणा होकर आहारकी इच्छा पैदा होती है।

गाथा १३५—किसी भयंकर पदार्थके देखने वा याद करनेसे शक्तिके कम होनेपर भयकर्मकी उदय उदीरणा होकर भय उत्पन्न होता है।

गाथा १३६—स्वादिष्ट, गरिष्ट, रसयुक्त भोजन करनेसे, कुशील सेवन करने वा याद करनेसे वेद कर्मकी उदय उदीरणा होकर काम-भोगकी इच्छा होती है।

गाथा १३७—पदार्थोंके देखने वा याद करनेसे लोभ कर्मकी उदय-उदीरणा होकर परिग्रहकी इच्छा होती है।

गोम्मटसारके इस कथनका सार यही है कि निमित्त कारणोंके मिलनेसे कर्म उदयमें आजाते हैं। अर्थात् कषाय भड़कानेका अपना कार्य करने लग जाते। यह बात अच्छी तरह समझमें आजानेके लिये हम फिर जलते हुए कोयलोंसे भरी हुई अंगीठीका दृष्टान्त देते हैं। जिस तरह अंगीठीमें भरे हुए कोयले जब तक अच्छी तरह आग नहीं पकड़ लेते हैं तब तक वह अंगीठी पर रखी हुई चीज़को पकाना शुरू नहीं करते हैं, उसी तरह नवीन कर्म भी जबतक पुराने कर्मोंसे घुलमिल नहीं जाते हैं तबतक वे भी फल देना शुरू नहीं करते हैं, घुलने मिलनेमें जो समय लगता है उसको आबाधा काल कहते हैं। इसके बाद क्षणक्षणमें जिस तरह कोयलोंका कुछ कुछ भाग जल-जलकर राख होता रहता है उसी तरह कर्मोंका भी एक-एक भाग क्षण-क्षणमें झड़ता रहता है, इसही को कर्मोंकी निर्जरा होते रहना कहते हैं।

अङ्गीठी पर कोई चीज़ पकनेको रखी हो, तो भी अङ्गीठीके कोयलोंका थोड़ा थोड़ा हिस्सा जल जलकर राख ज़रूर होता रहेगा। इस ही प्रकार कर्मोंको भी अपना भला बुरा फल देनेके वास्ते कोई निमित्ति मिले या न मिले तो भी क्षण क्षणमें उनका एक एक हिस्सा ज़रूर झड़ता रहेगा। फल देने योग्य कोई निमित्त नहीं मिलेगा तो बिना फल दिये ही अर्थात् बिना उदयमें आये ही उस हिस्सेकी निर्जरा होती रहेगी। जिस कर्मकी जो स्थिति बँधी होगी अर्थात् जितने काल तक किसी कर्मके क़ायम रहनेकी मर्यादा होगी उतने काल तक बराबर उस कर्मके एक एक हिस्सेकी निर्जरा क्षण क्षणमें ज़रूर होती रहेगी। परन्तु जिस प्रकार अङ्गीठीमें मिट्टीका तेल पड़ जानेसे वा तेज़ हवाके लगनेसे अङ्गीठीके कोयले एकदम ही भबक उठते हैं, जिससे कोयलोंका बहुत-सा हिस्सा एकदम जलकर राख हो जाता है उसीप्रकार किसी भारी निमित्त कारणके मिलने पर कर्मोंका भी बहुत बड़ा हिस्सा एकदम भड़क उठता है, कर्मोंका जो हिस्सा बहुत देरमें उदयमें आता है, वह भी उसी दम उदयमें आ जाता है। इस ही को उदीरणा कहते हैं।

कर्मोंका कोई हिस्सा बिना फल दिये भी कैसे झड़ता रहता है, इसको समझनेके लिये यह जानना चाहिये कि, साता और असाता अर्थात् सुख देनेवाला

और दुख देनेवाला ये दोनों कर्म एक साथ फल नहीं दे सकते हैं। जिस समय साताका उदय होगा उस समय असाता कर्म बेकार रहेगा और जिस समय असाताका उदय होगा उस समय साता कर्म बेकार रहेगा। परन्तु कर्मोंका एक एक हिस्सा तो क्षण क्षणमें ज़रूर ही झड़ता रहता है, इस कारण सुखका निमित्त मिलने पर जिस समय साता कर्म फल दे रहा होगा उस समय असाताकर्म बिना फल दिये ही झड़ता रहेगा और जब दुखका निमित्त कारण मिलनेपर असाताकर्म फल दे रहा होगा उस समय साताकर्म बिना फल दिये ही झड़ता रहेगा। दोनों कर्म जब एक साथ काम नहीं कर सकते हैं तब एक कर्मको तो ज़रूर बेकार रह कर ही झड़ना पड़ेगा। इसही तरह रति और अरति अर्थात् प्यार और तिरस्कार हास्य और शोक अर्थात् खुशी और रंज दोनों एक साथ फल नहीं दे सकते हैं—एक समय में एक ही कर्म फल देगा और दूसरेको बिना फल दिये ही झड़ना पड़ेगा। निद्रा कर्मको देखिये क़ायदेके बमूजिब उसका भी एक एक हिस्सा क्षण क्षणमें झड़ता रहता है, परन्तु जब तक हम सोते हैं तब तक तो बेशक निंन्द्राकर्म अपना फल देकर ही झड़ता है, लेकिन जितने समय तक हम जागते हैं, उतने समय तक तो निद्रा कर्मको बेकार ही झड़ता रहना पड़ता है। इसही प्रकार अन्य भी अनेक दृष्टांत दिये जा सकते हैं, जिनसे यह स्पष्ट हो जिस समय कर्मको अपना फल देनेका निमित्त मिलता है वह कर्म तो उस समय फल देकर ही खिरता है बाक़ी जिन कर्मोंको निमित्त नहीं मिलता है वे सब बिना फल दिये ही खिरते रहते हैं।

भगवती आराधनासारकी संस्कृत टीकामें श्री अपराजितसूरिने गाथा १७५४के नीचे स्पष्ट शब्दोंमें लिखा है कि 'कर्म उपादान हैं जिनको अपना फल देनेके वास्ते द्रव्य क्षेत्र आदि निमित्त कारणोंकी आवश्यकता होती है। जिस प्रकार आमका बीज मिट्टी पानी और हवा आदिका निमित्त पाकर ही वृक्ष बनता है और फल देता है, बिना निमित्त मिले हमारे बक्समें रक्खा हुआ वैसे ही बोदा होकर निकम्मा हो जाता है। इस ही प्रकार कर्म भी बिना निमित्त मिले कुछ भी फल नहीं दे सकते हैं, यूंही व्यर्थ ही झड़ जाते हैं। इस ही प्रकार गाथा १७२६ के नीचे लिखा है कि जब द्रव्य क्षेत्र, काल आदि मिलते हैं तब ही कर्म अपना फल आत्माको देते हैं।' ऐसा ही गाथा १७४०के नीचे लिखा है। ऐसा ही मूलाराधना टीकामें गाथा १७११ के नीचे लिखा है कि 'द्रव्य' क्षेत्र आदिके आश्रयसे कर्मका योग्यकालमें आत्माको फल मिलना कर्मका उदय होना कहलाता है।

वास्तवमें निमित्त कारण यहाँ बलवान है, इसीसे महामुनि गृहस्थाश्रमको छोड़ आबादीसे दूर जंगलमें चले जाते हैं। गृहस्थियोंकी आबादीमें स्त्री पुरुषोंके समूहमें राग-द्वेष और विषय कषायका ही बाज़ार गरम रहता है, हर तरफ़ उन्हीका खेल देखनेमें आता है और उन्हीं की चर्चा रहती है। ऐसे लोगोंके बीचमें रह कर परिणामोंका शुद्ध रहना—किंचित मात्रभी विचलित न होना—एक प्रकार असम्भव ही है,इसी कारण आत्म-कल्याणके इच्छुक महामुनि विषय कषाय उत्पन्न करने वाले निमित्त कारणोंसे बचनेके वास्ते आबादीसे दूर चले जाते हैं। उनके चले जाने पर आबादी उजड़ नहीं जाती, किन्तु वैसी ही बनी रहती है जैसी कि पहले थी। इससे साफ़ सिद्ध है कि यह आबादी उनके कर्मोंकी बनाई हुई नहीं थी, किन्तु उनके वास्ते निमित्त कारण ज़रूर थी, तब ही वे उसको छोड़ सके। उनके कर्मोंकी बनाई हुई होती तो उनके साथ जाती; क्योंकि जिन कर्मों-ने उनके वास्ते आबादीका सामान बनाया है, वे कर्म

तो अभी उनके नाश नहीं हुए हैं, क्योंकि त्यों मौजूद हैं।

इस ही प्रकार बस्ती छोड़कर जिस बनमें जाकर वे रहते हैं, वहाँ भी शेर, भेड़िया आदिक पशु और डाँस, मच्छर आदि कीड़े-मकौड़े सब पहलेसे ही वास करते हैं और इनके दूसरे बनमें चले जाने पर भी उसी तरह वास करते रहेंगे। बनसे आये हुए इन मुनियोंको परिषह देनेके वास्ते उनके कर्मोंने इनको पैदा नहीं कर दिया है। हाँ! मुनियोंके यहाँ आने पर उनको परिषह पहुँचानेके निमित्त कारण ये ज़रूर बन गये हैं। दिनको कड़ी धूपका पड़ना, रातको ठंडी हवाका चलना, बारिशका बरसना, बरफ़का पड़ना आदि भी जो कुछ अब हो रहा है वही इन मुनियोंके आनेसे पहले भी होता था और जब ये मुनि दूसरे बनको चले जायेंगे तब भी होता रहेगा। इससे स्पष्ट सिद्ध है परिषहका सब सामान भी मुनियोंके कर्मोंने नहीं बनाया है किन्तु उनके यहाँ आने पर निमित्त कारण ज़रूर हो गया है। जो सच्चे मुनि महाराज होते हैं वे इन सब परिषहोंको समभावके साथ सहन करते हैं किंचित मात्र भी दुख अपने मनमें नहीं लाते हैं, न अपने ध्यानसे ही विचलित होते हैं। यदि पापी मनुष्य भी उनको दुख देते हैं, अपमान करते हैं वा अन्य प्रकार पीड़ा पहुँचाते हैं तो भी वे कुछ खयाल नहीं करते हैं, क्रोध और मान आदि कर्मोंको किंचितमात्र भी उभरने नहीं देते हैं' अपने महान पुरुषार्थसे उनको दबाये ही रखते हैं, दबाये ही नहीं, किन्तु सभी प्रकारकी कषायोंको, सारे ही राग-द्वेषको अथवा सारे ही मोहनीय कर्मको जड़-मूलसे नाश करनेके ही यत्नमें लगे रहते हैं। इस ही कारण वे धन्य हैं और पूजने योग्य हैं।

खोटे निमित्तोंसे बचे रहनेके वास्ते मुनि विषय-कषायोंसे भरी हुई बस्तीको छोड़कर जंगलमें ही नहीं चले जाते हैं बल्कि मुनियोंके संघमें रहते हैं, जहाँ ज्ञान वैराग्यके सिवाय अन्य कोई बात ही नहीं होती है। आचार्य महाराज उनकी पूरी निगरानी रख कर उन्हें विचलित होनेसे बचाते रहते हैं।

परन्तु गृहस्थियों का मामला बड़ा टेढ़ा है, उनका काम विषय-कषायोंसे एकदम मुँह मोड़ना नहीं, उनको बिलकुल ही दबा देना व छोड़ बैठना भी नहीं; किन्तु उनको अपने आधीन चलानेका ही होता है। उनका यह काम काले नाग खिलानेके समान है इसीसे बहुत ही कठिन और बहुत ही नाज़ुक है। मुनी तो विषय-कषायोंको ज़हरीले साँप मानकर उनसे दूर भागते हैं, दूर भागकर उनको पास तक भी नहीं आने देते हैं, परन्तु गृहस्थी स्वयं विषय-कषायोंको पालते हैं, अर्थात् विषय-भोग भी करते हैं और क्रोध-मान-माया-लोभ आदि सभी प्रकारकी कषायें भी करते हैं। सच पूछिये तो ये कषाय ही तो गृहस्थीके हथियार होते हैं जिनके सहारे वे अपना गृहस्थ चलाते हैं, अपने गृहस्थके योग्य सब प्रकारकी सामग्री जुटाते हैं और जुटी हुई सामग्रीकी रक्षा करते हैं। परन्तु ये विषय-कषाय काले नागके समान अत्यन्त ज़हरीले और केहरिसिंहकी तरह महा भयानक तथा खूनके प्यासे होते हैं, जिनको वशमें रखना और अपने अनुसार चलाना कोई आसान बात नहीं है। इसके लिये बड़ी होशियारी, बड़ी भारी हिम्मत बड़ा दिलगुर्दा और बड़ी सावधानीकी ज़रूरत है। और इस कारण ये काम वे ही कर सकते हैं जो महान् साहसी और पूर्ण पुरुषार्थी होते हैं। ज़रा चूके और मारे गये, ज़रा भी किसीने असावधानी की और ज़हरीले साँपोंने उसको आ दबोचा; फिर तो विषय-कषायोंका ज़हर चढ़कर वह ऐसा बेहोश वा उन्मत्त होता है कि अपने भले बुरेकी कुछ भी सुधि नहीं रहती, विषय-कषायोंमें

फँसकर आप ही अपनी ऐसी दुर्गति बना लेता है, होलीका भड़वा बनकर अपने ही हाथों ऐसा ज़लील और ख्वार होता है, ऐसे २ महान् दुख भोगकर मरता है कि जिनका वर्णन नहीं किया जासकता है और मरकर भी सीधा नर्कमें ही जाकर दम लेता है। इसी कारण इस लेखमें पुरुषार्थ पर इतना ज़ोर दिया गया है कि जिसके भरोसे गृहस्थी लोग कर्मोंको निर्बल मानकर उनके उदय-से पैदा हुई विषय-कषायोंकी भड़कको क़ाबू कर अपने अनुकूल चलानेका साहस कर सकें, गृहस्थ-जीवन उत्तमतासे चलाकर आगेको भी शुभगति पावें—कर्मोंके उदयसे डरकर, हाथ पैर फुलाकर अपने हिम्मत, साहस और पुरुषार्थको न छोड़ बैठें, डरें सो मरें यही बात हरवक्त ध्यानमें रक्खें।

अगर किसी मुसाफ़िरको किसी बहुत ही दंगई घोड़े पर सवार होकर सफ़र करना पड़जाय और उसके मनमें यह बैठ जाय कि इस घोड़े पर मेरा कोई वश नहीं चल सकता है, ऐसा विचारकर वह घोड़ेकी बाग ढीली छोड़दे, तो आप ही समझ सकते हैं कि फिर उस मुसाफ़िरकी खैर कहाँ ? वह बे लगाम घोड़ा तो उल्टा सीधा भागकर मुसाफ़िर की हड्डी-पसली तोड़कर ही दम लेगा। यही हाल गृहस्थीका है, जिसको महा उद्धत विषय-कषायोंको भोगते हुए ही अपना गृहस्थ-जीवन व्यतीत करना होता है। वह भी अगर यह मानले कि जो कुछ होगा वह मेरे कर्मोंका ही किया होगा, मेरे किये कुछ न होसकेगा और ऐसा विचारकर वह अपने विषय-कषायोंकी बागडोर-को बिल्कुल ही ढीली छोड़कर उनको उनके अनुसार ही चलने दे तो उसके तबाह होनेमें क्या किसी प्रकारका शक या शुबाह हो सकता है ? गृहस्थी तो कुशलसे तब ही रह सकता है जब अपने पुरुषार्थ पर पूरा-पूरा भरोसा करके विषयकषायोंकी बागडोरको सावधानीके साथ थामकर उनको अपने अनुकूल ही चलाता रहे। यही उसका सद्गृहस्थीपन है, नहीं तो वह नीचातिनीच मनुष्य ही नहीं, किन्तु भयंकर राक्षस तथा हिंसक पशु बनकर अथवा विष्टाके कीड़ेके समान गन्दगीमें ही पड़ा रहकर अपना जन्म पूरा करेगा और मरकर नरक ही जायेगा। कर्मोंको बलवान मानकर उनके आधीन होजानेका यही तो एकमात्र कुफल है।

वस्तुतः पुरुषार्थसे ही मनुष्यका जीवन है और इसीसे उसका मनुष्यत्व है। गृहस्थीका मुख्यकार्य कर्मोंसे उत्पन्न हुए महा उद्धत विषय-कषायोंको पुरुषार्थके बल-से अपने रूप चलानेका ही तो है, इस कार्यके लिये उसमें सामर्थ्य भी है। वह तो अपनी सामर्थ्यके बल पर इससे भी अधिक ऐसा ऐसा अद्भुत और चमत्कारी पुरु-षार्थ कर दिखा रहा है कि स्वर्गोंके देवोंकी बुद्धी भी जिसको देखकर अचम्भा करने लग जाती है। देखो यह पाँच हाथका छोटा-सा मनुष्य ही तो आग, पानी, हवा, बिजली आदि सृष्टिके भयंकर पदार्थोंको वश करके उनसे अपनी इच्छानुसार सर्व प्रकारकी सेवाएँ लेने लग गया है, आग, पानीसे भाप बनाकर उससे आटा पिसवाता है, लकड़ी चिरवाता है, पत्थर फुड़वाता है, हज़ारों मनुष्य और लाखों मन बोझ लादकर रेलगाड़ी खिचवाता है—खिचवाता ही नहीं, हवाके सामने तेज़ी-से भगाता है। क्या कोई भयंकरसे-भयंकर राक्षस ऐसा बलवान् हो सकता है जैसे ये भापसे बनाये ऐञ्जिन होते हैं, जिनको यह साधारणसा मनुष्य अपने अनुकूल हाँकता है। यह सब उसके पुरुषार्थकी ही तो महिमा है। मनुष्यको अपने पुरुषार्थसे किञ्चित मात्र भी असाव-धान तथा विचलित होते देख यही मनुष्यका बनाया ऐञ्जिन ऐसा भयंकर होजाता है कि पलकी पलमें हज़ारों मनुष्योंको यमद्वार पहुँचा देता है।

धन्य है मनुष्य! तेरे पुरुषार्थको, धन्य है तेरे साहसको, जो ऐसी ऐसी भयंकर शक्तियोंके कान पकड़ कर उनसे कैसी कैसी सेवा ले रहा है, मीलों गहरे और हजारों मील लम्बे चौड़े समुद्रकी छाती पर हजारों मनुष्यों और लाखों मन बोझसे लदा हुआ भारी जहाज़ इस तरह लिये फिरता है, जैसे कोई बच्चा अपने घरके आँगनमें किसी खिलौनेसे खेलता फिरता हो, और अब तो आकाशमें हवाई जहाज़ इस तरह उड़ाये फिरता है जैसे देवतागण विमानमें बैठे आकाशकी सैर करते फिर रहे हों। आकाशकी कड़कती बिजलीको क़ाबू करके उससे भी आटा पिसवाना, पंखा चलाना, कुओंसे पानी निकलवाना, रेलगाड़ी चलाना, आदि सब ही कामलेना शुरु कर दिया है। गङ्गा-यमुना जैसी बड़ी-बड़ी भयंकर नदियोंको काबू करके उनसे भी आटा पिसवाता है, और खेतोंकी सिंचाईके वास्ते गाँव-गाँव लिये फिरता है। धरतीकी छाती बींधकर उसमेंसे पानी निकालना तो बच्चोंका ही खेल हो गया है। वह तो उसकी छाती खूब गहरी चीर कर उसमेंसे तेल, कोयला, लोहा, पीतल, सोना, चाँदी आदि अनेक पदार्थ खींचलाता है। निःसन्देह मनुष्यका पुरुषार्थ अपरम्पार है जो महा-विशाल-काय हाथीको पकड़ लाकर उन पर सवारी करता है और महा भयंकर सिंहोंको पकड़ लाकर उनसे सरकसका तमाशा कराता है।

गरज कहाँतक गीत गाया जाय, पुरुषार्थका महात्म्य तो जिह्वासे वर्णन ही नहीं किया जा सकता है और न किसीसे उसकी उपमा ही दी जा सकती है। हाँ, इतना और भी समझ लेना चाहिये कि जो पुरुषार्थ करते हैं वे मालिक बनते हैं और जो पुरुषार्थहीन होकर अपने कर्मोंके ही भरोसे बैठे रहते हैं वे गुलाम बन जाते हैं और पशुओंके समान समझे जाते हैं।

एक बात और भी कह देनेकी है और वह यह कि मनुष्योंकी बस्तीमें चोर, डाकू, ज़ालिम, हत्यारे, राक्षस, लोभी, मानी, विषयी सबही प्रकारके मनुष्य होते हैं, मांस शराब व्यभिचार आदिक सभी प्रकारके कुव्यसनोंकी दुकानें लगी रहती हैं, और चारों तरफ विषय-कषायोंमें फँसनेके ही प्रलोभन नज़र आते हैं। मुनि महाराज तो ऐसे भयंकर संयोगमें अपने परिणामोंको संभाले रखना अपनी सामर्थ्यसे बाहर समझ बस्तीको छोड़ बनको चले जाते हैं, परन्तु सद्गृहस्थ बेचारा कहाँ चला जाय? उसको तो इन सब प्रकारके दुष्ट मनुष्यों और खोटे प्रलोभनोंमें ही रहना होता है। इनहीके बीचमें वह इस प्रकार रहता है जैसे पानीमें कमल। इस कारण सद्गृहस्थका पुरुषार्थ मुनियोंके पुरुषार्थसे भी कहीं अधिक प्रशंसनीय और बलवान् है, जिससे पुरुषार्थकी महान् सामर्थ्यका पूरा पूरा अन्दाज़ा हो जाता है। धन्य हैं वे सद्गृहस्थ जो इस पुरुषार्थका सहारा लेकर कर्मोंका भी मुक़ाबिला करते हैं और निमित्त कारणोंको भी अपने ऊपर काबू नहीं चलने देते हैं, कायर और अकर्मण्य बनकर इस प्रकार नहीं लुढ़कते फिरते हैं, जैसे पत्थर वा लकड़ीके टुकड़े नदीके भारी बहावमें बहते और लुढ़कते फिराकरते हैं।

हमारी भी यही भावना है कि हम लकड़ी पत्थरकी तरह निर्जीव न बनकर पुरुषार्थी बनें और अपने मनुष्य जीवनको सार्थक कर दिखावें *।

"बहुत रुलो संसारमें, वश प्रमादके होय।
अब इन तज उधम करो, जातैं सब सुख होय ॥"

"भाग्य भरोसे जे रहैं, ते पाछै पछतांय।
काम बिगाड़ें आपनो, जगमें होत हँसाय ॥"

** यह विवेचनात्मक लेख भाग्यके मुक़ाबलेमें पुरुषार्थसे प्रोत्तेजन देने और उसकी महत्ता स्थापित करनेके लिये बहुत अच्छा तथा उपयोगी है; परन्तु इसकी सिद्धान्त-विषयक कुछ कुछ बातें खटकती हुई तथा एकान्तके लिबासमें लिपटी हुई-सी जान पड़ती हैं। लेखक महोदय उन सबके लिये स्वयं ज़िम्मेदार हैं।*

—सम्पादक

हमारे पराक्रमी पूर्वज

(३)

सेठ सुगनचन्द

[ले० अयोध्याप्रसाद गोयलीय]

कुछ सुना आपने ? यह जो हस्तिनागपुर तीर्थ-क्षेत्र पर खड़ा हुआ गगनचुम्बी विशाल जैन-मन्दिर स्वच्छ धवलपताका फहरा रहा है कब और कैसे बना ? देहलीके सेठ सुगनचन्दजीकी आन्तिरिक अभिलाषा थी कि हस्तिनागपुर जैसे प्राचीन जैन-तीर्थ-स्थानमें एक जिनमन्दिर बनवाकर तीर्थक्षेत्रका पुनरुद्धार किया जाय, किन्तु उन दिनों जैनमन्दिर बनवाना मानों लन्दनमें काँग्रेस-भवन निर्माण करना था। एक ओर मुसलमानी बादशाहत मन्दिरोंके निर्माणकी आज्ञा नहीं देती थी, दूसरी ओर हिन्दु भी जैनोंका विरोध करते थे। वे विरोधी भावनाएँ आज इस संगठन और स्वतन्त्रताके युग-में भी बहुत कुछ अवशिष्ट बनी हुई हैं, कितने ही स्थानोंपर अब भी जैनमन्दिर बनवाने और रथ-यात्राएँ निकालनेमें रुकावटें आती हैं और सैंकड़ों स्थानोंमें लाखों रुपया व्यय करके अदालतों द्वारा रथ-यात्राओंके अधिकार प्राप्त हुए हैं। अतः तबकी तो बात ही निराली थी। सेठ साहबकी मनोभि-लाषाको मीराँपुरके रांगड़ पूरी नहीं होने देते थे। वे मरने मारने पर तुले हुए थे। उन दिनों हस्तिनाग-पुर और मीराँपुर साढौरा स्टेटमें सम्मिलित थे।

भाग्यकी बात, दुष्काल पड़नेपर महाराज साढ़ौ-राको एक लाख रुपयेकी जरूरत पड़ी। सेठ सुगन-चन्दजी साहूकारीके लिये काफ़ी विख्यात थे। अतः सब ओरसे निराश होकर महाराज साढौराने अपना दीवान सेठ साहबके पास भेजा और बगैर कोई लिखा पढ़ी कराये ही सेठ साहबके संकेत पर मुनी-मने एक लाख रुपया गिन दिया।

एक वर्षके बाद दीवान साहब जब एक लाख रुपया व्याज समेत वापिस देने आए तो सेठ साहब-के मुनीमने रुपया लेनेसे इनकार करदिया और कहा कि "हमारे यहाँसे महाराज साढ़ौराको कभी

रुपया क़र्ज नहीं दिया गया ।"

दीवान हैरान था कि मैं स्वयं इस मुनीमसे एक लाख रुपये ले गया हूँ और फिर भी यह अनभिज्ञता प्रकट करता है ! एक लाख रुपयेकी रक़म भी तो मामूली नहीं जो बहीमें नाम लिखनेसे रह गई हो । इससे तो दो ही बातें ज़ाहिर होती हैं—या तो सेठ साहबके पास इतना रुपया है कि कुबेर भी हार मानें या इतना अन्धेर है कि कुछ दिनोंमें सफ़ाया होना चाहता है ।

आख़िर दीवान साहब तंग आकर बोले—"सेठ साहब ! यह हमने माना कि आपने आड़े वक्तमें रुपया देकर हमारे काम साधे । मगर उसका यह अर्थ तो नहीं कि आप अपना रुपया ही न लें । और उसपर भी कहा जारहा है कि रुपया कर्ज दिया ही नहीं गया । अगर रुपया हम क़र्ज़ न ले जाते तो हमारे पास आपकी तरह रुपया फालतू तो है नहीं,जो व्यर्थमें देने आते । मैं स्वयं इन्हीं मुनीमजीसे······ता० को रुपया उधार लेकर गया हूँ । आख़िर······!"

सेठ साहब बातको ज़रा सम्हालते हुए बोले—"मुनीमजी ! ज़रा अमुक तारीख़की रोकड़ बही फिर ध्यानसे देखो । आख़िर एक लाख रुपयेका मामला है । दीवान साहब भी तो आख़िर झूठ नहीं बोल रहे होंगे ।"

मुनीमजीने रोजनामचा उस तारीख़का देखा तो गर्म होगये । तावमें भरकर बोले—"लीजिये आप ही देख लीजिये, उधार दिया हो तो, पता चले । मुझे व्यर्थमें इतनी देरसे परेशान कर रक्खा है ।"

सेठ साहब और दीवान साहबने पढ़ा तो लिखा हुआ था —"दीवानसाहबके हस्ते महाराज साढ़ौराके पास एक लाख रुपया हस्तिनागपुरमें जैनमन्दिर बनवानेके वास्ते बतौर अमानत जमा कराया ।"

पढ़ा तो दीवान साहब अवाक् रह गये ! फिर भी रुपया जमा करलेनेके लिये काफ़ी आग्रह किया किन्तु सेठ साहबने यह कहकर रुपया जमा करानेमें अपनी असमर्थता प्रकट की कि—"जब मन्दिरके लिये रुपया लिखा हुआ है तो वह वापिस कैसे लिया जासकता है ? धर्मके लिये अर्पण किया हुआ द्रव्य तो छूना भी पाप है ।"

लाचार दीवान साहब रुपया वापिस लेकर महाराजके पास पहुँचे और सारी परिस्थिति समझाई और कहा कि जब अन्य उपायोंसे सेठ साहब मन्दिर बनवानेमें असफल रहे तो उन्होंने यह नीति अख़्तियार की । अन्तमें महाराज साढ़ौराने कृतज्ञता स्वरूप गूँगड़ोंको राजी करके जैनमन्दिर बनवा दिया । मन्दिर-निर्माण होनेपर सेठ साहबको बुलाया गया और हँसकर उनकी अमानत उन्हें सौंपदी ।

सेठ साहबकी इस दूरदर्शिताके कारण हस्तिनागपुरमें आज अमरस्मारक खड़ा हुआ श्रीशान्तिनाथ आदि तीन चक्रवर्ती तीर्थंकरों और कौरव-पाण्डव आदिकी अमर कथा सुना रहा है । हज़ारों नर-नारी जाकर वहाँकी पवित्र रज मस्तक पर लगाते हैं । सेठ साहब चाहते तो हर ईंट पर अपना नाम खुदवा सकते थे, मगर खोज करने पर भी कहीं नाम लिखा नहीं मिलता । केवल वहाँकी वायु ही उनकी सुगन्ध कीर्ति फैलाती हुई भावुक-हृदयोंको प्रफुल्लित करती हुई नज़र आती है ।

सेठ सुगनचन्दजी और उनके पिता राजा हरसुखरायजीने भारतके भिन्न-भिन्न स्थानोंमें कोई ६०-७० जैन-मन्दिर बनवाए हैं।

दूसरोंको उपदेश देनेकी अपेक्षा स्वयं जीवनमें उतारना उन्हें अधिक रुचिकर था। उन्होंने मन्दिरमें देखा कि एक स्त्री आवश्यकतासे अधिक चटक-मटकसे आती है। सेठजीको यह ढँग पसन्द न था। उन्होंने सोचा यदि यही हाल रहा तो और भी बहु-बेटियों पर बुरा असर पड़े बग़ैर न रहेगा। बिरादरीके सरपंच थे, चाहते तो मना कर सकते थे, किन्तु मना नहीं किया और जिस टाइम पर वह फैशनेबिल स्त्री दर्शनार्थ आती थी, उसी मौक़ेपर अपनी स्त्रीको भी ज़रा अच्छी तरह सज-धजसे आनेको कह दिया। शाही खजाँचीकी स्त्री, सजनेमें क्या शक होता? स्वर्गीय अप्सरा बनकर मन्दिरमें प्रविष्ट हुई तो सेठ साहबने दूरसे ही कहा—"यह कौन रण्डी मन्दिरमें घुसी जारही है?"

सेठानीने सुना तो काठमारी-सी वहीं बैठ गई, मानों शरीरको हज़ारों बिच्छुओंने डस लिया। मन्दिरका व्यास सेठ साहबकी आवाज़ सुनकर आया तो सेठानीको देखकर भौंचकसा रह गया। उससे उत्तर देते नहीं बना कि, सेठ साहब, यह रण्डी नहीं आपकी धर्मपत्नी है। व्यासको निरुत्तर देख सेठ साहब वहाँ स्वयं आए और बोले—"ओह! यह सेठानी हैं, यह कहते हुए भय लगता था। खबरदार! यह वीतरागका दरबार है, यहाँ कोई भी कामदेवका रूप धारण करके नहीं आसकता। चाहे वह राजा हो या रंक, रानी हो या बान्दी। यहाँ सबको स्वच्छता और सादगीसे आना चाहिये।"

सेठानी पर मुर्दनी-सी छागई, न जाने वह कैसे घर पहुँची। और वह फ़ैशनेबिल स्त्री!! मन्दिरमें ही समा जानेको राह देखने लगी! सेठानीने घर आने पर रोकर अपराध पूछा तो सेठजी बोले—"देवी! अपराधी तुम नहीं, मैं हूँ! मैंने उस स्त्रीको समझानेकी शुभ भावनासे तुम्हारा इतना बड़ा तिरस्कार किया है। अपनी समाजका चलन न बिगड़ने पाए इसी ख़यालसे यह सब कुछ किया है।" उसदिनके बाद सेठजीके जीतेजी किसीने उनकी उक्त आज्ञाका उलंघन नहीं किया।

* * *

एकबार सेठ साहबने नगर-गिन्दौड़ा किया। सारी देहलीकी जनताने आदर-पूर्वक गिन्दौड़ा स्वीकृत किया। केवल एक स्वाभिमानी साधारण परिस्थितिके जैनीने यह कहकर गिन्दौड़ा लेनेसे इनकार कर दिया कि "मेरे यहाँ तो कभी ऐसा टहला होना है नहीं, जिसमें सेठ साहबके गिन्दौड़ोंके एवजमें मैं भी कुछ भिजवा सकूं, इसलिये मैं.........।"

सेठजीने उस ग़रीब साधर्मी भाईकी स्वाभिमान भरी बात कर्मचारियोंसे सुनी तो फूले न समाये और स्वयं सवारीमें बैठ नौकरोंको साथ ले गिन्दौड़ा देने गये। दुकानसे २०-३० गजकी दूरीसे आप सवारीसे उतरकर अकेलेही उसकी दूकान पर गए और जयजिनेन्द्र करके उसकी दुकानमें बैठ गये। थोड़ी देर बाद बातचीत करते हुए दुकानमें बिक्रीके लिये रक्खे हुए चने और गुड़के सेव उठाकर खाने लगे। चने सेव खानेके बाद पीनेको पानी माँगा तो ग़रीब जैनी बड़ा घबड़ाया। मैलीसी टूटी सुराही और भद्दा-सा गिलास, वह कैसे सेठ

साहबको पानी पिलाए ? और जब सेठ साहबने माँगा है तो इनकार भी कैसे करे ? उसे असमंजसमें पड़ा हुआ देख सेठ साहबने स्वयं ही हाथ धोकर पानी पीलिया।

इशारा पाते ही कर्मचारी गिन्दौड़ा ले आए। वह विचारा जैन अत्यन्त दीनता और लज्जाके साथ कुछ सटपटाता-सा बोला—"ग़रीब परवर ! मुझे क्यों कांटोंमें घसीट रहे हैं ? भला गिन्दौड़ा देनेके लिये आपको तकलीफ उठानेकी क्या जरूरत थी ? मुझे गिन्दौड़ा लेनेमें क्या उज्र हो सकता था, मगर·········?"

"अजी वाह, भाई साहब ! यह भी आपके कहनेकी बात है, मैं तो ख़ुद ही आपका माल बग़ैर आपसे पूछे लेकर खा चुका हूँ, फिर आपको अब ऐतराज़ करनेकी गुंजाइश ही कहाँ रही ?"

ग़रीब जैन निरुत्तर था, गिन्दौड़े उसके हाथ में थे, सेठ साहब प्यारसे उसे थपथपा रहे थे और वह इस धर्मवत्सलताको देख झुका जारहा था।

एक नहीं ऐसी अनेक किंवदन्तियाँ हैं। कहाँ तक लिखी जाएँ।

*　　*　　*

सेठ सुगनचन्दजीके पूर्वज सेठ दीपचन्दजी अग्रवाल जैन, हिसारके रईस थे। देहली बसाए जानेके समय शाहजहाँ बादशाहके निमन्त्रण पर वे देहली आए थे और दरीबेके सामने ४-५ बीघे जमीन बादशाह द्वारा प्रदान किए जाने पर आपने अपने १६ पुत्रोंके लिये पृथक-पृथक महल बनवाए थे। बादशाहने प्रसन्न होकर सात पार्चेका (जामा, पायजामा, चादरजोड़ी, पेटी, पगड़ी, सिरपेच कलगी, तुर्रा) खिलअत अता फर्माया था। ईष्ट-इण्डियाके शासन कालतक आपके वंशज खजांची रहे ! आज भी उनके वंशमें श्री पी०डी०रामचन्द्रजी विद्यमान हैं जो देहली पंचायतके जरनल सेक्रेटरी हैं।

मुझे यह लेख लिखनेके लिये बहुत-सी बातें वयोवृद्ध चन्दूलालजीसे भाई पन्नालालजीकी सहायतासे ज्ञात हुई हैं जिसके लिये मैं उनका आभारी हूँ। बाबा चन्दूलालजी भी उक्त सेठजीके वंशमेंसे ही हैं।

इतिहास

इतिहास सिखाता है कैसे गिर जाते हैं उठने वाले।
इतिहास सिखाता है कैसे उठ जाते हैं गिरने वाले।

इतिहास सभ्यता का साथी,
इतिहास राष्ट्रका रक्त प्राण,
ऊँचे नीचे दुर्गम मग में,
बढ़ने वालों का अमर गान,

इतिहास सिखाता है कैसे बढ़ चलते हैं बढ़ने वाले।

यह जीवन और मृत्युका नित-
संघर्ष-कहानी का पुराण,
जीवन अनन्त, जीवन अजेय,
इसका जीता-जगता प्रमाण,

इतिहास सिखाता है कैसे तू अजर-अमर जीने वाले।

ग्रस लेते हैं पर क्षणभरको,
भूकम्प, वह्नि, भूखे सागर,
वे यहाँ नष्ट करते निवास,
हम वहाँ बसाते नये नगर,

इतिहास सिखाता है कैसे जी उठते हैं मरने वाले।

—'देशदूत' से

कथा कहानी

[ले०—अयोध्याप्रसाद गोयलीय]

(१५)

महर्षि व्यासदेवके पुत्र शुकदेव संसारमें रहते हुए भी विरक्त थे। वे आत्म-कल्याणकी भावनासे प्रेरित होकर घरसे जंगलकी ओर चल दिए। तब व्यासदेव भी पुत्रमोहसे वशीभूत उन्हें समझाकर घर वापिस लिवा-लानेके लिये पीछे पीछे चले। मार्गमें दरियाके किनारे कुछ स्त्रियाँ स्नान कर रहीं थीं। व्यासदेवको देखते ही सबने बड़ी तत्परतासे उचित परिधान लपेट लिये—अङ्गोपाङ्ग ढँक लिये। महर्षि व्यासदेव बोले—"देवियो! वह अभी मेरा जवान पुत्र शुकदेव तुम्हारे आगेसे निकलकर गया है उसे देखकर भी तुम नहीं सकुचाईं। ज्योंकी त्यों स्नान करती रहीं। जो युवा था, सब तरह योग्य था, उससे तो परदा न किया, और मुझ अर्द्ध-मृतक समान वृद्धसे लजाकर परदा कर लिया, यह भेद कुछ समझमें नहीं आया।" स्त्रियाँ बोलीं—"शुकदेव युवा होते हुए भी युवकोचित विकारोंसे रहित है। वह स्त्री-पुरुषके अन्तरको और उसके उपयोगको भी नहीं जानता उसकी दृष्टिमें सारा विश्व एक रूप है। सांसारिक भोगोपभोगसे बालकके समान अबोध है। परन्तु देव! आपकी वैसी स्थिति नहीं है। इसीलिये आपकी दृष्टिसे छुपनेके लिये परिधान लपेट लिया है।"

(१६)

धर्मान्ध और पितृ-द्रोही औरंगज़ेब अपने पूज्य पिता शाहजहाँको क़ैदमें डालकर बादशाह बन बैठा, तो उसने अपना मार्ग निष्कंटक करनेके लिये शुजा और मुराद नामके अपने दो सगे भाइयोंको भी लगे हाथों यमलोक पहुँचा दिया। सल्तनतके असली उत्तराधिकारी बड़े भाई दारा को भी गिरफ्तार करके एक भद्दी और बूढ़ी हथनीकी नंगी पीठपर बिठाकर देहलीके मुख्य मुख्य बाज़ारोंमेंसे उसको घुमाया गया। कहनेको जुलूस था, पर पैशाचिक तांडव था। जिन बाज़ारोंमें दारा युवराज और स्थानापन्न सम्राट्की हैसियतसे कभी निकलता था, वही पराजित और बन्दीके रूपमें अपनी प्रजाके सामने इस जिल्लतसे घुमाया जा रहा था कि ज़मीन फट जाती तो उसमें समा जाना वह अपना गौरव समझता! दोपहरकी कड़ी धूप, हथनीकी नंगी पीठ, क़ैदीका वेश, और फिर प्रजाके भारी समूहमेंसे गुजरना, दाराको सहस्र बिच्छुओंके डंकसे भी अधिक पीड़ा दे रहा था। वह रास्ते भर नीची नज़र किए बैठा रहा, भूलकर भी पलक ऊपर न किए। एकाएक ज़ोरकी आवाज़ आई—"दारा। जब भी तू निकलता था, खैरात करता हुआ जाता था, आज तुझे क्या हो गया है? क्या तेरी उस सख़ावतसे हम महरूम रहेंगे?" दाराने नेत्र उठाकर एक पागल फ़क़ीरको उक्त शब्द कहते देखा। चट कन्धे पर पड़ा हुआ दुपट्टा उसकी ओर फेंक दिया और फिर नीची नज़र करली। फ़क़ीर "दारा ज़िन्दाबाद" के नारे लगाता हुआ नाचने लगा। प्रजा दाराके इस साधुवाद पर आँसू बहाने लगी। उसने उस आपत्तिके समय भी अपने दयालु और दानी स्वभावका परिचय दिया।

(१७)

दारा मुसलमान होते हुए भी सर्वधर्म-समभावी था। उसके हृदयमें अन्य धर्मोंके प्रति भी सन्मान था। वह जितना ही दयालु और स्नेहशील था, उतना ही वीर प्रकृतिका भी था। शत्रुके हाथों भेड़ोंकी तरह मरना उसे पसन्द नहीं था। वह औरंगज़ेब द्वारा बन्दी बनाए जानेपर कमरेमें बैठा हुआ चाकूसे सेव छील रहा था कि औरंगज़ेबकी ओरसे उसका वध करनेके लिये घातक आए। घातकोंको आते देख उसने प्राण-भिक्षाके लिये गिड़गिड़ाना पाप समझा और चुपचाप आत्म-समर्पण करना कायरता जानी। तलवार न होनेपर भी सेव छीलनेवाले चाकूसे ही आत्म-रक्षाके लिये तैयार हो गया और अन्तमें आक्रमणको रोकनेका प्रयत्न करता हुआ जवाँमर्दोंकी तरह मरकर वीरगतिको प्राप्त हुआ।

देहली-महावीर-जयंती पर

महत्वपूर्ण तीन भाषण

(१)

भाषण श्री लोकनायक अणे M.L.A.

सभापतिजी, भाइयो और देवियो !

मुझे इस बातका हर्ष है कि मैं आज भगवान वीरके विषयमें यहाँ कुछ कहने खड़ा हुआ हूँ। हमारा देश एक धार्मिक देश है। आज दुनियामें चारों तरफ क्रान्ति मची हुई है, परन्तु भारत अब भी शान्त है। राष्ट्र वही है जो भले बुरेका विचार कर सके। जहाँ भले बुरेका विचार नहीं, वह राष्ट्र नहीं कहा जा सकता। भारत एक धर्म-प्रधान राष्ट्र है। इसने औरोंको रास्ता बतलाया है।

यद्यपि भारतमें प्रत्येक धर्म अहिंसाको मानता है परन्तु जो अहिंसाका वर्णन महावीरने किया है वह और किसीमें नहीं है। भगवान् वीरने बतलाया है कि सबसे पहले जीवको दूसरोंसे प्रेम करना चाहिये। अपने दिलको साफ किये बिना उन्नति कभी भी न हो सकती। जब भगवान् वीर पैदा हुए थे, उस समय यज्ञादिकमें हिंसाका अधिक प्रचार था लोग स्वार्थके वशीभूत होकर जीवोंकी हिंसामें भी धर्म मानने लगे थे। परन्तु वीरने उस यज्ञादिक बलिको बिल्कुल मिटा दिया। *यद्यपि वेदोंमें हिंसाका विधान है परन्तु यह भगवान् वीरके ही उपदेशका प्रभाव है कि लोग वेदोंमें हिंसाका विधान होते हुए भी बलि नहीं देते हैं और न अब उनके ऐसे भाव ही होते हैं।* **यदि किसी सनातनी भाईसे हम यज्ञमें पशु-बलि देनेको कहें और वेद-वाक्य दिखावें भी तो वह हमें ही उल्टा बेवक़ूफ समझता है।** *यह सब असर भगवान् वीरका ही है* लेकिन मनुष्य वही विजयी होता है जो वस्तुको स्वयं अच्छी तरह देख लेता है। भगवान वीरने पहले अपनी शुद्धि करली थी तब वे दूसरोंका कल्याण कर पाये थे। यदि

श्री लोकनायक अणे एम. एल. ए.

श्री० लोकनायक अणे परखे हुए पुराने राष्ट्र-सेवक हैं। सन ३२ के असहयोग आन्दोलनमें आप कांग्रेसके डिक्टेटर जैसे जोखिम और उत्तरदायी पद पर रह चुके हैं। वर्तमानमें आप केन्द्रीय असेम्बलीके एक सुलझे हुए सदस्य हैं। आपकी विद्वता और वक्तृत्वताके शत्रु-मित्र सभी क़ायल हैं। आपके व्यक्तित्व पर भारतको अभिमान है।

कोई जीव अपनेको सबसे बड़ा समझता है तो वह कभी भी उन्नत नहीं हो सकता, उन्नत होनेके लिये कुछ त्याग अवश्य करना पड़ता है । *दया और अहिंसाका जो महत्व जैनधर्ममें आया है, वह इतना अन्य किसी धर्ममें नहीं है ।* भगवान् वीरके पैदा होनेसे यह बात तो निर्विवाद सिद्ध है कि यज्ञ-मार्ग पीछे पड़ा । महावीरका तत्त्व-ज्ञान बहुत ऊँचा था । उन्होंने बतलाया था कि जीव सबमें है, किसीसे घृणा मत करो, दूसरोंको सुखी बनानेकी कोशिश करो । हमें यहाँ बहससे कोई मतलब नहीं है पर यह बात जरूर है कि भगवान् वीरने लोगोंको दयाका रास्ता बतलाया था, माँसाहारको हटाया था और दुनियाको प्रेमका पाठ दिया था । *आज जो कुछ भी अहिंसाका असर हमारे सामने है उसका श्रेय वीरके ही उपदेशको है ।* उसी उपदेश-का फल है कि आज उतनी हिंसा नहीं है, जितनी कि वैदिक कालमें थी । यद्यपि बुद्धने भी अहिंसा-का उपदेश दिया था लेकिन वह इतने ऊँचे पैमाने-का नहीं था । आज बौद्धधर्मके दीक्षित देश हिंसासे खाली नहीं हैं । जहाँ पर आज बौद्धोंकी बस्ती है वहाँ माँसाहारकी कोई कमी नहीं है ।

जैनधर्म हिन्दूधर्मसे बहुत कुछ मिला हुआ रहा है । उपनिषद्ग्रन्थोंमें बतलाये हुए सिद्धाँतोंसे जैन-सिद्धान्त मिलते जुलते हैं । हिन्दूधर्मके उससे मिलने-का यही सबूतहै कि आज हिन्दूधर्म पशुबलि आदि को स्वयं बुरी निगाहसे देखने लगा है । यद्यपि पृथ्वीपर बड़े बड़े अत्याचार हुए और होरहे हैं परंतु जैन और हिन्दुओंके कभी आपसमें गले नहीं कटे । जैनधर्म भिन्न धर्म है ऐसा नहीं है । भगवान् वीरको सबही सम्प्रदाय मानते हैं जिसका उदाहरण आज आपके सामने मौजूद है । *वीरके तत्त्वज्ञानका असर सबके ऊपर है और भारत आज वीरके अहिंसावादका कृतज्ञ है ।* हिन्दुओं और जैनियोंका आपसमें बड़ा प्रेम रहा है । भगवान्ने पुण्यका रास्ता बतलाया था । *जैनधर्म, बौद्धधर्म, और वैदिक धर्म ही भारतकी सम्पत्ति हैं, बाक़ीके धर्म तो यहाँ बाहरसे आये हैं ।* भगवान महावीरने दुनियाँका सच्चा उपकार किया था । उन्होंने संसारको बतला दिया था कि दूसरों-को दुखी रखना सबसे बड़ा पाप है । *मैं जैनधर्म को बड़ी भक्ति से देखता हूँ । मेरा तो यह सिद्धान्त है कि जैनधर्म एक अद्वितीय धर्म है ।*

अब रह जाती है बात वीर-जन्मोत्सवके छुट्टी की । इसके लिये आपको सबसे पहले अपनी छुट्टी करनी पड़ेगी । मुझे इस बातका दुःख है कि आज सब धर्मोंकी छुट्टी होते हुए भी जैनियोंकी कोई छुट्टी नहीं है । छुट्टीका न होना हमारे लिये एक दुखकी बात है । श्रावण बदी अमावस्याको किसी किसी प्रान्तमें गाड़ी चलाने वाले बैलों तकको एक दिनका विश्राम दे देते हैं । परन्तु *आज उस अहिंसा के देवताकी एक भी छुट्टी नहीं है, यह भारतके लिये लज्जाकी बात है !* मैं तो यह कहता हूँ कि आप लोगोंको अगस्त माह तक कोशिश कर लेनी चाहिये; क्योंकि अगस्तमें अगली सालका कलेण्डर बन जाता है । मैं तो इसके लिये हर समय सेवा करनेको तैयार हूँ । जितनी कोशिश मुझसे हो सकेगी मैं अवश्य छुट्टी करानेकी कोशिश करूँगा । अब मैं फिरसे भगवान्के गुण-गान करता हुआ उनको श्रद्धाञ्जलि समर्पित करके अपने आसनको ग्रहण करता हूँ । (१-४-१९३९)

भाषण श्री सेठ गोविन्ददासजी M.L.A.

भाइयो और बहिनों!

आपने मुझे देहली-जीव-दया मण्डलीका सभापति बनाकर मेरी तारीफ़में जो कुछ कहा है, मैं उस क़ाबिल नहीं हूँ। यद्यपि मुझे दुनियावी हर तरहका सुख प्राप्त था और मैंने राजा गोकलदासजीके भवनमें सब कुछ प्राप्त भी किया, परन्तु मैं उस सुखको कुछ नहीं समझता जो कि अपने आत्माका कुछ भला न कर सके। सुख तो भाग्यसे ही मिलता है। बहुतसे मनुष्य ऐशोइशरतमें ही सुख समझते हैं और कुछ ऐसे भी हैं जो कि अपने जीवनको उन्नत करनेमें ही सौख्य मानते हैं। दूसरोंको खुश करनेके लिये वर्षों गुज़र जातेहैं परन्तु स्वयंके आनन्दके बिना कुछ भी नहीं हो सकता। मुझे तो वह सुख जिसको मैं पसन्द करता था जेलमें बन्दी रूपमें मिला है। वह सुख मुझे राजा गोकलदासजीके भवनमें भी नहीं मिला। सुख निजी आत्मासे पैदा होता है और वह अच्छे भावोंके ऊपर ही अवलम्बित रहता है।

सेठ गोविन्ददासजी एम. एल. ए.

सेठ गोविन्ददासजी पोतड़ोंके रईस हैं। देव-दुर्लभ लाड़ प्यारमें बड़े हुए हैं। धन वैभव और भोगविलासकी मोहमायासे निर्लिप्त रहते हुए स्वदेश सेवामें संलग्न हैं। स्वतन्त्रताका सुनेहरा प्रभात देखनेके लिये आपके हृदयमें तड़प है। आप ही त्रिपुरी-कांग्रेसके स्वागताध्यक्ष थे। वर्तमानमें केन्द्रीय असेम्बलीके सम्मानित सदस्य हैं। वीरजयन्ती-महोत्सव पर देहलीकी जीवदया मण्डलीके अध्यक्ष-पदसे आपने यह भाषण दिया था।

यद्यपि मैं जैन नहीं हूँ, फिर भी मेरी सदा महावीरके चरणोंमें भक्ति रही है। जिन्होंने दूसरोंकी सेवा की है वे ही सच्चे सुखी हुए हैं और वे ही दुनियाँमें चिरस्मरणीय होते हैं। मैं सब धर्मोंको एक-सा मानता हूँ। विचार भी सबके एक-से हैं सब धर्म यह मानते हैं कि दूसरोंकी पीड़ाके समान दुनियामें कोई पाप नहीं और उनकी भलाईके सिवाय कोई पुण्य नहीं है। यह सारा विश्व ईश्वरका स्वरूप है। विश्वमें और जीवमें कोई भी भेद नहीं है। *अहिंसाका स्वरूप जितना भगवान् वीरने प्रज्वलित किया था उतना किसीने भी नहीं किया। उन्होंने संसारमें अहिंसाका सिद्धान्त सबके दिलोंमें कूट कूट कर भर दिया था और प्रत्येक जीव एक दूसरेसे प्रेम करना सीख गया था।*

आपको यह ख्याल नहीं करना चाहिये कि जैनी कम तादाद में हैं। धर्म कभी भी अनुयाइयों पर नहीं तोला जा सकता। धर्म तो एक अमर चीज़ होती है, जिसके होनेसे अपना और परका

उद्धार होता है। *मैं तो यह कहता हूँ कि जैनी कम नहीं हैं* मेरा तो यह हार्दिक ख्याल है कि *जो भी अहिंसा पर चलता है, वही जैनी है चाहे वह कोई भी क्यों न हो।*

अब तक लोग माँसाहार छोड़नेमें ही अहिंसा समझते थे, परन्तु आज महात्मा गान्धीने वास्तविक अहिंसावादको संसारके सामने रख कर बतला दिया है कि *अहिंसाके सामने शस्त्री-करणको भी झुकना पड़ता है* । हमने अभी तक अहिंसाके असली मतलबको नहीं समझा था। परन्तु आधुनिक गान्धीय वातावरणने हमें उसका असली मतलब बतला दिया है। आततायी बातोंको रोकनेके लिये अहिंसाका अपनाना सबसे अच्छा है। जबतक संसारमें अहिंसा-धर्मका प्रचार नहीं होगा तबतक शान्ति क़ायम नहीं हो सकती। हमें संसारको शान्त करनेके लिये रक्तपात और शस्त्री-करणको दूर करना होगा। वह भी एक समय था जब कि मनुष्य मनुष्यको खा जाया करता था! परन्तु आज संसारमें इस बातका पता भी नहीं मिलता। इससे आप अन्दाजा लगा सकते हैं कि हमने तरक्की की है और हम इससे भी अधिक तरक्की करेंगे।

भगवान् वीरने दुनियाको बतलाया था कि मनुष्यको अपने समान दूसरोंको भी मानना चाहिये। आज भारतवर्षका वातावरण, जिसने कि तमाम योरुपको चकित कर दिया है, अवश्य ही रङ्ग लायेगा और फिर वह दिन भी होगा जब कि, प्रेम, अहिंसा और सचाईका जमाना और राज्य होगा। ज़ुल्म करके मनुष्य कभी भी उन्नति नहीं कर सकता। ज़ालिम और अत्याचारीको सभी बुरी निगाहसे देखते हैं। हिन्दू मुसलमानोंका लड़ना हमेशाके लिये खतम होगा और फिरसे भाई भाईके नाते दोनोंका व्यवहार होगा। यदि हम अपने दिलोंसे कशिश निकाल दें तो फिर सच्चा प्रेम अवश्य ही प्राप्त होगा।

अहिंसाका विचार सर्वश्रेष्ठ वीरने ही दिया है। *यहाँ एकसे एक विद्वान और महात्मा हुए लेकिन सबसे उत्कृष्ट भगवान् वीरकी ही अहिंसा थी। अहिंसाका जितना प्रचार वीरने किया उतना किसीने नहीं किया।* माँसाहारी कभीभी सुखी नहीं रहसकता, ऐसा एलोपैथिक डाक्टर भी मानते हैं। माँसाहारीको रोग अवश्य पकड़े हुए होता है। *आज वेदान्त पर जो अहिंसाकी छाप है, वह वीरप्रभुकी अहिंसा की ही छाप है। यज्ञमें हिंसाको मिटा देना वीरका ही काम था, मैं तो इसी कारण कहता हूँ कि हम अजैन नहीं बल्कि जैन ही हैं।* वीर प्रभुने संसारके प्राणियोंका कल्याण किया। हमें भी उनके विचारों पर चलना चाहिये। वे वाक़ई वीर थे। संसारका सच्चा इतिहास वीरोंका ही इतिहास है। वीर-पूजाका यही महत्व है कि हम भी उन गुणोंको प्राप्त करें। जिनका हमें वीरने उपदेश दिया था। *हमें आशा ही नहीं बल्कि विश्वास है कि हमारा भारत वीरके उपदेश पर चलनेसे ही सुखी होगा।* इसलिये मैं आप लोगोंको पुनः बता देना चाहता हूँ कि आप-अब यह अच्छी तरह समझलें कि जबतक अहिंसाको नहीं अपनाएँगे, जिसका कि श्रेय भगवान् वीरको है, तबतक हम सुखी नहीं हो सकते।

(२-४-१९३९)

भाषण श्री बैजनाथजी बाजोरिया M. L. A.

सभापति महोदय तथा उपस्थित भाइयो और देवियो !

सबसे प्रथम मैं भगवान् श्री महावीरके प्रति अपनी श्रद्धाँजलि अर्पित करता हूँ । *महावीरजीका जन्म ऐसे समयमें हुआ था जब कि धर्मके नाम पर यज्ञ तथा होमादिमें हिंसाकी मात्रा बहुत ही अधिक हो गई थी तथा और भी नाना प्रकारसे प्राणि मात्रको सताया जा रहा था ।* ऐसी स्थितिमें भगवान् महावीरने संसारको अहिंसाका परम उपदेश देनेके लिये-संसारको अहिंसक बनानेके लिये-जन्म ग्रहण किया था। अहिंसा शब्दका अर्थ केवल पशु-हिंसाके निषेधसे ही नहीं है, बल्कि किसी भी प्राणीके जीवको तनसे, मनसे, वचनसे किसी भी प्रकारसे दुःख न पहुँचाना उसीका नाम अहिंसा है । अहिंसाको हमारे धर्ममें प्रधान धर्म माना गया है, इसीलिये श्रुति है-"अहिंसा परमो धर्मः ।" *भगवान् महावीरने सारे संसारमें अहिंसाकी महिमाको प्रज्वलित किया सबके हृदयमें दयाका संचार किया, उस समय प्रजा जो हिंसात्मक थी, उसे अहिंसात्मक बनाया, हिंसासे जो अनर्थ हो रहे थे, उनसे संसारका उद्धार किया और जो लोग* अपने धर्मको भूल रहे थे उन्हें सन्मार्ग पर लगाया।

सेठ बैजनाथ बाजोरिया एम. एल. ए.

सेठ बैजनाथ बाजोरिया भारतके एक प्रमुख व्यापारी होते हुए भी अपना अधिकांश समय धार्मिक और लोकोपयोगी कार्योंमें व्यतीत करते हैं। आप भारतकी प्राचीन सभ्यताके कट्टर पक्षपाती हैं। सनातनी रीतिरिवाजकी समर्थक जनताके आप केन्द्रीय असेम्बली में एक विश्वस्त प्रतिनिधि हैं ।

भाइयो ! अहिंसाके महत्वका वर्णन पूर्ण रूपेण करना मेरे ऐसे सामान्य व्यक्तिका कार्य नहीं है । भगवान श्रीकृष्णचन्द्रजीने श्रीमद्भगवद् गीतामें इस प्रकार कहा है:—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥
अहिंसा सत्यम क्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥
तेजः क्षमा धृतिःशौचम द्रोहो नाति मानिता ।
भवन्ति सम्पदं दैवीम भिजातस्य भारत ॥

निर्भयता, अन्तःकरणकी शुद्धि, ज्ञान और योगमें निष्ठा, दान, इन्द्रिय-निग्रह, यज्ञ, वेद पढ़ना, तप, सीधापन, अहिंसा, सच बोलना, क्रोध न करना, त्याग, शान्ति, चुगलखोरी न करना, प्राणीमात्र पर दया निर्लोभता, कोमल स्वभाव रखना, लज्जा, चंचलताका त्याग, तेज, क्षमा, धीरता, पवित्रता किसीसे घृणा या वैर न करना, अपनेको बड़ा समझ कर घमंड न करना । ये २६ दैवी सम्पत्तियाँ हैं । ये उन्हींमें होती हैं जिनका आगे भला होने वाला होता है ।

इसलिये, भाइयो और देवियो ! मैं आपसे

सानुरोध विनय करता हूँ कि आप इन वाक्योंके अनुसार चलकर अपने जीवनको पवित्र बनावें।

आज भी महात्मा गान्धीने अहिंसाके परम तत्त्वके आधार पर ही हमारे इस प्यारे भारतवर्ष-को जो परतन्त्रताकी बेड़ीमें जकड़ा हुआ है, स्वतन्त्र बनानेका दृढ़ संकल्प किया है और उसी अहिंसाके बल पर यह देश स्वतन्त्रताकी ओर अग्रसर हो रहा है। जब कि योरुपमें रक्त-पातकी तैयारियाँ हो रही हैं और युद्धकी भीषण अग्निमें आहुति हो जानेके भयसे शान्ति-रक्षाकी चेष्टा हो रही है, उस समय हमारे देशमें अहिंसाका सिद्धान्त उन्हें नत-मस्तक कर रहा है। अहिंसाका सामना कोई भी शत्रु नहीं कर सकता, अन्तमें उसे परास्त होना ही पड़ता है।

भाइयो! आजकल सुधारकी आँधी बह रही है स्थान स्थान पर हमें अपने धर्म-पथसे विमुख होने-के उपदेश सुनाये जा रहे हैं। अपनी धर्म-रूढ़ियों-को मानने वालोंको कूप मंडूक कहा जारहा है। मैं आप लोगोंको ऐसे उपदेशोंसे सावधान करता हूँ। आपको अपने धर्म-पथसे कदापि विचलित न होना चाहिये। अपने धर्मके अनुसार सब कोईको चलना वाञ्छनीय है, हमारे धर्ममें जो दोष दिखलाते हैं वे भूल करते हैं। "सहजं कर्म कौन्तेय सदोष मपि न त्यजेत्" के अनुसार अपने स्वाभाविक कर्म में दोष भी हो तो उसे न छोड़ना चाहिये। कारण भगवान्के नामके अतिरिक्त दोष सभीमें पाया जा सकता है। परन्तु हम लोगोंको अपने धर्म अपने कर्म पर अटल रहना चाहिये, इसीमें हमारा कल्याण है इसीसे हम मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं।

भाइयो! श्री महावीरकी जन्म-तिथिके दिन भारतवर्षमें छुट्टी मनाई जाय और सरकारकी ओरसे वह दिन प्रत्येक वर्ष छुट्टीका दिन घोषित कर दिया जाय इस बातका मैं सहर्ष अनुमोदन करता हूँ। जबकि जन्माष्टमी, रामनवमी, शिवरात्रीके दिन तथा यहाँ तक कि ईसामसीह तथा मुहम्मदके जन्म दिनोंकी सार्वजनिक छुट्टियाँ होती हैं, तब मैं नहीं समझता कि श्री महावीरके जन्म दिनकी छुट्टी क्यों न हो। आज भारतवर्षमें जैनियोंकी संख्या ५० लाखसे कम नहीं है। इतनी बड़ी संख्या होते हुए भी उनके धर्म संस्थापककी जन्म-तिथिको छुट्टी न हो इस बातका मुझे अत्यन्त खेद है। तथा जिसमें उन्हें यह छुट्टी प्राप्त हो जाय इस शुभकार्यमें मैं सदैव उनके साथ हूँ। लेकिन इस छुट्टीके दिन, जैन भाइयोंको यह न चाहिये कि अपना समय व्यर्थके कार्योंमें गँवावें। उस दिन उन्हें अपने भग-वान महावीरके शुभगुणोंका गान करना चाहिये और उनके उपदेशोंको दोहरा कर हृदयंगम करना चाहिये, जिससे कि वे अपने धर्मको भूल न जाएँ उस पर दृढ़ रह कर अपना कल्याण करनेमें समर्थ हों। इतना कह कर मैं अपना भाषण समाप्त करता हूँ और अपनी त्रुटियोंके लिये क्षमा प्रार्थी हूँ।

(१ अप्रैल ३९)

ज्ञान पर लीबनिज*

[श्री० नारायणप्रसाद जैन बी.एस सी.]

ज्ञान या तो साफ़ होता है या धुँधला; सुलझा या उलझा; पर्याप्त या अपर्याप्त; तात्कालिक या सङ्केतात्मक। पूर्ण ज्ञानको साफ़, सुलझा, पर्याप्त और तात्कालिक होना चाहिये; यदि वह इन कसौटियोंमेंसे किसी एक पर ठीक नहीं उतरता तो वह न्यूनाधिक अपूर्ण है। इसलिये हम ज्ञानकी दर्जाबन्दी निम्नलिखित तरतीबसे कर सकते हैं:—
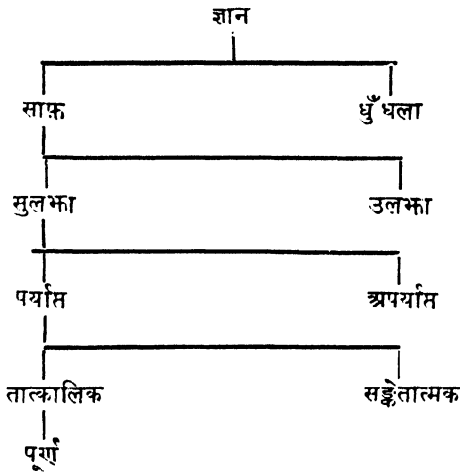
हमारा किसी वस्तुका ज्ञान *धुँधला* है, जब कि हम उसको फिर शनाख्त न कर सकें और शेष दूसरी तमाम चीज़ोंसे उसे छाँट न सके। हमें गुलाबके और बहुतसे साधारण फूलोंका ज्ञान *साफ़* है; क्योंकि हम उन्हें यक़ीनके साथ (निश्चित रूपसे) शनाख्त कर सकते हैं। जिन लोगोंसे हम प्रायः मिलते रहते हैं या अपने घनिष्ठ मित्रोंमेंसे किसीका हमारा ज्ञान साफ है; क्योंकि उन्हें जब कभी हम देखते हैं बिना हिच-किचाहट, पूरे यक़ीनके साथ, उनकी शनाख्त कर लेते है। जौहरीको रत्नोंका ज्ञान साफ़ होता है, पर एक साधारण व्यक्तिको *धुँधला*।

साफ़ ज्ञान *उलझा* हुआ होता है जबकि हम जानी हुई वस्तुके भागों और गुणोंमें तफ़रीक़ (भेद ज्ञान) न कर सकें, उसे सिर्फ़ अविभाजित रूपमें जान सकें।

हालाँकि कोई भी अपने मित्रको तत्क्षण जान जाता है और शेष तमाम लोगोंसे उसे छाँट सकता है, तो भी उसके लिये यह बता सकना बहुधा असम्भव होता है कि वह उसे कैसे और किन चिन्होंसे जानता है— भले ही वह उसकी शक्ल-सूरतका अत्यन्त स्थूल रूपसे वर्णन कर सकें। एक व्यक्ति, जिसे चित्रकलाका अभ्यास नहीं, जब घोड़ा या गाय जैसी परिचित चीज़का चित्र खींचनेकी कोशिश करता है तो उसे जल्द पता चल जाता है कि उसे उसकी शक्लका सिर्फ़ उलझा हुआ ज्ञान है, जबकि एक कलाकारको उसके हर अवयवका सुलझा हुआ ज्ञान होता है। रसायन-शास्त्र-वेत्ताको सोने चाँदीका *सुलझा* हुआ साफ़ ज्ञान होता है; क्योंकि वह दावेके साथ न सिर्फ़ यह बता सकता है कि अमुक धातु वास्तवमें सोना है या चाँदी बल्कि उन गुणोंका भी यथार्थ स्पष्ट वर्णन कर सकता हैं जिनके द्वारा वह उसे जानता है और यदि ज़रूरी हो तो, और भी बहुतसे अन्य गुणोंको बता सकता है। लेकिन जब

* *लीबनिज* (Leibnitz) *संसार का महान् गणितज्ञ और दार्शनिक।*

हम 'वैधानिक गवर्नमेंट' या 'सभ्य' राष्ट्रका ज़िक्र करते हैं तो हमें इनका सिर्फ अनिश्चित विचार रहता है। इन शब्दोंके अर्थ न तो साफ हैं न सुलझे हुए। यही बात स्पर्शों, स्वादों, सुगन्धियों, रंगों और आवाज़ोंके विषयमें भी है, इनका ज्ञान साफ हो सकता है, पर उस अर्थमें सुलझा हुआ नहीं जिसमें कि लीबनिज़ इस शब्दका प्रयोग करता है।

पर्याप्त और *अपर्याप्त* शब्दोंसे जो अन्तर लीबनिज़ प्रकटाना चाहता था उसे बताना आसान नहीं। वह कहता है--"जब हर चीज़ जिसका ज्ञान सुलझी कोटिमें आता है पूरे तौरसे सुलझे रूपमें जानली जाती है या जब अन्तिम विश्लेषण पहुँच जाता है तो ज्ञान *पर्याप्त* होता है। कदाचित् मैं नहीं जानता कि इसका कोई कामिल उदाहरण दिया जा सकता है--संख्याओंका ज्ञान अलबत्ता इसका उदाहरण कहा जा सकता है।"

तब वस्तुके पर्याप्त ज्ञानके लिये हमें न केवल वस्तुके उन अवयवोंकी ही तमीज़ होनी चाहिये जिनसे कि उस वस्तुका ज्ञान हुआ था बल्कि उन अवयवोंके अवयवों की भी। उदाहरण रूपसे कहा जासकता है कि हमें शतरंजके तख्तेका पर्याप्त ज्ञान है; क्योंकि हम जानते हैं कि वह ६४ वर्गोंसे बना है और उनमेंसे हर वर्गको हम सुलझे हुए रूपसे जानते हैं—हरएक वर्ग चार बराबरकी सरल रेखाओं से बना है, जो कि समकोण बनाती हुई मिलती हैं। फिर भी यह नहीं कहा जासकता कि हमें सरल रेखाका सुलझा हुआ ज्ञान है; क्योंकि उसकी हम भली भाँति परिभाषा नहीं दे सकते या उसका सरलतर रूपमें विश्लेषण नहीं कर सकते। पूर्णरूपसे पर्याप्त होनेके लिये हमारे ज्ञानको विश्लेषणके बाद विश्लेषणको अनन्तवार तस्लीम करना चाहिये, गोया पर्याप्त ज्ञान असम्भव होगया। लेकिन डाक्टर टॉम्सन का मत है कि हम उस ज्ञानको पर्याप्त मान सकते हैं जो कि विश्लेषण को लक्षित उद्देश्यके लिये काफ़ी दूर तक ले जाता है। जैसे कलसाज़को मशीनका पर्याप्त ज्ञान है यदि वह न सिर्फ़ उसके कुल पहियों और हिस्सोंको जानता है बल्कि उन हिस्सोंके उद्देश्य, द्रव्य, रूप, और कार्य को भी जानता है; इसके अलावा बशर्तेकि वह उस द्रव्य की कल-सम्बन्धी खूबियोंको और शक्लोंकी उन विशेषताओंको भी जाने जो कि मशीनके काममें प्रभाव डालती हैं। लेकिन उससे यह आशा नहीं रक्खी जा सकती कि वह इससे भी आगे बढ़े और यह समझाये कि 'अमुक प्रकारका लोहा या लकड़ी मज़बूत या कमज़ोर क्यों है', 'तेल क्यों चिकना कर देता है' या यह कि 'यान्त्रिक शक्तियोंके सिद्धान्त किन स्वयं सिद्धियों पर आधार रखते हैं।'

अन्तमें, हमें *संकेतात्मक* और *तात्कालिक* ज्ञानके अत्यन्त आवश्यक अन्तरको ध्यानपूर्वक देखना चाहिये।

तात्कालिक ज्ञान वह है जिसे हम इन्द्रियों द्वारा सीधा या मनसे तत्क्षण प्राप्त करें। हम तात्कालिक रूपसे जान सकते हैं कि वर्ग या षट्कोण क्या है, लेकिन सहस्रभुजको इस प्रकार जानना मुश्किल है।

हम १००० भुजाओंकी और १००१ भुजाओंकी शक्लों के फ़र्कको देखते ही नहीं बता सकते और न हम ऐसी किसी शक्लकी पूर्णतया अपने मनमें कल्पना ही कर सकते हैं। इसे हमने सिर्फ़ नामसे या संकेतात्मक रूपसे जाना है। तमाम बड़ी संख्याएँ जैसे प्रकाशकी रफ्तार (१८६००० मील प्रति सैकिंड), सूर्यकी दूरी (६३०००००० मील) बतानेवाली या ऐसी ही और, हमें सिर्फ़ संकेतोंसे ज्ञात हैं, और हमारी कल्पनाशक्तिके बाहर हैं।

अनन्त भी ऐसे ही तरीक़ेसे जाना जाता है। हम बुद्धिसे उस वस्तुसे परिचित हो सकते हैं जिसका ज्ञान हमें इन्द्रियों-द्वारा कभी न होता। हम न-कुछ, शून्य, परस्पर विरोधी, नास्तित्व, विचारातीत तकका ज़िक्र करते हैं, हालाँकि ये शब्द उस बातको जनाते हैं जिसको मनमें कभी मूर्त्तिमान नहीं किया जासकता बल्कि सिर्फ़ संकेतात्मक रूपमें जिसका विवेचन किया जा सकता है।

अङ्कगणित और बीजगणितमें प्रधानतः चिन्हात्मक (संकेतात्मक) ज्ञान ही हमारा विषय होता है; क्योंकि अङ्कगणितके किसी लम्बे प्रश्नमें या बीजगणितके सवालमें यह ज़रूरी नहीं है कि हम हर क़दम पर संख्याओं और संकेतोंके अर्थोंको मनके आगे उपस्थित करें।

लेकिन रेखागणितमें हम हर क़दमकी सत्यताके सहज (तात्कालिक) ज्ञानसे तर्कना करते हैं; क्योंकि हम विचाराधीन शक्लोंकी शक्लोंको मनके सन्मुख लाकर यह देखते हैं कि आया उन शक्लोंमें इच्छित विशेषताएँ वाक़ई हैं।

संकेतात्मक और तात्कालिक तरीक़ोंके तुलनात्मक लाभोंके विषयमें बहुत कुछ कहा जा सकता है। संकेतात्मक कम श्रमसाध्य होता है और विशालतम रूपसे लागू होनेवाले उत्तर देता है; लेकिन तात्कालिकके समान विषयकी स्पष्टता और उस पर अधिकार संकेतात्मक कभी नहीं देता।

जो गणितसम्बन्धी विषयोंके लिये कहा गया है वही सब प्रकारके तर्कोंमें लागू किया जा सकता है; क्योंकि शब्द भी - अ ब स या क ख ग की तरह चिन्ह ही हैं और उनके अर्थोंके स्पष्ट ज्ञानके बिना भी तर्क की जा सकती है।

विद्यार्थी या पाठकमें वस्तुओंके ज्ञानके बजाय शब्दोंको अपनानेसे अधिक बुरी आदत नहीं। धर्मग्रन्थमें आत्मा, परमात्मा, पुण्य पाप, स्वर्ग नरक, संसार मोक्ष आदिके बारेमें पढ़ना और मनमें इन शब्दोंका भाव स्पष्ट न हो तो इनका पढ़ना शायद न पढ़नेसे बदतर है।

न रसायन और न प्राकृतिक दर्शन शास्त्रके ग्रंथोंसे (जहाँ सैंकड़ों नये शब्द मिलेंगे जो कि उसे मात्र खोखले और उलझे चिन्ह दिखाई देंगे) कोई विशेष लाभ उठा सकता है तावक्ते कि वह स्वयं प्रयोगोंका निरीक्षण और वस्तुओंका परीक्षण न करे। इस कारण हमें अपनी इन्द्रियोंसे वस्तुओंके रूप, गुण, और परिवर्तनोंसे परिचित होनेका कोई भी अवसर नहीं छोड़ना चाहिये, ताकि जिस भाषाका हम प्रयोग किया करते हैं; जहाँतक सम्भव हो सहज, तात्कालिक रूपमें प्रयुक्त की जा सके और हम उन बुद्धि-विरुद्ध बातों और प्रमाणाभासोंसे बच सकें जिनमें कि हम अन्यथा पड़ सकते हैं।
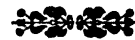
सुभाषित

'आत्म-संयमसे स्वर्ग प्राप्त होता है, किन्तु असंयत इन्द्रिय-लिप्सा रौरव नर्कके लिये खुली शाह-राह (खुला राज मार्ग) है।'

'आत्म-संयमकी, अपने खज़ानेकी तरह रक्षा करो, उससे बढ़कर इस दुनियाँमें अपने पास और कोई धन नहीं है।'

—तिरुवल्लुवर
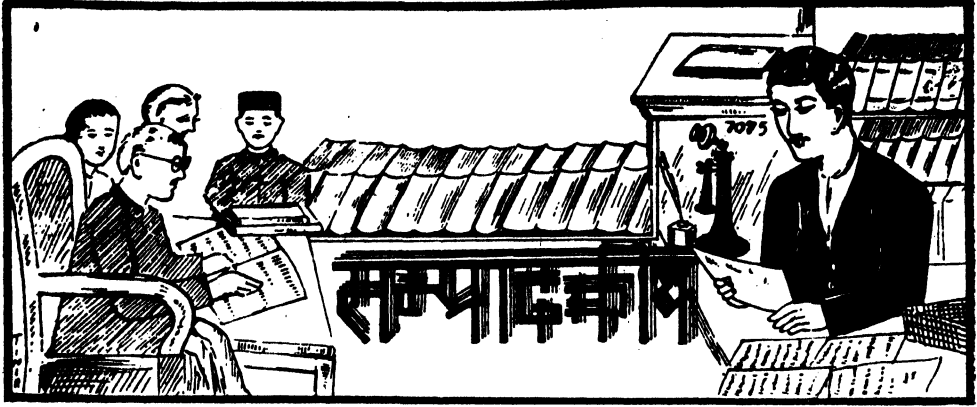
हेमचन्द्राचार्य-जैनज्ञानमन्दिर

जिन श्री हेमचन्द्राचार्यका परिचय पाठक अनेकान्तकी गत तीन किरणोंसे पढ़ रहे हैं उनकी पुण्यस्मृतिमें हाल ही गुजरातकी पुरातन राजधानी पाटण शहरमें एक विशाल जैनज्ञानमन्दिरकी स्थापना होकर उसकी उद्‌घाटन-क्रियाके लिये 'हेम-सारस्वत-सत्र' नामसे एक बड़ा भारी उत्सव गुजराती साहित्य-परिषदकी ओरसे गत ७, ८, ९ अप्रैलको नेता और बम्बई गवर्नमेंटके गृहसचिव श्री० कन्हैयालाल माणिकलालजी मुन्शीकी अध्यक्षतामें मनाया गया है। मुन्शीजीके ही पवित्र हाथोंसे ७ अप्रैलको दिनके ३ बजे इस मन्दिरकी उद्‌घाटन-क्रिया सम्पन्न हुई है। उद्‌घाटनादिके अवसरपर आपके जो भाषण हुए हैं वे बड़े ही महत्वपूर्ण, सार-गर्भित तथा गुजराती भाइयोंमें साहित्यसेवाकी भावनाको और भी अधिक जागृत करने वाले थे। ग्रन्थसंग्रहके प्रदर्शनमें एक बड़ा-सा ट्रंक ताड़पत्रीय शास्त्रोंके टूटे फूटे पत्रोंसे भरा हुआ रक्खा था, उसकी तरफ इशारा करते हुए मुन्शीजीका हृदय भर आया था और उन्होंने उपस्थित जनताको लक्ष्य करके कहा था—'शास्त्रोंके टूटे-फूटे पत्रोंके इस ढेरको देखकर हृदयको रोना आता है! हमारे बुजुर्ग दादाओं तथा साधु-महाराजोंने परम्परासे जिस अटूट खज़ानेको सुरक्षित रक्खा था वह इस प्रकार नष्ट होगा, उनकी संतान ऐसी नालायक निकलेगी—उनके साहित्यको नष्ट करेगी, ऐसा उन्होंने कभी भी सोचा—समझा नहीं होगा!!!'

मुंशीजीकी हेमचन्द्राचार्यके प्रति श्रद्धा-भक्ति और साहित्योद्धारकी उत्कट भावनाका पता इतने परसे ही चल जाता है, कि आपने बम्बईमें भी हेमचन्द्राचार्यका स्मारक क़ायम करनेके लिये ३५ हज़ार रुपये तो एकत्र कर लिये हैं और ५० हज़ारसे ऊपर और एकत्र करनेका आपका प्रयत्न चालू है। अतः ऐसी सच्ची लगनवाले एक प्रसिद्ध पुरुषके हाथों इस ज्ञान-मन्दिरका उद्‌घाटन बहुत ही समुचित हुआ है और वह उसके उज्ज्वल भविष्यका द्योतक है। उद्‌घाटनके समय तक मन्दिरमें पन्द्रह हज़ारके क़रीब प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथों और बहुतसे बहुमूल्य चित्रोंका संग्रह हो चुका था, जिन सबकी क़ीमत लाखों रुपयोंमें भी नहीं—आँकी जा सकती। अस्तु।

यह ज्ञानमन्दिर किसने बनवाया? किस उद्देश्यसे बनाया? किसकी प्रेरणासे बना? कितनी लागतमें इसका निर्माण हुआ? इसके निर्माणमें क्या कुछ विशेषता है? और इसमें संगृहीत ग्रंथ-राशि आदि सामग्री कहाँसे प्राप्त हुई? ये सब बातें ऐसी हैं जिन्हें जाननेके लिये हर एक पाठक उत्सुक होगा। हालमें प्राप्त हुए गुजराती पत्रोंमें इन विषयोंपर कितना ही प्रकाश डाला गया है, उन्हीं परसे कुछ परिचय यहाँ 'अनेकान्त'के पाठकोंके लिये संकलित किया जाता है।

ज्ञानमन्दिरके निर्माता और प्रेरक

यह ज्ञान-मन्दिर पाटण-निवासी तथा बम्बईके प्रसिद्ध जौहरी सेठ हेमचन्द मोहनलालजीने बनवाया है। आपके पिता श्री सेठ मोहनलाल मोतीचन्दजीको प्रवर्तक मुनि श्रीकान्तिविजयजी महाराजने उपदेश देकर ऐसे मन्दिरकी भारी आवश्यकता बतलाई थी और उनके भीतर उसके निर्माणकी भावनाको जागृत किया था। वे स्वयं अपनी भावना पूरी नहीं कर सके; परन्तु सेठ हेमचन्दजीने पिताकी भावनाको मान देकर उसे मस्तक पर चढ़ाया और उसकी पूर्त्यर्थ मन्दिर-निर्माणके लिये ५१००० रु० की स्वीकृति श्रीसंघको प्रदान करके एक सत्पुत्रका आदर्श सबोंके सामने रक्खा। आपकी इस ५१ हज़ारकी भारी रक़मसे ही ज्ञान-मन्दिरकी बिल्डिंग तय्यार हुई है, जिसके उद्घाटन अवसर पर मन्दिरके निर्वाहार्थ आपने दस हज़ार रुपयेकी और भी सहायता प्रदान की है। अपनी इस महती उदारता और सुदूरदृष्टताके लिये सेठ हेमचन्दजी निःसन्देह बहुत ही प्रशंसाके पात्र हैं, उन्होंने अपनी इस पुनीत कृतिसे जगतको अपना ऋणी बनाया है। श्रीकान्तिविजयजी महाराजकी श्रुतभक्ति, पुरातनसाहित्यक-रत्नोंकी शुभभावना, समयोचित सूझ-बूझ और दूरदृष्टिताकी भी प्रशंसा किये बिना नहीं रहा जा सकता, जिनकी सत्प्रेरणाका ही यह सब सुफल फला है।

मन्दिर-निर्माणका उद्देश्य

गुजरातके महाराजा श्री सिद्धराज जयसिंहदेव बड़े ही विद्वत्प्रेमी तथा साहित्यरसिक थे। उन्होंने अपनी राजधानी अणहिलपुर पाटणमें एक राजकीय पुस्तकालयकी स्थापना की थी और तीनसौ लेखकोंको रखकर प्रत्येक दर्शनके सभी विषयोंसे सम्बन्ध रखनेवाली पुस्तकोंकी अनेक नकलें कराई थीं। उनके बाद गुजरातके पराक्रमी अधिपति राजा कुमारपालने इक्कीस ज्ञान-भण्डार स्थापित किये थे और श्री हेमचन्द्राचार्यके रचे हुए ग्रंथोंकी २१-२१ प्रतियाँ सुवर्णाक्षरोंसे लिखाकर तैयार कराई थीं। महामन्त्री वस्तुपाल-तेजपाल, मंत्री पेथडशाह और मंडनमंत्री आदि दूसरे भी अनेक पुरुषोंने ज्ञान-भण्डारोंकी स्थापनामें अपनी उपार्जन की हुई अपार लक्ष्मीका सदुपयोग किया था। गुजरातके ये सब ज्ञानभंडार जैनाचार्योंकी प्रबल प्रेरणासे स्थापित हुए थे, फिर भी किसीको यह समझनेकी भूल न करनी चाहिये कि इनमें मात्र जैन-धर्मके साहित्यको ही एकत्र किया जाता होगा। ऐसा नहीं है—इन भंडारोंमें तो वेद, उपनिषद, गीता, जैनागम और बौद्ध-पिटकोंसे लेकर न्याय, व्याकरण, ज्योतिष, वैद्यक, नाटक, छंद, अलंकार, काव्य, कोशादि सभी विषयोंके मूल ग्रंथ बड़ी लगन तथा दिलचस्पीके साथ इकट्ठे किए जाते थे और इस प्रकार भारतवर्षकी अमूल्य ज्ञान लक्ष्मी वहाँ एकत्र होती थी।

इन भण्डारोंके द्वारा ज्ञानलक्ष्मीकी जो विरासत गुजरातको प्राप्त हुई है उसमें पाटणका नाम सर्वोपरि है। पाटणमें आज जुदा-जुदा आठ मुख्य ज्ञान-भण्डार हैं, जिनमें ताड़पत्र तथा काग़ज पर लिखी हुई हज़ारों ग्रंथ-प्रतियाँ मौजूद हैं—उनकी क़ीमतका कोई तख़मीना नहीं किया जा सकता। विद्वान् लोग इस संग्रहको देख कर चकित होते हैं। संस्कृत साहित्यके प्रेमी पिटर्सन साहबने इन भण्डारोंको 'अद्वितीय' लिखा है। बड़ौदा-नरेश स्व० महाराजा सयाजीराव गायकवाड़को अपने राज्यके इन ज्ञानभण्डारोंका बड़ा अभिमान था। इन भण्डारोंसे समय-समय पर ऐसे हिन्दू, बौद्ध तथा जैनग्रंथ उपलब्ध होते रहे हैं, जो अन्यत्र कहीं भी नहीं पाये जाते हैं। हालमें भट्टाकलंकदेवका 'प्रमाण-संग्रह' ग्रन्थ भी स्वोपज्ञभाष्य सहित यहींके भण्डारसे मुनि श्री पुण्यविजयजीके सत्प्रयत्न-द्वारा उपलब्ध हुआ है, जो दिगम्बर-जैनोंके किसी भी भण्डारमें नहीं पाया जाता था।

इन सब भण्डारोंके बहुमूल्य ग्रंथ संरक्षाकी विशेष योजनाओंके साथ निर्माण किये गये एक ही मकानमें रक्खे जायँ तो उनका ठीक-ठीक संरक्षण होवे और सुव्यवस्था तथा सुविधा होनेके कारण जनता उनसे यथेष्ट लाभ उठा सके, इसी उद्देश्यको लेकर छह वर्ष हुए पाटणमें इस ज्ञान-मन्दिरके निर्माणकी हलचल उत्पन्न हुई थी, जो आज बहुत अंशोंमें पूर्ण हो रही है। साथ ही उक्त उद्देश्यमें कुछ वृद्धि हुई भी जान पड़ती है—अर्थात् ऐसा मालूम होता है कि अब यह ज्ञान-

मन्दिर इधर-उधरसे महत्वके प्राचीन ग्रन्थोंको संग्रह करके उनकी मात्र रक्षा और वहीं पर पढ़नेकी सुविधाका काम ही नहीं करेगा बल्कि ऐसे अलभ्य ग्रन्थोंको प्रकाशित कर उन्हें सविशेषरूपसे लोकपरिचयमें लानेका यत्न भी करेगा जो अभीतक अप्रकाशित हैं। इसीसे उद्घाटनके अवसर पर मुन्शीजीने कहा था—'यह जो ज्ञान-मन्दिर तय्यार हुआ है वह पुस्तकोंको संग्रह करके ही न रक्खे बल्कि उन्हें छपाकर-उद्धार करके जगतको सौंपे।' इससे इस ज्ञान-मन्दिरका उद्देश्य कितना उत्कृष्ट तथा महान है और उसे पूरा करता हुआ यह ज्ञान-मन्दिर कितना अधिक लोकका हित-साधन करेगा—कितने ज्ञान-पिपासुओंकी पिपासाको शान्त करेगा—उसे बतलानेकी ज़रूरत नहीं, सहृदय पाठक स्वयं समझ सकते हैं। जिन ग्रन्थोंकी प्राप्ति के लिये बहुत कुछ इधर-उधर भटकना पड़ता था और भण्डारियोंकी मिन्नत खुशामदें करने पर भी उनके दर्शन नहीं हो पाते थे, उनकी प्राप्तिका ऐसा सुगम मार्ग खुल जानेके कारण किस साहित्य-प्रेमीको हर्ष न होगा?

पाटणके उक्त आठ ज्ञान-भण्डारोंकी प्रमुख-साहित्य-सामग्री ही अभी तक इस ज्ञान-मन्दिरमें एकत्रित हुई है। आशा है दूसरे स्थानोंके ऐसे शास्त्र-भण्डारोंसे भी इस मन्दिरको शीघ्र ही महत्वके ग्रन्थ रत्नोंकी प्राप्ति होगी जहाँ उनकी रक्षा तथा उपयोगका कोई समुचित प्रबन्ध नहीं है।

मन्दिरकी निर्माण-विशिष्टता

इस ज्ञान-मन्दिरका निर्माण पाटणके पंचासरा पार्श्वनाथके भव्य मन्दिरके पास ही हुआ है। निर्माण-की योजना तय्यार करनेमें सेठ हेमचन्दजीको बड़ा भारी परिश्रम उठाना पड़ा है। सबसे पहले मन्दिरकी रचनाके लिये उन्हें हिन्दुस्तान तथा यूरोपके अपने मित्रों तथा कितने ही होशियार इँजिनियरोंके साथ खूब सलाह मशविरा करना पड़ा; क्योंकि ज़रूरत इस बातकी थी कि मकान ऐसी रीतिसे बनाया जाय जिससे उसमें नमी, दीमक आदि जन्तु और अग्निका उपद्रव न हो सके। १२५ वर्ग फीट जगहमें ६५+६५ फीटकी नीव पर इस मकानकी योजना की गई है। उसके बाहरका दृश्य बहुत ही भव्य है। संगमर्मरकी विशाल सीढ़ियोंकी श्रेणी और उनके ऊपर एलोराके जगद्विख्यात गुहामन्दिरोंके ढंगके सुन्दर स्तम्भ इस मन्दिरके बनाने वालेकी विशालता और कला-प्रियताकी प्रतीति कराते हैं। ज्ञानमन्दिर-के अन्दर प्रवेश करने पर बीचमें विशाल हॉल और चारों तरफ़ सब मिलाकर सात खण्ड दृष्टिगोचर होते हैं। उनमेंके दायें बायें हाथके पहले दो खण्ड साधारण ढंग-के है और उनका उपयोग ज्ञानमन्दिरके ऑफिसके तौर पर किया जायगा। शेष पाँच खण्ड खास तौरसे लोहे-के बनाये गये हैं, जिससे उनके भीतरके ग्रन्थ किसी भी स्थितिमें सुरक्षित रह सकें, अग्निका इन खण्डों पर किसी भी तरहका असर नहीं पड़ सकता। हवाके आने जानेके लिये भी इन खण्डोंमें सब तरहका प्रबन्ध किया गया है, जिससे नमी नहीं पहुँच सकती और दीमक वगैरह जन्तु नीचे नीचे ज़मीनमेंसे कभी कोई प्रकारका उपद्रव न कर सकें इसके लिये बहुत गहरी नीवमें नीले थोथेसे मिश्रित किया हुआ सीमेंट कंक्रीट भरा गया है। इन खण्डों पर साथ ही साथ विशाल गैलरी भी बनाई गई है। यह मकान ज़मीनसे ८ फुट ऊँचा है, इसलिये वर्षाकालमें भी इसको कोई प्रकारका भय नहीं है। ३६ फीट ऊँचा होनेसे यह मकान खूब आकर्षक मालूम होता है।

इसमें सन्देह नहीं कि श्वेताम्बर भाइयोंका यह ज्ञानमन्दिर ज्ञान-पिपासुओंके लिये एक ज्ञान प्याऊका काम देगा और देश-विदेशके हजारों विद्वानोंके लिये यात्राधाम बनेगा। इसके निर्वाहार्थ सेठ हेमचन्दकी उक्त दस हजारकी रकमके अतिरिक्त २१ हजारकी और भी रकम कुछ गृहस्थोंकी तरफसे जमा हुई है और अधिक रकम जमा करनेके लिये बम्बई तथा पाटनमें प्रयत्न जारी है, और ये सब भावीके शुभ चिन्ह हैं*।

---

* इस लेखके संकलित करनेमें श्री धीरजलाल टोकरशी शाहके लेखसे अधिक सहायता ली गई है, अतः उनका आभार मानता हूँ। —सम्पादक

मेरी अभिलाषा

[ले०—श्री रघुवीरशरण अग्रवाल एम.ए. 'घनश्याम']

(१)

अज्ञान-निशाने कर प्रसार,
फैलाया फिरसे अन्धकार !
सब लुप्त हुआ वह पूर्व-ज्ञान
भारतको जिससे मिला मान !!

अब होवे तमका शीघ्र अन्त।
चमके सुज्योति फिरसे अनन्त ॥

(२)

हिंसाका फैला है स्वराज्य,
सब भक्षणीय कुछ नहीं त्याज्य !
आचार नहीं, नहिं सद्विचार,
अपना-सा होता कहाँ प्यार !!

हो जाएं फिरसे सब सुधार।
ऐसी सुज्योतिका हो प्रसार ॥

(३)

हा ! पड़ा परस्पर भेद भाव,
उत्पन्न हुए जिससे कुभाव !
छल दम्भ मोहका पड़ा जाल,
पल-पलमें आती नई चाल !!

हों शुद्ध परस्पर प्रेम-भाव।
मिट जाएं सभी मन मलिन भाव ॥

(४)

है धर्म आड़में छिपे पाप,
जिन नष्ट किया सब यश प्रताप !
हुआ सत्य धर्मका हा ! विनाश,
पाखण्ड मतोंके बिछे पाश !!

अब 'अनेकान्त' में हों विलीन।
सुख पाएं सब ही धनी दीन ॥

एक बार

[श्री० भगवतस्वरूप जैन 'भगवत्']

टूट टूटकर उलझ गये हैं,
मेरी वीणाके सब तार !
उतर गया है भग्न-भाग्यसे,
प्यार और आदर सत्कार !!
'व्यर्थ' समझने लगा उसे है,
अब यह स्वार्थ-पूर्ण-संसार !
प्रभो ! कृपाकर एकबार तो,
भरदो फिर रस-मय झनकार !!

* * *

मेरे इस मरु थल प्रदेशमें,
नीरसताका है अधिकार !
ठुकराता है विश्व हृदय से,
दुर्वचनोंका दे उपहार !!
फूले-फले हुए द्रुम-दलसे,
वंचित है मेरा आकार !
प्रभो कृपाकर एकबार तुम,
करदो मुझमें रस संचार !!

* * *

नाविक मूर्ख, जर्जरित नौका,
शेष नहीं जिसमें पतवार !
विमुख-वायु बह रही पयोनिधि,
मचा रहा है हा-हाकार !!
मैं हताश, निश्चेष्ट, कर रहा,
केवल चिन्ताका व्यापार !
प्रभो ! कृपाकर एकबार बस,
पहुँचा दो मुझको उस पार !!

Regd. No. L. 4328

अनेकान्तके नियम

१. अनेकान्तका वार्षिक मूल्य २॥) रु० पेशगी है। वी. पी.से मंगाने पर समयका काफी दुरुपयोग होता है और ग्राहकोंको तीन आने रजिस्ट्रीके अधिक देने होते हैं। अतः मूल्य मनिआर्डरसे भेजनेमें ही दोनों ओर सुविधा रहती है।

२. अनेकान्त प्रत्येक माहकी २८ ता० को अच्छी तरह जाँच करके भेजा जाता है। जो हर हालतमें १ ता० तक सबके पास पहुँच जाना चाहिये। इसीलिये टाइटिल पर १ ता० छपी होती है। यदि किसी मासका अनेकान्त १ ता० को न मिले तो, अपने डाकघरसे लिखा पढ़ी करनी चाहिये। वहाँसे जो उत्तर मिले वह उस मासकी १९ ता० तक हमारे पास पहुँच जाना चाहिये। देर होनेसे, डाकघरका जवाब, शिकायती पत्रके साथ न आने दूसरी प्रति बिना मूल्य भेजनेमें असुविधा रहेगी।

३. अनेकान्तके एक वर्षसे कमके ग्राहक नहीं बनाये जाते। ग्राहक प्रथम किरणसे १२ वीं किरण तकके ही बनाये जाते हैं। एक वर्षकी किरणसे दूसरे वर्षकी बीचकी किसी उस किरणतक नहीं बनाये जाते अनेकान्तका नवीन वर्ष दीपावलीसे प्रारम्भ होता है।

४. पता बदलनेकी सूचना ता० २० तक कार्यालयमें पहुँच जानी चाहिये। महिने दो महिनेके लिये पता बदलवाना हो, तो अपने यहाँके डाकघरको ही लिखकर प्रबन्ध कर लेना चाहिये। ग्राहकोंको पत्र-व्यवहार करते समय उत्तरके लिए पोस्टेज खर्च भेजना चाहिये। साथ ही अपना ग्राहक नम्बर और पता भी स्पष्ट लिखना चाहिये, अन्यथा उत्तरके लिये कोई भरोसा नहीं रखना चाहिये।

५. अनेकान्तका मूल्य और प्रबन्ध सम्बन्धी पत्र किसी व्यक्ति विशेषका नाम न लिखकर निम्न पतेसे भेजना चाहिये।

व्यवस्थापक "अनेकान्त"
कनॉट सर्कस पो॰ बॉ॰ नं॰ ४८ न्यू देहली।

नेमचन्द्र जैन आॅनरेरी के प्रबन्धसे 'वीर प्रेस ऑफ इण्डिया' कनॉट सर्कस न्यू देहलीमें छपा।

वर्ष २, किरण ८

ज्येष्ठ
वीर नि० सं० २४६५
१ जून १९३९

वार्षिक मूल्य २॥)

सम्पादक—
जुगलकिशोर मुख्तार
अधिष्ठाता वीर-सेवामन्दिर सरसावा (सहारनपुर)

संचालक—
तनसुखराय जैन
कनॉट सरकस पो० ब० नं० ४८ न्यू देहली

मुद्रक और प्रकाशक—अयोध्याप्रसाद गोयलीय।

❀ विषय सूची ❀

श्रीमद् रायचन्दजी जैन

मेरे जीवनपर मुख्यतासे कवि रायचन्द भाईकी छाप पड़ी है। टालस्टाय और रस्किनकी अपेक्षा भी रायचन्द भाईने मुझपर गहरा प्रभाव डाला है। —महात्मा गांधी

ॐ अर्हम्

नीति-विरोध-ध्वंसी लोक-व्यवहार-वर्त्तकः सम्यक् ।
परमागमस्य बीजं भुवनैकगुरुर्जयत्यनेकान्तः ॥

वर्ष २ | सम्पादन-स्थान—वीर-सेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम) सरसावा, जि॰ सहारनपुर
प्रकाशन-स्थान—कनॉट सर्कस, पो॰ ब॰ नं॰ ४८, न्यू देहली
ज्येष्ठ शुक्ल, वीरनिर्वाण सं॰ २४६५, विक्रम सं॰ १९९६ | किरण ८

समन्तभद्र-वाणी

प्रज्ञाधीशप्रपूज्योज्ज्वलगुणनिकरोद्भूतसत्कीर्तिसम्पद्-
विद्यानन्दोदयायाऽनवरतमखिलक्लेशनिर्णाशनाय ।
स्ताद्गौः सामन्तभद्री दिनकररुचिजित्सप्तभंगीविधीद्धा
भावाद्येकान्तचेतस्तिमिरनिरसनी वोऽकलंकप्रकाशा ॥

—अष्टसहस्र्यां, श्रीविद्यानन्दाचार्यः

श्रीसमन्तभद्रकी वाणी—वाग्देवी—बड़े बड़े बुद्धिमानों (प्रज्ञाधीशों) के द्वारा प्रपूजित है, उज्ज्वल गुणोंके समूहसे उत्पन्न हुई सत्कीर्तिरूपी सम्पत्तिसे युक्त है, अपने तेजसे सूर्यके तेजको जीतने वाली सप्तभंगी विधिके द्वारा प्रदीप्त है, निर्मल प्रकाशको लिये हुए है और भाव-अभाव आदिके एकान्त पक्षरूपी हृदयान्धकारको दूर करनेवाली है; वह वाणी तुम्हारी विद्या (केवलज्ञान) और आनन्द (अनन्त सुख) के उदयके लिये निरन्तर कारणीभूत होवे और उसके प्रसादसे तुम्हारे संपूर्ण दुःख-क्लेश नाशको प्राप्त हो जावें ।

अद्वैताद्याग्रहोग्रग्रह-गहन-विपन्निग्रहेऽलंध्यवीर्याः
स्यात्काराऽमोघमंत्रप्रणयनविधयः शुद्धसद्ध्यानधीराः ।

धन्यानामादधाना धृतिमधिवसतां मंडलं जैनमग्र्यं
वाचः सामन्तभद्र्यो विदधतु विविधां सिद्धिमुद्भूतमुद्राः ॥

—अष्टसहस्र्यां, श्रीविद्यानन्दः

स्वामी समन्तभद्रकी वाणी—वाक्ततिरूप सरस्वती—अद्वैत-पृथक्त्व आदिके एकान्त आग्रहरूपी उग्र-ग्रह-जन्य गहन विपत्तिको दूर करनेके लिये अलंघ्यवीर्या है—अप्रतिहत शक्ति है—,स्यात्काररूपी अमोघ मंत्रका प्रणयन करनेवाली है, शुद्ध सद्ध्यान धीरा है—निर्दोष परीक्षा अथवा सच्ची जाँच-पड़तालके द्वारा स्थिर है,—उद्भूतमुद्रा है—ऊँचे आनन्दको देनेवाली है—धैर्यवन्त-धन्य-पुरुषोंकी अवलम्बनस्वरूप है और अग्र जैन मंडल है—जैनधर्मके अन्तःतेजको खूब प्रकाशित करने वाली है—; वह वाणी लोकमें नाना प्रकारकी सिद्धिका विधान करे—उसका आश्रय पाकर लौकिक जन अपना हित सिद्ध करनेमें समर्थ होवें ।

अपेक्षैकान्तादि-प्रबल-गरलोद्रेक-दलिनी
प्रवृद्धाऽनेकान्ताऽमृतरस निषेकाऽनवरतम् ।
प्रवृत्ता वागेषा सकल-विकलादेश-वशतः
समन्ताद्भद्रं वो दिशतु मुनिपस्याऽमलमतेः ॥

—अष्टसहस्र्यां, श्रीविद्यानन्दः

निर्मलमति श्रीसमन्तभद्र मुनिराजकी वह वाणी, जो अपेक्षा-अनपेक्षादिके एकान्तरूप प्रबल गरल (विष) के उद्रेकको दलने वाली है, निरन्तर अनेकान्तरूपी अमृतरसके सिञ्चनसे खूब वृद्धिको प्राप्त है और सकलादेशों—प्रमाणों—तथा विकलादेशों—नयों—के अधीन प्रवृत्त हुई है, सब ओरसे तुम्हारे मंगल एवं कल्याणकी प्रदान करने वाली होवे—उसकी एकनिष्ठापूर्वक उपासना एवं तद्रूप आचरणसे तुम्हारे सब ओर भद्रतामय मंगलका प्रसार होवे ।

गुणान्विता निर्मलवृत्तमौक्तिका नरोत्तमैः कण्ठविभूषणीकृता ।
न हारयष्टिः परमेव दुर्लभा समन्तभद्रादिभवा च भारती ॥

—चन्द्रप्रभचरिते,श्रीवीरनन्द्याचार्यः

गुणोंसे—सूतके धागोंसे गूंथी—हुई, निर्मल गोल मोतियोंसे युक्त और उत्तम पुरुषोंके कण्ठका विभूषण बनी हुई हार यष्टिको—मोतियोंकी मालाको—प्राप्त कर लेना उतना कठिन नहीं है जितना कठिन कि समन्तभद्रकी भारती (वाणी) को पा लेना—उसे खूब समझ कर हृदयंगम कर लेना है, जो कि सद्गुणोंको लिये हुए है, निर्मल वृत्त (वृत्तान्त, चरित्र, आचार, विधान तथा छंद) रूपी मुक्ताफलोंसे युक्त है और बड़े बड़े आचार्यों तथा विद्वानोंने जिसे अपने कण्ठका आभूषण बनाया है—वे नित्य ही उसका उच्चारण तथा पाठ करनेमें अपना गौरव और अहोभाग्य समझते रहे हैं । अर्थात् समन्तभद्रकी वाणी परम दुर्लभ है—उनके वचनोंका लाभ बड़े ही भाग्य तथा परिश्रमसे होता है
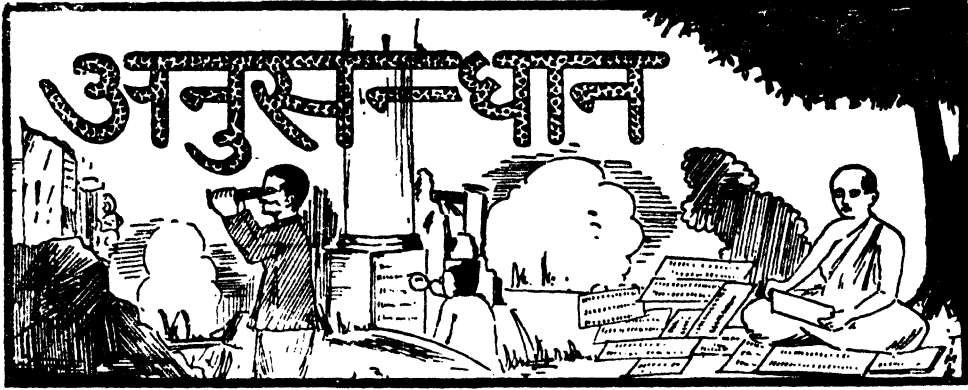
अपराजितसूरि और विजयोदया

[लेखक—पं० परमानन्दजी जैन शास्त्री]

卐 卐 卐

दिगम्बर जैन ग्रन्थोंके टीकाकारोंमें अपराजितसूरिका नाम भी खास तौरसे उल्लेखनीय तथा गौरवको प्राप्त है। आपका दूसरा नाम 'श्रीविजय' अथवा 'विजय' है, जो कि 'अपराजित' का ही पर्यायनाम जान पड़ता है। पं० आशाधरजीने 'मूलाराधनादर्पण' में इस नामके साथ आपका तथा आपके वाक्यों का बहुत कुछ उल्लेख किया है*। आप अपने समयके बड़े भारी विद्वान् थे—दिगम्बर-श्वेताम्बर-साहित्यसे केवल परिचित ही न थे किन्तु दोनोंके अन्तस्तत्त्वके मर्मको भी जाननेवाले थे। न्याय, व्याकरण, काव्य, कोश और अलंकारादि विषयोंमें भी आपकी अच्छी गति थी। भगवती आराधनाकी टीका-प्रशस्तिमें आपको 'आरातीयसूरिचूडामणि' तथा 'जिनशासनोद्धरणधीर' तक लिखा है। आपकी कृतियोंमें 'भगवती आराधना' की एक संस्कृत टीका ही इस समय उपलब्ध है, जिसका नाम है 'विजयोदया'। यह टीका बड़े महत्वकी है। सूक्ष्मदृष्टिसे अवलोकन करने पर इसकी उपयोगिताका सहज ही में पता चल जाता है—इसमें ज्ञेय पदार्थोंका अच्छे ढँगसे प्रतिपादन किया गया है और यह पढ़नेमें बड़ी ही रुचिकर मालूम होती है। इस टीकाके एक उल्लेख परसे यह भी जाना जाता है कि अपराजितसूरिने 'दशवैकालिक' ग्रन्थपर भी कोई महत्वकी टीका लिखी है, जिसकी खोज होनी चाहिये।

अपराजितसूरि कब हुए, कब उनकी यह 'विजयोदया' टीका लिखी गई और उनकी दूसरी रचनाएँ क्या क्या हैं, ये सब बातें अभी बहुत कुछ अन्धकारमें हैं। टीका प्रशस्तिमें भी इनका कोई उल्लेख नहीं है। यह

* देखो, 'अनेकान्त' वर्ष २, कि० १ पृ० ४७ पर 'भगवती आराधनाकी दूसरी टीका टिप्पणियाँ' नामका सम्पादकीय लेख।

प्रशस्ति इस प्रकार है :—

"चन्द्रनन्दि-महाकर्मप्रकृत्याचार्य-प्रशिष्येण आरातीयसूरिचूलामणिना नागनन्दिगणिपादपद्मोपजातमतिबलेन बलदेवसूरिशिष्येण जिनशासनोद्धरणधीरेण लब्धयशः प्रसरेणापराजितसूरिणा श्रीनन्दिगणिना चचोदितेन रचिता आराधनाटीका श्रीविजयोदया नाम्ना समाप्ता ॥"

इसमें बतलाया है कि 'इस टीकाके कर्ता अपराजितसूरि चन्द्रनन्दि नामक महाकर्मप्रकृत्याचार्यके प्रशिष्य और बलदेवसूरिके शिष्य थे, आरातीय आचार्योंके चूडामणि थे, जिनशासनका उद्धार करनेमें धीर तथा यशस्वी थे, और नागनन्दिगणीके चरणोंकी सेवासे उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ था और श्रीनन्दिगणीकी प्रेरणासे उन्होंने 'भगवती आराधना' नामक ग्रंथकी यह 'विजयोदया' नामकी टीका लिखी है।'

इस प्रशस्तिमें दी हुई गुरुपरम्पराका अन्यत्र किसी प्राचीन शिला लेख या पट्टावलिमें ऐसा उल्लेख नहीं मिलता जिससे टीकाकारके समयादिका ठीक निर्णय किया जासके। ऐसी स्थितिमें आचार्य अपराजितके समयादिका निर्णय करनेमें यद्यपि कितनी ही कठिनाइयाँ उपस्थित हैं, फिर भी टीकामें प्रयुक्त हुए वाक्योंका गवेषणापूर्वक अध्ययन करनेसे समयादिके निर्णयमें बहुत कुछ सहायता मिल जाती है।

अपराजितसूरिने अपनी इस टीकामें श्रीकुन्दकुन्द, उमास्वाति, समन्तभद्रादि दिगम्बर आचार्योंके ग्रंथोंके अतिरिक्त श्वेताम्बर सम्प्रदायके कल्पसूत्र, भावना तथा आवश्यकादि ग्रंथोंका भी उपयोग किया है। पुरातन दिगम्बराचार्योंमें जैनेन्द्र व्याकरण और समाधितंत्र आदि ग्रंथोंके रचयिता आचार्य पूज्यपादका समय सुनिश्चित है और वह विक्रमकी छठी (ईसाकी पांचवी) शताब्दी है। उनकी तत्त्वार्थसूत्र-व्याख्या 'सर्वार्थसिद्धि' का-इस टीकामें बहुत-कुछ अनुसरण किया गया है—उसके वाक्यों तथा आशयको 'तथा चोक्तं' 'तथाचाभ्यधायि' और 'अन्ये' आदि शब्दोंके साथ अथवा उनके बिना भी प्रकट किया गया है—,जिससे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि अपराजितसूरि विक्रम की छठी शताब्दीके बाद हुए हैं। सर्वार्थसिद्धिके ऐसे कुछ वाक्य उन गाथाओंके नम्बर-सहित जिनकी टीकामें वे पाये जाते हैं,टीका वाक्यके साथ, नमूनेके तौर पर इस प्रकार हैं:—

(१) गाथा १८४७—**तथा चोक्तं "एकदेशकर्मसंक्षयलक्षणा निर्जरा"**(सर्वार्थसि० अ०१ सू० ४) इति।

(२) **गाथा नं० १८०—"रागोद्रेकात्प्रहासमिश्रोऽशिष्टवाक्प्रयोगः कंदर्पः"** (सर्वार्थ०अ० ७-३२)

(३) **गाथा नं० १७७२—अन्ये तु भव परिवर्तनमेवं वदन्ति—"नरकगतौ सर्वजघन्यमायुर्दशवर्षसहस्राणि। तेनायुषा तत्रोत्पन्नः पुनः परिभ्रम्य तेनैवायुषा तत्र जायते। एवं दशवर्षसहस्राणां यावंतः समयास्तावत्कृत्वा तत्रैव जातो मृतः पुनरेकसमयाधिकभावेन त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणां परिसमा पितानि ततः प्रच्युत्य तिर्यग्गतौ अन्तर्मुहूर्तायुः समुत्पन्नः पूर्वोक्तेन क्रमेण त्रीणि पल्योप मानि परिसमापितानि। एवं मनुष्यगतौ। देवगतौ नारकवत्। अयं तु विशेषः एकत्रिंशत्सागरोपमाणि परिसमापितानि यावत्तावद्भवपरिवर्तनम्।"**

(सर्वार्थ०२—१०)

इसी प्रकार कर्मद्रव्यपरिवर्तन, नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन, क्षेत्रपरिवर्तनादिका स्वरूप भी सर्वार्थसिद्धिके दूसरे अध्यायके १०वें सूत्रकी व्याख्यासे लिया गया है। आचार्य पूज्यपादने इन परिवर्तनोंका स्वरूप निर्दिष्ट करते हुए इनकी पुष्टिके लिये आचार्य कुन्दकुन्दकृत 'बारस अणुवेक्खा' ग्रंथकी जो पाँच गाथाएँ 'उक्तं च' रूपसे

दी थीं उनमेंसे तीन गाथाओंको अपराजितसूरिने भी उद्धृत किया है। जैसा कि टीकामें दिये हुए कालपरिवर्तनके निम्न स्वरूपसे प्रकट है :—

(४) गाथा १७७७—इमस्य गाथायाः प्रपंचव्याख्या—"उत्सर्पिण्याः प्रथमसमये जातः कश्चिज्जीवः स्वायुषःपरिसमाप्तौ मृतः स एव पुनः द्वितीयाया उत्सर्पिण्या द्वितीयसमये जातः स्वायुषः क्षयान्मृतः। स एव पुनस्तृतीयाया उत्सर्पिण्यास्तृतीयसमये जातः, एवमनेन क्रमेण उत्सर्पिणी परिसमाप्ता तथा अवसर्पिणी [च]। एवं जन्मनैरंतर्यमुक्तं। मरणस्यापि नैरंतर्यं ग्राह्यमेवं तावत्कालपरिवर्तनम्। उक्तं च—

उवसप्पिणिअवसप्पिणिसमयावलियासु णिरवसेसासु।
जादो मदो य बहुसो भमणेण दु कालसंसारे॥"

(सर्वार्थ० २—१०)

अपराजितसूरिने अपनी इस टीकामें, भट्टाकलंकदेवके तत्त्वार्थराजवार्तिकका भी कुछ अनुसरण किया है, जिसके दो नमूने इस प्रकार हैं—

"साध्यायाः क्रियायाः साधनानां समभ्यासीकरणं समाहारः समारम्भः।"

—तत्त्वा० रा०, ६–८ के वार्तिकका भाष्य।

"साध्याया हिंसादिक्रियायाः साधनानां समाहारः समारम्भः।"*

—भग० आ० टी० गाथा ८११

"प्राकाम्याऽभावो निग्रहः॥२॥ प्राकाम्यं यथेष्टं चारित्रं तस्याभावो निग्रह इत्याख्यायते। योगस्य निग्रहः योगनिग्रहः। सम्यगितिविशेषणं.........................॥३॥ पूजापुरस्सरा क्रिया सत्कारः संयतो महानिति लोके प्रकाशः लोकपंक्तिः एवमाद्यैहलौकिकमनुद्दिश्य पारलौकिकं च विषयसुखं अनपेक्ष्य क्रियमाणो निग्रहोगुप्तिरिह परिगृहीतेति प्रतिपत्त्यर्थ-सम्यगिति विशेषणमुपादीयते॥"

—तत्त्वा० रा० ६–४, वा० २, ३

"कायवाङ्मनःकर्मणां प्राकाम्याभावोनिग्रहः यथेष्टचरिताभावो गुप्तिः। सम्यगिति विशेषणात् पूजापुरस्सरां क्रियां संयतो महानयमिति यशश्चानपेक्ष्य पारलौकिकमिन्द्रियसुखं वा क्रियमाणा गुप्तिरिति कथ्यते।"

—भग० आ० गाथा ११५

अकलंकदेवका समय विक्रमकी ७वीं शताब्दी सुनिश्चित है—वि० संवत् ७००में उनका बौद्धोंके साथ महानवाद हुआ है और वे बौद्ध विद्वान् धर्मकीर्तिके समकालीन थे। अतः अपराजितसूरिका समय विक्रमकी ७वीं शताब्दीके बाद का जान पड़ता है। और चूँकि, जहाँतक मैंने इस टीकाको तुलनात्मक दृष्टिसे अवलोकन किया है, मुझे इसमें अकलंकके बाद होनेवाले किसी प्रसिद्ध आचार्यका अनुकरण अथवा अवलम्बन मालूम नहीं होता, इसलिये मेरी रायमें यह टीका ८वीं शताब्दीके मध्यकालकी बनी हुई होनी चाहिये। और ऐसी हालतमें अपराजितसूरिका समय अनुमानतः विक्रमकी ८वीं शताब्दीका मध्यकाल ही उपयुक्त जान पड़ता है।

मेरे इस कथनका समर्थन सम्पादक श्री जुगलकिशोरजीके उस फुटनोटसे भी होता है जिसे उन्होंने पं० नाथूरामजी प्रेमीके 'भगवतीआराधना और उसकी टीकाएँ' शीर्षक लेखके नीचे दिया था और जो निम्न प्रकार है:—

"इस टीकाके कर्ता आचार्य अपराजित अपनेको 'चन्द्रनन्दीका प्रशिष्य और बलदेवसूरिका शिष्य लिखते हैं।

* इन दोनों अवतरणोंमें जो परस्पर थोड़ा-सा साधारण भेद दृष्टिगोचर होता है उसका कारण दोनों ग्रन्थोंकी वर्तमान मुद्रित प्रतियोंका ठीक तौर पर सम्पादित न होना भी हो सकता है।

चन्द्रनन्दीका सबसे पुराना उल्लेख जो अभी तक उपलब्ध हुआ है वह श्रीपुरुषका दानपत्र है, जो 'गोवपैय' को ई० सन् ७७६ में दिया गया था। इसमें गुरुरूपसे विमलचन्द्र, कीर्तिनन्दी, कुमारनन्दी और 'चन्द्रनन्दी नामके चार आचार्योंका उल्लेख है (S. I. J. Pt. II, 88)। बहुत सम्भव है कि टीकाकारने इन्हीं चन्द्रनन्दीका अपनेको प्रशिष्य लिखा हो। यदि ऐसा है तो इस टीकाके बननेका समय ८वीं-९वीं शताब्दी तक पहुँच जाता है। चन्द्रनन्दीका नाम 'कर्मप्रकृति' भी दिया है और 'कर्मप्रकृति' का वेलूरके १७वें शिलालेखमें अकलंकदेव और चन्द्रकीर्तिके बाद होना बतलाया है, और उनके बाद विमलचन्द्र का उल्लेख किया है। इससे भी इसी समयका समर्थन होता है। बलदेवसूरिका प्राचीन उल्लेख श्रवणबेलगोलके दो शिलालेखों नं० ७ और १५ में पाया जाता है, जिनका समय क्रमशः ६२२ और ५७२ शक संवत्के लगभग अनुमान किया गया है। बहुत सम्भव है कि इन्हींमेंसे कोई बलदेवसूरि टीकाकारके गुरु रहे हों। इनके समयसे भी उक्त समयको पुष्टि मिलती है। इसके सिवाय, नागनन्दीको भी टीकाकारने जो अपना गुरु बतलाया है वे वे ही जान पड़ते हैं जो 'असग'कविके गुरु थे और उनका भी समय ८वीं-९वीं शताब्दी है। इस घटना-समुच्चय परसे यह टीका प्रायः ८वीं-९वीं शताब्दीकी बनी हुई जान पड़ती है।''※

बादको मुख्तार साहबने अनेकान्तकी गत छठी किरणमें प्रकाशित अपने 'अन्तरद्वीपज मनुष्य' शीर्षक लेखमें, इस समयको विक्रमकी ८वीं शताब्दी तक ही सीमित किया है, जिससे मेरे उक्त कथनको और भी पुष्टि मिलती है। दूसरे विद्वानोंको भी इस विषयमें विशेष अनुसन्धानके साथ अपना अभिमत प्रकट करना चाहिये और ऐसा यत्न करना चाहिये जिससे अपराजितसूरिका समय और भी अधिक स्पष्टताके साथ सुनिश्चित होजाय। आशा है विद्वज्जन मेरे इस निवेदन पर अवश्य ही ध्यान देने की कृपा करेंगे।

अब मैं 'विजयोदया' टीकाके विषयमें कुछ थोड़ा-सा और भी परिचय अपने पाठकोंको करा देना चाहता हूँ। यह टीका 'भगवती आराधना' की उपलब्ध टीकाओंमें अपनी खास विशेषता रखती है, इसमें प्रकृत विषयसे सम्बन्ध रखने वाले सभी पदार्थोंके रहस्यका उद्घाटन युक्ति और अनुभवपूर्ण पाण्डित्यके साथ किया गया है। वस्तुतत्त्वके जिज्ञासुओं और खासकर सल्लेखना या समाधिमरणका परिज्ञान प्राप्त करनेके इच्छुकोंके लिये यह बड़े ही कामकी चीज़ है। आठ आश्वासों या अधिकारोंमें इसकी समाप्ति हुई है और ग्रन्थसंख्या, हस्तलिखित प्रतियोंके अनुसार, सब मिलाकर १३ हज़ार श्लोक प्रमाण है। विद्वानोंके लिये यह अनुभव तथा विचारकी बहुत-सी सामग्री प्रस्तुत करती है।

इस टीकापर से यह भी पता चलता है कि इसके पूर्व 'भगवती आराधना' पर और भी कितनी ही टीकाएँ बनी हुई थीं, जिनका उल्लेख इस टीकामें 'केचित्', 'अपरे', 'परे', 'अन्ये', 'केषांचिद्व्याख्यानं', 'अन्येषां व्याख्यानं' आदि शब्दोंके द्वारा किया गया है। और जिसके कुछ नमूने इस प्रकार हैं:—

(गाथा नं० ६०) "तस्मिन् लोचकृते लोचस्थिते इति केचित्।' 'अन्ये तु वदन्ति 'लोयगदे इति पठंतः लोचंगतः प्राप्तः तस्मिन्निति"

(गाथा नं० १४६) "आचार्याणां व्याख्यातॄणां दर्शनेन मतभेदेन। केचिन्निक्षेपमुखेनैवं सूत्रार्थमुपपाद

※ **देखो अनेकान्त, प्रथम वर्ष, किरण ३, पृ० १४८ के दूसरे कालम का फुटनोट**

यंत्यपरे नैगमादिविविधनयानुसारेण, अन्ये सदाद्यनुयोगोपन्यासेन । अपरे 'अदसयसत्थाणं होइ उवलद्धी' इति पठन्ति ।'

(गाथा नं० २६१) "अन्येषां पाठः परिवड्ढिदावधाणो—परिवर्धितावधानः परिवड्ढिदोवधाणो—परिवर्धितावग्रहः ।

इनके सिवाय और भी बहुत-सी गाथाओंमें दूसरे टीकाकारों द्वारा माने गये पाठभेदोंको दर्शाया गया है, जिनसे यह स्पष्ट पता चलता है कि अपराजितसूरिके सामने कितनी ही दूसरी टीकाएँ भ० आराधनापर उपस्थित थीं और उन सबका अवलोकन करके ही 'विजयोदया'की सृष्टि की गई है ।'

इस टीकामें कितना ही ऐसा महत्वका वर्णन भी है जो अन्यत्र नहीं पाया जाता और वह सब इस टीकाकी विशेषता है । उस विशेषताको समय समय पर स्वतंत्र लेखों द्वारा प्रकट करनेका मेरा विचार है । यहाँ नमूनेके तौरपर गाथा नं० ११६ की व्याख्यामें 'संयमहीन तप कार्यकारी नहीं' इसकी पुष्टि करते हुए मुनि-श्रावकके मूलगुणों तथा उत्तरगुणों और आवश्यकादि कर्मोंके अनुष्ठान-विधानादिका जो विस्तारके साथ विशेष वर्णन दिया है उसका एक छोटासा अंश इस प्रकार है :—

"तद्द्विविधं मूलगुणप्रत्याख्यानमुत्तरगुणप्रत्याख्यानं । तत्र संयतानां जीवितावधिकं मूलगुण-प्रत्याख्यानं । संयतासंयतानां अणुव्रतानि मूलगुण व्रत व्यपदेशभांजि भवंति तेषां द्विविधं प्रत्याख्यानं अल्पकालिकं, जीविताववधिकं चेति । पक्ष-मास-षण्मासादि रूपेण भविष्यत्कालं सावधिकं कृत्वा तत्रस्थूल हिंसा, नृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहान्नाचरिष्यामि इति प्रत्याख्यान मल्पकालकम् ।

आमरणमवधिं कृत्वा न करिष्यामि स्थूलहिंसादीनि इति प्रत्याख्यानं जीवितावधिकं च । उत्तरगुण प्रत्याख्यानं संयत-संयतासंयतयोरपि अल्पकालिकं जीवितावधिकं वा ।"

अर्थात्—वह प्रत्याख्यान दो प्रकारका है—मूलगुण प्रत्याख्यान और उत्तरगुणप्रत्याख्यान । उनमेंसे संयमी मुनियोंके मूल-गुण प्रत्याख्यान जीवनपर्यंतके लिये होता है । संयतासंयत पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावकके अणुव्रतोंको मूलगुण कहते हैं । गृहस्थोंके मूलगुणका प्रत्याख्यान अल्पकालिक और सर्वकालिक ऐसे दोनों प्रकारसे होता है । पक्ष, महीना, छह महीने इत्यादि रूपसे भविष्यत्कालकी मर्यादा करके जो स्थूल हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुनसेवन और परिग्रहरूप पंच पापोंको मैं नहीं करूँगा ऐसा संकल्प करना अल्पकालिक प्रत्याख्यान कहलाता है । तथा मैं जीवनपर्यंत स्थूल हिंसादि पापोंको नहीं करूँगा ऐसा संकल्प कर उनका जो त्याग करता है वह जीवितावधिक प्रत्याख्यान है। उत्तरगुण-प्रत्याख्यान तो मुनि और गृहस्थ दोनों ही जीवनपर्यंत तथा अल्पकालके लिये कर सकते हैं ।

इस टीकामें, ५ वीं गाथाकी व्याख्या करते हुए, 'सिद्धप्राभृत' नामक ग्रन्थका उल्लेख निम्न प्रकारसे किया है—

'सिद्धप्राभृतगदितस्वरूपसिद्धज्ञानमागमभावसिद्धः ।'

और ७५३ नं० की गाथाकी व्याख्या करते हुए 'नमस्कारपाहुड' नामक ग्रन्थका उल्लेख भी किया है । यथाः—

'नमस्कारप्राभृतं नामास्ति ग्रन्थः यत्र नय प्रमाणादिनिक्षेपादिमुखेन नमस्कारो निरूप्यते ।'

विद्वानोंको इन दोनों ग्रन्थोंका शास्त्रभंडारोंकी कालकोठरियोंमेंसे खोजकर पता लगाना चाहिये । और इनके विषयका परिचय भी प्रकट करना चाहिये ।

वीरसेवामंदिर, सरसावा, ता० १२-४-१९३९

✻ ✻ ✻

शिक्षा

[श्री० यशपाल]

गुरूजीने क्लासमें पढ़ाया—आपसमें झगड़ना बुरा है; वह पाप है।

सात बरसके मुन्नूने गुरूजीकी बात सुनली और पेटमें रखली।

संध्याको पढ़कर घर लौटा तो उसने देखा कि माँ-बापमें झगड़ा हो रहा है।

उसने कहा—माँ, आज गुरूजीने बताया कि आपसमें झगड़ना बुरा है; वह पाप है।

❀ ❀ ❀

अगले दिन गुरूजीने क्लासमें पढ़ाया—जीव-हत्या बुरी है। जीवों पर दया करनी चाहिये।

सात बरसके मुन्नूने गुरूजीकी बात सुनली और पेटमें रखली।

संध्याको पढ़कर घर लौटा तो उसने देखा उसके बाप बहुतसे जानवर मारकर लाए हैं। उसने कहा—पिताजी, आज गुरूजीने बताया कि जीव-हत्या बुरी है। जीवों पर दया करनी चाहिए।

❀ ❀ ❀

तीसरे दिन गुरूजीने क्लासमें पढ़ाया—भूखे-नंगेकी सहायता करनी चाहिए, वह पुण्य है।

सात बरसके मुन्नूने गुरूजीकी बात सुनली और पेटमें रखली।

संध्याको पढ़कर घर लौटा तो उसने देखा उसके भाईने एक भूखे-नंगे भिखारीको दरवाज़ेसे फटकार कर भगा दिया है।

❀ ❀ ❀

चौथे दिन सात बरसका मुन्नू स्कूल न गया। घर वालोंने पूछा तो उसने कह दिया—गुरूजी अच्छा नहीं पढ़ाते।

अमर-प्यार

[श्री भगवत्स्वरूप जैन 'भगवत्']

जीवन-धन, हे जीवनाधार !

हैं पत्र-पुष्प यदि नहीं यहाँ—
तो मैं अब ढूंढूँ उन्हें कहाँ ?
इस हृदय-कमल ही को लेकर—
चरणों को दूँ प्रेमोपहार !

यदि मिले न मुझको अग्नि कहीं—
फिर होगी क्या अर्चना नहीं ?
ले वन्हि वेदना की मन से—
आरती उतारूँ हर्ष-धार !

जल भी न मिले पर्वाह नहीं—
निकलेगी मुँह से आह नहीं ?
करुणेश ! न होगा कुछ विलम्ब—
दृग-जलसे लूंगा पग पखार !

कुछ भी न पास पर खेद नहीं
होगा पजा में भेद नहीं !
बस, अमर-लगन हो, अमर-चाह—
बैठा हो मन में अमर-प्यार !

सुभाषित

चार दिनन की चाँदनी, यह सम्पति संसार।
'नारायन' हरि-भजन कर, यासौं होइ उबार ॥
तेरे भावैं कछु करौ, भलो बुरो संसार।
'नारायण' तू बैठके, अपनो भवन बुहार ॥
बहुत गई थोड़ी रही, 'नारायण' अब चेत।
काल-चिरैया चुगि रही, निसदिन आयु खेत ॥

कथा कहानी

[ले०--अयोध्याप्रसाद गोयलीय]

(१८)

किन्हीं आत्म-ध्यानी मुनिराजके पास एक मोक्ष-लोलुप भक्त बैठा था। उसे अपने धर्म-रत होनेका अभिमान था। गृहस्थ होते हुए भी अपनेमें आत्म-संयमकी पूर्णता समझता था। मुनिराजके दर्शनार्थ कुछ स्त्रियाँ आईं तो संयमाभिमानी भक्तसे उनकी ओर देखे बिना न रहा गया। पहली बार देखने पर मुनिराज कुछ न बोले, किन्तु यह देखनेका क्रम जब एक बारसे अधिक बार जारी रहा तो मुनिराज बोले—वत्स ! प्रायश्चित लो !"

" प्रभो ! मेरा अपराध ?"

" ओह ! अपराध करते हुए भी उसे अपराध नहीं समझते, वत्स ! एक बार तो अनायास किसी की ओर दृष्टि जा सकती है, किन्तु दोबारा तो विकारी नेत्र ही उठेंगे। और आत्मामें विकार आना यही पतनका श्रीगणेश है। आत्म-संयमका अभ्यासी प्रायश्चित द्वारा ही विकारों पर विजय प्राप्त कर सकता है।" मोक्ष-लोलुप भक्तको तब अपने संयमकी अपूर्णता प्रतीत हुई।

(१९)

एक ध्यानाभ्यासी शिष्य ध्यान-मग्न थे कि सीकारेकी-सी आवाज़ करते हुए ध्यानसे विचलित हो गए। पास ही गुरुदेव बैठे थे। पूछा—"वत्स ! क्या हुआ ?" शिष्यने कहा—"गुरुदेव ! आज ध्यानमें दाल-बाटी बनानेका उपक्रम किया था। आपके चरणकमलोंके प्रतापसे ध्यान ऐसा अच्छा जमा कि यह ध्यान ही न रहा कि यह सब मनकी कल्पनामात्र है। मैं अपने ध्यानमें मानों सचमुच ही दाल-बाटी बना रहा था कि मिर्चें कुछ तेज़ होगईं और खाते ही सीकारा जो भरा तो ध्यान भंग होगया। ऐसा उत्तम ध्यान आजतक कभी न जमा था गुरुदेव ! मुझे वरदान दो कि मैं इससे भी कहीं अधिक ध्यान-मग्न हो सकूँ।" गुरुदेव मुस्कराकर बोले—"वत्स ! प्रथम तो ध्यानमें—परमात्मा, मोक्ष, सम्यक्त्व, आत्म-हितका चिंतन करना चाहिये था, जिससे अपना वास्तवमें कल्याण होता, ध्यानका मुख्य उद्देश्य प्राप्त होता। और यदि पूर्वसंचित संस्कारोंके कारण सांसारिक मोह-मायाका लोभ सँवरण नहीं हो पाया है तो ध्यानमें खीर, हलुवा, लड्डू, पेड़ा आदि बनाए होते जिससे इस वेदनाके बजाय कुछ तो स्वाद प्राप्त हुआ होता। वत्स ! स्मरण रक्खो, हमारा जीवन, हमारा मस्तिष्क सब सीमित हैं। जीवनमें और मस्तिष्कमें ऐसे उत्तम पदार्थोंका संचय करो जो

अपने लिये ज्ञान-वर्द्धक एवं लाभप्रद हों। व्यर्थकी वस्तुओंका संग्रह न करो, ताकि फिर हितकारी चीजोंके लिये स्थान ही न रहे।"

(२०)

एक अत्तारकी दूकानमें गुलाबके फूल घोटे जारहे थे। किसी सहृदयने पूछा—"आप लोग उद्यानमें फले फूले, फिर आपने ऐसा कौनसा अपराध किया, जिसके कारण आपको यह असह्य वेदना उठानी पड़ रही है।" कुछ फूलोंने उत्तर दिया—"शुभेच्छु! हमारा सबसे बड़ा अपराध यही है कि हम एकदम हँस पड़े! दुनियाँसे हमारा यह हँसना न देखा गया। वह दुखियोंको देखकर समवेदना प्रकट करती है दयाका भाव रखती है परन्तु सुखियोंको देख ईर्ष्या करती है, उन्हें मिटाने को तत्पर रहती है। यही दुनियाँ का स्वभाव है।" और कुछ फूलोंने उत्तर दिया—"किसीके लिये मर मिटना यही तो जीवनकी सार्थकता है।" फूल पिस रहे थे, पर परोपकारकी महक उनमेंसे जीवित हो रही थी। सहृदय मनुष्य चुपचाप ईर्ष्यालु और स्वार्थी संसारकी ओर देख रहा था।

(२१)

नादिरशाह एक साधन-हीन दरिद्र परिवारमें जन्म लेने पर भी संसार-प्रसिद्ध विजेता हुआ है। वह आपत्तियोंकी गोदमें पलकर दुःख-दारिद्र्यके हिण्डोलोंमें झूलकर एक ऐसा विजेता हुआ है कि विजय उसके घोड़ोंके टाप की धूलके साथ-साथ चलती थी। यद्यपि वह स्वभावसे ही क्रूर, रक्त-लोलुप मनुष्य था। फिर भी स्वावलम्बन उसमें एक ऐसा गुण था, जिसने उसे महान् सेनापतियों-की पंक्ति में बैठने योग्य बना दिया था। वह आत्म-विश्वासी था, वह दूसरोंका मुँह देखा न होकर अपने बाहुओंका भरोसा रखता था। उसने दूसरों-की सहायता पर अपनी उन्नतिका ध्येय कभी नहीं बनाया और न अपने जीवनकी बागडोर किसीको सौंपी। जिस कार्यको वह स्वयं करनेमें असमर्थ पाता, उस कार्यको उसने कभी हाथ तक न लगाया। देहली विजय करने पर विजित बादशाह महम्मद-शाह रंगीलेने उसे हाथी पर सवार कराके देहलीकी सैर करानी चाही। नादिरशाह इससे पहले कभी हाथी पर न बैठा था, उसने हाथी भारतमें ही आने पर देखा था। हाथीके होदेमें बैठने पर नादिरशाहने आगेकी ओर झुककर देखा तो हाथी-की गर्दन पर महावत अंकुश लिये बैठा था। नादिरशाहने महावतसे कहा—"तू यहाँ क्यों बैठा है? हाथीकी लगाम मुझे देकर तू नीचे उतरजा।" महावतने गिड़गिड़ाते हुए अर्ज़ किया—"हुज़ूर! हाथीके लगाम नहीं होती। बेअदबी मुआफ़ इसको हम फीलवान ही चला सकते हैं..........।" "जिसकी लगाम मेरे हाथमें नहीं मैं उसपर नहीं बैठ सकता। मैं अपना जीवन दूसरोंके हाथोंमें देकर खतरा मोल नहीं ले सकता।" यह कहकर नादिरशाह हाथी परसे कूद पड़ा! जो दूसरोंके कन्धेपर बन्दूक रखकर चलानेके आदी हैं या जो दूसरोंके हाथकी कठपुतली बने रहते हैं, नादिर-शाह उनमेंसे नहीं था! यही उसके जीवनका एक सबसे बड़ा गुण था।

श्रीपूज्यपाद और उनकी रचनाएँ

[सम्पादकीय]

(२)

समाधितंत्र-परिचय

अब मैं पूज्यपादके ग्रंथोंमेंसे 'समाधितंत्र' ग्रंथका कुछ विशेष परिचय अपने पाठकोंको देना चाहता हूँ। यह ग्रंथ आध्यात्मिक है और जहाँ तक मैंने अनुभव किया है ग्रंथकारमहोदयके अन्तिम जीवनकी कृति है—उस समयके क़रीबकी रचना है जब कि आचार्य महोदयकी प्रवृत्ति बाह्य विषयोंसे हटकर बहुत ज्यादा अन्तर्मुखी हो गई थी और आप स्थितप्रज्ञ जैसी स्थितिको पहुँच गये थे। यद्यपि जैनसमाजमें अध्यात्म-विषयके कितने ही ग्रंथ उपलब्ध हैं और प्राकृतभाषाके 'समयसार' जैसे महान एवं गूढ़ ग्रंथ भी मौजूद हैं परन्तु यह छोटा-सा संस्कृत ग्रंथ अपनी खास विशेषता रखता है। इसमें थोड़े ही शब्दों-द्वारा सूत्ररूपसे अपने विषयका अच्छा प्रतिपादन किया गया है; प्रतिपादन-शैली बड़ी ही सरल, सुन्दर एवं हृदय-ग्राहिणी है; भाषा-सौष्ठव देखते ही बनता है और पद्य-रचना प्रसादादि गुणोंसे विशिष्ट है। इसीसे पढ़ना प्रारम्भ करके छोड़नेको मन नहीं होता—ऐसा मालूम होता है कि समस्त अध्यात्म-वाणीका दोहन करके अथवा शास्त्र-समुद्रका मन्थन करके जो नवनीताऽमृत (मक्खन) निकाला गया है वह सब इसमें भरा हुआ है और अपनी सुगन्धसे पाठक-हृदयको मोहित कर रहा है। इस ग्रंथके पढ़नेसे चित्त बड़ा ही प्रफुल्लित होता है, पद-पद पर अपनी भूलका बोध होता चला जाता है, अज्ञानादि मल छँटता रहता है और दुःख-शोकादि आत्माको सन्तप्त करनेमें समर्थ नहीं होते।

इस ग्रन्थमें शुद्धात्माके वर्णनकी मुख्यता है और वह वर्णन पूज्यपादने आगम, युक्ति तथा अपने अन्तःकरणकी एकाग्रता-द्वारा सम्पन्न स्वानुभवके बलपर भले प्रकार जाँच पड़तालके बाद किया है; जैसा कि ग्रंथके निम्न प्रतिज्ञा-वाक्यसे प्रकट है:—

श्रुतेन लिङ्गेन यथात्मशक्ति
समाहितान्तः करणेन सम्यक्।
समीक्ष्य कैवल्यसुखस्पृहाणां
विविक्तमात्मानमथाभिधास्ये ॥ ३ ॥

ग्रंथका तुलनात्मक अध्ययन करनेसे भी यह मालूम होता है कि इसमें श्रीकुन्दकुन्द-जैसे प्राचीन आचार्योंके आगम-वाक्योंका बहुत कुछ अनुसरण किया गया है। कुन्दकुन्दका-- **"एगो मे सस्सदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो। सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा"***

---

* यह गाथा नियमसारमें नं० १०२ पर और मोक्षप्राभृतमें नं० ५९ पर पाई जाती है। इसमें यह बतलाया है कि—'मेरा आत्मा एक है—खालिस है, उसमें किसी दूसरेका मिश्रण नहीं—, शाश्वत है—कभी नष्ट होनेवाला नहीं—और ज्ञान-दर्शन-लक्षणवाला (ज्ञाता-द्रष्टा) है; शेष संयोग-लक्षणवाले समस्त पदार्थ मेरे आत्मासे बाह्य हैं—वे मेरे नहीं हैं, और न मैं उनका हूँ।'

यह वाक्य तो इस ग्रंथका प्राण जान पड़ता है ग्रंथके कितने ही पद्य कुन्दकुन्दके 'मोक्षप्राभृत' की गाथाओंको सामने रखकर रचे गये हैं—ऐसी कुछ गाथाएँ पद्य नं० ४, ५, ७, १०, ११, १२, १८, ७८, १०२ के नीचे फुटनोटोंमें उद्धृत भी की गई हैं, उनपरसे इस विषयकी सत्यताका हरएक पाठक सहज ही में अनुभव कर सकता है। यहाँ पर उनमेंसे दो गाथाएँ और एक गाथा नियमसारकी भी इस ग्रंथके पद्यों-सहित नमूनेके तौर पर नीचे उद्धृत की जाती हैं:—

जं मया दिस्सदे रूवं तरण जाणादि सव्वहा।
जाणगं दिस्सदे यां तं तम्हाजंपेमि केणहं॥ मोक्ष०२६॥
यन्मया दृश्यते रूपं तन्न जानाति सर्वथा।
जानन्न दृश्यते रूपं ततः केन ब्रवीम्यहम्॥ समा०१८॥

* * *

जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणो कज्जे॥ मो० ३१॥
व्यवहारे सुषुप्तो यः स जागर्त्यात्मगोचरे।
जागर्ति व्यवहारेऽस्मिन्सुषुप्तश्चात्मगोचरे॥ समा० ७८॥

* * *

णियभावं ण वि मुञ्चइ परभावं णेव गेण्हइ केइं।
जाणदि पस्सदि सव्वं सोहं इदि चिंतए णाणी॥नियम०९७
यदग्राह्यं न गृह्णाति गृहीतं नापि मुञ्चति।
जानाति सर्वथा सर्वं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम्॥ समा० २०॥

इससे उक्त पद्य नं० ३ में प्रयुक्त हुआ '**श्रुतेन**' पद बहुत ही सार्थक जान पड़ता है। '**लिङ्गेन**' तथा '**समाहितान्तःकरणेन**' पद भी ऐसी ही सार्थक हैं। यदि कुन्दकुन्दके समयसारकी गाथा नं०४३८ से ४४४ तकके कथनकी इस ग्रंथके पद्य नं०८७, ८८ के साथ तुलना की जाय तो पूज्यपादकी विशेषताके साथ उनके युक्तिपुरस्सर तथा स्वानुभवपूर्वक कथनका कितना ही सुन्दर आभास मिल सकता है। वस्तुतः इस ग्रंथमें ऐसी कोई भी बात कही गई मालूम नहीं होती जो युक्ति, आगम तथा स्वानुभवके विरुद्ध हो। और इसलिये यह ग्रंथ बहुत ही प्रामाणिक है। इसीसे उत्तरवर्ती आचार्योंने इसे खूब अपनाया है। परमात्मप्रकाश और ज्ञानार्णव-जैसे ग्रंथोंमें इसका खुला अनुसरण किया गया है। जिसके कुछ नमूने इस ग्रंथके फुटनोटोंमें दिखाये गये हैं।

चूंकि ग्रन्थमें शुद्धात्माके कथनकी प्रधानता है और शुद्धात्माको समझनेके लिये अशुद्धात्माको जानने की भी ज़रूरत होती है, इसीसे ग्रन्थमें आत्माके बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा ऐसे तीन भेद करके उनका स्वरूप समझाया है। साथ ही, परमात्माको उपादेय (आराध्य), अन्तरात्माको उपायरूप आराधक और बहिरात्माको हेय (त्याज्य) ठहराया है। इन तीनों आत्म-भेदोंका स्वरूप समझानेके लिये ग्रन्थमें जो कलापूर्ण तरीक़ा अख़्तियार किया गया है वह बड़ा ही सुन्दर एवं स्तुत्य है और उसके लिये ग्रन्थको देखते ही बनता है। यहाँ पर मैं अपने पाठकोंको सिर्फ़ उन पदोंका ही परिचय करा देना चाहताहूँ जो बहिरात्मादिका नामोल्लेख अथवा निर्देश करनेके लिये ग्रन्थमें प्रयुक्त किये गये हैं और जिनसे विभिन्न आत्माओंके स्वरूप पर अच्छा प्रकाश पड़ता है और वह नयविवक्षाके साथ अर्थ पर दृष्टि रखते हुए उनका पाठ करनेसे सहज ही में अवगत हो जाता है। इन पदोंमेंसे कुछ पद ऐसे भी हैं जिनका मूल प्रयोग द्वितीयादि विभक्तियों तथा बहुवचनादिके रूपमें हुआ है परन्तु अर्थावबोधकी सुविधा एवं एकरूपताकी दृष्टिसे उन्हें यहाँ प्रथमाके एक वचनमें ही रख दिया गया है। अस्तु; बहिरात्मादि-निदर्शक वे पद्य क्रमशः निम्न प्रकार

है। उनके स्थान-सूचक-पद्याङ्क भी साथमें दिये जाते हैं :—

(१) बहिरात्म-निदर्शक पद—

बहिः ४; बहिरात्मा ५, ७, २७; शरीरादौ जातात्मभ्रान्तिः ५; आत्मज्ञानपराङ्मुखः ७; अविद्वान् ८; मूढः १०,४४,४७; अविदात्मा ११; देहे स्वबुद्धिः १३; मूढात्मा २९,५६,५८, ६०; उत्पन्नात्ममतिर्देहे ४२; परत्राहम्मतिः ४३; देहात्मदृष्टिः ४९, ९४; अविद्यामयरूपः ५३; वाक्शरीरयोः भ्रान्तः ५४; बालः ५५; पिहितज्योतिः ६०; अबुद्धिः ६१ ६९; शरीरकंचुकेन संवृतज्ञानविग्रहः ६८; अनात्मदर्शी ७३, ९३; दृढात्मबुद्धिर्देहादौ ७६; आत्मगोचरे सुषुप्तः ७८; मोही ९०; अनन्तरज्ञः ९१, अक्षीणदोषः-सर्वावस्थाऽऽत्मदर्शी ९३; जडः १०४।

(२) अन्तरात्म-निदर्शक पद—

अन्तः ४, १५,६०; आन्तरः ५; चित्तदोषात्मऽऽविभ्रान्तिः ५, स्वात्मन्येवात्मधीः १३; बहिरव्यापृतेन्द्रियः १५; देहादौ विनिवृत्तात्मविभ्रमः २२; अन्तरात्मा २७,३०; तत्त्वज्ञानी ४२; स्वस्मिन्नहम्मतिः ४३; बुधः ४३, ६३-६६ आत्मदेहान्तरज्ञानजनिताल्हादनिर्वृतः ३४; अवबुद्धः ४४; आत्मवित् ४७; स्वात्मन्येवात्मदृष्टिः ४९; नियतेन्द्रियः ५१; आरब्धयोगः-भावितात्मा ५२; वाक्शरीरयोरभ्रान्तः ५४; आत्मतत्त्वे व्यवस्थितः ५७; प्रबुद्धात्मा ६०; बहिर्व्यावृत्तकौतुकः ६०; दृष्टात्मा ७३, ९२; आत्मन्येवात्मधीः ७७; व्यवहारे सुषुप्तः ७८; दृष्टात्मतत्त्वः-स्वभ्यस्तात्मधीः ८० मोक्षार्थी ८३; योगी ८६, १००; दृष्टभेदः ९२ आत्मदर्शी ९२; ज्ञातात्मा ९४; मुनिः १०२; विद्वान् १०४; परात्मनिष्ठः १०५।

(३) परमात्म-निदर्शक पद—

अक्षयानन्तबोधः १, सिद्धात्मा १; अनीहिता-तीर्थकृत् २; शिवः-धाता-सुगतः-विष्णुः २; जिनः २, ६; विविक्तात्मा ३, ७३; परः ४, ८६, ९७; परमः ४, ३१,९८; परमात्मा ५,६,१७,२७, ३०; अतिनिर्मलः ५; निर्मलः-केवलः-शुद्धः-विविक्तः-प्रभुः-परमेष्ठी-परात्मा-ईश्वरः ६; अव्ययः ६, ३३, अनन्तानन्तधीशक्तिः अचलस्थितिः ९; स्वसंवेद्यः ९,२०,२४, निर्विकल्पकः १९, अतीन्द्रियः-अनिर्देश्यः २२; बोधात्मा २५, ३२; सर्वसंकल्पवर्जितः २७; परमानन्दनिर्वृतः ३२; स्वस्थात्मा ३९; उत्तमःकायः ४०; निष्ठितात्मा ४७; सानन्दज्योतिरुत्तमः ५१; विद्यामयरूपः ५३; केवलज्ञप्तिविग्रहः ७०; अच्युतः ७९; परमं पदमात्मनः ८४,८९, १०४; परं पदं ८५; परात्मज्ञानसम्पन्नः ८६; अवाचां गोचरं पदं ९९।

यह त्रिधात्मक पदावली त्रिधात्माके स्वरूपको व्यक्त करनेके लिये कितनी सुन्दर एवं भावपूर्ण है उसे बतलानेकी ज़रूरत नहीं—सहृदय पाठक सहज हीमें उसका अनुभव कर सकते हैं। हाँ, इतना ज़रूर कहना होगा कि एक छोटेसे ग्रंथमें एक ही आत्म-विषयको स्पष्ट करनेके लिये इतने अधिक विभिन्न शब्दोंका ऐसे अच्छे ढंगसे प्रयोग किया जाना, निःसंदेह, साहित्यकी दृष्टिसे भी कुछ कम महत्त्वकी चीज़ नहीं है। इससे ग्रंथकार महोदयके रचना-चातुर्य अथवा शब्द-प्रयोग-कौशल्यका भी कितना ही पता चल जाता है।

समाधितंत्रमें और क्या कुछ विशेष वर्णन है उस सबका संक्षिप्तपरिचय ग्रन्थके साथमें दी हुई विषयानुक्रमणिकाको देखनेसे सहजमें ही मालूम हो सकता है। वहीं पर कोष्ठकमें मूल श्लोकोंके नम्बर भी दे दिये हैं। यहाँ पर उसकी पुनरावृत्ति करके प्रस्तावना लेखके कलेवरको बढ़ानेकी ज़रूरत मालूम नहीं होती। और न ग्रन्थविषयका दूसरे तत्सम ग्रन्थोंके साथ तुलनाका अपनेको यथेष्ट अवकाश ही प्राप्त है। अतः जो तुलना ऊपर की जाचुकी है उसी पर संतोष रखते हुए शेषको छोड़ा जाता है।

ग्रन्थनाम और पद्यसंख्या

यह ग्रन्थ १०५ पद्योंका है, जिनमेंसे दूसरा पद्य 'वंशस्थ' वृत्तमें, तीसरा 'उपेन्द्रवज्रा' में, अन्तिम पद्य 'वसंततिलका' छन्दमें और शेष सब 'अनुष्टुप्' छन्दमें हैं। अन्तिम पद्यमें ग्रंथका उपसंहार करते हुए, ग्रन्थका नाम 'समाधितंत्र' दिया है और उसे उस ज्योतिर्मय कैवल्य सुखकी प्राप्तिका उपायभूत-मार्ग बतलाया है जिसके अभिलाषियोंको लक्ष्य करके ही यह ग्रंथ लिखा गया है और जिसकी सूचना प्रतिज्ञावाक्य (पद्य नं० ३) में प्रयुक्त हुए **'कैवल्यसुखस्पृहाणां'** पदके द्वारा की गई है। साथ ही, ग्रंथ-प्रतिपादित उपायका संक्षिप्त रूपमें दिग्दर्शन कराते हुए, ग्रंथके अध्ययन एवं अनुकूल वर्तनका फल भी प्रकट किया गया है। वह अन्तिम सूत्रवाक्य इस प्रकार है:—

> **"मुक्त्वा परत्र परबुद्धिमहंधियं च**
> **संसारदुःखजननीं जननाद्विमुक्तः ।**
> **ज्योतिर्मयं सुखमुपैति परात्मनिष्ठ-**
> **स्तन्मार्गमेतदधिगम्य समाधितंत्रम् ॥ १०५ ॥**

प्रायः १०० श्लोकोंका होनेके कारण टीकाकार प्रभाचन्द्रने इस ग्रन्थको अपनी टीकामें 'समाधिशतक' नाम दिया है और तबसे यह 'समाधिशतक' नामसे भी अधिकतर उल्लेखित किया जाता है अथवा लोक-परिचयमें आ रहा है।

मेरे इस कथनको 'जैनसिद्धान्तभास्कर' में—'श्री-पूज्यपाद और उनका समाधितन्त्र'‡ शीर्षकके नीचे—देखकर डाक्टर परशुराम लक्ष्मण (पी० एल०) वैद्य, एम० ए०, प्रोफेसर वाडिया कालिज पूनाने, हालमें प्रकाशित 'समाधिशतक' के मराठी संस्करणकी अपनी प्रस्तावनामें, उसपर कुछ आपत्ति की है। आपकी रायमें ग्रंथका असली नाम 'समाधिशतक' और उसकी पद्य-संख्या १०० या ज़्यादासे ज़्यादा १०१ है। आप पद्य-नं० २, ३, १०३, १०४ को तो 'निश्चित रूपसे ('खात्रीनें') प्रक्षिप्त' बतलाते हैं और १०५ को 'बहुधा प्रक्षिप्त' समझते हैं।

'बहुधा प्रक्षिप्त' समझनेका अभिप्राय है उसकी प्रक्षिप्तता में सन्देह का होना—अर्थात् वह प्रक्षिप्त नहीं भी हो सकता। जब पद्य नं० १०५ का प्रक्षिप्त होना संदिग्ध है तब ग्रन्थका नाम 'समाधिशतक' होना भी संदिग्ध हो जाता है; क्योंकि उक्त पद्यपर से ग्रंथका नाम 'समाधितन्त्र' ही पाया जाता है, इसे डाक्टर साहब स्वयं स्वीकार करते हैं। अस्तु।

जिन्हें निश्चितरूपमें प्रक्षिप्त बतलाया गया है, उनमेंसे पद्य नं० २, ३ की प्रक्षिप्तताके निश्चयका कारण है उनका छन्दभेद। ये दोनों पद्य ग्रंथके साधारण वृत्त अनुष्टुप् छन्द में न लिखे जाकर क्रमशः 'वंशस्थ' तथा 'उपेन्द्रवज्रा' छन्दोंमें लिखे गये हैं†। डाक्टर साहबका खयाल है कि अनुष्टुप् छन्दमें अपने ग्रंथको प्रारम्भ करने वाला और आगेका प्रायः सारा ग्रंथ उसी छंदमें लिखने वाला कोई ग्रंथकार बीचमें और खासकर प्रारम्भिक पद्यके बाद ही दूसरे छन्दकी योजना करके 'प्रक्रमभंग' नहीं करेगा। परन्तु ऐसा कोई नियम अथवा रूल नहीं है जिससे ग्रंथकारकी इच्छा पर इस प्रकार का कोई नियंत्रण लगाया जा सके। अनेक ग्रंथ इसके अपवाद-

‡ यह लेख जैन सिद्धान्तभास्करके पाँचवें भागकी प्रथम किरणमें प्रकाशित हुआ है।

† डाक्टर साहबने द्वितीय पद्यको 'उपेन्द्रवज्रा' में और तृतीयको 'वंशस्थ' वृत्तमें लिखा है, यह लिखना आपका छन्दःशास्त्रकी दृष्टिसे ग़लत है और किसी भूल-का परिणाम जान पड़ता है।

स्वरूप भी देखनेमें आते हैं। उदाहरणके लिये महान् ग्रंथकार भट्टाकलंकदेवके 'लघीयस्त्रय' और 'न्यायविनिश्चय' जैसे कुछ ग्रंथोंको प्रमाणमें पेश किया जा सकता है, जिनका पहला पद्य अनुष्टुप् छन्दमें है और जो प्रायः अनुष्टुप् छन्दमें ही लिखे गये हैं; परन्तु उनमेंसे प्रत्येक का दूसरा पद्य 'शार्दूलविक्रीडित' छन्दमें है, और वह कण्टकशुद्धिको लिये हुए ग्रंथका खास अंगस्वरूप है। सिद्धिविनिश्चय ग्रंथमें भी इसी पद्धतिका अनुसरण पाया जाता है। ऐसी हालतमें छन्दभेदके कारण उक्त दोनों पद्योंको प्रक्षिप्त नहीं कहा जासकता।

ग्रंथके प्रथम पद्यमें निष्कलात्मरूप सिद्ध परमात्माको और दूसरे पद्यमें सकलात्मरूप अर्हत्परमात्माको नमस्कार-रूप मंगलाचरण किया गया है—परमात्माके ये ही दो मुख्य अवस्थाभेद हैं, जिन्हें इष्ट समझकर स्मरण करते हुए यहाँ थोड़ा-सा व्यक्त भी किया गया है। इन दोनों पद्योंमें ग्रंथ-रचना-सम्बन्धी कोई प्रतिज्ञा-वाक्य नहीं है—ग्रंथके अभिधेय-सम्बन्ध-प्रयोजनादिको व्यक्त करता हुआ वह प्रतिज्ञा-वाक्य पद्य नं० ३ में दिया है; जैसा कि ऊपर उसके उल्लेखसे स्पष्ट है। और इसलिये शुरूके ये तीनों पद्य परस्परमें बहुत ही सुसम्बद्ध हैं—उनमेंसे दो के प्रक्षिप्त होनेकी कल्पना करना, उन्हें टीकाकार प्रभाचन्द्रके पद्य बतलाना और उनकी व्यवस्थित टीकाको किसीका टिप्पण कहकर यों ही ग्रंथमें घुसड़ जानेकी बात करना बिलकुल ही निराधार जान पड़ता है। डा० साहब प्रथम पद्यमें प्रयुक्त हुए **"अक्षयानन्तबोधाय तस्मै सिद्धात्मने नमः"**—उस अक्षय-अनन्त बोधस्वरूप परमात्माको नमस्कार—इस वाक्यकी मौजूदगीमें, तीसरे पद्यमें निर्दिष्ट हुए ग्रंथके प्रयोजनको अप्रस्तुत स्थलका (बेमौका) बतलाते हुए उसे अनावश्यक तथा पुनरुक्त तक प्रकट करते हैं, जब कि अप्रस्तुत स्थलता और पुनरुक्तताकी वहाँ कोई गन्ध भी मालूम नहीं होती; परन्तु टीकाके मंगलाचरण-पद्यमें प्रयुक्त हुए **"वक्ष्ये समाधिशतकं"** में समाधिशतक की व्याख्या करता हूँ—इस प्रतिज्ञा-वाक्यकी मौजूदगीमें, तीसरे पद्यको टीकाकारका बतलाकर उसमें प्रयुक्त हुए प्रतिज्ञा-वाक्यको प्रस्तुत स्थलका, आवश्यक और अपुनरुक्त समझते हैं, तथा दूसरे पद्यको भी टीकाकारका बतलाकर प्रतिज्ञाके अनन्तर पुनः मंगलाचरणको उपयुक्त समझते हैं यह सब अजीब सी ही बात जान पड़ती है!! मालूम होता है आपने इन प्रभाचन्द्रके किसी दूसरे टीका ग्रंथके साथ इस टीकाकी तुलना भी नहीं की है। यदि रत्नकरण्ड श्रावकाचार की टीकाके साथ ही इस टीकाकी तुलना की होती तो आपको टीकाकारके मंगलाचरणादि—विषयक टाइपका—लेखनशैली का—कितना ही पता चल गया होता और यह मालूम होगया होता कि यह टीकाकार अपनी ऐसी टीकाके प्रारम्भमें मंगलाचरण तथा प्रतिज्ञाका एक ही पद्य देते हैं और इसी तरह टीकाके अन्तमें उपसंहारादि का भी प्रायः एकही पद्य रखते हैं; और तब आपको मूलग्रंथके उक्त दोनों पद्यों (नं० २, ३) को बलात् टीकाकारका बतलानेकी नौबत ही न आती।

हाँ, एक बात यहाँ और भी प्रकट कर देनेकी है और वह यह कि, डा० साहब जब यह लिखते हैं कि "पूज्यपादांनीं हा विषय आगम, युक्ति आणि अंतःकरणाची एकाग्रता करून त्यायोंगें स्वानुभव संपन्न होऊन त्याच्या आधारें स्पष्ट आणि सुलभ रीतीनें प्रतिपादला आहे", तब इस बातको भुला देते हैं कि यह आगम, युक्ति और अन्तःकरणकी एकाग्रता-द्वारा सम्पन्न स्वानुभव के आधार पर ग्रंथरचनेकी बात पूज्यपादने ग्रंथके तीसरे-पद्यमें ही तो प्रकट की है—वहीं से तो वह उपलब्ध होती है—; फिर उस पद्यको मूलग्रंथका माननेसे क्यों

इनकार किया जाता है? और यदि यह बात उनकी खुदकी जाँच पड़ताल तथा अनुसंधानसे सम्बन्ध रखती हुई होती तो वे आगे चलकर, कुछ तत्सम-ग्रन्थोंकी सामान्य तुलना का उल्लेख करते हुए, यह न लिखते कि 'उपनिषद् ग्रंथके कथनको यदि छोड़ दिया जाय तो परमात्मस्वरूपका तीन पदरूप वर्णन पूज्यपादने ही प्रथम किया है ऐसा कहने में कोई हरकत नहीं'; क्योंकि पूज्यपादसे पहले कुन्दकुन्दके मोक्षप्राभृत (मोक्खपाहुड) ग्रन्थमें त्रिधात्माका बहुत स्पष्टरूपसे वर्णन पाया जाता है और पूज्यपादने उसे प्रायः उसी ग्रंथपरसे लिया है; जैसा कि नमूने के तौर पर दोनों ग्रंथोंके निम्न दो पद्योंकी तुलनासे प्रकट है और जिससे यह स्पष्ट जाना जाता है कि समाधितंत्रका पद्य मोक्षप्राभृतकी गाथाका प्रायः अनुवाद है:—

तिपयारो सो अप्पा परमंतरबाहिरो हु देहीणं।
तत्थ परो भाइज्जइ अन्तोवाएण चयहि बहिरप्पा॥

—मोक्षप्राभृत:

बहिरन्तः परश्चेति त्रिधात्मा सर्वदेहिषु।
उपेयात्तत्र परमं मध्योपायाद्बहिस्त्यजेत्॥

—समाधितंत्रम्

मालूम होता है मैंने अपने उक्त लेखमें ग्रंथाधारकी जिस बातका उल्लेख करके प्रमाणमें ग्रन्थके पद्य नं० ३को उद्धृत किया था और जो ऊपर इस प्रस्तावना-लेखमें भी पद्य नं० ३ के साथ ज्योंकी त्यों दी हुई है उसे डा० साहबने अनुवादरूपमें अपना तो लिया परन्तु उन्हें यह खयाल नहीं आया कि ऐसा करनेसे उनके उस मन्तव्यका स्वयं विरोध होजाता है जिसके अनुसार पद्य नं० ३को निश्चितरूपसे प्रक्षिप्त कहा गया है। अस्तु।

अब रही पद्य नं० १०३, १०४ की बात, इनकी प्रक्षिप्तताका कारण डा० साहब ग्रन्थके प्रतिपाद्य विषय और पूर्वपद्योंके साथ इनके प्रतिपाद्य-विषयक असम्बद्धता बतलाते हैं—लिखते हैं "या दोन श्लोकांच्या प्रतिपाद्य-विषयांशीं व पूर्व श्लोकांशीं काहींच संबन्ध दिसत नाहीं।" साथ ही, यह भी प्रकट करते हैं कि ये दोनों श्लोक कब, क्यों और कैसे इस ग्रंथमें प्रविष्ट (प्रक्षिप्त) हुए हैं उसे बतलानेके लिये वे असमर्थ हैं। पिछली बातके अभावमें इन पद्योंकी प्रक्षिप्तताका दावा बहुत कमज़ोर होजाता है; क्योंकि असम्बद्धताकी ऐसी कोई भी बात इनमें देखनेको नहीं मिलती। टीकाकार प्रभाचन्द्रने अपने प्रस्तावना-वाक्योंके द्वारा पूर्व पद्योंके साथ इनके सम्बन्धको भले प्रकार घोषित किया है। वे प्रस्तावना वाक्य अपने अपने पद्यके साथ इस प्रकार हैं:—

"ननु यद्यात्मा शरीरात्सर्वथा भिन्नस्तदा कथमात्मनि चलति नियमेन तच्चलेत् तिष्ठति तिष्ठेदिति वदन्तं प्रत्याह—

प्रयत्नादात्मनो वायुरिच्छाद्वेषप्रवर्तितात्।
वायोः शरीरयंत्राणि वर्तन्ते स्वेषु कर्मसु॥१०३॥"

"तेषां शरीरयन्त्राणामात्मन्यारोपाऽनारोपौ कृत्वा जडविवेकिनौ किं कुर्वत इत्याह—

तान्यात्मनि समारोप्य साक्षाण्यास्ते सुखं जडः।
त्यक्त्वाऽऽरोपं पुनर्विद्वान् प्राप्नोति परमं पदम्॥१०४॥"

इन प्रस्तावना-वाक्योंके साथ प्रस्तावित पद्योंके अर्थको देखकर कोई भी सावधान व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि इनका ग्रंथके विषय तथा पूर्व पद्योंके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है—जिस मूलविषयको ग्रन्थमें अनेक प्रकारसे पुनः पुनः स्पष्ट किया गया है उसीको इन पद्योंमें भी प्रकारान्तरसे और भी अधिक स्पष्ट किया गया है और उसमें पुनरुक्तता जैसी भी कोई बात नहीं है। इसके सिवाय, उपसंहार-पद्यके पूर्व, ग्रंथके विषयकी समाप्ति भी **'अदुःखभावितं'** नामके भावनात्मक पद्य नं० १०२ की अपेक्षा पद्य नं०

१०४ के साथ ठीक जान पड़ती है; जिसके अन्तमें साध्यकी सिद्धिके उल्लेखरूप **'प्राप्नोति परमं पदम्'** वाक्य पड़ा हुआ है और जो इस ग्रन्थके मुख्य प्रयोजन अथवा आत्माके अन्तिम ध्येयको स्पष्ट करता हुआ विषयको समाप्त करता है।

अब मैं पद्य नं० १०५ को भी लेता हूं, जिसे डाक्टर साहबने सन्देह-कोटिमें रक्खा है। यह पद्य संदिग्ध नहीं है; बल्कि मूलग्रंथका अन्तिम उपसंहार पद्य है; जैसा कि मैंने इस प्रकरणके शुरूमें प्रकट किया है। पूज्यपादके दूसरे ग्रंथोंमें भी, जिनका प्रारम्भ अनुष्टुप छन्दके पद्यों द्वारा होता है, ऐसे ही उपसंहारपद्य पाये जाते हैं जिनमें ग्रंथकथित विषयका संक्षेपमें उल्लेख करते हुए ग्रंथका नामादिक भी दिया हुआ है। नमूनेके तौर पर 'इष्टोपदेश' और 'सर्वार्थसिद्धि' ग्रंथोंके दो उपसंहार-पद्योंको नीचे उद्धृत किया जाता है:—

> **इष्टोपदेशमिति सम्यगधीत्य धीमान्**
> **मानाऽपमानसमतां स्वमताद्वितन्य ।**
> **मुक्ताग्रहो विनिवसन्सजने वने वा**
> **मुक्तिश्रियं निरुपमामुपयाति भव्यः ॥"**
>
> —इष्टोपदेशः ।

> **स्वर्गाऽपवर्गसुखमाप्तुमनोभिरार्यै-**
> **र्जैनेन्द्रशासनवरामृतसारभूता ।**
> **सर्वार्थसिद्धिरिति सद्भिरुपात्तनामा**
> **तत्त्वार्थवृत्तिरनिशं मनसा प्रधार्या ॥**
>
> —सर्वार्थसिद्धिः

इन पद्योंपरसे पाठकोंको यह जानकर आश्चर्य होगा कि ये दोनों पद्य भी उसी वसन्ततिलका छन्दमें लिखे गये हैं जिसमें कि समाधितंत्रका उक्त उपसंहार-पद्य पाया जाता है। तीनों ग्रंथोंके ये तीनों पद्य एक ही टाइपके हैं और वे अपने एक ही आचार्यद्वारा रचे जानेकी स्पष्ट घोषणा करते हैं। **इसलिये समाधितंत्रका पद्य नं० १०५ पूज्यपादकृत ही है, इसमें सन्देह को ज़रा भी स्थान नहीं है।**

जब पद्य नं० १०५ असन्दिग्धरूपसे पूज्यपादकृत है तब ग्रन्थका असली मूलनाम भी **'समाधितन्त्र' ही है;** क्योंकि इसी नामका उक्त पद्यमें निर्देश है, जिसे डा० साहबने भी स्वयं स्वीकार किया है। और इसलिये 'समाधिशतक' नामकी कल्पना बादकी है—उसका अधिक प्रचार टीकाकार प्रभाचन्द्रके बाद ही हुआ है। श्रवणबेल्गोलके जिस शिलालेख नं० ४० में इस नामका उल्लेख आया है वह विक्रमकी १३वीं शताब्दीका है और टीकाकार प्रभाचन्द्रका समय भी विक्रमकी १३वीं शताब्दी है।

इस तरह इस ग्रंथका मूलनाम 'समाधितंत्र' उत्तरनाम या उपनाम 'समाधिशतक' है और इसकी पद्य-संख्या १०५ है—उसमें पाँच पद्योंके प्रक्षिप्त होनेकी जो कल्पना की जाती है वह निरी निर्मूल और निराधार है। ग्रंथकी हस्तलिखित मूल प्रतियोंमें भी यही १०५ पद्य-संख्या पाई जाती हैं। देहली आदिके अनेक भण्डारोंमें मुझे इस मूलग्रंथकी हस्तलिखित प्रतियोंके देखनेका अवसर मिला है—देहली-सेठके कूँचेके मन्दिर में तो एक जीर्ण-शीर्ण प्रति कईसौ वर्षकी पुरानी लिखी हुई जान पड़ती है। आरा जैन-सिद्धान्त भवनके अध्यक्ष पं० के० भुजबलीजी शास्त्रीसे भी दर्याफ्त करनेपर यही मालूम हुआ है कि वहाँ ताडपत्रादि पर जितनी भी मूलप्रतियाँ हैं उन सबमें इस ग्रन्थकी पद्यसंख्या १०५ ही दी है। और इसलिये डा० साहबका यह लिखना उचित प्रतीत नहीं होता कि 'इस टीकासे रहित मूलग्रंथकी हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध नहीं हैं।'

ऐसा मालूम होता है कि 'शतक' नामपरसे डा०

साहबको ग्रंथमें १०० पद्योंके होनेकी कल्पना उत्पन्न हुई है और उसीपरसे उन्होंने उक्त पाँच पद्योंको प्रक्षिप्त करार देनेके लिये अपनी बुद्धिका व्यापार किया है, जो ठीक नहीं जान पड़ता; क्योंकि 'शतक' ग्रन्थके लिये ऐसा नियम नहीं है कि उसमें पूरे १०० ही पद्य हों, प्रायः १०० पद्य होने चाहियें—दो, चार, दश पद्य ऊपर भी हो सकते हैं। उदाहरणके लिये भर्तृहरि-नीतिशतकमें ११०, वैराग्यशतकमें ११३, भूधर-जैनशतकमें १०७ और श्री समन्तभद्रके जिनशतकमें ११६ पद्य पाये जाते हैं। अतः ग्रन्थका उत्तरनाम या उपनाम 'समाधिशतक' होते हुए भी उसमें १०५ पद्योंका होना कोई आपत्तिकी बात नहीं है *।

वीर सेवा-मन्दिर, सरसावा, ता० ५-५-१९३९

सुभाषित

फल भारत नमि बिटप सब रहे भूमि निअराइ।
पर उपकारी पुरुष जिमि नवहिं सुसंपति पाइ॥
सुखी मीन सब एक रस अति अगाध जल माहिं।
जथा धर्मसीलहिं के दिन सुख संजुत जाहिं॥

—तुलसी

माला मनसे लड़ पड़ी, क्या फेरे तू मोय।
तुझ में है यदि साँच तो, राममिलादूँ तोय॥
मन दिया कहुँ और ही, तन मालाके संग।
कहे कबीर कोरी गजी कैसे लागे रंग॥

—कबीर

---

* *यह लेख वीरसेवामन्दिर-ग्रन्थमालामें संस्कृत-हिन्दी-टीकाओंके साथ मुद्रित और शीघ्र प्रकाशित होने वाले 'समाधितंत्र' ग्रन्थकी प्रस्तावनाका द्वितीय अंश है।*

—सम्पादक

पंछी

[गद्य-गीत]

[श्री० भगवत्स्वरूप जैन 'भगवत्']

पंछी! तुम कितने सुन्दर हो?

न जाने कितने मंगल-प्रभातोंका तुमने संसारको सन्देश दिया?

कितनी बार उषा तुम्हारी चुहल श्रवण कर तारुण्य की ओर बढ़ी?

कितनी वार सोया हुआ प्रभाकर तुम्हारी मनोहर-ध्वनि सुननेके लिए जागा?

कितना उपादेय है तुम्हारा—स्वर! कुछ ठीक है—इस सबका?

विहग! तुम मुक्त-आकाशमें सहज-साध्य विहार करते हो, जहाँ मानवीय समृद्धि-शालिनी चेष्टाएँ ही पहुँच पाती हैं!

वायु तुम्हारी सहचरी और आकाश तुम्हारा पथ! जैसे छलमय-विश्वसे दूर—सुदूर—रहना ही तुम्हारा लक्ष्य हो!

तुम्हारे छोटे-से जीवनमें कितनी मधुरिमा छिपी बैठी है, कि देखते ही रसिक-आँखें तुमसे स्नेह करने लगती हैं! सुकुमारियाँ तुम्हें अपनी उँगलियों पर बिठला कर प्रमोद प्राप्त करती हैं।

तुम्हारी चहक उनके हृदय-प्यालेमें आसनकी तरह उन्माद पैदा करती है!

क्या तुम भी प्रेम-योगमें विश्वास रखते हो?—

अवश्य रखते हो!

भले ही तुम ऊँचे उड़े! किन्तु प्रेमकी डोर—ममता की डोर—तो न काट सके?

अब तुम्हीं सोचो—महत्ता किस ओर है, ऊँचे पहुँचनेमें, या प्रेम-बन्धनसे मुक्त होने में…?

रायचन्द भाईके कुछ संस्मरण

[ले० महात्मा गान्धी]

> महात्मा गान्धीजीके जीवन पर जिनके व्यक्तित्वकी सबसे अधिक गहरी छाप पड़ी है, महात्माजीको जिनके प्रति बहुमान है और जिनके गाढ परिचयमें महात्माजी रह चुके हैं उन पुरुषोत्तम एवं कविश्रेष्ठ श्रीमद् राजचन्द्र अथवा रायचन्दजीके कुछ संस्मरण स्वयं महात्मा गांधी-जीके लिखे हुए प्राप्त होना कम प्रसन्नताकी बात नहीं है। ये संस्मरण महात्माजीने यरवदा जेलमें लिखे थे और बादको उस प्रस्तावनामें अन्तर्भूत किये गये थे,जो उन्होंने परम श्रुत प्रभावक मंडल बम्बईसे प्रकाशित होने वाले 'श्रीमद्राजचन्द्र' ग्रंथकी द्वितीय गुजराती आवृत्तिके लिये लिखी थी। हालमें प्रस्तावना सहित उक्त संस्मरण पं० जगदीशचन्द्रजी शास्त्री एम. ए. द्वारा अनुवादित होकर उक्त ग्रंथके हिन्दी संस्करणमें प्रकट हुए हैं। अनेकान्तके पाठकोंके लिये उपयोगी समझ कर उन्हें यहाँ उद्धृत किया जाता है। प्रस्तावनाके मुख्यभागको 'परिशिष्ट' रूपमें दे दिया गया है। —सम्पादक

मैं जिनके पवित्र संस्मरण लिखना आरंभ करता हूँ, उन स्वर्गीय श्रीमद् राजचन्द्रकी आज जन्मतिथि है। कार्तिक पूर्णिमा (संवत् १९२४) को उनका जन्म हुआ था। मैं कुछ यहाँ श्रीमद् राजचन्द्रका जीवनचरित्र नहीं लिख रहा हूँ। यह कार्य मेरी शक्तिके बाहर है। मेरे पास सामग्री भी नहीं। उनका यदि मुझे जीवन-चरित्र लिखना हो तो मुझे चाहिये कि मैं उनकी जन्मभूमि ववाणीआबंदरमें कुछ समय बिताऊँ, उनके रहनेका मकान देखूँ, उनके खेलने कूदनेके स्थान देखूं, उनके बाल-मित्रोंसे मिलूँ, उनकी पाठशालामें जाऊँ, उनके मित्रों, अनुयायियों और सगे संबंधियोंसे मिलूँ, और उनसे जानने योग्य बातें जानकर ही फिर कहीं लिखना आरम्भ करूँ। परन्तु इनमेंसे मुझे किसी भी बातका परिचय नहीं। इतना ही नहीं, मुझे संस्मरण लिखने-की अपनी शक्ति और योग्यताके विषयमें भी शंका है। मुझे याद है मैंने कई बार ये विचार प्रकट किये हैं कि अव-काश मिलने पर उनके संस्मरण लिखूंगा। एक शिष्यने जिनके लिये मुझे बहुत मान है,ये विचार सुने और मुख्यरूपसे यहाँ उन्हीं-के सन्तोषके लिये यह लिखा है। श्रीमद्राज-चन्दको मैं 'रायचन्द भाई' अथवा 'कवि' कहकर प्रेम और मान पूर्वक सम्बोधन करता था। उनके संस्मरण लिखकर

उनका रहस्य मुमुक्षुओंके समक्ष रखना मुझे अच्छा लगता है। इस समय तो मेरा प्रयास केवल मित्रके संतोषके लिये है। उनके संस्मरणों पर न्याय देनेके लिये मुझे जैनमार्गका अच्छा परिचय होना चाहिये, मैं स्वीकार करता हूँ कि वह मुझे नहीं है। इसलिये मैं अपना दृष्टि-बिन्दु अत्यंत संकुचित रक्खूंगा। उनके जिन संस्मरणोंकी मेरे जीवन पर छाप पड़ी है, उनके नोट्स, और उनसे जो मुझे शिक्षा मिली है, इस समय उसे ही लिख कर मैं सन्तोष मानूंगा। मुझे आशा है कि उनसे जो लाभ मुझे मिला है वह या वैसा ही लाभ उन संस्मरणोंके पाठक मुमुक्षुओंको भी मिलेगा।

'मुमुक्षु' शब्दका मैंने यहाँ जान बूझकर प्रयोग किया है। सब प्रकारके पाठकोंके लिये यह पर्याप्त नहीं।

मेरे ऊपर तीन पुरुषोंने गहरी छाप डाली है— टालस्टॉय, रस्किन और रायचन्द्र भाई। टालस्टॉयने अपनी पुस्तकों द्वारा और उनके साथ थोड़े पत्र व्यवहारसे; रस्किनने अपनी एक ही पुस्तक 'अन्टूदिसलास्ट' से, जिसका गुजराती अनुवाद मैंने 'सर्वोदय' रक्खा है; और रायचन्द भाईने अपने साथ गाढ़ परिचयसे। जब मुझे हिन्दू धर्म में शंका पैदा हुई उस समय उसके निवारण करनेमें मदद करनेवाले रायचन्द भाई थे। सन १८९३ में दक्षिण आफ्रिकामें मैं कुछ क्रिश्चियन सज्जनोंके विशेष सम्बन्धमें आया। उनका जीवन स्वच्छ था। वे चुस्त धर्मात्मा थे। अन्य धर्मियोंको क्रिश्चियन होनेके लिये समझाना उनका मुख्य व्यवसाय था। यद्यपि मेरा और उनका सम्बन्ध व्यावहारिक कार्यको लेकर ही हुआ था तो भी उन्होंने मेरी आत्माके कल्याणके लिये चिन्ता करना शुरू कर दिया। उस समय मैं अपना एक ही कर्त्तव्य समझ सका कि जबतक मैं हिन्दूधर्मके रहस्यको पूरी तौरसे न जान लूँ और उससे मेरी आत्माको असंतोष न हो जाय, तबतक मुझे अपना कुलधर्म कभी न छोड़ना चाहिये। इसलिये मैंने हिन्दू धर्म और अन्य धर्मोंकी पुस्तकें पढ़ना शुरू करदीं। क्रिश्चियन और मुसलमानी पुस्तकें पढ़ीं। विलायतके अंग्रेज मित्रोंके साथ पत्र व्यवहार किया। उनके समक्ष अपनी शंकाएं रक्खीं। तथा हिन्दुस्तानमें जिनके ऊपर मुझे कुछ भी श्रद्धा थी, उनसे पत्र-व्यवहार किया। उनमें रायचन्द भाई मुख्य थे। उनके साथ तो मेरा अच्छा सम्बन्ध हो चुका था। उनके प्रति मान भी था, इसलिये उनसे जो मिल सके उसे लेनेका मैंने विचार किया। उसका फल यह हुआ कि मुझे शांति मिली। हिन्दूधर्ममें मुझे जो चाहिये वह मिल सकता है, ऐसा मनको विश्वास हुआ। मेरी इस स्थितिके जवाबदार रायचन्द भाई हुए, इससे मेरा उनके प्रति कितना अधिक मान होना चाहिये, इसका पाठक लोग कुछ अनुमान कर सकते हैं।

इतना होनेपर भी मैंने उन्हें धर्मगुरु नहीं माना। धर्मगुरुकी तो मैं खोज किया ही करता हूँ, और अबतक मुझे सबके विषय में यही जवाब मिला है कि 'ये नहीं।' ऐसा सम्पूर्ण गुरु प्राप्त करनेके लिये तो अधिकार चाहिये, वह मैं कहाँ से लाऊँ ?

प्रथम भेंट

रायचन्द भाईके साथ मेरी भेंट जौलाई सन १८९१ में उस दिन हुई जब मैं विलायतसे बम्बई

वापिस आया। इन दिनों समुद्रमें तूफान आया करता है, इस कारण जहाज रातको देरीसे पहुँचा। मैं डाक्टर—बैरिष्टर—और अब रंगूनके प्रख्यात झवेरी प्राणजीवनदास मेहताके घर उतरा था। रायचन्द भाई उनके बड़े भाईके जमाई होते थे। डाक्टर साहबने ही परिचय कराया। उनके दूसरे बड़े भाई झवेरी रेवाशंकर जगजीवनदासकी पहिचान भी उसी दिन हुई। डाक्टर साहबने रायचन्द भाईका 'कवि' कहकर परिचय कराया और कहा— 'कवि होते हुए भी आप हमारे साथ व्यापारमें हैं; आप ज्ञानी और शतावधानी हैं।' किसीने सूचना की कि मैं उन्हें कुछ शब्द सुनाऊँ, और वे शब्द चाहे किसी भी भाषाके हों, जिस क्रमसे मैं बोलूँगा उसी क्रमसे वे दुहरा जावेंगे। मुझे यह सुनकर आश्चर्य हुआ। मैं तो उस समय जवान और विलायत से लौटा था; मुझे भाषा ज्ञानका भी अभिमान था। मुझे विलायतकी हवा भी कुछ कम न लगी थी। उन दिनों विलायत से आया मानों आकाश से उतरा। मैंने अपना समस्त ज्ञान उलट दिया, और अलग अलग भाषाओंके शब्द पहले तो मैंने लिख लिये—क्योंकि मुझे वह क्रम कहाँ याद रहनेवाला था? और बादमें उन शब्दोंको मैं बाँच गया। उसी क्रमसे रायचन्द भाईने धीरेसे एकके बाद एक शब्द कह सुनाये। मैं राजी हुआ, चकित हुआ और कवि की स्मरण शक्तिके विषयमें मेरा उच्च विचार हुआ। विलायतकी हवा कम पड़नेके लिये यह सुन्दर अनुभव हुआ कहा जा सकता है।

कविको अंग्रेजीका ज्ञान बिल्कुल न था। उस समय उनकी उमर पच्चीससे अधिक न थी। गुजराती पाठशालामें भी उन्होंने थोड़ा ही अभ्यास किया था। फिर भी इतनी शक्ति, इतना ज्ञान और आसपाससे इतना उनका मान! इससे मैं मोहित हुआ। स्मरणशक्ति पाठशालामें नहीं बिकती, और ज्ञान भी पाठशालाके बाहर, यदि इच्छा हो जिज्ञासा हो—तो मिलता है, तथा मान पानेके लिये विलायत अथवा कहीं भी नहीं जाना पड़ता; परन्तु गुणको मान चाहिये तो मिलता है—यह पदार्थ-पाठ मुझे बम्बई उतरते ही मिला।

कविके साथ यह परिचय बहुत आगे बढ़ा। स्मरण शक्ति बहुत लोगोंकी तीव्र होती है, इसमें आश्चर्यकी कुछ बात नहीं। शास्त्रज्ञान भी बहुतोंमें पाया जाता है। परन्तु यदि वे लोग संस्कारी न हों तो उनके पास फूटी कौड़ी भी नहीं मिलती। जहाँ संस्कार अच्छे होते हैं, वहीं स्मरण शक्ति और शास्त्रज्ञानका सम्बन्ध शोभित होता है, और जगतको शोभित करता है कवि संस्कारी ज्ञानी थे।

वैराग्य

अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे,
क्यारे थईशुं बाह्यान्तर निर्ग्रंथ जो,
सर्व संबंधनुं बंधन तीक्ष्ण छेदीने,
विचरशुं कब महत्पुरुषने पंथजो ?
सर्वभावथी औदासीन्य वृत्तिकरी,
मात्र देहे ते संयमहेतु होय जो;
अन्य कारणे अन्य कशुं कल्पे नहि,
देहे पण किंचित मूर्छा नवजोय जो ॥

—अपूर्व०

रायचन्द भाईकी १८ वर्षकी उमरके निकले हुए अपूर्व उद्गारोंकी ये पहली दो कड़ियाँ हैं।

जो वैराग्य इन कड़ियोंमें छलक रहा है, वह मैंने उनके दो वर्षके गाढ़ परिचयसे प्रत्येक क्षणमें उनमें देखा है। उनके लेखोंकी एक असाधारणता यह है कि उन्होंने स्वयं जो अनुभव किया वही लिखा है। उसमें कहीं भी कृत्रिमता नहीं। दूसरेके ऊपर छाप डालनेके लिये उन्होंने एक लाइन भी लिखी हो यह मैंने नहीं देखा। उनके पास हमेशा कोई न कोई धर्म पुस्तक और एक कोरी कापी पड़ी ही रहती थी। इस कापीमें वे अपने मनमें जो विचार आते उन्हें लिख लेते थे। ये विचार कभी गद्यमें और कभी पद्यमें होते थे। इसी तरह 'अपूर्व अवसर' आदि पद भी लिखा हुआ होना चाहिये।

खाते, बैठते, सोते और प्रत्येक क्रिया करते हुए उनमें वैराग्य तो होता ही था। किसी समय उन्हें इस जगतके किसी भी वैभव पर मोह हुआ हो यह मैंने नहीं देखा।

उनका रहन-सहन मैं आदर पूर्वक परन्तु सूक्ष्मतासे देखता था। भोजनमें जो मिले वे उसीसे संतुष्ट रहते थे। उनकी पोशाक सादी थी। कुर्ता, अँगरखा, खेस, सिल्कका डुपट्टा और धोती यही उनकी पोशाक थी। तथा ये भी कुछ बहुत साफ़ या इस्तरी किये हुए रहते हों, यह मुझे याद नहीं। जमीन पर बैठना और कुर्सी पर बैठना उन्हें दोनों ही समान थे। सामान्य रीतिसे अपनी दुकानमें वे गद्दीपर बैठते थे।

उनकी चाल धीमी थी, और देखनेवाला समझ सकता था कि चलते हुए भी वे अपने विचारमें मग्न हैं। आँखमें उनकी चमत्कार था। वे अत्यन्त तेजस्वी थे। विह्वलता जरा भी न थी। आँखमें एकाग्रता चित्रित थी। चेहरा गोलाकार, होंठ पतले, नाक न नोकदार और न चपटी, शरीर दुर्बल, क़द मध्यम, वर्ण श्याम, और देखनेमें वे शान्तमूर्ति थे। उनके कंठमें इतना अधिक माधुर्य था कि उन्हें सुननेवाले थकते न थे उनका चेहरा हँसमुख और प्रफुल्लित था। उसके ऊपर अंतरानंदकी छाया थी। भाषा उनकी इतनी परिपूर्ण थी कि उन्हें अपने विचार प्रगट करते समय कभी कोई शब्द ढूँढना पड़ा हो, यह मुझे याद नहीं। पत्र लिखने बैठते तो शायद ही शब्द बदलते हुए मैंने उन्हें देखा होगा। फिर भी पढ़नेवाले को यह मालूम न होता था कि कहीं विचार अपूर्ण हैं अथवा वाक्य-रचना त्रुटित है, अथवा शब्दोंके चुनावमें कमी है।

यह वर्णन संयमीके विषयमें संभव है। बाह्याडंबरसे मनुष्य वीतरागी नहीं हो सकता। वीतरागता आत्माकी प्रसादी है। यह अनेक जन्मोंके प्रयत्नसे मिल सकती है, ऐसा हर मनुष्य अनुभव कर सकता है। रागोंको निकालनेका प्रयत्न करने वाला जानता है कि राग-रहित होना कितना कठिन है। यह राग-रहित दशा कविकी स्वाभाविक थी, ऐसी मेरे ऊपर छाप पड़ी थी।

मोक्षकी प्रथम सीढ़ी वीतरागता है। जब तक जगतकी एक भी वस्तुमें मन रमा है तब तक मोक्षकी बात कैसे अच्छी लग सकती है? अथवा अच्छी लगती भी हो तो केवल कानोंको ही— ठीक वैसे ही जैसे कि हमें अर्थके समझे बिना किसी संगीतका केवल स्वर ही अच्छा लगता है। ऐसी केवल कर्ण-प्रिय क्रीड़ामेंसे मोक्षका अनुसरण करने वाले आचरणके आनेमें बहुत समय बीत

जाता है । आंतर वैराग्यके बिना मोक्षकी लगन नहीं होती। ऐसे वैराग्यकी लगन कविमें थी।

व्यापारी जीवन

* "वणिक तेहनुं नाम जेह जूठुं नव बोले,
वणिक तेहनुं नाम, तोल ओछुं नव तोले।
वणिक तेहनुं नाम बापे बोल्युं ते पाले,
वणिक तेहनुं नाम व्याज सहित धनवाले।
विवेक तोल ए वणिकनुं, सुलतान तोल ए शाव छे,
वेपार चुके जो वाणीओ, दुःख दावानल थाय छे"

—सामलभट्ट

सामान्य मान्यता ऐसी है कि व्यवहार अथवा व्यापार और परमार्थ अथवा धर्म ये दोनों अलग अलग विरोधी वस्तुएँ हैं। व्यापारमें धर्मको घसेड़ना पागलपन है। ऐसा करनेमे दोनों बिगड़ जाते हैं। यह मान्यता यदि मिथ्या न हो तो अपने भाग्यमें केवल निराशा ही लिखी है; क्योंकि ऐसी एक भी वस्तु नहीं, ऐसा एक भी व्यवहार नहीं जिससे हम धर्म को अलग रख सकें।

धार्मिक मनुष्यका धर्म उसके प्रत्येक कार्यमें झलकना ही चाहिये, यह रायचन्द भाईने अपने जीवनमें बताया था। धर्म कुछ एकादशीके दिन ही, पर्यूषणमें ही, ईदके दिन ही, या रविवारके दिन ही पालना चाहिये; अथवा उसका पालन मंदिरोंमें, देरासरोंमें, और मस्जिदोंमें ही होता है और दूकान या दरबार में नहीं होता, ऐसा कोई नियम नहीं। इतना ही नहीं, परन्तु यह कहना धर्मको न समझनेके बराबर है, यह रायचन्द भाई कहते, मानते और अपने आचारमें बताते थे।

उनका व्यापार हीरे जवाहरातका था। वे श्रीरेवाशंकर जगजीवन झवेरीके साझी थे। साथमें वे कपड़ेकी दुकान भी चलाते थे। अपने व्यवहारमें सम्पूर्ण प्रकारसे वे प्रामाणिकता बताते थे, ऐसी उन्होंने मेरे ऊपर छाप डाली थी। वे जब सौदा करते तो मैं कभी अनायास ही उपस्थित रहता। उनकी बात स्पष्ट और एक ही होती थी। 'चालाकी' सरीखी कोई वस्तु उनमें मैं न देखता था। दूसरेकी चालाकी वे तुरंत ताड़ जाते थे; वह उन्हें असह्य मालूम होती थी। ऐसे समय उनकी भ्रकुटि भी चढ़ जाती, और आँखोंमें लाली आ जाती, यह मैं देखता था।

धर्मकुशल लोग व्यापार-कुशल नहीं होते, इस वहमको रायचन्द भाईने मिथ्या सिद्ध करके बताया था। अपने व्यापारमें वे पूरी सावधानी और होशियारी बताते थे। हीरे जवाहरातकी परीक्षा वे बहुत बारीकीसे कर सकते थे। यद्यपि अंग्रेजीका ज्ञान उन्हें न था फिर भी पेरिस वगैरहके अपने आढ़तियोंकी चिट्ठियों और तारोंके मर्मको वे फौरन समझ जाते थे, और उनकी कला समझनेमें उन्हें देर न लगती। उनके जो तर्क होते थे, वे अधिकांश सच्चे ही निकलते थे।

इतनी सावधानी और होशियारी होने पर भी वे व्यापारकी उद्विग्नता अथवा चिन्ता न रखते थे। दुकानमें बैठे हुए भी जब अपना काम समाप्त

* बनिया उसे कहते हैं जो कभी झूठ नहीं बोलता; बनिया उसे कहते हैं जो कम नहीं तोलता। बनिया उसका नाम है जो अपने पिताका वचन निभाता है; बनिया उसका नाम है जो व्याज सहित मूलधन चुकाता है। बनियेकी तोल विवेक है; साह सुलतानकी तोलका होता है। यदि बनिया अपने बनिजको चूक जाय तो संसारकी विपत्ति बढ़ जाय। —अनुवादक

हो जाता, तो उनके पास पड़ी हुई धार्मिक पुस्तक अथवा कापी, जिसमें वे अपने उद्‌गार लिखते थे, खुल जाती थी। मेरे जैसे जिज्ञासु तो उनके पास रोज आते ही रहते थे और उनके साथ धर्म-चर्चा करनेमें हिचकते न थे। 'व्यापारके समयमें व्यापार और धर्मके समयमें धर्म' अर्थात् एक समयमें एक ही काम होना चाहिये, इस सामान्य लोगोंके सुन्दर नियमका कवि पालन न करते थे। वे शतावधानी होकर इसका पालन न करें तो यह हो सकता है, परन्तु यदि और लोग उसका उल्लंघन करने लगें तो जैसे दो घोड़ों पर सवारी करने वाला गिरता है, वैसे ही वे भी अवश्य गिरते। सम्पूर्ण धार्मिक और वीतरागी पुरुष भी जिस क्रियाको जिस समय करता हो, उसमें ही लीन हो जाय, यह योग्य है; इतना ही नहीं परन्तु उसे यही शोभा देता है। यह उसके योगकी निशानी है। इसमें धर्म है। व्यापार अथवा इसी तरहकी जो कोई अन्य क्रिया करना हो तो उसमें भी पूर्ण एकाग्रता होनी ही चाहिये। अन्तरंगमें आत्म-चिन्तन तो मुमुक्षुमें उसके श्वासकी तरह सतत चलना ही चाहिये। उससे वह एक क्षणभर भी वंचित नहीं रहता। परन्तु इस तरह आत्मचिन्तन करते हुए भी जो कुछ वह बाह्य कार्य करता हो वह उसमें तन्मय रहता है।

मैं यह नहीं कहना चाहता कि कवि ऐसा न करते थे। ऊपर मैं कह चुका हूँ कि अपने व्यापार-में वे पूरी सावधानी रखते थे। ऐसा होने पर भी मेरे ऊपर ऐसी छाप जरूर पड़ी है कि कविने अपने शरीरसे आवश्यकतासे अधिक काम लिया है। यह योगकी अपूर्णता तो नहीं हो सकती? यद्यपि कर्तव्य करते हुए शरीर तक भी समर्पण कर देना यह नीति है, परन्तु शक्तिसे अधिक बोझ उठा कर उसे कर्तव्य समझना यह राग है। ऐसा अत्यंत सूक्ष्म राग कविमें था, यह मुझे अनुभव हुआ।

बहुत बार परमार्थ दृष्टिसे मनुष्य शक्तिसे अधिक काम लेता है और बादमें उसे पूरा करने-में उसे कष्ट सहना पड़ता है। इसे हम गुण समझते हैं और इसकी प्रशंसा करते हैं। परन्तु परमार्थ अर्थात् धर्म-दृष्टिसे देखनेसे इस तरह किये हुए-काममें सूक्ष्म मूर्छाका होना बहुत संभव है।

यदि हम इस जगतमें केवल निमित्तमात्र ही हैं, यदि यह शरीर हमें भाड़े मिला है, और उस मार्गसे हमें तुरंत मोक्ष-साधन करना चाहिये, यही परम कर्तव्य है, तो इस मार्गमें जो विघ्न आते हों उनका त्याग अवश्य ही करना चाहिये; यही पारमार्थिक दृष्टि है दूसरी नहीं।

जो दलीलें मैंने ऊपर दी हैं, उन्हें ही किसी दूसरे प्रकारसे रायचन्द भाई अपनी चमत्कारिक भाषामें मुझे सुना गये थे। ऐसा होने पर भी उन्होंने कैसी कैसी व्याधियाँ उठाईं कि जिसके फल स्वरूप उन्हें सख्त बीमारी भोगनी पड़ी?

रायचन्द भाईको भी परोपकारके कारण मोहने क्षण भरके लिये घेर लिया था, यदि मेरी यह मान्यता ठीक हो तो 'प्रकृति याति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति' यह श्लोकार्ध यहाँ ठीक बैठता है; और इसका अर्थ भी इतना ही है। कोई इच्छापूर्वक वर्त्ताव करने के लिये उपर्युक्त कृष्ण-वचन का उपयोग करते हैं, परन्तु वह तो सर्वथा दुरुपयोग है। रायचन्द भाईकी प्रकृति

उन्हें बलात्कार गहरे पानीमें ले गई। ऐसे कार्यको दोषरूपसे भी लगभग सम्पूर्ण आत्माओंमें ही माना जा सकता है। हम सामान्य मनुष्य तो परोपकारी कार्यके पीछे अवश्य पागल बन जाते हैं, तभी उसे कदाचित् पूरा कर पाते हैं। इस विषयको इतना ही लिखकर समाप्त करते हैं।

यह भी मान्यता देखी जाती है कि धार्मिक मनुष्य इतने भोले होते हैं कि उन्हें सब कोई ठग सकता है। उन्हें दुनियाकी बातोंकी कुछ भी खबर नहीं पड़ती। यदि यह बात ठीक हो तो कृष्णचन्द्र और रामचन्द्र दोनों अवतारोंको केवल संसारी मनुष्योंमें ही गिनना चाहिये। कवि कहते थे कि जिसे शुद्धज्ञान है उसका ठगा जाना असंभव होना चाहिये। मनुष्य धार्मिक अर्थात नीतिमान् होनेपर भी कदाचित ज्ञानी न हो परन्तु मोक्षके लिये नीति और अनुभवज्ञानका सुसंगम होना चाहिये। जिसे अनुभवज्ञान होगया है, उसके पास पाखण्ड निभ ही नहीं सकता। सत्यके पास असत्य नहीं निभ सकता। अहिंसाके सांनिध्यमें हिंसा बंद हो जाती है। जहाँ सरलता प्रकाशित होती है वहाँ छलरूपी अंधकार नष्ट होजाता है। ज्ञानवान और धर्मवान यदि कपटीको देखे तो उसे फौरन पहिचान लेता है, और उसका हृदय दयासे आर्द्र होजाता है। जिसने आत्मको प्रत्यक्ष देख लिया, वह दूसरेको पहिचाने बिना कैसे रह सकता है? कविके सम्बन्धमें यह नियम हमेशा ठीक पड़ता था, यह मैं नहीं कह सकता। कोई कोई धर्मके नाम पर उन्हें ठग भी लेते थे। ऐसे उदाहरण नियमकी अपूर्णता सिद्ध नहीं करते, परन्तु ये शुद्ध ज्ञानकी ही दुर्लभता सिद्ध करते हैं।

इस तरहके अपवाद होते हुए भी व्यवहार-कुशलता और धर्म-परायणताका सुन्दर मेल जितना मैंने कविमें देखा है। उतना किसी दूसरेमें देखनेमें नहीं आया।

धर्म

रायचन्द भाईके धर्मका विचार करनेसे पहले यह जानना आवश्यक है कि धर्मका उन्होंने क्या स्वरूप समझाया था।

धर्मका अर्थ मत-मतान्तर नहीं। धर्मका अर्थ शास्त्रोंके नामसे कही जानेवाली पुस्तकोंका पढ़ जाना, कंठस्थ करलेना, अथवा उनमें जो कुछ कहा है, उसे मानना भी नहीं है।

धर्म आत्माका गुण है और वह मनुष्य जातिमें दृश्य अथवा अदृश्यरूपसे मौजूद है। धर्मसे हम मनुष्य-जीवनका कर्तव्य समझ सकते हैं। धर्मद्वारा हम दूसरे जीवोंके साथ अपना सच्चा संबन्ध पहचान सकते हैं। यह स्पष्ट है कि जबतक हम अपनेको न पहचान लें, तबतक यह सब कभी भी नहीं हो सकता। इसलिये धर्म वह साधन है; जिसके द्वारा हम अपने आपको स्वयं पहिचान सकते हैं।

यह साधन हमें जहाँ कहीं मिले, वहींसे प्राप्त करना चाहिये। फिर भले ही वह भारतवर्षमें मिले, चाहे यूरोपसे आये या अरबस्तानसे आये। इन साधनोंका सामान्य स्वरूप समस्त धर्मशास्त्रोंमें एक ही सा है। इस बातको वह कह सकता है जिसने भिन्न-भिन्न शास्त्रोंका अभ्यास किया है। ऐसा कोई भी शास्त्र नहीं कहता कि असत्य बोलना चाहिये, अथवा असत्य आचरण करना चाहिये। हिंसा करना किसी भी शास्त्र में नहीं बताया। समस्त शास्त्रोंका दोहन करते हुए शंकराचार्यने

कहा है—'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'। इसी बातको कुरानशरीफ़में दूसरी तरह कहा है कि ईश्वर एक ही है और वही है, उसके बिना और दूसरा कुछ नहीं। बाइबिलमें कहा है कि मैं और मेरा पिता एक ही हैं। ये सब एकही वस्तुके रूपांतर हैं। परन्तु इस एक ही सत्यके स्पष्ट करनेमें अपूर्ण मनुष्योंने अपने भिन्न-भिन्न दृष्टि-बिन्दुओंको काममें लाकर हमारे लिये मोहजाल रच दिया है; उसमेंसे हमें बाहर निकलना है। हम अपूर्ण हैं और अपनेसे कम अपूर्णकी मदद लेकर आगे बढ़ते हैं और अन्तमें न जाने अमुक हदतक जाकर ऐसा मान लेते हैं कि आगे रास्ता ही नहीं है, परन्तु वास्तवमें ऐसी बात नहीं है। अमुक हदके बाद शास्त्र मदद नहीं करते, परन्तु अनुभव मदद करता है। इसलिये रायचन्द भाईने कहा है:—

> ए पद श्रीसर्वज्ञे दीठुं ध्यानमां,
> कही शक्या नहीं ते पद श्रीभगवंत जो
> एह परमपदप्राप्तिनुं कर्युं ध्यानमें,
> गजावगर पणहाल मनोरथ रूपजो—

इसलिये अन्तमें तो आत्माको मोक्ष देनेवाली आत्मा ही है।

इस शुद्ध सत्यका निरूपण रायचन्द भाईने अनेक प्रकारों से अपने लेखोंमें किया है। रायचन्द भाईने बहुतसी धर्म पुस्तकोंका अच्छा अभ्यास किया था। उन्हें संस्कृत और मागधी भाषाके समझनेमें जरा भी मुश्किल न पड़ती थी। उन्होंने वेदान्तका अभ्यास किया था, इसी प्रकार भागवत और गीताजीका भी उन्होंने अभ्यास किया था। जैनपुस्तकें तो जितनी भी उनके हाथमें आतीं, वे बांच जाते थे। उनके बाँचने और ग्रहण करनेकी शक्ति अगाध थी। पुस्तकका एक बारका बाँचन उन पुस्तकोंके रहस्य जाननेके लिये उन्हें काफ़ी था। कुरान, जंदअवेस्ता आदि पुस्तकें भी वे अनुवादके ज़रिये पढ़ गये थे।

वे मुझसे कहते थे कि उनका पक्षपात जैन-धर्मकी ओर था। उनकी मान्यता थी कि जिनागममें आत्मज्ञानकी पराकाष्ठा है; मुझे उनका यह विचार बता देना आवश्यक है। इस विषयमें अपना मत देनेके लिये मैं अपनेको बिलकुल अनधिकारी समझता हूँ।

परन्तु रायचन्द भाईका दूसरे धर्मोंके प्रति अनादर न था, बल्कि वेदांतके प्रति पक्षपात भी था। वेदांतीको तो कवि वेदांती ही मालूम पड़ते थे। मेरी साथ चर्चा करते समय मुझे उन्होंने कभीभी यह नहीं कहा कि मुझे मोक्ष प्राप्तिके लिये किसी ख़ास धर्मका अवलंबन लेना चाहिये। मुझे अपना ही आचार विचार पालनेके लिये उन्होंने कहा। मुझे कौनसी पुस्तकें बाँचनी चाहिये, यह प्रश्न उठने पर, उन्होंने मेरी वृत्ति और मेरे बचपनके संस्कार देखकर मुझे गीताजी बाँचनेके लिये उत्तेजित किया; और दूसरी पुस्तकोंमें पंचीकरण, मणिरत्नमाला, योगवासिष्ठका वैराग्य प्रकरण, काव्यदोहन पहला भाग, और अपनी मोक्षमाला बाँचनेके लिये कहा।

रायचन्द भाई बहुत बार कहा करते थे कि भिन्न भिन्न धर्म तो एक तरहके बाड़े हैं और उनमें मनुष्य घिर जाता है। जिसने मोक्ष प्राप्ति ही पुरुषार्थ मान लिया है, उसे अपने माथे पर किसी भी धर्मका तिलक लगानेकी आवश्यकता नहीं।

†सूतर आवे त्यम तुं रहे, ज्यम त्यम करिने हरीने लहे—

जैसे आत्माका यह सूत्र था वैसे ही रायचन्द भाईका भी था। धार्मिक झगड़ोंसे वे हमेशा ऊबे रहते थे—उनमें वे शायद ही कभी पड़ते थे। वे समस्त धर्मोंकी खूबियाँ पूरी तरहसे देखते और उन्हें उन धर्मावलम्बियोंके सामने रखते थे। दक्षिण आफ्रिकाके पत्र व्यवहारमें भी मैंने यही वस्तु उनसे प्राप्त की।

मैं स्वयं तो यह मानने वाला हूँ कि समस्त धर्म उस धर्मके भक्तोंकी दृष्टिसे सम्पूर्ण हैं, और दूसरोंकी दृष्टिसे अपूर्ण हैं। स्वतंत्र रूपसे विचार करनेसे सब धर्म पूर्णापूर्ण हैं। अमुक हदके बाद सब शास्त्र बंधन रूप मालूम पड़ते हैं। परन्तु यह तो गुणातीतकी अवस्था हुई। रायचन्द भाईकी दृष्टिसे विचार करते हैं तो किसीको अपना धर्म छोड़नेकी आवश्यकता नहीं। सब अपने अपने धर्ममें रह कर अपनी स्वतंत्रता-मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। क्योंकि मोक्ष प्राप्त करनेका अर्थ सर्वांश से राग-द्वेष रहित होना ही है।

परिशिष्ट *

इन प्रकरणोंमें एक विषयका विचार नहीं हुआ। उसे पाठकोंके समक्ष रख देना उचित समझता हूँ। कुछ लोग कहते हैं कि श्रीमद् पच्चीसवें तीर्थंकर हो गये हैं। कुछ ऐसा मानते हैं कि उन्होंने मोक्ष प्राप्त कर लिया है। मैं समझता हूँ कि ये दोनों ही मान्यताएँ अयोग्य हैं। इन बातोंको मानने वाले या तो श्रीमद्को ही नहीं पहचानते, अथवा तीर्थंकर या मुक्त पुरुषकी वे व्याख्या ही दूसरी करते हैं। अपने प्रियतमके लिये भी हम सत्यको हलका अथवा सस्ता नहीं कर देते हैं। मोक्ष अमूल्य वस्तु है। मोक्ष आत्माकी अंतिम स्थिति है। मोक्ष बहुत मँहगी वस्तु है। उसे प्राप्त करनेमें, जितना प्रयत्न समुद्रके किनारे बैठकर एक सींक लेकर उसके ऊपर एक एक बूंद चढ़ा चढ़ा कर समुद्रको खाली करने वालेको करना पड़ता है और धीरज रखना पड़ता है, उससे भी विशेष प्रयत्न करनेकी आवश्यकता है। इस मोक्षका संपूर्ण वर्णन असम्भव है। तीर्थंकरको मोक्षके पहलेकी विभूतियाँ सहज ही प्राप्त होती हैं। इस देहमें मुक्त पुरुषको रोगादि कभी भी नहीं होते। निर्विकारी शरीरमें रोग नहीं होता। रागके बिना रोग नहीं होता। जहाँ विकार है वहाँ राग रहता ही है; और जहाँ राग है वहाँ मोक्ष भी संभव नहीं। मुक्त पुरुषके योग्य वीतरागता या तीर्थंकरकी विभूतियाँ श्रीमद्को प्राप्त नहीं हुई थीं। परन्तु सामान्य मनुष्य-की अपेक्षा श्रीमद्की वीतरागता और विभूतियाँ बहुत अधिक थीं, इसलिये हम उन्हें लौकिक भाषा-में वीतराग और विभूतिमान कहते हैं। परन्तु मुक्त पुरुषके लिये मानी हुई वीतरागता और तीर्थंकरकी विभूतियोंको श्रीमद् न पहुँच सके थे, यह मेरा दृढ़ मत है। यह कुछ मैं एक महान् और पूज्य व्यक्तिके दोष बतानेके लिये नहीं लिखता। परन्तु उन्हें और सत्यको न्याय देनेके लिये लिखता हूँ। यदि हम संसारी जीव हैं तो श्रीमद् असंसारी थे

† जैसे सूत निकलता है वैसे ही तू कर। जैसे बने वैसे हरिको प्राप्त कर। —अनुवादक

* 'श्रीमद्राजचन्द्र' की गांधीजी द्वारा लिखा हुआ प्रस्तावनाका वह अंश जो उक्त संस्मरणोंसे अलग है और उनके बाद लिखा गया है।

हमें यदि अनेक योनियोंमें भटकना पड़ेगा तो श्रीमद्को शायद एक ही जन्म बस होगा। हम शायद मोक्षसे दूर भागते होंगे तो श्रीमद् वायुवेगसे मोक्षकी ओर धँसे जा रहे थे। यह कुछ थोड़ा पुरुषार्थ नहीं। यह होने पर भी मुझे कहना होगा कि श्रीमद्ने जिस अपूर्व पदका स्वयं सुन्दर वर्णन किया है, उसे वे प्राप्त न कर सके थे। उन्होंने ही स्वयं कहा है कि उनके प्रवासमें उन्हें सहाराका मरुस्थल बीचमें आ गया और उसका पार करना बाक़ी रह गया। परन्तु श्रीमद राजचन्द्र असाधारण व्यक्ति थे। उनके लेख उनके अनुभवके बिंदु के समान हैं। उनके पढ़ने वाले, विचारने वाले और तदनुसार आचरण करने वालोंको मोक्ष सुलभ होगा, उनकी कषायें मन्द पड़ेंगी, और वे देहका मोह छोड़ कर आत्मार्थी बनेंगे।

इसके ऊपरसे पाठक देखेंगे कि श्रीमद्के लेख अधिकारीके लिये ही योग्य हैं। सब पाठक तो उसमें रस नहीं ले सकते। टीकाकारको उसकी टीकाका कारण मिलेगा। परन्तु श्रद्धावान तो उसमेंसे रस ही लूटेगा। उनके लेखोंमें सत् नितर रहा है, यह मुझे हमेशा भास हुआ है। उन्होंने अपना ज्ञान बतानेके लिये एक भी अक्षर नहीं लिखा। लेखकका अभिप्राय पाठकोंको अपने आत्मानन्दमें सहयोगी बनानेका था। जिसे आत्म क्लेश दूर करना है, जो अपना कर्तव्य जाननेके लिए उत्सुक है, उसे श्रीमद्के लेखोंमेंसे बहुत कुछ मिलेगा, ऐसा मुझे विश्वास है, फिर भले ही कोई हिन्दू धर्मका अनुयायी हो या अन्य किसी दूसरे धर्मका।

जागृति गीत

जाग रे उठनेके अरमान !

जड़ता काट, भगा कायरता,
आलस छोड़, दिखा तत्परता;
दम्भ, अनीति कुचल पैरोंसे,
गा सुक्रान्तिकर गान।
जागरे उठनेके अरमान !

अनल उगल हाहाकारोंसे,
विश्व कँपादे हुँकारो से;
आह-ज्वालसे भस्मसात् कर—
पापोंका अभिमान।
जागरे उठनेके अरमान !

हूकों से यह हूक उठे जग;
कसकोंसे यह कूक उठे जग,
तेरी दृढ़तासे आजाए—
मुर्दों में भी जान।
जागरे उठनेके अरमान !

अट्टहाससे हँसदें तारे,
गज जायँ भुवनत्रय सारे;
तेरा हास्य प्रलय ला दे, हो—
संकट का अवसान।
जागरे उठनेके अरमान !

तनिक क्रोधसे अखिल चराचर—
कम्पित हो यह प्रतिक्षण थर थर;
एक अजेय शक्ति दे जाएँ—
तेरे ये बलिदान।
जागरे उठनेके अरमान !

ध्रुव आशाके पीकर प्याले,
हो जाएँ मानव मतवाले;
सत्य-प्रेमके पागलपनमें—
हो पथका निर्माण।
जागरे उठनेके अरमान !

दुःख, वैर, परिताप दूर हों,
द्वेष, घृणा अभिशाप चूर हों;
जीवनमें नवज्योति जाग, फिर—
लाये नव वरदान।
जागरे उठने के अरमान !

[राजेन्द्रकुमार जैन "कुमरेश"]

वीर प्रभुके धर्ममें जाति भेदको स्थान नहीं है

लेखक—श्री० बाबू सूरजभानुजी वकील

जीवमात्रके कल्याणका जो सच्चा और सीधा मार्ग श्रीवीरप्रभुने बताया है वही जैनधर्म कहलाता है, उस ही धर्मके अनुयायी होनेका दावा हम लोग करते हैं। अढ़ाई हज़ार बरस हुए जब वीरप्रभुका जन्म इस आर्यावर्तमें हुआ था, तब जैसा महान अंधकार यहाँ फैला हुआ था, जिस प्रकार खुल्लमखुल्ला पापको पुण्य और अधर्म को धर्म बताया जारहा था, डंकेकी चोट धर्मके नामपर जैसा कुछ ज़ुल्म और अन्याय होरहा था उसको सुनकर बदनके रोंगटे खड़े होते हैं, वीरप्रभुने किस प्रकार यह सब ज़ुल्म हटाया, दयाधर्मका पाठ पढ़ाया, मनुष्यको मनुष्य बनना सिखाया, उसको सुनकर और भी ज़्यादा आश्चर्य होता है और वीरप्रभुकी सच्ची वीरताका परिचय मिलता है। सच्चे धर्मके ग्रहण करने और उसका प्रचार करनेके लिये सबसे पहले हृदयमे सब प्रकारका भय दूर करनेकी आवश्यकता इसही कारण तो शास्त्रोंमें बताई गई है कि उलटे-पुलटे प्रचलित सिद्धान्तोंके विरुद्ध सत्यसिद्धान्तका व्याख्यान करने पर दुनिया भड़कती है। और सब ही प्रकारकी आपत्तियाँ उपस्थित करने पर उतारु होती है। जिनके हृदयमें भय नहीं होता, सत्यके वास्ते जो सबही प्रकार की आपत्तियाँ झेलनेको तय्यार होते हैं वे ही निर्भय होकर सत्यको ग्रहण कर सकते हैं और सत्य सिद्धान्तका प्रचार कर भोले लोगोंको अधर्म मार्गसे हटाकर कल्याणके मार्ग पर लासकते हैं।

वो समय वह था जबकि पशु पत्तियों को मारकर अग्निमें फूंकदेना ही बहुधा धर्म और स्वर्ग तथा मोक्षप्राप्तिका साधन समझा जाता था, हिंसा करना ही धर्म माना जाता था, निर्दयता ही कल्याणका मार्ग होरहा था। यज्ञमें होम किये जानेके वास्ते ही परमेश्वरने पशु-पक्षी बनाये हैं, जो पशु-पक्षी यज्ञके अर्थ मारे जाते हैं वे उत्तम गति पाते हैं, वेदके तत्वको जाननेवाले जो ब्राह्मण मधुपर्क आदि अनुष्ठानोंमें अपने हाथसे पशुओंको मारते हैं वे सद्गति पाते हैं और जिन पशुओंको वे मारते हैं उनको भी सद्गति दिलाते हैं, हर महीने पितरोंका श्राद्ध अवश्य करना चाहिये और यह श्राद्ध मांसके द्वारा ही होना चाहिये, श्राद्धमें ब्राह्मणोंको मांस अवश्य खाना चाहिये, श्राद्धमें नियुक्त हुआ जो ब्राह्मण मांस खानेसे इनकार करेगा उसको इस अपराधके कारण २१ बार पशु जन्म लेना पड़ेगा, इस प्रकारकी अद्भुत धर्म-आज्ञाएँ उस समय प्रचलित थीं और ईश्वर-वाक्य मानी जाती थीं *।

उन दिनों वाममार्ग नामका भी एक मत बहुत

* देखो, मनुस्मृति अध्याय ५ श्लोक ३२, ३५, ३९, ४०, ४२, अध्याय ३ श्लोक १२३।

जोरोंसे प्रचलित था, जिसके द्वारा खूनकी प्यासी अनेक देवियोंकी स्थापना होकर उन पर भी अपनी और अपने बाल बच्चोंकी सुख शान्तिके वास्ते लाखों करोड़ों पशु मारमार कर चढ़ाये जाते थे, जिसके कुछ नमूने अबतक भी इस हिन्दुस्तानमें मौजूद हैं। हृदयको कम्पायमान करदेनेवाली जिस निर्दयतासे ये बलियाँ आज दक्षिण देशके अनेक मन्दिरोंमें होती हैं उसके कुछ नमूने अनेकान्त वर्ष दो की प्रथम किरणमें दिये गये हैं, उनसे तो यह बात अनुमानसे भी बाहर होजाती है और यह खयाल पैदा होता है कि जब आजकल भी यह हाल है तो श्री महावीर स्वामीके जन्म समयमें तो क्या कुछ न होता होगा ? उस समय तो जो कुछ होता होगा, वहाँ तक हमारी बुद्धि भी नहीं जासकती है। हाँ, इतना ज़रूर कहा जासकता है कि वह ज़माना प्रायः मनुष्यत्वके बाहरका ही जमाना था, मांसाहारी क्रूरसे क्रूर पशु भी इस प्रकार तड़पा तड़पा कर अपने शिकारको नहीं मारता है जिस प्रकार कि आजकल दक्षिण भारतके कुछ लोग अपनी और अपने बालबच्चोंकी सुख शान्तिके वास्ते किसी किसी देवीको प्रसन्न करनेके अर्थ पशुओंको तड़पा तड़पा कर मारते हैं, ज़िन्दा पशुओंका ही खून चूस चूसकर पीते हैं, आँतें निकाल कर गले में डालते हैं, उनके खून में नहाते हैं: उन्हींके खूनसे होली खेलते हैं और अन्य भी अनेक प्रकारकी ऐसी ऐसी क्रियाएँ करते हैं जिनसे बलि दिये जानेवाले पशुकी जान बहुत देरमें और बहुत ही तड़प तड़प कर निकले !!

उस समय तो पशुओंके सिवाय मनुष्यों पर भी धर्मके नाम पर भारी ज़ुल्म होते थे, वाल्मीकि-रामायण उत्तर कांड सर्ग ७३से ७६के अनुसार श्री रामचन्द्रके राज्यमें एक बूढ़े ब्राह्मणका बालक मर गया, जिसको लेकर वह रामके पास आया और उलाहना दिया कि तुम्हारे राज्यमें कहीं कोई भारी पाप हो रहा है, जिससे पिताके सामने पुत्र मरने लगा है। रामने सब ऋषियोंको इकट्ठाकर पूछा, तो उन्होंने बताया कि सतयुगमें केवल ब्राह्मण ही तप कर सकते थे, त्रेतायुग आनेपर पापका भी एक चरण आगया, जिस पापके कारण क्षत्रिय भी तप करने लगे, परन्तु उस युगमें वैश्यों और शूद्रोंका अधिकार केवल सेवा करना ही रहा। फिर द्वापर युग आनेपर पापका दूसरा चरण भी आगया, इस पापके कारण वैश्य भी धर्मसाधन करने लगे, परन्तु शूद्रोंको धर्म-साधनका अधिकार नहीं हुआ। परन्तु इस समय तुम्हारे राज्यमें किसी स्थानपर कोई शूद्र तप कर रहा है, इस ही महापापके कारण ब्राह्मणका यह पुत्र मर गया है। यह सुनकर श्रीराम तुरन्त ही विमानमें बैठ उस शूद्रकी तलाशमें निकले; एक स्थान पर शम्बूक नामका शूद्र तपस्या करता हुआ मिला, श्री रामचन्द्रजीने तुरन्तही तलवारसे उसका सिर काटदिया जिसपर देवताओंने धन्य धन्य कहा और ब्राह्मणका पुत्र भी ज़िन्दा करदिया। ऐसी दुर्दशा उस समय शूद्रोंकी वा धर्मकी हो रही थी, समाज-विज्ञान आदि अनेक ग्रंथोंसे यह भी पता लगता है कि उस समय यदि भूलसे भी वेदका कोई शब्द किसी शूद्रके कानमें पड़ जाता था तो उसके कान फोड़ दिये जाते थे, धर्म की गंध तक भी उनके पास न पहुँचने पावे, ऐसा भारी प्रबन्ध रखा जाता था।

इस ही प्रकारके धार्मिक ज़ुल्म स्त्रियों पर भी होते थे, वे चाहे ब्राह्मणी हों वा क्षत्रिया उनको कोई भी अधिकार किसी प्रकारके धर्म-साधनका नहीं था, यहाँतक कि उनके जात कर्म आदि संस्कार भी बिना मन्त्रोंके ही होते थे *।

---

* मनुस्मृति ९-१८

बिना पुत्रके किसीकी गति नहीं होसकती, यह भी एक महा अद्भुत अटल सिद्धान्त उस समय माना जा-रहा था, इस ही कारण अपने पतिसे पुत्रकी उत्पत्ति न हो सकने पर स्त्री किसी कुटम्बीसे नियोग करके पुत्र उत्पन्न करले, यह भी एक ज़रूरी धर्म प्रचलि हो रहा था ‡। क्षत्रिय रणमें लड़ता हुआ मर जाय तो उसको महायज्ञ करनेका फल मिलेगा, उसकी क्रियाकर्मकी भी कोई ज़रूरत न होगी, अर्थात् वह बिना क्रियाकर्म किये ही स्वर्ग चला जायगा †। इत्यादिक अद्भुत सिद्धान्त धर्मके नाम पर बन रहे थे और सर्व साधारण में अटल रूपसे माने जारहे थे।

इसके अलावा उस समय तांत्रिकोंका भी बड़ा भारी ज़ोरशोर था, जो अनेक प्रकारकी महा भयङ्कर और डरावनी देवियोंकी कल्पना और स्थापना करके उनके द्वारा लोगोंकी इच्छाओंके पूरा कर देनेका विश्वास दिलाते थे—मारण, ताड़न, उच्चाटन, वशीकरण, अर्थात् किसी को जानसे मार डालना, अंग-भंग करदेना, कोई भयानक रोग लगा देना, धन-दौलत बर्बाद कर-देना, अन्य भी अनेक प्रकारकी आपत्तिमें फंसा देना, आपसमें मनमुटावकर कर लड़ाई-झगड़ा करा देना, किसी दूसरेकी स्त्री आदिको वशमें करा देना धन सम्पत्ति निरोगता, पुत्र आदिकी उत्पत्ति, वा किसी स्त्री आदिकी प्राप्ति करा देना आदि सब कुछ तांत्रिकोंके ही हाथमें माना जा रहा था। इस कारण उस समयके अधिकांश लोग अपने शुभाशुभ कर्मोंकी तरफ़से बिल्कुलही बेपरवाह होकर और पुरुषार्थसे भी मुँह मोड़ इन तांत्रिकोंके मंत्रों यंत्रोंके ही भरोसे अपने सब कार्यों की सिद्धि करानेके चक्करमें पड़े हुए थे। आत्मोन्नति और परिणामोंकी शुद्धिका तो उस समय बहुत कुछ अभाव होगया था।

‡ मनुस्मृति ६-५६,६०

† मनुस्मृति ५-६८

वीरप्रभुने ४२ बरसकी अवस्थामें केवलज्ञान प्राप्त कर लोगोंका मिथ्यात्व अंधकार दूर करना शुरू किया और स्पष्ट शब्दोंमें समझाया कि 'सुख वा दुख जो भी कुछ मिलता है वह सब जीवोंके अपने ही खोटे खरे परिणामोंका फल होता है, जैसा करोगे वैसा भरोगे। गेहूँ बोओगे तो गेहूँ उगेंगे और जौ बोओगे तो जौ, बबूलका बीज बोनेसे कांटे ही लगेंगे, किसी परमेश्वर वा देवी देवताकी खुशामद करने वा भेंट चढ़ानेसे बबूलके पेड़ को आम अमरूद वा अनार अंगूर नहीं लगने लगेंगे; तब क्यों इस भ्रमजालमें फँसकर वृथा डले ढो रहे हो? जिस प्रकार देहकी बीमारीका इलाज शरीरके अन्दरसे दूषित द्रव्य (फ़ासिद माद्दा) निकाल देनेके सिवाय और कुछ नहीं हो सकता है, उसी प्रकार आत्मामें भी रागद्वेष रूपी जो मैल लगा हुआ है उसके दूर किये बिना सुख शान्ति नहीं मिल सकती है।'

अगर तुम अपना भला चाहते हो तो सब भटकावा छोड़ एक मात्र अपने ही परिणामोंकी दुरुस्तीमें लग जाओ, अपनी नीयतको साफ़ करो, अपने भावोंको शुद्ध बनाओ, स्वार्थमें अन्धे होकर दूसरोंको मत सताओ, दूसरोंके अधिकारों पर झपट्टा मत लगाओ, संतोषी बनो, न्यायकी दृष्टिसे देखो तुम्हारे समान संसारके सब ही जीवोंको जीवित रहने, संसारमें विचारनेका अधिकार है, अगर तुम्हारी नीयत इसके विपरीत होती है तो वही खोटी नीयत है, वही खोटा भाव है जिसका खोटा परिणाम भी अवश्य ही तुमको भोगना पड़ेगा।'

'किसी भी जीवको मारना, सताना, दुख देना, उसके अधिकारोंको छीनना, वा किसी प्रकारकी रोक पैदा करना महापाप है, जो किसीको सताएगा वह उसके

परिणाम स्वरूप ज़रूर सताया जायगा और दुख उठायेगा, जैसा तुम दूसरोंके लिये चाहोगे, वैसे ही तुम खुद बन जाओगे, यह ही एक अटल सिद्धान्त हृदयमें धारण करो। भला बुरा जो कुछ होता है वह सब अपने ही किये कर्मोंसे होता है, इस कारण मरे हुए जीवोंकी गति भी उनके अपनेही किये कर्मोंके अनुसार होती है–दूसरोंके किये कर्मोंके अनुसार नहीं। मैं खाऊँगा तो मेरा पेट भरेगा और तुम खाओगे तो तुम्हारा। अतः ब्राह्मणोंको खिलानेसे मरे हुए पितरोंका पेट नहीं भर सकता है और न किसीके पुत्रके द्वारा ही उसकी गति हो सकती है। यह सब मुफ्तखोर लोगोंने बेसिर पैरकी अप्राकृतिक बातें घड़कर भोले लोगोंको अपने जालमें फँसा रखा है, जिससे स्त्रियोंको भी अपने पतिसे पुत्र न होसकने पर देवर आदि पर पुरुषके साथ कुशील सेवन करके पुत्र उत्पन्न करना पड़ता है, बेचारियोंको ज़बरदस्ती ही इस उलटे सिद्धांतके कारण कुशीलमें फँसना पड़ता है, इससे अधिक घोर अंधकार और क्या हो सकता है? स्त्रियोंसे पुरुष उत्पन्न होते हैं, उनको इतना नीचे गिराना कि उनका कोई संस्कार भी मंत्रों द्वारा नहीं हो सकता, वे मंत्रोंका उच्चारण वा जाप आदि वा अन्य धार्मिक अनुष्ठान भी नहीं कर सकतीं, कितना बड़ा ज़ुल्म और पुरुषोंकी बुद्धिका अंधकार है।'

इस प्रकार पुरुषोंकी बुद्धिको ठिकाने लाकर वीर प्रभुने श्रावक, श्राविका और मुनि, आर्यिका नामके संघ बनाकर स्त्रियोंको श्रावकका गृहस्थधर्म और त्यागियोंका त्यागधर्म साधन करनेकी भी इजाज़त दी, इजाज़त ही नहीं दी किन्तु पुरुषोंसे भी अधिक गिनतीमें उनको धर्म साधनमें लगाया और उनके ऊपरसे पुरुषोंके भारी ज़ुल्मको हटाया।

'जो धर्म किसी जीवको धर्मके स्वरूपको जानने वा धर्मसाधन करनेसे रोकता है वह धर्म नहीं, किन्तु ज़बरदस्तोंकी ज़बरदस्ती और ज़ालिमोंका ज़ुल्म है, ऐसी घोषणाकर वीर-प्रभुने अपने धर्मोपदेशमें सब ही जीवोंको स्थान दिया, शूद्रों, चांडालों, पतितों, कलंकियों, दुराचारियों, अधर्मियों, पापियों और धर्मके नामपर हिंसा करनेवाले धर्मद्रोहियों आदि सबही स्त्री पुरुषोंको धर्मका सच्चा स्वरूप बताकर आत्मकल्याणके मार्गपर लगाया, पाप करना छुड़ाकर धर्मात्मा बनाया। केवल मनुष्योंके ही नहीं, किन्तु वीरप्रभुने तो पशु पक्षियों तकको भी अपने धर्म-उपदेशमें स्थान देकर धर्मका स्वरूप समझाया—शेर, भेड़िया, कुत्ता, बिल्ली, सूअर, गिद्ध और चील कौवा आदि महा हिंसक जीव भी उनकी सभामें आये और धर्मोपदेश सुनकर कृतार्थ हुए।

'औषधि बीमारोंके वास्ते ही की जाती है, भोजन भूखके वास्ते ही बनाया जाता है, मार्गसे भटके हुओंको ही रास्ता बताया जाता है; इस ही प्रकार धर्मका उपदेश भी उस ही को सुनाया जाता है, जो धर्मका स्वरूप नहीं जानता है, धर्मभ्रष्टको ही धर्म मार्ग पर लगानेकी ज़रूरत है, ऐसा कल्याणकारी वीरप्रभुका आदेश था। उन्होंने स्वयं जगह जगह घूम फिरकर महा पापियों, धर्मभ्रष्टों, महाहिंसकों, मांस-आहारियों, दुराचारियों, पतितों, कलंकियों शूद्रों और चांडालोंको पापसे हटाकर धर्ममें लगाया और उन्हें जैनी बनाकर धर्मका मार्ग चलाया।

मिथ्यात्वीसे ही जीव सम्यक्ती बनता है और पतित को ही ऊपर उठाया जाता है, इस बातको समझानेके वास्ते वीरप्रभुने अपना भी दृष्टान्त कह सुनाया कि एक बार मैं सिंहकी पर्यायमें था, जब कि पशुओंको मारना और मांस खाना ही एकमात्र मेरा कार्य था, उसही पर्यायमें एक समय किसी पशुको मारकर उसका मांस खा रहा था कि एक मुनि महाराजने मुझको सम्बोधा, धर्म-

का सच्चा स्वरूप समझाया और पापसे हटाकर धर्ममें लगाया; तब ही से उन्नति करते करते मैंने अब यह महा उत्कृष्ट तीर्थंकर पद पाया है।' इस ही प्रकार अन्य भी सब ही पापियोंको पापसे हटाकर धर्ममें लगाना धर्मात्माओंका मुख्य कर्तव्य है। धर्मके सच्चे श्रद्धानीकी यही तो एक पहचान है कि वह पतितोंको उभारे, गिरे हुओंको ऊपर उठावे, भूले भटकोंको रास्ता बतावे और पापियोंको पापसे हटाकर धर्मात्मा बनावे।

धर्म, अधर्म, पाप और पुण्य ये सब आत्माके ही भाव होते हैं। हाड मांसकी बनी देहमें धर्म नहीं रहता है। देह तो माता पिताके रज वीर्यसे बनी हुई महा अपवित्र निर्जीव वस्तुओंका पिंड है। इस कारण अमुक माता पिताके रजवीर्यसे बनी देह पवित्र और अमुकके रजवीर्यसे बनी देह अपवित्र, यह भेद तो किसी प्रकार भी नहीं हो सकता है, रजवीर्य तो सब ही का अपवित्र है और उसकी बनी देह भी सबकी हाड मांसकी ही होती है, और हाड मांस सब ही का अपवित्र होता है—किसी का भी हाड मांस पवित्र नहीं होसकता है—; तब अमुक माता पिताके रजवीर्यसे जो देह बनी है वह तो पवित्र और अमुक माता पिताके रज वीर्यसे बनी देह अपवित्र है यह बात किसी प्रकार भी नहीं बन सकती है। हाँ! देहके अन्दर जो जीवात्मा है वह न तो किसी माता पिताके रज वीर्यसे ही बनती है और न हाड मांसकी बनी हुई देहसे ही उत्पन्न होती है, वह तो स्वतन्त्र रूपसे अपने ही कर्मों द्वारा देहमें आती है और अपने अपने ही भले बुरे कर्मोंको अपने साथ लाती है, अपने ही शुभ अशुभ भावों और परिणामोंसे ऊँच नीच कहलाती है। जैसे जैसे भाव इस जीवात्माके होते रहते है वैसी ही भली या बुरी वह बनती रहती है; जैसा कि वीरप्रभुका जीव महाहिंसक सिंहकी पर्यायमें जबतक हिंसा करनेको भला मानता रहा तबतक वह महापापी और पतित रहा, फिर जब मुनिमहाराजके उपदेशसे उसको होश आगया और हिंसा करनेको महापाप समझने लग गया तब ही से वह उस महानिंदनीय पर्यायमें ही पुण्यवान् धर्मात्मा बन गया।

इस ही कारण श्रीसमन्तभद्रस्वामीने जाति-भेदकी निस्सारताको दिखाते हुए रत्नकरंड श्रावकाचार श्लोक २८में बताया है कि चांडाल और चांडालनीके रजवीर्य से पैदा हुआ मनुष्य भी यदि सम्यक् दर्शन ग्रहण करले तो वह भी देवोंके तुल्य माने जाने योग्य हो जाता है। इस ही प्रकार अनेक जैनग्रन्थोंमें यह भी बताया है कि ऊँचीसे ऊँची जाति और कुलका मनुष्य भी यदि वह मिथ्यात्वी है और पाप कर्म करता है तो नरकगति ही पाता है; तब धर्मको जाति और कुलसे क्या वास्ता? जो धर्म करेगा वह धर्मात्मा होजायगा और जो अधर्म करेगा वह पापी बन जायगा। श्रीवीरप्रभुके समयमें बहुत करके ऐसे ही मनुष्य तो थे जो पशु पक्षियोंको मारकर होम करना या देवी देवताओं पर चढ़ाना ही धर्म समझते थे। जब महीने महीने पितरोंका श्राद्ध कर ब्राह्मणोंको मांस खिलाना ही बहुत जरूरी समझा जाता था, तब उनसे अधिक पतित और कौन होसकता था? यदि माता पिताके रज वीर्यसे ही धर्म ग्रहण करनेकी योग्यता प्राप्त होती है, तब तो यह महा अधर्म उनकी नसनसमें सैकड़ों पीढ़ीसे ही प्रवेश करता चला आरहा था! और इसलिये वे जैनधर्म ग्रहण करनेके योग्य किसी प्रकार भी नहीं होसकते थे। परन्तु वीरप्रभुके मतमें यह बात नहीं थी। उनका जैनधर्म तो किसी जाति विशेषके वास्ते नहीं है। जब चांडाल तक भी इसको ग्रहण करनेसे देवताके समान सम्मानके योग्य होजाता है तब पशु पक्षियोंको मारकर होम करनेवाले और श्राद्ध

में नित्य ही मांस खानेवाले क्योंकर इस पवित्र जैनधर्मको धारण करनेके अयोग्य होसकते हैं ? अतः वीरप्रभुने इन सब ही हिंसकों और मांसाहारियोंको बेखटके जैन बनाया इनहीमेंसे जो गृहस्थी रहकर ही धर्म पाल सके वे श्रावक और श्राविका बने और जो गृह त्यागकर सकल संयमादि धारण करसके वे मुनि और आर्यिका हुए—यहांतक कि उन्हींमेंसे आत्म-शुद्धि कर अनेक उस ही भवसे मोक्षधाम पधारे।

वीर भगवान्के बाद श्री जैन आचार्योंने भी जाति भेदका खंडन कर मनुष्य मात्र की एक जाति बताते हुए सब ही को जैनधर्म ग्रहण कर आत्म-कल्याण करनेका अधिकारी ठहराया है। अब मैं इसी विषयके कुछ नमूने पेश करता हूँ, जिनके पढ़नेसे जैनधर्मका सच्चा स्वरूप प्रगट होकर मिथ्या अँधकार दूर होगा, जातिभेद का झूठा भूत सिरसे उतर कर सम्यक् श्रद्धानमें दृढ़ता आएगी और मनुष्यमात्रको जैनधर्म ग्रहण करानेका उल्लास पैदा होकर सच्चा धर्म-भाव जागृत हो सकेगा:—

(१) भगवज्जिनसेनाचार्यकृत आदि पुराण पर्व ३८ में मनुष्योंके जाति भेदकी बाबत लिखा है—'मनुष्य-जातिनाम कर्मके उदयसे ही सब मनुष्य, मनुष्य-पर्यायको पाते हैं, इस कारण सब मनुष्योंकी, एक ही मनुष्य जाति है। अलग-अलग प्रकारका रोज़गार-धंधा करनेसे ही उनके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, ये चार भेद होजाते हैं। व्रती होनेसे ब्राह्मण कहलाता है, शस्त्र धारण करनेसे क्षत्रिय, न्यायसे धन कमाने वाला वैश्य और घटिया कामोंसे आजीविका करनेवाला शूद्र।' यथा—

"मनुष्यजातिरेकैव जातिनामोदयोद्भवा।
वृत्तिभेदा हि तद्भेदाच्चातुर्विध्यमिहाश्नुते ॥४५॥
ब्राह्मणा व्रतसंस्कारात् क्षत्रियाः शस्त्रधारणात्।
वणिजोऽर्थार्जना-न्याय्यात् शूद्रा न्यग्वृत्तिसंश्रयात् ॥४६॥

फिर ३९वें पर्वमें सब ही जातिके लोगोंको जैनी बनानेकी दीक्षान्वय क्रिया बताकर, उनके जैनी बनजाने के बाद श्लोक १०७में उनको इस प्रकार समझाया है कि—'सत्य, शौच, क्षमा, दम आदि उत्तम आचरणोंको धारण करनेवाले सद्गृहस्थोंको चाहिये कि वे अपने को देव, ब्राह्मण मानें।' और श्लोक १०८ से ११२ तक यह बताया है कि—'अगर कोई अपनेको झूठमूठ द्विज माननेवाला अपनी जातिके घमण्डमें आकर उससे ऐतराज़ करने लगे कि क्या तू आज ही देव बन गया है? क्या तू अमुकका बेटा नहीं है? क्या तेरी माँ अमुककी बेटी नहीं है? तब फिर तू आज किस कारण से ऊँची नाक करके मेरे जैसे द्विजोंका आदर सत्कार किये बिना ही जारहा है? तेरी जाति वही है, जो पहले थी—तेरा कुल वही है जो पहले था और तू भी वही है, जो पहले था। तो भी तू अपनेको देवता समान मानता है। देवता, अतिथि, पितृ और अग्नि सम्बन्धी कार्योंमें अप्राकृतिक होनेपर भी तू गुरू, द्विज, देवोंको प्रणाम् नहीं करता है। जिनेन्द्रदेवकी दीक्षा धारण करनेसे अर्थात् जैनी बननेसे तुझको ऐसा कौनसा अतिशय प्राप्त होगया है, ? तू तो अब भी मनुष्य ही है और धरतीको पैरोंसे छूकर ही चलता है।'

इस प्रकार क्रोध करता हुआ कोई द्विज उलाहना दे तो,उसको किस प्रकार युक्तिसहित उत्तर देना चाहिये उसका सारांश श्लोक ११४, ११५, ११६, १३०,१३१, १३२, १४०, १४१, १४२ के अनुसार इस प्रकार है—

'जिन्होंने दिव्यमूर्ति जिनेन्द्रदेवके निर्मल ज्ञानरूपी गर्भसे जन्म लिया है, वे ही द्विज हैं। व्रत, मंत्र आदि संस्कारोंसे जिन्होंने गौरव प्राप्त कर लिया है, वे ही उत्तम द्विज हैं। वे किसी प्रकार भी जाति व वर्णसे गिरे हुए

नहीं माने जा सकते हैं। जो क्षमा, शौच आदि गुणोंके धारी हैं, सन्तोषी हैं, उत्तम और निर्दोष आचरणोंसे भूषित हैं, वे ही सब वर्णोंमें श्रेष्ठ हैं। जो अत्यन्त विशुद्ध वृत्तिको धारण करते हैं, उनको शुक्ल वर्गी अर्थात् महा पवित्र उज्वल वर्णवाले मानना चाहिये और बाक़ीको शुद्धतासे बाहर समझना चाहिये।

मनुष्योंकी शुद्धि-अशुद्धि, उनके न्याय-अन्याय रूप आचरणसे ही जाननी चाहिये। दयासे कोमल परिणामों-का होना न्याय है और जीवोंका घात करना अन्याय है। विशुद्ध आचरण होनेके कारण जैनी ही उत्तम वर्णके हैं और द्विज हैं। वे किसी प्रकार भी वर्णमें घटिया नहीं माने जा सकते हैं।'

आदिपुराण पर्व ३६ के उक्त श्लोक क्रमशः इस प्रकार हैं :—

धर्म्यैराचरितैः सत्यशौचक्षांतिदमादिभिः।
देवब्राह्मणतां श्लाघ्यां स्वस्मिन्संभावयत्यसौ ॥१०७॥
अथ जातिमदावेशात्कश्चिदेनं द्विजब्रुवः।
ब्रूयादेवं किमद्यैव देवभूयंगतो भवान् ॥१०८॥
त्वमामुष्यायणःकिन्न किं तेऽम्बाऽमुष्यपुत्रिका।
येनैवमुन्नसोभूत्वा यास्यसत्कृत्य मद्विधान् ॥१०६॥
जातिः सैव कुलं तच्च सोऽसि योऽसि प्रगेतनः।
तथापि देवतात्मानमात्मानं मन्यते भवान् ॥११०॥
देवताऽतिथिपित्रग्निकार्येष्वप्राकृतो भवान्।
गुरुद्विजातिदेवानां प्रणामाच्च पराङ्मुखः ॥१११॥
दीक्षां जैनीं प्रपन्नस्य जातः कोऽतिशयस्तव।
यतोऽद्यापि मनुष्यस्त्वं पादचारी महीं स्पृशन् ॥ ११२
इत्युपारूढसंरंभमुपालब्धः स केनचित्।
ददात्युत्तरमित्यस्मै वचोभिर्युक्तिपेशलैः ॥११३॥
श्रूयतां भो द्विजंमन्य त्वयाऽस्मद्दिव्यसंभवः।
जिनो जनयिताऽस्माकं ज्ञानं गर्भोऽतिनिर्मलः ॥११४
तत्रार्हतीं त्रिधा भिन्नां शक्तिं त्रैगुण्यसंश्रितां।
स्वसात्कृत्य समुद्भूता वयं संस्कारजन्मना ॥११५॥
अयोनिसंभवास्तेनदेवा एव न मानुषाः।
वयं वयमिवान्येऽपि संति चेद्ब्रूहि तद्विधान् ॥११६॥
स्वयम्भुवो मुखाज्जाता ब्राह्मणा ब्रह्मवादिनः।
...

विष्यमूर्तेर्जिनेन्द्रस्य ज्ञानगर्भादनाविलात्।
समासादितजन्मानो द्विजन्मानस्ततो मताः ॥१२०॥
वर्णांतःपातिनो नैते मंतव्या द्विजसत्तमाः।
व्रतमंत्रादिसंस्कारसमारोपितगौरवाः ॥ १२१ ॥
वर्णोत्तमानिमान् विद्मः क्षांतिशौचपरायणान्।
संतुष्टान् प्राप्तवैशिष्ट्यानक्लिष्टाचारभूषणान् ॥१२२॥
ये विशुद्धतरां वृत्तिं तत्कृतां समुपाश्रिताः।
ते शुक्लवर्गे बोद्धव्याः शेषाःसर्वेःबहिःकृताः ॥१४०॥
तच्छुद्ध्यशुद्धी बोद्धव्ये न्यायान्यायप्रवृत्तितः।
न्यायो दयार्द्रवृत्तित्वमन्यायः प्राणिमारणं ॥१४१॥
विशुद्धवृत्तयस्तस्माज्जैना वर्णोत्तमा द्विजाः।
वर्णांतःपातिनो नैते जगन्मान्या इति स्थितं ॥१४२

(२) इस ही जाति भेदका खंडन श्रीगुणभद्राचार्य कृत उत्तरपुराण पर्व ७४ में इस प्रकार किया है:—

'मनुष्यके शरीरमें ब्राह्मणादि वर्णोंकी पहचानका—शकल सूरत आदिका—कोई किसी प्रकारका भी भेद नहीं दीखता है और शूद्र आदिकके द्वारा ब्राह्मणी आदि को भी गर्भ रह जाना। संभव होनेसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रमें ऐसा कोई जाति भेद नहीं है जैसा कि गाय और घोड़े आदिमें पाया जाता है अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रमें प्राकृतिक कोई भेद नहीं है, किन्तु पृथक् पृथक् आजीविका करनेके कारण ही उनमें भेद मान लिया जाता है। वास्तवमें तो इन सबकी एक ही मनुष्य जाति है।' यथा—

वर्णाकृत्यादिभेदानां देहेऽस्मिन्न च दर्शनात्।
ब्राह्मण्यादिषु शूद्राद्यैर्गर्भाधानप्रवर्तनात् ॥४६१॥

नास्ति जातिकृतोभेदो मनुष्याणां गवाश्ववत्,
आकृतिग्रहणात्तस्मादन्यथा परिकल्पते ॥ ४९२ ॥

(३) रविषेणाचार्य कृत, 'पद्मपुराणमें जाति भेदका जो खण्डन किया है वह इस प्रकार है—

'क्रियाके भेदसे ही तीन वर्णोंकी स्थापना की गई है।' 'ज़ाहिरमें जो पहिचान, जिसकी दिखाई देती है, वह उस ही नामसे पुकारा जाता है—सेवा करनेवाला सेवक, खेत जोतनेवाला किसान धनुष रखनेवाला तीरन्दाज़, धर्मसेवन करनेवाला धर्मात्मा, रक्षा करनेवाला क्षत्रिय और ब्रह्मचर्य धारण करनेवाला ब्राह्मण कहलाता है। जातिकी अपेक्षा अर्थात् जन्मसे चार भेद मानना ठीक नहीं हैं। श्लोकपाठ और अग्नि-संस्कार-से भी देह विशेषका बोध नहीं होता है। जहाँ जाति भेदकी सम्भावना है, वहां वह दिखाई देता ही है, जैसे कि:—मनुष्य, गाय, हाथी, घोड़ा आदिमें। और जाति वाले नरसे किसी भी स्त्री जातिमें गर्भधारण नहीं कराया जासकता। लेकिन, ब्राह्मण आदि जातियोंमें आपसमें ऐसा होजाता है। कोई कहे कि गधेसे घोड़ीमें गर्भ रह सकता है, यह ऐतराज़ ठीक नहीं है, उनके शरीरकी समानता होनेके कारण वे बिल्कुल दूसरी जातिके नहीं हैं। अगर उन दोनोंसे भिन्न प्रकारकी औलाद पैदा हो तो ऐसा मनुष्योंमें होता नहीं है। इस कारण वर्ण-व्यवस्था गुणोंसे ही माननी चाहिये—जन्मसे नहीं। ऋषि श्रृंगादिका ब्राह्मणपन, उनके गुणके कारण ही माना गया है, ब्राह्मण योनिमें जन्म लेनेके कारण नहीं। कोई जाति निन्द्य नहीं है, गुण ही कल्याणकारी हैं। व्रतधारण करनेवाले चाण्डालको भी आचार्योंने देव ब्राह्मण कहा है। चार वर्ण और चाण्डालादि विशेषण जो मनुष्योंके होते हैं, वे सब आचार भेदके कारण ही माने जाते हैं।'

इस आशयके मूल श्लोक क्रमशः इस प्रकार हैं—

"कल्पितास्च त्रयो वर्णाः क्रियाभेदविधानतः।
शस्यानां च समुत्पत्तिर्जायते कल्पतो यतः ॥१६४॥
लक्षणं यस्य यल्लोके स तेन परिकीर्त्यते।
सेवकः सेवया युक्तः कर्षकः कर्षणात्तथा ॥२०९॥
धानुष्को धनुषो योगाद्धार्मिको धर्मसेवनात्।
क्षत्रियः क्षततस्त्राणाद्ब्राह्मणो ब्रह्मचर्यतः ॥२१०॥

—पर्व ५वाँ

चातुर्विध्यं च यज्जात्या तन्न युक्तमहेतुकं।
ज्ञानं देहविशेषस्य न च श्लोकाग्निसंभवात् ॥१६४॥
दृश्यते जातिभेदस्तु यत्र तत्रास्य संभवः।
मनुष्यहस्तिवालेयगोवाजिप्रभृतौ यथा ॥१६५॥
नच जात्यंतरस्थेन पुरुषेण स्त्रियां क्वचित्।
क्रियते गर्भसंभूतिर्विप्रादीनां तु जायते ॥१६६॥
अश्वायां रासभेनास्ति संभवोऽस्येति चेन्नसः।
नितांतमन्यजातिस्थशफादितनुसाम्यतः ॥१६७॥
यदि वा तद्वदेव स्याद् द्वयोर्विसदृशः सुतः।
नात्र दृष्टं तथा तस्माद्गुणैर्वर्णव्यवस्थितिः ॥१६८॥
ऋषिश्रृंगादिकानां च मानवानां प्रकीर्त्यते।
ब्राह्मण्यं गुणयोगेन न तुत योनिसंभवात् ॥२००॥
नजातिर्गर्हिता काचिद्गुणाः कल्याणकारणं।
व्रतस्थमपि चांडालं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥२०३॥
चातुर्वर्ण्यं यथान्यच्च चांडालादिविशेषणं।
सर्वमाचारभेदेन प्रसिद्धिं भुवने गतं ॥२०५॥

—पर्व ११वाँ

(४) श्री अमितगति आचार्यने भी धर्मपरीक्षाके १७वें परिच्छेदमें जातिभेदका खंडन इस प्रकार किया है—'आचार मात्रके भेदसे ही जाति भेद किया जाता है। ब्राह्मण आदिकी जाति जन्मसे मानना ठीक नहीं है।

वास्तवमें मनुष्य मात्रकी एक ही जाति है, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, ये चार भेद आचारमात्रसे ही होते हैं।'

'नीच जाति वाले भी शील-धारण करनेसे स्वर्ग गये ! शील संयमका नाश करनेसे ऊँचे कुल वाले भी नरक गये।'

'गुणोंसे ही जाती बनती हैं और गुणोंका नाश होजानेसे ही नाश होजाती है। इस कारण बुद्धिमानोंको गुणोंका ही आदर करना चाहिये।'

जातिका गर्व कभी नहीं करना चाहिये; क्योंकि वह नीचताको पैदा करनेवाला है। सत्पुरुषोंको तो उच्चताका देनेवाला शील संयम ही धारण करना चाहिये।'

इस सब कथनके मूल श्लोक इस प्रकार हैं—

आचारमात्रभेदेन जातीनां भेदकल्पनं।
न जातिर्ब्राह्मणायास्ति नियता कापि तात्त्विकी ॥२४॥
ब्राह्मणक्षत्रियादीनां चतुर्णामपि तत्त्वतः।
एकैव मानुषी जातिराचारेण विभज्यते ॥ २५ ॥
शीलवन्तो गताः स्वर्गं नीचजातिभवा अपि।
कुलीना नरकं प्राप्ताः शीलसंयमनाशिनः ॥३१॥
गुणैः सम्पद्यते जातिर्गुणध्वंसैर्विपद्यते।
यतस्ततोबुधैः कार्यो गुणेष्वेवादरः परः ॥३२॥
जातिमात्रमदः कार्यो न नीचत्वप्रवेशकः।
उच्चत्वदायकः सद्भिः कार्यः शीलसमादरः ॥३३॥

(५) जटासिंहनन्दी आचार्यने 'वरांगचरितमें जातिभेदका जो, खंडन किया है' वह इस प्रकार है—

'ब्राह्मण लोग चन्द्रमाकी किरणके समान शुभ्र नहीं हैं, क्षत्रिय किंशुक फूलके समान गोरे नहीं हैं, वैश्य हरतालके समान पीतवर्णवाले नहीं हैं और न शूद्र अंगारके समान रंगवाले हैं।'

'चलनेके ढँगसे, शरीरके वर्णसे केशोंसे, सुखसे, दुखसे, रुधिरसे, त्वचा-मांसमेद हड्डी और रसोंसे सब समान हैं, फिर चार भेद कैसे हो सकते हैं ?'

'क्रिया विशेषसे, व्यवहार मात्रसे अथवा दया, रक्षा, कृषि और शिल्पके भेदसे ही उक्त चार वर्ण क्रमशः कहे गये हैं। इसके विपरीत चार वर्णोंका कोई जुदा अस्तित्व नहीं हैं।

इस कथनके प्रतिपादक मूलवाक्य निम्न प्रकार हैं—

'न ब्राह्मणाश्चन्द्रमरीचि शुभ्रा न क्षत्रियाःकिंशुक पुष्पगौराः
न चेह वैश्या हरितालतुल्याः शूद्रा न चाङ्गारसमानवर्णाः॥
पादप्रचारैस्तनुवर्णकेशैः सुखेन दुःखेन च शोणितेन।
त्वग्मांसमेदोऽस्थिरसैःसमानाश्चतुः प्रभेदाश्च कथं भवन्ति॥८
क्रियाविशेषाद्व्यवहारमात्राद्दयाभिरक्षाकृषिशिल्पभेदात्।
शिष्टाश्चवर्णाश्चतुरोवदन्ति न चान्यथा वर्णचतुष्टयं स्यात्॥

—सर्ग २५वाँ

(६) श्री प्रभाचन्द्राचार्यने अपने 'प्रमेय कमल मार्तण्डमें जाति भेदका बहुत विस्तारसे खण्डन किया है, जिसका कुछ सारांश इस प्रकार है—

'जैसा किसी व्यक्तिको देखनेसे 'यह मनुष्य है' ऐसा जान लिया जाता है, वैसे 'यह ब्राह्मण है' ऐसा नहीं जाना जाता।'

'अनादिकालसे मातृकुल और पितृकुल शुद्ध हैं, इसका पता लगाना हमारी-आपकी शक्तिके बाहर है। प्रायः स्त्रियाँ कामातुर होकर व्यभिचारके चक्रमें पड़ जाती हैं; तब जन्मसे जातिका निश्चय कैसे हो सकता है ? व्यभिचारी माता पिताकी सन्तान और निर्दोष माता पिताकी सन्तानमें कुछ भी अन्तर दिखाई नहीं देता। जिस प्रकार घोड़े और गधेके सम्बन्धसे पैदा होनेवाली गधीकी सन्तान भिन्न-भिन्न तरहकी होती है, उस प्रकार ब्राह्मण और शूद्रके सम्बन्धसे पैदा होने वाली ब्राह्मणीकी सन्तानमें अन्तर नहीं होता है।'

'जैसे नाना प्रकारकी गायोंमें एक प्रकारकी समानता होनेसे, गाय जातिका प्रत्यक्ष बोध होता है, उस प्रकार

देवदत्त आदि मनुष्योंमें ब्राह्मण जातिका प्रत्यक्ष बोध नहीं होता। अगर जातिका प्रत्यक्षबोध होसकता तो यह ब्राह्मण है या वैश्य, इस प्रकारका सन्देह ही क्यों होता और सन्देहको दूर करनेके लिये गोत्र आदिके कहनेकी ज़रूरत ही क्या होती? परन्तु गाय और मनुष्यके जाननेके लिये तो गोत्र आदिके कहनेकी कोई भी ज़रूरत नहीं होती है।'

'कर्मसे ही ब्राह्मणादि व्यवहार मानना चाहिये।'

'आचरण आदिकी समानतासे ही ब्राह्मण, क्षत्रिय आदिकी व्यवस्था है।"

अधिक जाननेके लिये प्रमेयकमलमार्तण्डको ही देखना चाहिये। यहाँ विस्तार भयसे उसके मूल वाक्यों-को छोड़ा जाता है।

अन्तमें पाठकोंसे मेरी यही प्रार्थना है कि यदि वे सच्चा धर्म ग्रहण कर आत्म-कल्याण करना चाहते हैं, मिथ्यात्वको छोड़ सम्यक् श्रद्धानी बननेकी अभिलाषा रखते हैं तो वे श्रीआचार्योंके वाक्यों, उनकी दलीलों और युक्तियों पर ध्यान देकर सचाईको ग्रहण करें, सचाईके मुकाबिलेमें प्रचलित रूढ़ियोंको छोड़नेमें ज़रा भी हिचकिचाहट न करें। दुनिया चाहे जो मानती हो, तुम इसकी कुछ भी परवाह मत करो, किन्तु इस ही बातकी तलाश करो कि कल्याणका रास्ता बताने वाले श्रीआचार्य महाराज क्या कहते हैं—श्रीवीर प्रभुके बताये हुए धर्मका असली स्वरूप वे क्या प्रतिपादन करते हैं बस जब तुमको यह मालूम हो जाय तो निर्भय होकर उस ही को स्वीकार करो। दुनिया भले ही तुम्हें तुम्हारी सचाई पर बुरा भला कहती हो और दुख देती हो तो भी तुम मत घबराओ हिम्मत बाँधकर सचाईका ही गीत गाओ, उस ही का डंका बजाओ, वीरप्रभुके सच्चे वीरअनुयायी बनकर दिखाओ और इस तरह अपनी आत्माका सच्चा उत्कर्ष सिद्ध करो।

सुभाषित

मिटा जो नाम तो दौलतकी जुस्तजू क्या है?
निसार हो न वतन पर तो आबरू क्या है?
लगादे आग न दिलमें तो आरज़ू क्या है?
न जोश खाए जो ग़ैरतसे वो लहू क्या है?
मर्द क़ौमों को सबक़ यूँ ही सिखा देते हैं।
दिलमें जो ठानते हैं करके दिखा देते हैं॥
ज़िन्दगी यूँ तो फ़क़त बाज़िये तिफ़लाना है।
मर्द वो है, जो किसी रंगमें दीवाना है॥

—चकबस्त

हम ऐसी कुल किताबें क़ाबिले ज़ब्ती समझते हैं।
कि जिनको पढ़के लड़के बापको ख़ब्ती समझते हैं॥
आज जो कुफ़्रमें मसरूफ़ हैं सरगोशीमें।
होश आएगा उन्हें मौतकी बेहोशीमें॥
बाअसर कुव्वत अमल की सौ में हो या दसमें हो।
सबसे पहली शर्त ये है इत्तफ़ाक़ आपसमें हो॥
हंसके दुनियाँमें मरा कोई, कोई रोके मरा।
ज़िन्दगी पाई मगर उसने जो कुछ हो के मरा॥
अगर चाहो निकालो ऐब तुम अच्छेसे अच्छे में।
जो ढूँडोगे तो 'अकबर'में भी पाओगे हुनर कोई॥

—अकबर

बुरा दुश्मनके कहनेसे, बुरा मैं किस तरह मानूँ।
मुझे अच्छा कहे सारा ज़माना हो नहीं सकता॥
कितने मुफ़लिस होगये कितने तवंगर होगये।
ख़ाकमें जब मिलगये दोनों बराबर होगये॥

—अज्ञात

बशरने ख़ाक पाया लाल पाया या गुहर पाया।
मिज़ाज अच्छा अगर पाया तो सब कुछ उसने भर पाया

—दाग़

श्रावण कृष्ण प्रतिपदाकी स्मरणीय तिथि
और
वीर-शासन-जयन्ती

[ले० पं० परमानन्दजी जैन शास्त्री]

श्रावण कृष्णा प्रतिपदा भारतवर्षकी एक अति प्राचीन ऐतिहासिक तिथि है। इसी तिथिसे भारतवर्षमें बहुत पहले नववर्षका प्रारम्भ हुआ करता था, नये वर्षकी खुशियाँ मनाई जाती थीं और वर्षभरके लिये शुभ कामनाएँ की जाती थीं। तिलोयपण्णत्ती (त्रिलोकप्रज्ञप्ति) और धवल जैसे प्राचीन ग्रन्थोंमें "*वासस्स पढममासे सावणणामम्मि बहुलपडिवाए*" तथा "*वासस्स पढममासे पढमे पक्खम्मि सावणे बहुले, पाडिवद पुव्वदिवसे*" जैसे वाक्योंके द्वारा इस तिथिको वर्षके प्रथम मास और प्रथम पक्षका पहला दिन सूचित किया है। देशमें सावनी-आषाढीके विभागरूप जो फ़सली साल प्रचलित है वह भी उसी प्राचीन प्रथाका सूचक जान पड़ता है, जिसकी संख्या आजकल ग़लत प्रचलित हो रही है †।

इतना ही नहीं, युगका आरम्भ और सुषम सुषमादिके विभागरूप कालचक्रका अथवा उत्सर्पिणी अवसर्पिणी कालोंका प्रारम्भ भी इसी तिथिसे हुआ करता है, ऐसा पुरातन शास्त्रोंमें उल्लेख है। साथ ही यह भी उल्लेख है कि युगकी समाप्ति आषाढकी पौर्णमासीको होती है, पौर्णमासीकी रात्रिके अनन्तर ही प्रातः श्रावण कृष्ण-प्रतिपदाको अभिजित नक्षत्र, बालवकरण और रुद्र मुहूर्तमें युगका आरम्भ हुआ करता है। ये नक्षत्र, करण और मुहूर्त ही नक्षत्रों, करणों तथा मुहूर्तोंके प्रथम स्थानीय होते हैं—अर्थात् इन्हींसे नक्षत्रादिकोंकी गणना प्रारम्भ होती हैं। इन सबके द्योतक शास्त्रोंके कुछ प्रमाण नीचे उद्धृत किये जाते हैं:—

सावणबहुले पाडिव रुद्दमुहुत्ते सुहोदये रविणो।
अभिजिस्स पढमजोए जुगस्स आदी इमस्स पुढं॥

—तिलोयपण्णत्ती, १, ७०

सावणबहुलपडिवदे रुद्दमुहुत्ते सुहोदए रविणो।
अभिजिस्स पढमजोए तत्थ जुगादी मुणेयव्वो॥

—धवलसिद्धान्त, प्रथमखण्ड

† कहीं कहीं विक्रम संवत्का प्रारम्भ भी श्रावण कृष्ण १ से माना जाता है; जैसा कि पं० विश्वेश्वरनाथ रेउके 'राजा भोज' नामक इतिहास ग्रन्थके निम्न अवतरणसे प्रकट है—

"राजपूतानेके उदयपुर राज्यमें विक्रम संवत्का प्रारम्भ श्रावण कृष्ण १ से माना जाता है। इसी प्रकार मारवाड़के सेठ-साहूकार भी इसका प्रारम्भ उसी दिनसे मानते हैं।" (पृ० ५४)

इससे ऐसा ध्वनित होता है कि उदयपुर राज्य और मारवाड़में पहलेसे वर्षका आरम्भ श्रावण कृष्णा प्रतिपदासे ही होता था। विक्रम संवतको अपनाते हुए वहाँके निवासियोंने अपनी वर्षारम्भकी तिथिको नहीं छोड़ा और उसके अनुरूप विक्रम संवत्को परिवर्तित कर दिया।

आषाढपौर्णिमास्यां तु युगनिष्पत्तिश्च श्रावणे ।
प्रारम्भः प्रतिपच्चन्द्रयोगाभिजिदि कृष्णके ॥

—लोकविभाग, ७, ३६

आसाढपुण्णमीए जुगणिप्पत्ती दु सावणे किण्हे ।
अभिजिम्ह चंदजोगे पाडिवदिवसम्हि पारंभो ॥

—त्रिलोकसार, ४११

सावणबहुलपडिवए बालवकरणे अभीइनक्खत्ते ।
सव्वत्थ पढमसमये जुगस्स आइं वियाणाहि ॥

—ज्योतिषकरण्डक, ५५

एए उ सुसमसुसमादयो अद्धा विसेसा जुगादिणा सह पवत्तंति जुगंतेण सह समप्पंति ।"

—पादलिप्ताचार्य, ज्यो०कर०टी०

भरतैरावते महाविदेहेषु च श्रावणमासे कृष्णपक्षे बालवकरणेऽभिजिन्नक्षत्रे प्रथमसमये युगस्यादिं विजानीहि ।

—मलयगिरि, ज्यो० करण्डक टीका

सर्वेषामपि सुषमसुषमादिरूपाणां कालविशेषाणामादि युगं, युगस्य चादिः प्रवर्तते श्रावणमासि बहुलपक्षे प्रतिपदि तिथौ बालवकरणे अभिजिन्नक्षत्रे चन्द्रेण सह योगमुपागच्छति ।

—मलयगिरि, सूर्यप्रज्ञप्तिटीका, ६४

यदाषाढपौर्णमासीरजन्याः समनन्तरं ।
प्रवर्तते युगस्यादि भरतैरावताख्ययोः ॥

—लोकप्रकाश, ६३, पृ० ३८६

सावणाइया मासा, बहुलाइया पक्खा······रुद्दाइया मुहुत्ता, बवाइया करणा, अभियाइया नक्खत्ता ।

—जम्बूद्वीपपण्णत्ती

इन सब अवतरणोंसे उक्त तिथिका ऐतिहासिक तथा प्राकृतिक महत्व स्पष्ट है और वह महत्त्व और भी बढ़ जाता है अथवा यों कहिये कि असाधारण कोटिमें पहुँच जाता है, जब यह मालूम होता है कि इसी श्रावण-कृष्णा प्रतिपदाको प्रातःकाल सूर्योदयके समय अभिजित नक्षत्रमें ही श्रीवीर भगवान्के शासनतीर्थकी उत्पत्ति हुई है, उनकी दिव्य वाणी सर्व प्रथम खिरी है और उसके द्वारा उनका धर्मचक्र प्रवर्तित हुआ है जिसका साक्षात् सम्बन्ध सब जीवोंके कल्याणके साथ है। मुख्तार श्री जुगलकिशोरजीके शब्दोंमें—"**कृतज्ञता और उपकार-स्मरण आदि की दृष्टिसे यदि देखा जाय तो यह तीर्थ प्रवर्तन-तिथि दूसरी जन्मादि-तिथियोंसे कितने ही अंशोंमें अधिक महत्व रखती है; क्योंकि दूसरी पंचकल्याणक-तिथियाँ जब व्यक्ति विशेषके निजी उत्कर्षादिसे सम्बन्ध रखती हैं तब यह तिथि पीड़ित, पतित और मार्गच्युत जनताके उत्थान एवं कल्याणके साथ सीधा सम्बन्ध रखती है, और इसलिये अपने हितमें सावधान कृतज्ञ जनताके द्वारा खास तौरसे स्मरण रखने तथा महत्व दिये जानेके योग्य है।**" धवलसिद्धान्त और तिलोयपण्णत्तीमें, भ० महावीरके धर्मतीर्थकी उत्पत्तिका उल्लेख करते हुए, जो वाक्य दिये हैं वे इस प्रकार हैं—

वासस्स पढममासे पढमे पक्खम्मि सावणे बहुले ।
पाडिवदपुव्वदिवसे तित्थुप्पत्ती दु अभिजम्हि ॥

—धवल, प्रथमखण्ड

वासस्स पढममासे सावणणामम्मि बहुलपडिवाए ।
अभि जीणक्खत्तम्मि य उपपत्ती धम्मतित्थस्स ॥

—तिलोयपण्णत्ती, १. ६६

इनमें बतलाया है कि श्रावणकृष्णा प्रतिपदाको, जो कि वर्षका पहला महीना, पहला पक्ष, और प्रथम दिन था, प्रातःकाल अभिजित नक्षत्रमें श्री वीरप्रभुके धर्मतीर्थकी उत्पत्ति हुई है—अर्थात् यह उनके शासन-की जन्मतिथि है।

ऐसी महत्वपूर्ण एवं मांगलिक तिथिको, खेद है कि हम अर्सेसे भूले हुए थे ! सर्वप्रथम मुख्तार सा० ने धवल ग्रन्थपरसे वीर-शासनकी इस जन्मतिथिका पता चलाया और उनके दिलमें यह उत्कट भावना उत्पन्न हुई कि इस दिन हमें अपने महोपकारी वीरप्रभु और उनके शासनके प्रति अपने कर्तव्यका कुछ पालन ज़रूर करना चाहिये। तदनुसार उन्होंने १५ मार्च सन् १९३६ को 'महावीरकी तीर्थ प्रवर्तन-तिथि' नामसे एक लेख लिखा और उसे तत्कालीन 'वीर' के विशेषाङ्कमें प्रकाशित कराया, जिसके द्वारा जनताको इस पावन तिथिका परिचय देते हुए और इसकी महत्ता बतलाते हुए इसकी स्मृतिमें उस दिन शुभ कृत्य करने तथा उत्सवादिके रूपमें यह पुण्यदिवस मनानेकी प्रेरणा की गई थी, और अन्तमें लिखा था—"इस दिन **महावीर शासनके प्रेमियोंका खास तौर पर उक्त शासनकी महत्ताका विचार कर उसके अनुसार अपने आचार-विचार को स्थिर करना चाहिये और लोकमें महावीर-शासनके प्रचारका—महावीर सन्देशको फैलाने का—भरसक उद्योग करना चाहिये अथवा जो लोग शासन-प्रचारके कार्यमें लगे हों उन्हें सच्चा सहयोग एवं साहाय्य प्रदान करना चाहिये, जिससे वीर-शासनका प्रसार होकर लोकमें सुख-शान्ति-मूलक कल्याणकी अभिवृद्धि होवे।**"

इसके बाद ही, २६ अप्रेल सन् १९३६ को उद्घाटित होने वाले अपने 'वीरसेवामन्दिरमें उन्होंने ५ जुलाई सन् १९३६ को वीरशासन-जयन्तीके उत्सवका आयोजन किया और उस वक्तसे यह उत्सव बराबर हरसाल मनाया जा रहा है। बड़ी प्रसन्नताकी बात है कि जनताने इसे अपनाया है, दि० जैनसंघ अम्बालाने भी इसके अनुकूल आवाज़ उठाई है और पिछले दो वर्षोंमें यह शासन-जयन्ती बहुतसे स्थानों पर बड़े उत्साह-के साथ मनाई गई है—गतवर्ष वीरसेवामन्दिरमें इस शासन जयन्तीके मनानेमें जो उत्साह व्यक्त किया गया, उसके फलस्वरूप ही 'अनेकान्त' का पुनः प्रकाशन पाठकोंके सामने है।

इस वर्ष यह चिरस्मरणीय तिथि ता० २ जुलाई सन १९३९ रविवारके दिन अवतरित हुई है। अतः सर्व-साधारणसे निवेदन है कि वे इस आनेवाली पुण्यतिथि-का अभीसे ध्यान रक्खें और उस दिन पूर्णनिष्ठा एवं उत्साहके साथ वीरशासन-जयन्तीके मनानेका आयोजन करें और उसे हर तरहसे सफल बनानेकी पूर्ण चेष्टा करना अपना कर्तव्य समझें।

प्रवृत्ति-पथ

तुम्हारी नगरी जल रही है, तुम खड़े देख रहे हो। किस आशामें खड़े हो?

वर्षा? वर्षा इस आगको नहीं बुझा सकती। और वर्षा है भी कहाँ? इस ज्वलन्त तापके आगे मेघ कहाँ टिक सकेंगे? क्षण भर ही में वे वाष्प होकर उड़ जाएँगे, आग उसी प्रकार धधकती ही रह जायगी!

वह! वह दुःस्वप्न है, दुराशा है! जिसे तुम कृष्ण वर्ण मेघ समझ कर प्रसन्न हो रहे हो, जिससे तुम घोर वृष्टिकी आशा कर हो, वह मेघ नहीं है, वह तुम्हारी जलती नगरीसे उठता हुआ काला धुआँ है। उसमें बिजलीकी चमक नहीं, बल्कि दीनोंकी आह प्रदीप्त हो रही है, शीतल जलकण नहीं, बल्कि उत्तप्त अश्रुकणों-का प्रवाह थमा हुआ है!

इस व्यर्थ आशाको छोड़ो, उठो, प्रवृत्तिपथ पर आओ!

—अज्ञेय

वीर-शासन-जयन्ती

अर्थात्

श्रावण कृष्ण-प्रतिपदाकी पुण्य-तिथि

यह तिथि—इतिहासमें अपना खास महत्व रखती है और एक ऐसे 'सर्वोदय' तीर्थकी जन्म-तिथि है, जिसका लक्ष्य 'सर्वप्राणिहित' है।

इस दिन—श्री सन्मति-वर्द्धमान-महावीर आदि नामोंसे नामाङ्कित वीर भगवान्का तीर्थ प्रवर्तित हुआ, उनका शासन शुरू हुआ, उनकी दिव्यध्वनि वाणी पहले-पहल खिरी, जिसके द्वारा सब जीवोंको उनके हितका सन्देश सुनाया गया।

इसी दिन—पीड़ित, पतित और मार्गच्युत जनताको यह आश्वासन मिला कि उसका उद्धार हो सकता है।

यह पुण्य-दिवस—उन क्रूर बलिदानोंके सातिशय रोकका दिवस है, जिनके द्वारा जीवित प्राणी निर्दयतापूर्वक छुरीके घाट उतारे जाते थे अथवा होमके बहाने जलती हुई आगमें फैंक दिये जाते थे।

इसी दिन—लोगोंको उनके अत्याचारोंकी यथार्थ परिभाषा समझाई गई और हिंसा-अहिंसा तथा धर्म-अधर्मका तत्त्व पूर्णरूपसे बतलाया गया।

इसी दिनसे—स्त्री-जाति तथा शूद्रोंपर होने वाले तत्कालीन अत्याचारोंमें भारी रुकावट पैदा हुई और वे सभी जन यथेष्ट रूपसे विद्या पढ़ने तथा धर्म-साधन करने आदिके अधिकारी ठहराये गये।

इसी तिथिसे—भारतवर्षमें पहले वर्षका प्रारम्भ हुआ करता था, जिसका पता हालमें उपलब्ध हुए कुछ अति प्राचीन ग्रन्थ-लेखोंसे—'तिलोयपण्णत्ति' तथा 'धवल' आदि सिद्धान्त ग्रंथोंपरसे—चला है। सावनी आषाढ़ीके विभागरूप फ़सली साल भी उसी प्राचीन प्रथाका सूचक जान पड़ती है, जिसकी संख्या आज-कल ग़लत प्रचलित होरही है।

इस तरह यह तिथि—जिस दिन वीर-शासनकी जयन्ती (ध्वजा) लोकशिखर पर फहराई, संसारके हित तथा उत्थानके साथ अपना सीधा एवं खास सम्बन्ध रखती है और इसलिये सभीके द्वारा उत्सवके साथ मनाये जानेके योग्य है। इसीलिये इसकी यादगारमें कई वर्षसे वीर-सेवा-मंदिरमें 'वीरशासनजयन्ती' के मनानेका आयोजन किया जाता है।

इस वर्ष—यह पावन तिथि ता० २ जुलाई सन १९३९ रविवारके दिन अवतरित हुई है। इस दिन पिछले वर्षोंसे भी अधिक उत्साहके साथ वीर-सेवा-मन्दिरमें वीरशासन-जयन्ती मनाई जायगी, जिसमें "वीरशासन" पर विद्वानोंके प्रभावशाली व्याख्यान होंगे और आये हुए महत्वके लेख पढ़े जायेंगे अबकी बार भी उत्सव दो दिनका—२-३ जुलाईका—रहेगा।

अतः—सर्व साधारणसे निवेदन है कि वे इस शुभ अवसर पर वीर-सेवा-मन्दिरमें पधार कर अपने उस महान उपकारीके उपकार-स्मरण एवं शासन-विवेचनमें भाग लेते हुए वह दिन सफल करें और वीरप्रभुकी शिक्षा तथा सन्देशको जीवनमें उतारनेका दृढ़ संकल्प करें। जो भाई

किसी कारणवश वीर-सेवा-मंदिरमें न आसकें उन्हें मिलकर अपने स्थानोंपर उक्त शासन-जयन्तीके मनानेका पूर्ण आयोजन करना चाहिये ।

साथ ही, विद्वानोंसे अनुरोध है कि वे इस शुभ अवसर पर वीरशासन-सम्बन्धी अपने अध्ययन और मननके फलस्वरूप वीरशासन पर कुछ ठोस एवं महत्वके विचार प्रकट करनेकी कृपा करें, जिनसे सर्व साधारणको वीरशासनके समझनेमें आसानी होवे और सहृदय मानव उसके महत्व एवं उपयोगिताका अनुभव करते हुए स्वयं उस पर चलें तथा दूसरोंको चलनेमें प्रवृत्त कर लोकमें सुख-शान्तिकी सृष्टि और अभिवृद्धि करनेमें समर्थ होसकें। मैं चाहता हूँ निम्नलिखित शीर्षकों तथा इनसे मिलते जुलते दूसरे उपयोगी शीर्षकों पर ऐसे महत्वपूर्ण लेख लिखे जावें जो यथाशक्य संक्षिप्त होते हुए विषयको खूब स्पर्श करने वाले होवें और वे वीर-शासनजयन्तीसे पहले ही वीरसेवामंदिरको नीचे लिखे पते पर भेज दिये जावें। वीर-सेवामंदिर शासन-जयन्तीके दिन उनका उपयोग करनेके अतिरिक्त उन्हें पुस्तकादिके रूपमें शीघ्र प्रकाशित और प्रचारित करनेका प्रयत्न करेगा। मेरा विचार वीरशासनाङ्क नामसे अनेकान्तका एक विशेषाङ्क भी निकालनेका हो रहा है, उसमें उनका अच्छा उपयोग हो सकेगा। ऐसे विशेषाङ्कोंकी सफलता विद्वानोंके सहयोग पर ही अवलम्बित है। आशा है मेरे इस निवेदन पर अवश्य ही ध्यान दिया जावेगा। सूचनार्थ लेखोंके कुछ शीर्षक निम्न प्रकार हैं—

१-वीर-शासनकी विशेषता
२-वीर-शासनका महत्व
३-वीर-शासनके आधार-स्तम्भ
४-वीर-शासनकी वर्तमान उपयोगिता और आवश्यकता
५-वीर-शासनकी रूप-रेखा
६-वीर-शासनकी तुलना अथवा वीर-शासनका तुलनात्मक अध्ययन
७-वीर-शासनकी खूबियाँ
८-वीर-शासनका प्रभाव
९-वीर-शासनके उपासक
१०-समन्तभद्रोदित वीर-शासन
११-वीर-शासनको जन्म देने वाली परिस्थिति
१२-वीर-समयकी माँग
१३-वीर-तपश्चरणका फल
१४-वीरका तीर्थप्रवर्तन
१५-वीरशासनकी बातें, जैसे—
  (क) अहिंसा और दया
  (ख) अनेकान्त और स्याद्वाद
  (ग) कर्म सिद्धान्त
  (घ) स्वावलम्बन और स्वतंत्रता
  (ङ) आत्मा और परमात्मा
  (च) मुक्ति और उसका उपाय
  (छ) समता और विकाश
१६-वीरकी लोकसेवा
१७-वीरका सेवामय जीवन
१८-वीरका तत्वज्ञान
१९-वीरका विकासवाद
२०-वीरका साम्यवाद
२१-वीरका अहिंसावाद
२२-वीरका अनेकान्तवाद
२३-वीरशासनकी उदारता
२४-वीरका वीरत्व
२५-वीरका सन्देश

सरसावा
जिला सहारनपुर
२१-५-१९३९

निवेदक—
जुगलकिशोर मुख्तार
अधिष्ठाता—'वीर-सेवा-मंदिर'

जीवन के अनुभव

सदाचारी पशुओंके उदाहरण

ले०—अयोध्याप्रसाद गोयलीय

(३) * पतिव्रता चिड़िया—१२ मार्च १९३९ की प्रातःकालका सुहावना समय था, हम सब सी. क्लासके राजनैतिक क़ैदी मौण्टगुमरी जेलमें बैठे हुए बान बट रहे थे। अनुमानतः ८ बजे होंगे कि एक चिड़ियासे एक चिड़ा अकस्मात् लड़ता हुआ देखा गया। चिड़ा उससे बलात्कार करना चाहता था किन्तु चिड़िया जानपर खेलकर अपने को बचा रही थी। सफल मनोरथ न होनेके कारण क्रोधावेषमें चिड़ाने चिड़ियाकी गर्दन झँझोर डाली, जिससे उसके प्राणपखेरू उड़ गये! मरने पर चिड़िया ऊँची दीवारसे ज़मीन पर आ पड़ी। हम सब कौतूहलवश अपना काम छोड़कर उसके चारों ओर खड़े हो गये। एक-दो मिनिटमें ही एक और चिड़ा वहाँ आया और हमारे पाँवोंमें पड़ी हुई चिड़ियाको बड़ी आतुरता और बेक़रारीके साथ सूँघने लगा। वह हटाएसे भी नहीं हटता था उसकी वह तड़प कठोर हृदयोंको भी तड़पा देने वाली थी। मालूम होता था कि यह चिड़ा ही उस चिड़ियाका वास्तविक पति था। वह इतना शोकाकुल था कि उसे हमारा तनिक भी भय नहीं था। हम इस कौतूहल या आदर्श प्रेमको देख ही रहे थे कि जेलसुपरिण्टेण्डेण्ट और जेलर साहब भी वहाँ तशरीफ ले आए, उन्होंने सुना तो उनके नेत्र भी सजल हो आए। मरी हुई चिड़ियाको देखदेख कर चिड़ा कहीं दम न दे बैठे, इस ख़यालसे चिड़ियाको उठाकर उसकी नज़रोंसे ओझल कर दिया गया। तब वह चिड़ा और भी बेचैनीसे इधर-उधर घूमने लगा। उसके भाग्यसे चिड़ियाके दो छोटे-छोटे पर वहाँ गिर पड़े थे, अन्तमें लाचार होकर स्मृतिस्वरूप उन परोंको ही उठाकर वह उस घोंसलेमें लेगया जहाँ कभी वे प्रेमसे दाम्पत्य जीवन व्यतीत करते थे। जिस तरह वह चिड़ा तड़पता हुआ हमारे पाँवोंमें घूम रहा था, ठीक इसके विपरीत दूसरा कामातुर घातक चिड़ा दीवार पर बैठा हुआ भयभीत हुआसा हमारी ओर देख रहा था। मरी हुई चिड़ियाके पास आनेकी उसकी हिम्मत नहीं होती थी। बात है भी ठीक, एक प्रेमी, जिसका हृदय प्रेमसे तर बतर है, अपने शत्रुओंके पास भी निःशंक चला जाता है और जिसके हृदयमें पाप है वह सब जगह भयभीत रहता है। पातिव्रत, ब्रह्मचर्य और प्रेमका यह आदर्श आज ९ वर्ष बाद भी बाइस्कोपके समान नेत्रोंके आगे घूम रहा है।

(४) ब्रह्मचारणी गाय—हम लोग उक्त घटनासे काफ़ी प्रभावित हुए। रात्रिको सब कार्योंसे निश्चिन्त होकर बैठे तो यही चर्चा चल निकली। बातोंके सिल्सिलेमें पं० रामस्वरूपजी राजपुरा (जीन्द स्टेट) निवासीने—जो कि दफ़ा १३१ में ३ वर्षकी सज़ा लेकर आए थे—अपने आँखों देखे प्रत्यक्ष अनुभव सुनाए, जो कि मैंने कौतूहलवश उसी समय नोट कर लिये थे। उन्होंने बतलाया कि—हमारे गाँवसे १२ कोस दूरी पर गुराना गाँव है। वहाँ एक मनुष्यकी गायने एक साथ दो बछड़े प्रसव किये। उसके बाद वह गर्भवती नहीं हुई। उसे कामोन्मत करनेके लिये कितनी ही दवाइयाँ खिलाई गईं किन्तु उसे कामेच्छा नहीं हुई। जब उसे ज़रूरतसे ज्यादे तंग किया गया तो, वह अपने मालिक

---

* मेरे लिखे हुए जीवनके दो अनुभव अनेकान्तकी चतुर्थ किरणमें प्रकाशित हो चुके हैं। —लेखक

की कारी लड़कीको स्वप्नमें दिखाई दी और उससे कहा कि मुझे कामोत्पादक चीजें न खिलाएँ और न बिजारके पास लेजाएँ, मैं अब ब्रह्मचारिणी ही रहना चाहती हूँ। और यदि मुझे अब अधिक तंग किया गया तो मैं कुएमें गिर कर प्राण दे दूँगी। लड़कीने स्वप्नका जिक्र किया तो सब हँसने लगे और अपना प्रयत्न चालू रक्खा। अन्तमें गायने कुएमें गिर कर प्राण छोड़ दिए। तब लोगोंने गायके ब्रह्मचर्यव्रतको समझा।

(५) भ्रातृ-प्रेम—इसी गायके दो जुगलिया बछड़े जो अभी तक जीवित हैं। एक हज़ार रुपयेमें भी उसके मालिकने नहीं बेचे। उन दोनों बैलोंमें अटूट प्रेम है। एक साथ खाते, पीते, उठते, बैठते हैं: और आश्चर्य तो यह है कि गोबर और पेशाब भी एक साथ करते हैं। यदि दोनोंको अलग अलग कर दिया जाए तो न खाना ही खाएँगे और न किसी अन्य बैलके साथ गाड़ी या हलमें चलेंगे। यदि एकके नीचे ज़मीन गीली है तो सूखी ज़मीन वाला बैल भी खड़ा ही रहेगा। यदि अलग अलग पानी या खाना दिया जाए तो वह सूंघेंगे भी नहीं। एक ही बर्तनमें होगा तो दोनो साथ मिल कर खाए पीएँगे। इन बैलोंका भ्रातृ-प्रेम देख कर लोग हैरान होते हैं।

(६) कृतज्ञता—हमारे गांव राजपुरासे एक कोसके फासले पर ओड़ (खानाबदोश) ठहरे हुए थे। उस गिरोहमें एक युवकके पास कुत्ता था। युवक सो रहा था कि अचानक बावले गीदड़ने आकर उसे काट लिया। कुत्ते ने देखा तो युवककी काटी हुई जगहसे वह थोड़ा सा माँस काटकर ले गया ताकि पागलपनका असर युवकके रक्तमें न दौड़ जाए। कुत्तेकी इस दूरदर्शिताको वह मूर्ख युवक न समझा। उसने सोचा गीदड़से बचाना तो दूर, उलटा मेरे ही गोश्तको काटकर ले गया। ऐसे कुतेको मार देना ही अच्छा है। यह सोचते हुए क्रोधावेशसे कुत्तेके इतने ज़ोरसे लाठी मारी कि वह अचेत हो कर गिर पड़ा। कुत्तेको छोड़ कर ओड़ लोग उस युवकको जीन्द स्टेटके शफ़ाखाने में ले गये। तब डाक्टरने बतलाया कि यदि उस ज़हरीले गोश्तको कुत्ता न बकोटता तो इलाज होना नामुमकिन था, यहाँ आते आते गीदड़का ज़हर पूरा काम कर गया होता। उधर वह कुत्ता अचेत पड़ा हुआ था कि मेरा बड़ा भाई शंकरदत्त उधरसे जा रहा था उसने कुत्तेके वृत्तान्त सुने तो उसे गाड़ीमें रख कर अपने यहाँ ले आया और दवादारू करके उसे अच्छा कर लिया। उन्हीं दिनों हमारे गाँव राजपुरामें एक भैंसा मरखना हो गया था, वह चाहे जिस खेतमें घुस जाता और खेतका नाश कर देता। यदि उसे कोई ललकारता तो आवाज़की सीधमें जा कर पहले ललकारने वालेको मारता फिर खेतमें जाकर चरता। उसके इस उपद्रवसे गाँवभरमें आतंकसा छा गया। धार्मिक रूढ़ियोंके कारण गाँव वाले उसे बन्दूक वग़ैरहसे जानसे मारना चाहते नहीं थे और लाठियोंकी मारसे वह बसमें नहीं आता था। बड़ी परेशानीमें गाँव वाले पड़े हुए थे। एक रोज़ वह हमारे खेतमें घुसा तो भाई साहबने जवानीके जोशमें उसे ललकारा तो वह लाल लाल आँखें किए हुए सीधा उनकी ओर दौड़ा। सौभाग्यसे वह कुत्ता भी वहीं पर था। कुत्तने भैंसेको इतने वेगसे आक्रमण करते देख उसकी पीठ पर छलाँग मारी। और अपने तेज़ दाँतोंसे उसकी गर्दनके गोश्तको निकालने लगा। कुत्तेके इस दावके आगे भैंसा आक्रमण करना तो भूल गया उल्टा उसे जानके लाले पड़ गये। इस नागहानी बलासे पिण्ड छुड़ानेकी गरज़से वह इधर उधर भागने लगा और अन्तमें लाचार हो कर वह पानीके तालाबमें कूद पड़ा। तब कहीं कुत्तेने उसे छोड़ा। इस घटनाके बाद वह भैंसा इतना सीधा हो गया कि बच्चोंसे भी कुछ न कहता था। खेद है मेरा भाई, वह कृतज्ञ कुत्ता और भैंसा अब इस संसार में नहीं हैं।

—क्रमशः

मेरे जैन-धर्म-प्रेमकी कथा

[ले०—श्री० बी० एल० सराफ बी० ए०, एलएल.बी., मंत्री सी० पी० हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन]

मैं स्वर्गीय श्री नन्हूरामजी करण्डयाके आभारसे अवनत हूँ; क्योंकि मुझमें जैनधर्मके प्रति श्रद्धा पैदा करनेवाले वे ही प्रथम व्यक्ति थे। मेरे पूज्यपिताजी परम वैष्णव थे और अबसे २५-३० वर्ष पूर्वका संसार इतनी विशाल-हृदयतासे आप्लावित नहीं था। उस समय धर्म एक ऐसे हीरेकी गांठ था जिसे सबके सामने खोलने या अन्य व्यापारियोंके यहाँ जाकर वहाँ उसे खोलकर उसकी आभा देखने-दिखानेमें उसके छिन जानेका भय था। मेरे पिताजी भी इसी धारणाके क़ायल थे। मैं कभी कभी सिंघईजीके बड़े मंदिरमें भाई नन्हूलालजीके साथ स्वभाव-सारल्यसे ही चला जाया करता था, कोई कारण विशेष नहीं था—सिर्फ एक मोह तथा सुविधा थी; क्योंकि नन्हूलालजीके यहाँ भी मेरी जैसी सर्राफ़ीकी दुकान थी और वह मेरी दुकानसे लगी हुई थी।

एक बार जब पिताजीको ज्ञात हुआ कि मैं जैन-मन्दिरमें नन्हूलालजीके साथ जाता हूँ तो वे बड़े नाराज़ हुए और कहने लगे कि 'जैनियोंके मन्दिरमें कौन जाता है? वे तो नास्तिक होते हैं।' इसके बादमें उन्होंने नन्हूलालजीसे भी एक दो बार यही कह दिया और साथमें यह भी कह दिया कि 'मेरे लड़केका धर्म बदलना है क्या?' तो वे कहने लगे—'नहीं कक्काजी, ये तो लड़के हैं इनके मन्दिरमें जानेसे क्या हानि? धर्मस्थान जैसा आपका वैसा हमारा, इनपर कोई खराब असर नहीं हो सकता।' फिर भी मुझे वे लेजाया करते और पिताजी भी कभी कभी फिर वही बात मुझसे दुहरा दिया करते ; पर नन्हूलालके आग्रह तथा सम्मान्य भावनाके कारण, जो कि मेरे सरल हृदय पिताजीकी ओर उनकी थी, पिताजीके अधिक्षेप और आक्रोशमें वह तेज़ी नहीं थी। मैं बराबर कभी कभी जाता रहा और कभी कभी जैनमित्र तथा जैन-हितैषी भी पढ़ता रहा।

यह प्रवृत्ति धीमी धीमी बढ़ती गई। कभी-कभी पूज्यपाद पं० गणेशप्रसादजी वर्णी तथा वर्णीजीकी पोषक माता श्रीमती चिरोंजा बाईके पवित्र चरित्र तथा त्यागकी कथा भी सुननेमें आजाती थी, उनको देखने तथा उनसे बातें सुनने या करनेका कौतूहल भी मुझे हो आता था। धीरे धीरे यहाँकी शिक्षा समाप्त कर मैं कालेजमें पहुँच गया। कुछ समयके उपरान्त वहाँ भी श्रद्धेय विद्वान् मित्र हीरालाल जैन, हाल प्रोफेसर अमरावती कालेजसे मैत्री हुई, एक दो और भी जैन भाई थे जिनके नामका स्मरण नहीं होता। मुझे घरसे ही दिवा-भोजन (अन्थऊ) की आदत होगई थी; लॉ कालेजमें मेरे कारण जैन भाइयोंको भी दिवा-भोजन अच्छी तरह प्राप्त हो जाता था। हीरालालजीके साहचर्यसे जबलपुर कालेजमें जैनधर्म की ओर परीक्षानुभूति तथा प्रेम बढ़ा, किन्तु इसके बाद जब मैं अलाहाबाद लॉ और एम. ए. कक्षामें प्रविष्ट हुआ तब भाई हीरालालजी जैनबोर्डिङ्गमें रहते थे और दूसरे भाई जमनाप्रसादजी जैन (अब बैरिस्टर तथा सबजज) भी वहीं रहते थे। जैनबोर्डिङ्गके वातावरणमें विशेष शान्ति, मोहकता तथा सारल्य लक्षित होता था। वहाँ मैं अक्सर रहता था और उस अहिंसा तथा स्याद्वादी विचारधाराके बीच प्रायः करके अपनेको भी वैसा ही उदार विचारी पाता था।

यहाँके व्याख्यानोंका लाभ मैं खूब उठाया करता था। ब्रह्मचारी शीतलप्रशादजीके दर्शनका पुण्य लाभ भी मुझे यहीं हुआ था। यहाँके दुर्बल शरीर किन्तु अपार शक्ति तथा कार्यशीलताके आगार भा० लक्ष्मीचन्द्रजी जैन प्रोफेसर (अब डा० आदि) से भी परिचय हुआ। आपकी कार्यशीलतासे मैं सदा प्रभावित हुआ करता था। जमनाप्रसादजीकी हँसमुख खटपटप्रियतासे भी बहुत अलग न रह पाता था और प्रो० हीरालालजीकी अध्ययनशीलता तथा विचार गांभीर्यसे भी जैसे तैसे लाभ उठा ही लिया करता था। आप वहाँ रिसर्च-स्कॉलर भी रहे हैं। मेरी तबियत खराब होनेसे मुझे एक वर्ष पहले ही लॉ पास कर विश्राम लेना पड़ा, एम० ए० को तिलांजलि देनी पड़ी। जब डाक्टरोंने फिर राय दी—तब फ़ाईनलके लिये फिर उसी वातावरणमें गया और पास करके फिर उस रम्य वातावरणके आस्वादनके लिये तथा वकालत शुरू करनेके पूर्व कुछ अनुभवकी अनुभूति प्राप्त करनेके लिये अलाहाबाद पहुँच गया। उपर्युक्त महानुभावोंके और वैरिस्टर चम्पतरायजीके दर्शन मुझे पहले पहल यहाँ ही हुए। एकबार वहाँ कुछ जैनधर्म पढ़कर वैरिस्टर चम्पतरायजीको एक चिट्ठीमें न जाने जैनदर्शनके सम्बन्धमें कौन कौनसे प्रश्न जो जटिलसे मालूम हुए लिख दिये, जिनके साथमें विद्यार्थी जीवनकी कुछ अल्हड़ता भी शामिल थी। वैरिस्टर सा० प्रसन्न हुए और उन्होंने कुछ जैनधर्म-सम्बन्धी पुस्तकोंका गट्ठा भेज दिया, उन्हें पढ़ना आरम्भ कर देना पड़ा और अब तककी जैनधर्मके सम्बन्धकी भ्रामक तथा अधूरी भावनाओंने कुछ रूप लेना शुरू करदिया इसके बाद जहाँ जैसा अवसर मिलता और पुस्तकें प्राप्त हो जातीं पढ़ लेता और ज्ञान पिपासु बना रहता। स्याद्वादके सिद्धान्तने मेरा अध्ययन पहिलेसे ही सार्वभौम-सा बना दिया था और मैं थोड़ी थोड़ी हर धर्ममें अपनी टाँग अड़ाने लगा था। जैन हौस्टल मेगज़ीनमें भी कभी कुछ लिख दिया करता था, पता नहीं क्या क्या वहाँसे निकला।

कुछ अनुभव अलाहाबाद तथा नागपुरमें प्राप्त कर बादको सागरमें वकालत भी शुरू करदी। जबलपुरके 'परवार बन्धु' ने और खासकर भाई जमनाप्रसादजी वैरिस्टरने बाध्य किया जिससे कुछ उस पत्रमें भी लिख देता था। परवार बन्धु आता रहता था। जैनधर्मका पढ़ना स्वाभाविक-सा होता जाता था और उसे पढ़नेमें कभी धर्मांधता जागृत नहीं होती थी। कुछ जैनधर्मके पढ़नेकी और भी अधिक रुचि होने लगी।

इस ही दर्म्यानमें, न मालूम कैसे यहाँकी श्रद्धालु जैनसमाजने स्वनाम धन्य पूज्य पंडित दरबारीलालजीसे मेरा साहित्यिक संबन्ध जोड़ दिया। उस समय दरबारीलालजी नामसे सत्यसमाजी नहीं थे, उनके पत्रमें एक अजीब स्फूर्ति, विचारोंमें एक अजीब नवीनता प्रौढ़ता तथा प्रवाह था, पत्र अनायास ही आना शुरू हुआ और अब तक आता है। आपके विचारोंने मुझे बहुत प्रभावित किया। जब जब दरबारीलालजीका सागर आगमन हुआ, तब तब उन्होंने मुझे अवश्य कृपा पात्र बनाया और जैनधर्मके विराट सिद्धान्तोंके अवगाहनका मूर्त्तिमान अवसर दिया—यद्यपि झंझटोंसे और ५०-६० संस्थाओं के विवर्नसे निकलकर मैं बहुत अधिक लाभ आपकी प्रतिभासे न ले सका पर मौका हाथसे जाने भी न देता था। मुझ जैसे जैनधर्मके A. B. C. के विद्यार्थीको पचासों बार सभाप्रधानकी ज़िम्मेवारी आग्रह तथा प्रेमके खिचावके द्वारा थमादी गई। कई बार तो दो घंटे या एक घंटेके वारंटके बाद ही मुझे सभामें उपस्थित होकर कुछ कहनेको बाध्य होना पड़ा या सभा संचालन ही करना पड़ा।

यहाँके उत्साही बालचन्दजी कोछल, वीरेन्द्रकुमारजी, गंगाधरप्रसादजी खजाञ्ची, भैयालालजी तिलीवाले और मेरे विद्यार्थी जीवनके मित्र शिवप्रशादजी मलैया, मथुराप्रसादजी समैया आदिके शब्द अनुशासनरूप हो, अपनी अयोग्यताकी अनुभूमि पर सिर हिलाते हिलाते भी, शिरोधार्य करने ही पड़ते थे। स्थानीय सतर्कसुधा तरंगिणी जैन पाठशालाके मन्त्री श्री पूर्णचन्द्रजी द्वारा बाहरसे आई पुस्तकें भी कभी कभी प्राप्त हो जातीं थीं। इसी तरहसे धीरे धीरे यह प्रवृत्ति बढ़ती रही। इस ही

बीच श्री अजितप्रसादजी जैनकी कृपा हुई और उन्होंने भी अपना अँग्रेज़ी जैन गज़ट भेजा, जिसे पढ़ना मैं कभी भूलता नहीं। इसका कलेवर छोटा होते हुए भी बहुत उच्च तथा उपादेय सामग्रीसे पूर्ण रहा करता है।

ब्रह्मचारीजीका एकबारका चातुर्मास यहीं हुआ था। वे यहाँके प्रतिष्ठित कांग्रेसी भाई मथराप्रसादजी समैयाके यहाँ ठहरे थे। कुछ व्याख्यानोंमें मैं सभापतित्व कर ही चुका था। एक दिन ब्रह्मचारीजीकी आज्ञा हुई कि मैं ही फिर उस बैठकका सभापति होऊँ। दूसरे या तीसरे दिनसे एक क़त्लका मुक़दमा शुरू होनेवाला था। मैं संकटमें पड़ा। संदेश-वाहकसे मैंने कहलवा दिया कि मेरा एक क़त्लवाला मुक़दमा शुरू होने वाला है, उसमें पैरवी करनेकी थोड़ी तय्यारी बाक़ी रहगई है, इसलिये उस दिनके लिये क्षमा करें। ब्रह्मचारीजीकी पुनः आज्ञा आई कि नहीं आज तो आना ही पड़ेगा, वरना ब्रह्मचारी जी खुद अपना दंड कमंडल लेकर आते हैं और यहींसे मुझे लेते हुए सभाभवन जावेंगे। मैं घबराया और शीघ्र ही साइकिलसे खबर भेजदी कि मैं स्वतः आता हूँ किन्तु मुझे जल्दी ही छोड़दें। मैं बढ़ा और कार्य करना ही पड़ा। ब्रह्मचारीजी जब सागरमें होनेवाली परवार सभामें पधारे थे तब मैंने भी उन्हें तँग किया था और मेरे इस आग्रह पर कि जैनधर्म मानवसमाजका हित सम्पादन करनेवाले कई अच्छे सिद्धान्तोंका जन्म-हेतु है। इसलिये उसके संबन्धमें आम व्याख्यान द्वारा जानकारी कराई जावे, उन्होंने दयापूर्वक एक आम सभा कर सागरकी जनताको जैन सिद्धान्त समझाये थे। मुझे भी कुछ टूटा फूटा उस अवसर पर—कहना पड़ा था। ब्रह्मचारीजी की कर्मठता उनका अथक प्रयास, कार्य करनेके लिये अनवरत शक्तिका संचार एक चमत्कृत करनेवाली वस्तु है। बैरिस्टर सा० चम्पतरायजीकी विचारशैली तथा गहन विषयोंकी प्रतिपादन—सरलता भी मेरे ऊपर असर किये बग़ैर न रही। बीचमें प्रेमीजी पं० नाथूरामजी, बम्बईकी शान्त तथा अमृतवर्षिणी मूक सेवाके मूर्तिमान दर्शन करनेका भी २-४ बार अवसर मिला।

जैनधर्मके महान सिद्धान्तोंको प्रत्यक्ष तथा परोक्ष दोनों विधियोंसे अनुभूत कराया जा सकता है, पर लगन-की आवश्यकता है। मैंने अनुभव किया है कि सहयोग, सामाजिक आदान प्रदान तथा साहित्यकी साहजिक उपलब्धि बहुत हद तक इस धर्म परिचयकी अड़चनको दूर कर देते हैं। साहित्य यदि प्राप्त कराया जावे तो मुझे तो विश्वास है कि उसका उपयोग होना नितान्त आवश्यक सा ही होजाता है। हाँ, पात्रको पहि-चाननेकी आवश्यकता है तथा पात्रता प्राप्त करानेके साधन जुटानेकी भी आवश्यता है और वे सहजमें ही जुटते रहते हैं, रोजके जीवनमें मिलते रहते हैं—उनका उपयोग करके पात्रता प्राप्त कराई जा सकती है। मुझे विविध धर्मोंके अध्ययनमें स्याद्वाद तथा उस धर्मके विचारकोंके साहचर्य तथा साहित्यिक कृपासे बहुत मदद मिली है।

यदि प्रारंभिक धार्मिक विचारोंकी दुरूहताको जैन-समाज अपरिमित सत्साहित्य द्वारा साध सके तो आगे का मार्ग तो स्वतः बन जाता है। और जब महान् सिद्धान्तोंके नीचे बैठ, एक बार कोई व्यक्ति अभिषिक्त होजाता है तो वह स्वतः उनका एक जीवित प्रचार बन जाता है।

जैनधर्मकी ओर मेरी प्रेम-प्रवृत्तिका यह बहुत ही संक्षिप्त तथा थोड़े कालका इतिहास है। बादके कालका कुछ समय पीछे फिर कभी लिखूंगा। मैं समझता हूँ धार्मिक संस्थान तथा धर्मके प्रचार प्रेमियोंको इस धीमी किन्तु शाश्वत फलदायी प्रणालीकी अनुभूतिमें हतोत्साह होनेका अवसर न रहेगा और बड़े बड़े गहन सिद्धान्तोंको वे कुछ समयमें ही जहाँ तहाँ बैठे हुए अनायास प्राप्त कर सकेंगे।

Regd. No. L. 4328

वीर-सेवामन्दिरको सहायता

हालमें वीर-सेवा-मन्दिर सरसावाको उसके कन्या-विद्यालयकी सहायतार्थ, निम्न सज्जनोंकी ओर से ७८) रु० की सहायता प्राप्त हुई है। जिसके लिये दातार महाशय धन्यवादके पात्र हैं :—

५०) श्रीमती प्रसन्नीदेवी धर्मपत्नी चौ० मंगतरायजी जैन रईस मुलतानपुर जि० सहारनपुर (कन्याविद्यालय को देख कर उसकी सहायतार्थ)।

२) मुलतानपुर जि० सहारनपुरकी एक भद्र जैन महिला जिन्होंने अपना नाम देना नहीं चाहा। (कन्या विद्यालयके लिये)।

७) ला० मुसद्दीलाल शिखरचन्दजी जैन, अफजलगढ़ ज़ि० बिजनौर (पुत्र विवाहकी खुशीमें कन्या विद्यालयको)।

५) ला० इन्द्रसेनजी जैन पानीपत मार्फत ला० रूपचन्दजी जैन गार्गीय (पुत्रोंके विवाह संस्कारकी खुशीमें)।

५) ला० दयाचन्द सुपुत्र ला० मिट्ठनलालजी जैन सरसावा जि० सहारनपुर (पुत्री किरणमालाके विवाहकी खुशीमें कन्याविद्यालयको)।

५) प. मुनिसुव्रतदास जैन मैनेजर जैन हाईस्कूल पानीपत (अपने पुत्र चिरंजीव देवकुमारके विवाहकी खुशीमें) मा. पं० रूपचन्दजी जैन गार्गीय पानीपत

७८)

नोट—ला० मुसद्दीलाल शिखरचन्दजीने उक्त सहायताके अतिरिक्त वीरसेवा मन्दिरकी लायब्रेरीके लिये दो अलमारियोंके लायक २०) रु० मूल्यकी अच्छी तुनकी लकड़ी भेजनेका वायदा किया है, जिसके लिये वे और भी धन्यवाद के पात्र हैं।

—अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर'

नेमचन्द जैन ओवीसरके प्रबन्धसे 'वीर प्रेस ऑफ इण्डिया' कनॉट सर्कस न्यू देहली में छपा।

Regd. No. L. 4328

वीर-सेवामन्दिरको सहायता

हालमें वीर-सेवा-मन्दिर सरसावाको उसके कन्या-विद्यालयकी सहायतार्थ, निम्न सज्जनोंकी ओर से ७४) रु० की सहायता प्राप्त हुई है। जिसके लिये दातार महाशय धन्यवादके पात्र हैं:—

५०) श्रीमती प्रसन्नीदेवी धर्मपत्नी चौ० मगतरायजी जैन रईस सुलतानपुर जि० सहारनपुर (कन्याविद्यालय को देख कर उसकी सहायतार्थ)।

२) सुलतानपुर जि० सहारनपुरकी एक भद्र जैन महिला जिन्होंने अपना नाम देना नहीं चाहा। (कन्या विद्यालयके लिये)।

७) ला० मुसद्दीलाल शिखरचन्दजी जैन, अफजलगढ़ जि० बिजनौर (पुत्र विवाहकी खुशीमें कन्या विद्यालयको)।

५) ला० इन्द्रसेनजी जैन पानीपत मार्फत ला० रूपचन्दजी जैन गार्गीय (पुत्रीके विवाह संस्कारकी खुशीमें)।

५) ला० दयाचन्द सुपुत्र ला० मिट्ठनलालजी जैन सरसावा जि० सहारनपुर (पुत्री किरणमालाके विवाहकी खुशीमें कन्याविद्यालयको)।

५) प० मुनिसुव्रतदास जैन मैनेजर जैन हाईस्कूल पानीपत (अपने पुत्र चिरंजीव देवकुमारके विवाहकी खुशीमें) मा. प० रूपचन्दजी जैन गार्गीय पानीपत

७४)

नोट—ला० मुसद्दीलाल शिखरचन्दजीने उक्त सहायताके अतिरिक्त वीरसेवा मन्दिरकी लायब्रेरीके लिये दो अलमारियोंके लायक २०) रु० मूल्यकी अच्छी तूनकी लकड़ी भेजनेका वायदा किया है, जिसके लिये वे और भी धन्यवाद के पात्र हैं।

—अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर'

नेमचन्द जैन ऑडीटरके प्रबन्धसे 'वीर प्रेस ऑफ इण्डिया' कनॉट सर्कस न्यू देहली में छपा।

❀ विषय सूची ❀

ॐ अर्हम्

नीति-विरोध-ध्वंसी लोक-व्यवहार-वर्त्तकः सम्यक् ।
परमागमस्य बीजं भुवनैकगुरुर्जयत्यनेकान्तः ॥

वर्ष २	सम्पादन-स्थान—वीर-सेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम) सरसावा, जि० सहारनपुर प्रकाशन-स्थान—कनॉट सर्कस, पो० बॉ० नं० ४८, न्यू देहली आषाढ़ शुक्ल, वीरनिर्वाण सं० २४६५, विक्रम सं० १९९६	किरण ९

समन्तभद्र-भारती

(कवि-नागराज-विरचित स्वतंत्र स्तोत्र)

सास्मरीमि तोष्टवीमि नंनमीमि भारतीं, तंतनीमि पापठीमि बंभणीमि तेमिताम् ।
देवराज-नागराज-मर्त्यराजपूजितां, श्रीसमन्तभद्रवादभासुरात्मगोचराम् ॥ १ ॥

श्रीसमन्तभद्रके वादसे—कथनोपकथनसे—जिसका आत्मविषय देदीप्यमान है और जो देवेन्द्र, नागेन्द्र तथा नरेन्द्रसे पूजित है, उस सरस्वती भारतीका—समन्तभद्रस्वामीकी सरस्वतीका—मैं बड़े आदरके साथ बार बार स्मरण करता हूं, स्तवन करता हूँ, वन्दन करता हूँ, विस्तार करता हूँ, पाठ करता हूँ और व्याख्यान करता हूँ ।

मातृ-मान-मेय-सिद्धि-वस्तुगोचरां स्तुवे, सप्तभंग-सप्तनीति-गम्यतत्त्वगोचराम् ।
मोक्षमार्ग-तद्विपक्ष-भूरिधर्मगोचरामाप्ततत्त्वगोचरां समन्तभद्रभारतीम् ॥ २ ॥

प्रमाता (ज्ञाता)की सिद्धि,प्रमाण (सम्यग्ज्ञान) की सिद्धि और प्रमेय (ज्ञेय) की सिद्धि ये वस्तुएँ हैं विषय जिसकी जो सप्तभंग और सप्तनयसे जानने योग्य तत्त्वोंको अपना विषय किये हुए है—जिसमें सप्तभंगों तथा सप्तनयोंके द्वारा जीवादि तत्त्वोंका परिज्ञान कराया गया है—जो मोक्षमार्ग और उसके विपरीत संसारमार्ग-सम्बंधी प्रचुर धर्मोंके विवेचनको लिये हुए है और आप्ततत्त्वविवेचन—आप्तमीमांसा—भी जिसका विषय है, उस समन्तभद्र-भारतीका मैं स्तोत्र करता हूँ ।

सूरिसूक्तिवन्दितामुपेयतत्त्वभाषिणीं, चारुकीर्तिभासुरामुपायतत्त्वसाधनीम् ।
पूर्वपक्षखण्डनप्रचण्डवाग्विलासिनीं, संस्तुवे जगद्धितां समन्तभद्रभारतीम् ॥ ३ ॥

जो आचार्योंकी सूक्तियोंद्वारा वन्दित है—बड़े बड़े आचार्योंने अपनी प्रभावशालिनी वचनावली-द्वारा जिसकी

पूजा-वन्दना की है—, जो उपेय तत्त्वको बतलाने वाली है, उपायतत्त्वकी साधनस्वरूपा है, पूर्व पक्षका खण्डन करनेके लिये प्रचण्ड वाग्विलासको लिये हुए है—लीलामात्रमें प्रवादियोंके असत्पक्षका खण्डन कर देनेमें प्रवीण है—और जगतके लिये हितरूप है, उस समन्तभद्र भारतीका मैं स्तवन करता हूँ।

पात्रकेसरि-प्रभावसिद्धि-कारिणीं स्तुवे, भाष्यकारपोषितामलंकृतां मुनीश्वरैः।
गृध्रपिच्छभाषितप्रकृष्टमंगलार्थिकां, सिद्धिसौख्यसाधनीं समन्तभद्रभारतीम् ॥ ४ ॥

पात्रकेसरी पर प्रभावकी सिद्धिमें जो कारणीभूत हुई—जिसके प्रभावसे पात्रकेसरी-जैसे महान् विद्वान जैनधर्ममें परिणत होकर बड़े प्रभावशाली आचार्य बने—, जो भाष्यकार—अकलंकदेव—द्वारा पुष्ट हुई, अनेक मुनीश्वरों—विद्यानन्दादि—द्वारा अलंकृत की गई, गृद्धपिच्छाचार्य (उमास्वाति) के कहे हुए उत्कृष्ट मंगलके अर्थको लिये हुए है—उसके गम्भीर आशयका प्रतिपादन करने वाली है—और सिद्धिके—स्वात्मोपलब्धिके—सौख्यको सिद्ध करने वाली है, उस समन्तभद्रभारतीको—समन्तभद्रकी आप्तमीमांसादिरूप कृतिको—मैं अपनी स्तुतिका विषय बनाता हूँ—उसकी भूरि भूरि प्रशंसा करता हूँ।

इन्द्रभूतिभाषितप्रमेयजालगोचरां, वर्द्धमानदेवबोधबुद्धचिद्विलासिनीम्।
यौग-सौगतादि-गर्वपर्वताशनिं स्तुवे, क्षीरवार्धिसन्निभां समन्तभद्रभारतीम् ॥ ५ ॥

इन्द्रभूति (गौतम गणधर) का कहा हुआ प्रमेय समूह जिसका विषय है, जो श्रीवर्द्धमानदेवके बोधसे प्रबुद्ध हुए चैतन्यके विलासको लिये हुए है, यौग तथा बौद्धादि मतावलम्बियोंके गर्वरूपी पर्वतके लिये वज्रके समान है और क्षीरसागरके समान उज्ज्वल तथा पवित्र है, उस समन्तभद्रभारतीका मैं कीर्तन करता हूँ—उसकी प्रशंसामें खुला गान करता हूँ।

मान-नीति-वाक्यसिद्ध-वस्तुधर्मगोचरां, मानितप्रभावसिद्धसिद्धिसिद्धसाधनीम्।
घोरभूरिदुःखवार्धितारणक्षमामिमां, चारुचेतसा स्तुवे समन्तभद्रभारतीम् ॥ ६ ॥

प्रमाण, नय तथा आगमके द्वारा सिद्ध हुए वस्तु धर्म हैं विषय जिसके—जिसमें प्रमाण, नय तथा आगमके द्वारा वस्तुधर्मोंको सिद्ध किया गया है—, मानित है प्रभाव जिसका ऐसी जो प्रसिद्ध सिद्धि—स्वात्मोपलब्धि—उसके लिये जो सिद्धसाधनी है—अमोघ उपायस्वरूपा है—और घोर तथा प्रचुर दुःखोंके समुद्रसे पार तारनेके लिये समर्थ है, उस समन्तभद्रभारती की मैं प्रेमपूर्ण हृदयसे प्रशंसा करता हूँ।

सान्तसाधनाधनन्तमध्ययुक्तमध्यमां, शून्यभाव-सर्ववेदितत्त्वसिद्धिसाधनीम्।
हेत्वहेतुवादसिद्ध वाक्यजालभासुरां, मोक्षसिद्धये स्तुवे समन्तभद्रभारतीम् ॥ ७ ॥

सादि-सान्त, अनादि-सान्त, सादि-अनन्त, और अनादि-अनन्त रूपसे द्रव्यपर्यायोंका कथन करनेमें जो मध्यस्था है—इनका सर्वथा एकान्त स्वीकार नहीं करती—, शून्य (अभाव) तत्त्व, भावतत्त्व और सर्वज्ञतत्त्वकी सिद्धिमें साधनीभूत है और हेतुवाद तथा अहेतुवाद (आगम) से सिद्ध हुए वाक्यसमूहसे प्रकाशमान है—अर्थात् जिसके देदीप्यमान वाक्योंका विषय युक्ति और आगमसे सिद्ध है, उस समन्तभद्रभारतीकी मैं मोक्षकी सिद्धिके लिये स्तुति करता हूँ।

व्यापकद्वयाप्तमार्गतत्त्वयुग्मगोचरां, पापहारि-वाग्विलासि भूषणांशुकां स्तुवे।
श्रीकरीं च धीकरीं च सर्वसौख्यदायिनीं, नागराजपूजितां समन्तभद्रभारतीम् ॥ ८ ॥

व्यापक-व्याप्यका गुण-गुणीका—ठीक प्रतिपादन करनेवाले आप्तमार्गके दो तत्त्व—हेयतत्त्व, उपादेयतत्त्व अथवा उपेयतत्त्व और उपायतत्त्व—जिसके विषय हैं, जो पापहरणरूप आभूषण और वाग्विलासरूप वस्त्रको धारण करनेवाली है; साथ ही श्री-साधिका, बुद्धि-वर्धिका और सर्वसुख-दायिका है, उस नागराज-पूजित समन्तभद्र-भारतीकी मैं स्तुति करता हूँ।
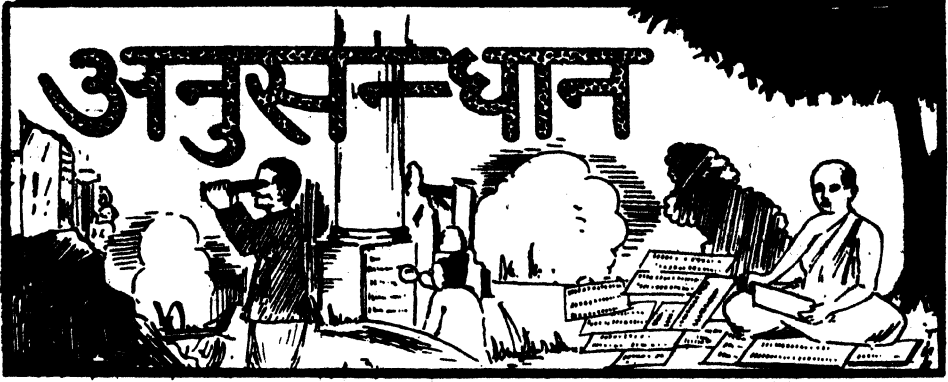
'योनिप्राभृत' और 'जगत्सुन्दरी-योगमाला'

[सम्पादकीय]

'जोणीपाहुड' अथवा 'योनिप्राभृत' का नाम बहुत अर्सेसे सुना जाता है। परन्तु यह ग्रन्थ किस विषयका है, किसका बनाया हुआ है, कबका बना हुआ है, कितने श्लोकपरिमाण है, कहाँके भण्डारमें मौजूद है और पूरा उपलब्ध होता है या कि नहीं, इत्यादि बातोंसे जनता प्रायः अनभिज्ञ है। वि० संवत् १९६५में प्रकाशित 'जैनग्रन्थावली' में पृ० ६६-६७ पर इस ग्रन्थका उल्लेख है और उसमें इसे 'धरसेनाचार्य'की कृति लिखा है; साथ ही इसकी श्लोक संख्या ८०० दी है और इसके रचे जानेका संवत् १३० बतलाया है। परन्तु यह सब मूल ग्रन्थको देखकर लिखा गया मालूम नहीं होता। 'बृहट्टिप्पणिका'नामकी एक संस्कृत सूची किसी आचार्य-द्वारा सं० १५५६ में लिखी गई थी, उसमें इस ग्रन्थका उल्लेख निम्न प्रकारसे पाया जाता है—

"योनिप्राभृतं वीरात् ६०० धारसेनं"

इस परसे ही ग्रन्थके कर्तृत्व विषयमें 'धरसेनाचार्य' की और ग्रन्थके रचे जानेके काल-सम्बन्धमें वि० संवत् १३० की कल्पना की गई जान पड़ती है—प्रमाणमें उक्त वाक्य फुटनोटमें उद्धृत भी किया गया है। परन्तु श्लोकसंख्याकी कल्पना कहाँसे की गई, यह कुछ मालूम नहीं होता! 'ग्रन्थावली' में इस ग्रंथ पर जो फुटनोट दिया है उसके द्वारा यह स्पष्ट सूचना की गई है कि—'यह ग्रन्थ पूनाके दक्कनकालिजके सिवाय और कहीं भी उपलब्ध नहीं होता, जेसलमेरमें होनेका उल्लेख जरूर मिलता है परन्तु अब यह वहाँ नहीं है (त्रुटक है)। अतः दक्कनकालेजमें यह ग्रन्थ पूर्ण है या कि नहीं इस बातकी खोज करके इसकी श्लोकसंख्या वगैरहका निर्णय करना चाहिये।'

इस सूचना परसे इस विषयमें कोई सन्देह नहीं रहता कि उक्त श्लोक-संख्यादि-विषयक उल्लेख मूलग्रन्थ-को देखकर नहीं किया गया है—यों ही बृहट्टिप्पणिका तथा दूसरी किसी सूची परसे उसकी कल्पना की गई है।

बृहट्टिप्पणिकाका उक्त उल्लेख यदि मूलग्रंथको देख कर ही किया गया है तो कहना होगा कि उल्लेखित

'योनिप्राभृत' दिगम्बर ग्रंथ है; क्योंकि धरसेनाचार्य दिगम्बर हुए हैं और उनका समय भी उक्त समय 'वीरात् ६००' के साथ मिलता-जुलता है। परन्तु जहाँ तक दिगम्बर शास्त्रभंडारों और उनकी सूचियोंको देखनेका अवसर प्राप्त हुआ है मुझे अभी तक कहीं भी इस ग्रन्थका नाम उपलब्ध नहीं हुआ। हाँ, धवल ग्रन्थके निम्न उल्लेख परसे इतना ज़रूर मालूम होता है कि 'योनिप्राभृत' (जोणीपाहुड) नामका कोई दिगम्बर ग्रंथ ज़रूर है और उसमें मंत्र-तंत्रोंकी शक्तियोंका भी वर्णन है, जिन्हें 'पुद्गलानुभाग' रूपसे जाननेकी प्रेरणा की गई है,' और इससे ग्रंथके विषय पर भी कितना ही प्रकाश पड़ता है—

"जोणीपाहुडे भणिदमंततंतसत्तीओ पोग्गलाणुभागो त्ति घेत्तव्वा।" —आरा प्रति पत्र नं०८६१

अब देखना यह है कि पूनाके दक्कन-कालिजकी प्रति परसे इस विषयमें क्या कुछ सूचना मिलती है। दक्कनकालिजका हस्तलिखित शास्त्रभण्डार अर्सा हुआ भाण्डारकर ओरियंटल रिसर्च इन्स्टिट्यूट (भाण्डारकर-प्राच्य-विद्या-संशोधन-मन्दिर) के सुपुर्द हो चुका है, और इससे यह ग्रंथ अब उक्त इन्स्टिट्यूटमेंही पाया जाता है। वहाँ यह A १८८२–८३ सन्में संग्रहीत हुए ग्रंथोंकी लिस्टमें 'योनिप्राभृत' नामसे नं० २६६ a पर दर्ज है। कुछ वर्ष हुए प्रसिद्ध श्वेताम्बर विद्वान् पं० बेचरदासजीने इस ग्रन्थप्रतिका वहाँ पर अवलोकन किया था और उस परसे परिचयके कुछ नोट्स गुजरातीमें लिये थे। दिगम्बर ग्रंथ होनेके कारण उन्होंने बादको वे नोट्स सदुपयोगके लिये सुहृद्वर पं० नाथूरामजी प्रेमी बम्बईको दे दिये थे। उन परसे इस ग्रन्थप्रतिका जो परिचय मिलता है वह इस प्रकार है—

उक्त नम्बर पर ग्रन्थका नाम यद्यपि 'योनिप्राभृत' ही दिया है परन्तु यह अकेला योनिप्राभृत ही नहीं है बल्कि इसके साथ 'जयसुन्दरीयोगमाला—जगत्सुन्दरी-योगमाला नामका ग्रन्थ भी जुड़ा हुआ है। इन दोनों ग्रंथोंको सहज ही में पृथक् नहीं किया जा सकता; क्योंकि इस ग्रंथप्रतिके बहुतसे पत्रों परके अंक उड़ गये हैं—फटकर नष्ट होगये हैं। मात्र सोलह पत्रों पर अंक अवशिष्ट हैं और वे पत्रांक इस प्रकार हैं—६, १०, ११, १२, १३, १४, १५, १६, १७, १६, २०, २१, २२, २३, २४, २५। जिन पत्रोंपर अङ्क नहीं रहे उनमेंसे बहुतोंकी बाबत यह मालूम नहीं होता कि वे कौनसे ग्रंथके पत्र हैं। कोई अच्छा श्रेष्ठ वैद्यक-पंडित हो तो वह अर्थानुसन्धानके द्वारा इन दोनों ग्रन्थोंको पृथक् कर सकता है—यह बतला सकता है कि अंकरहित कौनसा पत्र कौनसे ग्रंथसे सम्बन्ध रखता है और प्रत्येक ग्रंथका कितना कितना विषय इस प्रतिमें उपलब्ध है। दोनों ग्रंथ प्राकृत भाषामें गाथाबद्ध हैं और दोनोंमें वैद्यक, धातुवाद, ज्योतिष, मंत्रवाद तथा यंत्रवादका विषय भी है। धातुवाद और यंत्रवादका कथन करते हुए उनके जो प्रतिज्ञावाक्य अंकरहित पत्र पर दिये हुए हैं वे इस प्रकार हैं—

"कलिकाले चोजयरं धाउव्वायं पवक्खामि।"
"धम्मविलासनिमित्तं जंताहियारं पवक्खामि।"

इस ग्रंथप्रतिका 'योनिप्राभृत' ग्रन्थ धरसेनाचार्यका बनाया हुआ नहीं है, बल्कि 'प्रश्नश्रवण' नामके मुनिका रचा हुआ है और वह भूतबलि तथा पुष्पदन्त नामके शिष्योंके लिये लिखा गया है; जैसा कि योनिप्राभृतके १६वें पत्रके पहली और दूसरी तरफ़के निम्न वाक्योंसे प्रकट है—

पहली तरफ—

"इयं पण्हसवणरइयं भूयबलीपुप्फयंतआलिहिए ।
कुसुमंडी उवहट्ठे विज्जणविसम्मि अवियारे"

दूसरी तरफ़—

"सिरिपण्हसवणमुणिणा संखेवेणं च बालतंतं च ।"६१६

इससे भी अधिक स्पष्ट हक़ीक़त योनिप्राभृतिके अन्तिम बिना अङ्कके कोर-कोरे पत्र पर दी हुई है, और वह इस प्रकार है—

"ज्वरभूतशाकिनीमार्तण्डं, समस्तनिमित्तशास्त्रोत्पत्तियोनिं, विद्वज्जनचित्तचमत्कारं, पंचमकालसर्वज्ञं, सर्वविद्या-धातुवादादिविधानं, जनव्यवहारचन्द्रचन्द्रिकाचकोरम्, आयुर्वेदरक्षितसमस्तप्स्वं, प्रश्नश्रवणमहामुनि-कूष्माण्डिनीमहादेव्या उपदिष्टं (ष्टं), पुष्फदंतादि भूतबलिशि (सि)ष्यहृष्टिदायकं इत्यं (थं) भूतं योनिप्राभृतग्रंथं ॥छ॥

कलिकाले सव्वण्हू जो जाणइ जोणिपाहुडं गंथं ।
जत्थ गओ तत्थ गओ चउवग्गमहिट्टिओ होइ

× × ×

तावद् मिथ्याद (द) शां तेजो मन्त्रयन्त्रादिषु × × × शृण्वन्ति (शृणंति) धीमतः

इति श्रीमहाग्रंथं योनिप्राभृतं श्रीपण्हसवणमुनिविरचितं समाप्तं ॥"

इस अवतरणपरसे प्रकृत योनिप्राभृतिके रचयिता धरसेन आचार्य न होकर 'प्रश्नश्रवण' नामके कोई मुनि हैं, पुष्पदन्त तथा भूतबलि‡ उनके शिष्य हैं और यह ग्रंथ उन शिष्योंको ज्ञानानन्दका दायक है—फलितार्थ-रूपमें उनके लिये रचा गया है—इतना मालूम होनेके साथ साथ इस ग्रंथके कुछ दूसरे विशेषणोंका भी पता चलता है, जिनमें यह सूचित किया गया है कि 'यह ग्रंथ कूष्माण्डिणी महादेवीके द्वारा प्रश्नश्रवण मुनिको उपदिष्ट (ज्ञात) हुआ है, ज्वर-भूत-शाकिनीके लिये मार्तण्ड है, समस्त निमित्तशास्त्रोंकी उत्पत्तिके लिये योनिभूत है, विद्वज्जनोंके चित्तके लिये चमत्काररूप है, समस्त विद्याओं तथा धातुवादादिके विधानको लिये हुए है, जन-व्यवहाररूपी चन्द्रमाकी चाँदनीके लिये चकोरके समान है, आयुर्वेदका पूरा सार है और पंचमकालके लिये सर्वज्ञतुल्य है।' इस पिछली बातको पुष्ट करनेके लिये पुनः यहाँ तक लिखा है कि 'जो कोई योनिप्राभृतको जानता है वह 'कलिकालसर्वज्ञ' और 'चतुर्वर्गका अधिष्ठाता' होता है।' साथही, यह भी सूचित किया है कि मंत्र-यंत्रादिकोंमें मिथ्यादृष्टियोंका तेज उसी वक्त तक कायम है जब तक कि लोग इस ग्रंथको नहीं सुनते हैं—इससे परिचित नहीं होते हैं।'

( ) इस कोष्ठकके भीतरका पाठ मूल प्रतिका पाठ है, जो कि अशुद्ध है।

× इस चिन्ह वाले स्थानका पाठ उपलब्ध नहीं —छूट गया अथवा पत्रके फट जाने—घिस जाने आदिके कारण नष्ट हुआ जान पड़ता है।

‡ ये भूतबलि और पुष्पदन्त नामके शिष्य कौन हैं? इनका कोई विशेष परिचय मालूम नहीं है। पं० बेचरदासजीने इनके साथ 'लघु' विशेषण लगाया है, जो उन भूतबलि-पुष्पदन्तसे इनकी जुदायगीका सूचक है जो धरसेनाचार्यके शिष्य थे; परन्तु मूल परसे ऐसा कुछ उपलब्ध नहीं होता। यदि ये धरसेनाचार्यके ही शिष्य हों तो 'प्रश्नश्रवण' मुनिको धरसेनका नामान्तर कहना होगा; परन्तु यह बात ग्रंथ-प्रकृति परसे कुछ जीको लगती सी मालूम नहीं होती।

उक्त अवतरणके बाद ही, उसी पत्र पर, इस ग्रंथ प्रतिके लिखे जानेका संवतादि दिया है, जो इस प्रकार है—

"संवत् १५८२ वर्षे शाके १४४७ प्रवर्त (वर्त) माने दक्षिणायन (याम) गते श्रीसूर्ये श्रावणमासकृष्ण-पक्षे तृतीयायां तिथौ गो × × ज्ञातीय पं० नलासुत भीकम लिखितं"

इससे यह ग्रंथप्रति प्रायः ४१४ वर्षकी पुरानी लिखी हुई है और उसे नलासुत भीकम या 'टीकम' नामके किसी पंडितने लिखा है।

इसमें २०वें पत्र पर एक जगह यह वाक्य पाया जाता है—**"योनिप्राभृते बालानां चिकित्सा समाप्ता"** जिससे मालूम होता है कि वहाँ पर योनिप्राभृत्में बालकों की चिकित्सा समाप्त हुई है।

अब 'जगत्सुन्दरी-योगमाला' को लीजिये। यह ग्रंथ पं० हरिषेणका बनाया हुआ है, जैसा कि एक अङ्करहित पत्र पर दिये हुए उसके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

"इति पंडित श्री हरिषेणेन मया योनिप्राभृतालाभे स्वसमयपरसमयवैद्यकशास्त्रसारं गृहीत्वा जगत्सुन्दरी योगमालाधिकारः विरचितः।"

यह ग्रन्थ २०वें पत्रसे प्रारम्भ होता है, जिसकी पहली तरफका बिल्कुल अन्तिम भाग और दूसरी तरफ का कुछ भाग इस प्रकार है—

**"कुवियगुरुपायमूले न हु लद्धं अम्हि पाहुडं गंथं।
अहिमाणेण विरइयं इय अहियारं सुस······ऊ
णमिऊण पुव्वविज्जं जाण पसाएण आउविज्जं तु।
पत्तं अणुक्कमेण संपइ अम्हारिसा जाव ॥४०॥
सुललियपयवयणजुवं सालंकारं सलक्खणं सरसं।
हवइ भुवणम्मिसारं कस्सेव पुण्णे(णो)हि कलियस्स॥४१॥
अम्हण पुणो परिमियव(म) यणसद्दत्थछंदरहियाणं।
जायंति कव्वकरणे मणोरहा वेहसवणेव ॥४२॥
धम्मत्थकाममोक्खं जम्हा मणुयाण होइ आरोग्गा (गं)।
तम्हा तस्स उवायं साहिज्जं तं विसामेहि ॥ ४३ ॥
हारीय-गग्ग-सुसुय-विज्जयसत्थे अयाणमाणो उ
बोधा तहवि मालं भणेमि जगसुंदरी णाम ॥"**

इसमें जगत्सुन्दरीयोगमालाके रचनेकी प्रतिज्ञा करते हुए और उसके रचनेका यह उद्देश्य बतलाते हुए कि धर्म-अर्थ-काम-मोक्षकी सिद्धि चूंकि आरोग्यसे होती है इसलिये उसका उपाय साध्य है और उसे इस ग्रंथ परसे जानना चाहिये, ग्रंथकारने अपनी कुछ लघुता प्रकट की है और यह सूचित किया है कि वह हारीत, गर्ग और सुश्रुतके वैद्यक ग्रन्थोंसे अनभिज्ञ है फिर भी योगाधार पर इस ग्रंथकी रचना करता है। साथ ही, एक बात और भी प्रकट की है और वह यह कि 'उसे पाहुड-ग्रंथ (योनिप्राभृत) उपलब्ध नहीं है, जिसका उल्लेख **"योनिप्राभृतालाभे"** पदके द्वारा पूर्वोल्लेखित वाक्यमें भी किया है। इस योनिप्राभृत ग्रंथको **'अहिमाणेण विरइयं'** पदके द्वारा वह संभवतः उस 'अभिमानमेरु' कविका बनाया हुआ सूचित करता है जिसे हेमचन्द्राचार्यने 'अभिमानचिह्न' के नामसे उल्लेखित किया है और जो अपभ्रंश भाषाके त्रिषष्ठिलक्षण महपुराणका कर्ता 'खण्ड' उपनामसे भी अंकित 'पुष्पदन्त' नामका महाकवि हुआ है। इससे दो बातें पाई जाती हैं—या तो अभिमानमेरु (पुष्पदन्त) का भी बनाया हुआ कोई योनि-प्राभृत ग्रंथ होना चाहिये, जिसका पं० हरिषेणको पता था परन्तु वह उन्हें उपलब्ध नहीं हो सका था और या उनका यह लिखना ग़लत है, और किसी ग़लत सूचना पर अवलम्बित है। अस्तु।

अब इन ग्रन्थोंके कुछ साङ्क पत्रोंपरसे उन पत्रोंमें वर्णित विषयकी जो सूची संकलित की गई है उसे पत्राङ्क

तथा गाथा नम्बरके साथ, प्राकृतमें न देकर, हिन्दीमें नीचे दिया जाता है—

पत्राङ्क	विषय		गाथा
१६	ह्र्षचिकित्सा		३६६–३७१
	विचर्चिका चिकित्सा	—	३८६
१५	घर्मप्रयोग	—	४५०
१३	अमृतगुटिका	—	५१५
	शिवगुटिका	—	५१५
१७	विषहरण	—	५३१

प्रायः नीचेके विषय जगत्सुन्दरी योगमालाके हैं—

२१	प्रमेहाधिकार	—	६४
	मूत्रचिकित्सा	—	६६
२२	संततमतिसार	—	११३
	पाण्डुरोगाधिकार	—	११७
	आमरोगाधिकार	—	१२१
	शूलाधिकार	—	१२५
	विसूचिकाधिकार	—	१२६
	पवनरोगाधिकार	—	१३७
	छर्दिअधिकार	—	१४१
२३	तृष्णाधिकार	—	१४६
	अरुच्याधिकार	—	१५१
	हर्षाधिकार	—	१५५
	हिक्काधिकार	—	१५६
	कासाधिकार	—	१६७
	कुष्ठाधिकार	—	१७५
२४	शिरोरोगाधिकार	—	१६६
	श्रवणाधिकार	—	२०६
	श्वासरोगाधिकार	—	२१४
	वरुण(व्रण?)अधिकार	—	२१८
२५	भगंदराधिकार	—	२२५
	नयनरोगाधिकार	—	२३०
	घ्राणरोगाधिकार	—	२३७
	मुखरोगाधिकार	—	२४१
	दन्तरोगाधिकार	—	२४४
	गलरोगाधिकार	—	२५०
	स्वरभेदाधिकार	—	२५२
	भूताधिकार	—	२५४

इनके अतिरिक्त सुभिक्ष, दुर्भिक्ष, सस्ता, महंगा और मानसज्ञान वगैरहके भी अधिकार हैं। धातुवाद और यंत्रवाद-विषयक अधिकारोंकी सूचना इससे पहले की जा चुकी है, जिसमें धातुवादको '**कलिकालेचोजयरं**'—कलिकालमें विस्मयकारक लिखा है, और यंत्रवादको '**धम्मविआसणिमित्तं**'—धर्मकी दीप्ति-प्रभावनाका कारण बतलाया है। नीचे लिखे यंत्रोंका वर्णन प्रायः जगत्सुन्दरी-योगमालामें पाया जाता है—

१ विद्याधरवापि जंत्र
२ विद्याधरीयंत्र
३ वायुयंत्र
४ गंगायंत्र
५ ऐरावण यंत्र
६ भेरुण्ड यंत्र
७ राजाभ्युदय यंत्र
८ गतप्रत्यागत यंत्र
९ बाणगंगायंत्र
१० जलदुर्गभयानक यंत्र
११ उरयागारे पक्खि भ० महायंत्र
१२ हंसश्रवा यंत्र
१३ विद्याधरीनृत्य यंत्र
१४ मेघनादभ्रमणवर्त यंत्र
१५ पांडवामली यंत्र

इन ग्रंथोंमें जो मंत्रवाद है उसके एक मंत्रका नमूना इस प्रकार है—

"ओं नमो भगवते पार्श्वरुद्राय चंद्रहासेन खड्गेन गर्दभस्य सिरं छिंदय छिंदय दुष्टव्रणं हन हन लूतां हन हन जालागर्दभं हन हन गंडमालां हन हन विद्रधिं हन हन विष्फोटकसर्वान् हन हन फट् स्वाहा।"

ग्रंथप्रतिके कुल कितने पत्रे हैं और उनकी लम्बाई-चौड़ाई क्या है, यह उक्त नोटों परसे मालूम नहीं हो सका, और न यही मालूम हो सका है कि 'योनिप्राभृत' ग्रंथकी गाथासंख्या क्या है। हाँ, ऊपर १६वें पत्रका जो अंश उद्धृत किया है उसकी अन्तिम पंक्तिके सामने ६१६ का अंक दिया है, उससे ऐसा ध्वनित होता है कि शायद यहीं इस ग्रन्थकी गाथा संख्या हो। परन्तु अभी निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता।

इस प्रकार यह दोनों ग्रंथोंका संक्षिप्त परिचय है। विशेष-परिचयके लिये पूरी ग्रंथप्रतिको खूब छान-बीनके साथ देखने की ज़रूरत है—उसी परसे यह मालूम हो सकेगा कि कौन ग्रंथ पूरा है और कौन अधूरा। यह ग्रन्थप्रति बहुत जीर्ण-शीर्ण है अतः इसकी अच्छे सावधान लेखकसे शीघ्र ही कापी कराई जानी चाहिये, जिससे जो कुछ भी अवशिष्ट है उसकी रक्षा हो सके। मेरी रायमें सबसे अच्छा तरीक़ा फ़ोटो लेलेने का है, इससे जाँचनेवालोंके लिये लिपि आदिकी सब स्थिति एक साथ सामने आजाती है।

हाँ, एक बात यहाँ और भी प्रकट कर देने की है, और वह यह कि जब १६वें पत्र पर संख्याङ्क १६ तथा २०वें पत्र पर संख्याङ्क २० पड़ा हुआ है और १६वें पत्र पर जिस 'बालतंत्र' के कथनका उल्लेख है उसकी समाप्ति २०वें पत्र पर **"योनिप्राभृते बालानां चिकित्सा समाप्ता"** वाक्यके द्वारा सूचित की गई है तथा २०वें पत्रसे ही दूसरे ग्रंथ 'जगत्सुन्दरीयोगमाला' का प्रारम्भ हुआ है, तब योनिप्राभृतकी समाप्तिका सूचक वह हक़ीक़त-वाला अन्तिम पत्र बिना संख्याङ्कके कैसे है, यह बात कुछ समझमें नहीं आती! हो सकता है कि उसे अंक-रहित नोट करनेमें कुछ गलती हुई हो और उसका वह अवतरण २०वें पत्रकी पूर्व पीठका ही भाग हो। परन्तु उस हालतमें यह प्रश्न पैदा होता है कि जब उत्तर पीठ परसे जगत्सुन्दरी योगमालाकी कुछ गाथाएँ उद्धृत की गई हैं और उनपर गाथाओंके ४० आदि नम्बर पड़े हुए हैं तब पूर्ववर्ती गाथाओंके लिये उस पत्र पर और कौनसा स्थान अवशिष्ट होगा। मूल ग्रन्थप्रतिको देखे बिना इन सब बातों का ठीक समाधान नहीं हो सकता। आशा है प्रो० ए० एन० उपाध्यायजी किसी समय उक्त प्रतिको देखकर उस पर विशेष प्रकाश डालने की कृपा करेंगे, और यदि हो सके तो ग्रंथप्रतिको मेरे पास भिजवाकर मुझे अनुगृहीत करेंगे। उस समय मैं इसकी रही-सही बातों पर पूरा प्रकाश डालनेका यत्न करूँगा। खेद है कि हमारी असावधानी और अनोखी श्रुतभक्तिके प्रतापसे हमारे ग्रंथोंकी ऐसी दुर्दशा हो रही है! और किसीको भी उनके उद्धारकी चिन्ता नहीं है!!

वीर-सेवा-मन्दिर, सरसावा,

ता० १४-६-१६३६

कथा कहानी

[ले०—अयोध्याप्रसाद गोयलीय]

(२२)

महात्मा ईसा बैठे हुए दीन-दुखी और पतित प्राणियोंके उत्थानका उपाय सोच रहे थे कि उनके कुछ अनुयायी एक स्त्रीको पकड़े हुए लाए और बोले—"प्रभु ! इसने व्यभिचार जैसा निंद्य कर्म किया है। इसलिये इसके पत्थर मार मार कर प्राण लेने चाहियें।" महात्मा ईसाने अपने अनुयाइयोंका यह निर्णय सुना तो उनका दयालु हृदय भर आया, वे रुँधे हुए कंठ से बोले—"आपमेंसे जिस ने यह निंद्य कर्म न किया हो, वही इसके पत्थर मारे।" महात्मा ईसाका आदेश सुना तो मानो शरीरको लकवा मार गया। नेत्र ज़मीनमें गड़ेके गड़े रह गये। उनमें एक भी ऐसा नहीं था, जिसके पर-स्त्रीके प्रति कुविचार स्वप्नमें भी उत्पन्न न हुए हों। सारे अनुयायी उस स्त्रीको पकड़े हुए मुँह लटकाये खड़े रहे। तब महात्मा ईसाने करुणा भरे स्वरमें कहा—"मुमुक्षुओ ! पतितों, दुराचारियों और कुमार्गरतोंको प्रेमपूर्वक उनकी भूल सुझाओ वे तुम्हारी दयाके पात्र हैं। औरोंके दोष देखनेसे पूर्व अपनी तरफ भी देख लेना चाहिये।"

(२३)

"प्रभू क्या मुझे दीक्षित नहीं किया जायगा"

"नहीं।"

"इसका कारण ?"

"यही कि तुम अज्ञात पुत्र हो।"

"फिर इसका कोई उपाय ?"

"केवल अपने पिताका परिचय कराने पर दीक्षित हो सकोगे।"

"दीक्षित हो सकूंगा ! किन्तु पिताका परिचय कराने पर !! ओह !!! मैंने तो उन्हें आजतक नहीं देखा भगवान् ! दीनबन्धु ! क्या पितृ-हीनको धर्म रत होनेका अधिकार नहीं है ? सुना है धर्मका द्वार तो सभी शरणागत प्राणियोंके लिये खुला हुआ है।"

"वत्स ! तुम्हारा कथन सत्य है। किन्तु तुम अभी सुकुमार हो, इसलिये तुम्हें दीक्षित करनेसे पूर्व उनकी सम्मतिकी आवश्यकता है।

१५ वर्षका बालक निरुत्तर हो गया। उसके फूलसे गुलाबी कपोल मुर्झा जैसे गये। सरल नेत्रोंके नीचे निराशाकी एक रेखा-सी खिंच गई और स्वच्छ उन्नत ललाट पर पसीनेकी बून्द झलक आई। उसका उत्साह भंग हो गया। घर लौट कर वह अपराधीकी तरह दर्वाजेसे लग कर खड़ा हो गया। उसकी स्नेहमयी माँ पुत्रका मुर्झाया हुआ चेहरा देख सिर पर प्यारसे हाथ फेरते हुए बोली—"क्यों मुन्ने क्या दीक्षित नहीं हुए ?"

"नहीं।"

"क्यों ?"

"वे कहते हैं पिताकी अनुमति दिलाओ।"

माँ ने सुना तो कलेजा थाम कर रह गई। उसका पापमय जीवन बाइस्कोपकी तरह नेत्रोंके सामने आगया। वह नहीं चाहती थी कि इस सरल हृदय बालकको पापका नाम भी मालूम होने पाए। इसलिये उसके होश सम्हालनेसे पूर्वही वह अपना सुधार कर चुकी थी। उसे अपने पुत्र-का भविष्य उज्ज्वल करना था। अतः वह बोली—

"जाओ बेटा! कहना जिस समय मैं उत्पन्न हुआ था मेरे अनेक पिता थे, उन सबकी अनुमति प्राप्त करना असम्भव है।"

बालक सब कुछ समझ गया। किन्तु उसे अपने लक्षका ध्यान था। दौड़ा हुआ आचार्यके पास गया और एक सांसमें माँका सन्देश कह सुनाया।

आचार्य गद्गद् कंठसे बोले—"वत्स! परीक्षा हो चुकी। तू सत्यवादी है इसलिये आ, तू धर्ममें दीक्षित होनेका अवश्य अधिकारी है।

कुछ कुल जाति-गर्वोन्मत्त भक्त आचार्यके इस कार्यकी आलोचना करने लगे। भला एक वेश्या-पुत्र और वह धर्ममें दीक्षित किया जाए। असम्भव है, ऐसा कभी न हो सकेगा।

क्षमाशील प्रभु उनके मनोभाव ताड़ गये। बोले—"विचारशील सज्जनों! पापीसे घृणा न करके उसके पापसे घृणा करनी चाहिये। मानव जीवनमें भूल हो जाना सम्भव है। पापी मनुष्यका प्रायश्चित द्वारा उद्धार हो सकता है। किन्तु जो जान बूझ कर पाप कर्ममें लिप्त हैं, अपना मायावी रूप बना कर लोगोंको धोका देते हैं, एक पापको छुपानेके लिये जो अनेक पाप करते हैं; उनका उद्धार होना कठिन है। जब धर्म पतित-पावन कहलाता है, तब एक वेश्याका भी उसके सेवन करनेसे कल्याण क्यों नहीं हो सकता? फिर यह तो वेश्या-पुत्र है, इसने तो कोई पाप किया भी नहीं। पाप यदि किया भी है तो इसकी माताने किया है। उसका दण्ड इसे क्यों?"

आचार्यकी वाणीमें जादू था, सबने प्रेम विभोर होकर अज्ञात-पुत्रको गलेसे लगा लिया।

(२४)

किसी पुस्तकमें पढ़ा था कि, अमुक देशकी जेलमें एक क़ैदी जेलरके प्रति विद्रोहकी भावना रखने लगा। वह जेलरकी नाक-कान काटनेकी तजवीज़ सोच रहा था कि जेलरने उसे बुलाया और कमरा बन्द करके उससे अपनी हजामत बनवानी शुरू करदी। हजामत बनवा चुकने पर जेलरने कहा—"कमरा बन्द है ऐसे मौक़े पर तुम मेरी नाक कान काटने वाली अभिलाषा भी पूरी करलो, मैं क़सम खाता हूँ कि यह बात मैं किसीसे न कहूँगा।" जेलर और भी कुछ शायद कहता मगर उसकी गर्दन पर टप टप गिरने वाले आँसुओंने उसे चौंका दिया। वह क़ैदीका हाथ अपने हाथोंमें लेकर अत्यन्त स्नेहभरे स्वरमें बोला— "क्यों भाई! क्या मेरी बातसे तुम्हारे कोमल हृदयको आघात पहुँचा! मुझे माफ करो मैंने ग़लतीसे तुम्हें तकलीफ पहुँचाई"। अभागा क़ैदी सुबक सुबक कर जेलरके पावोंमें पड़ा रो रहा था, जेलरके प्रेम, विश्वास और क्षमा भावके आगे उसकी विद्रोहाग्नि बुझ चुकी थी। वह आँखोंकी राह अपने हृदयकी मनोवेदना व्यक्त कर रहा था।
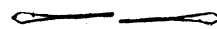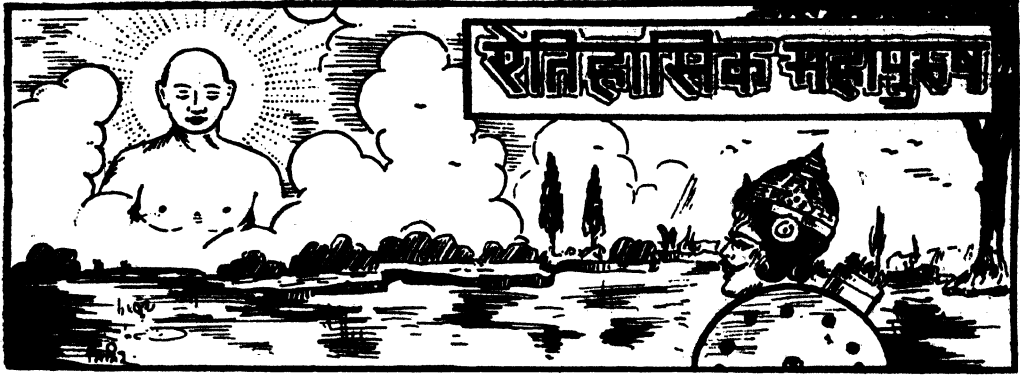
सिद्धसेन दिवाकर

[ले०—पं० रतनलाल संघवी, न्यायतीर्थ-विशारद]

प्राक्कथन

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर और स्वामी समंतभद्र, ये दोनों ही जैनधर्म और जैन-साहित्यके महान् प्रभावक महात्मा और उच्च कोटिके गंभीर विद्वान् आचार्य हो गये हैं। इनके साहित्यका और रचना-शैलीका जैन-साहित्य पर एवं पश्चात्वर्ती साहित्यकार आचार्यों पर महान् और अमिट प्रभाव पड़ा है। वैदिक साहित्यमें कुमारिलभट्ट, शंकराचार्य और उदयनाचार्य एवं वाचस्पति मिश्रका जो स्थान है प्राय: वही स्थान और वैसा ही सम्मान इन दोनों आचार्योंका जैनसाहित्यकी दृष्टिसे समझना चाहिये। जैनन्याय-साहित्यके दोनों ही आदि स्रोत हैं। इनके प्रादुर्भावके पूर्वका जैनन्यायका एक भी ग्रंथ उपलब्ध नहीं होता है। इसलिये भगवान् महावीरस्वामीके सूक्ष्म और गहन सिद्धान्तोंके ये प्रचारक, प्रतिष्ठापक और संरक्षक माने जाते हैं तथा कहे जाते हैं।

स्वामी समन्तभद्र दिगम्बर सम्प्रदायमें हुए हैं और सिद्धसेन दिवाकर श्वेताम्बर संप्रदायमें। यद्यपि कुछ विद्वानोंकी धारणा है कि सिद्धसेन दिवाकर भी दिगम्बर संप्रदायमें ही हुए हैं; किन्तु अधिकांश विद्वान् इनके साहित्यके गंभीर विश्लेषणके आधारसे इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि ये श्वेताम्बरीय आचार्य ही हैं। लेकिन यह सत्य है कि सिद्धसेन दिवाकर दोनों ही संप्रदायोंमें अत्यन्त पूज्य दृष्टिसे देखे जाते हैं। हरिवंशपुराणके कर्त्ता श्री जिनसेन और आदिपुराणके रचयिता आचार्य जिनसेन एवं पद्मप्रभ, शिवकोटि और कल्याणकीर्ति आदि दिगम्बर आचार्य इन्हें गौरवपूर्ण रीतिसे स्मरण करते हैं। भट्ट अकलंकदेव तो इनके वचनोंको अपने अमर ग्रंथोंमें प्रमाण रूपसे उद्धृत करते हुए दिखाई देते हैं।

दोनों ही आचार्योंके जीवन, साहित्य और कार्य-शैलीमें अद्भुत समानता प्रतीत होती है। दोनों ही स्तुतिकार और आद्य न्यायाचार्य माने जाते हैं। इस लेखका विषय 'सिद्धसेन दिवाकर' है, अतः पाठकोंसे स्वामी समन्तभद्रके विषयमें श्रद्धेय पण्डित जुगलकिशोरजी मुख्तार सम्पादक 'अनेकान्त' द्वारा लिखित 'स्वामी समन्तभद्र' नामक पुस्तकको अथवा माणिकचन्द्र ग्रन्थ-

मालामें प्रकाशित रत्नकरण्डश्रावकाचारकी प्रस्तावनाके समन्तभद्र-विषयक अंशको देखनेका अनुरोधकर मूल विषय पर आता हूँ।

साहित्य-सेवा

सिद्धसेन नामके अनेक आचार्य जैनसमाजमें हो गये हैं; किन्तु यहाँ पर वृद्धवादी आचार्यके शिष्य और श्वेताम्बरीय जैनन्यायके आदि-प्रतिष्ठापक, महाकवि, अजेयवादी, गंभीर वाग्मी और दिवाकर पदवीसे विभूषित "सिद्धसेन" से ही तात्पर्य है। ये अपने समयके 'युगप्रधान—युग निर्माता' आचार्य थे। इनके समय सम्बन्धमें विद्वानोंमें मतभेद है; किन्तु माना यह जाता है कि ये विक्रमकी तीसरी-चौथी-पाँचवीं शताब्दिके बीच में हुए होंगे। साहित्य-क्षेत्रमें ये सचमुच ही प्रकाश-स्तम्भ (Light-House) के समान ही हैं।

जैन-न्यायके स्वरूपकी जो मर्यादा इन्होंने स्थापित की और जो न्याय-पारिभाषिक शब्दोंकी परिभाषा स्थिर की उसीके आधार परसे—उसी शैलीका अनुकरण करते हुए—पश्चात्-वर्ती सभी श्वेताम्बर आचार्यों ने अर्थात् हरिभद्रसूरि, मल्लवादी, सिंह क्षमाश्रमण, तर्क-पंचानन अभयदेवसूरि, वादी देवसूरि, आचार्य हेमचन्द्र और उपाध्याय यशोविजय आदि प्रौढ़ एवं वाग्मी-जैन नैयायिकोंने उच्चकोटिके जैन-न्याय-ग्रंथोंका निर्माण करके जैनदर्शनरूप दुर्गको ऐसा अजेय बना दिया कि जिससे अन्य दार्शनिकोंरूप प्रबल आक्रांताओं द्वारा भीषण आक्रमण और प्रचंड प्रहार करने पर भी इस जैनदर्शनरूपी दुर्गको ज़रा भी हानि नहीं पहुँच सकी।

आचार्य सिद्धसेन दिवाकरने प्रमाणवादके प्रस्फुटन के लिये 'न्यायावतार' की और अनेकान्तवाद एवं नयवादके विशदीकरणके लिये 'सम्मति तर्क' की रचना की। न्यायावतारमें केवल ३२ श्लोक हैं, जो कि 'अनुष्टुप्' छन्दमें संगुंफित हैं। यही श्वेताम्बर जैनन्यायका आदि ग्रन्थ माना जाता है। इसमें प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता, प्रमिति, प्रत्यक्ष, परोक्ष, अनुमान, शब्द, पक्ष, हेतु, दृष्टान्त, दूषण आदि एवं इन सम्बन्धी तदाभास तथा नय और स्याद्वादका संबध आदि विषयों पर जैनमतानुकूल पद्धतिसे, दार्शनिक संघर्षका ध्यान रखते हुए, जो विवेचना की गई है, और जैन न्यायरूप गंभीर समुद्रकी जो मर्यादा और परिधि स्थापित की गई है, उसको उल्लंघन करनेका आज दिन तक कोई भी जैन नैयायिक साहस नहीं कर सका है। यद्यपि पीछेके विद्वान जैन नैयायिकोंने अपने अमर ग्रंथोंमें इतर-दर्शनोंके सिद्धान्तोंका न्याय-शैलीसे विश्लेषण करते हुए बड़ा ही सुन्दर और स्तुत्य बौद्धिक-व्यायामका प्रदर्शन किया है। किन्तु यह सब आचार्य सिद्धसेन दिवाकरके द्वारा बताये हुए मार्गका अवलम्बन करके ही किया गया है।

'सन्मति तर्क' इनकी प्राकृत-कृति है। यह भी पद्य ग्रंथ है। इसका प्रत्येक छंद (उर्फ़ गाथा) आर्या है और यह तीन कांडोंमें विभाजित है। प्राचीन कालसे लगाकर अठारहवीं शताब्दि तकके उपलब्ध सभी पद्य-मय प्राकृत ग्रन्थ प्रायः इसी "आर्या" छंदमें रचे हुए देखे जाते हैं। यद्यपि कुछ ग्रन्थ अनुष्टुप् और उपजाति छंदोंमें भी पाये जाते हैं किन्तु प्राकृत-पद्य-साहित्यका अधिकांश भाग 'आर्या' में ही उपलब्ध है।

सन्मति-तर्कके तीनों कांडोंमें क्रमशः ५४, ४३, और ६६ के हिसाबसे कुल १६६ गाथाएँ हैं। प्रथम कांडमें नय, व्यंजनपर्याय, अर्थपर्याय, नयका सम्यक्त्व और मिथ्यात्व, जीव और पुद्गल का कथंचित् भेदाभेद, नयभेदोंकी भिन्नता और अभिन्नता आदि विषयों पर

विवेचना की गई है। दूसरे कांडमें दर्शन और ज्ञान पर ऊहापोह किया गया है। इसमें आगमोक्त क्रमवाद, सहवाद, और अभेदवादकी गंभीर एवं युक्तियुक्त मीमांसा है। अन्तमें प्रबल प्रमाणोंके आधारसे 'केवलज्ञान और केवल दर्शन एक ही उपयोगरूप है' इस अभेदवादको ही तर्कसंगत और प्रामाणिक सिद्ध किया है। तीसरे कांडमें सामान्य, विशेष, द्रव्य, गुण, एक ही वस्तुमें अस्तित्व आदिकी सिद्धि, अनेकांतकी व्यापकता, उत्पत्ति-नाश-स्थिति-चर्चा, आत्माके विषयमें नास्तित्व आदि ६ नयोंका मिथ्यात्व और अस्तित्व आदि ६ पक्षोंका सम्यक्त्व, प्रमेयमें अनेकान्त दृष्टि आदि आदि गूढदार्शनिक बातों पर अच्छा स्वतंत्र और प्रशस्त विवेचन किया गया है।

अन्य ग्रंथ

कहा जाता है कि इन्होंने ३२ द्वात्रिंशिकाओंकी भी रचना की थी। किन्तु वर्तमानमें केवल २२ द्वात्रिंशिकाएँ (बतीसियाँ) ही पाई जाती हैं। जिनकी पद्य-संख्या ७०४ के स्थान पर ६६५ ही हैं। इन बतीसियों पर दृष्टि-पात करनेसे पता चलता है कि सिद्धसेनयुग एक वादविवादमय संघर्षयुग था। प्रत्येक संप्रदायके विद्वान् अपने अपने मतकी पुष्टिके लिये न्याय-शैलीका ही अनुकरण किया करते थे। सिद्धसेन-युग तक भारतीय सभी दर्शनोंके न्यायग्रन्थोंका निर्माण हो चुका था। बौद्ध-न्याय-साहित्य और वैदिक न्यायसाहित्य काफी विकासको प्राप्त हो चुका था।

तत्कालीन परिस्थिति बतलाती है कि उस समयमें न्याय-प्रमाण चर्चा और मुख्यतः परार्थानुमान चर्चा पर विशेष वाद-विवाद होता था। संस्कृत-भाषामें, गद्य तथा पद्यमें स्वपक्षमंडन और परपक्षखंडनकी रचनाएँ ही उस समयकी विद्वत्ताका प्रदर्शन था।

चूंकि सिद्धसेन दिवाकर जातिसे ब्राह्मण थे; अतः उपनिषदों और वैदिक दर्शन ग्रंथोंका इन्हें मौलिक और गंभीर ज्ञान था; जैसाकि इनके द्वारा रचित प्रत्येक दर्शन-की बतीसीसे पता चलता है। बौद्ध और जैन-साहित्य-का भी इन्होंने तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त किया था और प्राकृत भाषापर भी इनका पूर्ण अधिकार था, ऐसा मालूम होता है।

सिद्धसेन दिवाकर जैनसमाजमें "स्तुतिकार" के रूपसे विख्यात हैं; इसका कारण यही है कि इनकी उपलब्ध बतीसियोंमें से ७ बतीसियाँ स्तुति-आत्मक हैं। इन स्तुति-स्वरूप बतीसियोंमें वे भगवान् महावीर स्वामी-के भक्तिवर्णनके बहाने उनके तत्वज्ञानकी और चरित्रकी गंभीर तथा उच्चकोटिकी मीमांसा करते हुए देखे जाते हैं। मालूम होता है कि भगवान् महावीर स्वामीके तत्त्वज्ञानका हृदयग्राही अध्ययन ही इन्हें वैदिक दर्शनसे जैन-दर्शनमें खींच लाया है। भगवान् महावीर स्वामीके तत्त्वज्ञान पर ये इतने मुग्ध और संतुष्ट हुए कि इनके मुखसे अपने आप ही चमत्कारपूर्ण अगाध श्रद्धामय और भक्ति-रसभरी बतीसियाँ बनती चली गईं। रचयिताके प्रौढ़ पांडित्यके कारण उनमें भगवान् महावीर स्वामीके उत्कृष्ट तत्त्वज्ञानका सुन्दर समावेश और स्तुत्य संकलन हो गया है।

प्राप्त बतीसियोंमें कहीं कहीं पर हास्य रसका पुट भी पाया जाता है, इससे पता चलता है कि सिद्धसेन दिवाकर प्रकृतिसे प्रफुल्ल और हास्यप्रिय होंगे। इनकी बतीसियोंमें से दो बतीसियाँ (वादोपनिषद् द्वात्रिंशिका और वादद्वात्रिंशिका) वाद-विवाद-संबंधी हैं। एक बतीसी किसी राजाके विषयमें भी बनाई हुई देखी जाती है, जिससे अनुमान किया जासकता है कि सिद्धसेन

दिवाकरको राजसभाओंमें भी वाद विवादके लिये—जैनधर्मको श्रेष्ठ सिद्ध करनेके लिये—जाना पड़ा होगा। इस विषयसे सम्बन्ध रखनेवाली इनकी कृतियोंको देखने से पता चलता है कि ये वाद-विवाद-कलामें कुशल और कुशाग्र बुद्धिशील होंगे। इनकी वर्णनशैली यह प्रमाणित करती है कि मानों ये अनुभूत बातोंका ही वर्णन कर रहे हों।

इनके सम्यक्त्व—श्रद्धा—के दृष्टिकोणसे यह कहा जा सकता है कि ये पूरी तरहसे जैनधर्मके रंगमें रंग गये थे। वैदिक मान्यताओंको जैनधर्मकी अपेक्षा हीन कोटिकी समझने लगे थे। इसका प्रमाण यह है कि स्वपक्ष और परपक्षकी विवेचना करते समय परपक्षकी किसी किसी प्रबल तर्क संगत बातको भी निर्बल तर्कोंके आधारसे खंडन करते चले जाते हैं; जब कि स्वपक्षकी किसी तर्क-असंगत बातको भी श्रद्धाके आधार पर सिद्ध करनेका प्रयास करते हैं *।

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर द्वारा रचित एवं उपलब्ध २२ बतीसियोंमें से ७ तो स्तुति-आत्मक हैं, दो समीक्षात्मक और शेष १३ दार्शनिक एवं वस्तु-चर्चात्मक हैं।

बतीसियोंकी भाषा, भाव, छंद, अलंकार, रीति और रसकी दृष्टिसे विचार करनेपर ज्ञात होता है कि आचार्य सिद्धसेन दिवाकरकी प्रतिभा और शक्ति मौलिक तथा अनन्य विद्वता-सूचक थी। स्तुत्यात्मक बतीसियोंमें से ६ तो भगवान् महावीर स्वामी संबंधी हैं और एक किसी राजा संबंधी। समीक्षात्मकमें जल्प आदि वादकथाकी मीमांसा की गई है। दार्शनिक बतीसियोंमें न्याय, सांख्य, वैशेषिक, बौद्ध, आजीवक और वेदान्त दर्शनोंमेंसे प्रत्येक दर्शन पर एक एक स्वतंत्र बतीसी लिखी गई है। मीमांसक-दर्शन-संबंधी कोई बतीसी उपलब्ध नहीं है, इससे अनुमान किया जा सकता है कि नष्ट शेष बतीसियोंमेंसे मीमांसक—बतीसी भी एक होगी। छः बतीसियोंमें विशुद्ध रूपसे जैन दर्शनका वर्णन किया गया है। यों तो सभी बतीसियोंमें मिलाकर लगभग १७ प्रकारके छंदोंका उपयोग किया गया है; किन्तु अधिकांश श्लोकोंकी रचना 'अनुष्टुप्' छन्दमें ही की गई है। इनकी ये कृतियाँ बतलाती है कि षट् दर्शनों पर इनका अगाध अधिकार था। इन कृतियोंसे जैन-साहित्यकी रचना पर अभूतपूर्व प्रभाव पड़ा है। प्रायःसंपूर्ण जैनसंप्रदायमें षट्-दर्शनोंका पठन-पाठन और इन दर्शनोंकी न्याय-शैलीसे खंडन-प्रणाली इन कृतियोंको देखकर ही प्रारंभ हुई जान पड़ती है। चूंकि सिद्धसेन दिवाकरसे पूर्व रचित श्वे० जैन साहित्यमें षट्-दर्शनोंके संबंधमें नहीं कुछके बराबर ही विवेचना पाई जाती है, अतः यह निस्संकोच रूपसे कहा जा सकता है कि श्वे० जैन समाजमें षट्-दर्शनोंके पठन—पाठनकी प्रणाली और इन संबंधी विवेचना करनेका श्रेय आचार्य सिद्धसेन दिवाकरको ही प्राप्त है। इस दृष्टिसे जैनसमाज पर इन आचार्यका कितना भारी उपकार है—इसकी पाठक स्वयं कल्पना कर सकते हैं।

अन्य आचार्योंकी श्रद्धांजलियाँ

पीछेके सभी आचार्योंने सिद्धसेन दिवाकरको अपने अपने ग्रन्थोंमें अत्यन्त आदर पूर्वक स्मरण किया है। इनके पद्योंको अपने मन्तव्यकी पुष्टिके लिये अनेक बड़े बड़े समर्थ आचार्यों तकने अपने ग्रंथोंमें प्रमाण-स्वरूप उद्धृत किया है। इनके प्रति आदर-बुद्धिके थोड़ेसे उदाहरण निम्न प्रकारसे हैं:—

---

* *अच्छा, होता यदि इस विषयका एक-आध उदाहरण भी साथमें उपस्थित कर दिया जाता।*
—सम्पादक

आठवीं शताब्दिके महान् मेधावी, मौलिक साहित्य-कार और विशेष साहित्यिक युगके निर्माता आचार्य हरिभद्रसूरि "पंच वस्तुक" ग्रंथमें लिखते हैं—

"सुयकेवलिणा जओ भणियं—
आयरियसिद्धसेणेण सम्मईए पइट्ठिअजसेणं ।
दूसम-णिसा-दिवागर कप्पत्तणओ तदक्खेणं ॥"

—पंचवस्तुक, गाथा १०४८

अर्थात्—दुःषम काल नामक पंचम आरा रूपी रात्रिके लिये सूर्य समान, प्रतिष्ठित यशवाले, श्रुतकेवली समान आचार्य सिद्धसेनदिवाकरने 'सम्मति-तर्क' में कहा है।

हरिभद्र रचित इस गाथामें 'सूर्य' और 'श्रुतकेवली' विशेषण बतला रहे हैं कि १४४४ ग्रंथोंके रचयिता आचार्य हरिभद्र सूरि सिद्धसेन दिवाकरको किस दृष्टिसे देखते थे।

बारहवीं शताब्दिके प्रौढ़ जैन न्यायाचार्य वादिदेव-सूरि अपने समुद्र समान विशाल और गंभीर ग्रंथराज 'स्याद्वाद-रत्नाकर' में इस प्रकार श्रद्धांजलि समर्पण करते हैं:—

श्रीसिद्धसेन-हरिभद्रमुखाः प्रसिद्धाः ।
ते सूरयो मयि भवन्तु कृतप्रसादाः ॥
येषां विमृश्य सततं विविधान् निबंधान् ।
शास्त्रं चिकीर्षति तनु प्रतिभोऽपि मादृक् ॥

अर्थात्—श्री सिद्धसेन और हरिभद्र जैसे प्रमुख आचार्य मुझ पर प्रसन्न हों, जिनके विविध ग्रंथोंका सतत मनन करके मेरे जैसा अल्प बुद्धि भी शास्त्र रचनेकी इच्छा करता है।

श्लेष और रूपक-अलंकारके साथ मुनि रत्नसूरि अपने बारह हज़ार श्लोक प्रमाण महान् काव्य 'अमम-चरित्र' में लिखते हैं:—

उदितोऽर्हन्मतव्योम्नि सिद्धसेनदिवाकरः ।
चित्रं गोभिः क्षितौ जह्रे कविराजबुधप्रभा ॥

अर्थात्—सिद्धसेनरूपी दिवाकर (सूर्य) के अर्हन्मत (जैनधर्म) रूपी आकाशमें उदय होने पर उनकी गो (किरण और वाणी दोनों अर्थ) से पृथ्वी पर कविराज (शेष कवि और बृहस्पति—दोनों अर्थ) की और बुध (बुद्धिमान और बुध ग्रह—दोनों अर्थ) की कांति लज्जित हो गई।

यहाँ पर "दिवाकर, किरण, बृहस्पति और बुध" के साथ तुलना करके उनकी अगाध विद्वत्ताके प्रति भावपूर्ण श्रद्धांजलि व्यक्त की गई है।

प्रभाचन्द्रसूरि अपने प्रभावक चरित्रमें लिखते हैं कि:—

स्फुरन्ति वादिखद्योताः साम्प्रतं दक्षिणा पथे ।
नूनमस्तंगतः वादी सिद्धसेनो दिवाकरः ॥

भाव यह है कि जिस प्रकार सूर्यके अस्त हो जाने पर खद्योत अर्थात् जुगनु बहुत चमका करते हैं। उसी तरहसे यहाँ पर भी रूपक-अलंकारमें कल्पनाकी गई है कि 'दक्षिण पथमें आजकल वादीरूपी खद्योत बहुत चमकने लगे हैं। इससे मालूम होता है कि सिद्धसेन रूपी सूर्य अस्त हो गया है।' यहाँ पर भी सिद्धसेन आचार्यको सूर्यकी उपमा दी गई है।

विक्रमकी चौदहवीं शताब्दिके प्रथम चरणमें होने वाले मुनि श्री प्रद्युम्नसूरि 'संक्षेपसमरादित्य' में लिखते हैं कि—

तमः स्तोमं स हन्तु श्रीसिद्धसेनदिवाकरः ।
यस्योदये स्थितं मूकैरुलूकैरिव वादिभिः ॥

अर्थात्—श्रीसिद्धसेनदिवाकर अज्ञानरूपी अंधकार के समूहको नष्ट करें। जिन सूर्य समान सिद्धसेनके उदय होने पर प्रकाशमें नहीं रहने वाले वादी रूपी उल्लू

चुपचाप बैठ गये।

साढ़े तीन करोड़ श्लोक प्रमाण साहित्यके रचयिता साहित्यके प्रत्येक अंगकी पुष्टि करने वाले, कलिकाल सर्वज्ञकी उपाधि वाले आचार्य हेमचन्द्र अपनी अयोग व्यवच्छेदिका नामक बत्तीसीके तीसरे श्लोकमें लिखते हैं:—

क्व सिद्धसेनस्तुतयो महार्थाः,
अशिक्षितालापकला क्व चैषा।
तथापि यूथाधिपतेः पथस्थः,
स्खलद्गतिस्तस्य शिशुर्न शोच्यः॥

अर्थात्—कहाँ तो गंभीर अर्थ वाली आचार्य सिद्धसेन दिवाकरकी स्तुतियाँ और कहाँ अशिक्षित-आलाप वाली मेरी यह रचना फिर भी जिस प्रकार महान् दिग्गज हाथियोंके मार्गका अनुकरण करनेवाला हाथीका बच्चा यदि स्खलित गति हो जाय तो भी शोचनीय नहीं होता है; उसी प्रकार यदि मैं भी सिद्धसेन जैसे महान् आचार्योंका अनुकरण करता हुआ स्खलित हो जाऊँ तो शोचनीय नहीं हूँ।

पाठकगण इन अवतरणोंसे अनुमान कर सकते हैं कि जैनसाहित्यमें आचार्य सिद्धसेन दिवाकरका क्या स्थान है? इस प्रकार यह निर्विवाद सिद्ध है कि सिद्धसेनदिवाकरकी कृतियोंका जैनसाहित्य पर महान् प्रभाव है।

(अगली किरणमें समाप्त)

स्वतंत्रता देवीका सन्देश

हममेंसे जो कोई सुनना चाहे वह सुन सकता है कि स्वतंत्रताकी देवी पुकार पुकार कर स्पष्ट शब्दोंमें कह रही है कि—"मेरे उपासको! मेरी प्रिय सन्तानो! तुमने अभी तक मेरी पूजाकी विधि नहीं जानी। तुमने अभी तक मुझे प्रसन्न करनेका ढंग नहीं सीखा। मैं स्वतंत्रता या आज़ादीसे भरे हुए हृदयमें ही वास कर सकती हूँ—संकीर्णता, असहिष्णुता, हिंसकतासे भरे हुए हृदयमें नहीं। ऐ मेरी सन्तानो! जब तुम दूसरोंको परतंत्र बनाना चाहते हो, दूसरोंके विचारों, भावों और आदर्शोंसे घृणा करते हो, केवल खुद ही सुखसे दिन काटना चाहते हो और दूसरोंको इस शस्य श्यामल, धन-रत्न-आनन्द-शोभा-सौन्दर्य्य-संकुल पृथ्वी पर ही नरककी चाशनी चखाना चाहते हो, तब मुझे क्योंकर पा सकते हो? क्या तुम नहीं जानते कि मैं घृणा, असहिष्णुता और संकीर्णताकी दुर्गन्धमें क्षणभर भी नहीं टिक सकती? इस विराट् विश्व, अनन्त, प्रकृतिमें सभीकी आवश्यकता है—सभीके रहनेके लिये स्थान है। सभीके निर्वाहके लिये सामग्री है। फिर व्यर्थके झगड़ोंसे क्या लाभ? दूसरोंको परतंत्र रखकर तुम कदापि स्वतंत्र नहीं रह सकते। तुम्हारी निजकी स्वतंत्रताके लिये सबकी स्वतंत्रता-की आवश्यकता है। मेरे उपदेशको स्मरण रक्खो, तभी तुम मुझे प्राप्त कर सकोगे, अन्यथा नहीं।"

—'नीति-विज्ञान'

श्रुतज्ञानका आधार

[ले०—पं० इन्द्रचन्द्रजी जैन शास्त्री]

(२)

"अनेकान्त" के दूसरी वर्षकी सातवीं किरणमें मैंने श्रुतज्ञानके विषयमें कुछ प्रकाश डाला है, उसमें इस बातको सिद्ध करनेका प्रयत्न किया गया है कि भावमन सभी संसारी प्राणियोंके होता है। इसी भावमनके आधारसे श्रुतज्ञान भी सभी संसारी प्राणियोंके संभव हो सकता है। भावमनको जैनाचार्योंने ज्ञानात्मक स्वीकार किया है, तथा जीवकी ऐसी कोई भी अवस्था नहीं है जब वह बिलकुल ज्ञानशून्य हो जाय। इस लेखमें इसी भावमनके ऊपर कुछ और विचार किया जायगा, जिससे आगे श्रुतज्ञान पर विचार करनेमें अवश्य सहायता मिलेगी।

भावमनको ज्ञानस्वरूप स्वीकार करते हुए भी कुछ विद्वान पौद्गलिक सिद्ध करनेका प्रयत्न करते हैं। इसमें मुख्य हेतु यही दिया जाता है कि, भावमन ज्ञानकी विभाव परिणति स्वरूप है। अतः कर्मोंके संसर्ग होनेके कारण इसे कथंचित् पौद्गलिक स्वीकार किया जावे। इस भावमनकी चर्चामें मुख्य विचारणीय समस्या स्वभाव और विभावकी है। यदि ज्ञानके स्वभाव और विभावपर ठीक विचार किया जावे तो यह समस्या हल हो सकती है।

आत्मामें ज्ञानवरणीय आदि आठ कर्मोंमेंसे विभावता लानेवाला या विकार पैदा करनेवाला सिर्फ़ मोहनीय कर्म ही है। शेष सात कर्म अपने अपने प्रतिपक्षी गुणोंको प्रगट नहीं होने देते। वे गुण जितने अंशमें प्रगट होते हैं उतने अंशमें वे कर्म उन गुणोंको विभाव रूप करनेमें कारण नहीं होते। यदि उन गुणोंमें विकार आता है तो वह सिर्फ़ मोहनीयके कारण—स्वतः उनमें विकार नहीं होता।

ज्ञानावरणीय कर्मके उदयसे विकृत या विभाव रूप ज्ञान नहीं होता, किन्तु, ज्ञानका अभाव ही होता है। औदयिकभावोंमें जहाँ अज्ञान बताया है वहाँ अज्ञानका अर्थ ज्ञानका अभाव ही है, मिथ्याज्ञान नहीं। यथा—

"ज्ञानावरणकर्मण उदयात् भवति तदज्ञानमौदयिकम्"

—सर्वार्थसिद्धि

अर्थात्—ज्ञानावरण कर्मके उदयसे पदार्थोंका ज्ञान नहीं होना 'अज्ञान' नामका औदयिक भाव है।

पदार्थोंके विपरीत श्रद्धान करानेमें दर्शन मोहनीय का उदय कारण पड़ता है—ज्ञानावरण कर्मका उदय नहीं। ज्ञानावरणका उदय तो ज्ञानके अभावमें ही कारण पड़ता है, जैसा कि पंचाध्यायीके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

हेतुः शुद्धात्मनो ज्ञाने शमो मिथ्यात्वकर्मणः।
प्रत्यनीकस्तु तत्रोच्चैरशमस्तत्र व्यत्ययात्॥ २—६८७

अर्थात्—शुद्ध आत्माके ज्ञानमें कारण मिथ्यात्व कर्मका उपशम है। इसका उल्टा मिथ्यात्व कर्म उदय है। मिथ्यात्व कर्मके उदयसे शुद्धात्माका अनुभव नहीं हो सकता। आगे इसे और भी स्पष्ट किया है—

दृङ्मोहेऽस्तंगते पुंसः शुद्धस्यानुभवो भवेत्।
न भवेद्विघ्नकरः कश्चिच्चारित्रावरणोदयः॥

—पंचाध्यायी, ६८८

अर्थात्—दर्शन मोहनीय कर्मका अनुदय होने पर आत्माका शुद्ध अनुभव होता है। उसमें चारित्र मोहनीयका उदय भी विघ्न नहीं कर सकता।

शुद्ध आत्माके अनुभवकी सम्यग्दर्शनके साथ व्याप्ति है। सम्यग्दर्शनके होनेमें दर्शन मोहनीयका अनुदय ही मूल कारण है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि आत्माको मलिन करनेमें मोहनीय कर्म प्रधान-कारण है। ज्ञानावरण कर्मके उदयसे ज्ञानगुणमें विकार नहीं आता; किन्तु ज्ञानका अभाव हो जाता है। जहाँ ज्ञान गुणमें विकार आता है, वहाँ मिथ्यात्वके संसर्गसे ही आता है। आचार्य कुन्दकुन्दने भी इसी भावको नियमसारमें इस प्रकार प्रगट किया है—

"जीवो उवओगमओ उवओगो णाणदंसणो होई।
णाणुवओगो दुविहो सहावणाणं विहावणाणंत्ति॥"

टीका—अत्र हि ज्ञानोपयोगोपि स्वभावविभावभेदात् द्विविधो भवति। इह हि स्वभावज्ञानं अमूर्तम्, अव्याबाधम्, अतीन्द्रियम्, अविनश्वरम्, तच्चकार्यकारणरूपेण द्विविधं भवति। कार्यं तावत् सकलविमलकेवलज्ञानम्। तस्य कारणं परमपारिणामिकभावस्थितत्रिकालनिरुपाधिरूपं सहजज्ञानं स्यात्। केवलं विभावरूपाणि ज्ञानानि त्रीणि कुमति कुश्रुत-विभंगभांजि भवन्ति॥

अर्थात्—जीव उपयोगमयी है। उपयोगज्ञान दर्शन के भेदसे दो प्रकारका है। यह ज्ञानोपयोग स्वभावकी अपेक्षासे भी दो प्रकारका है। एक कार्य स्वभावज्ञान, दूसरा कारण स्वभावज्ञान। समस्त प्रकारसे निर्मल केवलज्ञान कार्य स्वभाव ज्ञान है। इसीके बलज्ञानका कारणरूप परम परिणामिक भावमें स्थित विभाव रहित आत्माका सहज ज्ञान कारण स्वभाव ज्ञान है। कारण स्वभावज्ञानके द्वारा ही कार्यस्वभावज्ञान प्राप्त होता है। विभावज्ञान सिर्फ तीन ही है—कुमति, कुश्रुत, और विभंगावधि।

इसी भावको नियमसारमें इस प्रकार स्पष्ट किया है—

सण्णाणं चदुभेयं मदिसुदओही तहेव मणपज्जं।
अण्णाणं तिवियप्पं मदियाई भेददो चेव॥

अर्थात्—संज्ञानके चार भेद हैं—मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ज्ञान। विभावज्ञान अर्थात् अज्ञानके तीन भेद हैं कुमति, कुश्रुत, कुअवधि।

आचार्य कुंदकुंदके इस कथनसे स्पष्ट हो जाता है, कि ज्ञानको विभावरूप सिर्फ मोहनीयके कारण कहा गया है। यद्यपि ज्ञान पर मोहनीयका कोई खास असर नहीं होता है, फिर भी मिथ्यात्वके उदयसे ही मतिश्रुत, अवधि विभाव रूप कहलाने लगते हैं और इसीसे कुमति,

कुश्रुत, कुअवधि संज्ञाएँ कही गई हैं। ज्ञान—सामान्यकी दृष्टिसे दोनों ही समान हैं। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय ज्ञानको विभावरूप कहनेका अर्थ इतना ही है, कि ये ज्ञान पूर्णज्ञान नहीं हैं, ये सब आँशिकज्ञान हैं। आँशिक तथा अपरिपूर्ण होनेके कारण इनको विभावरूप कहा है। तथा पूर्णज्ञानको स्वाभाविक कहा है। यहाँ विभाव शब्दका यह अर्थ नहीं किया जा सकता कि इनके प्रगटित अंशको ज्ञानावरणीय कर्म घात रहा है और उसके कारण इसमें विभावता आरही है। हाँ! जहाँ पर मिथ्यात्वका उदय रहता है, वहाँ ज्ञानको विभाव कहा जा सकता है। ज्ञान स्वतः वैभाविक नहीं है।

ज्ञानावरणीय कर्मसे आवृतज्ञानको किसी अपेक्षासे विभावरूप कह सकते हैं; क्योंकि उसके ढके हुए ज्ञानपर ज्ञानावरणीव कर्मका असर है। जितने अंश पर ज्ञानावरणका असर नहीं है, उतने अंशमें ज्ञान प्रगट होता है। तथा जितने अंश पर ज्ञानावरणका असर होता है उतने अंशमें ज्ञान प्रगट नहीं हो सकता। ज्ञानकी प्रकटता और अप्रकटता क्षयोपशमके द्वारा होती है। क्षयोपशमका लक्षण निम्न प्रकार है—

देशतः सर्वतोघातिस्पर्धकानामिहोदयात्।
क्षायोपशमिकावस्था न चेज्ज्ञानं न लब्धिमत्॥

—पंचाध्यायी, २-३०२

अर्थात्—देशघातिस्पर्धकोंका उदय होनेपर तथा सर्वघाति स्पर्धकोंका उदयक्षय होनेपर क्षयोपशम होता है। ऐसी क्षयोपशम अवस्था यदि न हो तो वह लब्धिरूप ज्ञान भी नहीं हो सकता।

"सर्वघातिस्पर्धकानामुदयक्षयात् तेषामेव सदुपशमात् देशघातिस्पर्धकानामुदये क्षायोपशमिको भावः॥"

—राजवार्तिक, २-५

अर्थात्—सर्वघातिस्पर्धकोंके वर्तमान निषेकोंका बिना फल दिये ही निर्जरा होनेपर, और आगामी निषेकों का सदवस्थारूप उपशम होनेपर (उदीरणाकी अपेक्षा) तथा देशघाति स्पर्धोंका उदय होनेपर क्षयोपशम होता है। यहाँ देशघाति स्पर्धकोंका उदय उस ज्ञानके व्यापार में कोई व्यापार नहीं करता। वह तो अप्रकटित ज्ञानके रोकनेमें ही कारण है। प्रगटित ज्ञान पर किसी तरहका हस्तक्षेप नहीं करता। इससे सिद्ध होता है कि ज्ञान जितने अंशमें प्रकट है, उतने अंशमें वह स्वाभाविक है विकृत या वैभाविक नहीं है। पंचाध्यायीकारने इसी अभिप्रायसे मतिश्रुत ज्ञानको प्रत्यक्षके समान बताया है। यथा—

दूरस्थानर्थानिह समक्षमिव वेत्ति हेलया यस्मात्।
केवलमेव मनः सादवधिमनःपर्ययद्वयं ज्ञानम्॥
अपि किंवाभिनिवोधिकबोधद्वैतं तदादिमं यावत्।
स्वात्मानुभूतिसमये प्रत्यक्षं तत्समक्षमिव नान्यत्॥

—७०५ ७०६

अर्थात्—अवधि और मनपर्ययज्ञान केवल मनकी सहायतासे दूरवर्ती पदार्थोंको लीलामात्र प्रत्यक्ष जान लेते हैं; और तो क्या, मतिज्ञान और श्रुतज्ञान भी स्वात्मानुभूतिके समय प्रत्यक्षज्ञानके समान प्रत्यक्ष हो जाते हैं, अन्य समयमें नहीं। केवल स्वात्मानुभवके समय जो ज्ञान होता है, वह यद्यपि मतिज्ञान है, तो भी वह वैसा ही प्रत्यक्ष है, जैसा कि आत्म मात्र-सापेक्षज्ञान प्रत्यक्ष होता है।

इन प्रमाणोंसे यही ज्ञात होता है कि क्षायोपशमिक ज्ञान स्वतः विकृत नहीं होते, न कर्मोपाधि सहित होते हैं, जिससे वे वैभाविक कहे जा सकें। आचार्योंने जहाँ भी क्षायोपशमिक ज्ञानको वैभाविक—कहा है, वहाँ उन्होंने अपरिपूर्णता अथवा इन्द्रियादिककी सहायता लेनेके

कारण ही वैभाविक कहा है। यह कहीं भी नहीं कहा कि ज्ञानावरण कर्मके उदयसे इसमें विकार आया है।

भावमनको सभी आचार्योंने ज्ञान विशेष स्वीकार किया है। यथा--

"वीर्यान्तरायनोइन्द्रियावरणक्षयोपशमापेक्षया आत्मनो विशुद्धिर्भावमनः॥" —सर्वार्थसिद्धि।

अर्थात्—वीर्यान्तराय और जो इन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशमसे आत्मामें जो विशुद्धि होती है, उसे भावमन कहते हैं।

भावमनः परिणामो भवति तदात्मोपयोगमात्रं वा।
लब्ध्युपयोगविशिष्टं स्वावरणस्य क्षयात्क्रमाच्च स्यात्॥

—पंचाध्यायी, ७१४

अर्थात्—भावमन आत्माका ज्ञानात्मक परिणाम विशेष है। वह अपने प्रतिपक्षी आवरण कर्मके क्षय होनेसे लब्धि और उपयोग सहित क्रमसे होता है।

कर्मोंके क्षयोपशमसे आत्माकी विशुद्धिको लब्धि कहते हैं। तथा पदार्थोंकी ओर उन्मुख होनेको उपयोग कहते हैं। बिना लब्धिरूपज्ञानके उपयोगरूप ज्ञान नहीं हो सकता; परन्तु लब्धिके होने पर उपयोगात्मक ज्ञान हो या न हो, कोई नियम नहीं है। मनसे जो बोध होता है, वह युगपत् नहीं किन्तु क्रमसे होता है मन मूर्त्त और अमूर्त्त दोनों पदार्थोंको जानता है—

तस्मादिदमनवद्यं स्वात्मग्रहणे किलोपयोगि मनः।
किन्तु विशिष्टदशायां भवतीह मनः स्वयं ज्ञानम्॥

—पंचाध्यायी, ७१६

अर्थात्—इसलिये यह बात निर्दोष रीतिसे सिद्ध हो चुकी कि स्वात्माके ग्रहणमें नियमसे मन उपयोगी है। किन्तु यह मन विशेष अवस्थामें (अमूर्त पदार्थ ग्रहण करते समय) स्वयं भी अमूर्तज्ञान रूप हो जाता है इसी विषयको फिर और भी स्पष्ट किया है—

अयमर्थोभावमनोज्ञान विशिष्टं स्वयं हि सदमूर्त्तम्।
तेनात्मदर्शनमिह प्रत्यक्षमतीन्द्रियं कथं न स्यात्॥

—पंचाध्यायी, ७१८

अर्थात्—भावमन ज्ञान विशिष्ट जब होता है, तब वह स्वयं अमूर्त-स्वरूप हो जाता है। उस अमूर्त मन रूपज्ञान द्वारा आत्माका प्रत्यक्ष होता है। इसलिये वह प्रत्यक्ष अतीन्द्रिय क्यों न हो? अर्थात् केवल स्वात्माको जाननेवाला मानसिकज्ञान है, वह अवश्य अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष है।

इन प्रमाणों द्वारा यह सिद्ध हो जाता है कि भावमन ज्ञानस्वरूप आत्मपरिणति है। इसमें ज्ञानावरण-कर्मकृत विभावता नहीं आसकती, इसलिये इसे किसी भी तरह पौद्गलिक नहीं कहा जा सकता।

आक्षेप १—भावमन जीवकी अशुद्ध अवस्थामें उत्पन्न हुई कर्म-निमित्तक परिणति है। अतएव यह जीवकी नहीं कही जासकती। यदि जीवकी कहना भी हो तो विभावरूपसे ही उसे जीवकी कह सकते हैं, स्वभावरूपसे नहीं। वह तो परके निमित्त उत्पन्न हुआ विकारीभाव है।

समाधान—यह बताया जा चुका है कि ज्ञान, ज्ञानावरणीय कर्मके उदयसे नहीं होता, किन्तु क्षयोपशमसे होता है। इसमें ज्ञानावरणीय कर्मका उदय कारण नहीं, किन्तु अनुदय ही कारण है। उसी प्रकार भावमन भी ज्ञान विशेष है जो अपने प्रतिपक्षी कर्मके अनुदयसे होताहै। इसलिये इसे परके निमित्तसे उत्पन्न हुआ विकारी भाव कहना योग्य नहीं है।

आक्षेप २—संसारी आत्माको जब कथंचित् मूर्त्तिक स्वीकार किया गया है तो भावमनको ज्ञानस्वरूप मानते हुए भी कथंचित् पौद्गलिक मान लेनेमें कोई आपत्ति नहीं होना चाहिये।

समाधान—संसारी आत्मा कर्मसे आवृत रहता है, इसलिये उसे मूर्तिक स्वीकार किया गया है। जब आत्मा कर्मसे आवृत नहीं रहता, उस समय उसे अमूर्तिक ही कहा जाता है। भावमन (ज्ञानविशेष) पर उसके प्रतिपक्षी कर्मका आवरण नहीं है, किन्तु अपने प्रतिपक्षी कर्मका अनुदय ही है। अतः भावमनको पौद्‌गलिक नहीं माना जासकता।

आक्षेप ३—यदि भावमन सर्वथा जीवको मान लिया जावे तो आत्माकी शुद्ध अवस्थामें भी वह उपलब्ध होना चाहिये।

समाधान—भावमन ज्ञानस्वरूप है। यह नोइन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशमसे होता है, इसलिये इसकी भावमन संज्ञा है। शुद्ध अवस्थामें ज्ञान क्षायिक होता है, इसलिये भावमन संज्ञा नहीं होती। ज्ञानसामान्यकी दृष्टिसे दोनों समान हैं। क्षायोपशमिक अवस्थामें जो ज्ञान होता है,वही ज्ञान क्षायिक अवस्थामें भी होता है। अन्तर केवल पूर्णता और अपूर्णताका होता है। जिन पदार्थोंको हम मति-श्रुतज्ञानके द्वारा आंशिक जानते हैं, केवली उन पदार्थोंको सिर्फ आत्माके द्वारा पूर्ण रूपसे जानते हैं। वह आंशिकज्ञान भी उसी पूर्णज्ञानमें सम्मिलित ही है उसकी सत्ता नष्ट नहीं होती। क्षयोपशममें जिन पदार्थोंका ज्ञान रहता है, वह ज्ञान क्षायिक अवस्थामें भी रहता है। ज्ञानका अभाव नहीं होता, वह क्षायिक रूपमें बदल जाता है, उसी प्रकार शुद्ध अवस्थामें यद्यपि भावमन संज्ञा नहीं रहती फिर भी उस ज्ञानका अभाव नहीं होता इसलिये शुद्ध अवस्थामें भी भावमन उपलब्ध होना चाहिये यह प्रश्न ही नहीं उठता। अतः भावमनको पौद्‌गलिक मानना ठीक नहीं है। इस विषयको यहाँ अधिक विवादमें न डालते हुए इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि भावमनको सभी विद्वान् ज्ञानात्मक स्वीकार करते हैं। तथा संसारमें ऐसा कोई भी प्राणी नहीं जो कभी भी ज्ञानशून्य अवस्थामें रहता हो। सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवके भी उत्पन्न होनेके प्रथम समयमें स्पर्शन-इन्द्रिय जन्य मतिज्ञानपूर्वक लब्ध्यक्षररूप श्रुतज्ञान होता है। अर्थात् इतना क्षयोपशम सभी संसारी प्राणियोंके होता है, इस क्षयोपशमका कभी विनाश नहीं होता। इस प्रकार इन प्रमाणोंके द्वारा यह सिद्ध होजाता है कि भावमन सभी संसारी प्राणियोंके होता है। तथा भावमन भी श्रुतज्ञानका आधार माना जाता है।

अतः जैनाचार्योंने सभी संसारी प्राणियोंके मति और श्रुतज्ञान माने हैं, इसमें विरोध नहीं आता।

ब्रह्मचर्य

"संयमी और स्वच्छन्दके तथा भोगी और त्यागीके जीवनमें भेद अवश्य होना चाहिये। साम्य तो सिर्फ ऊपर ही ऊपर रहता है। भेद स्पष्ट रूपसे दिखाई देना चाहिये। आँखसे दोनों काम लेते हैं; परन्तु ब्रह्मचारी देव-दर्शन करता है, भोगी नाटक सिनेमामें लीन रहता है। कानका उपयोग दोनों करते हैं; परन्तु एक ईश्वर-भजन सुनता है और दूसरा विलासमय गीतोंको सुननेमें आनन्द मनाता है। जागरण दोनों करते हैं; परन्तु एक तो जागृत अवस्थामें अपने हृदय-मन्दिरमें विराजित रामकी आराधना करता है, दूसरा नाच रंगकी धुनमें सोनेकी याद भूल जाता है। भोजन दोनों करते हैं; परन्तु एक शरीर रूपी तीर्थ-क्षेत्रकी रक्षा-मात्रके लिये कोठेमें अन्न डाल लेता है और दूसरा स्वादके लिये देहमें अनेक चीज़ोंको भर कर उसे दुर्गन्धित बनाता है।" —महात्मा गांधी

अहिंसाकी समझ

[ले०—श्री किशोरलालजी मशरूवाला]

एक बार मेरे एक मित्र अपनी पत्नी और लड़कोंके साथ नदी पर गये थे । साथमें मैं और दूसरे भी मित्र थे। मुझे और मित्र-पत्नीको नहाना नहीं था, इसलिये हम किनारे पर बैठकर देखते रहे। दूसरे भी दो-चार देखने वाले थे । और सब नदीमें उतरे । मित्रके लड़कोंमेंसे एक तैरना नहीं जानता था, और उस दिन कुछ सीखनेकी वह कोशिश करता था । लड़का १६-१७ वर्षका था, और मेरे मित्र उसे ध्यान देकर सबक़ दे रहे थे । अगर कुछ गहरे पानीमें ले जाते थे, तो ठीक सम्हाल लेते थे। दूसरे सब गहरे पानीमें जाकर नदीमें तैरनेका मजा लूट रहे थे ।

थोड़ी देर तक लड़केको अभ्यास कराके मेरे मित्र भी उसे कम पानीमें छोड़कर दूसरोंके साथ होलिये। लड़का अकेला अपने आप थोड़ा थोड़ा तैरनेकी कोशिस कर रहा था। घाटपरके देखने वालोंका ध्यान नदीमें मजा करने वालोंकी ओर लगा हुआ था । लेकिन, इसमें दो आँखोंका अपवाद था। ये दो आँखें तो उस लड़के पर ही लगी हुई थीं। 'देखो' वहाँ पानी ज्यादा है', वहाँ जरा सम्हलो', 'अरे' इस बाज़ आजाओ ना !'— 'कैसा बेवकूफ़ है ! कहा कि उस बाजू नहीं जाना चाहिये, फिर भी उसी बाजू चला जाता है !'— इस तरहकी सूचनाओंकी धारा माताजीके मुखसे निकला करती थी। लड़का कुछ घबराता नहीं था। उसे यह ग़रूर भी था कि अब तो मैं जवान हूँ, बच्चा नहीं हूँ, मैं अपने आपको अच्छी तरह सम्हाल सकता हूँ , और माता फ़िजूल ही चिंता करती है और टोका करती है। लेकिन, माता लड़केकी नज़रसे थोड़े ही देखती थी ? उसका पति वहाँ तैरता था। बड़ा लड़का भी तैरता था, वे मध्य-प्रवाहमें थे। वास्तवमें यदि कुछ जोखिम था तो उन्हें था। पर, वह जानती थी कि वे दोनों तैरनेमें कुशल हैं, यह लड़का नहीं है । वह सोलह सालका भले ही हुआ हो, उसकी दृष्टिमें इस पानीमें वह साल भरका बच्चा मालूम होता था। इसलिये जब दूसरे देखने वालोंका ध्यान उन

तैरनेवालोंके मजे पर लगा था, तब माताका ध्यान इस लड़केकी हलचल पर ही जमा हुआ था।

दूसरे देखने वालों और इस देवीमें क्या भेद था? क्यों उसका ध्यान इस लड़केके नीरस प्रयत्नों पर ही एकाग्र था ? दूसरोंकी तरह वह क्यों दूरके तैरनेवालोंकी हिम्मतको नहीं देखती थी ?

अगर कोई देवी इसे पढ़ेगी तो वह कहेगी, यह क्या सवाल है ? यह तो बिल्कुल स्वाभाविक है ! उसकी जगह हम और हमारा लड़का वहाँ होता, तो हमारी दशा भी वैसी ही होती हम तो समझती ही नहीं कि इसमें सवाल उठाने योग्य कौनसी चीज है ?

लेकिन, सवाल तो यों उठता है कि तब सब देखनेवालोंकी मनोदशा वैसी क्यों नहीं थी ?— जवाब यह है कि दूसरे देखने वाले सिर्फ आँखोंसे देखते थे, हृदयसे—और माताके हृदयसे—नहीं देखते थे । इसलिये आँखोंको जो मजेदार मालूम होता था, उस ओर उनका मन भी खिंचा जाता था । माताकी दशा अलग थी। उसकी आँखें स्वतंत्र नहीं थीं । वे उसके हृदयसे बँधी हुई थीं और वह हृदय इस समय अपने नौसिखुए लड़के पर प्रेमसे चिपका हुआ था।

अगर पाठक माता और दूसरे दर्शकोंके हृदयके इस भेदको समझ सकें, तो वे अहिंसाको समझ सकेंगे। सब प्राणियोंकी ओर उस हृदयसे देखना, जिस हृदयसे वह माता अपने लड़केकी ओर देखती थी, इसीमें अहिंसाकी समझ है।

(हिन्दुस्तान गान्धी अङ्क १९३८)

जय वीर

[लेखक श्री 'भगवत्' जैन]

(१)

'त्राहि-त्राहि'—ध्वनि विश्व-मण्डलमें व्यापक थी—
नभ काँपता था दीन-हीनोंकी पुकारोंसे !
छलियोंका माया-जाल सत्यताके रूपमें था—
व्यग्र सदाचार था घृणित कुविचारोंसे !!
क्षीण हो रही थी आत्म-शक्ति क्षण-प्रति-क्षण—
पाशविकताके तीक्ष्ण घातक-प्रहारोंसे !
दुखी था, विकल था, विवश था अतीव यों कि—
वंचित था प्राणी जन्म-सिद्ध अधिकारोंसे !!

(२)

हँसता-सा 'पाप' पूज्य-आसन विराजता था—
भरता था—पुण्य—पड़ा-पड़ा सिसकारियाँ !
धर्म-सी पवित्रता 'अधर्म' से कलंकितथी—
मौज मार रही थीं कुरूप-बदकारियाँ !!
नारकीयता थी द्रुत-गतिसे पनप रही—
सूखी-सी पड़ी थीं भव्यतर दया-क्यारियाँ !
पशु-बल रहता अट्टहासमें निमग्न, पर—
चलती थीं नित्य दीन-गलों पै कटारियाँ !!

(३)

हिंसाकी लपट होम-कुण्डमें धधकती थी—
ग्राहक बना था एक दूसरेकी जानका !
धर्मकी 'दुहाई' में 'नृशंसता' विराजती थी—
घोटा जा रहा था गला 'आत्म-अभिमान' का !!
ज्वाला जलतीमें मूक-पशु होम देते जोकि—
पाते वह निर्दयी थे पद पुण्यवान का !
सत्यको प्रकट करना भी था दुरूह कार्य—
दीख पड़ता था दृश्य विश्व-अवसानका !!

(४)

राक्षसी-प्रवृतीने हृदयको बनाया बज्र—
लूटा बुद्धि-बल सारा अन्धानुकरणने !
नर-मेघ-यज्ञमें भी 'दुख'का न भान हुआ—
स्वर्ग-सुख बतलाया लालसा-किरणने !!
प्रेम-प्रतिभाकी रम्य, नेत्र-प्रिये वाटिकाएँ—
करडालीं ऊजड़ कठोर-आक्रमणने !
'वीरता' को मोल लिया 'भीरुता' की दृढ़ताने—
मानवीयताको लिया निंद्य-आचरणने !!

(५)

अत्याचार अनाचार दुराचार नाचते थे—
विश्वकी महानताके ऊपर प्रहार था !
दुखसे दुखित आर्त्तनाद उठते थे नित्य—
'पाप' का असह्य धरणी पै एक भार था !!
क्षीण थीं शुभ आशाएँ प्रसस्त था पतन-मार्ग—
मृत 'आत्म-तोष' था सजीव 'हाहाकार' था !
ऐसे ही समयके कठोर बज्र-प्राँगणमें—
हुआ—दयामय-प्रभु वीर-अवतार था !!

(६)

पतझड़ हुआ अन्त आगया बसन्त मानों—
सूखी-सरिताओंमें सलिल लहराया हो !
मृत्यु-सी 'अरुचि'में 'सुरुचि-पूर्ण-' जीवन हो—
याकि 'रुग्णता' में 'स्वस्थ-जीवन' समाया हो !!
मिला हो दरिद्रको कुवेरका समग्र-धन—
याकि भक्त-पूजकने पूज्य-पद पाया हो !
दानवी निराशा-सी निशाके श्याम-अंचलमें—
आशाका दिवाकर प्रभात बन आया हो !!

(७)
उषाने सजाया थाल रवि हुआ लाल-लाल—
मुँह खुल गए हर्ष प्रेरित सुमनके !
गाने लगे गीत व्योम-गामी मद-मत्त हुए—
जान कर चिन्ह मानों प्रभु-आगमनके !!
ताल देने लगे 'पत्र' हर्षसे विभोर हुए—
साथी बनगए शक्ति-शाली समीरणके !
सुखद समय बना शान्तिसे प्रपूर्ण तब—
जन्म ले रहे थे जब भूषण-भुवनके !!

(८)
नर्क-धाममें भी कुछ-देरको विषाद मिटा—
नर-लोक, सुर-लोक फिर क्या कथनमें ?
मंगल-प्रभातके प्रमोदमें निमग्न थी कि—
अनुभव होने लगी शल्य एक मनमें !!—
दीखे जब एक-साथ सूर्य दो वसुन्धराको—
पड़ गई तभी वह भारी उलझनमें !
त्रिसलाके अंकमें प्रकाश-पुञ्ज सूरज है—
याकि सूर्य-बिम्ब दिश प्राचीके गगनमें ?

(६)
दोनों हैं प्रकाश-पुञ्ज दोनों हैं परोपकारी—
दोनों भरते हैं रस प्राणोंमें उमंगका !
दोनोंका है ध्येय एक साधन भी एक ही है—
दोनोंका प्रचार-कार्य एक ही प्रसंगका !!
अन्तर है इतना कि एक तो 'निरन्तर' है—
एक, एक-दिन ही में होता तीन ढंग का !
एक हरता है सिर्फ़ अन्धकार बाहरका—
एक हर देता है अँधेरा-अन्तरंग का !!

(१०)
विश्वकी विभूति वीर-प्रभुने अहिंसा-मंत्र—
फूंक कर थाम लिया विश्व हल-चलसे !!
जागरूक बनके ज़मानेको जगाया और—
जगको बचाया कष्टकारी 'पाप-मलसे !!
मानवीयता का बतला दिया रहस्य सारा—
दिये सद्-उपदेश प्रेमसे, कुशलसे !
काम-क्रोध-मोहसे अजीत बन गए जब—
जीत लिया सारा ही जहान आत्म-बलसे !!

(११)
अत्याचारियोंके अत्याचार सब धूल हुए—
हिंसा दुराचारिणीकी संघ-शक्ति विघटी !
चन्द्रिका-सी शांन्ति जागरित हुई जगतीमें—
हाहाकार-ज्वाला भीरुताके साथ सिमटी !!
हर्षसे विभोर उठा—'पुण्य' लिये पौरुषको—
'पाप'की समस्त-शक्ति देखते उसे हटी !
एक नव जीवन-सा विश्वमें दिखाने लगा—
जैसे ही दयाकी नव्य, भव्य-कान्ति प्रकटी !!

(१२)
फैल उठी विश्वमें भ्रातृत्व प्रखर-ज्योति—
पात्र बन गया 'द्रोह' लोक-उपहासका !
जीवनका ध्येय, ज्ञान-तत्वका पढ़ाया पाठ—
उपदेश दिया कर्मवीरोंको प्रयासका !!
आत्मकी समानताका लोकोत्तर-ज्ञान द्वारा—
मार्ग बतलाया पूर्ण आत्मके विकाशका !
कहना यथेष्ट यही, सत्य-'वीर-शासन' ने—
पृष्ठ ही पलट दिया विश्व-इतिहास का !!

卐 卐 卐

जैन-दृष्टिसे प्राचीन सिन्ध

[लेखक—मुनि श्री विद्याविजयजी]

जैनधर्मके प्रचारका मुख्य आधार जैनसाधुओंके ऊपर निर्भर है। सदा पैदल भ्रमण करना, सब तरहकी सवारीसे मुक्त रहना, सांसारिक प्रलोभनोंसे दूर रहना, रूखा सूखा जो कुछ मिला उससे संतुष्ट रहना, स्त्रियोंके संसर्गसे अलग रहना, इत्यादि अनेक तरहके कड़े नियम होने पर भी, प्राचीन समयसे लेकर आज तक जैनसाधुओंने विकटसे विकट और भंयकरसे भंयकर अटवियाँ, पर्वत, नदी, नाले और रेगिस्तानोंका उल्लंघन कर दूर दूरके देशों तक बिहार किया है और करते हैं। सिन्ध देशमें भी किसी समय जैनधर्मकी पताका पूर्ण जोशमें फहरा रही थी। संसार वन्द्य जैनाचार्योंसे यह भूमि पावन बनती थी। सिन्ध देशमें किसी समय ५०० जैन मंदिर थे, ऐसा भी उल्लेख मिलता है। मुसलमानोंके राजत्व कालमें भी इस देशमें जैन साधुओंने आकर राजाओं पर अपने चारित्रकी छाप डाली थी। जैनधर्मके पालने वाले श्रीमन्तोंने जैनधर्मकी प्रभावनाके अनेक कार्य किये थे, ऐसा जैन-इतिहाससे साबित होता है।

शायद ही किसीको मालूम होगा कि आज गोडी पार्श्वनाथके नामसे जो प्रसिद्धि हो रही है, उस गोडीजीका मुख्य स्थान सिन्धमें ही था, और है। नगरपारकरसे लगभग ५० मील दूर और गढ़डा रोडसे लगभग ७०-८० मील दूर, गौडी मंदिर नामका एक गाँव है। इस समय वहाँ सिर्फ भीलोंकी ही बस्ती है। शिखरबन्द गोडीजीका मंदिर है। मूर्ति आदि कुछ नहीं है। मंदिर जीर्ण शीर्ण हो गया है। सरकारने उसकी मरम्मत कराई है। आजसे बीस वर्ष पहले नगर ठट्टाके असिस्टेण्ट इन्जीनीयर श्रीयुत फतेहचंदजी बी इदनाणी वहाँ जाकर खुद देख आए थे। और सरकारी हुक्मसे उसमें क्या ठीक-ठाक करना जरूरी है, उसका इस्टीमेट तैयार कर आये थे। मंदिरके पास एक भूमि-गृह है। उसमें उतरनेकी उन्होंने कोशिसकी थी, लेकिन भीलोंके भय दिखलानेसे वे रुक गए। गोडीजीके मंदिरके कोट आदिके पत्थर उमरकोटमें एक सरकारी बंगलेके वरण्डे आदिमें लगाये गये हैं।

सत्तरहवीं शताब्दिके बने हुए एक स्तवनमें सूरतसे एक संघ निकलनेका वर्णन है। संघ अहमदाबाद, आबू, संखेश्वर, और राधनपुर होकर सोई, जो कि सिन्धमें प्रवेश करनेके लिये गुजरातके नाके पर है— वहाँसे रण उत्तर कर सिन्धमें जा रहा था। लेकिन वहाँसे आगे बढना दुष्कर मालूम होने से वहीं ठहर कर उसने गोडीजीकी भावपूर्वक स्तुति की। गोडीजी महाराजने संघको दर्शन दिया। संघ बड़ा प्रसन्न हुआ। चार दिन

तक वहाँ स्थिरता करके—उत्सव करके पीलुडीके झाडके नीचे गोडीजीके पगले स्थापन करके, संघ वापिस राधनपुर लौट आया।

इस स्तवनकी हस्तलिखित प्रति शान्तमूर्ति मुनिश्री जयचन्दविजयजी महाराजके पास है।

इसके अलावा प्राचीन तीर्थ मालाओंसे भी गोडीजीका मुख्यस्थान सिन्ध होना मालूम पड़ता है। आज तो गोडी पार्श्वनाथकी मूर्ति प्राय: कई मंदिरोंमें देखनेमें आती है।

आजका उमरकोट एक वक़्त सिन्धमें जैनोंका मुख्य स्थान था। आज भी वहाँ एक मंदिर और जैनोंके क़रीब पन्द्रह घर मौजूद हैं।

मीरपुर खासके नज़दीक 'काहु जो डेरो' का स्थान कुछ वर्षों पहले खोदनेमें आया था, उसमेंसे बहुत प्राचीन मूर्तियाँ निकली हैं। उनमें कुछ जैन मूर्तियाँ होनेकी भी बात सुनी है।

मारवाड़की हुकूमतमें गिना जाने वाला जूना बाडमेर और नया बाडमेर ये भी एक समय जैनधर्मकी जाहोजलालीवाले स्थान थे; ऐसा वहाँके मंदिर और प्राचीन शिलालेख प्रत्यक्ष दिखला रहे हैं।

इसके अलावा दूसरे ऐसे अनेक स्थान हैं कि जहाँसे जैनधर्मके प्राचीन अवशेष मिलते हैं।

जिस देशमें जैनधर्मके प्राचीन स्थान मिलते हों, जिस देशमें मंदिर और मूर्तियोंके प्राचीन अवशेष दृष्टिगोचर होते हों, उस देशमें किसी समय जैनसाधुओंका विहार बड़े परिमाणमें हुआ हो यह स्वाभाविक है। और जहाँ जहाँ जैनसाधु विचरे हों, वहाँ वहाँ कुछ न कुछ धार्मिक प्रवृत्तियाँ हुई हों, यह भी निःसंदेह है।

जैनाचार्योंकी लिखी हुई प्राचीन पट्टावलियों और प्रशस्तियोंमें ऐसे सैंकड़ों प्रमाण मिलते हैं कि जिनसे जैनाचार्योंके सिन्धमें विचरनेके उल्लेख पाये जाते हैं। प्राचीनसे प्राचीन प्रमाण वि. सं. पूर्व प्राय: ४०० के समयका है। जिस समय रत्नप्रभसूरिके पट्टधर यक्षदेवसूरि सिन्धमें आये थे और सिन्धमें आते हुए उनको भयंकर कष्टोंका मुक़ाबला करना पड़ा था। इस यक्षदेव सूरिके उपदेशसे कक्क नामके एक राजपुत्रने जैनमंदिर निर्माण किये थे और बादको दीक्षा भी ली थी।

कक्कसूरिके समयमें मरुकोटके किलोंकी खुदाई करते हुए नेमिनाथ भगवानकी मूर्ति निकली थी। उस वक्त मरुकोटका मांडलिक राजा काकू था। उसने श्रावकोंको बुलाकर मूर्ति दे दी थी। श्रावकोंने एक सुन्दर मंदिर बनवाया और कक्कसूरिके हाथसे उसकी प्रतिष्ठा करवाई।

विक्रम राजाके गद्दी पर आनेके पहलेकी एक बात इस प्रकार है—

मालवेकी राजधानी उज्जयनीका राजा गर्दभिल्ल महाअत्याचारी था। जैन साध्वी सरस्वतीको अपने महलमें उठा ले गया। जैन-संघने गर्दभिल्लको बहुत समझाया, लेकिन वह नहीं माना। उस वक्तके महान् आचार्य कालकाचार्यने भी बहुत कोशिश की, लेकिन वह गर्दभिल्ल न समझा। आख़िरमें कालकाचार्यने प्रतिज्ञा की कि—'राजन् ? गद्दीसे उखेड़ न डालूँ, तो जैनसाधु नहीं।' त्यागी-जैनाचार्य प्रजाके पितृतुल्य गिने जानेवाले राजाका यह अत्याचार सहन नहीं कर सके। राजाकी पाशविकतामें प्रजाकी बहन-बेटियोंकी पवित्रता कलङ्कित होती देखकर कालकाचार्यका खून उबल

आया। वे लाचार उज्जयनी छोड़ते हैं, और अनेक परिषहोंको सहते हुए सिन्धमें आते हैं। सिन्धु नदीको पारकर वे'साखी' राजाओंसे मिलते हैं। वे 'साखी' वे कहे जाते हैं, जो 'सिथिअन' के नामसे प्रसिद्ध हैं। सिकन्दरके बाद 'सिथिअन' लोगोंने सिन्ध जीता था। कालकाचार्य भिन्न-भिन्न स्थानोंमें कुल ९६ 'साखी' राजाओंसे मिलते हैं, और उनको मालवा तथा दूसरे प्रान्त दिलानेकी शर्त पर सौराष्ट्रमें होकर मालवेमें ले जाते हैं। गर्दभिल्लके साथ युद्ध होता है। गर्दभिल्लको गद्दीसे उतार दिया जाता है। और उन 'शक' राजाओंको मालवा और दूसरे दूसरे प्रान्त कालकाचार्य बाँट देते हैं। और स्वयं तो साधुके साधु ही रहते हैं।

इस तरह कालकाचार्यका सिन्ध देशमें आना यह पुरानी घटना है और जैनइतिहासमें एक अनोखी वस्तु गिनी जाती है।

वि० सं० ६८४ में आचार्य देवगुप्तसूरिने सिन्ध प्रान्तके राव गोसलको उपदेश देकर जैन बनाया था। इसकी परंपरा विक्रमकी चौदहवीं शताब्दि तक सिन्धमें थी। आखिर उसकी पेढीमें 'लणा-शाह' नामका गृहस्थ हुआ, जो मारवाड़में चला गया और उसका कुल 'लुणावत' के नामसे प्रसिद्ध हुआ।

वि०सं० ११३०के आसपास मरुकोटमें जो कि अभी'मरोट' के नामसे प्रसिद्ध है, जिनवल्लभसूरिने एक मंदिरकी प्रतिष्ठा की थी, और उपदेशमालाकी एक गाथा पर ६ महीने तक व्याख्यान दिया था। इस शताब्दीमें जिनभद्र उपाध्यायके शिष्य-वाचक पद्मप्रभ भी त्रिपुरादेवीकी आराधना करनेके लिये सिन्धमें आये थे। वे डंभरेलपुरमें गये थे। जसा नामके एक दानी श्रावकने बड़ा उत्सव किया था। यहाँके श्रावकोंने एक मंदिर बनवाया और उपाध्यायजीने उसकी प्रतिष्ठा की।

वि० सं० १२२७में इस मरुकोटमें जिन-पति सूरिने तीन आदमियोंको दीक्षा दी थी। 'विज्ञप्ति त्रिवेणी' में मरुकोटको 'महातीर्थ' के नामसे संबोधित किया है।

वि० सं० १२८० में जिनचन्द्रसूरिने उच्चनगर-में कुछ स्त्री-पुरुषोंको दीक्षा दी थी।

वि० सं० १२८२ में आचार्य सिद्धसूरिने उच्च-नगरमें शाह लाधाके बनवाये हुए मंदिरकी प्रतिष्ठा की थी। उस समय वहाँ ७०० घर जैनोंके थे।

वि० सं० १२९३ में आचार्य कक्कसूरिका चतुर्मास मरुकोट (मारोट) में हुआ था। 'बोर-डिया' गोत्रके शाह काना और मानाने सात लाख-का द्रव्य व्यय करके 'सिद्धाचलजी' का संघ निकाला था।

वि० सं०१३०९ में सेठ विमलचन्द्रने जिनेश्वर-सूरिके पास नगरकोटमें प्रतिष्ठा करवाई थी।

वि० सं०१३१७में आचार्य देवगुप्तसूरि सिन्धमें आये और रेणुकोटमें चतुर्मास किया। ३०० घर नये जैनोंके बनाये और महावीरस्वामीके मंदिरकी प्रतिष्ठा की।

वि० सं० १३४१ में आचार्य सिद्धिसूरिके आ-ज्ञाकारी जयकलश उपाध्यायने सिन्धमें विहार करके बहुतसे शुभ कार्य कराये थे।

वि० सं० १३७४में देवराजपुरमें राजेन्द्र चन्द्रा-चार्यका 'आचार्यपद' और बहुतोंकी दीक्षा हुई थी।

वि० सं० १३८४में जिनकुशलसूरिने क्यासपुरमें और रेणुका कोटमें प्रतिष्ठा की थी।

वि० सं० १३८९ में जिनकुशलसूरि सिन्धके देराउल नगरमें स्वर्गवासी हुए थे। और उनके शिष्य जिनमाणक्यसूरि गुरुकी समाधिके दर्शन करने गये थे। वहाँसे जेसलमेर जाते हुए पानीके अभावसे वे स्वर्गवासी हुए थे।

वि०सं०१४६० में भुवनरत्नाचार्यने द्रोहद्द्रामें चौमासा किया।

वि० सं० १४८३ में जयसागर उपाध्यायने मम्मर वाहनमें चौमासा किया था।

वि. सं. १४८३ में फरीदपुरसे नगरकोटकी यात्रा करनेके लिये एक संघ निकला था।

वि.सं.१४८३में जयसागर उपाध्याय माबारख पुरमें आयेथे। उस वक्त यहाँ श्रावकोंके १०० घर थे।

वि.सं.१४८४ में जयसागर उपाध्यायने मलीक वाहनपुर में चौमासा किया था।

वि. सं. १४८४ में जयसागर उपाध्यायने कांगड़ामें आदिनाथ भगवान्‌की यात्रा की थी।

सोलहवीं शताब्दिमें जिनचन्द्र-सूरिके शिष्य जिनसमुद्रसूरिने सिन्धमें 'पञ्चनदकी' साधना की थी।

वि. सं. १६५२ में जिनचन्द्रसूरि पंचनदको साध करके देराउल नगर गये थे। जहाँ जिन-कुशलसूरिके पगलेके दर्शन किये थे।

वि. सं १६६७ में समयसुन्दरसूरिजीने उच्च-नगरमें 'श्रावक-आराधना' नामके ग्रन्थकी रचना की थी

इसके अतिरिक्त मुलतान, खोजावाहन, परशु-रोड कोट, तरपाटक, मलीक वाहनपुर गोपाचल-पुर कोटीमग्राम, हाजीखां डेरा, इस्माइल-खाँ डेरा, मेहरानगर, खारबारा, दुनियापुर, सक्कीनगर, नया-नगर, नवरंगखान, लोदीपुर आदि अनेक ऐसे गाँव हैं, जहाँ अनेक जैन घटनाओंके होनेके उल्लेख, पट्टावलियों और दूसरे ग्रन्थोंमें उपलब्ध होते हैं।

इस परसे यह स्पष्ट मालूम होता है कि किसी समय सिन्धमें बहुत बड़ी तादादमें साधु विचरते थे। मंदिर बहुत थे। जैनधर्मकी प्रभावनाके अनेक कार्य होते थे। दीक्षाएँ और प्रतिष्ठाएँ होती थीं।

ऊपरके संवतोंसे हम देख चुके हैं कि वि. सं. पूर्व ४०० से विक्रमकी सतरहवीं शताब्दि तक तक तो जैनसाधुओंका विहार और जैन-घटनाएँ बराबर सिन्धमें होती रही हैं।

इसी प्रकार सतरहवीं शताब्दिके बाद भी साधु सिन्धमें विचरे हों, इस सम्बन्धमें जब तक कुछ प्रमाण न मिलें तब तक हम यह मान सकते हैं कि अखिरके लगभग ३०० वर्षोंसे साधुओंका भ्रमण सिन्धमें बन्द रहा होना चाहिये।

एक स्पष्टीकरण करना आवश्यक है। उपर्युक्त जिन-जिन गाँवोंमें जैनसाधुओंके आनेका और जैन घटनाओंके घटनेका उल्लेख किया गया है वे सभी गाँव अभी सिन्धमें हैं, ऐसा नहीं है। उनमें, से बहुतसे गाँवोंका तो अभी पता भी नहीं है। कुछ गाँव भावलपुर स्टेटमें है, कुछ पंजाबमें है कुछ राजपूतानेमें है, और कुछ तो ठेठ सरहद्दके ऊपर हैं। ऐसा होनेका एक ही कारण है और वह यह, कि सिन्धकी हद अभी जितनी माननेमें आती है उतनी पहले नहीं थी। पंजाब, अफगा-निस्तान, वायव्य सरहद, बलुचिस्तान, भावलपुर, राजपूताना, और जेसलमेर, इनका बड़ा भाग सिन्धके ही अन्तर्गत था, और इसीलिये उन सब गाँवोंका समावेश सिन्धमें किया है।

इन सब बातोंको देखते हुए यह कहना सरा-सर गलत मालूम होता है कि ढाई हजार वर्षमें कोई जैनसाधु सिन्धमें नहीं आये हैं। बेशक नैरूनकोट, जो कि अभीका हैद्राबाद है वहाँ था। एक समयका दस-बीस मच्छीमारोंका छोटासा गाँव घडबोबंदर जो कि वर्तमानमें कराचीके नामसे मशहूर है, वहाँ किसीके आनेका प्रमाण नहीं मिलता है। बाकी सतरहवीं शताब्दि तक सिन्ध जैनसाधुओंके बिहारसे पुनीत था। यह बात निश्चित है।

—※—

अहिंसा परमोधर्मः

लेखक—
श्री० भगवत् जैन

जब नारकीयता नष्ट हो जाती है, मनोबल जागरित हो, वीरत्वकी वाँछनीय-सत्क्रान्तिका सन्देश सुनानेके लिए अग्रसर हो जाता है, अनुदारता अवसान ग्रहण कर लेती है और भ्रातृत्व समग्र संसारमें व्यापक रूपसे फैल जाता है, तभी मानवीय-कोमलता पुकार उठती है—'अहिंसा परमोधर्मः!'

[१]

प्रतिद्वन्दी 'महाबल' को पराजितकर महाराज—सुधर्म अपनी राजधानी—पंचाल देशान्तर्गत वरशक्ती-नगरी—को लौटे। जैसे ही दुर्ग-द्वारमें प्रवेश करने लगे, कि अचानक वह विशाल दुर्ग-द्वार ढह पड़ा! महाराज भीतर न जा सके! लौट आए! प्राकारके बाहर ही शिविर खड़े किए गए। उस दिन वहीं विश्राम निश्चित ठहरा।

दूसरे दिन फिर नगर-प्रवेशके लिए महाराजकी सवारी चली। दुर्ग-द्वारकी आज आवश्यक-मरम्मत हो चुकी थी! स्वप्नमें भी कोई यह सम्भावना नहीं कर सकता था, कि आज भी कोई घटना घट सकेगी! मृतक-प्राय जीर्णताके भीतर संजीवनी-नवीनता स्थान पा चुकी थी—इसलिये!

लेकिन तब लोगोंके आश्चर्यका ठिकाना न रहा, जब उन्होंने प्रत्यक्ष देखा कि जैसे ही महाराज दुर्ग-द्वारके समीप पहुँचे कि वह एक दम टूट पड़ा! एक-क्षण पहिले जिसके मज़बूत होनेकी चर्चा थी, वही सदियों पहिलेकी जीर्ण-तर इमारतकी तरह—खण्डहर बन-गया! स्वयं महाराज भी इस आकस्मिक—घटनासे प्रभावित हुए बग़ैर न रह सके! थोड़ा खीझे भी, झल्लाये भी! पर यह सोच—'बात किसीके हाथकी नहीं, ग़रीब-कारीगरोंको दोषी ठहराना अन्याय है!' ...चुप हो रहे!

आज्ञा हुई—'चतुर-से-चतुर शिल्पकारों द्वारा आमूलदुर्ग-द्वार बनवाया जाए. मोटे मोटे पत्थर, लोहेकी सलाखें और क़ीमती-मसालोंसे, या जिस प्रकार सम्भव हो उसकी दृढ़तापर—मज़बूतीपर—ध्यान रखा जाए!'...

आज्ञा पालनमें क्या देर?—पूर्ण-सतर्कताके संरक्षकत्वमें कार्य प्रारम्भ हुआ और थोड़े ही समयमें, अगणित-श्रमिकोंके अविश्रान्त-परिश्रमसे, उसे बना कर तैय्यार करदिया! ऐसा—जिसकी मज़बूती पर विश्वास किया जा सके, जिसकी भव्यता पर दृष्टि चुम्बककी तरह—अभिन्न बन सके!

तीसरी बार स-दल-बल महाराज अपने निवास-

स्थानके लिए चले ! पिछली दोनों-घटनाएँ आज स्वप्न-अस्तित्वसे अधिक महत्त्वशालिनी न थीं ! वह इस लिए कि आज वैसी अमंगल-कल्पना करना जहाँ नैतिक-कायरता थी, वहाँ इस-सुखद-नवीनताके प्रति अविश्वसनीय भावना भी !

उषाकी सुनहरी-किरणोंसे मुदित होनेवाले कोकनद-की भाँति महाराजका मुख आज प्रफुल्लित है ! उनके हृदयमें एक विचित्र-प्रकारकी आनन्द-मन्दाकिनी हिलोरें ले रही है ! स्वदेश-प्रेम, स्वपरिवार-मिलन, और प्रिय- आवास सभी हृदयमें एक सुखद-आन्दोलन मचा रहे हैं ! प्रति-क्षण वृद्धिगत होने वाली उत्सुकता---आकर्षण—है उसकी सहकारी !

पर······? —

यह कैसी दुर्घटना ? —कैसा इन्द्र-जाल ? ··· आश्चर्य-जनक !

नज़दीक ही था कि महाराज की सवारी दुर्ग-द्वारमें प्रवेश करती, कि उसी समय वह ध्रुव, विशाल, वज्र-तुल्य प्रवेश-मार्ग धराशायी हो जाता है ! धूलके गुब्बारे उड़ते हैं, मोटे-मोटे पत्थर—पतझड़ की तरह ज़मीन पर आ रहते हैं, मार्ग अविरुद्ध हो जाता है ! महाराज-को लौटना पड़ता है ! लौटते हैं—उदास-चित्त, विस्मय, जिज्ञासा और विविधि-भ्रान्तियोंका बोझ लेकर !

अहिंसा-धर्मकी मान्यतापर पूर्ण विश्वास रखने वाले, साधु-प्रकृति महाराज सुधर्म शिविरमें आकर आकस्मिक घटनाओं द्वारा सृजित वस्तु-स्थिति पर विचार करते हैं !···

'आपकी रायमें इन दैवी-घटनाओंका क्या प्रयोजन हो सकता है? और अब, ऐसी विपरीत-परिस्थिति-में मुझे क्या करना चाहिए ?'—महाराजके दुखित चित्तसे निकला !

प्रधान सचिवका नाम था—'जयदेव !' वह थे 'चार्वाक-मत' के अनुयायी (वाममार्गी) ! या यों कहिये महाराजके पालित-धर्मसे ठीक उलटे ! ३६ की तरह, एकका मुँह इधर तो दूसरेका उधर ! महाराजकी अटूट-श्रद्धा-भक्ति जैन-धर्मके लिए थी तो मंत्री-महोदय-की चार्वाक-मतके लिए !···निभी चली आने की वजह थी—महाराजकी यशस्विनी न्याय-प्रियता ! वह प्राप्त-अधिकारोंका दुरुपयोग करनेके पक्षमें न थे ! नहीं किसीको धर्म-परिवर्तन करनेके लिए मजबूर करना उनकी आदत थी ! उनके शासनकी विशेषता साम्प्र-दायिकता न होकर, न्याय थी ! वह एक धर्मात्मा, प्रजा पर पुत्र-सी ममता रखनेवाले, न्यायी शासक थे !

उनकी राज्य-सीमाके बच्चे-बच्चे तकके हृदयमें उनके प्रति प्रेम था, श्रद्धा थी, और था—विश्वास ! आज की तरह राज-द्रोह, असहयोग, सत्याग्रह और दमन, दुर्नीति काममें लानेकी तब किसीको ज़रूरत ही महसूस न होती थी ! सुख-चैनके थे वे दिन !

हाँ, तो मंत्रीजीको भला राजा साहिबकी धार्मि-कताओंका क्या ज्ञान ? उनका उत्तर अपने निजी दृष्टि-कोण द्वारा ही तो हो सकता था, वही हुआ !···यह राजनैतिक-समस्या न थी जो मंत्रीजीके परामर्श द्वारा शीघ्र निर्णय पा जाती !—

महाराज ! यह एक बाधा है—दैवी-बाधा ! आप-को उचित है कि इसका निराकरण करें। नहीं, यह अधिक भी अनिष्ट करदे तो आश्चर्य की बात नहीं !'

'फिर उपाय···?'

उपाय यह है कि आप एक पुरुषकी आहुति देकर देवीको प्रसन्न करें ! बिना ऐसा किए मेरा अनुमान है कि संकट दूर न हो सकेगा ! दुर्ग-द्वारका, आपके प्रवेश करनेकी चेष्टा करते ही, ढह पड़ना देवीकी रुष्टता

को साफ़ प्रगट करता है !'

क्षणिक नीरवता !

जो बात सुननी पड़ी, वह महाराजकी कल्पनासे बाहरकी बात थी ! एक धक्का-सा लगा, उनकी मानवीयताको ! अरुचिकर-पदार्थकी तरह बात गलेसे नीचे उतर गई ! और फिर भीतर पहुँचकर उसने जो ज्वाला दहकाई उससे मुखाकृतिको—महाराज प्रकृतिरूप न रख सके ! अधरोंकी आरक्तता आँखोंकी ओर बढ़ चली ! ओठों पर थिरकने वाली मुस्कराहट, प्रकम्पन रूप दिखलाने लगी और हृदयकी स्पन्द-गति करने लगी प्रलयान्त-समीरसे स्पर्द्धा !

कितना कड़ुआ-घूंट था— वह ! पी तो गए महाराज उसे । लेकिन वह पचा नहीं ! बोले—

'क्या कहा ? मैं हत्या करूँ—एक मनुष्यको धर्मकी दुहाई देकर अपने हाथों, मार डालूं—क़त्ल करूँ उसे ? क्या यह संकल्पी पाप नहीं ? मानवीयता को ठुकराकर नारकीयता को गले लगाऊँ ?···नहीं, यह मुझसे न हो सकेगा, पाप-पूर्ण उपाय करनेसे निरुपाय बैठ रहना, मैं समझता हूँ कहीं अच्छा है···!'

'हो सकता है किन्हीं अंशोंमें यह भी ठीक !'—वाक्-पटु जयदेवने मुँहपर थोड़ी हँसी लाते हुए राजनैतिक-गंभीरता आगे रखी—'लेकिन मेरा ख़याल है कि राज-काजमें इतनी धार्मिक-सतर्कता नहीं बरती जासकती ! सब-कुछ करना पड़ता है—इसमें छल-प्रपञ्च भी, हत्याएँ भी, नर-संहार भी ! इसलिए कि राजाका जीवन सार्वजनिक जीवन होता है ! और धार्मिक-नियंत्रण होता है—व्यक्तिगत !'

'मगर वह राजा होकर व्यक्तित्व को खो तो नहीं बैठता ?···स्व-पर-लाभकारी उचित माँग भी वह न पा सके । यह कैसा बन्धन ? यह तो उसके प्रति अन्याय है, और है उसकी आत्माका हनन !'

'उचित है! परन्तु शासन-व्यवस्थाको सुदृढ़ रखनेके लिए, आपका नगर-प्रवेश अनिवार्य है । और वह तभी हो सकता है जब एक मानवीय-रक्तधारा द्वारा देवीको प्रसन्न किया जाए !'

'ओफ़् ! मैं नहीं चाहता—सचिव ! ऐसे राज्य को ! जिसके लिए मुझे निरपराध, प्रजाके एक पुत्रके रक्तसे हाथ रँगने पड़ें !···नगर-प्रवेशको मैं अनिवार्य नहीं मानता ! मैं जहाँ रहूँगा—वहीं मेरा राज्य ! दुर्ग-द्वार, नगर, सब-कुछ प्रजाके लिए है—प्रजाकी चीज़ है वह चाहे उसे बनाये-बिगाड़े ! मेरा कोई सम्बन्ध नहीं ! मेरा राज्य बग़ैर हत्याके महान् पापको लाँघे हुए—यहाँ रहकर भी चल सकता है !'

जयदेवने देखा—महाराज अपने निश्चय पर अटल हैं—तो चुप हो रहे !

था भी यही उचित !

❀ ❀ ❀

[२]

दूसरे दिन की बात है—

नगरके सभी समृद्धिशाली, प्रतिष्ठित व्यक्ति महाराजसे मिलने आए ! यह थे जनताके प्रतिनिधि—पंच-गण ! जिनके हाथमें होती है सामाजिक-शक्तियोंकी बागडोर ।

कहने लगे—'महाराज ! बिना आपके नगर सूना है ! जीव-हीन शरीरकी भाँति उसमें न उल्लास शेष है न चैतन्यता ! आपको चरण-रज-द्वारा शीघ्र नगरको सौभाग्यवान् बनाना चाहिए ! बग़ैर ऐसा हुए हमें सन्तोष नहीं ! '

महाराजके सामने यह प्रजाकी पुकार थी ! जिसकी अवहेलना आज तक उन्होंने नहीं की ! वह

सोचने लगे—'अब ?—एक-ओर प्रजाका आग्रह है, दूसरी ओर घोर-पाप ! और निर्णय है मेरे अधीन—जिसे चाहूँ अपनाऊँ ! कठिन-समस्या है ! 'आग्रह' की रक्षाके लिए मुझे पाप करना होता है ! पुत्र-सी प्रजाके एक बेगुनाहका ख़ून बहाना पड़ता है ! नारकीय-कर्म को—मनुष्यताके सन्मुख— तरजीह देनी होती है !··· और उधर—एक महान पापसे आत्माको बचाया जाता है ! वीरत्वकी महानताको अक्षुण्ण रखा जाता है ! अनधिकार चेष्टा, राक्षसी-वृत्तिसे मुँह मोड़कर मानवीयता और स्व-धर्मका सन्मान किया जाता है ।'

—और आख़िर महाराजका धर्म-पूर्ण, न्यायी-हृदय 'निश्चय' पर दृढ़ रहता है !—

'मेरा नगर-प्रवेश एक ऐसी समस्यामें उलझा हुआ कि उसे मैं समर्थ होते भी नहीं सुलझा सकता !'—महाराजने संक्षेपमें कहा ।

वे लोग तो चाहते ही थे कि महाराज कुछ अपने मुँहसे कहें तो अवसर मिले । बोले—

'हम लोग उस 'समस्या' से अविदित हों सो बात नहीं ! हमें उसका पूरा ज्ञान है । और सब सोचनेके बाद—जिस नतीजेपर पहुँचे हैं वह यही है कि आपको वह उपाय करना ही चाहिये ?···'

'करना ही चाहिए ?—मुझे एक निरपराधके विकसित-जीवनका अन्त ! उसके गर्म-रक्तसे दुर्ग-द्वारको सुदृढ़ ? और अपने कल्याण-कारी-धर्मका ध्वंस ? नहीं, मैं ऐसा नहीं कर सकता !···कोई भी आत्म-सुखाभिलाषी हिंसा जैसे जघन्य पाप को नहीं कर सकता !··· मेरा राज्य रहे या जाए, मुझे इसकी चिन्ता नहीं!···'—

'लेकिन इसकी चिन्ता हमें है ! हम अपने प्यारे, प्रजा-प्रिय, न्यायवान शासककी छायाको अपने ऊपरसे नहीं उठने दे सकते ! इसीलिए प्रार्थना है—'आप अपनी ग़रीब-प्रजाकी अभिलाषाको वियोगाग्नि द्वारा न दहकाइए—महाराज !'

महाराज मौन !

फिर धीरेसे बोले—'तो ?'

इस 'तो ?' ने प्रतिनिधियोंका बढ़ाया साहस ! वह बोले—'प्रजाकी पुकार पर ध्यान देना आप जैसे न्यायाधीशोंका ही काम है ! महाराज, आप जिसे पाप कह रहे हैं, हम उसे प्रजाकी भलाई समझ रहे हैं ! इतना ही फ़र्क है।···अतः प्रजा-हितके लिए उस 'उपाय'की सारी ज़िम्मेदारी हमारे ऊपर ! आप निश्चिन्त रहें हम सब-व्यवस्था कर लेंगे । आपसे कोई वास्ता नहीं !'

महाराजने उदास-चित्त हो कहा—

'लेकिन······पाप······!'

अविलम्ब-उत्तर मिला—'वह भी हमारे सिर ! पुण्यके मालिक आप और पापके हम ! बस···!

महाराज चुप ! कैसी विडम्बना है ? फिर बोले—'तुम जो समझो करो ! मुझसे कोई सरोकार नहीं !'

❀ ❀ ❀

[३]

लोभको प्रोत्साहन देनेके लिये एक तरकीब निकाली गई ! जीवन जो मोल लेना था—पशु-पक्षियोंका नहीं, मनुष्यका ! उसी मनुष्यका जो ज्ञान रखते हुए भी दूसरे प्राणोंको ले लेनेमें अनधिकार चेष्टा नहीं समझता ! जो अपने ही सुखको सुख समझनेका आदी होता है !···

बनाई गई एक स्वर्णकी मनुष्याकार मूर्ति ! फिर किया गया उसका शृंगार, जवाहरातके क़ीमती अलंकारोंसे !

कैसी मनोमुग्धता थी उसमें ! कि देखते ही हृदय उसे पास रखनेके लिए लालायित हो उठता ! कलाकार

की प्रशंसनीय-कलाका प्रदर्शन था। और थी समृद्धि-शालियोंकी उदारताका परिचय !

एक भव्य रथमें उसे स्थित किया गया ! और रथ चला नगर परिक्रमाके लिए ! सभी प्रतिष्ठित-जन साथ थे !

आगे आगे घोषणा होतीजाती--सरस और उत्तंग-स्वरमें !—'इस मूर्तिको लेकर जो अपना जीवन देना चाहे वह सामने आए !'···

कुछ मूर्तिको देखते, प्रसन्न होते और बस ! कुछ प्रमोदी—जिनपर लक्ष्मीकी कृपा थी—मूर्तिको ख़रीदनेके लिए व्यग्र हो उठते ! लेकिन जैसे ही उसके मूल्य पर ध्यान जाता, दृष्टिको सीमित कर, दूसरी ओर मुख़ातिब होते ! और रथ आगे बढ़ता !···

कौन ख़रीदता इतना मँहगा सौदा ?

विपुल धन राशि और जीवन !!!

हाँ, जीवन ! वही, जिसके लिए घृणितसे घृणित कर्म, सहर्ष कर लिए जाते हैं ! अच्छे अच्छे सभ्य जिसके लिए धूर्तों-लम्पटोंकी सिजदा—वन्दना—करते नहीं शर्माते ! जो संसारकी सबसे बड़ी—क़ीमती—वस्तु है ! वही जीवन था उसका—मूल्य !

नगरके प्रायः सभी पथ, रथके पहियोंसे अङ्कित हो चुके ! शाम होने आई···किन्तु सौदा न पटा ! किसीके पास एकसे अधिक—ममत्व हीन—जीवन था ही नहीं जो देता ! जो था, वह उसे इस विपुल धन राशिसे भी अधिक मूल्यवान जँचा ! जैसे 'जीवन' ख़रीदनेके लिए इतना द्रव्य कुछ है ही नहीं !···

अधिकारी-व्यक्तियोंकी 'आशा' जैसे दिनके साथ-साथ ही अस्त होने लगी ! दिवाकरकी तरह मुख-मण्डल होगये निस्तेज ! हृदयमें एक पीड़ा सी उत्पीडन देने लगी।—'अब क्या करना चाहिए, जिस शक्ति पर भरोसा कर, कार्य अपने हाथमें लिया वह धोखा दिये जा रही है !'

रथके लिए अभी थोड़ा क्षेत्र और शेष था ! वह आगे बढ़ा—अपनी प्रारम्भिक गतिके अनुसार !

सामने थे, नारकीय-जीवन बितानेवाले निर्धनोंके मोहल्ले ! दरिद्र नेत्रोंके लिए धन-राशि देखना तक दुरीह !···सब, एकटक रथकी ओर देखने लगे। अपूर्व अवसर था उनके लिये ! घोषणा सुनी ! मन तो ललचाया भव्यमूर्तिके लिए, लेकिन जीवन—माना कि नारकीय था, भार रूप था—देना उन्हें भी न रुचा ! पता नहीं, उस कष्ट-पूर्ण घड़ियोंसे उन्हें क्यों मोह था, क्यों ममत्व था ?

—और दिन छिपने लगा, रथ आगे बढ़ने लगा !

❀ ❀ ❀

उसी नरक-कुण्डमें एक कोना उसका भी था ! नाम था—वरदत्त शर्मा ! जिन्दगी-भर परेशानियों और अभावोंसे लड़ने वाला वह एक गृहस्थ था ! जैसी कि विषमता प्रायः दृष्टिगत होती रहती है कि समृद्धिशाली प्रयत्न-पूर्वक भी पिता नहीं बन पाते और जिनके पास प्रभात-भोजनके बाद, सान्ध्य-भोजनकी सामग्री भी शेष नहीं, वह व्यक्ति रहते हैं समय अ-समय कीड़े-मकोड़ोंकी तरह उत्पन्न होनेवाले बच्चोंसे परेशान !···

तो ग़रीब वरदत्तके एक नहीं, दो नहीं—पूरे सात पुत्र थे ! छोटे पुत्रका नाम था—इन्द्रदत्त !

जैसे ही रथ उसके घरके पाससे निकला और सूचनासे वह परिज्ञानित हुआ कि भागा घरको !

स्त्री भी ललचाई-नज़रोंसे रथको देख कर अभी ही दर्वाज़ेसे हटी थी ! कि सामने उसके पति ! बोली— 'क्यों ?'

'सुना नहीं' देखा नहीं ?—कि आज हमारे लिए

कितना अच्छा अवसर है ! अगर हम इन्द्रदत्तको बदले में देकर इतनी विभूति पा सकें तो क्या-से-क्या हो सकते हैं— क्यों ? है न यही··· ?

स्त्री ने देखा— भविष्यकी मधुर, सुखद-कल्पना उसके सामने नाच रही है—कितना लुभावक कि उसके मातृत्वकी ममता भी बे-होश, संज्ञा-हीन हो रही है ! उसने मंत्र-मुग्धकी तरह कहा— 'हाँ !'

शर्माजीका मार्ग जैसे प्रशस्त हुआ—अब उनकी भावनाओंको दौड़नेके लिए काफ़ी गुंजाइश थी ! बोले, खुशीके बोझसे दबे हुए—स्वरमें !—

'कितना धन है—वह ! कुछ ठीक है ? जीवन एक दूसरे प्रकारका हो जायेगा, दिन चैनसे कटेंगे ! और पुत्रकी क्या है ?—अगर हम-तुम सही-सलामत रहे तो—हर साल प्रसूति ! हर वर्ष बच्चे !!···'

दोनों खुश ! अतीव प्रसन्न !

इन्द्रदत्तने सुनी— बातें ! तो सोचने लगा, छोटा-सा बच्चा, दार्शनिककी तरह ! — 'वाहरे-लोभ ! आश्चर्य उपस्थित कर दिया तूने ! कैसी विडम्बना है ?— कैसी महत्ता है संसारकी ?··· पिता पुत्रको बेचता है, मौतके हाथ, धनके लिए ! अ-बल मातृत्व भी कुछ नहीं ठहरता। जो कुछ है— स्वार्थ ! केवल स्वार्थ !! '

···वरदत्त आवाज़ देता है, मुक्त-कण्ठसे— रथ-संचालकोंको रथ रुकता है ! लौट कर आता है उसके दर्वाज़े पर ! उसे समझता है वह गौरव, दुर्लभ-अहोभाग्य ! इतनी विभूति, इतने माननीय-प्रतिष्ठित-पुरुष उसके द्वार पर खड़े हैं, क्या इसे कम सौभाग्य बात समझे— वह ?— और समझे भी तो क्यों ? जबकि सभी अधिकारीजन उसके मुँहकी ओर देख रहे हैं—कि देखें क्या आती है—आशा या निराशा-जैसे उसका मुँह आशा-निराशाका निवास भवन बना दिया गया हो !

'मैं अपने इस पुत्रको देकर यह अपरमित-धन-राशि लेना चाहता हूँ ! '—अ-आदर्श पिता-मुखने ज़हरीले- शब्द उगले लेकिन उधर म्रियमाण-हृदयोंने उसे संजीवनीकी भाँति ग्रहण कर हर्ष मनाया !

···और··· ? —

और दूसरी ही मिनट रथमें–उस निर्जीव, किन्तु बहुमूल्य मूर्तिके स्थान पर बैठा था— सश्रृंगार वस्त्रा-भूषण पहिने—इन्द्रदत्त !

रथ चला !— दुर्ग द्वारकी ओर ! सबके मुख पर प्रसन्नता थी ! जैसे उलझी हुई गंभीर-समस्याका हल, उन्हें विजयके रूपमें मिल गया हो, या मिली हो उद्देश्यको आशातीत-सफलता !

[४]

दुर्ग-द्वारके समीप ! —

अपार जन-समूह ! विचित्र कौतु-हल और गंभीर-निनाद !··· और था— एक निरपराध—बेकुसूर—व्यक्तिकी बलिका पूर्ण आयोजन !

सभी उपस्थित थे !— प्रोहित, पण्डे, पुजारी, इन्द्रदत्त और उसके माता-पिता ! तथा समस्त नागरिक पंच ! महाराज भी विराजे हुए थे—एक ओर ! निस्पा-पेक्षा कुछ अधिक-गंभीर ! या कहें उदास ! उनकी इच्छा विरुद्ध एक सुवासित, विकसोन्मुख-फूलको मसला जा रहा था, यह था उनकी उदासीका सबब !

नियमानुसार काम चल रहे थे ! कि अचानक महाराजकी दृष्टि जापड़ी इन्द्रदत्त पर !—

वह हँस रहा था !

'क्यों···?—मृत्यु गोद फैलाये प्रतिपल बढ़ती चली आरही है ! इतना समीप आ चुकी है कि एक क़दम

रखा नहीं कि इन्द्रदत्तका अस्तित्व-स्वप्न ! फिर हँसनेका कारण ?...ऐसा साहसिक, धैर्यवान् बालक !'— महाराजके हृदय पर एक छाप-सी लगी ! बैठे न रह सके ! उठे ! बालकके समीप जा पहुँचे बोलेः—'बच्चे ! क्यों हँसता है ? क्या तुझे मृत्युका डर नहीं ?'

'डर ? महाराज ! दूर रहता है तभी तक उसका डर लगता है ! जैसे-जैसे पास आता है डर भागता जाता है !'

'तो तुझे अब कोई दुख नहीं ?'

'दुख...'—बालक थोड़ा हँसा, फिर बोला— 'प्रजापति ! दुख जब सीमा उलंघ जाता है, तब दुखी मनुष्य उसे 'दुख' न कहकर उसका नाम 'सन्तोष' रख देता है !'

महाराजका दयार्द्र-हृदय मन-ही-मन रो उठता है 'यह कुसुम, मुरझानेके लिए पैदा हुआ है ?'—

'बच्चे...!'—महाराजने वात्सल्यमयी स्वरमें कहा —'क्या तू नहीं जानता कि यह समय हँसनेका नहीं, रोनेका है ?'

'जानता हूँ कृपा-निधान ! लेकिन अब मेरे रोने और हँसनेमें कोई विशेषता नहीं...'—बालकने सरलता से उत्तर दिया।

'फिर भी रोया तो जाता ही है—ऐसे समयमें पाषाण-हृदय भी बग़ैर रोये नहीं रह पाता ! फिर तू —एक कोमल-बालक ही तो है !'

'अवश्य ! लेकिन रोना भी तभी आता है, जब कोई हमदर्द दीखता है ! कहीं सहानुभूति दिखलाई देती है ! अब मैं रोऊँ तो—क्यों ? मेरी फ़र्याद—मेरी पुकार—मेरी पीड़ाका सुननेवाला ही कौन है, जिसे सुनानेके लिए रोया जाय ? जो मेरे रोने पर द्रवित हो ! मेरी रक्षाकी चेष्टा करे ...'

महाराज दम-साधे सुनने लगे ! बालककी बातोंमें बहुत-कुछ तथ्य उन्हें दिखलाई देने लगा !—

'पुत्रके सबसे पहिले संरक्षक होते हैं, उसके माँ-बाप ! फिर नागरिक-पंच ! इसके बाद—संरक्षकत्वका भार होता है—राजाके ऊपर !'

'ठीक कहते हो बेटे !'—महाराजकी आँखें गीली हो आईं !

बालक कहता गया—जब माँ-बापने धनके लोभसे मुझे मरनेके लिए बेच दिया ! उत्तर-दायित्वको ठुकरा दिया स्वाभाविक-प्रेमको नृशंसता-पूर्वक काट डाला ! तब...?—तब सहारा लिया जा सकता था—पंचोंका ! लेकिन मैंने देखा—पंचलोग स्वयं ख़रीदार हैं, वही मेरी असामयिक-मृत्युके दलाल हैं ! तो मैं चुप, उनके साथ चला आया ! ख़याल किया—बस, अन्तिम-अवलम्ब— आख़िरी-आशा—राजाका न्याय है,जो वह करे वह ठीक'

'सच कह रहे हो—बालक ! यही सोच सकते थे तुम !'—महाराजकी आँखोंसे दो-बूंद आँसू ढुलक पड़े ! हृदयमें बालकके लिए श्रद्धा-सीउमड़ पड़ी !

बालकने हृदयोद्‌गारोंका क्रम-भंग न होने दिया ! शायद सभी साफ़-साफ़ कह देना उसने प्रण बनालिया हो अपना !—

'किन्तु यहाँ आकर देखनेमें आया, कि सारे यंत्रोंका संचालन महाराजकी प्रेरक-बुद्धिके द्वारा ही हो रहा है ! वह अपने दुर्ग द्वारको स्थिर देखनेकी लालपा-तृप्तिके लिए—एक प्रजा पुत्रकी आहुति देने पर तुले बैठे हैं !'

महाराज सन्न रह गए ! उनका गंभीर-स्वाभिमान तिलमिला उठा ! चेष्टा करने पर भी एक-शब्द उनके मुँहसे न निकला ! भूमि पर लगी हुई आँखें, सावनकी बदली बन गईं !

कुछ देर यही दशा रही! इसके बाद दृढ़-स्वरमें बोलेः—'छोड़ दो, बच्चेके प्राण! बन्द करो यह हिंसा-का आयोजन!...'

कर्मचारियोंके हाथ ज्योंके त्यों रह गए! रुक गया मंत्रोच्चारणका प्रवाह! और सब देखने लगे चकित-दृष्टि-से महाराजके तेजस्वी-मुख-मण्डलकी ओर!

वह कहने लगे—'अब मुझे न दुर्ग द्वारसे मतलब है, न नगरमें जानेसे! मैं प्राकारके बाहर—बनमें—ही सकुटुम्ब, मय लश्करके रहकर नये नगरकी स्थापना कर, शासन-व्यवस्थाका संचालन करूँगा! निरपराध प्रजा-पुत्रके रक्तसे अपनी क्षत्रिय तलवारको कलंकित न करूँगा!...अगर इस प्रकारकी जघन्य-हत्यासे मुझे स्वर्ग-राज्य भी मिले तो वह मुझे पसन्द नहीं!'

'...उसी समय आकाशसे देव वाणी होती है—धन्य!...धन्य!!'

❋ ❋ ❋

दूसरे प्रभात—

नगरमें आनन्द मनाए जा रहे थे! महाराज निर्विघ्न अपने सिंहासन पर आ बिराजे! न दुर्ग-द्वार गिरा, न अन्य कोई दुर्घटना हुई! सब हृदयोंमें एक ही भावना थी, सब ज़ुबानों पर एक ही चर्चा थी...अहिंसाकी अजेयशक्ति या उसकी दृढ़ता का महत्व!!!
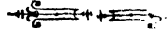
जीवनके अनुभव

सदाचारी पशुओंके उदाहरण

ले०--अयोध्याप्रसाद गोयलीय

(७) साँपका अलौकिक कार्य—सदाचारी पशुओंके सिल्सिलेमें सरदार बेलासिंह "केहर" ऐडीटर "कृपाण बहादुर" अमृतसरने—जो कि १३१ दफामें १ वर्षके लिये मोण्टगुमरीजेलमें आए थे—बतलाया कि हमारे गाँव बिछोह (ज़ि०अमृतसर) में एक बिलोची बुड्ढा टेटर गाँव (ज़ि० लाहौर) का आकर रहने लगा था। उसका पाँव कटा हुआ था। मैंने कौतूहल वश टाँग कटनेका कारण पूछा तो उसने बतलाया कि "हम ऊँटोंका व्यापार करते थे। हस्बदस्तूर एक रोज़ मैं ऊँटोंको चराने जंगल लेगया तो उनमेंसे एक ऊँट मुझे मार डालनेके लिये मेरी ओर लपका ❀। मैं जान बचानेकी ग़रज़से भाग निकला। ऊँट भी मेरा पीछा कर रहा था। मैं उसकी निगाहसे ओझल होनेके लिए एक झाड़ियोंके झुण्डमें घुसा तो वहाँ छुपे हुए कुएमें गिर पड़ा। उस कुएमें पानी नाम मात्रको था। मुझे झाड़ीमें घुसते हुए ऊँटने देख लिया था, अतः वह भी वहीं चक्कर काटने लगा। कुएमें पड़ने पर बमुश्किल मेरे होश-हवास ठीक हो पाये थे कि मुझे वहाँ दो

❀ ऊँट बड़ा कीनावर (बैर भावको हृदयमें बनाये रखनेवाला) होता है। मालिक या चरवाहेकी डाट-डपट किसी वक्त अगर इसे अपमान-जनक मालूम होती है, तो उस वक्त चुपचाप सहन कर लेता है। मगर भूलता नहीं और अवसरकी तलाशमें रहता है। मौक़ा मिलते ही अपमान-कारकको मारकर अपने अपमान या बैरका बदला लेलेता है।

भयानक साँप दिखाई दिये। मारे घबराहटके मेरी घिग्घी बन्ध गई। उनमेंसे छोटे साँपने बाहर निकलकर उस ऊँट को काट खाया। जिससे वह ऊँट धड़ामसे ज़मीन पर गिर पड़ा। और बड़ा साँप बाहर निकलकर अपने फणको झाड़ीकी एक मज़बूत टहनीमें लपेट पूँछके हिस्सेको मेरे सर पर हिलाने लगा। पहले तो मैं घबड़ाया आखिर उसका मतलब समझकर मैं उसकी पूँछ पकड़ कर बाहर निकल आया। बाहर आकर मैंने ऊँटको मरे हुए देखा तो गुस्सेमें उसके एक लात मारी। वह ऊँट साँपके ज़हरसे इतना गल गया था कि मेरे लात मारते ही पाँवका थोड़ा हिस्सा ऊँटके गोश्तमें घुस गया मैंने शीघ्रतासे पाँव निकाल लिया, किन्तु ज़हर बराबर पाँवमें चढ़ रहा था। मेरे भाईने पाँवकी यह हालत देखी तो दरान्तीसे मेरी टाँग काट डाली ताकि ज़हर आगे न बढ़ सके। तभीसे मैं एक पाँवसे लँगड़ा हूँ।"

उक्त चार पाँच उदाहरणोंमें कितना अंश सत्य-असत्य है, मैं नहीं कह सकता। पहला उदाहरण मैंने प्रत्यक्ष देखा और बाक़ी सुने है। इन्हें पाठक सत्य ही मानें ऐसा मोह मेरे अन्दर नहीं है। उन्हीं दिनों बा० गोवर्द्धनदास एम.ए. कृत और हिन्दीग्रन्थरत्नाकर कार्यालय बम्बई द्वारा प्रकाशित "नीति-विज्ञान" पुस्तक भी पढ़नेमें आई। उसमें अनेक वैज्ञानिकों द्वारा अनुभव किए हुए पशुओंके उदाहरण दिए गए हैं। वे भी मैंने इन्हीं उदाहरणोंके साथ नोट कर लिए थे। उनमेंसे कुछ इस प्रकार हैं—

(८) **सहृदयता**—"कप्तान स्टेन्सबरीने अमेरिकाकी एक खारी झीलमें एक बहुत वृद्ध और अन्धे हवासिल (पक्षिविशेष) को देखा था, जिसे उसके साथी भोजन कराया करते थे और इस कारण वह खूब हृष्ट पुष्ट था। मि० क्लिथने देखा था कि कुछ कव्वे अपने दो तीन अन्धे साथियोंको भोजन कराते थे। कप्तान स्टैन्सबरीने लिखा है कि—एक तेज़ झरनेकी धारामें एक हवासिलके बच्चेके बहजाने पर आधे दर्जन हवासिलोंने उसे बाहर निकालनेका प्रयत्न किया। डारविनने स्वयं एक ऐसे कुत्तेको देखा था जो एक टोकरीमें पड़ी हुई बीमार बिल्लीके समीप जाकर उसके मुँह को दो एकबार चाटे बिना कभी आता जाता न था।"

(९) **आज्ञापालन**—"पशुओंमें बड़ोंका आदर करने और नेताकी आज्ञामें चलनेकी प्रवृत्ति भी पाई जाती है। अबीसिनियाके बबून (बन्दरविशेष) जब किसी बाग़को लूटना चाहते हैं तो चुपचाप अपने नेताके पीछे चलते हैं। और यदि कोई बुद्धिहीन नौजवान बन्दर असावधानताके कारण ज़रा भी शोरोगुल करता है, तो उसे बूढ़े बन्दर तमाचा लगाकर ठीक कर देते हैं। और इस तरह उसे चुप रहने तथा आज्ञा पालनकी शिक्षा देते हैं।"

सुभाषित

बड़े भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सद ग्रंथहिं गावा।
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सँवारा॥
एहि तन कर फल विषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अन्त दुखदाई।
नर तन पाइ विषय मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ विष लेहीं॥
ताहि कबहुँ भल कहइ कि कोइ। गुंजा ग्रहइ परस मनि खोई।
आकर चार लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अविनासी॥

—तुलसी

हरी साग-सब्ज़ीका त्याग

[ले० —बाबू सूरजभानुजी वकील]

आजकल जैनियोंमें हरी साग-सब्ज़ीके त्यागका बेहद रिवाज हो रहा है, प्रायः सब ही जैनी चाहे वे जैनधर्मके स्वरूपको जानते हों वा न जानते हों, सम्यक्त्वी हों वा मिथ्यात्वी, किसी न किसी साग-सब्ज़ीके त्यागी जरूर होते हैं। विशेष कर अष्टमी और चतुर्दशीको तो सभी प्रकारकी हरी बनस्पतिके त्यागका बड़ा माहात्म्य समझा जाता है। बहुत ही कम जैनी ऐसे निकलेंगे जो इन पर्व-तिथियोंमें हरी साग-सब्ज़ी खाते हों। हाँ, अपनी जिह्वा इन्द्रियकी तृप्तिके लिये ये लोग इन साग-सब्जियोंको सुखाकर रख लेते हैं और बेखटके खाते हैं। सुखानेके वास्ते जब यह लोग ढेरों साग-सब्जियोंको काट काट कर धूपमें डालते हैं और इसका कारण पूछने पर जब इनके अन्यमती पड़ौसियोंको यह जवाब मिलता है कि जीवदया पालनेके अर्थ ही इनको सुखाया जा रहा है, जिससे इन साग-सब्जियोंके बनस्पतिकाय जीव मर जाएँ और यह साग-सब्जियाँ निर्जीव होकर खानेके योग्य हो जाएँ, तो जैनधर्मकी इस अनोखी दयाको और जीव रक्षाकी अनोखी विधिको सुनकर वे अन्यमती लोग भौंचकेसे रह जाते हैं और जैनियोंके दयाधर्म तथा अहिंसावादको एक प्रकारका बच्चोंका तमाशा ही समझने लगते हैं।

इसके सिवाय, जब वे देखते हैं कि जो लोग चलते फिरते बड़े बड़े जीवों पर भी कुछ दया नहीं करते, किसी कुत्ता-बिल्लीके घरमें घुस जाने पर ऐसा लट्ठ मारते हैं कि हड्डी-पसली तक टूट जाय, बेटी पैदा होने पर उसका मरना मनाते हैं, धनके लालचमें किसी बूढ़े खूसटसे ब्याह कर उसका सर्वनाश कर देते हैं, किसी जवान स्त्रीका पति मर जाने पर उसके धनहीन होनेपर भी उसके रहनेका मकान वा जेवर और घरका सामान तक बिकवा कर उससे उसके मरे हुए पतिका नुक्ता कराते हैं और बड़ी खुशीके साथ खाते हैं, नाबालिग़ भाई भतीजे-की जायदाद हड़प करनेकी फ़िकरमें रहते हैं, घरकी विधवाओंको बेहद सताते हैं, अनेक रीतिसे लोगों पर जुल्म सितम करते रहते हैं, ठगी, दग़ाबाज़ी, झूठ, फ़रेब, मक्कारी, जालसाज़ी, कम तोलना, माल मारना, लेकर मुकर जाना, क़र्ज़ लेकर उसको वापिस देनेके लिये खुल्लम खुल्ला सैकड़ों चालें चलना, और भी अनेक तरहसे दुनियाँको सताना और अपना मतलब निकालना जिनका नित्यका काम हो रहा

है, वे भी साग-सब्जीका त्याग करके ऐसे जीवों पर दया करनेका दावा करते हैं जो स्थावर हैं, अर्थात जो बिल्कुल भी हिलते-चलते नहीं हैं, जिससे उनमें जीवके होनेका निश्चय भी शास्त्रके कथनसे ही किया जा सकता है, आँखोंसे देखनेमें नहीं; तो वे अन्यमती लोग जैनियोंके इस अद्भुत दयाधर्मको देखकर इसकी खिल्ली (मज़ाक़) ही उड़ाते हैं।

इसके अलावा आजकल मनुष्यकी तन्दुरुस्तीके वास्ते साग-सब्जीका खाना बहुत ही ज़रूरी समझा जाने लगा है; फल खानेका रिवाज भी दिन दिन बढ़ता ही जाता है; तब हमारे बहुतसे जैनी भाई भी अपने परिणाम इतने ऊँचे चढ़े न देख जिससे साग-सब्जीके त्यागके भाव उनमें पैदा हो जाते हों, एक मात्र रूढिके वस दूसरोंकी देखा-देखी ही साग-सब्जीके त्यागको अपनी और अपने बाल-बच्चोंकी तन्दुरुस्तीके विरुद्ध बिल्कुल ही व्यर्थका ढकौसला समझ, ऐसे त्यागसे नफरत करने लग गये हैं, और संदेह करने लग गये हैं कि क्यों जैनधर्ममें हमारे जैसे साधारण गृहस्थियोंके वास्ते भी साग-सब्जीका त्याग ज़रूरी बताया है। ऐसे ऐसे विचारोंसे ही जैनधर्म पर उनकी श्रद्धा ढीली होती जाती है, और यह वस्तुस्वभाव पर स्थित तथा समीचीन तत्त्वोंकी प्ररुपणा करने वाला जैनधर्म भी एक प्रकारका रूढ़ि-वाद ही प्रतीत होने लगा है। इन सब ही बातोंके कारण साग सब्जीके त्यागके वास्तविक स्वरूपको जैनशास्त्रोंके कथनानुसार साफ़ साफ़ खोल देना बहुत ही ज़रूरी है, जिससे सब भ्रम दूर हो जाय और जैनधर्मकी तात्त्विकता सिद्ध होकर उसकी प्रभावना स्थिर हो सके।

खाने पीनेकी वस्तुओंके त्यागका वर्णन जैनशास्त्रोंमें (१) अव्रती श्रावकके कथनमें, (२) अहिंसा अणुव्रतके कथनमें, (३) भोगोपभोगपरिमाणव्रतके कथनमें और (४) सचित्तत्यागनामकी पाँचवीं प्रतिमाके कथनमें मिलता है। हम भी इन चारों ही कथनोंको पृथक् पृथक् रूपसे खोजते हैं, जिससे यह विषय बिल्कुल ही स्पष्ट हो जाय। यहाँ यह बात जान लेनी ज़रूरी है कि जैनशास्त्रोंमें श्रावकके दो दर्जे क़ायम किये गये हैं, एक तो चौथा गुणस्थानी अविरतसम्यग्दृष्टि और दूसरा पंचम गुणस्थानी अणुव्रती श्रावक। दूसरी तरह पर सब ही श्रावकोंके ग्यारह दर्जे व ग्यारह प्रतिमाएँ ठहराकर चौथे गुणस्थानी अविरत सम्यग्दृष्टिकी तो सबसे पहली एक दर्शन प्रतिमा ही क़ायमकी गई है और दूसरी प्रतिमासे ग्यारहवीं तक दस दर्जे पंचमगुणस्थानी अणुव्रती श्रावकके ठहराये हैं।

(१) अविरत सम्यग्दृष्टि

(१) विक्रमकी पहली शताब्दिके महामान्य आचार्य श्रीकुन्दकुन्द स्वामी 'चरित्रपाहुड'में लिखते हैं कि श्रद्धानका शुद्ध होना ही सम्यक्त्वाचरण नामका पहला चारित्र है, और संयम ग्रहण करना दूसरा संयमाचरण चारित्र है, अर्थात् सम्यक्त्वीके श्रद्धानका शुद्ध होना ही उसका चारित्र है, यह श्रावकका पहला दर्जा है, जिसके वास्ते किसी भी त्यागकी ज़रूरत नहीं है फिर जब वह संयम ग्रहण करता है तब उसका दूसरा दर्जा होता है, जो संयमाचरण चारित्र कहलाता है। यथा—

जिणणाणदिट्ठिसुद्धं पढमं सम्मत्तचरणचारित्तं ।
बिदियं संजमचरणं जिणणाणसदेसियंतंपि ॥५॥

(२) विक्रमकी दूसरी शताब्दिके महान् आचार्य स्वामी समन्तभद्र रत्नकरंड श्रावकाचारके निम्न श्लोकमें पहली प्रतिमाधारीकी बाबत लिखते हैं कि 'जो सम्यग्दर्शनसे शुद्ध हो, संसार, शरीर-भोगसे उदासीन हो, पंचपरमेष्ठीके चरण ही जिसको शरण हों, तत्वार्थरूप मार्गका ग्रहण करनेवाला हो, वह दार्शनिक श्रावक है —'

सम्यग्दर्शनशुद्धः संसारशरीरभोगनिर्विण्णः ।
पंचगुरुचरणशरणो दर्शनिकस्तत्वपथगृह्यः ॥१३७॥

(३) दूसरी शताब्दिके महान् आचार्य श्रीउमास्वातिने भी 'तत्वार्थसूत्र' में अविरतसम्यग्दृष्टिके वास्ते किसी प्रकारके त्यागका विधान नहीं किया है; किन्तु शंका कांक्षा विचिकित्सा अन्यमति प्रशंसा और अन्यमति-संस्तव ये उसके पाँच अतीचार जरूर वर्णन किये हैं । इस ही तरह पूज्यपाद स्वामीने सर्वार्थसिद्धि नामकी उसकी टीकामें, श्री अकलंकस्वामीने राजवार्तिक नामके भाष्य और श्रीविद्यानन्द स्वामीने श्लोकवार्तिक नामकी बृहत् टीकामें भी इन अतीचारोंके सिवाय सम्यग्दृष्टिके वास्ते अन्य किसी त्यागका वर्णन नहीं किया है । तत्त्वार्थसूत्रका वह मूल वाक्य इस प्रकार है—

शंकाकांक्षाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतीचाराः ७-२३

(४) गोम्मटसार-जीव कांडमें भी अविरतसम्यग्दृष्टिके वास्ते किसी त्यागका विधान नहीं किया है; बल्कि खुले शब्दोंमें यह बताया है कि 'जो न तो इन्द्रियोंके ही विषयोंका त्यागी है और न त्रस वा स्थावर किसी भी प्रकारके जीवोंकी हिंसाका त्यागी है, एक मात्र जिनेंद्रके वचनोंका श्रद्धानी है वह अविरत सम्यग्दृष्टि है । यथा—

णो इन्दियेसु विरदो णो जीवे थावरे तसे वा पि ।
जो सद्दहदि जिणुत्तं सम्माइट्ठी अविरदो सो ॥२९॥

(५) प्राचीन आचार्य स्वामी कार्तिकेय अपने अनुप्रेक्षा ग्रन्थमें लिखते हैं कि 'बहुत त्रस जीवोंसे सम्मिलित मद्य मांस आदि निन्द्य द्रव्योंको जो नियम रूपसे नहीं सेवन करता है वह दार्शनिक श्रावक है ।' यथा—

बहुतससमण्णिदं मज्जं मंसादिणिंदिदं दव्वं ।
जो णय सेवदि णियमा सो दंसणसावओ होदि ॥३२८॥

(६) विक्रमकी दशवीं शताब्दिके आचार्य श्री अमृतचन्द्रने 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' में श्रावककी ११ प्रतिमाका अलग अलग वर्णन न करते हुए समुच्चयरूपसे ही लिखा है कि 'जो हिंसाको छोड़ना चाहता है उसको प्रथम ही शराब, मांस, शहद, और पाँच उदम्बर फल त्यागने चाहियें । शहद, शराब, नौनी घी और मांस यह चारों ही महाविकृतियाँ हैं— अधिक विकारोंको धारण किये होते हैं, व्रतियोंको इन्हें न खाना चाहिये, इनमें उस ही रंगके जीव होते हैं । ऊमर, कठूमर ये दो उदम्बर और पिलखन, बड़ तथा पीपलके फल ये त्रस जीवोंकी खान हैं, इनके खानेसे त्रस जीवोंकी हिंसा होती है यदि यह फल सूखकर अथवा काल पाकर त्रस जीवोंसे रहित भी होजावें तो भी उनके खानेसे रागादिरूप हिंसा होती है । शराब, माँस, शहद और पाँच उदम्बर फल ये सब अनिष्ट और दुस्तर ऐसे महा पापके स्थान हैं, इनको त्याग कर ही बुद्धिमान जिनधर्म ग्रहण करनेके योग्य

होता है।' यथा—

मद्यं मांसं क्षौद्रं पञ्चोदुम्बरफलानि यत्नेन।
हिंसाव्युपरतिकामैर्मोक्तव्यानि प्रथममेव ॥६१॥
मधु मद्यं नवनीतं पिशितं च महाविकृतयस्ताः।
वल्भ्यन्ते न व्रतिना तद्वर्णाजन्तवस्तत्र ॥७१॥
योनिरुदम्बरयुग्मं प्लक्षन्यग्रोधपिप्पलफलानि।
त्रसजीवानां तस्मात्तेषां तद्भक्षणे हिंसा ॥७२॥
यानि तु पुनर्भवेयुः कालोच्छिन्नत्रसाणि शुष्काणि।
भजतस्तान्यपि हिंसा विशिष्टरागादिरूपा स्यात् ॥७३॥
अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य।
जिनधर्मदेशनाया भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः ॥७४॥

(७) ग्यारहवीं शताब्दिके आचार्य श्री अमितगति अपने श्रावकाचारके अध्याय ५वेंमें लिखते हैं कि 'मद्य,मांस,मधु,रात्रि-भोजन और पाँच उदम्बर फल, इनका त्याग व्रतधारण करनेकी इच्छा करने वाला करता है, मन-वचन-कायसे त्याग करनेसे व्रतकी वृद्धि होती है। नौनीघीमें अनेक प्रकारके जीवोंका घात होता है, जो उसको खाता है उसके लेशमात्र भी संयम नहीं हो सकता, धर्मपरायण होना तो फिर बनही कैसे सकता है? सज्जन पुरुष मरण पर्यंतके लिये मद्य, मांस, मधु और नौनीघी का मन वचन कायसे त्याग करते हैं।' यथा—

मद्यमांसमधुरात्रिभोजनं क्षीरवृक्षफलवर्जनं त्रिधा।
कुर्वते व्रतजिघृक्षया बुधास्तत्र पुष्यति निषेविते व्रतम् ॥१॥
चित्रजीवगणसूदनास्पदं यैर्विलोक्य नवनीतमद्यते।
तेषु संयमलवोऽपि न विद्यते धर्मसाधनपरायणःकुतः ॥३५
यैर्जिनेन्द्रवचनानुसारिणो घोरजन्मवनपातभीरवः।
तैश्चतुष्टयमिदं विनिंदितं जीवितावधि विमुच्यते त्रिधा॥३७

(८) विक्रमकी बारहवीं शताब्दीमें, जबकि वस्त्रधारी भी दिगम्बर मुनि और आचार्य माने जाने लगे थे—अर्थात् जब कि भट्टारकयुग जारी हो गया था—तब सैद्धान्तिक चक्रवर्तीकी पदवी धारण करने वाले वसुनन्दी अपने श्रावकाचारमें लिखते हैं कि 'जो कोई शुद्ध सम्यग्दृष्टि पाँच उदम्बर फल और सात व्यसनोंका त्याग करता है वह दार्शनिक श्रावक है। गूलर, बड़, पीपल, पिलखन और पाकर फल, अचार और फूल, इनमें निरंतर त्रस जीवोंकी उत्पत्ति होती है, वह त्यागने योग्य हैं। जूआ, शराब, मांस, वेश्या, शिकार, चोरी और परस्त्री ये सात व्यसन दुर्गतिमें ले जाने वाले हैं—'

पंचुंबरसहियाइं सत्त वि विसयाइं जो विवज्जेइ।
सम्मत्तविसुद्धमई सोदंसणसावओ भणिओ ॥५७॥
उंबरवडपीपलपियपायरसंधाणतरुपसूणाइं।
णिच्चं तससंसिद्धाइं ताइं परिवज्जियव्वाइं ॥५८॥
जूयं मज्जं मांसं वेस्सा पारद्धि-चोर परदारं।
दुग्गइगमणस्सेदाणि हेउभूदाणि पावाणि ॥५९॥

इस प्रकार पुराने शास्त्रोंको बहुत कुछ ढूंढने पर भी पहली प्रतिमाधारी श्रावकके वास्ते कहीं किसी शास्त्रमें भी एकेन्द्रिय स्थावरकाय हरी सब्जीके त्यागका विधान नहीं मिलता है। पुराने समयके महान् आचार्योंने तो पहली प्रतिमाके लिये एकमात्र सम्यक्त्वकी शुद्धिको ही जरूरी बताया है, इस ही कारण उनके लिये कोई किसी प्रकारका भी त्याग नहीं लिखा है। परन्तु पीछेके आचार्योंने मांस, शराब, शहद, और पाँच उदम्बर फलका त्याग भी त्रसहिंसाकी दृष्टिसे उनके वास्ते जरूरी ठहरा दिया है। फिर और भी कुछ समय बीतने पर त्रसहिंसासे बचनेके लिये नौनी घी और फूलोंका त्याग भी जरूरी हो गया है। अन्तमें

भट्टारकी जमानेमें अचार (संधाना) और सप्त व्यसनोंका त्याग भी इस पहली प्रतिमाके लिये जरूरी ठहरा दिया गया है। आगे चलकर आशाधरजी जैसे पंडितोंने तो अपनी लेखनी-द्वारा पहली प्रतिमाधारी अविरत सम्यग्दृष्टिको त्याग नियमोंमें ऐसा जकड़ा है कि जिससे घबराकर जैनी लोग अब तो पहली प्रतिमाका नाम सुनकर काँपने लग जाते हैं और कह उठते हैं कि अजी सम्यग्दर्शनका घर तो बहुत दूर है, वह आजकल किससे ग्रहण किया जा सकता है, और कौन प्रतिमाधारी बन सकता है ?

इतना होनेपर भी स्थावरकाय एकेन्द्रिय वनस्पति अर्थात् सागसब्जीके त्यागका विधान पहली प्रतिमाधारी श्रावकके वास्ते किसी भी शास्त्रमें नहीं किया गया है। इस कारण यह बात तो बिल्कुल ही स्पष्ट है कि पहली प्रतिमाधारी दार्शनिक श्रावक वा दूसरे शब्दोंमें चौथे गुणस्थानवर्ती अविरत सम्यग्दृष्टिके वास्ते किसी भी शास्त्रमें वनस्पतिकायिक एकेन्द्रिय जीवोंकी हिंसासे बचनेके वास्ते सागसब्जीके त्यागका विधान नहीं है। कारण यह कि इस प्रतिमावालेके परिणाम ऐसे नहीं होते हैं जो वह एकेन्द्रिय जीवोंकी हिंसासे बच सके। पहली प्रतिमावाला तो क्या, इससे भी ऊपर चढ़कर जब वह अहिंसा अणुव्रतका धारी होता है, तब भी उसके परिणाम यहीं तक दयारूप होते हैं कि वह चलने फिरते त्रस जीवोंकी संकल्पी हिंसासे बच सके—एकेन्द्रिय स्थावर जीवोंकी हिंसासे नहीं, जैसाकि आगे दिखाया जावेगा। तब जो लोग पहली प्रतिमाधारी सम्यक्त्वी भी नहीं हैं, यहाँ तक कि जो सम्यक्त्वी होनेसे साफ इङ्कार करते हैं, उनके परिणाम तो साग-सब्जीके त्यागके योग्य हो ही नहीं सकते हैं। उनको तो सबसे पहले यह ही ज़रूरत है कि वे जैनधर्मके सातों तत्वोंके स्वरूपको समझ, मिथ्यात्वको त्याग, सम्यग्दर्शन ग्रहणकर सच्चे श्रावक बनें फिर अपने परिणामोंमें उन्नति करते हुए दया भावको दृढ़ करते हुए शास्त्रोंकी आज्ञानुसार त्याग करते हुए आगे आगे बढ़ने और आत्मकल्याण करनेकी कोशिश करें; जैनधर्मके स्वरूपको समझने और अपने श्रद्धानको ठीक करनेसे पहले ही जैनशास्त्रोंके बताये हुए सिलसिलेके विरुद्ध चलकर और वृथा ढौंग बनाकर जैनधर्मको बदनाम न करें। रूढ़ियोंके गुलाम बन धर्मको बदनाम करनेसे तो वे पापका ही बंध करते हैं और अपना संसार बिगाड़ते हैं।

(२) अहिंसाणुव्रत

दूसरी प्रतिमाधारीके पाँच अणुव्रतोंमें अहिंसाणुव्रतका कथन जैनशास्त्रोंमें इस प्रकार किया है—

(१) चारित्रपाहुड़में अहिंसाणुव्रतीके लिये सिर्फ इतना ही बतलाया है कि वह मोटे रूपसे त्रसजीवोंके घातका त्याग करे। यथा—

थूले तसकायवहे थूले मोसे अदत्तथूले य।
परिहारो परमहिला परिग्गहारंभपरिमाणं ॥२४॥

(२) रत्नकरंड श्रावकाचारमें मन वचन काय तथा कृत-कारित-अनुमोदनासे त्रसजीवोंकी संकल्पी हिंसाके त्यागको अहिंसाणुव्रत बताया है; और फिर मद्य-मांस-मधुके त्यागसहित पाँच अणुव्रतोंको व्रती श्रावकके आठ मूल गुण वर्णन किया है। यथा—

संकल्पात्कृतकारितमननाद्योगत्रयस्य चरसत्वान् ।
न हिनस्ति यत्तदाहुः स्थूलवधाद्विरमणं निपुणाः ॥५३॥
मद्यमांसमधुत्यागैः सहाणुव्रतपञ्चकम् ।
अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः ॥६६॥

(३) तत्वार्थसूत्र अध्याय ७ सूत्र ३० की टीका करते हुए, सर्वार्थसिद्धिमें भी त्रसजीवोंके घातके त्यागको ही अहिंसाणुव्रत बताया है—

त्रसप्राणिव्यपरोपणान्निवृत्तः अगारीत्याद्यमणुव्रतम् ।

राजवार्तिकमें भी द्वीन्द्रियादि त्रस जीवोंके घातके त्यागको ही अहिंसाअणुव्रत लिखा है—

द्वीन्द्रियादीनां जंगमानां प्राणिनां व्यपरोपणात् त्रिधा निवृत्तः अगारीत्याद्यमणुव्रतम् ।

श्लोकवार्तिकमें भी दो इन्द्रिय आदिके घातका त्याग अहिंसाणुव्रत बताया है—

स हि द्वीन्द्रियादि व्यपरोपणे निवृत्तः ।

(४) स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी निम्न गाथामें भी मन, वचन, काय और कृत,कारित,अनुमोदनासे त्रस जीवोंकी हिंसा न करना अहिंसा अणुव्रत कहा है यथा—

तसघादं जो ण करदि मणवयकाएहिं णेव कारयदि ।
कुव्वंतं पि ण इच्छदि पढमवयं जायदे तस्स ॥३३२॥

(५) पुरुषार्थसिद्धयुपायमें लिखा है कि 'अहिंसारूप धर्मको सुनकर भी जो स्थावर जीवोंकी हिंसा को नहीं छोड़ सकता है वह त्रसकी हिंसाका तो अवश्य त्याग करे, विषयोंको न्यायपूर्वक सेवन करनेवाले गृहस्थोंको थोड़ेसे एकेन्द्रिय जीवोंका जो घात करना पड़ता है, उनके सिवायअन्य एकेन्द्रिय जीवोंके घात करनेसे तो बचें,अर्थात् बिना जरूरतके व्यर्थ एकेन्द्रिय जीवोंका भी घात न करें।' यथा—

धर्ममहिंसारूपं संशृण्वन्तोऽपि ये परित्यक्तुम् ।
स्थावरहिंसामसहास्त्रसहिंसां तेऽपि मुञ्चन्तु ॥७५॥
स्तोकैकेन्द्रियघाताद् गृहिणां सम्पन्नयोग्यविषयाणाम् ।
शेषस्थावरमारण विरमणमपि भवति करणीयम् ॥ ७७॥

(६) अमितगति श्रावकाचार अध्याय ६ में लिखा है कि 'त्रस और स्थावर दो प्रकारके जीवों मेंसे त्रस जीवोंकी रक्षा करना अहिंसाणुव्रत है। जो स्थावरकी हिंसा करता है और त्रसकी रक्षा करता है, जिसके परिणाम शुद्ध हैं और जिसने इन्द्रियोंके विषयोंको नहीं त्यागा है वह संयमासंयमी है (श्रावक)। घरका काम करता हुआ गृहस्थ मंदकषायी होता हुआ भी आरम्भी हिंसाको नहीं त्याग सकता है।' यथा—

द्वेधा जीवा जैनैर्मतास्त्रसस्थावरादिभेदेन ।
तत्र त्रसरक्षायां तदुच्यतेऽणुव्रतं प्रथमम् ॥४॥
स्थावरघाती जीवस्त्रससंरक्षी विशुद्धपरिणामः ।
योऽक्षविषयान्निवृत्तः स संयतासंयतो ज्ञेयः ॥५॥
गृहवाससेवनरतो मंदकषायप्रवर्तितारम्भः ।
आरम्भजां स हिंसां शक्नोति न रक्षितुं नियतम् ॥७॥

(७) वसुनन्दी श्रावचाकारमें लिखा है कि 'त्रसकी हिंसा नहीं करना और एकेन्द्रियकी भी बिना प्रयोजन हिंसा नहीं करना अहिंसाणुव्रत है'—

जेतसकाया जीवा पुव्वुद्दिट्ठा ण हिंसयव्वा ते ।
एइंदिया वि णिक्कारणेण पढमं वयं थूलं ॥२०॥

इस प्रकार अहिंसाणुव्रतके कथनमें भी कहीं एकेन्द्रिय स्थावरकाय साग-सब्ज़ीके त्यागका विधान नहीं किया गया है—अर्थात् अणुव्रत धारण करनेवालोंके वास्ते भी आचार्योंने साग-सब्ज़ीके त्यागको उनके परिणामोंके योग्य नहीं समझा है। इस ही कारण उनको तो खुले शब्दोंमें जरूरतके

अनुसार वनस्पति आदि एकेन्द्रिय जीवोंके घातकी छुट्टी देकर त्रसजीवोंके घातकी ही मनाही की गई है। अपने भावोंकी उन्नति करता हुआ मनुष्य जिस जिस दर्जेमें पहुँचता जाता है उस ही दर्जेके भावोंके अनुसार आचार्य उसको त्यागकी शिक्षा देते गये हैं, यह ही जैनधर्मकी बड़ी भारी खूबी है।

(३) भोगोपभोगपरिमाण व्रत

व्रतप्रतिमाधारी गृहस्थ हिंसा, झूठ, चोरी और कामभोगका एकदेश त्यागी होकर गृहत्यागका अभ्यास करनेके वास्ते गृहस्थमें काम आनेवाली सर्वप्रकारकी वस्तुओंका भी परिमाण करने लगता है—उनकी भी हदबन्दी करना शुरू कर देता है। इतनी ही वस्तुओंसे अपनी गृहस्थी चलाऊँगा, इससे अधिक न रखूंगा, इस प्रकारका संतोष करके बहुत ही सादा जीवन बिताने लगता है, तब उसके परिग्रहपरिमाण व्रत होकर पाँचों अणुव्रत पूरे होजाते हैं। फिर वह और भी अधिक त्यागी होनेके वास्ते सब तरफ़की दिशाओंका परिमाण करता है कि उनके अन्दर जितना भी क्षेत्र आवे उस ही के अन्दर अपना सम्बन्ध करूँगा। उससे बाहर कुछ भी वास्ता न रखूंगा, इस प्रकारका नियम करता है, तब उसके दिग्व्रत नामका छठा व्रत होता है, जिससे उसके संसारका कारोबार और भी कम हो जाता है, संतोष और वैराग्य बढ़ जाता है।

इसके बाद वह सोचता है कि जो कुछ भी थोड़ा-बहुत गृहस्थका कार्य मैं करता हूँ उसमें भी कुछ न कुछ हिंसा तो ज़रूर होती है, परन्तु मेरे मोहकर्मका ऐसा प्रबल उदय है कि इन धंधोंको भी छोड़ पूर्ण त्यागी हो मुनि बननेका साहस नहीं कर सकता हूँ, तो भी इतना तो मुझे करना ही चाहिये कि जो कुछ भी करूँ अपने लिये ही करूँ, दूसरोंकोतो उनके सांसारिक मामलोंमें किसी प्रकार की सलाह वा सहायता न दूं। ऐसा विचार कर वह अनर्थ दंड त्याग नामका सातवाँ व्रत भी धारण करता है, जिससे दूसरे लोग भी उसको उसके किसी काममें सलाह और सहायता देना बन्द कर देते हैं और वह दुनियाके लोगोंसे कुछ अलग थलग सा ही रह जाता है—संसारसे विरक्तसा ही बन जाता है। इसके बाद ही वह भोगोपभोगपरिमाण व्रत धारण करनेके योग्य होता है।

जो वस्तु एक बार भोगनेमें आवे वह भोग; जैसे खाना, पीना और जो बार बार भोगनेमें आवे वह उपभोग; जैसे वस्त्र, मकान, सवारी, आदि। इन सबका परिमाण करके अपनी इन्द्रियोंके विषयोंको घटाना इस व्रतका असली उद्देश्य है, जिसका विधान शास्त्रोंमें इस प्रकार किया है:—

(१) रत्नकरंडश्रावकाचारमें लिखा है कि 'त्रस जीवोंकी हिंसाके ख़यालसे मांस और मधुका, प्रमादके ख़यालसे मद्यका त्याग कर देना चाहिये; और फल थोड़ा तथा हिंसा अधिक होनेके ख़यालसे मूली और गीला अदरक आदि अनन्तकाय साधारण बनस्पतिको और नौनी घी और नीम तथा केतकीके फूल आदि को भी त्यागना चाहिये, जो हानिकारक हों उनको भी छोड़े और जो भले पुरुषोंके सेवन योग्य न हों अर्थात् निंदनीक हों उनको भी छोड़े। साथ ही भोजन, सवारी, बिस्तर, स्नान, सुगंध, ताम्बूल, वस्त्र, अलंकार, काम, भोग, संगीत आदिको समयकी मर्यादा करके त्यागता

रहै ।' यथा--

त्रसहतिपरिहरणार्थं क्षौद्रं पिशितं प्रमादपरिहृतये ।
मद्यं च वर्जनीयं जिनचरणौ शरणमुपयातैः ॥८४॥
अल्पफलबहुविघातान्मूलकमार्द्राणि शृङ्गवेराणि ।
नवनीतनिम्बकुसुमं कैतकमित्येवमवहेयम् ॥८५॥
यदनिष्टं तद्व्रतयेद्यच्चानुपसेव्यमेतदपि जह्यात् ।
अभिसन्धिकृता विरतिर्विषयाद्योग्याद्व्रतं भवति ॥८६॥
भोजनवाहन शयनस्नानपवित्राङ्गरागकुसुमेषु ।
ताम्बूलवसनभूषणमन्मथसंगीतगीतेषु ॥८७॥
अद्यदिवा रजनी वा पक्षोमासस्तथर्तुरयनंवा ।
इति कालपरिच्छित्त्या प्रत्याख्यानं भवेन्नियमः॥८८॥

(२) सर्वार्थसिद्धिमें वर्णन है कि खाना, पीना, सुगन्ध, फूलमाला आदि उपभोग हैं। वस्त्र, धोती, चादर, भूषण, सेज, बैठक, मकान, गाड़ी आदि परिभोग हैं, इन दोनोंका परिमाण करना भोगोपभोगपरिमाण व्रत है। त्रसघातसे बचनेवालेको मधु, मांस, मदिराका सदाके लिये त्याग करना चाहिये, केवड़ा, अर्जुनके फूल और अदरक, मूली आदि जो अनन्तकाय हैं वे भी त्यागने योग्य हैं। रथ, गाड़ी, सवारी, भूषण, आदिमें इतना जरूरी है और इतना ग़ैर ज़रूरी ऐसा ठहराकर ग़ैर ज़रूरीका त्याग करना, कालके नियमसे अर्थात् कालकी मर्यादा करके अथवा जन्म भरके वास्ते, जैसी शक्ति हो।' इस वर्णनके मूल वाक्य इस प्रकार हैं-

"उपभोगोऽशनपानगन्धमाल्यादिः परिभोग आच्छादनप्रावरणालङ्कारशयनासनगृहयानवाहनादिः तयोः परिमाणमुपभोगपरिभोगपरिमाणम्। मधु मांसं मद्यञ्च सदा परिहर्तव्यं त्रसघातान्निवृत्तचेतसा केतक्यर्जुनपुष्पादीनि शृङ्गवेरमूलकादीनि बहुजन्तुयोनिस्थानान्यनन्त कायव्यपदेशार्हाणि परिहर्तव्यानि बहुघाताल्पफलत्वात्। यानवाहनाभरणादिष्वेतावदेवेष्टमतोऽन्यदनिष्टमित्यनिष्टान्निवर्तनं कर्तव्यं कालनियमेन यावज्जीवं वा यथाशक्ति।"

(३) तत्वार्थराजवार्तिकमें भी लिखा है कि 'जो एक बार भोगनेमें आवे वह उपभोग है, जैसे खाना पीना सुगन्ध और मालादिक; और जो बार बार भोगनेमें आवे वह परिभोग है, जैसे धोती चादर भूषण बिस्तर आसन मकान गाड़ी सवारी आदि; इन दोनोंका परिमाण करना।' यथा—

उपेत्यात्मसात्कृत्य भुज्यते अनुभूयत इत्युपभोगः। अशनपानगन्धमाल्यादिः। सकृद्भुक्त्वा परित्यज्य पुनरपि भुज्यते इति परिभोग इत्युच्यते। आच्छादनप्रावरणालंकारशयनासनगृहयानवाहनादिः उपभोगश्च परिभोगश्च उपभोगपरिभोगौ उपभोगपरिभोगयोः परिमाणं उपभोगपरिभोगपरिमाणं।

(४) श्लोकवार्तिकमें बतलाया है कि 'भोगोपभोग पाँच प्रकारका है—१ त्रसघात २ प्रमाद ३ बहुबध, ४ अनिष्ट, ५ अनुपसेव्य। इनमेंसे मधु और मांस त्रस घातसे पैदा होते हैं, उनसे सदाके लिये विरक्त रहना विशुद्धिका कारण है। शराबसे प्रमाद होता है, उसका भी त्याग ज़रूरी है। प्रमादसे सब ही व्रतोंका विलोप होता है। केतकी, अर्जुन आदिके फूलोंकी माला जन्तुसहित होती है, अदरक, मूली और गीली हल्दी आदि अनन्तकाय और नीमके फूल आदि उपदंशक, जिनपर छोटे छोटे भुनगे आकर बैठ जाते हैं, इनसे बहुबध होता है, इस वास्ते इनसे भी सदा विरक्त रहना विशुद्धिका कारण है। गाड़ी, सवारी आदि जो जिसके लिये ग़ैर ज़रूरी हों उनका भी त्याग उमर भरके लिये कर देना चाहिये। छपे हुए वस्त्र आदि अनुपसेव्य हैं, असभ्य ही उनको काममें लाते हैं, वे प्रिय मालूम हों तोभी उनको सदाके लिये त्यागना चाहिये।' यथा-

"भोगपरिभोगसंख्यानं पंचविधं त्रसघातप्रमादबहुवधानिष्टानुपसेव्यविषयभेदात्! तत्र मधु मांसं त्रसघातजं तद्विषयं सर्वदा विरमणं विशुद्धिदं, मद्यं प्रमाद

निमित्तं तद्विषयं च विरमणं संविधेयमन्यथा तदुपसेवनकृतः प्रमादात्सकलव्रतविलोपप्रसंगः । केतक्यर्जुनपुष्पादिमाल्यं जन्तुप्रायं शृंगवेरमूलकार्द्रहरिद्रानिम्बकुसुमादिकमुपदंशकमनन्तकायव्यपदेशं च बहुवधं तद्विषयं विरमणं नित्यं श्रेयः, श्रावकत्वविशुद्धिहेतुत्वात् । यानवाहनादि यदस्यानिष्टं तद्विषयं परिभोगविरमणं यावज्जीवं विधेयं । चित्रवस्त्राद्यनुपसेव्यमसत्याशिष्टसेव्यत्वात्, तदिष्टमपि परित्याज्यं शश्वदेव । ततोऽन्यत्र यथाशक्ति विभवानुरूपं नियतदेशकालतया भोक्तव्यम् ।"

(५) स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षामें लिखा है कि जो अपनी सम्पत्तिके अनुसार भोजन, ताम्बूल, वस्त्र आदिकका परिमाण करता है उसके भोगोपभोगपरिमाणव्रत है, जो अपने पासकी वस्तुको त्यागता है उसकी सुरेन्द्र भी प्रशंसा करते हैं, जो मनके लड्डू के तौर ही छोड़ता है उसका फल अल्प होता है।' यथा—

जाणित्ता सम्पत्ती भोयणतंबोलवत्थमाईणं ।
जं परिमाणं कीरदि भोउवभोयं वयं तस्स ॥३५०॥
जो परिहरेइ संतं तस्स वयं थुव्वदे सुरिन्देहिं ।
जो मणुलड्डुव भक्खदि तस्स वयं अप्पसिद्धयरं ॥३५१॥

(६) 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' में निम्न वाक्यों द्वारा यह प्रतिपादन कियाहै कि देशव्रतीको भोगोपभोगसे ही हिंसा होती है, इस कारण वस्तु स्वभावको जानकर अपनी शक्तिके अनुसार इनका भी त्याग करना चाहिये । अनन्त कायमें एकके मारनेसे अनंत जीवोंका घात होता है, इस कारण सब ही अनन्तकाय त्यागने योग्य हैं । नौनी घी बहुत जीवोंकी खान है वह भी त्यागना चाहिये, अन्य भी जो आहारकी शुद्धिमें विरुद्ध हैं वे भी त्यागने चाहियें, बुद्धिमानोंको अपनी शक्तिके अनुसार अविरुद्ध भोग भी त्यागने चाहियें, जिनका सदाके लिये त्याग न हो उनका रात दिनकी मर्यादासे त्याग करे—'

भोगोपभोगमूला विरताविरतस्य नान्यतो हिंसा ।
अधिगम्य वस्तुतत्वं स्वशक्तिमपि तावपि त्याज्यौ ॥१६१॥
एकमपि प्रजिघांसु निहन्त्यनन्तान्यतस्ततोऽवश्यम् ।
करणीयमशेषाणां परिहरणमनन्तकायानाम् ॥१६२॥
नवनीतं च त्याज्यं योनिस्थानं प्रभूतजीवानाम् ।
यद्वापि पिण्डशुद्धौ विरुद्धमभिधीयते किंचित् ॥१६३॥

(७) अमितगति-श्रावकाचारका विधान है कि "अपनी शक्तिके अनुसार भोगोपभोगकी मर्याद करना | भोगोपभोगपरिमाण नामका शिक्षाव्रत है, ताम्बूल, गंध, लेपन, स्नान, भोजन, भोग हैं, अलंकार, स्त्री, शय्या आसन, वस्त्र, वाहन आदि उपभोग हैं—'

भोगोपभोगसंख्या विधीयते येन शक्तितो भक्त्या ।
भोगोपभोगसंख्या शिक्षाव्रतमुच्यते तस्य ॥९२॥
तांबूलगंधलेपनमज्जनभोजनपुरोगमो भोगः ।
उपभोगो भूषास्त्रीशयनासनवस्त्रवाहनाद्यः ॥९३॥

(८) वसुनन्दि श्रावकाचारमें लिखा है कि शरीरका लेप, ताम्बूल, सुगंध और पुष्पादिका परिमाण करना भोगविरति पहला शिक्षाव्रत है, शक्तिके अनुसार स्त्री, वस्त्र, आभरण आदिका परिमाण करना उपभोगविरति नामका दूसरा शिक्षाव्रत है।

जं परिमाणं कीरइ मंडणतंबोलगंधपुप्फाणं ।
तं भोयविरइ भणियं पढमं सिक्खवयं सुत्ते ॥२१६॥
सगसत्तीए महिलावत्थाहरणाण जं तु परिमाणं ।
तं परिभोयणिवुत्ती विदियं सिक्खावयं जाणे ॥२१७॥

इस प्रकार इस भोगोपभोगपरिमाण व्रतमें इन्द्रियोंके विषयोंको कम करनेके वास्ते वस्त्र अलंकारादि अनेक वस्तुओंके त्यागके साथ अनन्तकाय साधारण बनस्पति अर्थात् कंदमूलके खानेके त्यागका भी विधान किया गया है, परन्तु प्रत्येक वनस्पति अर्थात् जिस वनस्पतिमें एक ही जीव होता है उसके त्यागका नहीं । (अगली किरणमें समाप्त

महात्मा गान्धीके २७ प्रश्नोंका श्रीमद् रायचन्दजी द्वारा समाधान

महात्मा गान्धी जब (सन् १८९३ ईस्वी) दक्षिण अफ्रीकामें थे तब कुछ क्रिश्चियन सज्जनोंने ईसाईमतमें दीक्षित हो जानेके लिये उन पर डोरे डालने शुरू किये। फलस्वरूप महात्माजीका चित्त डाँवाडोल होगया और अपने धर्मके प्रति अनेक शंकाएँ उत्पन्न होगई। अतः उन्होंने अपनी वे शंकाएँ श्रीमद् रायचन्दजीको लिख भेजीं; क्योंकि रायचन्दजीकी विद्वत्ता और धर्म-निष्ठाके प्रति उनके हृदयमें पहले ही आदरके भाव थे। रायचन्दजी द्वारा शंकाओंका समाधान होने पर महात्माजी दूसरे धर्ममें जानेसे बचे, अपने धर्म पर श्रद्धा बढ़ी और उन्हें आत्मिक शान्ति प्राप्त हुई। रायचन्दजी-के सद्प्रयत्नसे वह हिन्दुधर्ममें स्थिर रह सके और उन्हें बहुतसी बातें प्राप्त हुई, इसीलिये महात्माजीने लिखा है कि "मेरे जीवन पर मुख्यतासे रायचन्दजीकी छाप पड़ी है"।

प्रश्नोत्तरका वह अंश पाठकोंके अवलोकनार्थ "श्रीमद्रायचन्द ग्रन्थ" से यहाँ दिया जा रहा है।

—सम्पादक

१. प्रश्नः—आत्मा क्या है ? क्या वह कुछ करती है ? और उसे कर्म दुख देता है या नहीं ?

महात्मा गांधी

उत्तरः— (१) जैसे घट पट आदि जड़ वस्तुयें हैं, उसी तरह आत्मा ज्ञानस्वरूप वस्तु है। घट पट आदि अनित्य हैं—त्रिकालमें एक ही स्वरूपसे स्थि-रता पूर्वक रह सकने वाले नहीं हैं। आत्मा एक स्वरूपसे त्रिकालमें स्थिर रह सकने वाली नित्य पदार्थ है। जिस पदार्थकी उत्पत्ति किसी भी संयोगसे न हो सकती हो वह पदार्थ नित्य होता है। आत्मा किसी भी संयोगसे उत्पन्न हो सकती हो, ऐसा मालूम नहीं होता। क्योंकि जड़के चाहे कितने भी संयोग क्यों न करो तो भी उससे चेतनकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। जो धर्म जिस पदार्थमें नहीं होता, उस प्रकारके बहुतसे पदार्थोंके इकट्ठे करनेसे भी उस जो धर्म नहीं है, वह धर्म उत्पन्न नहीं हो सकता, ऐसा सबको अनुभव हो सकता है। जो घट पट आदि पदार्थ हैं, उनमें ज्ञानस्वरूप देखनेमें नहीं आता। उस प्रकारके पदार्थोंका यदि परिणामांतर
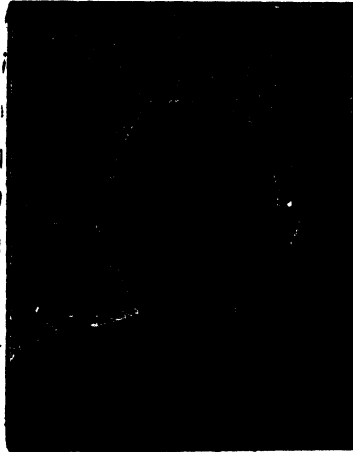
पूर्वक संयोग किया हो अथवा संयोग हुआ हो, तो भी वह उसी तरह की जाति का होता है, अर्थात् वह जड़स्वरूप ही होता है, ज्ञानस्वरूप नहीं होता। तो फिर उस तरहके पदार्थके संयोग होने पर आत्मा अथवा जिसे ज्ञानी पुरुष मुख्य 'ज्ञानस्वरूप लक्षणयुक्त' कहते हैं, उस प्रकारके (घट पट आदि, पृथ्वी, जल, वायु, आकाश) पदार्थसे किसी तरह उत्पन्न हो सकने योग्य नहीं। 'ज्ञानस्वरूपत्व' यह आत्माका मुख्य लक्षण है, और जड़का मुख्य-लक्षण 'उसके अभावरूप' है। उन दोनोंका अनादि सहज स्वभाव है। ये, तथा इसी तरहके दूसरे हज़ारों प्रमाण आत्माको 'नित्य' प्रतिपादन कर सकते हैं। तथा उसका विशेष विचार करने पर नित्यरूपसे सहजस्वरूप आत्मा अनुभवमें भी आती है। इस कारण सुख-दुख आदि भोगनेवाले, उससे निवृत होनेवाले, विचार करनेवाले प्रेरणा करनेवाले इत्यादि भाव जिसकी विद्यमानतासे अनुभवमें आते हैं, ऐसी वह आत्मा मुख्य चेतन (ज्ञान) लक्षणसे युक्त है। और उस भावसे (स्थितिसे) वह सब कालमें रह सकनेवाली 'नित्यपदार्थ' है। ऐसा माननेमें कोई भी दोष अथवा बाधा मालूम नहीं होती, बल्कि इससे सत्य के स्वीकार करने रूप गुणकी ही प्राप्ति होती है।

यह प्रश्न तथा तुम्हारे दूसरे बहुतसे प्रश्न इस तरहके हैं कि जिनमें विशेष लिखने, कहने और समझानेकी आवश्यकता है। उन प्रश्नोंका उस प्रकारसे उत्तर लिखा जाना हालमें कठिन होनेसे प्रथम तुम्हें पट्दर्शनसमुच्चय ग्रन्थ भेजा था, जिसके बाँचने और विचार करनेसे तुम्हें किसी भी अंशमें समाधान हो; और इस पत्रसे भी कुछ विशेष अंश में समाधान हो सकना संभव है। क्योंकि इस सम्बन्धमें अनेक प्रश्न उठ सकते हैं जिनके फिर फिरसे समाधान होनेसे, विचार करनेसे समाधान होगा।

(२) ज्ञान दशामें—अपने स्वरूपमें यथार्थ बोधसे उत्पन्न हुई दशामें—वह आत्मा निज भावका अर्थात् ज्ञान, दर्शन (यथास्थित निश्चय) और सहज-समाधि परिणामका कर्त्ता है; अज्ञान दशामें क्रोध, मान, माया, लोभ इत्यादि प्रकृतियोंका कर्त्ता है; और उस भावके फलका भोक्ता होनेसे प्रसंगवश घट पट आदि पदार्थोंका निमित्तरूपसे कर्त्ता है। अर्थात घट पट आदि पदार्थोंका मूल द्रव्योंका वह कर्त्ता नहीं, परन्तु उसे किसी आकारमें लानेरूप क्रियाका ही कर्त्ता है। यह जो पीछे दशा कही है, जैनदर्शन उसे 'कर्म' कहता है, वेदान्त दर्शन उसे 'भ्रांति' कहता है, और दूसरे दर्शन भी इसीसे मिलते जुलते इसी प्रकारके शब्द कहते हैं। वास्तविक विचार करनेसे आत्मा घट पट आदिका तथा क्रोध आदिका कर्त्ता नहीं हो सकती, वह केवल निजस्वरूप ज्ञान-परिणामका ही कर्त्ता है—ऐसा स्पष्ट समझमें आता है।

(३) अज्ञानभावसे किए हुए कर्म प्रारंभकालसे बीजरूप होकर समयका योग पाकर फलरूप वृक्षके परिणामसे परिणमते हैं; अर्थात् उन कर्मोंको आत्माको भोगना पड़ता है। जैसे अग्निके स्पर्शसे उष्णताका सम्बन्ध होता है और वह उसका स्वाभाविक वेदनारूप परिणाम होता है, वैसे ही आत्माको क्रोध आदि भावके कर्त्तापनेसे जन्म, जरा, मरण आदि वेदनारूप परिणाम होता है। इस बातका तुम विशेषरूपसे विचार करना और

उस संबन्धमें यदि कोई प्रश्न हो तो लिखना। क्योंकि इस बातको समझकर उससे निवृत होनेरूप कार्य करनेपर जीवको मोक्ष दशा प्राप्त होती है।

२. *प्रश्नः*—ईश्वर क्या है ? वह जगत्का कर्त्ता है, क्या यह सच है ?

उत्तरः—(१) हम तुम कर्म बंधनमें फँसे रहने वाले जीव हैं। उस जीवका सहज स्वरूप अर्थात् कर्म रहितपना—मात्र एक आत्म स्वरूप-जो स्वरूप है, वही ईश्वरपना है। जिसमें ज्ञान आदि ऐश्वर्य हैं वह ईश्वर कहे जाने योग्य है और वह ईश्वरपना आत्माका सहज स्वरूप है। जो स्वरूप कर्मके कारण मालूम नहीं होता, परन्तु उस कारणको अन्य स्वरूप जानकर जब आत्माकी ओर दृष्टि होती है, तभी अनुकर्मसे सर्वज्ञता आदि ऐश्वर्य उसी आत्मामें मालूम होता है। और इससे विशेष ऐश्वर्ययुक्त कोई पदार्थ—कोई भी पदार्थ—देखने पर भी अनुभवमें नहीं आ सकता। इस कारण ईश्वर आत्माका दूसरा पर्यायवाची नाम है; इससे विशेष सत्तायुक्त कोई पदार्थ ईश्वर नहीं है इस प्रकार निश्चयसे मेरा अभिप्राय है।

(२) वह जगतका कर्त्ता नहीं; अर्थात् परमाणु आकाश आदि पदार्थ नित्य ही होने संभव हैं; वे किसी भी वस्तुमेंसे बनने संभव नहीं। कदाचित् ऐसा मानें कि वे ईश्वरमेंसे बने हैं तो यह बात भी योग्य मालूम नहीं होती, क्योंकि यदि ईश्वरको चेतन मानें तो फिर उससे परमाणु आकाश वगैरह कैसे उत्पन्न हो सकते हैं ? क्योंकि चेतनसे जड़की उत्पत्ति कभी संभव ही नहीं होती यदि ईश्वरको जड़ माना जाय तो वह सहजही अनैश्वर्यवान ठहरता है। तथा उससे जीवरूप चेतन पदार्थकी उत्पत्ति भी नहीं हो सकती यदि ईश्वरको जड़ और चेतन उभयरूप मानें तो फिर जगत् भी जड़ चेतन उभयरूप होना चाहिये। फिर तो यह उसका ही दूसरा नाम ईश्वर रखकर संतोष रखने जैसा होता है। तथा जगत्का नाम ईश्वर रखकर संतोष रख लेने की अपेक्षा जगतको जगत् कहना ही विशेष योग्य है। कदाचित् परमाणु, आकाश आदिको नित्य मानें और ईश्वरको कर्म आदिके फल देनेवाला मानें, तो भी यह बात सिद्ध होती हुई नहीं मालुम होती। इस विषय पर षट्दर्शन समुच्चयमें श्रेष्ठ प्रमाण दिये हैं।

३. *प्रश्नः*—मोक्ष क्या है ?

उत्तरः—जिस क्रोध आदि अज्ञानभावमें देह आदिमें आत्माको प्रतिबंध है, उससे सर्वथा निवृत्ति होना—मुक्ति होना—उसे ज्ञानियोंने मोक्ष-पद कहा है। उसका थोड़ासा विचार करनेसे वह प्रमाणभूत मालूम होता है।

४. *प्रश्नः*—मोक्ष मिलेगा या नहीं क्या यह इसी देहमें निश्चितरूपसे जाना जा सकता है ?

उत्तरः—जैसे यदि एक रस्सीके बहुतसे बंधनोंसे हाथ बाँध दिया गया हो, और उनमेंसे क्रम-क्रमसे ज्यों ज्यों बंधन खुलते जाते हैं त्यों त्यों उस बंधनकी निवृत्तिका अनुभव होता है, और वह रस्सी बलहीन हो कर स्वतंत्रभावको प्राप्त होती है, ऐसा मालूम होता है—अनुभवमें आता है; उसी तरह आत्माको अज्ञानभावके अनेक परिणामरूप बन्धनका समागम लगा हुआ है, वह बन्धन ज्यों-ज्यों छूटता जाता है, त्यों-त्यों मोक्षका अनुभव होता है। और जब उसकी अत्यन्त अल्पता हो जाती है तब सहज ही आत्मामें निजभाव प्रकाशित होकर अज्ञानभावरूप बंधनसे छूट सकनेका अवसर आता है, इस प्रकार स्पष्ट अनुभव होता है। तथा सम्पूर्ण आत्माभाव समस्त अज्ञान आदि भावसे निवृत्त होकर इसी देहमें रहने पर भी आत्माको प्रगट होता है, और सर्व सम्बन्धमें केवल अपनी भिन्नता ही अनुभवमें आती है, अर्थात् मोक्ष-पद इस देहमें भी अनुभवमें आने योग्य है।

(अगली किरणमें समाप्त)
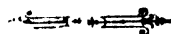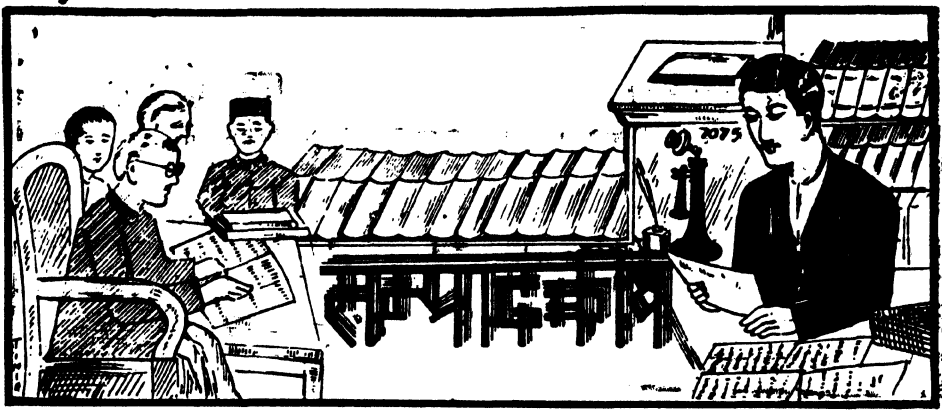
१ जीवन-ज्योतिकी लहर

हैदराबाद आर्य सत्याग्रहके जो समाचार आए दिन पत्रोंमें देखनेको मिलते हैं उनसे मालूम होता है कि हमारे आर्यसमाजी भाइयोंमें खूब जीवन है। ज़रासी ठेस अथवा थोड़ेसे घर्षणको पाकर उनकी जीवन-ज्योति जगमगा उठी है और उसकी अप्रतिहत लहर सारे भारतमें व्याप्त हो गई है! ग़रीबसे ग़रीब तथा अमीरसे अमीर भाईके हृदयमें सत्याग्रहको सफल बनानेकी उमंग है, हर कोई तन-मन धनसे सहायता पहुँचा रहा है, जत्थे पर जत्थे जारहे हैं और ज़रूरतसे अधिक भाई सत्याग्रहके लिये तय्यार होगये हैं—यहाँ तक कि प्रधान संचालक समितिको ऐसे आर्डर तक निकालने पड़ रहे हैं कि इतनेसे अधिक भाई एक साथ सत्याग्रहके लिये रवाना न होवें और न सत्याग्रहियोंकी स्पेशल ट्रेनें ही छोड़ी जावें, थोड़े-थोड़े भाइयोंके जत्थे क्रमशः रवाना होने चाहियें। यह सब देखकर हैद्राबादकी निज़ाम सरकार भी हैरान व परेशान है, उसकी सब जेलें सत्याग्रहियोंसे भर गई हैं—जिनके पर्याप्त भोजनके लिये भी उसके पास प्रबन्ध नहीं है और इसलिये वह अपनी सब सुध बुध भुलाकर, सभ्यता-शिष्टताको भी बालाएताक़ रखकर अमानुषिक कृत्यों तक पर उतर पड़ी है, जो कि उसकी नैतिक हारके स्पष्ट चिन्ह हैं। परन्तु इस दमनसे आर्य भाइयोंका उत्साह और भी अधिक बढ़ गया है, उनका स्वाभिमान उत्तेजित हो उठा है—उनकी जीवन-ज्योतिकी लहरने विशाल उग्ररूप धारण कर लिया है—और अब वे सब-कुछ न्योछावर करके विजय प्राप्त करनेके लिये उतारू हो गये हैं। यहाँ तक कि एक ग़रीब भाई भी कुछ न देसकनेके कारण यह प्रतिज्ञा करता है कि मैं महीने में चार दिन भोजन नहीं करूँगा और उससे जो बचत होगी उसे उस वक्त तक बराबर सत्याग्रहकी मददमें देता रहूँगा जब तक कि उसे सफलताकी प्राप्ति नहीं होगी। अपने आर्य भाइयोंके इस उत्साह, साहस, वीरत्व और बलिदानको देखकर छाती गर्वसे फूल उठती है और उनकी इस जीवन-ज्योतिकी प्रशंसा किये बिना नहीं रहा जाता। कुछ समय पहले सिक्ख भाइयोंने जो आदर्श उपस्थित किया था उसीकी प्रतिध्वनि आज आर्य भाई कर रहे हैं, यह कुछ कम प्रसन्नताका विषय नहीं है। निःसन्देह दोनों ही समाजें देशके लिये गौरव रूप हैं। आर्यभाइयोंके साथ, इस युद्धमें, मेरी हार्दिक सहानुभूति है और यह निरन्तर भावना है कि उनकी न्यायोचित माँगें शीघ्र स्वीकार की जाएँ और उन्हें सत्याग्रहमें पूर्ण सफलता प्राप्ति होवे। उनका यह त्याग और बलिदान ख़ाली नहीं जा सकता। सत्याग्रहके संचालकोंको बराबर अहिंसा पर दृढ़ रहना चाहिये, किसी भी प्रकारकी उत्तेजनाके वश उससे विचलित नहीं होना चाहिये, वह उन्हें अवश्य ही विजय दिलाकर छोड़ेगी।

निःसन्देह वह दिन धन्य होगा जिस दिन जैनसमाजमें भी ऐसी जीवन-ज्योतिका उदय होगा और वह त्याग

तथा बलिदानके पुनीत मार्गको अपनाता हुआ लोकसेवा के लिये अग्रसर बनेगा।

२ पशुबलि-विरोध बिल

हिन्दुमन्दिरोंमें तथा दूसरे उपासना स्थानों पर अन्ध श्रद्धावश धर्मके नामपर अथवा देवी-देवताओंको प्रसन्न करनेके लिये जो निर्दयता पूर्वक पशु-पक्षियोंका बलिदान किया जाता है, जिसके कितने ही बीभत्स दृश्योंका परिचय पाठक अनेकान्तके नववर्षाङ्कमें दिये हुए चित्रों आदि परसे प्राप्त कर चुके हैं और जो हिन्दू-समाजके लिये कलंकरूप उसके नैतिक पतनका द्योतक जङ्गली रिवाज है, उसको रोकनेके लिये मिस्टर के. बी. जिनराज हेगडे एम० एल० ए० ने एक बिल असेम्बली (धारासभा) में पेश किया है। यह बिल बड़ा अच्छा है और बड़े अच्छे ढँगसे प्रस्तुत किया गया है। मैं इसका हृदयसे अभिनन्दन करता हूँ।

इस बिलके अनुसार कोई भी हिन्दू, जो ऐसे किसी बलिदानको रुकवाना चाहे, अपने इलाकेके कमसे कम ५० हिन्दू वोटरोंके हस्ताक्षर कराकर एक प्रार्थनापत्र उस मंदिरादिके ट्रष्टियों (मैनेजर आदि) को दे सकता है। जहाँ कि बलिदान होनेवाला हो। ऐसा प्रार्थनापत्र मिलने पर ट्रस्टीजन उसकी सूचना इलाके के सब हिन्दू वोटरोंको देंगे और उनकी सम्मति मँगाएंगे। वोटरोंका बहुमत यदि बलि-विरोधके अनुकूल हुआ तो फिर ट्रस्टीजन एक नोटिस निकालेंगे और उसके द्वारा यह घोषणा करेंगे कि हम उस बलिविधानके विरुद्ध अपनी आज्ञा जारी करना चाहते हैं, जिन्हें हमपर आपत्ति होवे अपना उज्र एक महीनेके अन्दर पेश करें। यदि नियत समयके भीतर कमसे कम ५० हिन्दू वोटरोंकी आपत्ति प्राप्त होगी तो उसकी सूचना पूर्ववत् सब वोटरोंको की जायगी और उस बलिदानको रोकने न-रोकनेके विषयमें उनकी सम्मति माँगी जायगी। यदि कोई आपत्ति नहीं की जायगी अथवा आपत्ति होनेपर बहुमत बलिविधानको रोकनेके अनुकूल होगा तो ट्रस्टीजन नियमानुसार उस बलिविधानको रोकनेके लिये एक आर्डर जारी कर देंगे। ऐसे आर्डरके जारी होनेपर कोई भी शख्स पुलिसकी मार्फत उस बलिविधानको रुकवा सकता है। आर्डरके बाद जो कोई शख्स यह बलिविधान करेगा या बलिके लिये पशु पेश करेगा अथवा कोई ट्रस्टी उस मन्दिरादिमें पशुबलिकी इजाज़त देगा, जहाँके लिये उसकी निषेधाज्ञा जारी हो चुकी है, उसको ५००) रु० तक जुर्माना या एक साल तककी क़ैदकी सज़ा दी जायगी अथवा दोनों ही प्रकारके दण्ड दिए जाएँगे। और यदि उक्त दोनों सूचनाओंमेंसे किसी भी अवसर पर वोटरोंका बहुमत उस बलिविरोधके अनुकूल न होकर विरुद्ध होगा तो फिर उस विषयमें एक साल तक कोई कार्यवाही नहीं की जायगी—एक सालके बाद वह विषय फिर ट्रष्टियोंके सामने उपस्थित किया जा सकता है।

इस तरह इस कानूनके द्वारा उस मन्दिरादिके इलाकेके बहुमतको मान दिया जायगा और कोई भी कार्यवाही न्यायकी दृष्टिमें अनुचित अथवा जबरन नहीं समझी जायगी। इस क़ानूनके पास होनेपर निःसन्देह देशको बहुत लाभ होगा—पशुओंके इस निरर्थक विनाश-से देशकी जो आर्थिक हानि होती है वह दूर होगी इतना ही नहीं, बल्कि हिन्दू-जातिका इस घोर पाप तथा नैतिक पतनसे उद्धार होगा। और उसके माथे पर जो भारी कलंकका टीका लगा हुआ है वह दूर होकर उसका मुख उज्वल होगा। साथ ही बिना कुसूर सताये जाने वाले पशुओंकी आहोंसे जो क्षति देश तथा समाजको पहुँच रही है वह रुकेगी और उसके स्थानपर रक्षाप्राप्त मूक पशुओंके शुभाशीर्वादसे भारतकी समृद्धिमें आशा-तीत वृद्धि होगी। अतः सब किसीको मानवताके नाते इस बिलका समर्थन कर अपने कर्तव्यका पालन करना चाहिये और बेचारे निरपराध मूक पशुओंको अभयदान देकर उनका शुभाशीर्वाद लेना चाहिये।

३ मन्दिर प्रवेश बिल

मध्य प्रान्तकी धारा सभामें एक बिल पेश हुआ है, जिसके अनुसार हरिजन लोग हिन्दू मन्दिरोंमें दर्शन पूजनके लिये प्रवेश कर सकेंगे। 'हिन्दू' शब्दमें जैनोंका भी समावेश किया जानेके कारण जैनमंदिरमें भी हरिजनोंका प्रवेश हो सकेगा। इस अनर्थसे चिन्तित

होकर सिवनीके पं० सुमेरचन्दजी जैनदिवाकर जैन समाजको उक्त बिलका विरोध करनेके लिये, और यदि गवर्नमेण्ट उसे पास करना ही चाहे तो जैनियोंको उससे पृथक कर देनेका अनुरोध करनेके लिये प्रेरणा कर रहे हैं। इस विषयमें 'जैनसमाज ध्यान दे' नामका आपका लेख, जो १५ जून सन् १९३९ के 'जैन सन्देश' में प्रकाशित हुआ है, इस समय मेरे सामने है। इस लेखमें जैनसमाजको विरोधकी प्रेरणा करते हुए आगम की दुहाई दीगई है। लिखा है—

"अस्पृश्य लोगोंके धर्मसाधनके लिये मानस्तम्भ-दर्शनका आगममें विधान है, मन्दिरके भीतर प्रवेश करनेका अपने यहाँ प्रतिषेध हैं। अतएव ऐसा बिल अगर क़ानूनका रूप हमारे प्रमादसे धारण कर लेगा, तो उससे धार्मिक जीवनकी पवित्रताको बहुत क्षति पहुँचेगी।"

मालुम नहीं कौनसे आगमका उक्त विधान है! और कौनसे आगम ग्रन्थमें अस्पृश्य वर्गको मन्दिरके भीतर प्रवेशका निषेध किया गया है! जिनेन्द्रभगवान्‌के साक्षात् मंदिर (समवसरण) में तो पशु पक्षी तक भी जाते हैं; फिर किसी वर्गके मनुष्योंके लिये उसका प्रवेश द्वार-बन्द हो यह बात सिद्धान्तकी दृष्टिसे कुछ समझमें नहीं आती! श्रीजिनसेनाचार्य प्रणीत हरिवंश-पुराणमें सिद्धकूट जिनालयका जो वर्णन दिया है और उसमें मन्दिरके भीतर चाण्डाल जातिके विद्याधरोंको जिस रूपमें बैठा हुआ चित्रित किया है, और उनके द्वारा जिन-पूजाका जैसा-कुछ उल्लेख किया है * उस परसे तो कोई भी समझदार व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि मंदिर-प्रवेश बिल-द्वारा अधिकार-प्राप्त, आजकलके हरिजनोंसे मन्दिरोंकी पवित्रता नष्ट हो जायगी अथवा धार्मिक जीवनकी पवित्रताको क्षति पहुँचेगी। वह जब चमड़ेके वस्त्र धारण किये हुए और हड्डियोंके आभूषण पहने हुए चाण्डालोंके सिद्धकूट जिनालयमें प्रवेशसे नष्ट नहीं हुई तो इन हरिजनोंके प्रवेशसे कैसे नष्ट हो सकती है, जिन्हें मन्दिरकी पवित्रताको सुरक्षित रखते हुए पवित्रवेषमें ही कानून द्वारा मन्दिर प्रवेश-की इजाजत दी जानेको हैं! आशा है दिवाकरजी आगमके उन वाक्योंको पते सहित प्रकट करेंगे जिनकी आप दुहाई दे रहे हैं। उनके सामने आने पर इस विषयमें विशेष विचार उपस्थित किया जायगा।

* देखो, २६वें सर्गके श्लोक नं० २ से २४ तक

४ वीर-शासन जयन्ती

गत किरणमें वीरशासन-जयन्तीकी सूचना दी गई थी और जिसके सम्बंधमें जनता तथा विद्वानोंसे अपने कर्त्तव्य पालनका अनुरोध किया गया था, वह प्रथम श्रावण कृष्ण प्रतिपदाकी मांगलिक तिथि (ता० २ जुलाई) अब बहुत ही निकट आगई है—किरणके पहुँचनेसे एक दो दिन बाद ही वह पाठकोंके सामने उपस्थित हो जायगी, अतः कृतज्ञ जनताको उत्सवके रूपमें उसका उचित स्वागत करना चाहिये। क़रीब १०० विद्वानों तथा दूसरे प्रतिष्ठित पुरुषोंको वीर-सेवामंदिरसे अलग विज्ञप्तियाँ तथा पत्र भिजवाये गये हैं और उनसे वीर-सेवा मंदिरमें पधारने, वीरशासनजयन्ती मनाने और वीरशासन पर लेख लिखकर भेजनेकी विशेष प्रेरणा भी की गई है। फल स्वरूप कुछ विद्वानोंके आने आदिकी स्वीकृतिके पत्र आने लगे हैं और लेख भी आने प्रारंभ होगये हैं। आशा है इस वर्षका यह उत्सव गतवर्षसे भी अधिक उत्साह और समारोहके साथ जगह जगह मनाया जायगा और इसके निमित्त वीर-शासन सम्बन्धी बहुतसा ठोस साहित्य तय्यार हो जायगा। जहाँ जहाँ यह उत्सव मनाया जाय वहाँके भाइयोंसे निवेदन है कि वे उसकी सूचना वीरसेवा-मंदिरको भी भेजनेकी कृपा करें। और जिन विद्वनोंने इस किरणके पहुँचने तक भी अपना लेख पूरा न किया हो वे उसे शीघ्र पूरा करके उक्त तिथिके बाद भी भेज सकते हैं, जिससे वीरशासन सम्बन्धी लेखोंके साथमें उसे उचित स्थान दिया जा सके।

तरुण-गीत

तरुण ! आज अपने जीवनमें, जीवनका वह राग सुनादे !
सुप्त-शक्तिके कण कणमें उठ ! एक प्रज्वलित आग जगादे !!

धधक क्रान्तिकी ज्वाला जाए महाप्रलयका करके स्वागत !
जिससे तन्द्राका घर्षण हो, जागे यह चेतनता अवनत !!
प्राण विवशताके बन्धनका खण्ड खण्ड करदे वह उद्गम !
अंग अंगकी दृढ़ता तेरी निर्मापित करदे नवजीवन !!
स्वयं, सत्य शिव-सुन्दर-सा हो, जग जनमें अनुराग जगादे !
तरुण ! आज अपने जीवनमें जीवनका वह राग सुनादे !!

तेरा विजयनाद सुन काँपे भूधर सागर-नभ तारक-दल !
रवि मण्डल भू-मण्डल काँपे, काँपे सुरगण-युत आखण्डल !!
नव परिवर्तनका पुनीत यह गूंज उठे सब ओर घोर रव !
तेरी तनिक हुँकार श्रवण कर काँपे यह ब्रह्माण्ड चराचर !!
तू अपनी ध्वनिसे मृतकोंके भी मृत-से-मृत प्राण जगादे !
तरुण ! आज अपने जीवनमें जीवनका वह राग सुनादे !!

तेरी अविचल-गतिका यह क्रम पद-मर्दित करदे पामरता !
जड़ताकी कड़ियाँ कट जाएँ, पाजाए यह ध्येय अमरता !!
हृद्तलकी तड़फनमें नूतन जागृत हो वह विकट महानल !
जिसमें भस्मसात् होजाए अत्याचार पाप कायर दल !!
तेरा खौलित रक्त विश्व कण कणसे अशुभ विराग भगादे !
तरुण ! आज अपने जीवनमें जीवनका वह राग सुनादे !!

अपने सुखको होम निरन्तर, तू भूपर ममता बिखरादे !
जिसमें लय अभिमान अधम हो, ऐसी शुचि ममता बरसादे !!
सत्य-प्रेमकी आभासे हो अन्तर्धान पापकी छाया ।
रूढ़ि, मोह, अज्ञान, पुरातन भ्रम, सब हो सपनेकी माया !!
तू प्रबुद्ध हो, सावधान हो, स्वयं जाग कर जगत जगादे !
तरुण आज अपने जीवनमें जीवनका वह राग सुनादे !!

[श्री०राजेन्द्रकुमार जैन कुमरेश]

सुधार लेवें—पृ० ४०५ पर मुद्रित 'जयवीर' कविताके दूसरे छन्दकी ७वीं पंक्तिमें 'पर' की जगह 'पर, रगों' और ४वें छन्दकी ४वीं पंक्तिमें 'शुभ आशाएँप्रशस्त' की जगह 'शुभाशाएँ प्रशस्त' बनाया जावे ।

❀ विषय सूची ❀

पृष्ठ

वीरसेवामन्दिर-परीक्षाफल

वीरसेवामन्दिरके कन्याविद्यालयकी चार छात्राएँ इस वर्ष अम्बाला सर्किलसे पंजाबकी 'हिन्दीरत्न' परीक्षामें बैठी थीं। प्रसन्नताकी बात है कि चारों ही अच्छेनम्बरोंसे पास हो गई हैं। इसी तरह परिषद्-परीक्षा बोर्डकी परीक्षामें २६ लड़कियाँ बैठी थीं, वे सब भी उत्तीर्ण हो गई हैं।

ॐ अर्हम्

नीति-विरोध-ध्वंसी लोक-व्यवहार-वर्त्तकः सम्यक्
परमागमस्य बीजं भुवनैकगुरुर्जयत्यनेकान्तः ॥

वर्ष २ | सम्पादन-स्थान—वीर-सेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम) सरसावा, जि० सहारनपुर
प्रकाशन-स्थान—कनॉट सर्कस, पो० ब० नं० ४८, न्यू देहली
प्रथम श्रावण शुक्ल, वीरनिर्वाण सं० २४६५, विक्रम सं० १९९६ | किरण १०

समन्तभद्र-शासन

लक्ष्मीभृत्परमं निरुक्तिनिरतं निर्वाणसौख्यप्रदं
कुज्ञानातपवारणाय विधृतं छत्रं यथा भासुरम् ।
सज्ज्ञानैर्नययुक्तिमौक्तिकफलैः संशोभमानं परं
वन्दे तद्धतकालदोषममलं सामन्तभद्रं मतम् ॥

—देवागमवृत्तौ, वसुनन्दिसैद्धान्तिकः

श्रीसमन्तभद्रके उस निर्दोष मतकी—शासनकी—मैं वन्दना करता हूँ—उसे श्रद्धा-गुणज्ञता-पूर्वक प्रणामाञ्जलि अर्पण करताहूँ—जो श्रीसम्पन्न है, उत्कृष्ट है, निरुक्ति-परायण है—व्युत्पत्तिविहीन शब्दोंके प्रयोगसे प्रायः रहित है—, मिथ्याज्ञानरूपी आतापको मिटानेके लिये विधिपूर्वक धारण किये हुए देदीप्यमान छत्रके समान है, सम्यग्ज्ञानों-सुनयों तथा सुयुक्तियों-रूपी मुक्ताफलोंसे परम सुशोभित है, निर्वाण-सौख्यका प्रदाता है और जिसने कालदोषको ही नष्ट करदिया था—अर्थात् स्वामी समन्तभद्र मुनिके प्रभावशाली शासनकालमें यह मालूम नहीं होता था कि आजकल कलिकाल बीत रहा है।
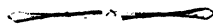
मुक्ति और उसका उपाय

[ले०—बाबा भागीरथजी जैन वर्णी]
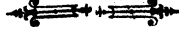
मुक्ति जीवकी उस पर्यायविशेषका नाम है जिसके बाद फिर कोई संसार-पर्याय नहीं होती। मुक्तिपर्याय सादि-अनन्तपर्याय है। इस पर्यायमें सूक्ष्म-स्थूल शरीरसे तथा अष्ट कर्ममलसे रहित हुआ आत्मा अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख तथा अनन्तवीर्यरूप स्व-स्वभावमें स्थिर रहता है। उसकी विभाव-परिणति सदाके लिये मिट जाती है। वह अपने स्वरूपमें लीन हुआ लोकके अग्रभागमें तिष्ठता है और संसारकी जितनी अवस्थाएँ हैं उन सबको जानता-देखता है; परन्तु किसी भी अवस्थारूप परिणत नहीं होता और न उनमें राग-द्वेष ही करता है। जीवकी इस अवस्थाको ही परम निरंजन सिद्धपर्याय कहते हैं। इस पर्यायको प्राप्त करनेकी शक्ति प्रत्येक संसारी आत्मामें होती है; परन्तु उसकी व्यक्ति योग्य कारण-कलापके मिलने पर भव्यात्माओंको ही हो सकती है।

मुक्तिको प्रायः सभी दूसरे दर्शन भी मानते हैं; परन्तु मुक्तिके स्वरूप और उसकी प्राप्तिके उपाय-कथनमें वे सब परस्पर विसंवाद करते हैं और यथार्थ निर्णय नहीं कर पाते। यथार्थ निर्णय वीर-भगवान्‌के शासनमें ही पाया जाता है। वस्तुतः मुक्तिकी इच्छा सब ही प्राणियोंके होती है—बन्धन तथा परतंत्रता किसीको भी इष्ट नहीं है—;क्योंकि पराधीनतामें कहीं भी सुख नहीं है। स्वाधीनता ही सच्ची सुख-अवस्था है और वह यथार्थमें मुक्तिस्वरूप ही है। संसारमें अन्य जितनी भी अवस्थाएँ हैं वे सब पराश्रित एवं दुःखरूप हैं। अतः मुक्तिकी प्राप्तिका उपाय करना सज्जनोंका परम कर्तव्य है। उस मुक्तिका उपाय परम निर्ग्रंथोंने संक्षेपमें सम्यग्दर्शन,सम्यग्ज्ञान और सम्यकचारित्र बतलाया है। स्व-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूपसे आत्माकी विनिश्चितिको—यथार्थ श्रद्धाको—'सम्यग्दर्शन' उसके यथार्थबोधको 'सम्यग्ज्ञान' और आत्मास्वरूपमें स्थिरताको—उससे विचलित न होने अर्थात विभाव परिणतिरूप न परिणमनेको 'सम्यकचारित्र' कहते हैं। इन रूप आत्माकी परिणति होनेसे किसी भी प्रकारका बन्धन नहीं होता है। जैसा श्रीअमृतचन्द्राचार्यके निम्न वाक्यसे प्रकट है:—

> दर्शनमात्मविनिश्चितिरात्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः।
> स्थितिरात्मनि चारित्रं कुत एतेभ्यो भवति बन्धः ॥
>
> पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, २१६

पारमार्थिक दृष्टिसे यही मोक्षका उपाय है। व्यवहार मोक्ष-मार्ग इसी निश्चय मोक्षमार्गका साधक है। जो व्यवहार निश्चयका साधक नहीं, वह सम्यक् व्यवहार न होकर मिथ्या व्यवहार है और त्याज्य है।

स्वामी पात्रकेसरी और विद्यानन्द

परिशिष्ट

[सम्पादकीय]

अनेकान्तके प्रथम वर्षकी द्वितीय किरणमें १६ दिसम्बर सन १९२९ को मैंने 'स्वामी पात्रकेसरी और विद्यानन्द' नामका एक लेख लिखा था, जिसमें पात्रकेसरी और विद्यानन्दकी एकता-विषयक उस भ्रमको दूर करनेका प्रयत्न किया गया था जो विद्वानोंमें उस समय फैला हुआ था और उसके द्वारा यह स्पष्ट किया गया था कि स्वामी पात्रकेसरी और विद्यानन्द दो भिन्न आचार्य हुए हैं—दोनोंका व्यक्तित्व भिन्न है, ग्रंथसमूह भिन्न है और समय भी भिन्न है। पात्रकेसरी विक्रमकी ७वीं शताब्दीके विद्वान आचार्य अकलंकदेवसे भी पहले हुए हैं—अकलंकके ग्रंथोंमें उनके वाक्यादिका उल्लेख है—और उनके तथा विद्यानन्दके मध्यमें कई शताब्दियोंका अन्तर है। हर्षका विषय है कि मेरा वह लेख विद्वानोंको पसन्द आया और उस वक्तसे बराबर विद्वानोंका उक्त भ्रम दूर होता चला जा रहा है। अनेक विद्वान मेरे उस लेखको प्रमाणमें पेश करते हुए भी देखे जाते हैं ‡।

मेरे उस लेखमें दोनोंकी एकता विषयक जिन पाँच प्रमाणोंकी जाँच की गई थी और जिन्हें निःसार व्यक्त किया गया था उनमें एक प्रमाण 'सम्यक्त्वप्रकाश' ग्रंथका भी निम्न प्रकार थाः—

"सम्यक्त्वप्रकाश नामक ग्रंथमें एक जगह लिखा है कि—

'तथा श्लोकवार्तिके विद्यानन्द्यपरनामपात्रकेसरिस्वामिना यदुक्तं तच्च लिख्यते—'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं। न तु सम्यग्दर्शनशब्दनिर्वचनसामर्थ्यादेव सम्यग्दर्शनस्वरूपनिर्णयादशेषतद्विप्रतिपत्तिनिवृत्तेः सिद्धत्वात्तदर्थं तल्लक्षणवचनं न युक्तिमदेवेति कस्यचिदारेकामपाकरोति।'

इसमें श्लोक वार्तिकके कर्ता विद्यानन्दिको ही पात्रकेसरी बतलाया है।"

यह प्रमाण सबसे पहले डाक्टर के० बी० पाठकने अपने 'भर्तृहरि और कुमारिल' नामके उस लेखमें उपस्थित किया था जो सन् १८९२ में रायल एशियाटिक सोसाइटी बम्बई ब्रांचके जर्नल (J.B.B. R. A. S. for 1892 PP. 222,223) में प्रकाशित हुआ था। इसके साथमें दो प्रमाण और भी उपस्थित किये गये थे—एक आदिपुराणकी टिप्पणीवाला और दूसरा ज्ञानसूर्योदय नाटकमें 'अष्टशती' नामक स्त्री-पात्रसे पुरुषके प्रति कहलाये हुए वाक्यवाला, जो मेरे उक्त लेखमें क्रमशः नं० २, ४ पर दर्ज हैं। डा० शतीशचन्द्र विद्याभूषणने, अपनी इण्डियन लाजिककी हिस्टरीमें, के० बी० पाठकके दूसरे दो प्रमाणोंकी अवगणना करते हुए और उन्हें कोई

---

‡ हालमें प्रकाशित 'न्यायकुमुदचन्द्र'की प्रस्तावनामें पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री भी लिखते हैं—"इस ग़लतफ़हमीको दूर करनेके लिये, अनेकान्त वर्ष १ पृष्ठ ६७ पर मुद्रित 'स्वामी पात्रकेसरी और विद्यानन्द' शीर्षक निबन्ध देखना चाहिये।"

महत्त्व न देते हुए, सम्यक्त्वप्रकाशवाले प्रमाणको ही पाठकजीके उक्त लेखके हवालेसे अपनाया था और उसीके आधारपर, बिना किसी विशेष ऊहापोहके, पात्रकेसरी और विद्यानन्दको एक व्यक्ति प्रतिपादित किया था। और इसलिये ब्रह्मनेमिदत्तके कथाकोश तथा हुमचावाले शिलालेखके शेष दो प्रमाणोंको, पाठक महाशयके न समझकर तात्या नेमिनाथ पाँगलके समझने चाहियें, जिन्हें पं० नाथूरामजी प्रेमीने अपने स्याद्वादविद्यापति विद्यानन्दि' नामके उस लेखमें अपनाया था जिसकी मैंने अपने लेखमें आलोचना की थी। अस्तु।

उक्त लेख लिखते समय मेरे सामने 'सम्यक्त्वप्रकाश' ग्रन्थ नहीं था—प्रयत्न करने पर भी मैं उसे उस समय तक प्राप्त नहीं कर सका था—और इसलिये दूसरे सब प्रमाणोंकी आलोचना करके उन्हें निःसार प्रतिपादन करनेके बाद मैंने सम्यक्त्वप्रकाशके "**श्लोकवार्तिके विद्यानन्दिअपरनामपात्रकेसरिस्वामिना यदुक्तं तच्च लिख्यते**" इस प्रस्तावना-वाक्यकी कथनशैली परसे इतना ही अनुमान किया था कि वह ग्रन्थ बहुत कुछ आधुनिक जान पड़ता है, और दूसरे स्पष्ट प्रमाणोंकी रोशनीमें यह स्थिर किया था कि उसके लेखकको दोनों आचार्योंकी एकताके प्रतिपादन करनेमें ज़रूर भ्रम हुआ है अथवा वह उसके समझनेकी किसी ग़लतीका परिणाम है। कुछ अर्से बाद मित्रवर प्रोफेसर ए० एन० उपाध्यायजी कोल्हापुरके सत्प्रयत्नसे 'सम्यक्त्वप्रकाश' की वह नं० ७७७ की पूनावाली मूल प्रति ही मुझे देखनेके लिये मिल गई जिसका पाठक महाशयने अपने उस सन् १८९२ वाले लेखमें उल्लेख किया था। इसके लिये मैं उपाध्यायजीका खास तौरसे आभारी हूँ और वे विशेष धन्यवादके पात्र हैं।

ग्रंथप्रतिको देखने और परीक्षा करनेसे मुझे मालूम हो गया कि इस ग्रंथके सम्बन्धमें जो अनुमान किया गया था वह बिल्कुल ठीक है—यह ग्रंथ अनुमानसे भी कहीं अधिक आधुनिक है और ज़रा भी प्रमाणमें पेश किये जानेके योग्य नहीं है। इसी बातको स्पष्ट करनेके लिये आज मैं इस ग्रंथकी परीक्षा तथा परिचयको अपने पाठकोंके सामने रखता हूँ।

सम्यक्त्वप्रकाश-परीक्षा

यह ग्रंथ एक छोटासा संग्रह ग्रंथ है, जिसकी पत्र-संख्या ३७ है—३७वें पत्रका कुछ पहला पृष्ठ तथा दूसरा पृष्ठ पूरा खाली है, और जो प्रायः प्रत्येक पृष्ठ पर ९ पंक्तियाँ तथा प्रत्येक पंक्तिमें ४५ के क़रीब अक्षरोंको लिये हुए है। ग्रंथ पर लेखक अथवा संग्रहकारका कोई नाम नहीं है और न लिखनेका कोई सन्-संवतादिक ही दिया है। परन्तु ग्रंथ प्रायः उसीका लिखा हुआ अथवा लिखाया हुआ जान पड़ता है जिसने संग्रह किया है और ६०-७० वर्षसे अधिक समय पहलेका लिखा हुआ मालूम नहीं होता। लायब्रेरीके चिट पर Comes from Surat शब्दोंके द्वारा सूरतसे आया हुआ लिखा है और इसने दक्कनकालिज-लायब्रेरीके सन् १८७५-७६ के संग्रहमें स्थान पाया है।

इसमें मंगलाचरणादि-विषयक पद्योंके बाद "तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनमितिसूत्रं ॥१॥" ऐसा लिख कर इस सूत्रकी व्याख्यादिके रूपमें सम्यग्दर्शनके विषयपर क्रमशः सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक, दर्शनपाहुड, सूत्रपाहुड, चारित्रपाहुड, भावपाहुड, मोक्षपाहुड, पंचास्तिकाय, समयसार और बृहत् आदिपुराणके कुछ वाक्योंका संग्रह किया गया है। वार्तिकोंको उनके भाष्यसहित, दर्शनपाहुडकी संपूर्ण ३६ गाथाओंको (जिनमें मंगलाचरणकी गाथा भी शामिल है!) उनकी छाया सहित,

शेष पाहुडोंकी कुछ कुछ गाथाओंको छायासहित, पंचास्तिकाय और समयसारकी कतिपय गाथाओंको छाया तथा अमृचन्द्राचार्यकी टीकासहित उद्धृत किया गया है। इन ग्रंथ-वाक्योंको उद्धृत करते हुए जो प्रस्तावना-वाक्य दिये गये हैं और उद्धरणके अनन्तर जो समाप्ति-सूचक वाक्य दिये हैं उन्हें तथा मंगलाचरणादिके ३-४ पद्योंको छोड़कर इस ग्रन्थमें ग्रंथकारका अपना और कुछ भी नहीं है।

ग्रन्थकारकी इस निजी पूंजी और उसके उद्धृत करनेके ढँग आदिको देखनेसे साफ मालूम होता है कि वह एक बहुत थोड़ीसी समझबूझका साधारण आदमी था, संस्कृतादिका उसे यथेष्ट बोध नहीं था और न ग्रंथ-रचनाकी कोई ठीक कला ही वह जानता था। तब नहीं मालूम किस प्रकारकी वासना अथवा प्रेरणासे प्रेरित होकर वह इस ग्रंथके लिखनेमें प्रवृत्त हुआ है !! अस्तु; पाठकोंको इस विषयका स्पष्ट अनुभव करानेके लिये ग्रंथकारकी इस निजी पूँजी आदिका कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है:—

(१) ग्रन्थका मंगलाचरण तथा प्रतिज्ञावाक्योंको लिये हुए प्रारंभिक अंश इस प्रकार है—

"ॐनमःसिद्धेभ्यः॥ अथ सम्यक्त्वप्रकाश लिक्यते ॥
प्रणम्य परमं देवं परम.मंत्रविधायकं ॥
सम्यक्त्वलक्षणं वक्ष्ये पूर्वाचार्यकृतं शुभम् ॥१॥
मोक्षमार्ग्गे जिनैरुक्तं प्रथमं दर्शनं हितं ।
तद्विना सर्व्वधर्मेषु चरितं निष्फलं भवेत् ॥२॥
तस्मा दर्शनशुद्धयर्थं लक्षणलक्षसंयुतं ।
सम्यक्त्वप्रकाशकं ग्रंथं करोम हितकारकम् ॥३॥ युग्मम् ॥
तत्वार्थाधिगमे सूत्रे पूर्वं दर्शनलक्षणं ।
मोक्षमार्गे समुद्दिष्टं तदहं चात्र लिक्यते ॥४॥"

नं० ३ के श्लोक को अंक ३ तक काली स्याहीसे काट रक्खा है परन्तु 'युग्मम्' को नहीं काटा है ! 'युग्मम्' पदका प्रयोग पहले ही व्यर्थ-सा था, तीसरे श्लोकके निकल जानेपर वह और भी व्यर्थ होगया है; क्योंकि प्रथम दो श्लोकोंके साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं बैठता, वे दोनों अपने अपने विषयमें स्वतंत्र हैं—दोनों मिलकर एक वाक्य नहीं बनाते—इसलिये 'युग्मम्' का यहाँ न काटा जाना चिन्तनीय है ! हो सकता है ग्रंथकारको किसी तरह पर तीसरा श्लोक अशुद्ध जान पड़ा हो, जो वास्तवमें अशुद्ध है भी; क्योंकि उसके तीसरे चरणमें ८ की जगह ९ अक्षर हैं और पाँचवाँ अक्षर लघु न होकर गुरु पड़ा है जो छंदकी दृष्टिसे ठीक नहीं; और इसलिये उसने इसे निकाल दिया हो और 'युग्मम्' पदका निकालना वह भूल गया हो ! यह भी संभव है कि एक ही आशयके कई प्रतिज्ञावाक्य होजानेके कारण † उसे इस श्लोकका रखना उचित न जँचा हो, वह इसके स्थानपर कोई दूसरा ही श्लोक रखना चाहता हो और इसीसे उसने 'युग्मम्' तथा चौथे श्लोकके अंक '४' को क़ायम रक्खा हो; परन्तु बादको किसी परिस्थितिके फेरमें पड़कर वह उस श्लोकको बना न सका हो। परन्तु कुछ भी हो, ग्रन्थकी इस स्थितिपरसे इतनी सूचना ज़रूर मिलती है कि यह ग्रन्थप्रति स्वयं ग्रंथकारकी लिखी हुई अथवा लिखाई हुई है।

'अथ सम्यक्त्वप्रकाश लिक्यते' इस वाक्यमें 'सम्यक्त्वप्रकाश' शब्द विभक्तिसे शून्य प्रयुक्त हुआ है जो एक मोटी व्याकरण-सम्बन्धी अशुद्धि है। कहा जा-सकता है कि यह कापी किसी दूसरेने लिखी होगी और वही सम्यक्त्वप्रकाशके आगे विसर्ग(:)लगाना भूल गया

---

† वे प्रतिज्ञा-वाक्य इस प्रकार हैं—

१ सम्यक्त्वलक्षणं वक्ष्ये, २ सम्यक्त्वप्रकाशकं ग्रन्थं करोमि, ३ तदहं चात्र लिक्यते ।

होगा। परन्तु जब आगे रचनासम्बन्धी अनेक मोटी-मोटी अशुद्धियोंको देखा जाता है तब यह कहनेका साहस नहीं होता। उदाहरणके लिये चौथे श्लोकमें प्रयुक्त हुए **"तदहं चात्र लिख्यते"** वाक्यको ही लीजिये, जो ग्रंथकारकी अच्छी खासी अज्ञताका द्योतक है और इस बातको स्पष्ट बतला रहा है कि उसका संस्कृत-व्याकरण-सम्बन्धी ज्ञान कितना तुच्छ था। इस वाक्यका अर्थ होता है "वह (दर्शनलक्षण) मैं यहाँ लिखा जाता है," जबकि होना चाहिये था यह कि 'दर्शनलक्षण मेरे द्वारा यहाँ लिखा जाता है' अथवा 'मैं उसे यहाँ लिखता हूँ।' और इसलिये यह वाक्य-प्रयोग बेहूदा जान पड़ता है। इसमें **'तदहं'** की जगह **'तन्मया'** होना चाहिये था— **'अहं'** के साथ **'लिख्यते'** का प्रयोग नहीं बनता, **'लिखामि'** का प्रयोग बन सकता है। जान पड़ता है ग्रंथकार **'लिख्यते'** और **'लिखामि'** के भेद को भी, ठीक नहीं समझता था।

(२) इसीप्रकारकी अज्ञता और बेहूदगी उसके निम्न प्रस्तावनावाक्यसे भी पाई जाती है, जो **'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं'** सूत्र पर श्लोकवार्तिकके २१ वार्तिकों को भाष्यसहित उद्धृत करनेके बाद **"इति श्लोकवार्तिके ॥ १ ॥"** लिखकर अगले कथनकी सूचनारूपसे दिया गया है:—

"अथ अष्टपाहुडमध्ये दर्शनपाहुडे कुंदकुंदस्वामिना सम्यक्त्वस्वरूपं प्रतिपादयति ॥"

इसमें तृतीयान्त **'स्वामिना'** पदके साथ **'प्रतिपादयति'** का प्रयोग नहीं बनता—वह व्याकरणकी दृष्टिसे महाअशुद्ध है—उसका प्रयोग प्रथमान्त **'स्वामी'** पदके साथ होना चाहिये था।

यहाँ पर इतना और भी जान लेना चाहिये कि दर्शनपाहुडकी पूरी ३६ गाथाओंको छाया-सहित * उद्धृत करते हुए, २६वीं गाथाके स्थान पर उसकी छाया और छायाके स्थान पर गाथा उद्धृत की गई है! और पाँचवीं गाथाकी छायाके अनन्तर **"अस्मिन् द्वौ यं शब्दं तत्प्राकृते अव्ययं वाक्यालंकारार्थे वर्तते"** यह किसी टीकाका अंश भी यों ही उद्धृत कर दिया गया है; जबकि दूसरी गाथाओंके साथ उनकी टीकाका कोई अंश नहीं है। मोक्षपाहुडकी ४ गाथाओंको छायासहित उद्धृत करनेके बाद **"इति मोक्षपाहुडे"** लिखकर मोक्षपाहुडके कथनको समाप्त किया गया है। इसके बाद ग्रंथकारको फिर कुछ खयाल आया और उसने **'तथा'** शब्द लिखकर ६ गाथाएँ और भी छायासहित उद्धृत की हैं और उनके अनन्तर **'इति मोक्षपाहुड'** यह समाप्तिसूचक वाक्य पुनः दिया है। इससे ग्रन्थकारके उद्धृत करनेके ढँग और उसकी असावधानीका कितना ही पता चलता है।

(३) अब उद्धृत करनेमें उसकी अर्थज्ञान-सम्बन्धी योग्यता और समझनेके भी कुछ नमूने लीजिये—

(क) श्लोकवार्तिकमें द्वितीय सूत्रके प्रथम दो वार्तिकोंका जो भाष्य दिया है उसका एक अंश इस प्रकार है:—

"न अनेकार्थत्वाद्धातूनां दृशेः श्रद्धानार्थत्वगतेः। कथमनेकस्मिन्नर्थे संभवत्यपि श्रद्धानार्थस्यैव गतिरितिचेत्, प्रकरणविशेषात्। मोक्षकारणत्वं हि प्रकृतं तत्त्वार्थश्रद्धानस्य युज्यते नालोचनादेरर्थांतरस्य।"

ग्रन्थकारने, उक्त वार्तिकोंके भाष्यको उद्धृत करते हुए, इस अंशको निम्न प्रकारसे उद्धृत किया है, जो अर्थके सम्बन्धादिकी दृष्टिसे बड़ा ही बेढँगा जान पड़ता है—

* छाया प्रायः श्रुतसागरकी छायासे मिलती-जुलती है—कहीं-कहीं साधारणसा कुछ भेद है।

"नानेकार्थत्वाद्धातूनां दृशे श्रद्धानार्थश्रद्धानस्य युत्पद्यते नालोचनादेरर्थांतरस्य ।"

हो सकता है कि जिस ग्रंथप्रतिपरसे उद्धरण कार्य किया गया हो उसमें लेखककी असावधानीसे यह अंश इसी अशुद्ध रूपमें लिखा हो; परन्तु फिर भी इससे इतना तो स्पष्ट है कि संग्रहकारमें इतनी भी योग्यता नहीं थी कि वह ऐसे वाक्यके अधूरेपन और बेढंगेपनको समझ सके। होती तो वह उक्त वाक्यको इस रूपमें कदापि उद्धृत न करता।

(ख) श्रीजिनसेन प्रणीत आदिपुराणके ६वें पर्व-का एक श्लोक इस प्रकार है—

शमाद्दर्शनमोहस्य सम्यक्त्वादानमादितः ।
जन्तोरनादिमिथ्यात्वकलंककलिलात्मनः ॥११७॥

इसमें अनादि मिथ्यादृष्टिजीवके प्रथम सम्यक्त्वका ग्रहण दर्शनमोहके उपशमसे बतलाया है। 'सम्यक्त्व-प्रकाश' में इस श्लोकको आदिपुराणके दूसरे श्लोकोंके साथ उद्धृत करते हुए, इसके "**शमाद्दर्शनमोहस्य**" चरणके स्थानपर '**सम्यक्दर्शनमोहस्य**' पाठ दिया है, जिससे उक्त श्लोक बेढँगा तथा बे-मानीसा होगया है और इस बातको सूचित करता है कि संग्रहकार उसके इस बेढंगेपन तथा बे-मानीपनको ठीक समझ नहीं सका है।

(ग) ग्रंथमें "**इति मोक्षपाहुडे ॥**" के बाद "**अथ पंचास्तिकायनामग्रन्थे कुन्दकुन्दाचार्यः (?) मोक्षमार्ग-प्रपंचसूचिका चूलिका वर्णिता सा लिख्यते ।**" इस प्रस्तावना-वाक्यके साथ पंचास्तिकायकी १६ गाथाएँ संस्कृतछाया तथा टीकासहित उद्धृत की हैं और उन-पर गाथा नम्बर १६२ से १७८ तक डाले हैं, जब कि वे १८० तक होने चाहियें थे। १७१ और १७२ नम्बर दोबार ग़लतीसे पड़ गये हैं अथवा जिस ग्रंथप्रतिपरसे नक़ल की गई है उसमें ऐसे ही ग़लत नम्बर पड़े होंगे और संग्रहकार ऐसी मोटी ग़लतीको भी 'नक़ल राचे-अक़ल' की लोकोक्तिके अनुसार महसूस नहीं करसका! अस्तु; इन गाथाओंमेंसे १६८, १६६ नम्बरकी दो गा-थाओंको छोड़कर शेष गाथाएँ वे ही हैं जो बम्बई रायचन्द जैनशास्त्रमालामें दो संस्कृत टीकाओं और एक हिन्दी टीकाके साथ प्रकाशित 'पंचास्तिकाय' में क्रमशः नं० १५४ से १७० तक पाई जाती हैं। १६८ और १६६ नम्बरवाली गाथाएँ वास्तवमें पंचास्तिकायके 'नवपदा-र्थाधिकार'की गाथाएँ हैं और उसमें नम्बर १०६, १०७ पर दर्ज हैं †। उन्हें 'मोक्षमार्गप्रपंचसूचिका चूलिका' अधिकारकी बतलाना सरासर ग़लती है। परन्तु इन ग़लतियों तथा नासमझियोंको छोड़िये और इन दोनों गाथाओंकी टीकापर ध्यान दीजिये। १६६ (१०७) नम्बरवाली '**सम्मत्तं सद्दहणं०**' गाथा टीकामें तो "**सुगमं**" लिख दिया है; जबकि अमृतचन्द्राचार्यने उसकी बड़ी अच्छी टीका दे रक्खी है और उसे 'सुगम' पदके योग्य नहीं समझा है। और १६८ (१०६) नम्बरवाली गाथा-की जो टीका दी है वह गाथासहित इस प्रकार है—

सम्मत्तं णाणजुदं ‡ चारित्तं रागदोसपरिहीणं ।
मोक्खस्स हवदि मग्गो भव्वाणं लद्धबुद्धीणं ॥

टीका—"**पूर्वमुद्दिष्टं तत्स्वपरप्रत्ययपर्यायाश्रितं भिन्न-साध्यसाधनभावं व्यवहारनयमाश्रित्य प्ररूपितम् । न चैतद्विप्रतिषिद्धं निश्चयव्यवहारयोः साध्यसाधनभाव-त्वात् सुवर्ण-सुवर्णपाषाणवत् । अतएवोभयनयायत्ता पारमेश्वरी तीर्थप्रवर्तनेति ॥**"

यह टीका उक्त गाथाकी टीका नहीं है और न हो सकती है, इसे थोड़ी भी समझबूझ तथा संस्कृतका ज्ञान रखनेवाला व्यक्ति समझ सकता है। तब ये महत्वकी असम्बद्ध पंक्तियाँ यहाँ कहाँसे आई? इस रहस्यको जा-ननेके लिये पाठक ज़रूर उत्सुक होंगे। अतः उसे नीचे प्रकट किया जाता है—

श्री अमृतचन्द्राचार्यने '**चरियं चरदि सगं सो०**' इस गाथा नं० १५६ की टीकाके अनन्तर अगली गाथाकी प्रस्तावनाको स्पष्ट करनेके लिये "**यत्तु**" शब्दसे प्रारम्भ करके उक्त टीकांकित सब पंक्तियाँ दी हैं, तदनन्तर "**निश्चयमोक्षमार्गसाधनभावेन पूर्वोद्दिष्टव्यवहारमोक्ष-मार्गोऽयम्**" इस प्रस्तावनावाक्यके साथ अगली गाथा

† देखो, बम्बईकी वि० संवत् १६७२ की छपी हुई उक्त प्रति, पृष्ठ १६८, १६६

‡ बम्बई की पूर्वोल्लेखित प्रतिमें इस चरणका रूप "सम्मत्तणाणजुत्तं" दिया है और संस्कृत टीकाएँ भी उसीके अनुरूप पाई जाती हैं।

नं० १६० दी है, और इसतरह उक्त पंक्तियोंके द्वारा पूर्वोद्दिष्ट—पूर्ववर्ती नवपदार्थाधिकारमें **'सम्मत्त'** आदि दो गाथाओंके द्वारा कहे हुए—व्यवहार मोक्षमार्गकी पर्याय-दृष्टिको स्पष्ट करते हुए उसे सर्वथा निषिद्ध नहीं ठहराया है; बल्कि निश्चय-व्यवहारनयमें साध्य-साधन भावको व्यक्त करते हुए दोनों नयोंके आश्रित पारमेश्वरी तीर्थ-प्रवर्तनाका होना स्थिर किया है। इससे उक्त पंक्तियाँ दूसरी गाथाके साथ सम्बन्ध रखती हैं और वहीं पर सुसंगत हैं। सम्यक्त्वप्रकाशके विधाताने **"यत्तु"** शब्दको तो उक्त गाथा १५६ (१६७) की टीकाके अन्तमें रहने दिया है, जो उक्त पंक्तियोंके बिना वहाँ लँडूरासा जान पड़ता है! और उन पंक्तियोंको यों ही बीचमें घुसेड़ी हुई अपनी उक्त गाथा नं० १६८ (१०६) की टीकाके रूपमें धर दिया है !! ऐसा करते हुए उसे यह समझ ही नहीं पड़ा कि इसमें आए हुए **"पूर्वमुद्दिष्टं"** पदोंका सम्बन्ध पहलेके कौनसे कथनके साथ लगाया जायगा !! और न यह ही जान पड़ा कि इन पंक्तियोंका इस गाथाकी टीका तथा विषयके साथ क्या वास्ता है !!!

इस तरह यह स्पष्ट है कि ग्रन्थकारको उद्धृत करनेकी भी कोई अच्छी तमीज़ नहीं थी और वह विषयको ठीक नहीं समझता था।

(घ) पंचास्तिकायकी उक्त गाथाओं आदिको उद्धृत करनेके बाद **"इति पंचास्तिकायेषु"** (!) यह समाप्तिसूचक वाक्य देकर ग्रन्थमें **"अथ समयसारे यदुक्तं तल्लिख्यते"** इस प्रस्तावना अथवा प्रतिज्ञा-वाक्यके साथ समयसारकी ११ गाथाएँ नं० २२८ से २३८ तक, संस्कृतछाया और अमृतचन्द्राचार्यकी आत्मख्याति टीकाके साथ, उद्धृत की गई हैं। ये गाथाएँ वे ही हैं जो रायचन्द्रजैन ग्रन्थमालामें प्रकाशित समयसारमें क्रमशः नं० २२६ से २३६ तक पाई जाती हैं। आत्मख्यातिमें २२४से २२७ तक चार गाथाओंकी टीका एक साथ दी है और उसके बाद कलशरूपसे दो पद्य दिये हैं। सम्यक्त्वप्रकाशके लेखकने इनमेंसे प्रथम दो गाथाओंको तो उद्धृत ही नहीं किया। दूसरी दो गाथाओंको अलग अलग उद्धृत किया है, और ऐसा करते हुए गाथा नं०२२८ (२२६) के नीचे वह सब टीका दे दी है जो २२८, २२६ (२२६, २२७) दोनों गाथाओंकी थी! साथमें **"त्यक्तं येन फलं-"** नामका एक कलशपद्य भी दे दिया है और दूसरे **"सम्यग्दृष्टय एव-"** नामके कलशपद्यको दूसरी गाथा नं० २२६ (२२७) की टीकारूपमें रख दिया है !! इस विडम्बनासे ग्रन्थकारकी महामूर्खता पाई जाती है, और इस कहनेमें ज़रा भी संकोच नहीं होता कि वह कोई पागल-सा सनकी मनुष्य था, उसे अपने घर की कुछ भी समझ-बूझ नहीं थी और न इस बातका ही पता था कि ग्रन्थरचना किसे कहते हैं।

इस तरह सम्यक्त्वप्रकाश ग्रंथ एक बहुत ही आधुनिक तथा अप्रामाणिक ग्रंथ है। उसमें पात्रकेसरी तथा विद्यानन्दको जो एक व्यक्ति प्रकट किया गया है वह यों ही सुना-सुनाया अथवा किसी दन्तकथाके आधार पर अवलम्बित है। और इसलिये उसे रंचमात्र भी कोई महत्व नहीं दिया जासकता और न किसी प्रमाणमें पेश ही किया जासकता है। खेद है कि डाक्टर के० बी० पाठकने बिना जाँच-पड़तालके ही ऐसे आधुनिक, अप्रामाणिक तथा नगण्य ग्रंथको प्रमाणमें पेश करके लोकमें भारी भ्रमका सर्जन किया है!! यह उनकी उस भारी असावधानीका ज्वलन्त दृष्टान्त है, जो उनके पदको शोभा नहीं देती। वास्तवमें पाठकमहाशयके जिस एक भ्रमने बहुतसे भ्रमोंको जन्म दिया—बहुतोंको भूलके चक्करमें डाला, जो उनकी अनेक भूलोंका आधार-स्तम्भ है और जिसने उनके अकलंकादि-विषयक दूसरे भी कितने ही निर्णयोंको सदोष बनाया है वह उनका स्वामी पात्रकेसरी और विद्यानन्दको, बिना किसी गहरे अनुसन्धानके, एक मान लेना है।

मुझे यह देखकर दुःख होता है कि आज डाक्टर साहब इस संसारमें मौजूद नहीं हैं। यदि होते तो वे ज़रूर अपने भ्रमका संशोधन कर डालते और अपने निर्णयको बदल देते। मैंने अपने पूर्वलेखकी कापी उनके पास भिजवादी थी। संभवतः वह उन्हें उनकी अस्वस्थावस्थामें मिली थी और इसीसे उन्हें उस पर अपने विचार प्रकट करनेका अवसर नहीं मिल सका था।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा,

ता० १७-७-१६३६

दिगम्बर-श्वेताम्बर-मान्यता भेद

[ले०—श्री अगरचन्दजी नाहटा]

जैनसमाजमें साधारण एवं नगण्य मत भेदोंके कारण कई सम्प्रदायोंका जन्म हुआ, और वे बहुत सी बातोंमें मत-ऐक्य होने पर भी अपनेको एक दूसरेका विरोधी मानने लगे। इसी कारण हमारा संगठन तथा संघबल दिनोंदिन छिन्न भिन्न होकर समाज क्रमशः अवनति-पथमें अग्रसर हो गया।

अब ज़माना बदला है, संकुचित मनोवृत्ति वालोंकी आंखें खुली हैं। फिर भी कई व्यक्ति उसी प्राचीनवृत्तिका पोषण एवं प्रचार कर रहे हैं, लोगोंके सामने क्षुद्र क्षुद्र बातोंको 'तिलका ताड़' बनाकर जनताको उकसा रहे हैं। अतः उन भेदोंका भ्रम जनताके दिलसे दूर हो जाय यह प्रयत्न करना परमावश्यक है।

श्वे० और दि० समाज भी इन मत भेदोंके भूतका शिकार है। एक दूसरेके मन्दिरमें जाने व शास्त्र पढ़नेसे मिथ्यात्व लग जानेकी संभावना कर रहे हैं। एक दूसरेके मंदिरमें वीतरागदेवकी मूर्तिको देख शान्ति पाना तो दूर रहा उलटा द्वेष भभक उठता है। पवित्र तीर्थ स्थानोंके झगड़ोंमें लाखों रुपयोंका अपव्यय एवं पक्षपातका निरारोपण एवं आपसी मनोमालिन्यकी अभिवृद्धि होरही है।

एकके मंदिरमें अन्यके जाने मात्रसे कई शंकाएँ उठने लगती हैं, जानेवालेको अपनी अभ्यसित संकुचितवृत्तिके कारण भक्ति उदय नहीं होती। कोई कोई भाई तो एक दूसरे पर आक्षेप तक कर बैठते हैं—पूजा-पद्धति आदि सामान्य भेदोंको आगे कर व्यर्थका वितंडावाद खड़ा कर देते हैं। इन सब बातोंका मैं स्वयं भुक्त-भोगी हूँ। मैं जब कलकत्तेमें रहता या जाता हूँ तो मेरा साहित्यिक कार्योंके वश अन्वेषण आदिके लिये अक्सर दिगम्बर-मंदिरोंमें जाना हो जाता है। तो कई भाई शंकाशील होकर कितनी ही व्यर्थकी बातें पूछ बैठते हैं? आप कौन हैं? क्यों आये हैं? अजी आप तो जैनाभास हैं, आपकी हमारी तो मान्यतामें बहुत अंतर है! इत्यादि। इसी प्रकार एक बार मैं नागौरके दिगम्बर मंदिरोंमें दर्शनार्थ गया तो एक भाईने श्वे० साभरण मूर्तिके प्रसंग आदिको उठाकर बड़ा वाद-विवाद खड़ा कर दिया, और मुझे उद्देश्य कर श्वे० समाजकी शास्त्रीय-मान्यता पर व्यर्थका दोषारोपण करना प्रारंभ कर दिया। ये बातें उदाहरण स्वरूप अपने अनुभवकी मैंने कह डाली हैं। हमें एक दूसरेसे मिलने पर तो जैनत्वके नाते वात्सल्य प्रेम करना चाहिये, शास्त्रीय विचारोंका विनिमय कर ज्ञानवृद्धि करनी चाहिये; उसके बदले एक दूसरेसे एक दूसरेका मानों कोई वास्ता ही नहीं, मान्यताओंमें आकाश पातालका अंतर है ऐसा उद्भासित होने लगता है। कहाँ तक कहूँ हम एक दूसरेसे मिलनेके बदले दूरातिदूर हो रहे हैं।

अब हमें विचारना यह है कि हमारेमें ऐसे कौन कौनसे मतभेद हैं जिनके कारण हमारी यह परिस्थिति और यह दशा हो रही है। वास्तवमें वे भेद कहाँ तक ठीक हैं? और किन भावनाओं विचारधाराओंसे हम उनका समाधान कर एक सूत्रमें बँध सकते हैं?

साधारणतया दिगम्बर-श्वेताम्बर भेद ८४ कहे जाते हैं। इन ८४ भेदोंकी सृष्टि-प्रसिद्धि दि० पं० हेमराजजी कृत चौरासी बोल एवं श्वे०यशोविजयजी रचित 'दिक्पट चौरासी बोल' नामक ग्रन्थोंके आधारसे हुई प्रतीत होती है। पर वर्तमानमें ये दोनों ग्रन्थ मेरे सन्मुख न होनेसे उपापोह नहीं किया जासकता। दि० श्वे० भेदोंकी उत्कृष्ट संख्या ७१६ होनेका भी उल्लेख मैंने कहीं देखा है, पर वे कौन कौनसे हैं? उनकी सूची देखनेमें नहीं आई।

बीकानेरके ज्ञान-भंडारों एवं हमारे संग्रहमें भी दि० श्वे० भेदोंकी कई सूचियाँ मेरे अवलोकनमें आई हैं। उनमें एक दो प्रतियोंमें तो भेदोंकी संख्या ८४लिखी है,पर अन्य प्रतियोंमें कई बातें अधिक भी लिखी गई हैं। अतः उन सबके आधारसे जितने भेदोंका विवरण प्राप्त होता है उनकी सूची नीचे दीजाती है—

इन भेदोंको मैंने तीन भागोंमें विभक्त कर दिया है (१) जिन बातोंको श्वेताम्बर मानते हैं, दिगम्बर नहीं मानते; (२) जिन्हें दिगम्बर मानते हैं; श्वेताम्बर नहीं मानते, (३) वस्तु दोनों मानते हैं पर उनके प्रकारोंकी संख्यामें एक दूसरेकी मान्यतामें तारतम्य या भेद है।

(१) वे बातें जिनको श्वेताम्बर मानते हैं पर दिगम्बर नहीं मानते:—

१ केवलीका कवलाहार
२ केवलीका निहार
३ केवलीको उपसर्ग अशुभ वेदनीय कर्मोदय
४ भोग भूमियोंका निहार
५ त्रिषष्टि शलाका पुरुषोंका निहार
६ ऋषभदेवका सुमंगलासे विवाह
७ तीर्थंकरोंके सहोदर भाइयोंका होना
८ स्त्री-मुक्ति
९ शूद्र मुक्ति
१० वस्त्र-सहित पुरुष-मुक्ति
११ गृहस्थ वेषमें मुक्ति
१२ साभरण एवं कछोटे वाली प्रतिमापूजन
१३ मुनियोंके १४ उपकरण
१४ मल्लिनाथ तीर्थंकरका स्त्री लिंग
१५ पात्रमें मुनि आहार
१६ एकादश अंगोंकी विद्यमानता
१७ द्रौपदी के पाँच पति
१८ वसुदेवके ७२ हज़ार स्त्री
१९ भरतचक्रवर्तीको आरिसाभवनमें केवलज्ञान
२० भरत चक्रीके सुन्दरी स्त्री
२१ सुलसाके ३२ पुत्रोंका एक साथ जन्म
२२ ऋषभदेवकी विवाहिता सुमंगलाके ९९ पुत्र-जन्म
२३ भगवानकी १७ प्रकारी या अंग अग्र, भावपूजा
२४ समुद्रविजयकी माद्री बहिन दमघोषकी स्त्री थी
२५ प्रभु मुनिसुव्रतने अश्वको प्रतिबोध दिया
२६ अकर्म भूमिके युगलिक हरि-हरिणीसे हरिवंश चला
२७ संघादिके लिये मुनि युद्ध भी करें
२८ मल्लिनाथजीका नीलवर्ण
२९ भगवान्की दाढ़को देव-इन्द्र स्वर्ग लेजाकर पूजे
३० देव मनुष्य-स्त्रीसे संभोग कर सके
३१ उपवासमें औषध अफीमादिका ले सकना
३२ बासी पक्वान भोजन (जल रहित पक्वान बासी नहीं)
३३ शूद्र-कुम्हार आदिके घरसे मुनि आहार ले सके
३४ चमड़ेकी पखालका जल पी सकना
३५ महावीरका गर्भापहार
३६ महावीरकी प्रथम देशना निष्फल

३७ महावीरस्वामीको तेजोलेश्याका उपसर्ग

३८ महावीरके जन्माभिषेकमें मेरु-कम्पन

३९ महावीर स्वामीका गर्भमें अभिग्रह करना

४० महावीर-वंदनार्थ चंद्र-सूर्यका मूल विमानसे आगमन

४१ महावीर विवाह, कन्या जन्म, जामाता जमालि

४२ महावीर-समयमें चमरेन्द्रका उत्पात

४३ २५॥ आर्य देश

४४ महावीरका विद्यालय महोत्सव

४५ महावीरको छींक आना

४६ ऋषभदेवका युगलिक रूपसे जन्म

४७ साधुकी आहारादि विधिमें भिन्नता

४८ आदीश्वरका ४ मुष्टि लोंच *

४९ तीर्थंकरके स्कंध पर देवदुष्य वस्त्र

५० स्नात्र महोत्सवके लिये इन्द्रका ५ रूप धारण करना

५१ तीर्थंकरोंका संवत्सरीदान

५२ मरुदेवीका हाथी पर चढ़े हुए मोक्ष जाना

५३ कपिल केवलीका चोरके प्रतिबोधनार्थ नाटक करना

५४ लब्धि संपन्न मुनि एवं विद्याधर, मानुषोत्तर पर्वतके आगे भी जावें।

५५ ऋषभदेवादि १०८ जीव एक समयमें मोक्ष गये

५६ साधु अनेक घरोंसे भिक्षा ग्रहण करें।

५७ ऋषभदेवजीका बाल्यावस्थासे दीक्षा तक कल्प-वृक्षोंके फलोंका आहार

५८ बाहुबलि-देहमान ५०० धनुष्य

५९ त्रिपृष्ठ वासुदेव बहिनकी कुक्षिसे उत्पन्न हुए

६० श्रावकोंके व्रतोंमें ६ छंडी आगार

* 'पउमचरिय'के तृतीय पर्वकी १३६वीं गाथाके निम्न वाक्यमें पंच मुष्टि लोंच करना लिखा है—
"सिद्धाणं णमुक्कार काऊणय पंचमुट्ठियं लोयं।"
—सम्पादक

६१ चक्रवर्तीका ६४ हज़ार रूप धारण कर सब पत्नियों से संभोग

६२ गंगादेवीसे भरत चक्रवर्तीका संभोग

६३ यादव मांसभक्षी भी थे

६४ उत्कृष्ट १७० तीर्थंकर एक समय होते हैं

६५ बाहुबलिको ब्राह्मी सुन्दरीके वचन श्रवणकर कैवल्य होना

६६ नाभि-मरुदेवी युगलिक थे।

(२) वे बातें जिन्हें दि० मानते हैं श्वे० नहीं मानते—

६७ चौबीस काम पदवी

६८ युगलिक एवं केवलियोंके शरीरका मृत्युके अनन्तर कर्पूरादिके समान उड़ जाना बिखर जाना

६९ विभाग नं०१ की बातोंका विपरीत रूप; जैसे दि० नग्नावस्थाके बिना मोक्ष न हो, स्त्रीको मोक्ष व पंच महाव्रत न हों इत्यादि। एवं नं०(१) विभाग योग्य और भी उनके साधारण भेद लिखे मिलते हैं जिनका समावेश ऊपरकी बातोंमें ही होजाता है। अतः व्यर्थकी पृष्ठ एवं नम्बर संख्या बढ़ाना उचित नहीं समझकर उन्हें छोड़ दिया गया है।

(३) वस्तुकी मान्यतामें तारतम्य भेद—

वस्तु	श्वेताम्बरमान्यता	दिगम्बर मान्यता
७० स्वर्ग संख्या	१२	१६ *
७१ इन्द्र संख्या	६४	१००
७२ चक्रवर्तीकी स्त्री संख्या	६४ हज़ार	९६ हज़ार

* दिगम्बर सिंहनन्दी आचार्यने, वरांग चरितमें, स्वर्ग संख्या १२ दी है, इससे दिगम्बर-सम्प्रदायमें इस संख्याका सर्वथा एकान्त नहीं है।—सम्पादक

७३ स्वर्गलोक		
प्रतर संख्या	६२	६३
७४ अन्तर द्वीपसंख्या	५६	९६ ‡
७५ तीर्थंकर माताके स्वप्न	१४	१६
७६ नेमिनाथ-दीक्षान्तर कैवल्योत्पत्ति	५४ दिन बाद	५६ दिन बाद
७७ जन्माभिषेक समय इन्द्रके आने का वाहन	पालक विमान	ऐरावत हाथी
७८ प्रलय-प्रमाण	छहखंड प्रलय	१आर्यखंड प्रलय
७९ मुनिके पारने आदिके अवसर पर भोजन लेना	एकसे अधिक बार भी भोजन ले सके	एक ही बार
८० कालद्रव्य	स्वतंत्र द्रव्य नहीं†	स्वतंत्र द्रव्य है
८१ अठारह दोष	दानादि अन्तराय५, क्षुधा, तृषा, हास्य, रति, अरति, जरा, रोग, भय, जुगुप्सा, शोक, जन्म, मरण, काम, मिथ्यात्व, भय, मद, राग, अज्ञान, निद्रा, अ-	द्वेष, मोह, अरति, विरति, राग, द्वेष* निद्रा, विस्मय, स्वेद, खेद, चिन्ता, विषाद
८२ तीर्थंकरोंकी वाणी मुखसे निकले		मस्तकसे
८३ दश आश्चर्य कृष्ण अमर कंका गमनादि		भिन्न ही
८४ तीर्थंकरोंके भव-जन्म स्थानादि तारतम्य		

‡ दिगम्बराचार्य जिनसेनने, आदिपुराणके ३७वें पर्वमें, 'भवेयुरन्तर द्वीपाः षटपंचाशत्प्रमा मिताः' वाक्यके द्वारा अन्तर द्वीपोंकी संख्या ५६ दी है, इससे इस संख्याका भी सर्वथा एकान्त नहीं है। —सम्पादक

† श्वेताम्बर 'भगवती' सूत्र आदि आगमोंमें काल को स्वतन्त्र द्रव्य भी माना है, ऐसा पं० सुखलालजी अपने चौथे कर्म ग्रन्थके परिशिष्टमें, पृष्ठ १५७ पर सूचित करते हैं। —सम्पादक

इसीप्रकार उदयतिथि, देव देहमान, इंद्राणी संख्या आदि कई बातोंमें और भी तारतम्य है।

इस सूचीको पढ़कर पाठक स्वयं समझ सकेंगे कि भेद कितनी साधारण कोटिके हैं। ऐसे नगण्य भेद दि० श्वे० में ही क्यों, एक ही सम्प्रदायके विभिन्न ग्रन्थोंमें भी असंख्य पाये जाते हैं। कथानुयोगके जितने भी ग्रंथ देख लीजिये किसीमें कुछ तो किसीमें कुछ; इस प्रकार अनेक असमान बातें मिलेंगी। कथा साहित्यकी बात जाने दीजिये, श्वेताम्बर आगम ग्रंथों एवं प्रकरणोंमें अनेक विसंवाद पाये जाते हैं, जिनके संग्रहरूप कविवर समयसुंदरजीके 'विसंवादशतक' आदि मौलिक ग्रंथ भी उपलब्ध है। जब एक ही संप्रदायमें अनेक विचार भेद विद्यमान हैं तो भिन्न सम्प्रदायोंमें होना तो बहुत कुछ स्वाभाविक तथा अनिवार्य है। अतएव ऐसे नगण्य भेदोंके पीछे व्यर्थकी मारामारी कर विरोध बढ़ाना कहाँ तक संगत एवं शोभाप्रद हो सकता है? पाठक स्वयं विचार करें।

* श्वेताम्बरीय 'लोकप्रकाश' ग्रन्थमें १८ दोषोंका एक दूसरा प्रकार भी दिया है, जिसमें दानादि पांच अन्तराय, जुगुप्सा, मिथ्यात्व, अविरति द्वेष नामके दोष नहीं, इनके स्थान पर हिंसा, अलीक, चोरी, क्रोध, मान, माया, लोभ, मद, मत्सर दोष दिये हैं और कामके लिये क्रीडा, तथा रागके लिये प्रेम शब्दोंका प्रयोग किया है।—सम्पादक

थोड़ी देरके लिये यदि यह मान भी लिया जाय कि ऐसे भेद बहुत हैं, फिर भी मेरी नम्र विनति यह है कि हमें साथ साथ यह भी तो देखना चाहिये कि हममें विचारों-मान्यताओंकी एकता कितनी है? यदि सदृशता-एकता अधिक है तो फिर उससे लाभ क्यों न उठाया जाय? इससे रागद्वेषका उपशम होगा, आत्माकी निर्मलता बढ़ेगी, जो कि सारे कर्त्तव्योंका—क्रिया कांडोंका चरम-लक्ष्य है। आशा है हमारा समाज शांत हृदयसे इसपर विचार कर, जिस हद तक हम मिलजुलकर रह सकते हैं—मान सकते हैं वहाँ तक अवश्य ही संगठित होकर सद्भाव पूर्वक कार्य करनेका पूरा प्रयत्न करेगा।

अब रहा हमारी एकताका दृष्टिकोण। मैं जहां तक जानता हूं कथा एवं विधि विधानके भेदोंको यदि अलग कर दिया जाय तो तात्विकभेद ३-४ ही नज़र आयेंगे। यथाः—स्त्रीमुक्ति, शूद्रमुक्ति, दिगम्बरत्व इनमें झगड़नेकी कोई बात नहीं है; क्योंकि इस पंचम कालमें भरत क्षेत्रसे मुक्ति जाना तो श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही सम्प्रदाय नहीं मानते। अतः वर्तमान समाजके लिये तो ये विषय केवल चर्चास्पद ही हैं। दिगम्बरत्वके सम्बन्धमें भी तत्वकी बात तो यह है कि दिगम्बरत्व बाह्य वेष है अतः इसके ध्येयको ही स्थान देना या लक्ष्यमें रखना चाहिये। वास्तवमें इसका साध्य निर्ममत्व भाव है, जो कि उभय सम्प्रदायोंके लिये उपास्य है। जो ध्येयको सन्मुख रखते हुए व्यवहार मार्गका अनुसरण करते हैं, उनके लिये चाहे दिगम्बरत्व उसके अधिक सन्निकट हो पर एकान्त बाह्य वेषको ही उच्च एवं महत्वका स्थान नहीं मिल सकता केवलिमुक्ति आदि बातें तो हमारे साधना मार्गमें कोई मूल्यवान मतभेद या बाधा उपस्थित नहीं करतीं। केवली कवलाहार करें या न करें हमें इसमें कोई लाभ या नुकसान नहीं हो सकता। इसी प्रकार अन्य मतभेदोंकी कट्टरताका परिहार भी विशाल अनेकान्त-दृष्टिसे सहज हो सकता है। वास्तवमें हमारा लक्ष्य एवं पथ एक ही है। गतिविधिकी साधारण असमानताको अलग रखकर हमें अपने निर्मल विवेक द्वारा आपसी तुच्छ विरोध तथा संकुचित मनोंको विसर्जन कर जैनत्वके प्रगट करनेमें अभिन्नभावसे अनवरत प्रयत्न करना चाहिये।

विरोधाग्निकी ज्वाला दि० श्वे० में परस्पर ही सीमित नहीं, बल्कि दिगम्बर-दिगम्बरोंमें और श्वेताम्बरों-श्वेताम्बरोंमें भी साधारण मत भेदोंके कारण वह प्रज्वलित है। श्वेताम्बर-दिगम्बर सामयिकपत्रोंमें कई पत्रोंका तो एकमात्र विषय ही यह विरोध बन रहा है। कालमके कालम एक दूसरेके विरोधी लेखोंसे भरे रहते हैं, ऐसे विरोधवर्द्धक व्यक्तियों तथा पत्रोंसे समाजका क्या भला होनेको है?

हम जैनी अनेकान्ती हैं, अनेकान्तके बलपर विभिन्न दृष्टिकोणोंका समन्वय कर हम विरोधको पचा सकते हैं, यह विवेक हम भूलसे गये हैं। वर्त्तनमें अहिंसा और विचारोंमें स्याद्वाद, ये दो भगवान महावीरके प्रधान सिद्धान्त हैं; पर हम लोग इन दोनोंसे ही बहुत दूर हैं! कीड़े-मकौड़े आदि सूक्ष्म जीवों पर दया करना जानते हैं पर ग़रीब भाइयों तथा दस्सों आदिको गले लगाना नहीं जानते? उनपर अत्याचार करते व उनके अधिकारोंको छीनते हमें दया नहीं आती! आपसी फूटका बोलबाला है। अहिंसाके उपासक शान्तिनिधि एवं विश्वप्रेमी होने चाहियें, पर हमारी वर्त्तमान अवस्था इसके सर्वथा विपरीत है। इसी प्रकार अनेकान्त अथवा स्याद्वादका जीवनमें कोई प्रभाव प्रतीत नहीं होता, वह तो केवल ग्रन्थोंका ही विषय रह गया है। अतः इसकी जीवनमें पुनः प्रतिष्ठा करनेकी आवश्यकता है।

हमारा दि० श्वे० दोनों समाजोंसे विशेष अनुरोध है कि वे अपने आपसी मनोमालिन्यको धो बहायें, तीर्थोंके झगड़ोंको मिटा डालें और जैनत्वके सच्चे उपासक बनकर संसारके सामने अपना अद्भुत एवं अनुपम आदर्श रखें।
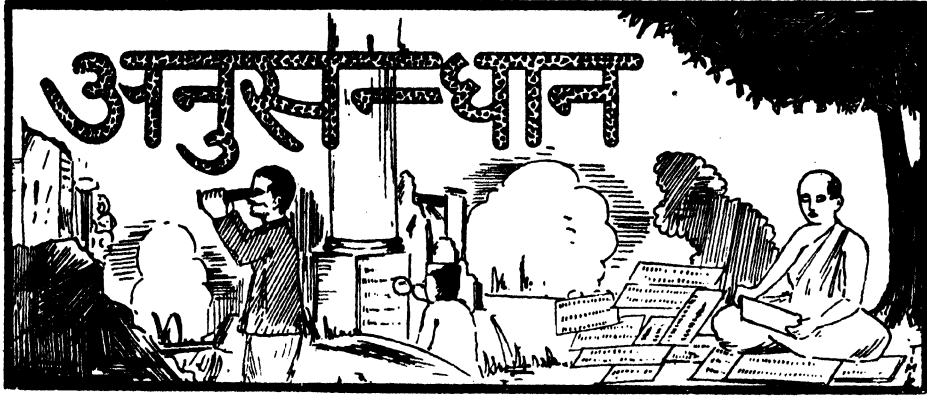
सिद्धप्राभृत

[ले०—श्री पं० हीरालाल जैन शास्त्री]

लगभग १० वर्ष पूर्वकी बात है कि ब्यावरमें रा० ब०सेठ चम्पालालजी रामस्वरूपजीकी नशियाँ के शास्त्रभंडारको सँभालते समय किसी गुटकेमें कुन्दकुन्दाचार्य कृत ८४ पाहुड रचे जानेका उल्लेख मिला था और साथ ही उसमें लगभग ४३-४४ पाहुडोंके नाम भी देखनेको मिले थे, जिनमेंसे एक नाम 'सिद्धपाहुड' भी था। बादको मूलाराधनाकी छानबीनके समय भी इस नामपर दृष्टि तो गई, पर कार्यव्यासंगसे उधर कोई विशेष ध्यान न दे सका। पर हाल ही में अनेकान्तकी किरण ८में पं०परमानन्द शास्त्रीके 'अपराजितसूरि और विजयोदया' शीर्षक लेखकी अन्तिम पंक्तियोंसे 'सिद्धपाहुड' की स्मृति ताजी हो आई और इस विषयका जो कुछ नया अनुसंधान मुझे मिला है उसे पाठकोंके परिज्ञानार्थ यहाँ देता हूँ।

श्वेताम्बरागमोंमें नन्दीसूत्रको एक विशेष स्थान प्राप्त है। उसकी मलयगिरीया वृत्तिमें सिद्धोंका स्वरूप वर्णन करते समय सिद्धप्राभृतका अनेकों बार उल्लेख किया गया है और कहीं कहीं तो आचार्य परम्पराभेदको दिखाते हुए भी आदर्शपाठ सिद्धप्राभृतका ही स्वीकार किया गया-सा प्रतीत होता है। यद्यपि कहीं भी स्पष्ट रूपसे उसे दिगम्बर ग्रन्थ बतानेवाला कोई उल्लेख नहीं है; फिर भी २-१ स्थल ऐसे अवश्य हैं जिनसे यह प्रतीत होता है कि शायद वह दिगम्बर ग्रन्थ हो, और आश्चर्य नहीं कि कुन्दकुन्दके अन्य पाहुडोंके समान यह सिद्धपाहुड भी उन्हींकी दिव्य लेखनीसे प्रसूत हुआ हो; पर अभी ये सब बातें अन्धकारमें हैं।

नन्दीके सूत्र नं० १६-२० की वृत्तिको प्रारम्भ करते हुए टीकाकार मलयगिरि लिखते हैं कि—

"इहानन्तरसिद्धाः सत्पदप्ररूपणाद्रव्यप्रमाणक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वरूपैरष्टभिरनुयोगद्वारैः परम्परसिद्धाः सत्पदप्ररूपणाद्रव्यप्रमाणक्षेत्रस्पर्शनाकालान्तरभावाल्पबहुत्वसन्निकर्षरूपैर्नवभिरनुयोगद्वारैः क्षेत्रादिषु पञ्चदशसु द्वारेषु 'सिद्धप्राभृते' चिन्तिताः ततस्तदनुसारेण वयमपि विनेयजनानुग्रहार्थं लेशतश्चिन्तयामः।"

अर्थात्—अनन्तरसिद्ध और परम्परासिद्धोंका उक्त अनुयोग द्वारों-द्वारा सविस्तृत वर्णन सिद्धप्राभृतमें किया गया है, सो उसीके अनुसार हम भी शिष्यजनोंके अनुग्रहार्थ लेशमात्रसे यहाँ पर विचार करते हैं।

इसके बाद उन्होंने 'तदुक्तं सिद्धप्राभृतटीकायां, उक्तं च सिद्धप्राभृतटीकायां, तथा चोक्तं सिद्धप्राभृतटीकायां, सिद्धप्राभृतसूत्रेऽप्युक्तम्, उक्तं च सिद्धप्राभृते, तथा चोक्तं सिद्धप्राभृते, यतः सिद्धप्राभृतटीकायामेवोक्तं, शेषेषु द्वारेषु सिद्धप्राभृतटीकातो भावनीयः' इत्यादि अनेक रूपसे सिद्धप्राभृतका उल्लेख किया है। और अन्तमें उन्होंने अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हुए लिखा है कि—

सिद्धप्राभृतसूत्रं तद्वृत्तिं चोपजीव्य मलयगिरिः।
सिद्धस्वरूपमेतन्निरवोचच्छिष्यबुद्धिहितः॥

अर्थात्—मुझ मलयगिरिने यह सिद्धोंका स्वरूप सिद्धप्राभृतसूत्र और उसकी वृत्तिका आश्रय लेकर शिष्योंकी बुद्धिके हितार्थ कहा है।

उक्त अवतरणोंमेंसे कुछ एक उल्लेख ऐसे हैं जिनसे मूलग्रन्थ, उसकी टीका और उसके आम्नाय-विभाग पर भी प्रकाश पड़ता है। उदाहरणार्थ—

'सिद्धपाहुड' गाथाओंमें रचा गया है। जैसे सिद्धप्राभृतसूत्रेऽप्युक्तम्—

'उस्सप्पिणीओसप्पिणीतइयचउत्थयसमासु अट्ठसयं।
पंचमियाए वीसं दसगं दसगं च सेसेसु॥'
'सेसा उ अट्ठभंगा दसगं दसगं तु होइ एक्केक्कं।'
'परिमाणेण अणंता कालोऽणाई अणंतओ तेसिं।'
इत्यादि।

सिद्धपाहुडकी टीका अतीव विस्तृत रही है ऐसा भी कितने ही उल्लेखोंसे प्रतीत होता है, जैसे—

'तदेवमिह सन्निकर्षो द्रव्यप्रमाणे सप्रपञ्चं चिन्तितः, शेषेषु द्वारेषु सिद्धप्राभृतटीकातो भावनीयः। इह तु ग्रंथगौरवभयान्नोच्यते।'

साथ ही, उल्लेखोंसे यह भी ज्ञात होता है कि मूलाराधनाकी प्राकृत टीकाके समान सिद्धपाहुडकी भी प्राकृत टीका रही है। जैसे—

'सेसा एगयरे विजये।' 'सेसेसु अरएसु दस सिज्झंति, दोसु वि उस्सप्पिणीओसप्पिणीसु संहरणतो'। 'जवमज्झाए य चत्तारि समया।' इत्यादि।

मतभेदवाले उल्लेखोंकी बानगी देखिए—

'सम्प्रत्यल्पबहुत्वं सिद्धप्राभृतक्रमेणोच्यते—' 'उक्तं च सिद्ध प्राभृते-सेसाय गईय दसदसगं' 'भगवांस्त्वार्यश्यामः पुनरेवमाह—'इदं च क्षेत्रविभागेनाल्पबहुत्वं सिद्धप्राभृतटीकातो लिखितं।'

एक-दो उल्लेख कुछ महत्त्वपूर्ण मतभेदोंको लिए हुए भी देखनेको मिल रहे हैं पर उन्हें यहाँपर जानबूझकर छोड़ रहा हूँ; क्योंकि वे उल्लेख स्वयं एक स्वतन्त्र लेखके विषय हैं, जिन पर पुनः कभी लिखूंगा।

श्वेताम्बरीय विद्वानोंको इस विषयमें प्रकाश डालना आवश्यक है कि क्या उनके भंडारोंमें 'सिद्धप्राभृत' नामक कोई शास्त्र है? यदि हाँ, तो वह किसका बनाया है? टीकाकार कौन हैं? कितने प्रमाणवाला है? आदि। अभिधानराजेन्द्र कोषमें भी एक टिप्पणी इस नामपर लिखी मिलती है—

"सिद्धपाहुड—सिद्धप्राभृत नंतु स्वनामख्याते सिद्धाधिकारप्रतिपादके ग्रन्थे।"

पर इससे मूलकर्ता, टीकाकार आदिके विषयमें कुछ प्रतीत नहीं होता है। हाँ, एक बात अवश्य

नवीन ज्ञात होती है कि नन्दीसूत्रके सिवाय अन्य किसी ग्रन्थमें इसका कोई उल्लेख उपलब्ध श्वे० आगम-साहित्यमें नहीं है। क्योंकि कोषक्रमके अनुसार उक्त व्याख्याके अन्तमें केवल 'नं०' लिखा हुआ है, जोकि केवल 'नन्दीसूत्र' का ही बोधक है।

आशा है इस विषय पर हमारे समर्थ अधिकारी ऐतिहासिक विद्वान् विशेष प्रकाश डालेंगे और शास्त्रभंडारोंके मालिक अपने अपने भंडारोंमें छान-बीन करनेकी कोशिश करेंगे, जिससे यह ग्रन्थ-रत्न प्रकाशमें आसके।

सम्पादकीय नोट—

नन्दिसूत्रकी उक्त टीकामें जिस 'सिद्धप्राभृत' का उल्लेख है वह चिरन्तनाचार्य-विरचित-टीकासे भिन्न उस दूसरी टीकाके साथ भावनगरकी आत्मानन्द-ग्रन्थमालामें (सन् १९२१में) मुद्रित होचुका है जिसका हवाला मलयगिरिसूरि अपनी टीकामें देरहे हैं। मुद्रित प्रतिपरसे मूलग्रन्थकार तथा टीकाकारका कोई नाम उपलब्ध नहीं होता। ग्रन्थ-सम्पादक मुनि-श्रीचतुरविजयजीने अपनी प्रस्तावनामें यहाँतक सूचित किया है कि मूलग्रन्थकार तथा इस उपलब्ध टीकाके कर्ताका नाम कहींसे भी उपलब्ध नहीं होता है। साथ ही, यह भी सूचित किया है कि इस टीकाकी एक प्रति संवत् ११३८ वैशाखशुदि १४ गुरुवारकी ताडपत्र पर लिखी हुई पालीतानाके सेठ आनन्दजी कल्याणजीके ज्ञान-भंडारमें मौजूद है, इससे यह टीका अर्वाचीन नहीं है। मूलग्रन्थकी गाथा संख्या १२० है; जैसाकि अन्तिमगाथा और निम्न वाक्यसे प्रकट है—

> "वीसुत्तरसयमेगं गाथाबंधेण पुव्वणिस्संदं।
> वित्थारेण महत्थं सुयाणुसारेण योयव्वं ॥"

> "वीसुत्तरसयगाहाणामसिद्धपाहुडं सम्मत्तं अग्गेणियपुव्वणिस्सदं।"

इस टीकाका मूल परिमाण ८१५ श्लोक-जितना और सूत्रसहित कुल परिमाण ९५० श्लोक-जितना दिया है। टीकाकारने, टीकाके निम्न अन्तिम वाक्यमें, अपना कोई नाम न देते हुए इतना ही सूचित किया है कि 'मेरा यह प्रयास केवल मूल-गाथाओंके संयोजनार्थ है, स्पष्ट अर्थ तो चिरन्तन टीकाकारोंके द्वारा कहा गया है'—

> "गाथासंयोजनार्थोऽयं प्रयासः केवलोमम।
> अर्थस्तूक्तः स्फुटो ह्येष टीकाकृद्भिश्चिरन्तनैः ॥"

इस सिद्धप्राभृतका प्रारम्भ निम्न गाथाओंसे होता है—

> तिहुयणपणए तिहुयणगुणाहिए तिहुयणाइसयणाणे।
> उसभादिवीरचरिमे तमरयरहिए पणमिऊणं ॥ १ ॥
> सुणिउणआगमणिहसे सुणिउणपरमत्थसुत्तगंथधरे।
> चोद्दसपुव्विगमाई कमेण सव्वे पणविऊणं ॥ २ ॥
> णिक्खेवणिरुत्तीहि य छहिं अट्ठहिं चाणुओगदारेहिं।
> खेत्ताइमग्गणासु य सिद्धाणं वण्णिया भेया ॥ ३ ॥

जहाँ तक मैंने इस ग्रन्थपर सरसरी नज़र डाली है, मुझे यह ग्रंथ अपने वर्तमान रूपमें कुन्दकुन्दचार्य कृत मालूम नहीं होता। अपराजित सूरिने जिस 'सिद्धप्राभृत' का उल्लेख किया है वह इसी सिद्धप्राभृतका उल्लेख है ऐसा उनके उल्लेखपर से स्पष्ट बोध नहीं होता। हो सकता है कि वह कुन्दकुन्दके किसी जुदे सिद्धप्राभृतसे ही सम्बन्ध रखता हो अथवा यह वर्तमान सिद्धप्राभृत कुंद-कुन्दकुन्दके सिद्धप्राभृतका ही कुछ घटा-बढ़ाकर किया गया विकृत रूप हो। कुछ भी हो इस विषय-की विशेष खोज होनी चाहिये।

महात्मा गान्धीके २७ प्रश्नोंका श्रीमद् रायचन्दजी द्वारा समाधान

[नवीं किरण से आगे]

५. *प्रश्नः*—ऐसा पढ़नेमें आया है कि मनुष्य देह छोड़नेके बाद कर्मके अनुसार जानवरोंमें जन्म लेता है; वह पत्थर और वृक्ष भी हो सकता है, क्या यह ठीक है ?

उत्तरः—देह छोड़नेके बाद उपार्जित कर्मके अनुसार ही जीवकी गति होती है, इससे वह तिर्यंच (जानवर) भी होता है; और पृथ्वीकाय अर्थात् पृथ्वीरूप शरीर भी धारण करता है और बाकीकी दूसरी चार इन्द्रियोंके बिना भी जीवको कर्मके भोगनेका प्रसंग आता है, परन्तु वह सर्वथा पत्थर अथवा पृथ्वी ही हो जाता है, यह बात नहीं है। वह पत्थररूप काया धारण करता है और उसमें भी अव्यक्त भावसे जीव, जीवरूपसे ही रहता है। वहाँ दूसरी चार इन्द्रियोंका अव्यक्त (अप्रगट)पना होनेसे वह पृथ्वीकायरूप जीव कहे जाने योग्य है। क्रम क्रमसे ही उस कर्मको भोग कर जीव निवृत्त होता है। उस समय केवल पत्थरका दल परमाणु रूपसे रहता है, परन्तु उसमें जीवका सम्बन्ध चला आता है, इसलिये उसे आहार आदि संज्ञा नहीं होती। अर्थात् जीव सर्वथा जड़—पत्थर—हो जाता है, यह बात नहीं है। कर्मकी विषमतासे चार इन्द्रियोंका अव्यक्त समागम होकर केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय रूपसे जीवको जिस कर्मसे देहका समागम होता है, उस कर्मके भोगते हुए वह पृथिवी आदिमें जन्म लेता है, परन्तु वह सर्वथा पृथ्वीरूप अथवा पत्थर रूप नहीं हो जाता; जानवर होते समय सर्वथा जानवर भी नहीं हो जाता। जो देह है वह जीवका वेषधारी पना है, स्वरूपपना नहीं।

६-७ *प्रश्नोत्तरः*—इसमें छट्ठे प्रश्नका भी समाधान आ गया है।

इसमें सातवें प्रश्नका भी समाधान आगया है, कि केवल पत्थर अथवा पृथ्वी किसी कर्मका कर्त्ता नहीं है। उनमें आकर उत्पन्न हुआ जीव ही कर्मका कर्ता है, और वह भी दूध और पानीकी तरह है। जैसे दूध और पानीका संयोग होने पर भी दूध दूध है और पानी पानी ही है, उसी तरह एकेन्द्रिय आदि कर्मबन्धसे जीवका पत्थरपना—जड़पना—मालूम होता है, तो भी वह जीव अंतरमें तो जीवरूप ही है, और वहाँ भी वह आहार भय आदि संज्ञापूर्वक ही रहता है, जो अव्यक्त जैसी है।

८ *प्रश्नः*—आर्य धर्म क्या है ? क्या सबकी उत्पत्ति वेदसे ही हुई है ?

उत्तरः—(१) आर्यधर्मकी व्याख्या करते हुए सबके सब अपने पक्षको ही आर्यधर्म कहना चाहते हैं। जैन जैनधर्मको, बौद्ध बौद्धधर्मको, वेदान्ती वेदान्त धर्मको आर्यधर्म कहें, यह साधारण बात है। फिर भी ज्ञानी पुरुष तो जिससे आत्माको निज

स्वरूपकी प्राप्ति हो, ऐसा जो आर्य (उत्तम) मार्ग है उसे ही आर्यधर्म कहते हैं. और ऐसा ही योग्य है।

(२) सबकी उत्पत्ति वेदमेंसे होना सम्भव नहीं हो सकता। वेदमें जितना ज्ञान कहा गया है उससे हज़ार गुना आशययुक्तज्ञान श्रीतीर्थंकर आदि महात्माओंने कहा है, ऐसा मेरे अनुभवमें आता है; और इससे मैं ऐसा मानता हूँ कि अल्प वस्तुमें-से सम्पूर्ण वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती। इस कारण वेदमेंसे सबकी उत्पत्ति मानना योग्य नहीं है। हाँ, वैष्णव आदि सम्प्रदायोंकी उत्पत्ति उसके आश्रय-से माननेमें कोई बाधा नहीं है। जैन-बौद्धके अन्तिम महावीरादि महात्माओंके पूर्व वेद विद्यमान थे, ऐसा मालूम होता है। तथा वेद बहुत प्राचीन ग्रन्थ हैं, ऐसा भी मालूम होता है। परन्तु जो कुछ प्राचीन हो, वह सम्पूर्ण हो अथवा सत्य हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता; तथा जो पीछेसे उत्पन्न हो, वह सब असम्पूर्ण और असत्य हो, ऐसा भी नहीं कहा जासकता। बाक़ी तो वेदके समान अभिप्राय और जैनके समान अभिप्राय अनादिसे चला आ-रहा है। सर्वभाव अनादि ही हैं, मात्र उनका रूपा-न्तर हो जाता है, सर्वथा उत्पत्ति अथवा सर्वथा नाश नहीं होता। वेद, जैन, और सबके अभिप्राय अनादि हैं ऐसा माननेमें कोई बाधा नहीं है, फिर उसमें किस बातका विवाद हो सकता है? फिर भी इनमें विशेष बलवान सत्य अभिप्राय किसका मानना योग्य है, इसका हम तुम सबको विचार करना चाहिए।

९. *प्रश्नः*—वेद किसने बनाये? क्या वे अ-नादि हैं? यदि वेद अनादि हों तो अनादिका क्या अर्थ है?

उत्तर:—(१) वेदोंकी उत्पत्ति बहुत समय पहिले हुई है।

(२) पुस्तक रूपसे कोई भी शास्त्र अनादि नहीं; और उसमें कहे हुए अर्थके अनुसार तो सभी शास्त्र अनादि हैं। क्योंकि उस उस प्रकारका अभिप्राय भिन्न भिन्न जीव भिन्न भिन्न रूपसे कहते आये हैं, और ऐसा ही होना सम्भव है। क्रोध आदि भाव भी अनादि हैं। हिंसा आदि धर्म भी अनादि हैं और अहिंसा आदि धर्म भी अनादि हैं। केवल जीव-को हितकारी क्या है, इतना विचार करना ही कार्यकारी है। अनादि तो दोनों हैं. फिर कभी किसीका कम मात्रामें बल होता है और कभी किसीका विशेष मात्रामें बल होता है।

१०. *प्रश्नः*—गीता किसने बनाई है? वह ईश्वरकृततो नहीं है? यदिईश्वर कृत हो तो उस-का कोई प्रमाण है?

उत्तर:—ऊपर कहे हुए उत्तरोंसे इसका बहुत कुछ समाधान हो सकता है। अर्थात् 'ईश्वर' का अर्थ ज्ञानी (सम्पूर्ण ज्ञानी) करनेसे तो वह ईश्व रकृत हो सकती है; परन्तु नित्य, निष्क्रिय आकाश की तरह ईश्वरके व्यापक स्वीकार करने पर उस प्रकारकी पुस्तक आदिकी उत्पत्ति होना संभव नहीं। क्योंकि वह तो साधारण कार्य है, जिसका कर्तृत्व आरंभपूर्वक ही होता है—अनादि नहीं होता।

गीता वेद व्यासजीकी रची हुई पुस्तक मानी जाती है, और महात्मा श्रीकृष्णने अर्जुनको उस प्रकारका बोध किया था, इसलिये मुख्यरूपसे श्री-कृष्ण ही उसके कर्ता कहे जाते हैं, यह बात संभव

है। ग्रन्थ श्रेष्ठ है। उस तरहका आशय अनादि कालसे चला आ रहा है, परन्तु वे ही श्लोक अनादिसे चले आते हों, यह संभव नहीं है; तथा निष्क्रिय ईश्वरसे उसकी उत्पत्ति होना भी संभव नहीं। वह क्रिया किसी सक्रिय अर्थात् देहधारीसे ही होने योग्य है, इसलिये जो सम्पूर्ण ज्ञानी है वह ईश्वर है, और उसके द्वारा उपदेश किये हुए शास्त्र ईश्वरीय शास्त्र हैं, यह माननेमें कोई बाधा नहीं है।

११. प्रश्नः—पशु आदिके यज्ञ करनेसे थोड़ासा भी पुण्य होता है, क्या यह सच है?

उत्तरः—पशुके बधसे, होमसे अथवा उसे थोड़ासा भी दुःख देनेसे पाप ही होता है तो फिर उसे यज्ञमें करो अथवा चाहे तो ईश्वरके धाममें बैठकर करो। परन्तु यज्ञमें जो दान आदि क्रियाएँ होती हैं, वे कुछ पुण्यकी कारणभूत हैं। फिर भी हिंसा मिश्रित होनेसे उनका भी अनुमोदन करना योग्य नहीं है।

१२. प्रश्नः—जिस धर्मको आप उत्तम कहते हो, क्या उसका कोई प्रमाण दिया जा सकता है?

उत्तरः—प्रमाण तो कोई दिया न जाय, और इस प्रकार प्रमाणके बिना ही यदि उसकी उत्तमताका प्रतिपादन किया जाय तो फिर तो अर्थ-अनर्थ, धर्म-अधर्म सभी को उत्तम ही कहा जाना चाहिए। परन्तु प्रमाणसे ही उत्तम-अनुत्तमकी पहिचान होती है। जो धर्म संसारके क्षय करनेमें सबसे उत्तम हो और निजस्वभावमें स्थित करानेमें बलवान हो, वही धर्म उत्तम और वही धर्म बलवान है।

१३. प्रश्नः—क्या आप ख्रिस्तीधर्मके विषयमें कुछ जानते हैं? यदि जानते हैं तो क्या आप अपने विचार प्रगट करेंगे?

उत्तरः—ख्रिस्तीधर्मके विषयमें साधारण ही जानता हूँ। भरतखंडके महात्माओंने जिस तरहके धर्मकी शोध की है—विचार किया है, उस तरहके धर्मका किसी दूसरे देशके द्वारा विचार नहीं किया गया, यह तो थोड़ेसे अभ्याससे ही समझमें आ सकता है। उसमें (ख्रिस्तीधर्ममें) जीवकी सदा परवशता कही गई है, और वह दशा मोक्षमें भी इसी तरहकी मानी गई है जिसमें जीवके अनादि स्वरूपका यथा योग्य विवेचन नहीं है, जिसमें कर्मबंधकी व्यवस्था और उसकी निवृत्ति भी जैसी चाहिए वैसी नहीं कही, उस धर्मका मेरे अभिप्रायके अनुसार सर्वोत्तम धर्म होना संभव नहीं है। ख्रिस्ती धर्ममें जैसा मैंने ऊपर कहा, उस प्रकार जैसा चाहिए वैसा समाधान देखनेमें नहीं आता। इस वाक्यको मैंने मतभेदके वश होकर नहीं लिखा। अधिक पूछने योग्य मालूम हो तो पूछना—तब विशेष समाधान हो सकेगा।

१४ प्रश्नः—वे लोग ऐसा कहते हैं कि बाइबल ईश्वर-प्रेरित है। ईसा ईश्वरका अवतार है—वह उसका पुत्र है और था।

उत्तरः—यह बात तो श्रद्धासे ही मान्य हो सकती है, परन्तु यह प्रमाणसे सिद्ध नहीं होती। जो बात गीता और वेदके ईश्वर-कर्तृत्वके विषयमें लिखी है, वही बात बाइबलके संबंधमें भी समझना चाहिये। जो जन्म मरणसे मुक्त हो, वह ईश्वर अवतार ले, यह संभव नहीं है। क्योंकि राग-द्वेष आदि परिणाम ही जन्मके हेतु हैं; ये जिसके नहीं हैं, ऐसा ईश्वर अवतार धारण करे, यह बात विचारनेसे यथार्थ नहीं मालूम होती। 'वह ईश्वर-

का पुत्र है और था' इस बातको भी यदि किसी रूपकके तौर पर विचार करें तो ही यह कदाचित ठीक बैठ सकती है, नहीं तो यह प्रत्यक्ष प्रमाणसे बाधित है। मुक्त ईश्वरके पुत्र हों, यह किस तरह माना जा सकता है? और यदि मानें भी तो उसकी उत्पत्ति किस प्रकार स्वीकार कर सकते हैं ? यदि दोनोंको अनादि मानें तो उनका पिता पुत्र संबंध किस तरह ठीक बैठ सकता है ? इत्यादि बातें विचारणीय हैं। जिनके विचार करनेसे मुझे ऐसा लगता है कि वह बात यथायोग्य नहीं मालूम हो सकती।

१५. *प्रश्नः*—पुराने क़रारमें जो भविष्य कहा गया है, क्या वह सब ईसाके विषयमें ठीक ठीक उतरा है ?

उत्तरः—यदि ऐसा हो तो भी उससे उनदोनों शास्त्रोंके विषयमें विचार करना योग्य है। तथा इस प्रकारका भविष्य भी ईसाको ईश्वरावतार कहनेमें प्रबल प्रमाण नहीं है, क्योंकि ज्योतिष आदिसे भी महात्माकी उत्पत्ति जानी जा सकती है। अथवा भले ही किसी ज्ञानसे वह बात कही हो, परन्तु वह भविष्य वेत्ता सम्पूर्ण मोक्ष-मार्गका जाननेवाला था यह बात जब तक ठीक ठीक प्रमाणभूत न हो, तब तक वह भविष्य वगैरह केवल एक श्रद्धा ग्राह्य प्रमाण ही हैं, और वह दूसरे प्रमाणोंसे बाधित न हो, यह बुद्धिमें नहीं आ सकता।

१६. *प्रश्नः*—इस प्रश्नमें 'ईसामसीह' के चमत्कारके विषयमें लिखा है।

उत्तरः—जो जीव कायामेंसे सर्वथा निकलकर चला गया है, उसी जीवको यदि उसी कायामें दाखिल किया गया हो अथवा यदि दूसरे जीवको उसी कायामें दाखिल किया हो तो यह होना संभव नहीं है, और यदि ऐसा हो तो फिर कर्म आदिकी व्यवस्था भी निष्फल ही हो जाय। बाक़ी योग आदिकी सिद्धिसे बहुतसे चमत्कार उत्पन्न होते हैं; और उस प्रकारके बहुतसे चमत्कार ईसाको हुए हों सो यह सर्वथा मिथ्या है, अथवा असंभव है, ऐसा नहीं कह सकते। उस तरहकी सिद्धियाँ आत्माके ऐश्वर्यके सामने अल्प हैं—आत्माके ऐश्वर्यका महत्व इससे अनन्त गुना है। इस विषयमें समागम होने पर पूछना योग्य है।

१७. *प्रश्नः*— आगे चलकर कौनसा जन्म होगा, क्या इस बातकी इस भवमें खबर पड़ सकती है ? अथवा पूर्वमें कौनसा जन्म था इसकी कुछ खबर पड़ सकती है ?

उत्तरः—हाँ, यह हो सकता है। जिसे निर्मल ज्ञान होगया हो उसे वैसा होना संभव है। जैसे बादल इत्यादिके चिह्नोंके ऊपरसे बरसातका अनुमान होता है, वैसे ही इस जीवकी इस भवकी चेष्टाके ऊपरसे उसके पूर्व कारण कैसे होने चाहिएँ, यह भी समझमें आ सकता है—चाहे थोड़े ही अंशोंमें समझमें आये। इसी तरह वह चेष्टा भविष्यमें किस परिमाणको प्राप्त करेगी, यह भी उसके स्वरूपके ऊपरसे जाना जासकता है, और उसके विशेष विचार करने पर भविष्यमें किस भवका होना संभव है, तथा पूर्वमें कौनसा भव था, यह भी अच्छी तरह विचारमें आ सकता है।।

१८. *प्रश्नः*—दूसरे भवकी खबर किसे पड़ सकती है ?

उत्तरः—इस प्रश्नका उत्तर ऊपर आचुका है।

१९. जिन मोक्ष-प्राप्त पुरुषोंके नामका आप

उल्लेख करते हो, वह किस आधारसे करते हो?

उत्तरः—इस प्रश्नको यदि मुझे खास तौर पर लक्ष करके पूछते हो तो उसके उत्तरमें यह कहा जासकता है कि जिसकी संसार दशा अत्यन्त परिक्षीण होगई है, उसके वचन इस प्रकारके संभव हैं उसकी चेष्टा इस प्रकारकी संभव है' इत्यादि अंशसे भी अपनी आत्मामें जो अनुभव हुआ हो, उसके आधारसे उन्हें मोक्ष हुआ कहा जासकता है; प्रायः करके वह यथार्थ ही होता है। ऐसा माननेमें जो प्रमाण हैं वे भी शास्त्र आदिसे जाने जा सकते हैं।

२०. *प्रश्न*:—बुद्धदेवने भी मोक्ष नहीं पाई, यह आप किस आधारसे कहते हो?

उत्तरः—उनके शास्त्र-सिद्धान्तोंके आधारसे। जिस तरहसे उनके शास्त्र सिद्धान्त हैं, यदि उसी तरह उनका अभिप्राय हो तो वह अभिप्राय पूर्वापर विरुद्ध भी दिखाई देता है, और वह सम्पूर्ण ज्ञानका लक्षण नहीं है।

जहाँ सम्पूर्ण ज्ञान नहीं होता वहाँ सम्पूर्ण राग द्वेषका नाश होना सम्भव नहीं। जहाँ वैसा हो वहाँ संसारका होना ही संभव है। इसलिए उन्हें सम्पूर्ण मोक्ष मिली हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। और उनके कहे हुए शास्त्रोंमें जो अभिप्राय है उसको छोड़कर उसका कुछ दूसरा ही अभिप्राय था, उसे दूसरे प्रकारसे तुम्हें और हमें जानना कठिन पड़ता है; और फिर भी यदि कहें कि बुद्धदेवका अभिप्राय कुछ दूसरा ही था तो उसे कारण पूर्वक कहनेसे वह प्रमाणभूत न समझा जाय, यह बात नहीं है।

२१. *प्रश्न*—दुनियाकी अन्तिम स्थिति क्या होगी?

उत्तरः—सब जीवोंको सर्वथा मोक्ष हो जाय, अथवा इस दुनियाका सर्वथा नाश ही हो जाये, ऐसा होना मुझे प्रमाणभूत नहीं मालूम होता। इसी तरहके प्रवाहमें उसकी स्थिति रहती है। कोई भाव रूपांतरित होकर क्षीण हो जाता है, तो कोई वर्धमान होता है; वह एक क्षेत्रमें बढ़ता है, तो दूसरे क्षेत्रमें घट जाता है, इत्यादि रूपसे इस सृष्टिकी स्थिति है। इसके ऊपरसे और बहुत ही गहरे विचारमें उतरनेके पश्चात ऐसा कहना संभव है कि यह सृष्टि सर्वथा नाश हो जाय, अथवा इसकी प्रलय हो जाय, यह होना संभव नहीं। सृष्टिका अर्थ एक इसी पृथ्वीसे नहीं समझना चाहिए।

२२. *प्रश्नः*—इस अनीतिमेंसे सुनीति उद्भूत होगी, क्या यह ठीक है?

उत्तरः—इस प्रश्नका उत्तर सुनकर जो जीव अनीतिकी इच्छा करता है, उसके लिये इस उत्तरको उपयोगी होने देना योग्य नहीं। नीति-अनीति सर्व भाव अनादि हैं। फिर भी हम तुम अनीति का त्याग करके यदि नीतिको स्वीकार करें, तो इसे स्वीकार किया जा सकता है, और यही आत्माका कर्त्तव्य है। और सब जीवोंकी अपेक्षा अनीति दूर करके नीतिका स्थापन किया जाय, यह वचन नहीं कहा जा सकता; क्योंकि एकान्तसे उस प्रकार की स्थितिका हो सकना संभव नहीं।

२३. *प्रश्नः*—क्या दुनियाकी प्रलय होती है?

उत्तरः- प्रलयका अर्थ यदि सर्वथा नाश होना किया जाय तो यह बात ठीक नहीं। क्योंकि पदार्थ का सर्वथा नाश हो जाना संभव ही नहीं है। यदि प्रलयका अर्थ सब पदार्थोंका ईश्वर आदिमें लीन होना किया जाय तो किसी अभिप्रायसे यह बात

स्वीकृत हो सकती हैं, परन्तु मुझे यह संभव नहीं लगती। क्योंकि सब पदार्थ सब जीव इस प्रकार समपरिणामको किस तरह प्राप्त कर सकते हैं, जिससे इस प्रकारका संयोग बने ? और यदि उस प्रकारके परिणामका प्रसंग आये भी तो फिर विषमता नहीं हो सकती।

यदि अव्यक्त रूपमें जीवमें विषमता और व्यक्त रूपमें समताके होनेको प्रलय स्वीकार करें तो भी देह आदि सम्बन्धके बिना विषमता किस आधारसे रह सकती है ? यदि देह आदिका सम्बन्ध मानें तो सबको एकेन्द्रियपना माननेका प्रसंग आये: और वैसा माननेमें तो बिना कारण ही दूसरी गतियोंका निषेध मानना चाहिये— अर्थात ऊंची गतिके जीवको यदि उस प्रकारके परिणामका प्रसंग दूर होने आया हो तो उसके प्राप्त होनेका प्रसंग उपस्थित हो, इत्यादि बहुतसे विचार उठते हैं। अतएव सर्व जीवोंकी अपेक्षा प्रलय होना संभव नहीं है।

२४. *प्रश्नः*—अनपढ़को भक्ति करनेसे मोक्ष मिलती है, क्या यह सच है ?

उत्तरः—भक्ति ज्ञानका हेतु है। ज्ञान मोक्षका हेतु है। जिसे अक्षरज्ञान न हो यदि उसे अनपढ़ कहा हो तो उसे भक्ति प्राप्त होना असंभव है, यह कोई बात नहीं है। प्रत्येक जीव ज्ञान-स्वभावसे युक्त है। भक्तिके बलसे ज्ञान निर्मल होता है। सम्पूर्ण ज्ञानकी आवृति हुए बिना सर्वथा मोक्ष हो जाय, ऐसा मुझे मालूम नहीं होता: और जहाँ सम्पूर्ण ज्ञान है वहाँ सर्व भाषा-ज्ञान समा जाता है, यह कहनेकी भी आवश्यकता नहीं। भाषा-ज्ञान मोक्षका हेतु है ? तथा वह जिसे न हो उसे आत्म-ज्ञान न हो यह कोई नियम नहीं है।

२५. *प्रश्नः*—कृष्णावतार और रामावतारका होना क्या यह सच्ची बात है ? यदि हो तो वे कौन थे ? ये साक्षात् ईश्वर थे या उसके अंश थे ? क्या उन्हें माननेसे मोक्ष मिलती है ?

उत्तरः—(१) ये दोनों महात्मा पुरुष थे, यह तो मुझे भी निश्चय है। आत्मा होनेसे वे ईश्वर थे। यदि उनके सर्व आवरण दूर हो गये हों तो उन्हें सर्वथा मोक्ष माननेमें विवाद नहीं। कोई जीव ईश्वरका अंश है, ऐसा मुझे नहीं मालूम होता। क्योंकि इसके विरोधी हजारों प्रमाण देखने में आते हैं। तथा जीवको ईश्वरका अंश माननेसे बंध मोक्ष सब व्यर्थ ही हो जाएँगे।

क्योंकि वह स्वयं तो कोई कर्त्ता-हर्त्ता सिद्ध हो नहीं सकता ? इत्यादि विरोध आनेसे किसी जीव-को ईश्वरके अंशरूपसे स्वीकार करनेकी भी मेरी बुद्धि नहीं होती। तो फिर श्रीकृष्ण अथवा राम जैसे महात्माओंके साथ तो उस संबंधके माननेकी बुद्धि कैसे हो सकती है ? वे दोनों अव्यक्त ईश्वर थे, ऐसा माननेमें बाधा नहीं है। फिर भी उन्हें संपूर्ण ऐश्वर्य प्रगट हुआ था या नहीं, यह बात विचार करने योग्य है।

(२) 'क्या उन्हें माननेसे मोक्ष मिलती है' इस प्रश्नका उत्तर सहज है। जीवके सब राग, द्वेष और अज्ञानका अभाव होना अर्थात् उनसे छूट जानेका नाम ही मोक्ष है। वह जिसके उपदेशसे हो सके, उसे मानकर और उसका परमार्थ स्वरूप विचारकर अपनी आत्मामें भी उसी तरहकी निष्ठा रखकर उसी महात्माकी आत्माके आकारसे (स्व-रूपसे) प्रतिष्ठान हो, तभी मोक्ष होनी संभव है।

बाकी दूसरी उपासना सर्वथा मोक्षका हेतु नहीं है— वह उसके साधनका ही हेतु होती है। वह भी निश्चयसे हो ही, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

२६. प्रश्न:—ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर कौन थे?

उत्तर:—सृष्टिके हेतु रूप तीनों गुणोंको मानकर उनके आश्रयसे उनका यह रूप बताया हो, तो यह बात ठीक बैठ सकती है, तथा उस प्रकारके दूसरे कारणोंसे उन ब्रह्मा आदिका स्वरूप समझमें आता है। परन्तु पुराणोंमें जिस प्रकारसे उनका स्वरूप कहा है, वह स्वरूप उसी प्रकारसे है, ऐसा माननेमें मेरा विशेष झुकाव नहीं है। क्योंकि उनमें बहुतसे रूपक उपदेशके लिये कहे हों, ऐसा भी मालूम होता है। फिर भी उससे उनका उपदेशके रूपमें लाभ लेना, और ब्रह्मा आदिके स्वरूपका सिद्धांत करने की जंजालमें न पड़ना, यही मुझे ठीक लगता है।

२७. प्रश्न:—यदि मुझे सर्प काटने आवे तो उस समय मुझे उसे काटने देना चाहिये या उसे मार डालना चाहिये? यहाँ ऐसा मान लेते हैं कि उसे किसी दूसरी तरह हटानेकी मुझमें शक्ति नहीं है?

उत्तर:—सर्पको तुम्हें काटने देना चाहिये, यह काम बतानेके पहले तो कुछ सोचना पड़ता है, फिर भी यदि तुमने यह जान लिया हो कि देह अनित्य है, तो फिर इस असारभूत देहकी रक्षाके लिये, जिसको उसमें प्रीति है, ऐसे सर्पको मारना तुम्हें कैसे योग्य हो सकता है? जिसे आत्म-हित की चाहना है, उसे तो फिर अपनी देहको छोड़ देना ही योग्य है। कदाचित यदि किसी को आत्म-हितकी इच्छा न हो तो उसे क्या करना चाहिये? तो इसका उत्तर यही दिया जा सकता है कि उसे नरक आदिमें परिभ्रमण करना चाहिये; अर्थात सर्पको मार देना चाहिये। परन्तु ऐसा उपदेश हम कैसे कर सकते हैं? यदि अनार्य-वृत्ति हो तो उसे मारनेका उपदेश किया जाय, परन्तु वह तो हमें और तुम्हें स्वप्नमें भी न हो, यही इच्छा करना योग्य है।

अब संक्षेपमें इन उत्तरोंको लिखकर पत्र समाप्त करता हूँ। षट्दर्शन समुच्चयके समझनेका विशेष प्रयत्न करना। मेरे इन प्रश्नोत्तरोंके लिखनेके संकोचसे तुम्हें इनका समझना विशेष आकुलताजनक हो, ऐसा यदि जरा भी मालूम हो, तो भी विशेषतासे विचार करना, और यदि कुछ भी पत्रद्वारा पूछने योग्य मालूम दे तो यदि पूछोगे तो प्रायः करके उसका उत्तर लिखूंगा। विशेष समागम होने पर समाधान होना अधिक योग्य लगता है।

लिखित आत्मस्वरूपमें नित्य निष्ठाके हेतुभूत विचारकी चिंतामें रहनेवाले रायचन्द्रका प्रणाम।

सुभाषित

'अग्नि उसीको जलाती है जो उसके पास जाता है मगर क्रोधाग्नि सारे कुटुम्बको जला डालती है।'

'शरीरकी स्वच्छताका सम्बन्ध तो जलसे है, मगर मनकी पवित्रता सत्यभाषणसे ही सिद्ध होती है।'

'दुनियाँ जिसे बुरा कहती है अगर तुम उससे बचे हुए हो तो फिर न तुम्हें जटा रखाने की जरूरत है, न सिर मुँडाने की।'

—तिरुवल्लुवर

कहानी | भाईका प्रेम |

बाबू नरेन्द्रप्रसाद जैन बी.ए.

मनुष्यमें प्रेम भी एक अजीब चीज़ है। कभी वह प्रेम उसे उतारू कर देता है बड़ीसे बड़ी कुर्बानी करने पर, अपने वतनके लिये। उसके नशेमें वह पागल बन जाता है—दीवाना हो जाता है। कभी वह प्रेम उसे ज़ार ज़ार रुलाता है, अपने कुटुम्बके प्राणियोंकी दुर्दशा पर। और कभी वह प्रेम उस ऊँची अवस्थाको पहुँच जाता है जब मुहब्बतका एक दरिया उसके दिलमें बहता है और सारा जगत उसमें समा जाता है। प्रोफेसर विनोदका प्रेम दूसरे प्रकारका था। उनकी भी मुहब्बतकी एक दुनिया थी, लेकिन बहुत छोटी, केवल अपने छोटे भाई दिनेश तक ही सीमित। उनको ज़रूरत भी न थी कि उनका संसार कुछ और बढ़े। वे उसे जी-जानसे प्यार करते थे। अपना सारा आराम, सारा सुख उस पर कभीका निसार कर चुके थे। नौकरोंको सख़्त ताक़ीद थी कि दिनेशका मन किसी प्रकार मैला न हो। कभी बाहर जाते तो सदा उनको उसीकी याद सताती रहती। इसका भी एक बड़ा कारण था। उनके कानमें सदा वेही शब्द गूंजते रहते थे जो कि उनके पिताने मृत्यु-शय्या पर पड़े हुए कहे थे। उन शब्दोंमें कितना रुदन था, कितनी बड़ी आकांक्षा थी। उन्होंने कहा था—"बेटा विनोद! मैं मर रहा हूँ पर मरना नहीं चाहता, कुछ दिन और देखना चाहता था अपनी इस फुलवारीको फूलते हुए। देखना, मेरे उस फूलको ठेस न पहुँचे, मैं उसे तुम्हारे आसरे पर छोड़े जारहा हूँ। उसे सुखी देखकर मेरी आत्माको शांति मिलेगी। आशा है तुम मेरी इस अभिलाषाको ठुकराओगे नहीं।" और उन्होंने आँखें बन्द कर ली थीं। इन शब्दोंने ही विनोदको अपना कर्त्तव्य सुझा दिया था। अबसे उनके जीवनका उद्देश्य केवल दिनेशको सुखी करना था। शादीके पैग़ाम आते, पर वे ठुकरा देते। प्रेमकी सरिता-का दो भागोंमें बँट जाना उनके लिये असह्य था। उन्हें डर था कि कहीं कोई गुलचीं आकर उनकी आशाओंकी लताओंको तहस नहस न कर डाले। मित्रोंने समझाया, सैकड़ोंने विश्वास दिलाया; परन्तु वे राज़ी न हुए।

* * *

माता पिताकी गोदसे बिछुड़ा हुआ वह दिनेश भी उनको भूल चुका था। एक स्वप्नसा लगता और स्वप्न भी धीरे धीरे विलीन होता जा रहा था। वह डुबकियाँ ले रहा था विनोदके प्रेमके अथाह सागरमें। वह उनको कितनी मुहब्बत करता था, इसका कुछ अनुमान नहीं। जब वे कालिजसे आते तो कितने उल्लाससे वह अपनी नन्हीं नन्हीं बाहें फैला देता, वे उसे अपने हृदयसे चिपका लेते, और वह एक बड़ी निधि पा जाता। जब वे कभी बाहर चले जाते, तो वह रो रो कर हल्कान हो जाता, सब समझाते, पर उसे तसल्ली न मिलती। एक बार विनोदको बुख़ार आगया, दिनेश पर तो मानों विपत्तिका पहाड़ ही टूट पड़ा हो, मानों उसकी ख़ुशीका चश्मा सूख गया हो। उसने खाना बिल्कुल न खाया, सब नौकरोंने समझाया, पर वह न माना। वे उसे

विनोदके पास लाये। डाक्टरने कहा—"बेटा खाना खाओ, तुम्हारे भैय्या जल्द ही अच्छे हो जाएँगे, फ़िक्र न करो।" दिनेशने कहा—"डाक्टर साहब पहिले मेरे भैय्याको अच्छे होनेकी दवा देदीजिये तब मैं खाना खाऊँगा।" और न जाने कितने आँसू बहाये। इन शब्दोंमें पता नहीं कितनी बड़ी विनती थी। इनसे विनोदको कितनी राहत मिली, कितना आनन्द मिला, वही जानें।

❀　　❀　　❀

भाभी कैसी वस्तु होती है, अभी तक दिनेशको यह पता न था। सब उसे समझाते कि भैय्यासे कहो कि ब्याह करालें। सब का पूर्ण विश्वास था कि यदि दिनेश ज़ोर दे तो विनोद अवश्य शादी करा लेंगे; क्योंकि उसकी बातको टालना उनकी शक्तिके बाहर था। उसका छोटासा दिल पूछता—"क्या भाभी भी भैय्या की तरह मुझे प्यार करेंगी, अपने पास सुलाएँगी, जब मैं मागूंगा मुझे पैसा देंगी।" सब उसे हाँ में जवाब देते और वह निश्चय कर लेता कि वह ज़रूर ज़रूर भैय्यासे कहेगा।

एक दिन विनोद बैठे वीणा बजा रहे थे, पीछेसे दिनेश आया और उसने आँखें मूँद लीं!

विनोदने पूछा—क्यों दिनेश तुमको मेरा गाना अच्छा लगता है?

दिनेशने कहा—बहुत अच्छा—भैय्या!

विनोदने पूछा—तुम मेरी तरफ़ ध्यानसे क्यों देख रहे हो?

दिनेश—"यही कि"

विनोद—हाँ "यही कि क्या?"

दिनेशने मुसकराते हुए कहा—यही कि यदि भाभी होती तो कितना मज़ा आता, उनकी आवाज़ कितनी मीठी होती, भैय्या ब्याह करा लीजिये ना!

विनोदने गंभीर होकर कहा—दिनेश क्या करोगे भाभीको लाकर, सम्भव है उसके आनेपर तुम्हें सुख न मिले।

दिनेशने सोचते हुए कहा—अच्छा! आप मेरे सुखके लिये भाभीको नहीं लाते, मैं जानता हूँ, पर मैं बताता हूँ अब मेरा सुख इसीमें है कि भाभी घरमें आये।

यह एक बड़ी समस्या थी। दिनेशकी बातोंने विनोदको उलझनमें डाल दिया था। उन्होंने वीणा रखदी और सोचने लगे। दिनेशने मौक़ा पाया और उन्हें गुदगुदा दिया। विनोद खिल खिलाकर हँस पड़े।

दिनेशने कहा—भैय्या वादा कीजिये आप मेरे लिये भाभीको ज़रूर लाएँगे। कीजिये वादा!

दिनेशकी बातोंमें कुछ ऐसा असर था कि विनोदको उसका कहना मानना पड़ा।

❀　　❀　　❀

विनोदका विवाह हुआ। विमला आई। दिनेशने भाभीका आँचल थामते हुए कहा—क्यों भाभी क्या तुम भी मुझे भैय्याकी तरह प्यार करोगी? बहुत दिनोंसे मैं तुम्हारी राह देख रहा था।" विमलाने कुछ जवाब न दिया, दिनेशके दिलको चोटसी लगी। भाभीकी मौनताका कारण वह समझ न सका! उसने सोचा शायद भाभी शर्मा रही है। कोई बात नहीं कुछ दिनोंमें आप बोलने लगेगी। पर बात यह न थी।

❀　　❀　　❀

वैसे तो विमलाकी प्रकृति बड़ी हँसमुख तथा मृदुभाषी थी, पर वह स्वयं न समझ पाती कि वह दिनेशसे क्यों चिढ़ीसी रहती है? क्यों उसने कभी उसके सवालका प्रेमपूर्वक जवाब नहीं दिया? वह सोचती

इस मातृ पितृ विहीन बालकने आख़िर उसका क्या बिगाड़ा है ? वह कारण समझनेकी बहुत कोशिश करती पर समझ न पाती ? ज्योंही दिनेश उसके सामने आता, विमला अपना मुँह फेर लेती ! दिनेशके वह सारे स्वप्न, जो वह देखा करता था, नष्ट होते चले जा रहे थे । वह सोचता—उसने तो कभी ऐसा कोई काम नहीं किया जिससे भाभीको नाराज़ होनेका मौक़ा मिले, फिर वह मुझसे इतनी विरक्त क्यों रहती हैं ? क्या भाभी भैय्याका मुझपर इतना प्रेम देखकर जलती हैं ? उसका छोटासा मन पूछता—क्या भाभी भी मुझे भैय्याकी तरह प्रेम नहीं कर सकती ? पर उसे कोई जवाब न मिलता !

दिनेशकी पहलेवाली वह चपलता वह बुद्धि मिट चुकी थी । मुख पर सदा उदासी छाई रहती । स्कूलके अध्यापक, सब लड़के उसकी दशा पर आश्चर्य करते थे । उस फूलकी सारी लाली, सारी ताज़गी जा चुकी थी । उसकी सारी पँखुड़ियाँ झड़ चुकी थीं । जिस फूल पर कभी सदा वसन्तकी बहार छाई रहती थी, अब पतझड़की बेदर्दी दिखाई देती थी । विनोद भी यह सब देख रहे थे । उस फूलका नष्ट होना वह देखते थे, और अपनी भूलपर सिर धुनते थे । उन्होंने विमलाको कई बार समझाया पर असर न हुआ, उन्हें ऐसा लगता मानों पिताजीकी आत्मा उन्हें धिक्कार रही है । वे सोतेसे जाग पड़ते और देखते उनका फूल उड़ा जा रहा है, वह दिनेशको अपने सीनेसे चिपटा लेते और बड़बड़ाते—"मेरे दिनेश ! मेरे फूल ! मुझे छोड़कर तू कहाँ जा रहा है, क्या तू भी उसी लोकको जानेवाला है ?" उनकी पूंजी पर डाका पड़ चुका था, अज्ञात आशंका-सी सदा उन्हें घेरे रहती ।

❀ ❀ ❀

एक दिन दिनेशको स्कूलसे आनेमें देर हो गई । विमला जल उठी, उसने बड़े तीखे स्वरमें कहा—"अब तक तुम कहाँ रहगये थे, तुम्हें लज्जा नहीं आती आवारा लड़कोंके साथ खेलनेमें ।" दिनेश चुप था, वह देरीका कारण न बता सका । ये शब्द उसके दिलमें बाणसे लगे थे, एक असह्य टीस पैदा हो गई थी । वह सीधा अपने कमरेमें गया और किवाड़ बन्द कर लेट गया । शाम हो गई, दिनेश न निकला तो विमलाने नौकरको भेजा, नौकरने छुआ तो देखा हाथ जल रहा था, उसने फौरन विनोदसे कहा । विनोद आये, दिनेशकी दशा देखी तो हृदय पर धक्का-सा लगा ! फौरन डाक्टरको बुलवाया । डाक्टरने कहा "टाईफायड है" और आवश्यक बातें समझाकर चला गया । विनोद दिनेशके सिर पर बर्फ़की पट्टी रखने लगे । सारी रात उन्होंने बैठे बैठे काट दी ।

भोर हो रहा था, दिनेश की दशामें कोई तब्दीली न थी, वह बेसुध पड़ा था । विनोदने विमलाकी ओर देखा, उनके दिलमें एक हलचल मची थी । उन्होंने कहा—"विमला जानती हो, दिनेशको यदि कुछ हो गया तो इसका पाप किसकी गर्दन पर होगा, तुम्हारी गर्दन पर, तुम्हें कभी शांति न मिलेगी । मैं तुम्हें लाया था दिनेशकी ख़ुशीके लिये, पर मैंने ग़लती की, मैं नहीं जानता था कि इसका अन्त यह होगा । जानते हुए भी मैंने यह सब होने दिया, पिताजीकी आत्मा मुझे सदा धिक्कारती रहेगी, मैं ही दोषी हूँ, मेरे पापका फल यही होना चाहिये था !" विमलाका हृदय कांप उठा, उसकी आँखोंमें आँसू छलक आये, उसको पता न था कि बात यहाँ तक बढ़ जावेगी, यदि यह सम्भव हो सकता तो वह सन्धि करनेके लिये तैय्यार थी । दिनेश बड़बड़ाया—माँ ! मैं तुम्हारे पास आता हूँ, मैं आता हूँ ।—,

विनोद रो रहे थे, मातृत्व जो अब तक सोया पड़ा था, विमलाके हृदयमें जाग उठा। उसने रोते हुए कहा—"मेरे लाल ! लाल !" और पागलकी तरह उसे अपने कलेजेसे कस लिया, जैसे उसे अपने हृदयमें क़ैद कर लेगी, जाने न देगी। दिनेशने आँखें खोलीं, कहा—तुम मेरी माँ हो ! तुम आगई !

विमला—मेरे दिनेश ! मेरे बच्चे ! मैं तेरी माँ हूँ, मैं आगई।

दिनेश बड़बड़ाया—मेरी अच्छी माँ ! तुम आगई।

माँ बेटे दोनों मिल गये थे। दिनेशको अब दवाकी ज़रूरत न थी, जिस वस्तुकी उसे वर्षोंसे चाह थी, अब मिल चुकी थी। विनोदकी आँखोंसे अब भी आँसू झर रहे थे, पर वे आनन्दके आँसू थे।

फिरसे विनोदकी मुहब्बतकी दुनिया बस गई। कुछ समयके लिये वे अलग हो गये थे, पर फिर एक लहर आई, जिसने उन्हें मिला दिया।

❀ ❀ ❀

विमला वीणा बजा रही थी। दिनेशने कहा—"भाभी तुम्हारी आवाज़ बड़ी कोमल है, मैंने तो भैय्या-से पहले ही कहा था कि भाभीकी वाणी बड़ी सुरीली होगी।" उन बातोंको याद करके विनोद तो हँस पड़े, और विमलाने दिनेशको चूम लिया।

सुभाषित

'वह बुद्धि ही है जो इन्द्रियोंको इधर-उधर भटकनेसे रोकती है, उन्हें बुराईसे दूर रखती है और नेकीकी ओर प्रेरित करती है।'

'अहिंसा सब धर्मोंमें श्रेष्ठ है। हिंसाके पीछे हर तरहका पाप लगा रहता है।' —तिरुवल्लुवर

अन्तर्ध्वनि—

[श्री 'भगवत्' जैन]

दौर्बल्य-निशा अब दूर हटो,
जागा है मनमें बल विहान।
होने अब लगा दृष्टिगत है,
जगमग भविष्यका भासमान॥
री! उठ प्रतापकी अमर-आन,
भरदे प्राणोंमें विमल-ज्योति—
झुक सके नहीं मस्तक कदापि,
मैं भूल न जाऊँ स्वाभिमान॥

* * *

आओ, निशंक होकर खेलो,
अभिमन्यु-वीरके रण-कौशल !
बतला मैं सकूँ विश्व-भरको,
किसको कहते हैं पौरुष-बल ?
है मातृभूमि पर आत्म-त्याग-,
कर देना कितना सुलभ-कठिन ?
यह शुभादर्श, जो हो न सके,
दुनियाँकी आँखोंसे ओझल॥

* * *

घुल मिल जाओ तुम प्राणोंमें,
ए, धर्म-राजके अटल सत्य !
कर सकूँ सफल नर-कायाको,
पालन कर आवश्यक सुकृत्य॥
विश्वोपकारमें लगे हृदय,
हो लघुताका मनमें विनाश—
स्थापित जो हो सके भव्य,
निष्कपट प्रेमका आधिपत्य !!

* * *

दिव्यध्वनि

[लेखक—बाबू नानकचन्दजी जैन एडवोकेट]

[बाबू नानकचन्दजी जैन एडवोकेट रोहतक एक अच्छे विचारशील विद्वान् हैं। आपका बहुतसा समय जैनग्रन्थोंके अध्ययन और मननमें व्यतीत होता है। जब कभी आपसे मिलना होता है तो आप अनेक सूक्ष्म सूक्ष्म तर्क किया करते हैं, जिनसे आपकी विचारशीलताका ख़ासा पता चल जाता है। आप चुपचाप काम करने-वालोंमेंसे हैं और बड़ी ही सज्जन प्रकृतिके प्रेमी जीव हैं। परन्तु आप लेख लिखनेमें सदा ही संकोच किया करते हैं। हालमें वीर-शासनजयन्ती-उत्सवके मेरे निमंत्रणको पाकर आपने जो पत्र भेजा है उसमें वीरकी दिव्यध्वनि पर अपने कुछ विचार प्रकट किये हैं, यह बड़ी ख़ुशीकी बात है,और इसके लिये मैं आपका आभारी हूँ। आपका उक्त पत्र शासन-जयन्तीके जलसेमें पढ़ा गया। उसमें दिव्यध्वनि-विषयक जो विचार हैं वे पाठकोंके जानने योग्य हैं। अतः उन्हें ज्योंका त्यों नीचे प्रकट किया जाता है। आशा है विद्वज्जन उनपर विचारकर विशेष प्रकाश डालनेकी कृपा करेंगे। —सम्पादक]
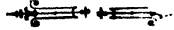
मुझे अत्यन्त खेद है कि मैं सावन बदि १ के पवित्र दिन आपकी सेवामें हाजिर होकर और आपके उत्साहमें शरीक़ होकर पुण्यका लाभ न कर सकूँगा! इसमें कोई शुबाह नहीं है कि यह दिन निहायत मुबारिक है और हमेशा याद रखनेके लायक़। इस दिन वीरकी दिव्यध्वनिका अवतरण हुआ, जिस पर सारे जैनशासनका आधार है। काश कि इस ध्वनिकी गूंज अब भी बाक़ी होती! ख़ैर, जो कुछ है उसको ही स्मरण रखना हमारा फ़र्ज़ है।

दिव्यध्वनिके बारेमें मुख़्तलिफ़ अशख़ासकी मुख़्तलिफ़ धारणाएँ हैं। बाजका ऐतक़ाद है कि दिव्यध्वनि निरक्षरी न होकर अक्षरी ही होती थी। उनका कहना है कि निरक्षरी वाणीसे ज्ञानका पैदा होना नामुमकिन है। मगर यह राय दुरुस्त मालूम नहीं होती। ज्ञान तो आत्माका गुण है, और जिस निमित्त कारणसे इसका विस्तारहोजाता है वही ज्ञानके पैदा करनेका कारण कहा जा सकता है। जिसतरहसे अक्षरी वाणी ज्ञान पैदा करनेमें कारण है उसी तरह निरक्षरी वाणी भी ज्ञान पैदा करनेका कारण है। दो इन्द्रियसे लेकर पंचेन्द्रिय पर्यन्त सभी जीव वाणी बोलते हैं, और सिवाय इन्सानके सबकी वाणी निरक्षरी ही होती है और इस ही वाणीसे उनमें ज्ञान पैदा होता रहता है। इन्सानको भी जबतक बोलना नहीं सिखाया जाता है उसकी वाणी निरक्षरी ही रहती है। इससे ज़ाहिर है कि ज्ञान प्राप्तिका कारण सिर्फ़ अक्षरी वाणी ही नहीं है, बल्कि निरक्षरी वाणीसे भी ज्ञान पैदा हो सकता है।

अगर दिव्यध्वनि भी अक्षरी वाणी होती तो सब इन्सानों और जानवरोंको एक ही वक़्त एक ही वाणीसे ज्ञानकी प्राप्ति नामुमकिन हो जाती। अक्षरी

वाणीसे ज्ञान उसी वक्त पैदा हो सकता है जब कि उसको सीखा जावे। बगैर सीखनेके कोई भी अक्षरी वाणी ज्ञान पैदा करनेकी ताक़त नहीं रखती है। इसलिये भी दिव्यध्वनिका निरक्षरी ही होना सिद्ध होता है।

इसके इलावा अगर यह मान लिया जावे कि निरक्षरी वाणीसे भी ज्ञान पैदा हो सकता है तो हमारा दूसरा सवाल भी हल हो जाता है कि किस तरह पर हरएक जीव दिव्यध्वनिको सुनकर अर्थ-ज्ञान अपनी अपनी भाषामें ग्रहण कर लेता है। क्योंकि यह देखा जाता है कि इन्सानकी मादरी ज़बान (मातृभाषा) ऐसी होती है कि वह हमेशा उसके सोचने और अर्थज्ञानको धारण करनेका ज़रिया होती है। मसलन् जिन लोगोंकी मादरी ज़बान हिन्दी होती है तो वे चाहे किसी ज़बानमें उपदेशको सुनें और चाहे जिस ज़बानमें किताबको पढ़ें मगर वे हमेशा उसके अर्थको अपनी मादरी ज़बानमें ही ग्रहण करते हैं। हिन्दी बोलनेवाला अगर संस्कृत पढ़ता है या सुनता है तो हमेशा पढ़ने और सुननेके साथ साथ उसका तर्जुमा (अनुवाद) करके हिन्दीमें उसके मज़मून पर विचार करता है। नवकार मन्त्र हमने लाखों बार पढ़ा होगा मगर प्राकृतका उच्चारणमात्र कोई ज्ञान पैदा नहीं करता जब तक उसका तर्जुमा न किया जावे। इस मसले पर ग़ौर करनेसे ज़ाहिर होगा कि अगर किसी जल्सेमें हिंदी, बंगाली, मराठी, फ्रांसीसी और जर्मनी जाननेवाले आदमी मौजूद और लेक्चरार साहेब अँग्रेज़ी ज़बानमें अपना लेक्चर दे रहे हों तो हरएक आदमी उसको अपनी अपनी मादरी ज़बानमें साथ साथ तर्जुमा करता रहता है और तर्जुमा करके ग्रहण करता है। इस ही लिये निरक्षरी वाणीको हरएक इन्सान सुनकर अपनी ज़बानमें तर्जुमा कर लेता है और इस तरह पर बिला किसी दिक़्क़तके निरक्षरी वाणी कानमें जानेके बाद अक्षरी वाणीमें तब्दील (परिणत) यानी तर्जुमा करली जाती है और धारण की जाती है।

यह वाणी ऐसी हस्ती (व्यक्ति विशेष) से पैदा होती है जिसने तमाम भाषाओंको त्याग दिया होता है। चूंकि उनको ज्ञानकी पूर्णता प्राप्त होती है और पूर्णज्ञान शब्द तथा भाषासे अतीत होता है, इस-लिये भी दिव्यध्वनि निरक्षरी ही हो सकती है। अक्षरोंके द्वारा पूर्णज्ञान नहीं पैदा हो सकता है। सारा द्रव्यश्रुतज्ञान भी पूर्णज्ञान इसीलिये नहीं है।

आजका दिन इस पूर्णज्ञानको प्रकाश करने-वाली निरक्षरी वाणीके स्मरणका दिन है। जिनको पूर्णज्ञानकी प्राप्तिकी अभिलाषा है उनके लिये यह दिन अति पवित्र है। इस रोज़ वे इस वाणीका ख़याल करके सुखसागरमें मग्न हो सकते हैं। मैं आपको मुबारिकबाद देता हूँ कि आपने एक ऐसा मौक़ा पैदा किया कि मनुष्य इस दिनको याद करके अपना कल्याण कर सकते हैं।

सुभाषित

'शान्तिपूर्वक दुःख सहन करना और जीवहिंसा न करना; बस इन्हींमें तपस्याका समस्त सार है।'

—तिरुवल्लुवर

सामाजिक प्रगति

जैनसमाज किधरको ?

लेखक—
बा० माईदयालजी जैन
बी.ए. (ऑनर्स) बी.टी

दिशासूचक यंत्र (कम्पास) है तो छोटी-सी वस्तु, पर है बड़े कामकी। बड़े-बड़े जहाज कुशलसे-कुशल कप्तानके होते हुए भी अपना मार्ग बिना कम्पासके तय नहीं कर सकते। कम्पासके बिना एक कप्तान यह भी नहीं जान सकता कि उसका जहाज किस तरफ़ जारहा है।

राष्ट्र तथा समाज भी जहाजके समान हैं। और उनके नेताओंको भी यह जाननेकी जरूरत रहती है कि वे किधर जारहे हैं और क्या वे ठीक मार्ग पर हैं।

जैनसमाज किधर जारहा है, क्या यह प्रश्न जैनसमाजके सामने कभी विशेष रूपसे गहरे विचारके वास्ते आया है? क्या जैनसमाजरूपी जहाजके नाविक नेताओं या जैनसमाजके सदस्यों ने कुछ भी समय यह सोचनेमें लगाया है कि वे किधर जारहे हैं? उनका उद्देश्य क्या है और अब वे उससे कितनी दूर हैं! यह प्रश्न जैनसमाजके किसी एक दल या सम्प्रदायसे ही सम्बन्ध नहीं रखता, बल्कि ऐसा प्रश्न है जिसपर समाजके हर-एक आदमी—स्त्री और पुरुष—को विचार करना चाहिए और जिसके ठीक हल पर ही समाजका कल्याण निर्भर है।

जैनसमाज किधर जारहा है?—इस प्रश्नका उत्तर जब मैं सोचता हूँ तब मुझे बहुत दुःख होता है। जैनसमाजकी दशा अत्यन्त शोचनीय है। उसकी दशा एक ऐसे जहाज-जैसी है जो चला तो था ठीक मार्ग पर—निश्चित ध्येय लेकर, पर अब मार्ग भूला हुआ उद्देश्य भ्रष्ट हो गया है। उसके तीनों सम्प्रदाय अपनेको एक जहाजके सवार नहीं, बल्कि तीन भिन्न भिन्न जहाजोंके सवार समझते हैं। उसके नेताओंको अपना मार्ग मालूम नहीं, उद्देश्य मालूम नहीं और उनमेंसे अधिक आपसमें तू-तू मैं-मैं करके झगड़ना ही अपना काम समझते हैं। जैनसमाजके साधारण-जन तो अपनी तीन लोकसे मथुरा न्यारी बसाए हुए हैं। वे अपने काम-धन्धे, पेट-पालन और रुपया-पैसा कमानेमें इतने व्यस्त हैं कि उनको इस बातका ज़रा भी फिकर नहीं कि समाजमें क्या होरहा है, देशमें क्या होरहा है, और उनके सामने खाई है या कुआ! उनकी आँखोंके सामने पास-पड़ौसमें हज़ारों भाई सामाजिक तथा आर्थिक कठिनाईयोंके पहाड़ोंसे टकराकर चकनाचूर होरहे हैं, उन पर मारें पड़ रही हैं तथा उनका तिरस्कार होरहा है और फिर भी उनको ज़रा चिंता नहीं, वे टससे मस नहीं होते। कहते हैं कि जब कबूतर पर आपत्ति आती है तब वह अपनी आँखें बन्द कर लेता है और समझता है कि उसकी मुसीबत टल गई। मगर कुछ ही समय बाद वह अपने आपको विपत्तिके चुंगलमें फँसा हुआ सर्वनाशके मुखमें पाता है। ठीक यही हालत जैनसमाजकी है! मेरे एक गहरे

मित्र जैनसमाजकी पतित अवस्थासे दुखी होकर कहा करते थे कि जैनियों पर किसी कविका यह कहना ठीक लागू होता है:—

किस किसका फ़िक्र कीजिए किस किसको रोइये,
आराम बड़ी चीज़ है मुँह ढकके सोइये।

किन्तु मुँह ढककर सोनेसे समाजका संकट टलता हो, उसकी कठिनाइयाँ कम होती हों तो वह मार्ग ग्रहण करनेमें कोई हानि नहीं है। पर ऐसा नहीं है।

जैनसमाजमें नेता ही नेता हैं। अनुयायी या सिपाही कोई नहीं है। संस्थाएँ छोटी हों या बड़ी प्रायः सभी अखिल भारतवर्षीय नामधारी हैं, पर उनका सचालन कैसा रही है, यह कोई नहीं सोचता। सभापतियों और महामंत्रियों तथा अधिष्ठाताओंकी भरमार है, पर काम करनेवाला कोई नहीं। पत्र पढ़ने वाले इने गिने, पर पत्रोंकी भर मार! शक्तियोंका अपव्यय हो रहा है! दान करनेमें तो जैनसमाज अपना उदाहरण नहीं रखता, पर उस दानका बड़ा भाग प्रचारकोंकी तनख्वाह तथा सफर खर्चमें जाता है और जो कुछ बाक़ी रुपया संस्थामें पहुँचता है वह संस्थाके प्रबन्धमें खर्च होजाता है, समाजको उसका क्या बदला (Return) मिलता है यह सोचना दातारोंका काम नहीं! वे दान दे चुके, पुण्य प्राप्त कर चुके, उसकी देख-भाल करना उनका काम नहीं! वे यह कहकर संतुष्ट होजाते हैं कि दानके लेनेवाले अब उस रुपयेका सदुपयोग या दुरुपयोग करके अच्छे कर्मोंका बन्धन बाँधें, या बुरे कर्मोंका इसे वे जानें। दातारोंके इस अनियंत्रित दानका एक बुरा फल यह होरहा है कि सहजमें चन्दा इकट्ठा करके मौज उड़ाने और नामवरी कमानेवाले संस्था-संचालक जगह-जगह पर नज़र आने लगे हैं और उनके कारण समाज पर अर्थके खर्चका बोझ बढ़ता जा रहा है तथा अच्छी संस्थाएँ रूपयोंके अभावमें अर्थसंकटमें पड़ी हुई हैं। समाजकी आवाज़ और शक्ति इतनी दुर्बल है कि आज उसका न समाजमें महत्व है और न समाजसे बाहर। समाजकी समस्याएँ और जनताके साक्षात हितके प्रश्न आज वहीं हैं जहाँ बीस वर्ष पहिले थे। साहित्यिक क्षेत्रमें कोई विशेष प्रगति नहीं है। कितने ग्रन्थ अभी तक शास्त्र भण्डारोंमें पड़े हुए धूप और हवाके बिना बेपर्वाहीके कारण दीमकोंका भोजन बन रहे हैं इसकी तरफ़ किसीका ध्यान ही नहीं है। संस्कृत और प्राकृत भाषाके ग्रंथ हिन्दी अनुवादके बिना केवल चन्द विद्वानोंके अध्ययन और मन्दिरोंकी अलमारियोंकी शोभाकी वस्तु बने हुए हैं! गर्ज एक बात हो तो लिखी जाय।

इसके इलावा एक प्रश्न यह भी है कि आज वे आदर्श कहाँ हैं जिनका प्रचार हमारे पूज्य तीर्थंकरों तथा आचार्योंने किया था। अनेकान्तवाद, साम्यवाद, अहिंसा, लोकहित, आत्महित, स्वावलम्बन, मैत्री भाव, विश्वप्रेम, गुरुडमका अभाव और मनुष्य जातिकी एकता आदि ऐसे आदर्श हैं जिनका हमारे विद्वान शास्त्रसभाओं तथा वीरजयंती उत्सवोंमें बड़े गर्वके साथ अलाप करते हैं। आज उन आदर्शोंके प्रचारकी कितनी ज़रूरत है, यह भी हम सब जानते हैं। परन्तु जब उनको हम स्वयं अपने घरोंमें, समाजमें, संस्थाओंमें, उपयोगमें नहीं लाते, तब किस तरह उनकी उपयोगिताका क़ायल दूसरोंको किया जा सकता है? आज समझदार

आदमियोंके सामने उनका मूल्य हाथीके दिखानेके दाँतोंसे अधिक नहीं है। एक दिन हम वीरजयंती-उत्सवके अवसर पर रेडियोसे वीर-उपदेशका ब्राड कास्ट सुन रहे थे। जैनधर्मका अत्यन्त उज्वल तथा उदार रूप जनताके सामने पेश किया जा रहा था, वह बात तो सब ठीक थी; किन्तु जब यह ख्याल आया कि ब्राडकास्ट करने वाले महानुभाव कितने बड़े स्थितिपालक, प्रतिगामी और संकुचित विचार वाले हैं, तब वहाँ बैठे हुए मित्रोंको इस विडम्बना पर हँसी आगई। समस्त भारतमें रेडियो सुनने वाले अजैन विद्वान् उस समय क्या सोच रहे होंगे, यह जैनसमाजको और खास कर ब्राडकास्ट कराने वालोंको ज़रा सोचना चाहिए।

सच बात तो यह है कि आज जनताको उन आदर्शोंकी अत्यन्त अधिक आवश्यकता है, वह उनके लिए तरसती है, पर उन तक उन आदर्शोंको पहुँचानेका ज़बानी, साहित्यिक या स्वयं उन पर चलकर उदाहरण रूपसे कभी कोई समुचित एवं संतोषजनक प्रयत्न नहीं किया गया।

अतः अब आवश्यकता इस बातकी है कि समाज अपने ध्येयको समझे, उस पर चलनेके लिए संगठन करे, अपने सच्चे नेता चुने, उनके पीछे चले और तन-मन-धनसे अपने आदर्श तथा उद्देश्यको प्राप्त करनेका प्रयत्न करे। साथ ही, समय समय पर इस बातकी जाँच पड़ताल भी करता रहे कि अब वह किधर जा रहा है। ऐसी सावधानी और सतर्कता रखने पर ही वह अपने ध्येय तथा आदर्शको प्राप्त कर सकेगा और अपने साथ साथ दूसरोंका भी कल्याण कर सकेगा।

नीति-वाद

उस तरफ़ सौख्यका आकर्षण, इस ओर निराशाका दुलार!
इन दो-कठोर-सत्योंमें है, निर्वाचित एक प्रवेश-द्वार!!
हँसले, रोले इच्छानुसार, क्षण-भंगुर है सारा विधान--
अस्थिर-जीवनको बतलाने, साँसें आती हैं बार-बार!!
यदि भिन्न-भिन्न हो जाएँ रंग, तो इन्द्र-धनुष्यका क्या महत्व?
नयनाभिराम है 'मिलन' अतः, है प्राप्त विश्वसे कीर्ति-स्वत्व!!
बस, इसी 'मिलन' को कहते हैं, हम-तुम वह सब मिल 'विश्वलोक'-
क्षण-भरका है यह दर्शनीय, पाते यथार्थमें यही तत्व!!
जो आज प्रेमका भाजन है, देता है कल वह कटु-विषाद!
है पूर्ण-शत्रुता जिसे प्राप्त, आता वह रह-रह हमें याद!!
यह दुख-सुख की परिभाषाएँ, इनमें ध्रुवता कितनी विभक्त?
बस, स्वानुभूतिके बल पर है—अस्तित्व, कह रहा नीतिवाद!!

[श्री० 'भगवत्' जैन]
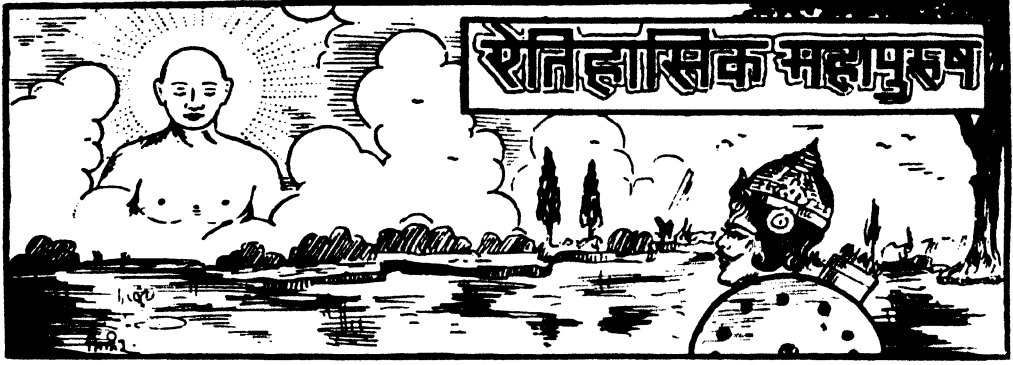
सिद्धसेन दिवाकर

[ले०—पं० रतनलाल संघवी, न्यायतीर्थ-विशारद]
[नवीं किरणसे आगे]

जीवनी और किंवदन्तियाँ

सिद्धसेन दिवाकर जातिसे ब्राह्मण थे और इसलिये ये पहले वैदिक विद्वान् थे । कहा जाता है कि ये विक्रम राजाके पुरोहित मंत्रीदेवर्षिके पुत्र थे। विद्वानोंका अनुमान है कि इनके जीवनका अधिकांश भाग उज्जैन (मालवा) और चित्तौड़ (मेवाड़) के आसपास ही व्यतीत हुआ है।

डॉक्टर सतीशचन्द्र विद्याभूषणका अनुमान है कि विक्रम राजाकी सभामें जो 'नवरत्न' विद्वान् थे उनमें 'क्षपणक' नाम वाले सिद्धसेन दिवाकर ही प्रतीत होते हैं यह अनुमान अभी खोजका विषय है, अतः कह नहीं सकते हैं कि यह कहाँ तक सत्य है !

सिद्धसेन दिवाकरके सम्बन्धमें यह लोक-प्रवाद चला आता है कि इन्हें अपने पांडित्यका बड़ा भारी अभिमान था। ये पेट पर पट्टी बांध कर चलते थे, जिसका आशय यह था कि कहीं विद्याके भारसे पेट फट नहीं जाय। एक कन्धे पर लंबी निसरनी (सोपान-पंक्तिका) और दूसरे कन्धे पर जाल रखते थे; जिसका तात्पर्य यह था कि यदि प्रतिवादी पराजयके भयसे आकाशमें चला जाय तो इस निसरनीके बलसे उसे पकड़ लूँ और यदि जलमें चला जाय तो इस जालकी सहायतासे अपने वशमें करलूँ । इसी प्रकार एक हाथमें कुदाली और दूसरे हाथमें घास रखते थे। जिसका यह मतलब था कि यदि प्रतिवादी पातालमें भी बैठ जाय तो कुदालीके सहारे उसे खोद निकालूँ । और यदि हार जाय तो मुँहमें यह घास देकर अर्थात् दया-पात्र बना कर छोड़ दूँ । इस प्रकार इनके पांडित्य-प्रदर्शनकी यह दंतकथा सुनी जाती है। इसमें भले ही अतिशयोक्ति हो, किन्तु इतना तो अवश्य सत्य कहा जा सकता है कि इन्होंने वाद-विवादमें बहुत भाग लिया होगा, प्रतिवादियोंका गर्व खर्व किया होगा और अपनी अगाध विद्वत्ताका गौरवमय प्रभाव अमिट रूपसे स्थापित किया होगा।

कहा जाता है कि यह अपनी अहंकारमय वाग्मिता के कारण तत्कालीन प्रसिद्ध जैनाचार्य श्रीवृद्धवादीसूरिके साथ वादविवादमें पराजित हो गये, और तदनुसार तत्काल ही जैनदीक्षा स्वीकार कर उनके शिष्य बन गये।

एक दूसरी किंवदन्ती इनके जीवनमें यह भी सुनी जाती है कि चूँकि इनके कालमें संस्कृत-भाषामें ग्रंथ-रचना करना ही विद्वत्ताका चिह्न समझा जाने लगा था और प्राकृतके ग्रंथ एवं प्राकृत भाषामें नवीन ग्रंथोंकी रचना करना केवल बालकोंके लिये, मूर्खोंके लिये और भोली भाली जनताके लिये ही उपयोगी है, ऐसा समझा जाने लगा था; इसलिये इन्होंने संघके सामने यह प्रस्ताव रक्खा कि यदि आपकी आज्ञा हो तो महत्वपूर्ण जैन साहित्यका संस्कृत भाषामें परिवर्तन कर दूं। इस प्रकारके विचार सुनते ही श्रीसंघ एक दम चौंक उठा। इन विचारोंमें उसे जैनधर्मके ह्रासकी गंध आने लगी और भगवान् महावीर स्वामीके प्रति और उनके सिद्धान्तोंके प्रति विद्रोहकी भावना प्रतीत होने लगी। श्रीसंघ सिद्धसेन दिवाकरको "**मिच्छामि दुक्कडं**" कहनेके लिये और प्रायश्चित लेनेके लिये ज़ोर देने लगा। सिद्धसेन दिवाकरको आचार्यश्रीने संघकी सम्मति अनुसार बारह वर्ष तक संघसे अलग रहनेका दण्डरूप आदेश दिया; जिसको उन्होंने सहर्ष स्वीकार किया।

इस घटनासे पता चलता है कि जैनजनतामें प्राकृत भाषाके प्रति कितनी आदर बुद्धि और ममत्व भाव था। आज भी जैनजनताका संस्कृत भाषाकी अपेक्षा प्राकृत-भाषा (अर्धमागधी) के प्रति अधिक ममत्वभाव और पूज्य दृष्टि है।

कहा जाता है कि सिद्धसेन दिवाकर वहाँसे विहार करके उज्जैनी आये और इस नगरीके राजाके समीप रहने लगे। राजा शैव था। एक दिन शैव-मंदिरमें राजाके साथ ये भी गये, इन्होंने मूर्तिको प्रणाम् नहीं किया, राजा इस पर असंतुष्ट हुआ और बोला कि आप नमस्कार क्यों नहीं करते हैं? दिवाकरजीने उत्तर दिया कि यह मूर्ति मेरा नमस्कार सहन करनेमें असमर्थ है। राजा नमस्कारके लिये बार बार आग्रह करने लगा; इस पर सिद्धसेन दिवाकर संस्कृत भाषामें तत्काल छंद-रचना करते हुए (श्लोक बनाते हुए) भगवान् पार्श्वनाथकी स्तुति करने लगे। यही स्तुति आगे चलकर "कल्याणमंदिर" के नामसे प्रसिद्ध हुई—ऐसी अनेक व्यक्तियोंकी कल्पना है। कहा जाता है कि ११ वें श्लोककी रचना करते ही मूर्तिमेंसे धूआँ उठने लगा और तत्काल मूर्ति दो भागोंमें विभाजित हो गई तथा उसमेंसे पार्श्वनाथकी मूर्ति निकल आई। राजा आश्चर्यान्वित हो उठा और जैन धर्मानुरागी बन गया। बारह वर्ष समाप्त होने पर ये पुनः आदर पूर्वक बड़े समारोहके साथ संघमें सम्मिलित किये गये।

यह उपर्युक्त बात दन्तकथा ही है या ऐतिहासिक घटना है, इससम्बन्धमें कोई निश्चित निर्णय देना कठिन है; क्योंकि इसके निर्णायक कोई ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। यह घटना प्रभावकचरित आदि ग्रंथोंमें पाई जाती है, जो कि संग्रह और काव्यग्रंथ हैं, न कि ऐतिहासिक ग्रंथ। किन्तु फिर भी यह निष्कर्ष अवश्य निकाला जा सकता है कि आगमिक मतानुयायियोंने इनके तर्क-प्रधान विचारों का विरोध किया होगा तथा यह मतभेद संभव है कि कलहका रूप धारण कर गया होगा, जिससे संभव है कि इन्हें अन्य प्रांतोंमें विहार कर देना पड़ा होगा। और फिर कुछ काल पश्चात् संभव है कि उन विरोधियों को इनकी आवश्यकता प्रतीत हुई हो और वे पुनः आदरपूर्वक इन्हें अपने प्रांतमें लाये हों।

यह तो निश्चित है कि ये सर्वथा अंध विश्वासी नहीं थे। आगमोक्त बातोंको तर्ककी कसोटी पर कसकर परखते थे और कोई बात विरोधी प्रतीत होनेपर तर्क-बलसे उसका समन्वय करते थे। और यह पहले लिखा जा चुका है कि सम्मति तर्कके ज्ञान-प्रकरणमें इन्होंने 'केवल-

ज्ञान-केवल दर्शन' को एक ही उपयोग माना है; जबकि आगममें दोनों उपयोगोंको 'क्रमभावी' माना है। इस सम्बन्धमें इन्होंने तर्कके बलपर कर्म-सिद्धान्तके आधारसे क्रमभावी और सहभावी पक्षका युक्तिपूर्वक खंडन करके दोनोंको एक ही सिद्ध कर दिया है।

कुछ उक्तियाँ

सिद्धसेन दिवाकरके स्वभावसिद्ध तेजस्विताके परिचायक, प्राकृतिक प्रतिभाके सूचक, निर्भयता तथा तर्कसंगत सिद्धान्तोंके प्रति उनकी दृढ़ताके द्योतक कुछेक श्लोक निम्न प्रकारसे हैं। इन श्लोकोंसे मेरे उस अनुमान की भी सिद्धि होती है, जो कि मैंने इनके संघनिष्कासन और विरोधके संबन्धमें ऊपर अंकित किया है:—

जनोऽयमन्यस्यमृतः पुरातनः,
पुरातनैरेव समो भविष्यति।
पुरातनेषु इति अनवस्थितेषु,
कः पुरातनोक्तानि अपरीक्ष्य रोचयेत्॥

अर्थात्—पुरातन पुरातन क्या पुकारा करते हो? यह मनुष्य (सिद्धसेन दिवाकर) भी मृत्युके पश्चात् कुछ समयान्तरमें पुरातन हो जायगा। तब फिर अन्य पुरातनोंके समान ही इसकी भी (सिद्धसेन दिवाकरकी भी) गणना होने लगेगी। इस प्रकार इस अनिश्चित् पुरातनताके कारण कौन ऐसा होगा, जो कि बिना परीक्षा किये ही केवल प्राचीनताके नामपर ही किसी भी सिद्धान्तको सत्य स्वीकार कर लेगा? अर्थात् कोई भी समझदार आदमी ऐसा करनेको तैयार नहीं होगा।

यदेव किञ्चित् विषमप्रकल्पितं,
पुरातनै रुक्तमिति प्रशस्यते।
विनिश्चिताऽप्यद्य मनुष्यवाक्कृति,
र्न पठ्यते स्मृतिमोह एव सः॥

अर्थात्—पुरातनोंने यदि विषम भी—युक्तिविरुद्ध भी—कथन किया हो तो भी उसकी प्रशंसा हीकी जाती है और यदि आजके (वर्तमानकालके मेरे जैसे द्वारा) मनुष्यके द्वारा कही जानेवाली युक्तियुक्त सत्य बात भी नहीं पढ़ीजाती है तो यह एक प्रकारका स्मृतिमोह अर्थात् मिथ्यात्व वा रूढ़ि-प्रियता ही है।

परेद्य जातस्य किलाद्य युक्तिमत्,
पुरातनानां किल दोषवद्वचः।
किमेव जाल्मः कृत इत्युपेक्षितुं,
प्रपञ्चनायास्य जनस्य सेत्स्यति॥

अर्थात्—'पुरातनोंका कहा हुआ तो दोषयुक्त है और कलके उत्पन्न हुओंका कथन युक्ति संगत है' ऐसा कहना मूर्खतापूर्ण है। इन (सिद्धसेन आदि) की तो उपेक्षा ही करनी चाहिये। इस प्रकार उपेक्षा करनेवाले रूढ़ि-प्रिय मनुष्योंके प्रति सिद्धसेन दिवाकर श्लोककी चतुर्थ पंक्तिमें कहते है कि 'इस उपेक्षासे तो इस मनुष्य (सिद्धसेन) के विचारोंका ही प्रचार होगा।'

इन श्लोकोंसे यह साधार अनुमान किया जा सकता है कि सिद्धसेन दिवाकरका ईर्षावश, प्रतिस्पर्धावश और रूढ़ि प्रियताके वश अवश्य ही निन्दात्मक विरोध, तथा तिरस्कार किया गया होगा। अतः यह संभावना तथ्यमय हो सकती है कि इन तिरस्कार और विरोधका सामञ्जस्य उपर्युक्त दंतकथाके रूपमें परिणत कर लिया गया होगा जो कुछ भी हो, किन्तु इन सबका सारांश यही निकाला जा सकता है कि आचार्य सिद्धसेन दिवाकर सुधारक, समयज्ञ दूरदर्शी, तर्कप्रधानी, जैनधर्मके प्रभावक और जिन शासनके सच्चे और बुद्धिमान संरक्षक थे।

'संरक्षक' के पहले 'बुद्धिमान' शब्द इसलिये लगाना पड़ा है कि उस समयका अधिकांश साधुवर्ग और

श्रावकवर्ग केवल 'मूल-सूत्त-पाठ' करने में ही और शिष्योंका परिवार बढ़ानेमें ही (चाहे वह मूर्खही क्यों न हों) जैन धर्मकी रक्षाके कार्यकी समाप्ति समझ बैठा था। किन्हीं किन्हींकी ऐसी धारणा भी थी कि केवल रुढ़ि-अनुसार "सिद्धान्तज्ञ" बन जाना ही जिन-शासनकी रक्षा करना है।

कोई कोई तो यही समझते थे कि अनेक प्रकारका आडम्बर दिखलाना ही जिन-शासनकी रक्षा करना है। इसप्रकारकी सम्पूर्ण मिथ्या मान्यताओंके प्रति सिद्धसेन दिवाकरने विद्रोहका झण्डा उठाया था और गौरवपूर्ण विजय प्राप्त की थी।

दिवाकरजीने लिखा है कि—जो कोई (जैन साधु) बिना मननके ही अनेक ग्रन्थोंका अध्ययन करके अपने आपको बहु-श्रुति मान लेते हैं, अथवा जो कोई अनेक शिष्योंके होने परही एवं जन साधारण-द्वारा तारीफ किये जाने पर ही अपने आपको "जिन-शासन-संरक्षक" मान लेतेहैं निश्चय ही वे उल्टे मार्ग पर हैं। वे शास्त्रमें स्थिर बुद्धिशाली न होकर उल्टे सिद्धान्त द्रोही हैं।

इस दृष्टिसे "बुद्धिमान्" शब्द यहाँ पर सार्थक है। और इस बातका द्योतक है कि पुराण पंथियोंका महान् विरोध होने पर भी आचार्य सिद्धसेन दिवाकर अपने विचारोंके प्रति दृढ़ रहे और स्थायीरूपसे जिनशासन-रक्षा, साहित्य-निर्माण, एवं दीर्घ तपस्वी भगवान् महावीर स्वामीके सिद्धान्तोंका प्रकाशन और प्रभावना-का कार्य अन्त तक करते रहे।

टीकादि ग्रंथ और अन्य मीमांसा

सिद्धसेन दिवाकर द्वारा रचित कृतियोंमेंसे केवल दो पर ही टीका व्याख्या आदि पाई जाती हैं; और अन्य किसी भी कृति पर नहीं, यह आश्चर्यकी बात है। टीकामय कृतियोंमेंसे एक तो सम्मति तर्क है और दूसरी न्यायावतार। इनके अतिरिक्त उपलब्ध बत्तीसियों-मेंसे किसी पर भी व्याख्या, टीका या भाष्य तो दूर रहा किन्तु 'शब्दार्थमात्रप्रकाशिका' जैसी भी कोई टीका नहीं पाई जाती है। इसका कारण कुछ समझमें नहीं आता है। इनकी टीका रहित बत्तीसियाँ निश्चय ही महान् गंभीर अर्थवाली और अत्यन्त उपादेय तत्त्वोंसे भरी हुई हैं। इनकी भाषा भी कुछ क्लिष्ट और दुरूह अर्थ वाली है। इनकी इस प्रकारकी भाषाको देखते हुए इनका काल चौथी और पाँचवीं शताब्दिका ही ठहरता है।

संस्कृत साहित्यमें ज्यों ज्यों शताब्दियाँ व्यतीत होती गई हैं; त्यों त्यों भाषाकी दुरूहता और लम्बे लम्बे समास युक्त वाक्य रचनाकी वृद्धि होती गई है। उदाहरणके लिये क्रमसे रामायण, महाभारत, भासके नाटक, कालीदासकी रचनाएँ, भवभूतिके नाटक, बाण की कादम्बरी, भारवी, माघ और हर्षके वाक्योंसे मेरे उपर्युक्त मन्तव्यकी पूरी तरहसे पुष्टि होती है। ऊपरके उदाहरण कालक्रमसे लिखे गये हैं और प्रत्येकमें उत्तरो-त्तर भाषाकी क्लिष्टता और अर्थकी दुरूहताका विकास होता चला गया है। इसी प्रकार जैनसाहित्यमें भी उमास्वातिकी भाषा और सिद्धसेन दिवाकरकी भाषासे तुलना करने पर भली प्रकारसे ज्ञात हो सकता है कि दोनोंकी भाषामें काफी अन्तर है। उमास्वातिका काल लगभग प्रथम शताब्दि निश्चित हो चुका है; अतः भाषाके आधारसे यह अनुमान किया जाता है कि सिद्धसेन दिवाकरका काल तीसरी और पांचवीं शताब्दि-के मध्यका होगा।

भाषाकी क्लिष्टता और दुरूहताके विकासमें भाषा-विकासकी स्वाभाविकताके अतिरिक्त अन्य कारणोंमें से

एक कारण यह भी होता है कि जो जितनी ही अधिक क्लिष्ट, परिमार्जित, और अधिकसे अधिक अर्थ गांभीर्यमय भाषा लिखता है, वह उतना ही अधिक विद्वान समझा जाने लगता है। संस्कृत भाषाके क्रमिक विकासके अध्ययनसे पता चलता है कि दूसरी शताब्दिसे ही संस्कृत-भाषाके विकासमें उपर्युक्त सिद्धान्त कार्य करने लग गया था। और यही कारण है कि संस्कृत भाषाकी जटिलता दिन प्रति दिन बढ़ती ही चली गई।

सूक्ष्म-दृष्टिसे विचार किया जाय तो कालीदासकी भाषामें और सिद्धसेन दिवाकरकी भाषामें कुछ कुछ साम्यतासी प्रतीत होगी; अतः इनका काल तीसरीसे पाँचवींके मध्यका ही प्रतीत होता है।

सम्मतितर्क पर सबसे बड़ी टीका प्रद्युम्नसूरिके शिष्य अभयदेवसूरिकी पाई जाती है। इनका काल दशवीं शताब्दिका उत्तरार्ध और ग्यारहवींका पूर्वार्ध माना जाता है। ये 'न्यायवनसिंह' और 'तर्क पंचानन' की उपाधिसे विख्यात थे। यह टीका पच्चीस हज़ार श्लोक प्रमाण कही जाती है। यह टीका ग्रंथ गुजरात विद्यापीठ अहमदाबादसे प्रकाशित हो चुका है। इसका संपादन आदरणीय पं० सुखलालजी और पं० बेचरदासजीने घोर परिश्रम उठाकर किया है।

'सम्मति तर्क' पर दूसरी वृत्ति आचार्य मल्लवादीकी कही जाती है, जिसकी श्लोक संख्या ७०० प्रमाण थी; ऐसा उल्लेख बृहट्टिप्पणिका नाम प्राचीन जैनग्रंथ-सूचिमें पाया जाता है। वर्तमानमें यह वृत्ति अलभ्य है। आचार्य मल्लवादीने यह वृत्ति लिखी थी, इसका उल्लेख महान् प्रभावक आचार्य हरिभद्रसूरिने अपने 'अनेकान्त जयपताका' में और उपाध्याय यशोविजयजीने अपनी 'अष्ट-सहस्रीटीका' में भी किया है। सम्मति तर्क पर इन दो टीकाओंके अतिरिक्त एक तीसरी वृत्तिका भी उल्लेख पाया जाता है और यह उल्लेख भी "बृहट्टिप्पणिका" नामकी प्राचीन जैन ग्रंथ सूचीमें **'सम्मति-वृत्तिरन्यकर्तृका"** मात्र ही पाया जाता है; अतः इस सम्बन्धमें कुछ भी नहीं कहा जा सकता है †।

न्यायावतार पर दो वृत्तियाँ पाई जाती हैं। एक तो असाधारण प्रतिभा संपन्न आचार्य हरिभद्रसूरिकी है। ये 'याकिनी महत्तरासूनु' के नामसे प्रसिद्ध हैं। इनका काल प्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ मुनिराज जिनविजयजीने ७५७ से ८२७ विक्रम तकका निर्णीत किया है, जो कि सर्वमान्य हो चुका है। कहा जाता है कि इन्होंने १४४४ ग्रंथोंकी रचना की थी। यह वृत्ति २०७३ श्लोक प्रमाण कही जाती है। इसकी हस्तलिखित दो प्रतियाँ उपलब्ध हैं; जो कि पार्श्वनाथ भंडार पाटण और लोढ़ी पोशालके उपाश्रय भंडार पाटणमें सुरक्षित हैं; ऐसा श्वेताम्बर काँन्फ्रेंस द्वारा प्रकाशित "जैन ग्रंथावली" से ज्ञात हुआ है।

न्यायावतार पर दूसरी वृत्तिका उल्लेख 'बृहट्टिप्पणिका' नामक प्राचीन जैन ग्रंथसूचिमें पाया जाता है। यह कितने श्लोक संख्या प्रमाण थी इसका कोई उल्लेख नहीं है। इसके रचयिताका नाम 'सिद्ध व्याख्यानिक' लिखा हुआ है। 'जैन ग्रंथावलि' के संग्रहकारका अनुमान है कि ये सिद्धव्याख्यानिक मुनिराज सिद्धर्षि ही हैं; जिन्होंने कि "उपमितिभवप्रपंच" जैसा अद्वितीय रूपक

---

† वह टिप्पणिकाका यह उल्लेख 'सन्मति विवरण' नामकी उस दिगम्बर टीकासे सम्बन्ध रखता हुआ जान पड़ता है, जिसे आचार्य 'सन्मति' ने लिखा है और जिसका पता 'पार्श्वनाथ चरित' में दिये हुए वादिराज-सूरिके निम्नवाक्यसे भी चलता है—

नमः सन्मतयेतस्मै भवकूपनिपातिनाम् ।
सन्मतिर्विवृतयेन सुखधाम प्रवेशिनी ॥२२॥

पंडित श्री सुखलाल और बेचरदासजीने भी सन्मतितर्ककी प्रस्तावनामें इस बातको स्वीकार किया है।

—सम्पादक

ग्रन्थ लिखा है। और उपदेशमाला पर सुन्दर टीका लिखी है। बारहवीं शताब्दिमें होने वाले, रत्नाकरावतारिका नामक न्यायशास्त्रकी कादम्बरी रूप ग्रंथके लेखक रत्नप्रभसूरिने सिद्धर्षिके लिये 'व्याख्यातृ-चूड़ामणि' का विशेषण लगाया है। यह वृत्ति अलभ्य है। सिद्धर्षिका काल विक्रम ९६२ माना जाता है।

न्यायावतार पर देवभद्र मलधारि-कृत एक टिप्पण भी पाया जाता है। यह ९५३ श्लोक प्रमाण कहा जाता है और सुना जाता है कि पाटणके भंडारोंमें है। देवभद्र मलधारीकी तेरहवीं शताब्दि कही जाती है। इन्होंने अपने गुरु श्री चन्द्रसूरि कृत 'लघुसंग्रहणी' पर भी टीका लिखी है।

सिद्धसेन दिवाकरकी ऊपर लिखित कृतियोंके अतिरिक्त और भी कृतियाँ थीं या नहीं; इस सम्बन्धमें और कुछ नहीं कहा जा सकता है; क्योंकि इन द्वारा रचित अन्य कृतियोंका और कहीं पर भी कोई उल्लेख नहीं पाया जाता है। यदि लिखी भी होंगी तो भी या तो नष्ट हो गई होंगी या किन्हीं अज्ञात् स्थानोंमें नष्टप्राय अवस्थामें पड़ी होंगी।

जैन-साहित्यकी विपुलताका यदि हिसाब लगाया जाय तो यह कहा जा सकता है कि इसकी विस्तृतता अरबों और खरबों श्लोक प्रमाण जितनी थी। आज भी करोड़ों श्लोक प्रमाण जितना साहित्य तो उपलब्ध है। यदि मेरा अनुमान सत्य है तो आज भी दिगम्बर और श्वेताम्बर ग्रंथोंकी संख्या—मूल, टीका, टिप्पणी, भाष्य, और व्याख्या आदि सभी प्रकारके ग्रंथोंकी संख्या—मिलाकर कमसे कम बीस हज़ार अवश्य होगी। इनमेंसे संभवतः अधिकसे अधिक दो हजार ग्रंथ छपकर प्रकाशित होगये होंगे। शेष अप्रकाशित अवस्थामें ही मरणासन्न हैं। जैन-समाजका यह सर्व प्रथम कर्त्तव्य है कि वह मूर्ति, मन्दिर, तीर्थयात्रा, और गजरथ आदिमें खर्च कम करके इस ज्ञानराशिरूप साहित्यकी रक्षाकी ओर ध्यान दे।

जैन-साहित्यमें 'भाषाओंका इतिहास', 'लिपिका इतिहास', 'भारतीय साहित्यका इतिहास' 'भारतीय दार्शनिक और धार्मिक इतिहास' 'भारतीय संस्कृतिका इतिहास' और 'भारतीय राजनैतिक इतिहास' आदि अनेक प्रकारके इतिहासोंकी सामग्री भरी पड़ी है। इस अपेक्षासे अनेक भारतीय और पाश्चात्य विद्वान् जैन-साहित्यको बहुत ही आदरकी दृष्टिसे देखने लगे हैं और पढ़ने लगे हैं। फिर भी सत्यकेतु विद्यालंकारके शब्दोंमें यह कहा जा सकता है कि 'ऐतिहासिक विद्वानोंने जैन-दर्शन और जैन-साहित्यके प्रति उसके अनुरूप न तो आदर ही प्रदर्शित किया है और न उसके ग्रंथोंका गंभीर अध्ययन और मनन ही। इसमें जैनसमाजका भी कुछ कम दोष नहीं है। उसने अपने साहित्यका न तो विपुल मात्रामें प्रकाशन ही किया है और न प्रचार ही। यही समाजकी सबसे बड़ी त्रुटि है। क्या जैनसमाज इस अमूल्य साहित्यको प्रकाशित करनेकी और इसकी रक्षा करनेकी ओर ध्यान देगा?

किंवदन्तीमें यह उल्लेख आया है कि 'कल्याणमंदिर' स्तोत्र सिद्धसेन दिवाकरकी ही कृति है। यह कथन "प्रभावक चरित्र" नामक ग्रंथमें पाया जाता है। कल्याणमंदिरके अंतिम श्लोकमें कर्त्ताके रूपमें "कुमुद्रचन्द्र" नाम देखा जाता है। प्रभाविकचरित्रमें यह देखा जाता है कि इनके गुरु वृद्धवादि आदि सूरिने इन्हें दीक्षा देते समय इनका नाम "कुमुद्रचन्द्र" रक्खा था। यह बात कहाँ तक सत्य है? और इसी प्रकार 'कल्याण मंदिर' स्तोत्र इनकी कृति है या नहीं, यह भी एक विचारणीय प्रश्न है।

अन्तमें सारांश यही है कि श्वे० जैनन्यायके आदि आचार्य महाकवि और महावादि सिद्धसेन दिवाकर जैनधर्म और जैन-साहित्यके प्रतिष्ठापक, श्रेष्ठ संरक्षक, दूरदर्शी प्रभावक, और प्रतिभा सम्पन्न समर्थ आचार्य थे।

'आचार्य सिद्धसेन और उनकी कृतियाँ' इस शीर्षकके रूपमें आचार्य महोदयकी खोजपूर्ण जीवनी, सम्मतितर्क न्यायावतार और अन्य उपलब्ध द्वात्रिंशिकाओंके मूल पाठ उनके विस्तृत हिन्दी भाष्य सहित वर्तमान पद्धतिसे सम्पादन करके यदि एकत्र प्रकाशित किये जाएँ तो बीसवीं शताब्दीके जैनसाहित्यमें एक गौरवपूर्ण ग्रंथ तैयार हो सकता। तथास्तु।

—*—

कथा कहानी

ले०—अयोध्याप्रसाद गोयलीय

(२५)

हृदयकी स्वच्छता—उस्ताद "ज़ौक़" उर्दूके एक बहुत प्रसिद्ध कवि हुए हैं। वे मुग़लवंशके अन्तिम बादशाह बहादुरशाह "ज़फ़र"के कविता-गुरु थे। आज भी भारतवर्षमें हज़ारों उर्दूके प्रसिद्ध कवि उनके शिष्य और प्रशिष्य हैं। उर्दू शायरीमें महाकवि "ज़ौक़" अपना नाम अमर कर गये है। आप मुसलमान थे। एक बार अपने शागिर्दोंके साथ बैठे हुए आप बात-चीत कर रहे थे कि उनके सिर पर चिड़िया बार बार आकर बैठने लगी। आपने तंग आकर हँसीमें फर्माया—"नादानोंने मेरी पगड़ीको घोंसला समझ लिया है"। उस्तादकी इस बातसे सब खिलखिलाकर हँस पड़े। वहीं एक नाबीना (नेत्रहीन) शिष्य भी बैठा हुआ था। उसे जब हँसीका कारण मालूम हुआ तो बोला—"उस्ताद! हमारे सर पर तो चिड़िया एक बार भी आकर नहीं बैठी"। शागिर्दकी बात सुनते ही महाकवि "ज़ौक़" बोले—"क्या वे जानती नहीं हैं कि क़ाज़ी है, क़लमा पढ़कर चट हलाल कर देगा"। उस्तादकी बात सुनी तो हँसीका फव्वारा छूट पड़ा। नाबीना शागिर्द भी झेंपता हुआ हँस दिया। शागिर्दोंने अर्ज़ किया— "उस्तादने क्या खूब फर्माया है। बेशक दिलसे दिलको राहत होती है। अपने दोस्त-दुश्मनकी पहचान जानवरोंको भी होती है। साँप बच्चेके छेड़ने पर भी उसके साथ खेलता रहता है, मगर जवान इन्सानको ज़रासी भूल पर भी काट खाता है। बुग़ज़ोहसदसे पाक (राग-द्वेष-रहित) फ़क़ीरोंके पास शेर और हिरण चौकड़ियाँ भरते हैं, उनके तलवे प्रेमसे चाटते हैं मगर शिकारीको छुपे हुए देखकर भी भाग जाते हैं या मुक़ाबिलेको तैयार हो जाते हैं। गाय क़साईके हाथ बेचे जाने पर डकराती है, मगर किसी रहमदिलके छुड़ा लेने पर अहसान भरी नज़रोंसे देखती है। इन्सानका चेहरा मानिन्द आइने (दर्पण) के है। उसमें खरे खोटेका अक्स (प्रतिबिम्ब) हर वक्त झलकता रहता है।"

(२६)

होनहार बिरवानके होत चीकने पात—भारत का प्रथम ऐतिहासिक सम्राट् चन्द्रगुप्त—जिसने यूनानियोंकी पराधीनतासे भारतको मुक्त किया था। जिसके बल-पराक्रमका लोहा सारे संसारने माना और जिसके शासन-प्रणालीकी कीर्ति आज भी गूंज रही है—राज्य-वैभवमें उत्पन्न न होकर एक अत्यन्त साधारण स्थितिमें उत्पन्न हुआ था। गाँवकी गाएँ चराना और खेलना यही उसका दैनिक कार्य था। किन्तु बचपनमें ही, उसके शुभ लक्षण प्रकट होने लग गये थे। वह खेलनेमें स्वयं राजा बनता,किसीको मंत्री किसीको कोतवाल किसीको चोर वग़ैरह बनाता। चोरोंको दण्ड और सदाचारियोंको इनाम देता। ज़रा भी उसकी आज्ञापालनमें ढील-हुज्जत की जाती तो वह अधिकार पूर्ण शब्दोंमें कहता—"यह राजा चन्द्रगुप्तकी आज्ञा है, इसका पालन होना ही चाहिये। उसका यह आत्म-विश्वास, हौसला और महत्वाकाँक्षा देखकर भिक्षु-वेषमें चाणक्य बड़ा विस्मित

हुआ । उसने कौतुकवश बालक चन्द्रगुप्तके पास जाकर कहा--"राजन् ! कुछ हमें भी दान दीजिये ।"

बालक चन्द्रगुप्त चाणक्यकी बातसे न झिजका न शर्माया उसने राजाओंकी ही तरह आदेश दिया--"सामने जो गाएँ चर रही हैं, उनमें जो भी तुझे पसन्द हो लेजासकता है ।"

चाणक्य मुस्कराकर बोला--"महाराजाधिराज ! यह गाएँ तो गाँव वालोंकी हैं, वे मुझे क्यों लेजाने देंगे ?"

चन्द्रगुप्तने ज़रा भृकुटी चढ़ाकर कहा—"भोले विप्र ! क्या नहीं जानते "वीर भोग्या वसुन्धरा ।" किसकी मजाल है जो मेरे आदेशकी अवहेलना कर सके ।"

बालक चन्द्रगुप्तका यह संकल्प सही निकला और वह अपनी युवावस्थामें ही साधन-हीन होते हुए भी सचमुच सम्राट् बन बैठा ।

(२७)

लार्ड विलिंगटन—वास्तवमें बचपनके ही संस्कार भविष्यमें भाग्य-निर्माता होते हैं । होनहार बालकोंकी आभा उनके उदय होनेके पूर्व ही सूर्य-रेखाओंके समान फैलने लगती है । वे इसी अवस्थामें खेले हुए खेल—हँसी हँसीमें किए गये संकल्प—बड़े होनेपर कार्यरूपमें परिणित कर दिखाते हैं । एक बार बालक विलिंगटनसे किसीने पूछा कि 'यह टाइमपीस क्या कहती है?' अबोध विलिंगटनने उत्तर दिया कि 'क्लोक सेज़ दी टन,टन, टन एण्ड विलिंगटन वुड बी दी लार्ड ऑफ़ लण्डन' (घड़ी कहती है टन, टन, टन और लण्डनका लार्ड बनेगा विलिंगटन) बालक विलिंगटनकी यह भविष्य वाणी आखिर सत्य निकली ।

(२८)

ईर्ष्याका परिणाम—दो पण्डित दक्षिणा प्राप्त करनेकी नीयतसे एक सेठके यहाँ पहुँचे । विद्वान् समझकर सेठ साहबने उनकी काफी आव-भगतकी । उनमेंसे एक पण्डित जब स्नान वगैरहके लिए गए तो सेठजी दूसरे पण्डितसे बोले—"महाराज ! ये आपके साथी तो महान् विद्वान् मालूम होते हैं । पण्डितजीमें इतनी उदारता कहाँ जो दूसरेकी प्रशंसा सुनलें । मुँह बिगाड़ कर बोले—"विद्वान् तो इसके पड़ौसमें भी नहीं रहते यह तो निरा बैल है ।" सेठजी चुप हो गये । जब उक्त पण्डित संध्या वगैरहमें बैठे तो पहले पण्डितजीसे बोले "महाराज आपके साथी तो प्रकाण्ड विद्वान् नज़र आए ।" ईर्ष्यालु पण्डित अपने हृदयकी गन्दगीको बखेरते हुए बोले—" अजी, विद्वान् उद्वान् कुछ नहीं, कोरा गधा है ।"

भोजनके समय एकके आगे घास और दूसरेके सामने भुस रखवा दिया गया, पंडितोंने देखा तो आग बबूला होगए । बोले—सेठजी ! हमारा यह अपमान, इतनी बड़ी धृष्टता !" सेठजी हाथ जोड़कर बोले--महाराज ! आप ही लोगोंने तो एक दूसरेको गधा और बैल बतलाया है । अतः गधे और बैलके योग्य ख़ुराक मैंने सामने रखदी । आप ही बतलाइये इसमें मेरा क्या क़ुसूर है ? मैं तो आप दोनोंको ही विद्वान समझता था, पर वास्तविक बात तो आपने स्वयंही बतलादी ।" सेठजीकी बातसे पण्डित बड़े लज्जित हुए और पछताते हुए मनमें कहने लगे—"वास्तवमें जो अपने साथीको बढ़ा हुआ नहीं देख सकता, वह स्वयं भी नहीं बढ़ सकता, स्वयं प्रतिष्ठा प्राप्त करनेके लिये अपने साथियोंकी प्रतिष्ठा करना उन्हें बढ़ाना अत्यावश्यक है । ईर्ष्यालु मनुष्योंकी हमारी जैसी ही गति होती है ।"

हरी साग-सब्ज़ीका त्याग

[ले० —बाबू सूरजभानुजी वकील]

[नवीं किरणका शेप]

(४) पाँचवीं सचित्त त्याग प्रतिमा

अणुव्रती श्रावक अपने विषय कषायोंको कम करता हुआ, वैराग्यको बढ़ाता हुआ और संसार मोहको घटाता हुआ, पहली, दूसरी, तीसरी और चौथी प्रतिमाओंमें उत्तीर्ण होकर जब पाँचवीं प्रतिमामें प्रवेश करता है तो उस समय उसकी आत्मा इतनी उन्नति कर जाती है कि वह साग-सब्ज़ीके खानेका त्याग करदे। त्रसजीवकी हिंसाका त्याग तो उसने दूसरी प्रतिमा धारण करते ही अहिंसाणुव्रतमें कर दियाथा, परन्तु स्थावर जीवोंकी हिंसाका त्याग बिल्कुल भी नहीं किया था, फिर भोगोपभोग परिमाणव्रतके ग्रहण करनेपर कन्दमूल आदि अनन्तकाय साधारण बनस्पतिके भक्षणका भी त्याग करदिया था, प्रत्येक वनस्पतिका नहीं किया था। अब इस पाँचवीं प्रतिमामें वह प्रत्येक बनस्पतिके भक्षणका भी त्याग कर देता है। यह त्याग उसका एकमात्र जीवहिंसासे बचनेके वास्ते ही होता है इस कारण वह किसी बनस्पतिको काट कर सुखानेके द्वारा निर्जीव या प्रासुक भी नहीं करता है—ऐसा करनेमें तो वह साक्षात ही हिंसक होता है।

बनस्पति अनेक प्रकारसे निर्जीव वा प्रासुक की जासकती है; जैसे सुखानेसे, आगपर पकानेसे, गरम करनेसे, खटाई वा नमक लगानेसे और चाकू छुरी आदि किसी यंत्रके द्वारा छिन्नभिन्न करनेसे। यथा—

> सुक्कं पक्कं तत्तं अंबिललवणेहि मिस्सियंदव्वं।
> जंजंतेण य छिण्णं तं सव्वं पासुयं भणियं॥

यदि पाँचवीं प्रतिमावाला बनस्पतिको अपने हाथसे निर्जीव अर्थात् प्रासुक कर सकता है तो उसको सुखाकर ही रखनेकी क्या ज़रूरत है। तब तो वह चाकूसे काटकर भी प्रासुक कर खा सकता है, खटाई या नमक लगा लगाकर भी खा सकता है, गरम करके भी खा सकता है और पकाकर भी खा सकता है। फिर एक पाँचवीं प्रतिमावाला ही क्या सब ही इन रीतियोंमेंसे किसी न किसी रीतिके द्वारा सब प्रकारके फल और साग सब्ज़ीको निर्जीव वा प्रासुक करके खाते हैं, तब तो मानो सबही पाँचवीं प्रतिमाधारी सचित त्यागी हैं! परन्तु ऐसा होता तो क्यों तो भोगोपभोग परिमाणव्रतमें अनन्तकाय जीवोंकी हिंसासे बचनेके वास्ते कंद-मूलके भक्षणका त्याग कराया जाता और क्यों यह पाँचवीं प्रतिमा क़ायम कर सब ही प्रकारकी साग-सब्ज़ीके त्यागका विधान किया जाता? इससे स्पष्ट सिद्ध है कि न तो भोगोपभोग परिमाणव्रत वाला

कंदमूलको किसी रीतिसे निर्जीव करके खा सकता है और न पाँचवीं प्रतिमावाला किसी भी प्रकारकी वनस्पतिको नर्जीव करके खा सकता है। वह न अपने खानेके वास्ते ही निर्जीव कर सकता है और न किसी दूसरेके खानेके वास्ते ही, उसे तो हिंसासे बचना है तब वह स्वयं हिंसा कैसे कर सकता है? हाँ, यदि किसी दूसरेने खास उसके वास्ते नहीं किन्तु अन्य किसी कारणसे किसी बनस्पतिको ऊपर लिखी हुई किसी भी विधीसे निर्जीव करके अचित कर रखा है तो उस अचित की हुई बनस्पतिको यह त्यागी भी खासकता है, क्योंकि उसके निर्जीव करनेमें इसका कुछ भी वास्ता नहीं आया है। इस कारण यह उसके निर्जीव करनेका दोषी नहीं हो सकता है। दृष्टान्तरूपमें गृहस्थ अपनी गाड़ी व खेती आदिके लिये बैल रखता है; परन्तु बधिया बैल ही उसके कामका होसकता है, सांड किसी प्रकार भी उसके काम नहीं आसकता है, तो भी सद्गृहस्थी श्रावक इतना निर्दयी नहीं होसकता है कि स्वयं किसी बैलको बधिया करै वा बधिया करावै। हाँ, बधिया करा कराया बैल जब बिकने आता है तो वह जरूर खरीद लेता है। यह ही बात साग सब्जी के वास्ते भी लागू होती है। भोगोपभोग परिमाण व्रती श्रावक जिसको कन्दमूल आदि अनन्तकाय वनस्पतिके भक्षणका त्याग होता है, वह भी किसी कन्दमूलको किसी भी प्रकारसे निर्जीव नहीं कर सकता है और न करा सकता है, हाँ, सूखी हुई सूंठ, हलदी आदिको भी प्रासुक किया हुआ कंदमूल बाजारमें बिकता हुआ मिलता है उसको जरूर खरीद कर खा सकता है, इस ही प्रकार पाँचवीं प्रतिमाधारी श्रावक भी किसी वनस्पतिको निर्जीव नहीं करसकता है और न करा सकता है। हाँ, उसके लिये नहीं किन्तु अन्य किसी कारणसे प्रासुक हुई जो वनस्पति उनको मिल जायगी उसको जरूर खासकता है। सचित्त त्यागी श्रावकके विषयमें रत्नकरंड श्रावकाचारमें लिखा है—

मूलफलशाकशाखाकरीर कन्दप्रसून बीजानि।
नामानियोऽत्तिसोऽयं सचित्त विरतो दयामूर्ति ॥१४१

अर्थात्—जो कच्चे मूल, फल, शाक, शाखी, करीर, कन्द, फूल और बीज नहीं खाता है वह दयाकी मूर्ति सचित्त त्यागी है।

इसमें दयाकी मूर्ति शब्द खास ध्यान देने योग्य है—क्या स्वयं अपने हाथसे बनस्पतिको काटकाटकर, सुखाकर निर्जीव करनेवाला दयाकी मूर्ति हो-सकता है? हरगिज़ नहीं, कदापि नहीं।

अष्टमी चतुर्दशीका पर्व

अब रही अष्टमी और चतुर्दशी इन दो पर्वोंकी बात, दूसरी प्रतिमाधारी अणुव्रती श्रावक पाँचों अणुव्रत धारण करनेके बाद इन व्रतोंको बढ़ानेके वास्ते दिग्व्रत, अनर्थ दंड त्यागव्रत और भोगोपभोग परिमाणव्रत नामके तीन गुणव्रत धारण करता है, इसके बाद वह मुनि-धर्मका अभ्यास करनेके वास्ते सामायिक, देशावकाशिक प्रोपधोपवास और अतिथिसंविभाग नामके चार शिक्षाव्रत ग्रहण करके, महिनेमें चार दिन ऐसे निकाल लेता है जिनमें वह संसारके सब ही कार्योंसे विरक्त होकर और सब ही प्रकारका आरम्भ छोड़कर यहां तक कि खाना, पीना, नहाना, धोना आदि भी त्यागकर एकमात्र धर्म सेवनमें ही लगा रहै। ये चार दिन प्रत्येक पक्षकी अष्टमी चतुर्दशीके रूपमें नियत कीर

दिये गये हैं। इस प्रकार ये पर्व तो मुनिके समान बिल्कुल धर्ममें ही लगे रहनेके वास्ते हैं न कि हरी साग सब्ज़ीका खाना छोड़ दयाधर्मका स्वागत करनेके वास्ते। ये पर्व तो उस ही के वास्ते हैं जो पहले सम्यग्दर्शन ग्रहणकर पाँचों अणुव्रत ग्रहण करले और फिर उन अणुव्रतोंको बढ़ानेके वास्ते तीनों गुणव्रत ग्रहणकरले और उसकेबाद सामयिक और देशावकाशिक नामके दो शिक्षाव्रत भी ग्रहण करले, अर्थात् कुछ कुछ अभ्यास मुनिधर्मका भी करने लगे; तब ही वह इन पर्वोंमें प्रोषधोपवास करके पर्वके ये दिन मुनिके समान धर्म—ध्यानमें ही बिता सकता है। यह सब साधन करनेसे पहले ही अर्थात् सम्यग्दर्शन—ग्रहण करनेसे पहले ही जो लोग इन पर्वोंमें हरी सब्ज़ीका त्याग कर धर्मात्माओंमें अपना नाम लिखाना चाहते हैं वे तो एक मात्र जैनधर्मका मखौल ही कराते हैं।

उपसंहार

सारांश इस सारे शास्त्रीय कथनका यह निकलता है कि श्री कुन्दकुन्द और श्रीसमन्तभद्र जैसे पूर्वाचार्योंकी तो कोशिश यही रही है कि पहले सब ही लोगोंको धर्मका सच्चा स्वरूप समझाकर और चिरकालका जमा हुआ मिथ्यात्व छुड़ाकर सम्यक्ती बनाया जावे, इसके बाद ही फिर आहिस्ता आहिस्ता उनको सम्यक् चारित्र पर लगाया जावे, जैसे जैसे उनके भाव ऊपर बढ़ते जावें वैसा वैसा त्याग उनसे कराया जावे, जिससे सच्चे मार्ग पर चलकर वे अपना कल्याण कर सकें और मोक्षका परम सुख पासकें। परन्तु जबसे धर्ममें शिथिलाचार फैला है, जबसे ठाठ बाटसे रहनेवाले, नालकी पालकीमें चलनेवाले वस्त्रधारी भट्टारक भी महामुनि और आचार्य माने जाने लगे हैं तबसे स्थियोंमें भी भावों और परिणामोंकी शुद्धिके स्थान पर धर्मके नामपर लोक दिखावा और स्वाँग तमाशा ही होने लगगया है। इस ही से जैनधर्मकी अप्रभावना होकर इसकी अवनति शुरू होगई। नतीजा जिसका यह हुआ कि जहाँ हिन्दुस्तानमें पहले कई करोड़ जैनी वहाँ अब केवल दस ग्यारह लाख ही जैनी रह गये हैं—उनके भी तीन टुकड़े जिनमेंसे प्रायः ४ लाख दिगम्बर ४ लाख मूर्तिपूजक श्वेताम्बर और ३ लाख स्थानकवासी समझ लीजिये। इस प्रकार हिन्दुस्तानकी ३५ करोड़ आबादीमें मुट्ठीभर जैनी बाक़ी रह गये हैं, वह भी नामके ही जैनी हैं, और बहुत तो ऐसे ही हैं जो जैनधर्मसे बिल्कुल अनजान होकर अपनी धर्मक्रियाओंसे जैनधर्मको लजाते ही हैं।

सबसे बड़ा अफ़सोस तो इस बातका है कि पंडितों, उपदेशकों, शास्त्रकी गद्दीपर बैठकर वीर भगवानकी वाणी सुनानेवालों, त्यागियों, ब्रह्मचारियों, ऐल्लकों, क्षुल्लकों और मुनियों आचार्योंमेंसे किसीको भी इस बातका फ़िकर नहीं है कि धर्मका सच्चा स्वरूप बताकर सबसे पहले लोगोंको सच्चा सम्यक्ती बनाया जावे। सम्भव है वे खुद भी सच्चे सम्यक्ती न हों,इस ही से इस तरफ़ कोशिश करनेका उनको उत्साह न पैदा होता हो। कुछ भी हो, अब तो एकमात्र यही देखनेमें आता है कि मंदिरजीमें जब कोई शास्त्र समाप्त होता है वा कोई त्यागी किसीके घर भोजन करने जाता है वा कोई स्त्री-पुरुष किसी भी त्यागीके दर्शनोंको उनके पास जाते हैं तो ये लोग कुछ नहीं देखते कि वह जैनधर्मके स्वरूपको कुछ जानता भी है वा नहीं,

धर्मका कुछ श्रद्धान भी उसको है वा नहीं, उसके भाव क्या हैं—परिणाम क्या हैं—चारित्र उसका कैसा है, पाप पुण्यसे कुछ डरता भी है या नहीं, दया-धर्मका ख़याल भी उसको कुछ है या नहीं, इन सब बातोंका कुछ भी ख़याल न करके, वे तो एकदम उसको पिलच जाते हैं और कुछ न कुछ साग सब्जीका त्याग कराकर ही उसको छोड़ते हैं वह बेचारा बहुत कुछ सटपटाता है और हाथ जोड़कर कहता है कि मुझसे यह त्याग नहीं हो-सकता है; परन्तु वहाँ इन बातोंको कौन सुनता है, वहाँ तो इस ही बातमें अपनी भारी कारगुजारी और जीत समझी जाती है जो उस अचनाक पंजेमें फँसे हुएसे कुछ न कुछ त्याग कराकर ही छोड़ा जावे।

यह त्याग क्या है मानों जैनधर्मकी चपरास उसके गलेमें डाल देना है, जिससे वह अलग पहचाना जावे कि यह जैनी है; परन्तु इस झूठी चपरासके गलेमें डालते वक्त वह यह नहीं सोचते हैं कि जिस प्रकार कोई मनुष्य झूठा सरकारी चपरास डालकर लोगोंको ठगने लगे तो वह पकड़ा जाने पर सज़ा पाता है उसही प्रकार धर्मकी झूठी चपरास धारण करने वाला भी धर्मको बदनाम करता हुआ खोटे ही कर्म बांधता है और अपने इस महापापके कारण कुगतिमें ही जाता है।

इस कारण जरूरत इस बातकी है कि सबसे पहले धर्मका सच्चा स्वरूप बताकर मनुष्योंको सम्यक्ती बनाया जावे; फिर शास्त्रोंमें वर्णन किये गये सिलसिलेके मुताबिक़ ही आहिस्ता आहिस्ता त्याग पर लगाकर उन्हें ऊँचे चढ़ाया जावे, जिससे उनका भी कल्याण हो और धर्मकी भी प्रभावना हो। मालूम नहीं हमारे पंडित, उपदेशक और त्यागी मेरी इस बात पर ध्यान देंगे या नहीं, वे बड़े आदमी हैं, उनकी पूजा है और प्रतिष्ठा है इस कारण सभव है कि वे मुझ जैसे तुच्छ आदमीकी बात पर ध्यान न दें। अतः अपने भोले भाईयोंसे भी निवेदन है कि वे न तो किसीके बहकायेमें आवें और न किसीकी ज़बरदस्तीको मानें; किन्तु एकमात्र वही मार्ग अंगीकार करें जो हमारे पूज्य महान् आचार्य शास्त्रोंमें लिख गये हैं; उसके विरुद्ध घड़े हुए तथा प्रचारमें लाये हुए प्राणहीन पाखंडी तथा ढौंगी विचारोंको कदाचित् भी अंगीकार न करें।

इस मौक़े पर शायद हमारे किसी भाईके यह शंका उत्पन्न हो कि अगर कोई बेसिलसिले भी साग सब्ज़ीका त्याग करने लगे अर्थात् जो कोई पहली प्रतिमाधारी सम्यक्ती भी नहीं है, यहाँ तक कि महानिर्दयी पापी और हिंसक है, फिर भी वह सारी सब्जियोंका त्याग कर सचित्तत्यागी हो जावे तो इस अटकल पच्चू त्यागसे उसको कुछ पुन्य नहीं होगा तो पाप भी तो नहीं होगा; तब इतना भारी वावैला उठानेकी क्या ज़रूरत? इसका जवाब यह है कि मुनिकी क्रियाओंमें नग्न रहना ही एक बहुत ही ज़रूरी क्रिया और भारी परिषह सहन करना है। तब यदि कोई जैनी, जिसने श्रावककी पहली प्रतिमा भी धारण न की हो, न मिथ्यात्वको ही छोड़ा हो, न त्रसथावरकी हिंसाको तथा झूठ चोरी, कुशील को ही त्यागा हो और न परिग्रहको ही कम किया हो। मुनिके समान नग्न रहकर जैनधर्मके एक बड़े भारी अंगके पालन करनेका दावा करने लगे, तो ऐसा करनेसे क्या वह जैनधर्मका मख़ौल नहीं उड़ाएगा और पापका भागी नहीं बनेगा; ऐसे ही बेसिलसिले साग सब्ज़ीके त्यागके कारण जैनधर्मका जो मख़ौल अन्यमतियोंमें हो रहा है उससे क्या यह लोग पापके भागी नहीं हो रहे हैं। कमसे कम जैनधर्मकी अप्रभावना तो ज़रूर ही हो रही है। अतः शास्त्र-विरुद्ध त्यागकी प्रथाको हटाने-के लिये शोर मचाना निहायत ज़रूरी है। जिनको धर्मकी रक्षा करनी है, उनको तो इस आन्दोलनमें शामिल होना ही चाहिये और जिनको धर्मसे प्रेम नहीं है, उनकी बलासे चाहे जो होता रहे—धर्म डूबे या तिरे उन्हें कुछ मतलब नहीं है, हमारा भी उनसे कुछ अनुरोध नहीं हो सकता।

महारानी शान्तला

[लेखक—पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण]

शान्तलादेवी महाराज विष्णुवर्द्धनकी पट्टमहिषी थीं। महामण्डलेश्वर, समधिगतपञ्चमहाशब्द, त्रिभुवनमल्ल, द्वारावतीपुरवराधीश्वर, यादव-कुलाम्बर-द्युमणि, सम्यक्त्व-चूड़ामणि आदि अनेक उपाधियोंसे अलंकृत होयसल वंशके प्रतापी शासक सुविख्यात विष्णुवर्द्धन ही इन शान्तलादेवीके श्रद्धेय पति हैं। महाराज विष्णुवर्द्धन जन्मसे तो जैनी ही थे; पीछे रामानुजाचार्यके षड्यन्त्रसे वैष्णव बन गये थे। फिर भी जैन-धर्मसे उनका प्रेम लुप्त नहीं हुआ था। इसके लिये अनेक सुदृढ़ प्रमाण मौजूद हैं। इस सम्बन्धमें मैं एक स्वतन्त्र लेख ही लिखनेवाला हूँ। वास्तवमें विष्णुवर्द्धनको जैन-धर्मसे सच्ची सहानुभूति न होती तो क्या उनकी पट्ट-महिषी महारानी शान्तला जैनधर्मकी एक कट्टर अनुयायिनी हो सकती थी? स ही, विष्णुवर्द्धनकी उपर्युल्लिखित उपाधियोंमेंसे "सम्यक्त्वचूड़ामणि" नामकी उपाधि हमें क्या सूचित करती है? यह भी सोचना चाहिये।

अनेक शिलालेख यह भी प्रमाणित करते हैं कि महामण्डलेश्वर विष्णुवर्द्धनके गंग, मरियण्ण-जैसे सेनापति, भरत-जैसे दण्डनायक, पोयसल एवं नेमिसेट्टि-जैसे राज-व्यापारी जैनधर्मके एकान्त भक्त थे। महाराज विष्णुवर्द्धनने स्वयं कई जैनमन्दिरोंको दान दिया है। बस्तिहल्लिमें पार्श्वनाथ-मन्दिरकी बाहरी भित्तिपर स्थापित पाषाणगत सन् ११३३ के एक लेखमें अंकित है कि, बोप्पदेवके द्वारा अपनी राजधानी द्वारसमुद्रमें प्रतिष्ठित पार्श्वनाथकी प्रतिष्ठाके पीछे पुजारी लोग शेषाक्षत लेकर महाराज विष्णुवर्द्धनके पास दरबार में बंकापुर गये। उसी समय महाराजने मसन नामक शत्रुको पराजित कर उसके देशपर अधिकार कर लिया था तथा रानी लक्ष्मी महादेवीको पुत्र-रत्नकी प्राप्ति हुई थी। उन्होंने उन पुजारियोंकी वन्दना की और गन्धोदक तथा शेषाक्षतको शिरोधार्य किया। महाराजने कहा कि "इस भगवानकी प्रतिष्ठाके पुण्यसे मैंने विजय पाई और मुझे पुत्ररत्न प्राप्तिका सौभाग्य प्राप्त हुआ, इसलिये मैं इस भगवानको 'विजयपार्श्व' नामसे पुकारूँगा तथा मैं अपने नवजात पुत्रका नाम भी 'विजयनरसिंहदेव' ही रक्खूंगा।" साथ ही, इस मन्दिरके जीर्णोद्धारादिके लिये महाराज विष्णुवर्द्धनने 'जावुगल्लु' ग्राम भेंट किया। क्या इन बातोंसे विष्णुवर्द्धनका जैनधर्मसे प्रेम व्यक्त नहीं होता है? हाँ, वैष्णवमतकी दीक्षाके प्रारम्भमें इनसे जैनधर्मको काफी धक्का अवश्य पहुँचा था। अस्तु।

विष्णुवर्द्धन बड़े प्रतापी थे। इसीलिये शिलालेख में एक स्थान पर इनके सम्बन्धमें यहाँ तक लिखा गया है कि 'इन्होंने इतने दुर्जय दुर्ग जीते, इतने नरेशोंको पराजित किया और इतने आश्रितोंको उच्च पदारूढ़

वीर-शासनका महत्व

[ले०—कुमारी विद्यादेवी जैन 'प्रभाकर' ऑनर्स]

वीर प्रभुका शासन विशाल है। आधुनिक समयमें इसकी आवश्यकता अधिकाधिक प्रतीत होती जारही है। आज संसारमें अशान्तिका साम्राज्य चहुँओर छारहा है। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तिको हड़प करना चाहता है। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रको नष्ट भ्रष्ट कर अपने दासत्वमें रखना चाहता है। यह सब स्वार्थान्धता विषय-लम्पटता तथा कषाय-प्रबलताका ही फल है। वीरशासन विषय-कषायको लम्पटताको दुखःका कारण बताता है, अहिंसामय जीवनको सुखी बनाता है। वीर भगवानका उपदेश है—प्राणी मात्रके प्राणोंको अपने जैसा जानो, स्वयं आनन्दमय जीवन बिताओ, दूसरोंको आनन्दपूर्वक रहने दो, पापोंसे भयभीत रहो, व्यसनोंका परित्याग करो, विवेकसे काम लो और अपनी आत्माके स्वरूप को जानों, समझो, श्रद्धान करो तथा उसके निज स्वभावमें रमण करो। वीर-शासन सरल है, चाहे बूढ़ा पालो चाहे जवान, स्त्री धारण करो चाहे पुरुष धनाढ्य और रंग ऊँच तथा नीच सब ही अपने अपने पद और योग्यताके अनुसार वीरशासनके अनुयायी होकर अपने आत्माका कल्याण कर सकते हैं। वीर-शासन स्वतन्त्रताका पाठ पढ़ाने वाला है। वीरशासनका सेवक स्वयं पूज्य तथा सेव्य बन जाता है।

निश्चयनयसे प्रत्येक आत्मा परमात्मस्वरूप है। अनादिकालसे लगे कर्म बन्धनोंको निज पुरुषार्थ द्वारा तोड़कर एक संसारी आत्मा शुद्ध परम निरंजन, अविनाशी, अजर, अमर, निकल सिद्ध परमात्मा बन जाता है। सिद्धालयमें परमात्मा परमात्मामें कोई भेद नहीं है। इस अपेक्षासे वीरका जैनधर्म ही प्राणी प्राणीमें भेदभाव मिटानेवाला और सच्ची समानता स्थापित करने वाला है। आज संसार शाँति, स्वतन्त्रता तथा समानताके लिये तड़प रहा है। इन तीनोंकी प्राप्तिके लिये जैनधर्मका अहिंसावाद कर्मवाद, और साम्यवाद एक अमोघ उपाय है। वीरशासनका अनेकान्तवाद एवं स्याद्वाद जन-समुदायके पारस्परिक कलह और ईर्षाको मिटाकर सबको एकताके सूत्रमें बाँधनेवाला है।

वीर-शासनके इन मौलिक सिद्धान्तोंका प्रचार करनेके लिए योग्य व्यक्तियों तथा उचित साधनोंकी आवश्यकता है। वीर भगवानके अनुयायियोंका कर्तव्य है कि वीर संदेशको प्राणी मात्रतक पहुँचाएँ और प्रत्येक प्राणीको उसके अनुसार जैनधर्म पालनेका अवसर देवें। जिनधर्म संसारके दुखसे प्राणियोंको निकालकर उत्तम श्रेष्ठ सुखमें धरनेवाला है। यह धर्म आत्माकी निजी विभूति है—इस पर किसी ख़ास समाज या जाति विशेषका मौरूसी हक़ नहीं है। मन सहित संज्ञी पशु पक्षी, मनुष्य, देव नारकी आदि सभी जीव इसको ग्रहण करके अपना कल्याण कर सकते हैं। परमपूज्य श्रीमद् देवाधिदेव भगवान् महावीर अपने एक पूर्व भवमें स्वयं सिंह थे, सद्गुरुके उपदेशका निमित्त मिलने पर

सिंहकी पर्यायमें उन्होंने व्रतोंको पाला और उसके फलस्वरूप स्वर्गमें जाकर देव हुए।

यमपाल चांडालने मात्र एक देश अहिंसाव्रत पालन करनेसे देवों द्वारा आदर सत्कार पाया।

नीचसे नीच मनुष्यके उत्थानमें सहायक होना ही वीरशासनका महत्व है। यह पतितोद्धारक है, जगत् हितकारी है और साक्षात् कल्याणरूप है। इस ही कारण यह धर्म समस्त प्राणियोंके लिये हितरूप होनेसे "सर्वेभ्यो हितः सार्व" इस सार्व, विशेषणसे विशिष्ट 'सार्वधर्म' कहलाता है। और इसीसे स्वामी समन्तभद्रने इसे 'सर्वोदय तीर्थ' लिखा है। संसारी प्राणियोंको चाहिए कि वे वीरशासनकी छत्र-छायाके नीचे आएँ, ग्रहस्थधर्मका यथार्थ रीतिसे पालन करते हुए अपने जन्मको सफल करें और परंपरासे स्वाधीन मुक्ति पदको प्राप्त करें।

वीर भगवानका उपासक एक सच्चा जैन गृहस्थ न्याय पूर्वक धनोपार्जन करता है, मृदुभाषी होता है, सम्यक्त्वादि गुणोंसे संपन्न होता है, धर्म अर्थ-काम इन तीनों पुरुषार्थोंका एक दूसरेका विरोध न करते हुए समीचीन रीतिसे साधन करता है, योग्य स्थानमें रहता है, लज्जावान होता है, योग्य आहार-विहार करता है। विद्वान् जितेन्द्रिय, परोपकारी, दयावान तथा पापोंसे भयभीत होता है और सत्संगति उसको प्रिय होती है। इस तरह एक सद्ग्रहस्थ ग्रहस्थमें रहते हुए भी अपने धर्मका उत्कृष्ट रूपसे पालन कर सकता है—इतनी आत्मशुद्धता प्राप्त कर सकता है कि अन्तमें अन्तर बाह्य समस्त परिग्रहका त्याग कर केवल ज्ञानको प्राप्त कर लेवे।

इस प्रकार वीर भगवानका जिनधर्म कठिन नहीं है। जो धर्मके मर्मज्ञ हैं वे धर्मका पालन करके अपना कल्याण करते ही हैं। धर्म पालनमें खेद नहीं, क्लेश नहीं, अपमान नहीं, भय नहीं, विषाद नहीं, कलह नहीं और शोक नहीं। वीरका धर्म समस्त विसंवादों तथा झगड़ोंसे रहित है। वस्तुतः इसके पालन करनेमें कोई परिश्रम नहीं है। यह धर्म अत्यन्त सुगम है, समस्त क्लेश—दुख रहित स्वाधीन आत्माका ही तो सत्यपरिणमन है। इसका फल समस्त संसार-परिभ्रमण-से छूटकर अनंत दर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्त सुख और और अनन्त वीर्य मय सिद्ध अवस्था अर्थात् परमात्म-पदकी प्राप्ति है। और परमात्मपदकी प्राप्ति ही आत्मो-न्नतिकी चरम सीमा है *।

—*—

* इस लेखकी लेखिका बा० उग्रसेन जी जैन एम० ए० एल एल० बी० रोहतककी सुपुत्री हैं और एक अच्छी होनहार लेखिका जान पड़ती हैं। आपका यह लेख वीरसेवामन्दिरमें वीरशासनजयन्तीके उत्सव पर पढ़ा गया है। —सम्पादक

प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकारकी

आधारभूमि

[ले०—पं० परमानंदजी जैन शास्त्री]

श्वेताम्बर जैनसमाजके ग्रन्थकारोंमें आचार्य देवसूरि अपने समयके अच्छे विद्वान् माने जाते हैं। धर्म, न्याय और साहित्यादि-विषयों-में आपकी अच्छी गति थी। वादकलामें भी आप निपुण थे, इसी कारण आपको वादिदेवसूरिके नामसे पुकारा जाता है। आपका अस्तित्व समय विक्रमकी १२ वीं शताब्दीका उत्तरार्ध सुनिश्चित है।

वादिदेवसूरिकी इस समय दो रचनाएँ उपलब्ध हैं—एक प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार और दूसरी स्याद्वादरत्नाकर। 'स्याद्वादरत्नाकर' प्रथम ग्रंथकी ही टीका है। ये दोनों ग्रंथ मुद्रित हो चुके हैं। इनमेंसे प्रथम ग्रंथ प्रमाणनयतत्त्वा-लोकालंकारकी मुख्य आधारभूमिका-विचार ही मेरे इस लेखका विषय है। जिस समय मैंने इस ग्रंथको देखा तो मुझे आचार्य माणिक्यनन्दीके 'परीक्षामुख' ग्रंथका स्मरण हो आया।

आचार्य माणिक्यनन्दी दिगम्बर जैनसमाज-में एक सम्माननीय विद्वान् होगये हैं। आपका समय विक्रमकी प्रायः आठवीं शताब्दि है। आपने अकलंक आदि आचार्योंके ग्रन्थोंका दोहन करके जो नवनीतामृत निकाला है वही आपके परीक्षामुख ग्रन्थमें भरा हुआ है। 'प्रमेयरत्नमाला' टीकाके कर्ता आचार्य अनन्तवीर्यने ठीक ही कहा है कि—'आपने अकलंकदेवके वचन-समुद्रका मंथन करके यह न्यायविद्याऽमृत निकाला है' ❀। जहाँ तक मुझे मालूम है जैन समाजमें न्यायशास्त्रको गद्य सूत्रोंमें गूँथने वाला यह पहला ही ग्रन्थ है। आकारमें छोटा होते हुए भी यह गंभीर सूत्रकृति आपकी विशाल प्रतिभा और विद्वत्ताकी परि-चायक है। आचार्य प्रभाचन्द्रने इस पर 'प्रमेयक-मलमार्तण्ड' नामकी एक विशाल टीका लिखी है जो बहुत ही गंभीर रहस्यको लिये हुए है और उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभाका द्योतन करती है।

इस 'परीक्षामुख' के साथ जब प्रमाणनयत-त्त्वालोकालंकार'का मिलान किया गया तो मालूम हुआ कि यह ग्रन्थ उक्त 'परीक्षामुख' को सामने रखकर ही लिखा गया है और इसमें उसका बहुत कुछ अनुसरण किया गया है। सूत्रोंके कुछ शब्दों-को ज्योंका त्यों उठाकर रक्खा गया है, कुछको आगे-पीछे किया गया है, कुछके पर्याय शब्दोंको अपना-कर भिन्नताका प्रदर्शन किया गया है और कुछ शब्दोंके स्पष्टार्थ अथवा भावार्थको सूत्रमें स्थान दिया गया है। साथ ही, कहीं कहीं पर कुछ विशे-षता भी की गई है। दोनों ग्रंथोंमें सबसे बड़े भेदकी बात यह है कि आचार्य माणिक्यनन्दीने अपने सूत्र ग्रंथको केवल न्यायशास्त्रकी दृष्टिसे ही संक-लित किया है और इसलिये उसमें आगमिक परम्परासे सम्बन्ध रखनेवाले अवग्रह, ईहा, अवाय, और धारणा तथा नयादिके स्वरूपका समावेश नहीं किया है। प्रत्युत इसके, वादिदेवसूरि-ने अपने प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकारमें न्यायदृष्टि और आगमिक परम्परासे सम्बन्ध रखनेवाले प्रायः सभी विषयोंका संग्रह किया है। इसमें ८

❀ अकलंकवचोम्बोधेरुद्दध्रे येन धीमता।
न्यायविद्यामृतं तस्मै नमो माणिक्यनंदिने॥
—प्रमेयरत्नमालायां, अनन्तवीर्यः।

परिच्छेद या अधिकार दिये हैं जबकि 'परीक्षामुख' में छह ही अध्याय हैं। उनमेंसे दो अधिकारोंका नामकरण तो वही है जो 'परीक्षामुख, के शुरूके दो अध्यायोंका है। तीसरे अधिकारमें परोक्ष-प्रमाणके स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान इन चार भेदोंका ही वर्णन किया है। चौथे अधिकारमें परोक्षप्रमाणके पाँचवें भेद 'आगम' के स्वरूपका वर्णन दिया है; जब कि 'परीक्षामुख' में परोक्षप्रमाणके उक्त पाँचों भेदों-का तीसरे अध्यायमें ही वर्णन किया है। पाँचवें अधिकारका नामकरण और विषय वही है जो परीक्षामुखके चतुर्थ अध्यायका है। छठे अधिकार-में परीक्षामुखके ५ वें और छठे अध्यायके विषयको मिलाकर रक्खा गया है। शेष दो अधिकार और दिये हैं जिनमें क्रमसे नय, नयाभास और वादका वर्णन किया है। इनका विषय परीक्षामुखमें नहीं है; परन्तु वह अकलंकादिके ग्रन्थोंसे लिया गया जान पड़ता है, जिसका एक उदाहरण इस प्रकार है—

गुणप्रधानभावेन धर्मयोरेकधर्मिणि।
विवक्षा नैगमो····················॥ ६८॥

—लघीयस्त्रये, अकलंकः

धर्मयोर्धर्मिणोर्धर्म-धर्मिणोश्च प्रधानोपसर्जनभावेन यद्विवक्षणं सनैकगमो नैगमः।

—प्रमाणनयतत्त्वा०, ७-७

उक्त दोनों ग्रन्थोंका तुलनात्मक अध्ययन करने और निष्पक्ष दृष्टिसे विचार करनेपर यह बात स्पष्ट समझमें आजाती है कि जो सरसता, गम्भीरता और न्यायसूत्रोंकी संक्षिप्त कथन-शैली परीक्षामुखमें पाई जाती है वह न प्रमाणयतत्त्वा-लोकालंकारमें कहीं भी उपलब्ध नहीं होती। इसमें अधिकांश सूत्रोंको व्यर्थही अथवा अनाव-श्यकरूपसे लम्बा किया गया है और सूत्रोंके लाघव पर यथेष्ट दृष्टि नहीं रक्खी गई है। फिर भी न्यायशास्त्रके जिज्ञासुओंके लिये यह ग्रन्थ कुछ कम उपयोगी नहींहै। विषयाधिक्य आदिके कारण यह अपनी कुछ अलग विशेषता भी रखता है।

अब मैं परीक्षामुख और प्रमाणनयतत्त्वा-लोकालंकारके कुछ थोड़से ऐसे सूत्रोंका दिग्दर्शन करा देना भी उचित समझता हूँ जिनसे पाठकों पर तुलना-विषयक उक्त कथन और भी स्पष्ट हो जाय और उन्हें इस बातका भी पता चल जाय कि वादिदेवसूरिकी प्रस्तुत रचना प्रायः परीक्षा-मुखके आधार पर उसीसे प्रेरणा पाकर खड़ी की गई है। इससे परीक्षामुखके सूत्रोंमें किये गये परिवर्तनोंका भी कुछ आभास मिल सकेगा और पाठक यह भी जान सकेंगे कि एक आचार्यकी कृतिको दूसरे आचार्य किस तरह अपनाकर सफलता प्राप्त कर सकते थे। वह दिग्दर्शन इस प्रकार है:—

"स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणं।"

—परीक्षामुख, १,१

"स्वपरव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणं।"

—प्रमाणनयतत्त्वा०, १, २

"हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत्"

—परीक्षामुख, १,२

"अभिमतानभिमतवस्तुस्वीकारतिरस्कारक्षमं हि प्रमाणमतो ज्ञानमेवेदम्।"

—प्रमाणनयतत्त्वा०, १, ३

"तन्निश्चयात्मकं समारोपविरुद्धत्वादनुमानवत् ।"

—परीक्षामुख, १,३

"तद्व्यवसायस्वभावं समारोपपरिपन्थित्वात् प्रमाणत्वाद्वा ।"

—प्रमाणनयतत्त्वा०, १, ६

"स्वोन्मुखतया प्रतिभासनं स्वस्य व्यवसायः । अर्थस्येव तदुन्मुखतया । घटमहमात्मना वेद्मि ।"

—परीक्षामुख, १, ६-७-८

"स्वस्य व्यवसायः स्वाभिमुख्येन प्रकाशनं बाह्यस्येव तदभिमुख्येन करिकलभकमहमात्मना जानामीति ।"

—प्रमाणनयतत्त्वा०,१, १६

"तद्द्वेधा । प्रत्यक्षेतरभेदात् ।"

—परीक्षामुख, २,१-२

"तद्द्विभेदं प्रत्यक्षं च परोक्षं च ।"

—प्रमाणनयतत्त्वा०, २,

"विशदं प्रत्यक्षम् । प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन विशेषवत्तया वा प्रतिभासनं वैशद्यम् ।"

—परीक्षामुख,२, ३-४

"स्पष्टं प्रत्यक्षं । अनुमानाद्याधिक्येन विशेषप्रकाशनं स्पष्टत्वम् ।"

—प्रमाणनयतत्त्वा०, २, २-३

"सामग्रीविशेषविश्लेषिताखिलावरणमतीन्द्रियमशेषतो मुख्यं ।"

—परीक्षामुख, २, ११

"सकलं तु सामग्रीविशेषतः समुद्भूतसमस्तावरणक्षयापेक्षं निखिलद्रव्यपर्यायसाक्षात्कारिस्वरूपं केवलज्ञानम्',

—प्रमाणनयतत्त्वा०, २,२४

"परोक्षमितरत् । प्रत्यक्षादिनिमित्तं स्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदं । संस्कारोद्बोधनिबन्धना तदित्याकारा स्मृतिः ।"

—परीक्षामुख, ३,१-२-३

"अस्पष्टं परोक्षं स्मरणप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदतस्तत्पञ्चप्रकारं तत्र संस्कारप्रबोधसंभूतमनुभूतार्थविषयं तदित्याकारं संवेदनं स्मरणम् ।"

— प्रमाणनयतत्त्वा०,३,१

"साध्य व्याप्तं साधनं यत्र प्रदर्श्यते सोऽन्वयदृष्टान्तः।"

—परीक्षामुख, ३,४३

"यत्र साधनधर्मसत्तायामवश्यं साध्यधर्मसत्ता प्रकाश्यते स साधर्म्यदृष्टान्तः ।"

—प्रमाणनय०, ३, ४२

"साध्याभावे साधनाभावो यत्र कथ्यते स व्यतिरेकदृष्टान्तः ।"

—परीक्षामुख,३, ४४

"यत्र तु साध्याभावे साधनस्यावश्यमभावः प्रदर्श्यते स वैधर्म्यदृष्टान्तः ।"

—प्रमाणनयतत्त्वा०, ३, ४४

"अविरुद्धोपलब्धिर्विधौ षोढा व्याप्यकार्यकारणपूर्वोत्तरसहचरभेदात् ।"

—परीक्षामुख, ३, ५४

तत्राऽविरुद्धोपलब्धिर्विधिसिद्धौ षोढा । साध्येनाविरुद्धानां व्याप्यकार्यकारणपूर्वचरोत्तरचरसहचराणामुपलब्धिरिति ।"

—प्रमाणनयतत्त्वा०, ३, ६४-६५,

"आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः ।"

—परीक्षामुख, ४, १

"आप्तवचनादाविर्भूतमर्थसंवेदनमागमः ।"

—प्रमाणनयतत्त्वा०,४, १

"शंकितवृत्तिस्तु नास्ति सर्वज्ञो वक्तृत्वात् ।"

—परीक्षामुख,६, ३३

"संदिग्धविपक्षवृत्तिको यथा विवादापन्नः पुरुषः सर्वज्ञो न भवति ।"

—प्रमाणनयतत्त्वा०, ६, ५७

ये कुछ थोड़ेसे नमूने हैं । लेखवृद्धिके भयसे अधिक सूत्रोंको नहीं दिया जा रहा है । अधिक जाननेके लिये पाठकोंको दोनों ग्रंथोंको सामने रखकर पढ़ना होगा ।

वीरसेवामंदिर, सरसावा,

ता० १८-६-१९३९

वीरसेवामन्दिर, उसका काम और भविष्य

[ले०—बा० माईदयाल जैन बी० ए० (ऑनर्स) बी०टी०]
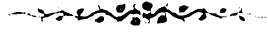
भण्डारकर इन्स्टीट्यूट (Bhandarkar Institute) पूनाका नाम शास्त्रसंग्रह, साहित्यिक-खोज, पुरातत्व-सम्बन्धी अनुसंधानके लिए आज भारतवर्षमें ही नहीं, किन्तु सारे संसारमें विख्यात है। यह संस्था संस्कृत साहित्य तथा भारतीय इतिहासके लिए कितना काम कर रही है,इसका अन्दाजा इस बातसे लगाया जासकता है कि आज वहाँ पचासों उच्चकोटिके विद्वान अनुसंधान-कार्यमें लगे हुए हैं, वहाँसे निकलनेवाली ग्रन्थ-मालाएँ प्रमाण मानी जाती हैं, और किसी भी विद्वानको जब भारतीय विद्याओंके बारेमें कुछ गहरी खोज करनेकी आवश्यकता पड़ती है, तब उसे भण्डारकर इन्स्टीट्यूट पूनाकी शरण लेनी पड़ती है। जैन-समाजके विद्वानोंको भी प्राचीन जैन ग्रन्थोंके वास्ते यदि वहाँ जाना आना पड़े तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

यह संस्था ६७ जुलाई सन् १९१७ ईस्वीको सर रामकृष्ण भण्डारकरकी ८० वीं वर्षगांठके अवसर पर भण्डारकर महोदयके उच्च कार्य और ध्येयको जारी रखनेके लिए बम्बई तथा दक्षिणके विद्वानों और दातारोंने स्थापित की थी और इसका उद्घाटन बम्बई-गवर्नर लार्ड वेलिंगटनने किया था। यह संस्था अपने महान आदर्शोंके अनुसार अबतक बराबर काम कर रही है।

जैन-समाजमें अनुसंधानादि-विषयक ऐसे उपयोगी कामोंकी तरफ कुछ भी रुचि नहीं है। लक्ष्मी और सरस्वतीका विख्यात वैर जैन-समाजमें मोटे रूपसे हर स्थान पर दिखाई देता है। फिर धन-प्रेमी अशिक्षित जैन-समाज विद्या तथा अनुसंधानके केन्द्रोंकी आवश्यकता या महत्वको अनुभव न करे तो आश्चर्यकी कोई बात नहीं है। इस लापर्वाही और उपेक्षाभावके कारण जैन समाजने अपनी जो हानि की है उसकी क्षतिपूर्ति होना तो कठिन है ही, पर साथ ही उसने अपने लिए ज्ञानके स्रोतोंको जो बन्द करलिया और अपनी महाशास्त्र-सम्पत्तिको अपनी ग़लतीसे नष्ट होने दिया वह बड़ी ही चिन्ताका विषय है। देवगुरु-शास्त्रकी पूजाके संस्कृत-हिन्दी पाठ प्रतिदिन करना एक बात है, और उनका सच्चा सम्मान करना उनके सिद्धान्तोंका प्रचार करना और उनपर चलना दूसरी बात है।

इतनी उपेक्षाके होते हुए भी कुछ सज्जनोंके प्रयत्नसे आराका जैनसिद्धान्त-भवन, बम्बईका श्री-ऐलक पन्नालाल सरस्वती-भवन, सरसावेका वीर-सेवामन्दिर और पाटनका नवोद्घाटित ज्ञानमन्दिर जैनसमाजमें क़ायम हो सके हैं। इनकी तुलना भण्डारकर इन्स्टीट्यूटसे करना तो दीपकका सूर्यसे मुक़ाबला करना है; परन्तु ये संस्थाएँ ऐसी ज़रूर हैं, जिनका समुचित संचालन संरक्षण संवर्द्धन, और यथेष्ट आर्थिक सहयोगसे बड़ा रूप बन सकता है।

भण्डारकर इन्स्टीट्यूटका नाम तथा उल्लेख जैन-समाजके सामने एक आदर्श रखनेके उद्देश्यसे किया गया है।

'वीरसेवामन्दिर', सरसावा, अपने ढंगकी निराली संस्था है। इसकी स्थापना जैन-समाजके सुप्रसिद्ध विद्वान पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारने अभी चार पाँच वर्ष हुए की है। यह संस्था उनके महान त्याग, मितव्ययतापूर्ण गाढी कमाई, साहित्य-प्रेम और आदर्श-प्रभावना-भावका फल है, और

इस संस्थाकी चप्पा-चप्पा जमीन और एक एक ईंट इन महान आदर्शोंकी विद्युतधाराएँ प्रवाहित करती हैं। अपने तन-मन-धन तथा सर्वस्वको मुख्तारजीने इस संस्थाकी स्थापना तथा संचालनमें लगा दिया है। जैन समाज पर उनका यह कितना बड़ा ऋण तथा उपकार है इसको आज भले ही कोई न समझ सके, पर भविष्यके इतिहासकार एक स्वरसे इसकी प्रशंसा किये बिना न रहेंगे। इससे अधिक यहाँ और कुछ लिखना अनुचित समझा जासकता है।

वीरसेवामन्दिर सरसावामें इस समय ग्रन्थ-संग्रह, ग्रंथ-सम्पादन, अनेकान्त (पत्र) सम्पादन, ग्रन्थ-प्रकाशन, कन्या-विद्यालय-संचालन और अनुसंधान तथा ग्रन्थनिर्माणादिका काम हो रहा है। दो-चार विद्वान जो वहाँ काम कर रहे हैं, परोक्ष रूपसे उनकी इन कामोंमें ट्रेनिंग भी होरही है। कन्या पाठशाला तथा औषधालयके काम स्थानीय उपयोगके हैं; परन्तु बाकीके सब काम समस्त जैन-समाजके उपयोगके लिए हैं, और इसप्रकार वीरसेवामन्दिर तमाम जैनसमाजकी सेवा कर रहा है। यदि यह कहा जाय कि रूपान्तरसे वीरसेवामन्दिर भारतवर्षकी सेवा कर रहा है तो कोई अतिशयोक्ति न होगी।

ऊपर लिखे सब काम ठोस हैं। उनसे जैन साहित्यकी रक्षा होगी, जैनसिद्धान्तोंका प्रकाशन होगा और जैनइतिहासके निर्माणमें सहायता मिलेगी, साथ ही जैनधर्म, जैनसाहित्य तथा जैन इतिहासके विषयमें जो भ्रम फैले हुए हैं वे दूर होंगे और इनका सच्चा स्वरूप जनता तथा विद्वानोंके सामने आएगा। यह काम कुछ कम महत्वका नहीं है।

कामको देखते हुए संस्थाका भविष्य उज्ज्वल होना ही चाहिए। परन्तु जैनसमाजमें प्रायः अच्छीसे अच्छी संस्थाके बारेमें भी यह नहीं कहा जासकता कि वह सुरक्षित है और उसकी नींव सुदृढ है। इसलिए यह आवश्यक है कि वीरसेवामन्दिर सरसावेका काम सुचारू रूपसे भविष्यमें चलता रहे तथा उसके संस्थापकका उद्देश्य पूरा होकर जैनसमाजकी सेवा होती रहे। मुख्तार साहबके मित्रों तथा वीरसेवामन्दिरके हितचिंतकोंका कुछ लक्ष्य इधर है, यही संतोषकी बात है। समाजके विद्वानोंका कर्तव्य है कि वे इस संस्थामें स्वयं दिलचस्पी लें, समाजको इसका महत्व तथा उपयोग समझावें और इसकी हर प्रकारसे सहायता कराएँ।

सहायताके रूप निम्न लिखित हो सकते हैं:—

(१) प्राचीन तथा नवीन ग्रन्थ भेंट करना।

(२) ऐतिहासिक तथा साहित्यिक पत्र भेंट करना।

(३) पुरातत्व सम्बन्धी सरकारी रिपोर्टें दान करना।

(४) ग्रंथोंको रखनेके लिए अलमारियां और यदि होसके तो महत्वपूर्ण प्राचीन ग्रन्थोंके लिए वाटरप्रूफ तथा फायरप्रूफ अल्मारियाँ देना।

(५) अनेकान्तके ग्राहक बनाना तथा उसमें महत्वके लेख देना।

(६) सेवामन्दिरमें दस-बीस विद्वानोंके रहनेकी व्यवस्था करना।

(७) विद्वानोंके रहने आदिके लिये कुछ कार्टर्स (मकान) बनवा देना।

(८) अपनी सेवाएँ तथा समय देना।

(९) खर्चके लिए अच्छी आर्थिक सहायता प्रदान करना और कराना।

(१०) कन्या विद्यालयके लिये सुयोग्य अध्यापकाओं तथा संरक्षिकाओंका ऐसा समुचित प्रबन्ध करना जिससे बाहरकी कन्याएँ भी भर्ती होकर यथेष्ट विद्या लाभ कर सकें।

आशा है जैनसमाज इस ओर ध्यान देगा और इस प्रकारकी संस्थाओंकी आवश्यकता तथा उपयोगिताको समझकर उनको जरूर अपनाएगा।
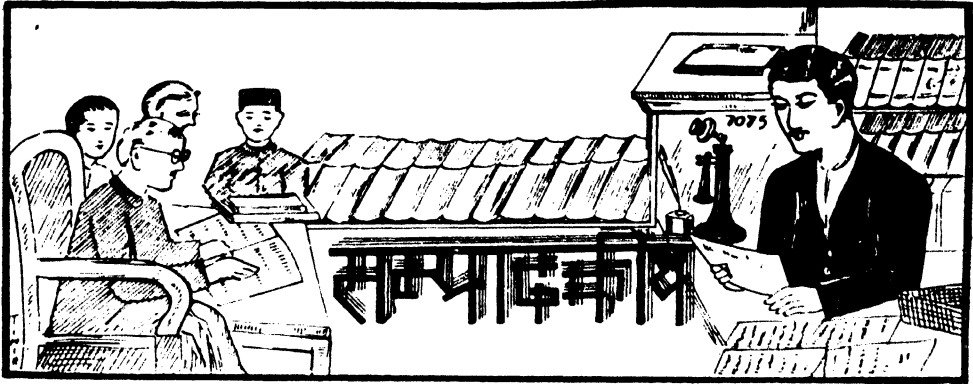
वीरशासन-जयन्ती और उसके उत्सव

वीरशासन जयन्तीका आन्दोलन इस वर्ष पिछले वर्षसे भी अधिक रहा। कितने ही पत्र सम्पादकोंने उसमें अच्छा भाग लिया—उसकी विज्ञप्तिको अपने पत्रोंमें स्थान ही नहीं दिया बल्कि अपने अग्रलेखादिकों द्वारा वीरशासन दिवसकी महत्ता और उसको उत्सवादि सहित मनानेकी आवश्यकता पर ज़ोर दिया तथा अपने अपने पाठकोंको यह प्रेरणा की कि वे श्रावण कृष्ण प्रतिपदाकी उस पुण्य तिथिके दिन वीरशासनके महत्त्व और उसके उपकारका विचार कर उसके प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करें, उसे अपने जीवनमें उतारें और भाषणों तथा तद्विषयक साहित्यके प्रचार-द्वारा उसका संदेश सर्व साधारण जनता तक पहुँचाकर उसे उसके हितमें सावधान करें। फलतः बहुतसे स्थानों पर जलसे किए गये, प्रभात फेरियां की गईं, जलूस निकाले गये, झंडे फहराये गये सभाएँ की गईं और वीरशासनपर अच्छे अच्छे भाषण कराये गये, जिनकी रिपोर्टें आरही हैं और पत्रोंमें भी प्रकाशित होरही हैं। उन सबको यहाँ नोट करना अशक्य है। वीरसेवामंदिरमें भी दो दिन खूब आनन्द रहा—जिसकी रिपोर्ट दूसरे पत्रोंमें निकल चुकी है। जिन सज्जनोंने किसी भी तरह इस शुभ कार्यमें भाग तथा वीरसेवामंदिरमें आने आदिका कष्ट उठाया है, उन सबका मैं हृदयसे आभारी हूँ।

इस वर्ष वीरसेवामंदिरमें वीरशासन पर विद्वानोंके लेख मँगानेका खास प्रयत्न किया गया है जिसके फलस्वरूप कई महत्त्वके लेख प्राप्त हुए हैं। प्राप्त लेखों में से कुछ तो वीर शासनाङ्कके लिये रिजर्व रक्खे गये हैं और कुछ इस अङ्कमें प्रकाशित होरहे हैं। जिन विद्वानों-ने अभी तक भी अपने लेख पूरे करके भेजनेकी कृपा नहीं की, उनसे निवेदन है कि वे शीघ्र ही पूरा करके भेजदें जिससे वीरशासनाङ्कमें उन्हें योग्य स्थान दिया जासके।

२ अनेकान्तका विशेषाङ्क

'वीरशासनाङ्क' के नामसे अनेकान्तका विशेषाङ्क निकालनेका जो विचार चल रहा था वह दृढ हो गया है। यह सचित्र अंक अच्छा दलदार होगा और पिछले विशेषाङ्कसे भी बड़ा होगा। इसमें अच्छे अच्छे विद्वानों-के महत्त्वपूर्ण लेख रहेंगे और उनके द्वारा कितनी ही महत्त्वकी ऐसी बातें पाठकोंके सामने आएँगी, जिनका उन्हें अभी तक प्रायः कोई पता नहीं था। सबसे बड़ी विशेषता यह होगी कि इस अंकसे धवलादि श्रुतपरिचय' को मूल सूत्रादि सहित निकालना प्रारम्भ किया जायगा और इस अंकमें उसके कमसे कम आठ पेज ज़रूर रहेंगे। साथ ही, सामग्रीके संकलनरूप 'ऐतिहासिक जैनकोश' का भी निकालना प्रारम्भ किया जायगा और उसका भी ८ पेजके रूपमें प्रायः एक फार्म जुदा रहेगा। इस कोशमें महावीर भगवानके समयसे लेकर प्रायः अब तकके उन सभी दि० जैन मुनियों आचार्यों, भट्टारकों, संघों, गणों, विद्वानों, ग्रन्थकारों, राजाओं, मंत्रियों और दूसरे खास खास जिनशासन-सेवियोंका उनकी कृतियों सहित संक्षेपमें वह परिचय रहेगा जो अनेक ग्रंथों, ग्रंथ प्रशस्तियों, शिलालेखों

और ताम्रपत्रादिकमें बिखरा हुआ पड़ा है। इससे भारतीय ऐतिहासिक क्षेत्रमें कितना ही नया प्रकाश पड़ेगा। और फिर एक व्यवस्थित जैन इतिहास सहज ही में तय्यार होसकेगा। इसके सिवाय, जो 'जैन-लक्षणावली' वीरसेवामन्दिरमें दो ढाई वर्षसे तय्यार हो रही है उसका एक नमूना भी सर्वसाधारणके परिचय तथा विद्वानोंके परामर्शके लिये साथमें देनेका विचार है, जो प्रायः एक फार्मका होगा।

इस तरह यह अंक बहुत ही उपयोगी तथा महत्व की सामग्रीसे सुसज्जित होगा। इस अंकका छपना जल्दी ही प्रारंभ होनेवाला है; क्योंकि छपनेमें भी काफी समय लगेगा? अतः जिन विद्वानोंने अभी तक भी लेख न लिखे हों उनसे सानुरोध निवेदन है कि वे अब इस अंकके लिये अपने लेख शीघ्र ही लिखकर भेजनेकी कृपा करें, और इस तरह इस शासनसेवाके कार्यमें मेरा हाथ बटाकर मुझे अधिकाधिक सेवाके लिये प्रोत्साहित करें। लेख जहाँ तक भी हो सके एक महीनेके भीतर आजाने चाहियें। जिससे उन्हें योग्य स्थान दिया जासके।

—❀—

वीर-सेवा-मंदिरके प्रति मेरी श्रद्धाञ्जलि
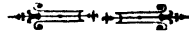
इस महान् मंदिरके दर्शनोंकी मेरी अभिलाषा कई वर्षसे है। देखना है कि भाग्य और पुरुषार्थ दोनोंका ज़ोर कब ठीक बैठता है और दर्शन, सेवाका सौभाग्य मुझे किस शुभ संवत्में प्राप्त होता है।

सेवामंदिर सेवकोंका तीर्थस्थान है, आश्रय है, उपाश्रय है, आश्रम है, उसका द्वार सच्चे सेवकोंके लिये रातदिन चौबीसों घण्टे खुला है; और वहाँ हज़ारों लाखों सेवकोंके लिये शान्तिस्थान, पुण्यक्षेत्र धर्मक्षेत्र है।

यह पवित्र स्थान उन वीर-सेवकोंके लिये है जो वीर-भक्त और स्वयं वीर हों—रूढ़ि-भक्त उदरपोषक, धनसेवक-गृहपालकोंको वहाँ जाकर आराम न मिलेगा। शुरूमें यदि वहाँके वातावरणसे वे प्रभावित हो गए तो फिर निरन्तर ही सुख-शान्तिका दौर-दौरा है।

यह सेवकोंका मन्दिर है। सेवकोंको सेवकोंके दर्शन होते हैं। दर्शनके प्रतापसे अपनी सेवा करने वाला स्वार्थसेवी स्वयंसेवक उन्नतिपथपर आरूढ हो, परसेवक और जनसेवक बन जाता है—आप तिरता है और औरोंको तारता है।

यहाँ बुड्ढे शिशु पंचाणुव्रतसाधनकी वर्णमाला, कषाय-शमनकी बारा‌खड़ी पढ़ते पढ़ते यथाख्यात चारित्रके पदकी प्राप्तिके उद्देश्यसे आते हैं।

जिसको आना हो, कमर कसके आवे; रास्ता हल्का करनेको गीत गाता चले—

"गुण-ग्रहणका भाव रहे नित, दृष्टि न दोषों पर जावे"

अजिताश्रम, लखनऊ
हाल भुवाली शैल, ता० २८-६-३९

अजितप्रसाद
(एडवोकेट)

वीर-सेवामंदिरको सहायता

हालमें वीरसेवा-मंदिर सरसावाको उसके कन्या विद्यालयकी सहायतार्थ, निम्न सज्जनोंकी ओरसे ३५) रु०की सहायता प्राप्त हुई है, जिसके लिये दातार महाशय धन्यवादके पात्र हैं :—

१०) श्रीमती राजकलादेवी धर्मपत्नी बाबू पदमप्रसादजी जैन रिटायर्ड ओवरसियर नकुड़ जि० सहारनपुर, मार्फत श्रीमती वर्फीदेवीजी।

५) ला० केवलराम उग्रसैन जैन रईस, जगाधरी जि० अम्बाला (पुत्र विवाहकी खुशीमें)

५) ला० शिखरचन्दजी जैन; किरतपुर जि० बिजनौर (चि० पुत्र महेन्द्रकुमारके विवाहकी खुशीमें)

१०) ला० जम्बूप्रसादजी जैन रईस नानौता जि० सहारनपुर (चिरंजीव पुत्र महेन्द्रकुमारके विवाहकी खुशीमें)

५) ला० उल्फतराय जैन सोनीपत और पं० मुनिसुव्रत दास जैन पानीपत (चि० पुत्र पदमकुमार और कौशल्यादेवीके विवाहकी खुशीमें) मार्फत पं० रूपचन्दजी जैन गार्गीय पानीपत

३५)

अधिष्ठाता वीर-सेवा-मंदिर
सरसावा जि. सहारनपुर

Regd. No. L. 4328

क्या आपने सुना ?

बम्बई और इलाहाबाद

जैसा

सुन्दर, स्वच्छ, मनमोहक और शुद्ध

हिन्दी-अँग्रेज़ीकी छपाईका

समुचित प्रबन्ध

वीर प्रेस आफ इण्डिया,

न्यू देहलीमें

किया गया है।

ग्राहककी रुचि और समयकी पाबन्दीका ख्याल रखना हमारी विशेषता है।

आप भारतके किसी भी कोनेमें बैठे हों आपकी छपाईका काम आपके आदेश और रुचिके अनुसार होगा।

आपको इस तरहकी सहूलियत होगी मानो आपका निजी प्रेस है।

परामर्श कीजिये

बालकृष्ण एम.ए.

मैनेजिंग डायरेक्टर

श्री वीर प्रेस आफ इण्डिया लिमिटेड

कनाट सर्कस, न्यू देहली।

नेमचन्द जैन [illegible] प्रबन्धसे 'वीर प्रेस आफ इण्डिया' कनाट सर्कस न्यू देहलीमें छपा।

❀ विषय-सूची ❀

पृष्ठ

वीर-सेवा-मन्दिरको सहायता

हालमें वीरसेवामन्दिर सरसावाको निम्न सज्जनोंकी ओरसे १०॥—) की सहायता प्राप्त हुई है, जिसके लिये दातार महाशय धन्यवादके पात्र हैं:—

४) श्रीमती जयवन्तीदेवी धर्मपत्नी ला० कैलाशचन्दजी जैन रईस बाड़िया जि० अम्बाला।

२॥—) ला० नानकचन्द त्रिलोकचन्दजी जैन सरसावा (पुत्रीके विवाहकी खुशीमें)

४) पं० हीरालालजी जैन न्यायतीर्थ, अध्यापक हीरालाल जैन हाईस्कूल, पहाड़ी धीरज, देहली।
(आपने १६ दिन तक वीरसेवामन्दिरमें ठहर कर लाभ लिया)

—————

१०॥—)

(भादों माससे सर्व सज्जनोंको इस संस्थाका ध्यान रखना चाहिये।

अधिष्ठाता वीर-सेवा-मन्दिर
सरसावा जि० सहारनपुर

प्रकाशकीय—

१ अगस्तसे निरन्तर प्रवासमें रहनेके कारण 'अनेकान्त' की ११वीं किरणकी देखभाल नहीं रख सका हूं और १२वीं किरणकी भी देखभाल नहीं कर सकूंगा। कृपालु पाठकोंके समक्ष इस लाचारीके लिए क्षमा प्रार्थी हूं।

विनीत—
—अ. प्र. गोयलीय

ॐ अर्हम्

नीति-विरोध-ध्वंसी लोक-व्यवहार-वर्त्तकः सम्यक् ।
परमागमस्य बीजं भुवनैकगुरुर्जयत्यनेकान्तः ॥

वर्ष २	सम्पादन-स्थान—वीर-सेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम) सरसावा, जि० सहारनपुर प्रकाशन-स्थान—कनॉट सर्कस, पो० ब० नं० ४८, न्यू देहली भाद्रपद कृष्ण, वीरनिर्वाण सं० २४६५, विक्रम सं० १९९६	किरण ११

समन्तभद्र-माहात्म्य

वन्द्यो भस्मक-भस्मसात्कृतिपटुः पद्मावतीदेवता-
दत्तोदात्तपद-स्वमंत्रवचन-व्याहूत-चन्द्रप्रभः ।
आचार्यस्स समन्तभद्रगणभृद्येनेह काले कलौ
जैनं वर्त्म समन्तभद्रमभवद्भद्रं समन्तान्मुहुः ॥

—श्रवणबेलगोल शि० लेख ५४ (६७)

मुनिसंघके नायक वे आचार्य समन्तभद्रवन्दना किये जानेके योग्य हैं जो अपनी 'भस्मक' व्याधिको भस्मीभूत करनेमें—बड़ी युक्तिके साथ निर्मूल करनेमें—प्रवीण हुए हैं, पद्मावती नामकी दिव्य-शक्तिके प्रभावसे जिन्हें उच्चपदकी प्राप्ति हुई थी, जिन्होंने अपने मंत्ररूप वचनबलसे—योगसामर्थ्य-से—बिम्बरूपमें चन्द्रप्रभ भगवानको बुला लिया था—अर्थात् चन्द्रप्रभ-बिम्बका आकर्षण किया था और जिनके द्वारा सर्वहितकारी जैनमार्ग (स्याद्वादमार्ग) इस कलिकालमें पुनः सब ओरसे भद्ररूप हुआ है—उसका प्रभाव सर्वत्र व्याप्त होनेसे वह सबका हित करनेवाला और प्रेमपात्र बना है।

† श्रीमूलसंघ व्योम्नेन्दुर्भारते भावितीर्थकृत् ।
देशे समन्तभद्राख्यो मुनिर्जीयात्पदर्द्धिकः ॥

—विक्रान्तकौरवे, हस्तिमल्लः

† यह पद्य कवि अय्यपार्यके 'जिनेन्द्रकल्याणाभ्युदय' में भी प्रायः ज्योंका त्यों पाया जाता है। उसमें चौथा चरण 'जीयात्प्राप्तपदर्द्धिकः' दिया है।

श्रीमूलसंघरूपी आकाशमें जो चन्द्रमाके समान हुए हैं, भारतदेशमें आगेको तीर्थंकर होनेवाले हैं और जिन्हें 'चारण' ऋद्धिकी प्राप्ति थी—तपके प्रभावसे आकाशमें चलनेकी ऐसी शक्ति उपलब्ध हो गई थी जिसके कारण वे, दूसरे जीवोंको बाधा न पहुँचाते हुए, शीघ्रताके साथ सैंकड़ों कोस चले जाते थे वे 'समन्तभद्र' नामके मुनि जयवन्त हों—उनका प्रभाव हमारे हृदय पर अंकित हो।

कुवादिनः स्वकान्तानां निकटे परुषोक्तयः।
समन्तभद्र-यत्यग्रे पाहि पाहीति सूक्तयः॥

—अलंकारचिन्तामणौ, अजितसेनाचार्यः

(समन्तभद्र-कालमें) प्रायः कुवादीजन अपनी स्त्रियोंके सामने तो कठोरभाषण किया करते थे—उन्हें अपनी गर्वोक्तियाँ अथवा बहादुरीके गीत सुनाते थे—परन्तु जब समन्तभद्र यतिके सामने आते थे तो मधुरभाषी बन जाते थे और उन्हें 'पाहि पाहि'—रक्षा करो रक्षा करो, अथवा आप ही हमारे रक्षक हैं—ऐसे सुन्दर मृदुवचन ही कहते बनता था—यह सब स्वामी समन्तभद्रके असाधारण व्यक्तित्वका प्रभाव था।

श्रीमत्समन्तभद्राख्ये महावादिनि चागते।
कुवादिनोऽलिखन्भूमिमंगुष्ठैराननताननाः॥

—अलंकारचिन्तामणौ, अजितसेनः

जब महावादी समन्तभद्र (सभास्थान आदिमें) आते थे तो कुवादिजन नीचा मुख करके अंगूठोंसे पृथ्वी कुरेदने लगते थे—अर्थात् उन लोगों पर—प्रतिवादियों पर—समन्तभद्रका इतना प्रभाव पड़ता था कि वे उन्हें देखते ही विषण्ण-वदन हो जाते और किंकर्तव्यविमूढ़ बन जाते थे।

‡ *अवटुतटमटति झटिति स्फुटपटुवाचाटधूर्जटेर्जिह्वा।*
वादिनि समन्तभद्रे स्थितवति का कथाऽन्येषाम्॥

—अलंकारचिन्तामणौ, विक्रान्तकौरवे च

वादी समन्तभद्रकी उपस्थितिमें, चतुराईके साथ स्पष्ट शीघ्र और बहुत बोलनेवाले धूर्जटिकी—तन्नामक महाप्रतिवादी विद्वानकी—जिह्वा ही जब शीघ्र अपने बिलमें घुस जाती है—उसे कुछ बोल नहीं आता—तो फिर दूसरे विद्वानोंकी तो कथा ही क्या है? उनका अस्तित्व तो समन्तभद्रके सामने कुछ भी महत्व नहीं रखता।

‡ यह पद्य शकसंवत् १०५० में उत्कीर्ण हुए श्रवणबेल्गोलके शिलालेख नं० ५४ (६७) में भी थोड़ेसे परिवर्तनके साथ पाया जाता है। वहाँ 'धूर्जटेर्जिह्वा'के स्थान पर 'धूर्जटेरपि जिह्वा' और 'सति का कथाऽन्येषां' की जगह 'तव सदसि भूप कास्थाऽन्येषां' पाठ दिया है, और इसे समन्तभद्रके वादारंभ-समारंभ समयकी उक्तियोंमें शामिल किया है। पद्यके उस रूपमें धूर्जटिके निरुत्तर होने पर अथवा धूर्जटिकी गुरुतर पराजयका उल्लेख करके राजासे पूछा गया है कि धूर्जटि जैसे विद्वान्‌की ऐसी हालत होनेपर अब आपकी सभाके दूसरे विद्वानोंकी क्या आस्था है? क्या उनमेंसे कोई वाद करनेकी हिम्मत रखता है?
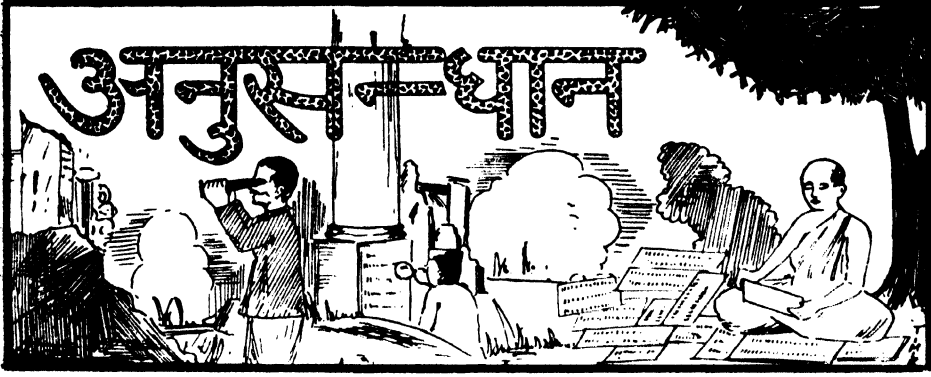
जैन और बौद्धधर्म एक नहीं

[ले०—श्री० जगदीशचन्द्र जैन एम.ए., प्रोफेसर रुइया कालेज, बम्बई]

बहुत दिनोंसे कुछ मित्रोंकी इच्छा थी कि ब्रह्मचारी सीतलप्रसादजीने "जैन-बौद्ध तत्त्वज्ञान" नामकी पुस्तकमें जो जैन और बौद्धधर्मके ऐक्यके विषयमें अपने नये विचार प्रकट किये हैं, उनपर मैं कुछ लिखूं। उक्त पुस्तकको प्रकाशित हुए बहुतसा समय निकल गया। किंतु लिखनेकी इच्छा होते हुए भी कार्य-भारसे मैं इस ओर कुछ भी न कर सका। अभी कुछ दिन हुए मुझे बम्बई युनिवर्सिटीके एक एम० ए० के विद्यार्थीको पाली पढ़ानेका अवसर प्राप्त हुआ। मेरी इच्छा फिरसे जागृत होउठी, और अब श्रीमान् पंडित जुगलकिशोरजी-के पत्रसे तो मैं अपने लोभको संवरण ही न कर सका।

ब्रह्मचारी सीतलप्रसादजी और उक्त पुस्तक पर सम्मतिदाता बाबू अजितप्रसादजी वकीलका कथन है कि "बौद्धमतके सिद्धांत जैन सिद्धांतसे बहुत मिल रहे हैं"। "जैन व बौद्धमें कुछ भी अन्तर नहीं है। चाहे बौद्धधर्म प्राचीन कहें या जैनधर्म कहें एक ही बात है"। इन महानुभावोंका कथन है कि "जीव तत्त्वके ध्रुवरूप अस्तित्वमें और शाश्वत मोक्षकी प्राप्तिमें बौद्ध और जैनागममें विरोध नहीं है"। हम यहाँ पाठकोंको यह बताना चाहते है कि उक्त विचार अत्यंत भ्रामक हैं। जैनधर्मको उत्कृष्ट और प्राचीन सिद्ध करनेके लिये इस तरहके विचारोंको जनतामें फैलाना, यह जैन और बौद्ध दोनों ही धर्मोंके प्रति अन्याय करना है। ब्रह्मचारीजी "बौद्ध ग्रंथोंके इंग्रेज़ी उल्थे पढ़कर" तथा "सीलोनके कुछ बौद्ध साधुओंके साथ वार्त्तालाप करने" मात्रसे ही उक्त निर्णय पर पहुँच गये हैं। सचमुच ब्रह्मचारीजी अपने उक्त क्रान्तिकारक (!) विचारोंसे अकलंक आदि जैन विद्वानोंकी भी अवहेलना कर गये हैं। नीचेकी बातोंसे स्पष्ट होगा कि ब्रह्मचारीजीके निष्कर्ष कितने निर्मूल हैं।

सबसे प्रथम बात तो यह है कि जैन परम्परामें इतने विद्वान हुए, पर किसीने कहीं भी जैन और बौद्ध धर्मकी आत्मा और निर्वाण-संबंधी मान्यताओंकी समानताका उल्लेख नहीं किया। शायद ब्रह्मचारीजीको ही सबसे पहले यह अनोखी सूझ सूझी हो। इतना ही

नहीं, जैन विद्वानोंने बौद्धोंके आचार, उनकी आत्मा और निर्वाण-संबंधी मान्यताओंका घोर विरोध किया है। अकलंकदेवने राजवार्तिक आदिमें रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इन पंचस्कंधोंके निरोधसे अभावरूप जो बौद्धोंने मोक्ष माना हैं, उसका निरसन किया है, और आगे चलकर द्वादशांगरूप प्रतीत्यसमुत्पाद (पटिच्च-समुप्पाद) का निराकरण किया है। अब ज़रा ब्रह्मचारी जीके शब्दों पर ध्यान दीजिये—

"संसारमें खेल खिलाने वाले रूप, संज्ञा, वेदना, संस्कार व विज्ञान जब नष्ट हो जाते है, तब जो कुछ शेष रहता है, वही शुद्ध आत्मा है । शुद्ध आत्माके संबंधमें जो जो विशेषण जैन शास्त्रोंमें है, वे सब बौद्धोंके निर्वाणके स्वरूपसे मिल जाते हैं । निर्वाण कहो या शुद्ध आत्मा कहो एक ही बात है। दो शब्द हैं,वस्तु दो नहीं हैं"।

एक ओर अकलंकदेव बौद्धोंके अभावरूप मोक्षका खंडन करते हैं दूसरी ओर ब्रह्मचारीजी उसे जैनधर्म-द्वारा प्रतिपादित बताकर उसकी पुष्टि करते हैं।

ब्रह्मचारीजीने अपनी उक्त पुस्तकमें जैन और बौद्ध पुस्तकोंके अनेक उद्धरण देकर जैन और बौद्धोंकी आत्म-संबंधी मान्यताको एक बतानेका निष्फल प्रयत्न किया है। किंतु हम यह बता देना चाहते हैं कि दोनों धर्मोंकी आत्माकी मान्यतामें आकाश पातालका अंतर है। यदि महावीर आत्मवादी हैं—उनका सिद्धांत आत्मा-की ही भित्तिपर खड़ा है तो बुद्ध अनात्मवादी है और उनका सिद्धांत अनात्मवादके बिना ज़रा भी नहीं टिक सकता। महावीरने सर्व प्रथम आत्माके ऊपर ज़ोर दिया है और बताया है कि आत्मशुद्धिके बिना जीवका कल्याण होना असंभव है ,और वस्तुतः इसीलिये जैनधर्ममें सात तत्त्वों-का प्रतिपादन किया है। तथा बौद्धधर्ममें इसके विपरीत ही है। बुद्धके 'सर्वं दुःखं, सर्वं क्षणिकं, सर्वं अनात्मं' सिद्धांतोंकी भित्ति अनात्मवादके ही ऊपर स्थित है। बुद्धके अष्टांग मार्गमें भी आत्माका कहीं नाम नहीं आता। वहाँ केवल यही बताया गया है कि मनुष्यको सम्यक् आचार-विचारसे ही रहना चाहिये । इतना ही नहीं, बल्कि बुद्धने स्पष्ट कहा है कि मैं नित्य आत्माका उपदेश नहीं करता, क्योंकि इससे मनुष्यको आत्मा ही सर्वप्रिय हो जाती है और उससे मनुष्य उत्तरोत्तर अहंकारका पोषण कर दुःखकी अभिवृद्धि करता है । इसलिये मनुष्यको आत्माके झमेलेमें न पड़ना चाहिये इसी बातको तत्त्वसंग्रह-पंजिकाकारने कितनी सुन्दरतासे अभिव्यक्त किया है:—

साहंकारे मनसि न शमं याति जन्मप्रबंधो ।
नाहंकारश्चलति हृदयादात्मदृष्टौ च सत्यां ॥
अन्यः शास्ता जगति भवतो नास्ति नैरात्म्यवादी ॥
नान्यस्तस्मादुपशमविधेस्त्वन्मतादस्ति मार्गः ॥

यही कारण है कि बुद्धने आत्मा आदिको 'अव्या-कत' (न कहने योग्य) कहकर उसकी ओरसे उदासीनता बताई है।

यहां बौद्धोंका आत्माके विषयमें क्या सिद्धांत है, इसपर कुछ संक्षेपमें कहना अनुचित न होगा। बौद्धोंका कथन है कि रूप, वेदना, विज्ञान संज्ञा और संस्कार इन पंचस्कंधोंको छोड़कर आत्मा कोई पृथक् वस्तु नहीं है। इस विषयपर 'मिलिन्दपण्ह' में जो राजा मिलिन्द और नागसेनका संवाद आता है, उसका अनुवाद नीचे दिया जाता है:—

"मिलिन्द—भन्ते, आपका क्या नाम है ?

नागसेन—महाराज, नागसेन। परन्तु यह व्यवहार मात्र है, कारण कि पुद्गल (आत्मा) की उपलब्धि नहीं होती।

मिलिन्द—यदि आत्मा कोई वस्तु नहीं है, तो आपको कौन पिंडपात (भिक्षा) देता है, कौन उस भिक्षाका भक्षण करता है, कौन शीलकी रक्षा करता है, और कौन भावनाओंका चिन्तवन करनेवाला है ? तथा फिर तो अच्छे, बुरे कर्मों का कोई कर्त्ता और भोक्ता भी न मानना चाहिये। आदि।

नागसेन—मैं यह नहीं कहता।

मिलिन्द—क्या रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान मिलकर नागसेन बने हैं ?

नागसेन—नहीं।

मिलिन्द—क्या पांच स्कंधोंके अतिरिक्त कोई नागसेन है ?

नागसेन—नहीं।

मिलिन्द—तो फिर सामने दिखाई देने वाले नागसेन क्या हैं ?

नागसेन—महाराज, आप यहां रथसे आये हैं, या पैदल चलकर ?

मिलिन्द—रथसे ?

नागसेन—आप यहाँ रथसे आये हैं तो मैं पूछता हूं कि रथ किसे कहते हैं ? क्या पहियोंको रथ कहते हैं ? क्या धुरेको रथ कहते हैं ? क्या रथमें लगे हुए डण्डोंको रथ कहते हैं ?

(मिलिन्दने इनका उत्तर नकारमें दिया)

नागसेन—तो क्या पहिये, धुरे, डण्डे आदिके अलावा रथ अलग वस्तु है ?

(मिलिन्दने फिर नकार कहा)

नागसेन—तो फिर जिस रथसे आप आये हैं वह क्या है ?

मिलिन्द—पहिये, धुरे, डण्डे आदि सबको मिलाकर व्यवहारसे रथ कहा जाता है; पहिये आदिको छोड़कर रथ कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं।

नागसेन—जिस प्रकार पहिये, धुरे, आदिके अतिरिक्त रथका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है, उसी तरह रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा और संस्कार इन पांच स्कंधोंको छोड़कर नागसेन कोई अलग वस्तु नहीं है।"

'विसुद्धिमग्ग'में भी निम्न श्लोकद्वारा उक्त भाव ही व्यक्त किया गया है:—

दुक्खमेव हि न कोचि दुक्खितो।
कारको न किरिया व विज्जति॥
अत्थि निब्बुति न निब्बुतो पुमा।
मग्गमत्थि गमको न विज्जति।

क्या कोई जैनधर्मका अभ्यासी उक्त मान्यताको जैनधर्मकी मान्यता सिद्ध करनेका दावा कर सकता है ? यदि कोई कहे कि उक्त मान्यता बुद्धकी मान्यता नहीं; बुद्धने तो आत्माको 'अव्याकृत' कहा है, या उसके विषयमें तूष्णी भाव रक्खा है तो इसके उत्तरमें हम कहेंगे कि फिर भी बुद्धकी मान्यताको हम जैन मान्यता कभी नहीं कह सकते। महावीरने आत्माकी कभी उपेक्षा नहीं की। बल्कि उन्होंने तो डंकेकी चोटसे घोषणा की कि "**जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ**" अर्थात् जो एक (आत्मा) को जानता है, वह सब कुछ जानता है, जो इस एक तत्त्वको नहीं जानता वह कुछ भी नहीं जानता। जिसतरह जैनशास्त्रोंमें 'अणु-गुरु-देह प्रमाण' आदि लक्षणोंके साथ आत्माका विशद और विस्तृत वर्णन देखनेमें आता है क्या उस तरहका वर्णन ब्रह्मचारी जीने किसी बौद्ध ग्रन्थमें देखा है ? यदि नहीं, तो उनका दोनों धर्मोंको एक बताना आत्मवंचन है, धर्म-व्यामोह है, विडंबना है और साथ ही जैन आचार्योंकी अवमानना है।

जैन और बौद्ध धर्ममें दूसरी बड़ी भारी विषमता यह है कि बौद्ध धर्ममें मांसभक्षणका प्रतिपादन है

जबकि जैन ग्रंथोंमें कहीं इस बातका नाम-निशान भी नहीं। यह होसकता है कि बुद्धने अमुक प्राणियोंके मांस-भक्षण करनेकी आज्ञा न दी हो, जैसे यहूदी आदि धर्मोंमें भी पाया जाता है, पर मांसाहारका उन्होंने सर्वथा निषेध नहीं किया। मज्झिमनिकायके जीवकसुत्तमें जीवकने बुद्धसे प्रश्न किया है कि भगवन्! लोग कहते हैं कि बुद्ध उद्दिष्ट भोजन स्वीकार करते हैं वे उद्दिष्ट मांसका आहार लेते हैं, क्या ऐसा कहने वाले मनुष्य आपकी और आपके धर्मकी निन्दा नहीं करते, अवहेलना नहीं करते? इसके उत्तरमें बुद्ध कहते हैं—

"न मे ते कुत्तवादिनो अब्भाचिक्खंति च पन मं ते असाता अभूतेन। तीहि खो अहं जीवक ठाने हि मंसं अपरिभोगं ति वदामिः—दिट्ठं, सुतं, परिसंकितं। इमेहि खो अहं जीवक तीहि ठानेहिमंसं अपरिभोगं ति वदामि। तीहि खो अहं जीवक ठाने हि मंसं परिभोगं ति वदामिः—अदिट्ठं, असुतं, अपरिसंकितं। इमेहि खो अहं जीवक तीहि ठानेहि मंसं परिभोगं ति वदामि"

अर्थात्—यह कहने वाले मनुष्य असत्यवादी नहीं, वेधर्मकी अवहेलना करने वाले नहीं हैं; क्योंकि मैंने तीन प्रकारके मांसको भक्ष्य कहा है—जो देखा न हो (अदिट्ठ) सुना न हो (असुत), और जिसमें शंका न हो (अपरिसंकित)।

बड़ा आश्चर्य है कि बुद्धका माँस-संबंधी उक्त स्पष्ट वचन होनेपर भी ब्रह्मचारीजी उक्त वचनके विषयमें शंका करते हुए लिखते हैं "यह वचन कहाँ तक ठीक है, यह विचारने योग्य है।" भले ही उक्त कथन ब्रह्मचारीजीके विचारमें न बैठता हो, पर कथन तो अत्यंत स्पष्ट हैं। पर ब्रह्मचारीजी तो किसी भी तरह जैन और बौद्धधर्मको एक सिद्ध करनेकी धुनमें हैं। ब्रह्मचारीजीने आगे चलकर 'लंकावतार' सूत्रसे ढेरके ढेर मांस-निषेधके उद्धरण पेश किये हैं। किन्तु शायद उन्हें यह ज्ञान नहीं कि लंकावतार सूत्र महायान बौद्ध सम्प्रदायका ग्रंथ है, और वह संस्कृतमें है; जबकि बुद्धके मूल उपदेश पालीमें हैं और 'मज्झिमनिकाय' पाली-त्रिपिटकका अंश है। बौद्धधर्मके उक्त आचार-विचारकी जैनधर्मके आचारसे तुलना करना, यह लोगोंकी आँखोंमें धूल झोंकना है। वस्तुतः बात तो यह है कि बुद्ध अपने धर्मको सार्वभौमधर्म बनाना चाहते थे, और इसलिये वे मांसनिषेध की कड़ी शर्त उसमें नहीं लगाना चाहते थे। परन्तु महावीर इसके सख्त विरोधी थे।

ब्रह्मचारीजीने एक और नई खोज की है। उनका कथन है कि "बुद्धने महावीरकी नग्न मुनिचर्याको कठिन समझा, इसलिये उन्होंने वस्त्रसहित साधुचर्याकी प्रवृत्ति चलाई; तथा मध्यममार्ग जो श्रावकों व ब्रह्मचारी श्रावकोंका है, उसका प्रचार गौतम बुद्धने किया—सिद्धांत एक रक्खा।" ब्रह्मचारीजीकी स्पष्ट मान्यता है कि जैनधर्म और बौद्धधर्मके सिद्धांतोंमें कोई अंतर नहीं—अंतर सिर्फ इतना ही है कि महावीरने नग्न-चर्याका उपदेश दिया, जब कि बुद्धने सवस्त्र-चर्याका। यदि ऐसी ही बात है तो फिर बौद्धधर्म और श्वेताम्बर जैनधर्ममें तो थोड़ा भी अन्तर न होना चाहिये। किन्तु शायद ब्रह्मचारीजीको मालूम नहीं कि जितनी कड़ी समालोचना बौद्धधर्मकी दिगम्बर शास्त्रोंमें मिलती है, उतनी ही श्वेताम्बर ग्रंथोंमें भी है। महावीरकी स्तुति करते हुए अयोगव्यवच्छेद द्वात्रिंशिकामें हेमचन्द्रआचार्यने बुद्धकी दयालुताका उपहास करते हुए उनपर कटाक्ष किया है। वह श्लोक निम्न रूपसे है:—

जगत्यनुध्यानबलेन शश्वत् कृतार्थयत्सु प्रसभंभवत्सु।
किमाश्रितोऽन्यैःशरणं त्वदन्यः स्वमांसदानेन वृथाकृपालुः॥

अर्थात्—अपने उपकार-द्वारा जगतको सदा कृतार्थ करनेवाले ऐसे आपको छोड़कर अन्यवादियोंने अपने मांसका दान करके व्यर्थ ही कृपालु कहे जानेवाले की क्यों शरण ली, यह समझमें नहीं आता। (यह कटाक्ष बुद्धके ऊपर है)।

इतना ही नहीं, बुद्ध और महावीरके समयमें भी जैन और बौद्धोंमें कितना अन्तर था, कितना वैमनस्य था, यह बात पाली ग्रन्थोंसे स्पष्ट हो जाती है। यदि दोनों धर्मोंमें केवल वस्त्र रखने और न रखनेके ही ऊपर वाद-विवाद था, तो बुद्ध महावीरके अन्य सिद्धांतोंका कभी विरोध न करते; उन्हें केवल महावीर की कठिन चर्याका ही विरोध करना चाहिये था, अन्य बातोंका नहीं। 'मज्झिमनिकाय' के 'अभयराजकुमार' नामक सुत्तमें कथन है कि एकबार निगण्ठ नाटपुत्त (महावीर) ने अपने शिष्य अभयकुमारको बुद्धके साथ वाद-विवाद करनेको भेजा। अभयकुमारने बुद्धसे प्रश्न किया कि क्या आप दूसरोंको अप्रिय लगनेवाली वाणी बोलते हैं? बुद्धने विस्तृत व्याख्या करते हुए उत्तर दिया कि बुद्ध 'भूत, तच्छ (तथ्य) और अत्थसहित' वचनोंका प्रयोग करते हैं, वे वचन चाहे प्रिय हों या अप्रिय। बुद्धके उत्तरसे संतुष्ट हो अभयकुमारने कहा **'अनस्सुं निगण्ठा'** (अनश्यन् निर्ग्रन्थाः) अर्थात् निर्ग्रंथ नष्ट हो गये।

महावीर और उनके अनुयायियोंका चित्रण बौद्धोंके पाली ग्रंथोंमें किस तरह किया गया है, यह बतानेके लिये हम मज्झिमनिकायके उपालिसुत्तका सारांश नीचे देते हैं—

एकबार दीर्घतपस्वी निर्ग्रंथ बुद्धके पास गये। बुद्धने प्रश्न किया, निर्ग्रंथ ज्ञातपुत्र (महावीर) ने पाप कर्मों को रोकनेके लिये कितने दण्डोंका विधान किया है? दीर्घतपस्वीने उत्तर दिया, तीन—कायदण्ड, वचोदण्ड और मनोदण्ड। बुद्धने पूछा इन तीनोंमें किसको महासावद्यरूप कहा है? दीर्घतपस्वीने कहा कायदण्डको। बादमें दीर्घतपस्वीने बुद्धसे प्रश्न किया, आपने कितने दण्डोंका विधान किया है? बुद्धने कहा, कायकम्म, वचीकम्म और मनोकम्म; तथा इनमें मनोकम्मको मैं महासावद्यरूप कहता हूँ। इसके पश्चात् दीर्घतपस्वी महावीरके पास आये। महावीरने दीर्घतपस्वीका साधुवाद किया, और जिनशासनकी प्रभावना करनेके लिये उसकी प्रशंसा की। उस समय वहाँ गृहपति उपालि भी बैठे थे। उपालिने महावीरसे कहा कि आप मुझे बुद्धके पास जाने की अनुमति दें, मैं उनसे इस विषयमें विवाद करूँगा; तथा जैसे कोई बलवान पुरुष भेड़के बच्चेको उठाकर घुमा देता है, फिरा देता है, उसी तरह मैं भी बुद्धको हिलादूंगा, उनको परास्त कर दूंगा। इस पर दीर्घतपस्वीने महावीरसे कहा कि, भगवन्! बुद्ध मायावी हैं, वे अपने मायाजालमें अन्य तीर्थिकोंको अपना अनुयायी बना लेते हैं, अतः आप उपालिको वहाँ जानेकी अनुमति न दें। परन्तु दीर्घतपस्वीके कथनका कोई प्रभाव नहीं हुआ, और उपालि बुद्धसे शास्त्रार्थ करने चल दिये। उपालि बुद्धसे प्रश्नोत्तर करते हैं, और बुद्धके अनुयायी हो जाते हैं। अब उन्होंने अपने द्वारपालसे कह दिया कि आजसे निर्ग्रंथ और निर्ग्रंथिणियोंके लिये मेरा द्वार बन्द है, और अब यह द्वार मैंने बौद्धभिक्षु और भिक्षुणियोंके लिये खोल दिया है (**अज्जतग्गे सम्म दोवारिक, आवरामि द्वारं निगण्ठानं, निगण्ठीनं; अनावटं द्वारं भगवतो भिक्खूनं भिक्खुणीनं, उपासकानं, उपासिकानं**)। इतना ही नहीं, उपालिने द्वारपालसे कहदिया कि यदि कोई निर्ग्रंथ साधु आये तो उसे अन्दर आनेके लिये रोकना, और कहना कि उपालि आजसे

बुद्धका अनुयायी होगया है। तथा यदि वह साधु भिक्षा मांगे तो कहना कि यहीं ठहरो, तुम्हें यहीं आहार मिलेगा। महावीरने यह सब सुना और वे स्वयं एक दिन उपालिके घर आये। द्वारपालने उन्हें रोक दिया। द्वारपालने अन्दर जाकर कहा कि निगंठ नातपुत्त अपने शिष्योंको लेकर आये हैं, आपसे मिलना चाहते हैं। उपालिने उन्हें आने दिया। परन्तु उपालिने आसन पर बैठे बैठे महावीरको कहा 'आसन विद्यमान है, चाहें तो बैठिये।' दोनोंमें प्रश्नोत्तर हुआ और उपालिने बुद्धशासनको ही उत्कृष्ट बताया।

इस प्रकारके पाली साहित्यके उल्लेखोंको पढ़कर अत्यंत स्पष्ट है कि बुद्ध और महावीरका सिद्धांत एक न था, तथा उन दोनोंमें केवल चर्याका ही अंतर न था।

रात्रिभोजन-त्याग आदि दो-चार बातोंका साम्य देखलेने मात्रसे ही हम जैन और बौद्ध धर्मको एक नहीं कह सकते। ऐसे तो महाभारत आदिमें भी 'वस्त्रपूतं जलं पिबेत्' आदि उल्लेख मिलते हैं। उपनिषद्-साहित्य तो ज्ञान और तपके अनुष्ठानोंसे भरा पड़ा है। शतपथ ब्राह्मण आदि ब्राह्मण ग्रंथोंमें जगह जगह वर्षाऋतुमें एक जगह रहना, आहार कम करना आदि साधुचर्याका विस्तारसे वर्णन है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि यह सब जैनधर्म हैं। हम इतना ही कह सकने हैं कि यह सब श्रमण-संस्कृतिके चिह्न हैं। पर श्रमण-संस्कृतिमें जैनके साथ साथ बौद्ध, आजीविक आदि संप्रदाय भी गर्भित होते हैं।

जैनधर्म और बौद्धधर्ममें साम्य अवश्य है, पर उक्त बातोंमें नहीं। वह साम्य दूसरी ही बातोंमें है। आत्मा और निर्वाण-संबंधी बातोंमें तो विषमता ही है। उदाहरणके लिये कर्मसिद्धांत जैन और बौद्धका मिलता जुलता है। दोनों महापुरुष गुणकर्मसे ही मनुष्यको छोटा बड़ा मानते थे। दोनों ही महात्माओंने सर्व साधारण भाषामें अपना उपदेश दिया था। दोनों अहिंसाके ऊपर भार देते थे और पशु-वधका घोर विरोध करते थे। दोनों ब्राह्मणोंके वेदको न मानते थे। दोनोंका धर्म निवृत्तिप्रधान था। दोनों श्रमण-संस्कृतिके अंग होनेसे एक दूसरेके बहुत पास थे। किन्तु दोनोंका सिद्धांत एक न था। महावीर आत्मवादी थे, बुद्ध अनात्मवादी, महावीर कर्मोंका क्षय होनेसे अनंत चतुष्टयरूप मोक्ष मानते थे, बुद्ध शून्यरूप-अभावरूप। महावीरका शासन तप-प्रधान था, बुद्धका ज्ञानप्रधान।

हमारी समझमें विना सोचे समझे ऐसे साहित्यका सर्जन करना, साहित्यकी हत्या करना है। और एक आश्चर्य और है कि ऐसा साहित्य जैन समाजमें खप भी बहुत जल्दी जाता है। अभी तक किसी महानुभावने उक्त पुस्तकके विरोधमें कुछ लिखा हो, यह सुननेमें नहीं आया। अभी सुना है कि ब्रह्मचारीजीने जैनधर्म और अरिस्टोटल (अरस्तू) के विषयमें कुछ लिखा है, और शायद अरिस्टोटलको भी जैन बनानेका प्रयत्न किया गया है। आशा है इस लेखके पढ़नेसे पाठकोंमें जैनधर्म और बौद्धधर्मके तुलनात्मक अभ्यास करनेकी कुछ अभिरुचि जागृत होगी।

ऐतिहासिक अध्ययन

[ले०—बाबू माईदयाल जैन बी.ए. (आनर्स.) बी. टी.]

किसी देशकी राज्यप्रणाली, राजाओं, युद्धों तथा सन्धियोंके विवरणको ही इतिहास समझना, इतिहासका बहुत ही सीमित तथा संकुचित अर्थ लेना है और अपने लिये ज्ञानके साधनोंको कम करना है। जनता-सम्बंधी हरएक आन्दोलनका जिकर भी इतिहासमें होना चाहिये। धार्मिक सामाजिक, औद्यौगिक, साहित्यिक परिवर्तनोंका भी इतिहासमें समावेश होता है। इसके अतिरिक्त खोज करने पर भिन्न भिन्न पद्धतियों, विद्याओं, विज्ञानों, कलाओं तथा रीति-रिवाजोंके भी इतिहास लिखे जाते हैं, और उनके अध्ययनसे यह बात साफ़ तौरसे समझमें आजाती है कि वे किन किन अवस्थाओंमें से गुजरे हैं, उनका किस प्रकार विकास हुआ है और किन किन कारणों या परिस्थितियोंकी वजहसे उनमें परिवर्तन, उन्नति या अवनति हुई है। इस प्रकारके अध्ययनसे प्राचीन कालका ठीक ज्ञान होजाता है। वर्तमानकी कठिनाइयोंको दूर करनेका मार्ग और भविष्यके लिये सुमार्ग मिल जाता है।

इसी प्रकारके अध्ययनको ऐतिहासिक अध्ययन कहा जाता है। स्थितिपालकता, परम्परावाद और रूढ़िवादका बड़ा कारण इतिहासका ज्ञान न होना और यह भ्रमपूर्ण विचार है कि जो कुछ ज्ञान, विज्ञान, कला, पद्धति, रीति-रिवाज आज जारी हैं वे अनादिकालसे बिना परिवर्तनके ज्यूंके त्यूं चले आते हैं और उनमें परिवर्तन करना दुःसाहस है। इससे बड़ी किसी अहितकर भूलका शिकार होना मनुष्यजातिके वास्ते कठिन है। इससे हम अपनी ही हानि कर रहे हैं। इस हानिको रोकने तथा भ्रमको दूर करनेका एकमात्र साधन ऐतिहासिक अध्ययन ही है।

ऐतिहासिक अध्ययनसे ही भिन्न-भिन्न परिस्थितियाँ, उनके प्रभाव, परिवर्तनोंका रूप तथा उनके हानि-लाभ आदि समझमें आसकते हैं और फिर राष्ट्र तथा समाजके संचालक नेता सोच-विचारकर सुधार या उन्नतिका ठीक मार्ग बता सकते हैं और मनुष्यजातिका कल्याण कर सकते हैं।

ऐतिहासिक अध्ययन जितना आवश्यक है, उतना ही कठिन है। यह काम साधारण जनता या मामूली शिक्षितोंका नहीं है। अवकाश-हीन तथा बहुधंधी विद्वान भी यह काम नहीं कर सकते। यह काम विशेषज्ञों, ऐतिहासिकों और अन्वेषकों (Research Scholars) का है। यह काम समय, संलग्नता, धैर्य, निश्चलता, सामग्रीसंग्रह तथा Reference Books चाहता है। चूंकि यह काम राष्ट्र तथा समाजके वास्ते अन्य बड़े कामोंके समान आवश्यक और उपयोगी है, इसलिए ऐतिहासिक अध्ययनको प्रोत्साहन देना, उसके लिए साधन जुटाना तथा ऐसा काम करनेवालोंके लिए सुभीते पैदा करना समाजका परम कर्तव्य है।

शिक्षितों तथा साधारण जनता को भी अपने नित्यके स्वाध्याय या पठन-पाठनमें ऐतिहासिक अध्ययनकी तरफ़ लक्ष्य रखना चाहिए और इस तरफ़ अपनी रुचि तथा उत्सुकता बढ़ानी चाहिए। किसी विषयका अध्ययन करते समय इस प्रकारके प्रश्न करने चाहिएः—यह बात इस रूपमें कब हुई? ऐसा रूप क्यों हुआ? इससे पहिले क्या रूप था? उस परिवर्तनका प्रभाव अच्छा हुआ या बुरा? वह परिवर्तन कितने क्षेत्रमें हो सका? वर्तमान रूप ठीक है या उसमें किसी परिवर्तनकी आवश्यकता है? उसमें क्या परिवर्तन किया जाय तथा कैसे किया जाय? क्या वह परिवर्तन जनता आसानीसे ग्रहण करेगी या कुछ समयके बाद? आदि।

ऐतिहासिक अध्ययनके समान ही उपयोगी तुलनात्मक अध्ययन (Comparative study) और विश्लेषणात्मक अध्ययन (Analytical study) है।
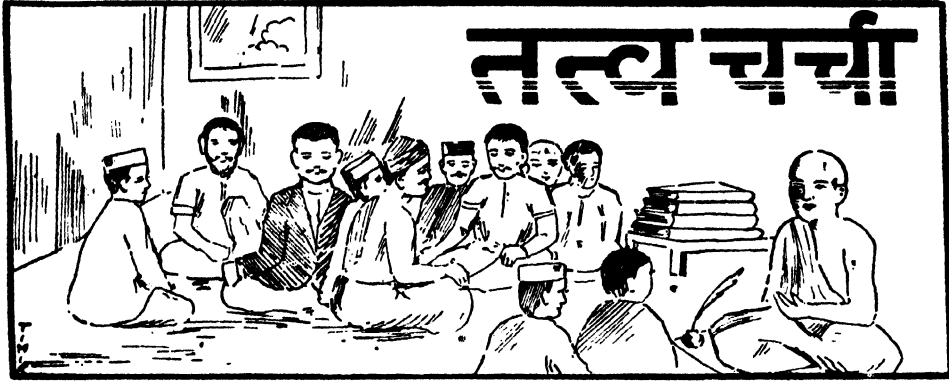
मनुष्योंमें उच्चता-नीचता क्यों ?

[ले० पं० वंशीधरजी व्याकरणाचार्य]

गोत्रका उच्च अथवा नीचरूपसे व्यवहार नारकी, तिर्यंच, मनुष्य और देव इन सभीमें यथायोग्य बतलाया है। साथ ही सिद्धान्त ग्रंथोंमें यह भी स्पष्ट किया है कि नारकी और तिर्यंच नीच गोत्री ही होते हैं, देव उच्च गोत्री ही होते हैं और मनुष्य उच्च तथा नीच दोनों गोत्र वाले यथा योग्य हुआ करते हैं।

गोत्रकी उच्चता क्या और नीचता क्या ? यही आज विवादका विषय बना हुआ है। आज ही नहीं, अतीतमें भी हमारे पूर्वजोंके सामने यह समस्या खड़ी हुई थी और उस समयके विद्वानोंने इसके हल करनेका प्रयत्न भी किया था; जैसा कि श्रीयुत बाबू जुगलकिशोरजी मुख्तारके 'अनेकान्त' की गत दूसरी किरणमें प्रकाशित "उच्च गोत्रका व्यवहार कहाँ ?" शीर्षक लेखसे ध्वनित होता है।

श्रीयुत मुख्तार सा०ने इस लेखमें धवलग्रंथके उच्चगोत्र कर्मके विषयमें उठाई गयी आपत्ति और आलोचनात्मक पद्धतिसे किये गये समाधानरूप कथनको अपनी ओरसे हिन्दी अर्थ करते हुए ज्योंका त्यों उद्धृत किया है। यद्यपि उस समय जिन लोगोंके मनमें यह शंका थी कि "उच्चगोत्रका व्यवहार या व्यापार कहां होना चाहिये" संभव है उनकी इस शंकाका समाधान धवल ग्रंथके उस वर्णनसे हो गया होगा, परन्तु मुख्तार साहबकी मान्यताके अनुसार यह निश्चित है कि धवलग्रंथके समाधानात्मक वाक्यकी विशद व्याख्या हुए बिना आजका विवाद समाप्त नहीं हो सकता है।

उच्चता और नीचताके विषयमें जो विवाद है उसका मूल कारण यह है कि सिद्धान्त ग्रंथोंमें यद्यपि मनुष्योंके दोनों गोत्रोंका व्यापार बतलाया है परंतु कौन मनुष्यको उच्च गोत्री और कौन मनुष्यको नीच गोत्री माना जाय तथा ऐसा क्यों माना जाय ? इसका स्पष्ट विवेचन देखनेमें नहीं आता है। यद्यपि जिस मनुष्यके उच्च गोत्र कर्मका

उदय हो उसे उच्चगोत्री और जिसके नीचगोत्र कर्मका उदय हो उसे नीचगोत्री समझना चाहिये परंतु उच्च तथा नीच गोत्र कर्मका उदय हमारी बुद्धिके बाहिरकी वस्तु होनेके कारण इस विवादके अन्त करनेका कारण नहीं हो सकता है। यदि नारकी, तिर्यंच और देवोंकी तरह सभी मनुष्योंको उच्च या नीच किसी एक गोत्रवाला माना जाता तो संभव था कि उच्चता और नीचताके इस विवादमें कोई नहीं पड़ता; कारण कि ऐसी हालतमें उच्चता और नीचताके व्यवहार-में क्रमसे उच्चगोत्र और नीचगोत्र कर्मके उदयको कारण मान कर सभी लोगोंको आत्मसंतोष हो सकता था; लेकिन जब सभी मनुष्य जातिकी दृष्टि-से समान नज़र आरहे हैं तो युक्ति तथा अनुभव-गम्य प्रमाण मिले बिना बुद्धिमान व्यक्तिके हृदयमें "क्यों तो एक मनुष्य उच्च गोत्री है और क्यों दूसरा मनुष्य नीचगोत्री है ? तथा किसको हम नीचगोत्री कहें और और किसको उच्चगोत्री कहें ? इस प्रकार प्रश्न उठना स्वाभाविक बात है और यह ठीक भी है; कारण कि सातों नरकोंके नारकी परस्परमें कुछ न कुछ उच्चता-नीचताका भेद लिये हुए होने पर भी यदि नारक जातिकी अपेक्षा सभी नीचगोत्री माने जा सकते हैं, तिर्यंचोंमें भी एके-न्द्रियसे लेकर पंचेन्द्रिय तक और प्रत्येककी सभी जातियोंमें परस्पर कुछ न कुछ नीच-ऊँचका भेद प्रतीत होते हुए भी यदि ये सभी तिर्यंच तिर्यग् जातिकी अपेक्षा नीच माने जा सकते हैं और देवों में भी भवनवासी व्यन्तर-ज्योतिष्क वैमानिकोंमें तथा प्रत्येकके अन्तर्भेदोंमें परस्पर नीच-ऊँचका भेद रहते हुए भी देवजातिकी समानताके कारण यदि ये सभी देव उच्चगोत्री माने जासकते हैं तो सभी मनुष्योंको भी मनुष्यजातिकी समानताके कारण उच्च या नीच दोनोंमें से एक गोत्र वाला मानना चाहिये। मालूम पड़ता है श्रीयुत बाबू सुरजभानुजी वकीलने इसी बिना पर अनेकान्तकी गत पहिली किरणमें मनुष्यगतिमें उच्चगोत्रके अनुकूल कुछ विशेषतायें बतला कर सभी मनुष्यों-को उच्चगोत्री सिद्ध करनेकी कोशिश की है, और इसके लिये उन्होंने कर्मकाण्ड, जयधवला, और लब्धिसारके प्रमाणोंका संग्रह भी किया है।

मनुष्यगतिकी विशेषताओंके विषयमें उन्होंने लिखा है कि—"मनुष्यपर्याय सर्वपर्यायोंमें उत्तम मानी गयी है यहाँ तक कि वह देवोंसे भी ऊंची है तब ही तो उच्चजातिके देव भी इस मनुष्यपर्यायको पानेके लिये लालायित रहते हैं, मनुष्यपर्यायकी प्रशंसा सभी शास्त्रोंने मुक्तकंठसे गायी है।" इन विशेषताओंके आधार पर श्रीयुत वकील सा० सभी मनुष्योंको उच्च गोत्री सिद्ध करना चाहते हैं। परंतु जिस प्रकार काबुली घोड़ोंकी प्रसिद्धि होनेपर भी काबुलके सभी घोड़े प्रसिद्धि पानेके लायक नहीं होते उसी प्रकार मनुष्यगतिकी इन विशेषताओंके आधार पर सभी मनुष्योंको उच्चगोत्री नहीं माना जा सकता है। शास्त्रोंमें जो मनुष्यपर्यायकी प्रशंसाके गीत गाये गये हैं और देव भी जो मनुष्य पर्यायको पानेके लिये लालायित रहते हैं वह इसलिये कि एक मनुष्यपर्याय ही ऐसी है जहाँसे जीव सीधा मुक्त हो सकता है; लेकिन इसका यह अर्थ तो कदापि नहीं, कि जो मनुष्य-पर्याय पा लेता है वह मुक्त हो ही जाता है। इसी मनुष्यपर्यायसे जीव सप्तम नरक और यहाँ तक

कि निगोदराशिमें भी पहुँच सकता है। शास्त्रोंमें ऐसी मनुष्यपर्यायकी प्रशंसा नहीं की गई है कि जिसको पाकर जीव दुर्गतिके कारणोंका संचय करे, या ऐसी मनुष्यपर्यायको पानेके लिये देव लालायित नहीं रहते होंगे कि जिसको पाकर वे अनन्त संसारके कारणोंका संचय करें। मनुष्यगतिके साथ सत्समागम, शारीरिक स्वास्थ्य, आत्म-कल्याण-भावना और धार्मिक प्रेम व उसका ज्ञान अवश्य होना चाहिये, तभी मनुष्यपर्यायकी प्रशंसा व शोभा हो सकती है। इसलिये सभी मनुष्योंको उच्चगोत्री सिद्ध करनेके लिये मनुष्यगतिकी ये वकील सा० द्वारा दिखलाई गयी विशेषतायें असमर्थ हैं। आगे सभी मनुष्योंको उच्च गोत्री सिद्ध करनेमें जो कर्मकांड, जयधवला और लब्धिसारके प्रमाण दिये हैं वे कितने सबल हैं इस पर भी विचार कर लेना आवश्यक है—

सबसे पहिले उन्होंने कर्म कांडकी गाथा नं० १८ का प्रमाण उपस्थित किया है, वह इस प्रकार है—"भवमस्सिय णीचुच्चं इदि गोदं" (†णामपुव्वं तु)

वकील सा० ने उद्धृत किये हुए अंशका यह अर्थ किया है कि उच्च-नीच गोत्रका व्यवहार भव अर्थात् नरकादि पर्यायोंके आश्रित है। इससे वे यह तात्पर्य निकालते हैं कि "जो गति शुभ हो वहाँ उच्च गोत्रका व्यवहार होना चाहिये और जो गति अशुभ हो वहाँ नीच गोत्रका व्यवहार होना चाहिये। चूंकि नरक गति और तिर्यग्गति अशुभ हैं इसलिये इनमें नीच गोत्रका और देव गति शुभ है इसलिये इसमें उच्च गोत्रका व्यवहार जिस प्रकार शास्त्रसम्मत है उसी प्रकार मनुष्यगतिमें भी शुभ होनेके कारण उच्च गोत्रका व्यवहार मानना ही ठीक है।"

कर्मकांडकी गाथा नं० १८ का कथन सामान्य कथन है तथा इस कथनसे ग्रंथकारका क्या आशय है? यह बात "णामपुव्वं तु" पाठसे स्पष्ट जानी जा सकती है। यदि इस गाथाका जो आशय वकील सा०ने लिया है वही ग्रंथकारका होता तो वे ही ग्रन्थकार स्वयं आगे चलकर गाथा नं० २९८ में मनुष्यगतिमें उदययोग्य १०२ प्रकृतियोंमें नीच गोत्रको शामिल नहीं करते। थोड़ी देरके लिये वकील सा० की रायके मुताबिक मनुष्यगतिमें उदययोग्य १०२ प्रकृतियोंमें नीचगोत्रका समावेश सम्मूर्छन और अन्तर्द्वीपज मनुष्योंकी अपेक्षा मान लिया जाय, फिर भी इससे इतना तो निश्चित है कि ग्रन्थकार वकील सा० की रायके अनुसार सम्मूर्छन और अन्तर्द्वीपज मनुष्योंको मनुष्य कोटिसे बाहिर फेंकनेको तैयार नहीं हैं, और ऐसी हालतमें गाथा नं० १८ में ग्रंथकारकी रायको वकील सा० अपनी रायके मुताबिक़ नहीं बना सकते हैं। ग्रंथकारने गाथा नं० १८ में जो 'भव' शब्दका प्रयोग किया है वह नीचगोत्र और उच्चगोत्रके क्षेत्र-विभाग व क्षेत्रके निर्णयके लिये नहीं किया है बल्कि कर्मोंके पाठक्रममें गोत्रकर्मका पाठ नामकर्मके बाद क्यों किया है? इस शंकाका समाधान करनेके

† कोष्ठक वाला भाग इसी गाथाके आगेका भाग है जिसको वकील सा० ने अपने उद्धरणमें छोड़ दिया है। और इसको मिला देने पर पूरा अर्थ इस प्रकार हो जाता है—नीच और उच्च व्यवहार भव अर्थात् नरकादि गतियोंके आश्रित है तथा गतियां नाम कर्मके भेदोंमें शामिल हैं इसलिये नामकर्मके बाद गोत्रकर्मका पाठ बतलाया गया है।

लिये किया है। इसलिये ग्रंथकारका गाथा नं०१८के उस अंशसे इतना ही तात्पर्य है कि "नामकर्मकी प्रकृति (?) चारों गतियोंके उदयमें ही उच्च-नीच गोत्रका व्यवहार होता है इसलिये गोत्रकर्मका पाठ नामकर्मके बादमें किया गया है।" इसके द्वारा नीचगोत्र व उच्चगोत्रके क्षेत्र-विभाग व स्थानका निर्णय किसी भी हालतमें नहीं हो सकता है।

अब वकील सा० की यह बात और रह जाती है कि—"मनुष्यगतिमें नीचगोत्र कर्मका उदय सम्मूर्छन और अन्तर्द्वीपज मनुष्योंकी अपेक्षासे बतलाया है।" सो यह बात भी प्रमाणित नहीं हो सकती है; क्योंकि कर्मकांडकी गाथा नं० २९८ में मनुष्यकी उदययोग्य १०२ प्रकृतियोंमें नीच गोत्र-कर्मका समावेश ग्रन्थकारने सम्मूर्छन और अन्त-र्द्वीपज मनुष्यकी अपेक्षासे नहीं किया है; यदि ऐसा मान लिया जायगा तो कर्मकांड गाथा नं० ३०० से इसका विरोध होगा। गाथा नं० ३०० में जो मनुष्यगतिके पञ्चमगुणस्थानकी उदयव्युच्छिन्न प्रकृतियोंको गिनाया है उसमें नीचगोत्रकर्म भी शामिल है, जिससे यह तात्पर्य निकलता है कि ग्रंथकारके मतसे मनुष्यगतिमें नीचगोत्रकर्मका उदय पञ्चमगुणस्थान तक रहता है। पञ्चमगुण-स्थान कर्मभूमिके आर्यखंडमें विद्यमान पर्याप्तक मनुष्यके आठ वर्षकी अवस्थाके बाद ही हो सकता है *। इससे यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि कर्मकांडकार सम्मूर्च्छन और अन्तर्द्वीपज मनु-ष्योंके साथ आर्यखण्डमें बसनेवाले पर्याप्तक मनु-ष्योंके भी नीचगोत्रकर्मका उदय मानते हैं, इसलिये कर्मकांडकी गाथा नं०२९८ का आशय वकील सा० के आशयको पुष्ट करनेमें असमर्थ हो जाता है। दूसरा कोई प्रमाण सामने है नहीं, इसलिये वकील सा० की यह मान्यता कि—"मनुष्यगतिमें नीच-गोत्रकर्मका उदय सम्मूर्च्छन और अन्तर्द्वीपज मनुष्यों (जिनको कि उन्होंने अपना मत पुष्ट करने के लिये मनुष्यकोटिसे बाहिर फेंक दिया है) की अपेक्षासे है" खटाईमें पड़ जाती है और इसके साथ साथ यह सिद्धान्त भी गायब हो जाता है कि सभी मनुष्य उच्चगोत्री हैं।

श्रीयुत मुख्तार सा० ब्र०शीतलप्रसादजीके लेख पर टिप्पणी करते हुए अनेकान्तकी गत चौथी किरणमें लिखते हैं—"मनुष्योंमें पाँचवें गुणस्थान तक नीचगोत्रका उदय हो सकता है यह (कर्म-भूमिमें बसने वाले मनुष्योंको नीचगोत्री सिद्ध करनेके लिये) एक अच्छा प्रमाण जरूर है; परन्तु उसका कुछ महत्व तबही स्थापित होसकता है जब पहिले यह सिद्ध कर दिया जावे कि 'कर्मभूमिज मनुष्योंको छोड़कर शेष सब मनुष्योंमेंसे किसी भी मनुष्यमें किसी समय पाँचवाँ गुणस्थान नहीं बन सकता है'।"

यह तो निश्चित ही है कि भोगभूमिके मनुष्यों-के पञ्चम गुणस्थान नहीं होता। साथ ही, भोग-भूमिया मनुष्य उच्चगोत्री ही होते हैं इसलिये वह यहाँ उपयोगी भी नहीं। पाँच म्लेच्छ खंडोंमें भी जयधवलाके आधार पर यह सिद्ध होता है कि उनमें धर्म-कर्मकी प्रवृत्तिका अभाव है इसलिये वहाँ पर भी पंचमगुणस्थान किसी भी मनुष्यके नहीं

* इस बातका स्पष्ट विधान करनेवाला कोई आगम-वाक्य भी यदि यहाँ प्रमाण रूपमें देदिया जाता तो अच्छा होता।　　—सम्पादक

हो सकता है। लेकिन थोड़ी देरके लिये यदि उनके भी पाँचवाँ गुणस्थान मान लिया जाय तो भी वकील सा० के मतानुसार तो वे उच्चगोत्री ही हैं इसलिये उनके भी पाँचवां गुणस्थान मान लेनेपर उनका प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता है। सम्मूर्च्छन मनुष्योंके तो शायद वकील सा० भी पञ्च-गुणस्थान स्वीकार नहीं करेंगे, इसलिये केवल अन्तर्द्वीपज मनुष्य ही ऐसे रह जाते हैं जिनके विषयमें नीचगोत्री होनेके कारण वकील सा० की पञ्चमगुणस्थानकी संभावना सार्थक हो सकती है, और मेरा जहाँ तक ख़याल है इन्हीं अन्तर्द्वीपजों-की अपेक्षासे ही मुख्तार सा० पञ्चमगुणस्थानमें नीचगोत्रके उदयकी सार्थकता सिद्ध करना चाहते हैं; परन्तु उनको मालूम होना चाहिये कि म्लेछ-खंडोंकी तरह उन अन्तर्द्वीपजोंमें भी धर्म-कर्म की प्रवृत्तिका अभाव है †। इसलिये यह बात निश्चित है कि पञ्चमगुणस्थानवर्ती नीच गोत्रवाले जो मनुष्य कर्मकाण्डमें बतलाये गये हैं वे आर्यखंडमें बसनेवाले मनुष्य ही हो सकते हैं, दूसरे नहीं।

इसके विषयमें दूसरा प्रबल प्रमाण इस प्रकार है—

कर्मकांडमें क्षायिक सम्यग्दृष्टि पञ्चमगुण-स्थानवर्ती मनुष्यके भी नीचगोत्र कर्मका उदय बतलाया है, इसके लिये कर्मकाण्ड गाथा नं०३२८ और ३२९‡ के अर्थ पर ध्यान देनेकी जरूरत है। इन दो गाथाओंमें सम्यक्त्वमार्गणाकी अपेक्षासे कर्मप्रकृतियोंके उदयका निरूपण किया गया है, उसमें क्षायिक सम्यग्दृष्टिके पञ्चमगुणस्थानकी कर्म-प्रकृतियोंकी उदयव्युच्छित्तिका निर्णय करते हुए लिखा है कि क्षायिक सम्यग्दृष्टि देशसंयत मनुष्य ही हो सकता है तिर्यञ्च नहीं, इसलिये पञ्चमगुण-स्थानमें व्युच्छिन्न होनेवाली प्रकृतियोंमेंसे तिर्यगायु, उद्योत और तिर्यगति की उदयव्युच्छित्ति क्षायिक-सम्यग्दर्शनकी अपेक्षा चौथे गुणस्थानमें ही होजाती है, बाकी पञ्चमगुणस्थानमें व्युच्छिन्न होनेवाली सभी प्रकृतियोंकी उदय व्युच्छित्ति क्षायिक सम्य-ग्दृष्टि मनुष्यके भी पांचवें गुणस्थानमेंही बतलायी है उन प्रकृतियोंमें नीच गोत्रभी शामिल है,इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि क्षायिक सम्यग्दृष्टि पञ्चम-गुणस्थानवर्ती मनुष्य भी नीचगोत्रवाला हो सकता है। क्षायिक सम्यग्दृष्टि नीचगोत्रवाला मनुष्य आर्यखंडमें रहनेवाला ही हो सकता है। दूसरा नहीं † इसका कारण यह है कि दर्शन-

† जो अन्तर्द्वीपज कर्मभूमिसमप्रणिधि हैं—कर्मभूमि-योंके समान, आयु, उत्सेध तथा वृत्तिको लिये हुए हैं—उनमें भी क्या धर्मकर्मकी प्रवृत्तिका सर्वथा अभाव है? यदि ऐसा है तो उसका कोई स्पष्ट आगम-प्रमाण यहाँ दिया जाना चाहिये था। —सम्पादक

‡ कर्मकांड की वे दोनों गाथायें इस प्रकार हैं—
भव्विदरुवसमवेदगखइये सगुणोघमुवसमे खयिये ॥
ण हि सम्ममुवसमे पुण णादिणियाणू य हारदुगं ॥३२८॥
खाइयसम्मो देसो णर एव जदो तहिं ण तिरियाऊ ॥
उज्जोवं तिरियगदी तेसिं अयदम्हि वोच्छेदो ॥३२९॥

† जब दर्शनमोहनीयकर्मकी क्षपणाका निष्ठापक "णिट्ठवगो होदि सव्वत्थ" इस वाक्यके अनुसार सर्वत्र हो सकता है तब अन्तर्द्वीपज मनुष्योंमें भी उसका नि-षेध नहीं किया जा सकता, और इसलिये "क्षायिक-सम्यग्दृष्टि नीचगोत्रवाला मनुष्य आर्यखण्डमें रहनेवाला ही हो सकता है दूसरा नहीं," इस नियमके समर्थनमें कोई आगम-वाक्य यहाँ उद्धृत किया जाता तो अच्छा रहता। —सम्पादक

मोहनीयके क्षपणका प्रारम्भ कर्मभूमिज† मनुष्य ही करता है वह भी तीर्थंकर व केवली श्रुतकेवली के पादमूलमें ही। नीचगोत्रवाले मनुष्यके लिये प्रतिबन्ध न होनेके कारण नीचगोत्रवाला कर्मभूमिज मनुष्य भी तीर्थंकर आदिके पादमूलमें जाकर दर्शनमोहनीयका क्षपण कर सकता है। क्षपण करने पर जब वह क्षायिक सम्यग्दृष्टि बन जाता है तब यदि वह नारकायु, तिर्यगायु या मनुष्यायुका बन्ध पहिले कर चुका हो तो वह देशसंयम या सकलसंयम नहीं ग्रहण कर सकता है‡। इसलिए उसकी तो यहाँ चर्चा ही नहीं, एक देवायुका बन्ध करनेवाला ही देशसंयम या सकलसंयम धारण कर सकता है। जिसने आयुर्बन्ध नहीं किया है वह भी यद्यपि देशसंयम धारण कर सकता है परन्तु वह बादमें देवायुका ही बन्ध करता है अन्यका नहीं अथवा नीचगोत्री देशसंयत मनुष्य भी दर्शनमोहका क्षपण करके क्षायिक सम्यग्दृष्टि बन सकता है, लेकिन वह भी यदि आयुर्बन्ध करेगा तो देवायुका ही करेगा दूसरी का नहीं, इससे स्पष्ट है कि नीचगोत्र वाला देशसंयत जो मनुष्य जिस भवमें दर्शनमोहनीयका क्षपण करके क्षायिक सम्यग्दृष्टि बनता है उस भवमें तो वह कर्मभूमिज ही होगा, अब यदि वह मरण करेगा तो उच्चगोत्र वाले वैमानिक देवोंमें ही पैदा होगा, वहाँसे च्यय करनेपर वह नीचगोत्री* मनुष्योंमें पैदा न होकर

---

†क–मनुष्यःकर्मभूमिज एव दर्शनमोहक्षपणप्रारम्भकोभवति
—सर्वार्थसिद्धि, पृ०१०।

ख–दंसणमोहक्खवणापट्ठवगो कम्मभूमिजो मणुसो।
तित्थयरपादमूले केवलिसुदकेवलीमूले ॥
—सर्वार्थसिद्धिटिप्पणी पृ० २६

ग–दंसणमोहक्खवणापट्ठवगो कम्मभूमिजादो हु।
मणुसो केवलिमूले णिट्ठवगो होदि सव्वत्थ ॥
—गो०जीवकांड ६४७

‡ चत्तारि वि खेत्ताइं आउगबंधेण होइ सम्मत्तं।
अणुवदमहव्वदाइं ण लहइ देवाउगं मोत्तुं ॥
—गो० कर्मकांड, ३३४

---

* क–सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि।
दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजंति नाप्यव्रतिकाः ॥३५॥　—रत्नकरण्ड।

इसमें दुष्कुल शब्द ध्यान देने योग्य है। दुष्कुलका अर्थ नीचगोत्र-विशिष्ट कुल ही हो सकता है। यह कथन आयुका बन्ध नहीं करनेवाले सम्यग्दृष्टिको लक्ष्य करके किया गया है।

ख–दंसणमोहे खविदे सिज्झदि ऐक्केव तादियतुरियभवे।
णादिक्कदि तुरियभवं ण विणस्सदि सेससम्मं व ॥
—क्षेपक गाथा, जीवकांड पृ०२३१

अर्थ—क्षायिक सम्यग्दर्शनको धारण करनेवाला कोई जीव तो उसी भवमें मुक्त हो जाता है कोई तीसरे भवमें और कोई चौथे भवमें नियमसे मुक्त हो जाता है।

इसका आशय यह है कि तद्भवमोक्षगामी तो उसी भवमें मुक्त हो जाता है, यदि सम्यक्त्व-प्राप्तिके पहिले नरकायु या देवायुका बन्ध किया हो तो अथवा सम्यक्त्व प्राप्त करनेके बाद देवायुका बन्ध करने पर तीसरे भवमें मुक्त हो जाता है और सम्यक्त्व प्राप्तिके पहिले यदि मनुष्य या तिर्यगायुका बन्ध किया हो तो भोगभूमिमें जाकर वहाँसे उच्चकुली देव होकर फिर चयकर उच्चकुली मनुष्य होकर मोक्ष चला जाता है, देशसंयत क्षायिक सम्यग्दृष्टि तो उसी भवमें या नियमसे देव होकर वहाँसे उच्चकुली मनुष्य होकर मुक्त हो जाता है।

उच्चगोत्री कर्मभूमिज मनुष्योंमें ही पैदा होगा; इस प्रकार यह निश्चित हो जाता है कि पंचमगुणस्थान-में जो मनुष्योंके नीचगोत्रकर्मका उदय बतलाया है वह कर्मभूमिज मनुष्योंकी अपेक्षासे ही बत-लाया है *, जिससे वकील सा० का मनुष्यगतिमें नीचगोत्र कर्मका उदय सम्मूर्च्छन और अन्तर्द्वीपज मनुष्योंमें मानकर सभी मनुष्योंको उच्चगोत्री सिद्ध करनेका प्रयास बिल्कुल व्यर्थ हो जाता है।

आगे वकील सा० ने जयधवला और लब्धि-सारके आधार पर यह सिद्ध करनेकी कोशिश की है कि सभी मनुष्य उच्चगोत्री हैं। वकील सा० ने जयधवलाका उद्धरण दिया है उसके पहिलेका कुछ आवश्यक भाग मुख्तार सा० ने अनेकान्तकी गत तीसरी किरणमें श्री पं० कैलाशचन्दजी शास्त्रीके लेख पर टिप्पणी करते हुए दिया है, वह सब यहाँ पर उद्धृत किया जाता है—

"अकम्मभूमियस्स पडिवज्जमाणस्स जहण्णयं संजम ट्ठाणमणंतगुणं । (चू० सू०) पुव्विल्लादो असंखे० (य) लोग मेत्तछट्ठाणाणि उवरि गंतूणेदस्स समु-प्पत्तीए। को अकम्मभूमिओ णाम ? भरहैरावयविदेहेसु विणीतसण्णिदमज्झिमखंडं मोत्तूण सेसपंचखंडविणि-वासी मणुओ एत्थ "अकम्मभूतिओ" त्ति विवक्खिओ। तेसु धम्मकम्मपवुत्तीए असंभवेण तब्भावोववत्तीदो। जइ एवं कुदो तत्थ संजमगहणसंभवो त्ति णासंकिणिज्जं। दिसाविजयट्टचक्कवट्टिखंधावारेण सह मज्झिमखंड-मागयाणं मिलेच्छरायाणं तत्थ चक्कवट्टिआदिहिं सह जाद-वेवाहियसंबन्धाणं संजमपडिवत्तीए विरोहाभावादो। अहवा तत्तत्कन्यकानां चक्रवर्त्यादिपरिणीतानां गर्भेषूत्पन्ना मातृपक्षापेक्षया स्वयमकर्मभूमिजा इतीह विवक्षिताः। ततः न किञ्चिद्विप्रतिषिद्धम् । तथाजातीयकानां दीक्षार्हत्वे प्रतिषेधाभावादिति ।"

इस प्रकरणमें अकर्मभूमिज मनुष्यके भी संयमस्थान बतलाये हैं इससे यहाँ पर शंका उठाई है कि अकर्मभूमिज मनुष्य कौन है ? इसका उत्तर देते हुए आगे जो लिखा गया है उसका अर्थ इस प्रकार है—"भरत, ऐरावत और विदेह क्षेत्रोंमें विनीत नामक मध्यम (आर्य) खंडको छोड़कर शेष पांचमें रहने वाला मनुष्य यहाँ पर अकर्मभूमिज इष्ट है अर्थात् यहाँपर उल्लिखित पाँच खंडोंमें रहने वाले मनुष्य ही अकर्म भूमिज माने गये हैं, कारण कि इन पांच खंडोंमें धर्मकर्मकी प्रवृति न हो सकनेसे अकर्मभूमिपना संभव है।

यदि ऐसा है अर्थात् इन पाँच खंडोंमें धर्म-कर्मकी प्रवृत्ति नहीं बन सकती है तो फिर इनमें संयमग्रहणकी संभावना ही कैसे हो सकती है ?

* दर्शनमोहकी क्षपणाका प्रारम्भ करनेवाला मनुष्य मरकर जब 'णिट्ठवगो होदि सव्वत्थ' के सिद्धान्तानुसार सर्वत्र उत्पन्न होकर निष्ठापक हो सकता है, तब वह कर्मभूमिसमप्रणिधि नामके अन्तर्द्वीपजोंमें भी उत्पन्न हो सकता है और वहाँ उस क्षपणाका निष्ठापक होकर क्षायिक सम्यग्दृष्टि बन सकता है तब उसके पंचमगुणस्थानवर्ती हो सकनेमें कौन बाधक है, उसे भी यहाँ स्पष्ट करदिया जाता तो अच्छा होता; तभी इस निष्कर्षका कि "पंचमगुणस्थानमें जो मनुष्योंके नीचगोत्र कर्मका उदय बतलाया है वह कर्मभूमिज मनुष्योंकी अपेक्षासे ही बतलाया है" ठीक मूल्य आंका जासकता था; क्योंकि गोम्मटसारकी उस गाथा नं० ३०० में 'मणुससामण्णे' पद पड़ा हुआ है, जो मनुष्यसामान्यका वाचक है—किसी वर्गविशेषके मनुष्योंका नहीं।

—सम्पादक

यह शंका ठीक नहीं है, कारण कि दिशाओंको जीतनेवाले चक्रवर्तीकी सेनाके साथ मध्यम (आर्य) खंडमें आये हुए और जिनका चक्रवर्ती आदिके साथ विवाहादि संबन्ध स्थापित हो चुका है ऐसे म्लेच्छ राजाओंके संयम ग्रहण करनेमें (आगमसे) विरोध नहीं है।

अथवा उन म्लेच्छ राजाओंकी जिन कन्याओं-का विवाह चक्रवर्ती आदिसे हो चुका है उनके गर्भमें उत्पन्न हुए (व्यक्ति) स्वयं (कर्मभूमिज होते हुए भी) मातृपक्षकी अपेक्षा इस प्रकरणमें अकर्म-भूमिज मान लिये गये हैं, इसलिये कोई विवादकी बात नहीं रह जाती है, क्योंकि ऐसी कन्याओंसे उत्पन्न हुए व्यक्तियोंकी संयमग्रहण-पात्रतामें प्रतिषेध अर्थात् रोक (आगममें) नहीं है। इसीसे मिलता जुलता लब्धिसारका कथन है इसलिये वह यहाँ पर उद्धृत नहीं किया जाता है।

इन दोनों उद्धरणोंसे वकील सा०ने यह आशय लिया है कि "जब संयमग्रहणकी पात्रता उच्चगोत्री मनुष्यके ही मानी गयी है तो चक्रवर्तीके साथ आये हुए म्लेच्छ राजाओंके आगमप्रमाणसे संयमग्रहणकी संभावना होनेके कारण उच्चगोत्र कर्मका उदय मानना पड़ेगा और जब ये म्लेच्छ राजा लोग उच्च गोत्र वाले माने जा सकते हैं तो इन्हींके समान म्लेच्छ खंडोंमें रहने वाले सभी मनुष्योंको उच्चगोत्री माननेसे कौन इंकार कर सकता है। इस प्रकार जब म्लेच्छ खंडोंके अधि-वासी म्लेच्छ तक उच्चगोत्री सिद्ध हो जाते हैं तो फिर आर्य खंडके अधिवासी किसी भी मनुष्यको नीच गोत्री कहनेका कोई साहस नहीं कर सकता है— ऐसी हालतमें सभी मनुष्योंको उच्चगोत्री मानना ही युक्ति संगत है।"

अब हमें विचारना यह है कि वकील सा० ने जयधवला और लब्धिसारके आधार पर जो तात्पर्य निकाला है वह कहाँ तक ठीक है ?—

इस शंका-समाधानसे इतना तो निश्चित है कि जयधवलाके रचनाकालमें लोगोंकी यह धारणा अवश्य थी कि 'म्लेच्छखंडके अधिवासियोंमें संयम-धारण करनेकी पात्रता नहीं है।' यही कारण है कि ग्रन्थकारने स्वयं शंका उठाकर उसके समाधान करनेका प्रयत्न किया है। और जब पहिला समाधान उनको संतोषकारक नहीं हुआ† तब उन्होंने निःशंक शब्दोंमें दूसरा समाधान उपस्थित किया है‡। "तथा-जातीयकानां दीक्षार्हत्वे प्रतिषेधाभावात्" —अर्थात् चक्रवर्ती आदिके द्वारा विवाही गई म्लेच्छकन्याओं-के गर्भमें उत्पन्न मनुष्योंकी संयमग्रहणपात्रतामें प्रतिषेध (रोक) आगम ग्रन्थोंमें नहीं है, इस हेतु-परक वाक्यसे उन्होंने दूसरे समाधानमें निःशंकपना व संतोष प्रकट किया है ※।

† यहां पर 'अथवा' शब्द ही पहिले समाधानके विषयमें ग्रन्थकारके असंतोषको ज़ाहिर करता है; क्योंकि 'अथवा' शब्द समाधानके प्रकारान्तरको सूचित करता है समुच्चयको नहीं, जिससे पहिले समाधानमें ग्रन्थकार-की अरुचि स्पष्ट मालूम पड़ती है।

‡ जब वीरसेनाचार्यको वह समाधान स्वयं ही संतोषकारक मालूम नहीं होता था तब उसे देनेकी ज़रूरत क्या थी और उनके लिये क्या मजबूरी थी ?

—सम्पादक

※ श्री पं० कैलाशचंद्रजी शास्त्रीने "तथा जातीय-कानां दीक्षार्हत्वे प्रतिषेधाभावात्" इस हेतुपरक वाक्यका दोनों समाधान-वाक्योंके साथ समन्वय कर डाला है; परन्तु वाक्यरचना व उसकी उपयोगिता-अनुपयोगिताको देखते हुए यह ठीक नहीं मालूम पड़ता है। "ततो न किञ्चिद्विप्रतिषिद्धम्" इस वाक्यार्थ-का समर्थन ही इस हेतुपरक वाक्यसे होता है और "ततो न किञ्चिद्विप्रतिषिद्धम्" यह वाक्य दूसरे समाधान वाक्यसे ही संबद्ध है—यह बात स्पष्ट ही है।

पहिले समाधानके विषयमें ग्रंथकार सिर्फ इतना ही प्रकट करते हैं कि "जिन म्लेच्छराजाओंके चक्रवर्ती आदिके साथ वैवाहिकादि संबन्ध स्थापित हो चुके हैं उनके संयम ग्रहण करनेमें आगमका विरोध नहीं है।" इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि ग्रन्थकार यही समझते थे कि आगम ऐसे लोगोंके संयमधारण करनेका विरोधी तो नहीं है परन्तु संयम धारण तभी हो सकता है जब कि संयमग्रहण-पात्रता व्यक्तिमें मौजूद हो, म्लेच्छ खंडके अधिवासियोंमें संयमग्रहणपात्रता स्वभावसे नहीं रहती है बल्कि आर्यखंडमें आजाने पर आर्योंकी तरह ही बाह्य प्रवृत्ति होजानेके बाद उनमें वह (संयमग्रहणपात्रता) आ सकती है लेकिन यह नियम नहीं कि इस तरहसे उनमें संयमग्रहण पात्रता आ ही जायगी।" इसीलिये 'अथवा' शब्दका प्रयोग करके ग्रन्थकारने पहिले समाधानमें अरुचि जाहिर की और दूसरे समाधानकी ओर उन्हें जाना पड़ा है तथा उस (दूसरे) समाधानकी पुष्टि में उन्होंने स्पष्ट जाहिर कर दिया है कि चक्रवर्ती आदिके द्वारा विवाही गयी म्लेच्छ कन्याओंके गर्भमें उत्पन्न हुए मनुष्योंकी संयमग्रहणपात्रतामें तो आगम भी रोक नहीं लगाता है※वे तो निश्चित ही संयम ग्रहण करनेके अधिकारी हैं। दूसरी बात यह भी है कि यदि म्लेच्छखण्डके अधिवासियोंमें संयमग्रहणपात्रता स्वभावसे विद्यमान रहती है तो पहले तो ग्रन्थकारको पहिले समाधानमें अपनी अरुचि जाहिर नहीं करनी थी※। दूसरे, ऐसी हालतमें म्लेच्छखंडोंमें धर्म-कर्मकी प्रवृत्तिका असंभवपना कैसे बन सकता है बल्कि वहाँ तो हमेशा ही धर्म-कर्मकी प्रवृत्ति रहना चाहिये; कारण कि वहाँ पर हमेशा चतुर्थकाल ही वर्तता रहता है। और ऐसा मान लेने पर जयधवला व लब्धिसारका यह शंका-समाधान निरर्थक ही प्रतीत होने लगता है। इसलिये जयधवला व लब्धिसारके इन उद्धरणोंसे यही तात्पर्य निकलता है कि म्लेच्छखण्डके अधिवासियोंमें स्वाभाविक रूपसे संयम ग्रहण-पात्रता नहीं रहती है, लेकिन आर्यखण्डमें आजाने पर आर्योंके साथ विवाहादि संबन्ध, सत्समागम, सदाचार आदिके द्वारा प्राप्त जरूर की जा सकती है। यह संयमग्रहण-पात्रता (जैसा कि वकील सा० ने स्वीकार किया है) उच्चगोत्र कर्मके उदयको छोड़कर कुछ भी नहीं है, जिसका कि अनुमान सद्वृत्ति, सभ्यव्यवहार आदिसे किया जा सकता है। इसलिये जयधवला व लब्धिसारके इस कथनसे गोत्रकर्म-परिवर्तनका ही अकाट्य समर्थन होता है।

यह भी एक खास बात है कि यदि वकील सा०

दूसरी बात यह है कि इस वाक्यका दोनों समाधान-वाक्योंके साथ समन्वय करनेसे प्रकारान्तर-सूचक 'अथवा' शब्दका कोई महत्व नहीं रह जाता है, यह भी ध्यान देने योग्य है।

※ आगम तो पहले प्रकारका भी विरोधी नहीं है, यह बात लेखक द्वारा ऊपर प्रकट की जा चुकी है तब इस कथनमें, क्या विशेषता हुई, जिसके लिये 'आगम भी' आदि शब्दोंका प्रयोग किया गया है? —सम्पादक

※ अरुचि ज़ाहिर नहीं की, यह बात 'गोत्रकर्म पर शास्त्रीजीका उत्तर लेख' नामक मेरे उस लेखके पढ़नेसे स्पष्ट समझमें आ सकती है जो अनेकान्तकी १वीं किरण में प्रकाशित हुआ है। —सम्पादक

के मतानुसार ही जयधवला व लब्धिसारका तात्पर्य लिया जायगा, तो वह कर्मकाण्डके विरुद्ध जायगा; कारण कि कर्मकाण्डमें क्षायिक सम्यग्दृष्टि देश-संयत मनुष्य तकको नीच गोत्री बतलाया है, जो कि कर्मभूमिया मनुष्य ही हो सकता है। इस प्रकार जब कर्मकाण्ड मनुष्योंको उच्चगोत्री और नीचगोत्री दोनों गोत्र वाला स्पष्ट बतलाता है तो ऐसी हालत में वकील सा० का जयधवला और लब्धिसारके उद्धरणोंका उससे विपरीत अर्थात् "सभी मनुष्य उच्चगोत्री हैं" आशय निकालना बिल्कुल अयुक्त है प्रत्युत इसके, जयधवलाकार व लब्धिसारके कर्ता-के मतसे जब यह बात निश्चित है कि 'म्लेच्छखंड-के अधिवासियोंमें संयमग्रहणपात्रता न होने पर भी वह आर्यखण्डमें आ जानेके बाद सत्समागम आदिसे प्राप्त की जा सकती है तो इसका सीधा सादा अर्थ यही होता है कि उनके गोत्र-परिवर्तन हो जाता है और ऐसा मानना गोम्मटसार सिद्धान्त ग्रन्थके साथ एक वाक्यताके लिये आवश्यक भी है। यह गोत्र-परिवर्तन करणानुयोग, द्रव्यानुयोग, चरणानुयोग और प्रथमानुयोगसे विरुद्ध नहीं— यह बात हम अगले लेखद्वारा बतलावेंगे।

आर्यखण्डके विनिवासी मनुष्योंमें भी कोई उच्चगोत्री और कोई नीचगोत्री हुआ करते हैं और जो नीचगोत्री हुआ करते हैं वे ही शूद्र कहलाने लायक होते हैं, इसका अर्थ आजके समयमें यह नहीं लेना चाहिये कि जो शूद्र हैं वे नीच गोत्री हैं, कारण कि आजके समयमें बहुतसी उच्च जातियों-का भी शूद्रोंके अन्दर समावेश कर दिया गया है; और जहाँ तक हमारा खयाल जाता है शायद यही वजह है कि जैनविद्वानोंको सत् शूद्र और असत् शूद्रोंकी कल्पना करनी पड़ी है*। कुछ भी हो परन्तु इतना तो मानना ही चाहिये कि आर्यखण्डके अधिवासी जो मनुष्य नीच गोत्री हैं वे शूद्र हैं और वे ही कर्मकाण्डके अनुसार पञ्चम गुणस्थान-वर्ती क्षायिक सम्यग्दृष्टि तक हो सकते हैं। इस विषयमें धवलसिद्धान्त भी कुछ प्रकाश डालता है—

धवलसिद्धान्तमें गोत्रकर्मका निर्णय करते हुए एक जगह लिखा है कि—"उच्चैर्गोत्रस्य क्व व्यापारः" अर्थात् उच्चगोत्र कर्मका व्यापार कहाँ होता है ? इस शंकाका समाधान करनेके पहिले बहुतसे पूर्वपक्षीय समाधान व उनके खण्डनके सिलसिलेमें लिखा है— † "नेक्ष्वाकुकुलाद्युत्पत्तौ (उच्चैर्गोत्रस्य व्यापारः) काल्पनिकानां तेषां परमार्थतोऽसत्त्वात्, विड्-ब्राह्मण-साधुष्वपि उच्चैर्गोत्रस्योदयदर्शनाच्च"।

अर्थ—"यदि कहा जाय कि इक्ष्वाकु कुल आदि क्षत्रिय कुलोंमें उत्पन्न होनेमें उच्चगोत्र कर्मका व्यापार है अर्थात् "उच्चगोत्र कर्मके उदयसे जीव इक्ष्वाकुकुल आदि क्षत्रिय कुलोंमें उत्पन्न होता है" ऐसा मान लिया जाय तो ऐसा मानना ठीक नहीं है; क्योंकि एक तो ये इक्ष्वाकु आदि क्षत्रिय कुल वास्तविक नहीं हैं, दूसरे वैश्य, ब्राह्मण और साधु-ओंमें भी उच्चगोत्र कर्मका उदय देखा जाता है अर्थात् आगममें इनको भी उच्चगोत्री बतलाया गया है"

---

* इन सभी बातोंके ऊपर यथाशक्ति और यथा-संभव अगले लेख-द्वारा प्रकाश डाला जायगा।

† धवलग्रन्थका यह उद्धरण मुख़्तार सा० के "ऊँचगोत्रका व्यवहार कहाँ ?" शीर्षक अनेकान्तकी गत दूसरी किरणमें प्रकाशित लेख पर लेलिया गया है।

इसमें उच्चगोत्रकर्मके उल्लिखित लक्षणको असंभवित और अव्याप्त बतलाया गया है, अव्याप्त इस लिये बतलाया गया है कि वह लक्षण उच्च गोत्रवाले वैश्य ब्राह्मण और साधुओंमें नहीं प्रवृत्त होता है। क्योंकि वैश्य और ब्राह्मणोंके कुल क्षत्रिय कुलोंसे भिन्न हैं तथा साधुका कोई कुल ही नहीं होता है, उसके साधु होनेके पहिलेके कुलकी अपेक्षा भी नष्ट हो जाती है, यही कारण है कि कुलोंकी वास्तविक सत्ता धवलके कर्त्ताने नहीं स्वीकार की है।

धवल ग्रन्थके इस उद्धरणसे यह साफ तौर पर मालूम पड़ता है कि ग्रंथकार कर्मभूमिज मनुष्य में वैश्य, क्षत्रिय, ब्राह्मण और साधुओंमें ही उच्च गोत्र स्वीकार करते हैं, शूद्रोंमें नहीं। इससे यह तात्पर्य निकालना कठिन नहीं है कि "नीच गोत्री कर्मभूमिज मनुष्य शूद्रोंकी श्रेणीमें पहुँचते हैं।"

यद्यपि मुख्तार सा० ने 'साधु' शब्दके स्थान पर 'शूद्र' शब्द रखनेका प्रयत्न किया है परन्तु वहाँ पर शूद्र शब्द कई दृष्टियोंसे संगत नहीं होता‡ है। वे दृष्टियाँ ये हैं—

१—साधु शब्द यहाँ पर स्पष्ट लिखा हुआ है।

२—क्रमिक लेखमें ब्राह्मणके बाद शूद्रका उल्लेख ठीक नहीं जान पड़ता, यदि ग्रन्थकारको शूद्र शब्द अभीष्ट होता, तो वे 'शूद्र-विड्ब्राह्मणेषु' या 'ब्राह्मण विड्शूद्रेषु' ऐसा उल्लेख करते।

३—व्याकरणकी दृष्टिसे भी 'विड् ब्राह्मण शूद्रेषु' यह पाठ उचित नहीं जान पड़ता है।

४—कर्मभूमिज मनुष्योंमें साधु भी शामिल हैं तथा वे उच्च गोत्री हैं इसलिये उनका संग्रह करने के लिये 'साधु' शब्दका पाठ आवश्यक है। यद्यपि यह कहा जासकता है कि "यहां पर कर्मभूमिज मनुष्योंका ही ग्रहण है" इसमें क्या प्रमाण हैं? इसके उत्तरमें यह कहा जासकता है कि हेतु परक-वाक्यमें ग्रंथकारने उच्चगोत्री देव और भोग-भूमिज मनुष्योंका संग्रह नहीं किया है।

इस प्रकार यह बात बिल्कुल स्पष्ट है कि-सम्मूर्छन और अन्तर्द्वीपज मनुष्योंकी तरह पाँच म्लेच्छखंडोंमें रहने वाले म्लेच्छ और कोई कोई कर्मभूमिज मनुष्य भी नीच गोत्री होते हैं इसलिये बाबू सूरजभानुजी वकीलका यह सिद्धान्त कि-'सभी मनुष्य उच्चगोत्री हैं—' आगमप्रमाणसे बाधित होनेके कारण मान्यताकी कोटिसे बाहिर है। लेख लंबा हो जानेके सबबसे यहीं पर समाप्त किया जाता है। गोत्र क्या? उसकी उच्चता-नीचता क्या? तथा उसका व्यवहार किस ढंगसे करना उचित है? आदि बातों पर आगेके लेख द्वारा प्रकाश डाला जायगा। इति शम्

‡ प्रकरणवश यहां पर यह भी उल्लेख कर देना उचित है कि मुख्तार सा० "आर्यप्रत्ययाभिधान व्यवहार-निबन्धनानां पुरुषाणां संतानः उच्चैर्गोत्रम्" इसके अर्थमें स्पष्टता नहीं ला सके हैं। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि—'आर्य' इस प्रकारके ज्ञान और 'आर्य' इस प्रकारके शब्द-प्रयोगमें कारणभूत पुरुषोंकी संतान उच्चगोत्र है। इसका विशद विवेचन भी आगेके लेखमें किया जायगा।

जगत्सुंदरी-प्रयोगमाला

[लेखक—पं० दीपचंद्र पांड्या जैन, केकड़ी]

अनेकान्त वर्ष २के ६वें अंकमें 'योनिप्राभृत और जगत्सुन्दरी-योगमाला'—शीर्षक एक लेख प्रकाशित हुआ है। उसमें, पं० बेचरदासजीके गुजराती नोटोंके आधार पर, उक्त दोनों ग्रन्थोंके संबंधमें, संपादक महोदयने परिचयात्मक विचार प्रकट किये हैं। उक्त लेखसे प्रभावित होकर "जगत्सुन्दरी-प्रयोगमाला" की स्थानीय प्रतिका बहिरंग और अंतरंग अध्ययन करनेके पश्चात् मैं इस लेखद्वारा अपने विचार अनेकान्तके पाठकोंके सामने रखता हूँ।

जगत्सुन्दरी प्रयोगमालाका साधारण परिचय

यह एक वैद्यक ग्रंथ है। इसकी रचना प्रायः प्राकृतभाषामें है। कहीं कहीं बीच बीचमें संस्कृतगद्यमें और मंत्रभागमें कहीं कहीं तत्कालीन हिन्दी कथ्य भाषा भी है। इसके अधिकारोंकी संख्या ४३ है।

स्थानीय प्रतिका इतिहास

स्थानयप्रतिमें ५७ पृष्ठ हैं और हर एक पृष्ठमें २७ गाथा, इस तरह इस प्रतिमें करीब १५०० गाथाएँ हैं। स्थानीय प्रति अधूरी है—कौतूहलाधिकार तक ही है। यह अधिकार भी अपूर्ण है। शाकिनी विद्याधिकारका भी १पृष्ठ उडा हुआ—गायब है। इस ग्रन्थकी एक शुद्ध प्रति जौहरी अमरसिंहजी नसीराबाद वालोंके पास है। आजसे ७-८ वर्ष पूर्व उस प्रतिको पं० मिलापचन्दजी कटारया केकड़ी लाये और प्रतिलिपि कराई। प्रतिलिपिकारके हस्तलिखित ग्रन्थोंके पढ़नेमें अनभ्यस्त होनेकी वजहसे प्रतिमें बहुत अशुद्धियाँ होगई हैं।। खैर, जैसी कुछ प्रतिलिपि है उसीके आधार पर यह लेख तैयार किया गया है, और इसीमें सन्तोष है।

कर्तृत्व-विषयक उल्लेख

इस ग्रंथके कर्ता जसकित्ति–यशःकीर्ति मुनि हैं, जिसके स्पष्ट उल्लेख प्रतिमें इस प्रकार हैं—

जस-इत्ति-णामगुणिणा भणियं णाऊण कलिसरूवं च।
वाहि-गहिउ वि हु भव्वो जह मिच्छत्ते ण संगिलइ॥

—प्रारंभिक परिभाषा-प्रकरण, गाथा १३

णियहेव्वा जसइत्ती महि वलए जेण मणुवेण।

—आदिभाग, गाथा २७

इय जगसुंदरी-पओगमालाए मुणि जसकित्तिविरइए······ णाम······अहियारो समत्तो।

—प्रत्येक अधिकारकी अन्तिम संधि

जस-इत्ति -सरिस-धवलो* उ अमय-धारा-जलेण वरिसंत चिंतिय-मित्ता थंभइ हु आसणं अप्प मिच्चु-त्व॥

—शाकिन्यधिकार, गाथा ३६

ग्रंथकारका समय

यशःकीर्ति मुनि कब और कहाँ हुए, इन्होंने किन किन ग्रन्थोंकी रचना की और इनके सम-समायिक

*** प्रो० ए०एन० उपाध्यायकी प्रतिमें इस गाथाका दूसरा चरण "तुअमयधरो जलेणवरिसंति" ऐसा दिया है। और उत्तरार्धमें 'हु'की जगह 'दु' तथा 'मिच्चुव्व'की जगह 'मिच्चुव' पाठ पाया जाता है। —सम्पादक**

विद्वान्-शिष्यादि कौन कौन थे इस विषयमें साधनाभाव तथा स्थानीय प्रतिके प्रशस्ति-विकल होनेके कारण हम निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं लिख सकते। केवल अनेकान्तमें प्रकाशित दक्कनकालिज पूनाकी प्रतिके लिपि-संवत्के आधार पर इतना कह सकते है कि ये १५८२ विक्रमसे पहले हुए हैं। यशःकीर्ति नामवाले जैनमुनि कई होगये हैं—

१—प्रबोधसार ग्रंथके कर्ता।

२—जगत्सुन्दरीके कर्ता, इनके गुरुका नाम धणेसर, सं० १५८२ वि० पूर्व, पर कितने पूर्व यह अज्ञात है।

३—सुनपत नगरके पट्टस्थ-१५७५ वि० में होनेवाले गुणभद्र भ०के दादागुरु। ये माथुर संघके पुष्कर गणमें हुए हैं, समय १४७५-१५०० विक्रमाब्दके लगभग।

४—मूलसंघीय पद्मनंदि भ० के प्रशिष्य सकलकीर्तिके शिष्य और पांडवपुराणादिके कर्ता शुभचन्द्रके गुरु समय १५७५से पूर्व†

५-६ माघनंदि तथा गोपनंदिके शिष्य; इनका वर्णन "जैन शिलालेखसंग्रह" के ५५ वें लेखमें है।

७—विश्वभूषणके शिष्य, जो माथुर संघके नंदीतटगण के हैं; समय १६८३ विक्रमके लगभग।

यशःकीर्ति नामके और भी कई मुनि हुए होंगे, हमें उनके विषयमें हाल ज्ञात नहीं है ‡।

† इनका नाम 'पार्श्वभवांतर' नामक प्राकृत काव्यमें जसकित्तिके बजाय जयकीति है।

‡ इनके अतिरिक्त 'यशःकीर्ति' नामके जिन और विद्वानोंका परिचय अथवा उल्लेख मेरे रजिष्टर (ऐतिहासिक खाताबही)में दर्ज स प्रकार है—

१ गुणकीर्तिके शिष्य और पांडवपुराण तथा हरिवंशपुराण प्रा० के कर्ता। २ ललितकीर्तिके शिष्य और धर्मशर्माभ्युदयकी 'संदेहध्वान्तदीपिका' टीकाके कर्ता। ३ चंद्रप्रभु चरित्रके कर्ता। (ये तीन ग्रन्थ जयपुर पाटोदीके मंदिरमें हैं) ४ रत्नकीर्तिके दीक्षित शिष्य और गुणचन्द्रके गुरु। ५ नेमिचन्द्रके पट्टशिष्य। ६ हेमचन्द्रके प्रपट्ट और पद्मनन्दिके पट्टशिष्य तथा क्षेमकीर्तिके गुरु (लाटीसंहिता प्र०)। ७ गणितसार संग्रहकी एक प्रति वि०सं०१८२३ में अपने हाथसे लिखने वाले।

—संपादक

इस ग्रंथके अधिकारोंकी गाथाएँ

प्रारंभिक परिभाषादि प्रकरणकी गाथाएँ ५४, १ ज्वराधिकारकी ४७, २ प्रमेहकी ६, ३ मूत्रकृच्छ्रकी १२, ४ अतिसारकी २१, ५ ग्रहणीकी ५, ६* पाण्डुकी ७, ७ रक्तपित्तकी १०, ८ शोषकी ११, ६ आमवातकी ६, १० शूलकी ५, ११ विशूचिकाकी १०, १२ गुल्मकी १८, १३ प्रदरकी १४, १४ छर्दिकी ६, †१५ तृष्णाकी २१, १६ हर्षकी १५, १७ हिक्काकी ७, १८ कासकी १७, १६ कुष्ठकी ४७, २० शिरोरोगकी २४, २१ कर्णरोगकी १७, २२ श्वासकी ७, २३ व्रणकी = ३३, २४ भगंदरकी ६, २५ नेत्ररोगकी ३६, २६ नासारोगकी ६, मुखरोगकी ६, २८ दंत रोगकी १३, २६ कंठरोगकी १०, ३० स्वर भेदकी ८, ३१ शाकिनी-भूतविद्याकी २६०, ३२ बाल-रोगकी स्वमत ७२, रावणकृतकुमारतंत्रके अनुसार ७७, ३३ पलित हरणकी ÷ अनुमान ३००, ३४ वमनकी १०, ३५ कौतूहलाधिकार अपूर्ण उपलब्ध प्रमाण २४०,

शेष अनुपलब्ध ८ अधिकारोंके नामकी गाथाएँ इस प्रकार हैं—

* इसमें राजवंध क्षयका भी वर्णन है।

† इसमें भ्रम व अग्निवर्धनका भी वर्णन है।

= इसमें नाड़ी व्रण गंडमालाका भी वर्णन है।

÷ इस अधिकारके अन्तमें संधि नहीं है।

आला-गद्दह लूया, छत्तीसा सत्ततीस बोद्धव्वा
रा(ए)ईयइया हियागे यायव्वो अट्ठतीसो य ।२१।
विसतत्तस्सऽहियारो उणतालीसो मुणीहिं पण्णत्तो ।
कामतत्ताहियारो चालीसो एकताल तियविज्जो ।२६।
बादाल गंधजुत्ती तेदाल सरोवई उ उवएसो ।

३६ जाला-गर्दभ (क्षुद्ररोग), ३७ लूता (क्षुद्र विष), ३८ राईएइय (?), ३९ विषतत्व (तंत्र), ४० कामतत्व (तंत्र), ४१ तियविज्ज (स्त्रीवैद्य ?), ४२ गंधयुक्ति ?, ४३ सरोवई (स्वरोत्पत्ति ?)

इस तरह इसग्रंथमें * पूरे ४३ अधिकार हैं । अनुपलब्ध ८ अधिकार पूनाकी प्रतिमें अवश्य होंगे; ऐसी संभावना है ।

ग्रंथका प्रारंभिक भाग

‡ मयणकरिणो विदियणं संजमणहरेहिं जेण कुंभयडं
तं भुवणे सुमइंदं † णमहजए पसरिवपथावम् ॥१॥
तयणमह जोइणाइं असरीरो कोहमोहमयहीणो
जीणो परमम्मि पए निरंजणो को वि परमप्पा ॥२॥
तयणमहसुयाएवि(वी) जीए(जाण)पसाराण सयलसत्थाणं
गच्छंति झत्ति पारं बुद्धिविहीणा वि लोयम्मि ॥३॥
सुयणाणं मज्झि (उज्झ) णमोजस्स (जाण) पसाराण
एत्थ इट्ठसंपत्तं
णमिऊण तस्स चलणे भावेण धनेसरगुरुस्स ॥४॥
णमिऊण परमभत्तीए सज्जणे विमलसुन्दरसहावे
जे णिग्गुणे वि कव्वे इच्छिति (१) दोसा ण जपंति ॥५॥

* अनेकान्तमें किसी किसी अधिकारका नाम ग़लत छप गया है ।

‡ कोष्टकके पाठ अशुद्ध हैं ।

† प्रो० ए० एन० उपाध्यायजीकी प्रतिमें 'भुवणे-समुइंदं' पाठ है । इसीतरह और भी कुछ साधारण पाठभेद हैं । —सम्पादक

णमिऊण दुज्जणे तह परतंति (१) करण तल्लच्छे
जे सुन्दरे वि कव्वे गुणा वि दोसत्तिया वेंति ॥६॥
दोसेहिं तेहिं गहिवे हिं णाम (१) सेसगुणाणीय महत्था
जायंति तेण णमिमो सज्जाण परमाए भत्तीए ॥७॥

इन सात गाथाओंके बाद "णमिऊणपुव्वविज्जं" आदि वे ५ गाथाएँ हैं जो अनेकान्त पृ० ४८८ की "कुवियगुरुपायमूले" नामकी गाथाके बाद प्रकाशित हुई हैं । उनका इस प्रति परसे इस प्रकार पाठभेद * पाया जाता है—गाथा ८—पुव्वविज्जे (ज्जं), आउविज्जतओ (विज्जं तु), गाथा ९— सुललियपयबंध (पवयण) भुवणम्मि कव्वं (सारं); गाथा १०—अम्हाण पुणो परिमियमईण (अम्हण पुणो परिमियमयण), विद्धि मणसेण (वेहसवणेण); गाथा ११—काममूलं (मोक्खं) गाथा १२—हारीयच्चरय (गग्ग) सुस्सुवविज्जयमत्थं अयाणमाणो वि(उ)। जोगेहिं तवयमाला (जोगा तहवि) भणामि जगसुन्दरीणाम

इन १२ गाथाओंमेंसे आदि की ४ गाथाओंमें क्रमसे सुमतींद्र अथवा सुमृगेंद्र (सुमइंद) को सिद्ध और श्रुत-देवीको तथा अपने गुरु धनेश्वरको प्रणाम किया है, गाथा५-६-७में सज्जन-दुर्जनको नमस्कार किया है और १२वीं गाथामें अपनी लघुता प्रकट करते हुए ग्रंथकारने जगत्सुन्दरीयोगस्तवकमाला कहनेकी प्रतिज्ञा की है ।

चिकित्साके एक अधिकारका नमूना

सामणिरामो वाऊ गहणीदोसं च वए लोए ।
सव्वं बलपरिभावं दाहं अणुवासणं होइ ॥१॥
अहवा बहु विरुआई मलसंघं पडइ पुण वम्मस्स ।
अह उड्ढं चिय धावइ अइव सिही मंधओ होइ ॥२॥
इहया-ऽऽमोय-बिल्लं महोसहं दाडिमं जहा तह य ।
एकम्मि कओ कक्कुओ पीओ गहणीए (प) णासेइ ॥३॥

* कोष्टकके पाठ अनेकान्तके हैं ।

णायर-पच्छा तह दाडिमंच मगहाए संजुत्तं ।
णागुत्तरेण पीयं पणासणं गहणि-रोयस्स ॥४॥
जंबं-बु-(व) बिल्ल-मज्जं कविल्थ-सुरदारु-णायरा-सहियं
रस-मंडेणं पीयं णासइ गहणी स अइसारं ॥५॥ ॐ
इय जगसुन्दरीपओगमालाए मुणिजसकित्तिविरइए गह-
णीपसमणो णाम पंचमो-हियारो सम्मत्तो ।

इस अधिकारमें आदि की दो गाथाओं-द्वारा रोगका निदान अवस्थाभेद और उपचारका कथन किया है और अन्त की ३ गाथाओंमें ग्रहणीनाशक तीन प्रयोग दिये हैं, वे इस प्रकारहैं —

योग १—चित्रक, अजमोद, बेलगिरी, सोंठ, अनारदाने, जव (या इन्द्रजव) (सवसम भाग) इनका एकत्र खलुअ (काढ़ा ?) पीनेसे संग्रहणी नास होती है ।

योग २—सोठ १ भा० हरड २ भा०, अनारदाना ३ भा० पीपल ४ भाग—सबको चूर्ण करके सेवन करने से संग्रहणी शांत होती है ।

योग ३—जामुनकी, आमकी, और बेलकी मजा (गिरी या गूदा), कैंथ (कवीठ), देवदारू, सौंठ, समभाग चूरण करके चांवलके मांडसे पीनेसे अतिसार (दस्त) और संग्रहणी नाश होती है ।

ॐ प्रोफेसर ए० एन० उपाध्यायकी प्रतिमें इस अधिकारकी गाथाएँ ६ दी हैं। यहाँ ४थी गाथाका जो उत्तरार्ध दिया है वह उसमें ५वीं गाथाका उत्तरार्ध है और यहाँ जो गाथा ५वें नं० पर दी है वह उसमें छठी गाथा है। ४थी गाथाका उत्तरार्ध और ५वींका पूर्वार्ध क्रमशः उसमें निम्न प्रकार दिये हैं—

बद्धागुडेण वडया दिज्जइ गहणीविणासेइ ।
हिंगुसोवच्चलं सुंठी पच्छा तह विडंगचुण्णसंजुत्तं ।

इन गाथाओंके पाठमें और भी कुछ साधारण-सा भेद है । —सम्पादक

जगसुन्दरीके 'उक्तंच' आदि आधारभूत उल्लेख

१—"‡विस-वेयण-रत्तक्खय-भय-सत्थग्गहण-संकिलेसेहिं ।
उस्सासा-ऽऽहाराणं णिरोहणं (दो) छिज्जदे आऊ ।"

—परिभाषाप्रकरण, गाथा ३०

२—"यदुक्तं—भोजनीय माहिषदधि, ग्रहणी-विकारे भक्तं मुग्दरसंच । अपर-वटिकायां रोगिणं बहुभिर्वस्त्रैः प्रच्छाद्या (दयेत्), यावत्प्रस्वेदं निर्गच्छति ⋯ गात्रे तदुत्युच्छायत्ततः (?) नो चंद (चेत्) भद्रकं भवति तृ (त्रि) दोषवटिका—"

—पलितहरणाधिकारे, पत्र ४३

३—"बीशलेनोक्तं—पारद मासा १ ताम्र प (पा) त्रां मण्डूकपर्णीरसेन श्रुतिकैका दिनमेकपर्यन्तं, ततः केशराजरसेन, (ततः) तितिरंडारसेन, ततो मुद्ग-प्रमाण-वटिका कार्या ज्वरे सन्निपातादौ पूर्वोपचारेण सप्ताहमेकं पिबेत् । चक्षुः-शूल विस्फोटक-कृतानि वर्जयित्वा सर्वव्याधीनुपशामयति ।"

—पलितहरणाधिकारे, पत्र ४५

४—"सिंह-प्रसेणमवदी सिंहो जांबवतो हतः ।
सुकुमार-कुमारो दी तव ह्येष समंतक, । ७५-७८१ इति
अह पणमिऊण सिरसा मुणिसुव्वय-तित्थणाह-पय-जुअलं
वोच्छामि बालतंतं रावण-रइयं समासेण ॥१॥"

—बालरोगाधिकारका मध्य भाग

५—"एवंभूततत्त्थरं संखित्तं भासियं मए एत्थ
वित्थरदो णायव्वो सुग्गीवमए अहव जाणिणी हि यण७३
अइसय अच्छरियाओ महग्घ-अइरयण-पाहुडवराओ
सुहमणयट्ठदभंगिय विसुद्धभूयत्थसत्थाओ ॥७४॥
मुणिजणणमंसियाओ कहिं पि णाऊण विंदु-सय-भायं
वोच्छामि किंपि पयदो जिणवयणमहा समुद्दाओ ॥७५॥

—शाकिन्यधिकारमें, ज्वालामालिनी-स्तोत्रके बाद

‡ यह गाथा गोम्मट-कर्मकांडकी है ।

तत्कालीन कथ्यभाषाका नमूना

"मुल घाटी काठे मंत्र—(शाकिन्यधिकारे)

* कुकासु बाढहि उरामे देव कउ सुजा हासु खाडतु (सूर्यहास खङ्ग) कुकास वाढइ हाकउ कुरहाडा लोहा राणउ आरणु वम्मी राणी काठवत्तिम साणा कीभिणि जे गेउरिहि मंत, ते रुप्पिणिहिं तोडउ सुलूके मोडलं सूलु घाटीके मोडउं घाटंतोडउं काठेके मोडउं कांठे सूलघाटी। कांठे मंत्र—"उड मुड स्फुट स्वाहा ।" इसके आगे कक्ख-विलाई (कांख की गांठ-कांखोलाई) का मंत्र है।

जगत्सुन्दरीके विशेष विवरण और विशेषताएँ

१—"पलितहरण" नामक ३३वें अधिकारमें कई रसायन (कीमिया) के प्रयोग हैं, और उसमें 'हस्तिपदक, विडालपदक, तोला, मासा, रत्ती, ये मापवाची शब्द आये हैं। उन प्रयोगोंको प्रायः सरस संस्कृत गद्यमें लिखा है और 'हिंडिका' (हांडी) जैसे कथ्यशब्द काममें लाये गये हैं।

२—"कौतूहलाधिकार" नामक ३५वें अधिकारका आयुर्वेदके साथ कोई खास संबंध नहीं है; फिर भी इस अधिकारमें कई चमत्कारी वर्णन है पर उनमें मधुमांस खून आदिका खुले तौर पर विधान है। हो सकता है कि ये जैनत्वकी दृष्टिसे नहीं—पदार्थ-शक्ति-विज्ञान (साइंस) की दृष्टिसे कुछ महत्व रखते हों। ऐसी रचना विरक्तसाधुकी न होकर भट्टारक मुनियों की हो सकती है। इनके जमानेमें मंत्र-तंत्र-चमत्कारसे अधिक प्रभाव होता था।

३—उपलब्ध महाधिकारोंके आदिमें मंगलाचरण पाया जाता है, छोटे अधिकारोंमें नहीं। भिन्न-भिन्न मंगलमें भिन्न-भिन्न तीर्थंकरको नमस्कार किया है।

४—इसका ३६वां जालागद्द अधिकार नहीं हैं। उस अधिकारमें अनेकान्त पृ० ४८८ पर मुद्रित "ओं नमो पार्श्वरुद्राय" मंत्रकी संभावना होनी चाहिये। कुछ शब्दपरिवर्तनके साथ यही मंत्र मतिसागरसूरिके "विद्यानुशासन" में पाया जाता है।

५—३८वें और ४३वें अधिकारोंके नाम समझमें नहीं आये। हो सकता है, अनुपलब्ध अधिकारोंमें सुभिक्ष; दुर्भिक्ष, मानसज्ञानादि, व विद्याधरवापीयंत्रादि, धातुवाद और मंत्रवादका उल्लेख हो। "मंत्रवाद" नामसे मंत्रविषयक महान् ग्रंथ होना भी चाहिये, इसका उल्लेख रामसेनके 'तत्वानुशासन' और 'विद्यानुशासन' में भी पाया जाता है, या ये वर्णन 'जोणीपाहुड' के होंगे।

६—'ज्वालामालिनीस्तोत्र' का ग्रंथका अंगत्व।

७—† रावणकृत 'कुमारतंत्र' के अनुसार वर्णन और सुग्रीवमत व ज्वालिनीमतका उल्लेख आदि।

'कुवियगुरु' गाथा पर विचार

कुवियगुरु पायमूले गहु लद्धं अम्हि पाहुडं गंथं।
अहिमाणेण विरइयं इय अहियारं सुस……… ऊ।

प्रथम तो यह गाथा त्रुटित है, और 'णमिऊण पुव्वविज्जे' गाथाके पूर्व तो इस गाथाकी स्थिति ही संदिग्ध है। शायद यह अशुद्ध भी हो और 'अहिमाणेण' की जगह 'अहियाणेण' पाठ हो, तब 'कुविय' पदका क्या अर्थ है? 'कुविय' के अर्थ कोषमें कुपित और कुप्य हैं। 'कोऽपिच' या 'किमपिच' अर्थ हो जावे तो किसी तरह यह अर्थ हो सकता है कि गुरुपादमूलमें (अणेण अहिया कुविय) इससे अधिक कोई पाहुड ग्रंथ हमने नहीं पाया। (इय) इस प्रकार यह अधिकार रचा गया है; फिर भी 'अम्हि' पद और त्रुटितपद क्या है? यदि निर्दिष्ट अर्थ ठीक हो तो 'जोणिपाहुड' की यही अंतिमसमाप्ति सूचक गाथा होनी चाहिये। खोज की काफी ज़रूरत है।

---

* इस मंत्रमें दशरा-मशरा जैसी अशुद्धियां होंगी।

† यह कुमारतंत्र विद्यानुशासनमें आया है और वेंकटेश्वर प्रेस बंबईसे मुद्रित हो चुका है।

अनेकान्तके लेखांश पर विचार

"जोणिपाहुड" की गाथा-संख्या ६१६ ही है या कम ज्यादा, इसके कर्ता धरसेन हैं या पराहसवरा, यह एक प्रश्न है ? गुजराती नोटोंके आधारसे सिद्ध होता है कि 'पराहसवरा' मुनिने भूतबलि-पुष्पदंतके लिए ‡कूष्मांडी देवीसे उपदिष्ट जोणिपाहुडको लिखा। पराहसवराका अर्थ 'प्रश्नश्रवण' के बजाय 'प्रज्ञाश्रमण' * हो तो अच्छा है। तब सहज ही में यह जाना जा सकता है कि या तो धरसेनका नामान्तर पराहसवरा हो या धरसेन और पराहसवरा दो अलग अलग आचार्य हों। और उनमेंसे भूतबलि पुष्पदंतके सिद्धांतगुरु धरसेन और मंत्रादिके गुरु पराहसवरा हों। प्रबल प्रमाणके बिना बृहट्टिप्पणिका-का "जोणिपाहुडं वीरात् ६०० धारसेनं" उल्लेख भी ग़लत कैसे कहा जासकता है, ग़लत हो भी सकता है पर जोणिपाहुडके प्राचीन होनेपर ही "धवल" में उसके नामोल्लेख किये जानेकी संगति ठीक बैठ सकती है, अन्यथा नहीं।

पूनावाली प्रतिमें "कुवियगुरु" गाथाकी स्थिति बहुत कुछ गडबडीमें हैं, यह स्वयं संपादक महोदयने अपने लेखके अंतभागमें स्वीकार किया है। तब उसमें के "अहिमाणेण" पद परसे और बेचरदासजी लिखित 'लघु' विशेषण परसे,† गाथाके भूतबलि पदको छोड़कर पुष्पदंत कवि ही की क्लिष्टकल्पना करना कहाँ तक संगत हो सकता है †। 'अहिमाणेण विरइयं' और 'पराहसवरा-मुणिणा विरइए' ये दोनों पद परस्पर विरुद्ध हैं। यह बात खास ध्यान देने योग्य है। फिलहाल जोणिपाहुडके कर्ता पराहसवरा ही हैं ऐसा ठीक है।

‡ कूष्मांडीदेवी नेमिनाथकी शासनदेवी है। इंद्र-नन्दीके श्रुतावतारके अनुसार भूतबलि पुष्पदंतने विद्याकी साधना भी की थी। हो सकता है कि कुष्मांडीदेवी ही उनके सामने उपस्थित हुई हो।

* यह नाम 'प्राज्ञश्रमण' भी हो सकता है।

† यह गाथांश 'भूयबलिपुप्फयंतआलिहिए' इस प्रकार है।

जोणिपाहुडका अपर-ग्रंथकर्तृत्व

इतने विवेचनके बाद भी हम कुछ निर्णय नहीं दे-सकते; फिर भी जोणिपाहुड़को धरसेन-रचित ही मानें तब कहना होगा कि जगत्सुन्दरी कर्ताके गुरुके "धणे-सर" ये नामाक्षर ही तो कहीं प्रत्यंतर (दूसरी प्रति) में उलट पुलट होकर "धरसेन" नहीं बन गये हैं। जैसे जोणिपाहुडके कर्ता 'धरसेन' समझे गये वैसे ही प्रत्यंतर में जगत्सुंदरीके कर्ता ग़लतीसे 'हरिषेण' समझे गये हों। जोणिपाहुड और जगत्सुन्दरी दोनों प्राकृतप्रधान जैन-वैद्यक ग्रंथ होनेके कारण "पूना-प्रति" जैसी ही दोनों ग्रंथोंकी संयुक्त अन्य प्रति लिखी गई हो और लेखकोंकी नासमझीसे कुछका कुछ समझा गया हो।

इतना सब कुछ लिखनेके बाद भी योनिपाहुडके विषयमें तबतक मैं अपना निश्चित मत नहीं दे सकता जब तक कि उसका अध्ययन न कर सकूँ।

इसतरह जगत्सुन्दरीका कर्ता यशःकीर्त्ति है—हरि-षेण नहीं; तब इस प्राकृतग्रंथकी "**इति पंडित श्री हरि-षेणेन**" आदि संस्कृत संधि और उसमें **योनिप्राभृतके अलाभवाली** बात भी ग़लत और निःस्सार ही है, जोकि ग्रंथकी आदि की १२ गाथाओंसे और कर्तृत्व-

† भूतबलिके साथी पुष्पदन्तकी यहाँ कोई क्लिष्ट कल्पना नहीं की गई है, बल्कि अभिमानमेरु नामसे भी अङ्कित एक दूसरे ही पुष्पदन्त कविकी कल्पना की गई है, जिनका बनाया हुआ अपभ्रंश भाषाका महा-पुराण है। —सम्पादक

विषयकउल्लेखसे स्पष्ट है। हाँ, यशःकीर्ति (कर्ता) ने शाकिन्यधिकारकी उद्धृत ७६वीं और ७३वीं गाथाओंमें 'अइरवखपाहुड' और 'सुग्रीवमत' व 'ज्वालिनीमत' का उल्लेख अवश्य किया है।"ज्वालिनीमत" मंत्रवादके लिए प्रसिद्ध भी है।

जैनों की लापरवाहीसे जिनवाणीके अङ्ग छिन्नभिन्न होते जा रहे हैं। इस बातकी कुछ झलक पाठकोंको इस लेख द्वारा मालूम होगी। जैनी लोग जिनवाणीके प्रति अपना समुचित कर्तव्य पालन करेंगे इसी भावनासे यह लेख प्रस्तुत किया गया है।

सम्पादकीय नोट—

अनेकान्तकी गत ६वीं किरणमें प्रकाशित 'योनिप्राभृत और जगत्सुंदरी-योगमाला' नामक मेरे लेखको पढ़कर सबसे पहले प्रोफेसर ए. एन. उपाध्यायने 'जगत्सुंदरीयोगमाला' की अपनी प्रति मेरे पास रजिष्टरीसे भेजनेकी कृपा की, जिसके लिये वे धन्यवादके पात्र हैं। साथ ही, यह सूचित करते हुए कि वे अर्सा हुआ स्वयं इस ग्रंथ पर लेख लिखनेका विचारकर रहे थे परन्तु उन्हें अब तक योग्य अवसर नहीं मिल सका, मुझे ही लेख लिखनेकी प्रेरणा की। ग्रन्थावलोकनके पश्चात् मैं लेख लिखना ही चाहता था कि कुछ दिन बाद पं० दीपचंदजी पांड्याका यह लेख आ गया। इसमें ग्रंथका कितना ही परिचय देखकर मुझे प्रसन्नता हुई; और इसलिये मैंने अभी इस लेखको दे देना ही उचित समझा है।

उपाध्यायजीकी प्रति फलटणके मिस्टर वीरचन्द कोदरजीकी प्रतिकी ज्योंकी त्यों नक़ल है—उसमें मूलप्रतिसे मुक़ाबलेके सिवा सुधारादिका कोई कार्य नहीं किया गया है—और कोदरजीकी प्रति जयपुरकी किसी प्रति परसे उतरवाई गई थी। यह प्रति अशुद्ध होनेके साथ साथ अधूरी भी है। इसमें ग्रंथके ४३ अधिकारोंमेंसे आदिके सिर्फ ३२ अधिकार तो प्रायः पूर्ण हैं और ३३वें अधिकारकी ७६॥ गाथाएँ देनेके बाद एकदम ग्रन्थकी कापी बन्द कर दी गई है और ऐसा करनेका कोई कारण भी नहीं दिया और न ग्रंथकी समाप्तिको ही वहाँ सूचित किया है। केकडीकी प्रति लेखकके कथनानुसार नसीराबादके जौहरी अमरसिंहजीकी प्रति परसे उतरवाई गई है, जो अनभ्यस्त लेखक-द्वारा उतरवाई जानेके कारण अशुद्ध हो गई है। साथ ही यह भी अधूरी है। उसमें उपाध्यायजीकी प्रतिसे ३३वें अधिकारकी शेष गाथाएँ (२२४ के करीब), ३४वाँ अधिकार पूरा और ३५वें अधिकारकी २४० गाथाएँ अधिक हैं। शेष ३५वें अधिकारकी अवशिष्ट गाथाएँ और ३६ से ४३ तकके ८ अधिकार पूरे उसमें भी नहीं हैं। इस तरह चार पाँच स्थानोंकी जिन प्रतियोंका पता चला है वे सब अधूरी हैं, और इसलिये इस बातकी खास ज़रूरत है कि इस ग्रंथकी पूर्ण प्रति शीघ्र तलाश की जाय, जिससे ग्रंथके कर्तादि विषय पर पूरा प्रकाश पड़ सके। आशा है जहाँके भंडारोंमें इस ग्रन्थकी पूर्ण प्रति होगी वहाँके परोपकारी तथा ग्रन्थोद्धार-प्रिय भाई उससे शीघ्र ही मुझे सूचित करनेकी कृपा करेंगे।

ग्रंथकी प्रतियोंमें ग्रंथका नाम जगत्सुंदरी-योगमाला और ०प्रयोगमाला दोनों ही रूपसे पाया जाता है, इसीसे लेखकके 'जगत्सुंदरीप्रयोगमाला' शीर्षक तथा नामको भी क़ायम रक्खा गया है। प्राकृतमें जगसुंदरी और जयसुंदरी भी लिखा है। संधियाँ कहीं तो ग्रन्थकर्ताके नामोल्लेख पूर्वक विस्तारके साथ दी हैं और कहीं बिना नामके संक्षेपमें ही, और उनका क्रम उपाध्यायजी तथा केकड़ीकी प्रतियोंमें एक-जैसा नहीं पाया जाता। उदाहरणके लिये केकड़ीकी प्रतिमें 'ग्रहणीप्रशमन' नामके

पाँचवें अधिकारके अन्तमें जो सन्धि दी है, और जिसे चिकित्सा अधिकारके नमूनेमें ऊपर (लेखमें) उद्धृत किया गया है वह उपाध्यायजीकी प्रतिमें निम्न प्रकारसे पाई जाती है—

"आमेणाइय गहणिरोयाहियारो सम्मत्तो"

इससे मालूम होता है कि संधियोंमें ग्रन्थकर्ताके नामका उल्लेख करना-न करना अधिकतर लेखकोंकी इच्छा पर निर्भर रहा है।

सबसे बड़ी बात जो इस ग्रंथके विषयमें विचारणीय है वह ग्रंथकर्ताकी है। पूनाकी प्रतिसे तो यह मालूम होता था कि इस ग्रंथके कर्ता पं० हरिषेण हैं, जिसके लिये उनका निम्न वाक्य बहुत स्पष्ट है, जो उक्त प्रतिमें एक अंक रहित पत्र पर अंकित है--

"इति पंडितश्रीहरिषेणेन मया योनिप्राभृतलाभे स्वसमयपरसमयवैद्यकशास्त्रसारं गृहीत्वा जगत्सुंदरीयोग-मालाधिकारःविरचितः।"

यह वाक्य उपाध्यायजीकी प्रतिमें नहीं है और न लेखकजीने केकड़ीकी प्रतिमें ही इसका होना सूचित किया है। संभव है कि यह ग्रंथके उस भागमें हो जो उक्त दोनों प्रतियोंमें नहीं हैं। उसे देखकर और यदि यह वाक्य हो तो उसकी स्थितिको वहाँ ठीक मालूम करके ही कुछ कहा जा सकता है। इसके लिये ग्रंथकी पूर्ण प्रतिका उपलब्ध होना बहुत ज़रूरी है। उपाध्यायजीने लिखा है कि वे सितम्बर मासकी छुट्टियोंमें पूना जायेंगे और उस समय अपनी प्रतिकी सहायतासे पूना प्रतिकी ठीक स्थितिको मालूम करके जानने योग्य आवश्यक बातोंको स्पष्ट करनेका यत्न करेंगे। ये दोनों बातें होजाने पर प्रकृत विषयका विशेष निर्णय हो सकेगा। अस्तु।

इस समय ग्रंथका जो भाग उपाध्यायजी तथा केकड़ीकी प्रतियोंमें उपलब्ध है उसमें **"मुणिजसइत्ति-विरइए"** इस पदके द्वारा जो कि ग्रंथकी बाज़ बाज़ संधियोंमें पाया जाता है, ग्रंथके कर्ता 'यशःकीर्ति' नामके मुनि मालूम होते हैं। इसीसे उपाध्यायजीने अपनी प्रतिमें इस योगमालाको "जसइत्ति-विरचिता" लिखा है और लेखक महाशयने भी इसी बातका प्रतिपादन किया है। परन्तु ये यशःकीर्ति मुनि कौन हैं, इस बातका अभी किसीको कुछ भी ठीक पता नहीं है। हाँ, एक बात यहाँ प्रकट कर देनेकी है और वह यह कि संधियोंको छोड़कर जिन मूल ४ गाथाओंमें 'जसकित्ति' नामका प्रयोग आया है उनमेंसे तीन गाथाएँ तो वे ही हैं जिन-का पाठ लेखकने 'कर्तृत्वविषयक उल्लेख' शीर्षकके नीचे उद्धृत किया है— अर्थात् प्रारम्भकी १३वीं, २७वीं और शाकिन्याधिकारकी ३६वीं गाथा, शेष चौथी गाथा बालतंत्राधिकारकी अन्तिम ७७वीं गाथा है और वह इस प्रकार है--

इय बालतत्तममलं जं हु सुहयं रावणाइभणियं।
संखित्तं तं मुणिउं जसइत्तिमुणीसरे एत्थ ॥

इनमेंसे २७वीं गाथामें तो **"गिण्हेव्वा जसइत्ती महिवलए जेण मणुवेण"** इस वाक्यके द्वारा इतना ही बतलाया है कि जिस मनुष्यके द्वारा भूमंडलपर यशकीर्ति ग्रहण किये जानेके योग्य है—**अर्थात्** जो मनुष्य उसे प्राप्त करना चाहता है, और ३६वीं गाथामें **"जसइत्ति-सरिसधवलो"** पदके द्वारा 'यशःकीर्तिके समान धवल—उज्ज्वल' इतना ही प्रकट किया गया है। इन दोनों गाथाओंसे यह कुछ भी मालूम नहीं होता कि यह ग्रंथ यशःकीर्ति नामके किसी मुनिका बनाया हुआ है। अब रही दूसरी दो गाथाएँ, इनमेंसे एकमें **'णाऊण'** पद और दूसरीमें **'मुणिउं'** पद पड़ा हुआ है और दोनों एक ही अर्थ **'ज्ञात्वा'**--'जानकरके' केवाचक हैं। पहली गाथा

(नं० १३) में "जसइत्तिणामसुणिणा भणियं णाऊण" इस वाक्यके द्वारा यह प्रकट किया है कि 'यशःकीर्ति नामके मुनिने जो कुछ कहा है उसे जानकरके,' और दूसरी ७७वीं गाथामें बतलाया है कि 'रावणादिकके कहे हुए निर्मल बालतंत्रको यशःकीर्ति मुनीश्वरसे जानकरके इस ग्रंथमें संक्षिप्तरूपसे दिया गया है। इन दोनों गाथाओंसे भी यह ग्रंथ यशःकीर्तिका बनाया हुआ मालूम नहीं होता, बल्कि यह स्पष्ट जाना जाता है कि ग्रंथ यशःकीर्तिके कथनानुसार तथा उनसे मालूमात करके लिखा गया है, और इस तरह यह ग्रन्थ यशःकीर्तिमुनिके किसी शिष्यद्वारा रचा हुआ होना चाहिये—स्वयं यशःकीर्तिके द्वारा रचा हुआ नहीं। और इसलिये ग्रंथकी कुछ संधियोंमें, जिनका ग्रंथकी सब प्रतियोंमें एक आर्डर भी नहीं है, 'मुणिजसइत्ति विरइए' पद सन्देहसे खाली नहीं है।

'यशःकीर्ति' नामके जितने मुनियोंका अभी तक पता चला है उनमेंसे गोपनन्दीके शिष्य तो ये यशःकीर्ति मालूम नहीं होते; क्योंकि उनकी जिस विशेषताका श्रवणबेल्गोलके ५५वें शिलालेखमें उल्लेख है उसके साथ इनका कुछ सम्बन्ध मालूम नहीं होता। बाक़ीके जितने 'यशःकीर्ति' हैं वे सब विक्रमकी १५वीं शताब्दी और उसके बाद हुए हैं। जो यशःकीर्ति मुनि गुणकीर्ति भट्टारकके शिष्य हुए हैं उनका समय १५वीं शताब्दीका उत्तरार्ध और १६वीं शताब्दीका पूर्वार्ध है। उन्होंने सं० १५०० में हरिवंशपुराणको पूरा किया है। ये काष्ठासंघी, माथुरान्वयी पुष्करगणके प्रसिद्ध आचार्योंमें हुए हैं, गोपाचलकी गद्दीके भट्टारक थे और इन्होंने अनेक ग्रन्थोंकी रचना की है। रइधू कविने, अपने सन्मतिचरित्रमें, इनकी बड़ी प्रशंसा की है और इन्हींकी विशेष प्रेरणा तथा प्रसादसे सन्मतिचरित्र आदि ग्रन्थोंका निर्माण किया है। साथ ही, इनके शिष्योंमें हरिषेण नामके शिष्यका भी उल्लेख किया है। यथा—

मुणिजसकित्तिहु सिस्सगुणायरु, खेमचन्द-हरिसेणु तवायरु।

आश्चर्य नहीं जो इन यशःकीर्तिके शिष्य हरिषेणने ही यह 'जगत्सुंदरीयोगमाला' नामका ग्रंथ योनिप्राभृतके अलाभमें रचा हो और इन्हींका वह संस्कृत उल्लेख हो जो पूना-प्रतिके आधार पर ऊपर उद्धृत किया जा-चुका है। संभव है इन्होंने अपने इस ग्रन्थको यशःकीर्तिके नामांकित किया हो और बादको संधियोंमें 'जसकित्तिणामंकिए' के स्थान पर 'जसकित्तिविरइए' बनगया हो। कुछ भी हो, जबतक विशेष खोज न हो तबतक इस ग्रंथको उक्त जसकित्ति मुनिके शिष्य हरिषेणका माननेमें मुझे तो अभी कोई विशेष आपत्ति मालूम नहीं होती। इससे पूना-प्रतिके उक्त उल्लेखकी संगति भी ठीक बैठ जाती है, जो बहुत ही स्पष्ट शब्दोंमें अपने उल्लेखको लिये हुए है।

अब एक बात और रहजाती है, और वह है ग्रंथकी ४थी गाथामें 'धनेसर' (धनेश्वर) गुरुका उल्लेख, ये धनेश्वरगुरु कौन हैं इनका कुछ पता मालूम नहीं होता। संभव है ये ग्रन्थकारके कोई विद्यागुरु रहे हों अथवा इनकी किसी विशेषकृतिसे उपकृत होकर ही ग्रन्थकार इन्हें अपना गुरु मानने लगा हो, और इसलिये परम्परा गुरुकी कोटिमें आते हों; परन्तु दिगम्बरोंमें धनेश्वरसूरिका कोई स्पष्ट उल्लेख मेरे देखनेमें नहीं आया। हाँ, धनेश्वर यदि 'धनपाल'का पर्याय नाम हो तो 'धनपाल'नामके एक प्रसिद्ध कवि 'भविष्यदत्तकथा' के रचयिता ज़रूर हुए हैं, जिनका समय १०वीं ११वीं शताब्दि अनुमान किया जाता है। परन्तु श्वेताम्बरोंमें 'धनेश्वर' नामके कई विद्वान आचार्य होगये हैं। एक धनेश्वरसूरिने वि० संवत् १०६५ में 'सुरसुंदरी कथा' प्राकृतमें रची है, दूसरेने सार्धशतक (सूक्ष्मार्थ-विचारसार) पर सं० ११७१में टीका लिखी है*। मालूम नहीं इनमेंसे कोई वैद्यक तथा मंत्रतंत्रादि-शास्त्रोंके जानकार भी थे या कि नहीं। अस्तु; ग्रंथकारके द्वारा उल्लिखित धनेश्वर गुरु कौन थे, इसकी भी खोज होनी चाहिये।

यह ग्रंथ मुख्यतः प्राकृत भाषामें है, परन्तु कहीं-कहीं अपभ्रंशभाषा तथा संस्कृत भाषाका भी प्रयोग किया गया है। संभव है संस्कृतके कुछ प्रयोग प्रचलित वैद्यक ग्रंथोंसे ही उठाकर रक्खे गये हों। जाँचने की ज़रूरत है, और यह भी मालूम करनेकी ज़रूरत है कि इस ग्रंथको रचते समय ग्रंथकारके सामने दूसरा कौनसा साहित्य उपस्थित था। —सम्पादक

* देखो, 'जैन ग्रन्थावली' पृ. २९२ व ११८

स्त्री-शिक्षा-पद्धति

[ले०—भवानीदत्त शर्मा 'प्रशान्त']

प्रकृति ने स्त्रियों व पुरुषोंको भिन्न भिन्न मनोवृत्तियों का बनाया है। इसलिये उनके उत्तरदायित्व भी भिन्न भिन्न होने चाहियें। पुरुषोंकी अपेक्षा स्त्रियोंमें लज्जा, शान्ति, दया आदि गुण विशेष रूपसे होते हैं, इसीसे पूर्वाचार्योंने भोजन तथा भरणपोषण-सम्बंधी गृहकार्य स्त्रियोंको सौंपा और वे गृहदेवियोंके नामसे पुकारी जाने लगीं।

घर-गृहस्थीका कार्य स्त्रियाँ और बाकी बाहर के कार्योंको पुरुषवर्ग करने लगा। इस तरह लोगों का जीवन सुख-शान्तिपूर्वक बीतने लगा। पर समय बदला। पाश्चात्य शिक्षाका प्रचार बढ़ा। सभी लोग उसीके रंगमें रंगे जाने लगे। स्त्रियों व कन्याओंको भी वही शिक्षा दी जाने लगी। इनकी शिक्षा-पद्धतिमें किसी भी तरह का अन्तर नहीं रक्खा गया। इस शिक्षा-पद्धतिका ध्येय सिर्फ इतना ही रहा कि वह ब्रिटिश गवर्नमेण्ट-सर्विस के लिये क्लर्क पैदा करे अथवा ग्रेजुएट निकाले और इस प्रकार ब्रिटिश साम्राज्यका विस्तार करे।

फल इसका आखिर यह हुआ कि बेकार (आवारा) पुरुषोंके विषयमें तो अखबारोंमें खबरें बराबर छपा ही करती थीं और अब भी छपती हैं; पर अब इसने यहाँ तक उन्नतिकी है कि समाचार-पत्रोंमें—"पाँचसौ आवारा व बेरोजगार लड़कियाँ" "एक हजारसे भी अधिक गुम लड़कियाँ" इत्यादि नामोंके शीर्षक भी आने लगे हैं। गुम होनेका भी प्राय: कारण यही होता है कि पढ़कर लड़कियां नौकरीकी तलाशमें दूर निकल जाती हैं और नौकरी न मिलने पर वे गुम हो जाती हैं। दिनों-दिन यह संख्या बढ़ती जा रही है।

किसी भी देश व जातिकी उन्नति उसकी शिक्षापद्धति पर निर्भर है। यदि किसी देशकी शिक्षापद्धति ठीक है और शिक्षामें शिल्पकलाको

उचित स्थान दिया गया है तथा स्त्रियों व पुरुषों की शिक्षापद्धतिको भिन्न रक्खा गया है तो वह देश जरूर उन्नत होगा और वहाँका एक भी मनुष्य बेरोज़गार व आवारा नहीं होगा।

जापान देश जो आजकल 'पूर्वी ब्रिटेन' कहलाता है उसके शिक्षा-शास्त्रियोंने इस विषयमें बड़ी दूरदृष्टितासे काम लिया है। उन्होंने उपर्युक्त बातोंको भली-भाँति समझा और उनसे ठीक फ़ायदा उठाया। सबके लिये एक ही शिक्षापद्धति न रखकर, स्त्रीशिक्षा-पद्धतिको उन्होंने बिल्कुल ही भिन्न रक्खा है।

वहाँ कन्याओंको गृहकार्यों, सरल-शिल्प और ललितकलाओंमें दक्ष किया जाता है। विद्यालयोंकी शिक्षाके अतिरिक्त माताएँ घर पर भी अनेक प्रकार की सत् शिक्षाएँ देती हैं। बचपनमें ही माताएँ कन्याओंको बड़ोंका आदर करनेका उपदेश करती हैं। इसीसे जापानका पारिवारिक जीवन अधिक सुखमय होता है। चंचलता दबाने और धैर्य धारण करनेकी उन्हें शिक्षा दी जाती है। माता समय समय पर उनकी परीक्षा भी लेती है और देखती है कि जो शिक्षा कन्याओंको दी जा रही है वह कार्यमें परिणत भी हो रही है या कि नहीं। इससे कन्याएँ शीघ्र ही ये गुण सीख जाती हैं। बहुतसी कन्याओंको तो ये सब गुण सिखानेकी आवश्यकता भी नहीं होती, जब कि उनकी माता स्वयं उनके लिये आदर्श होती है। वे स्वयं ही इन गुणों को मातासे ग्रहण कर लेती हैं। मेहमानवाज़ी (अतिथिसत्कार) के लिये तो जापान प्रसिद्ध ही है।

जापानकी लड़कियां हमेशा शान्त व प्रसन्न रहती हैं। विषय-वासना उन्हें नहीं सताती। शोक और क्रोध आदिके अवसरों पर वे सदा धैर्यसे काम लेती हैं। यही कारण है कि जापानकी स्त्रियाँ संसारमें सुशीलताके लिये प्रसिद्ध होरही हैं।

वहाँके छोटे बच्चे बड़े बच्चोंका आदर करते हैं। कन्याके बड़ी होने पर उससे घरका काम-काज करवाया जाता है। नौकरोंके होते हुए भी सफाई और भोजन बनानेका कार्य लड़कियाँ व स्त्रियाँ ही किया करती हैं। सीने-पिरोने और कपड़े धोनेमें भी जापानकी लड़कियां अति निपुण होती हैं। धोबीसे वे शायद ही कभी कपड़े धुलवाती हों।

जापानकी शिक्षा-पद्धतिने जापानकी स्त्रियोंको पत्नी, जननी और देश-सेविका आदिके सच्चे अर्थोंमें परिणत कर दिया है। देवीकी उपमा धारण करनेवाली नारियोंको देवीस्वरूप ही बना दिया है। शिक्षाप्रधान देश होने और शिक्षाका समुचित प्रबन्ध होनेके कारण वहाँके लोग सब शिक्षित हैं और सब स्त्री-पुरुषोंका यह ध्येय होगया है कि हम राष्ट्रके अवयव हैं, हमारा जन्म देश-सेवाके लिये हुआ है और इसी कार्यको करते करते हमारी मृत्यु होगी।

अतः स्त्रियोंकी शिक्षा प्रायः पुरुषोंसे भिन्न होनी चाहिये और उसके लिये हमें बहुत करके जापानका अनुकरण करना चाहिये।

'वीरसेवामन्दिर' सरसावा।
१-८-३९ ई०

श्री बी० एल० सराफ़ एडवोकेटकी श्रद्धाञ्जलि

[वीरशासन-जयंतीके अवसर पर मेरे निमंत्रणको पाकर श्री बी० एल० जी सराफ़ एडवोकेट सागर (मंत्री मध्यप्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन)ने वीरशासनादिके सम्बन्धमें जो अपना श्रद्धाञ्जलिमय पत्र भेजा है वह अनेकान्तके पाठकोंके जाननेके लिये नीचे प्रकट किया जाता है। इससे पाठकोंको मालूम होगा कि हमारे सहृदय अजैन बन्धु भी आजकल वीरशासनके प्रचारकी कितनी अधिक आवश्यकता महसूस कर रहे हैं और इससे जैनियोंकी कितनी अधिक ज़िम्मेदारी उसे शीघ्र ही अधिकाधिकरूपसे प्रचारमें लानेकी हो जाती है। आशा है जैन समाजके नेताओंका ध्यान इस ओर जायगा और वे शीघ्र ही वीरशासनके सर्वत्र प्रचारके लिये उसके साहित्यआदिको विश्वव्यापी बनानेकी कोई ठोस योजना तय्यार करके उसे कार्यमें परिणत करना अपना पहला कर्तव्य समझेंगे। वर्तमानमें वीरशासनके प्रचारकी जितनी अधिक आवश्यकता है उतनी ही उसके लिये समयकी अनुकूलता भी है। क्षेत्र बहुत कुछ तय्यार है, अतः जैनियोंको संकोच तथा अनुदार भाव को छोड़कर आगे आना चाहिये और अपने कर्तव्यको शीघ्र पूरा करके श्रेयका भागी बनना चाहिये। वह पत्र इस प्रकार है—

सम्पादक]

पूज्य मुख्तारजी,

आपका निमन्त्रण प्राप्त हुआ, आपके सौजन्यके लिये मेरा हृदय आभारावनत है।

जो अमृतवर्षण भगवान् महावीरने वीरशासन जयन्तीके दिन शुरू किया था वह आजके हथियारबन्द रक्तपिपासु युगमें और भी अधिक आवश्यक हो गया है। अहिंसा तथा अनेकान्तके सिद्धान्त द्वारा जिस विश्वशान्ति तथा विचार-समन्वयका सन्देश भगवान महावीरने भेजा, वह विश्वशान्ति तथा (विचारोंका) पारस्परिक आदान-प्रदान आज भी हर विचारवान हृदयकी लिप्सा है। तोपोंकी गड़गड़ाहटसे, पारस्परिक अविश्वाससे, अत्यन्त शंकित जीवनयापनसे, सोतेमें एकदम चौंककर उठा वाले अशान्त जीवनसे, विश्वास तथा अबाध पारस्परिक शान्तिके साम्राज्यमें लेजानेके लिये वीरशासनकी बहुत आवश्यकता है।

कर्मके पूर्व विचारका आगमन नैसर्गिक है। विचार-धाराको शक्तिमती बनाना किन्तु पहले ज्ञानवाहिनी बनानाभी बहुत आवश्यक है। विश्वपिपासु है, तृषा मृषा होनेके बाद रणक्षेत्रमें भी अवतीर्ण हो सकता है, विश्व बाधाओंसे सफलता पूर्वक संतरित होनेके लिये। किन्तु वह ऐसे निसर्ग-सारल्य-जनित विश्वासविधिद्वारा प्रेरित हो कि उसको सीधा जीवनमें उतारा जासके।

भगवानके ज्ञानके विश्वविस्तारके लिये और कौन अच्छी तिथि चुनी जा सकती है? सरसावा आनेकी मेरी इच्छा है। इस बार बहुतसी बाधाएँ थीं; देखें कब सौभाग्य प्राप्त होता है। आश्रमके वातावरणमें पूर्व ऋषियोंकी ज्ञानोद्रेकी सरलता देखना हर एकको सौभाग्यकी वस्तु होगी। वह एक स्थान होगा जहांसे हम भगवान महावीरके सिद्धान्तोंका सरलतासे पानकर अपनेको पवित्र बना सकेंगे और विश्वको वही संदेश सुनानेको सशक्त बना सकेंगे।

मुझे विश्वास है कि आपका शुभप्रयास आशातीत साफल्य प्राप्त करेगा। अड़चनोंके कारण व्यग्र रहनेसे कुछ ज्ञानयोगी श्रद्धाञ्जलि अर्पित न कर सका। कुछ समय बाद प्रयत्न करूंगा। फिलहालके लिये परिस्थिति देखते हुए क्षमा-प्रार्थी हूँ।

विनयावनत
बी. एल. सराफ़

वीर भगवानका वैज्ञानिक धर्म

[लेखक—बा० सूरजभानु वकील]

संसारीजीव सब ही महादुख उठाते और धक्के खाते हुए ही ज्यों त्यों अपना जीवन व्यतीत करते हैं, अपनी अभिलाषाओं और ज़रूरतों को पूरा करनेके वास्ते सबही प्रकारका कष्ट उठाने और जी तोड़ कोशिश करने पर भी जब उनकी पूर्ति नहीं होती है तो लाचार होकर ऐसी अदृष्टशक्तियों की तलाशमें भटकते फिरने लगते हैं जो किसी रीतिसे उनसे प्रसन्न होकर या दीन हीन समझ, दयाकर, उनकी ज़रूरतोंको पूरा कर उनके कष्टों को हल्का करदें। मनुष्य जीवनकी इस ही बेकली, बेचैनी और सहीजानेवाली तड़फने तरह तरहके शक्तिशाली देवी देवताओं और संसारभरका नियन्त्रण करनेवाले एक ईश्वरकी कल्पना कराकर, उनकी भक्ति स्तुति पूजा वंदना आदि करने और बलि देने, भेंट चढ़ाने आदिके द्वारा उनको खुश करके अपना कारज सिद्ध करानेके अनेक विधि विधानोंकी उत्पत्ति करादी है। इसके इलावा जिस प्रकार डूबता हुआ मनुष्य तिनके का भी सहारा गनीमत समझने लगता है, निराशाकी भंवरमें चक्कर काटता हुआ मनुष्य भी विचारहीन होकर अंधाधुंध सहारे ढूंढ़ता फिरने लगता है, जैसा कि सीता जीके खोये जानेपर रामचन्द्रजी वृक्षों लताओंसे उसका पता पूंछते फिरने लग गये थे। जिसका हाथी खोया जाता है वह घरके हांडी बर्तनोंमें हाथ डाल डालकर ढूंढने लग जाता है। इस कहावतके अनुसार मनुष्य भी अपनी असह्य मुसीबतों को दूर करने और महाप्रबल अभिलाषाओं और तृष्णाओं को पूरा करनेके वास्ते अंधा होकर जो भी कोई किसी प्रकारका सहारा बताता है उसहीके पीछे दौड़ने फिरने लगता है, कोई जिस प्रकारका भी अनुष्ठान, क्रिया कलाप वा विधिविधान बताता है, उसहीके करनेको वह तय्यार हो जाता है, सब ही प्रकारका नाच नाचनेको मुस्तैद रहता है और भक्ति व उत्साहके साथ खूब दिल लगाकर नाचता है, विशेषकर ऐसे कार्य करना तो वह बिना सोचे समझे और बिना किसी हील हुज्जतके आँख मींचकर ही अंगीकार कर लेता है—जिसमें कष्ट तो उठाना पड़े बहुत ही थोड़ा और उसमे सिद्धि होनेकी आशा दिलाई जाती है। बड़े-बड़े महान् कार्योंकी जैसा कि गंगाजीमें एकबार गोता लगानेसे, जन्म जन्मान्तरके पापोंका दूर हो जाना, इत्यादि।

मनुष्योंकी इनही तरह तरहकी मुसीबतों, आपत्तियों आशाओं, अभिलाषाओं और भटकावोंकी पूर्तिके वास्ते एकसे एक नई और आसान तरकीब निकलती रहनेसे, नये नये धर्मों और अनुष्ठानों की उत्पत्ति होती रहती है और भूले भटके मनुष्य मृगतृष्णाकी तरह चमकती रेतको पानी समझ, उसकी तलाशमें दौड़ते फिरने लगते हैं और बराबर भटकते फिरते रहेंगे, जबतक कि वे विचारसे काम नहीं लेंगे और वस्तु स्वभावकी खोजकर उसहीके अनुसार सम्भव असंभव और सच झूठका तमीज़ नहीं करेंगे। सबसे भारी मुश्किल इस विषयमें यह है कि महा मुसीबतोंमें फँसे हुए तथा अपनी महान् इच्छाओं और अभिलाषाओंकी पूर्तिके लिये, भटकने फिरनेवाले मनुष्योंको ऐसे ऐसे आसान उपायोंसे उनके द्वारा किसी प्रकारकी कार्यसिद्धि न होनेपर भी, अश्रद्धा

नहीं होती है। जिनमें करना तो पड़े नाममात्रको बहुत थोड़ा ही और उससे आशा होती हो बेहद फल-प्राप्तिकी। जिस प्रकार लाटरीका एक रुपयेका टिकिट लेनेसे पचास हज़ार व इससे भी ज़्यादा मिलनेकी आशा बंध जाती है। और अपने और अन्य अनेकोंको कुछ न मिलने पर भी निराश न होकर फिर भी बार बार टिकिट ख़रीदते रहनेकी टेव बनी रहती है, इसही प्रकार किसी धार्मिक अनुष्ठानके करने पर भी उसके द्वारा अपना और अन्य अनेकोंका कार्य सिद्ध न होता देखकर भी अश्रद्धा नहीं होती है किन्तु फिर भी बार बार उस अनुष्ठानको करनेकी इच्छा बनी रहती है। लाटरीमें जिस प्रकार लाखों मनुष्योंमें किसी एकको धन मिलनेसे सब ही को यह आशा हो जाती है कि सम्भव है अबकी बार हमको ही लाख रुपयोंकी थैली मिलजावे, इसही प्रकार धर्म अनुष्ठानोंमें भी लाखोंमें किसी एकका कारज सिद्ध होता देखकर चाहे वह किसी भी कारणसे हुआ हो, उस अनुष्ठानसे श्रद्धा नहीं हटती है किन्तु जुएके खेलकी तरह आज़मानेको ही जी चाहता रहता है। जिस प्रकार लाटरीका बहुत सस्तापन अर्थात् एक रुपयेके बदले लाख रुपया मिलनेकी आशा असफल होनेपर भी बारबार लाटरी डालनेको उकसाती है, इसही प्रकार इन धार्मिक अनुष्ठानोंका सुगम और सस्तापन भी असफलतासे निराश नहीं होने देता है किन्तु फिर भी वैसा करते रहनेके लिये ही उभारता है।

जिस प्रकार राजा अपने राज्यका प्रबन्धकर्ता होनेसे राज्यके प्रबन्धके लिये नियम बनाकर नियमविरुद्ध चलनेवालोंको अपराधी ठहराकर सज़ा देता है और नियम पर चलनेवालोंकी सहायता करता है, इसही प्रकार संसारभरका प्रबन्ध करनेवाले एक ईश्वरकी कल्पना करनेवालोंको भी यह ज़रूर बताना पड़ता है कि प्रजाके प्रबन्धके लिये उसके क्या क्या नियम हैं, जिनके विरुद्ध चलनेसे वह दंड देता है और अनुकूल प्रवर्तनसे सहायता करता है अर्थात् किन कार्योंको वह ईश्वर पाप बताकर न करनेकी आज्ञा देता है और किन कार्योंको पुण्य बताकर उनके करनेके लिये उकसाता है। इस ही के साथ राजाके रूपके अनुकूल ही परमेश्वरकी कल्पना करनेसे और परमेश्वरके अधिकार राजाके अधिकारोंसे कम व सीमित और नियमबद्ध स्थापित करनेमें परमेश्वरके ऐश्वर्यमें कमी होजानेके भयसे उनको ईश्वरकी सर्वशक्तिमानता दिखानेके वास्ते यह भी खोल देना पड़ता है कि जिस प्रकार राजाको यह अधिकार होता है कि वह चाहे जिस अपराधीको छोड़ दे, छोड़ना ही नहीं किन्तु अपनी मौजमें उसको चाहे जो बख्श दे, इसही प्रकार दीनदयालु परमेश्वरको भी यह अधिकार है कि वह चाहे जिस अपराधीको क्षमा करदे और चाहे जिसको जो चाहे देदे। उसकी शक्ति अपरम्पार है, वह किसी नियमका बंधवा वा किसी बंधनमें बंधा हुआ नहीं है, वह चाहे जो करता है और चाहे जो खेल खेलता है, इसही कारण कुछ पता नहीं चलता है कि वह कब क्या करता है और क्या करने वाला है। इसही कारण लोग उन नियमों पर जो लोगोंके सदाचारके वास्ते ईश्वरके बनाये हुये बताए जाते हैं कुछ भी ध्यान न देकर बहुत करके उसकी बड़ाई गाकर नमस्कार और वन्दना करके तथा जिस प्रकार भेंट देनेसे राजा लोग खुश होजाते हैं या हाकिम लोग डाली लेकर काम कर देते हैं, इसही प्रकार ईश्वर को भी भेट चढ़ाकर और बलि देकर खुश करनेकी ही कोशिशमें लगे रहते हैं। "मेरे अवगुण अब न चितारो स्वामी मुझे अपना जानकर तारो" इस ही प्रकारकी रट लगाये रखते हैं, इसहीमें अपना कल्याण समझते हैं और इस ही

भक्ति स्तुति वा पूजा उपासनासे ईश्वरको खुश करके अपने सांसारिक कार्य सिद्ध करानेकी प्रार्थना करते रहते हैं। हमारा चालचलन कैसा है, हम नित्य कैसे कैसे भयंकर अपराध करते हैं, उसके नियमोंको तोड़ते हैं, उसकी प्रजाको सताते हैं और बेखटके जुल्म करते हैं, इसकी कुछ भी परवाह न करके जहाँ कुछ दुःख हुआ व आपत्ति आई या कोई इच्छा पूरी करानी चाही तब तुरन्त ही उसकी बड़ाई गाने लग जाते हैं और रो कर गिड़गिड़ाकर दीन हीन बनकर अपने दुःखोंको दूर करने तथा अभिलाषाओंके पूरा करानेकी प्रार्थना करने लग जाते हैं और उम्मीद करने लगते हैं कि इस प्रकार की हमारी पूजा-वन्दना और प्रार्थनासे वह ज़रूर हमारे कार्य सिद्ध करदेगा व महान से महान अपराधों पर कुछ भी ध्यान न देगा।

पापीसे पापियोंके भी भारीसे भारी कार्यसिद्ध होजाने और भयानकसे भयानक आपत्तियोंके दूर होजानेके इस सहज उपायका विश्वास ही लोगोंके हृदयमें अपराधोंका भय दूर कर सदाचारी बनने की ज़रूरत को ही ख्यालमें नहीं आने देता है। जब खुशामद करने, पैरोंमें शिर देकर गिड़गिड़ाने और मान बड़ाईके लिये फूल पत्र भेंट चढ़ानेसे ही परमेश्वर महापापियोंका भी सहायक हो जाता है, उनके सभी अपराध मुआफ़ कर सबही संकटोंके दूर करनेको तय्यार हो जाता है; तब पाप करनेसे क्यों डरें और क्यों सदाचारी बननेकी झंझटमें पड़ें। सदाचारी बनना कोई आसान काम होता तब तो खैर वह भी कर लेते परन्तु वह तो लोहेके चने चबाने और तलवारकी धार पर नाचनेसे भी ज्यादा कठिन है, कठिन ही नहीं असंभवके तुल्य है, इस कारण कौन ऐसी मुसीबतमें पड़े। सब कुछ पाप करते हुए भी सब प्रकारके गुलछर्रे व मौज उड़ाते हुए भी बेधड़क खून खराबा करते हुए और दुनियाभरको तहस नहस करते हुए भी जब थोड़ी-सी खुशामद और भेंट भेंटावनसे मालिक राजी हो जाता है तब कौन मूर्ख है जो सदाचारी बननेकी घोर मुसीबतमें फँसे। यह ही कारण है कि दुनियासे पाप दूर नहीं होता है और सुख शान्तिका राज्य-स्थापित नहीं हो सकता है, जब तक कि इस खुशामदखोरी और पूजा वन्दनासे मालिकके राजी होनेका विश्वास लोगोंके हृदयमें जमा हुआ है।

पशु पक्षियोंको मारकर ईश्वरके नाम पर होम कर देना ही महान धर्म है, ऐसा करनेसे सबही पाप क्षय हो जाते हैं और सब ही मनोरथ सिद्ध हो जाते हैं। क्यों? क्यों क्या ईश्वरकी यही आज्ञा है, उसको प्रसन्न करनेका यह ही सबसे बड़ा उपाय है, यज्ञमें होम करनेके वास्तेही तो परमेश्वरने पशु पक्षी पैदा किये हैं। परन्तु आजकल तो कहीं भी होम नहीं होता है और यदि हिंदुस्तानमें कहीं होता भी हो तो हिन्दुस्तानसे बाहर तो किसी भी देशमें न अब होता है न पहले कभी होता था, तब वहाँ क्यों पशु-पक्षी उत्पन्न होते हैं? जवाब— एक छोटेसे राजाके भी कामोंमें जब प्रजाको कुछ पूछने-टोकनेका अधिकार नहीं होता है तब सर्वशक्तिमान परमेश्वरके कामोंमें दखल देने और पूछ ताछ करनेका क्या किसी को अधिकार होसकता है? फिर उसके भेदोंको कोई समझ भी तो नहीं सकता है, तब फिजूल मग़ज़ मारनेसे क्या फ़ायदा। जो उसका हुक्म है उस पर आँख मीचकर चलते रहो, इसहीमें तुम्हारा कल्याण है नहीं तो क्या मालूम कितने काल तक नरकोंमें पड़े-पड़े सड़ना पड़े और कैसे महान् दुःख भोगने पड़ें।

ईसाइयोंका इससे भी बिल्कुल ही विलक्षण कहना है कि कोई भी आदमी पापोंसे नहीं बच सकता है और

न अपना कल्याण ही कर सकता है;इस कारण ईश्वरने ईसा नामका अपना इकलौता बेटा संसारके कल्याणके वास्ते भेजा है; जो उसकी शरणमें आजायगा अर्थात् जो कोई उसको कल्याणकर्ता मानेगा, ईश्वर उसके सब पाप क्षमाकर उसको स्वर्गमें भेज देगा और जो उसकी शरणमें नहीं आयेगा उसको सदाके लिये नर्कमें सड़ना पड़ेगा। प्रश्न—ईश्वरका इकलौता बेटा कैसे हो सकता है? उत्तर—ईश्वरने स्वयं एक कुंवारी कन्याके गर्भ रखकर उसको पैदा किया है। इस कारण वह ईश्वरका बेटा है और चूंकि दूसरा कोई इस प्रकार पैदा नहीं किया गया है, इस वास्ते वह ही ईश्वरका एक इकलौता बेटा है। प्रश्न—वह तो सुनते हैं राज्य-द्वारा अपराधी ठहराया जाकर शूलीपर चढ़ाकर मारा गया है, यदि वह ईश्वरका खास बेटा था और जगतके कल्याणके वास्ते ही अद्भुतरीतिसे पैदा किया गया था तो ईश्वरने उसको शूली देकर क्यों मारने दिया? उत्तर—उसके शूली चढ़कर मरनेसे ही तो उसके माननेवाले सब लोगोंको उनके अपराधोंका कोई दण्ड नहीं देगा, सबहीको सदाके लिये स्वर्गमें पहुँचा देगा। प्रश्न—जिसने अपराध नहीं किया उसके दंड भुगत लेनेसे अपराधीका अपराध कैसे दूर होसकता है और फिर ऐसे लोगोंका भी जो उसके शूली दिये जाने अर्थात् दंड भुगतनेके बाद भी हज़ारों लाखों वर्ष तक पैदा होते रहेंगे और अपराध करते रहेंगे, यह तो साक्षात् ही लोगोंको पापोंके करनेकी खुली छुट्टी देना है? उत्तर—ये ईश्वरीय राज्यके गुप्त रहस्य हैं जिनमें तर्क वितर्क करनेका किसीको क्या अधिकार हो सकता है।

मुसलमान भी इस ही प्रकार यह कहते हैं कि मुहम्मद साहब जिसकी सिफ़ारिश करदेंगे ईश्वर उसके अपराध क्षमा करके उसको स्वर्गमें भेजदेगा, क्यों ऐसा करेगा? यह उसकी मर्जी; जब वह सारे संसारका राजा है तो चाहे जो करे, इसमें किसीकी क्या मजाल जो कुछ एतराज़ कर सके।

हिन्दू अपने ईश्वरकी बड़ाई इस प्रकार करते हैं कि लंकाके राजा रावणको दंड देनेके वास्ते ही ईश्वरको रामके रूपमें मनुष्यजन्म धारण करना पड़ा है। बारह वर्ष बनोवास भुगता, रावणके हाथसे सीताका हरण कराया, जिससे उसके साथ लड़नेका बहाना पैदा हो जाय; फिर चढ़ाई कर ऐसी घमासान लड़ाईकी, जिससे लाखों मनुष्योंका संहार हुआ; आखिर रावणको मारकर अपना कार्य सिद्ध किया। प्रश्न—सर्वशक्तिमान परमेश्वरको एक आदमीके मारनेके वास्ते इतना प्रपंच क्यों रचना पड़ा? उत्तर—राज्य कार्योंके रहस्यको राजा ही जानते हैं; तब वह तो इतने बड़े राज्यका मालिक है जिसकी कल्पना भी नहीं हो सकती इस कारण उसके रहस्यको कौन समझ सकता है। इस ही प्रकार परमेश्वरने कंसको मारनेके वास्ते कृष्णके रूपमें जन्म लिया; कंसने उसके पैदा होते ही उसके मारनेका प्रबन्ध किया; उससे बचानेके वास्ते वह गुप्त रीतिसे वृन्दाबन पहुँचाया गया; एक ग्वालाके यहाँ गुप्त रीतिसे उसकी पालना हुई, जहाँ ग्वालोंकी कन्याओं और स्त्रियोंको अपने ऊपर मोहित कर उनके साथ तरह तरह की किलोलें करता रहा। यह ही उसकी किलोलें सुना-सुनाकर, गा बजाकर, नाटकके रूपमें दिखा दिखाकर, उसकी महान भक्ति की जाती है; उसकी लीला अपरम्पार है; मनुष्यकी बुद्धि उसके समझनेमें बेकार है; वह चाहे जो करे; यह ही उसकी असीम शक्तिका प्रमाण है।

धर्ममें बुद्धिका कुछ काम नहीं जब यह बात निश्चय रूपसे मानी जाती हो तब धर्मके नाम पर चाहे जैसे सिद्धान्तोंका प्रचार हो जाना तो अनिवार्य ही है; इस

ही कारण जब ब्राह्मणोंका प्राबल्य हुआ तो उन्होंने अपनेको ईश्वरका एजेन्ट ठहराकर अपनेको पुजवाना शुरू कर दिया; ईश्वरकी भेंट पूजा आदि सब ब्राह्मणोंके द्वारा ही हो सकती है; ईश्वर ही की नहीं किन्तु सब ही देवी देवताओंकी भेंट पूजा ब्राह्मणोंकी भेंट पूजाके द्वारा ही की जा सकती है। यह ही नहीं किन्तु मरे हुए पितरोंकी गति भी ब्राह्मणोंको खिलावे और रुपया पैसा माल असबाब देनेसे ही हो सकती है; खाना, पीना, खाट, खटोली, शय्या, वस्त्र, दूध पीनेको गौ, सवारीको घोड़ा आदि जो भी ब्राह्मणको दिया जायगा वह सब पितरोंको पहुँच जायगा; जो नहीं दिया जायगा उस ही के लिये पितरोंको भटकते रहना पड़ेगा। परन्तु जो खाना ब्राह्मणोंको खिलाया जाता है उससे तो ब्राह्मणों का पेट भरता है और जो माल असबाब और गाय घोड़ा दिया जाता है वह भी सब ब्राह्मणोंके ही पास रहता है; वे ही उसको भोगते हैं तब उसका पितरोंको पहुँचना कैसे माना जासकता है? उत्तर—जब धर्मकी बातोंमें बुद्धिका प्रवेश ही नहीं हो सकता है तब बुद्धि लड़ाना मूर्खता नहीं तो और क्या है। कल्याणके इच्छुकों को तो अपनी स्त्री तक भी ब्राह्मणको दानमें दे देनी चाहिये, चुनांचे बड़े बड़े राजाओं तक ने अपनी रानियां ब्राह्मणोंको दानमें देकर ईश्वरकी प्रसन्नता प्राप्त की है। ब्राह्मणोंको तो दंड देनेका भी राजाको अधिकार नहीं है, क्योंकि वे राजासे ऊँचे हैं। जब ब्राह्मणका इतना ऊँचा दर्जा है, वे परमपिता परमेश्वर और सबही देवी देवताओंके एजेन्ट हैं तब उनके गुण क्या हैं और उनकी पहचान क्या है? उत्तर—उनमें किसी भी प्रकार के गुण देखनेकी ज़रूरत नहीं है, धर्मकी नींव जाति पर है, गुणपर नहीं है; इस कारण जिसने ब्राह्मण कहलाने वाले कुलमें जन्म लिया है वह ही ब्राह्मण है, वह और उसके बाप दादा चाहे एक अक्षर भी न जानते हों, धर्मके स्वरूपसे बिल्कुल ही अनजान हो; यहाँ तक कि संकल्प छुड़ाना भी न आता हो, बिल्कुल ही मूर्ख गंवार हो, खेती, मजदूरी, आदिसे अपना पेट भरते चले आरहे हों परन्तु जाति उनकी ब्राह्मण नामसे प्रसिद्ध चली आती हो, तो वे भी ईश्वर और देवी देवताओंके पक्के एजेन्ट और ईश्वरके समान पूज्य हैं। इसके विरुद्ध शूद्र जातिमें जन्म लेनेवालों और स्त्रियोंको धर्म साधनका कोई भी अधिकार नहीं है, स्त्रियोंके लिये तो अपने पतिके मरनेपर उसके साथ जल मरना ही धर्म है, इस ही में उनका कल्याण है।

धर्मके नामपर इस प्रकारकी अंधाधुंदी चलती देखकर कुछ मनचलोंने सोचा कि यद्यपि सदाचारकी धर्ममें कोई अधिक पूछ नहीं है, मुख्य धर्म तो भेंट पूजा और ब्राह्मण कुलमें जन्म लेना ही है तो भी धर्मके कथनमें सदाचारका नाम ज़रूर आजाता है, जिससे कभी कभी कुछ टोक पूछ भी होने लग जाती है, इस कारण इसकी सदाचारकी जड़ ही मेट देनी चाहिये; जिससे कोई खटका ही बाक़ी न रहे, बुद्धिको तो धर्ममें दख़ल है ही नहीं, तब जो कुछ भी धर्मके नामपर कहा जायगा वह ही स्वीकार हो जायगा; ऐसा विचारकर उन्होंने मास मदिरा और मैथुन यह तीन तत्व धर्मके क़ायम किये। अर्थात् मांस खाओ, शराब पीओ और स्त्री भोग करते रहो, यह ही धर्म है, इसके सिवाय और कोई धर्म ही नहीं है। धर्मकी बातमें बुद्धि लड़ानेकी तो मनाही थी ही, इस कारण यह धर्म भी लोगोंको मान्य हुआ और खूब ज़ोरसे चला। कहते हैं कि गुप्त रूपसे अब भी यह धर्म प्रचलित है और अनेक देवी देवताओंकी प्रसन्नता व अनेक मन्त्रों तन्त्रों की सिद्धि इस ही धर्मके द्वारा होती है और बराबर की जा रही है।

धर्ममें अक्लको दख़ल न देनेके सिद्धान्तने कैसे कैसे धर्म चलाये हैं, कैसा घोर अंधकार फैला है, धर्मके नामपर ही दुराचार और पापका कैसा भारी डंका बजाया है, इसका कुछ दृष्टान्तरूप दिग्दर्शन तो कराया जा चुका है। अब पाठक कुछ और भी ध्यान देकर सुनलें कि धर्मके विषयमें बुद्धिका दख़ल न होनेकी वजहसे सहज ही में यह जो अनेक धर्म पैदा होगये हैं और पैदा होते रहते हैं, वे सब देशी राज्योंकी तरहसे ही ईश्वरका राज्य क़ायम करते हैं। फ़र्क़ सिर्फ़ इतना है कि राजाओंका राज तो एक एक ही देशमें होता है और ईश्वरका राज्यसंसार भरमें क़ायम किया जाता है, राजा लोग जिस प्रकार अपने अपने राज्यको जगदेव-व्यापी करनेके वास्ते आपसमें लड़ते हैं, मनुष्य संहार होता है और ख़ूनकी नदियाँ बहती हैं। इस ही प्रकार एक ही संसारमें अनेक धर्म और उनके अलग अलग ईश्वर क़ायम होजानेसे, इन सब धर्मानुयाइयोंमें अपने अपने ईश्वरका जगत्व्यापी अटल राज्यका यम करनेके वास्ते ख़ूब ही घमसान युद्ध होता रहता है। छोटे छोटे राजाओंकी लड़ाईमें तो ख़ूनकी नदियाँ ही बहती हैं, परन्तु यह धर्म युद्ध तो अनेक धर्मोंके द्वारा स्थापित किये संसारभरके महान राजाधिराज जगत पिता अनेक परमेश्वरोंके बीचमें होता है, हरएक धर्मवालोंका यह दावा होता है कि हमारा ही परमेश्वर सारे जगतका मालिक है, उस ही का बनाया हुआ क़ानून अर्थात् धर्मके नियम योग्य हैं, अन्य धर्मवाले जो ईश्वर स्थापित करते हैं और जो धर्मके नियम बनाते हैं, वह साक्षात विद्रोह है, गद्दारी है और राज्य विप्लव है, इस ही कारण सब ही धर्मवाले आपसमें लड़ते हैं, खून ख़राबा करते हैं और नरसंहार करके खूनके समुद्र भरते हैं। देशी राज्य तो अलग २ क्षेत्रोंमें रहते हैं परन्तु यहाँ तो अनेक धर्मावलम्बी एक ही क्षेत्रमें रहते हैं, इस कारण एक दूसरे को अपने अपने ईश्वरके राज्यका द्रोही समझ, नित्य ही आपसमें लड़ते रहते हैं; एक दूसरेके धर्म साधनको राजविद्रोह मान एक दूसरेको धर्म साधन भी नहीं करने देते हैं, जिससे हरवक़्त ही लड़ाई झगड़ा और कितना फिसाद खड़ा रहता है। गाँव गाँव गली गली और मुहल्ले मुहल्ले आपसमें ऐसा झगड़ा रहनेसे सबही कामोंमें धक्का पहुँचता है और सुख शान्तिका तो ढूंढ़ने पर भी कहीं पता नहीं मिलता है। धर्मोंके कारण मनुष्य समाजकी ऐसी भयानक दशा हो जानेसे शान्तिप्रिय अनेक विचारवान पुरुषोंको तो लाचार होकर धर्मका नाम ही दुनियांसे उठा देना उचित प्रतीत होने लगा है, जिसके लिये उन्होंने आवाज़ भी उठानी शुरू करदी है। यद्यपि यह आवाज़ अभी तक बहुत ही धीमी है परन्तु यदि इस अशान्तिका कुछ माक़ूल प्रबंध न हुआ तो आहिस्ता आहिस्ता इसको उग्ररूप धारण करना पड़ेगा और धर्मका नामोनिशान ही दुनियाँसे उठ जायगा।

यद्यपि उसका सहज इलाज यह है कि धर्मोंका नामोनिशान मिटादेनेके स्थानमें धर्ममें बुद्धि और विचार युक्ति और दलीलको तो कोई दख़ल ही नहीं है, इस ज़हरीले सिद्धान्तको ही उठा दिया जावेऔर हरएक को इस बातपर मजबूर किया जावे कि अपने अपने ईश्वरके राज्यका अर्थात् अपने अपने धर्मको शारीरिक बलसे प्रचार करनेके स्थानमें, शान्तिके साथ युक्ति और प्रमाण से ही सिद्ध करनेकी कोशिश करें। इस रीतिसे जिसका धर्म अकाट्य होगा, वस्तु स्वभावके अनुकूल होगा, वह ही धर्म बिना ख़ून ख़राबीके फूले फलेगा। और अन्य सब पानीके बुलबुलेकी तरह आपसे आप ही समाप्त हो जायेंगे। परन्तु यह बात तो तब ही चल

सकती थी जब कि यह सब धर्म वा इनमेंसे कोई भी धर्म वस्तु स्वभावकी नींव पर उठाया गया होता, यह सब धर्म तो आँख मीचकर इस ही हौसले पर बने हैं कि धर्ममें हेतुप्रमाण वा तर्क-वितर्कको कुछ दख़ल ही नहीं है, तब यह लोग इस नेक सलाहको कैसे मान सकते हैं और कैसे शारीरिक बलके द्वारा लड़ने मरने को बन्द कर सकते हैं। वे तो जिस प्रकार देशी राजे अपना राज्य विस्तार करनेके वास्ते ज़बर्दस्ती दूसरे राजाओंसे लड़ते हैं; इस ही प्रकार अपने ईश्वरके राज्य विस्तारके वास्ते बराबर लड़ते रहेंगे, जब तक कि वस्तु स्वभावकी नींवपर स्थित कोई ऐसा धर्म नहीं बताया जायगा, जो डंकेकी चोट यह कहनेको तय्यार हो कि हेतु और प्रमाणके द्वारा परीक्षा की कसोटी पर कसे बिना तो कोई भी धर्मकी बात मानने योग्य नहीं हो-सकती है। धर्म वह ही है जो वैज्ञानिक है अर्थात एक-मात्र वस्तुस्वभावपर ही स्थित है, वह ही वास्तविक धर्म है, वह ही कल्याणकारी और आत्मीक धर्म है। धर्म किसीका राज्य नहीं है जिसके वास्ते लड़नेकी ज़रूरत हो, किन्तु आत्माका निज-स्वभाव है। जिस विधि वि धानसे आत्मा शुद्ध होती हो और सुख शान्ति पाती हो वह ही विधि विधान ग्रहण करनेके योग्य है। जो ग्रहण करेगा वह अपना कल्याण करलेगा, जो नहीं ग्रहण करेगा वह स्वयं अपना ही नुक़सान करेगा, इसमें लड़ने और ख़ून खराबा करनेकी तो कोई बात ही नहीं है।

वास्तवमें धर्मोंकी लड़ाई तब ही तक है, जब तक कि धर्मोंके द्वारा कल्पित किये गये अपने२ ईश्वरका राज्य जगत भरमें स्थापित करनेकी इच्छा लोगोंके दिलों में क़ायम है। ईश्वरके राज्यका कल्पितभूत सिरसे उतर जाय, तो सब ही लड़ाई शान्त हो जाय। और यह तब ही हो सकता है जब कि वस्तु स्वभावके द्वारा वैज्ञानिक रीतिसे असलियतकी खोज की जावे। यह ठीक है कि वैज्ञानिक खोजके द्वारा जो सिद्धान्त स्थापित होता है उसमें भी शुरू शुरूमें मतभेद ज़रूर होता है, परन्तु उस मतभेदके कारण आपसमें लड़ाई हर्गिज़ नहीं होती है। लड़ाई तो तब ही होती है जब किसी ईश्वर वा देवी देवताका राज्य स्थापित करना होता है। पश्चिमीदेशोंमें पदार्थ विद्याकी खोज सैंकड़ों वर्षोंसे वैज्ञानिक रीतिसे होती चली आ रही है, उस हीके फलस्वरूप ऐसे ऐसे आविष्कार होते चले जा रहे हैं जिनको सुनकर अच्छों अच्छोंको चकित होना पड़ता है, इनमें भी प्रत्येक नवीन खोजमें शुरू शुरूमें बहुत मतभेद होता रहा है; परन्तु लड़ाई कभी नहीं हुई है। कारण यह है कि कोई माने या न माने और कोई कितना ही विरोध करे, इसमें नवीन बात खोज निकालने वालेका या उसकी बात मानने वालोंका क्या बिगड़ता है, उसे या उसकी नई खोजको माननेवालोंको कोई किसीका राज्य व हुकूमत तो क़ायम करनी ही नहीं होती है, जिसके कारण उन-की नई खोजको मानने वाले राजद्रोही समझे जावें और उनसे लड़ाई करके जबर्दस्ती अपनी बात मनवानी पड़े। इस ही प्रकार वैज्ञानिक रीतिसे खोज होनेमें भी मतभेद होनेसे लड़ाई ठाननेकी कोई ज़रूरत नहीं पड़ती है। कोई माने या न माने इससे किसी वस्तु स्वभावको बताने वालेका क्या बिगाड़; तब वह क्यों लड़ाई मोल ले और माथा फुटव्वल करें, लड़ाई तो किसीका राज्य, हुकूमत या मिलकियत क़ायम करनेमें ही होती है जहाँ राज्य वा हुकूमत वा मिलकियत क़ायम करनेका अड़ंगा नहीं वहाँ झगड़ा टंटा भी कुछ नहीं।

यह सब बातें जान और पहचानकर वीर प्रभुने जीवमात्रकी सुख शान्ति और कल्याणके लिये वस्तु स्वभावको समझाया और प्रत्येक बातको वह लौकिक

हो वा आध्यात्मिक, वैज्ञानिक रीतिसे जांच पड़तालकर वस्तु स्वभावके अनुसार ही माननेका उपदेश दिया, बिना परीक्षा किये आँख मीचकर ही किसी बातके मान लेने को तो आँखें होते हुए भी स्वयं अंधा होकर गढ़ेमें गिरना और बेमौत मरना बताया। वीर प्रभुने समझाया कि चाहे जिस चीज़को जाँचकर देखो संसार-की कोई भी वस्तु नाश नहीं होती है और न नवीन पैदा ही होती है। अवस्था ज़रूर बदलती रहती है, इस ही से नवीन वस्तुओंकी उत्पति और वस्तुओंकी नास्ति, अभाव दिखाई देता है। जिस प्रकार सोनेका कड़ा लगाकर हार बनानेसे, कड़ेका नाश और हारकी उत्पत्ति होगई है परन्तु सोनेका न नाश हुआ है न उत्पत्ति, वह ज्योंका त्यों मौजूद है, केवल अवस्थाकी तबदीली ज़रूर होगई है। इसही प्रकार लकड़ीके जलजाने पर, लकड़ी-के कण कोयला, राख, धुआं आदि रूपमें बदल जाते हैं, नाश तो एक कणका भी नहीं होता है और न नवीन पैदा ही होता है। ऐसा ही चाहे जिस वस्तुको जांच कर देखा जाय, सबका यही हाल है। जिससे स्पष्ट सिद्ध है कि यह सारा संसार सदासे है और सदा तक रहेगा; इसमें कुछ भी कमीबेशी नहीं होती है और न हो सकती है; अवस्था ज़रूर बदलती रहती है, उस ही से नवीनता नज़र आती है। ईश्वरके माननेवालों की भी कमसे कम ईश्वरको तो अनादि अनन्त ज़रूर ही मानना पड़ता है; जिसको किसीने नहीं बनाया है और न कोई उसका नाश ही कर सकता है, इस प्रकार ईश्वरको या संसारको किसी न किसी को तो अनादि मानना ही पड़ता है, जो कभी न बना हो और न कोई उसका बनाने वाला ही हो, इन दोनोंमें ईश्वर तो कहीं दिखाई नहीं देता है उसकी तो मनघढ़ंत कल्पना करनी पड़ती है और संसार साक्षात विद्यमान है, जिसकी किसी भी वस्तुका कभी नाश नहीं होता है, और न नवीन ही पैदा होती है, जिसका अनादिसे अव-स्था बदलते रहना ही सिद्ध होता है, तब मनघड़ंत कल्पित ईश्वरको न मानकर संसारको ही अनादि मा-नना सत्य प्रतीत होता है।

अवस्था बदलने की भी वैज्ञानिक रीतिसे जाँच करनेपर संसारमें दो प्रकारकी वस्तुयें मिलती हैं; एक जीव—जिसमें ज्ञानशक्ति है; और दूसरी अजीव—जो ज्ञानशून्य है। जीव कभी अजीव नहीं हो सकता और अजीव कभी जीव नहीं हो सकता, यह बात अच्छी तरह जांच करनेसे साफ सिद्ध हो जाती है; जिससे यह ही मानना सत्यता है कि जीव और अजीव यह दो प्रकारके पृथक् पृथक् पदार्थ ही सदासे हैं और सदातक रहेंगे। जीव अनेक हैं और सब जुदे जुदे यह सब जीव सदासे हैं और सदातक रहेंगे? अवस्था इनकी भी बदलती रहती है परन्तु जीवोंका नाश कभी नहीं होता है। अजीव पदार्थोंमें से ईंट पत्थर हवा पानी आदि जो अनेक रूप नज़र आते हैं और पुद्गल कहलाते हैं, वे सब भी अनेक अवस्था रूप अलट पलट होते रहते हैं। कभी ईंट, पत्थर, मिट्टी, लकड़ी लोहा, चाँदी आदि ठोस रूपमें, कभी तेल पानी व दूध, घी आदि बहनेवाली शक्लमें, कभी हवा, गैस आदि आकाशमें उड़ती फिरने-वाली हालतमें, और कभी जलती हुई आगके रूपमें, एक ही वस्तु इन सब ही हालतोंमें अदलती बदलती रहती है, यह बात अनेक वस्तुओंपर ज़रासा भी ध्यान देनेसे स्पष्ट मालूम हो जाती है।

इसके अलावा यह पुद्गल पदार्थ अन्य भी अनेक प्रकारका रूप पलटते हैं; एक ही खेतमें आम, इमली, अमरूद, अनार, अंगूर, नारंगी आदि अनेक प्रकारके बीजोंके द्वारा एक ही प्रकारकी मिट्टी पानी और हवाका

आहार लेकर आम अमरूद आदि तरह-तरहके वृक्ष पैदा हो जाते हैं; अर्थात् तरह तरहके बीजोंके निमित्तसे एक ही प्रकारकी मिट्टी पानी आम अमरूद आदि नामकी तरह तरहकी पर्यायोंमें पलट जाती हैं, जिनका रंग रूप स्वाद, स्वभाव, पत्ते फूल फल आदि सब ही एक दूसरे-से जुदे होते हैं। कोई घास है, कोई बेल है, कोई पौदा है, कोई वृक्ष है, कोई वृक्ष है; और इनमें भी फिर इतने भेद जिनकी गिनती नहीं हो सकती है। इस ही घास, फूस, और फल, फूलको बकरी खाती है तो बकरीकी क़िस्मका शरीर और आँख नाक कान आदि बनेंगे; घोड़ा खावेगा तो घोड़ेकी क़िस्मके, और बैल खावेगा तो बैलकी क़िस्मके, अर्थात् एक ही प्रकारका घास फूस तरह तरहके पशुओंके पेटका निमित्त पाकर, उनके द्वारा पचकर तरह तरहके शरीर रूप बन जावेगा; तरह तरहके पशुओंकी पर्याय धारण करलेगा, फिर एक ही मिट्टी पानीसे बने हुए तरह तरहके वृक्षों बेलों और पौदोंके फूल पत्ते और अनाज जो मनुष्य खाता है उससे मनुष्यका शरीर बनजाता है अर्थात् यह ही सब वस्तुयें मनुष्यकी पर्याय धारण कर लेती हैं।

यह कैसा भारी परिवर्तन है जो दूसरी दूसरी वस्तुओंका निमित्त पाकर आपसे आप संसारमें होता रहता है। इसपर अच्छी तरह ग़ौर करनेसे यह भी मालूम हो जाता है कि यह परिवर्तन ऐसा अटकलपच्चू नहीं है जो कभी कुछ हो जाय और कभी कुछ; किन्तु सदा नियमबद्ध ही होता है। आमके बीजसे सदा आमका वृक्ष ही उगता है और नीमके बीजसे सदा नीमका ही, यह कभी नहीं हो सकता कि आमके बीजसे नीमका और नीमके बीजसे आमका वृक्ष पैदा हो-जाय, यह अटल नियम सब ही वस्तुओंमें मिलता है, जिससे साफ़ सिद्ध होता है कि यह सब उलट फेर वस्तु स्वभावके ही अनुसार होता है, और वस्तुका यह स्वभाव अटल है, वस्तु अनादि है इस कारण उसका स्वभाव भी अनादि है। किसीके आधीन नहीं है कि जो जिस समय जिस रूप चाहे वैसा ही स्वभाव किसी वस्तुका करदे। इस ही निश्चयके कारण तो संसारके सब ही मनुष्य और पशु पक्षी संसारकी वस्तुओंका स्वभाव पहचानकर और उस स्वभावको अटल जानकर उनको वर्तते हैं। यदि ऐसा न होता तो संसारका कोई भी व्यवहार न चल सकता, अर्थात् संसार ही न चल सकता, यह सारा संसार तो वस्तुओंके अटल स्वभावपर ही एक दूसरेका निमित्तपाकर आपसे आप चल रहा है, योरुपके वैज्ञानिक भी यह जो कुछ तरह तरहके महा आश्चर्यजनक आविष्कार कर रहे हैं, वह सब वस्तुओंके स्वभाव और उनके अटल नियमोंके खोज निकालनेका ही तो फल है, वे रेडियो जैसी सैकड़ों आश्चर्यजनक वस्तुयें बनाते हैं और हम देख-देखकर आश्चर्य करते हैं। हममें और उनमें इतने बड़े भारी अन्तर होनेका कारण एकमात्र यह ही है कि वे तो वस्तु स्वभावको अनादि निधन और अटल मानकर उसके जानने और समझनेकी कोशिश करते हैं और वस्तुके अनन्त स्वभावोंमेंसे किसी एक स्वभावको जानलेनेपर उससे उसहीके अनुसार काम लेने-लग जाते हैं और हम वस्तुओंके स्वभावको अटल न मान उनको किसी ईश्वर या देवी देवता नामकी किसी अदृष्ट शक्तिकी इच्छाके अनुसार ही काम करती हुई समझ, उस अदृष्ट शक्तिके भेदको अगम्य समझ मूर्ख बने बैठे रहना ही बेहतर समझते हैं। और जब वैज्ञानिक कोई अद्भुत वस्तु बनाकर दिखाते हैं तो हम उनके इस कामको देखकर चकाचौंध होकर भौंचक्केसे रह-जाते हैं और इसको भी ईश्वरकी एक लीला मानकर उसकी बड़ाई गाने लग जाते हैं।

ज्यों ज्यों वस्तुओंके इन अटल स्वभावों, उनके अटल नियमों, तरह तरहके निमित्तोंके मिलनेसे उनके नियमबद्ध परिवर्तन करने, पर्याय पलटने और इन सब वस्तुओंके अपने२ स्वभावानुसार एक ही संसारमें काम करते रहनेके कारण आपसे आप ही एक दूसरेके निमित्त बनते रहनेकी खोजकी जाती है,त्यों त्यों यह ही निश्चय होता चला जाता है कि यह सारा संसार वस्तु स्वभाव के अटल नियमपर ही चलता आरहा है और इसही पर चलता रहेग। सबही वैज्ञानिक इस विषयमें एक मत हैं और ज्यों-ज्यों अधिक अधिक खोज करते हैं त्यों-त्यों उनको इसका और भी दृढ निश्चय होता चला जाता है और वस्तु स्वभावकी ज़्यादा ज़्यादा खोज करनेका चाव अधिक बढ़ता जाता है। अफ़सोस है कि योरुपके इन वैज्ञानिकोंको अभीतक जीवके स्वभावकी खोजकर अध्यात्म ज्ञानकी प्राप्तिका शौक़ नहीं हुआ है, अभीतक उनका उलझाव अजीव पदार्थकी ही खोजमें लगा हुआ है और इसमें उन्होंने असीम सिद्धी भी प्राप्त करली है। इस ही तरह अध्यात्मज्ञानकी बाबत भी जो कोई मन लगावेगा तो इसमें भी उसको वह ही अटल स्वभाव, अटल नियम, निमित्त कारणोंके मिलनेसे नियमरूप परिवर्तन, अनेक पर्यायोंमें अलटन पलटन आदि सभी बातें मिलेंगी। विशेष इतना कि जीवोंमें ज्ञान है, राग-द्वेष है, मोह है और सुख दुःखका अनुभव है, ज्ञान भी उनका बहुत ही भेद हो रहा है और एक दूसरेकी अपेक्षा किसीमें बहुत कम और किसीमें बहुत ज़्यादा नज़र आरहा है, ज्ञानकी यह मंदता, कम व बढ़तीपना, रागद्वेष और मोह अनेक प्रकारकी इच्छा और भड़क दुःख और सुखका अनुभव, यह सब उसके अजीव पदार्थके साथ सम्बन्ध होनेके कारण उनमें विकार आ-जानेसे ही हो रहा है। अजीव पदार्थके साथ उसका यह सम्बन्ध और उसका यह विकार सर्वथा दूर होकर उसको अपना असली स्वरूप भी प्राप्त हो सकता है, जो सदाके लिये रहता है।

वीर भगवान्ने यह सब मामला वैज्ञानिक रूपसे ज्योंका त्यों समझाया है, जीवकी प्रत्येक दशाका कारण, प्रत्येक कारणका कार्य, कारणोंका स्वयमेव मिलना, स्वयं भी मिलना और दूर हटना, अजीवका जीवपर असर, जीवका अजीवपर प्रभाव, जीवका जीवके साथ उपकार और अपकार यह सब वास्तविक विज्ञान बड़ी ही सुलभ रीतिसे बताया है। अंतमें जीवको अपने सब विकार दूरकर अपना सच्चिदानन्द स्वरूप प्राप्त करनेका मार्ग सिखाया है जो जैन ग्रन्थोंसे भली भाँति जाना जासकता है। यहाँ इस लेखमें उसका कुछ थोड़ासा दिग्दर्शन करादेना ज़रूरी मालूम होता है।

संसारीजीवोंकी प्रत्येक क्रिया रागद्वेष और मोहके कारण ही होती है; मान, माया, लोभ क्रोध आदिक अनेक तरंगे उठती हैं, किसी वस्तुसे सुख और किसीसे दुःख प्रतीत होता है, रति अरति शोक भय ग्लानि काम भोगकी मस्ती पैदा होती है, इन ही सब कषायोंके कारण मन वचन कायकी क्रिया होती है। जैसी जैसी कषाय उत्पन्न होती है फिर वैसी वैसी ही कषाय करनेके संस्कार आत्मामें पड़ते रहते हैं, इस प्रकारके संस्कार पड़नेको भावबन्धन कहते हैं। कुम्हार डंडेसे चाकको घुमाता है, फिर घुमाना बंद करदेनेपर भी चाक आपसे आप ही घूमता रहता है, उसमें भी कुम्हारके घुमानेसे घुमाने का संस्कार पड़जाता है, इस ही कारण कुम्हारके द्वारा घुमाना बन्द करदेनेपर भी उस चाकको आपसे आप घूमना पड़ता है। इस ही को आदत पड़ना कहते हैं। नशेकी आदत बहुत जल्द पड़ती है और वह छूटनी भारी हो जाती है। बहुतसी बातोंकी आदत देरमें पड़ती है, लेकिन पड़ती है ज़रूर। जिनको मिरच खाने की आदत होजाती है वे आँखोंमें दर्द होनेपर भी मिरच खाते हैं, दुःख उठाते हैं, सिर पीटते हैं और चिल्लाते हैं, लेकिन मिर्च खाना नहीं छोड़ सकते हैं। जैसी जैसी क्रिया जीव करता है, जैसे जैसे भाव मनमें लाता है, जैसे जैसे वचन बोलता है वैसी ही वैसी आदत इसको होजाती है; फिर फिर वैसा ही करनेका संस्कार उसमें पड़ जाता है, उसी प्रकारके बंधनमें वह बंध जाता है।

(शेष आगामी अंकमें)

मैं तो बिक चुका !

[लेखिका—श्रीमती जयवन्तीदेवी, उपसंपादिका 'जैनमहिलादर्श']

सुखदेव एक साधारण स्थितिके मनुष्य थे। इनके खुशालचन्द्र नामक एक पुत्र तथा सरला नामकी एक कन्या थी। इन्होंने बाल्यकालसे ही अपनी सन्तानको उच्च शिक्षा दी थी। जो कुछ द्रव्य कमाते थे, वही पुत्र व पुत्रीकी शिक्षामें लगा देते थे।

जब लड़का बी० ए० में उत्तीर्ण होगया, तो सुखदेव नित्य नानाप्रकारकी कल्पनाएँ किया करते थे। विचारते थे कि 'अब हमारे शुभ दिन आगए, खुशालका काम लग जायगा, मैं भी अनाथालय और विद्यालयोंकी सहायता करूँगा' इत्यादि कल्पना करते थे और प्रसन्न होते थे; लेकिन दैवको उनका प्रसन्न होना सहन न हो सका।

होनहार बलवती होती है। भाग्यने पलटा खाया, खुशालचन्द्रको निमोनिया होगया। बड़े बड़े डाक्टर बुलाये, वैद्योंका इलाज कराया; परन्तु बीमारी दिन प्रतिदिन बढ़ने लगी।

बेचारे सुखदेव और उनकी पत्नी दुःखसागरमें गोते लगाने लगे। पुत्रकी ऐसी अवस्था देखकर दोनों अविरल-अश्रुधारासे अपना मुँह धो रहे थे। इसी समय किसीने दर्वाजा खटखटाया। सुखदेव ने उठकर द्वार खोला, देखा कि खुशालचन्द्रका मित्र मोहन एक सुयोग्य डाक्टरको लेकर आया है। उनको देखकर सुखदेवको कुछ धैर्य हुआ।

डाक्टरने नब्ज देखी, माता बोली—कहिये ! डाक्टर साहब क्या हालत है ? अच्छा भी हो जायगा ? इतना कहकर वह फूटफूटकर रोने लगी। मोहनने उनको धैर्य बंधाया और आप उसकी सेवा सुश्रुषा करनेमें जुट गया।

सुखदेवने पत्नीसे कहा—घरका तमाम रुपया खत्म होचुका है, मुझे अब क्या करना चाहिये ? पत्नीने कहा—करोगे क्या, खुशालसे बढ़कर इस संसारमें और क्या प्यारा है ! लो, ये कड़े और जंजीर बेचदो, इलाजमें कमी न हो। भगवान करे यह अच्छा होजाय। मेरा तो यही धन है, यही सर्वस्व है। जेवर भी बेचकर इलाजमें लगा दिया; परन्तु खुशालचन्द्र को कुछ भी फ़ायदा नहीं हुआ। आखिरकार, एक दिन प्रातःकाल सबके देखते-देखते खुशालचन्द्रके प्राण पखेरू उड़गये। तमाम घरमें कोलाहल मच गया। सुखदेव और उनकी पत्नीका विलाप सुनकर सब लोग दुखी हो रहे थे, सदय मित्रोंसे भी इस समय उनका विलाप सुनकर न रहा गया—वे भी गरजकर रो पड़े।

सुखदेवकी समस्त आशाओंपर पानी फिर गया, जीवन सर्वस्व लुट गया, जन्मभरकी कमाई मिट्टीमें मिलगई। लाश पड़ी हुई थी कि इतनेमें ही पोस्टमैनने लिफ़ाफा लाकर दिया, देखा तो खुशालचन्द्रकी चारसौ रुपयेकी नौकरीका हुक्म था।

उसे देखकर सारी जनता हाहाकार करने लगी। पर बन क्या सकता था, बेचारे सन्तोष करके बैठ रहे।

पुत्र वियोगसे सुखदेव बीमारसे रहने लगे। पत्नी सोचती थी कि होनहार जो थी सो तो हो चुकी। घरमें लड़की कुँआरी है। इसके फेरे तो फेरने ही हैं। ऐसा हो कि इसको अपने हाथों पराये घरकी करदें। यह चिन्ता उसको हर-दम सताने लगी।

होते होते जब कुछ दिन बीत गये, तो सुखदेव-से उनकी पत्नीने कहा—"जो दुःख भाग्यमें बदा था सो तो हो चुका, अब लड़की सयानी हो गई है, इसके लिये कहीं घर-वर ढूँढना चाहिये। किया क्या जाय, काम तो सभी होंगे। नहीं है तो एक खुशाल ही नहीं है।

सुखदेव—क्या करूँ, इन मुसीबतोंकी मुझे खबर नहीं थी, मैं तो सोचता था कि खुशालकी नौकरी होनेवाली है, किसी योग्य लड़कीसे इसका विवाह करके घरको स्वर्ग बनाऊँगा। सरलाका ब्याह भी ठाठ बाटसे करूँगा; मगर मुझ अभागे-की बांछा क्यों पूरी होती? जो कुछ रुपया था पहले पढ़ाईमें लगादिया, फिर जो कुछ बचा, इलाजमें खत्म कर दिया

आजकल जिधर देखो पैसे की पूछ है। लड़की चाहे सुंदर हो या बदसूरत, विदुषी हो या मूर्ख हो; मगर जिसने अधिक रुपया देदिया उसकी सगाई लेली। किससे कहूँ, क्या करूँ? भाग्यमें लेना बदा नहीं था, वरना जैसा दान दहेज आता वैसा देकर छुट्टी पाता। जहाँ कहीं जाता हूँ, पहला सवाल यह है कि सगाईमें कितना दोगे? लड़की देखने आवेंगे तो कितनी मिलाई करोगे? लड़का-लड़का तो देख ही रहा हूँ।

❀ ❀ ❀

विलासपुरमें ला० प्यारेलाल एक धनाढ्य मनुष्य हैं। इनके चार पुत्र हैं। प्यारेलालने इन चारों पुत्रोंके पढ़ाने-लिखानेमें कुछ कमी नहीं रक्खी। साथ ही, वे उनको नम्र, सुशील तथा धर्मात्मा बनानेमें भी दत्तचित्त रहे। आज ज्येष्ठ पुत्र विशालचन्द्रकी बी० ए० में फर्स्ट डिविजनसे पास होनेकी खबर मिली है। सारा घर गीत-वा-दित्रकी ध्वनिसे ध्वनित होरहा है! कहीं मित्रोंको प्रतिभोज कराया जारहा है, कहीं नृत्य होरहे हैं।

छुट्टीके दिन समाप्त होते ही प्यारेलाल विशा-लचन्द्रको इंजीनियरिंगमें दाखिल कर जब वापिस घर आए तब भोजन आदिसे निमटकर दम्पति इस प्रकार वार्तालाप करने लगे—

पत्नी—कहिये, विशाल दाखिलेमें आगया है या नहीं?

प्यारेलाल—हाँ, आगया है। लाओ मिठाई खिलाओ। अब क्या कसर है, कालेजसे निकलते ही ढाईसौसे लेकर पन्द्रहसौ तककी तनख्वाह मिलेगी।

पत्नी—ईश्वरकी दयासे वह सफलता प्राप्त करे। हमारी तो यही भावना है। २० सालका होगया। अबतक तो उसने परिश्रम ही परिश्रम किया है; आराम कुछ देखा ही नहीं। अबतो उसके सिरपर मौर बंधा देखनेकी मेरी प्रबल उत्कण्ठा होरही है। घरमें अकेली ही रहती हूँ। कोई बच्चा तक पास नहीं है। बहू आजाय तो घरमें चाँदना नजर आवे। आप तो रिश्तेके लिये हाँ करते ही

नहीं, अब तो सब पढ़ाई ख़तम हो चुकी, सिर्फ़ यह साल बाक़ी है सो अब तो शादी करके मेरी मनोकामना पूरी करो।

प्यारेलाल—अच्छा अब तुम्हारा ही कहना करूँगा; लेकिन बहूका अभी चाव लग रहा है, जब आजायगी तब रात-दिन लड़ाई रहा करेगी। कहो, लड़ोगी तो नहीं ?

पत्नी—आप तो वही मसल करते हैं कि "घरमें सूत न कपास जुलाहेसे ठेंगमठेंगा" बहू तो आई नहीं, लड़ाईकी बात शुरू करदी।

ये बातें हो ही रहीं थीं कि बाहरसे नौकर आया कि आपको एक बाबू बुलाते हैं। प्यारेलाल उठकर गए।

आगन्तुक—जयजिनेन्द्र देवकी।

प्यारेलाल—जयजिनेन्द्र देवकी साहिब ! कहिये, कुशल क्षेम है? आपका निवास स्थान कहाँ है ? (कुर्सीकी ओर संकेत करते हुए) यहाँ बिराजिये।

आगन्तुक बैठ गया। तदनन्तर प्यारेलालने कहा—भोजन तय्यार है, आप स्नानादिसे निर्वृत्त होजायँ।

आगन्तुक—मैं तो खाना खाचुका हूँ। यह आपकी मेहरबानी है। मैं ने सुना था कि आपका लड़का शादी करने योग्य है सो मैं अपनी बहनका रिश्ता उनके साथ करना चाहता हूँ। लड़की सुन्दर तथा गृहकार्यमें दक्ष है।

प्यारेलाल—अजी भाई साहब ! लड़कीके विषयमें आपने कहा सो तो ठीक है; लेकिन देन लेनकी बात भी बतलाइये।

आगन्तुक—जो कुछ आप कहेंगे मैं यथाशक्ति देनेके लिये तय्यार हूं।

प्यारे०—भाईसाहब ! लड़की देखकर रिश्ता लेंगे। यह तो आप जानते ही हैं कि मिलाईमें २१ अठमाशीके दिये बिना इज्जत नहीं है। दो हजार रुपये सगाईमें और दो हजार शादीमें भी देना होगा।

आगन्तुक यह सुनकर दंग रह गया और यह कहकर कि अच्छा, "मैं आपको घर जाकर पत्र लिखूंगा" चल पड़ा। यह आगन्तुक वही मोहन था जो खुशालचन्द्रका मित्र था। सुखदेवने ही मोहनको लड़कीके रिश्तेके लिये भेजा था।

मोहनने सुखदेवसे आकर सब हाल कह सुनाया। सुनकर सुखदेव सोच विचारमें पड़ गये। ऐसा लड़का मुझे कहीं न मिलेगा। वे पत्नीसे कहने लगे—इतना रुपया कहाँसे लाऊँ, क्या करूँ ? गहना भी कोई नहीं है जिसे बेच दू। हाँ, यह रहनेका मकान है, इससे चाहे जो करलो।

पत्नी—सोचनेसे क्या होता है ? इस रिश्तेको जाने दीजिये, कहीं और देख लें, आखिर इतना रुपया कहाँसे आवेगा।

सुखदेव—मैं तो किसी अच्छे लड़केसे ही रिश्ता करूँगा। यदि तुम्हारी समझमें आवेतो यह मकान बेचदें और कुछ रुपया रुक्का लिखकर लेलें। शादी करनेके बाद हम दोनों कहीं नौकरी करके कर्ज उतार देंगे। तुमको सिलाईका काम अच्छा आता ही है, तुम सिलाई करना, मैं नौकरी कर लूंगा। सिलाईसे हमारा गुजारा होता रहेगा और नौकरीसे कर्ज अदा होता रहेगा।

पत्नी—जैसी आपकी इच्छा हो, मैं उसीमें सहमत हूँ। निःसन्देह लड़की अच्छे घर चली

जायगी। बाकी हमें करना ही क्या है।

इस प्रकार सुखदेवने यह निश्चय कर लिया कि मैं अब रिश्ता वहीं करूँगा उन्होंने मोहनको बुलाया। मोहनने पूछा—कहिये, आपकी क्या सलाह रही।

सुखदेव—बस भाई मोहन ! मैंने निश्चय कर लिया है कि प्यारेलालके यहाँ ही रिश्ता करूँगा।

मोहन—आखिर आप इतना रुपया कहाँसे लाएँगे ?

सुखदेव—बेटा ! यह मकान बेचदूंगा और कुछ रुपया कर्ज लेलूंगा। फिर शादीके बाद नौकरी करके अदा कर दूंगा।

मोहनने अटल निश्चय देखकर हाँ में हाँ मिलाई और सगाईकी रस्म करदी।

* * *

मोहनने अपने एक मित्र द्वारा विशालचन्द्रको यह ज्ञात करा दिया था कि तुम्हारे श्वसुरकी ऐसी स्थिति है और किस प्रकार शादीमें रुपया लगाएँगे।

विशालचन्द्र यह मालूम करके अत्यन्त दुखित हुए। उन्होंने पितासे प्रार्थना पूर्वक कहा—पिताजी लाला सुखदेवकी आर्थिक स्थिति बहुत खराब है। उन्होंने अपना मकान बेचकर तथा कर्ज लेकर विवाहमें देना निश्चित किया है। कृपा कर आप उनसे इतना रुपया न लीजिये। मेरे और तीन भाई हैं, उनके विवाहमें जो चाहें लेलें। बेचारे बीमारसे रहते हैं, उम्र भर नौकरी करेंगे तब कहीं कर्ज उतरेगा।

पिताने कहा—तुम यह क्या कहते हो, अगर उनके पास रुपया नहीं था तो कहीं गरीबके घर रिश्ता करना उचित था। यह मेरी शानके बाहर है कि मैं एक कंगालके घर फ़क़ीरोंकी तरह विवाह करूँ। विशालचन्द्र यह सुनकर चुप हो रहे।

❀ ❀ ❀

आज विशालचन्द्रकी शादीका दिन है। सारा शहर बाजेकी ध्वनिसे गूंज रहा था। कहीं गाने वालोंकी मंडली थी तो कहीं उपदेशकों की भीड़ थी।

प्यारेलाल वेश्या अथवा अश्लील नाटक नहीं लेगये थे बल्कि बाहरसे बड़े बड़े विद्वान पण्डित बुलवाए जिन्होंने प्रभावशाली भाषण दिये; जिससे बहुतसे मनुष्योंने सिगरेट पीना, तमाखू खाना छोड़ा तथा वसन्ततिलकाके मोहमें पड़कर चारुदत्तकी क्या दशा हुई इसका नाटक दिखाया गया जिससे वेश्यासे घृणा उत्पन्न हुई।

सुखदेवने भी बरातियोंकी खातिरमें कोई कमी न रक्खी। आखिर; विदाका दिन आया, पलंग पर लड़का बैठाया गया। जब सब कार्य हो चुका तो वरसे कहा कि उठो; लेकिन न तो वे उठे ही और न कुछ उत्तर ही दिया। विशालचन्द्रके न उठने पर लोगोंने समझा कि कुछ और लेना चाहते होंगे। यह सोचकर कहने लगे कि जो कुछ चाहिये कहें, वही हाजिर है। परन्तु उन्होंने इसपर भी कुछ उत्तर नहीं दिया।

जब प्यारेलालको यह मालूम हुआ कि लड़का उठता नहीं तो वे स्वयं वहाँ गए और कहा—बेटा ! चलो समय हो गया है फिर रात हो जायगी। तब विशालचन्द्र बोले—पिताजी ! मैं अब कैसे जासकता हूँ मैं तो पाँच हज़ारमें बिक चुका हूँ। आप अपनी पुत्रवधू को ले जाइये, मैं तो अब जैसा ये (सुखदेवकी ओर संकेत करके) कहेंगे

वसाही करूँगा; क्योंकि अब मैं इनका हो चुका हूँ।

पुत्रका ऐसा उत्तर सुनकर प्यारेलाल काठमारे से हो गये। मनही मन बहुत क्रोधित हुए, लेकिन कर क्या सकते थे। लज्जित होकर सब कुछ वहीं छोड़ अपने घर गये।

सब लोग उनके रुपये लेने पर हँसी उड़ाने लगे। कोई कुछ कहता था कोई कुछ। इधर सुखदेवकी खुशीका पारावार न रहा, मानो उनका पुत्र ही फिरसे दामादके रूपमें आया हो।

दम्पति वहीं पर सुखसे रहने लगे। विशाल-चन्द्रकी पांचसौकी नौकरी लगी। एक सालमें ही उन्होंने सुखदेवका सब ऋण चुका दिया।

आज दिन सुखदेवको घरमें स्वर्गीय सुखोंका अनुभव हो रहा है।

तृष्णाकी विचित्रता

(एक गरीबकी बढ़ती हुई तृष्णा)

जिस समय दीनताई थी उस समय ज़मीदारी पाने की इच्छा हुई, जब ज़मीदारी मिली तो सेठाई पानेकी इच्छा हुई, जब सेठाई प्राप्त होगई तो मंत्री होनेकी इच्छा हुई, जब मंत्री हुआ तो राजा बननेकी इच्छा हुई जब राज्य मिला, तो देव बननेकी इच्छा हुई, जब देव हुआ तो महादेव होनेकी इच्छा हुई। अहो रायचन्द्र! वह यदि महादेवभी हो जाय तो भी तृष्णा तो बढ़ती ही जाती है, मरती नहीं, ऐसा मानों॥ १॥

मुँहपर झुर्रियाँ पड़ गई, गाल पिचक गये, काली केशकी पट्टियाँ सफ़ेद पड़ गई; सूँघने, सुनने और देखनेकी शक्तियाँ जाती रहीं, और दाँतोंकी पंक्तियाँ खिर गईं अथवा घिस गई, कमर टेढ़ी होगई, हाड़ मांस सूख गये, शरीरका रंग उड़ गया, उठने बैठनेकी शक्ति जाती रही, और चलनेमें हाथमें लकड़ी लेनी पड़गई। अरे! रायचन्द्र इस तरह युवावस्थासे हाथ धो बैठे, परन्तु फिर भी मनसे यह रॉड ममता नहीं मरी॥ २॥

करोड़ों कर्ज़का सिरपर डंका बज रहा है, शरीर सूखकर रोगसे रूँध गया है, राजा भी पीड़ा देनेके लिये मौक़ा तक रहा है और पेट भी पूरी तरहसे नहीं भरा जाता। उसपर माता पिता और स्त्री अनेक प्रकारकी उपाधि मचा रहे हैं, दुःखदायी पुत्र और पुत्र खाऊँ खाऊँ कर रहे हैं। रायचन्द्र! तो भी यह जीव उधेड़बुन किया ही करता है और इससे तृष्णाको छोड़कर जंजाल नहीं छोड़ी जाती॥ ३॥

नाड़ी क्षीण पड़गई, अवाचककी तरह पड़रहा, और जीवन दीपक निस्तेज पड़ गया। एक भाईने इसे अन्तिम अवस्थामें पड़ा देखकर यह कहा कि अब इस बिचारेकी मिट्टी ठंडी होजाय तो ठीक है। इतनेपर उस बुड्ढेने खीज-कर हाथको हिलाकर इशारेसे कहा, कि हे मूर्ख! चुप रह, तेरी चतुराई पर आग लगे। अरे रायचन्द्र! देखो देखो, यह आशाका पाश कैसा है! मरते मरते भी बुड्ढेकी ममता नहीं मरी॥ ४॥

—श्रीमद् राजचन्द्र
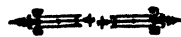
युगान्तर

पीड़ा-कसक, मधुर बन जाए,
वाँछनीयता युत क्रन्दन !
मृत्यु-गरलके वक्षस्थलपर,
थिरक उठे मेरा जीवन !

बाधाएँ, अभिलाषाओं-सी,
कोमल, मोहक बन जाएँ।
कष्टोंकी नृशंसतामें हम,
स-क्रिय नव-जीवन पाएँ।

दुखमें हो अनुभूति सौख्यकी,
सुखमें रहे न दुर्लभता।
पशुतामें भी सुलभ-साध्य हो,
निश्छल, शिशु-सी मानवता।

बन्धन ?—बन्धन रहे नहीं वह,
बन जाए गतिकी मर्याद।
उस विकासकीसीमा तक,
है जहाँ विसर्जित आशावाद।

हमारा लक्ष्य

स्वागतार्थ होंगे हम उद्यत समोद, यदि—
पावन प्रयाण-मध्य विघ्न-दल आवेंगे !
धर्म देश-जाति-हित प्राणोंका न होगा लोभ—
आएगा समय निकलंकता दिखावेंगे !!
भीरुताके भावोंका न होगा हममें निवास—
'धर्म-ध्वज' लेके जब क़दम बढ़ावेंगे !
दूर हट जायेगा विरोध-अन्धकार सब—
सत्य-रश्मियोंकी जब ज्योति चमकावेंगे !!
पशुताकी शृंखलामें जकड़ा हुआ है मन,
उसे माननीयताका मंत्र बतलावेंगे !
जिनकी स-क्रिय प्रतिभाएँ हैं कुमार्ग पर,
उन्हें सुविशाल-धर्म-पथ दिखलावेंगे !!
मूर्खतासे पूर्ण, हठवादमें पड़े हैं जो कि—
प्रेम-नीर सिंचनसे सरल बनावेंगे !
करेंगे विकास सत्य-धर्मका प्रभावनीय,
ध्वान्त-ध्वंस कर आत्म-ज्योति चमकावेंगे !!

[श्री 'भगवत्' जैन]

सम्पादकजी बीमार

बड़े दुःख और खेदके साथ प्रकट किया जाता है कि सम्पादक पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार ११ अगस्तसे बीमार पड़े हैं। उन्हें जोरका बुखार आया। स्थानीय वैद्य-हकीमका इलाज कराया गया। और फिर सहारनपुरसे डाक्टर भी बुलाया गया, जिनका इलाज अभीतक जारी है। जुलाब दिया गया और इन्जंक्शन भी किया गया। इस सब उपचारसे बुखार तो निकल गया, कुछ हरारत अवशिष्ट है। लेकिन कमजोरी बहुत ज्यादा होगई है। उठा-बैठा नहीं जाता, उठते-खड़े होते चक्कर आते हैं और रातको नींद नहीं आती, अन्न बन्द है, थोड़ासा दूध तथा अँगूर-अनारका रस लिया जाता है, वह भी ठीक पचता नहीं, व भोजनमें रुचि भी नहीं है। इससे बड़ी परेशानी हो रही है, और इसी वजहसे 'अनेकान्त' में वे अबकी बार अपना कोई लेख नहीं दे सके हैं। इतना ही ग़नीमत है कि वे कुछ लेखोंका सम्पादन कर चुके थे। पिछले बाबू सूरजभानजी आदिके लेखोंका वे सम्पादन नहीं कर सके। आशा नहीं है कि वे जल्दी ही कोई लेख लिख सकें, और १२वीं किरणके समस्त लेखोंका सम्पादन कर सकें। ऐसी हालतमें मुख्तार सा० के मित्रों, प्रेमियों और उनकी कृतियोंसे अनुराग रखनेवालोंका जहाँ यह कर्तव्य है कि वे इस संकटके अवसर पर उनके शीघ्र निरोग होनेकी उत्कट भावना भाएँ, वहाँ विद्वानोंका और सुलेखकोंका भी खास कर्तव्य है कि वे अपने उत्तम लेखोंसे 'अनेकान्त' पत्रकी सहायता करें, जिससे १२वीं किरण और 'विशेषांक' की चिन्ता मिटे। आशा है विद्वान् लोग मेरे इस निवेदनको जरूर स्वीकार करेंगे।

निवेदक—
परमानन्द जैन

'वीरसेवामन्दिर-लायब्रेरी' को सहायता

हालमें श्री मुनि जिनविजयजी संचालक सिंघी-जैन ग्रन्थमाला बम्बईने ग्रन्थमालाके अब तक प्रकाशित हुए ८८।।।) मूल्यके कुल ग्रन्थ, श्री पं० नाथूरामजी प्रेमी, मालिक हिन्दीग्रन्थरत्नकार कार्यालय बम्बईने ७५।।≡) मूल्यके २६ हिन्दी ग्रन्थ और प्रोफेसर हीरालालजी जैन एम० ए० अमरावतीने कारंजा सीरीजके ८।।) मूल्यके दो ग्रन्थ मुझे भेंट करके वीरसेवामन्दिर लायब्रेरीकी जो सहायता की है उसके लिये ये सब सज्जन बहुतही धन्यवादके पात्र हैं और मैं उनकी इस कृपाका बहुतही आभारी हूँ।

आशा है दूसरे सज्जन भी इन सज्जनोंका अनुकरण करके वीरसेवामन्दिर लायब्रेरीको सब प्रकारसे पुष्ट बनानेमें अपना सहयोग प्रदान करेंगे। इस समय लायब्रेरीको केशव वर्णीकी संस्कृत टीका और पं० टोडरमलजीकी भाषाटीका सहित मुद्रित गोमटसारके दोनों खण्डोंकी और भाषाटीका सहित प्रकाशित राजवार्तिकाके सब खण्डोंकी तथा भाषाटीकासहित मुद्रित लब्धिसार-क्षपणासारकी खास जरूरत है। जो महानुभाव भादोंके पवित्र दिनोंमें इन ग्रन्थोंको या इनमेंसे किसी भी ग्रन्थको संस्थाको प्रदान करनेकी कृपा करेंगे, उनका मैं बहुत आभारी हूँगा।

—अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर'

Regd. No. L. 4328

वीरसेवामन्दिर-ग्रन्थमाला

यह ग्रन्थमाला किसी निजी लाभ अथवा व्यापारिक दृष्टिसे नहीं निकाली जा रही है। इसका ध्येय और उद्देश्य उन महत्वके उपयोगी ग्रन्थोंको अच्छे ढंगसे प्रकाशमें लाना है जिनका निर्माण तथा सम्पादन वीरसेवामन्दिरमें या उसकी मार्फत बहु परिश्रमके साथ हो रहा है और होने वाला है। लोक-हितमें सहायक अच्छे गौरव-पूर्ण ठोस साहित्यको प्रचार देना और महत्वके लुप्तप्राय जैनसाहित्यका उद्धार करना इस ग्रन्थमालाका पहला कर्तव्य है, और इसलिये इसमें संस्कृत-प्राकृत-हिन्दीके मूल तथा भाषाटीकादि सहित सभी प्रकारके ग्रन्थ प्रकाशित हो सकेंगे।

ग्रन्थोंका मूल्य जहाँतक भी हो सकेगा कम रखनेका प्रयत्न किया जावेगा और उसका अधिकतर आधार परोपकारी सज्जनोंकी सहायता पर ही निर्भर होगा। जो सज्जन जिस ग्रन्थके लिये कुछ सहायता प्रदान करेंगे उनके शुभ नाम उस ग्रन्थमें धन्यवाद सहित प्रकाशित किये जावेंगे। जो महानुभाव ५००) रु० या इससे अधिककी एक मुश्त सहायता देंगे उनके शुभ नाम प्रत्येक ग्रन्थमें—ग्रन्थमालाके स्थायी सहायकोंकी सूचीमें—बराबर प्रकट होते रहेंगे और उन्हें ग्रथमालाका प्रत्येक ग्रन्थ बिना मूल्य भेंट किया जायगा। और जो उदार महानुभाव पाँच हजार या इससे अधिककी सहायता प्रदान करेंगे वे इस ग्रंथमाला तथा वीरसेवामन्दिरके 'संरक्षक' समझे जावेंगे, उन्हें प्रत्येक ग्रन्थकी १० कापियाँ बिना मूल्य भेंट की जायँगी और उनका चित्र प्रत्येक ग्रथके साथमें रहेगा।

ग्रन्थमालाका प्रथम ग्रथ 'समाधितन्त्र' संस्कृत और हिन्दी टीकासहित छपकर तय्यार हो चुका है। उसकी अधिकांश कापियाँ अनेकान्तके उन ग्राहकोंको भेंट की जायगी जो अगले सालका मूल्य, जो कि और अधिक पृष्ठ सख्या बढ़ाए जानेके कारण ३) रु० होगा, उपहारी पोस्टेज ।) सहित मनीआर्डर आदिसे पेशगी भेज देवेंगे।

इस ग्रंथमालामें प्रकाशित होने वाले कुछ ग्रथोंके नामादिक इस प्रकार हैं —

१ *जैन लक्षणावली*—प्राय २०० दिगम्बर और २०० श्वेताम्बर ग्रथो परसे संगृहीत पदार्थोंके लक्षण स्वरूपादिका अभूतपूर्व और महान संग्रह। यह ग्रथ बड़े साइजके कई खण्डोंमें प्रकाशित होगा।

२ *पुरातन जैनवाक्य सूची*—प्राकृत और संस्कृतके भेदसे दो विभागोंमें।

३ *धवलादि श्रुतपरिचय* (मूल सूत्रादि-सहित)—इसमें श्रीधवल और जयधवल ग्रथका विस्तृत परिचय रहेगा और यह भी कई खण्डोंमें प्रकाशित होगा।

४ *समीचीन धर्मशास्त्र*—हिन्दी भाष्य सहित।

५ *मृत्यु-विज्ञान*—मृत्युको पहिलेसे मालूम कर लेनेके उपायोंको बतलाने वाला प्राकृत भाषाका प्राचीन अलभ्य ग्रथ (नई हिन्दी टीका सहित)

६. *आय-ज्ञानतिलक*—यह प्रश्नशास्त्र और निमित्तशास्त्रका पुराना प्राकृत भाषाका ग्रथ है और संस्कृत तथा नई हिन्दी टीकाके साथ प्रकट होगा।

७ *ऐतिहासिक जैन व्यक्तिकोश*—इसमें भ० महावीरके समयसे लेकर प्राय अब तकके उन सभी ऐतिहासिक व्यक्तियों—मुनियो, आचार्यों, भट्टारकों, विद्वानों, राजाओं, मंत्रियों और दूसरे जिनशासन सेवियों आदिका वह परिचय संक्षेपमें रहेगा जो अनेक ग्रथो, प्रशस्तियों, शिलालेखों और ताम्रपत्रादिमें बिखरा हुआ पड़ा है। यह भी कई खण्डोंमें प्रकाशित होगा।

अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर'
सरसावा जि० सहारनपुर

नेमचन्द जैन ऑडीटरके प्रबन्धसे 'वीर प्रेस ऑफ इण्डिया' कनॉट सर्कस न्यू देहलीमें छपा।